॥ श्रीहरिः ॥

2066

श्रीनाभादासजीकृत

श्रीभक्तमाल

[श्रीप्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनी टीका
एवं विस्तृत हिन्दी व्याख्यासहित]

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

2066

॥ श्रीहरि: ॥

श्रीनाभादासजीकृत

श्रीभक्तमाल

[श्रीप्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनी टीका
एवं विस्तृत हिन्दी व्याख्यासहित]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०७९ पंद्रहवाँ पुनर्मुद्रण १०,०००
कुल मुद्रण ८८,०००

❖ मूल्य—₹ 300
(तीन सौ रुपये)

कूरियर/डाकसे मँगवानेके लिये
गीताप्रेस, गोरखपुर—273005
book.gitapress.org
gitapressbookshop.in

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (0551) 2334721, 2331250, 2331251
web : gitapress.org e-mail : booksales@gitapress.org

2066 Bhaktmal_Section_1_1_Back

॥ श्रीहरिः ॥

सम्पादकीय निवेदन

मानव-देह पाकर जो भगवत्प्राप्तिको अपने जीवनका ध्येय बना लेता है और एकनिष्ठ होकर सदा इस मार्गपर अग्रसर रहता है, उसीका जीवन सफल है। ऐसा व्यक्ति ही इस जगत्में पुण्यात्मा है और उसे नारायणके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये—'स एव सुकृती लोके ज्ञेयो नारायणांशजः।' जिस कुलमें सात्त्विक गुणोंसे सम्पन्न तथा दैवीय सम्पदासे समन्वित ऐसा भगवद्भक्त, सन्तसेवी जन्म लेता है, उसके पितर प्रमुदित होते हैं, देवता आनन्दविभोर हो नृत्य करने लगते हैं और ऐसे सौभाग्यशालीको पाकर यह पृथ्वी सनाथ हो जाती है—'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति।' (नारदभक्तिसूत्र ७१)

इतना सब होनेपर भी क्यों नहीं इस ओर प्रवृत्ति होती, क्यों जगत्की ओर दृष्टि होती है, इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि आज मानवने जीवनके वास्तविक उद्देश्यको भुलाकर सुख और दुःखकी यथार्थ परिभाषाको न समझते हुए संसारमें सुख खोजनेका मन बनाया है, इसीलिये वह सारी विपदाओंसे घिरा हुआ है। संसार तो दुःखालय है और सुखके शाश्वत निधान हैं—भगवान्। भगवान् और उनके प्रेमीभक्तोंकी उज्ज्वल गाथाओं, मंगलमय चरित्रोंके गानमें और उनके द्वारा बताये गये रास्तेपर चलनेमें ही सच्चे सुखकी अनुभूति है। भगवान्को तथा भगवद्भक्तोंके साथ की गयी उनकी लीलाको भूल जाना विपत्ति है—दुःख है और उनकी निरन्तर स्मृति बने रहना ही सम्पत्ति—सच्चा सुख है—'विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।' भक्त कौन है तथा भगवान्से उसका कैसा सम्बन्ध रहता है, इसकी जिज्ञासामें परमाराध्य प्रभु स्वयं कहते हैं कि जो भगवान्के चरणारविन्दोंसे आधे पलके लिये भी अपना चित्त नहीं हटाता, निरन्तर उन चरणोंकी सन्निधि और सेवामें लगा रहता है, उन्हींका नित्य स्मरण करता रहता है, वही वास्तवमें सच्चा भगवद्भक्त है—'न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥' (श्रीमद्भागवत ११।२।५३)

भगवान् और उनके लीलासहचर भक्तोंकी निरन्तर स्मृति बनी रहे और तदनुसार अपना जीवन भी बन सके—इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये गीताप्रेससे निरन्तर उपयोगी सत्साहित्य प्रकाशित होता रहा है। पूर्वमें कल्याणके विशेषांकके रूपमें भक्त-अंक, सन्त-अंक, नारी-अंक तथा भक्तचरितांक आदि भी इसी आशयसे प्रकाशित हुए, जो अत्यन्त ग्राह्य एवं उपयोगी सिद्ध हुए। इनमें भक्तोंकी रहनी-करनीका वर्णन है, इसी शृंखलामें पाठकोंके समक्ष अब पुस्तकरूपमें भक्तमाल प्रस्तुत है।

इसमें बिना किसी भेदभावके भक्तचरितोंका वर्णन हुआ है। भारतवर्षके विभिन्न क्षेत्र, भाषा, जाति, सम्प्रदाय एवं वर्ग आदिके सन्तोंका चरित इसमें वर्णित है। अतः इसके पठन-श्रवणसे उक्त आधारोंपर होनेवाली अविवेकमूलक विषमताएँ दूर होती हैं, परंतु इसके साथ ही भक्तोंके चरितमें कुछ घटनाएँ अत्यधिक चमत्कारी होनेके कारण आधुनिक युगके परिवेशमें सब लोगोंको आत्मसात् होना सम्भव नहीं हैं, साथ ही वे सबके लिये अनुकरणीय भी नहीं हैं, फिर भी भक्तमाल ग्रन्थसे पारस्परिक एकता तथा समरसताकी प्रेरणा प्राप्त होती है। इसकी गाथाओंमें कई स्थलोंपर हमारी प्राचीन

संस्कृतिकी छटाके दर्शन होते हैं, जो आज दुर्लभ हो रहा है।

भक्तमाल परमभागवत श्रीनाभादासजी महाराजकी काव्यमयी रचना है। इसमें चारों युगों, विशेषकर कलियुगके भक्तोंका बड़े ही रोचक ढंगसे वर्णन हुआ है। वास्तवमें भक्तमाल कई हैं। श्रीनाभादासजीके पूर्व तथा पश्चात् भी भक्तोंके पावन चरितोंके कई अन्य संग्रह भक्तमाल नामसे प्रकाशित हुए हैं। श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीने भी 'भक्तमाल उत्तरार्ध' नामसे एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें श्रीनाभादासजीके भक्तमालमें वर्णित भक्तोंके बाद हुए अर्वाचीन भक्तोंके चरित संकलित हैं। इन सभीमें नाभादासके भक्तमालकी विशेष प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा है। इसी भक्तमाल ग्रन्थपर श्रीप्रियादासजीकी 'भक्तिरसबोधिनी' टीका सन्तोंमें सर्वाधिक समादृत है, जिसे यहाँ साथमें समाहित किया गया है।

यह भक्तमाल कई स्थानोंसे प्रकाशित है, इनमेंसे श्रीरामानन्दपुस्तकालय सुदामाकुटी श्रीधामवृन्दावन (मथुरा)-से प्रकाशित चार खण्डोंवाला भक्तमाल, श्रीसद्गुरु पुस्तकालय श्रीभक्तमाल आश्रम वंशीवट वृन्दावन (मथुरा)-से प्रकाशित एकखण्डात्मक भक्तमाल, श्रीअखिलभारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, परशुरामपुरी (सलेमाबाद) तथा श्रीश्रीजी मन्दिर वृन्दावनसे प्रकाशित एक खण्डवाला भक्तमाल और कल्याणके भक्तचरितांकमें प्रकाशित मूल भक्तमालका आश्रय लेकर मूलपाठ आदिका निर्धारण किया गया है।

प्रस्तुत भक्तमालके प्रकाशनकी प्रेरणा मलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज तथा भक्तमाली साकेतवासी श्रीनारायणदासजी (बक्सरके पूज्य मामाजी)-के द्वारा प्राप्त हुई। इन दोनों महानुभावोंका विशेष आग्रह था कि गीताप्रेसद्वारा भक्तमालका प्रकाशन किया जाय।

अतः कुछ समय पूर्व इसे ग्रन्थरूपमें प्रकाशित करनेकी योजना बनी। तदनुसार सामग्री-संचयन तथा लेखन आदिका कार्य प्रारम्भ किया गया, लेकिन सामग्रीका परिमाण इतना बढ़ गया कि वह तत्काल प्रकाशित होना सम्भव नहीं था, उन दिनों पाठक महानुभावोंका विशेष आग्रह था कि भक्तमालको शीघ्र प्रकाशित किया जाय। अतः शीघ्रताकी दृष्टिसे सन् २०१३ ई० में कल्याणके विशेषांकके रूपमें भक्तमाल-अंकका प्रकाशन हुआ। विशेषांककी पृष्ठ-संख्या सीमित होनेके कारण उसमें भक्तोंकी कथाको अत्यन्त संक्षेपमें ही देना पड़ा। दूसरी बात यह कि भक्तमालमें जितने भक्तोंका उल्लेख हुआ है, उनमेंसे कई भक्तोंके सम्बन्धमें सामग्री भी प्राप्त नहीं हो सकनेसे वह नहीं दी जा सकी। अब भगवत्कृपासे यथासम्भव विस्तृत व्याख्याके साथ भक्तमालको ग्रन्थरूपमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

आशा है पाठक-पाठिकागण इस भक्तमालको पढ़कर लाभान्वित होंगे तथा भगवद्भक्तोंके चरितसे प्रेरणा प्राप्तकर भक्तिपथपर अग्रसर होंगे, जिससे उन्हें परलोकमें सुख-शान्ति और मानव-जीवनके परम एवं चरम लक्ष्य—परमात्मप्रभुकी करुणामयी कृपा प्राप्त हो सकेगी।

अन्तमें हम अपने इस प्रयासको भगवान्के चरण-कमलोंमें अर्पित करते हुए यह मंगल कामना करते हैं—

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक। इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥

—राधेश्याम खेमका

श्रीहरिः

श्रीभक्तमालकी विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-भक्तमाल—एक परिचय (राधेश्याम खेमका)	१३
२-'बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है' (मलूकपीठाधीश्वर सन्तप्रवर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज)	२३
३-भगवद्भक्तोंद्वारा की गयी प्रार्थना	२७
४-भक्त और भगवान्	३१
भक्तमाल और भक्तिरसबोधिनी	
५-श्रीनाभादासजीकृत भक्तमालका मंगलाचरण	३३
६-श्रीप्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनी टीकाका मंगलाचरण	३३
७-भक्तिरसबोधिनी टीकाका नामस्वरूप-वर्णन	३४
८-श्रीभक्तिदेवीका शृंगार	३४
९-भक्तिरसबोधिनी टीकाकी महिमा	३५
१०-भक्तमालकी महिमा	३५
११-संतसंगके प्रभावका वर्णन	३५
१२-भक्तमाल-स्वरूपवर्णन	३६
१३-भक्तमाल-माहात्म्यवर्णन	३६
१४-भक्तमालके मंगलाचरणकी भक्तिरसबोधिनी टीका	३७
१५-भक्तमालकी रचनाके लिये श्रीनाभाजीको आज्ञा प्राप्त होना	३७
१६-श्रीनाभाजीका चरित्र-वर्णन	३८
भक्तमालका प्रारम्भ	
१७-चौबीस अवतारोंकी कथा	३९
१- मत्स्यावतार	४०
२- वराहावतार	४१
३- कमठ (कच्छप)-अवतार	४१
४- श्रीनृसिंहावतार	४२
५- श्रीवामनावतार	४४
६- श्रीपरशुरामावतार	४६
७- श्रीरामावतार	४७
८- श्रीकृष्णावतार	४९
९- श्रीबुद्धावतार	५०
१०- कल्कि-अवतार	५२
११- श्रीव्यासावतार	५२
१२- श्रीपृथु-अवतार	५३
१३- श्रीहरि-अवतार	५४
१४- श्रीहंसावतार	५५
१५- मन्वन्तरावतार	५६
१६- श्रीयज्ञावतार	५७
१७- श्रीऋषभ-अवतार	५७
१८- श्रीहयग्रीव-अवतार	५८
१९- ध्रुवको वर देनेवाले श्रीहरि	५८
२०- श्रीधन्वन्तरि	६०
२१- श्रीबदरीपति (नर-नारायण)	६०
२२- श्रीदत्तात्रेय-अवतार	६१
२३- श्रीकपिलदेव-अवतार	६१
२४- श्रीसनकादि-अवतार	६१
१८-श्रीरामजीके चरणचिह्न	६१
१९-द्वादश प्रधान भक्त	६३
१- श्रीब्रह्माजी	६४
२- श्रीनारदजी	६५
३- श्रीशंकरजी	६६
४- श्रीसनकादि	७०
५- श्रीकपिलदेवजी	७१
६- श्रीमनुजी	७४
७- श्रीनरहरिदास (प्रह्लादजी)	७५
८- श्रीजनकजी	७७
९- श्रीभीष्म पितामहजी	७९
१०- श्रीबलिजी	८४
११- श्रीशुकदेवजी	८५
१२- श्रीधर्मराजजी	८९
१३- अजामिलकी कथा	९०
२०-षोडश पार्षद [विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल, बल, नन्द, सुनन्द, सुभद्र, भद्र, चण्ड, प्रचण्ड, कुमुद, कुमुदाक्ष, शील, सुशील और सुषेण]	९१
२१-हरिवल्लभ (भगवान्‌के प्रिय भक्त)	९३
१- श्रीकमला (श्रीलक्ष्मीजी)	९३
२- श्रीगरुड़जी	९४
३- सुनन्द आदि	९६
४- श्रीहनुमान्‌जी	९६
५- श्रीजाम्बवान्‌जी	९९
६- श्रीसुग्रीवजी	१००
७- श्रीविभीषणजी	१०२
८- श्रीशबरीजी	१०४
९- श्रीजटायुजी	१०९
१०- श्रीध्रुवजी	१११
११- श्रीउद्धवजी	११३
१२- श्रीअम्बरीषजी	११५
१३- श्रीविदुर-विदुरानी	१२२
१४- श्रीअक्रूरजी	१२४
१५- श्रीसुदामाजी	१२५

विषय	पृष्ठ-संख्या
१६- श्रीचन्द्रहासजी	१२९
१७- श्रीचित्रकेतुजी	१३४
१८- गज-ग्राह	१३७
१९- भक्त पाण्डव	१३८
२०- महर्षि मैत्रेयजी	१३९
२१- श्रीकुन्तीजी	१४०
२२- श्रीद्रौपदीजी	१४६
२२-श्रीहरिध्याननिष्ठ भक्तगण	१५८
१- नौ योगीश्वर [कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन]	१५८
२- श्रीश्रुतदेवजी	१६०
३- श्रीअंगजी	१६२
४- श्रीमुचुकुन्दजी	१६३
५- श्रीप्रियव्रतजी	१६४
६- श्रीपृथुजी	१६६
७- महाराज परीक्षित्	१६६
८- श्रीशेषजी	१६७
९- श्रीसूतजी	१६७
१०- महाशाल श्रीशौनकजी	१६८
११- श्रीप्रचेतागण	१६९
१२- श्रीशतरूपाजी	१७०
१३- त्रयसुता	१७२
१४- श्रीसुनीतिजी	१७२
१५- श्रीसतीजी	१७२
१६- श्रीमदालसाजी	१७९
१७- यज्ञपत्नियाँ	१८४
१८- महाभाग्यवती व्रजगोपियाँ	१८६
२३-प्रभुप्राप्तिके मार्गका अनुसरण करनेवाले भक्त	१८८
१- श्रीप्राचीनबर्हिजी	१८९
२- श्रीसत्यव्रतजी	१९०
३- राजा रहूगण और जड़भरतजी	१९०
४- श्रीसगरजी	१९२
५- श्रीभगीरथजी	१९२
६- महर्षि वाल्मीकि	१९४
७- श्वपच भक्त वाल्मीकिजी	१९५
८- श्रीमिथिलेशजी	१९८
९- श्रीरुक्मांगदजी	१९८
१०- श्रीरुक्मांगदजीकी पुत्री	२००
११- राजा हरिश्चन्द्र आदि परोपकारी भक्त	२०१
१२- राजर्षि भरत	२०३
१३- श्रीदधीचिजी	२०३
१४- भक्त सुधन्वा	२०४
१५- भक्त सुरथ	२०८
१६- महाराज शिबि	२०९
१७- बलिपत्नी श्रीविन्ध्यावलीजी	२१०
१८- श्रीनीलध्वजजी	२११
१९- भक्त मयूरध्वज एवं ताम्रध्वज	२१२
२०- श्रीअलर्कजी	२१४
२४-भगवान्‌की मायाको जीत लेनेवाले भक्त	२१७
१- महर्षि ऋभु	२१८
२- श्रीइक्ष्वाकुजी	२१९
३- श्रीऐलजी (पुरूरवा)	२२१
४- श्रीगाधिजी	२२२
५- महाराज रघु	२२२
६- श्रीरयजी	२२४
७- राजर्षि गय	२२४
८- श्रीशतधन्वाजी	२२४
९- श्रीअमूर्तजी	२२६
१०- महाराज रन्तिदेव	२२६
११- गुरुभक्त उत्तंक	२२७
१२- श्रीभूरिश्रवाजी	२२८
१३- महर्षि देवल	२२८
१४- श्रीवैवस्वत मनुजी	२२९
१५- राजर्षि नहुषजी	२२९
१६- राजर्षि ययाति	२३०
१७- महाराज दिलीप	२३१
१८- श्रीपूरुजी	२३१
१९- श्रीयदुजी	२३१
२०- श्रीगुह निषादजी	२३२
२१- श्रीमान्धाताजी	२३५
२२- श्रीपिप्पलादजी	२३६
२३- श्रीनिमिजी	२३६
२४- श्रीभरद्वाजजी	२३७
२५- श्रीदक्षजी	२३८
२६- महर्षि श्रीशरभंगजी	२३९
२७- श्रीसंजयजी	२४०
२८- श्रीशमीकजी	२४३
२९- श्रीउत्तानपादजी	२४३
३०- श्रीयाज्ञवल्क्यजी	२४३
२५-राजर्षि निमि और नौ योगीश्वर [१-कवि, २-हरि, ३-अन्तरिक्ष, ४-प्रबुद्ध, ५-पिप्पलायन, ६-आविर्होत्र, ७-द्रुमिल, ८-चमस और ९-करभाजन]	२४६
२६-नवधाभक्तिके आचार्य	२५०
१- श्रीपरीक्षित्‌जी	२५१
२- श्रीशुकदेवजी	२५२
३- श्रीप्रह्लादजी	२५२
४- भगवती श्रीलक्ष्मीजी	२५७
५- श्रीपृथुजी	२५८
६- श्रीअक्रूरजी	२५८
७- श्रीहनुमान्‌जी	२५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
८- श्रीअर्जुनजी	२५९
९- श्रीबलिजी	२६५
२७-भगवत्प्रसादके तत्त्वको जाननेवाले श्रेष्ठ भक्त	२६६
[शंकर, शुकदेव, सनकादिक, कपिल, नारद, हनुमान्, विष्वक्सेन, प्रह्लाद, बलि, भीष्म, अर्जुन, ध्रुव, अम्बरीष, विभीषण, अक्रूर और उद्धव]	
२८-भक्ति तथा ज्ञानके प्रकाशक आचार्य	२६८
१- महर्षि पुलह	२६८
२- अगस्त्य	२६८
३- पुलस्त्य	२७०
४- महर्षि च्यवन	२७०
५- सौभरि	२७२
६- महर्षि वसिष्ठजी	२७४
७- श्रीकर्दमजी	२७५
८- श्रीअत्रिजी	२७७
९- श्रीऋचीकजी	२७८
१०- श्रीगर्गजी	२७८
११- श्रीगौतमजी	२७८
१२- व्यासशिष्यगण	२७९
१३- श्रीलोमशजी	२८०
१४- श्रीभृगुजी	२८१
१५- श्रीदाल्भ्यजी	२८२
१६- श्रीअंगिराजी	२८२
१७- श्रीशृंगी ऋषिजी	२८३
१८- श्रीमाण्डव्यजी	२८४
१९- श्रीविश्वामित्रजी	२८५
२०- श्रीदुर्वासाजी	२८६
२१- अट्ठासी हजार ऋषिगण	२८७
२२- श्रीजाबालिजी	२८७
२३- महर्षि जमदग्नि	२८७
२४- श्रीमायादर्श (मार्कण्डेयजी)	२८८
२५- श्रीकश्यपजी	२९१
२६- श्रीपर्वतजी	२९२
२७- श्रीपराशरजी	२९२
२९-अठारह पुराण	२९२
[१-ब्रह्म, २-विष्णु, ३-शिव, ४-लिंग, ५-पद्म, ६-स्कन्द, ७-वामन, ८-मत्स्य, ९-वाराह, १०-अग्नि, ११-कूर्म, १२-गरुड, १३-नारद, १४-भविष्य, १५-ब्रह्मवैवर्त, १६-मार्कण्डेय, १७-ब्रह्माण्ड तथा १८-श्रीमद्भागवत]	
३०-अठारह स्मृतियाँ और उनके रचयिता आचार्य	२९६
१- मनुस्मृति	२९६
२- अत्रिस्मृति	२९७

विषय	पृष्ठ-संख्या
३- विष्णुस्मृति	२९७
४- हारीतस्मृति	२९७
५- यमस्मृति	२९७
६- याज्ञवल्क्यस्मृति	२९७
७- अंगिरास्मृति	२९७
८- शनैश्चरस्मृति	२९७
९- संवर्तस्मृति	२९७
१०- कात्यायनस्मृति	२९८
११- शाण्डिल्यस्मृति	२९८
१२- गौतमस्मृति	२९८
१३- वसिष्ठस्मृति	२९८
१४- दक्षस्मृति	२९८
१५- बृहस्पतिस्मृति	२९८
१६- शातातपस्मृति	२९८
१७- पराशरस्मृति	२९९
१८- क्रतुस्मृति	२९९
३१-श्रीरामसचिव (श्रीरामके मन्त्रिगण)	२९९
[धृष्टि, विजय, जयन्त, राष्ट्रवर्धन, सुराष्ट्र, अशोक, धर्मपालक और सुमन्त्र]	
३२-श्रीराम-सहचरवर्ग	३०१
१- सूर्यपुत्र सुग्रीव	३०१
२- बालिपुत्र अंगद	३०१
३- केशरीपुत्र हनुमान्‌जी	३०३
४- श्रीजाम्बवान्‌जी	३०४
५- अन्य सहचर	३०४
३३-नौ नन्दजी	३०४
[श्रीपर्जन्यजी (३०५), धरानन्द, ध्रुवनन्द, उपनन्द, अभिनन्द, श्रीनन्द (३०५), सुनन्द, कर्मानन्द, धर्मानन्द और बल्लभ]	
३४-भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाके सहचर—व्रजवासीगण	३०७
१- नन्दपत्नी माता यशोदा	३०७
२- जगज्जननी श्रीराधा	३१२
३- अष्टसखी	३१८
४- श्रीकृष्णके व्रजसखा	३२०
३५-श्रीकृष्णके षोडश सखा	३२१
[रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुवर्त, रसाल, विशाल, प्रेमकन्द, मकरन्द, सदानन्द, चन्द्रहास, पयद, बकुल, रसदान, शारदा और बुद्धिप्रकाश]	
३६-सप्तद्वीपके भक्त	३२२
[जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप, पुष्करद्वीप, लोकालोक पर्वत और कंचनधर टापू (सुवर्णमयी भूमि)]	
३७-जम्बूद्वीपके भक्त	३२३
३८-श्वेतद्वीपके भक्त	३२५

विषय	पृष्ठ-संख्या
३९-अष्टनाग [इलापत्र, अनन्त, पद्म, शंकु, अंशुकम्बल, वासुकि, कर्कोटक और तक्षक]	३२७
४०-चतु:सम्प्रदायाचार्य	३२८
१- श्रीरामानुजाचार्यजी	३२९
२- श्रीरामानन्दाचार्यजी	३२९
३- आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी	३२९
४- श्रीमध्वाचार्यजी	३३१
५- श्रीनिम्बार्काचार्यजी	३३३
४१-श्रीसम्प्रदायके आचार्य	३३४
१- श्रीविष्वक्सेनजी	३३४
२- श्रीशठकोपाचार्य	३३५
३- श्रीबोपदेवजी	३३६
४- श्रीनाथमुनिजी	३३६
५- श्रीपुण्डरीकाक्षजी	३३६
६- श्रीराममिश्रजी	३३७
७- श्रीयामुनाचार्यजी	३३७
४२-श्रीरामानुजाचार्यजी एवं श्रीकूरेशाचार्यजी	३३८
४३-चार महान् सन्त	३४५
१- श्रीश्रुतिप्रज्ञजी	३४६
२- श्रीश्रुतिदेवजी	३४६
३- श्रीश्रुतिधामजी	३४७
४- श्रीश्रुतिउदधिजी	३४८
४४-श्रीलालाचार्यजी	३४९
४५-श्रीपादपद्मजी	३५१
४६-श्रीरामानुजसिद्धान्तके मतावलम्बी अन्य आचार्यगण	३५३
१- श्रीदेवाचार्यजी	३५४
२- श्रीहर्यानन्दजी	३५४
३- श्रीराघवानन्दजी	३५५
४- श्रीरामानन्दाचार्यजी	३५५
४७-श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी और उनके द्वादश प्रधान शिष्य [१-श्रीअनन्तानन्दजी, २-श्रीकबीरदासजी, ३-श्रीसुखानन्दजी, ४-श्रीसुरसुरानन्दजी, ५-श्रीपद्मावतीजी, ६-श्रीनरहरियानन्दजी, ७-श्रीपीपाजी, ८-श्रीभावानन्दजी, ९-श्रीरैदासजी, १०-श्रीधन्नाजी, ११-श्रीसेनजी तथा १२-श्रीसुरसुरानन्दजीकी पत्नी]	३५५
१- श्रीरामानन्दाचार्यजी	३५६
२- श्रीपद्मावतीजी	३५७
३- श्रीभावानन्दजी	३५७
४८-श्रीअनन्तानन्दजी और उनकी शिष्यपरम्परा	३५९
१- श्रीअनन्तानन्दजी	३५९
२- श्रीयोगानन्दजी	३६१
३- श्रीगयेशजी	३६२
४- श्रीकर्मचन्दजी	३६२
५- श्रीसारीरामदासजी	३६४
६- श्रीरंगजी	३६४
४९-पयहारी श्रीकृष्णदासजी	३६६
५०-श्रीपयहारीजीके शिष्यगण	३६८
१- श्रीकील्हदेवजी	३६९
२- श्रीअग्रदेवजी (श्रीअग्रदासजी)	३६९
३- श्रीचरणदासजी	३६९
४- श्रीहठीनारायणदासजी	३६९
५- श्रीसूरजदासजी	३७०
६- श्रीटीलाजी	३७१
७- श्रीगंगादेवीजी	३७२
८- श्रीविष्णुदासजी एवं श्रीरंगदासजी (श्रीरंगारामजी)	३७३
५१-श्रीकील्हदेवजी	३७३
५२-श्रीअग्रदासजी	३७६
५३-श्रीशंकराचार्यजी	३७७
५४-श्रीनामदेवजी	३८१
५५-श्रीजयदेवजी	३८८
५६-श्रीश्रीधरस्वामीजी	३९८
५७-श्रीबिल्वमंगलजी	४०१
५८-श्रीविष्णुपुरीजी	४०७
५९-श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायके अनुयायी सन्तगण	४०८
१- श्रीज्ञानदेवजी	४०९
२- श्रीत्रिलोचनजी	४१२
३- श्रीमद्वल्लभाचार्यजी	४१४
६०-कलियुगमें प्रेमकी प्रधानता प्रकट करनेवाले भक्त	४१७
१- श्रीकुलशेखरजी	४१८
२- श्रीलीलानुकरणजी एवं श्रीरतिवन्तीजी	४२०
६१-भक्तिसे भगवान्‌को वशमें करनेवाले भक्त	४२०
१- भगवत्प्रसादनिष्ठ राजा	४२१
२- श्रीकर्माबाईजी	४२२
३- श्रीसिलपिल्लेकी भक्त—दो कन्याएँ	४२३
४- जमींदारकन्याकी कथा	४२३
५- राजाकी कन्याकी कथा	४२५
६- अपने पुत्रको विष देनेवाली दो भक्तिमती नारियाँ	४२६
६२-सन्तवेशका आदर करनेवाले भक्त	४२८
१- सन्तवेशनिष्ठ हंसोंकी कथा	४२९
२- सदाव्रती महाजनकी कथा	४३०
६३-भगवान्‌द्वारा भक्तोंकी वाणीको सत्य करना	४३२
१- श्रीभुवनसिंहजीकी कथा	४३२
२- श्रीदेवाजी पण्डाकी कथा	४३४
३- श्रीकामध्वजजी	४३६
४- श्रीजयमलजी	४३७
५- श्रीग्वालभक्तजी	४३९
६- श्रीश्रीधर स्वामीजी	४४०

विषय	पृष्ठ-संख्या
६४-**भगवान्‌का भक्तप्रेम**	४४१
१- निष्किंचन भक्त श्रीहरिपालजी	४४१
२- श्रीसाक्षीगोपालजीके भक्त	४४४
३- श्रीरामदासजी	४४५
६५- **भक्तके वश भगवान्**	४४७
१- श्रीजसू स्वामीजी	४४८
२- श्रीनन्ददासजी वैष्णवसेवी	४४८
३- श्रीअल्हजी	४४९
४- श्रीवारमुखीजी	४५०
६६- **ब्राह्मण-दम्पतीका भगवद्विश्वास**	४५१
६७- **वेषनिष्ठ एक राजा**	४५२
६८- **अन्तर्निष्ठ नरपाल**	४५३
६९- **गुरुनिष्ठ शिष्य**	४५३
७०- **श्रीरैदासजी**	४५४
७१- **श्रीकबीरदासजी**	४५८
७२- **श्रीपीपाजी**	४६५
७३- **श्रीधन्नाजी**	४७६
७४- **श्रीसेनजी**	४७७
७५- **श्रीसुखानन्दजी**	४७९
७६- **श्रीसुरसुरानन्दजी**	४८१
७७- **श्रीसुरसुरीजी**	४८२
७८- **श्रीनरहरियानन्दजी**	४८३
७९- **श्रीपद्मनाभजी**	४८५
८०- **श्रीतत्त्वाजी, श्रीजीवाजी**	४८७
८१- **श्रीमाधवदासजी**	४८८
८२- **श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी**	४९३
८३- **श्रीनित्यानन्दजी, श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी**	४९८
८४- **श्रीसूरदासजी**	५०४
८५- **श्रीपरमानन्ददासजी**	५०७
८६- **श्रीकेशवभट्टजी**	५०९
८७- **श्रीश्रीभट्टजी**	५११
८८- **श्रीहरिव्यासदेवजी**	५१३
८९- **श्रीदिवाकरजी**	५१४
९०- **गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी**	५१६
९१- **श्रीत्रिपुरदासजी**	५१८
९२- **गोस्वामी श्रीविट्ठलेशसुतजी**	५२०
९३- **श्रीकृष्णदासजी**	५२२
९४- **श्रीवर्धमानजी तथा श्रीगंगलजी**	५२६
९५- **श्रीक्षेम गुसाईंजी**	५२८
९६- **श्रीविट्ठलदासजी**	५२९
९७- **श्रीहरिराम हठीलेजी**	५३२
९८- **श्रीकमलाकरभट्टजी**	५३३
९९- **श्रीनारायणभट्टजी**	५३४
१००-**श्रीब्रजवल्लभभट्टजी**	५३६
१०१-**श्रीरूपसनातनजी**	५३७
१०२-**श्रीहितहरिवंशजी गोस्वामी**	५४६

विषय	पृष्ठ-संख्या
१०३-**श्रीस्वामी हरिदासजी**	५४९
१०४-**श्रीहरिराम व्यासजी**	५५१
१०५-**श्रीजीवगोस्वामीजी**	५५६
१०६-**श्रीराधारमणके भक्त**	५५८
१- श्रीगोपालभट्टजी	५५८
२- श्रीअलिभगवान्	५६०
३- श्रीविट्ठलविपुलदेव	५६१
४- श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी	५६२
५- श्रीलोकनाथजी	५६२
६- श्रीमधुगोस्वामीजी	५६४
७- श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी	५६५
८- श्रीकृष्णदास पण्डित	५६५
९- श्रीभूगर्भगोसाईंजी	५६६
१०- श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी	५६७
११- श्रीरंगजी	५६७
१२- श्रीघमण्डीजी	५६७
१०७-**श्रीरसिकमुरारिजी**	५६८
१०८-**भवसागरसे पार करानेवाले भगवद्भक्त**	५७३
१- सदन कसाई	५७३
२- श्रीगुसाईं काशीश्वरजी	५७५
३- श्रीसोझाजी	५७६
४- श्रीसींवाजी	५७७
५- श्रीअधारजी	५७८
६- श्रीहरिनाभजी	५७८
७- श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी	५७८
८- श्रीऊदारामजी	५७९
९- श्रीडूँगरजी	५८०
१०- श्रीपदारथजी	५८१
११- श्रीविमलानन्दजी	५८१
१०९-**सच्चे सन्त**	५८२
१- श्रीखोजीजी	५८२
२- श्रीराँका-बाँकाजी	५८४
३- श्रीयतीरामजी	५८६
४- श्रीरामरावलजी	५८६
५- श्रीसीहाजी	५८७
६- श्रीदलहासिंहजी	५८७
७- श्रीपद्मजी	५८८
८- श्रीमनोरथजी	५८८
९- श्रीद्यौगूजी	५८९
१०- श्रीचाचागुरु	५८९
११- श्रीसवाईसिंहजी	५९०
१२- श्रीचाँदाजी	५९१
१३- श्रीनापाजी	५९१
१४- श्रीकीताजी	५९२
११०-**परोपकारी भक्त**	५९३
१- श्रीलड्डूजी	५९४

विषय	पृष्ठ-संख्या
२- श्रीसन्तजी	५९४
३- श्रीतिलोकजी सुनार	५९५
४- श्रीलक्ष्मणजी	५९६
५- श्रीलफराजी (श्रीलफरा गोपालदेवाचार्यजी)	५९६
६- श्रीकुम्भनदासजी	५९७
७- श्रीखेमदासजी	५९९
८- श्रीहरिदासजी	५९९
९- श्रीउद्धवजी	६००
१११-अभिलाषा पूर्ण करनेवाले भक्त	६००
१- श्रीसोमजी	६०१
२- श्रीभीमजी	६०१
३- श्रीध्यानदासजी	६०१
४- श्रीमुकुन्दजी	६०२
५- श्रीवृद्धव्यासजी	६०२
६- श्रीजगनजी	६०२
७- श्रीझाँझूदासजी	६०२
८- श्रीबाहुबलजी	६०३
९- श्रीकपूरजी	६०४
१०- श्रीघाटमजी	६०४
११२-भक्तोंके पालक महन्त	६०५
१- श्रीदेवानन्दजी	६०६
२- श्रीखेमजी	६०६
३- श्रीरूपाजी (श्रीरूपरसिकदेवाचार्यजी)	६०७
११३-भगवद्भजनपरायण सन्त	६०८
१- श्रीरुद्रप्रतापजी गजपति	६०८
२- श्रीहरिनाथजी	६१०
३- श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजी	६११
११४-भक्त कविगण	६११
१- श्रीगोविन्दस्वामीजी	६११
२- श्रीविद्यापतिजी	६१६
३- श्रीब्रह्मदासजी	६१८
४- श्रीकेशवाचार्यजी	६१८
५- श्रीपूर्णसिंहजी	६२१
११५-श्रीमथुरामण्डलके भक्त	६२१
१- श्रीगुंजामालीजी और उनकी पुत्रवधू	६२२
२- श्रीकेशवजी दण्डौती	६२२
३- श्रीचतुर्भुजदासजी	६२३
४- श्रीबेनीजी	६२४
११६-कलियुगकी भक्त नारियाँ	६२५
१- रानी श्रीगणेशदेईजी	६२५
२- श्रीझालीरानीजी	६२८
३- श्रीशोभाजी	६२८
४- श्रीप्रभुताजी	६२९
५- श्रीउमा भटियानीजी	६२९
६- श्रीगौराबाईजी	६३०
७- श्रीकलाबाईजी	६३०
८- श्रीजीवाबाईजी	६३१
९- श्रीजेवासीजी	६३१
१०- श्रीकीकीजी	६३१
११- श्रीगंगाबाईजी	६३२
११७-श्रीहरिके सम्मत भक्त	६३२
१- श्रीनरवाहनजी	६३२
२- श्रीजापूजी	६३६
३- श्रीरूपाजी	६३६
४- श्रीअर्जुनजी	६३६
५- श्रीदामोदरजी	६३६
६- श्रीमयानन्दजी	६३७
११८-सन्तसेवाको भगवत्सेवासे बढ़कर माननेवाले भक्त	६३७
१- श्रीदासजी	६३८
२- बूँदी बनिया	६३८
३- भक्तवर श्रीलक्ष्मणजी	६४०
४- श्रीगोपालजी	६४०
११९-श्रीलाखाजी	६४१
१२०-श्रीनरसीजी	६४४
१२१-श्रीयशोधरजी	६५४
१२२-श्रीनन्ददासजी	६५६
१२३-श्रीजनगोपालजी	६५८
१२४-श्रीमाधवदासजी	६५९
१२५-श्रीअंगदजी	६६०
१२६-श्रीचतुर्भुजजी	६६३
१२७-भक्तिमती श्रीमीराजी	६६६
१२८-श्रीपृथ्वीराजजी	६७१
१२९-भक्त राजागण	६७५
१- श्रीजयमलजी	६७५
२- श्रीरामचन्द्रजी	६७७
३- श्रीरायमलजी	६७७
४- श्रीमधुकरशाहजी	६७७
१३०-श्रीखेमालरत्नजी राठौर	६७९
१३१-राजा श्रीरामरयनजी	६८१
१३२-श्रीरामरयनजीकी रानी	६८२
१३३-श्रीकिशोरसिंहजी	६८३
१३४-श्रीहरीदासजी	६८४
१३५-श्रीचतुर्भुजजी कीर्तननिष्ठ	६८५
१३६-श्रीकृष्णदासजी चालक	६८९
१३७-श्रीसन्तदासजी	६९०
१३८-श्रीसूरदास मदनमोहनजी	६९१
१३९-श्रीकात्यायनीजी	६९४
१४०-श्रीमुरारिदासजी	६९६
१४१-भक्तमालसुमेरु गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी	६९९
१४२-श्रीमानदासजी	७०५
१४३-श्रीगिरिधरजी	७०६

विषय	पृष्ठ-संख्या
१४४-श्रीगोसाईं गोकुलनाथजी	७०७
१४५-श्रीबनवारीदासजी	७१०
१४६-श्रीनारायणमिश्रजी	७११
१४७-श्रीराघवदासजी	७१२
१४८-श्रीबावनजी	७१३
१४९-श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी	७१५
१५०-श्रीगदाधरभट्टजी	७१६
१५१-चारण भक्त	७२०
१-श्रीचौमुखजी	७२०
२-श्रीचण्डजी	७२१
३-श्रीईश्वरदासजी	७२१
४-श्रीकरमानन्दजी	७२३
५-श्रीकोल्हजी, श्रीअल्हजी	७२४
६-श्रीनारायणदासजी	७२६
१५२-श्रीपृथ्वीराजजी	७२६
१५३-श्रीसींवाजी	७३०
१५४-श्रीमती रत्नावतीजी	७३१
१५५-श्रीजगन्नाथ पारीखजी	७३७
१५६-श्रीमथुरादासजी	७३८
१५७-श्रीनारायणदासजी नर्तक	७४०
१५८-श्रीभूरिदा भक्तगण	७४१
१-श्रीबोहितजी	७४१
२-श्रीहरिनाभमिश्र	७४२
३-श्रीबच्छपालजी	७४२
४-श्रीछीतस्वामीजी	७४३
५-श्रीबिहारीदासजी	७४६
१५९-संसारसे निवृत्त भक्त	७४९
१-श्रीउद्धवजी	७४९
२-श्रीविदुरजी	७५०
१६०-श्रीचतुरोनगनजी	७५०
१६१-भक्तसेवी मधुकरिया भक्त	७५३
१-श्रीगोमानन्दजी	७५३
२-श्रीपरमानन्दजी	७५४
३-श्रीभगवानजी	७५४
४-श्रीश्यामजी	७५५
५-श्रीकूबाजी (केवलदास)	७५५
६-पण्डा श्रीदेवादासजी	७५९
१६२-श्रीअग्रदेवजीके शिष्य	७६१
१-श्रीजंगीजी	७६१
२-श्रीविनोदीजी	७६२
१६३-श्रीटीलाजीका वंश	७६२
१-श्रीटीलाजी	७६२
२-श्रीलाहाजी	७६३
३-श्रीपरमानन्ददासजी	७६४
४-श्रीत्यौलाजी	७६४
१६४-श्रीकान्हरजी	७६४
१६५-श्रीनीवाजी	७६५
१६६-श्रीतूँवर भगवानजी	७६६
१६७-श्रीजसवन्तसिंहजी	७६८
१६८-श्रीहरिदासजी	७६९
१६९-श्रीगोपालजी तथा श्रीविष्णुदासजी	७७१
१७०-श्रीकील्हदेवजीके शिष्यगण	७७२
१-श्रीचतुरदासजी	७७३
२-श्रीरायमलजी	७७३
३-श्रीखेमदासजी	७७३
४-श्रीरूपजी	७७३
१७१-श्रीनाथभट्टजी	७७४
१७२-श्रीकरमैतीजी	७७४
१७३-श्रीखड्गसेनजी कायस्थ	७७८
१७४-श्रीगंगग्वालजी	७८०
१७५-श्रीदिवाकर सोतीजी	७८१
१७६-श्रीलालदासजी	७८३
१७७-श्रीमाधवग्वालजी	७८४
१७८-श्रीप्रयागदासजी	७८५
१७९-श्रीप्रेमनिधिजी	७८५
१८०-श्रीराघवदास दूबलोजी	७८८
१८१-सन्तसेवी भक्त	७८९
१-श्रीहरिनारायणजी	७८९
२-श्रीऊधौजी	७९०
३-भेलाग्राम-निवासी श्रीतुलसीदासजी	७९०
१८२-भगवद्भक्त नारियाँ	७९०
१-श्रीदमाबाईजी	७९१
२-श्रीलालीजी	७९१
३-श्रीनीराजी	७९२
४-श्रीखीचनीजी	७९२
५-श्रीकेशीबाईजी	७९२
६-श्रीबाँदररानीजी (मोहनदासी)	७९२
७-गंगा-जमुनाबाई	७९३
१८३-श्रीकान्हरदासजी	७९४
१८४-श्रीकेशवजी लटेरा और श्रीपरशुरामजी	७९५
१८५-श्रीकेवलरामजी	७९६
१८६-श्रीआसकरनजी	७९७
१८७-श्रीहरिवंशजी	८००
१८८-श्रीकल्याणजी	८००
१८९-श्रीबीठलदासजी	८०१
१९०-भगवद्भक्तोंके भक्त	८०२
१-श्रीसदानन्दजी	८०२
२-श्रीनारायणदासजी	८०३
३-श्रीशंकरजी	८०३
४-श्रीलाखाजी	८०४
१९१-श्रीहरीदासजी	८०४
१९२-श्रीकृष्णदासजी	८०८

विषय	पृष्ठ-संख्या
१९३-परमधर्मपोषक संन्यासी भक्त	८०९
१- श्रीदामोदरतीर्थजी	८१०
२- श्रीनृसिंहारण्यजी	८१०
३- श्रीरामभद्रजी	८१०
४- श्रीजगदानन्दजी	८११
५- श्रीमधुसूदनसरस्वती	८११
६- श्रीप्रबोधानन्दजी	८१२
१९४-श्रीद्वारकादासजी	८१७
१९५-श्रीपूर्णजी	८१७
१९६-श्रीलक्ष्मणभट्टजी	८१९
१९७-स्वामी श्रीकृष्णदासजी पयहारी	८२०
१९८-श्रीगद्राधरदासजी	८२१
१९९-श्रीनारायणदासजी	८२२
२००-श्रीभगवानदासजी	८२४
२०१-श्रीकल्याणदासजी	८२६
२०२-श्रीसन्तदासजी तथा श्रीमाधवदासजी	८२७
२०३-श्रीकन्हरदासजी	८२८
२०४-श्रीगोविन्ददासजी भक्तमाली	८२९
२०५-श्रीजगतसिंहजी	८२९
२०६-श्रीगिरिधरग्वालजी	८३१
२०७-श्रीगोपालीजी (श्रीगोपालीबाईजी)	८३२
२०८-श्रीरामदासजी	८३४
२०९-श्रीरामरायजी	८३५
२१०-श्रीभगवन्तमुदितजी	८३७
२११-श्रीलालमतीजी	८३९
२१२-भक्त ही सर्वश्रेष्ठ	८४०
२१३-भक्तोंके सुयशकी महिमा	८४०
२१४-सन्तोंका उत्कर्ष	८४१
२१५-श्रीनाभादासजीकी भक्तोंसे विनय-प्रार्थना	८४१
२१६-भक्तोंकी महिमा	८४२
२१७-श्रीप्रियादासजीद्वारा गुरु-वन्दना	८४३
२१८-श्रीप्रियादासजीद्वारा श्रीनाभादासजीकी वन्दना	८४४
२१९-श्रीप्रियादासजीद्वारा भगवान्से निवेदन	८४४
२२०-श्रीनाभादासकृत श्रीभक्तमालकी नामानुक्रमणिका [श्रीअंकुरजी नागपाल]	८४५
२२१-श्रीभक्तमालजीकी आरती	८४८

चित्र-सूची

(रेखा-चित्र)

१-भक्त बालिका करमैती	१८
२-भक्त और भगवान्की झाँकी—एक [९ चित्र]	६७
३-भक्त और भगवान्की झाँकी—दो [९ चित्र]	६८
४-भक्तोंकी दिव्य झाँकी—एक [९ चित्र]	११९
५-भक्तोंकी दिव्य झाँकी—दो [९ चित्र]	१२०
६-भक्तोंकी दिव्य झाँकी—तीन [८ चित्र]	५२४
७-भक्तोंकी दिव्य झाँकी—चार [८ चित्र]	५२५

भक्तमाल—एक परिचय

(राधेश्याम खेमका)

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-ताप तथा अमंगलोंको नष्ट कर देती है और परम शान्तिका विस्तार करती है। उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है।

'**भक्तमाल**' महाभागवत श्रीनाभादासजी महाराजकी रचना है। जैसा कि इसके भक्तमाल नामसे ही स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ भक्तोंके परम पवित्र चरित्ररूपी पुष्पोंकी एक परम रमणीय मालाके रूपमें गुम्फित है और इस सरस सौरभमयी तथा कभी भी म्लान न होनेवाली सुमनमालिकाको परमात्मप्रभु श्रीहरि नित्य-निरन्तर अपने श्रीकण्ठमें धारण किये रहते हैं। भक्तमालमें भक्तोंका गुणगान है, यशोगान है और उनकी सरस लालित्यमयी लीलाका विस्तार है। भगवान् और भक्तका कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, इसका निदर्शन हमें भक्तमाल ग्रन्थके श्रवण-मनन और पठनसे भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। भक्तमालके श्रवण-मननसे शुष्क हृदय सरस हो जाता है और सरस हृदयमें सदाके लिये भक्तिकी लहरें आन्दोलित होती रहती हैं। यही कारण है कि श्रीमद्भागवत तथा श्रीरामकथाके प्रवक्ता आचार्यगण भक्तमालके भक्तोंका दृष्टान्त देकर सांगोपांग भक्तिरसोंको संपुष्ट करते हैं।

भगवत्प्राप्तिके संसाधनोंमें भगवान्‌के मंगलमय पावन नामके कीर्तन, उनके दिव्यरूपके चिन्तन और उनकी ऐश्वर्यमयी-माधुर्यमयी मनोरम लीलाओंके गान तथा चरित्र-श्रवणकी जितनी महिमा है, उससे भी कहीं अधिक महिमा भगवान्‌के अनन्य प्रेमी भक्तोंकी पवित्र गाथाओंके पठन, श्रवण और मननकी है। भगवान् ही जब भक्तोंकी महिमाका मुक्तकण्ठसे गान करते हैं तो ऐसे सौभाग्यशाली भक्तोंकी महिमाकी क्या सीमा! इतना ही नहीं भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैं भक्तजनोंके पीछे-पीछे यह सोचकर निरन्तर विचरण किया करता हूँ कि उनके चरणोंकी पवित्र धूलराशि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ—'**अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।**' (श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

वास्तवमें भगवान् और उनके भक्तमें भेदका अभाव है—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**' (ना०भ०सू० ४१)। इसीलिये भगवान्‌का कथन है कि मेरा भक्त सम्पूर्ण लोकको पावन बना देता है—'**मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति**' (श्रीमद्भा० ११। १४। २४)। भगवत्-प्राप्तिके जितने भी मार्ग शास्त्रोंमें निरूपित हैं, उनमें भक्तिमार्गको सर्वोत्तम तथा सहज मार्ग बताया गया है। भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है—'**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**' (गीता ६। ४७) भक्तों और उनकी भक्तिका मार्ग सबके लिये कल्याणकारी है।

भगवान्‌के प्रिय भक्तोंकी पुनीत गाथाएँ अनादिकालसे विश्वके इतिहासमें गायी जा रही हैं और अनन्त कालतक गायी जाती रहेंगी। ऐसे भक्तोंका नामस्मरण, उनके चरित्रोंका मनन, उनके उपदेशोंका पालन और उनकी भगवत्प्रेमविषयक रहनी-करनीका अनुसरण करनेसे अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और भगवच्चरणारविन्दोंमें सहज ही अनुदिन वर्धमान अनुराग उत्पन्न हो जाता है। भक्तगाथाएँ सदा ही नवीन हैं, मंगलमय हैं, कल्याणमय हैं, सदा सेवनीय हैं और परम शान्ति प्रदान करनेवाली हैं। भगवान्‌में अनन्त गुण हैं और उनके प्रेमी भक्तोंमें भी अपार गुण हैं, उन गुणोंका जो चिन्तन और स्मरण करता है, उस व्यक्तिको स्वाभाविक रूपसे ये गुण प्राप्त हो जाते हैं। अपने जीवनको उज्ज्वल, सद्गुणोंसे युक्त तथा भक्तिमय बनानेके लिये भक्तोंके चरित्ररूपी सुधासिन्धुमें अवगाहन करना चाहिये। भगवत्प्राप्तिके

लिये साधन करनेवालोंको भक्तोंके चरित्रोंके पठन, श्रवण और मनन करनेसे बहुत लाभ होता है। भक्तोंके चरित्र मनको आह्लादित करते हैं और संसारमें महान् कष्टसे मुक्ति दिलाते हैं।

जबसे भगवान् हैं, तभीसे उनके भक्त हैं और जबसे भगवान्‌की कथा है, तभीसे भक्तोंकी कथाका शुभारम्भ है। अकेले भगवान्‌की कोई लीला भी बन नहीं सकती। भक्त भगवान्‌के लीला-सहचर हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि जिस प्रकार भगवान् और उनकी कथा अनादि है, उसी प्रकार भक्त और उनकी कथा भी अनादि है। भक्त और भगवान्‌का नित्य साहचर्य है। यह बड़ी विलक्षण बात है कि स्वयं परमात्मप्रभु जब शिवरूप धारण करते हैं तो वे रामरूपके भक्त बन जाते हैं तो कभी रामरूपमें शिवकी उपासना करने लगते हैं। एक ही प्रभु भक्तकी भावनाके अनुसार अनेक रूपोंमें होकर उनके इष्टका रूप धारणकर परस्पर एक-दूसरेके भक्त बन जाते हैं और एक-दूसरेको वर भी प्रदान करते हैं। भगवान्‌की यह लीला भक्तको आह्लादित करनेके लिये होती रहती है।

यद्यपि वेदों, पुराणों आदि सत्-शास्त्रोंमें भक्त और भगवान्‌के चरित्र बड़े ही मनोरम रूपमें वर्णित हैं और अनेक भक्तकवियोंने स्वतन्त्र रूपसे भी संस्कृत आदि भाषाओंमें भक्तोंके मनोरम चरित्र प्रस्तुत किये हैं तथापि श्रीनाभादासजीके भक्तमालमें जिन-जिन भक्तोंकी कथा आयी है, वह बड़ी ही सरस, कल्याणकारिणी और मनको आनन्दित करनेवाली है। भक्तमाल सामान्य रचना नहीं है, अपितु यह एक आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है। तपस्वी, सिद्ध एवं महान् संतकी अहैतुकी कृपा और आशीर्वादसे इस ग्रन्थका प्राकट्य हुआ है, इसीलिये इसकी इतनी महिमा है।

भक्तमालके प्राकट्यकी रोचक कथा

भक्तमाल भक्तिसाहित्यका अनूठा अनमोल रत्न है। इसकी यह विशेष बात है कि यह भक्तोंको अतिप्रिय होनेके साथ ही भगवान्‌को भी परम प्रिय है। सन्तोंकी तो यह भी धारणा है कि भगवान् अपने नित्य धाममें भक्तमालका सदा स्वाध्याय करते हैं। श्रीभक्तमालके प्रधान श्रोता भगवान् ही हैं। जैसे भक्तोंको भगवान्‌का चरित्र अतिप्रिय है, वैसे ही भगवान्‌को भी भक्तोंका चरित्र परम प्रिय है। सत्य तो यह है कि भगवान् अपनेसे अधिक भक्तोंको आदर देते हैं—*'मोतें संत अधिक करि लेखा।'* भावुक भक्तोंकी मान्यता है कि भगवान्‌से भी अधिक महिमा उनके भक्तोंकी है—*'मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'*

भक्तमालके सबसे प्राचीन टीकाकार श्रीप्रियादासजी भक्तमाल ग्रन्थका प्राकट्य कैसे हुआ, इसे बताते हुए कहते हैं कि एक बारकी बात है श्रीनाभादासजीके पूज्य गुरुवर श्रीअग्रदासजी महाराज भगवान् श्रीसीतारामजीकी मानसी-उपासनामें लीन थे और उनके शिष्य श्रीनाभाजी धीरे-धीरे उनको पंखा झल रहे थे। उसी समय अग्रदासजीका एक शिष्य जहाजद्वारा समुद्रकी यात्रा कर रहा था। उसका जहाज एकाएक संकट (भँवर)-में फँस गया और रुक गया। उस समय उस संकटसे मुक्त करनेके लिये शिष्यने अपने गुरुजी श्रीअग्रदासजीका स्मरण-ध्यान किया। उसका फल यह हुआ कि गुरुजीका ध्यान भी शिष्यकी ओर गया और उनकी मानसी-आराधनाका ध्यान टूट गया। विलक्षण बात यह हुई कि इस ध्यान-भंगकी बात नाभाजी भी समझ गये, तब उन्होंने अपने पंखेकी वायुके झोंकेसे रुके हुए जहाजको भँवर-संकटसे पार कर दिया, जहाज समुद्रमें यथावत् चल पड़ा, तब नाभाजी गुरुजीसे बोले—गुरुदेव, वह जहाज पुनः चल पड़ा है। अतः अब आप पहलेके ही समान भगवान्‌के ध्यानमें लग जाइये। यह सुनकर अग्रदेवजीने आँखें खोलीं और कहा—कौन बोला? नाभाजीने हाथ जोड़कर कहा—वही आपका दास, जिसे आपने अपना प्रसाद दे-देकर पाला है।

नाभाजीकी इस बातको सुनकर अग्रदासजीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा और वे मन-ही-मन सोचने लगे कि ओह, इसकी ऐसी ऊँची स्थिति हो गयी कि यह मेरी मानसी-सेवातक पहुँच गया! आश्चर्य है कि इसने यहाँ बैठे-ही-बैठे दूरस्थित

समुद्रमें होनेवाली घटनाका प्रत्यक्ष कर लिया और यहींसे जहाजकी रक्षा कर ली! फिर विचार करते ही उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे यह जान गये कि सन्तोंकी सेवा तथा उनसे प्राप्त प्रसाद-भक्षणकी ही यह महिमा है, इसीसे इसे ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है, तब श्रीअग्रदासजीने नाभाजीको आज्ञा देते हुए कहा—***'यह भई तोपै साधु कृपा उनहीं को रूप गुन कहो हिये भाव को'*** वत्स, तुम्हारे ऊपर यह साधुओंकी कृपा हुई है। अब तुम उन्हीं साधु-सन्तोंके गुण, स्वरूप तथा उनके हृदयके भावोंका गान करो।

गुरुदेवकी इस आज्ञाको सुनकर नाभाजीने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! मैं भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रोंको तो कुछ गा भी सकता हूँ, किंतु भक्तोंके चरित्रोंका आदि-अन्त पाना तो बड़ा कठिन है, भला मैं भक्तिके रहस्यको कैसे समझ सकता हूँ? तब अग्रदासजी बड़े प्रेमसे उन्हें समझाते हुए बोले—जिन्होंने तुम्हें मेरी मानसी-सेवामें प्रवेश कराया, जिन्होंने तुम्हें समुद्रमें जहाजको दिखाया, जिन्होंने यहींसे पंखेकी हवासे जहाजको आगे बढ़ा दिया, वे ही भगवान् तुम्हारे हृदयमें प्रविष्ट होकर भक्तोंके तथा अपने भी सब रहस्योंको खोलकर बता देंगे—***'कही समुझाइ वोई हृदय आइ कहैं सब जिन लै दिखाय दई सागर में नाव को'*** (प्रियादासजी, भक्तिरसबोधिनी टीका)।

गुरुदेवने नाभाजीकी आशंकाको दूर कर दिया। बस अब क्या था, उन्होंने गुरुदेवकी प्रेरणा प्राप्तकर उनके आशीर्वादसे भक्तमालकी उद्भावना कर डाली और इस घटनाका वर्णन उन्होंने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें इस प्रकारसे किया—

(श्रीगुरु) अग्रदेव आग्या दई भक्तन को जस गाउ।
भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ॥

(भक्तमाल दोहा ४)

अर्थात् स्वामी श्रीअग्रदेवजीने मुझ नारायणदास (नाभाजी)-को आज्ञा दी कि भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन करो, भक्तोंका यशोगान करो, क्योंकि संसारसागरसे पार उतरनेका इससे सरल कोई दूसरा उपाय नहीं है।

इस पदमें श्रीनाभाजीने अपने श्रीगुरुदेवका नामनिर्देश किया है और ग्रन्थरचनाका हेतु बताया है। भक्त और भगवान्‌में श्रीअग्रदासजीने केवल भक्तोंके यशोगानकी आज्ञा दी, कारण कि भक्तमें भक्ति, भगवान् और गुरुदेव सबका भाव निहित रहता है।

श्रीनाभादासजीने भक्तमाल ग्रन्थका प्रारम्भ मंगलाचरणके रूपमें निम्न दोहेसे किया है—

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥

(दोहा १)

अर्थात् भगवद्भक्त, भगवद्भक्ति, भगवान् और गुरु—कहनेको तो ये चार हैं, किंतु वास्तवमें इनका स्वरूप एक ही है। इनके चरणोंमें नमस्कार करनेसे समस्त विघ्नोंका नाश हो जाता है।

मंगलाचरणका यह दोहा ही भक्तमाल ग्रन्थका सर्वस्वसार है और इसी दोहेकी भित्तिपर भक्तमालरूपी ग्रन्थ स्थित है। जैसे गायके थन देखनेमें चार हैं, लेकिन चारोंके अन्दर एक ही समान दूध भरा रहता है, वैसे ही भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु—ये चारों अलग-अलग दिखायी देनेपर भी सर्वदा सर्वथा अभिन्न हैं। चारोंमेंसे एकसे प्रेम हो जानेपर तीनों स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। इस दोहेमें भक्त शब्दका प्रारम्भमें प्रयोग होनेसे भक्तमालमें भक्तकी प्रधानता नाभादासजीने दिखायी है। जैसे मालामें चार वस्तुएँ मुख्य होती हैं—मणियाँ, सूत्र, सुमेरु और फुँदना (गुच्छा), वैसे ही भक्तमालमें भक्तजन मणि हैं, भक्ति है सूत्र (जिसमें मणियाँ पिरोयी जाती हैं), मालाके ऊपर जो सुमेरु होता है वे हैं गुरुदेव और सुमेरुका जो गाँठरूपी गुच्छा (फुँदना) है, वे हैं भगवान्। जिस प्रकार मालामें मणिकी विशेषतापर मालाका नामकरण होता है, यथा—रुद्राक्षमाला, तुलसीमाला आदि, वैसे ही भक्तोंकी माला होनेसे इस ग्रन्थका नाम पड़ा 'भक्तमाल'।

इस प्रकार प्रारम्भमें श्रीनाभादासजीने चार दोहोंमें मंगलाचरण करके आगे छप्पय छन्दोंमें भक्तोंके चरित्रोंकी सुन्दर महिमा गायी है। पूरा ग्रन्थ छप्पय और दोहेमें उपनिबद्ध है। इस प्रकार भक्तमालग्रन्थ भक्तिसाहित्यका एक विलक्षण काव्य है।

नाभादासजी कहते हैं कि भगवद्भक्तोंके गुण और चरित्रका वर्णन करनेसे इस संसारमें कीर्ति और सभी प्रकारके कल्याणोंकी प्राप्ति होती है; आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश होता है तथा हृदयमें अटल रूपसे भगवान्‌का वास हो जाता है—

जग कीरति मंगल उदै तीनौं ताप नसायँ।
हरिजन को गुन बरनते हरि हृदि अटल बसायँ॥

(भक्तमाल दोहा २०८)

पुनः वे जीवोंको सावधान करते हुए कहते हैं—यदि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आशा है तो भक्तोंके गुणोंको गाइये, निस्सन्देह भगवत्प्राप्ति हो जायगी। नहीं तो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये अनेक पुण्य भुने हुए बीजकी तरह बेकार हो जायँगे (भुने हुए बीज पुनः अंकुरित नहीं होते), उनसे कल्याण न होगा, फिर जन्म-जन्ममें पछताना पड़ेगा—

(जो) हरि प्रापति की आस है तौ हरिजन गुन गाव।
नतरु सुकृत भुंजे बीज ज्यौं जनम जनम पछिताय॥

(भक्तमाल दोहा २१०)

नाभादासजी बताते हैं कि जो भक्तोंके चरित्रको गाता है, श्रवण करता है तथा उनका अनुमोदन करता है, वह भगवान्‌को पुत्रके समान प्रिय है, उसे भगवान् अपनी गोदमें बैठा लेते हैं—***'सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यों बैठै हरि की गोद'*** (दोहा २११)।

इस प्रकार भक्तोंकी महिमाको समझाते हुए नाभादासजीने जब भक्तोंके चरित्रका वर्णन करना प्रारम्भ किया तो मंगलाचरणके बाद सर्वप्रथम पहले छप्पयमें भगवान्‌के चौबीस अवतारोंका इस प्रकार वर्णन किया—

जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि-बावन।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जग पावन॥
बुद्ध कलक्की ब्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
जग्य रिषभ हयग्रीव धुरुव बरदैन धन्वंतर॥
बद्रीपति दत कपिलदेव सनकादिक करुना करी।
चौबीस रूप लीला रुचिर (श्री) अग्रदास उर पद धरी॥

(भक्तमाल छप्पय १)

इसी प्रकार अगले छप्पयमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीचरणोंके चिह्नोंकी वन्दना की है और प्रार्थना की है कि रघुपतिके ये चरणचिह्न भक्तोंके लिये मंगलकारी और सदा सहायता करनेवाले हों—

अंकुस अंबर कुलिस कमल जव धुजा धेनुपद।
संख चक्र स्वस्तिक जंबूफल कलस सुधाह्रद॥
अर्धचंद्र षटकोन मीन बिंदु ऊरधरेखा।
अष्टकोन त्रयकोन इंद्रधनु पुरुषविशेषा॥
सीतापति पद नित बसत एते मंगलदायका।
चरन चिह्न रघुबीर के संतन सदा सहायका॥

अगले छप्पयमें जिन द्वादश महाभागवत भक्तोंका स्मरण किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रीब्रह्माजी, देवर्षि नारदजी, श्रीशंकरजी, श्रीसनकादिक, श्रीकपिलदेवजी, श्रीस्वायम्भुव मनुजी, श्रीप्रह्लादजी, श्रीविदेहराज जनकजी, श्रीभीष्मपितामहजी, श्रीबलिजी, श्रीशुकदेवजी तथा श्रीधर्मराजजी। इसके बादके छप्पयमें भगवान् नारायणके विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल, बल, नन्द, सुनन्द, सुभद्र आदि सोलह पार्षदोंका उल्लेख हुआ है। तदनन्तर जिन भक्तोंका उल्लेख हुआ है, उन्हें नाभाजीने 'हरिवल्लभ' नाम दिया है और उसके अन्तर्गत लक्ष्मी, गरुड, सुनन्द, हनुमान्, जामवन्त, सुग्रीव, विभीषण, जटायु, ध्रुव, अम्बरीष, विदुर, अक्रूर, सुदामा, चन्द्रहास, चित्रकेतु, गज-ग्राह, पाण्डव, कुन्ती तथा द्रौपदी आदिका स्मरण किया है।

आगेके छप्पय संख्या १० में नौ योगेश्वरों, श्रुतिदेव, मुचुकुन्द, प्रियव्रत, पृथु, परीक्षित्, सूत, शौनकादि ऋषि, मनुपत्नी शतरूपा, कर्दमपत्नी देवहूति, सुनीतिजी, दक्षकन्या सतीजी, देवी मदालसा, व्रजगोपियाँ आदिका उल्लेख है।

पुनः आगेके छप्पयोंमें २७ छप्पयतक प्राचीनबर्हि, सत्यव्रत, रहूगण, सगर, भगीरथ, महर्षि वाल्मीकि, रुक्मांगद, हरिश्चन्द्र, भरत, दधीचि, सुधन्वा, शिबि, बलिपत्नी विन्ध्यावली, मोरध्वज, अलर्क, इक्ष्वाकु, गाधि, रघु, शतधन्वा, रन्तिदेव, मान्धाता, निमि, भरद्वाज, ययाति, दिलीप, याज्ञवल्क्य, नवधाभक्तिके आचार्य, अठारहोंपुराण, स्मृतियोंके प्रवर्तक मनु, अत्रि, हारीत, याज्ञवल्क्य, गौतम, वसिष्ठ, दक्ष, क्रतु तथा पराशर आदि ऋषि-महर्षियों, भगवान् श्रीरामके सचिवों

तथा श्रीरामके सहचरवर्ग, नन्द आदि नौ नन्दों, व्रजवासीगणों, भगवान् कृष्णके रक्तक, पत्रक, मधुकण्ठ आदि षोडश सखाओं, सप्तद्वीपके भक्तों, जम्बूद्वीपके भक्तों, भगवान्‌के द्वारपालके रूपमें प्रतिष्ठित रहनेवाले इलापत्र, शेषनाग, पद्म, शंकु, कम्बल, वासुकि, कर्कोटक तथा तक्षक नामवाले अष्टनागों आदिका वर्णन किया है।

इस प्रकार भक्तमालके प्रारम्भिक २७ छप्पयोंमें सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापरमें हुए भक्त-चरित्रोंका वर्णन हुआ है। आगे छप्पय २८ से अन्ततक पूरे भक्तमालमें कलियुगके भक्तोंका वर्णन है।[१] २८वें छप्पयमें नाभादासजी बताते हैं कि जिस प्रकार पहले तीन युगोंमें भगवान्‌ने चौबीस अवतार धारण किये, उसी प्रकार कलियुगमें भक्तिकी प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्योंका चतुर्व्यूह प्रकट हुआ। यथा—श्रीसम्प्रदायके सम्वर्धक दक्षिण भारतमें श्रीरामानुजाचार्य, उत्तर भारतमें श्रीरामानन्दाचार्य, रुद्रसम्प्रदायके सम्वर्धक आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी, ब्रह्मसम्प्रदायके सम्वर्धक श्रीमध्वाचार्यजी तथा सनकादिक सम्प्रदायके सम्वर्धक श्रीनिम्बार्काचार्यजी हुए। इन आचार्योंने जन्म लेकर स्वयं सत्कर्मों एवं सदाचारपूर्ण आचरण करके भागवद्धर्मकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा की और कलियुगी जीवोंको भक्तिका मार्ग दिखाकर उनपर अपार कृपादृष्टि की। मूल छप्पय इस प्रकार है—

(श्री) रामानुज ऊदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
बिष्णुस्वामि बोहित्थ सिंधु संसार पार करु॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।
निम्बादित्य अदित्य कुहर अग्यान जु हरिया॥
जनम करम भागवत धरम संप्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि बपु धरे (त्यों) चतुर्ब्यूह कलिजुग प्रगट॥

(भक्तमाल छप्पय २८)

आगेके छप्पयोंमें इन सम्प्रदायोंके आचार्योंका तथा उनकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा और उनके द्वारा बताये गये उपदेशोंका वर्णन है। तदनन्तर श्रुतिप्रज्ञ, श्रुतिदेव, लालाचार्य, भावानन्द, अनन्तानन्द, रंगजी, पयहारी श्रीकृष्णदास, कील्हदेव, अग्रदास, शंकराचार्य[२], नामदेव, जयदेव, बिल्वमंगल, ज्ञानदेव, कुलशेखर, कर्माबाई, जयमल, श्रीधरस्वामी, साक्षीगोपालभक्त, रैदास, कबीरदास, पीपा, धन्ना, सुखानन्द, नरहरियानन्द, नित्यानन्द, चैतन्य महाप्रभु, सूरदास, केशवभट्ट, विट्ठलनाथ, नारायणभट्ट, रूपसनातन, हितहरिवंश गोस्वामी, स्वामी हरिदास, जीवगोस्वामी, सदन कसाई, राँका-बाँका, कुम्भनदास, विद्यापति, नन्ददास, मीराबाई, गोस्वामी तुलसीदास, नारायणदास, छीतस्वामी, मधुकरिया भक्त, करमैतीबाई, मधुसूदनसरस्वती, लक्ष्मणभट्ट, गोविन्ददास भक्तमाली, श्रीहरिदास तथा श्रीलालमती आदि अनेकों भक्तोंकी नामावली और उनके मंगलमय पावन चरितका स्मरण किया गया है।

भक्तमालके चरित अत्यन्त रोचक तथा भगवद्भक्तिसे भरे हुए हैं। उसमें वर्णित तथा प्रियादासजीद्वारा विवेचित एक भक्त **करमैतीबाई**का पावन चरित दृष्टान्तके रूपमें यहाँ प्रस्तुत है—

पण्डित परशुरामजी जयपुरके अन्तर्गत खण्डेलाके सेखावत सरदारके राजपुरोहित थे। इनकी पुत्री करमैतीका मन बचपनसे ही भगवान्‌में लग गया था। वह बालिका निरन्तर श्रीकृष्णका ध्यान तथा नाम-जप

१. इसी दृष्टिसे भक्तमालके कुछ संस्करणोंमें पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रूपसे भी भक्तमालका विभाजन किया गया है। २७वें छप्पयतक पूर्वार्ध और उसके आगे उत्तरार्ध।

२. **उतसृंखल अग्यान जिते अनईस्वरबादी। बुद्ध कुतर्की जैन और पाखंडहि आदी॥**
बिमुखनि को दियो दंड ऐंचि सन्मारग आने। सदाचार की सींव बिस्व कीरतिहि बखाने॥
ईस्वरांस अवतार महि मरजादा माँड़ी अघट। कलिजुग धर्मपालक प्रगट आचारज संकर सुभट॥ (भक्तमाल छप्पय ४२)

अर्थात् अधर्मप्रधान कलियुगमें वैदिक धर्मके रक्षक श्रीशंकराचार्यजीका अवतार हुआ। आप विधर्मियोंको शास्त्रार्थमें परास्त करनेवाले वाक्-वीर थे। वैदिक मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले उद्दण्ड, ईश्वरको न माननेवाले बौद्ध, शास्त्रविरुद्ध तर्क करनेवाले जैनी और पाखण्डी आदि जो लोग भगवान्‌से विमुख थे, उन्हें आपने दण्ड दिया। भय दिखाकर शास्त्रार्थमें हराकर उन्हें बलात् खींचकर सनातन धर्मके मार्गपर ले आये। आप सदाचारकी सीमा अर्थात् बड़े सदाचारी थे। सारा संसार आपकी कीर्तिका वर्णन करता है। आप भगवान् शंकरके अंशावतार थे। पृथ्वीपर प्रकट होकर आपने वेदशास्त्रकी सम्पूर्ण मर्यादाओंका इस प्रकार समर्थन और स्थापन किया कि उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रही। वह अचल हो गयी।

किया करती थी। कभी वह 'हा नाथ! हा नाथ!' कहकर क्रन्दन करती, कभी कीर्तन करते हुए नाचने

लगती और कभी हँसते-हँसते लोटपोट हो जाती। नन्ही-सी बच्चीके भगवत्प्रेमको देखकर घरके लोग प्रसन्न हुआ करते थे।

करमैतीकी इच्छा विवाह करनेकी नहीं थी; परंतु लज्जावश वह कुछ कह नहीं सकी। पिताने उसका विवाह कर दिया; लेकिन जब ससुरालवाले उसे लेने आये, तब वह व्याकुल हो उठी। जो शरीर श्यामसुन्दरका हो चुका, उसे दूसरेके अधिकारमें कैसे दिया जा सकता है! उसने अपने प्रभुसे प्रार्थना प्रारम्भ की और जो कातर होकर उन श्रीवृन्दावनचन्द्रको पुकारता है, उसे अवश्य मार्ग मिल जाता है। करमैतीको भी एक उपाय सूझ गया। आधी रातको जब कि सब लोग सो रहे थे, वह अकेली बालिका चुपचाप घरसे निकल पड़ी और वृन्दावनके लिये चल पड़ी।

सबेरे घरमें करमैतीके न मिलनेपर हलचल मच गयी। परशुराम पण्डित जानते थे कि उनकी पुत्री कितनी पवित्र है; किंतु लोकलाजके भयसे अपने यजमान राजाके पास गये। राजाने अपने पुरोहितकी सहायताके लिये चारों ओर घुड़सवार भेजे कि वे करमैतीको ढूँढ़ लावें। करमैती दौड़ी चली जा रही थी। रात्रिभरमें वह कितनी दूर निकल आयी, सो उसे पता ही नहीं। सबेरा होनेपर भी वह भागी ही जा रही थी कि उसने घोड़ोंकी टापका शब्द सुना। उसे डर लगा कि घुड़सवार उसे ही पकड़ने आ रहे हैं। आस-पास न कोई वृक्ष था और न कोई दूसरा छिपनेका स्थान; किंतु एक ऊँट मरा पड़ा था और रात्रिमें शृगालोंने उसके पेटका भाग खा लिया था। करमैतीकी दृष्टि ऊँटके पेटमें बनी कन्दरापर गयी। इस समय वह सांसारिक विषयोंकी भयंकर दुर्गन्धसे भाग रही थी। मरे ऊँटके शरीरसे निकलनेवाली गन्ध उसे विषयोंकी दुर्गन्धके सामने तुच्छ जान पड़ी। भागकर वह ऊँटके पेटमें छिप गयी। घुड़सवार पास आये तो दुर्गन्धके मारे उन्होंने उस ऊँटकी ओर देखातक नहीं। वहाँसे शीघ्रतापूर्वक वे आगे बढ़ गये और अन्तमें हताश होकर लौट गये। माता-पिता आदि भी पुत्रीके सम्बन्धमें निराश हो गये।

जिसकी कृपासे विष अमृत हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है, उसीकी कृपावर्षा करमैतीपर हो रही थी। ऊँटके शरीरमें वह भूखी-प्यासी तीन दिन छिपी रही। उस सड़े ऊँटके शरीरकी गन्ध उसके लिये सुगन्धमें बदल गयी थी। चौथे दिन वह वहाँसे निकली। मार्ग उसका जाना हुआ नहीं था; किंतु जो सबका एकमात्र मार्गदर्शक है, उसकी ओर जानेवालेको मार्ग नहीं ढूँढ़ना पड़ता। मार्ग ही उसे ढूँढ़ लेता है। करमैतीको साथ मिल गया और वह वृन्दावन पहुँच गयी। वहाँ पहुँचकर मानो वह आनन्दके समुद्रमें मग्न हो गयी।

जब परशुराम पण्डितको अपनी पुत्रीका कहीं पता न लगा, तब वे वृन्दावन आये; लेकिन भला वृन्दावनमें करमैतीको जानता-पहचानता कौन था कि पता लगता। एक दिन वृक्षपर चढ़कर परशुराम पण्डित इधर-उधर देख रहे थे। ब्रह्मकुण्डपर उन्हें एक वैरागिनी दिखायी पड़ी। वहाँ जानेपर उन्होंने देखा कि साधुवेशमें करमैती ध्यानमग्न बैठी है। पुत्रीकी दीन-हीन बाहरी दशा देखकर पिताको शोक तो हुआ; परंतु उसके भगवत्प्रेमको देखकर वे अपनेको धन्य मानने लगे। कई घण्टे बैठे रहनेपर भी जब करमैतीका ध्यान भंग नहीं हुआ, तब पिताने उसे हिला-डुलाकर जगाया। वे उससे घर चलकर भजन करनेका आग्रह करने लगे। करमैतीने कहा—'पिताजी! यहाँ आकर भी कोई कभी लौटा है। मैं तो व्रजराजकुमारके प्रेममें डूबकर मर चुकी हूँ। अब मुर्दा यहाँसे उठे कैसे ?'

अन्ततः परशुरामजी उसके भक्तिभावको देखकर

वापस घर लौट गये। राजाने जब यह समाचार सुना, तब वह भी करमैतीके दर्शन करने वृन्दावन आया। राजाके बहुत आग्रह करनेपर करमैतीबाईने एक छोटी कुटिया बनवाना स्वीकार कर लिया। राजाने करमैतीबाईके लिये ब्रह्मकुण्डके पास एक मठिया बना दी। करमैतीबाईकी भक्तिने राजाको भी भक्त बना दिया।

इसी प्रकार भक्तमालमें अनेकानेक भक्तोंके पावन चरित्रोंका रोचक वर्णन हुआ है।

श्रीनाभादासजी कहते हैं कि संसारमें जितने भक्त हैं, उन सबका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसमें है? यह तो वैसे ही असम्भव है, जैसे कोई चिड़िया सब समुद्रोंका जल पी लेनेका विचार करे तो उसके उदरमें समुद्रका जल कैसे अट सकता है?—

भक्त जिते भूलोक में कथे कौन पै जायँ।
समुँद पान श्रद्धा करै कहँ चिरि पेट समायँ॥

(दोहा २०४)

नाभादासजी कहते हैं—जिस प्रकार वृक्षकी जड़ सींचनेसे उसकी शाखा-पत्ते—सब अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस भक्तमालमें वर्णित आचार्यों एवं भक्तोंके वर्णनसे दूसरे भक्तों, जिनका इसमें वर्णन नहीं है, की भक्ति एवं महिमाको भी समझकर सन्तोष करना चाहिये। भगवद्विग्रह (शालग्राम) या तुलसीदल छोटा हो अथवा बड़ा—सबकी महिमा एक-जैसी है, उसी प्रकार भगवद्भक्तजन छोटे हों या बड़े—सभी अनन्तगुणोंके कारण महान् महिमावाले हैं। भक्तमालमें यदि किसीका वर्णन पहले हो गया हो, किसीका बादमें तो यह अपराध क्षन्तव्य है—

श्रीमूरति सब बैष्नव लघु बड़ गुननि अगाध।
आगे पीछे बरनते जिनि मानौ अपराध॥

(दोहा २०५)

महाभागवत श्रीनाभादासजी भक्तचरितवर्णनके विषयमें अपना विनय प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि चारों युगोंमें जितने भी भक्त हुए हैं तथा जो आगे होंगे, उन सबके चरणकमलोंकी धूलि हमारे मस्तकपर सदा विराजमान रहे; क्योंकि वही मेरा सर्वस्व है। इस भक्तमालग्रन्थमें मैंने कुछ नया नहीं कहा है, पूर्वमें महर्षि वाल्मीकि, व्यासजी, श्रीशुकदेवजीप्रभृति जिन-जिन महानुभावोंने भक्तों तथा भगवच्चरित्रका वर्णन किया है, उन्हींका उच्छिष्ट पाकर मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार भक्तमालकी रचना की है। फसल कटनेके बाद खेतमें अनाजके जो दाने पड़े रह जाते हैं, जैसे उन्हें कोई बीनता हो, मेरा यह प्रयास भी वैसा ही है। इस भक्तमालकी रचनामें पूर्ववर्ती महानुभावोंका मैंने आश्रय लिया है, मेरा इसमें कुछ भी नहीं है।

ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीनाभादासजी कहते हैं—किसीको योगका भरोसा है, किसीको यज्ञका, किसीको कुलका और किसीको अपने सत्कर्मोंका, किंतु मुझ नारायण (नाभादास)-की तो केवल यही अभिलाषा है कि गुरुदेवकी कृपासे भक्तोंकी यह माला मेरे हृदयदेशमें सदा विराजमान रहे—

काहू के बल जोग जग्य, कुल करनी की आस।
भक्त नाम माला अगर (उर) बसौ नारायनदास॥

(भक्तमाल दोहा २१४)

नाभादासजीकी यह दृढ़ धारणा है कि भक्तगुणगानके अतिरिक्त इस भवसागरसे उद्धारका अन्य कोई उपाय नहीं है—***'भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ।'***

इस प्रकार आद्योपान्त सम्पूर्ण भक्तमालग्रन्थ भक्तोंकी महिमा, उनके पवित्र नामोंके स्मरण तथा उनकी मंगलमयी लीलाकथाओंके प्रतिपादनमें पर्यवसित है। यह किसी सम्प्रदाय-परम्पराका प्रवर्तक ग्रन्थ नहीं है। इसमें सभी सम्प्रदायोंके भक्तोंकी महिमाका प्रतिपादन हुआ है। भक्त शब्द अत्यन्त व्यापक है, राम, कृष्ण, शिव, सूर्य, दुर्गा, गणेश—सभीके उपासक भक्त ही कहलाते हैं।

भक्तमालकी शैली पद्यात्मक होनेसे बड़ी ही सुन्दर तथा गेय है। भक्तों तथा सन्तोंके समाजमें इसका बड़ा ही आदर है और वैष्णवसमाजका तो यह कण्ठहार ही है। अनेक सन्तोंको यह सम्पूर्ण भक्तमाल कण्ठ है तथा यत्र-तत्र इसकी कथाओंका गायन होता रहता है। भगवान् भी अपने प्रेमी भक्तोंकी कथा सुनकर बहुत आनन्दित होते हैं। भक्तमालकी कथा करनेवाले सन्त-आचार्य अपनेको '**भक्तमाली**' कहनेमें

बड़े गौरवका अनुभव करते हैं, जिस प्रकार भागवत आदिका सत्संग होता है, वैसे ही भक्तमालकी कथाएँ भी बड़े समारोहपूर्वक गायी एवं सुनी जाती हैं। यह ग्रन्थ आबाल-वृद्ध, नर-नारी, विद्वानों तथा कम पढ़े-लिखे—सभीके लिये महान् उपयोगी है। जिस प्रकार कलियुगके जीवोंका निस्तार करनेके लिये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने वाल्मीकीय रामायणको श्रीरामचरित-मानसके रूपमें भाषामें रच दिया, उसी प्रकार श्रीनाभादासजीने भागवतपुराणको भक्तमालके रूपमें पद्योंके रूपमें प्रस्तुतकर सर्वसुलभ बना दिया, इतना ही नहीं, उसमें कलियुगके भक्तोंको जोड़कर उसे और भी महनीय बना दिया। यह श्रीनाभादासजीका जगत्पर महान् उपकार है। सभी सम्प्रदायाचार्यों एवं सभी सम्प्रदायके सन्तोंका समान-भावसे श्रद्धापूर्वक स्मरण—यह भक्तमालकी सबसे बड़ी विशेषता है।

श्रीनाभादासजीका पावनस्मरण

किसी भी ग्रन्थकी महिमा, मान्यता उसके रचयिताके व्यक्तित्वसे सम्बन्धित होनेके कारण होती है, श्रीनाभादासजीका जन्म-कर्म दिव्य था, इसी कारण भक्तमाल भी दिव्य ग्रन्थके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ। आपकी सबसे बड़ी विशेषता थी कि आपने जन्म लेकर अपने नेत्र बन्द ही रखे। जगत्को देखा ही नहीं, सन्त गुरुदेवकी कृपा हो गयी, तब आपने नेत्र खोले। सर्वप्रथम गुरुगोविन्दके ही दर्शन किये। सन्तोंकी कृपासे दिव्य विलक्षण दृष्टि प्राप्त हुई और उन्हींकी कृपासे उनकी आज्ञाके पालनके लिये भक्तमालकी रचना की। श्रीनाभादासजीका दूसरा नाम था श्रीनारायणदास। श्रीनाभादासजी श्रीरामानन्द-सम्प्रदायके महान् आचार्य रहे हैं। श्रीनाभादासजीने श्रीअग्रदासजीको[1] अपना गुरु और अपनेको उनका सहचर बताया है और उन्हींकी आज्ञासे उन्होंने भक्तमाल ग्रन्थकी रचना की। अग्रदासजीके गुरु थे पयहारी श्रीश्रीकृष्णदासजी[2] और कृष्णदासजी श्रीअनन्ता-नन्दजीके शिष्य थे, जो कि श्रीरामानन्दजीके साक्षात् शिष्योंमें प्रधान शिष्य थे।

इस प्रकार नाभादासजीकी गुरु-परम्परा इस प्रकार बनती है—

श्रीरामानन्दाचार्य
↓
श्रीअनन्तानन्द
↓
कृष्णदास पयहारी
↓ ↓
कील्हदासजी श्रीअग्रदासजी
↓
श्रीनाभादासजी

श्रीनाभादासजीने अपनी जीवनीके विषयमें भक्तमालमें कोई उल्लेख नहीं किया तथापि श्रीप्रियादासजीने भक्तमालकी टीका भक्तिरसबोधिनीके कवित्त-संख्या १२-१३ में श्रीनाभादासजीकी प्रारम्भिक अवस्थाका वर्णन किया है, तदनुसार उनका जन्म प्रसिद्ध हनुमान-वंशमें हुआ था, वे जन्मान्ध थे। दुर्भिक्ष (अकाल)-के समयमें उनके माता-पिता उन्हें जंगलमें छोड़ गये थे। दैवयोगसे उसी जंगलमें श्रीकील्हजी और श्रीअग्रजी आ निकले। उस पाँच

१. भक्तमालमें श्रीनाभादासजीने अपने गुरुदेव श्रीअग्रदासजीका स्मरण इस छप्पयमें इस प्रकार किया है—

सदाचार ज्यों संत प्रात जैसे करि आए। सेवा सुमिरन सावधान (चरन) राघव चित लाए॥
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरंतर। रसना निर्मल नाम मनहुँ बर्षत धाराधर॥
(श्री) कृष्णदास कृपा करि भक्ति दत मन बच क्रम करि अटल दयो।
(श्री) अग्रदास हरि भजन बिन काल बृथा नहिं बित्तयो॥ (भक्तमाल छप्पय ४१)

अर्थात् श्रीस्वामी अग्रदासजीने भगवद्भजनके बिना क्षणमात्र समयको भी व्यर्थ नहीं बिताया। आपका वैष्णव सदाचार पूर्ववर्ती (प्राचीन) आचार्योंके समान ही था। आप सदा मानसी सेवा एवं प्रकट विग्रहसेवामें तथा भगवन्नामस्मरणमें सावधान रहते थे। सदा राघवेन्द्र सरकारके श्रीचरणोंमें मनको लगाये रहते थे। (सीताराम विहार) प्रसिद्ध बागमें आपकी बड़ी प्रीति थी, उसे सींचने, बुहारने आदिकी सब सेवाएँ सदा अपने हाथसे ही करते थे। आपकी जिह्वासे परम पवित्र श्रीसीताराम नामकी ध्वनि इस प्रकार होती रहती थी, मानो मधुर गर्जनके साथ मन्द-मन्द वर्षा हो रही है। गुरुदेव पयहारी श्रीकृष्णदासजीने परमकृपा करके मन-वचन-कर्मसे सम्बन्धित अचल भक्तिका भाव आपको प्रदान किया था।

२. भक्तमालमें श्रीपयहारीजीका वर्णन इस रूपमें किया गया है—

जाके सिर कर धर्‌यो तासु कर तर नहिं अड्‌ड्यो। आप्यो पद निर्बान सोक निर्भय करि अड्‌ड्यो॥

वर्षके अन्धे अनाथ बालकको एकान्त जंगलमें भटकता देखकर श्रीकील्हजीको दया आ गयी। उन्होंने अपने कमण्डलुसे थोड़ा-सा जल लेकर बालककी आँखोंपर छींटा दिया तो उनमें ज्योति आ गयी और बालकको दिखायी पड़ने लगा और कृतज्ञतावश उनकी आँखोंसे आँसू निकलने लगे। नाभाजी दोनों महात्माओंके पैरोंमें गिर पड़े। बालककी प्रतिभा तथा विनयसे वे दोनों महानुभाव बड़े प्रभावित हुए और उसे गलता (जयपुर) ले आये। कील्हजीकी अनुमतिसे श्रीअग्रदासजीने उन्हें मन्त्रोपदेश दिया। जब यह बालक कुछ बड़ा हुआ तो इसे स्थानकी सेवा-टहल करनेमें लगा दिया गया। श्रीनाभाजीकी प्रारम्भसे ही सन्त-सेवा और सन्तोंसे प्राप्त प्रसादके ग्रहण करनेमें विशेष रुचि थी। उसीके प्रभावसे उनकी बुद्धि दिव्य हो गयी, उन्हें भक्तिका आस्वाद मिल गया और उनका अन्तःकरण प्रभुप्रेमके रंगमें सराबोर हो गया। फिर उन्होंने गुरुदेवकी आज्ञासे भक्तिरससे आप्लावित भक्तमालकी रचना की।

नाभाजीके सम्बन्धमें कई दन्तकथाएँ भी प्रचलित हैं। एक किंवदन्तीके अनुसार नाभाजीको ब्रह्माजीका अवतार बताया गया है और कहा गया है कि एक बार ब्रह्माजीने व्रजके सब ग्वालबालों तथा गौओं और बछड़ोंका हरण कर लिया था। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी योगमायाके प्रभावसे वैसे ही अन्य ग्वाल-बालों, गौओं तथा बछड़ोंकी सृष्टि कर दी, व्रजके लोगोंको इस बातका पता ही नहीं लगा। बादमें ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी तो भगवान्ने उन्हें इतना ही दण्ड दिया कि तुम कलियुगमें नेत्रहीन होकर जन्म ग्रहण करोगे, किंतु तुम्हारा यह अन्धापन केवल पाँच वर्षतक ही रहेगा। बादमें महात्माओंकी कृपासे तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी। इस किंवदन्तीके अनुसार ब्रह्माजी ही नाभादासजीके रूपमें अन्धे बालकके रूपमें उत्पन्न हुए और बादमें श्रीकील्हजी तथा श्रीअग्रदासकी कृपासे उन्हें दृष्टि प्राप्त हुई।

नाभादासजीके माता-पिता, कुल, ग्राम आदिका कोई प्रामाणिक वर्णन प्राप्त नहीं होता है। उनके दीक्षागुरु स्वामी श्रीअग्रदासजी थे और प्रायः सभी ऐसा मानते हैं कि श्रीनाभादासजीका सम्बन्ध जयपुर गलता गद्दीसे था और इनका समय विक्रम संवत् सत्रहवींके आसपासका है।

भक्तमालकी टीका

नाभादासजीके भक्तमालसे पूर्व भी भक्तमहिमा-सम्बन्धी कथाओंका प्रचार अत्यन्त प्राचीनकालसे संस्कृत तथा अन्य भाषाओंमें होता आया है तथा भक्तमालके बाद भी अनेक भक्तमाल रचे गये, किंतु नाभादासजीके भक्तमालकी जैसी प्रतिष्ठा हुई, वैसा स्थान किसी ग्रन्थको प्राप्त न हो सका। इसी कारण भक्तमालकी रचनाके बाद इसपर अनेक टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ लिखी जाने लगीं। गद्यात्मक अथवा छन्दोबद्ध शैलीमें बहुत-सी टीकाएँ लिखी गयीं, किंतु उनमेंसे सं० १७६९ में लिखी गयी श्रीप्रियादासजीकी टीकाका सर्वाधिक प्रचार हुआ, श्रीप्रियादासजीने अपनी टीकाका नाम रखा—'**भक्तिरसबोधिनी**।' वास्तवमें यह एक ऐसी टीका है, जो भक्तमालके मूल भावों तथा कथाओंको विस्तारसे विवेचित करके अति सरस रूपमें भक्तकथा—चरित्रको प्रस्तुत करती है। श्रीनाभादासजीने अपने छप्पयोंमें किसी छप्पयमें एक भक्तका तथा किसी छप्पयमें बीसों भक्तोंका

तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता। सेवत चरन सरोज राय राना भुवि जेता॥
दाहिमा बंस दिनकर उदय संत कमल हिय सुख दियो। निर्बेद अवधि कलि कृष्णदास अन परिहरि पय पान कियो॥

(भक्तमाल छप्पय ३८)

अर्थात् इस कराल कलिकालमें पयहारी श्रीकृष्णदासजी वैराग्यकी सीमा हुए। आपने अन्नका त्यागकर केवल दुग्धपान करके भजन किया। इसीलिये आप 'पयहारी' इस नामसे विशेष प्रसिद्ध हुए। आपने जिसके सिरपर अपना हाथ रखा अर्थात् शिष्य करके जिसे अपनाया, उसके हाथके नीचे अपना हाथ कभी नहीं फैलाया अर्थात् उससे याचना नहीं की, वरन् उसे भगवत्पद—मोक्षका अधिकारी बना दिया और सांसारिक शोक-मोहसे सदाके लिये छुड़ाकर अभय कर दिया। श्रीपयहारीजी भक्तिमय तेजके समूह थे और आपमें अपार भजनका बल था। बालब्रह्मचारी एवं योगी होनेके कारण आप ऊर्ध्वरेता हो गये थे। भारतवर्षके छोटे-बड़े जितने राजा-महाराजा थे, वे सभी आपके चरणोंकी सेवा करते थे। दधीचिवंशी ब्राह्मणोंके वंशमें उदय (उत्पन्न) होकर आपने भक्तिके प्रतापसे भक्तोंके हृदयकमलोंको सुख दिया।

नाम-स्मरण करके उनकी कथाका संकेतमात्र कर दिया है, किंतु श्रीप्रियादासजीने उन भक्तोंका चरित्र विस्तारसे बड़ी ही सरस भाषामें प्रस्तुत किया है, उदाहरण के लिये गुजरातमें नरसी मेहता नामक महान् भक्त हुए हैं, जिनका वर्णन श्रीनाभाजीने केवल एक छप्पय (सं० १०८)-में किया है, किंतु इसी छप्पयकी पूरी कथा श्रीप्रियादासजीने २६ कवित्तोंमें बड़े रोचक ढंगसे प्रस्तुत की है।

भक्तमालके दोहे तथा छप्पयोंकी कुल संख्या २१४ है, जिसकी टीकामें प्रियादासजीने ६३४ कवित्त रचे हैं। बिना प्रियादासजीकी टीकाके भक्तमालका अर्थ लगाना तथा कथाका स्वारस्य प्राप्त होना बड़ा कठिन है। जैसे वेदमन्त्रोंके निगूढ़ अर्थोंको भाष्यकार श्रीसायणाचार्यने खोला है, वैसे ही भक्तमालकी कथाओंको बिना प्रियादासजीकी टीकाके समझना बड़ा ही दुरूह है। इससे श्रीनाभादासजीके हार्दिक अभिप्रायोंको समझनेमें बड़ी सहायता मिलती है, यही कारण है कि सन्त-समाजमें इसका मूल भक्तमालके समान ही आदर-मान है। भक्तमालकी संरचना छप्पय छन्दोंमें हुई है तो प्रियादासने उसकी टीका कवित्त छन्दोंमें की है।

इसका रहस्य बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि एक बार मैं महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी एवं अपने गुरुदेव श्रीमनोहरदासजीके श्रीचरणोंका अपने हृदयमें ध्यान कर रहा था तथा मुखसे नामसंकीर्तन कर रहा था, उसी समय श्रीनाभादासजीने मुझे आज्ञा दी कि श्रीभक्तमालकी विस्तारपूर्वक टीका करके मुझे सुनाइये, वह टीका कवित्त नामक छन्दोंमें हो; क्योंकि यह छन्द अत्यन्त प्रिय लगता है, जिससे यह भक्तमालकी टीका सम्पूर्ण संसारमें प्रसिद्ध हो जाय। इतना कहकर नाभाजीने अपनी वाणीको विराम दिया, तब मैंने उनसे कहा—प्रभो! मैं अपनी बुद्धिकी सीमाको भलीभाँति जानता हूँ तथापि मुझे विश्वास है कि मेरे हृदयमें प्रविष्ट होकर कृपा करके आप इसे पूरा करा देंगे। उपर्युक्त घटनाका वर्णन प्रियादासजीने अपनी टीकामें किया है।*

श्रीप्रियादासजीका विशेष वर्णन प्राप्त नहीं हो पाता। बताया जाता है कि इनका जन्म राजपुरा नामक ग्राम-सूरत (गुजरात)-में हुआ। ये नवीन अवस्थामें वृन्दावन आ गये और श्रीराधारमणजीके मन्दिरमें श्रीमनोहरदासजीके शिष्य हुए। गुरुदेवकी आज्ञासे तीर्थाटन किया। प्रयाग, अयोध्या, चित्रकूट आदि धामोंमें भगवद्दर्शनकर गलता गद्दी जयपुर पधारे और कुछ दिन वहाँ रहे। यहींपर मानसीसेवाके समय श्रीनाभादासजीने दर्शन देकर भक्तमालकी छन्दोबद्ध टीका लिखनेकी आज्ञा दी। उनकी टीका भक्तिरसबोधिनीके तीन कवित्तों (६३०-६३१, ६३३)-के आधारपर पता चलता है कि वे चैतन्यसम्प्रदायके अनुयायी थे और उनके गुरु महाराजका नाम था श्रीमनोहरदासजी। उन्होंने सं० १७६९ फाल्गुन कृष्णपक्ष सप्तमीको श्रीवृन्दावनधाममें भक्तमालकी टीका पूर्ण की।

श्रीप्रियादासजी प्रारम्भके सात कवित्तोंमें भक्तिका स्वरूप, सत्संगकी महिमा, नाभाजीका गुणानुवाद तथा भक्तमालकी महिमा और अपनी टीकाकी विशेषता बतानेके अनन्तर आठवें कवित्तमें यह सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता है; वे गुण, वह योग्यता भक्तोंके चरित्रको सुननेसे ही आती है; क्योंकि अन्य साधनोंमें साधनाका अभिमान आनेकी सम्भावना रहती है, परंतु भक्त-चरित्र-श्रवणसे विनय, दैन्य एवं शरणागत होनेका भाव पैदा होता है, इसलिये भक्तिका सच्चा अधिकारी बननेके लिये भक्तोंके चरित्रोंका श्रवण करना आवश्यक है। जो उपासक भक्तोंके चरित्रोंकी अवहेलना करके अन्य साधनोंका आश्रय लेता है, वह भक्तिके सूक्ष्म स्वरूपको नहीं जान सकता, बिना भक्तमालके (श्रवण किये) भक्तिका स्वरूप बहुत ही दूर रहता है—

'ऐ पै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है॥' (कवित्त ८)

---

* **महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनहरनजू के चरण कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइये।**
ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइये॥
कीजिये कवित्त बंद छंद अति प्यारो लगै जगै जग माहिं कहि वाणी विरमाइये।
जानों निजमति ऐ पै सुन्यौ भागवत शुक द्रुमनि प्रवेश कियो ऐसेई कहाइये॥

(भक्तिरसबोधिनी टीका कवित्त-संख्या १)

'बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है'

(मलूकपीठाधीश्वर सन्तप्रवर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज)

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीभगवान्‌की अहैतुकी कृपासे जीवको मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है। मानव-जीवनका चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। भगवत्प्राप्ति भक्तोंका संग किये बिना सम्भव नहीं है, ऐसा सभी सद्ग्रन्थ कहते हैं। भक्तसंग प्राप्त करनेका एक सहज सुगम साधन है, श्रीनाभागोस्वामीरचित श्रीभक्तमाल ग्रन्थ। इसका अध्ययन, श्रवण तथा इसमें वर्णित चरित्रोंका मनन एवं अनुशीलन करनेसे भक्तोंके संगका लाभ सहज ही प्राप्त हो जाता है।

इस ग्रन्थमें वर्णित भक्त-गाथाओंमें नवधा, प्रेमलक्षणा आदि भक्तिके विविध स्वरूपोंका ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग, शील-सदाचार, सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, समानता और दैन्य आदि सद्गुणोंका, भक्तोंकी रहनी-सहनी, कहनी, भगवान्‌के प्रति उनके दास्य, सख्य आदि दिव्य भाव तथा श्रीभगवान्‌की भक्तवत्सलता, भक्तप्रियता, कृपालुता, सौलभ्य, सौशील्य आदि कल्याणगुणोंका मनोरम वर्णन हुआ है। महापुरुषोंके जीवनका अध्ययन करनेसे मनुष्यको अपनी भूलोंका बोध होता है एवं भवाटवीसे निकलकर वास्तविक सुखको प्राप्त करनेकी प्रेरणा मिलती है। उनके चरित्रोंको हृदयङ्गम करनेसे मनुष्यकी विषय-वासना, दुष्कर्म-प्रवृत्ति, अन्यायसे अर्थोपार्जनकी वृत्ति आदि समस्त दोष जड़-मूलसे नष्ट हो जाते हैं। वे सभी लाभ भक्तमाल ग्रन्थके अध्ययनसे प्राप्त होते हैं तथापि इस ग्रन्थकी विशिष्ट देन है—अहंकारका नाश अर्थात् दैन्यकी उपलब्धि। इसमें वर्णित गाथाओंका प्रेमपूर्वक पठन-श्रवण करनेसे क्रमशः अभिमान नष्ट होता है और भक्तोंके हृदयका उत्कृष्ट दैन्य पाठकके हृदयमें संचरित होने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप उसका भक्तिराज्यमें प्रवेश हो जाता है, यही भक्तमाल ग्रन्थका सर्वोपरि लाभ है।

वेद-पुराणादि ग्रन्थोंमें भक्त-चरित्रका प्रचुर वर्णन प्राप्त होता है। प्रेमी, साधु, सन्त, महात्मा, भागवत, वैष्णव, सज्जन, योगी, ज्ञानी, मुक्त, सिद्ध, अतीत, मुमुक्षु आदि नामोंसे सर्वत्र भक्तका ही वर्णन किया गया है। इन पृथक्-पृथक् नामोंसे जो लक्षण हमारे आर्ष ग्रन्थोंमें वर्णित हैं, वे भक्तके ही लक्षण हैं। ये लक्षण जिस महापुरुषके जीवनमें प्रत्यक्ष हों, वह भक्तरूपसे मान्य है। वैदिक वाङ्मयमें विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, शौनक आदि ऋषियोंके जो वर्णन प्राप्त हैं, वे भक्तचरित्र ही हैं। इसलिये भक्तमाल ग्रन्थके पूर्वार्धमें इन वैदिक-पौराणिक ऋषियोंका स्मरण किया गया है। भक्तमालकी रचनासे पूर्व सभी साधक वेदादि ग्रन्थोंसे भक्तचरित्रको हृदयङ्गम करते थे। प्राचीनकालमें मनुष्योंकी मेधाशक्ति, संस्कार, जीवन-शैली, वातावरण आदि परिष्कृत और पवित्र होते थे। अतः वे इन आर्ष संस्कृत ग्रन्थोंसे भक्तचरित्रका परिशीलनकर परमार्थ-साधनामें उन्नति कर लेते थे। जैसे-जैसे कलिका प्रभाव बढ़ता गया, हमारे संस्कार, वातावरण आदि दूषित होते गये। ऐसी स्थितिमें अपौरुषेय वेदोंसे अथवा ऋषिप्रणीत संस्कृत ग्रन्थोंसे भक्त-चरित्रको ग्रहण कर पाना क्रमशः कठिन होता गया। करुणावरुणालय श्रीभगवान्‌ने ऐसे ही समयमें नाभाजीको धराधामपर भेजा। श्रीसीतारामजीकी निज सखियाँ ही उनकी आज्ञासे विश्वकल्याणके लिये श्रीअग्रदेवाचार्यजी एवं उनके शिष्य नाभादासजीके रूपमें धरतीपर प्रकट हुईं, ऐसा माना गया है—

अग्रदास नाभादि सखी ये, सबै राम सीता की।

(श्रीभगवत् रसिककृत भक्तनामावली)

वेद-पुराणादिक ग्रन्थोंमें वर्णित भक्त-चरित्र इस प्रकार है, जैसे दुग्धमें घृत। जब उस घृतको विधि-विशेषसे पृथक् निकाल लिया जाता है तो वह सर्वजन-ग्राह्य हो जाता है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीनाभादासजीने प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंसे भक्त-चरित्ररूपी घृतको पृथक्कर उसका प्राकृत भाषामें वर्णन किया, जिससे वह सबके लिये सुलभ हो गया। श्रीनाभाजीकी प्रशंसामें कहा गया है—

बार बार पद बन्दौं (श्री) नाभा आभा ऐंन।
(जिन) काढ़यौ गाभा वेद को भक्तमाल रस दैंन॥

नाभाजीने वेदोंसे उसका गाभा (सारभाग) निकालकर सर्वजनहिताय भक्तमाल ग्रन्थकी रचना की।

भक्तमालके प्रारम्भमें ग्रन्थ-रचनाका उद्देश्य एवं विषय-वस्तु आदिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास॥
(श्रीगुरु) अग्रदेव आग्या दई भक्तन को जस गाउ।
भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ॥

(भक्तमाल ३-४)

वेद, पुराण, इतिहासादि ग्रन्थोंका अवलोकनकर सन्तोंने एक स्वरमें यह निर्णय दिया कि मुमुक्षु जीवको श्रीभगवान् एवं उनके भक्तोंका ही भजन करना चाहिये। भगवान्‌के अनन्त गुण, लीला एवं महिमाका यथासम्भव वर्णन वाल्मीकि, व्यासादि ऋषियोंने किया ही है। अब उनके भक्तोंके मंगलमय चरित्रोंका पुष्कल वर्णन किया जाय, यह विचारकर श्रीअग्रदेवाचार्यजीने अपने शिष्य श्रीनारायणदासजी (नाभाजी)-को भक्तोंका यशोगान करनेकी आज्ञा प्रदान की; क्योंकि भक्तोंका आश्रय लिये बिना इस भवसागरसे पार जानेका और कोई उपाय नहीं है।

गुरुदेवकी आज्ञा श्रवणकर नाभाजीने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की—

बोल्यो कर जोरि 'याको पावत न ओर छोर,
गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्ति दाव को'।
कही समुझाइ, 'वोई हृदय आइ कहैं सब,
जिन लै दिखाय दई सागर में नाव को॥'

(भक्तिरसबोधिनी ११)

'गुरुदेव! मैं भक्तोंका चरित्र कैसे वर्णन कर सकूँगा? श्रीरामकृष्णादि अवतारोंकी लीलाका गान करना कदाचित् सुगम है, किंतु सन्तोंके अपार भाव रहस्योंको समझना कठिन है।' तब श्रीअग्रदेवाचार्यजीने उन्हें आशीर्वाद दिया कि जिस भक्तका तुम स्मरण करोगे, वे स्वयं तुम्हारे हृदयमें आकर अपने स्वरूपको कह देंगे। श्रीगुरुदेवसे यह अमोघ आशीर्वाद प्राप्तकर श्रीनाभाजी भक्तमालके प्रणयन में प्रवृत्त हुए। जिस प्रकार श्रीमद्भागवत महर्षि वेदव्यासकी समाधि भाषा है, उसी प्रकार भक्तमालको नाभाजीकी समाधि वाणी माना जाता है। इसीलिये सभी धर्म-सम्प्रदायोंके अनुयायी विद्वानोंने यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थमें किया गया भक्तगाथाओंका वर्णन सर्वथा यथार्थ है, इसमें किसी प्रकारके पूर्वाग्रह अथवा पक्षपातका कोई स्थान नहीं है। श्रीनाभाजीके समयके ही रसिक सन्त श्रीध्रुवदासजीने कहा है—

भक्त नरायन भक्त सब, धरैं हियैं दृढ़ प्रीति।
बरनी आछी भाँति सौं, जैसी जाकी रीति॥

(भक्तनामावली)

भक्तमालके मूर्धन्य टीकाकार श्रीप्रियादासजीके शब्दोंमें—

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो,
कियो यों कवित्त पट मिहिं मध्य लाल है।

(भक्तिरसबोधिनी ७)

भक्तमालका मूलभूत सिद्धान्त भक्तपरत्व है। यद्यपि भक्त और भगवान्‌में कोई भेद नहीं है तथापि भगवान् सदा भक्तके अधीन ही रहते हैं। अतएव श्रीनाभाजीने भक्तपरत्वके सिद्धान्तको हृदयमें रखकर ग्रन्थका प्रणयन किया। भक्तमालका यह प्रथम मंगलाचरण दोहा उसका बीज माना जाता है—

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥

(भक्तमाल १)

भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु—ये चारों भक्तमालकारकी दृष्टिमें एक ही तत्त्व हैं तथापि इनमें प्रधानता भक्तकी है। इसीलिये दोहेमें प्रथम उसीका स्मरण है। भक्तपरत्वका यह सिद्धान्त अध्यात्म-जगत्‌का एक रहस्य है। यद्यपि यह वेदादिक गन्थोंमें अनेकशः वर्णित है, किंतु इसे सुगमतापूर्वक हृदयङ्गम करनेके लिये भक्तमालका अध्ययन अपेक्षित है।

राष्ट्रका उज्ज्वल भविष्य मनुष्योंके चरित्रपर ही निर्भर करता है। केवल भौतिक उपलब्धियोंका विकास किसी राष्ट्रको सुखी नहीं बना सकता। जबतक उसके

नागरिकोंका चरित्र श्रेष्ठ न हो। इस दृष्टिसे भक्तमाल ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इसके पठन-श्रवणसे अनायास चरित्र-निर्माणकी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ग्रन्थमें वर्णित भक्त-गाथाओंका यह अद्भुत प्रभाव है कि भावपूर्वक उनका अनुशीलन करनेवाला निश्चित ही उज्ज्वल चरित्रसे सम्पन्न हो जाता है। स्वार्थकी भावना मानव-चरित्रको दूषित करती है। स्वार्थी व्यक्ति समाज तथा राष्ट्रके लिये उपयोगी नहीं होता। इस ग्रन्थके पठन-श्रवणसे क्रमशः स्वार्थकी भावना कम होती है और उसके स्थानपर परोपकारकी भावनाका विकास होता है।

भक्तमालमें बिना किसी भेदभावके भक्त-चरित्रका वर्णन किया गया है। भारतवर्षके विभिन्न क्षेत्र, भाषा, जाति, सम्प्रदाय एवं वर्ग आदिके सन्तोंका चरित्र इसमें वर्णित है। अतः इसके पठन-श्रवणसे उक्त आधारोंपर होनेवाली अविवेकमूलक विषमताएँ दूर होती हैं। भक्तमाल ग्रन्थसे पारस्परिक एकता एवं समरसताकी प्रेरणा प्राप्त होती है। इसकी गाथाओंमें कई स्थलोंपर हमारी प्राचीन संस्कृतिकी छटाके दर्शन होते हैं। अतः इसे एक संस्कृतिकोष भी कहा जा सकता है। इन सभी दृष्टियोंसे यह एक अनूठा ग्रन्थ है, इसलिये इसका अधिक-से-अधिक प्रचार हो, इसकी नितान्त आवश्यकता है।

भक्तमालमें कुछ गाथा-चरित्र अतिभक्तिके माने जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी-किसी भक्तके चरित्रका कोई अंश सबके लिये अनुकरणीय नहीं है। ऐसे प्रसंग भक्त और भगवान्-सम्बन्धी परानिष्ठाके प्रभावसे तत्तत् परिस्थितिके अनुसार घटित हुए हैं, इसलिये उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। अतिभक्तिवाले सन्तोंके जो आचरण उनके उपदेशोंके अनुरूप हों, उन्हींको दृढ़तासे जीवनमें उतारना चाहिये। ग्रन्थमें ऐसे कुछ ही प्रसंग हैं, शेष सम्पूर्ण भक्तगाथाएँ सर्वदा सबके लिये भावपूर्वक अनुकरणीय हैं।

भक्तमाल एक इतिहास-ग्रन्थ भी है। इसमें संवत् आदिके द्वारा कालनिर्णयकी शैलीको नहीं अपनाया गया है तथापि इसकी भक्त-गाथाओंमें इतिहासके अनेक बिखरे सूत्र प्राप्त होते हैं। भक्तमालका रचनाकाल वि०सं० १६५० से १६८० के मध्य माना जाता है। श्रीनाभागोस्वामीने जिनका गुरुप्रदत्त नाम श्रीनारायणदास था, इसकी रचना जयपुरके गलतापीठ नामक स्थानमें की। यह स्थान श्रीरामानन्द-सम्प्रदायका अति प्राचीन पीठ है, जहाँ श्रीनाभाजीकी तिवारी अभी भी प्रसिद्ध है। ग्रन्थका भक्तमाल नाम स्वयं ग्रन्थकारद्वारा रखा गया प्रतीत होता है। नाभाजीने इस रचनाको भक्तदाम कहा है, जो भक्तमालका ही पर्याय है। यह माला भक्तवत्सल श्रीठाकुरजीको अत्यन्त प्रिय है। इसे उन्होंने अपने कण्ठहारके रूपमें धारण किया है। भक्तमालके प्रधान श्रोता भी श्रीठाकुरजी माने गये हैं। कथावाचनके प्रारम्भमें इस दोहेद्वारा उनका स्मरण किया जाता है—

हरि जू आय विराजिये कथा सुनहु इतिहास।
तुम श्रोता या माल के तव पद रज हम दास॥

ग्रन्थ-रचनाके लगभग सौ वर्ष पश्चात् वि०सं० १७६९ में सन्त श्रीप्रियादासजीने इसपर 'भक्तिरसबोधिनी' नामक टीका लिखी। टीका-लेखनकी आज्ञा उन्हें ध्यानावस्थामें स्वयं श्रीनाभादासजीसे प्राप्त हुई, इसका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई
धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइये॥

(भक्तिरसबोधिनी १)

इस टीकाका इतना आदर हुआ कि इसे भक्तमालका अंग ही माना गया। मूल और टीका मिलाकर भक्तमालका समग्र विग्रह है, ऐसी मान्यता है। नाभाजीने ग्रन्थमें भक्तोंके दिव्य भाव और उनकी भजन-पद्धति उजागर करनेको प्रधानता दी है। श्रीप्रियादासजीने भी इसी शैलीको अपनाते हुए मूल छप्पयोंमें कहे गये संक्षिप्त घटना-चरित्रोंका कवित्त छन्दमें विस्तारसे वर्णन किया। चरित्र-गाथाओंका विस्तृत वर्णन करनेसे भक्तिरसबोधिनी टीका इतिहास-पक्षके अपेक्षाकृत अधिक निकट है। यही कारण है कि टीकामें वर्णित किन्हीं घटना-तथ्योंके सन्दर्भमें कुछ इतिहासकारोंद्वारा कभी-कभी वैमत्य प्रकट किया जाता है, परंतु उसका अधिक मूल्य इसलिये नहीं है; क्योंकि किसी एक तथ्यके प्रति इतिहासकारोंके भी तो भिन्न-भिन्न मत होते ही हैं। इस

दृष्टिसे उस सन्दर्भमें १८वीं शताब्दीके प्रियादासजीके वर्णनको भी एक मतके रूपमें लिया जाना चाहिये। वस्तुतः भक्तमाल और उसकी भक्तिरसबोधिनी टीका दोनों अभिन्न ही हैं। मूल और टीकाकी ऐसी विलक्षण एकात्मताके अन्य उदाहरण साहित्य-जगत्में विरल ही प्राप्त होते हैं।

श्रीनाभागोस्वामी-रचित इस ग्रन्थ-रत्नका प्राचीनकालसे ही किसी सन्त भक्तद्वारा अध्ययन करनेकी परम्परा है। जैसे आर्ष ग्रन्थोंको गुरुमुखसे पढ़कर ही उनका विषय हृदयङ्गम होता है, उसी प्रकार भक्तमालको भी सन्तमुखसे पढ़कर अधिगम करनेकी प्रथा है। ग्रन्थमें वर्णित गाथाओंका स्वरूप तथा उनसे निष्पन्न सिद्धान्तको अविकल बनाये रखनेमें इस अध्ययन-परम्पराका महत्त्वपूर्ण योगदान है। भक्तमालमें उल्लिखित सन्त-निष्ठाको आत्मसात्कर उसे अन्य जिज्ञासुओंको पढ़ानेवाले तथा ग्रन्थको यथारीति पढ़कर उसका कथावाचन करनेवाले 'भक्तमाली' कहलाते हैं। प्राचीनकालसे ही वृन्दावन तथा अयोध्यामें भक्तमालियोंकी परम्परा रही है। पूज्य श्रीमाधवदासजी, पूज्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी, पूज्य श्रीगिरिधारीदासजी, सद्गुरुदेव श्रीगणेशदासजी, श्रीमथुरादासजी तथा सुविख्यात प्रवक्ता श्रीनारायणदासजी 'मामाजी' आदि अनेक भक्तमाली श्रीवृन्दावनमें हुए हैं, जिनके प्रयाससे इस अनुपम ग्रन्थकी अध्ययन-अध्यापन-परम्परा आजतक अक्षुण्ण बनी हुई है। इनमें श्रीजगन्नाथप्रसादजी भक्तमाली वर्तमान युगमें इस ग्रन्थके मुख्य प्राध्यापक मनीषी हुए हैं। आपहीकी आज्ञासे पूज्य श्रीगणेशदासजी महाराज एवं श्रीरामेश्वरदासजी 'रामायणी'—इन दोनोंने ग्रन्थकी बृहद् व्याख्या लिखी, जो सुदामाकुटी आश्रम, वृन्दावनसे प्रकाशित है। ये सब प्रयास होनेपर भी जन-जनमें भक्तमालका व्यापक प्रचार हो, इसकी आवश्यकता बनी हुई है। सत्य सनातन धर्मके सुदृढ़ स्तम्भके रूपमें प्रतिष्ठापित गीताप्रेस, गोरखपुरने सन् २०१३ में कल्याणके वार्षिकांकके रूपमें भक्तमाल विशेषांक प्रकाशितकर इस दिशामें महत्त्वपूर्ण कार्य किया। परम प्रसन्नताका विषय है कि अब गीताप्रेसद्वारा व्याख्यासहित भक्तमाल ग्रन्थका प्रकाशन किया जा रहा है। इस प्रकाशनसे प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी सन्त-भक्तमालियोंकी ग्रन्थके व्यापक प्रचारकी अभिलाषा निश्चित पूर्ण होगी। श्रीभक्तवत्सल प्रभुके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि इस कार्यमें सहयोगी रहे सभी सज्जनोंको वे अपनी पराभक्ति प्रदान करें। सद्गुरुदेव श्रीगणेशदासजी महाराजद्वारा रचित इन पंक्तियोंका स्मरण करके लेखनीको विराम देते हैं—

इस धन्य नाभा भारती की आरती आरति हरै।
यह भक्त भगवत् की कथा सब विश्व का मंगल करै॥

सभी सन्त-भक्तोंके चरणोंमें सादर नमन करते हुए ये शब्द-पुष्प प्रभु-चरणोंमें समर्पित हैं।

भगवद्भक्तोंद्वारा की गयी प्रार्थना

मन्त्रद्रष्टा ऋषिकी प्रार्थना

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद् वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये। हे मन और वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो। मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे—मैं उसे कभी न भूलूँ। मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ। अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्म-विद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ। मैं वाणीसे श्रेष्ठ शब्दोंका उच्चारण करूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा। वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें। वे मेरी रक्षा करें और मेरे आचार्यकी रक्षा करें, आचार्यकी रक्षा करें। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों तापोंकी शान्ति हो।'

ध्रुवकी प्रार्थना

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥

'हे अनन्त परमात्मन्! मुझे आप उन विशुद्ध-हृदय महात्मा भक्तोंका संग दीजिये, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्तिभाव है; उनके संगमें मैं आपके गुणों तथा लीलाओंकी कथा-सुधाका पान करके उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही विविध भाँतिके दुःखोंसे पूर्ण भयंकर संसार-सागरके उस पार पहुँच जाऊँगा।' (श्रीमद्भा० ४।९।११)

परमात्मप्रभुसे प्रार्थना

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

'हे जगत्के कारण सत्स्वरूप परमात्मा! आपको नमस्कार है। हे सर्वलोकोंके आश्रय चित्स्वरूप! आपको नमस्कार है। हे मुक्ति प्रदान करनेवाले अद्वैततत्त्व! आपको नमस्कार है। शाश्वत और सर्वव्यापी ब्रह्म! आपको नमस्कार है। आप ही एक शरणमें जानेयोग्य अर्थात् आश्रय-स्थान हैं, आप ही एक पूजा करनेयोग्य हैं। आप ही एक जगत्के पालक और अपने प्रकाशसे प्रकाशित हैं। आप ही एक जगत्के कर्ता, पालक और संहारक हैं। आप ही एक निश्चल और निर्विकल्प हैं। आप भयोंको भय देनेवाले हैं, भयंकरोंमें भयकर हैं, प्राणियोंकी गति हैं और पावनोंको पावन करनेवाले हैं। अत्यन्त उच्च पदोंके आप ही नियन्त्रण करनेवाले हैं, आप परसे पर हैं, रक्षण करनेवालोंका भी रक्षण करनेवाले हैं। हम

आपका स्मरण करते हैं, हम आपको भजते हैं। हम आपको जगत्‌के साक्षिरूपमें नमस्कार करते हैं। आप ही एकमात्र सत्यस्वरूप हैं, निधान हैं, अवलम्बनरहित हैं, इसलिये संसारसागरके नौकारूप आप ईश्वरकी हम शरण लेते हैं। (तन्त्रोक्तस्तवपंचक)

प्रह्लादकी प्रार्थना

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

'वर देनेवालोंमें शिरोमणि मेरे स्वामी! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें कभी, किसी भी कामनाका—चाहका बीज ही अङ्कुरित न हो।' (श्रीमद्भा० ७।१०।७)

महर्षि आपस्तम्बकी प्रार्थना

को नु मे स्यादुपायो हि येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं सर्वदुःखभुक्॥
यन्ममास्ति शुभं किञ्चित्तद्दीनानुपगच्छतु।
यत् कृतं दुष्कृतं तैश्च तदशेषमुपैतु माम्॥
नरकं यदि पश्यामि वत्स्यामि स्वर्ग एव वा॥
यन्मया सुकृतं किञ्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः।
कृतं तेनापि दुःखार्तास्सर्वे यान्तु शुभां गतिम्॥

'मेरे लिये वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दुःखित चित्तवाले सम्पूर्ण जीवोंके भीतर प्रवेश करके अकेला ही सबके दुःखोंको भोगता रहूँ। मेरे पास जो कुछ भी पुण्य है, वह सभी दीन-दुःखियोंके पास चला जाय और उन्होंने जो कुछ पाप किया हो, वह सब मेरे पास आ जाय। भले ही मैं नरकको देखूँ या स्वर्गमें निवास करूँ, किंतु मेरेद्वारा मन, वाणी, शरीर और क्रियासे जो कुछ पुण्यकर्म बना हो, उससे सभी दुःखार्त प्राणी शुभगतिको प्राप्त हों।' (स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड)

रन्तिदेवकी प्रार्थना

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

'मैं भगवान्‌से आठों सिद्धियोंसे युक्त परमगति और अपुनर्भव—मोक्ष नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर उन सबके सारे दुःख मैं ही भोगूँ, जिससे (फिर) किसी भी प्राणीको दुःख न हो—सभी दुःखसे सदाके लिये छूट जायँ।' (श्रीमद्भा० ९।२१।१२)

वृत्रासुरकी प्रार्थना

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

'हे हरे! आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि अनन्यभावसे आपके चरणकमलोंके आश्रित सेवकोंकी सेवा करनेका अवसर मुझे अगले जन्ममें भी प्राप्त हो। हे प्राणनाथ! मेरा मन आपके मंगलमय गुणोंका स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हींका गान करे और शरीर आपकी ही सेवामें संलग्न रहे। हे सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर न स्वर्ग चाहता हूँ, न ब्रह्माका पद, न सम्पूर्ण भूमण्डलका साम्राज्य, न रसातलका एकछत्र राज्य और न योगकी सिद्धियाँ ही—यहाँतक कि मैं अपुनर्भव—मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके बिना पाँख उगे बच्चे अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माँ—गौका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये व्याकुल रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है। (श्रीमद्भा० ६।११।२४—२६)

भीष्मकी प्रार्थना

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

'जिनका दिव्य देह त्रिभुवनसुन्दर एवं श्याम तमालके समान श्यामवर्ण है, जिसपर सूर्यकी रश्मियोंके समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और कमल-सदृश श्रीमुखपर घुँघराली अलकावली लटकती रहती है; उन अर्जुनके सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्कपट रति—प्रीति हो।' (श्रीमद्भा० १।९।३३)

कुन्तीकी प्रार्थना

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥
नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥

'जगद्गुरो श्रीकृष्ण! हमलोगोंके जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर पुनर्जन्मका चक्र मिट जाता है। ऊँचे कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्तिके कारण जिसका मद बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो उन लोगोंको दर्शन देते हैं, जो अकिंचन हैं। आप अकिंचनोंके (जिनके पास कुछ भी अपना नहीं है, उन निर्धनोंके) परम धन हैं। आप मायाके प्रपंचसे सर्वथा निवृत्त हैं, नित्य आत्माराम और परम शान्तस्वरूप हैं। आप ही कैवल्यमोक्षके अधिपति हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करती हूँ।' (श्रीमद्भा० १।८।२५—२७)

बिल्वमंगलकी प्रार्थना

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

हे देव! हे दयित! हे त्रिभुवनके अद्वितीय बन्धु! हे कृष्ण! हे लीलामय! हे करुणाके एकमात्र सिन्धु! हे नाथ! हे प्रियतम! हे नयनाभिराम! हाय, हाय, मैं तुम्हारे चिन्मय स्वरूपको कब देख पाऊँगा?

श्रीशंकराचार्यकी प्रार्थना

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवतावता सदा वसुधाम्।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्॥
दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द।
भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु॥

'हे भगवान् विष्णु! मेरा अविनय दूर कीजिये, मेरे मनका दमन कीजिये और विषयोंकी मृगतृष्णाको शान्त कर दीजिये। जगत्में प्राणिमात्रके प्रति दयाभावनाका विस्तार कीजिये और इस संसार-सागरसे मेरा उद्धार कीजिये। मैं भगवान् श्रीपतिके उन चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ; जिनका मकरन्द गंगा और सौरभ सच्चिदानन्द है तथा जो संसार (जन्म-मरण)-के भयका तथा खेदका छेदन करनेवाले हैं। हे नाथ! (वस्तुतः मुझमें और आपमें) भेद नहीं है, तथापि मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं; क्योंकि तरंग ही समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका कहीं नहीं होता। हे गोवर्द्धनगिरिको उठानेवाले! हे इन्द्रके अनुज (वामन)! हे दानवकुलके शत्रु! हे सूर्य-चन्द्ररूपी नेत्रवाले! आपके सदृश प्रभुके दर्शन हो जानेपर क्या भव (जन्म-मरण)-का लोप नहीं हो जाता? हे परमेश्वर! मत्स्यादि अवतारोंमें अवतरित होकर वसुधाकी सर्वदा रक्षा करनेवाले आपके द्वारा संसारके तापोंसे भयभीत क्या मैं रक्षाके योग्य नहीं हूँ?

हे गुणोंके मन्दिर दामोदर! हे सुन्दर मुखारविन्दवाले गोविन्द! संसार-सागरका मन्थन करनेके लिये मन्दर (पर्वत)! मेरे महान् भयको आप मिटाइये। हे करुणामय नारायण! मैं सब प्रकारसे आपके चरणोंकी शरण ग्रहण करूँ। यह छः पदोंके रूपमें की गयी प्रार्थनारूप भ्रमरी सदा मेरे मुखकमलमें निवास करे।'

श्रीयामुनाचार्यकी प्रार्थना

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे॥
निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्त-
श्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानी-
मनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः॥

'मैं न धर्मनिष्ठ हूँ न आत्मज्ञानी हूँ और न आपके चरणारविन्दोंका भक्त ही हूँ। मैं तो अकिंचन हूँ, अनन्यगति हूँ और शरणागतरक्षक आपके चरणकमलोंकी शरण आया हूँ। संसारमें ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसको हजारों बार मैंने न किया हो। ऐसा मैं अब फलभोगके समयपर विवश (अन्य-साधनहीन) होकर, हे मुकुन्द! आपके आगे बारम्बार रोता—क्रन्दन करता हूँ। अनन्त महासागरके भीतर डूबते हुए मुझको आज अति विलम्बसे आप तटरूप होकर मिले हैं और हे भगवन्! आपको भी आज यह दयाका अनुपम पात्र मिला है।' (श्रीआलवन्दारस्तोत्र)

श्रीनिम्बार्काचार्यकी प्रार्थना

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

'जो उन्हीं श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके वामांगमें प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हो रही हैं, जिनका रूप-शील-सौभाग्य अपने प्रियतमके सर्वथा अनुरूप है, सहस्रों सखियाँ सदा जिनकी सेवाके लिये उद्यत रहती हैं, उन सम्पूर्ण अभीष्ट कामनाओंको देनेवाली देवी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाका हम सदा स्मरण करें।'

श्रीचैतन्यदेवकी प्रार्थना

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

'हे जगदीश! मुझे धन, जन, कामिनी, कविता—कुछ भी नहीं चाहिये (मुक्ति भी नहीं चाहिये)—बस, जन्म-जन्ममें मेरी आप ईश्वरमें अहैतुकी भक्ति हो। हे गोविन्द! वह दिन कब होगा, जब आपका नाम लेनेपर मेरी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होगी, मेरी वाणी प्रेमावेगसे गद्गद हो जायगी और मेरा शरीर पुलकित हो जायगा।' (शिक्षाष्टक)

श्रीसूरदासजीकी प्रार्थना

तुम तजि और कौन पै जाऊँ।
काके द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाऊँ॥
ऐसो को दाता है समरथ, जाके दिये अघाऊँ।
अंतकाल तुमरो सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं पाऊँ॥
रंक अयाची कियो सुदामा, दियो अभय पद ठाऊँ।
कामधेनु चिंतामनि दीनो, कलप-बृच्छ तर छाऊँ॥
भवसमुद्र अति देखि भयानक, मनमें अधिक डराऊँ।
कीजै कृपा सुमिरि अपनो पन, सूरदास बलि जाऊँ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी प्रार्थना

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्त और भगवान्

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

श्रीभगवान‍्ने कहा—दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्धांगिनी विनाशरहित लक्ष्मीको।

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ।

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं।

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥

मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है!

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका सार है सत्य और उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है।

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥

उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है।

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

वह प्रमादरहित, गम्भीरस्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो कभी किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परंतु दूसरोंका सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

जिसने अपनेको मुझे सौंप दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका, उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह स्वर्गसे भी श्रेष्ठ रसातलका ही स्वामी होना चाहता है। वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

जिसकी वाणी प्रेमसे गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है, एक क्षणके लिये भी रोनेका ताँता नहीं टूटता, परंतु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कहीं लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है, तो कहीं नाचने लगता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपनेको, बल्कि सारे संसारको पवित्र कर देता है।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥

जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी कथामें श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण-लीला और नामोंका संकीर्तन करे, मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति करे।

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥

मेरी सेवा-पूजामें प्रेम रखे और सामने साष्टांग लोटकर प्रणाम करे, मेरे भक्तोंकी पूजा मेरी पूजासे बढ़कर करे और समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे।

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥

उद्धवजी! मेरे भक्तको चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे और धीरे-धीरे उनको करते समय मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायँगे। उसके मन और आत्मा मेरे ही धर्मोंमें रम जायँगे।

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥

मेरे भक्त साधुजन जिन पवित्र स्थानोंमें निवास करते हों, उन्हींमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमें जो मेरे अनन्य भक्त हों, उनके आचरणोंका अनुसरण करे।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

मेरी प्राप्ति के जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय। [श्रीमद्भागवत]

भक्तशिरोमणि श्रीतुलसीदासजीपर श्रीहनुमान्‌जीकी कृपा

श्रीशुकदेवजी और राजा परीक्षित्

संकीर्तनके आचार्य देवर्षि नारद

भगवान् नृसिंहकी गोदमें भक्त प्रह्लाद

भक्त ध्रुवपर भगवान्का अनुग्रह

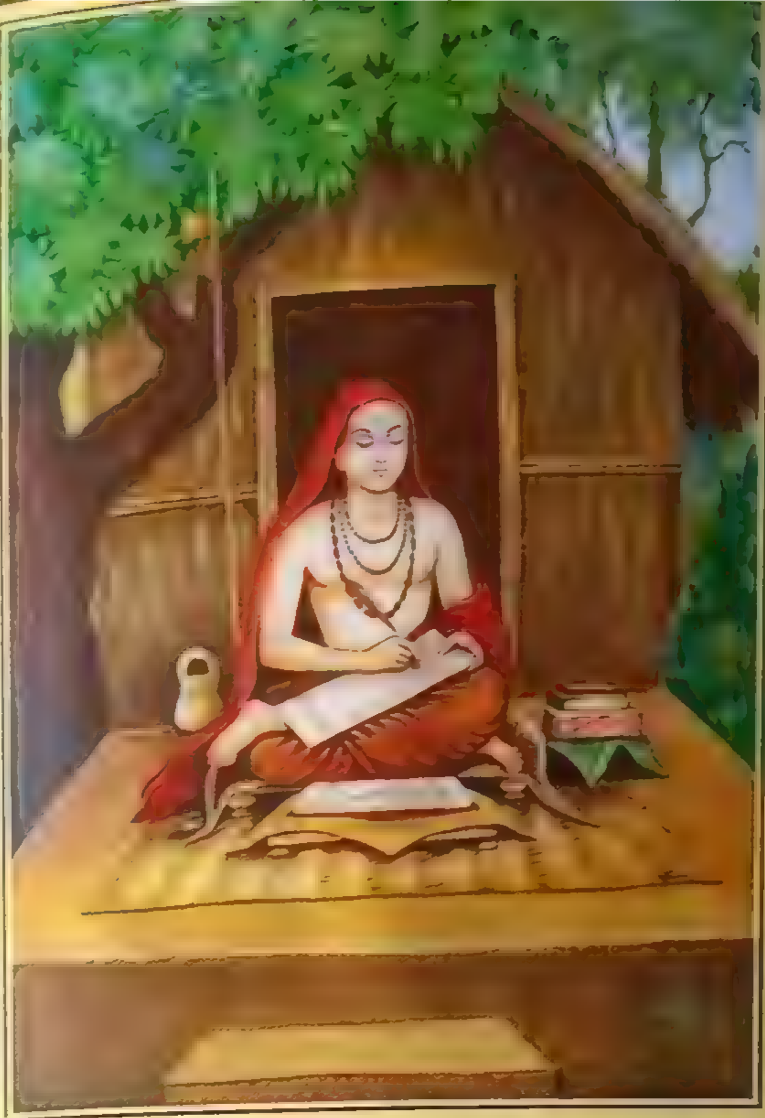

श्रीमदाद्यशंकराचार्य

श्रीवल्लभाचार्य

श्रीमध्वाचार्य

श्रीरामानुजाचार्य

श्रीनिम्बार्काचार्य

आचार्य श्रीविष्णुस्वामी

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका प्रेमोन्माद

श्रीरामानन्दाचार्य

भक्तिमती मीराका विषपान

भक्त श्रीसूरदास

संत ज्ञानेश्वर

संत कबीरदास

भक्त सुदामाका ऐश्वर्य

श्रीहितहरिवंशजी गोस्वामी

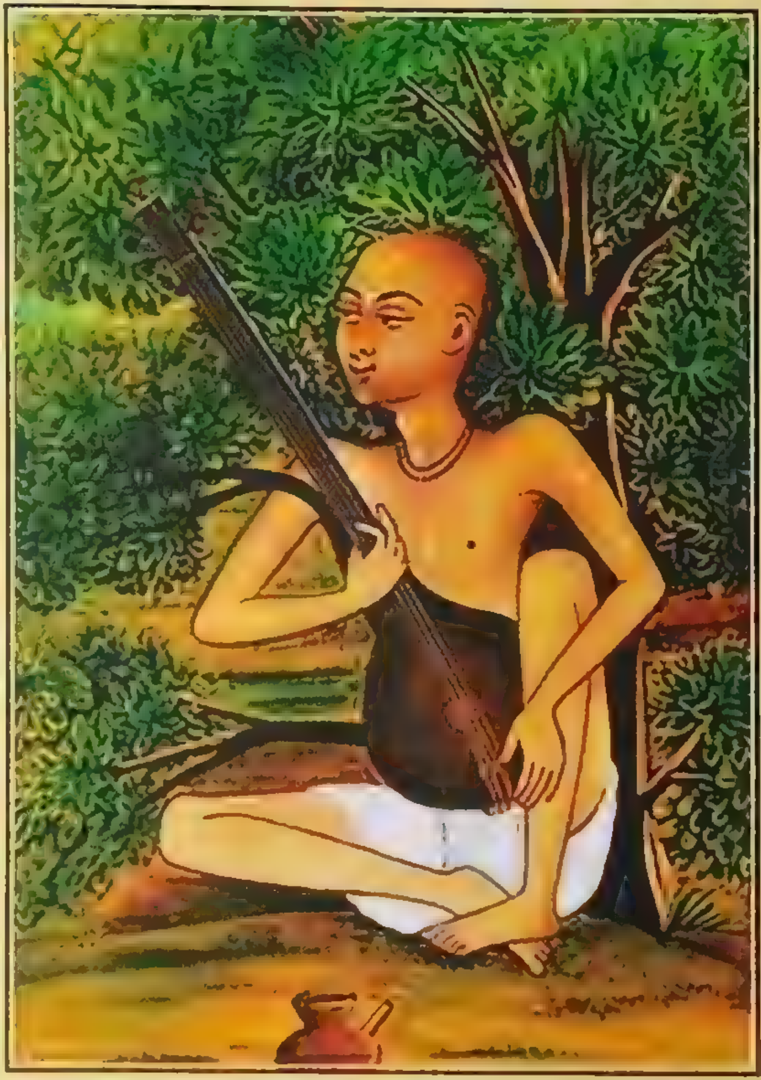

स्वामी श्रीहरिदासजी

भक्त जयदेव

भक्त बिल्वमंगल

श्रीशठकोपाचार्य

भक्त नरसीमेहता

संत नामदेव

व्रजमण्डलके संकीर्तनमें महाभागवत श्रीउद्धवजीका प्राकट्य

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभक्तमाल

श्रीनाभादासजीकृत भक्तमालका मंगलाचरण

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत बिघ्न अनेक॥ १॥
मंगल आदि बिचारि रहि बस्तु न और अनूप।
हरिजन को जस गावते हरिजन मंगलरूप॥ २॥
संतन निरनै कियो मथि श्रुति पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर कै हरि कै हरिदास॥ ३॥
(श्रीगुरु) अग्रदेव आग्या दई भक्तन को जस गाउ।
भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ॥ ४॥

भगवान्‌के भक्त, भगवान्‌की भक्ति, भगवान् और भगवत्तत्त्वका बोध करानेवाले गुरुदेव—ये अलग-अलग चार नाम और चार वपु हैं, पर वास्तवमें इनका वपु (स्वरूप—तत्त्व) एक ही है। इनके श्रीचरणोंकी वन्दना करनेसे समस्त विघ्नोंका पूर्णरूपसे नाश हो जाता है॥ १॥ ग्रन्थके आरम्भमें मंगलाचरणके सम्बन्धमें विचार करनेपर यही समझमें आता है कि भक्त-चरित्रोंके समान दूसरी और कोई वस्तु सुन्दर नहीं है, जिससे मंगलाचरण किया जाय। भगवद्भक्तोंका चरित्रगान करनेमें भगवद्भक्त ही मंगलरूप हैं॥ २॥ वेद, पुराण, इतिहास आदि सभी शास्त्रोंने तथा सभी साधु-सन्तोंने यही निर्णय किया है कि भजन, आराधनाके लिये भगवान् या भगवान्‌के भक्त—दो ही सबसे सुन्दर हैं॥ ३॥ स्वामी श्रीअग्रदेवजी (श्रीअग्रदासजी)-ने मुझ नारायणदास (नाभादास)-को आज्ञा दी कि भक्तोंका यशोगान करो; क्योंकि संसार-सागरसे पार होनेका इससे सरल दूसरा कोई उपाय नहीं है॥ ४॥

श्रीप्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनी टीकाका मंगलाचरण

महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनहरनजू के चरण कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइये।
ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइये॥
कीजिये कवित्त बंद छंद अति प्यारो लगै जगै जग माहिं कहि वाणी विरमाइये।
जानों निजमति ऐ पै सुन्यौ भागवत शुक द्रुमनि प्रवेश कियो ऐसेई कहाइये॥ १॥

श्रीप्रियादासजी भक्तमालकी भक्तिरसबोधिनी टीकाका मंगलाचरण एवं इस टीकाके लिखे जानेका हेतु बताते हुए कहते हैं कि एक बार मैं महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य एवं गुरुदेव श्रीमनोहरदासजीके श्रीचरणकमलका हृदयमें ध्यान और मुखसे नाम-संकीर्तन कर रहा था, उसी समय श्रीनाभाजीने मुझे

आज्ञा दी, जिसे मैंने शिरोधार्य कर लिया। वह आज्ञा यह थी कि श्रीभक्तमालकी विस्तारपूर्वक टीका करके सुनाइये। टीका कवित्त छन्दोंमें कीजिये, जो कि अत्यन्त प्रिय लगे और सम्पूर्ण संसारमें प्रसिद्ध हो। इस प्रकार भक्तोंका चरित्र कहकर अपनी वाणीको विश्राम दीजिये अर्थात् भक्तोंका चरित्र कहनेमें वाणीको लगा दीजिये। ऐसा कहकर श्रीनाभाजीने वाणीको विश्राम दिया, तब मैंने भावनामें ही निवेदन किया कि मैं तो अपनी बुद्धिको जानता हूँ कि वह टीका करनेमें सर्वथा असमर्थ है, परंतु मैंने श्रीमद्भागवतमें सुना है कि श्रीशुकदेवजी वृक्षोंमें प्रवेश करके स्वयं बोले थे, वैसे ही आप भी मेरी जड़मतिमें प्रवेश करके टीकाकी रचना करा लेंगे॥ १॥

भक्तिरसबोधिनी टीकाका नामस्वरूप-वर्णन

रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमकाई अति छवि छाई मोद झरी सी लगाई है॥
काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति नाभाजू कहाई, याते प्रौढ़िकै सुनाई है।
हृदै सरसाई जो पै सुनिये सदाई, यह 'भक्तिरसबोधिनी' सुनाम टीका गाई है॥ २॥

इस कवित्तमें श्रीप्रियादासजी अपने काव्यकी विशेषताएँ एवं टीकाका नाम बताते हुए कहते हैं कि मैंने टीका-काव्यकी ऐसी रचना की है, जो पाठकों और श्रोताओंको सुख देनेवाली है और अत्यन्त सुहावनी लगती है। इसमें सचाई है अर्थात् सत्य-सत्य कहा गया है। पुनरुक्ति दोषको मिटा दिया गया है। अक्षरोंकी मधुरता, अनुप्रास और यमक आदि अलंकारोंसे अत्यन्त सुशोभित होकर इस टीका-काव्यने आनन्दकी झरी-सी लगा दी है। अपने काव्यकी अपने मुखसे प्रशंसा करना अच्छा नहीं होता, परंतु इसे तो श्रीनाभाजीने कहवाया है, इसीसे इसकी प्रशंसा निःशंक होकर दृढ़तापूर्वक सुनायी है। यदि नीरस हृदयवाला व्यक्ति भी सदा इसका श्रवण करे तो उसके हृदयमें सरसता होगी और सरस हृदयवालेके लिये बारम्बार सुननेपर भी यह टीका उत्तरोत्तर सरस प्रतीत होगी। ऐसी यह 'भक्तिरसबोधिनी' सुन्दर नामवाली टीका गायी है, जो भक्तिके सभी रसोंका बोध करानेवाली है॥ २॥

श्रीभक्तिदेवीका शृंगार

श्रद्धाई फुलेल औ उबटनौ श्रवण कथा मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाइ अंगुछाइ दया नवनि वसन पन सोधो लै लगाइये॥
आभरन नाम हरि साधु सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।
भक्ति महारानीकौ सिंगार चारु बीरी चाह रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये॥ ३॥

शृंगारित रूप विशेष आकर्षक होता है, अतः इष्टदेवको प्रसन्न करनेके लिये टीकाकारने इस कवित्तमें श्रीभक्तिदेवीके शृंगारका वर्णन एक रूपकके द्वारा किया है। भक्तिदेवीके श्रीविग्रहकी निर्मलताके लिये श्रद्धारूपी फुलेलसे शुष्कता दूरकर कथाश्रवणरूपी उबटन लगाइये और अहंकाररूपी मैलको प्रत्येक अंगसे छुड़ाइये। फिर मननके सुन्दर जलसे स्नान कराकर दयाके अँगोछेसे पोंछिये। उसके बाद नम्रताके वस्त्र पहनाकर भक्तिमें प्रतिज्ञारूपी सुगन्धित द्रव्य लगाइये। फिर नाम-संकीर्तनरूप अनेक आभूषण, हरि और साधुसेवाके कर्णफूल तथा मानसी सेवाकी सुन्दर नथ पहनाइये। फिर सत्संगरूपी अंजन लगाइये। जो भक्तिमहारानीका इस प्रकार शृंगार करके फिर उन्हें अभिलाषारूपी बीड़ा (पान) अर्पण करके उनके सुन्दर स्वरूपका दर्शन करता रहे, वह श्रीप्रिया-प्रियतमको प्राप्त करता है। ऐसा सन्तों एवं शास्त्रोंने गाया है॥ ३॥

भक्तिरसबोधिनी टीकाकी महिमा

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, औ शृंगारु चारु, पाँचों रस सार विस्तार नीके गाये हैं।
टीका को चमत्कार जानौगे विचारि मन, इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं॥
जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभू, तिनहूँ को भाव सिंधु बोरि सो छकाये हैं।
जौलौं रहैं दूर रहैं विमुखता पूर हियो, होय चूर चूर नेकु श्रवण लगाये हैं॥ ४॥

इस कवित्तमें टीकाकार टीकाकी विशेषता बताते हुए कहते हैं कि इस भक्तिरसबोधिनी-टीकामें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार—भक्तिके इन पाँचों रसोंका तत्त्व विस्तारसे अच्छी प्रकार वर्णन किया गया है। इनके सुन्दर स्वरूपोंको जैसा मैंने भलीभाँति उत्तम रीतिसे वर्णन करके दिखाया है, इस चमत्कारको पाठक एवं श्रोता अपने मनमें अच्छी तरहसे विचार करनेपर ही जानेंगे। श्रवण, कीर्तन आदि करके प्रेमवश जिनके नेत्रोंमें कभी भी आनन्दके आँसू नहीं आते हैं और शरीरमें रोमांच नहीं होता है, ऐसे नीरस, कठोर हृदयवाले लोगोंको भी भक्तिके भावरूपी समुद्रमें डुबाकर तृप्त कर दिया गया है। जबतक वे इससे दूर हैं, तभीतक भक्तिसे पूर्ण विमुख हैं, किंतु यदि कान लगाकर इसका थोड़ा भी श्रवण करेंगे तो उनका हृदय चूर-चूर होकर रससे परिपूर्ण हो जायगा॥ ४॥

भक्तमालकी महिमा

पंच रस सोई पंच रंग फूल थाके नीके, पीके पहिराइवे को रचिकै बनाई है।
वैजयन्ती दाम भाववती अलि 'नाभा', नाम लाई अभिराम श्याम मति ललचाई है॥
धारी उर प्यारी, किहूँ करत न न्यारी, अहो! देखौ गति न्यारी ढरिपायनको आई है।
भक्ति छबिभार, ताते, नमितशृंगार होत, होत वश लखै जोई याते जानि पाई है॥ ५॥

प्रस्तुत कवित्तमें श्रीभक्तमालको पंचरंगी वैजयन्ती माला बताकर उसकी महिमा, सुन्दरता और भगवत्प्रियताका वर्णन किया गया है। पूर्व कवित्तमें कहे गये पाँच रस ही मानो फूलोंके सुन्दर गुच्छे हैं, भाववती नाभा नामकी सखीने अपने प्रियतमको पहनानेके लिये इसे अच्छी तरहसे बनाया है। यह वैजयन्ती माला इतनी सुन्दर है कि लोकाभिराम श्यामसुन्दर श्रीरामकी बुद्धि भी इसे देखकर ललचा गयी। उन्होंने इस प्यारी वनमालाको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया, उन्हें यह इतनी प्रिय लगी कि इसे वे कभी भी अपने कण्ठसे अलग नहीं करते हैं। इस मालाकी विचित्र गति तो देखिये कि भगवान्‌ने इसे कण्ठमें धारण किया और यह लटककर श्रीचरणोंमें आ लगी है। इस मालामें भक्तिकी सुन्दरताका भार है, इसीसे झुकी है। पंचरंगी भक्तमाल पहने हुए श्यामसुन्दरका जो दर्शन करता है, वह उनके वशमें होकर उन्हें वशमें कर लेता है। यह रहस्यकी बात भक्तमालके द्वारा जानी गयी है॥ ५॥

संतसंगके प्रभावका वर्णन

भक्ति तरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरीहू कौ, वारिदै बिचारि वारि सींच्यो सत्संग सों।
लाग्योई बढ़न, गोंदा चहुँदिशि कढ़न सो चढ़न अकाश, यश फैल्यो बहुरंग सों॥
संत उर आल बाल शोभित विशाल छाया, जिये जीव जाल, ताप गये यों प्रसंग सों।
देखौ बढ़वारि जाहि अजाहू की शंका हुती, ताहि पेड़ बाँधे झूमें हाथी जीते जंग सों॥ ६॥

भक्तिका वृक्ष जब साधकके हृदयमें छोटे-से पौधेके रूपमें होता है, तब उसे हानिका भय

मायारूपी बकरीसे भी होता है, अतः पौधेकी रक्षाके लिये उसके चारों ओर विचाररूपी घेरा (थाला) लगाकर सत्संगरूपी जलसे सींचा जाता है, तब उसमें चारों ओरसे शाखा-प्रशाखाएँ निकलने लगती हैं और वह आकाशकी ओर चढ़ने-बढ़ने लगता है। सरल साधुहृदयरूप थालेमें सुशोभित इस विशाल भक्ति-वृक्षकी छाया अर्थात् सत्संग पाकर त्रिविध तापोंसे तपे जीवसमूह सन्तापरहित होकर परमानन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सार-सम्भार करनेपर इस भक्तिका विचित्ररूपसे बढ़ना तो देखो कि जिसको पहले कभी छोटी-सी बकरीका भी डर था, उसीमें आज महासंग्रामविजयी काम, क्रोध आदि बड़े-बड़े हाथी बँधे हुए झूम रहे हैं, परंतु उस वृक्षको किसी भी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचा सकते हैं॥ ६॥

भक्तमाल-स्वरूपवर्णन

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो, कियो यों कवित्त पट मिहिं मध्य लाल है।
गुण पै अपार साधु कहैं आँक चारि ही में, अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है॥
सुनि संत सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानो, घूमि रही, कहैं यह कहा धौं रसाल है।
सुने हे अगर अब जाने मैं अगर सही, चोवा भये नाभा, सो सुगंध भक्तमाल है॥ ७॥

जिस भक्तका जैसा सुन्दरस्वरूप है, उसको श्रीनाभाजीने अति उत्तम प्रकारसे अपने काव्यमें स्पष्ट कर दिया है। कविता ऐसी की है कि जैसे महीन वस्त्रके अन्दर रखे हुए माणिक्य रत्नकी चमक बाहर प्रकाश करे, उसी प्रकार कविताकी शब्दावलीसे भक्तस्वरूप प्रकट होता है। साधु-भक्तोंके गुण और उनकी महिमा अपार है, किंतु नाभाजीने सन्तगुरुकृपासे थोड़े ही अक्षरोंमें भक्तोंके गुणोंका ऐसी विचित्रताके साथ वर्णन किया है कि उसके अनेक अर्थ होते हैं और गुणोंका अपार विस्तार हो जाता है। यही सच्चे टकसाली कविकी विशेषता है। सन्तोंकी सभा इसे सुनकर भक्तमाल काव्यका रसास्वादनकर आनन्दविभोर होकर झूम रही है, मानो सन्तरूपी भ्रमरसमूह चरित्ररूपी सुगन्धित पुष्पोंपर मँडरा रहा है। आश्चर्यचकित होकर वे कहते हैं कि यह कैसी विचित्र रसमयी कविता है! मैंने अगर अर्थात् स्वामी श्रीअग्रदेवजीका नाम तो सुना था, परंतु अब मैंने जाना और अनुभव किया कि अगर (श्रीअग्रदेवजी) वस्तुतः अगर (सुगन्धित वृक्ष ही) हैं, जिनसे नाभाजी-जैसा इत्र उत्पन्न हुआ है और जिसकी दिव्य सुगन्ध यह भक्तमाल है॥ ७॥

भक्तमाल-माहात्म्यवर्णन

बड़े भक्तिमान, निशिदिन गुणगान करैं हरैं जगपाप, जाप हियो परिपूर है।
जानि सुख मानि हरिसंत सनमान सचे बचेऊ जगतरीति, प्रीति जानी मूर है॥
तऊ दुराराध्य, कोऊ कैसे कै अराधि सकै, समझो न जात, मन कंप भयो चूर है।
शोभित तिलक भाल माल उर राजै, ऐ पै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है॥ ८॥

कोई बड़े साधक कैसे ही अच्छे भक्तिमान् हों, रात-दिन भगवान्‌के गुणोंका गान करते हों, संसारके पापोंको हरते हों, जप-ध्यान आदिसे उनका हृदय परिपूर्ण हो, श्रीहरि और सन्तोंके स्वरूपको जानकर सचाईसे उनकी सेवा और उनका आदर भी करते हों तथा उसमें सुख भी मानते हों—जगत्‌के मायिक प्रपंचोंसे बचे भी हों और प्रेमको ही मूलतत्त्व मानते हों—इतनेपर भी भक्तिकी आराधना कठिन है, उसकी आराधना कोई कैसे कर सकता है? विशुद्ध भक्तिका स्वरूप समझमें नहीं आता है, मन कम्पित होकर शिथिल हो जाता है। चाहे मस्तकपर सुन्दर तिलक और गलेमें कण्ठी माला सुशोभित हो, परंतु बिना भक्तमाल-पठन, श्रवण,

मनन और निदिध्यासन किये भक्तिका स्वरूप बहुत दूर है, उसका जानना असम्भव है॥ ८॥

भक्तमालके मंगलाचरणकी भक्तिरसबोधिनी टीका

हरि गुरु दासनि सों साँचो सोई भक्त सही गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है।
भक्ति रस रूप कौ स्वरूप यहै छबिसार चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है॥
वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै, धरै दूरि ईशता हू पांडुन सो करी है।
गुरु गुरुताई की सचाई लै दिखाई जहाँ गाई श्री पैहारी जू की रीति रंगभरी है॥ ९॥

भगवान्, गुरुदेव और भक्तोंके प्रति जो सच्चा निष्कपट व्यवहार करता है और भक्तिकी किसी एक प्रतिज्ञाको हृदयमें धारणकर फिर उससे कभी चलायमान नहीं होता है, वही सच्चा भक्त है। रसरूपा भक्तिका सुन्दर स्वरूप यही है कि भगवान्‌के सुन्दर नामोंको लेते ही आँखोंसे प्रेमके आँसुओंकी झरी लग जाय। ईश्वरताको दूर रखकर जो भक्तोंकी प्रीतिको सदा ध्यानमें रखे, वही भगवान् है, जैसा कि श्रीकृष्णने राजसूययज्ञमें पाण्डवोंके साथ किया है। गुरुदेवकी गुरुताकी सच्चाई भक्तमालमें वहाँ दिखायी गयी है, जहाँ पयोहारी श्रीकृष्णदासजीकी आनन्दमयी अनोखी रीति गायी गयी है॥ ९॥

भक्तमालकी रचनाके लिये श्रीनाभाजीको आज्ञा प्राप्त होना

मानसी स्वरूप में लगे हैं अग्रदास जू वै करत बयार नाभा मधुर सँभार सों।
चढ़्यो हो जहाज पै जु शिष्य एक आपदा में कर्यौ ध्यान खिच्यो मन छूट्यो रूप सार सों॥
कहत समर्थ गयो बोहित बहुत दूरि आवो छबि पूरि फिर ढरो ताहि ढार सों।
लोचन उघारि कैं निहारि कह्यौ बोल्यौ कौन! वही जौन पाल्यो सीथ दै दै सुकुवार सों॥ १०॥

एक बारकी बात है, स्वामी श्रीअग्रदेवजी महाराज मानसी सेवामें संलग्न थे और श्रीनाभाजी अतिकोमल एवं मधुर संरक्षणके साथ धीरे-धीरे प्रेमसे पंखा कर रहे थे। उसी समय श्रीअग्रदासजीका एक शिष्य जहाजपर चढ़ा हुआ समुद्रकी यात्रा कर रहा था। उसका जहाज संकट (भँवर)-में फँस गया। चालक निरुपाय हो गये, तब उस शिष्यने श्रीअग्रदासजीका स्मरण किया। उससे श्रीअग्रदासजीका ध्यान अतिसुन्दरस्वरूप भगवान् श्रीसीतारामजीकी सेवासे हट गया। गुरुदेवकी मानसी सेवामें विघ्न समझकर श्रीनाभाजीने पंखेकी वायुसे जहाजको संकटसे पार कर दिया और श्रीगुरुदेवसे नम्र निवेदन किया कि प्रभो! जहाज तो बहुत दूर निकल गया, अब आप उसी शोभापूर्ण भगवान्‌की सेवामें लग जाइये। यह सुनकर श्रीअग्रदेवजीने आँखें खोलीं और नाभाजीकी ओर देखकर कहा कि अभी कौन बोला? श्रीनाभाजीने हाथ जोड़कर कहा—जिसे आपने बचपनसे सीथ-प्रसाद देकर पाला है, आपके उसी दासने प्रार्थना की है॥ १०॥

अचरज दयो नयो यहाँ लौं प्रवेश भयो, मन सुख छयो, जान्यो सन्तन प्रभाव को।
आज्ञा तब दई, 'यह भई तोपै साधु कृपा उनहीं को रूप गुन कहो हिये भाव को'॥
बोल्यो कर जोरि, 'याको पावत न ओर छोर, गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्ति दाव को।
कही समुझाइ, 'वोई हृदय आइ कहैं सब, जिन लै दिखाय दई सागर में नाव को'॥ ११॥

(श्रीनाभाजीका उपर्युक्त कथन सुनकर श्रीअग्रदेवजीको) महान् तथा नवीन आश्चर्य हुआ। मनमें विचारने लगे कि इसका यहाँ मेरी मानसी-सेवातक प्रवेश कैसे हो गया और यहींसे जहाजकी रक्षा कैसे की? विचार करते ही उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे जान गये कि यह सब सन्तोंकी सेवा तथा उनके सीथ-प्रसाद-ग्रहणका ही प्रभाव है, जिससे ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तब श्रीअग्रदेवजीने आज्ञा दी कि 'तुम्हारे ऊपर यह

साधुओंकी कृपा हुई है। अब तुम उन्हीं साधु-सन्तोंके गुण, स्वरूप और हृदयके भावोंका वर्णन करो।' इस आज्ञाको सुनकर श्रीनाभाजीने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मैं श्रीराम-कृष्णके चरित्रोंको तो कुछ गा भी सकता हूँ, परंतु सन्तोंके चरित्रोंका ओर-छोर नहीं पा सकता हूँ; क्योंकि उनके रहस्य अतिगम्भीर हैं, मैं भक्तोंकी भक्तिके रहस्यको नहीं पा सकता।' तब श्रीअग्रदेवजीने समझाकर कहा—'जिन्होंने तुम्हें मेरी मानसी सेवा और सागरमें नाव दिखा दी, वे ही भक्त भगवान् तुम्हारे हृदयमें आकर सब रहस्योंको कहेंगे और अपना स्वरूप दिखायेंगे'॥ ११॥

श्रीनाभाजीका चरित्र-वर्णन

हनूमान वंश ही में जनम प्रशंस जाको भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये।
उमरि बरष पाँच मानि कै अकाल आँच माता वन छोड़ि गयी विपति विचारिये॥
कील्ह और अगर ताहि डगर दरश दियो लियो यों अनाथ जानि पूछी सो उचारिये।
बड़े सिद्ध जल लै कमण्डलु सों सींचे नैन चैन भयो खुले चख जोरी को निहारिये॥ १२॥

श्रीनाभाजीका जन्म प्रशंसनीय हनुमान-वंशमें हुआ था। आश्चर्यजनक एक नयी बात यह जानिये कि ये जन्मसे ही नेत्रहीन थे। जब इनकी आयु पाँच वर्षकी हुई, उसी समय अकालके दुःखसे दुःखित माता इन्हें वनमें छोड़ गयी। माता और पुत्र दोनोंके लिये यह कितनी बड़ी विपत्ति थी। इसे आपलोग सोचिये। दैवयोगसे श्रीकील्हदेवजी और श्रीअग्रदेवजी—दोनों महापुरुष उसी मार्गसे दर्शन देते हुए निकले। बालक नाभाजीको अनाथ जानकर जो कुछ दोनोंने पूछा, उसका उन्होंने उत्तर दिया। वे बड़े भारी सिद्ध सन्त थे। उन्होंने अपने कमण्डलुसे जल लेकर नाभाजीके नेत्रोंपर छिड़क दिया। सन्तोंकी कृपासे नाभाजीके नेत्र खुल गये और सामने दोनों सन्तोंको उपस्थित देखकर इन्हें परम आनन्द हुआ॥ १२॥

पाँय परि आँसू आये कृपा करि संग लाये कील्ह आज्ञा पाइ मन्त्र अगर सुनायो है।
गलते प्रगट साधु सेवा सो विराजमान जानि अनुमानि ताही टहल लगायो है॥
चरण प्रछालि सन्त, सीथ सों अनन्त प्रीति जानी रस रीति ताते हृदै रंग छायो है।
भई बढ़वारि ताकौ पावै कौन पारावार जैसो भक्तिरूप सो अनूप गिरा गायो है॥ १३॥

दोनों सिद्ध महापुरुषोंके दर्शनकर नाभाजी उनके चरणोंमें पड़ गये। उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये। दोनों सन्त कृपा करके बालक नाभाजीको अपने साथ लाये। श्रीकील्हदेवजीकी आज्ञा पाकर श्रीअग्रदेवजीने इन्हें राममन्त्रका उपदेश दिया और 'नारायणदास' यह नाम रखा। गलता आश्रम (जयपुर)-में साधुसेवा प्रकट प्रसिद्ध थी। वहाँ सर्वदा सन्त-समूह विराजमान रहता था। श्रीअग्रदेवजीने सन्तसेवाके महत्त्वको जानकर और सन्तसेवासे ही यह समर्थ होकर जीवोंका कल्याण करनेवाला बनेगा—यह अनुमानकर नाभाजीको सन्तोंकी सेवामें लगा दिया। सन्तोंके चरणोदक तथा उनके सीथ-प्रसादका सेवन करनेसे श्रीनाभाजीका सन्तोंमें अपार प्रेम हो गया। इन्होंने भक्तिरसकी रीतियाँ जान लीं। इससे इनके हृदयमें अद्भुत प्रेमानन्द छा गया। हृदयमें भक्त-भगवान्के प्रेमकी ऐसी अभिवृद्धि हुई कि जिसका ओर-छोर भला कौन पा सकता है! इस प्रकार जैसे श्रीनाभाजी मूर्तिमान् भक्तिके स्वरूप हुए, वैसे ही सुन्दर वाणीसे इन्होंने भक्तमालमें भक्तोंके चरित्रोंको गाया है॥ १३॥

भक्तमालका प्रारम्भ

चौबीस अवतारोंकी कथा

जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि-बावन।
परसुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जग पावन॥
बुद्ध कलक्की ब्यास पृथू हरि हंस मन्वंतर।
जग्य रिषभ हयग्रीव धुरुव बरदैन धन्वंतर॥
बद्रीपति दत कपिलदेव सनकादिक करुना करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर (श्री) अग्रदास उर पद धरौ॥ ५ ॥*

मंगलमय मीन, वाराह, कच्छप, नरसिंह तथा वामन आदि भगवान्‌के चौबीस अवतारोंकी जय हो, जय हो, इनका मंगल हो, हम इन्हें नमस्कार करते हैं। परशुराम, रघुवीर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण आदि सभी अवतारोंकी पवित्र कीर्ति संसारको पवित्र करनेवाली है। बुद्ध, कल्कि, व्यास, पृथु, हरि, हंस, मन्वन्तर, यज्ञ, ऋषभ, हयग्रीव, ध्रुववरदायी श्रीहरि, धन्वन्तरि, नर-नारायण, दत्तात्रेय, कपिलदेव तथा सनक-सनन्दन-सनातन और सनत्कुमार सभी मुझ दासपर कृपा करें। चौबीसों अवतारोंके रूप एवं उनकी लीलाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। इन अवतारोंके समेत गुरुदेव श्रीअग्रदासजी महाराज मेरे हृदयमें अपने श्रीचरण स्थापित करें। (अथवा सभी अवतार मुझ अग्रदासके हृदयमें निज पदकमल रखें)॥ ५॥

श्रीप्रियादासकृत भक्तिरसबोधिनी टीका

जिते अवतार सुखसागर न पारावार करैं विस्तार लीला जीवन उधार कौं।
जाहि रूप माँझ मन लागै जाको, पागै तहीं, जागै हिय भाव वही, पावै कौन पार कौं॥
सब ही हैं नित्त ध्यान करत प्रकाशैं चित्त, जैसे रंक पावैं वित्त, जो पै जानै सार कौं।
केशनि कुटिलताई, ऐसे मीन सुखदाई, अगर सुरीति भाई, बसौ उर हार कौं॥ १४॥

भक्तवत्सल भगवान्‌के जितने भी अवतार हैं, सभी शाश्वत सुखके समुद्र हैं, उनके नाम, रूप, लीला आदिका ओर-छोर नहीं है। जीवोंका उद्धार करनेके लिये अवतार लेकर भगवान् लीलाओंका विस्तार करते हैं। जिस भक्तका मन भगवान्‌के जिस रूपमें लग जाता है, वह उसी रूपमें पग (रम) जाता है और उसमें उसी रूपसे सम्बन्धित प्रेम-भाव जग जाता है। भगवान्‌के सभी रूप अनन्त सुखके सागर हैं, अतः प्रेमभावकी तरंगोंका आर-पार भला कौन पा सकता है! सभी अवतार नित्य हैं और ध्यान करते ही हृदयको प्रेमानन्दसे प्रकाशित कर देते हैं। तब वह भक्त ऐसा सुखी हो जाता है, जैसे दरिद्र धन पा गया हो; पर इस प्रकारका दुर्लभ अनुभव तभी होता है, जब वह गम्भीर रहस्यको समझे। जिस प्रकार केशोंकी कुटिलता दूषण न होकर भूषण है, उसी प्रकार मीन, वाराह आदि भगवान्‌के अवतार भी भक्तोंको सुख देनेवाले हैं। सभी अवतार नित्य एवं पूर्ण हैं, श्रीअग्रदेवजीकी यह सुन्दर मान्यताकी रीति मुझे बहुत अच्छी लगी। चौबीस अवतारोंकी यह माला मेरे हृदयमें हारकी तरह बसे॥ १४॥

---

* मूलतः यह छप्पय श्रीनाभादासजीद्वारा रचित पहला छप्पय है। प्रारम्भमें मंगलाचरणके दोहोंमें एकसे चारतक संख्या दी गयी है, उस आधारपर यहाँ पाँचवीं संख्या दी गयी है।

भगवान्‌के चौबीस अवतारोंकी कथा

अचिन्त्य परमेश्वरकी अतर्क्य लीलासे त्रिगुणात्मक प्रकृतिद्वारा जब सृष्टि-प्रवाह होता है तो उस समय रजोगुणसे प्रेरित वे ही परब्रह्म परमात्मा सगुण होकर अवतार ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यह जगत् परमात्माका लीला-विलास है, लीलारमणका आत्माभिरमण है, इसलिये भगवान् अपनी लीलाको चिन्मय बनानेके लिये अपने ही द्वारा निर्मित जगत्में अन्तर्यामीरूपसे स्वयं प्रविष्ट भी हो जाते हैं **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'** वे परम प्रभु अजायमान होते हुए भी बहुत रूपोंमें लीला करते हैं **'अजायमानो बहुधा विजायते।'** उनकी यह लीला उनके अपने आनन्द-विलासके लिये होती है, जिसके फलस्वरूप भक्तोंकी कामनाएँ भी पूर्ण हो जाती हैं। भगवान्‌का अपने नित्य धामसे पृथ्वीपर लीला-अवतरण ही 'अवतार' कहा जाता है। कल्पभेदसे भगवान्‌ने अनेक अवतार धारणकर अपने लीला-चरितसे सन्तजन-परित्राण, दुष्टदलन और धर्मसंस्थापनके कार्य किये हैं। उनके अनन्त अवतार हैं, अनन्त चरित्र हैं और अनन्त लीला-कथाएँ हैं। यहाँ उनमेंसे चौबीस प्रमुख अवतारोंका संक्षिप्त निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) मत्स्यावतारकी कथा—(१) ब्रह्माजीके सोनेका जब समय आ गया और उन्हें नींद आने लगी, उस समय वेद उनके मुखसे निकल पड़े और उनके पास ही रहनेवाले हयग्रीव नामक दैत्यने उन्हें चुरा लिया। ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय होनेसे सारे लोक समुद्रमें डूब गये। श्रीहरिने हयग्रीवकी चेष्टा जान ली और वेदोंका उद्धार करनेके लिये मत्स्यावतार ग्रहण किया। द्रविड़ देशके राजर्षि सत्यव्रत बड़े भगवत्परायण थे। वे मलयपर्वतके एक शिखरपर केवल जल पीकर तपस्या कर रहे थे। ये ही वर्तमान महाकल्पमें वैवस्वत मनु हुए। एक दिन कृतमाला नदीमें तर्पण करते समय उनकी अंजलीमें एक छोटी-सी मछली आ गयी, उन्होंने उसे जलके साथ फिर नदीमें छोड़ दिया। उसने बड़ी प्रार्थना की कि मुझे जलजन्तु खा लेंगे, मेरी रक्षा कीजिये। राजाने उसे जलपात्रमें डाल लिया। वह इतनी बढ़ी कि कमण्डलुमें स्थान न रहा, तब राजाने उसे एक बड़े मटकेमें रखा दिया। दो घड़ीमें वह तीन हाथकी हो गयी तब उसे एक बड़े सरोवरमें रख दिया। थोड़ी ही देरमें उसने महामत्स्यका आकार धारण किया। जिस किसी जलाशयमें रखते, उसीसे वह बड़ी हो जाती। तब राजाने उसे समुद्रमें छोड़ दिया, उसने बड़ी करुणासे कहा—राजन्! आप मुझको इसमें न छोड़ें मेरी रक्षा करें। तब उन्होंने प्रश्न किया 'मत्स्यरूप धारण करके मुझको मोहित करनेवाले आप कौन हैं? आपने एक ही दिनमें ४०० कोसके विस्तारका सरोवर घेर लिया। आप अवश्य ही सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं। आपने यह रूप किस उद्देश्यसे ग्रहण किया है?' तब भगवान्‌ने कहा—आजसे सातवें दिन तीनों लोक प्रलयकालीन समुद्रमें डूब जायँगे। तब मेरी प्रेरणासे एक बड़ी भारी नाव तुम्हारे पास आयेगी। उस समय तुम समस्त प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरोंको लेकर सप्तर्षियोंके समेत उसपर चढ़ जाना और समस्त औषधियों और बीजोंको साथ रख लेना। जबतक ब्रह्माकी रात्रि रहेगी, तबतक मैं तुम्हारी नौकाको लिये समुद्रमें विहार करूँगा और तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा। यह कहकर मत्स्यभगवान् अन्तर्धान हो गये।

प्रलयकालमें वैसा ही हुआ, जैसा भगवान्‌ने कहा था। मत्स्यभगवान् प्रकट हुए। उनका शरीर सोनेके समान देदीप्यमान था और शरीरका विस्तार चार लाख कोसका था। शरीरमें एक बड़ा भारी सींग भी था। वह नाव वासुकी नागसे सींगमें बाँध दी गयी। सत्यव्रतजीने भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने स्वरूपका सम्पूर्ण परम रहस्य और ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश किया, जो मत्स्यपुराणमें है। ब्रह्माकी नींद टूटनेपर भगवान्‌ने हयग्रीवको मारकर श्रुतियाँ ब्रह्माजीको लौटा दीं। (श्रीमद्भागवत)

(२) समुद्रका एक पुत्र शंख था। इसने देवताओंको परास्त करके उनको स्वर्गसे निकाल दिया, सब लोकपालोंके अधिकार छीन लिये। देवता मेरुगिरिकी कन्दराओंमें जा छिपे, शत्रुके अधीन न हुए। तब दैत्यने

सोचा कि देवता वेदमन्त्रोंके बलसे प्रबल प्रतीत होते हैं। अतः मैं वेदोंका अपहरण करूँगा। ऐसा निश्चय करके वह वेदोंको हर लाया। ब्रह्माजी कार्तिककी प्रबोधिनी एकादशीको भगवान्‌की शरण गये। भगवान्‌ने आश्वासन दिया और मछलीके समान रूप धारण करके आकाशसे वे विन्ध्यपर्वतनिवासी कश्यपमुनिकी अंजलिमें गिरे। मुनिने करुणावश उसे क्रमशः कमण्डलु, कूप, सर, सरिता आदि अनेक स्थानोंमें रखते हुए अन्तमें उसे समुद्रमें डाल दिया। वहाँ भी वह बढ़कर विशालकाय हो गया। तदनन्तर उन मत्स्यरूपधारी भगवान्‌ने शंखासुरका वध किया और विष्णुरूपमें उसे हाथमें लिये वे बदरीवनमें गये। वहाँ सम्पूर्ण ऋषियोंको बुलाकर आदेश दिया कि 'जलके भीतर बिखरे हुए वेदोंकी खोज करो और रहस्यसहित उनका पता लगाकर शीघ्र ही ले आओ।' तब तेज और बलसे सम्पन्न समस्त मुनियोंने यज्ञ और बीजसहित वेदमन्त्रोंका उद्धार किया। जिस वेदके जितने मन्त्रोंको जिस ऋषिने उपलब्ध किया, वही उतने भागका तबसे ऋषि माना जाने लगा। ब्रह्मा समेत सब ऋषियोंने आकर प्राप्त किये हुए वेदोंको भगवान्‌को अर्पण कर दिया। (पद्मपुराण)

(३) दितिके मकर, हयग्रीव, महाबलशाली हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, जम्भ और मय आदि पुत्र हुए, मकरने ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीको मोहित करके उनसे सम्पूर्ण वेद ले लिये। इस प्रकार श्रुतियोंका अपहरण करके वह महासागरमें घुस गया। फिर तो सारा संसार धर्मशून्य हो गया। ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे भगवान् मत्स्य-रूप धारण करके महासागरमें प्रविष्ट हुए और मकर दैत्यको थूथुनके अग्रभागसे विदीर्ण करके उन्होंने मार डाला और अंग-उपांगोंसहित सम्पूर्ण वेदोंको लाकर ब्रह्माजीको समर्पित कर दिया। (पद्मपुराण)

(२) श्रीवराह-अवतारकी कथा—ब्रह्मासे सृष्टिक्रम प्रारम्भ करनेकी आज्ञा पाये हुए स्वायम्भुव मनुने पृथ्वीको प्रलयके एकार्णवमें डूबी हुई देखकर उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे और मेरी प्रजाके रहनेके लिये पृथ्वीके उद्धारका प्रयत्न करें, जिससे मैं आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ। ब्रह्माजी इस विचारमें पड़कर कि पृथ्वी तो रसातलमें चली गयी है, इसे कैसे निकाला जाय, वे सर्वशक्तिमान् श्रीहरिकी शरण गये। उसी समय विचारमग्न ब्रह्माजीकी नाकसे अंगुष्ठप्रमाण एक वराह बाहर निकल पड़ा और क्षणभरमें पर्वताकार विशालरूप गजेन्द्र-सरीखा होकर गर्जन करने लगा। शूकररूप भगवान् पहले तो बड़े वेगसे आकाशमें उछले। उनका शरीर बड़ा कठोर था, त्वचापर कड़े-कड़े बाल थे, सफेद दाढ़ें थीं, उनके नेत्रोंसे तेज निकल रहा था। उनकी दाढ़ें भी अति कर्कश थीं। फिर अपने वज्रमय पर्वतके समान कठोर-कलेवरसे उन्होंने जलमें प्रवेश किया। बाणोंके समान पैने खुरोंसे जलको चीरते हुए वे जलके पार पहुँचे। रसातलमें समस्त जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वीको उन्होंने वहाँ देखा। पृथ्वीको वे दाढ़ोंपर लेकर बाहर आये। जलसे बाहर निकलते समय उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये महापराक्रमी हिरण्याक्षने जलके भीतर ही उनपर गदासे प्रहार करते हुए आक्रमण कर दिया। भगवान्‌ने उसे लीलापूर्वक ही मार डाला। श्वेत दाढ़ोंपर पृथ्वीको धारण किये, जलसे बाहर निकले हुए तमाल वृक्षके समान नीलवर्ण वराहभगवान्‌को देखकर ब्रह्मादिकको निश्चय हो गया कि ये भगवान् ही हैं। वे सब हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे।

(३) कमठ (कच्छप)-अवतारकी कथा—जब दुर्वासाजीके शापसे इन्द्रसहित तीनों लोक श्रीरहित हो गये। तब इन्द्रादि ब्रह्माजीकी शरणमें गये। ब्रह्माजी सबको लेकर अजित भगवान्‌के धामको गये और उनकी स्तुति की। भगवान्‌ने उनको यह युक्ति बतायी कि दैत्य और दानवोंके साथ सन्धि करके मिल-जुलकर क्षीर-सिन्धुको मथनेका उपाय करो। मन्दराचलको मथानी और वासुकी नागको नेती बनाओ। मन्थन करनेपर पहले कालकूट निकलेगा, उसका भय न करना और फिर अनेक रत्न निकलेंगे, उनका लोभ न करना। अन्तमें अमृत निकलेगा, उसे मैं युक्तिसे तुम लोगोंको पिला दूँगा। देवताओंने जाकर दैत्यराज बलिमहाराजसे सन्धि कर ली। अब देवता और दैत्य मन्दराचलको उखाड़कर ले चले, परंतु थक गये, तब भगवान् प्रकट होकर

उसे उठाकर गरुड़पर रखकर सिन्धुतटपर पहुँचे। वासुकी अमृतके लोभसे नेती बने। जब समुद्र-मन्थन होने लगा, तब बड़े-बड़े देवता और असुरोंके पकड़े रहनेपर भी अपने भारकी अधिकता और नीचे कोई आधार न होनेके कारण मन्दराचल समुद्रमें डूबने लगा। इस प्रकार अपना सब करा-कराया मिट्टीमें मिलते देखकर उन सबोंका मन टूट गया। उस समय भगवान्ने यह देखकर कि यह सब विघ्नराज (गणेशजी)-की करतूत है, उन्होंने हँसकर कहा—सब कार्योंके प्रारम्भमें गणेशजीकी पूजा करनी चाहिये। सो तो हम लोगोंने बिल्कुल भुला दिया। बिना उनकी पूजाके कार्य सिद्ध होता नहीं दीखता। अब उन्हींकी पूजा करनी चाहिये। लीलामय भगवान्की लीला है। वे स्वयं सर्वसमर्थ हैं, परंतु कार्यारम्भमें गणेशजीकी अग्रपूजाकी मर्यादा जो बाँध रखी है, उसका पालन करनेके लिये जब देवताओं और दैत्योंको यह परामर्श दिया तो सभी लोग उधर श्रीगणेशजीकी पूजामें लगे, इधर भगवान्ने तुरंत अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छपका रूप धारणकर समुद्रमें प्रवेश करके अपनी एक लाख योजनवाली पीठपर मन्दराचलको ऊपर उठा लिया। तब देवता और दैत्य फिर बड़े वेगसे समुद्रको मथने लगे।

भगवान् कच्छपरूपसे मन्दराचलको धारण किये हुए थे, विष्णुरूपसे देवताओंके साथ-साथ रहे थे। एक तीसरा रूप भी धारण करके मन्दराचलको अपने हाथोंसे दबाये हुए थे कि कहीं उछल न जाय। मथते-मथते बहुत देर हो गयी, परंतु अमृत न निकला। अब भगवान्ने सहस्रबाहु होकर स्वयं ही दोनों ओरसे मथना आरम्भ किया। उस समय भगवान्की बड़ी विलक्षण शोभा थी। ब्रह्मा, शिव, सनकादि जय-जयकार करते हुए आकाश-मण्डलसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे। उन लोगोंकी ध्वनिमें ध्वनि मिलाकर समुद्र भी भगवान्का जय-जयकार कर रहा था। समुद्रसे सर्वप्रथम 'हलाहल कालकूट विष' प्रकट हुआ, उससे त्रैलोक्य जलने लगा तो उसे देवाधिदेव महादेवने ग्रहण किया। फिर और भी रत्न निकले। उनमेंसे 'कामधेनु' को ऋषियोंने स्वीकार किया। 'उच्चैःश्रवा' नामक अति सुन्दर बलिष्ठ अश्वको दैत्योंने लिया। बादमें 'ऐरावत' नामक महान् हाथी निकला, वह देवताओंके राजा इन्द्रको मिला। 'कौस्तुभमणि' के प्रति सभी लालायित थे, उसे भगवान्ने अपने कण्ठमें धारण कर लिया। 'कल्पवृक्ष' बिना किसीकी अपेक्षा किये स्वर्गमें चला गया। 'अप्सराएँ' भी स्वेच्छासे स्वर्गको ही प्रस्थान कर गयीं। 'भगवती लक्ष्मी' ने, अपनी ओरसे उदासीन रहनेपर भी सर्वगुण-सम्पन्न भगवान् विष्णुको वरण किया। 'वारुणी देवी' को दैत्योंने बड़े चावसे लिया। 'धनुष' तो किसीसे उठा ही नहीं। तब भगवान् विष्णुने उसे धारण किया। 'चन्द्रमा' को अनन्त आकाश विचरनेके लिये दिया गया। 'दिव्यशङ्ख' को भगवान्ने स्वीकार किया। अन्तमें 'अमृत-कलश' हाथमें लिये हुए प्रकट हुए धन्वन्तरिजी महाराज। दैत्योंने उनसे अमृत-कलश छीन लिया, देवता उदास हो गये। तब भगवान्ने मोहिनी-स्वरूप धारणकर दैत्योंको व्यामोहितकर अमृत-कलश उनसे लेकर अमृत देवताओंको पिला दिया। देवताओंकी पंक्तिमें सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें एक राहु नामक दैत्य वेष बदलकर आ बैठा था। उसे अमृत पिलाया ही जा रहा था कि चन्द्रमा और सूर्यने बतला दिया और तुरंत ही भगवान्के चक्रने उसका सिर धड़से अलग कर दिया। परंतु कुछ अमृत उसे मिल चुका था, अतः सिर कटनेपर भी मरा नहीं। इसलिये उसे ग्रहोंमें स्थान दिया गया। राहु अब भी सूर्य-चन्द्रमासे बदला लेनेके लिये उनके पर्व अमावस्या और पूर्णिमापर आक्रमण करता है, जिसे ग्रहण कहते हैं। देवताओंने अमृत पी ही लिया था। भगवान्का आश्रय था ही। अतः अबकी बार संग्राममें विजय देवताओंकी हुई।

(४) श्रीनृसिंह-अवतारकी कथा—जब वराहभगवान्ने हिरण्याक्षका वध कर डाला था, तब उसकी माता दिति, उसकी पत्नी भानुमती, उसका भाई हिरण्यकशिपु और समस्त परिवार बड़ा दुखी था। दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुने सबको समझा-बुझाकर शान्त किया, परंतु स्वयं शान्त नहीं हुआ। हृदयमें प्रतिशोधकी ज्वाला

धधकने लगी। फिर तो उसने निश्चय किया कि तपस्या करके ऐसी शक्ति प्राप्त की जाय कि त्रिलोकीका राज्य निष्कण्टक हो जाय और हम अमर हो जायँ। निश्चय कर लेनेपर हिरण्यकशिपुने मन्दराचलकी घाटीमें जाकर ऐसा घोर तप किया कि जिससे देवलोक भी तप्त हो गये। देवताओंकी प्रार्थनापर ब्रह्माजीने जाकर उससे अमरत्व छोड़कर अन्य कोई भी मनचाहा वर माँगनेको कहा। उसने कहा कि मैं चाहता हूँ कि आपके बनाये हुए किसी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो। भीतर-बाहर, दिनमें-रातमें, आपके बनाये हुए प्राणियोंके अतिरिक्त और भी किसी जीवसे, अस्त्र-शस्त्रसे, पृथ्वी या आकाशमें कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्धमें कोई भी मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियोंका एकछत्र सम्राट् बनूँ। इन्द्रादि समस्त लोकपालोंमें जैसी आपकी महिमा है, वैसी ही मेरी हो। तपस्वियों और योगियों, योगेश्वरोंको जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है, वही मुझे भी दीजिये। ब्रह्माजीने 'एवमस्तु' कहकर उसके माँगे वर उसको दिये। वह अपनी चतुराईपर बड़ा ही प्रसन्न हुआ कि मैंने ब्रह्माको भी ठग लिया। उनके न चाहनेपर भी मैंने युक्तिसे अमरत्वका वरदान ले ही लिया। यह जीवका स्वभाव है, वह अपनी चतुराईसे चतुराननकी कौन कहे, भगवान्‌को भी धोखा देनेका प्रयत्न करता है। वैसे ही हिरण्यकशिपुने भी अपनी समझसे मृत्युका दरवाजा बन्द ही कर लिया था, किंतु भगवान्‌ने जब चाहा तो खोल ही लिया।

वर प्राप्तकर उसने सम्पूर्ण दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नर, गन्धर्व, गरुड, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितृगणोंके अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचपति, भूत और प्रेतोंके नायक तथा सम्पूर्ण जीवोंके स्वामियोंको जीतकर अपने वशीभूत कर लिया। इस प्रकार उस विश्वजित् असुरने अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण लोकपालोंके स्थान छीन लिये, स्वयं इन्द्रभवनमें रहने लगा। उसने दैत्योंको आज्ञा दी कि आजकल ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी बहुत बढ़ती हो गयी है। जो लोग तपस्या, व्रत, यज्ञ, स्वाध्याय और दानादि शुभ-कर्म कर रहे हैं, उन सबोंको मार डालो; क्योंकि विष्णुकी जड़ है द्विजातियोंका कर्म-धर्म और वही धर्मका परम आश्रय है। दैत्योंने जाकर वैसा ही किया। परंतु जहाँ त्रैलोक्यमें इस प्रकार धर्मका नाश किया जा रहा था, वहाँ हिरण्यकशिपुके पुत्रोंमें प्रह्लादजी जन्मसे ही भगवद्भक्त थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें वे अपने पिताको भगवद्भक्तिका पाठ सुना रहे थे। पुत्रको अपने शत्रु विष्णुका भक्त जानकर उसने यह निश्चय कर लिया कि यह अपना शत्रु है, जो पुत्ररूपसे प्रकट हुआ है। अतः उसे मार डालनेकी आज्ञा दी, पर दैत्योंके सब प्रयोग व्यर्थ हुए। तब हिरण्यकशिपुको बड़ी चिन्ता हुई। उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे कुचलवाया। विषधर सर्पोंसे डँसवाया, कृत्या राक्षसी उत्पन्न करायी कि प्रह्लादको खा ले। पहाड़ोंपरसे नीचे गिरवाया। शंबरासुरसे अनेकों प्रकारकी मायाका प्रयोग कराया। विष दिलाया। दहकती आगमें प्रवेश कराया, समुद्रमें डुबाया इत्यादि अनेक उपाय मार डालनेके किये, पर उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। गुरुपुत्रोंकी सलाहसे वे वरुणपाशसे बाँधकर रखे जाने लगे कि कहीं भाग न जायँ और गुरुपुत्र इन्हें अर्थ, धर्म और कामकी शिक्षा देने लगे। छुट्टीके समय प्रह्लादजीने समवयस्क असुर-बालकोंको भगवद्भक्तिका स्वरूप बताया, जिसे सुनकर सब सहपाठी असुर बालक भगवन्निष्ठ हो गये। यह देखकर पुरोहितने जाकर सब हाल हिरण्यकशिपुसे कहा। सुनते ही उसका शरीर क्रोधके मारे थर-थर काँपने लगा और उसने प्रह्लादजीको अपने हाथसे मार डालनेका निश्चय किया। उन्हें बुलाकर बहुत डाँटा, झिड़का और पूछा कि तू किसके बलपर मेरी आज्ञाके विरुद्ध काम किया करता है?

प्रह्लादजीने उसे सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के स्वरूपका उपदेश दिया, वह क्रोधसे भरकर बोला—देखूँ वह तेरा जगदीश्वर कहाँ है? अच्छा, क्या कहा—वह सर्वत्र है तो इस खम्भेमें क्यों नहीं दीखता? अच्छा, तुझे इस खम्भेमें भी दीखता है। मैं अभी तेरा सिर अलग करता हूँ, देखता हूँ, तेरा वह हरि तेरी

कैसे रक्षा करता है? वे मेरे सामने आयें तो सही। इत्यादि, कहते-कहते जब वह क्रोधको सँभाल न सका तब सिंहासनपरसे खड्ग लिये कूद पड़ा और प्रह्लादजीके यह कहते ही कि हाँ, वह खम्भेमें भी है, उसने बड़े जोरसे खम्भेको एक घूँसा मारा। उसी समय खम्भेसे बड़ा भारी शब्द हुआ। घूँसा मारकर वह प्रह्लादजीको मारनेके लिये झपटा था परंतु उस अपूर्व घोर शब्दको सुनकर वह घबड़ाकर देखने लगा कि शब्द करनेवाला कौन? इतनेमें उसने खम्भेसे निकले हुए एक अद्भुत प्राणीको देखा। वह सोचने लगा—अहो, यह न तो मनुष्य है न सिंह। फिर यह नृसिंहरूपमें कौन अलौकिक जीव है! वह इस उधेड़-बुनमें लगा ही हुआ था कि उसके बिल्कुल सामने नृसिंहभगवान् खड़े हो गये।

भगवान् उससे बड़ी देरतक खेलवाड़ करते रहे, अन्तमें सन्ध्या समय उन्होंने बड़े उच्च स्वरसे प्रचण्ड भयंकर अट्टहास किया, जिससे उसकी आँखें बन्द हो गयीं। उसी समय झपटकर भगवान्ने उसे पकड़कर राजसभा द्वारकी ड्योढ़ीपर ले जाकर अपनी जंघाओंपर गिराकर अपने नखोंसे उसके पेटको चीरकर उसे मार डाला।

(५) श्रीवामनावतारकी कथा— भगवान्‌की कृपासे ही देवताओंकी विजय हुई। स्वर्गके सिंहासनपर इन्द्रका अभिषेक हुआ। परंतु अपनी विजयके गर्वमें देवता लोग भगवान्‌को भूल गये, विषयपरायण हो गये। इधर हारे हुए दैत्य बड़ी सावधानीसे अपना बल बढ़ाने लगे। वे गुरु शुक्राचार्यजीके साथ-साथ समस्त भृगुवंशी ब्राह्मणोंकी सेवा करने लगे, जिससे प्रभावशाली भृगुवंशी अत्यन्त प्रसन्न हुए और दैत्यराज बलिसे उन्होंने विश्वजित् यज्ञ कराया। ब्राह्मणोंकी कृपासे यज्ञमें स्वयं अग्निदेवने प्रकट होकर रथ-घोड़े आदि दिये और अपना आशीर्वाद दिया। शुक्राचार्यजीने एक दिव्य शंख और प्रह्लादजीने एक दिव्य माला दी। इस तरह सुसज्जित हो सेनासहित उन्होंने जाकर अमरावतीको घेर लिया। देवगुरु बृहस्पतिके आदेशानुसार देवताओंसहित इन्द्रने स्वर्गको छोड़ दिया और कहीं जा छिपे। विश्वविजयी हो जानेपर भृगुवंशियोंने बलिसे सौ अश्वमेध यज्ञ कराये। इस तरह प्राप्त समृद्ध राज्यलक्ष्मीका उपभोग वे बड़ी उदारतासे करने लगे।

अपने पुत्रोंका ऐश्वर्य-राज्यादि छिन जानेसे माता अदिति बहुत दुखी हुईं, अपने पति कश्यपजीके उपदेशसे उन्होंने पयोव्रत किया। भगवान्ने प्रकट होकर कहा कि ब्राह्मण और ईश्वर बलिके अनुकूल हैं। इसलिये वे जीते नहीं जा सकते। मैं अपने अंशरूपसे तुम्हारा पुत्र बनकर तुम्हारे सन्तानकी रक्षा करूँगा। इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। फिर भाद्रपद शुक्ल द्वादशीको मध्याह्नकालमें अभिजित् मुहूर्तमें भगवान् विष्णु महर्षि कश्यपके अंशद्वारा अदितिके गर्भसे प्रकट हुए और कश्यप-अदितिके देखते-देखते उसी शरीरसे वामन ब्रह्मचारीका रूप धारण कर लिया। ठीक वैसे ही जैसे कोई नट अपना भेष बदल ले। भगवान्‌को वामन ब्रह्मचारीके रूपमें देखकर महर्षियोंको बड़ा आनन्द हुआ। उन लोगोंने कश्यप प्रजापतिको आगे करके उनके जातकर्म आदि संस्कार करवाये। जब उनका उपनयन-संस्कार होने लगा तब सूर्यने उन्हें गायत्रीका उपदेश दिया। बृहस्पतिने यज्ञोपवीत और कश्यपने मेखला दी। पृथ्वीने कृष्णमृग चर्म, वनस्पतियोंके स्वामी चन्द्रमाने दण्ड, माता अदितिने कौपीन और उत्तरीयवस्त्र, आकाशके अभिमानी देवताने छत्र, ब्रह्माने कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुश और सरस्वतीने रुद्राक्षकी माला समर्पित की। कुबेरने भिक्षापात्र और साक्षात् जगन्माता अन्नपूर्णाने भिक्षा दी। इस प्रकार उनकी ब्रह्मचर्य-दीक्षा पूर्ण हुई। उसी समय भगवान्ने सुना कि सब प्रकारकी सामग्रियोंसे सम्पन्न यशस्वी बलि भृगुवंशी ब्राह्मणोंके आदेशानुसार बहुत-से अश्वमेधयज्ञ कर रहे हैं, तब उन्होंने वहाँके लिये यात्रा की।

राजा बलि नर्मदा नदीके उत्तर तटपर भृगुकच्छ नामक क्षेत्रमें भृगुवंशियोंके आदेशानुसार एक श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। ठीक उसी समय हाथमें छत्र, दण्ड और जलसे भरा कमण्डलु लिये वामन

भगवान्‌ने अश्वमेधयज्ञके मण्डपमें प्रवेश किया। वे कमरमें मूँजकी मेखला और गलेमें यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे, बगलमें मृगचर्म और जटा सिरपर थी। राजा बलिने स्वागत-वाणीसे उनका अभिनन्दन किया और चरणोंको पखारकर चरणतीर्थको मस्तकपर रखा। फिर बटुरूपधारी भगवान्‌से बोले—ब्राह्मणकुमार! ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं। आप जो कुछ भी चाहते हैं, अवश्य ही वह सब आप मुझसे माँग लीजिये। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर बलिका अभिनन्दन किया और कहा—राजन्! आपने जो कुछ कहा, वह धर्ममय होनेके साथ-साथ आपकी कुल-परम्पराके अनुरूप है। फिर यह कहकर उन्होंने बलिके पूर्वजोंका यशोगान किया—बलिके पिता विरोचनकी उदारता, पितामह प्रह्लादकी भक्ति-निष्ठा, प्रपितामह हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्षके अमित पराक्रमकी प्रशंसा की और बोले—मैं केवल अपने डगसे तीन डग पृथ्वी चाहता हूँ। बलिजी हँसने लगे—***'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति मागत सकुचाई॥'*** वही हाल आपका है। भगवान्‌ने कहा—नहीं, कम माँगनेमें दरिद्रता हेतु नहीं है। सन्तोष हेतु है। यथा—

गो धन गज धन बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥

बलिने कहा—अच्छा, तीन पग लेना है तो मेरे दैत्योंके पगसे लीजिये। देखिये एक-एक योजनके इनके पाँव हैं। भगवान् भी पूरे हठी हैं, बोले—नहीं मुझे तो अपने ही पाँवसे नाप लेने हैं; क्योंकि धनका उतना ही संग्रह करना चाहिये, जितनेकी आवश्यकता हो। जो ब्राह्मण स्वयंप्राप्त वस्तुसे ही सन्तोष कर लेता है, उसके तेजकी वृद्धि होती है, नहीं तो पतन हो जाता है। शुक्राचार्यजीके बहुत समझानेपर भी कि ये बटुरूपधारी तुम्हारे शत्रु भगवान् विष्णु हैं, ये सब छीननेके लिये आये हैं। अपनी जीविका छिनती देख असत्य बोलकर उसकी रक्षा करना निन्दनीय नहीं है। राजाने असत्य बोलना—देनेको कहकर फिर नकार जाना स्वीकार न किया, तब शुक्राचार्यजीने बलिको राज्यभ्रष्ट होनेका शापतक दे दिया तो भी महात्मा बलि अपने निश्चयसे हटे नहीं और हाथमें जल लेकर तीन पग पृथ्वीका संकल्प कर दिया।

संकल्प होते ही भगवान्‌का वामनरूप बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि भगवान्‌की इन्द्रियोंमें और शरीरमें सभी चराचर प्राणियोंका दर्शन होने लगा। सर्वात्मा भगवान्‌में यह सारा ब्रह्माण्ड देखकर सब दैत्य भयभीत हो गये। उन्होंने एक डगसे बलिकी सारी पृथ्वी नाप ली। शरीरसे नभ और भुजाओंसे सभी दिशाएँ घेर लीं। दूसरे पगसे स्वर्ग नाप लिया। तीसरा पग रखनेके लिये बलिकी कोई भी वस्तु न बची। भगवान्‌का दूसरा पग ही ऊपरको जाता हुआ महर्लोक, जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें पहुँच गया। श्रीब्रह्माजीने विश्वरूप भगवान्‌के ऊपर उठे हुए चरणका अर्घ्य-पाद्यसे पूजन और प्रक्षालन किया। ब्रह्माके कमण्डलुका वही जल विश्वरूपभगवान्‌के पद-प्रक्षालनसे पवित्र होनेके कारण गंगाजीके रूपमें परिणत हो गया।

बलिके सेनापतियोंने, यह जानकर कि यह भिक्षुक ब्रह्मचारी तो हम लोगोंका बैरी है, जो अपनेको छिपाकर देवताओंका काम करना चाहता है और राजा तो यज्ञमें दीक्षित होनेसे कुछ कहेंगे नहीं, वामन-भगवान्‌पर अस्त्र चलाया, पर भगवत्पार्षदोंने उन्हें खदेड़ा। बलिने दैत्योंको समझा-बुझाकर लड़ाई करनेसे रोक दिया। भगवान्‌का इशारा पाकर गरुड़ने वरुणपाशसे बलिको बाँध दिया। तत्पश्चात् भगवान् बलिसे बोले—दो पगमें तो मैंने तुम्हारी सब पृथ्वी और सब लोकोंको नाप लिया, तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी न होनेसे अब तुम नरक भोगोगे इत्यादि रीतिसे वामनजीने बहुत तिरस्कार किया, परंतु राजा बलि धैर्यसे विचलित न हुए। उन्होंने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया, प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। धन बड़ा है कि धनी? भगवान्‌ने कहा—चूँकि धन धनीके अधीन रहता है, इसलिये धनी धनसे बड़ा होता है। बलिजीने कहा—प्रभो! आपने मेरा धन तो दो पगमें नाप लिया है। रही एक पगकी बात, सो वह पग आप मेरे सिरपर रख दीजिये। यद्यपि

हूँ तो मैं दो पगसे भी अधिक, परंतु एक ही पगमें मैं आपके चरणोंमें आत्मसमर्पण करता हूँ। भगवान् बहुत प्रसन्न होकर ब्रह्माजीसे बोले—मैं जिसपर बहुत प्रसन्न होता हूँ, उसका धन छीन लिया करता हूँ।'''मैंने इसका धन छीन लिया, राजपदसे अलग कर दिया, तरह-तरहके आक्षेप किये, शत्रुओंने इसे बाँध लिया, भाई-बन्धु छोड़कर चले गये, इतनी यातनाएँ इसे भोगनी पड़ीं—यहाँतक कि इसके गुरुदेवने भी इसे शाप दे दिया, परंतु इस दृढ़व्रतीने प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छलभरी बातें कीं, मनमें छल रखकर धर्मोपदेश किया, परंतु इस सत्यवादीने अपना धर्म न छोड़ा!'''। फिर राजा बलिको सुतललोकमें रहनेकी आज्ञा दी और अपूर्व वर दिये। राजा बलिके आप द्वारपाल बन गये। इस तरह भगवान् वामनने बलिसे स्वर्गका राज्य लेकर इन्द्रको देकर अदितिकी कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र बनकर सारे जगत्का शासन करने लगे।

(६) श्रीपरशुरामावतारकी कथा—(वाल्मीकि-रामायणके अनुसार) साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र राजा कुशके चार पुत्रोंमेंसे कुशनाभ दूसरे पुत्र थे। राजा कुशनाभने पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ किया, जिसके फलस्वरूप गाधि नामक परम धर्मात्मा पुत्र हुआ। राजा गाधिके एक सत्यवती नामकी कन्या थी, जो महर्षि ऋचीकको ब्याही गयी थी। एकबार सत्यवती और सत्यवतीकी माताने ऋचीकजीके पास पुत्र-कामनासे जाकर उसके लिये प्रार्थना की। ऋचीकने दो चरु सत्यवतीको दिये और बता दिया कि यह तुम्हारे लिये है और यह तुम्हारी माँके लिये है, इनका तुम यथोचित उपयोग करना। यह कहकर वे स्नानको चले गये। उपयोग करनेके समय माताने कहा—बेटी! सभी लोग अपने ही लिये सबसे अधिक गुणवान् पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नीके भाईके गुणोंमें किसीकी विशेष रुचि नहीं होती। अतः तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले; क्योंकि मेरे पुत्रको तो सम्पूर्ण भूमण्डलका पालन करना होगा और ब्राह्मणकुमारोंको तो बल, वीर्य तथा सम्पत्ति आदिसे लेना-देना ही क्या है? ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपना चरु माताको दे दिया। जब ऋषिको यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि तुमने यह बड़ा अनुचित किया। ऐसा हो जानेसे अब तुम्हारा पुत्र घोर योद्धा होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मवेत्ता होगा। सत्यवतीके बहुत प्रार्थना करनेपर कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, उन्होंने कहा कि अच्छा, पुत्र तो वैसा न होगा किंतु पौत्र उस स्वभावका होगा। यही कारण है कि राजा गाधिकी स्त्रीने जो चरु खाया उसके प्रभावसे विश्वामित्रजी हुए, जो क्षत्रिय होते हुए भी तपस्वी और ब्रह्मर्षि हुए और श्रीऋचीकजीके पुत्र श्रीयमदग्निजी तो परम शान्त, दान्त ब्रह्मर्षि हुए परंतु यमदग्निपुत्र परशुराम बड़े ही घोर योद्धा हुए।

एकबार यमदग्नि ऋषिने अपनी स्त्री रेणुकाजीको नदीसे जल लानेको भेजा। वहाँ गन्धर्व-गन्धर्विणी विहार कर रहे थे। ये जल लेने गयीं तो उनका विहार देखने लगीं। इसमें उन्हें लौटनेमें देर हुई। ऋषिने देरीका कारण जान लिया और यह समझकर कि स्त्रीको पर-पुरुषकी रति देखना महापाप है, अपने पुत्रोंको बुलाकर (एक-एक करके) आज्ञा दी कि माताको मार डालो। परंतु मातृ-स्नेहवश सातों पुत्रोंने इस कामको करना अंगीकार न किया। तब आठवें पुत्र परशुरामको आज्ञा दी कि इन सब भाइयोंसहित माताका वध करो। इन्होंने तुरंत सबका सिर काट डाला। इसपर पिताने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगनेको कहा। तब इन्होंने कहा कि मेरे सब भाई और माताजी जी उठें और इन्हें यह भी न मालूम हो कि मैंने इन्हें मारा था। हमको पापका स्पर्श न हो। युद्धमें कोई मेरी बराबरी न कर सके, मैं दीर्घकालतक जीवित रहूँ। महातपस्वी यमदग्निने परशुरामको सभी वर दिये।

माहिष्मती नगरीका राजा सहस्रार्जुन भगवान् दत्तात्रेयजीसे, युद्धमें कोई सामना न कर सके, युद्धके समय हजार भुजाएँ प्राप्त हो जायँ, सर्वत्र अव्याहत गति हो आदि वरदान प्राप्तकर उन्मत्त हो गया। वह रथ और वरके प्रभावसे देवता, यक्ष और ऋषि सभीको कुचले डालता था। उसके द्वारा सभी प्राणी पीड़ित हो

रहे थे। एकबार उसने केवल धनुष और बाणकी सहायतासे, अपने बलके घमण्डमें आकर समुद्रको आच्छादित कर दिया। तब समुद्रने प्रकट होकर उसके आगे मस्तक झुकाया और हाथ-जोड़कर कहा—वीरवर! बोलो, मैं तुम्हारी किस आज्ञाका पालन करूँ? उसने कहा—यदि कहीं मेरे समान धनुर्धर वीर मौजूद हो, जो युद्धमें मेरा मुकाबला कर सके तो उसका पता बताओ। फिर मैं तुझे छोड़कर चला जाऊँगा। तब समुद्रने कहा—महर्षि यमदग्निके पुत्र परशुराम युद्धमें तुम्हारा अच्छा सत्कार कर सकते हैं। तुम वहीं जाओ। यह सुनकर राजाने वहीं जानेका निश्चय किया। अपनी अक्षौहिणी सेनासहित राजा सहस्रार्जुन श्रीयमदग्नि ऋषिके आश्रमपर पहुँचे।

ऋषिने इनका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया, जिससे वह चकित हो गया कि वनवासीके पास ऐसा ऐश्वर्य कहाँसे आया? यह मालूम होनेपर कि यह सब कामधेनुकी महिमा है, उसने मुनिसे गऊ माँगी, न देनेपर जबर्दस्ती उसे छीन लिया और मुनिके प्राण भी ले लिये। उस समय परशुरामजी घरपर नहीं थे। घरपर आनेपर उन्होंने माताको विलाप करते हुए पाया। कारण जाननेपर उन्होंने पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका संकल्प किया। कहते हैं कि विलापमें माताने २१ बार छाती पीटी थी, अतः इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया।

इक्कीसवीं बार क्षत्रियोंका नाश करके परशुरामजीने अश्वमेधयज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यपजीको दानमें दे दी। पृथ्वी क्षत्रियोंसे सर्वथा रहित न हो जाय—इस अभिप्रायसे कश्यपजीने उनसे कहा अब यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अब तुम दक्षिण समुद्रकी ओर चले जाओ। चूँकि परशुरामजीके पूर्वजोंने भी यह संहार-कार्य अनुचित कहकर परशुरामजीको इससे निवृत्त होनेका अनुरोध किया था और कश्यपजीने भी पृथ्वी छोड़ देनेको कहा, अतः परशुरामजी दक्षिण समुद्रकी ओर ही चले गये। समुद्रने अपने अन्तर्गत स्थित महेन्द्राचलपर इनको स्थान दिया। श्रीपरशुरामजी कल्पान्त-स्थायी हैं। किसी-किसी भाग्यशाली पुण्यात्माको उनके दर्शन भी हो जाते हैं।

(७) श्रीरामावतारकी कथा—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

अपनी इस प्रतिज्ञाके अनुसार अकारण करुण, करुणावरुणालय भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी चार रूप धारण करके श्रीअयोध्यापति चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजीके पुत्ररूपमें चैत्र शुक्ल ९ रामनवमीको अवतरित हुए। महारानी श्रीकौशल्याजीकी कुक्षिसे श्रीराम, श्रीकैकेयीजीकी कुक्षिसे श्रीभरत, श्रीसुमित्राजीकी कुक्षिसे श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्न प्रकट हुए।

यथासमय जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीतादि संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। श्रीराम किशोरावस्थामें प्रवेश करते हैं और '**जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा।**''''''''॥ **आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥**' इसी हर्षोल्लासके बीच एक दिन श्रीविश्वामित्रजी आते हैं और श्रीदशरथजी महाराजसे अपने यज्ञरक्षणार्थ श्रीरामजी एवं श्रीलक्ष्मणजीको माँग ले जाते हैं। यज्ञमें विघ्न डालनेवाले ताड़का, मारीच, सुबाहु आदि असंख्यों राक्षसोंका सहज ही श्रीराम और लक्ष्मणने वध कर डाला। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। फिर श्रीविश्वामित्रजीके साथ जनकपुरमें श्रीसीताजीका स्वयंवर देखनेके निमित्त जाकर विशाल शम्भु-धनु, जिसे त्रैलोक्यके भटमानी वीर

डिगा भी न सके थे, उसे श्रीरामने मध्यसे ऐसे तोड़ डाला, जैसे मतवाला हाथी कमलनालको तोड़ डालता है। पश्चात् यह शुभ समाचार श्रीअयोध्या भेजा गया और श्रीदशरथजी आये तो बारात लेकर श्रीरामके ब्याहके लिये, परंतु ब्याह हो गया चारों राजकुमारोंका।

अपनी वृद्धावस्थाका आभास पाकर श्रीदशरथजी महाराजने उत्तम गुणोंसे युक्त और सत्य पराक्रमवाले सद्‌गुणशाली अपने प्रियतम, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ पुत्र श्रीरामको, जो प्रजाके हितमें संलग्न रहनेवाले थे, प्रजावर्गका हित करनेकी इच्छासे प्रेमवश युवराज-पदपर अभिषिक्त करना चाहा। तदनन्तर श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारियाँ देखकर रानी कैकेयीने जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था, देवमायासे मोहित होकर, मन्थरासे उकसायी जाकर, राजासे यह वर माँगा कि श्रीरामका निर्वासन (वनवास) और भरतका राज्याभिषेक हो। कैकेयीका प्रिय करनेके लिये, पिताकी आज्ञाके अनुसार इनकी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए वीर श्रीराम वनको चले। विदेहवंशवैजयन्ती मिथिलेशराजनन्दिनी श्रीरामप्रिया श्रीजानकी एवं श्रीसुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी प्रेमवश प्रभुके साथ चल दिये। उस समय पिता श्रीदशरथजीने अपना सारथि भेजकर एवं पुरवासियोंने स्वयं साथ जाकर दूरतक उनका अनुसरण किया। श्रीशृंगवेरपुरमें गंगातटपर अपने प्रिय सखा निषादराज गुहके पास पहुँचकर धर्मात्मा श्रीरामने सारथि (सुमन्त्रजी)-को अयोध्याके लिये विदा कर दिया। निषादराज गुह, लक्ष्मण और सीताके साथ श्रीराम मार्गमें बहुत जलवाली अनेकों नदियोंको पार करके एक वनसे दूसरे वनको गये। महर्षि भरद्वाजजीका दर्शनकर गुहको वापसकर उन्होंने महर्षि वाल्मीकिजीका दर्शन किया और उनकी आज्ञासे, चित्रकूट पहुँचकर वहाँ वे तीनों देवता और गन्धर्वोंके समान वनमें नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हुए एक रमणीय पर्णकुटी बनाकर उसमें सानन्द रहने लगे।

पुत्रशोकमें श्रीदशरथजीके स्वर्गगमनके पश्चात् श्रीवसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणोंद्वारा राज्य-संचालनके लिये नियुक्त किये जानेपर भी महाबलशाली वीर भरतने राज्यकी कामना न करके, पूज्य श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये वनको ही प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामसे यों प्रार्थना की—धर्मज्ञ! आप ही राजा हों। परंतु महान् यशस्वी श्रीरामने भी पिताके आदेशका पालन करते हुए राज्यकी अभिलाषा न की और भरतके माँगनेपर उन भरताग्रजने राज्यके लिये न्यास (चिह्न)-रूपमें अपनी खड़ाऊँ भरतको देकर उन्हें बार-बार आग्रह करके लौटा दिया। श्रीभरतने श्रीरामके चरणोंका स्पर्श किया और श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए वे नन्दिग्राममें रहकर राज्यकार्य सँभालने लगे। श्रीभरतके लौट जानेपर सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामने, वहाँपर नागरिकोंका पुनः आना-जाना देखकर उनसे बचनेके लिये दण्डकारण्यमें प्रवेश किया। उस महान् वनमें पहुँचनेपर महावीर श्रीरामने विराध नामक राक्षसको मारकर श्रीशरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनियोंका दर्शन किया। श्रीरामने दण्डकारण्यवासी अग्निके समान तेजस्वी उन ऋषियोंको राक्षसोंके मारनेका वचन दिया और संग्राममें उनके वधकी प्रतिज्ञा की।

इसके पश्चात् वहाँ ही रहते हुए श्रीरामने इच्छानुसार रूप बनानेवाली जनस्थाननिवासिनी सूर्पणखा नामकी राक्षसीको लक्ष्मणके द्वारा उसके नाक-कान कटाकर कुरूप कर दिया। पश्चात् सूर्पणखाके द्वारा प्रेरित होकर चढ़ाई करनेवाले खर, दूषण, त्रिशिरादि चौदह हजार राक्षसोंको श्रीरामने युद्धमें मार डाला। तदनन्तर राक्षसेन्द्र रावणने प्रतिशोधकी भावनासे मारीचकी सहायतासे श्रीजानकीजीका अपहरण कर लिया और श्रीजानकीजीको लेकर जाते समय मार्गमें विघ्न डालनेके कारण श्रीजटायुजीको आहत कर दिया। पितृवत् पूज्य जटायुके द्वारा ही श्रीरामजीको श्रीजानकीजीका पता मिला। तब अपनी गोदमें प्राण त्यागे हुए श्रीजटायुजीका अग्नि-संस्कारकर वनमें श्रीसीताजीको ढूँढ़ते हुए उन्होंने कबन्ध नामक राक्षसको देखा तो उसे भी तत्काल मारकर शुभगति प्रदान की। कबन्धके द्वारा संकेत पाकर श्रीराम परम भागवती शबरीजीके

यहाँ गये। उसने इनका पूजन किया। श्रीरामने शबरीका मातृवत् सम्मान किया। उत्तम गति प्रदान की। फिर शबरीके संकेतानुसार श्रीहनुमान्‌जीसे मिलकर सुग्रीवजीसे मित्रता की और सुग्रीवके कथनानुसार संग्राममें बालीको मारकर उसके राज्यपर श्रीरामने सुग्रीवको ही बिठा दिया।

तब उन वानरराज सुग्रीवने भी सभी वानरोंको बुलाकर श्रीजानकीजीका पता लगानेके लिये भेजा। सम्पाती नामक गृध्रके पता बतानेपर महाबलवान् श्रीहनुमान्‌जी सौ योजन विस्तारवाले क्षारसमुद्रको कूदकर लाँघ गये। वहाँ रावणपालित लंकापुरीमें पहुँचकर उन्होंने अशोक-वाटिकामें श्रीसीताजीको चिन्तामग्न देखा। तब उन विदेहनन्दिनीको पहचान (मुद्रिका) देकर श्रीरामका सन्देश सुनाया और उन्हें सान्त्वना देकर उन्होंने वाटिकाका विध्वंस कर डाला, साथ ही अक्षयकुमारादि असंख्य राक्षसोंका संहार कर डाला, इसके बादमें वे जान-बूझकर पकड़में आ गये। श्रीब्रह्माजीके वरदानसे अपनेको ब्रह्मपाशसे छूटा हुआ जानकर भी वीर हनुमान्‌जीने अपनेको बाँधनेवाले उन राक्षसोंका अपराध स्वेच्छानुसार सह लिया। तत्पश्चात् मिथिलेशकुमारी सीताके स्थानके अतिरिक्त समस्त लंकाको जलाकर वे महाकपि श्रीहनुमान्‌जी, श्रीरामको प्रिय सन्देश सुनानेके लिये लंकासे लौट आये और श्रीरामजीकी प्रदक्षिणाकर श्रीजानकीजीका पता बताया। इसके अनन्तर असंख्य वानर सेनाको साथ लेकर श्रीरामने महासागरके तटपर सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंसे समुद्रको क्षुब्ध किया। तब नदीपति समुद्रने अपनेको प्रकट कर दिया, फिर समुद्रके ही कहनेसे श्रीरामने नल-नीलसे पुलका निर्माण कराया। उसी पुलसे लंकापुरीमें जाकर रावणको सदल-बल मारकर भगवान् रामने श्रीजानकीजीको प्राप्त किया।

साध्वी सीताने अपनी अग्निपरीक्षा दी। इसके बाद अग्निके कहनेसे श्रीरामने श्रीसीताको निष्कलंक माना। महात्मा श्रीरामचन्द्रके इस कर्मसे देवता और ऋषियोंसहित चराचर त्रिभुवन सन्तुष्ट हो गया। फिर सभी देवताओंसे पूजित होकर श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए और राक्षसराज विभीषणजीको लंकाके राज्यपर अभिषिक्त करके तथा स्वयं देवताओंसे वर पाकर और मरे हुए वानरोंको जीवन दिलाकर अपने सभी साथियोंके साथ पुष्पक विमानपर चढ़कर अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। भरद्वाजमुनिके आश्रमपर पहुँचकर सबको आराम देनेवाले सत्य-पराक्रमी श्रीरामने भरतके पास हनुमान्‌जीको भेजा, पुनः श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीअवधका समाचार पाकर भरद्वाज-आश्रमसे अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। श्रीअयोध्या पहुँचकर श्रीअवधवासियोंके उमड़ते हुए अनुरागको देखकर ***‘अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहिं कृपाला॥’*** पश्चात् श्रीवसिष्ठजीके आदेशानुसार शुभघड़ीमें श्रीरामभद्रजू राज्यसिंहासनासीन हुए। श्रीरामजीके सिंहासनपर बैठते ही त्रैलोक्य परम आनन्दित हो गया। भगवान् श्रीरामने सुदीर्घकालतक पृथ्वीपर अभूतपूर्व सुशासन स्थापित किया, उनके राज्यमें प्रजामात्र तापत्रयसे सर्वथा मुक्त थी, आज भी रामराज्यको आदर्श माना जाता है।

(८) श्रीकृष्णावतारकी कथा—‘परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥’ ‘साधु-पुरुषोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्मसंस्थापनके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ’—अपने इस वचनको पूर्ण चरितार्थ करते हुए अखिलरसामृतसिन्धु, षडैश्वर्यवान्, सर्वलोकमहेश्वर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीकी अर्धरात्रिको कंसके कारागारमें परम अद्भुत चतुर्भुज नारायणरूपसे प्रकट हुए। वात्सल्यभावभावितहृदया माता देवकीकी प्रार्थनापर भक्तवत्सल भगवान्‌ने प्राकृत शिशुका-सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेवजी भगवान्‌के आज्ञानुसार शिशुरूप भगवान्‌को नन्दालयमें श्रीयशोदाके पास सुलाकर बदलेमें यशोदात्मजा जगदम्बा महामायाको ले आये। गोकुलमें नन्दबाबाके घर ही जातकर्मादि महोत्सव मनाये गये। भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मसे ही सभी लीलाएँ अद्भुत और अलौकिक हैं। पालनेमें झूल रहे थे—उसी समय लोकबालघ्नी रुधिराशना पिशाचिनी पूतनाके प्राणोंको दूधके साथ पी

लिया। शकट भंग किया। तृणावर्त, बकासुर एवं वत्सासुरको पीस डाला। सपरिवार धेनुकासुर और प्रलम्बासुरको मार डाला। दावानलसे घिरे गोपोंकी रक्षा की। कालियनागका दमन किया। श्रीनन्दबाबाको अजगरसे छुड़ाया। इसके बाद गोपियोंने भगवान्‌को पतिरूपसे प्राप्त करनेके लिये व्रत किया और भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर उन्हें वर दिया। भगवान्‌ने यज्ञ-पत्नियोंपर कृपा की। गोवर्धन-धारणकी लीला करनेपर इन्द्र और कामधेनुने आकर भगवान्‌का यज्ञाभिषेक किया। शरद्‌ऋतुकी रात्रियोंमें ब्रज-सुन्दरियोंके साथ रास-क्रीड़ा की। दुष्ट शंखचूड़ यक्ष, अरिष्ट और केशीका वध किया।

तदनन्तर अक्रूरजी मथुरासे वृन्दावन आये और उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीने मथुराके लिये प्रस्थान किया। श्रीबलराम और श्यामने मथुरामें जाकर वहाँकी सजावट देखी और कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक, चाणूर एवं कंस आदिका संहार किया। माँ देवकी एवं पिता वसुदेवको कारागारसे मुक्त कराया तथा राजा उग्रसेनको भी कारागारसे मुक्त कराकर राजसिंहासनपर बैठाया। फिर वे सान्दीपनि गुरुके यहाँ विद्याध्ययन करके उनके मृत-पुत्रोंको लौटा लाये। जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें निवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने उद्धव और बलरामजीके साथ यदुवंशियोंका सब प्रकारसे प्रिय और हित किया। जरासंध कई बार बड़ी-बड़ी सेनाएँ लेकर आया और भगवान्‌ने उनका उद्धार करके पृथ्वीका भार हलका किया। कालयवनको मुचुकुन्दसे भस्म करा दिया। द्वारकापुरी बसाकर रातों-रात सबको वहाँ पहुँचा दिया। स्वर्गसे कल्पवृक्ष एवं सुधर्मा सभा ले आये। भगवान्‌ने दल-के-दल शत्रुओंको युद्धमें पराजित करके श्रीरुक्मिणीका हरण किया। बाणासुरके साथ युद्धके प्रसंगमें महादेवजीपर ऐसा बाण छोड़ा कि वे जँभाई लेने लगे और इधर बाणासुरकी भुजाएँ काट डालीं। प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भौमासुरको मारकर सोलह हजार कन्याएँ ग्रहण कीं। शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुष्ट दन्तवक्त्र, मुर, पंचजन आदि दैत्योंके बल-पौरुषको चूर्णकर उनका वध किया। महाभारत-युद्धमें पाण्डवोंको निमित्त बनाकर पृथ्वीका बहुत बड़ा भार उतार दिया और अन्तमें ब्राह्मणोंके शापके बहाने उद्दण्ड हो चले यदुवंशका संहार करवाया। श्रीउद्धवजीकी जिज्ञासापर सम्पूर्ण आत्मज्ञान और धर्मनिर्णयका निरूपण किया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्त अद्भुत अलौकिक लीलाएँ हैं, जो जगत्‌के प्राणियोंको पवित्र करनेवाली हैं।

(९) श्रीबुद्ध-अवतारकी कथा—बौद्धधर्मके प्रवर्तक महाराज शुद्धोदनके यशस्वी पुत्र गौतम बुद्धके रूपमें ही श्रीभगवान् अवतरित हुए थे, ऐसी प्रसिद्धि विश्रुत है, परंतु पुराणवर्णित भगवान् बुद्धदेवका प्राकट्य गयाके समीप कीकट देशमें हुआ था। उनके पुण्यात्मा पिताका नाम 'अजन' बताया गया है। यह प्रसंग पुराणवर्णित बुद्धावतारका ही है।

दैत्योंकी शक्ति बढ़ गयी थी। उनके सम्मुख देवता टिक नहीं सके, दैत्योंके भयसे प्राण लेकर भागे। दैत्योंने देवधाम स्वर्गपर अधिकार कर लिया। वे स्वच्छन्द होकर देवताओंके वैभवका उपभोग करने लगे; किंतु उन्हें प्रायः चिन्ता बनी रहती थी कि पता नहीं, कब देवगण समर्थ होकर पुनः स्वर्ग छीन लें। सुस्थिर साम्राज्यकी कामनासे दैत्योंने सुराधिप इन्द्रका पता लगाया और उनसे पूछा—'हमारा अखण्ड साम्राज्य स्थिर रहे, इसका उपाय बताइये।'

देवाधिप इन्द्रने शुद्ध भावसे उत्तर दिया—'सुस्थिर शासनके लिये यज्ञ एवं वेदविहित आचरण आवश्यक है।'

दैत्योंने वैदिक आचरण एवं महायज्ञका अनुष्ठान प्रारम्भ किया। फलतः उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। स्वभावसे ही उद्दण्ड और निरंकुश दैत्योंका उपद्रव बढ़ा। जगत्‌में आसुरभावका प्रसार होने लगा।

असहाय और निरुपाय दुखी देवगण जगत्पति श्रीविष्णुके पास गये। उनसे करुण प्रार्थना की।

श्रीभगवान्ने उन्हें आश्वासन दिया।

श्रीभगवान्ने बुद्धका रूप धारण किया। उनके हाथमें मार्जनी थी और वे मार्गको बुहारते हुए उसपर चरण रखते थे।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध दैत्योंके समीप पहुँचे और उन्हें उपदेश दिया—'यज्ञ करना पाप है। यज्ञसे जीवहिंसा होती है। यज्ञकी प्रज्वलित अग्निमें ही कितने जीव भस्म हो जाते हैं। देखो, मैं जीवहिंसासे बचनेके लिये कितना प्रयत्नशील रहता हूँ। पहले झाड़ू लगाकर पथ स्वच्छ करता हूँ, तब उसपर पैर रखता हूँ।'

संन्यासी बुद्धदेवके उपदेशसे दैत्यगण प्रभावित हुए। उन्होंने यज्ञ एवं वैदिक आचरणका परित्याग कर दिया। परिणामतः कुछ ही दिनोंमें उनकी शक्ति क्षीण हो गयी।

फिर क्या था, देवताओंने उन दुर्बल एवं प्रतिरोधहीन दैत्योंपर आक्रमण कर दिया। असमर्थ दैत्य पराजित हुए और प्राणरक्षार्थ यत्र-तत्र भाग खड़े हुए। देवताओंका स्वर्गपर पुनः अधिकार हो गया।

इस प्रकार संन्यासीके वेषमें भगवान् बुद्धने त्रैलोक्यका मङ्गल किया।

कलियुगमें बौद्धधर्मके प्रवर्तकके रूपमें गौतम बुद्धने जन्म लिया। श्रीबुद्धजीका बचपनका नाम सिद्धार्थ था। ये स्वभावसे बड़े दयावान् थे। किसीका किंचिन्मात्र भी दुःख देख लेते तो विकल हो जाते। यही कारण है कि उनके पिता राजा शुद्धोदनकी ओरसे राज्यमें ऐसी व्यवस्था थी कि कोई दुःखमय प्रसंग इनके दृष्टिपथमें न आने पाये। परंतु यह सब होनेपर भी दैवयोगसे एकदिन सहसा एक रुग्ण पुरुषको, कुछ ही दिन बाद एक अत्यन्त वृद्ध पुरुषको, पश्चात् एक मृतकको देखकर इनकी आत्मा सिहर उठी और उसी दिनसे ये जगत्से उदास हो गये।

इनकी यह उदासीनता माता-पिताको खली और इन्हें जगत्-प्रपंचमें फँसानेके लिये अत्यन्त रूपवती यशोधरा नामकी कन्यासे विवाह कर दिया और समयपर सिद्धार्थके राहुल नामका एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परंतु उदासीनता मिटी नहीं बल्कि बढ़ती ही गयी। परिणामस्वरूप अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा, नवजात पुत्र राहुल, स्नेहमूर्ति पिता महाराज शुद्धोदन तथा वैभवसम्पन्न राज्य—इन सबको ठुकराकर युवावस्थामें ही गौतम घरसे निकल पड़े। केवल तर्क-पूर्ण बौद्धिक ज्ञान उन्हें सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं था। उन्हें तो रोगपर, बुढ़ापेपर और मृत्युपर विजय पानी थी। उन्हें शाश्वत जीवन—अमरत्व अभीष्ट था। प्रख्यात विद्वानों, उद्भट शास्त्रज्ञोंके समीप वे गये, किंतु वहाँ उनको सन्तोष नहीं हुआ। आश्रमोंसे, विद्वानोंसे निराश होकर वे गयाके समीप वनमें आये और तपस्या करने लगे। जाड़ा, गर्मी और वर्षामें भी बुद्धजी वृक्षके नीचे अपनी वेदिकापर स्थिर बैठे रहे। उन्होंने सब प्रकारका आहार बन्द कर दिया था। दीर्घकालीन तपस्याके कारण उनके शरीरका मांस और रक्त सूख गया, केवल हड्डियाँ, नसें और चर्म ही शेष रहा। गौतमका धैर्य अविचल था। कष्ट क्या है, इसे वे अनुभव ही नहीं करते थे। किंतु उन्हें अपना अभीष्ट प्राप्त नहीं हो रहा था। सिद्धियाँ मँडरातीं, परंतु एक सच्चे साधक, सच्चे मुमुक्षुके लिये सिद्धियाँ बाधक हैं, अतः गौतमने उनपर दृष्टिपात ही नहीं किया।

एक दिन जहाँ गौतम तपस्या कर रहे थे, उस स्थानके समीपके मार्गसे कुछ स्त्रियाँ गाती-बजाती निकलीं। वे जब गौतमकी तपोभूमिके पास पहुँचीं। तब एक गीत गा रही थीं, जिसका आशय था 'सितारके तारोंको ढीला मत छोड़ो नहीं तो वे बेसुरे हो जायँगे, परंतु उन्हें इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायँ।' गौतमके कानों में वह संगीत-ध्वनि पड़ी। उनकी प्रज्ञामें सहसा प्रकाश आ गया—'साधनाके लिये केवल कठिन तपस्या ही उपयुक्त नहीं है, संयमित भोजन एवं नियमित निद्रादि व्यवहार भी आवश्यक हैं। इस

प्रकार सम्यक् बोध प्राप्त कर लेनेपर गौतमका नाम 'गौतम बुद्ध' पड़ा। तत्त्वज्ञान होनेके बाद भगवान् बुद्ध वाराणसी चले आये और अपना सर्वप्रथम उपदेश उन्होंने 'सारनाथ' में दिया।

उपदेश—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्य-गानादि त्याग, सुगन्ध-माला-त्याग, असमय भोजन-त्याग, कोमल शय्या-त्याग, कामिनी-कंचनका त्याग—ये दस सूत्र आपने दुःख-उन्मूलन एवं निर्वाण-प्राप्तिमें परमोपयोगी बताये हैं।

'धम्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'—यह बुद्धजीका शरणागति मन्त्र है।

(१०) कल्कि-अवतारकी कथा —कलियुगके अन्तमें जब सत्पुरुषोंके घर भी भगवान्‌की कथामें बाधा होगी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पाखण्डी हो जायँगे और शूद्र राजा होंगे, यहाँतक कि कहीं भी स्वाहा, स्वधा और वषट्कारकी ध्वनि नहीं सुनायी पड़ेगी। राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायँगे, तब कलियुगका शासन करनेके लिये भगवान् बालकरूपमें संभल ग्राममें विष्णुयशके घरमें अवतार ग्रहण करेंगे।

परशुरामजी उनको वेद पढ़ायेंगे। शिवजी शस्त्रास्त्रोंका संधान सिखायेंगे, साथ ही एक घोड़ा और एक खड्ग देंगे। तब कल्किभगवान् ब्राह्मणोंकी सेना साथ लेकर संसारमें सर्वत्र फैले हुए म्लेच्छोंका नाश करेंगे। पापी दुष्टोंका नाश करके वे सत्ययुगके प्रवर्तक होंगे। वे ब्राह्मणकुमार बड़े ही बलवान्, बुद्धिमान् और पराक्रमी होंगे। धर्मके अनुसार विजय प्राप्तकर वे चक्रवर्ती राजा होंगे और इस सम्पूर्ण जगत्‌को आनन्द प्रदान करेंगे। (महाभारत, वनपर्व)

(११) श्रीव्यासजीके अवतारकी कथा—चेदि देशके राजा वसुपर अनुग्रह करके देवराज इन्द्रने एक दिव्य विमान दिया था, जिसपर बैठकर वे आकाशमें सबके ऊपर विचरते थे अतः उनका नाम उपरिचर वसु पड़ गया था। एकबार राजा उपरिचर वसु अपनी ऋतुस्नाता पत्नी गिरिकाको, जिसने पुत्रोत्पत्तिकी कामनासे उचित समयपर समागमकी प्रार्थना की थी, उसे छोड़कर मृगयाके लिये वनमें चले गये। वनमें ऋतुराज वसन्तकी अद्भुत शोभा देखकर राजाको कामोद्दीपन हुआ, जिससे उनका वीर्य स्खलित हो गया। राजाने यह विचारकर कि मेरा वीर्य भी व्यर्थ न जाय और रानीका ऋतुकाल भी व्यर्थ न हो, अतः वटपत्र-पुटकमें रखकर एक बाज पक्षीके द्वारा उस वीर्यको रानीके पास भेजा। संयोगवश मार्गमें एक दूसरे बाजसे संघर्ष हो जानेके कारण वह वीर्य यमुना नदीमें गिर गया, जिसे ब्रह्माजीके शापसे मछलीरूपधारिणी अद्रिका नामकी अप्सरा पी गयी और कालान्तरमें जब मत्स्यजीवी मल्लाहोंके जालमें वह मछली फँसी और मछुओंने उसके पेटको चीरा तो उसमें अत्यन्त सुन्दर एक पुत्र और एक कन्यारत्नको पाया। मछुओंने उन दोनों सन्तानोंको राजा उपरिचर वसुको निवेदन किया। राजाने पुत्र तो स्वयं ले लिया, जो आगे चलकर मत्स्य नामक बड़ा धर्मात्मा राजा हुआ। कन्याके शरीरसे मछलीकी गन्ध आती थी, अतः उसे दासराज नामक मल्लाहको सौंप दिया। वह रूपके साथ-साथ सत्यसे युक्त थी। अतः उसका सत्यवती नाम पड़ा।

एक बार तीर्थयात्राके उद्देश्यसे विचरनेवाले महर्षि पराशरने उसे देखा तो शुभ संयोग देखकर बुद्धिमान् पराशरने उसके साथ समागमकी इच्छा प्रकट की। सत्यवतीने संकुचित होकर अपने कन्यात्वके दूषित होने, दिन होनेके कारण नदीके आर-पार दोनों तटोंपर उपस्थित लोगोंद्वारा देखे जाने तथा अपने शरीरसे मछलीकी-सी दुर्गन्धि निकलनेकी बात कही। समर्थ ऋषिने तीनों कठिनाइयाँ तत्काल दूर कर दीं। आशीर्वाद दिया—तुम्हारा कन्या-भाव सुरक्षित रहेगा। शरीरसे सुन्दर सुगन्धि निकलेगी, जो एक योजनतक फैलेगी और कुहराकी सृष्टिकर चारों ओर अँधेरा कर दिया। तब तो वरदान पाकर प्रसन्न हुई सत्यवतीने उन अद्भुतकर्मा महर्षि पराशरके साथ समागम किया और तत्काल ही एक शिशुको जन्म दिया। यही शिशु पराशरजीसे

उत्पन्न होनेसे पाराशर्य, यमुनाजीके द्वीप (जलसे घिरे भूभाग)-में उत्पन्न होनेसे द्वैपायन, वेदोंका व्यास (विस्तार) करनेसे वेदव्यास नामसे विख्यात हुआ। इन्होंने मातासे कहा—'आवश्यकता पड़नेपर तुम मेरा स्मरण करना, मैं अवश्य दर्शन दूँगा। इतना कहकर माताकी आज्ञा ले श्रीव्यासजीने तपस्यामें मन लगाया। श्रीव्यासजीने देखा कि प्रत्येक युगमें धर्मका एक-एक पाद लुप्त होता जा रहा है। 'मनुष्योंकी शक्ति और आयु क्षीण हो चली है, यह सब देख-सुनकर उन्होंने वेद और ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वेदोंका व्यास (विस्तार) किया। वेदमें सबका अधिकार न होनेसे सर्व-साधारणको वेद-तात्पर्य सुलभ करानेकी दृष्टिसे, आपने पाँचवें वेदतुल्य महाभारत (इतिहास ग्रन्थ)-की रचना की। फिर वेदोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये ही महापुराणोंकी रचना की। परंतु मनमें जैसी शान्ति चाहिये वैसी शान्ति नहीं होनेसे, अपनेको अकृतार्थ-सा मानकर, खिन्नताको प्राप्त श्रीव्यासजीने देवर्षि नारदजीकी प्रेरणासे श्रीमद्भागवत-महापुराणकी रचनाकर परम विश्राम पाया। परमहंसाचार्य श्रीशुकदेवजी आपके पुत्र हैं।

(१२) श्रीपृथुजीके अवतारकी कथा—महाराज 'अङ्ग' की पत्नी सुनीथा, जो साक्षात् मृत्युकी कन्या थीं, उससे 'वेन' नामक पुत्र हुआ, जो अपने नाना मृत्युके स्वभावका अनुसरण करनेके कारण अत्यन्त क्रूरकर्म करनेवाला हुआ। फलस्वरूप उसकी दुष्टतासे उद्विग्न होकर राजर्षि अंग नगर छोड़कर चले गये। राजाके अभावमें राज्यमें अराजकता न फैल जाय, इसलिये ऋषियोंने और कोई उपाय न देखकर वेनको अयोग्य होनेपर भी राजपदपर अभिषिक्त कर दिया। स्वभावसे क्रूर, ऐश्वर्य पाकर अत्यन्त उन्मत्त, विवेकशून्य वेन जब धर्म एवं धर्मात्मा पुरुषोंको विनष्ट करनेपर तुल गया और ऋषियोंके समझानेपर भी समझना तो दूर रहा, उल्टे उनकी अवहेलना की, तब क्षुब्ध ऋषियोंने क्रोध करके हुँकारमात्रसे वेनको मार डाला। परंतु कोई राजा नहीं होनेके कारण लोकमें लुटेरोंके द्वारा प्रजाको बहुत कष्ट होने लगा। यह देखकर ऋषियोंने वेनके शरीरका मन्थन किया। प्रथम जाँघका मन्थन किया तो उसमेंसे एक बौना पुरुष, कुरूप, काला-कलूटा उत्पन्न हुआ और जब उसने पूछा कि मैं क्या करूँ? तो ऋषियोंने कहा—'निषीद' (बैठ जा), इसीसे वह निषाद कहलाया। फिर वेनकी भुजाओंका मन्थन किया तो एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। ऋषियोंने पुरुषको 'पृथु' नामसे एवं स्त्रीको 'अर्चि' नामसे सम्बोधित किया। ऋषि-ब्राह्मणोंको श्रीपृथुजीके हाथमें बिना किसी रेखासे कटा हुआ चक्रका एवं पाँवमें कमलका चिह्न देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि पृथुके रूपमें साक्षात् श्रीहरिके अंशने ही संसारकी रक्षाके लिये अवतार लिया है और अर्चिके रूपमें निरन्तर भगवान्‌की सेवामें रहनेवाली श्रीलक्ष्मीजी ही प्रकट हुई हैं।

सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत महाराज पृथुका विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। उस समय अनेक अलंकारोंसे सजी हुई महारानी अर्चिके साथ वे दूसरे अग्निदेवके सदृश जान पड़ते थे। सब लोगोंने उन्हें तरह-तरहके उपहार भेंट किये। इसके पश्चात् सूत, मागध और बन्दीजनोंने स्तुति की। ब्राह्मणोंने पृथुजीको प्रजाका रक्षक उद्घोषित किया।

वेनके अत्याचारसे उत्पीड़ित पृथ्वीने समस्त औषधियोंको अपनेमें छिपा लिया था और चूँकि बहुत समय बीत गया था, अतः वे औषधियाँ पृथ्वीके उदरमें जीर्ण हो गयी थीं। यही कारण है कि जब श्रीपृथुजीका राज्य हुआ तब भी पृथ्वी रसा होकर भी रसहीना ही बनी रही। फलस्वरूप भूखके कारण प्रजाजनोंके शरीर सूखकर काँटे हो गये थे। उन्होंने अपने स्वामी पृथुके पास आकर कहा। तब पृथुजीने क्रोधमें भरकर पृथ्वीको लक्ष्यकर बाण चढ़ाया। पृथ्वी प्रथम तो डरकर गोरूप धारणकर भागी, परंतु कहीं भी बचाव न देखकर श्रीपृथुजीकी शरणमें आ गयी। तब श्रीपृथुजीने पृथ्वीके संकेतसे गोरूपधारिणी पृथ्वीका दोहन किया, जिससे

पुनः सभी अन्न और औषधियाँ प्रकट हो गयीं। प्रजा सुख-चैनसे रहने लगी।

परम धर्मात्मा श्रीपृथुजीने सौ अश्वमेधयज्ञ करनेका संकल्पकर निन्यानबे यज्ञ पूर्ण होनेपर जब सौवें अश्वमेधयज्ञका प्रारम्भ किया तो इन्द्रने अपना सिंहासन छीने जानेके भयसे बहुत विघ्न किया। तब इन्द्रका वध करनेके लिये उद्यत श्रीपृथुजीको याजकोंने यज्ञमें क्रोधको अनुचित बताकर स्वयं मन्त्रबलसे बलपूर्वक इन्द्रको अग्निमें हवनकर देनेका निश्चय किया। तब लोकस्त्रष्टा जगत्-पितामह ब्रह्माजीने ब्राह्मणोंको समझाकर रोका। श्रीपृथुजीका सौ यज्ञ करनेका जो आग्रह था, उससे निवृत्तकर इन्द्रसे सन्धि करा दी। महाराज पृथुके निन्यानबे यज्ञोंसे ही यज्ञभोक्ता यज्ञेश्वर भगवान् विष्णुको भी बड़ा सन्तोष हुआ। वे देवराज इन्द्रको साथ लेकर श्रीपृथुजीके सामने प्रकट हुए। अपने ही कर्मसे लज्जित इन्द्र श्रीपृथुजीके चरणोंमें गिरना ही चाहते थे कि श्रीपृथुजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया। भगवान्‌का दर्शनकर श्रीपृथुजी निहाल हो गये। आँखोंमें प्रेमाश्रु, शरीरमें रोमांच, हृदयमें उमड़ा हुआ अनन्त आनन्द-सागर, यह थी उस समय श्रीपृथुजीकी अवस्था। उन्होंने हाथ-जोड़कर भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने श्रीपृथुजीके गुणोंकी सराहना करते हुए, वर माँगनेको कहा। तब श्रीपृथुजी बोले—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥

(भागवत)

मुझे तो उस मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं है, जिसमें महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा निकला हुआ आपके चरण-कमलोंका मकरन्द नहीं है, जहाँ आपकी कीर्ति-कथा सुननेका सुख नहीं मिलता है। इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके लीला-गुणोंको सुनता ही रहूँ। इस प्रकार प्रार्थना करनेपर उनको अपनी भक्तिका वर प्रदानकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

बहुत कालतक धर्मपूर्वक प्रजाका पालनकर श्रीपृथुजी सनत्कुमारजीके उपदेशोंका स्मरणकर कि 'अब मुझे अन्तिम पुरुषार्थ मोक्षके लिये प्रयत्न करना चाहिये' पृथ्वीका भार पुत्रोंको सौंपकर अपनी पत्नीसहित तपोवनको चले गये और वहाँ जाकर भगवान् सनत्कुमारने जिस परमोत्कृष्ट अध्यात्मयोगकी शिक्षा दी थी, उसीके अनुसार पुरुषोत्तम श्रीहरिकी आराधना करने लगे और अन्तमें भगवान्‌के श्रीचरण-कमलोंका चिन्तन करते हुए ब्रह्मस्वरूपमें लीन हो गये। यह देखकर महाराज पृथुकी पतिव्रता पत्नी अर्चिने चिता बनायी और अपने पतिके साथ सती हो गयीं। परम साध्वी अर्चिको इस प्रकार अपने पति वीरवर पृथुका अनुगमन करते देख सहस्रों वरदायिनी देवियोंने अपने-अपने पतियोंके साथ उनकी स्तुति की। वहाँ देवताओंके बाजे बजने लगे। देवांगनाओंने पुष्प-वृष्टि की।

रञ्जयतीति राजा यः स्वनाम सफलीकृतः।
दुदोह वसुधां बीजं तस्मै श्रीपृथवे नमः॥

(१३) श्रीहरि-अवतारकी कथा—त्रिकूटाचल पर्वतपर जब ग्राहने गजको पकड़ा था तब उसकी आर्तवाणीको सुनकर भगवान् श्रीहरि प्रगट हुए। इन्होंने ही ग्राहको मारकर गजेन्द्रकी रक्षा की तथा लोगोंके बड़े-बड़े संकट हरण करके 'श्रीहरि' यह नाम चरितार्थ किया। कथा इस प्रकारसे है—

क्षीरसागरमें त्रिकूट नामका एक प्रसिद्ध, सुन्दर एवं श्रेष्ठ पर्वत था। वह दस हजार योजन ऊँचा था। उसकी लम्बाई-चौड़ाई भी चारों ओर इतनी ही थी। उस पर्वतराज त्रिकूटकी तराईमें भगवान् वरुणका ऋतुराज नामका उद्यान था, जिसके चारों ओर वृक्षोंके झुण्ड शोभा दे रहे थे। वहीं एक विशाल सरोवर था। उस

पर्वतके घोर-जंगलमें बहुत-सी हथिनियोंके सहित एक गजेन्द्र निवास करता था। जो बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथियोंका सरदार था। एक दिन वह अपनी हथिनियोंके साथ वनको रौंदता हुआ उसी पर्वतपर विचर रहा था। मदके कारण उसके नेत्र विह्वल हो रहे थे। बहुत कड़ी धूपके कारण वह व्याकुल हो गया। वह साथियोंसहित प्याससे सन्तप्त होकर जलकी खोजमें फिर रहा था कि उसे दूर ही से कमलके परागसे सुवासित वायुकी सुगन्ध मिली, जिसके सहारे वह उसी सरोवरपर पहुँचा और स्नानकर श्रम मिटाया, प्यास बुझायी, फिर उसमें गृहस्थोंकी भाँति क्रीड़ा करने लगा।

जिस समय वह इतना उन्मत्त हो रहा था, उसी समय एक बलवान् ग्राहने क्रोधमें भरकर उसका पैर पकड़ लिया। हाथी और हथिनियोंने शक्तिभर सहायता की, पर वे गजेन्द्रको बाहर निकालनेमें असमर्थ ही रहे। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता तो कभी ग्राह गजेन्द्रको भीतर खींच ले जाता। इस प्रकार एक हजार वर्ष बीत गये। अन्तमें गजेन्द्रका उत्साह, बल तथा शक्ति क्षीण हो गयी और ग्राहका बल, उत्साह और शक्ति बढ़ गयी। गजेन्द्रके प्राण संकटमें पड़ गये। वह अपनेको छुड़ानेमें सर्वथा असमर्थ हो गया। बहुत देरतक अपने छुटकारेके उपायपर विचार करता हुआ वह इस निर्णयपर पहुँचा—'जब मेरे बराबरवाले हाथी भी मुझे न छुड़ा सके, तब ये बेचारी हथिनियाँ कब छुड़ा सकती हैं? ग्राहका मुझे ग्रस लेना विधाताकी फाँसी है। अतएव अब मैं सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र आश्रय परब्रह्मकी शरण लेता हूँ, जो प्रचण्ड कालरूपी सर्पसे भयभीत प्राणियोंकी रक्षा करता है तथा मृत्यु भी जिसके भयसे दौड़ती रहती है। यथा—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

(श्रीमद्भा० ८।२।२३)

ऐसा निश्चयकर उसने सूँड़में एक सुन्दर कमलका पुष्प लेकर (जो उस सरोवरमें खिला हुआ था) सूँड़को ऊपर उठाकर बड़े कष्टके साथ पुकारकर कहा—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है। पुकारनेके साथ ही भगवान् गरुड़को छोड़कर तत्काल वहाँ पहुँचे और दोनोंको सरोवरसे निकालकर ग्राहका मुँह चक्रसे फाड़कर गजको छुड़ा दिया। भगवान्का स्पर्श होते ही गजेन्द्रके अज्ञानबन्धन कट गये और वह भगवान्की भाँति चतुर्भुजरूप हो गया, अर्थात् उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई। भगवान् उसे अपना पार्षद बनाकर अपने साथ ही ले गये।'

(१४) श्रीहंस-अवतारकी कथा—एक बार सनकादिक परमर्षियोंने अपने पिता श्रीब्रह्माजीसे पूछा—पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसार-सागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक-दूसरेसे कैसे अलग कर सकता है? यद्यपि श्रीब्रह्माजी देवशिरोमणि, स्वयम्भू और सब प्राणियोंके जन्मदाता हैं तो भी कर्म-प्रवण बुद्धि होनेसे इस प्रश्नका समुचित समाधान न कर सके। अतः इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये उन्होंने भक्ति-भावसे भगवान्का चिन्तन किया।

तब भगवान् हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुए और श्रीसनकादिक तथा ब्रह्माजीसे वंदित होकर, सनकादिके यह पूछनेपर कि आप कौन हैं? भगवान् बोले—ब्राह्मणो! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब आत्माके सम्बन्धमें आप लोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? देवता,

मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी शरीर पंचभूतात्मक होनेके कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थसे भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं?' आप लोगोंका यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है अतः निरर्थक है। मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग तत्त्व-विचारके द्वारा समझ लीजिये। पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है तथापि विषय और चित्त—ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविक रूपसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌ने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये और भली-भाँति उनके द्वारा पूजित और वन्दित होकर श्रीब्रह्माजी और सनकादिकोंके सामने ही अदृश्य होकर अपने धामको चले गये।

(१५) मन्वन्तरावतारोंकी कथा—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चारों युग जब एक हजार बार व्यतीत होते हैं तो उस कालको कल्प कहते हैं। एक कल्प अर्थात् एक हजार चतुर्युगीकाल श्रीब्रह्माजीका एक दिन होता है। श्रीब्रह्माजीके एकदिन में अर्थात् एक कल्पमें चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालतक अपना अधिकार भोगते हैं। इन मन्वन्तरोंमें भगवान् सत्त्वगुणका आश्रय ले, अपनी मनु आदि मूर्तियोंके द्वारा पौरुष प्रकट करते हुए इस विश्वका पालन करते हैं। विश्वव्यवस्थाका संचालन करते हुए अपने-अपने मन्वन्तरमें बड़ी सावधानीसे सबके सब मनु पृथ्वीपर चारों चरणोंसे परिपूर्ण धर्मका अनुष्ठान स्वयं करते हैं तथा प्रजासे करवाते हैं। जब एक मनुकी अवधि पूरी हो जाती है तो उनके साथ ही साथ उस समयके इन्द्र, सप्तर्षि, मनुपुत्र और भगवदवतार तथा देवता—ये छहों पहलेकी जगह नये-नये होते हैं।

अब चौदह मनुओंका संक्षिप्त वर्णन करते हैं। **१. स्वायम्भुव मनु**—मरीचि आदि महान् शक्तिशाली ऋषियोंसे भी सृष्टिका अधिक विस्तार नहीं होते देख श्रीब्रह्माजी मन-ही-मन चिन्ता करने लगे—'अहो! बड़ा आश्चर्य है, मेरे निरन्तर प्रयत्न करनेपर भी प्रजाकी वृद्धि नहीं हो रही है। मालूम होता है इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है।' जिस समय श्रीब्रह्माजी इस प्रकार दैवके विषयमें विचार कर रहे थे, उसी समय अकस्मात् उनके शरीरके दो भाग हो गये। उन दोनों विभागोंमेंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। उनमेंसे जो पुरुष था, वह सार्वभौम सम्राट् स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुईं। तबसे मिथुन धर्मसे प्रजाकी वृद्धि होने लगी। महाराज स्वायम्भुवमनुने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं। श्रीप्रियव्रत और उत्तानपाद—ये दो पुत्र और आकूति, प्रसूति और देवहूति—तीन कन्याएँ थीं। मनुजीने आकूतिका विवाह रुचि प्रजापतिसे, देवहूतिका विवाह कर्दम प्रजापतिसे तथा प्रसूतिका विवाह दक्ष प्रजापतिसे किया। इन तीनों कन्याओंकी सन्ततिसे सारा संसार भर गया।

२. स्वारोचिष मनु—ये अग्निके पुत्र थे। **३. उत्तम मनु**—ये प्रियव्रतके पुत्र थे। **४. तामस मनु**—ये तीसरे मनु उत्तमके सगे भाई थे। **५. रैवत मनु**—ये चौथे मनु तामसके सगे भाई थे। **६. चाक्षुष मनु**—ये चक्षुके पुत्र थे। **७. वैवस्वत मनु**—विवस्वान् (सूर्य)-के पुत्र यशस्वी श्राद्धदेव ही सातवें वैवस्वत मनु हैं। यह वर्तमान मन्वन्तर ही उनका काल है। **८. सावर्णि मनु**—आठवें मन्वन्तरमें सूर्यकी पत्नी छाया देवीके पुत्र सावर्णि मनु होंगे। **९. दक्षसावर्णि**—वरुणके पुत्र दक्षसावर्णि नौवें मनु होंगे। **१०. ब्रह्मसावर्णि**—

उपश्लोकके पुत्र ब्रह्मसावर्णि दसवें मनु होंगे। **११. धर्मसावर्णि**—ये ग्यारहवें मनु होंगे। **१२. रुद्रसावर्णि**—ये बारहवें मनु होंगे। **१३. देवसावर्णि**—ये तेरहवें मनु होंगे। **१४. इन्द्रसावर्णि**—ये चौदहवें मनु होंगे। ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों ही कालमें चलते रहते हैं और समस्त भूमण्डलका शासन करते हुए सनातन-धर्मकी रक्षा करते हैं।

(१६) श्रीयज्ञ-अवतारकी कथा—श्रीस्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूति, जो रुचि प्रजापतिसे ब्याही गयी थीं। उन रुचि प्रजापतिने आकूतिके गर्भसे एक पुरुष और स्त्रीका जोड़ा उत्पन्न किया। उनमें जो पुरुष था, वह साक्षात् यज्ञ-स्वरूपधारी भगवान् विष्णु थे और जो स्त्री थी, वह भगवान्से कभी भी अलग न रहनेवाली लक्ष्मीजीकी अंशरूपा 'दक्षिणा' थीं। मनुजी अपनी पुत्री आकूतिके उस परम तेजस्वी पुत्रको बड़ी प्रसन्नतासे अपने घर ले आये और दक्षिणाको रुचि प्रजापतिने अपने पास रखा। जब दक्षिणा विवाहके योग्य हुई तो उसने यज्ञभगवान्‌को ही पतिरूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा की। तब भगवान् यज्ञपुरुषने उससे विवाह किया। इससे दक्षिणाको बड़ा सन्तोष हुआ। भगवान् यज्ञपुरुषने दक्षिणासे सुयम नामक देवताओंको उत्पन्न किया और तीनों लोकोंके बड़े-बड़े संकट दूर किये। वर्णन आया है—जब स्वायम्भुव मनुने समस्त कामनाओं और भोगोंसे विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया और अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या करने वनको चले गये और वनमें जाकर सुनन्दा नदीके तटपर एक पैरसे खड़े रहकर सौ वर्षतक घोर तपस्या की। उस समय एक बार जब स्वायम्भुव मनु एकाग्रचित्तसे भगवान्‌की स्तुति कर रहे थे, तो भूखे असुर और राक्षस उन्हें नींदमें अचेत होकर बड़बड़ाते जानकर खा डालनेके लिये टूट पड़े। यह देखकर अन्तर्यामी भगवान् यज्ञपुरुष अपने पुत्र 'याम' नामक देवताओंके साथ वहाँ आये, उन्होंने उन्हें खा डालनेके निश्चयसे आये असुरोंका संहार कर डाला और फिर वे इन्द्रके पदपर प्रतिष्ठित होकर स्वर्गका शासन करने लगे।

(१७) श्रीऋषभ-अवतारकी कथा—महाराज नाभिके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये उन्होंने अपनी पत्नी मेरुदेवीके सहित पुत्रकी कामनासे एकाग्रतापूर्वक भगवान् यज्ञपुरुषका यजन किया। भक्तवत्सल भगवान् उनके विशुद्ध भावसे सन्तुष्ट होकर यज्ञमें प्रकट हुए। सभीने सिर झुकाकर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रभुकी पूजा की और ऋषियोंने उनकी स्तुतिकर यह वर माँगा कि हमारे यजमान ये राजर्षि नाभि सन्तानको ही परम पुरुषार्थ मानकर आपके ही समान पुत्र पानेके लिये आपकी आराधना कर रहे हैं। आप इनके मनोरथको पूर्ण करें। भगवान् बोले—मुनियो! मेरे समान तो मैं ही हूँ; क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ। तो भी ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है। इसलिये मैं स्वयं ही अपनी अंशकलासे आग्नीध्रनन्दन नाभिके यहाँ आकर अवतार लूँगा; क्योंकि अपने-समान मुझे कोई और दिखायी नहीं देता। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और यथासमय महाराज नाभिकी पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे ऊर्ध्वरेता मुनियोंका धर्म प्रकट करनेके लिये शुद्ध सत्त्वमय विग्रहसे प्रकट हुए। नाभिनन्दनके अंग जन्मसे ही भगवान् विष्णुके वज्र-अंकुश आदि चिन्होंसे युक्त थे। सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंसे युक्त होनेके कारण महाराज नाभिने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा। राजा नाभिने यह देखा कि ऋषभदेव प्राणिमात्रको अत्यन्त प्रिय लगते हैं और राज्य-कार्य सँभालनेयोग्य भी हो गये हैं, तब उन्होंने इन्हें धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये राज्याभिषिक्त कर दिया और स्वयं पत्नी मेरुदेवीके सहित बदरिकाश्रम चले गये और वहाँ भगवान्‌की आराधना करते हुए भगवत्स्वरूपमें लीन हो गये।

भगवान् ऋषभदेव सर्वधर्मविज्ञाता होकर भी ब्राह्मणोंकी बतलायी हुई विधिसे साम, दानादि नीतिके अनुसार ही पुत्रवत् प्रजाका पालन करते थे। एक बार इन्द्रने ईर्ष्यावश इनके राज्यमें वर्षा नहीं की तो योगेश्वर भगवान् ऋषभने अपनी योगमायाके प्रभावसे अपने वर्ष अजनाभखण्डमें खूब जल बरसाया। आपने लोगोंको

गृहस्थधर्मकी शिक्षा देनेके लिये देवराज इन्द्रकी कन्या जयन्तीसे विवाह किया और उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवाले सौ पुत्र उत्पन्न किये।

भगवान् ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें भरत सबसे बड़े थे और थे बड़े भगवद्भक्त। श्रीऋषभदेवजीने पृथ्वीका पालन करनेके लिये उन्हें राजगद्दीपर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियोंको भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित शिक्षा देनेके लिये बिलकुल विरक्त हो गये।

निरन्तर परमानन्दका अनुभव करते हुए दिगम्बररूपसे इतस्ततः भ्रमण करते हुए भगवान् ऋषभदेवका शरीर कुटकाचलके वनोंमें घूमते हुए प्रबल दावाग्निकी लाल-लाल लपटोंमें लीन हो गया।

(१८) श्रीहयग्रीव-अवतारकी कथा—सृष्टि-रचनामें अत्यन्त व्यस्त श्रीब्रह्माजीके देखते-देखते मधु और कैटभ नामके दैत्योंने वेदोंको हर लिया और तुरंत रसातलमें जा पहुँचे। वेदोंका हरण हो जानेपर ब्रह्माजीको बड़ा खेद हुआ। उनपर मोह छा गया। तब वह यह विचार करते हुए कि वेद ही तो मेरे नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं, वेद ही मेरे परम गुरु तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं; मैं वेदोंके बिना संसारकी उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ? वे भगवान् श्रीहरिकी शरण गये और उन्होंने हाथ जोड़कर भगवान्की स्तुति की। ब्रह्माजीकी स्तुतिको सुनकर भक्तवत्सल भगवान् वेदोंकी रक्षा करनेके लिये हयग्रीवरूप धारण करके रसातलमें जा पहुँचे और वहाँ जाकर परमयोगका आश्रय ले शिक्षाके नियमानुसार उदात्त आदि स्वरोंसे युक्त उच्च-स्वरसे सामवेदका गान करने लगे। उन दोनों असुरोंने वह शब्द सुनकर वेदोंको कालपाशसे आबद्ध करके रसातलमें फेंक दिया और स्वयं उसी ओर दौड़े जिधरसे ध्वनि आ रही थी। इसी बीचमें हयग्रीवरूपधारी भगवान् श्रीहरिने रसातलमें पड़े हुए उन सम्पूर्ण वेदोंको ले लिया तथा ब्रह्माजीको पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदिरूपमें आ गये।

इधर वेदध्वनिके स्थानपर आकर मधु और कैटभ दोनों दानवोंने जब कुछ नहीं देखा तब वे बड़े वेगसे फिर वहीं लौट आये, जहाँ उन वेदोंको नीचे डाल रखा था। वहाँ देखनेपर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखायी दिया। तब वे बलवानोंमें श्रेष्ठ दोनों दानव पुनः उत्तम वेगका आश्रय लेकर रसातलसे शीघ्र ही ऊपर उठे तो आकर देखते हैं कि आदिकर्ता भगवान् योगनिद्राका आश्रय लेकर शेषशय्यापर सो रहे हैं। उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर हँसने लगे और उन्होंने भगवान्को जगाया। फिर तो उन दोनों असुरोंका भगवान्से युद्ध आरम्भ हो गया। भगवान् मधुसूदनने ब्रह्माजीका मान रखनेके लिये तमोगुण और रजोगुणसे आविष्ट शरीरवाले उन दोनों दैत्यों मधु और कैटभको मार डाला। इस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तमने हयग्रीवरूप धारणकर ब्रह्माजीका शोक दूर किया। (महाभारत)

एक अन्य कथाके अनुसार दितिपुत्र हयग्रीव नामक दैत्यने देवीकी आराधनाकर उन्हें सन्तुष्टकर अमर होनेका वर माँगा। '**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**' देवीके ऐसा कहनेपर हयग्रीवने कहा—अच्छा तो हयग्रीवके ही द्वारा मारा जाऊँ। भगवान्की माया जगन्मोहिनी जगदम्बा इस दैत्यको यह वरदान देकर अन्तर्धान हो गयीं। दैत्यने सोचा हयग्रीव तो एक मैं ही हूँ, मैं भला अपनेको क्यों मारने लगा और दूसरा मुझे मार सकता नहीं, अतः उन्मत्त होकर अपने अत्याचारसे पृथ्वीको व्याकुल करने लगा। तब अकारणकरुण, करुणावरुणालय भगवान्ने हयग्रीव-अवतार धारणकर इस दैत्यका वध किया।

(१९) ध्रुववरदेन (श्रीहरि)-के अवतारकी कथा—स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपाद थे, जिनकी दो रानियाँ थीं—एक सुनीति, दूसरी सुरुचि। छोटी रानी सुरुचिपर राजाका बड़ा प्रेम था, उससे उत्तम नामक पुत्र हुआ और सुनीतिसे ध्रुवजी हुए। राजा प्रायः सुरुचिके महलमें रहते थे। एकदिन राजा उत्तानपाद सुरुचिके

पुत्र उत्तमको गोदमें बिठाकर प्यार कर रहे थे, उसी समय ध्रुवजी बालकोंके साथ खेलते-खेलते वहाँ पहुँच गये और पिताकी गोदमें बैठना चाहे परंतु सुरुचिके भयसे राजाने इनकी ओर देखा भी नहीं। ये बालक थे, इससे सिंहासनपर स्वयं चढ़ सकते नहीं थे, अतः इन्होंने कई बार पिताको पुकारा, परंतु राजाने ध्यान नहीं दिया। तब सुरुचि राजाके समीप ही बड़े अभिमानपूर्वक बोली—'वत्स! तू राजाकी गोदमें सिंहासनपर बैठनेकी इच्छा करता है, तू उसके योग्य नहीं है। तू यह इच्छा न कर, क्योंकि तू हमारे गर्भसे नहीं उत्पन्न हुआ। तू राजसिंहासनका अधिकारी तभी होता जब हमारे उदरसे तेरा जन्म होता। तू बालक है, नहीं जानता है कि तू अन्य स्त्रीका पुत्र है। जा पहले तपके द्वारा भगवान्‌को सन्तुष्टकर, उनसे वर माँग कि मेरा जन्म सुरुचिसे हो, तब हमारा पुत्र होकर राजाके आसनका अधिकारी हो सकता है। अभी तेरा या तेरी माँका इतना पुण्य नहीं है।' अपने और अपनी माताके विषयमें ऐसे निरादरभरे और हृदयमें बिंधनेवाले विषैले वचन सुन ध्रुवजी स्तब्ध-से रह गये और लम्बी-लम्बी श्वासें भरने लगे।

राजा यह सब देखते-सुनते रहे, परंतु कुछ न बोले। बालक ध्रुव चीख मारकर रोते, ऊर्ध्व श्वास लेते, ओठ फड़फड़ाते हुए अपनी माँके पास आये। माँने यह दशा देख तुरंत गोदमें उठा लिया। संगके बालकोंने समस्त वृत्तान्त सुनाया। तब वह बोली—वत्स! तू किसीके अमंगलकी इच्छा न कर, कोई दुःख दे तो उसे सह लेना चाहिये। सुरुचिके वचन बहुत उत्तम और सत्य हैं। वस्तुतः हम दुर्भगा, हतभाग्या ही हैं। ध्रुवने पूछा—माँ! मैं और उत्तम दोनों समानरूपसे राजकुमार हैं, तब उत्तम क्यों उत्तम है और क्यों मैं अधम हूँ? राजसिंहासन क्यों उत्तमके योग्य है और क्यों मेरे योग्य नहीं है? सुनीतिने उत्तर दिया—बेटा! सुरुचि और उसके पुत्र उत्तमने पूर्वजन्ममें बड़ा-भारी पुण्य किया है, इसीसे वे राजाके विशेष प्रेमभाजन हैं, राजसिंहासनासीन होनेके अधिकारी हैं। पुण्यसे ही राजसिंहासन मिलता है। यदि तुझे भी राजसिंहासनपर बैठनेकी इच्छा है तो विमाताने जो यथार्थ बात कही है, उसीका द्वेषभाव छोड़कर पालन कर और श्रीअधोक्षज भगवान्‌के चरण-कमलोंकी आराधना कर। देख, उन श्रीहरिके चरण-कमलोंकी आराधना करनेसे ही श्रीब्रह्माजीको भी वह सर्वोत्तम पद प्राप्त हुआ है, जिसकी मुनिजन भी वन्दना करते हैं।

माताके ऐसे मोहतमनाशक वचन सुन बालक ध्रुव यही निश्चयकर, माताको प्रणामकर और आशीर्वाद लेकर चल दिये। श्रीनारदमुनिने जब यह सब सुना तो बड़े विस्मित हुए कि 'अहो! क्षत्रियोंका कैसा अद्भुत तेज है? वे थोड़ा-सा भी मान-भंग नहीं सह सकते। पाँच वर्षका बालक इसको भी सौतेली माँका कटु-वचन नहीं भूलता है।' प्रथम तो श्रीनारदजीने इन्हें आकर समझाया-बुझाया कि घर लौट चलो, हम तुम्हें आधा राज्य दिला देंगे। भगवान्‌की आराधना क्या खेल है? योगी-मुनिसे भी पार नहीं लगता। (इत्यादि वचन परीक्षार्थ कहे) ध्रुवजीने उत्तर दिया—'मैं घोर क्षत्रिय स्वभावके वशमें हूँ। सुरुचिके वचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयमें छिद्र हो गया है। आपके वचन इसीसे उसमें नहीं ठहरते हैं। आपने कृपा करके दर्शन दिया तो अब ऐसी कृपा करिये कि मैं शीघ्र ही श्रीहरिको सन्तुष्टकर वह पद प्राप्त कर लूँ, जो त्रिलोकीमें सबसे श्रेष्ठ है तथा जिसपर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं।' देवर्षिने कृपा करके द्वादशाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**)-का उपदेश किया और मधुवनमें जाकर आराधना करनेका आदेश दिया।

ध्रुवने मधुवनमें पहुँचकर आराधना आरम्भ कर दी। आराधनाकालमें ध्रुवने शरीर-निर्वाहार्थ तीन-तीन रात्रिके अन्तरसे केवल कैथा और बेर खाकर एक मास व्यतीत किया। दूसरे महीनेमें छः-छः दिनके अन्तरसे सूखे पत्ते और घास खाकर भगवद्भजन किया। तीसरेमें नौ-नौ दिनपर केवल जल पीकर आराधना करते

रहे। चौथे महीनेमें बारह-बारह दिनके अनन्तर केवल वायु पीकर भगवद्-ध्यान करते रहे। पाँचवे महीनेमें तो उन्होंने श्वास लेना भी बन्द कर दिया। भगवान्की अतिशय प्रबल मायाने इसी बीच विविध विघ्न किये, परंतु ध्रुवकी ध्रुवनिष्ठाके सामने उसे पराजित ही होना पड़ा। ध्रुवके तपसे तप्त देवताओंने भगवान् श्रीहरिसे पुकार की। भगवान् तो ऐसे महाभागवतका दर्शन करनेके लिये लालायित ही रहते हैं, वे गरुड़पर आरूढ़ होकर मधुवनमें आ गये। प्रभुका दर्शन पाकर बालक ध्रुवको परम आनन्द हुआ, वह प्रेमसे अधीर हो उठा, उसने पृथ्वीपर दण्डके समान पड़कर उन्हें प्रणाम किया। हाथ जोड़े हुए, सिर झुकाये, विनयावनत बालक ध्रुव प्रभुके सामने खड़े होकर स्तुति करना चाहकर भी नहीं कर पाते थे। सर्वान्तर्यामी श्रीहरिने कृपा करके अपने वेदमय शंखको उनके कपोलसे छुआ दिया। ध्रुवको तत्काल दिव्य वाणी प्राप्त हो गयी और वे भगवान्की स्तुति करने लगे। इस प्रकार भगवान्ने ध्रुवको वर देनेके लिये श्रीहरि अवतार लिया।

(२०) श्रीधन्वन्तरि-अवतारकी कथा—क्षीरसागरका मन्थन होनेपर आप अमृत-कलश लेकर प्रकट हुए। दैत्योंद्वारा छीने गये यज्ञोंके भाग तथा अमृत देवताओंको आपकी ही कृपासे मिला। आपने संसारको आयुर्वेद विद्या देकर अनन्त रोगोंसे मुक्त किया।

अमृत-वितरण हो जानेपर देवराज इन्द्रने इनसे देववैद्यका पद स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। इन्होंने इन्द्रके इच्छानुसार अमरावतीमें निवास करना स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद पृथ्वीपर अनेक व्याधियाँ फैलीं। तब इन्द्रकी प्रार्थनासे भगवान् धन्वन्तरिने काशिराज दिवोदासके रूपमें पृथ्वीपर अवतार धारण किया। लोक-कल्याणार्थ विविध व्याधियोंको नष्ट करनेके लिये स्वयं भगवान् विष्णु धन्वन्तरिके रूपमें कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको प्रकट हुए थे। साक्षात् विष्णुके अंशसे प्रकट होनेसे ये भी श्रीहरिके समान श्याम एवं दिव्य थे।

(२१) श्रीबदरीपति (नर-नारायण)-अवतारकी कथा—दक्षकन्या धर्मकी पत्नी मूर्तिके गर्भसे भगवान् नर-नारायणके रूपमें प्रकटे। उन्होंने आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाले उस भगवदाराधनरूप कर्मका उपदेश किया, जो वास्तवमें कर्म-बन्धनसे छुड़ानेवाला और नैष्कर्म्य स्थितिको प्राप्त करानेवाला है। उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्मका अनुष्ठान किया। वे आज भी बदरिकाश्रममें उसी कर्मका आचरण करते हुए विराजमान हैं। इन्द्रने यह आशंका करके कि ये अपने घोर तपके द्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं, उनका तप भ्रष्ट करनेके लिये सदल-बल कामदेवको भेजा। उनकी महिमा न जाननेके कारण गर्वमें आकर कामदेव वहाँ पहुँचकर अप्सरागण, वसन्त, मन्द-सुगन्ध वायु और स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे उन्हें बेधनेकी चेष्टा करने लगा। इन्द्रकी कुचाल जानकर, कुछ भी विस्मय न करते हुए आदिदेव नारायणने उन भयसे काँपते हुए कामादिसे हँसकर कहा—हे मदन! हे मन्दमलय मारुत! हे देवांगनाओ! डरो मत। हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। उसे ग्रहण किये बिना ही जाकर हमारा आश्रम सूना मत करो।

अभयदायक दयालु भगवान्के ऐसा कहनेपर लज्जासे सिर झुकाये हुए देवगणने करुण स्वरसे उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् भगवान्ने बहुत-सी ऐसी रमणियाँ प्रकट कीं, जो अद्भुत रूप-लावण्यसे सम्पन्न और वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित थीं तथा भगवान्की सेवा कर रही थीं। साक्षात् लक्ष्मीके समान रूपवती स्त्रियोंको देखकर उनके रूप-लावण्यकी महिमासे कान्तिहीन हुए देवगण उनके अंगकी दिव्य गन्धसे मोहित हो गये। अब उनका गर्व चूर-चूर हो गया। तब अत्यन्त दीन हुए उन अनुचरोंसे भगवान् हँसकर बोले—इनमेंसे किसी एकको, जो तुम्हारे अनुरूप हो स्वीकार कर लो। वह स्वर्गलोककी भूषण होगी। देवगणने 'जो आज्ञा' कहकर उनको प्रणाम किया और उर्वशी नामक अप्सराको साथ लेकर स्वर्गलोकमें इन्द्रके पास चले गये।

जैमिनीय भारतमें लिखा है—सहस्रकवची दैत्यने तपस्याद्वारा सूर्यभगवान्‌को प्रसन्न किया और वर माँगा कि मेरे शरीरमें एक हजार कवच हों। जब कोई एक हजार वर्ष युद्ध करे, तब कहीं एक कवच टूट सके, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जाय। उसीको मारनेके लिये नर-नारायणका अवतार हुआ था। एक भाई हजार वर्षतक युद्ध करता और एक कवच तोड़कर मृतक-सा बन जाता, तब दूसरा भाई उसे मन्त्रसे जिलाकर और स्वयं एक हजार वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़कर मृतक-सा बन जाता। तब पहला भाई इनको जिलाता और स्वयं युद्ध करता। इस तरहसे लड़ते-लड़ते जब एक कवच रह गया, तब दैत्य भागकर सूर्यमें लीन हो गया और तब नर-नारायण भगवान् बदरिकाश्रममें जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापरमें कर्ण हुआ, जो गर्भसे ही कवच धारणकर पैदा हुआ। तब नर-नारायणने ही अर्जुन और कृष्ण हो उसे मारा।

(२२) श्रीदत्तात्रेय-अवतारकी कथा—महर्षि अत्रिकी तपस्यासे चित्रकूटमें माता अनसूयाके गर्भसे भगवान् दत्तात्रेयरूपमें प्रकट हुए। वर देते समय भगवान्‌ने कहा था कि मैंने अपनेको तुम्हें (दत्त) दे दिया, अतः इनका दत्त नाम पड़ा। भगवान् दत्तात्रेयके चरणोंकी सेवासे राजा यदु तथा सहस्रार्जुन आदिने योग-भोग तथा मोक्षकी भी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं।

(२३) श्रीकपिल-अवतारकी कथा—महर्षि कर्दमकी धर्मपत्नी देवहूतिके गर्भसे विन्दुसरोवरके निकट नौ बहनोंके बाद भगवान् कपिलदेव प्रकट हुए। इनके केश सुवर्णके समान कपिल वर्णके थे, इसीलिये इनका नाम कपिल हुआ। इन्होंने अपनी माताको आत्मज्ञानका उपदेश दिया, जिससे वे भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको समझकर स्वल्प समयमें ही, मोक्षपदको प्राप्त कर लीं। श्रीकपिलदेवजी माताको उपदेश देकर उनकी अनुमति लेकर बिन्दुसरसे समुद्रतटपर जा विराजे। जहाँ अश्वमेधयज्ञके अश्वको खोजते हुए राजा सगरके साठ हजार पुत्र भागवत-अपराधरूप पापसे भस्म हो गये। आपकी कृपासे ही गंगाजी धरातलपर आयीं और उन सगर-पुत्रोंका तो उद्धार हुआ ही आज भी जगत्‌का कल्याण हो रहा है। आज भी गंगा-सागर-संगममें श्रीकपिलभगवान् विराजमान हैं। आपने ऋषियोंको सांख्यशास्त्रका उपदेश दिया। आप सांख्ययोगके आचार्य हैं।

(२४) श्रीसनकादि-अवतारकी कथा—सृष्टिके आरम्भमें श्रीब्रह्माजीने लोकोंको रचनेकी इच्छासे तप किया। ब्रह्माके अखण्ड तपसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने तप अर्थवाले 'सन्' नामसे युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमाररूपसे अवतार ग्रहण किया। इस अवतारके द्वारा भगवान्‌ने पहले कल्पके भूले हुए आत्मज्ञानको ऋषियोंके प्रति यथावत् उपदेश किया। इन्होंने आदिराज पृथुको भी उपदेश दिया था। सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न होनेसे ये बहुकालीन हैं। परंतु सदा पाँच वर्षके बालकके रूपमें ही रहते हैं, जिससे मायाका विकार न उत्पन्न हो सके। ये सदा मनसे अपने ब्रह्म-स्वरूपमें लीन रहते हैं और जीवन्मुक्त हैं। इनको उत्पन्न करके ब्रह्माजीने जब यह आज्ञा दी कि जाकर प्रजासृष्टिकी रचना करो। तब इन्होंने प्रपंच-विस्तारका अनौचित्य एवं वैराग्यपूर्वक भगवद्भजनका औचित्य दिखाकर ब्रह्माजीको निरुत्तरकर वनकी राह ली। आप अखण्ड ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं और अपने तपसे समस्त लोकोंका सदा कल्याण करते हैं।

श्रीरामजीके चरणचिह्न

अंकुस अंबर कुलिस कमल जव धुजा धेनुपद।
संख चक्र स्वस्तिक जंबूफल कलस सुधाह्रद॥
अर्धचंद्र षटकोन मीन बिंदु ऊरधरेखा।

अष्टकोन त्रयकोन इंद्रधनु पुरुषविशेषा ॥
सीतापति पद नित बसत एते मंगलदायका।
चरन चिह्न रघुबीर के संतन सदा सहायका ॥ ६ ॥

सीतापति श्रीरामचन्द्रजीके श्रीचरणोंमें अंकुश, अम्बर, वज्र, कमल, जव, ध्वजा, गोपद, शंख, चक्र, स्वस्तिक, जम्बूफल, कलश, अमृतकुण्ड, अर्धचन्द्र, षट्कोण, मीन, बिन्दु, ऊर्ध्वरेखा, अष्टकोण, त्रिकोण, इन्द्रधनुष और पुरुष-विशेष—ये बाईस चिह्न विराजते हैं। राघवेन्द्रसरकारके ये चरणचिह्न भक्तोंको मंगलदायक तथा सदा सहायक हैं ॥ ६ ॥

श्रीप्रियादासजी चरणचिह्नोंकी महिमाका निम्न कवित्तोंमें वर्णन करते हुए कहते हैं—

सन्तनि सहाय काज धारे नृपराज राम चरण सरोजन में चिह्न सुखदाइये।
मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताके लिये अंकुश लै धार्‌यो हिये ध्याइये ॥
सठता सतावै सीत ताही ते अम्बर धर्‌यो हर्‌यो जन शोक ध्यान कीन्हे सुख पाइये।
ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबे को कंज मन लाइये ॥ १५ ॥

सन्तोंकी सहायताके लिये राजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने चरणकमलोंमें सुख देनेवाले इन चिह्नोंको धारण किया है। मनरूपी उन्मत्त हाथी किसी भी प्रकार वशमें नहीं आता है, इसलिये भगवान्‌ने अंकुशका चिह्न धारण किया है। मनोजयके लिये अंकुशका ध्यान करना चाहिये। जड़तारूपी जाड़ा भक्तोंको दुःख देता है, इसलिये वस्त्रचिह्न धारण करके प्रभुने उनका शोक दूर किया, भक्तजन ध्यान करके सुख प्राप्त करें। इसी प्रकार पापरूपी पहाड़ोंको फोड़नेके लिये वज्रका चिह्न और भक्तिरूपी नवनिधि जोड़नेके लिये कमलका चिह्न धारण किया, इनका ध्यान कीजिये ॥ १५ ॥

जव हेतु सुनो सदा दाता सिद्धि विद्या ही को सुमति सुगति सुख सम्पत्ति निवास है।
छिनु में सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभैको विश्वास है ॥
गोपद सो है हैं भवसागर नागरनर जो पै नैन हिय के लगावै मिटै त्रास है।
कपट कुचाल माया बल सबै जीतिबे को दर को दरस कर जीत्यो अनायास है ॥ १६ ॥

जव चिह्नके धारणका कारण सुनिये। यह सर्वविद्या और सिद्धियोंका दाता है, इसमें सुमति, सुगति और सुख-सम्पत्तिका निवास है, ध्यान करनेवालोंको इनकी प्राप्ति होती है। कलियुगकी कुटिल गति देखकर भक्तलोग क्षणभरमें ही भयभीत हो जाते हैं, विशेष करके उनको निर्भयताका विश्वास दिलानेके लिये भगवान्‌ने अपने चरणोंमें ध्वजाका चिह्न धारण किया है। चतुर भक्तजन यदि हृदयके नेत्र गोपदचिह्नमें लगायें तो अपार भवसागर गायके खुरके समान छोटा (सहज पार करनेयोग्य) हो जाता है और सभी संसारी कष्ट मिट जाते हैं। मायाका कपट, मायाकी कुचाल और मायाके सम्पूर्ण बलको जीतनेके लिये प्रभुने शंखचिह्न धारण किया, इसका ध्यान करके भक्तोंने सहज ही मायाको जीत लिया ॥ १६ ॥

कामहू निशाचर के मारिबे को 'चक्र' धर्‌यो मंगल कल्याण हेतु 'स्वस्तिक' हूँ मानिये।
मंगलीक 'जंबूफल' फल चारि हूँ कौ फल कामना अनेक विधि पूर्ण नित ध्यानिये ॥
'कलश' 'सुधा को सर' भर्‌यो हरि भक्ति रस, नैन पुट पान कीजै जीजै मन आनिये।
भक्ति को बढ़ावै और घटावै तीन तापहू को, 'अर्धचन्द्र' धारण ये कारण हैं जानिये ॥ १७ ॥

भगवान्‌ने कामरूपी निशाचरको मारनेके लिये अपने चरणमें चक्रचिह्न धारण किया। ध्यान करनेवालेके

मंगल और कल्याणके लिये स्वस्तिकरेखा धारण की, ऐसा मानिये। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों फलोंका फल जम्बूफल मंगल करनेवाला और अनेक प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, इसका नित्य ध्यान कीजिये। अमृतका कलश और अमृतका कुण्ड—ये चिह्न इसलिये धारण किये कि ध्याताके हृदयमें भक्तिरस भरे। ध्याननेत्रके कटोरेसे पीकर सदा अमर रहें, भक्तजन मनमें ध्यान करें। अर्धचन्द्रके धारणका कारण यह जानिये कि वह ध्यान करनेवालेके तीनों तापोंको नष्ट करे और भक्तिको बढ़ाये॥ १७॥

विषया भुजंग बलमीक तनमाहिं बसै दास कौ न डसै याते यत्न अनुसर्‌यौ है।
'अष्टकोन' 'षटकोन' औ 'त्रिकोन' जंत्र किये जिये जोई जानि जाके ध्यान उर भर्‌यो है॥
'मीन' 'बिन्दु' रामचन्द्र कीन्ह्यो वशीकर्ण पाँय ताहि ते निकाय जन मन जात हर्‌यो है।
सागर संसार ताको पारावार पावें नाहिं 'ऊर्ध्वरेखा' दासन को सेतु बन्ध कर्‌यो है॥ १८॥

काम आदि विषयरूपी साँप शरीररूपी बाँबीमें बसते हैं, वे भक्तोंको न डँसें, इसलिये यह उपाय किया है कि अष्टकोण, षट्कोण और त्रिकोण यन्त्र चिह्नोंको धारण किया, ऐसा जानकर जिस-जिसने हृदयमें इनका ध्यान किया, वे विषयरूपी सर्पसे बचे और जीवित रहे अर्थात् उनका निरन्तर भगवान्‌में प्रेम बना रहा। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने चरणकमलमें मीन और बिन्दुचिह्नोंको वशीकरण यन्त्र बनाकर धारण किया, इसीसे बहुत-से भक्तोंके मन हरे जाते हैं। संसाररूप सागर अपार है, जिसका कोई पार नहीं पा सकता, इसलिये ऊर्ध्वरेखा धारणकर पुल बाँध दिया है। ध्यान करनेवाले सहजमें ही संसार-सागर पार कर जाते हैं॥ १८॥

'धनु' पद माहिं धर्‌यो हर्‌यौ शोक ध्यानिनको मानिनको मार्‌यो मान रावणादि साखिये।
'पुरुष विशेष' पदकमल बसायो राम, हेतु सुनो अभिराम श्याम अभिलाषिये॥
सूधो मन सूधी बैन सूधी करतूति सब ऐसो जन होय मेरो, याही के ज्यों राखिये।
जो पै बुधिवन्त रसवन्त रूप सम्पत्ति में, करि हिये ध्यान हरिनाम मुख भाषिये॥ १९॥

श्रीराघवेन्द्रसरकारने अपने श्रीचरणोंमें इन्द्रधनुषका चिह्न धारण करके ध्यान करनेवाले भक्तोंका दुःख दूर किया और रावण आदि अहंकारियोंके अहंकारका भी धनुषसे ही नाश किया, सो प्रसिद्ध है। पुरुषविशेष-चिह्न अपने पदकमलमें बसाया, उसका कारण सुनिये और श्यामसुन्दरको प्राप्त करनेकी अभिलाषा कीजिये। उनका कथन है कि हमारा भक्त यदि सरल मनवाला, सत्य, सरल वचनवाला और शुद्ध, सरल कर्मवाला हो तो इसी पुरुष चिह्नके समान मैं चरण-शरणमें रखूँगा। जो जन बुद्धिमान् हों, रूप-सम्पत्तिके रसिक हों, वे पूर्ववर्णित इन श्रीचरणचिह्नोंका हृदयमें ध्यान करके मुखसे भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते रहें॥ १९॥

द्वादश प्रधान भक्त

बिधि नारद संकर सनकादिक कपिलदेव मनुभूप।
नरहरिदास जनक भीषम बलि सुकमुनि धर्मस्वरूप॥
अंतरंग अनुचर हरिजू के जो इन कौ जस गावै।
आदि अंत लौं मंगल तिन को श्रोता बक्ता पावै॥
अजामेल परसँग यह निरनै परम धर्म को जान।
इन की कृपा और पुनि समझै द्वादस भक्त प्रधान॥ ७॥

श्रीब्रह्माजी, श्रीनारदजी, श्रीशंकरजी, श्रीसनकादिक, श्रीकपिलदेवजी महाराज, श्रीमनुजी, श्रीप्रह्लादजी,

श्रीजनकजी, श्रीभीष्मपितामहजी, श्रीबलिजी, महामुनि श्रीशुकदेवजी और श्रीधर्मराजजी—ये बारहों भगवान्‌के अन्तरंग सेवक हैं, जो इनके यशको सुनें और गायें, उन सभी श्रोता और वक्ताओंका आदिसे अन्ततक सर्वदा मंगल हो। अजामिलके प्रसंगमें धर्मराजका यह परमश्रेष्ठ निर्णय जानिये कि इन्हींकी कृपासे और दूसरे भक्त भक्तिके रहस्योंको समझते हैं, ये द्वादश प्रधान भक्त हैं॥ ७॥

यहाँ संक्षेपमें श्रीब्रह्माजी, श्रीनारदजी आदि इन भक्तोंका वर्णन प्रस्तुत है—

(१) श्रीब्रह्माजी

द्वादश प्रधान महाभागवतोंमें श्रीब्रह्माजी अग्रगण्य हैं। श्रीमद्भागवतजीमें भी यमराजजीने अपने दूतोंसे परमभागवतोंका वर्णन करते हुए श्रीब्रह्माजीकी गणना सर्वप्रथम की है, यथा—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते॥

(६।३।२०)

अर्थात् भगवान्‌के द्वारा निर्मित भागवतधर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है। उसे जानना बहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेता है, वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। दूतो! भागवतधर्मका रहस्य हम बारह व्यक्ति ही जानते हैं। ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, भगवान् शंकर, सनत्कुमार, कपिल, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म पितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज)।

सृष्टिके पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व प्रलयार्णवके जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकमात्र श्रीनारायणदेव शेषशय्यापर पौढ़े हुए थे। सृष्टिकाल आनेपर भगवान् नारायणकी नाभिसे एक परम प्रकाशमय कमल प्रकट हुआ और उसी कमलसे साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए। उस कमलकी कर्णिकामें बैठे हुए ब्रह्माजीको जब कोई लोक दिखायी नहीं दिया, तब वे आँखें फाड़कर आकाशमें चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे, इससे उनके चारों दिशाओंमें चार मुख हो गये। आश्चर्यचकित श्रीब्रह्माजी कुतूहलवश कमलके आधारका पता लगानेके लिये उस कमलकी नालके सूक्ष्म छिद्रोंमें होकर उस जलमें घुसे। परंतु दिव्य सहस्रों वर्षोंतक प्रयत्न करनेपर भी कुछ भी पता न मिलनेपर अन्तमें विफल मनोरथ हो, वे पुनः कमलपर लौट आये। तदनन्तर अव्यक्त वाणीके द्वारा तप करनेकी आज्ञा पाकर श्रीब्रह्माजी एक सहस्र दिव्य वर्षपर्यन्त एकाग्रचित्तसे कठिन तप करते रहे। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने लोकका एवं अपना दर्शन कराया। सफल-मनोरथ श्रीब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने उन्हें भागवत-तत्त्वका चार श्लोकोंमें उपदेश दिया, जिसे चतुःश्लोकी भागवत कहते हैं। उपदेश देकर भगवान्‌ने कहा—ब्रह्माजी! आप अविचल समाधिके द्वारा मेरे इस सिद्धान्तमें पूर्ण निष्ठा कर लो। इससे तुम्हें कल्प-कल्पमें विविध प्रकारकी सृष्टि-रचना करते रहनेपर भी कभी मोह नहीं होगा। फिर भगवान्‌ने अपने संकल्पसे ही ब्रह्माजीके हृदयमें सम्पूर्ण वेद-ज्ञानका प्रकाश कर दिया—

यथा—'**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः**'—भगवान्‌ने अपने संकल्पसे ही ब्रह्माजीको उस वेदज्ञानका दान किया, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् लोग भी मोहित हो जाते हैं। कालान्तरमें श्रीनारदजीकी सेवासे सन्तुष्ट होकर श्रीब्रह्माजीने उनको चतुःश्लोकी भागवत-तत्त्वका उपदेश किया और देवर्षि नारदजीने वह तत्त्व-ज्ञान भगवान् वेदव्यासजीको सुनाया और श्रीव्यासजीने चार श्लोकोंसे ही अठारह

हजार श्लोकोंके रूपमें श्रीमद्भागवत-महापुराणकी रचनाकर उसे श्रीशुकदेवजीको पढ़ाया। इस प्रकार श्रीमद्भागवतका लोकमें विस्तार हुआ।

भगवान्‌के द्वारा प्राप्त उपदेशका निरन्तर चिन्तन करते रहनेसे तथा भगवत्स्वरूपका ध्यान करते रहनेसे श्रीब्रह्माजीका अपने मन-वाणी और इन्द्रियोंपर इतना अधिकार हो गया है कि सदा-सर्वदा जगत्-प्रपंचमें लगे रहनेपर भी इनकी वृत्तियाँ स्वप्नमें भी असत्‌की ओर नहीं जाती हैं।

श्रीब्रह्माजीके परम सौभाग्यका क्या कहना है? जो कि ये भगवान्‌के समस्त अवतारोंके दर्शन-स्तवन करते हैं। **'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं'** इसके अनुसार ब्रह्माजीके अधिकारकालमें ३६०० बार भगवान्‌के विविध अवतार होते हैं; क्योंकि एक कल्प ब्रह्माजीका एक दिन होता है और सौ वर्षकी ब्रह्माजीकी आयुमें ३६०० कल्प दिनके (उतने ही रात्रिके भी) होते हैं। साथ ही प्रायः अधिकांश अवतार ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे होते हैं।

(२) श्रीनारदजी

'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे' अर्थात् प्रजापति ब्रह्माजीकी गोदसे श्रीनारदजी उत्पन्न हुए। जब ब्रह्माजीने इन्हें भी सृष्टि-विस्तारकी आज्ञा दी तो श्रीनारदजीने यह कहकर कि 'अमृतसे भी अधिक प्रिय श्रीकृष्ण-सेवा छोड़कर कौन मूर्ख विषय नामक विषका भक्षण (आस्वादन) करेगा? ब्रह्माजीकी आज्ञाका अनौचित्य दिखाया। श्रीनारदजीकी यह बात सुनकर ब्रह्माजी रोषसे आग-बबूला हो गये और नारदजीको शाप देते हुए बोले—नारद! मेरे शापसे तुम्हारे ज्ञानका लोप हो जायगा, तुम पचास कामिनियोंके पति बनोगे। उस समय तुम्हारी उपबर्हण नामसे प्रसिद्धि होगी, फिर मेरे ही शापसे दासीपुत्र बनोगे, पश्चात् सन्त-भगवन्त-कृपासे मेरे पुत्ररूपमें प्रतिष्ठित हो जाओगे।

ब्रह्माजीके दिये हुए उस शापके ही कारण नारदजी आगे चलकर उपबर्हण नामके गन्धर्व हुए और चित्ररथ गन्धर्वकी पचास कन्याओंने उन्हें पतिरूपमें वरण किया। एक बार वे पुष्करक्षेत्रमें श्रीब्रह्माजीके स्थानपर गये और वहाँ श्रीहरिका यशोगान करने लगे। वहीं रम्भा अप्सराको नृत्य करते देखकर काममोहित होनेसे वीर्य स्खलित हो गया, जिससे कुपित होकर ब्रह्माजीने उन्हें शाप देते हुए कहा—तुम गन्धर्व-शरीरको त्यागकर शूद्रयोनिको प्राप्त हो जाओ। शाप सुनकर उपबर्हणने तत्काल उस शरीरको योग-क्रियाके द्वारा छोड़ दिया और कालान्तरमें द्रुमिल गोपकी पत्नी कलावतीके गर्भसे उत्पन्न होकर दासीपुत्र कहलाये।

द्रुमिल गोपके स्वर्ग सिधार जानेपर कलावती एक सदाचारी ब्राह्मणके घर सेवा-कार्य करती हुई जीवन-यापन करने लगी। उस समयका अपना चरित्र बताते हुए नारदजीने व्यासजीसे कहा कि मैंने ब्राह्मणके घर चातुर्मास्य बितानेके लिये सन्तोंमें निवास किया। ब्राह्मणकी आज्ञासे मैं मातासमेत सन्तोंकी सेवामें लगा रहता था और पात्रोंमें लगी हुई उनकी जूठन दिनमें एक बार खा लिया करता था, जिससे मेरे सब पाप दूर हो गये, हृदय शुद्ध हो गया, जैसा भजन-पूजन वे लोग करते थे, उसमें मेरी भी रुचि हो गयी।

चातुर्मास्य करके जाते हुए साधुओंने मुझ शान्त, विनम्र बालकको भगवान्‌के रूप-ध्यान और नाम-जपका उपदेश दिया। कुछ ही दिन बाद सायंकालमें गाय दुहाकर लौटते समय साँपके काटनेसे माताकी मृत्यु हो गयी। तब मैं भगवान्‌की कृपाका सहारा लेकर उत्तर दिशाकी ओर वनमें चला गया। थककर पीपलके नीचे बैठकर ध्यान करते हुए मेरे हृदयमें प्रभु प्रकट हो गये, मैं आनन्दमग्न हो गया। परंतु वह झाँकी तो विद्युत्‌की भाँति आयी और चली गयी। मैं पुनः दर्शन पानेके लिये व्याकुल हो गया। उस समय आकाशवाणीने आश्वासन देते हुए बतलाया—'अब इस जन्ममें तुम मुझे नहीं देख सकते। यह एक झाँकी तो मैंने तुम्हें

कृपा करके इसलिये दिखलायी कि इसके दर्शनमें तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय।' तब मैं दयामय भगवान्‌को प्रणामकर उनका गुण गाते हुए पृथ्वीपर घूमने लगा। समय आनेपर मेरा वह शरीर छूट गया, तब दूसरे कल्पमें मैं ब्रह्माजीका पुत्र हुआ। व्यासजी! अब तो जब मैं वीणा बजाकर प्रभु गुण-गान करता हूँ तो बुलाये हुए की तरह भगवान् मेरे चित्तमें तुरंत प्रकट हो जाते हैं।

नारदजी देवर्षि हैं तथा वेदान्त, योग, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत तथा भक्तिके मुख्य आचार्य हैं। पृथ्वीपर भक्ति-प्रचारका श्रेय आपको ही है। भक्तिदेवी तथा ज्ञान-वैराग्यका कष्ट दूर करते हुए वृन्दावनमें आपने प्रतिज्ञा की है कि—'हे भक्तिदेवी! कलियुगके समान दूसरा युग नहीं है, अतः कलियुगमें दूसरे धर्मोंका तिरस्कार करके और भक्ति-विषयक महोत्सवोंको आगे करके जन-जन और घर-घरमें तुम्हारी स्थापना न करूँ तो मैं हरिदास न कहाऊँ।'

स्वयं भक्तिने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि हे ब्रह्मपुत्र! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारे एक बारके उपदेशसे प्रह्लादने मायापर विजय तथा ध्रुवने ध्रुवपद प्राप्त कर लिया। यथा—

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि॥

(३) श्रीशंकरजी

द्वादश परम भागवतोंमें श्रीशिवजीका प्रमुख स्थान है। भगवान्‌के स्वभाव, प्रभाव, गुण, शील, माहात्म्य आदिके जाननेवालोंमें भी श्रीशिवजी अग्रगण्य हैं। भगवान्‌के नामके प्रभावको जैसा श्रीशिवजी जानते हैं, वैसा कोई जाननेवाला नहीं है। यथा—***'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥'*** भगवान् नीलकण्ठ श्रीशिवजीका हलाहलपान इस बातका साक्षी है। अमृतके लोभसे समुद्र-मन्थन किये जानेपर सर्वप्रथम कालकूट (महाविष) निकला, जो सब लोकोंको असह्य हो उठा। देवता और दैत्यतक उसकी झारसे झुलसने लगे।

तब भगवान्‌का संकेत पाकर सबके सब मृत्युंजय श्रीशिवजीकी शरणमें गये और जाकर उन्होंने उनकी स्तुति की। करुणावरुणालय भगवान् शंकर इनका दुःख देखकर सतीजीसे बोले—'देवि! प्रजा एवं प्रजापति महान् संकटमें पड़े हैं, इनके प्राणोंकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है, अतः मैं इस विषको पी लूँगा, जिससे इन सबका कल्याण हो।' भवानीने इस इच्छाका अनुमोदन किया। जगज्जननी जो ठहरीं तथा उन्हें विश्वनाथका प्रभाव भी सर्वथा ज्ञात था। फिर तो श्रीशिवजीने यह कहकर कि—

श्रीरामनामाखिलमन्त्रबीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम्।
हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भयम्॥

अर्थात् श्रीराम-नाम समस्त मन्त्रोंका बीज है। मेरा जीवन है तथा मेरे हृदयमें प्रविष्ट होकर स्थित है। फिर तो चाहे हलाहल पान करना हो, चाहे प्रलयानल पान करना हो, चाहे मृत्युके मुखमें ही क्यों न प्रवेश करना हो, भय ही किस बातका? हलाहल विष भी पान कर लिया और आश्चर्यकी बात यह है कि—***'खायो कालकूट भयो अजर अमर तनु।'***

हलाहलपानके प्रसंगसे श्रीशिवजीकी निष्ठा तथा जीवोंपर दयाका भाव प्रकाशमें आता है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—***'जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय। तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस॥'*** (रा०च०मा०) श्रीशिवजी स्वयं निरन्तर राम-नाम जपते रहते हैं। यथा—***'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥ संतत जपत संभु अबिनासी।***

भगवान् श्रीशंकरजी [पृ० ६६]

'श्रीकमला (श्रीलक्ष्मीजी) [पृ० ९३]

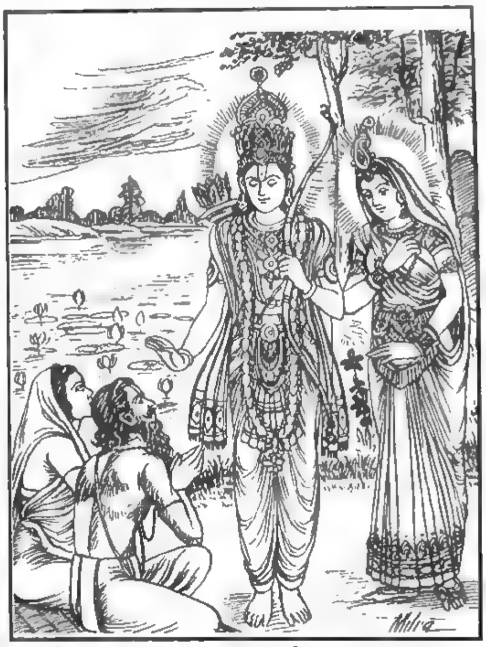
श्रीमनु एवं शतरूपाजी [पृ० ७४]

पृथु-अवतार [पृ० ५३]

श्रीरामजीके चरणचिह्न [पृ० ६१]

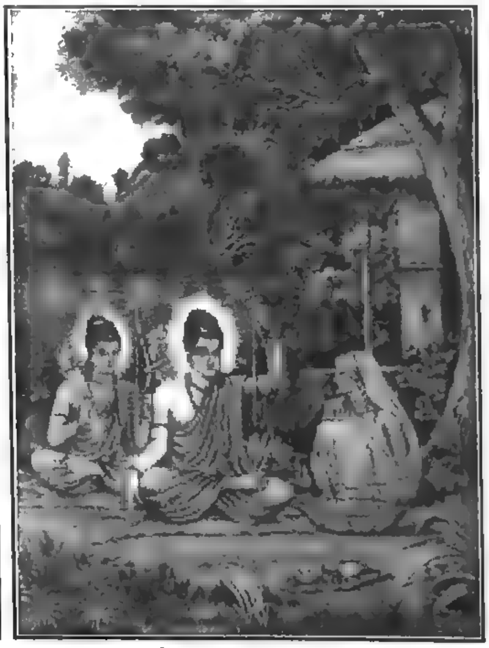
भक्तिमती शबरी [पृ० १०४]

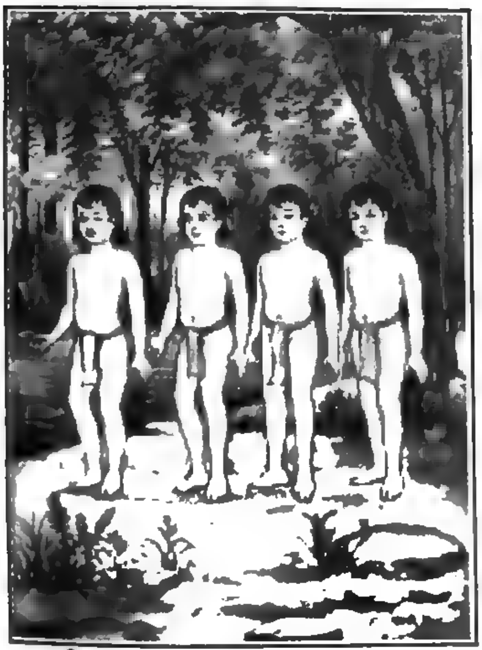
श्रीसनकादि-अवतार [पृ० ६१]

भक्तमाल-रचयिता श्रीनाभादासजी [पृ० ३८]

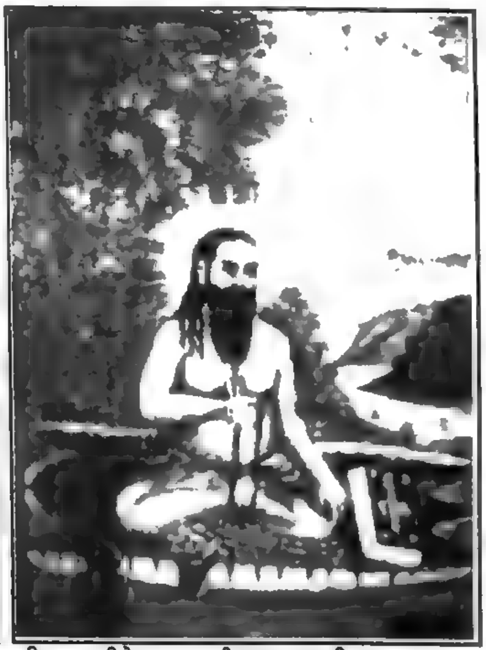
श्रीनाभाजीके गुरु श्रीअग्रदासजी [पृ० ३७]

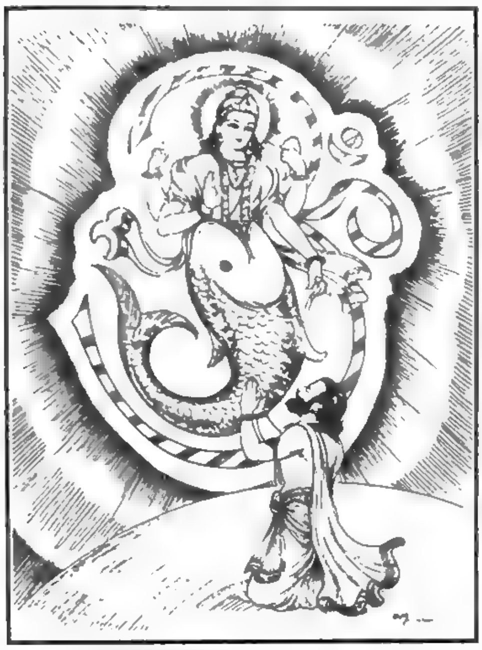
श्रीमत्स्यावतार [पृ० ४०]

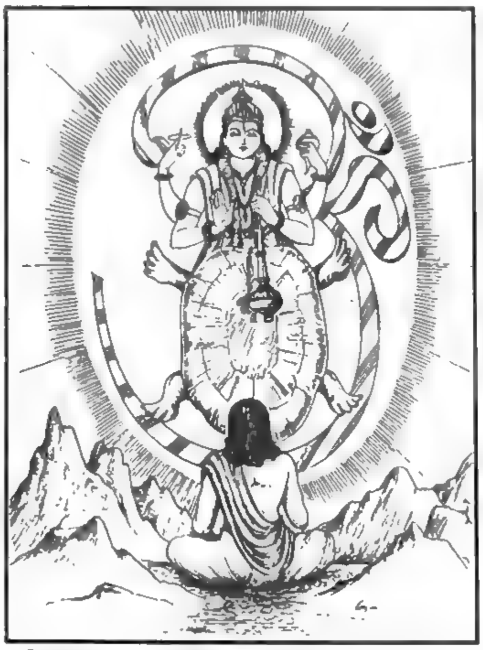
श्रीकमठ (कच्छप)-अवतार [पृ० ४१]

श्रीवराहावतार [पृ० ४१]

श्रीनृसिंहावतार [पृ० ४२]

पुराणपुरुषोत्तम भगवान् श्रीविष्णु

श्रीहयग्रीव-अवतार [पृ० ५८]

श्रीरामावतार [पृ० ४७]

श्रीकृष्णावतार [पृ० ४९]

श्रीकल्कि-अवतार [पृ० ५२]

सिव भगवान ग्यान गुन रासी॥' तथा अपनी अत्यन्त प्रिय काशीपुरीमें मरनेवाले प्रत्येक प्राणीको मृत्यु-क्षणमें श्रीराम-नामका उपदेश देकर उसे मुक्त कर दिया करते हैं यथा—*'अहं भवन्नामगृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या। मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव राम नाम॥'* (अध्यात्मरामायण ६।१५।६२) अर्थात् मैं आपके नामके गुणोंसे कृतार्थ होकर काशीमें भवानीसहित निवास करता हूँ और मरणासन्न प्राणियोंकी मुक्तिके लिये उनके कानमें आपका मन्त्र राम-नामका उपदेश करता हूँ। श्रीरामजीके साथ श्रीशिवजीका सम्बन्ध त्रिविध है। यथा—*'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'* अर्थात् श्रीशिवजी श्रीसीतापति रामचन्द्रजीके सेवक भी हैं, सखा भी हैं और स्वामी भी हैं। इस भावका प्रकाश उस समय होता है, जब श्रीरामचन्द्रजीने सेतुबन्धनके समय शिवलिंगकी स्थापना की और उनका नाम रामेश्वर रखा। नामकरण होनेके पश्चात् परस्पर 'रामेश्वर' शब्दके अर्थपर विचार होने लगा। सर्वप्रथम श्रीरामजीने इसमें तत्पुरुष समास बताते हुए अर्थ किया—**रामस्य ईश्वरः** (रामके ईश्वर), इसपर श्रीशिवजी बोले—भगवान्! यहाँ बहुव्रीहि समास है अर्थात् इसका अर्थ—**रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः** (राम ही ईश्वर हैं जिनके वह रामेश्वर)—इस भाँति हैं। ब्रह्मादिक देवता हाथ जोड़कर बोले कि—महाराज! इसमें कर्मधारय समास है अर्थात् **'रामश्चासौ ईश्वरश्च'** अथवा **'यो रामः स ईश्वरः'** (जो राम वही ईश्वर) ऐसा अर्थ है। इस आख्यायिकासे तीनों भाव स्पष्ट हैं। 'रामेश्वर' शब्दमें बहुव्रीहि समाससे शिवजीका सेवक-भाव, तत्पुरुषसे स्वामी-भाव तथा कर्मधारयसे सख्य-भाव पाया जाता है। ऐसे अद्भुत भक्त हैं श्रीशिवजी!

श्रीभक्तमालजीके टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्रीशिवजीकी भगवत्-भागवत-निष्ठाके सम्बन्धमें लिखते हैं—

द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा 'भागवत' अति सुखदाई, नाना विधि करि गाये हैं।
शिवजी की बात एक बहुधा न जानै कोऊ, सुनि रस सानै, हियौ भाव उरझाये हैं॥
'सीता' के वियोग 'राम' विकल विपिन देखि 'शंकर' निपुन 'सती' बचन सुनाये हैं।
'कैसे ये प्रवीन ईश कौतुक नवीन देखौ', मनेहूँ करत, अङ्ग वैसे ही बनाये हैं॥ २०॥

प्रसिद्ध बारह भक्तराजोंकी सुख देनेवाली कथाएँ श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें अनेक प्रकारसे गायी गयी हैं, परंतु शिवजीकी एक बातको प्रायः लोग नहीं जानते हैं। उस सुन्दर कथाको सुनकर हृदय भक्तिरसमें मग्न हो जाता है। ऐसे सुन्दर भावोंमें शंकरजीने अपने मनको उलझा रखा है। सीताके वियोगसे वनमें श्रीरामचन्द्रजीको व्याकुल देखकर सतीजीने भावप्रवीण शंकरजीसे कहा—यह कैसे सर्वज्ञ ईश्वर हैं? यह इनका नवीन कौतुक देखिये कि सीताजीके वियोगमें अति दुखी हो रहे हैं। तब शंकरजीने खूब समझाया कि यह तो प्रभुकी नरलीला है। परंतु सतीजीकी समझमें नहीं आया। मना करनेपर भी परीक्षा लेनेके लिये उन्होंने सीताजीका-सा रूप बनाया॥ २०॥

सीता ही सो रूप वेष लेशहू न फेर फार रामजी निहारि नेकु मन में न आई है।
तब फिर आयकै सुनाय दई शंकर को अति दुखपाय बहु बिधि समझाई है॥
इष्टको स्वरूप धर्‌यौ ताते तनु परिहर्‌यो पर्‌यो बड़ो शोच मति अति भरमाई है।
ऐसे प्रभु भाव पगे पोथिन में जगमगे लगे मोको प्यारे यह बात रीझि गाई है॥ २१॥

सतीजीका रूप और वेश-भूषा सीताजीके समान था, उसमें थोड़ा भी अन्तर नहीं था। श्रीरामजीने उसे देखा, पर उनके मनमें नाममात्र भी यह बात नहीं आयी कि ये सीताजी हैं, उनको सती ही माना। तब सतीजीने यह बात आकर शंकरजीको सुना दी। शंकरजीने अति दुःख पाकर सतीजीको अनेक प्रकारसे समझाया कि तुमने इष्टदेवी श्रीसीताजीका रूप धारण किया। इसलिये तुम्हारे इस शरीरमें अब मेरा पत्नीभाव नहीं रहा।

यह सुनकर सतीजीको बड़ा शोक हुआ और उनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। सतीजीने वह शरीर त्याग दिया, पुनः हिमालयके घरमें जन्म लेकर वे शंकरजीको प्राप्त कर सकीं। शिवजी श्रीरामजीकी भक्ति-भावनामें इस प्रकार मग्न रहते हैं कि इतिहास-पुराणोंमें उनकी कथा जगमगा रही है। प्रियादासजी कहते हैं कि मुझे शिवजी अत्यन्त प्यारे लगे, इसलिये रीझकर मैंने इस कथाका गान किया है॥ २१॥

चले जात मग उभै खेरे शिव दीठि परे, करे परनाम, हिय भक्ति लागी प्यारी है।
पार्वती पूछें, किये कौन को ? जू! कहौ मोसौं, दीखत न जन कोऊ, तब सो उचारी है॥
वरष हजार दश बीते तहाँ भक्त भयो, नयो और ह्वै है दूजी ठौर बीते धारी है।
सुनिकै प्रभाव, हरिदासनि सों भाव बढ्यो रढ्यो कैसे जात चढ्यो रङ्ग अति भारी है॥ २२॥

एक बार भगवान् शंकर देवी पार्वतीके साथ पृथ्वीपर विचर रहे थे, मार्गमें उजड़े ग्रामोंके दो टीले दिखायी पड़े। शंकरजीने नन्दीसे उतरकर दोनोंको प्रणाम किया; क्योंकि भक्ति आपको अत्यन्त प्यारी है। पार्वतीजीने पूछा—भगवन्! आपने किसको प्रणाम किया, यहाँ कोई देवता या मुनि दिखायी नहीं पड़ रहे हैं, तब शिवजीने उत्तर दिया कि पहले टीलेपर दस हजार वर्षपूर्व एक प्रेमी भक्त निवास करते थे और यह जो दूसरा टीला है, इसपर दस हजार वर्ष बाद एक भक्त निवास करेंगे। इसीसे ये दोनों स्थान वन्दनीय हैं। भक्तोंका ऐसा प्रताप सुनकर पार्वतीजीके हृदयमें भक्तोंके प्रति अधिक अनुराग बढ़ गया, उसका ऐसा गहरा रंग चढ़ा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है॥ २२॥

(४) श्रीसनकादिजी

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और सनत्सुजात—ये पाँचों ही ब्रह्माके मानस पुत्र हैं। कहीं-कहीं सनत्कुमार और सनत्सुजातको एक मानकर चार ही कहा गया है। कहते हैं कि जब ब्रह्मासे पाँच पर्वोवाली अविद्या दूर हो गयी तब ब्रह्माने अपनी शक्तिके साथ निर्मल अन्तःकरण होकर इनकी सृष्टि की। ब्राह्मीशक्तिने इन्हें सम्पूर्ण विद्या, उपासना-पद्धति और तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। इन सबके अध्ययन, तपस्या, शील-स्वभाव एक-से ही है। इनमें शत्रु, मित्र तथा उदासीनोंके प्रति भेददृष्टि नहीं। सर्वदा पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकोंकी भाँति ही ये विचरते रहते हैं। संसारके द्वन्द्व इनका स्पर्श नहीं कर पाते। रातदिन भगवान् श्रीकृष्णके नामका जप किया करते हैं। **'हरिः शरणम्'** मन्त्र तो इनके श्वासोच्छ्वासके साथ-साथ चलता रहता है, इसीसे ये सदा बालकरूप रहते हैं। इन्हें भगवान्की लीलासुधा पान करनेमें इतना आनन्द आता है कि प्रायः शेषनागके पास जाकर पूछ-पूछकर उसका रसास्वादन करते रहते हैं। इनका एक क्षण भी भगवान्के चिन्तन बिना नहीं बीतता। ये सर्वदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहते हैं। इनके उपदेशोंसे अनेकों व्यक्तियोंका कल्याण-साधन हुआ है। इन्होंने शुकदेव और भीष्मको अध्यात्मविद्याका सदुपदेश प्रदान किया है। महाराज पृथुने जो कि भगवान्के एक अंशावतार हैं—इनसे ही भागवत-सदुपदेश ग्रहण किया। इन्होंने प्रलयके कारण पहले कल्पके भूले हुए ज्ञानका ऋषियोंके प्रति उपदेश किया।

महाभारतमें सनत्सुजातमुनिने धृतराष्ट्रको बहुत सुन्दर उपदेश दिये हैं। उद्योगपर्वका एक महत्त्वपूर्ण अंश ही सनत्सुजातीयके नामसे प्रसिद्ध है। इस सनत्सुजातीयपर भगवान् श्रीशंकराचार्यकृत एक संस्कृत भाष्य भी है।

कभी-कभी ये लोग स्वयं परस्पर भगवच्चर्चा किया करते थे। किसी एकको वक्ता बना लेते और दूसरे सब श्रोता बनते। इस प्रकार बड़े मर्मकी बातें होतीं। श्रीभागवतकी वेदस्तुति एक ऐसे ही अवसरपर कही गयी थी। श्रीसनन्दनजीको प्रवचनकार बनाकर बाकी लोग श्रोता बन गये। इस प्रकार एक बड़े जटिल प्रश्नका

उत्तर संसारको मिल गया कि वेदोंमें भगवान्‌का वर्णन किस प्रकार होता है। भगवान्‌से अतिरिक्त वस्तुका निषेध करते हुए वेद अन्तमें किस प्रकार भगवान्‌में परिसमाप्त होते हैं, इस उपदेशमें इस बातका अत्यन्त विशद वर्णन हुआ है।

भगवान्‌के भक्तों, जीवन्मुक्तों, सिद्ध सन्तोंमें संसारके कलुषित विकार काम-क्रोधादि होते ही नहीं, न हो सकते हैं। फिर भी कभी-कभी सन्तोंके जीवनमें भी भगवदिच्छासे लीलारूपमें यह बात देखी जाती है। देखनेवाले लोग अपने कलुषित हृदयके कारण भ्रमवश महात्माओंकी लीलाओंको न समझकर उनमें काम-क्रोधकी कल्पना कर बैठते हैं। उनकी इन लीलाओंके द्वारा जगत्‌की हानि न होकर लाभ ही होता है। इनके सम्बन्धमें भी पुराणोंमें एक ऐसे ही प्रसंगका वर्णन आता है।

एक बार इन लोगोंने वैकुण्ठकी यात्रा की। इन्हें पाँच वर्षके नग्न बालकके रूपमें देखकर वहाँके द्वारपालों (जय-विजय) ने रोक दिया। इसपर इन्होंने डाँटते हुए कहा—

'भगवान्‌के नित्यधाम—सत्त्वके साम्राज्यमें यह विषमता उचित नहीं है। तुम दोनोंके मनमें कुछ गर्व और कपट अवश्य आ गया है, नहीं तो भगवान्‌के सबके लिये खुले हुए समधाममें भला यह कैसे हो सकता है? तुम हमपर शंका कर रहे हो। इस एकरस धाममें तुम दोनोंने पेटके कारण होनेवाले सांसारिक भेदभावको स्थान दिया है। इसलिये शीघ्र ही यहाँसे गिर जाओ।'

यद्यपि सन्तोंमें इस प्रकारका आवेश होना असम्भव है, फिर भी भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा थी। वे इन्हीं मुनियोंको निमित्त बनाकर जगत्‌में आना चाहते थे। कहाँ तो उनका स्थान और दर्शन इन मुनियोंके लिये भी अगम्य था और कहाँ वे बन्दर-भालू आदि के लिये भी सुलभ हो गये। भगवान् गाँवके ग्वालोंके बीचतकमें आये। इन मुनियोंको निमित्त बनाकर अपनेको सुलभ कर दिया।

भगवान्‌ने स्वयं आकर इनकी स्तुति की, ब्राह्मणोंकी महिमा गायी, प्रसन्नता प्रकट की, तब इन्होंने मुक्तस्वरसे कहा, 'प्रभो! हमें तो उचित-अनुचित कुछ जान नहीं पड़ता। इस अपराधके बदले आपकी जो इच्छा हो वही दण्ड दे दो। हमें सहर्ष शिरोधार्य है।' भगवान्‌ने मुसकराते हुए कहा, 'तुम्हारा कोई दोष नहीं। यह तो मेरी ही इच्छा थी। मैंने पहले ही सोच रखा था।' भगवान्‌की प्रेमभरी गम्भीरवाणी सुनकर सब-के-सब भगवान्‌की प्रदक्षिणा, नमस्कार करके आज्ञा पाकर उनके गुण गाते हुए स्वच्छन्द विचरण करने लगे।

यद्यपि ये सनकादिक सब-के-सब नित्यसिद्ध और निरन्तर परमार्थनिष्ठ हैं तथापि संसारमें गुरुशिष्य-परम्पराके स्थापनके लिये क्रमशः बड़े भाइयोंको छोटोंने गुरुके रूपमें माना था। विधिवत् उनसे दीक्षा लेकर श्रवण-मननादि किया। आज भी वे कहीं गुप्तरूपसे विचरण करते होंगे। सम्भव है कहीं हमारे पास ही हों परंतु हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ है कि उनके दर्शनसे अपना जन्म सफल कर सकें। उनकी कृपा ही वाञ्छनीय है।

(५) श्रीकपिलदेवजी

'सिद्धानां कपिलो मुनिः'

ब्रह्माजीने सर्गके आदिमें सृष्टिविस्तारके उद्देश्यसे कई पुत्र उत्पन्न किये। इनमेंसे एक कर्दम नामके प्रजापति भी थे। इन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे सन्तान उत्पन्न करनेके हेतु सरस्वतीनदीके तटपर दस हजार वर्षतक तप किया; इसके अनन्तर वे समाधिसहित तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोगके द्वारा शरणागतवत्सल भगवान्‌की भक्तिसहित उपासना करने लगे। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें दर्शन

दिया। कर्दम ऋषि भगवान्‌का योगिजनदुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे। उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि मुझे अपने समान स्वभाववाली और चतुर्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली सहधर्मिणी प्रदान कीजिये। भगवान्‌ने कहा—'हे प्रजापते! ब्रह्माजीका पुत्र स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नीके साथ परसों यहाँ आयेगा तथा अपनी देवहूति नामक कन्याको तुम्हारे अर्पण करेगा। उसके द्वारा तुम्हें नौ कन्याएँ प्राप्त होंगी। मैं भी तुम्हारे प्रेमसे आकृष्ट होकर अपने अंशरूप कलाके द्वारा तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट होऊँगा और सांख्यशास्त्ररूप संहिताकी रचना करूँगा।' यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के कथनानुसार तीसरे दिन स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नीके सहित कन्याको साथमें लेकर कर्दमके आश्रममें पहुँचे और बड़े आग्रह और विनयके साथ वे ऋषिको अपनी कन्या अर्पित कर चले गये। इधर देवहूति माता-पिताके लौट जानेपर पतिकी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवा करने लगी। उसने विषयभोगकी इच्छा तथा कपट, द्वेष, लोभ, निषिद्ध आचरण और प्रमाद आदि दोषोंको त्यागकर शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि गुणोंसे अपने तेजस्वी पतिको सन्तुष्ट किया। काल पाकर उन्हें नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। अब तो कर्दम ऋषि अपने पिता ब्रह्माजीकी आज्ञा पूरी हुई जानकर संन्यासधर्ममें दीक्षित होनेका विचार करने लगे। उनके इस विचारको जानकर देवहूति उनसे हाथ जोड़कर बोली—'भगवन्! आप अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिये घर छोड़कर वनमें जाना चाहते हैं तो जाइये, मैं आपके मार्गमें बाधक होना नहीं चाहती। किंतु मेरी एक छोटी-सी प्रार्थना है, उसे पूरी करके आपको जानेका विचार करना चाहिये। वह यह है कि आपके वन चले जानेपर मेरा शोक दूर करनेके लिये मुझे एक ब्रह्मज्ञानी पुत्र चाहिये। केवल कन्या उत्पन्न करके आप पितृ-ऋणसे मुक्त नहीं हुए। अतः आप कुछ दिन और घरमें रहिये और पुत्र उत्पन्न होनेके बाद चले जाइये। मैंने विषयोंमें लिप्त रहकर अबतककी आयु तो व्यर्थ खो दी, परंतु शेष जीवन मेरा भगवान्‌के भजनमें ही बीते ऐसी मेरी इच्छा है। आपको ब्रह्मज्ञानी न जानकर मैंने अबतक आपसे ग्राम्य सुखोंकी ही कामना की। अब आप कृपा करके मुझे पुत्रकी प्राप्ति कराकर इस संसाररूप बन्धनसे छूटनेमें सहायता दीजिये। उसके इन विनय एवं वैराग्ययुक्त वचनोंको सुनकर ऋषिको भगवान्‌के वचनोंका स्मरण हो आया। वे बोले—'हे राजपुत्रि! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो। तुम्हारे उदरमें भगवान् जगदीश्वर शीघ्र ही अवतार धारण करेंगे और तुम्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेशकर तुम्हारे हृदयकी अहंकाररूप ग्रन्थिका छेदन करेंगे।

देवहूति भी प्रजापतिके वचनोंमें पूर्ण विश्वासकर भगवान् श्रीहरिकी प्रेमपूर्वक आराधना करने लगी। समय पाकर उसके उदरसे भगवान् मधुसूदन प्रकट हुए और चारों दिशाओंमें जयजयकारकी ध्वनि होने लगी। उस समय मरीचि आदि ऋषियोंसहित ब्रह्माजी कर्दम ऋषिके आश्रममें पहुँचे। उन्होंने कर्दम-देवहूतिको उनके पुत्रका माहात्म्य बतलाया और कहा कि साक्षात् पूर्णपुरुष ही तुम्हारे यहाँ अवतीर्ण हुए हैं। इनके केशकलाप सुवर्णके समान कपिलवर्ण होनेके कारण ये जगत्‌में कपिल नामसे विख्यात होंगे। ये सिद्ध-मुनियोंमें अग्रगण्य होंगे और सांख्यशास्त्रका प्रचार करेंगे।' यों कहकर ब्रह्माजी सत्यलोकको चले गये। उनके चले जानेके बाद कर्दम ऋषिने अपने यहाँ पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए भगवान् कपिलदेवकी अनेक प्रकारसे स्तुति की और उनसे संन्यासधर्मको स्वीकार करनेकी आज्ञा माँगी। भगवान् बोले—'हे प्रजापते! मुमुक्षुओंको आत्मज्ञान प्राप्त करानेमें सहायक प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेके लिये ही मैं इस समय धराधामपर अवतीर्ण हुआ हूँ। तुम अब सब प्रकारके ऋणानुबन्धोंसे मुक्त हो गये हो, अतः तुम संन्यास ग्रहण कर सकते हो, यद्यपि तुम्हें घरमें भी मुक्तिकी प्राप्ति कठिन नहीं है। परंतु तुम मुझे बराबर स्मरण करते रहना और अपने

समस्त कर्मोंको मुझे अर्पणकर मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त मेरी उपासनामें लगे रहना। यद्यपि यह सूक्ष्म आत्मज्ञानका मार्ग बहुत पहलेसे चला आ रहा है, तथापि बहुत काल बीत जानेसे वह लुप्त-सा हो गया है, अतः उसका पुनः प्रचार करनेके निमित्त ही मैं पृथ्वीपर प्रकट हुआ हूँ। सकल प्राणियोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले मुझ स्वयंप्रकाश परमात्माको अपने देहस्थित आत्मामें देखकर तुम शोकसे छूट जाओगे और मोक्षसुखको प्राप्त करोगे। मैं देवहूति माताको संचित और क्रियमाण आदि सब प्रकारके कर्मोंकी वासनाएँ मनसे दूर करनेवाली अध्यात्मविद्या कहूँगा, जिसके प्रभावसे यह देवहूति संसारभयको तर जायगी और मोक्षसुखको प्राप्त करेगी।'

भगवान् कपिलदेवके इन वचनोंको सुनकर कर्दम ऋषि परम प्रसन्न हुए और भगवान्‌की प्रदक्षिणाकर वनको चले गये। वे सकल संगोंको त्यागकर अहिंसाव्रतका पालन करते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे। उन्होंने अपने उत्कट भक्तियोगके द्वारा अन्तर्यामी भगवान् वासुदेवके चरणोंमें मन लगाकर उत्तम भगवद्भक्तोंको प्राप्त होनेवाली भागवती गतिको प्राप्त किया।

महामुनि भगवान् कपिलदेव पिता कर्दम ऋषिके वनमें चले जानेपर माताका प्रिय करनेकी इच्छासे कुछ दिन अपने पिताके आश्रममें ही रहे। एक दिन ब्रह्माजीके कथनको स्मरणकर देवहूति आसनपर बैठे हुए, वास्तवमें कर्मरहित किंतु मुमुक्षुओंको तत्त्वमार्ग दिखानेवाले अपने पुत्रसे कहने लगी—'हे प्रभो! मैं इन दुर्निवार इन्द्रियोंकी तृप्तिके निमित्त विषयोंकी अभिलाषासे अत्यन्त श्रान्त हो रही हूँ। हे देव! आप मेरे इस महामोहको दूर करिये। आप शरणागतोंके रक्षक और भक्तोंके संसाररूप वृक्षको छेदन करनेमें कुठारके समान हैं।' माताके इन वचनोंको सुनकर कपिलदेव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराते हुए बोले—'हे माता! इस आत्माके बन्धन और मुक्तिका कारण चित्त ही है, चित्तके सिवा कोई दूसरा नहीं। यह चित्त शब्दादि विषयोंमें आसक्त होनेपर बन्धनका कारण होता है और वही ईश्वरके प्रति अनुरक्त होनेपर मुक्तिका कारण बन जाता है। इसी प्रकार दुष्ट पुरुषोंका संग जीवात्माको बाँधनेवाली दृढ़ फाँसी है और सत्पुरुषोंके संगको शास्त्रोंमें मोक्षका द्वार कहा गया है। अतः हे जननि! तुम्हें सत्पुरुषोंका ही संग करना चाहिये। साधुओंके सत्संगसे ही मेरे प्रभावका यथार्थ ज्ञान करानेवाली और अन्तःकरणको सुख देनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं। जिनके श्रवणसे भगवान्‌में श्रद्धा, प्रीति और भक्ति क्रमशः उत्पन्न होती है। उस भक्तिसे ऐहिक तथा पारलौकिक सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्यसम्पन्न पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर योगादिके द्वारा अन्तःकरणको स्वाधीन करनेका प्रयत्न करता है और शब्दादि विषयोंके सेवनको त्यागकर वैराग्यसे बढ़े हुए ज्ञान, अष्टांगयोग और भक्तिके द्वारा इसी देहमें मुझ सर्वान्तर्यामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

इसके अनन्तर देवहूतिके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीकपिलदेवने भक्तिके लक्षणोंका वर्णन किया और फिर सांख्यशास्त्रकी रीतिसे पदार्थोंका वर्णन करते हुए प्रकृति-पुरुषके विवेकद्वारा मोक्षका वर्णन किया। इसके अनन्तर अष्टांगयोगसे स्वरूपकी उपलब्धि किस प्रकार होती है—यह बतलाते हुए भक्तियोगके अनेक प्रकार बतलाये और साथ ही संसारके दुःखदायी स्वरूपका चित्रण किया। प्रसंगतः कामीजनोंकी कैसी गति होती है—यह बतलाते हुए मनुष्ययोनिका महत्त्व बतलाया और यह भी बतलाया कि मनुष्ययोनि पाप और पुण्यके सम्मिश्रणसे प्राप्त होती है।

अपने पुत्रके उपदेशको सुनकर देवहूतिके अज्ञानका पर्दा हट गया और वह उनके प्रभावको समझकर उनकी भगवद्बुद्धिसे स्तुति करने लगी। भगवान् कपिल उनकी स्तुतिको सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और स्नेह-

गद्‌गद वाणीसे इस प्रकार बोले—'हे माता! मेरे कहे हुए इस मार्गसे यदि आप चलेंगी तो बहुत ही शीघ्र जीवन्मुक्तिरूप उत्तम फलको प्राप्त करेंगी। हे जननि! ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा सेवनीय मेरे इस अनुशासनपर आप विश्वास रखें, इस प्रकार बर्ताव करनेसे आप संसारसे छूटकर मेरे जन्ममरणरहित स्वरूपको प्राप्त होंगी। मेरे इस मतको न जाननेवाले पुरुष मृत्युरूप संसारमें बार-बार गिरते हैं।' यों कहकर महामुनि कपिलजी मातासे विदा लेकर ईशानदिशाकी ओर चल दिये। देवहूति भी अपने पुत्रके बताये हुए योगमार्गसे अपने चित्तको एकाग्र करके अपने पतिके आश्रममें समाधिके द्वारा समय व्यतीत करने लगीं और शीघ्र ही सर्वश्रेष्ठ, अन्तर्यामी, नित्यमुक्त एवं ब्रह्मरूप भगवान्‌के साथ एकताको प्राप्त हो गयीं।

(६) श्रीमनुजी

सृष्टिके प्रारम्भमें जब ब्रह्माने सनकादि पुत्रोंको उत्पन्न किया और वे निवृत्तिपरायण हो गये तब इन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। इस क्षोभके कारण ब्रह्मा रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत हो गये। इससे ब्रह्माके दाहिने अंगसे स्वायम्भुव मनुकी और बायें भागसे शतरूपाकी उत्पत्ति हुई। स्वायम्भुव मनुने जब तपस्याके द्वारा शक्ति संचय करके सृष्टिकी अभिवृद्धि करनेकी आज्ञा प्राप्त की तब उन्होंने अपने पिता ब्रह्माके आदेशानुसार सकलकारणस्वरूपिणी आद्याशक्तिकी आराधना की। इनकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवतीने वर-याचनाकी प्रेरणा की। स्वायम्भुव मनुने भगवतीसे बड़े विनयपूर्वक कहा—'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो ऐसी कृपा कीजिये, जिससे प्रजाकी सृष्टिका कार्य निर्विघ्न चलता रहे।' देवीने 'तथास्तु' कहा और अन्तर्धान हो गयीं। इसके बाद मनुने ब्रह्मासे एक उपयुक्त स्थानके लिये प्रार्थना की। ब्रह्माने मनुको भगवान् विष्णुकी शरण लेनेका उपदेश किया। इसी समय भगवान् वाराहरूप धारण करके ब्रह्माकी नासिकासे निकल पड़े और थोड़े ही समयमें बड़ा विशाल रूप धारण करके भीषण गर्जना करने लगे। उस समय सभी देव-दानव, ऋषि-मुनि उनकी महिमाका गायन करने लगे। उनकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने जलमग्न पृथ्वीका उद्धार और उसकी स्थापना की। स्वायम्भुव मनु पृथ्वीपर रहकर सृष्टिकार्य करने लगे। पहले उनके प्रियव्रत, उत्तानपाद नामके दो तेजस्वी पुत्र एवं आकूति, देवहूति और प्रसूति नामकी तीन कन्याएँ हुईं। उत्तानपादसे ध्रुव-जैसे भगवद्भक्त प्रकट हुए और इनकी देवहूति नामकी कन्यासे स्वयं भगवान्‌ने कपिलरूपमें अवतार ग्रहण किया। भगवान्‌के आज्ञानुसार राज्य करते हुए इन्होंने भृगु आदि ऋषियोंको व्याज बनाकर अनेक प्रकारके धर्मों और नीतियोंका प्रचार किया तथा सम्पूर्ण मानवजातिके लिये एक ऐसी सुन्दर व्यवस्था की, जिसके द्वारा अपने-अपने अधिकारानुसार सब भगवान्‌को प्राप्त कर सकें। अन्तमें इनके मनमें यह बात आयी कि घरमें रहकर विषयोंको भोगते-भोगते बुढ़ापा आ गया, किंतु इन विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ। भगवान्‌के भजन बिना जीवनका यह अमूल्य समय यों ही बीत गया, यह सोचकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। यद्यपि पुत्रोंने उन्हें घरमें रहकर राज्य करते रहनेका बड़ा आग्रह किया, फिर भी उनके विरक्त हृदयने पुत्रोंकी एक भी न मानी, अन्ततः पुत्रोंको राज्य देकर वे अपनी पत्नी शतरूपाके साथ घरसे निकल पड़े। नैमिषारण्यमें जाकर इन्होंने ऋषि-मुनियोंका सत्संग प्राप्त करके समस्त तीर्थोंमें स्नान किया, देवताओंके दर्शन किये और फिर वल्कल वस्त्र पहनकर हविष्य भोजन करते हुए शरीरकी और संसारकी परवाह छोड़कर द्वादशाक्षर मन्त्रका सप्रेम जप करते हुए भगवान्‌के चिन्तनमें लग गये। उनके मनमें एकमात्र यही अभिलाषा थी कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌के दर्शन हों। इस तरह बड़ी कठोर तपस्या करते-करते हजारों वर्ष बीत गये। इस बीचमें कई बार ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनके पास आये और इन्हें वर देनेके बड़े-बड़े प्रलोभन दिये; परंतु ये तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीर सूखकर काँटा हो गया, केवल हड्डी-ही-हड्डी अवशेष रह गयीं। परंतु इनके मनमें तनिक भी व्यथाका

अनुभव नहीं हुआ। महाराज स्वायम्भुव मनु और शतरूपाकी इस अनन्य तपस्याको देखकर बड़ी ही गम्भीर और भगवत्कृपापूर्ण आकाशवाणी हुई कि तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर माँग लो। भगवान्‌की यह अमृतभरी वाणी सुनकर उनका शरीर सर्वांगसुन्दर और हृष्ट-पुष्ट हो गया। सारा शरीर पुलकित हो गया। हृदय प्रेमसे भर गया और उन्होंने दण्डवत् करके भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आप बड़े भक्तवत्सल हैं; ब्रह्मा, शंकर और विष्णु भी आपकी चरणधूलिकी वन्दना करते हैं। यदि आप मुझपर सचमुच प्रसन्न हैं' तो आपका वह स्वरूप जो शिवके हृदयमें निवास करता है, काकभुशुण्डिजी जिसका ध्यान करते हैं और वेदोंमें जिसे सगुण होते हुए भी निर्गुण और निर्गुण होते हुए भी सगुण कहा गया है, वही स्वरूप हम अपनी इन्हीं आँखोंसे देखें। उनकी प्रेमसे भरी बात भगवान्‌को बड़ी प्रिय लगी और भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये। दम्पतीका ध्यान टूटा और उन्होंने भगवान् श्रीरामकी ओर देखा। भला, भगवान्‌की उस रूपमाधुरीका कोई क्या वर्णन कर सकता है! आदिशक्ति भगवती सीता और पुरुषोत्तम भगवान् रामकी अनूप रूपराशिको देखकर उनकी आँखें निर्निमेष हो गयीं। उन्हें तृप्ति होती ही न थी। आनन्दातिरेकसे शरीरकी सुध-बुध जाती रही और वे बिना सहारेकी लकड़ीकी भाँति उनके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने उन्हें बलात् उठाकर उनके सिरपर अपने करकमल फेरकर अपने हृदयसे लगा लिया। जब भगवान्‌ने उन्हें धैर्य धारण कराकर वर माँगनेकी प्रेरणा की तो पहले उन्हें बड़ा संकोच हुआ, परंतु भगवान्‌के बहुत ढाढ़स देनेपर और यह कहनेपर कि तुम्हारे लिये कुछ भी अदेय नहीं है, वे बोले—'मैं तुम्हारे ही सरीखा पुत्र चाहता हूँ।' भगवान्‌ने कहा—'मेरे सरीखा तो मैं ही हूँ, अतः मैं ही तुम्हारा पुत्र बनूँगा।'

इसके बाद भगवान्‌ने शतरूपापर अपनी कृपादृष्टि डाली और उनसे वर माँगनेकी प्रेरणा की। शतरूपाने वह वर तो माँगा ही जो उनके पतिदेवने माँगा था, साथ ही भक्त-जीवनकी प्रार्थना की। भगवान्‌ने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'इतना ही नहीं, तुम्हारे मनमें जो-जो रुचियाँ हैं, सब पूर्ण होंगी; इसमें सन्देह नहीं।' इसके पश्चात् महाराज मनुने ऐश्वर्यभक्तिके स्थानपर वात्सल्यरति—पुत्रविषयक प्रेमकी याचना की और कहा कि संसारके लोग चाहे मुझे मूर्ख ही क्यों न समझें, आप कृपा करके यह वर दीजिये कि आपके वियोगमें मेरा जीवन रहे ही नहीं। इसके बाद स्वायम्भुव मनु दशरथ और उनकी पत्नी शतरूपा कौसल्या हुईं। भगवान्‌ने इनके पुत्ररूपसे जन्म ग्रहण किया। इन पुण्यश्लोक आदिराज स्वायम्भुव मनु एवं उनकी पत्नी शतरूपाका चरित्र बड़ा ही विस्तृत है, इसका पूर्ण अनुशीलन तो इतिहास-पुराणोंमें ही हो सकता है। यहाँ तो केवल उनका स्मरणमात्र कर लिया गया है। श्रीरामचरितमानस-बालकाण्डमें इनके तपका प्रसंग वर्णित है।

(७) श्रीनरहरिदास (श्रीप्रह्लादजी)

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनान्यमनःशमं व्यधात्॥

(श्रीमद्भा० ७।४।४२)

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद अवस्थामें सबसे छोटे थे, किंतु भगवद्भक्ति तथा अन्य गुणोंमें सबसे बड़े हुए। संसारमें जितने भक्त हो गये हैं, प्रह्लादजी उन सबके मुकुटमणि हैं। वे बाल्यकालसे ही भगवान्‌का नामकीर्तन और गुणकीर्तन करते-करते अपने आपको भूल जाते थे। कभी वे प्रेममें बेसुध होकर गिर पड़ते, कभी कीर्तन करते-करते नाचते और कभी भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए

ढाढ़ मारकर रोने लगते।

इनके पिता असुरोंके राजा थे। देवताओंसे सदा उनकी खटपट रहती थी। एक बार देवताओंको पराजित करनेकी नीयतसे इनके पिता घोर तप करने लगे। वे भगवान्‌की सकाम आराधनामें इतने निमग्न हो गये कि उन्हें अपने शरीरतकका होश नहीं रहा। देवराज इन्द्रने अवसर पाकर असुरोंके ऊपर चढ़ाई कर दी, उन दिनों प्रह्लाद गर्भमें थे। इन्द्रने असुरोंको मार भगाया, उनकी पुरीको लूट लिया और प्रह्लादकी माताको पकड़कर ले चले। वह बेचारी गर्भवती दीना अबला कुररीकी भाँति रोती जाती थी। रास्तेमें दयालु देवर्षि नारद मिले। उन्होंने इन्द्रको बहुत डाँटा और कहा—'तुम इसे क्यों पकड़े ले जाते हो?' इन्द्रने कहा—'भगवन्! मैं स्त्रीवध नहीं करूँगा। इसके पेटमें हिरण्यकशिपुका जो गर्भ है, उसके उत्पन्न होनेपर मैं उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा।' देवर्षिने अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'अरे, इसके गर्भमें परम भागवत पुत्र है, इससे तुम्हें कोई भय नहीं, इसे छोड़ जाओ।' देवर्षिकी आज्ञा पाकर इन्द्रने उसे छोड़ दिया। देवर्षि उसे अपने आश्रमपर ले गये। यहाँ लाकर वे प्रह्लादकी माताका मन बहलानेके लिये भाँति-भाँतिके भगवत्-चरित्रोंको कहा करते थे। गर्भमें स्थित प्रह्लादजीने माताके गर्भमें ही भक्तिका समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। पीछे हिरण्यकशिपुके आनेपर प्रह्लादकी माता घर आ गयीं और वहीं प्रह्लादजीका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही भक्तिकी बातें किया करते थे, बच्चोंमें खेलते-खेलते ये उन्हें भगवन्नाम-कीर्तनका उपदेश किया करते और स्वयं सबसे कीर्तन कराते थे। पाँच वर्षकी अवस्था होनेपर हिरण्यकशिपुने अपने गुरुके पुत्र शण्ड और अमर्कके यहाँ इन्हें पढ़ने भेजा। किंतु ये तो समस्त शास्त्र माताके पेटमें ही पढ़ चुके थे। गुरु बताते थे कुछ, ये पढ़ते थे प्रभु-प्रेमकी पाटी। एक दिन पिताने पूछा—'तुमने जो सबसे अच्छी बात अबतक पढ़ी हो, उसे बताओ।' प्रह्लादजी बोले—'सबसे अच्छी बात तो यही है कि इन सब प्रपंचोंको छोड़कर भगवद्भक्तिमें शीघ्र-से-शीघ्र लग जाना चाहिये।' अपने पुत्रके मुँहसे भगवद्भक्तिकी बात सुनकर हिरण्यकशिपु बहुत क्रोधित हुआ। पुत्रको मारने दौड़ा, गुरुपुत्रोंको भला-बुरा कहा। जैसे-तैसे समझा-बुझाकर लोगोंने प्रह्लादको छुड़ा दिया। हिरण्यकशिपुने यह कहकर कि 'अब कभी मेरे शत्रु विष्णुका नाम मत लेना' पुत्रको छोड़ दिया।

प्रह्लादजी भला हरिनाम कब छोड़नेवाले थे, वे नये उत्साहके साथ भगवत्-कीर्तनमें तल्लीन हो गये। अपने सहपाठियोंसे भी कहते—'सच्चा पढ़ना तो भगवान्‌की शरण जाना ही है। सांसारिक पदार्थोंके नाम पढ़ना अज्ञानकी ओर बढ़ना है। वे दिन-रात भगवान्‌के नामों और गुणोंके कीर्तनमें ही निमग्न रहते। इनके पिताने जब देखा कि यह किसी प्रकार भी भगवद्भक्ति नहीं छोड़ता तो उसने इन्हें सूलीपर चढ़वाया, मदमत्त हाथियोंके नीचे डलवाया, अथाह जलमें गलेमें पत्थर डालकर डुबाया, हलाहल विषका प्याला पिलाया, धधकती हुई अग्निमें जलवाया, पर्वत-शिखरसे गिराया, किंतु इनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। काँटोंकी सूली फूलोंकी सेजके समान सुखद हो गयी, हाथियोंने इन्हें उठाकर पीठपर बिठा लिया, जलके ऊपर पाषाण तैरने लगे। विष अमृत बन गया, अग्नि जलकी भाँति शीतल हो गयी और इन्हें जलानेकी इच्छासे ईंधन जलाकर बैठनेवाली होलिका स्वयं जलकर भस्म हो गयी। पर्वत-शिखरसे ये हँसते-हँसते नीचे आ गये। सारांश यह कि कोई यातना इन्हें दुखी न बना सकी। शण्डामर्क फिर इन्हें पाठशाला ले गये, वहाँ प्रह्लादने फिर बड़े जोरसे अपना वही काम शुरू कर दिया। लड़के सब हरिकीर्तन करने लगे। शण्डामर्कने गुस्सेमें आकर कहा—'या तो हमारी बात मान जाओ, नहीं तो कृत्या उत्पन्न करके हम तुम्हें भस्म कर देंगे।' विश्वासी भगवद्भक्त प्रह्लाद क्यों डरने लगे! उन्होंने कहा—'गुरुजी! कौन किसको मार सकता है और कौन

किसको बचा सकता है? सब भगवान्‌की लीला है।' इसपर क्रुद्ध होकर शण्डामर्कने महान् विकराल ज्वालामयी कृत्याको उत्पन्न किया। कृत्याने प्रह्लादके हृदयमें शूल मारा, भक्तभयहारी भगवान्‌की शक्तिसे सुरक्षित प्रह्लादकी छातीपर लगते ही शूल टूक-टूक हो गया। कृत्या परास्त होकर लौटी और दोनों ब्राह्मणोंको मारकर स्वयं भी नष्ट हो गयी। अपने कारण गुरुओंकी मृत्यु होते देखकर प्रह्लादका सन्त-हृदय पिघल गया। उन्होंने कातर कण्ठसे भगवान्‌से बार-बार प्रार्थना की और कहा कि मुझे मारनेवाले, जहर देनेवाले, सूलीपर चढ़ानेवाले, आगमें जलानेवाले, पहाड़से गिरानेवाले, समुद्रमें फेंकनेवाले मनुष्योंसे, डँसनेवाले सर्पोंसे, पैरोंतले रौंदनेवाले हाथियोंसे यदि मेरे मनमें कुछ भी द्वेष न हो, मैं सबको अपना आत्मा और मित्र ही मानता होऊँ, किसीके भी अनिष्टकी जरा भी मेरी इच्छा न हो तो ये मेरे दोनों गुरु जी उठें।'

प्रह्लादकी प्रार्थनासे शण्डामर्क जी उठे और प्रह्लादको आशीर्वाद देने लगे, क्षमाशील प्रह्लादकी महिमा अनन्त कालके लिये सुप्रतिष्ठित हो गयी! सन्तकी यही तो विशेषता है, वह बुरा करनेवालेका भी भला करता है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

जब किसी तरह भी ये न मरे तब तो इनके पिताको बड़ा क्रोध आया। एक खम्भेसे बाँधकर हाथमें खड्ग लेकर वह इन्हें मारनेको तैयार हुआ और बोला—'अब बता, तेरे भगवान् कहाँ हैं?' प्रह्लादने निर्भीकतासे कहा—'भगवान् सर्वत्र हैं, मुझमें, तुममें, खड्ग और खम्भेमें—सर्वत्र वे श्रीहरि व्याप्त हैं।' हिरण्यकशिपुने कहा—'तब फिर इस खम्भेमें क्यों नहीं दीखते?' इतना कहना था कि भगवान् आधे मनुष्य और आधे सिंहके रूपमें उस खम्भेमेंसे प्रकट हुए। उस अद्भुत नृसिंहरूपको देखकर हिरण्यकशिपु डर गया, भगवान्‌ने जल्दीसे उसे घुटनोंपर रखकर उसका पेट फाड़ दिया। सब देवता प्रसन्न हुए। सभीने भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने प्रेमपूर्वक प्रह्लादको गोदमें बिठाया, उसे खूब प्यार किया और वरदान माँगनेको कहा। प्रह्लादने कहा—'प्रभो! मेरे पिताने आपसे वैर किया था, इनकी दुर्गति न हो।' भगवान् हँसे और बोले—'भैया, जिस कुलमें तुम्हारे-जैसे भगवद्भक्त हुए हैं, उस कुलकी सात पीढ़ी पहली, सात आगेकी और सात मातृपक्षकी, इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियाँ तो स्वतः तर गयीं। तुम्हारे पिता भी तर गये।' अन्तमें प्रह्लादने भगवान्‌में अहैतुकी भक्तिका वरदान माँगा। भगवान् ऐसा वरदान देकर और प्रह्लादका राजतिलक करके अन्तर्धान हो गये। प्रह्लाद बहुत कालतक असुरोंके सिंहासनपर राज्य करते रहे। अन्तमें अपने पुत्र विरोचनको राज्य देकर वे भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन हो गये। इसीलिये प्रह्लाद प्रातःस्मरणीय भक्तोंमें सर्वप्रथम स्मरण किये जाते हैं।

(८) श्रीजनकजी

निमिवंशमें जितने भी राजा हुए सभी 'जनक' कहलाते थे, ब्रह्मज्ञानी होनेसे इन सबोंकी विदेहसंज्ञा भी थी। किंतु जनकके नामसे अधिक प्रसिद्ध सीताजीके पिता ही हुए हैं। उनका यथार्थ नाम सीरध्वज था। 'सीरध्वज' नामका एक कारण है। 'सीर' कहते हैं हलकी नोकको। एक बार मिथिला देशमें बड़ा अकाल पड़ा, विद्वानोंने निर्णय किया कि महाराज जनक स्वयं हलसे जमीन जोतकर यज्ञ करें तो वर्षा हो। महाराज यज्ञके लिये जमीन जोत रहे थे कि हलकी नोक लगनेसे पृथ्वीमेंसे एक कन्या निकल आयी। वही जगज्जननी महारानी सीताजी हुईं। महाराज जनक उन्हें अपने घर ले आये और उन्हींको अपनी सगी पुत्री मानकर लालन-पालन करने लगे।

ये पूर्ण ब्रह्मज्ञानी थे, 'मैं-मेरे' के चक्रसे सर्वथा छूटे हुए थे। वे सदा ब्रह्मरूपमें स्थित रहते हुए ही

प्रजापालनका कार्य समुचितरूपसे करते रहते थे। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि इनके पास ज्ञान-चर्चा करने तथा ब्रह्मज्ञान सीखने आते थे, ये इतने लोकप्रिय थे कि सभी इन्हें चाहते थे।

ये शिवजीके बड़े भक्त थे। शिवजीने अपना माहेश्वर धनुष इन्हें धरोहरके रूपमें दे दिया था, वह इनके घरमें रखा था और उसकी पूजा होती थी। कहते हैं एक बार घरको लीपते समय श्रीजानकीजीने एक हाथसे उस प्रलयंकारी विशाल धनुषको उठा लिया और जमीनको लीपकर उसे फिर ज्यों-का-त्यों वहाँ रख दिया। उसी समय महाराजने प्रतिज्ञा की कि जो कोई हमारे इस माहेश्वर धनुषको उठा लेगा, उसीके साथ मैं सीताजीका विवाह करूँगा।

श्रीतुलसीकृत रामायणमें जनकजीका चरित्र बहुत ही संक्षिप्तरूपमें वर्णित हुआ है, किंतु जितना चरित्र उनका अंकित हुआ है, वह इतना सुन्दर है कि उसमें गाम्भीर्य, तेज, विद्वत्ता, ज्ञान, प्रेम आदि गुणोंका अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। उसमें परस्पर भिन्न गुणोंका ऐसा सामंजस्य है कि देखते ही बनता है।

महर्षि विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लखन मिथिलापुरी पधारे हैं, सुनते ही महाराज जनक उनका सत्कार करने मन्त्री और पुरोहितोंके साथ आते हैं; आकर वे विधिवत् ऋषिकी पूजा करते हैं, कुशल-क्षेम पूछते हैं। ऋषिने राम-लखनको पुष्प लेने भेज दिया था, इसी अवसरपर वे अनूप भूपकिशोर आ जाते हैं। अहा, उन्हें देखकर ज्ञानशिरोमणि महाराज जनककी क्या दशा हो जाती है—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

मन प्रेममें मगन है, शरीरकी सुध-बुध नहीं, बहुत चेष्टा करके महाराज जनकने अपनेको सँभाला और अपने मनका भाव ऋषि विश्वामित्रके सम्मुख प्रकट करते हुए कहा—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

तब विश्वामित्रजीने इशारेसे राजाके अनुमानका समर्थन करके फिर श्रीरामका संकेत पाकर कहा—

रघुकुल मनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥

जब किसी राजासे धनुष टस-से-मस नहीं हुआ, तब महाराज जनकने सब राजाओंको सम्बोधन करके कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥

यह बात लक्ष्मणजीको बुरी लगी। उन्होंने बड़े जोरोंसे महाराज जनककी इस बातका विरोध किया। वृद्ध ब्रह्मज्ञानी राजर्षिको बालक लक्ष्मणने डाँट दिया—

कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥

लक्ष्मण बहुत कुछ कह गये। किंतु जनकजीकी गम्भीरता भंग नहीं हुई; उन्होंने न लक्ष्मणजीकी बातोंका बुरा ही माना, न खण्डन ही किया।

श्रीरामजीने धनुष तोड़ दिया। इसे सुनकर परशुरामजी आये। वे बहुत उछले-कूदे, बड़ी-बड़ी बातें कहीं; किंतु जनकजी एकदम तटस्थ ही बने रहे। वे समझते थे कि जिन्होंने इतने बड़े शिवधनुषको तोड़ दिया है, वे स्वयं इनसे समझ-बूझ लेंगे, हमें बीचमें पड़नेकी क्या जरूरत है।

जब श्रीरामजी वनको जाते हैं और भरतजी उन्हें मनानेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं तो वहाँ भी जनकजीके दर्शन होते हैं। उस समयकी उनकी गम्भीरता श्लाघनीय है। वे स्पष्ट यह भी नहीं कह सकते कि श्रीरामजी अयोध्या लौट जायँ; क्योंकि लोग कहेंगे जनकजीने जामाताका पक्ष लिया और भरतके प्रेमको देखकर वे यह भी नहीं कह सकते कि भरतजीकी बात न मानी जाय। अतः अपनी रानीसे भरतजीकी बहुत बड़ाई करते-करते अन्तमें उन्होंने यही कहा—

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

इससे उनके बीचमें न बोलना ही उचित है, वे जो कुछ करेंगे, वही ठीक होगा। अपनी पुत्री सीताको वनवासी वेषमें देखकर महाराजके हृदयकी जो दशा हुई, वह अवर्णनीय है। इस स्थलपर उसका वर्णन असम्भव है। क्या उनका वह मोह था? कवि कहते हैं, नहीं, कदापि नहीं—

मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥

जहाँ 'सिय-रघुबर' का 'सनेह' है, वहाँ मोह रह ही कैसे सकता है! ब्रह्मज्ञानी जनकजीके हृदयमें यह प्रेम निरन्तर रहता था! धन्य!

(९) श्रीभीष्म पितामहजी

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन॥

(महाभारत, आदिपर्व १०३। १५)

[भीष्मजी माता सत्यवतीसे कहते हैं—] 'मैं त्रिलोकीका राज्य छोड़ सकता हूँ, देवताओंका राज्य भी छोड़ सकता हूँ और जो इन दोनोंसे अधिक है, उसे भी छोड़ सकता हूँ, पर सत्य कभी नहीं छोड़ सकता।'

सन्तशिरोमणि पितामह भीष्म महाराज शान्तनुके औरस पुत्र थे और गंगादेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। वसिष्ठ ऋषिके शापसे आठों वसुओंने मनुष्ययोनिमें अवतार लिया था, जिनमें सातको तो गंगाजीने जन्म लेते ही जलके प्रवाहमें बहाकर शापसे छुड़ा दिया, परंतु द्यौ नामक वसुके अंशावतार भीष्मको राजा शान्तनुने रख लिया। गंगादेवी पुत्रको उसके पिताके पास छोड़कर चली गयीं। बालकका नाम देवव्रत रखा गया।

दासराजके द्वारा पालित सत्यवतीपर मोहित हुए धर्मशील राजा शान्तनुको विषादयुक्त देखकर युक्तिसे देवव्रतने मन्त्रियोंद्वारा पिताके दुःखका कारण जान लिया और पिताकी प्रसन्नताके लिये सत्यवतीके धर्मपिता दासराजके पास जाकर उसकी इच्छानुसार 'राजसिंहासनपर न बैठने और आजीवन ब्रह्मचर्य पालनेकी' कठिन प्रतिज्ञा करके पिताका सत्यवतीके साथ विवाह करवा दिया। पितृभक्तिसे प्रेरित होकर देवव्रतने अपना जन्मसिद्ध राज्याधिकार छोड़कर सदाके लिये स्त्रीसुखका भी परित्याग कर दिया, इसलिये देवताओंने प्रसन्न होकर कामिनी-कांचनका सर्वथा परित्याग कर देनेवाले देवव्रतपर पुष्पवृष्टि करते हुए उनका नाम भीष्म रखा। पुत्रका ऐसा त्याग देखकर राजा शान्तनुने भीष्मको वरदान दिया कि 'तू जबतक जीना चाहेगा तबतक मृत्यु तेरा बाल भी बाँका न कर सकेगी, तेरी इच्छामृत्यु होगी।' निष्काम पितृभक्त और आजीवन अस्खलित ब्रह्मचारीके लिये ऐसा होना कौन बड़ी बात है! कहना न होगा कि भीष्मने आजीवन अपनी इस भीष्म-प्रतिज्ञाका पालन किया!

भीष्मजी बड़े ही वीर योद्धा थे और उनमें 'वीरता, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्धसे कभी न हटना, दान और ऐश्वर्यभाव' ये सभी क्षत्रियोचित गुण प्रकट थे। वीरमूर्ति क्षत्रियकुलसंहारक परशुरामजीसे इन्होंने शस्त्रविद्या सीखी थी। जिस समय परशुरामजीने भीष्मजीसे यह आग्रह किया कि तुम काशिराजकी कन्या

अम्बासे विवाह कर लो, उस समय भीष्मजीने ऐसा करनेसे बिलकुल इनकार कर दिया और बड़ी नम्रतासे गुरुका सम्मान करते हुए अपनी स्वाभाविक शूरता और तेजभरे शब्दोंमें कहा—

'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं कभी क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा सदाका व्रत है।'

परशुरामजीको बहुत कुछ समझानेपर भी जब वे नहीं माने और इन्हें धमकाने देने लगे तब भीष्मने कहा—'आप कहते हैं कि मैंने अकेले ही इस लोकके सारे क्षत्रियोंको इक्कीस बार जीत लिया था, उसका कारण यही है कि उस समय भीष्म या भीष्मके समान किसी क्षत्रियने पृथिवीपर जन्म नहीं लिया था; पर अब मैं आपके प्रसादसे आपके इस अभिमानको निःसन्देह चूर्ण कर दूँगा।'

परशुरामजी कुपित हो गये। युद्ध छिड़ गया और लगातार तेईस दिनतक गुरु-शिष्यमें भयानक युद्ध होता रहा, परंतु परशुरामजी भीष्मको परास्त न कर सके। ऋषियों और देवताओंने आकर दोनोंको समझाया, परंतु भीष्मने क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्र नहीं छोड़े। वे बोले—

'मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं युद्धमें पीठ दिखाकर पीछेसे बाणोंका प्रहार सहता हुआ कभी निवृत्त नहीं होऊँगा। लोभ, दीनता, भय और अर्थ आदि किसी कारणसे भी मैं अपना सनातनधर्म नहीं छोड़ सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।'

इक्कीस बार पृथिवीको क्षत्रियहीन करनेवाले अमित तेजस्वी परशुराम भीष्मको नहीं जीत सके; अन्तमें देवताओंने बीचमें पड़कर युद्ध बन्द करवाया, परंतु भीष्मकी प्रतिज्ञा भंग न हुई!

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, भरतवंश और राज्यका कोई आधार न रहा, तब सत्यवतीने भीष्मसे राजगद्दी स्वीकार करने या पुत्रोत्पादन करनेके लिये कहा। भीष्म चाहते तो निष्कलंक कहलाकर राज्य और स्त्रीका सुख अनायास भोग सकते थे, परंतु विषयोपभोगसे विमुख परम संयमी महात्मा भीष्मने स्पष्ट कह दिया—'माता! तू इसके लिये आग्रह न कर। पंचमहाभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य और चन्द्रमा चाहे अपने तेज और शीतलता त्याग दें, इन्द्र और धर्मराज अपना बल और धर्म छोड़ दें, परंतु तीनों लोकोंके राज्यसुख या उससे भी अधिकके लिये मैं अपना प्रिय सत्य कभी नहीं छोड़ सकता।'

भीष्मजीने दुर्योधनकी अनीति देखकर उसे कई बार समझाया था, पर वह नहीं समझा और जब युद्धका समय आया तब पाण्डवोंकी ओर मन होनेपर भी भीष्मने बुरे समयमें आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म समझकर कौरवोंके सेनापति बनकर पाण्डवोंसे युद्ध किया। वृद्ध होनेपर भी उन्होंने दस दिनतक तरुण योद्धाकी तरह लड़कर रणभूमिमें अनेक बड़े-बड़े वीरोंको सदाके लिये सुला दिया और अनेकोंको घायल किया। कौरवोंकी रक्षा असलमें भीष्मके कारण ही कुछ दिनोंतक हुई। महाभारतके अठारह दिनोंके संग्राममें दस दिनोंका युद्ध अकेले भीष्मजीके सेनापतित्वमें हुआ, शेष आठ दिनोंमें कई सेनापति बदले। इतना होनेपर भी भीष्मजी पाण्डवोंके पक्षमें सत्य देखकर उनका मंगल चाहते थे और यह मानते थे कि अन्तमें जीत पाण्डवोंकी ही होगी।

भीष्मजी ज्ञानी, दृढ़प्रतिज्ञ, धर्मविद्, सत्यवादी, विद्वान्, राजनीतिज्ञ, उदार, जितेन्द्रिय और अप्रतिम योद्धा होनेके साथ ही भगवान्के अनन्य भक्त थे। श्रीकृष्णमहाराजको साक्षात् भगवान्के रूपमें सबसे पहले भीष्मजीने ही पहचाना था। धर्मराजके राजसूय यज्ञमें युधिष्ठिरके यह पूछनेपर कि 'अग्रपूजा किसकी होनी चाहिये?' भीष्मजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि 'तेज, बल, पराक्रम तथा अन्य सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम पूजा पानेयोग्य हैं।' भीष्मकी आज्ञासे सहदेवके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा होनेपर

जब शिशुपाल आदि राजा बिगड़े और उत्तेजित होकर कहने लगे कि 'इस घमण्डी बूढ़ेको पशुकी तरह काट डालो या इसे खौलते हुए तेलकी कड़ाहीमें डाल दो तब भीष्मने कुछ भी न घबड़ाकर स्वाभाविक तेजसे तमककर कहा—'हम जानते हैं श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति और विनाशके कारण हैं, इन्हींके द्वारा यह चराचर विश्व रचा गया है, यही अव्यक्त प्रकृति, कर्ता, सर्वभूतोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं, यही सबसे बड़े पूजनीय हैं और जगत्‌के सारे सद्‌गुण इन्हींमें प्रतिष्ठित हैं। सब राजाओंका मान मर्दनकर हमने श्रीकृष्णकी अग्रपूजा की है, जिसे यह मान्य न हो वह श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेको तैयार हो जाय। श्रीकृष्ण सबसे बड़े हैं, सबके गुरु हैं, सबके बन्धु हैं और सब राजाओंसे पराक्रममें श्रेष्ठ हैं; इनकी अग्रपूजा जिन्हें अच्छी नहीं लगती, उन मूर्खोंको क्या समझाया जाय?'

यज्ञमें विघ्नकी सम्भावना देखकर जब धर्मराजने भीष्मसे यज्ञरक्षाका उपाय पूछा तब भीष्मने दृढ़ निश्चयके साथ कह दिया—'युधिष्ठिर! तुम इसकी चिन्ता न करो, शिशुपालकी खबर श्रीकृष्ण आप ही ले लेंगे।' अन्तमें शिशुपालके सौ अपराध पूरे होनेपर भगवान् श्रीकृष्णने वहीं उसे चक्रसे मारकर अपनेमें मिला लिया!

महाभारत-युद्धमें भगवान् श्रीकृष्ण शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके सम्मिलित हुए थे। वे अपनी भक्तवत्सलताके कारण सखाभक्त अर्जुनका रथ हाँकनेका काम कर रहे थे। एक बार भीष्मने दुर्योधनके कहने-सुननेपर पाँचों पाण्डवोंको पाँच बाणोंसे मारनेकी प्रतिज्ञा की। भगवान्‌ने कौशलसे भीष्मकी यह प्रतिज्ञा भंग करवा दी, तब भगवान् श्रीकृष्णकी ही शपथ करके उन्हींके बलपर भीष्मने यह प्रतिज्ञा की कि मैं कल 'भगवान्‌को शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा।'

भीष्मके प्रणकी रक्षाके लिये दूसरे दिन भक्तवत्सल भगवान्‌को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। जगत्पति पीताम्बरधारी वासुदेव श्रीकृष्ण बार-बार सिंहनाद करते हुए हाथमें रथका टूटा चक्का लेकर भीष्मकी ओर ऐसे दौड़े, जैसे वनराज सिंह गरजते हुए विशाल गजराजकी ओर दौड़ता है। भगवान्‌का पीला दुपट्टा कन्धेसे गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी। सेनामें चारों ओरसे 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये' की आवाज आने लगी। परंतु इस समय भीष्मको जो असीम आनन्द था, उसका वर्णन करना सामर्थ्यके बाहरकी बात है। भगवान्‌की भक्तवत्सलतापर मुग्ध हुए भीष्म उनका स्वागत करते हुए बोले—

'हे पुण्डरीकाक्ष! आओ, आओ! हे देवदेव!! तुमको मेरा नमस्कार है। हे पुरुषोत्तम! आज इस महायुद्धमें तुम मेरा वध करो! हे परमात्मन्! हे कृष्ण! हे निष्पाप! हे गोविन्द! तुम्हारे हाथसे युद्धमें मरनेपर मेरा अवश्य ही सब प्रकारसे परम कल्याण होगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हूँ। हे पापरहित! मुझपर तुम युद्धमें इच्छानुसार प्रहार करो मैं तुम्हारा दास हूँ।'

अर्जुनने पीछेसे दौड़कर भगवान्‌के पैर पकड़ लिये और उन्हें बड़ी मुश्किलसे लौटाया।

अन्तमें शिखण्डीके सामने बाण न चलानेके कारण अर्जुनके बाणोंसे बिंधकर भीष्म शरशय्यापर गिर पड़े। भीष्म वीरोचित शय्यापर सोये थे, उनके सारे शरीरमें बाण बिंधे थे, केवल सिर नीचे लटकता था। उन्होंने तकिया माँगा, दुर्योधनादि नरम-नरम तकिया लाने लगे। भीष्मने अन्तमें अर्जुनसे कहा—'वत्स! मेरे योग्य तकिया दो।' अर्जुनने शोक रोककर तीन बाण उनके मस्तकमें नीचे इस तरह मारे कि सिर तो ऊँचा उठ गया और वे बाण तकियाका काम देने लगे। इससे भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और बोले—

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा॥

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै॥

(महा० भीष्म० १२०।४८-४९)

अर्थात् 'हे पुत्र अर्जुन! तुमने मेरे रणशय्याके योग्य ही तकिया देकर मुझे प्रसन्न कर लिया। यदि तुम मेरी बात न समझकर दूसरी तकिया देते तो मैं नाराज होकर तुम्हें शाप दे देता। क्षात्रधर्ममें दृढ़ रहनेवाले क्षत्रियोंको रणांगणमें प्राणत्याग करनेके लिये इसी प्रकारकी बाणशय्यापर सोना चाहिये।'

भीष्मजी शरशय्यापर बाणोंसे घायल पड़े थे, यह देखकर अनेक कुशल शस्त्रवैद्य बुलाये गये कि वे बाण निकालकर मरहम-पट्टी करके घावोंको ठीक करें; पर अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णको सामने देखते हुए मृत्युकी प्रतीक्षामें वीरशय्यापर शान्तिसे सोये हुए भीष्मजीने कुछ भी इलाज न कराकर वैद्योंको सम्मानपूर्वक लौटा दिया। धन्य वीरता और धन्य धीरता!

आठ दिनके बाद युद्ध समाप्त हो गया। धर्मराजका राज्याभिषेक हुआ। एक दिन युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और दोनों हाथ जोड़कर पलंगके पास खड़े हो गये। प्रणाम करके मुसकराते हुए युधिष्ठिरने भगवान्से कुशलक्षेम पूछी, परंतु उनके प्रश्नका कोई उत्तर नहीं मिला। भगवान्को इतना ध्यानमग्न देखकर धर्मराज बोले—'प्रभो! आप किसका ध्यान करते हैं? मुझे बतलाइये, मैं आपके शरणागत हूँ।' भगवान्ने उत्तर दिया—'धर्मराज! शरशय्यापर सोते हुए नरशार्दूल भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्होंने मुझे स्मरण किया था, इसलिये मैं भी भीष्मका ध्यान कर रहा था। भाई! इस समय मैं मनद्वारा भीष्मके पास गया था।'

फिर भगवान्ने कहा—'युधिष्ठिर! वेद और धर्मके सर्वोपरि ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, महान् अनुभवी, कुरुकुलसूर्य पितामहके अस्त होते ही जगत्का ज्ञानसूर्य भी निस्तेज हो जायगा। अतएव वहाँ चलकर कुछ उपदेश ग्रहण करना हो तो कर लो।'

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण महाराजको साथ लेकर भीष्मके पास गये। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ उपस्थित थे। भीष्मने भगवान्को देखकर प्रणाम और स्तवन किया। श्रीकृष्णने भीष्मसे कहा—'उत्तरायण आनेमें अभी तीस दिनकी देर है, इतनेमें आपने धर्मशास्त्रका जो ज्ञान सम्पादन किया है, वह युधिष्ठिरको सुनाकर इनके शोकको दूर कीजिये।' भीष्मने कहा—'प्रभो! मेरा शरीर बाणोंके घावोंसे व्याकुल हो रहा है, मन-बुद्धि चंचल है, बोलनेकी शक्ति नहीं है, बारम्बार मूर्छा आती है; केवल आपकी कृपासे ही अबतक जी रहा हूँ, फिर आप जगद्गुरुके सामने मैं शिष्य यदि कुछ कहूँ तो वह भी अविनय ही है। मुझसे बोला नहीं जाता, क्षमा करें।' प्रेमसे छलकती हुई आँखोंसे भगवान् गद्गद होकर बोले—'भीष्म! तुम्हारी ग्लानि, मूर्च्छा, दाह, व्यथा, क्षुधा, क्लेश और मोह सब मेरी कृपासे अभी नष्ट हो जायँगे, तुम्हारे अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानकी स्फुरणा होगी, तुम्हारी बुद्धि निश्चयात्मिका हो जायगी, तुम्हारा मन नित्य सत्त्वगुणमें स्थिर हो जायगा, तुम धर्म या जिस किसी भी विद्याका चिन्तन करोगे, उसीको तुम्हारी बुद्धि बताने लगेगी।' श्रीकृष्णने फिर कहा—'मैं स्वयं उपदेश न करके तुमसे इसलिये करवाता हूँ कि जिससे मेरे भक्तकी कीर्ति और यश बढ़े।' भगवत्प्रसादसे भीष्मके शरीरकी सारी वेदनाएँ उसी समय नष्ट हो गयीं, उनका अन्तःकरण सावधान और बुद्धि सर्वथा जाग्रत् हो गयी।

ब्रह्मचर्य, अनुभव, ज्ञान और भगवद्भक्तिके प्रतापसे अगाध ज्ञानी भीष्म जिस प्रकार दस दिनतक रणमें तरुण उत्साहसे झूमे थे, उसी प्रकारके उत्साहसे उन्होंने युधिष्ठिरको धर्मके सब अंगोंका पूरी तरह उपदेश

दिया और उनके शोकसन्तप्त हृदयको शान्त कर दिया। इस प्रकार भगवान्‌के सामने, ऋषियोंके समूहसे घिरे हुए, धर्मचर्चा करते-करते जब उत्तम उत्तरायणकाल आया तो भीष्मजी मौन हो गये और उन्होंने पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्णमें पूरी तरह मन लगा दिया और फिर उनकी स्तुति करते हुए बोले—

'मैंने इस तरह उन यादवपुंगव एवं सर्वश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णमें कामनारहित बुद्धि अर्पित कर दी है, जिन आनन्दमय ब्रह्मसे प्रकृतिका संयोग होनेपर यह संसार चलता है। त्रिभुवनसुन्दर एवं तमाल-तरुके समान श्यामशरीर और सूर्य-किरणके-से गौरवर्ण सुन्दर वस्त्रको धारण किये और अलकावलीसे आवृत सुशोभित मुख-कमलवाले अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम भक्ति हो। युद्धमें घोड़ोंकी रज पड़नेसे धूम्रवर्ण एवं चंचल अलकावली और श्रमजनित प्रस्वेद-बिन्दुओंसे अलंकृत जिनका मुख है और मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे कवच कट जानेपर जिनकी त्वचा भिन्न हो रही है, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णमें मेरा मन रमण करे। सखाके कहनेपर शीघ्र ही अपनी-परायी दोनों सेनाओंके बीचमें रथ स्थापित करके शत्रुपक्षकी सेनाके वीरोंकी आयु उनकी ओर देखकर ही जिन्होंने हर ली, उन अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णमें मेरा मन रमे। सम्मुख स्थित शत्रुसेनामें आगे स्वजनोंको मरने-मारनेपर उद्यत देखकर जब अर्जुन स्वजन-वधको दोष समझकर धनुष-बाण त्यागकर स्वजन-वधसे निवृत्त हो गये, तब जिन्होंने आत्मज्ञानका उपदेश करके अर्जुनकी कुबुद्धिको हर लिया, उन परमेश्वर श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें मेरी रति हो। युद्धमें 'मैं शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा' अपनी इस प्रतिज्ञाको त्यागकर 'मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण करा दूँगा' मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथसे कूदकर रथका चक्का हाथमें लेकर जो मुझे मारनेको इस तरह वेगसे दौड़े जैसे हाथीके मारनेको सिंह दौड़ता है, तब पृथ्वी उनके प्रतिपदमें काँपने लगी और कन्धेसे दुपट्टा गिर गया, वैसी शोभाको प्राप्त हुए उन श्रीकृष्णकी मैं शरण हूँ। मेरे पैने बाणोंके प्रहारसे कवच टूट गया और श्यामसुन्दरका शरीर रुधिरसे लाल हो गया, तब जो मुझ सशस्त्रको मारनेके लिये वेगसे दौड़े, वे भक्तवत्सल भगवान् मेरी गति हों। अर्जुनके रथपर स्थित होकर एक हाथमें चाबुक उठाये और एक हाथसे घोड़ोंकी लगाम पकड़े जो शोभायुक्त श्रीकृष्णभगवान् दर्शनीय हैं, उनमें मुझ मरनेवालेकी रति हो, जिस छबिको देखकर महाभारत-युद्धमें मरे हुए सब शूरवीर सारूप्यमुक्तिको प्राप्त हुए। अपनी ललित गति, विलास, मनोहर हास, प्रेममय निरीक्षण आदिसे गोपियोंके मान करनेपर जब श्रीकृष्णजी अन्तर्हित हो गये तब विरहसे व्याकुल गोपियाँ भी जिनकी लीलाका अनुकरण करके तन्मय हो गयीं, ऐसे भक्तिसे प्राप्त होनेवाले श्रीकृष्णमें मेरी दृढ़ भक्ति हो। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें अनेक ऋषि-मुनि और महिपालोंसे सुशोभित सभाभवनके बीच जिनकी प्रथम पूजा हुई, वही सर्वश्रेष्ठ जगत्पूज्य परब्रह्म इस समय मेरे नेत्रोंके सामने हैं। अहोभाग्य! मैं कृतार्थ हो गया। अब जन्म-कर्मरहित और अपने ही उत्पन्न किये प्राणियोंके हृदयमें जो एक होकर भी अनेक पात्रोंमें पड़े हुए प्रतिबिम्बद्वारा अनेकरूप प्रतीत होनेवाले सूर्यकी भाँति अनेकरूप प्रतीत होते हैं, उन ईश्वर श्रीकृष्णको भेददृष्टि और मोहसे शून्यचित्तद्वारा मैं प्राप्त हुआ हूँ।'

एक सौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें उत्तरायणके समय सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीच इस प्रकार साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए—

कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत्॥

(श्रीमद्भा० १।९।४३)

'आत्मरूप भगवान् श्रीकृष्णमें मन, वाणी और दृष्टिको स्थिर करके भीष्मजी परम शान्तिको प्राप्त हो

गये!'

(१०) श्रीबलिजी

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद् यस्य न भवेत्स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः॥*

प्रह्लादजीके पुत्र विरोचन और विरोचनजीके पुत्र लोकविख्यात दानिशिरोमणि महाराज बलि हुए। दैत्य-कुलमें उत्पन्न होनेपर भी ये अपने पितामहके समान भगवद्भक्त, दानियोंमें अग्रणी और प्रात:स्मरणीय चिरजीवियोंमें गिने जाते हैं। इन्होंने अपने पराक्रमसे दैत्य, दानव, मनुष्य और देवताओंतकको जीत लिया। ये तीनों लोकोंके एकमात्र स्वामी थे। इन्द्र स्वर्गलोकके सिंहासनसे उतार दिये गये, सर्वत्र महाराज बलिका ही राज्य था। ये बड़े ब्रह्मण्य, धर्मात्मा और साधुसेवी थे। देवताओंने भगवान्‌से प्रार्थना की। देवताओंकी माता अदितिने एक घोर व्रत किया, उससे सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ने अदितिको वरदान दिया कि 'मैं तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपमें उत्पन्न हूँगा। तभी मैं तुम्हारे पुत्रोंका संकट दूर करूँगा।'

कालान्तरमें भगवान्‌ने अदितिके यहाँ अवतार धारण किया। भगवान्‌का यह मंगलविग्रह बहुत छोटा था, इससे आप वामन कहलाये और इन्द्रके छोटे भाई होनेसे आपकी 'उपेन्द्र' संज्ञा हुई। सब देवता प्रसन्न हुए कि हमारा गया हुआ ऐश्वर्य फिर प्राप्त होगा।

महाराज बलि तीनों लोकोंके स्वामी बनकर निश्चिन्त हो यज्ञ कर रहे थे। वामनभगवान् ब्रह्मचारीका वेष धारण करके महाराज बलिके यज्ञमण्डपमें गये। बलिने वामन ब्रह्मचारीका शास्त्रविधिसे पूजन किया, अर्घ्य-पाद्य देकर गोदानके अनन्तर महाराजने कहा—'आप सुपात्र ब्रह्मचारी हैं, मैं आपको कुछ देना चाहता हूँ; आपको जो भी अच्छा लगे वह माँग लीजिये। आपके माँगनेपर मैं सब कुछ दे सकता हूँ, नि:संकोच होकर आप माँगें। मेरे यहाँसे कोई ब्राह्मण विमुख होकर नहीं जाता।'

वामनभगवान् बोले—'मुझे किसी चीजकी जरूरत नहीं, मैं तो आपसे केवल तीन पग पृथ्वी चाहता हूँ, जिसपर मैं बैठ सकूँ। अधिककी मुझे इच्छा नहीं है।' बलिने बहुत समझाया कि 'कल्पवृक्षके नीचे आकर भी आप एक दिनका अन्न ही चाहते हैं। मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ, कुछ और माँगिये।' राजाके बहुत कहनेपर भी वामनभगवान्‌ने कुछ नहीं माँगा। वे तीन पग पृथ्वीपर ही अड़े रहे। अन्तमें राजाने कहा—'अच्छा दूँगा।'

इसपर बलिके कुलगुरु भगवान् शुक्राचार्यने उन्हें समझाया कि—'ये वामनवेषधारी साक्षात् भगवान् हैं, तीन पगमें तीनों लोकोंको नाप लेंगे। तुझे श्रीहीन बना देंगे। ऐसे दानसे क्या लाभ! तुम कह दो कि मैं नहीं दूँगा।'

बलिने कहा—'प्रथम तो किसी बातको कहकर फिर पलट जाना बड़ा पाप है, इसके अतिरिक्त मान लिया ये ब्राह्मण न होकर साक्षात् भगवान् ही हैं, तब तो और भी उत्तम है। मैं भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही यज्ञ कर रहा हूँ, यदि साक्षात् भगवान् मेरी वस्तुको ग्रहण करने आ गये हैं तो मेरा अहोभाग्य है! जो कह दिया है उसे मैं अवश्य करूँगा।'

इसपर क्रुद्ध होकर गुरुने उन्हें शाप दिया, तो भी वे अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए। वामनरूपधारी वे भगवान् तो थे ही। उन्होंने एक पगमें पृथ्वी और दूसरेमें स्वर्ग नाप लिया, तीसरेके बदलेमें बलिको बाँध लिया। बलि तनिक भी विचलित नहीं हुए। उनके सैनिक तथा जातिवाले तो क्रुद्ध भी हुए, किंतु बलिने

* सुन्दर कुलमें जन्म, अच्छे कर्म, युवावस्था, सुन्दर रूप, अर्थकरी विद्या, बड़ा भारी ऐश्वर्य, विपुल धन आदि वस्तुओंको प्राप्त करके जिसे अभिमान न हो—भगवान् कहते हैं—उसपर मेरा परम अनुग्रह समझना चाहिये।

सबको समझाते हुए भगवान्से कहा—'ब्रह्मन्! दातव्य वस्तुसे वस्तुका दाता बड़ा होता है, अतः तीसरे पैरमें आप मेरे शरीरको ले लीजिये।'

महाराज बलिके ऐसे अपूर्व त्यागको देखने ब्रह्मादि समस्त देवता वहाँ आ गये। ब्रह्माजीने भगवान्से पूछा—'भगवन्! शुभ कार्यका फल तो शुभ ही होना चाहिये। इसने यज्ञ किया, दान दिया, फिर भी यह बाँधा क्यों गया?' इसपर भगवान्ने कहा—'ब्रह्मन्! जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका पहले तो मैं धन हर लेता हूँ, पीछे चाहे उसे सम्पूर्ण सम्पत्ति सौंप दूँ। यह तो मेरी कृपा है। बलि मेरा परम भक्त है, इसकी दुर्गति कभी न होगी। देवताओंके भी ऐश्वर्यसे दुर्लभ मैं इसे पातालका ऐश्वर्य दूँगा। एक बार इसकी इन्द्र बननेकी इच्छा हुई थी, उसे पूरा करके मैं इसे अपने धाममें ले जाऊँगा।'

महाराज बलिके त्याग और धैर्यको देखकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'राजन्! तुम जो चाहो वह वरदान मुझसे माँग लो।'

बलिने कहा—'भगवन्! मुझे सांसारिक वस्तुओंकी तो आवश्यकता है नहीं, मैं तो आपको चाहता हूँ। आप सदा मेरे द्वारपर रहें, यही मेरी इच्छा है।'

भगवान् हँसे और सोचने लगे—'हम समझते थे हमने इसे बाँधा है। किंतु इसने उलटे हमहीको बाँध लिया।' भगवान् तो सदा अपने भक्तोंकी प्रेमरज्जुमें बँधे ही हुए हैं। उन्होंने कहा—'आजसे मैं सदा तुम्हारे द्वारपर द्वारपाल बनकर रहूँगा।'

भगवान्का आशीर्वाद पाकर बलि प्रसन्नतापूर्वक सुतललोकमें चले गये, गदापाणि भगवान् आजतक उनके दरवाजेपर एकरूपसे द्वारपाल बने हुए खड़े हैं। यह है भगवान्की भक्तवत्सलताका नमूना और यह है भक्तोंके सर्वस्वत्यागका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण!

(११) श्रीशुकदेवजी

शुकदेवजी महर्षि वेदव्यासके पुत्र हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेकों प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। महर्षि वेदव्यासने यह संकल्प करके कि पृथ्वी, जल, वायु और आकाशकी भाँति धैर्यशाली तथा तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो, गौरी-शंकरकी विहारस्थली सुमेरुशृंगपर घोर तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने वैसा ही पुत्र होनेका वर दिया। यद्यपि भगवान्के अवतार श्रीकृष्णद्वैपायनकी इच्छा और दृष्टिमात्रसे कई महापुरुषोंका जन्म हो सकता था और हुआ है तथापि अपने ज्ञान तथा सदाचारके धारण करनेयोग्य संतान उत्पन्न करनेके लिये और संसारमें किस प्रकारसे संतानकी सृष्टि करनी चाहिये—यह बात बतानेके लिये ही उन्होंने तपस्या की होगी। शुकदेवकी महिमाका वर्णन करते समय इतना स्मरण हो जाना कि वे वेदव्यासके तपस्याजनित पुत्र हैं, उनके महत्त्वकी असीमता सामने ला देता है।

एक दिन वे अरणिमन्थन कर रहे थे। उसी समय घृताची अप्सरा वहाँ आ गयी। संयोग ही ऐसा था, या यों कहें कि यही बात होनेवाली थी, उनका वीर्य अरणिमें ही गिर पड़ा। उसीसे शुकदेवका जन्म हुआ। उनके शरीरसे निर्धूम अग्निकी भाँति निर्मल ज्योति फैल रही थी। वे उस समय बारह वर्षके बालककी भाँति थे। स्त्रीरूप धारण करके गंगाजी वहाँ आयीं, बालकको उन्होंने स्नान कराया। आकाशसे काला मृगचर्म और दण्ड आया। गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर आदि गाने, बजाने और नाचने लगे। देवताओंने पुष्पवर्षा की। सारा संसार आनन्दमग्न हो गया। भगवान् शंकर और पार्वतीने स्वयं पधारकर उसी समय उनका उपनयन-संस्कार कराया। उसी समय सारे वेद, उपनिषद्, इतिहास आदि मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए। अब वे ब्रह्मचारी होकर तपस्या करने लगे। उनकी प्रवृत्ति धर्म, अर्थ और कामकी ओर न थी; वे केवल

मोक्षका ही विचार करते रहते थे।

उन्होंने एक दिन अपने पिता व्यासदेवके पास आकर बड़ी नम्रताके साथ मोक्षके सम्बन्धमें बहुत-से प्रश्न किये। उत्तरमें व्यासदेवने बड़े ही वैराग्यपूर्ण उपदेश दिये। यथा—

'बेटा! धर्मका सेवन करो। यम-नियम तथा दैवी सम्पत्तियोंका आश्रय लो। यह शरीर पानीके बुलबुलेके समान है। आज है तो कल नहीं। क्या पता किस समय इसका नाश हो जाय। इसमें आसक्त होकर अपने कर्तव्यको नहीं भूलना चाहिये। दिन बीते जा रहे हैं। क्षण-क्षण आयु छीज रही है। एक-एक पलकी गिनती की जा रही है। तुम्हारे शत्रु सावधान हैं। तुम्हें नष्ट कर डालनेका मौका ढूँढ़ रहे हैं। अभी-अभी इस संसारकी ओरसे अपना मुँह मोड़ लो। अपने जीवनकी गति उस ओर कर दो, जहाँ इनकी पहुँच नहीं है।'

'संसारमें वे ही महात्मा सुखी हैं, जिन्होंने वैदिकमार्गपर चलकर धर्मका सेवन करके परमतत्त्वकी उपलब्धि की है। उनकी सेवा करो और वास्तविक शान्ति प्राप्त करनेका उपाय जानकर उसपर आरूढ़ हो जाओ। दुष्टोंकी संगति कभी मत करो। वे पतनके गड्ढेमें ढकेल देते हैं। वीरताके साथ काम-क्रोधादि शत्रुओंसे बचो और धीरताके साथ आगे बढ़ो। तुम्हें कोई तुम्हारे मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। परमात्मा तुम्हारा सहायक है। वह तुम्हारी शुभेच्छा और सचाईको जानता है।'

'बेटा! मैं तुम्हारा अधिकार जानता हूँ। तुम तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये मिथिलाके नरपति जनकके पास जाओ। वे तुम्हारे सन्देहको दूरकर स्वरूपबोध करा देंगे। तुम जिज्ञासु हो, बड़ी नम्रताके साथ उनके पास जाना। परीक्षाका भाव मत रखना। घमण्ड मत करना। उनकी आज्ञाका पालन करना। मानुषमार्गसे पैदल तितिक्षा करते हुए ही जाना उचित है।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके शुकदेवजी महाराज कई वर्षमें अनेकों प्रकारके कष्ट सहन करते हुए मिथिलामें पहुँचे। द्वारपालोंने इन्हें अन्दर जानेसे रोक दिया। परंतु उनकी जाज्वल्यमान ज्योतिको देखकर और तिरस्कारकी दशामें भी पूर्ववत् प्रसन्न देखकर एकने उनके पास आकर बड़ी अभ्यर्थना की। वह उन्हें बड़े सत्कारसे अन्दर ले गया। मन्त्रीने उन्हें एक ऐसे स्थानपर ठहराया, जहाँ भोगकी अनेकों वस्तुएँ थीं। उनकी सेवामें बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ लगा दीं, परंतु वे विचलित नहीं हुए। सुख-दुःख, शीत-उष्णमें एक-से रहनेवाले शुकको यह सब देखकर कुछ भी हर्ष-शोक नहीं हुआ। ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न रहकर उन्होंने इसी प्रकार वह दिन और रात्रि बिता दी।

दूसरे दिन प्रातःकाल जनकने आकर उनकी विधिवत् पूजा-अर्चा की। कुशल-मंगलके पश्चात् शुकदेवने अपने आनेका प्रयोजन बतलाया और प्रश्न किया। जनकने उनके अधिकारकी प्रशंसा करके कहा—

'बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता और बिना गुरुसम्बन्धके ज्ञान नहीं होता। इस भवसागरसे पार करनेके लिये गुरु ही कर्णधार है। ज्ञानसे ही कृतकृत्यता प्राप्त होती है। फिर तो सभी मार्ग स्वयं समाप्त हो जाते हैं। लोकमर्यादा और कर्ममर्यादाका उच्छेद न हो, इसीके लिये वर्णाश्रमधर्मका सेवन आवश्यक कहा गया है। इनके आश्रयसे क्रमशः आगे बढ़ते चलें तो अन्तमें पाप-पुण्यसे परेकी गति प्राप्त हो जाती है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमधर्मकी बड़ी आवश्यकता है। जिसे ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही तत्त्वकी उपलब्धि हो जाय उसे और आश्रमोंका कोई प्रयोजन नहीं है। तामसिकता और राजसिकता छोड़कर सात्त्विकताका आश्रय लेना चाहिये। धीरे-धीरे बहिर्मुखताका त्याग करके अन्तर्मुखताका सम्पादन करना ही साधनाका सच्चा स्वरूप है। जो पुरुष सब प्राणियोंमें अपने आत्मा और अपने आत्मामें समस्त प्राणियोंका दर्शन करते हैं, वे पाप-पुण्यसे निर्लेप हो जाते हैं।'

'जिसे किसीका भय नहीं है, जो किसीको भय नहीं पहुँचाता, जिसे न राग है और न द्वेष है, वही ब्रह्मसम्पन्न होता है। जब जीव मन, वाणी और कर्मसे किसीका अनिष्ट नहीं करता; काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मनोमलोंको त्याग देता है; दु:ख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें समान दृष्टि रखने लगता है, तब ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है।'

'शुकदेव! ये सभी बातें तथा अन्यान्य समस्त सद्‌गुण तुममें प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। मैं जानता हूँ कि तुम्हें समस्त ज्ञातव्य बातोंका ज्ञान है। तुम विषयोंके परे पहुँच चुके हो। तुम्हें विज्ञान प्राप्त है। तुम्हारी बुद्धि स्थिर है। तुम ब्रह्ममें स्थित हो, तुम स्वयं ब्रह्म हो। और क्या कहूँ?'

जनकका उपदेश सुनकर शुकदेवको बड़ा आनन्द हुआ। उनसे विदा होकर वे हिमालयपर अपने पिता व्यासजीके आश्रमपर लौट आये।

इनकी उत्पत्तिकी एक ऐसी कथा भी है कि व्यासकी एक वटिका नामकी पत्नी थीं। उन्होंने व्यासदेवकी अनुमतिसे पुत्रप्राप्तिके लिये बड़ी तपस्या की। उससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने वर दिया कि तुम्हें एक बड़ा तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा। समयपर गर्भस्थिति हुई, परंतु बारह वर्ष हो गये प्रसव नहीं हुआ। वह गर्भस्थ शिशु बातचीत भी करता था। इतना ही नहीं, उसने गर्भमें ही वेद, उपनिषद्, दर्शन, इतिहास, पुराण आदिका सम्यक् ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। अब व्यासदेवने बालकसे बड़ी प्रार्थना की कि गर्भसे बाहर निकल आओ, परंतु उसने यह कहकर गर्भसे बाहर आना अस्वीकार कर दिया कि 'मैंने अबतक अनेक योनियोंमें जन्म ग्रहण किया है। बहुत भटक चुका हूँ। अब बाहर न निकलकर यहीं भजन करनेका विचार है।' व्यासदेवने कहा—'तुम नरकरूप इस गर्भसे बाहर आ जाओ। तुम मायाके चक्करमें न पड़ोगे। योगका आश्रय लो। भगवान्‌का भजन करो। तुम्हारा मुख देखकर मैं भी पितृऋणसे मुक्त हो जाऊँगा। अन्यथा तुम्हारी माँ मर जायगी।' माँके मरनेकी बात सुनकर शुकदेवको दया आ गयी। उनका कोमल हृदय पिघल उठा। उन्होंने कहा—'यदि श्रीकृष्ण आकर आपकी बातोंका समर्थन करें तो मैं निकल सकता हूँ।' इसी बहाने उन्होंने जन्मके समय ही अपने पास श्रीकृष्णको बुला लिया। व्यासकी प्रार्थनासे श्रीकृष्णने आकर कहा कि 'गर्भसे निकल आओ। मैं इस बातका साक्षी हूँ कि माया तुमपर प्रभावी नहीं होगी।' वे गर्भसे निकल आये। उस समय उनकी अवस्था बारह वर्षकी थी। जन्मते ही श्रीकृष्ण, माँ और पिताको नमस्कार करके उन्होंने जंगलकी यात्रा की। उनके श्यामवर्णके सुगठित, सुकुमार और सुन्दर शरीरको देखकर व्यासदेव मोहित हो गये। उन्होंने बड़ी चेष्टा की, बहुत समझाया कि तुम मेरे पास ही रहो, परंतु शुकदेवने एक न मानी। उस समयका पिता-पुत्र-संवाद स्कन्दपुराणकी एक अमूल्य वस्तु है। प्रत्येक विरक्तको उसका मनन करना चाहिये। अन्ततः वे विरक्त होकर चले ही गये।

एक अन्य कथा इस प्रकार आती है कि एक समय पार्वतीने जिज्ञासा की कि 'प्रभो! आप मुझे श्रीकृष्णसम्बन्धी कथा सुनायें; क्योंकि आप उन्हींका स्मरण-चिन्तन निरन्तर किया करते हैं।' महादेवने कहा—'बड़ी गोपनीय बात है। देख लो, कोई दूसरा तो नहीं है?' पार्वतीने देखकर कह दिया—'यहाँ कोई दूसरा नहीं है।' वहाँ एक तोतेका सड़ा हुआ अण्डा अवश्य पड़ा था; परंतु वह मर गया था, इससे पार्वतीने उसकी चर्चा ही नहीं की। महादेवने कहा—'अच्छा! हुँकारी भरती जाना।' वे कहने लगे। दशम स्कन्धतक तो वे सुनती गयीं और स्वीकारोक्ति (ओम्)-का उच्चारण भी करती गयीं। परंतु अन्तमें उन्हें नींद आ गयी। अबतक वह तोतेका अण्डा भागवतकथामृतका पान करके जीवित हो उठा था। पार्वतीको निद्रित देखकर उसने हुँकारी भरनी शुरू की। अन्तमें जब पार्वतीकी नींदका पता चला तब महादेवने उस शुकका पीछा किया। वह भागकर व्यासदेवके आश्रमपर आया और उनके मुखमें घुस गया। महादेवके लौटनेपर फिर यही

शुक व्यासदेवके अयोनिज पुत्रके रूपमें प्रकट हुए।

इस प्रकार अनेकों कथाएँ आती हैं। ये सभी सत्य हैं, स्वयं व्यासदेवकी लिखी हैं और कल्पभेदसे सम्भव भी हैं। उनका जीवन विरक्तिमय था। वे निर्गुणमें पूर्णतः परिनिष्ठित थे। व्यासजीसे अलग ही विचरते रहते थे। गाँवोंमें केवल गौ दुहनेके समय जाते और उतने ही समयतक वहाँ रहते। अपनेको सर्वदा गुप्त रखते। व्यासजीकी इच्छा थी कि ये मेरे पास आते और मेरे जीवनकी परमनिधि भागवतसंहिताका अध्ययन करते। परंतु वे मिलते ही न थे। व्यासदेवने भागवतका एक अत्युत्तम श्लोक* अपने विद्यार्थियोंको रटा दिया था। वे उसका गायन करते हुए जंगलोंमें समिधा लाने जाया करते थे। एक दिन उसे शुकदेवने भी सुना। श्रीकृष्णकी लीलाने उन्हें खींच ही लिया। वे निर्गुणनिष्ठ होनेपर भी भगवान्‌के गुणोंमें रम गये। उन्होंने अठारह हजार श्लोकोंका अध्ययन किया। अब वे मन-ही-मन उन्हें गुनगुनाते हुए विचरने लगे। इसी परमहंससंहिताका सप्ताह उन्होंने महाराज परीक्षितको सुनाया था।

इन भागवतवक्ता परमभागवत शुकदेवके पास प्रायः बड़े-बड़े ऋषि आया करते थे। नारदीयपुराणमें सनत्कुमारके और महाभारतमें नारदके आनेकी चर्चा आयी है। उनके आनेपर शुकदेव बड़े प्रेमसे उनकी पूजा करते और उनसे प्रश्न करके तत्त्वकी बात सुनते। एक बार इन्द्रने इनकी तपस्या और त्याग देखकर रम्भा आदि अप्सराओंको विघ्न करनेके लिये भेजा। उस समय शुकदेव इस प्रकार समाधिमग्न हो गये कि उन्हें पता ही न चला कि यहाँ अप्सरा, वसन्त, काम आदि विघ्न करने आये हैं। बहुत समय बाद समाधि खुलनेपर रम्भाने बड़ी चेष्टा की, बहुत फुसलाया, परंतु वे विचलित न हुए। वह लजाकर चली गयी। स्थूल शरीरके कारण होनेवाले विक्षेपोंका विचार करके उन्होंने ब्रह्म होकर ही रहनेका निश्चय किया। उस समय त्रिलोकीके सभी प्राणियोंने उनकी पूजा की। व्यासदेव पुत्रका यह विचार सुनकर शोकाकुल हो उनके पीछे-पीछे दौड़े। शुकदेवने पहले ही आज्ञा कर रखी थी, इसलिये वृक्षोंने व्यासदेवको समझानेकी बहुत कुछ चेष्टा की; पर वे आगे बढ़ते ही गये। एक सरोवरमें कुछ अप्सराएँ स्नान कर रही थीं, वे शुकदेवके सामने ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं किंतु व्यासजीको देखकर वस्त्र पहनने लगीं। इसपर व्यासजीने पूछा कि शुकदेवको देखकर तो तुम स्नान करती ही रह गयीं, मुझे देखकर क्यों निकल आयीं? अप्सराओंने बताया कि—'अभी तुम्हारी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद है, परंतु तुम्हारे पुत्र शुकदेवको नहीं है।' यह सुनकर व्यासजी पुत्रकी महिमासे प्रसन्न और अपनी कमजोरीसे लज्जित हो गये। उनके शोकको देखकर स्वयं महादेवजीने पधारकर उन्हें समझाया कि—'मैंने प्रसन्न होकर तुम्हें ऐसा महत्त्वशाली पुत्र दिया। उसे परमगति प्राप्त हुई है। उसकी कीर्ति अक्षय होगी।' यह कहकर महादेवने उन्हें एक छायाशुक दिया। व्यासदेवने उन्हीं छायाशुकको लेकर सन्तोष किया और अब भी वे निरन्तर अपने पुत्रको देखा करते हैं।

शुकदेव ब्रह्मभूत हो गये हों या छायाशुकके रूपमें विद्यमान हों, कम-से-कम यह बात अधिकारके साथ कही जा सकती है कि वे अब भी हैं और अधिकारी पुरुषोंको दर्शन देकर उपदेश भी करते हैं।

---

* बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥ (श्रीमद्भा० १०।२१।५)

(गोपिकाएँ मन-ही-मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। उनके सिरपर मयूरपिच्छ है और कानोंपर कनेरके पीले-पीले पुष्प; शरीरपर सुनहला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी वैजयन्ती माला है। रंगमंचपर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नटका-सा क्या ही सुन्दर वेष है। बाँसुरीके छिद्रोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गान कर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ वह वृन्दावनधाम उनके चरणचिह्नोंसे और भी रमणीय बन गया है।

कहीं-कहीं इनकी एक पीवरी नामकी स्त्री और कृष्ण, गौरप्रभ आदि संतानोंका भी वर्णन आता है।

(१२) श्रीधर्मराजजी

भगवान् सूर्यकी पत्नी संज्ञासे आपका प्रादुर्भाव हुआ है। आप कल्पान्ततक संयमनीपुरीमें रहकर जीवोंको उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फलका विधान करते रहते हैं। ये पुण्यात्मा लोगोंको धर्मराजके रूपमें बड़े सौम्य और पापात्मा जीवोंको यमराजके रूपमें भयंकर दीखते हैं। जैसे अशुद्ध सोनेको शुद्ध करनेके लिये अग्निमें तपाते हैं, वैसे ही आप कृपावश जीवोंको दण्ड देकर, उन्हें शुद्धकर भगवद्भजनके योग्य बनाते हैं।

भगवान्के मंगलमय नामकी महिमाका वर्णन करते हुए श्रीधर्मराजजी अपने दूतोंसे कहते हैं कि—

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२३-२४)

अर्थात् प्रिय दूतो! भगवान्के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्युपाशसे छुटकारा पा गया। भगवान्के गुण, लीला और नामोंका भली-भाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है; क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चंचलचित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया, इस नामाभासमात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी।

पुनश्च—**ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।**
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२७)

अर्थात् जो समदर्शी साधु भगवान्को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उनपर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रोंका प्रेमसे गान करते रहते हैं। मेरे दूतो! भगवान्की गदा उनकी सर्वदा रक्षा करती रहती है। उनके पास तुम लोग कभी भूलकर भी मत जाना। उन्हें दण्ड देनेकी सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् कालमें ही।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२९)

अर्थात् जिनकी जीभ भगवान्के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता उन भगवत्सेवाविमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।

कठोपनिषद्में उद्दालकमुनिके पुत्र नचिकेता और यमराजका प्रसंग आता है। जिसमें श्रीयमराजजी आत्म-तत्वके सम्बन्धमें की गयी नचिकेताकी जिज्ञासाका समाधान करते हुए कहते हैं कि—**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥** अर्थात् जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला ही इन अनेक जीवोंकी

कामनाओंका विधान करता है, उस अपने अन्दर रहनेवाले पुरुषोत्तमको ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाली शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥** अर्थात् यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त होता है। जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देता है।

अजामिलकी कथा

श्रीप्रियादासजीने अजामिलकी कथा संक्षेपमें निम्न दो कवित्तोंमें वर्णित की है—

धर्यौ पितु मातु नाम अजामेल साँचो भयो भयौ अजामेल तिया छूटी शुभजात की।
कियो मदपान सो सयान गहि दूरि डार्‌यो गार्‌यौ तनु वाहि सों जो कीन्हों लैकै पातकी॥
करि परिहास काहू दुष्ट ने पठाये साधु आये घर देखि बुद्धि आइ गई सातकी।
सेवा करि सावधान सन्तन रिझाय लियो नारायण नाम धरो गर्भ बाल बातकी॥ २३॥
आइ गयो काल मोह जाल में लपटि रह्यो महा विकराल यम दूत सो दिखाइये।
वोही सुत नारायण नाम जो कृपाके दियो लियो सो पुकारि सुर आरत सुनाइये॥
सुनत ही पार्षद आये वाही ठौर दौर तोरि डारे पास कह्यौ धर्म समुझाइये।
हारे लै बिडारे जाइ पति पै पुकारे कही सुनो बजमारे मति जावो हरि गाइये॥ २४॥

कवित्तोंमें वर्णित अजामिलकी कथाका भाव इस प्रकार है—

कन्नौजके आचारच्युत एवं जातिच्युत ब्राह्मण अजामिलने कुलटा दासीको पत्नी बना लिया था। न्याय-अन्यायसे जैसे भी धन मिले, वैसे प्राप्त करना और उस दासीको सन्तुष्ट करना ही उसका काम हो गया था। माता-पिताकी सेवा और अपनी विवाहिता साध्वी पत्नीका पालन भी कर्तव्य है, यह बात उसे सर्वथा भूल चुकी थी।

उस कुलटा दासीसे अजामिलके कई सन्तानें हुईं। पहलेका किया पुण्य सहायक हुआ, किसी सत्पुरुषका उपदेश काम कर गया। अपने सबसे छोटे पुत्रका नाम अजामिलने 'नारायण' रखा। बुढ़ापेकी अन्तिम संतानपर पिताका अपार मोह होता है। अजामिलके प्राण जैसे उस छोटे बालकमें ही बसते थे। इसी मोहग्रस्त दशामें मृत्युकी घड़ी आ गयी। यमराजके भयंकर दूत हाथोंमें पाश लिये आ धमके और अजामिलके सूक्ष्मशरीरको उन्होंने बाँध लिया। उन विकराल दूतोंको देखते ही भयसे व्याकुल अजामिलने पासमें खेलते हुए अपने पुत्रको कातर स्वरमें पुकारा—'नारायण! नारायण!'

'नारायण!' एक मरणासन्न प्राणीकी यह कातर पुकार सुनी भगवत्पार्षदोंने और वे दौड़ पड़े। यमदूतोंका पाश उन्होंने छिन्न-भिन्न कर दिया।

बेचारे यमदूत हक्के-बक्के देखते रह गये। उनका ऐसा अपमान कहीं नहीं हुआ था। साहस करके वे भगवत्पार्षदोंसे बोले—'आपलोग कौन हैं? हम तो धर्मराजके सेवक हैं। उनकी आज्ञासे पापीको उनके समक्ष ले जाते हैं। आप हमें अपने कर्तव्यपालनसे क्यों रोकते हैं?'

भगवत्पार्षदोंने फटकार दिया—'तुम धर्मराजके सेवक सही हो, किंतु तुम्हें धर्मका ज्ञान ही नहीं है। जानकर या अनजानमें ही जिसने 'भगवान् नारायण' का नाम ले लिया, वह पापी रहा कहाँ! इस पुरुषने पुत्रके बहाने सही, नाम तो नारायण प्रभुका लिया है; फिर इसके पाप रहे कहाँ? तुम एक निष्पापको कष्ट देनेकी धृष्टता मत करो!'

यमदूत क्या करते, वे अजामिलको छोड़कर यमलोक आ गये और अपने स्वामीके सम्मुख हाथ जोड़कर सारा वृत्तान्त निवेदित किया।

दूतों की बात सुनकर यमराज बोले—'सेवको! तुमलोग केवल उसी पापी जीवको लेने जाया करो, जिसकी जीभसे कभी किसी प्रकार भगवन्नाम न निकला हो, जिसने कभी भगवत्कथा न सुनी हो, जिसके पैर कभी भगवान्के पावन लीलास्थलोंमें न गये हों अथवा जिसके हाथोंने कभी भगवान्के श्रीविग्रहकी पूजा न की हो।'

षोडश पार्षद

बिष्वकसेन जय बिजय प्रबल बल मंगलकारी।
नंद सुनंद सुभद्र भद्र जग आमयहारी॥
चंड प्रचंड बिनीत कुमुद कुमुदाच्छ करुनालय।
सील सुसील सुषेन भाव भक्तन प्रतिपालय॥
लक्ष्मीपति प्रीणन प्रबीन भजनानँद भक्तन सुहृद।
मो चितबृति नित तहँ रहौ जहँ नारायन (पद) पारषद॥ ८॥

विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल और बल—ये भक्तोंका मंगल करनेवाले हैं। नन्द, सुनन्द, सुभद्र और भद्र—ये भवरोगोंको हरनेवाले हैं। चण्ड, प्रचण्ड, कुमुद और कुमुदाक्ष—ये परम विनीत तथा अति कृपालु हैं। शील, सुशील और सुषेण—ये भावुक भक्तोंके प्रतिपालक हैं। ये सोलह प्रधान पार्षद श्रीलक्ष्मीनारायणकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न करनेमें परम चतुर हैं और भजनानन्दी भक्तोंके हितकारी हैं। मेरी चित्तवृत्ति सर्वदा वहाँ ही रहे, जहाँ नारायण भगवान्के पार्षद रहते हैं॥ ८॥

प्रियादासजीने एक कवित्तमें षोडश पार्षदोंकी महिमाका वर्णन इस प्रकार किया है—

पारषद मुख्य कहे सोरह सुभाव सिद्ध सेवा ही की ऋद्धि हिये राखि बहु जोरि कै।
श्रीपति नारायण के प्रीनन प्रबीन महा ध्यान करैं जन पालैं भाव दृग कोरि कै॥
सनकादि दियो शाप प्रेरि कै दिवायो आप प्रगट ह्वै कह्यौ पियौ सुधा जिमि घोरि कै।
गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई याते रीति हद गाई धरी रंग बोरि कै॥ २५॥

श्रीनाभाजीने नारायण भगवान्के मुख्य सोलह पार्षद कहे। ये सहज स्वभावसे ही नित्य-सिद्ध एवं नित्य-मुक्त हैं। इन्होंने भगवत्सेवारूपी अनन्त सम्पत्तिको हृदयमें एकत्र कर रखा है। ये लक्ष्मीपति नारायणको प्रसन्न करनेमें परम चतुर हैं। सदा भगवान्के ध्यानमें मग्न रहते हैं। प्रेमभावसे पूर्ण दृष्टिकोणसे भक्तोंका पालन करते हैं। स्वयं नारायण भगवान्ने प्रेरणा करके सनकादिकोंसे जय-विजयको तीन जन्मतक असुर होनेका शाप दिलाया। फिर वहाँ प्रकट होकर बोले कि यह शाप मेरी इच्छासे ही हुआ है। यह सुनकर जय-विजयने शापको अमृतपानके समान रुचिपूर्वक स्वीकार किया और कहा कि 'यदि आपको यही अच्छा लगता है तो अनुकूल सेवा-सुख त्यागकर प्रतिकूल शत्रुभाव भी स्वीकार है।' ऐसी रंगीली प्रीतिकी रीति धारण की, इससे इनकी उपासनाकी रीति अन्तिम सीमाकी कही गयी है॥ २५॥

भगवान् श्रीनारायणके पार्षद

भगवान् नारायणके पार्षद असंख्य हैं, उनमेंसे सोलह पार्षद प्रमुख हैं, जिनके नाम छप्पयमें स्मरण किये गये हैं। इन पार्षदोंका स्वरूप भगवान्के ही तुल्य होता है। अन्तर केवल श्रीवत्स और कौस्तुभका है। ये

दोनों चिह्न श्रीभगवान्‌के ही होते हैं, पार्षदोंके नहीं। यथा—'**प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः॥ आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ। पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम्॥**' (श्रीमद्भा० ६। ९। २८-२९) अर्थात् [जब देवताओंने इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति की] तब शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् उनके सामने पश्चिमकी ओर (अन्तर्देशमें) प्रकट हुए। भगवान्‌के नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए थे। उनके साथ सोलह पार्षद उनकी सेवामें लगे हुए थे। वे देखनेमें सब प्रकारसे भगवान्‌के समान ही थे। केवल वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न और गलेमें कौस्तुभमणि नहीं थी। बल, प्रबल, नन्द, सुनन्द, भद्र, सुभद्र, कुमुद और कुमुदाक्षकी गणना वैष्णव द्वारपालके रूपमें की जाती है। यथा—'**नन्दादयोऽष्टौ द्वास्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः।**' (श्रीमद्भा० १२। ११। २०) अर्थात् भगवान्‌के स्वाभाविक गुण, अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियोंको ही नन्द-सुनन्द आदि आठ द्वारपाल कहते हैं। भगवान्‌के प्रधान-पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी हैं, वे पांचरात्रादि आगमरूप हैं—'**विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।**'

श्रीवैकुण्ठधाममें भगवान् विष्णुके मणिमय प्रासादके पश्चिम द्वारपर जय-विजय द्वारकी रक्षामें तत्पर रहते हैं। पूर्वके दरवाजेपर चण्ड और प्रचण्ड, दक्षिण द्वारपर भद्र और सुभद्र तथा उत्तरके दरवाजेपर धाता और विधाता नामके द्वारपाल रहते हैं। कुमुद और कुमुदाक्षकी गणना वैकुण्ठके मध्यमें स्थित अयोध्या नगरीके दिक्पालोंमें भी की जाती है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, अजेय हैं, पर उनके नित्य-पार्षद उनकी रक्षा और सेवामें सदा तत्पर रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि जब वैष्णव पार्षदोंने देखा कि बलिके अनुचर दैत्योंने वामनभगवान्‌को मारनेके लिये अस्त्र-शस्त्र उठा लिये तब उन्होंने भी हँसकर अपने अस्त्र उठा लिये, असुरोंको रोक दिया। नन्द-सुनन्द, जय-विजय, बल-प्रबल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त, सात्वत आदि भगवत्पार्षद दस-दस हजार हाथियोंका बल रखते हैं। यथा—

इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः॥
ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः।
अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवञ्जातमन्यवः॥
तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः॥
नन्दः सुनन्दोऽथ जयो विजयः प्रबलो बलः।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्त्रिराट्॥
जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः।
सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम्॥

(श्रीमद्भा० ८। २१। १३—१७)

जैसे भगवान् भक्तोंके लिये मंगलकारी, आमयहारी, करुणालय, प्रतिपालक तथा सुहृद् हैं, वैसे ही भगवत्पार्षद भी इन समस्त सद्गुणोंसे युक्त हैं। अजामिलके प्रसंगमें ये सभी गुण चरितार्थ दीखते हैं। यथा—

तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः।
प्रायेण दूता इह वै मनोहराश्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः॥
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च॥

अर्थात् उन सबके स्वामी, परम स्वतन्त्र, मायापति पुरुषोत्तमके दूत उन्हींके समान परम मनोहर रूप, गुण और स्वभावसे सम्पन्न होकर इस लोकमें प्रायः विचरण किया करते हैं। विष्णुभगवान्‌के सुरपूजित एवं परम अलौकिक पार्षदोंका दर्शन बड़ा दुर्लभ है। वे भगवान्‌के भक्तजनोंको उनके शत्रुओंसे, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियोंसे सर्वदा सुरक्षित रखते हैं। [श्रीमद्भा० ६।३।१७-१८]

हरिवल्लभ (भगवान्‌के प्रिय भक्त)

कमला गरुड़ सुनंद आदि षोडस प्रभु पद रति।
हनु जमवंत सुग्रीव बिभीषन सबरी खगपति॥
ध्रुव उद्धव अँबरीष बिदुर अक्रूर सुदामा।
चंद्रहास चित्रकेतु ग्राह गज पांडव नामा॥
कौषारव कुंती बधू पट ऐंचत लज्जा हरी।
हरि बल्लभ सब प्रारथौं (जिन) चरन रेनु आसा धरी॥ ९॥

श्रीलक्ष्मीजी, गरुड़जी, सुनन्द आदि सोलह पार्षद, हनुमान्‌जी, जाम्बवान्‌जी, सुग्रीवजी, विभीषणजी, श्रीशबरीजी, खगपति जटायुजी, ध्रुवजी, उद्धवजी, अम्बरीषजी, विदुरजी, अक्रूरजी, सुदामाजी, चन्द्रहासजी, चित्रकेतुजी, ग्राह, गजेन्द्र, पाण्डव (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव), श्रीमैत्रेयजी, कुन्तीजी और द्रौपदीजी, जिनकी लज्जा दुःशासनके वस्त्र खींचते समय भगवान्‌ने रखी। इन सबकी प्रभुके पादपद्मोंमें प्रीति है। इन हरिके प्यारे भक्तोंकी प्रार्थना करता हूँ। इनके चरणोंकी रजको प्राप्त करनेकी आशा मनमें धारण की है॥ ९॥

श्रीप्रियादासजीने भगवान्‌के प्रिय भक्तोंकी महिमा निम्न कवित्तमें वर्णित की है—

हरि के जे वल्लभ हैं दुर्लभ भुवन माँझ तिनहीं की पदरेणु आसा जिय करी है।
योगी यती तपी तासों मेरो कछु काज नाहिं प्रीति परतीत रीति मेरी मति हरी है॥
कमला गरुड़ जाम्बवान सुग्रीव आदि सबै स्वाद रूप कथा पोथिन में धरी है।
प्रभुसों सचाई जग कीरति चलाई अति मेरे मन भाई सुखदाई रस भरी है॥ २६॥

जो भगवान्‌के प्यारे भक्त हैं, वे चौदहों भुवनोंमें दुर्लभ हैं, मैंने उन्हींकी चरणरेणुको प्राप्त करनेकी आशा की है। भक्तिहीन जो कोरे योगी, संन्यासी और तपस्वी हैं, उन लोगोंसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। भक्तोंकी प्रीति, विश्वास और उपासनाकी रीतिने मेरी बुद्धिको अपनी ओर खींच लिया है। लक्ष्मी, गरुड, जाम्बवान् और सुग्रीव आदिकी अति मधुर कथाएँ पुराण आदि ग्रन्थोंमें लिखी हैं। जिन भक्तोंने प्रभुसे निष्कपट सच्चा प्रेम किया तथा संसारमें अपनी और भगवान्‌की कीर्ति फैलायी, उनकी वह रसमयी मधुर गाथा मेरे मनको बहुत अच्छी लगी; क्योंकि वह सुनने-सुनानेमें हृदयको सुख देनेवाली है॥ २६॥

यहाँ संक्षेपमें भगवान्‌के प्रिय भक्तोंकी कथाएँ दी जा रही हैं—

श्रीकमला (श्रीलक्ष्मीजी)

भगवती लक्ष्मीजी विष्णुवल्लभा हैं, वे भगवान् विष्णुसे अभिन्न हैं। उनके विषयमें बताते हुए पराशरजी श्रीमैत्रेयजीसे कहते हैं—हे द्विजश्रेष्ठ! भगवान्‌का कभी संग न छोड़नेवाली जगज्जननी लक्ष्मीजी नित्य हैं और जिस प्रकार श्रीविष्णुभगवान् सर्वव्यापक हैं, वैसे ही ये भी हैं। विष्णु अर्थ हैं तो लक्ष्मीजी वाणी हैं; हरि न्याय हैं तो ये नीति हैं; भगवान् विष्णु बोध हैं तो ये बुद्धि हैं; तथा वे धर्म हैं तो लक्ष्मीजी सत्क्रिया

हैं। मैत्रेय! भगवान् जगत्‌के स्रष्टा हैं तो लक्ष्मीजी सृष्टि हैं। श्रीहरि भूधर (पर्वत अथवा राजा) हैं तो लक्ष्मीजी भूमि हैं; भगवान् सन्तोष हैं तो लक्ष्मीजी नित्य-तुष्टि हैं। भगवान् काम हैं तो लक्ष्मीजी इच्छा हैं; वे यज्ञ हैं तो ये दक्षिणा हैं; श्रीजनार्दन पुरोडाश हैं तो देवी लक्ष्मीजी आज्याहुति (घृतकी आहुति) हैं। मुने! मधुसूदन यजमानगृह हैं तो लक्ष्मी पत्नीशाला हैं; श्रीहरि यूप (यज्ञस्तम्भ) हैं तो लक्ष्मीजी चिति (इष्टका-चयन) हैं; भगवान् कुशा हैं तो लक्ष्मीजी समिधा हैं। भगवान् सामस्वरूप हैं तो श्रीकमलादेवी उद्‌गीति हैं; जगत्पति भगवान् वासुदेव हुताशन हैं तो लक्ष्मीजी (उनकी पत्नी) स्वाहा हैं। द्विजोत्तम! भगवान् विष्णु शंकर हैं तो श्रीलक्ष्मीजी गौरी हैं; इसी प्रकार हे मैत्रेय! श्रीकेशव सूर्य हैं तो कमलवासिनी श्रीलक्ष्मीजी उनकी प्रभा हैं। श्रीविष्णु पितृगण हैं तो श्रीकमला नित्य पुष्टिदायिनी (उनकी पत्नी) स्वधा हैं; विष्णु अति विस्तीर्ण सर्वात्मक आकाश हैं तो लक्ष्मीजी स्वर्गलोक हैं। भगवान् श्रीधर चन्द्रमा हैं तो श्रीलक्ष्मीजी उनकी अक्षय कान्ति हैं; श्रीहरि सर्वगामी वायु हैं तो लक्ष्मीजी जगच्चेष्टा (जगत्‌की गति) और धृति (आधार) हैं। हे महामुने! श्रीगोविन्द समुद्र हैं तो हे द्विज! लक्ष्मीजी उसकी तटभूमि हैं। भगवान् मधुसूदन देवराज इन्द्र हैं तो लक्ष्मीजी इन्द्राणी हैं। चक्रपाणि भगवान् साक्षात् यम हैं तो श्रीकमला यमपत्नी धूमोर्णा हैं; देवाधिदेव श्रीविष्णु स्वयं कुबेर हैं तो श्रीलक्ष्मीजी साक्षात् ऋद्धि हैं। श्रीकेशव स्वयं वरुण हैं तो महाभागा लक्ष्मीजी गौरी हैं; हे द्विजराज! श्रीहरि देवसेनापति स्वामिकार्तिकेय हैं तो श्रीलक्ष्मीजी देवसेना हैं। हे द्विजोत्तम! भगवान् गदाधर शक्तिके आधार हैं तो लक्ष्मीजी शक्ति हैं; भगवान् निमेष हैं तो लक्ष्मीजी काष्ठा हैं; वे मुहूर्त हैं तो ये कला हैं। सर्वेश्वर सर्वरूप श्रीहरि दीपक हैं तो श्रीलक्ष्मीजी ज्योति हैं; श्रीविष्णु वृक्षरूप हैं तो जगन्माता श्रीलक्ष्मीजी लता हैं। चक्र-गदाधर देव श्रीविष्णु दिन हैं तो लक्ष्मीजी रात्रि हैं; वरदायक श्रीहरि वर (दूल्हा) हैं तो पद्मनिवासिनी श्रीलक्ष्मीजी वधू (दुलहिन) हैं। भगवान् नद हैं तो श्रीजी नदी हैं। कमलनयन भगवान् ध्वजा (झण्डा) हैं तो कमलालया लक्ष्मीजी पताका हैं। जगदीश्वर परमात्मा नारायण लोभ हैं तो लक्ष्मीजी तृष्णा हैं तथा हे मैत्रेय! रति और राग भी साक्षात् श्रीलक्ष्मी और गोविन्दरूप ही हैं। अधिक क्या कहा जाय, संक्षेपमें यह कहना चाहिये कि देव, तिर्यक् और मनुष्य आदिमें पुरुषवाची तत्त्व भगवान् श्रीहरि हैं और स्त्रीवाची तत्त्व श्रीलक्ष्मीजी; इनके परे और कोई नहीं है।

श्रीगरुड़जी

प्रजापति दक्षकी तेरह कन्याएँ महर्षि कश्यपसे ब्याही गयी थीं, इनमेंसे कद्रू और विनता पुत्र-कामनासे बड़े अनुरागपूर्वक पतिकी सेवा करने लगीं। सेवासे सन्तुष्ट महर्षि कश्यपने जब दोनोंको मनभावता वर माँगनेको कहा तो कद्रूने समान शक्तिवाले एक हजार नागोंको पुत्ररूपमें पानेका वर माँगा। विनताने कद्रूके पुत्रोंसे सभी गुणोंमें श्रेष्ठ केवल दो पुत्रोंका वर माँगा। ऋषिने एवमस्तु कहा। फलस्वरूप कालान्तरमें कद्रूने एक हजार और विनताने दो अण्डे दिये। पाँच सौ वर्षतक अण्डोंके सेवन करनेके अनन्तर कद्रूके हजार नागपुत्र तो अण्डोंसे बाहर आ गये, परंतु विनताके अण्डे ज्यों-के-त्यों रहे। अधीर होकर विनताने एक अण्डा स्वयं फोड़ डाला तो देखा कि पुत्रके शरीरका ऊपरी भाग पूर्णरूपसे विकसित एवं पुष्ट था किंतु नीचेका आधा अंग अभी अधूरा रह गया था। माताकी इस नादानीसे क्रुद्ध होकर पुत्रने शाप दिया कि तूने जिस सौतकी ईर्ष्यावश आतुरताके कारण मुझे अधूरे शरीरवाला बना दिया, उसीकी पाँच सौ वर्षोंतक दासी बनी रहेगी और यह तुम्हारा दूसरा पुत्र तुम्हें दासीभावसे मुक्त करेगा। परंतु धैर्य रखना, कहीं आतुरतामें इस अण्डेको भी नहीं फोड़ देना। तेजोमय अरुणकान्तिके कारण विनताके उस प्रथम पुत्रका नाम अरुण पड़ा और ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे सूर्यके सारथी बने। तदनन्तर समय पूरा होनेपर श्रीगरुड़जीका जन्म हुआ। उस समय

वे प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित एवं प्रकाशित हो रहे थे। श्रीगरुड़जीके तेजको न सह सकनेके कारण देवताओंने उनकी स्तुति की तो इन्होंने अपना तेज समेट लिया।

कद्रू और कद्रू-पुत्र नागोंके द्वारा बार-बार दासवत् व्यवहार किये जानेपर श्रीगरुड़जीने जब इसका हेतु पूछा तो विनताने कद्रूके कपटकी कथा सुनायी। बात यह हुई कि एक बार दोनोंमें सूर्यके घोड़ेकी अथवा क्षीरसमुद्रसे निकले हुए उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेकी पूँछके रंगके विषयमें वाद-विवाद हुआ, कद्रू काली बताती और विनता श्वेत। अन्ततोगत्वा यह निश्चय हुआ कि जिसकी बात झूठी निकले, वह दूसरेकी दासी होकर रहे। कद्रूकी आज्ञानुसार उसके पुत्र नाग घोड़ेकी पूँछसे जा लिपटे, जिससे वह काली दीख पड़ी। इस चालाकीसे कद्रूने विनताको दासी बना लिया और अनेकों कष्ट दिया करती थी। यह सब जानकर श्रीगरुड़जीने नागोंसे कहा कि हम तुम्हारा क्या काम कर दें, जिससे कि मैं और मेरी माता दासभावसे छुटकारा पा जायँ? उन्होंने कहा कि हमें अमृत ला दो।

श्रीगरुड़जी माताको प्रणामकर, आज्ञा और आशीर्वाद पाकर स्वर्गमें जाकर देवताओंको पराजितकर अमृतके पात्रको लेकर बड़ी तेजीसे वहाँसे उड़ चले। अमृत अपने अधिकारमें होनेपर भी श्रीगरुड़जी स्वयं उसे नहीं पीये। उनकी यह निःस्पृहता देखकर भगवान् विष्णुने प्रसन्न होकर उन्हें बिना अमृत-पानके ही अजर-अमर होनेका तथा अपनी ध्वजापर स्थित रहनेका एवं अपना वाहन बननेका परम दुर्लभ वरदान दिया। अमृतका अपहरण करके लिये जाते देखकर देवेन्द्रने रोषमें भरकर श्रीगरुड़जीके ऊपर वज्रका आघात किया परंतु भगवान्से वर पाकर अजर-अमर हुए गरुड़जीने तो वज्रकी मर्यादा रखनेके लिये मुसकराकर अपना एक पंखमात्र गिरा दिया। वैनतेयके इस अद्भुत पराक्रमसे प्रभावित होकर इन्द्रने वैरभावका परित्यागकर दृढ़ मैत्री कर ली। श्रीगरुड़जीने अमृतके सम्बन्धमें अपना भाव व्यक्त किया कि मुझे इसको पीना नहीं है। माताको दासीपनेसे मुक्त करानेके लिये मैं इसे सर्पोंको सौंपूँगा, आप उनसे ले लेना। इन्द्रने इस बातसे सन्तुष्ट होकर गरुड़जीका सर्पोंको भक्षण करनेमें समर्थ होनेका अभीष्ट वर प्रदान किया।

श्रीगरुड़जीने अमृत-पात्र सर्पोंको प्रदान किया। माताको दासीपनेसे मुक्त किया, स्वयं स्वच्छन्द हुए। सर्प अमृतको कुशोंमें छिपाकर स्नान करने चले गये, इसी बीचमें इन्द्र वह अमृत लेकर पुनः स्वर्गको चले गये। अमृतके अभावमें सर्पोंने लोभवश कुशोंको ही चाटना शुरू किया, जिससे उनकी जीभके दो भाग हो गये। तभीसे सर्प द्विजिह्वा हो गये तथा तभीसे कुशा अमृतका स्पर्श होनेके कारण परम पवित्र हो गया।

श्रीगरुड़जीने भगवान् सूर्यके पास जाकर वेद पढ़ानेकी प्रार्थना की। परंतु इन्हें पक्षी होनेके कारण अनधिकारी जानकर सूर्यने वेद पढ़ानेसे इनकार कर दिया। ये बड़े ही उदास तथा अप्रसन्न होकर वहाँसे लौटे। इनकी अप्रसन्नता देखकर सूर्य डर गये कि इनके बड़े भाई अरुण मेरे सारथी हैं, कहीं यह उन्हें भी लेकर चले गये तो मेरा सब काम ही बन्द हो जायगा, अतः पुनः गरुड़जीको बुलाया, परंतु इन्होंने तो तपके द्वारा वेद-ज्ञान प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया था अतः वापस नहीं लौटे। तब सूर्यने स्वयं बिना तप किये ही तप-फलस्वरूप समस्त वेदका बोध होनेका वरदान दिया और यह भी कहा कि आपके पंखोंसे निरन्तर साम-गानकी ध्वनि होती रहेगी।

श्रीगरुड़जी सर्वात्मना भगवान्की सेवामें तत्पर रहते हैं। आपकी सेवाओंका स्मरण करते हुए श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी कहते हैं—

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता त्वदङ्घ्रिसम्मर्दकिणांकशोभिना॥

(आलवन्दारस्तोत्र)

अर्थात् ऋक्, यजुः, सामवेदरूप (वेदत्रयी) जिनका स्वरूप है, जो आपके चरण-कमलोंके संघर्षके चिह्नसे अंकित शरीरवाले हैं, जो समय-समयपर आपके दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान तथा पंखा बनकर आपकी सेवा करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं, वे गरुड़जी आपके आगे खड़े रहते हैं।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीगरुड़जीको महाज्ञानी-गुणराशि, हरि-सेवक, हरिके अत्यन्त निकट निवास करनेवाला कहा है। यथा—*'गरुड़ महाग्यानी गुनरासी। हरि सेवक अति निकट निवासी॥'* भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने-आपको पक्षियोंमें वैनतेय बताया है। यथा—'**वैनतेयश्च पक्षिणाम्।**'

सुनन्द आदि

सुनन्द भगवान् विष्णुके सोलह प्रधान पार्षदोंमेंसे एक हैं। इनका स्वरूप भगवान् विष्णुके ही सदृश नवघनश्याम, चतुर्भुज और पीताम्बरालंकृत है। भगवान्के दिव्य वैकुण्ठधाममें ये उनकी सेवामें सदा सन्नद्ध रहते हैं।

श्रीहनुमान्जी

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यानघन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

भगवान् शंकरके अंशसे वायुके द्वारा कपिराज केसरीकी पत्नी अंजनामें हनुमान्जीका प्रादुर्भाव हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी सेवा शंकरजी अपने रूपसे तो कर नहीं सकते थे, अतएव उन्होंने ग्यारहवें रुद्ररूपको इस प्रकार वानररूपमें अवतरित किया। जन्मके कुछ ही समय पश्चात् महावीर हनुमान्जीने उगते हुए सूर्यको कोई लाल-लाल फल समझा और उसे निगलने आकाशकी ओर दौड़ पड़े। उस दिन सूर्यग्रहणका समय था। राहुने देखा कि कोई दूसरा ही सूर्यको पकड़ने आ रहा है, तब वह उस आनेवालेको पकड़ने चला, किंतु जब वायुपुत्र उसकी ओर बढ़े, तब वह डरकर भागा। राहुने इन्द्रसे पुकार की। ऐरावतपर चढ़कर इन्द्रको आते देख पवनकुमारने ऐरावतको कोई बड़ा-सा सफेद फल समझा और उसीको पकड़ने लपके। घबराकर देवराजने वज्रसे प्रहार किया। वज्रसे इनकी ठोड़ी (हनु)-पर चोट लगनेसे वह कुछ टेढ़ी हो गयी, इसीसे ये हनुमान् कहलाने लगे। वज्र लगनेपर ये मूर्च्छित होकर गिर पड़े। पुत्रको मूर्च्छित देखकर वायुदेव बड़े कुपित हुए। उन्होंने अपनी गति बन्द कर ली। श्वास रुकनेसे देवता भी व्याकुल हो गये। अन्तमें हनुमान्को सभी लोकपालोंने अमर होने तथा अग्नि-जल-वायु आदिसे अभय होनेका वरदान देकर वायुदेवको सन्तुष्ट किया।

जातिस्वभावसे चंचल हनुमान् ऋषियोंके आश्रमोंमें वृक्षोंको सहज चपलतावश तोड़ देते तथा आश्रमकी वस्तुओंको अस्त-व्यस्त कर देते थे। अतः ऋषियोंने इन्हें शाप दिया—'तुम अपना बल भूले रहोगे। जब कोई तुम्हें स्मरण दिलायेगा, तभी तुम्हें अपने बलका भान होगा।' तबसे ये सामान्य वानरकी भाँति रहने लगे। माताके आदेशसे सूर्यनारायणके समीप जाकर वेद-वेदांग-प्रभृति समस्त शास्त्रों एवं कलाओंका इन्होंने अध्ययन किया। उसके पश्चात् किष्किन्धामें आकर सुग्रीवके साथ रहने लगे। सुग्रीवने इन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। जब बालिने सुग्रीवको मारकर निकाल दिया, तब भी ये सुग्रीवके साथ ही रहे। सुग्रीवके

विपत्तिके साथी होकर ऋष्यमूकपर ये उनके साथ ही रहते थे।

बचपनमें माता अंजनासे बार-बार आग्रहपूर्वक इन्होंने अनादि रामचरित सुना था। अध्ययनके समय वेदमें, पुराणोंमें श्रीरामकथाका अध्ययन किया था। किष्किन्धा आनेपर यह भी ज्ञात हो गया कि परात्पर प्रभुने अयोध्यामें अवतार धारण कर लिया। अब वे बड़ी उत्कण्ठासे अपने स्वामीके दर्शनकी प्रतीक्षा करने लगे। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—'जो निरन्तर भगवान्‌की कृपाकी आतुर प्रतीक्षा करते हुए अपने प्रारब्धसे प्राप्त सुख-दुःखको सन्तोषपूर्वक भोगते रहकर हृदय, वाणी तथा शरीरसे भगवान्‌को प्रणाम करता रहता है—हृदयसे भगवान्‌का चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के नाम-गुणका गान-कीर्तन और शरीरसे भगवान्‌का पूजन करता रहता है, वह मुक्तिपदका स्वत्वाधिकारी हो जाता है।' श्रीहनुमान्‌जी तो जन्मसे ही मायाके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त थे। वे तो अहर्निश अपने स्वामी श्रीरामके ही चिन्तनमें लगे रहते थे। अन्तमें श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ रावणके द्वारा सीताजीके चुरा लिये जानेपर उन्हें ढूँढ़ते हुए ऋष्यमूकके पास पहुँचे। सुग्रीवको शंका हुई कि इन राजकुमारोंको बालिने मुझे मारनेको न भेजा हो। अतः परिचय जाननेके लिये उन्होंने हनुमान्‌जीको भेजा। विप्रवेष धारणकर हनुमान्‌जी आये और परिचय पूछकर जब अपने स्वामीको पहचाना, तब वे उनके चरणोंपर गिर पड़े। वे रोते-रोते कहने लगे—

एकु मैं मंद मोह बस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

श्रीरामने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। तभीसे हनुमान्‌जी श्रीअवधेशकुमारके चरणोंके समीप ही रहे। हनुमान्‌जीकी प्रार्थनासे भगवान्‌ने सुग्रीवसे मित्रता की और बालिको मारकर सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य दिया। राज्यभोगमें सुग्रीवको प्रमत्त होते देख हनुमान्‌जीने ही उन्हें सीतान्वेषणके लिये सावधान किया। वे पवनकुमार ही वानरोंको एकत्र कर लाये। श्रीरामजीने उनको ही अपनी मुद्रिका दी। सौ योजन समुद्र लाँघनेका प्रश्न आनेपर जब जाम्बवन्तजीने हनुमान्‌जीको उनके बलका स्मरण दिलाकर कहा कि 'आपका तो अवतार ही रामकार्य सम्पन्न करनेके लिये हुआ है,' तब अपनी शक्तिका बोधकर केसरीकिशोर उठ खड़े हुए। उनके बल और बुद्धिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये देवताओंके द्वारा भेजी हुई नागमाता सुरसाको सन्तुष्ट करके समुद्रमें छिपी राक्षसी सिंहिकाको मारकर हनुमान्‌जी लंका पहुँचे। द्वाररक्षिका लंकिनीको एक घूँसेमें सीधा करके छोटा रूप धारणकर ये लंकामें रात्रिके समय प्रविष्ट हुए। विभीषणजीसे पता पाकर अशोकवाटिकामें जानकीजीके दर्शन किये। उनको आश्वासन देकर अशोकवनको उजाड़ डाला। रावणके भेजे राक्षसों तथा रावणपुत्र अक्षयकुमारको मार दिया। मेघनाद इन्हें ब्रह्मास्त्रमें बाँधकर राजसभामें ले गया। वहाँ रावणको भी हनुमान्‌जीने अभिमान छोड़कर भगवान्‌की शरण लेनेकी शिक्षा दी। राक्षसराजकी आज्ञासे इनकी पूँछमें आग लगा दी गयी। इन्होंने उसी अग्निसे सारी लंका फूँक दी। सीताजीसे चिह्नस्वरूप चूड़ामणि लेकर भगवान्‌के समीप लौट आये।

समाचार पाकर श्रीरामने युद्धके लिये प्रस्थान किया। समुद्रपर सेतु बाँधा गया। संग्राम हुआ और अन्तमें रावण अपने समस्त अनुचर, बन्धु-बान्धवोंके साथ मारा गया। युद्धमें श्रीहनुमान्‌जीका पराक्रम, उनका शौर्य, उनकी वीरता सर्वोपरि रही। वानरी सेनाके संकटके समय वे सदा सहायक रहे। राक्षस उनकी हुंकारसे ही काँपते थे। लक्ष्मणजी जब मेघनादकी शक्तिसे मूर्च्छित हो गये, तब मार्गमें पाखण्डी कालनेमिको मारकर द्रोणाचलको हनुमान्‌जी उखाड़ लाये और इस प्रकार संजीवनी ओषधि आनेसे लक्ष्मणजीको चेतना प्राप्त हुई। मायावी अहिरावण जब माया करके राम-लक्ष्मणको युद्धभूमिसे चुरा ले गया, तब पाताल जाकर अहिरावणका वध करके हनुमान्‌जी श्रीरामजीको भाई लक्ष्मणजीके साथ ले आये। रावणवधका समाचार

श्रीजानकीको सुनानेका सौभाग्य और 'श्रीराम लौट रहे हैं'—यह आनन्ददायक समाचार भरतजीको देनेका गौरव भी प्रभुने अपने प्रिय सेवक हनुमान्‌जीको ही दिया।

हनुमान्‌जी विद्या, बुद्धि, ज्ञान तथा पराक्रमकी मूर्ति हैं, किंतु इतना सब होनेपर भी अभिमान उन्हें छूतक नहीं गया। जब वे लंका जलाकर अकेले ही रावणका मान-मर्दन करके प्रभुके पास लौटे और प्रभुने पूछा कि 'त्रिभुवन-विजयी रावणकी लंकाको तुम कैसे जला सके?' तब उन्होंने उत्तर दिया—

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई॥
नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

हनुमान्‌जी आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। व्याकरणके महान् पण्डित हैं, वेदज्ञ हैं, ज्ञानिशिरोमणि हैं, बड़े विचारशील, तीक्ष्णबुद्धि तथा अतुलपराक्रमी हैं। श्रीहनुमान्‌जी बहुत निपुण संगीतज्ञ और गायक भी हैं। एक बार देव-ऋषि-दानवोंके एक महान् सम्मेलनमें जलाशयके तटपर भगवान् शंकर तथा देवर्षि नारदजी आदि गा रहे थे। अन्यान्य देव-ऋषि-दानव भी योग दे रहे थे। इतनेमें ही हनुमान्‌जीने मधुर स्वरसे ऐसा सुन्दर गान आरम्भ किया कि जिसे सुनकर उन सबके मुख म्लान हो गये। जो बड़े उत्साहसे गा-बजा रहे थे और वे सभी अपना-अपना गान छोड़कर मोहित हो गये तथा चुप होकर सुनने लगे। उस समय केवल हनुमान्‌जी ही गा रहे थे—

म्लानमम्लानमभवत् कृशाः पुष्टास्तदाभवन्॥
स्वां स्वां गीतिमतः सर्वे तिरस्कृत्यैव मूर्च्छिताः।
तूष्णीं सर्वे समभवन्देवर्षिगणदानवाः॥
एकः स हनुमान् गाता श्रोतारः सर्व एव ते।

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ११४। १६७—१६९)

जबतक पृथ्वीपर श्रीरामकी कथा रहेगी, तबतक पृथ्वीपर रहनेका वरदान उन्होंने स्वयं प्रभुसे माँग लिया है। श्रीरामजीके अश्वमेधयज्ञमें अश्वकी रक्षा करते समय जब अनेक महासंग्राम हुए, तब उनमें हनुमान्‌जीका पराक्रम ही सर्वत्र विजयी हुआ। महाभारतमें भी केसरीकुमारका चरित है। वे अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे रहते थे। उनके बैठे रहनेसे अर्जुनके रथको कोई पीछे नहीं हटा सकता था। कई अवसरोंपर उन्होंने अर्जुनकी रक्षा भी की। एक बार भीम, अर्जुन और गरुडजीको आपने अभिमानसे भी बचाया था।

कहते हैं कि हनुमान्‌जीने अपने वज्रनखसे पर्वतकी शिलाओंपर एक रामचरित-काव्य लिखा था। उसे देखकर महर्षि वाल्मीकिको दुःख हुआ कि यदि यह काव्य लोकमें प्रचलित हुआ तो मेरे आदिकाव्यका समादर न होगा। ऋषिको सन्तुष्ट करनेके लिये हनुमान्‌जीने वे शिलाएँ समुद्रमें डाल दीं। सच्चे भक्तमें यश, मान, बड़ाईकी इच्छाका लेश भी नहीं होता। वह तो अपने प्रभुका पावन यश ही लोकमें गाता है।

श्रीरामकथा-श्रवण, राम-नाम-कीर्तनके हनुमान्‌जी अनन्यप्रेमी हैं। जहाँ भी राम-नामका कीर्तन या राम-कथा होती है, वहाँ वे गुप्तरूपसे आरम्भमें ही पहुँच जाते हैं। दोनों हाथ जोड़कर सिरसे लगाये सबसे अन्ततक वहाँ वे खड़े ही रहते हैं। प्रेमके कारण उनके नेत्रोंसे बराबर आँसू झरते रहते हैं।

श्रीप्रियादासजी महाराज हनुमान्‌जीकी भक्तिका वर्णन करते हुए एक प्रसंगमें कहते हैं—

रतन अपार क्षीरसागर उधार किये लिये हित चाय कै बनाय माला करी है।
सब सुख साज रघुनाथ महाराज जू को भक्तिसों विभीषणजू आनि भेंट धरी है॥

सभा ही की चाह अवगाह हनुमान गरे डारि दई सुधि भई मति अरबरी है।
राम बिन काम कौन फोरि मनि दीन्हे डारि खोलि त्वचा नामही दिखायो बुद्धि हरी है॥ २७॥

कवित्तका भाव इस प्रकार है—

रावणके कोषमें समुद्र-मन्थनके समय निकले सभी दिव्य रत्न संचित थे। उसके वधके बाद जब विभीषणका राज्याभिषेक हुआ तो उन्होंने उन दिव्य रत्नोंकी एक माला बनायी और कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए उसे श्रीराम प्रभुके चरणोंमें अत्यन्त भक्तिपूर्वक निवेदित किया। उस दिव्य रत्नमालाके लिये समस्त वानर-भालुओंका मन लालायित हो गया, वहाँ श्रीहनुमान्जी भी थे, परंतु उनका मन तो अपने आराध्य प्रभुके रूप-सुधाका पान करनेमें ही मग्न था। यह देखकर प्रभुने वह माला श्रीहनुमान्जीके गलेमें डाल दी। हनुमान्जीने उस मालाको उलट-पुलटकर देखा, फिर उसके एक-एक रत्नको निकालकर अपने वज्रसदृश दाँतोंसे तोड़-तोड़कर देखने लगे। उन्हें ऐसा करते देख विभीषणजीने पूछा—'हनुमान्जी! आप इन अमूल्य रत्नोंको क्यों नष्ट कर रहे हैं?' हनुमान्जीने अनमने भावसे उत्तर दिया—'इन रत्नोंमें प्रभु श्रीरामका नाम अंकित नहीं है, इसलिये ये मेरे लिये मूल्यहीन हैं।' इसपर विभीषणजीने कहा—'आपके शरीरपर भी तो कहीं राम-नाम अंकित नहीं है, फिर इसे आप क्यों धारण किये हैं?' इसपर श्रीहनुमान्जीने अपना हृदय चीरकर दिखलाया, तो उनके अन्तस्तलमें विराजमान श्रीराम-सीताके दर्शन सबको हुए।

श्रीजाम्बवान्जी

ऋक्षराज जाम्बवान् ब्रह्माके अंशावतार हैं। एक रूपसे सृष्टि करते-करते ही दूसरे रूपसे भगवान्की आराधना, सेवा एवं सहायता की जा सके, इसी भावसे वे जाम्बवान्के रूपमें अवतीर्ण हुए थे। ऋक्षके रूपमें अवतीर्ण होनेका कारण यह था कि उन्होंने रावणको वर दे दिया था कि उसकी मृत्यु नर-वानर आदिके अतिरिक्त किसी देव आदिसे न हो। अब इसी रूपमें रहकर रामजीकी सहायता पहुँचायी जा सकती थी। जब भगवान् विष्णुने वामनका अवतार धारणकर बलिकी यज्ञशालामें गमन किया और संकल्प लेनेके बाद अपना विराट् रूप प्रकट किया तब इन्होंने उनके त्रिलोकीको नापते-नापते इनकी सात प्रदक्षिणा कर लीं। इनकी इस अपूर्व शक्ति और साहसको देखकर बड़े-बड़े मुनि और देवता इनकी प्रशंसा करने लगे। रामावतारमें तो मानो ये भगवान्के प्रधान मन्त्री ही थे। सीताके अन्वेषणमें ये हनुमान्जीके साथ थे और जब समुद्रपार जानेकी किसीको हिम्मत न पड़ी, तब इन्होंने हनुमान्जीको इनकी शक्तिका स्मरण कराया और लंकामें जाकर क्या करना चाहिये, इस विषयमें सम्मति दी। समय-समयपर सलाह देनेके अलावा ये लड़ते भी थे और लंकाके युद्धमें इन्होंने बड़े-बड़े राक्षसोंका संहार किया।

भगवान् रामके चरणोंमें इनका इतना प्रेम था कि उनके अयोध्या पहुँचनेपर इन्होंने वहाँसे अपने घर जाना अस्वीकार कर दिया और हठ किया कि मैं आपके चरणोंको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। जबतक भगवान् रामने द्वापरमें आकर दर्शन देनेकी प्रतिज्ञा नहीं की तबतक ये अपने हठपर अड़े ही रहे। अन्ततः उनकी आज्ञा मानकर अपने घर आये और नित्य भगवान्की प्रतीक्षामें उन्हींका चिन्तन-स्मरण करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

द्वापरयुगमें श्रीकृष्णावतार हुआ। उस समय द्वारकाके एक यदुवंशी सत्राजित्ने सूर्यकी उपासनाकर स्यमन्तकमणि प्राप्त की। एक दिन स्यमन्तकमणिको पहनकर उसका छोटा भाई प्रसेन जंगलमें गया हुआ था, वहाँ एक सिंहने उसे मार डाला और मणिको छीन लिया। तत्पश्चात् ऋक्षराज जाम्बवान्ने सिंहको मारकर

वह मणि ले ली। इधर द्वारकामें कानोकान यह बात फैलने लगी कि श्रीकृष्ण उस मणिको चाहते थे, उन्होंने ही प्रसेनको मारकर मणिको ले लिया होगा। यह बात भगवान्‌ने भी सुनी। यद्यपि लोकदृष्टिसे तो भगवान्‌ने कलंकके परिमार्जन और मणिके अन्वेषणके लिये ही यात्रा की, परंतु वास्तवमें बात यह थी कि उन्हें अपने पुराने भक्त जाम्बवान्‌को दर्शन देकर कृतार्थ करना था, जिनका एक-एक क्षण बड़ी व्याकुलताके साथ भगवान्‌की प्रतीक्षामें ही बीत रहा था।

हाँ, तो भगवान् कृष्ण जाम्बवान्‌के घर पहुँच गये। उस समय उनका पुत्र मणिके साथ खेलता हुआ पालनेमें झूल रहा था। अपरिचित मनुष्यको देखकर वह रोने लगा और मणिकी ओर भगवान्‌की दृष्टि देखकर उसकी धाई भी चिल्ला उठी। जाम्बवान् आये, भगवान्‌को इस रूपमें वे नहीं पहचान सके। भगवान्‌की कुछ ऐसी ही लीला थी। दोनोंमें बड़ा घमासान युद्ध हुआ। सत्ताईस दिनतक लगातार द्वन्द्वयुद्ध करते-करते जब एकने भी हार नहीं मानी तब भगवान्‌ने एक घूँसा लगाया, जिससे तुरंत जाम्बवान्‌का शरीर शिथिल पड़ गया और उनके मनमें यह बात आयी कि मेरे प्रभुके अतिरिक्त और किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि मुझे इस प्रकार पराजित कर सके। यह भावना उठते ही देखते हैं तो उनके सामने धनुष-बाणधारी भगवान् रामचन्द्र खड़े हैं। उन्होंने अपने इष्टदेवको साष्टांग नमस्कार करके स्तुति की, षोडशोपचार-पूजा की और उपहारस्वरूप उस मणिके साथ अपनी कन्या जाम्बवतीका समर्पण कर दिया और इस प्रकार अपने जीवन और अपने सर्वस्वको भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ाकर जीवनका सच्चा लाभ लिया। वास्तवमें प्रभुके चरणोंमें समर्पित हो जाना ही इस जीवनका परम और चरम लक्ष्य है।

श्रीसुग्रीवजी

न सर्वे भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः।
मद्विधा वा पितुः पुत्राः सुहृदो वा भवद्विधाः॥

श्रीरामजी सुग्रीवसे कहते हैं—'भैया! सब भाई भरतके समान आदर्श नहीं हो सकते। सब पुत्र हमारी तरह पितृभक्त नहीं हो सकते और सभी सुहृद् तुम्हारी तरह दुःखके साथी नहीं हो सकते।'

सभी सम्बन्धोंके एकमात्र स्थान श्रीहरि ही हैं। उनसे जो भी सम्बन्ध जोड़ा जाय, उसे वे पूरा निभाते हैं। सच्ची लगन होनी चाहिये, एकनिष्ठ प्रेम होना चाहिये। प्रेमपाशमें बँधकर प्रभु स्वामी बनते हैं। वे सखा, सुहृद्, भाई, पुत्र, सेवक—सभी कुछ बननेको तैयार हैं। उन्हें शिष्टाचारकी आवश्यकता नहीं, वे सच्चा स्नेह चाहते हैं।

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

(रा०च०मा० १।२९क)

सुग्रीवको भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर अपना सखाभक्त माना है। बालि और सुग्रीव—ये दो भाई थे। दोनोंमें ही परस्पर बड़ा स्नेह था। बालि बड़ा था, इसलिये वही वानरोंका राजा था। एक बार एक राक्षस रात्रिमें किष्किन्धा आया। आकर बड़े जोरसे गरजने लगा। बालि उसे मारनेके लिये नगरसे अकेला ही निकला। सुग्रीव भी भाईके स्नेहके कारण उसके पीछे-पीछे चला। वह राक्षस एक बड़ी भारी गुफामें घुस गया। बालि अपने छोटे भाईको द्वारपर बैठाकर उस राक्षसको मारने उसके पीछे-पीछे उस गुफामें चला गया। सुग्रीवको बैठे-बैठे एक माह बीत गया, किंतु बालि उस गुफामेंसे नहीं निकला। एक महीनेके बाद

गुफामेंसे रक्तकी धार निकली। सुग्रीवने समझा, मेरा भाई मर गया है, अब वह राक्षस बाहर निकलकर मुझे भी मार डालेगा, अतः उस गुफाको एक बड़ी भारी शिलासे ढककर वह किष्किन्धापुरी लौट गया। मन्त्रियोंने जब राजधानीको राजासे हीन देखा, तब उन्होंने सुग्रीवको राजा बना दिया। थोड़े ही दिनोंमें बालि आ गया। सुग्रीवको राजगद्दीपर बैठा देखकर वह बिना ही जाँच-पड़ताल किये क्रोधसे आग-बबूला हो गया और उसे मारनेको दौड़ा। सुग्रीव भी अपनी प्राणरक्षाके लिये भागा। भागते-भागते वह मतंग ऋषिके आश्रमपर जा पहुँचा। बालि वहाँ शापवश जा नहीं सकता था। अतः वह लौट आया और सुग्रीवका धन-स्त्री आदि सब कुछ उसने छीन लिया। राज्य, स्त्री और धनके हरण होनेपर दुखी सुग्रीव अपने हनुमान् आदि चार मन्त्रियोंके साथ ऋष्यमूकपर्वतपर रहने लगा।

सीताजीका हरण हो जानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मणजीके साथ उन्हें खोजते-खोजते शबरीके बतानेपर ऋष्यमूकपर्वतपर आये। सुग्रीवने दूरसे ही श्रीराम-लक्ष्मणको देखकर हनुमान्‌जीको भेजा। हनुमान्‌जी उन्हें आदरपूर्वक ले आये। अग्निके साक्षित्वमें श्रीराम एवं सुग्रीवमें मित्रता हुई। सुग्रीवने अपना सब दुःख भगवान्‌को सुनाया। भगवान्‌ने कहा—'मैं बालिको एक ही बाणसे मार दूँगा।' सुग्रीवने परीक्षाके लिये अस्थिसमूह दिखाया।·········श्रीरामजीने उसे पैरके अँगूठेसे ही गिरा दिया। फिर सात ताड़वृक्षोंको एक ही बाणसे गिरा दिया। सुग्रीवको विश्वास हो गया कि श्रीरामजी बालिको मार देंगे। सुग्रीवको लेकर श्रीरामजी बालिके यहाँ गये। बालि लड़ने आया, दोनों भाइयोंमें बड़ा युद्ध हुआ। अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीने तककर एक ऐसा बाण बालिको मारा कि वह मर गया।

बालिके मरनेपर श्रीरामजीकी आज्ञासे सुग्रीव राजा बनाये गये और बालिके पुत्र अंगदको युवराजका पद दिया गया। तदनन्तर सुग्रीवने वानरोंको इधर-उधर श्रीसीताजीकी खोजके लिये भेजा और श्रीहनुमान्‌जीद्वारा सीताजीका समाचार पाकर वे अपनी असंख्य वानरी सेना लेकर लंकापर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने बड़ा पुरुषार्थ दिखलाया। सुग्रीवने संग्राममें रावणतकको इतना छकाया कि वह भी इनके नामसे डरने लगा।

लंका-विजय करके ये भी श्रीरामजीके साथ श्रीअवधपुरी आये और वहाँ श्रीरामजीने उनका परिचय कराते हुए गुरु वसिष्ठजीसे कहा—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(रा०च०मा० ७।८।७-८)

श्रीरामजीने सुग्रीवजीको स्थान-स्थानपर 'प्रिय सखा' कहा है और अपने मुखसे स्पष्ट कहा है कि 'तुम्हारे समान आदर्श निःस्वार्थ सखा संसारमें बिरले ही होते हैं।' श्रीरामजीने थोड़े दिन इन्हें अवधपुरीमें रखकर विदा कर दिया और ये भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण-कीर्तन करते हुए अपनी पुरीमें रहने लगे। अन्तमें जब भगवान् निजलोक पधारे, तब ये भी आ गये और भगवान्‌के साथ ही साकेत गये। सुग्रीव-जैसे भगवत्कृपाप्राप्त सखा संसारमें बिरले ही होते हैं। उनका समस्त जीवन रामकाज और रामस्मरणमें ही बीता। यही जगमें जीवनका परम लाभ है। भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए सुग्रीवजी कहते हैं—

त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसंगीतकथासु वाणी।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥
त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥

अङ्गानि ते पादरजोविमिश्रतीर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो।
शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यैर्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्त्रम्॥

(अ० रा० ४।१।९१—९३)

'प्रभो! मेरी चित्तवृत्ति सदा आपके चरण-कमलोंमें लगी रहे, मेरी वाणी सदा आपका नामकीर्तन एवं लीलागान करती रहे, हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें और मेरा शरीर (आपके पाद-स्पर्श आदिके मिससे) सदा आपका अंग-संग करता रहे। मेरे नेत्र सर्वदा आपकी मूर्ति, आपके भक्त और अपने गुरुका दर्शन करते रहें; कान निरन्तर आपके दिव्य जन्म-कर्मोंकी कथा सुनते रहें और मेरे पैर सदा आपके मन्दिरोंकी यात्रा करते रहें। हे गरुडध्वज! मेरा शरीर आपकी चरण-रजसे युक्त तीर्थोदकको धारण करे और मेरा सिर निरन्तर आपके उन चरणोंमें प्रणाम किया करे, जिनकी शिव और ब्रह्मादि देवगण भी सदैव सेवा करते हैं।'

श्रीविभीषणजी

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥*

शरणागतिके ज्वलन्त उदाहरण श्रीविभीषणजी हैं। ये राक्षसवंशमें उत्पन्न होकर भी वैष्णवाग्रगण्य बने। पुलस्त्यके पुत्र विश्रवा हुए, विश्रवाके सबसे बड़े पुत्र कुबेर हुए, जिन्हें ब्रह्माजीने चतुर्थ प्रजापति बनाया। विश्रवाके एक असुरकन्यासे रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण—ये तीन पुत्र और हुए। तीनोंने ही घोर तप किया। उनकी उग्र तपस्या देखकर ब्रह्माजी उनके सामने प्रकट हुए। वरदान माँगनेको कहा। रावणने त्रैलोक्यविजयी होनेका वरदान माँगा, कुम्भकर्णने छः महीनेकी नींद माँगी। किंतु विभीषणजीने कुछ भी नहीं माँगा। उन्होंने ब्रह्माजीसे कहा—'मुझे भगवद्भक्ति प्रदान कीजिये।' सबको यथायोग्य वरदान देकर ब्रह्माजी अपने लोकको चले गये और रावणने कुबेरको निकालकर असुरोंकी प्राचीन पुरी लंकाको अपनी राजधानी बनाया। विभीषण भी अपने भाई रावणके साथ लंकापुरीमें आकर रहने लगे।

रावणने त्रैलोक्यविजय किया, वह दण्डकारण्यमें पंचवटीसे जगन्माता सीताजीको हर लाया। विभीषणजीने उसे बहुत समझाया 'दूसरेकी स्त्रीको ऐसे हर लाना ठीक नहीं। तुम समझते नहीं, श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं; उनसे विरोध करना ठीक नहीं।' रावणने अपने भक्त भाईकी एक भी बात नहीं मानी, वह अपनी जिदपर अड़ा रहा।

सीताजीको खोजनेके लिये लंकामें श्रीहनुमान्‌जी आये। द्वार-द्वार और गली-गलीमें वे सीताजीको खोजते फिरे। उसी खोजमें उन्होंने विभीषणजीका घर देखा। घरके चारों ओर रामनाम अंकित थे। तुलसीके वृक्ष लगे हुए थे। देखकर हनुमान्‌जी आश्चर्यमें पड़ गये और सोचने लगे—

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥

अरुणोदयका समय था, उसी समय श्रीरामनाम स्मरण करते हुए विभीषणजी जागे। हनुमान्‌जीको अभूतपूर्व आनन्द हुआ।

'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी।'

परस्परमें दो अदृश्य तार मिलकर एक हो गये। अपनेको अपनेने पहचान लिया। विभीषणजी बोले—आपके प्रति हमारा स्वाभाविक प्रेम हो रहा है। भाई-बन्धुओंमें तो मेरा प्रेम होता नहीं, इसलिये या तो आप

* भगवान् कहते हैं, जो एक बार भी आर्त होकर, शरणागत बनकर, सच्चे हृदयसे 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है, उसे मैं सब प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ, ऐसा मेरा व्रत है।

साक्षात् श्रीराम हैं या उनके दास हैं—

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥

तब हनुमान्‌जीने अपना पूरा परिचय दिया। भगवान्‌के दूत जानकर विभीषणजी प्रेमसे अधीर हो उठे और अत्यन्त दीनतासे बोले—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥

हनुमान्‌जीने कहा—'भैया! तुम अपनेको इतना नीच, दीन क्यों समझते हो? अरे, प्रभु तो दीनोंके ही नाथ हैं, पतितोंके ही पावन हैं; तुम स्वयं सोचो मैं ही कौन-सा कुलीन हूँ। जब मुझ-जैसे चंचल वानरको उन्होंने अपना लिया तो फिर तुम्हारी तो बात ही क्या?' विभीषणजी बोले—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

परस्परमें बातें हुईं। हनुमान्‌जीके द्वारा सीताजीका पता पूछनेपर उन्होंने सब बातें बतायीं। सीताजीकी खबर पाकर हनुमान्‌जीने उत्पात शुरू किया, वे पकड़े गये। उन्हें मारनेकी आज्ञा हुई। विभीषणजीने दूतको मारना अनीति बताकर कुछ और दण्ड देनेको कहा। वह ऐसा दण्ड हुआ कि विभीषणजीके मन्दिरको छोड़कर पूरी लंका जल गयी।

श्रीरामजीने लंकापर चढ़ाई कर दी। विभीषणजीने रावणको बहुत समझाया कि जानकीजीको दे दो। रावणने क्रोधमें आकर विभीषणजीको लात मारी और कहा—'दुष्ट! मेरा खाता है, गीत उनके गाता है? वहीं चला जा, यहाँ अब मत रहना।' जब भाईने देशनिकालेकी आज्ञा दे दी तो विवश होकर उन्होंने घोषणा कर दी कि 'अच्छा, तो मैं प्रभुकी शरण जाता हूँ।' वे आकाशमार्गसे भगवान्‌के यहाँ पहुँचे। उन्हें राक्षस जानकर भालु-वानर भाँति-भाँतिके तर्क करने लगे। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ; किंतु शरणागतप्रतिपालक प्रभु बोले, 'उसने एक बार कहा है—मैं तुम्हारी शरण हूँ। बस, इतना ही पर्याप्त है; उसे अब मैं छोड़ नहीं सकता। प्रभुने उसे बुलाकर आते ही लंकाका राज्य दे दिया। विभीषणकी कामना तो प्रभुपादपद्मोंके स्पर्शसे नष्ट हो गयी थी, फिर भी प्रभु भक्तोंकी पूर्व कामनाओंको भी पूरा करते हैं। विभीषणने अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण कर दिया और हर प्रकारसे भगवान्‌की सेवा की।

रावण सपरिवार मारा गया। विभीषणको राज्य मिला। उन्होंने वानर-भालुओंका खूब सत्कार किया, पुष्पक विमानपर चढ़ाकर वे श्रीरामजीको अवधपुरीतक पहुँचाने गये। वहाँ भगवान्‌ने गुरुजीसे अपना प्रिय सखा बताकर इनकी बड़ी प्रशंसा की। भगवान्‌ने इनका बड़ा सम्मान किया और अजर-अमर होनेका आशीर्वाद दिया। प्रातःस्मरणीय सात चिरंजीवियोंमें भक्तवर विभीषणजी भी हैं और वे अभीतक वर्तमान हैं। भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं, वे शरणागतके सब दोष भूल जाते हैं—

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥

श्रीप्रियादासजी विभीषणजीकी भक्तिका वर्णन एक प्रसंगके माध्यमसे निम्न कवित्तोंमें करते हैं—

भक्ति जो विभीषण की कहै ऐसो कौन जन ऐ पै कछु कही जात सुनो चितलाय कै।
चलत जहाज परी अटक विचार कियौ कोऊ अङ्गहीन नर दियौ लै बहाय कै॥
जाय लग्यौ टापू ताहि राक्षसनि गोद लियौ मोद भरि राजा पास गये किलकाय कै।
देखत सिंहासन ते कूदि परे नैन भरे याहि के आकार राम देखे भाग पाय कै॥ २८॥
रचि कै सिंहासन पै लै बैठाये ताही छन राक्षसन रीझि देत मानि शुभ घरी है।
चाहत मुखारबिन्द अति ही आनन्द भरि ढरकत नैन नीर टेकि ठाढ़ो छरी है॥

तऊ न प्रसन्न होत छन छन छीन ज्योति हूजिये कृपाल मति मेरी अति हरी है।
करो सिन्धु पार मेरे यही सुख सार दियो रतन अपार लाये वाही ठौर फेरी है॥ २९॥
रामनाम लिखि सीस मध्य धरि दियो याको यही जल पार करै भाव साँचो पायो है।
ताही ठौर बैठ्यौ मानो नयो और रूप भयो गयो जो जहाज सोई फिरि करि आयो है॥
लियो पहिचान पूछ्यो सब सौ बखान कियो हियो हुलसायो सुनि बिनै कै चढ़ायो है।
पर्यो नीर कूदि नेकु पाँय न परस कर्यो हर्यो मन देखि रघुनाथ नाम भायो है॥ ३०॥

कवित्तोंमें बताया गया है कि एक बारकी बात है, समुद्रमें एक जहाज जा रहा था, वह किसी कारणसे अटक गया। अनेक उपाय करनेपर भी जब जहाज न चला, तब समुद्रने रोका है और भेंट चाहता है, ऐसा मानकर नाविकोंने एक दुर्बल पंगु-मनुष्यको बलिदानकी तरह समुद्रमें बहा दिया। वह मरा नहीं, तरंगोंमें बहते-बहते लंका टापूमें जा लगा। राक्षस उसे लेकर विभीषणजीके पास आये, उसे देखते ही विभीषणजी सिंहासनसे कूद पड़े, उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। उन्होंने कहा—श्रीरामचन्द्रजी भी इसी आकारके थे, बड़े भाग्यसे आज इनका दर्शन हुआ है। विभीषणजीने उस मनुष्यको वस्त्र और अलंकारोंसे सजाकर सुसज्जित सिंहासनपर बैठाया और अनेक प्रकारसे उसका सम्मान किया। फिर भी वह मनुष्य प्रसन्न नहीं हो रहा था। क्षण-क्षणमें उसकी कान्ति क्षीण हो रही थी। तब विभीषणने प्रार्थना की कि प्रभो! कृपा कीजिये, सेवाके लिये मुझे आज्ञा दीजिये। यह सुनकर उस मनुष्यने कहा—मुझे समुद्रके उस पार पहुँचा दो, इसीमें मुझे बड़ा भारी सुख होगा। तब बहुमूल्य अपार रत्नराशि भेंटमें उसे देकर विभीषणजी समुद्रतटपर फिर ले आये। विभीषणजीने उस मनुष्यके सिरपर श्रीरामनाम लिखकर रख दिया और कहा कि यही रामनाम तुम्हें समुद्रसे पार कर देगा। विभीषणकी कृपासे उस मनुष्यमें भी सच्चा प्रेम और विश्वास उत्पन्न हो गया और वह उसी ठौर बैठ गया। संयोगवश वही जहाज फिर लौटकर आया, जिससे इसे गिराया गया था। जहाजपरके लोगोंने इसे पहचान लिया। पूछनेपर उसने उल्लासपूर्वक सब वृत्तान्त बताया। सुनकर लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन लोगोंने बड़ी अनुनय-विनय करके उस मनुष्यको जहाजपर चढ़ा लिया। लोभवश नाविकोंने उससे रत्नराशि छीननी चाही, तब वह जलमें कूद पड़ा और थलकी तरह जलमें चलने लगा। उसके पैरोंमें जल छूतक नहीं रहा था। यह देखकर सब आश्चर्यचकित हो गये और उससे इसका कारण पूछा। उसने विभीषणद्वारा बतायी गयी श्रीरामनाम-महिमा सबको बतायी। अब तो सब बहुत पछताये, क्षमा माँगी और नाममें सबका अपार प्रेम हो गया। ऐसे श्रीरामनिष्ठ भक्त थे विभीषणजी!

श्रीशबरीजी

'पवित्र जीवनके बिना पवित्रतम परमात्माको कोई नहीं प्राप्त कर सकता।' उष:कालमें पम्पासरके तटपर महर्षि मतंग अपने शिष्योंसे कह रहे थे। 'अत: मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्रताका पालन करो। शुचि भोजन, शुचि परिधान और अपना प्रत्येक व्यवहार पवित्र होने दो। जीवमात्रपर दया और भगवन्नाममें अनुरक्तिका सदा ध्यान रखो। तभी स्थावर-जंगम, लता-वृक्ष आदि विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें उन्हें देख सकोगे। यही सच्चा धर्म है। जाति-कुलकी बाधासे यह धर्म सदा मुक्त है।'

महर्षि और उनके शिष्यगण चले गये थे। शबरी उनके चरण-चिह्नोंपर लोट रही थी, जैसे उसे कोई अमूल्य निधि मिल गयी हो, वृक्षकी ओटसे ऋषिके समस्त उपदेश-आदेश सुन लिये थे उसने। उसकी आँखें बरस रही थीं।

शबरीका मन उसके शैशवसे ही अशान्त था। भोले-भाले पशु-पक्षियोंकी हत्या देखकर वह सिहर

उठती थी। उनकी लहू-लूहान देह देखकर वह अपनी आँखें बन्द कर लेती थी। अकेले कोनेमें मुँह छिपाकर रोने लगती थी।

चिन्ता, शोक और क्लेशसे उसके दिन बीतते रहे। वह नवयौवन-सम्पन्ना नारी बनी। विवाहकी तैयारी हो गयी। पति वीर था उसका। एक बाणसे दो-दो पक्षियोंको मार लेता था। तेज-से-तेज दौड़ता हुआ हिरन उसकी आँखोंके सामनेसे नहीं बच सकता था। प्रशंसा शबरीने भी सुनी। पर वह छटपटा उठी। एकान्तमें जाकर अशान्त मनसे विश्वके प्राणाधारसे प्रार्थना करने लगी, 'देव! मुझे पापोंसे बचाइये। मैं अधमसे भी अधम मूर्ख नारी हूँ। मुझे पथका ज्ञान नहीं। आप मेरी रक्षा करें, नाथ! मैं आपकी शरण हूँ।' प्रार्थना करते-करते रात अधिक हो गयी। शबरीने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया।

अर्धरात्रिका समय था। सर्वत्र नीरवताका साम्राज्य था। आकाशमें तारे किंकर्तव्यविमूढ़ हो टुकुर-टुकुर ताक रहे थे। शबरी चुपकेसे दबे पाँव घरसे निकल पड़ी और घने जंगलोंमें जाकर विलीन हो गयी।

कण्टकाकीर्ण पथ, नदी, वन और पर्वतका उसे ध्यान नहीं था। वह भागती चली जा रही थी—अनिश्चित स्थानकी ओर। उस समय उसे केवल यही ध्यान था कि मैं अपने माँ-बापके हाथ न आ जाऊँ। हिंसासे बचकर आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर प्रभु-भजन करूँ।

भागनेमें उसे अपने तन-मनकी सुधि नहीं थी। न क्षुधा थी न तृषा। दो दिन बाद वह पम्पासरपर पहुँची थी। वह थक गयी थी। प्रातः हो चला था। पूर्व क्षितिजपर अरुणिमा बिखर गयी थी। उसी समय स्नानार्थी मतंग ऋषिकी चर्चा उसने सुन ली थी। महर्षिके दर्शनसे अद्भुत प्रभाव उसके मनपर पड़ा था। अपूर्व शान्तिका उसे आज अनुभव हुआ था। वहीं रहनेका उसने निश्चय कर लिया। पर 'उसके रहनेसे ऋषियोंके तपमें विघ्न पड़ेगा' इस विचारसे उसने अपने रहनेके लिये ऋषियोंके आश्रमसे दूर एक छोटी-सी कुटिया बना ली।

उसने समझ लिया था भगवान्‌के प्राणाधार उनके भक्त होते हैं। भक्तोंकी कृपा हो जानेपर भगवद्दर्शन निश्चय ही हो जायँगे। वह एक पहर रात्रि रहते ही ऋषियोंकी कुटियोंके आस-पासकी भूमि तथा पंपासरकी ओर जानेवाले मार्गपर झाड़ू लगा देती। एक कंकड़ी भी किसी महर्षि या उनके सौभाग्यशाली भक्तके चरणोंमें चुभ न जाय, इसलिये वह बार-बार झाड़ू लगाती और वहाँ जल छिड़ककर सुगन्धित पुष्प डाल देती। कुटियोंके द्वारपर सूखी लकड़ियोंका ढेर रख आती, जिससे समिधा लानेके लिये मुनिजनोंको किसी प्रकारका कष्ट न उठाना पड़े।

शबरीका यह नित्यका काम था। पर मुनिलोग चकित थे। गुप्त रीतिसे यह सेवाकार्य कौन कर जाता है—ऋषिगण कुछ तै नहीं कर पाये। शिष्योंने पहरा दिया। शबरी पकड़ ली गयी। मतंग ऋषिके सामने उपस्थित कर दिया शिष्योंने उसे।

शबरी काँप रही थी। उसमें बोलनेका साहस नहीं था। ऋषिकी अपराधिनी थी वह। मतंग ऋषिने उसे देखा। उनके मुँहसे निकल गया—'भगवद्भक्तिमें जाति बाधा नहीं डाल सकती। शबरी परम भगवद्भक्त है।' शिष्यगण एक-दूसरेका मुँह ताकने लगे। महर्षि मतंगने शबरीसे कहा, 'तुम मेरी कुटियाके पास ही रह जाओ। मैं कुटियाकी व्यवस्था कर देता हूँ।'

शबरी दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लेट गयी। नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। आज उसका भाग्योदय हुआ है। अब वह तपोधन महर्षिकी सेवा खुलकर कर सकेगी।

मतंग ऋषिपर अन्य ऋषिगण कुपित हो गये। 'अनधिकार चेष्टा की है महर्षिने! वे मर्यादाका उल्लंघन

कर रहे हैं।' नैष्ठिक तपोव्रतधारी ऋषि भगवद्भक्तकी महिमा नहीं समझ पा रहे थे।

'अधम कहींकी, स्पर्श कर दिया मुझे। पुनः स्नान करना पड़ेगा!' क्रोधसे उन्मत्त एक ऋषि शबरीको डाँटकर पुनः पम्पासरकी ओर चले।

शबरी ध्यानमग्न जा रही थी, उसे ऋषिका ध्यान नहीं था। ऋषिके बिगड़नेका भी उसे कोई ध्यान नहीं हुआ। वह अपने प्राणधनके रूप और नाममें छकी हुई सरोवरसे लौट रही थी!

ऋषिने स्नान नहीं किया। सरोवरमें कीड़े पड़ गये थे। जल रक्तमें परिणत हो गया था। खिन्न होकर वे स्नान किये बिना ही लौट आये।

× × ×

'आपके बिना मैं नहीं रह सकूँगी, मुनिनाथ! फूट-फूटकर रोती हुई शबरी महर्षि मतंगसे कह रही थी। 'मेरे आधार आप ही हैं। आपके ही द्वारा मुझे ऋषियोंकी थोड़ी-बहुत सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आपके ही चरणारविन्दोंमें रहकर मैं भगवान्‌को पानेके लिये विकल हो रही हूँ। आपके बिना मैं कहींकी नहीं रहूँगी। परमार्थ-सिद्धि भी नहीं कर सकूँगी। देव! आपके साथ मैं भी अपना प्राण छोड़ दूँगी प्रभो!'

'अधीर मत हो, बेटी!' मतंग ऋषिने शबरीको समझाया। 'मेरा अन्तिम समय निकट आ गया है। मुझे जाना ही चाहिये। पर तू अभी ठहर जा। दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम यहाँ शीघ्र आनेवाले हैं। तू उनके दर्शन करेगी और तेरी सारी साधना पूरी हो जायगी।' ऋषिने नश्वर कायाको त्याग दिया। शबरी चिल्ला पड़ी।

× × ×

'महर्षिकी बात सत्य होगी ही। भगवान् दण्डकारण्यमें पधारेंगे। मुझे दर्शन मिलेगा।' शबरी आनन्दमें छकी रहने लगी। पत्तेकी खड़खड़ाहटसे भी वह चौंक जाती थी, कहीं भगवान् आ तो नहीं गये। वह प्रतिदिन मार्ग साफ करके मीलोंतक भगवान्‌को जोह आया करती थी। 'भगवान् पहले मेरे यहाँ पधारेंगे' ऋषियोंका निश्चय था।

भगवान् आये और आते ही शबरीकी कुटियाका पता पूछने लगे। ऋषि चकित थे। प्रेमरूप भगवान् शबरीकी कुटियामें पधारे। आह! शबरीका क्या कहना?

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥

(रा०च०मा० ३। ३४। ६—९)

वह प्रेममें आत्मविभोर हो गयी थी। वाणी उसकी अवरुद्ध हो गयी थी। चरणोंको पकड़कर अनन्त सौन्दर्यमय भगवान्‌की ओर टकटकी लगाकर देखने और आँसू बहानेके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर पा रही थी। उसके वशकी कोई बात नहीं थी।

'प्रभो! आपके लिये एकत्र किये हुए फल-मूलादि रखे हैं' बड़ी कठिनतासे अर्घ्य-पाद्य देनेके बाद शबरीने कहा। वह चुने हुए मीठे-मीठे बेरोंको प्रतिदिन भगवान्‌के लिये रखती थी। उन बेरोंको ले आयी। बड़े प्रेमसे देने लगी। भगवान् आनन्दपूर्वक खाने लगे। भगवान्‌को उन बेरोंमें इतना अधिक स्वाद और आनन्दका अनुभव हो रहा था, जैसे प्रेममयी जन्मदायिनी जननी कौसल्याजी उन्हें भोजन करा रही हों।

अपनी अभीप्सा-पूर्ति देखकर अत्यन्त प्रसन्नतासे हाथ जोड़कर वह अत्यन्त प्रेमसे प्रार्थना करने लगी—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

शुद्ध प्रेम और दीनता देखकर भगवान्ने उत्तर दिया—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

फिर भगवान्ने उसके सामने नवधा भक्तिका निरूपण किया। इसी बीचमें ऋषियोंका समुदाय (शबरीके आश्रममें) भगवान्के दर्शन-निमित्त आ गया। उस समय ऋषियोंका ज्ञानाभिमान लुप्त हो गया था। वे मतंग ऋषिके तिरस्कारके लिये मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे थे। उनके मुँहसे निकल गया—'शबरी! तू धन्य है।'

पम्पासरमें कीड़े पड़ने और जल रक्तके रूपमें परिणत होनेके सम्बन्धमें श्रीलक्ष्मणजीने ऋषियोंको बताया, 'मतंगमुनिसे द्वेष एवं बालब्रह्मचारिणी, संन्यासिनी, परम भगवद्भक्त और साध्वी शबरीके अपमान करनेसे तथा आपलोगोंके अभिमानसे सरोवरकी यह दुर्दशा हुई है। शबरीके पुनः स्पर्श करते ही वह शुद्ध हो जायगा।'

भगवान्के आदेशानुसार शबरीने सरोवरको स्पर्श किया, उसका जल पूर्ववत् निर्मल हो गया।

भगवान् उसकी कुटियासे चलने लगे। शबरी अधीर हो गयी। चरणोंकी दृढ़ भक्ति भगवान्ने उसे दे ही दी थी। अब उसे कुछ पाना शेष नहीं था। उसकी सारी आकांक्षा प्रभुने पूरी कर दी थी, अब वह भगवान्से विलग होकर किसलिये जीवन-धारण करती। ऋषिजनोंके सामने ही उसने अपनी पार्थिव देह त्याग दी। ऋषिगण शबरीका जय-जयकार करने लगे। धन्य थी शबरी और धन्य थी शबरीकी प्रेममयी अद्वितीय भक्ति!

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज शबरीके भक्तिमय दिव्य चरित्रको रूपायित करते हुए निम्न कवित्तोंमें लिखते हैं—

वन में रहति नाम शबरी कहत सब चाहत टहल साधु तन न्यूनताई है।
रजनी के शेष ऋषि आश्रम प्रवेश करि लकरीन बोझ धरि आवै मन भाई है॥
न्हाइबे को मग झारि कांकरनि बीनि डारि वेगि उठि जाइ नेकु देति न लखाई है।
उठत सबारे कहैं कौन धौं बुहारि गयो भयौ हिये सोच कोऊ बड़ो सुखदाई है॥ ३१॥
बड़ेई असङ्ग वे मतङ्ग रस रंग भरे धरे देखि बोझ कह्यो कौन चोर आयो है।
करै नित चोरी अहो गहो वाहि एक दिन बिना पाये प्रीति वाकी मन भरमायो है॥
बैठे निशि चौकी देत शिष्य सब सावधान आय गई गहि लई काँपै तनु नायो है।
देखत ही ऋषि जलधारा बही नैनन ते बैनन सों कह्यो जात कहा कछु पायो है॥ ३२॥
डीठि हू न सोहीं होत मानि तन गोत छोत परी जाय सोच सोत कैसे के निकारिये।
भक्ति को प्रताप ऋषि जानत निपट नीके कैऊ कोटि विप्रताई यापै वारि डारिये॥
दियो बास आश्रम में श्रवन में नाम दियो कियो सुनि रोष सबै कीनी पाँति न्यारिये।
शबरी सों कह्यो तुम राम दरसन करो मैं तो परलोक जात आज्ञा प्रभु पारिये॥ ३३॥
गुरू को वियोग हिये दारुन लै शोक दियो जियो नहीं जात तऊ राम आसा लागी है।
न्हाइबे की बाट निशि जात ही बुहारि सब भई यौं अबार ऋषि देखि व्यथा पागी है॥
छुयो गयो नेकु कहूँ खीझत अनेक भाँति करिकै विवेक गयो न्हान यह भागी है।
जल सों रुधिर भयौ नाना कृमि भरि गयो नयो पायो सोच तौ हू जानै न अभागी है॥ ३४॥

लावै बन बेर लागी राम की अवसेर भल चाखै धरि राखै फिर मीठे उन जोग हैं।
मारग में जाइ रहै लोचन बिछाइ कभूँ आवैं रघुराइ दृग पावैं निज भोग हैं॥
ऐसे ही बहुत दिन बीते मग जोहत ही आय गये औचक सो मिटे सब सोग हैं।
ऐ पै तनु नूनताई आई सुधि छिपी जाय पूछैं आप सबरी कहाँ ठाड़े सब लोग हैं॥ ३५॥
पूछि पूछि आये तहाँ शबरी स्थान जहाँ कहाँ वह भागवती देखौं दृग प्यासे हैं।
आय गई आश्रम में जानि कै पधारे आप दूर ही ते साष्टांग करी चख भासे हैं॥
रवकि उठाय लई विथा तनु दूर गई नई नीरझरी नैन परे प्रेम पासे हैं।
बैठे सुखपाइ फल खाइकै सराहे वेई कह्यो कहा कहौं मेरे मग दुख नासे हैं॥ ३६॥
करत हैं सोच सब ऋषि बैठे आश्रम में जल को बिगार सो सुधार कैसे कीजिये।
आवत सुने हैं वन पथ रघुनाथ कहूँ आवैं जब कहैं याको भेद कहि दीजिये॥
इतने ही माँझ सुनि सबरी के विराजे आनि गयो अभिमान चलो पग गहि लीजिये।
आय खुनसाय कही नीर कौ उपाय कहौ गहौ पग भीलिनी के छुये स्वच्छ भीजिये॥ ३७॥

इन कवित्तोंका भाव संक्षेपमें इस प्रकार है—

शबरी वनमें निवास करने लगीं, इनके मनमें साधु-सन्तोंकी टहल करनेकी बड़ी इच्छा थी, पर साधु-सन्त सेवा स्वीकार नहीं करेंगे, इसलिये थोड़ी रात रहनेपर ही वे ऋषियोंके आश्रममें छिपकर जातीं और लकड़ियोंके बोझ रख आतीं। प्रातःकाल शीघ्र ही उठकर सरोवरपर जाने-आनेके मार्गको झाड़-बुहारकर उसकी कंकड़ियोंको बीनकर अलग डाल देती थीं। यह सेवा करते हुए इनको कोई भी नहीं देख पाता था। सबेरे उठकर ऋषिलोग आपसमें कहते कि मार्गको नित्य कौन झाड़ जाता है और लकड़ियोंके बोझ कौन रख जाता है?

वनवासी ऋषियोंमें एक मतंग नामक ऋषि थे। वे परम विरक्त और भक्तिरसके आनन्दसे परिपूर्ण थे। लकड़ियोंके बोझ रखे देखकर वे अपने शिष्योंसे कहने लगे कि इस तपोवनमें ऐसा कौन आ गया? जो नित्य चोरीसे सेवा करता है। उसे एक दिन पकड़ो, उस सन्त-सेवा-प्रेमीभक्तके प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिये। आज्ञा पाकर मतंगजीके शिष्य सावधानीसे पहरा देने लगे। जैसे ही शबरीजीने लकड़ियोंका बोझ रखा, वैसे ही शिष्योंने उसे पकड़ लिया। वह बेचारी भय और संकोचवश काँपने लगी और उनके पैरोंपर गिर गयी। उस भक्तिमयी भीलनीको देखते ही मतंगजीके आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी।

मतंगजी भगवद्भक्तिके प्रभावको बहुत अच्छी तरह जानते थे। वे सोच-विचारकर शिष्योंसे बोले कि भक्तिके प्रतापसे यह इतनी पवित्र है कि इसके ऊपर कई कोटि ब्राह्मणता न्यौछावर कर देनी चाहिये। मतंगजीने शबरीको आश्रमकी एक पर्णकुटीमें रहनेका स्थान दिया और उसके कानमें **श्रीसीताराम** मन्त्र दिया और कहा, 'मैं प्रभुकी आज्ञासे उनके धामको जा रहा हूँ, तुम इसी आश्रममें रहकर भजन करो। यहीं श्रीरामजीका दर्शन प्राप्त करोगी।'

गुरुदेव श्रीमतंगजीके वियोगने शबरीजीके हृदयको बड़ा कठोर कष्ट दिया, उनसे जीवित नहीं रहा जाता था, पर श्रीरामजीके दर्शनोंकी आशा लगी थी, इसीलिये जीवित रहीं। मुनियोंके स्नानमार्गको थोड़ी रात रहे झाड़-बुहार आती थीं। एक दिन विलम्ब हो गया। स्नानके लिये ऋषि आने-जाने लगे, मार्ग सँकरा था, कोई ऋषि शबरीजीसे किंचित् छू गये। तब वे अनेक प्रकारसे शबरीजीको डाँटने-फटकारने लगे। शबरीजी भागकर अपनी कुटीमें चली आयीं। वे ऋषि सोच-विचार करके पुनः स्नान करनेके लिये गये। सरोवरमें

प्रवेश करते ही उसका जल अनेक कीड़ोंसे भरे हुए रुधिरके समान हो गया। इससे ऋषिको एक नया दुःख उत्पन्न हो गया। भक्तस्पर्शसे अपनेको अपवित्र समझनेवाले मुनिके अपराधसे ही सरोवरका जल अपवित्र हुआ था, पर उस अभागेने यह रहस्य नहीं जाना। उलटे ऐसा समझा कि शबरीके स्पर्शजन्य दोषसे ही जल दूषित हो गया है।

शबरीजीको श्रीरामजीकी बड़ी भारी चिन्ता रहती, वे आगमनकी प्रतीक्षामें अति व्याकुल रहतीं। वनसे बेर बीन-बीनकर लातीं, चखकर देखतीं (जिस वृक्षके) जो फल मीठे होते, उन्हें श्रीरामके योग्य समझकर उनके लिये रखती थीं। उत्कण्ठावश अपने प्रभुके आगमनके मार्गमें जाकर उसे स्वच्छ एवं कोमल बनातीं एवं सोचा करतीं कि राघवेन्द्रसरकार कब आयेंगे? कब मेरे नेत्र उसके दर्शनरूपी अमृतका आस्वादन करेंगे? इसी प्रकार प्रभुके आगमनकी बाट देखते-देखते जब बहुत दिन बीत गये, तब एक दिन अचानक ही श्रीरामजी आ गये। उसके सभी शोक मिट गये। परंतु उसे अपने शरीरके नीचकुलमें उत्पन्न होनेकी बात याद आ गयी, इसलिये वह संकोचवश भागकर कहीं छिप गयी।

भगवान् श्रीराम वनवासी लोगोंसे और ऋषियोंसे पूछते-पूछते वहाँ आये, जहाँ शबरीजीका स्थान था। वहाँ शबरीको न देखकर भगवान् कहने लगे कि भाग्यशालिनी हरिभक्ता कहाँ है? मेरे नेत्र उसके दर्शनरूपी सुधाके प्यासे हैं। स्वयं सरकार मेरे आश्रममें पधारे—यह जानकर शबरीजी भी आश्रमकी ओर दौड़ीं। दूरसे ही जहाँसे प्रभुको देखा वहींसे सप्रेम साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। शबरीके नेत्र प्रफुल्लित हो गये। भगवान्‌ने समीप जाकर शीघ्रतासे ललककर उसे उठा लिया। कोमल करकमलके स्पर्शसे तन-मनकी सब व्यथा दूर हो गयी। नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी झड़ी लग गयी। भगवान् श्रीराम परम सुखी होकर आसनपर विराजे। शबरीजीने अर्घ्यपाद्यपूर्वक बेर आदि फल अर्पण किये। श्रीरामजीने उन्हें प्रेमसे खाकर उनके अद्भुत सुन्दर स्वादकी बार-बार प्रशंसा की।

उधर सभी ऋषि आश्रममें बैठकर सोच-विचार कर रहे थे कि सरोवरका जल बिगड़ गया है, उसे शुद्ध करनेके लिये यज्ञ-याग, सर्वतीर्थजलनिक्षेप आदि सब उपाय हमने कर लिये, पर वह शुद्ध नहीं हुआ, अब बताओ वह कैसे सुधरे? सबोंने परस्पर विचारकर निश्चय किया कि वनके मार्गसे श्रीरघुनाथजी आ रहे हैं, यह सुना है, जब वे आयें, तब हमलोग उनसे कहें कि आप इसका भेद बताइये। इतनेमें ही उन ऋषियोंने सुना कि श्रीरामजी तो शबरीके आश्रममें आकर विराजे हैं। तब सबका ब्राह्मणत्वका अहंकार दूर हो गया और वे कहने लगे कि चलो, वहीं चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम करें। वे ऋषिगण शबरीके आश्रममें आकर बोले—प्रभो श्रीराम! आप सरोवरके जलको शुद्ध करनेका उपाय बताइये। भगवान्‌ने उत्तर दिया कि शबरीके चरणोंका स्पर्श करो, उसके बाद सरोवरके जलसे इसके चरणस्पर्श कराओ। जल तुरंत पवित्र हो जायगा? भगवान्‌की आज्ञासे ऋषियोंने ऐसा ही किया। सरोवरका जल अति निर्मल हो गया। भक्तिकी ऐसी महिमा देखकर ऋषियोंके हृदय प्रेमभावसे द्रवित हो गये।

महर्षि मतंगकी वाणी आज सत्य हो गयी थी। भगवान्‌ने उसे नवधा भक्तिका उपदेश दिया। शबरीने सीताजीकी खोजके लिये प्रभुको सुग्रीवसे मित्रता करनेकी सलाह दी और स्वयंको योगाग्निमें भस्मकर सदाके लिये श्रीरामके पाद-पद्मोंमें लीन हो गयी।

श्रीजटायुजी

प्रजापति कश्यपजीकी पत्नी विनतासे दो पुत्र हुए—अरुण और गरुड़। इनमेंसे भगवान् सूर्यके सारथि अरुणजीके दो पुत्र हुए—सम्पाति और जटायु। बचपनमें सम्पाति और जटायु उड़ानकी होड़ लगाकर ऊँचे

जाते हुए सूर्यमण्डलके पासतक चले गये। असह्य तेज न सह सकनेके कारण जटायु तो लौट आये; किंतु सम्पाति ऊपर ही उड़ते गये। सूर्यके अधिक निकट जानेपर सम्पातिके पंख सूर्य-तापसे भस्म हो गये। वे समुद्रके पास पृथ्वीपर गिर पड़े। जटायु लौटकर पंचवटीमें आकर रहने लगे। महाराज दशरथसे आखेटके समय इनका परिचय हो गया और महाराजने इन्हें अपना मित्र बना लिया।

वनवासके समय जब श्रीरामजी पंचवटी पहुँचे, तब जटायुसे उनका परिचय हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम अपने पिताके सखा गृध्रराजका पिताके समान ही सम्मान करते थे। जब छलसे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे श्रीराम वनमें चले गये और जब मारीचकी कपटपूर्ण पुकार सुनकर लक्ष्मणजी बड़े भाईको ढूँढ़ने चले गये, तब सूनी कुटियासे रावण सीतीजीको उठाकर बलपूर्वक रथमें उन्हें ले चला। श्रीविदेहराज-दुहिताका करुणक्रन्दन सुनकर जटायु क्रोधमें भर गये। वे ललकारते-धिक्कारते रावणपर टूट पड़े और एक बार तो राक्षसराजके केश पकड़कर उसे भूमिमें पटक ही दिया।

जटायु वृद्ध थे। वे जानते थे कि रावणसे युद्धमें वे जीत नहीं सकते। परंतु नश्वर शरीर राम-काजमें लग जाय, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा? रावणसे उनका भयंकर संग्राम हुआ। अन्तमें रावणने उनके पंख तलवारसे काट दिये। वे भूमिपर गिर पड़े। जानकीजीको लेकर रावण भाग गया। श्रीराम विरह-व्याकुल होकर जानकीजीको ढूँढ़ते हुए वहाँ आये। जटायु मरणासन्न थे। उनका चित्त श्रीरामके चरणोंमें लगा था। उन्होंने कहा—'राघव! राक्षसराज रावणने मेरी यह दशा की है। वही दुष्ट सीताजीको लेकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। मैंने तो तुम्हारे दर्शनके लिये ही अबतक प्राणोंको रोक रखा था। अब वे बिदा होना चाहते हैं। तुम आज्ञा दो।'

श्रीराघवके नेत्र भर आये। उन्होंने कहा—'आप प्राणोंको रोकें। मैं आपके शरीरको अजर-अमर तथा स्वस्थ बनाये देता हूँ।' जटायु परम भागवत थे। शरीरका मोह उन्हें था नहीं। उन्होंने कहा—'श्रीराम! जिनका नाम मृत्युके समय मुखसे निकल जाय तो अधम प्राणी भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है—ऐसी तुम्हारी महिमा श्रुतियोंमें वर्णित है, आज वही तुम प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो; फिर मैं शरीर किस लाभके लिये रखूँ?'

दयाधाम श्रीरामभद्रके नेत्रोंमें जल भर आया। वे कहने लगे—'तात! मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ। तुमने तो अपने ही कर्मसे परम गति प्राप्त कर ली। जिनका चित्त परोपकारमें लगा रहता है, उन्हें संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अब इस शरीरको छोड़कर आप मेरे धाममें पधारें।'

श्रीरामने जटायुको गोदमें रख लिया था। अपनी जटाओंसे वे उन पक्षिराजकी देहमें लगी धूलि झाड़ रहे थे। जटायुने श्रीरामके मुख-कमलका दर्शन करते हुए उनकी गोदमें ही शरीर छोड़ दिया—उन्हें भगवान्‌का सारूप्य प्राप्त हुआ। वे तत्काल नवजलधर-सुन्दर, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज, तेजोमय शरीर धारणकर वैकुण्ठ चले गये। जैसे सत्पुत्र श्रद्धापूर्वक पिताकी अन्त्येष्टि करता है, वैसे ही श्रीरामने जटायुके शरीरका सम्मानपूर्वक दाहकर्म किया और उन्हें जलांजलि देकर श्राद्ध किया। पक्षिराजके सौभाग्यकी महिमाका कहाँ पार है। त्रिभुवनके स्वामी श्रीराम, जिन्होंने दशरथजीकी अन्त्येष्टि नहीं की, उन्होंने अपने हाथों जटायुकी अन्त्येष्टि विधिपूर्वक की। उस समय उन्हें श्रीजानकीजीका वियोग भी भूल गया था।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने जटायुकी इस अनुपम भक्तिका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

जानकी हरण कियो रावण मरण काज सुनि सीतावाणी खगराज दौर्‌यौ आयो है।
बड़ी ये लड़ाई लीन्ही देह वारि फेरि दीन्ही राखे प्राण राममुख देखिबो सुहायो है॥

आये आपु गोद शीश धारि दृग धार सींच्यो दई सुधि लई गति तनहू जरायो है।
दशरथ वत मान कियो जल दान यह अति सम्मान निज रूप धाम पायो है॥ ३८॥

श्रीध्रुवजी

ध्रुव स्वायम्भुव मनुके पौत्र थे। महाराज उत्तानपादकी बड़ी पत्नी सुनीतिकी कोखसे उनका जन्म हुआ था। एक समयकी बात है, राजदरबार लगा था। महाराज उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचि एवं उसके पुत्र उत्तमके साथ राजसिंहासनपर विराजमान थे। सुरुचिके रूप-लावण्यने राजाको वशीभूत कर लिया था। सुरुचिकी रुचि ही उत्तानपादकी रुचि हो गयी थी। एक दिन पाँच वर्षका बालक ध्रुव अपने सखाओंके साथ खेलता-खेलता राजसभामें जा पहुँचा। अपने छोटे भाई उत्तमको पिताकी गोदमें बैठे देखकर बालक ध्रुवने भी पिताकी गोदमें बैठना चाहा। सुरुचि इसे कैसे सहन कर सकती थी? सुनीतिसे उसका सौतियाडाह जो था। 'अरे, तुम्हारा इतना साहस! यदि पिताकी गोदमें बैठना चाहते हो तो तपस्या करके भगवान्की आराधना करो। भगवान्को प्रसन्न करके मेरी कोखसे जन्म लो, तभी तुम्हें यह अधिकार प्राप्त हो सकता है।' कहते हुए सुरुचिने हाथ पकड़कर ध्रुवको राजाकी गोदसे अलग कर दिया।

यद्यपि अबोध बालक ध्रुव पूरी बात न समझ सका, परंतु 'मेरा अपमान हुआ है और भगवान्की आराधनासे ही अपमानसे छुटकारा मिल सकता है'—इतनी बात तो उनकी समझमें आ ही गयी। केवल इतनी-सी बात बालक ध्रुवको अमोघ भगवत्कृपाका अनुभव करानेमें हेतु बन गयी। विपरीत परिस्थितियाँ प्रायः मनुष्यको भगवत्कृपा प्राप्त करानेमें बड़ी सहायक होती हैं।

रुदन ही तो बालकका बल है। ध्रुव रोता-रोता अपनी माता सुनीतिके पास पहुँचा। सुनीतिने उसकी पूरी बात सुनी और कहा—'बेटा! सचमुच मैं अभागिनी हूँ। तुम्हारे पिता तुम्हारी छोटी माता सुरुचिके हाथ बिके हुए हैं। तुम्हारी अभिलाषा तो एक भगवान् ही पूर्ण कर सकते हैं। भगवान् विष्णुकी आराधनासे सब कुछ सुलभ है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो भगवान् न दे सकें।' 'भगवान् विष्णु सब कुछ दे सकते हैं।' निर्मल-हृदय ध्रुवके मनमें यह बात घर कर गयी।

'माँ! मुझे आज्ञा दो, मैं भगवान्से मिलकर उन्हींसे सब कुछ प्राप्त करूँगा।' ध्रुवने दृढ़ निश्चयके साथ माता सुनीतिसे निवेदन किया। 'बेटा! अभी तो तुम निरे बालक हो, कुछ बड़े हो जाओ, उसके बाद यह कार्य करना।' माताने ध्रुवको बहुत समझाया, परंतु ध्रुवके निश्चयमें माँ सुनीति कुछ भी परिवर्तन न कर सकीं और अन्तमें भगवत्कृपापर पूर्ण विश्वास रखनेवाली माताने बालकको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी।

भगवान् कैसे और कहाँ मिलते हैं—यह तो ध्रुवको ज्ञात नहीं था, परंतु भगवान् मिलते हैं, इस निश्चयके साथ ध्रुवने वनकी राह ली। भगवान्की ओर बढ़नेवालेकी सहायता भगवत्कृपा स्वयं करती है। मार्गमें ध्रुवको देवर्षि नारद मिले। नारद ध्रुवकी पूरी बात सुनकर विस्मय प्रकट करने लगे—'बेटा! तुम्हारी आयु अभी छोटी है, इस उम्रमें क्या मानापमान? प्रसन्न रहो और जैसे भगवान् रखें, उसीमें सन्तोष करो। भगवान्का मिलना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े योगी-मुनि दीर्घकालतक तपस्या करके भी उनका दर्शन अनेक जन्मोंके पश्चात् कर पाते हैं।' देवर्षिकी ये बातें सुनकर भी ध्रुवके निश्चयमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। 'मुने! आप बड़े कृपालु हैं। आपने जो उपदेश दिया, वह बहुत उत्तम है; परंतु मुझे तो भगवान् शीघ्र मिल सकें, आप ऐसा उपाय ही बताइये। जिससे मैं दुर्लभ पद प्राप्त कर सकूँ।' दृढ़ निष्ठा और निश्चयके साथ ध्रुवने देवर्षिके चरणोंमें नम्र निवेदन किया। ध्रुवके हृदयमें भय और संशयका बिल्कुल स्थान नहीं था। देवर्षिका हृदय ध्रुवकी निष्ठा देखकर पिघल गया।

ध्रुवपर सन्त-कृपा हुई। देवर्षिने उसे अमोघ आशीर्वाद दिया—'बेटा! तेरा कल्याण होगा। अब तुम श्रीयमुनाजीके तटस्थित मधुवनमें चले जाओ। वहाँ निरन्तर '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जाप करो। त्रिकाल यमुनामें स्नान करके सुस्थिर आसनपर बैठ जाना, प्राणायाम करना, चित्तको स्थिर और एकाग्र करके भगवान् विष्णुका ध्यान करना।' ध्रुव यमुनाजीके किनारे मधुवनमें जा पहुँचे और भगवान्‌की आराधनामें लग गये। नारदजीकी कृपासे उन्हें विधिका ज्ञान तो हो ही गया था। दिन-पर-दिन वे अपने व्रतको कठोर करने लगे। निर्भय-निर्द्वन्द्व उपासना चलने लगी। भगवान्‌की कृपापर उनका दृढ़ विश्वास था। मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे वे कृपानिधि भगवान्‌के साथ एकाकार हो रहे थे।

साधनामें भय और प्रलोभनरूपा बाधाओंका ताँता लग जाता है। ध्रुवके सामने भी बड़ी भयंकर परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। उन्हें डरानेके लिये बड़ी भयावनी राक्षसियाँ आयीं। मायाने माता सुनीतिका रूप धारणकर ध्रुवके सम्मुख प्रकट हो ममताका जाल डालना चाहा। ध्रुवको एकमात्र भगवत्कृपाका आश्रय था। उन्होंने उसकी बातें सुन करके भी अनसुनी कर दीं। वे प्रभुके ध्यानमें मग्न रहे। इतनेमें वहाँ 'मारो, पकड़ो, खा डालो' चिल्लाते हुए भयंकर राक्षस प्रकट हो गये। माता सुनीतिका रूप धारण करके आयी मायाका आर्तनाद सुनकर भी ध्रुव अपनी तपस्यामें अटल ही रहे। किसी भी तरहके विघ्न उनकी साधनामें बाधा न डाल सके।

उनकी कठोर तपस्याके छः महीने पूरे होने जा रहे थे। सुरपति घबरा उठे—'कहीं ध्रुव हमारा पद न छीन ले। देवतालोग पहुँचे भगवान्‌के पास। भगवान्‌ने देवताओंको आश्वासन दिया—'ध्रुव मेरा भक्त है, वह किसीका कोई अनिष्ट नहीं करेगा। मैं उसे दर्शन देकर तृप्त करूँगा।' देवतालोग निर्भय होकर चले गये, परंतु कृपानिधान भगवान् विष्णु अब अपने भक्तका कष्ट सहन नहीं कर पा रहे थे। वे तत्काल गरुड़ारूढ़ होकर ध्रुवके पास पहुँच गये, परंतु फिर भी ध्रुव अपने ध्यानमें मग्न रहे। भक्तको साध्य तो प्रिय होता ही है, किंतु साध्यसे साधन भी कम प्रिय नहीं लगता। अन्तमें भगवान्‌को उनके ध्यानसे अपने स्वरूपको हटाना पड़ा, तब कहीं ध्रुवने विकल होकर नेत्र खोले। साक्षात् भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित देखकर ध्रुव तुरंत उनके चरणोंमें लोट गये। प्रेमसे वाणी गद्गद हो गयी, शरीर रोमांचित हो गया और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। उनकी वाणी प्रेमसे अवरुद्ध थी। वे केवल हाथ जोड़े प्रभुके सामने खड़े थे, स्तुति करना चाहते हुए भी स्तुति करनेमें असमर्थ थे। करुणालय भगवान् श्रीहरिने अपना वेदमय शंख ध्रुवके कपोलसे स्पर्श करा दिया। शंखका स्पर्श होते ही ध्रुवको दिव्य वाणी प्राप्त हो गयी। सम्पूर्ण वेद-ज्ञान सुलभ हो गया। ध्रुव दिव्य वाणीसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे—

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।१७)

'भगवन्! आप परमानन्दमूर्ति हैं—जो लोग ऐसा समझकर निष्काम भावसे आपका निरन्तर भजन करते हैं, उनके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही भजनका सच्चा फल है। स्वामिन्! यद्यपि बात ऐसी ही है, तो भी गौ जैसे तुरंत जन्मे हुए बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती रहती है, उसी प्रकार आप भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये निरन्तर आतुर रहनेके कारण हम-जैसे सकाम जीवोंकी

भी कामना पूर्ण करके संसार-भयसे उनकी रक्षा करते रहते हैं।'

'प्रभो! आपकी कृपाका क्या कहना! बड़े-बड़े ऋषियों और मुनियोंको भी जिस रूपके दर्शन नहीं होते, आपने उस दिव्य स्वरूपका दर्शन मुझे छः मासके अल्पसमयमें ही दे दिया। अब मैं कृतार्थ हो गया। आपकी विलक्षण कृपा प्राप्त करके अब मेरे चित्तमें कोई कामना नहीं है। मुझे केवल आपके सांनिध्यकी ही इच्छा है।'

'बेटा ध्रुव! तुम्हारे मनमें अब कोई कामना नहीं है, परंतु मेरी आज्ञाका तुम्हें पालन करना ही होगा। मैं तुम्हें जो पद देता हूँ, वह ग्रहण करना होगा। मेरी आज्ञासे तुम्हें राज्यभार सँभालना होगा। ग्रह-नक्षत्रोंसे ऊपर तुम्हें ध्रुव-पद प्राप्त होगा। जीवनभर तुमपर मेरी अनोखी कृपा बरसती रहेगी। कल्पके अन्तमें तुम मेरे पास ही आओगे, जहाँसे तुम्हें फिर लौटना नहीं होगा।' कृपालु श्रीहरिने ध्रुवको कृपामय आदेश दिया।

भगवान् श्रीहरिके विरहका संताप लेकर राज्यकी कामना न होते हुए भी प्रभुके आदेशानुसार ध्रुव वनसे लौट आये। पितासहित सभी राजपुरुषों एवं सौतेली माँने उनका अभिनन्दनकर आशीर्वाद दिया। सुनीतिने तो आरती उतारते हुए प्रेमाश्रुओंसे अपने प्रिय पुत्रका अभिषेक किया।

युवावस्थामें ध्रुवने अपने माता-पिताकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया।

ध्रुवके भाई उत्तमको आखेटका दुर्व्यसन था। एक बार वह आखेट करते-करते स्वयं भी एक यक्षका आखेट बन गया। ध्रुव भाई उत्तमके निधनकी जानकारीके लिये वनमें गये। वहाँ उनका यक्षोंसे घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें पितामह मनुने युद्धमें आकर भयंकर संहार बन्द करवाया। यक्षपति कुबेर भक्त ध्रुवके व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हुए। कुबेरने ध्रुवको वरदान देना चाहा, परंतु ध्रुवने उनसे विनम्रतापूर्वक भगवद्भक्तिकी ही याचना की।

ध्रुवने अनेक यज्ञ-यागादि किये। उन्होंने भगवान् शंकरकी भी आराधनाकर उन्हें प्रसन्न किया तथा भगवद्भक्तिका ही अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किया।

ध्रुवने छत्तीस सहस्र वर्षतक धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन किया। भगवत्प्रेमका उनके जीवनमें उत्तरोत्तर विकास हुआ। अन्त समयमें भगवान्‌के पार्षद सुनन्द एवं नन्द उन्हें लेने आये और वे कालके सिरपर पैर रखकर विमानपर आरूढ़ हो सदेह भगवद्धामको चले गये।

श्रीउद्धवजी

उद्धवजी भगवान्‌के सखा-भक्त थे। अक्रूरके साथ जब भगवान् व्रजसे मथुरा आ गये और कंसको मारकर सब यादवोंको सुखी बना दिया, तब भगवान्‌ने एकान्तमें अपने प्रिय सखा उद्धवको बुलाकर कहा— 'उद्धव! व्रजकी गोपांगनाएँ मेरे वियोगमें व्याकुल होंगी, उन्हें जाकर तुम समझा आओ। उन्हें मेरा सन्देश सुना आओ कि मैं तुमसे अलग नहीं, सदा तुम्हारे ही साथ हूँ।' उद्धवजी अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर नन्दके व्रजमें गये। वहाँ चारों ओरसे उन्हें व्रजवासियोंने घेर लिया और लगे भाँति-भाँतिके प्रश्न करने; कोई आँसू बहाने लगा, कोई मुरली बजाते-बजाते रोने लगा, कोई भगवान्‌का कुशल-समाचार पूछने लगा। उद्धवजीने सबको यथायोग्य उत्तर दिया और सबको धैर्य बँधाया।

एकान्तमें जाकर उन्होंने गोपियोंको अपना ज्ञान-सन्देश सुनाया। उन्होंने कहा—'भगवान् वासुदेव किसी एक जगह नहीं हैं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं। उनमें भगवत्-बुद्धि करो, सर्वत्र उन्हें देखो।' गोपियोंने रोते-रोते कहा—'उद्धवजी! तुम ठीक कहते हो, किंतु हम गँवारी वनचरी इस गूढ़ ज्ञानको भला कैसे समझ सकती हैं? हम तो उन श्यामसुन्दरकी भोली-भाली सूरतपर ही अनुरक्त हैं। उनका वह हास्ययुक्त मुखारविन्द,

वह काली-काली घुँघराली अलकावली, वह वंशीकी मधुर ध्वनि हमें हठात् अपनी ओर खींच रही है। वृन्दावनकी समस्त भूमिपर उनकी अनन्त स्मृतियाँ अंकित हैं। तिलभर भी जमीन खाली नहीं, जहाँ उनकी कोई मधुर स्मृति न हो। हम इन यमुनापुलिन, वन, पर्वत, वृक्ष और लताओंमें उन श्यामसुन्दरको देखती हैं। इन्हें देखकर उनकी स्मृति मूर्तिमान् होकर हमारे हृदयपटलपर नाचने लगती है।

उनके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी अपना समस्त ज्ञान भूल गये और अत्यन्त करुणाके स्वरमें कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

'मैं इन व्रजांगनाओंकी चरणधूलिकी भक्तिभावसे वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी हुई हरि-कथा तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली है।' व्रजमें जाकर उद्धवजी ऐसे प्रभावित हुए कि वे सब ज्ञान-गाथा भूल गये।

भगवान्के द्वारका पधारनेपर ये भी उनके साथ गये। यदुवंशियोंके मन्त्रिमण्डलमें इनका भी एक प्रधान स्थान था। इनकी भगवान्में अनन्य भक्ति थी। जब इन्होंने समझा कि भगवान् अब इस लोकको लीलाका संवरण करना चाहते हैं, तब ये एकान्तमें जाकर बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥

(श्रीमद्भा० ११।६।४३)

'हे भगवन्! हे नाथ! मैं आपके चरणोंसे आधे क्षणके लिये भी अलग होना नहीं चाहता। मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये।'

भगवान्ने कहा—'उद्धव! मैं इस लोकसे इस शरीरद्वारा अन्तर्हित होना चाहता हूँ। मेरे अन्तर्हित होते ही यहाँ घोर कलियुग आ जायगा। इसलिये तुम बदरिकाश्रमको चले जाओ और वहाँ तपस्या करो। तुम्हें कलियुगका धर्म नहीं व्यापेगा।'

भगवान्की ऐसी ही मर्जी है, यह समझकर उद्धवजी चले तो गये, किंतु उनका मन भगवान्की लीलाओंमें ही लगा रहा। जब सब यादव प्रभासक्षेत्रको चले गये तो भगवान्की अन्तिम लीलाको देखने उद्धवजी भी प्रभासमें पहुँचे। तबतक समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका था। उद्धवजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भगवान्के पास पहुँचे। भगवान् सरस्वती नदीके तटपर एक अश्वत्थवृक्षके नीचे विराजमान थे, उद्धवजीने रोते-रोते उन्हें प्रणाम किया। दैवयोगसे पराशरके शिष्य मैत्रेयजी भी वहाँ आ गये। दोनोंको भगवान्ने इस समस्त जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलयका ज्ञान कराया और इस अन्तिम ज्ञानको विदुरजीके प्रति उपदेश करनेके लिये भी भगवान् मैत्रेयजीको आज्ञा कर गये।

भगवान्की आज्ञा पाकर उद्धवजी बदरिकाश्रमको चले। भगवान् अपने परमधामको पधारे। उद्धवजीके हृदयमें भगवान्का वियोग भर रहा था, अतः उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे खूब रोते थे। किंतु रोना भी किसी सुहृदयके सामने हो तो हृदय हलका होता है। दैवयोगसे उद्धवजीको विदुरजी मिल गये। विदुरजीने पूछा—'यदुवंशके सब लोग कुशलपूर्वक तो हैं?' यदुकुलका नाम सुनते ही उद्धवजी ढाह बाँधकर रो पड़े और रोते-रोते बोले—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२।७-८)

'कृष्णरूपी सूर्यके अस्त होनेपर, कालरूपी सर्पके ग्रसे जानेपर हे विदुरजी! हमारे कुलकी अब कुशल क्या पूछते हो? यह पृथ्वी हतभागिनी है और उनमें भी ये यदुवंशी सबसे अधिक भाग्यहीन हैं, जो दिन-रात पासमें रहनेपर भी भगवान्‌को नहीं पहचान सके, जैसे समुद्रमें रहनेवाले जीव चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते।'

इसके बाद उद्धवजीने यदुवंशके क्षयकी सब बातें सुनायीं।

उद्धवजी परम भागवत थे, ये भगवान्‌के अभिन्नविग्रह थे। इनके सम्बन्धमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥

(श्रीमद्भा० ३।४।३०-३१)

'मेरे इस लोकसे चले जानेके पश्चात् उद्धव मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। उद्धव मुझसे गुणोंमें तनिक भी कम नहीं हैं, अतः वे ही सबको इसका उपदेश करेंगे।'

जिनके लिये भगवान् ऐसा कहते हैं, उनके भगवत्प्रेमके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है!

श्रीअम्बरीषजी

वैवस्वत मनुके प्रपौत्र तथा राजर्षि नाभागके पुत्र महाराज अम्बरीषजी सप्तद्वीपवती सम्पूर्ण पृथ्वीके स्वामी थे और उनके ऐश्वर्यकी संसारमें कोई तुलना न थी। कोई दरिद्र मनुष्य भोगोंके अभावमें वैराग्यवान् बन जाय, यह तो सरल है; किंतु धन-दौलत होनेपर, विलासभोगकी पूरी सामग्री प्राप्त रहते वैराग्यवान् होना, विषयोंसे दूर रहना महापुरुषोंके ही वशका है और यह भगवान्‌की कृपासे ही होता है। थोड़ी सम्पत्ति और साधारण अधिकार भी मनुष्यको मदान्ध बना देता है, किंतु जो भाग्यवान् अशरण-शरण दीनबन्धु भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लेते हैं, जो उन मायापति श्रीहरिकी रूपमाधुरीका सुधास्वाद पा लेते हैं, मायाकी मादकता उन्हें रूखी लगती है। मोहनकी मोहनी जिनके प्राण मोहित कर लेती है, मायाका ओछापन उन्हें लुभानेमें असमर्थ हो जाता है। वे तो जलमें कमलकी भाँति सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यके मध्य भी निर्लिप्त ही रहते हैं। वैवस्वत मनुके प्रपौत्र तथा राजर्षि नाभागके पुत्र अम्बरीषको अपना ऐश्वर्य स्वप्नके समान असत् जान पड़ता था। वे जानते थे कि सम्पत्ति मिलनेसे मोह होता है और बुद्धि मारी जाती है। भगवान् वासुदेवके भक्तोंको पूरा विश्व ही मिट्टीके ढेलों-सा लगता है। विश्वमें तथा उसके भोगोंमें नितान्त अनासक्त अम्बरीषजीने अपना सारा जीवन परमात्माके पावन पाद-पद्मोंमें ही लगा दिया था।

जैसा राजा, वैसी प्रजा। महाराज अम्बरीषके प्रजाजन, राजकर्मचारी—सभी लोग भगवान्‌के पवित्र चरित सुनने, भगवान्‌के नाम-गुणका कीर्तन करने और भगवान्‌के पूजन-ध्यानमें ही अपना समय लगाते थे। भक्तवत्सल भगवान्‌ने देखा कि मेरे ये भक्त तो मेरे चिन्तनमें ही लगे रहते हैं, तो भक्तोंके योगक्षेमकी रक्षा

करनेवाले प्रभुने अपने सुदर्शनचक्रको अम्बरीष तथा उनके राज्यकी रक्षामें नियुक्त कर दिया। जब मनुष्य अपना सब भार उन सर्वेश्वरपर छोड़कर उनका हो जाता है, तब वे दयामय उसके योगक्षेमका दायित्व अपने ऊपर लेकर उसे सर्वथा निश्चिन्त कर देते हैं। चक्र अम्बरीषके द्वारपर रहकर राज्यकी रक्षा करने लगा।

(क) राजर्षि अम्बरीषके एकादशीव्रतनिष्ठाकी कथा

राजा अम्बरीषने एक बार अपनी पत्नीके साथ श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये वर्षकी सभी एकादशियोंके व्रतका नियम किया। वर्ष पूरा होनेपर पारणके दिन उन्होंने धूम-धामसे भगवान्‌की पूजा की। ब्राह्मणोंको गोदान किया। यह सब करके जब वे पारण करने जा रहे थे, तभी महर्षि दुर्वासा शिष्योंसहित पधारे। राजाने उनका सत्कार किया और उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की। दुर्वासाजीने राजाकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और स्नान करने यमुना-तटपर चले गये। द्वादशी केवल एक घड़ी शेष थी। द्वादशीमें पारण न करनेसे व्रत भंग होता। उधर दुर्वासाजी आयेंगे कब, यह पता नहीं था। अतिथिसे पहले भोजन करना अनुचित था। ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर राजाने भगवान्‌के चरणोदकको लेकर पारण कर लिया और भोजनके लिये ऋषिकी प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्वासाजीने स्नान करके लौटते ही तपोबलसे राजाके पारण करनेकी बात जान ली। वे अत्यन्त क्रोधित हुए कि मेरे भोजनके पहले इसने क्यों पारण किया। उन्होंने मस्तकसे एक जटा उखाड़ ली और उसे जोरसे पृथ्वीपर पटक दिया। उससे कालाग्निके समान कृत्या नामकी भयानक राक्षसी निकली। वह राक्षसी तलवार लेकर राजाको मारने दौड़ी। राजा जहाँ-के-तहाँ स्थिर खड़े रहे। उन्हें तनिक भी भय नहीं लगा। सर्वत्र सब रूपोंमें भगवान् ही हैं, यह देखनेवाला भगवान्‌का भक्त भला, कहीं अपने ही दयामय स्वामीसे डर सकता है? अम्बरीषको तो कृत्या भी भगवान् ही दीखती थी। परंतु भगवान्‌का सुदर्शनचक्र तो भगवान्‌की आज्ञासे पहलेसे ही राजाकी रक्षामें नियुक्त था। उसने पलक मारते कृत्याको भस्म कर दिया और दुर्वासाकी भी खबर लेने उनकी ओर दौड़ा। अपनी कृत्याको इस प्रकार नष्ट होते और ज्वालामय कराल चक्रको अपनी ओर आते देख दुर्वासाजी प्राण लेकर भागे। वे दसों दिशाओंमें, पर्वतोंकी गुफाओंमें, समुद्रमें—जहाँ-जहाँ छिपनेको गये, चक्र वहीं उनका पीछा करता गया। आकाश-पातालमें सब कहीं वे गये। इन्द्रादि लोकपाल तो उन्हें क्या शरण देते, स्वयं ब्रह्माजी और शंकरजीने भी आश्रय नहीं दिया। दया करके शिवजीने उनको भगवान्‌के ही पास जानेको कहा। अन्तमें वे वैकुण्ठ गये और भगवान् विष्णुके चरणोंपर गिर पड़े। दुर्वासाने कहा—प्रभो! आपका नाम लेनेसे नारकी जीव नरकसे भी छूट जाते हैं, अतः आप मेरी रक्षा करें। मैंने आपके प्रभावको न जानकर आपके भक्तका अपराध किया, इसलिये आप मुझे क्षमा करें।

भगवान् अपनी छातीपर भृगुकी लात तो सह सकते हैं, अपने प्रति किया गया अपराध वे कभी मनमें ही नहीं लेते, पर भक्तके प्रति किया गया अपराध वे क्षमा नहीं कर सकते। प्रभुने कहा—महर्षि! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं तो भक्तोंके पराधीन हूँ। साधु भक्तोंने मेरे हृदयको जीत लिया है। साधुजन मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। मुझे छोड़कर वे और कुछ नहीं जानते और उनको छोड़कर मैं भी और कुछ नहीं जानता। साधु भक्तोंको छोड़कर मैं अपने इस शरीरको भी नहीं चाहता और इन लक्ष्मीजीको जिनकी एकमात्र गति मैं ही हूँ उन्हें भी नहीं चाहता। जो भक्त स्त्री-पुत्र, घर-परिवार, धन-प्राण, इहलोक-परलोक सबको त्यागकर मेरी शरण आया है, भला मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ? जैसे पतिव्रता स्त्री पतिको अपनी सेवासे वशमें कर लेती है, वैसे ही समदर्शी भक्तजन मुझमें चित्त लगाकर मुझे भी अपने वशमें कर लेते हैं। नश्वर स्वर्गादिकी तो चर्चा ही क्या, मेरे भक्त मेरी सेवाके

आगे मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते। ऐसे भक्तोंके मैं सर्वथा अधीन हूँ, अतएव ऋषिवर! आप उन महाभाग नाभागतनयके ही पास जायँ। वहीं आपको शान्ति मिलेगी।

इधर राजा अम्बरीष बहुत ही चिन्तित थे। उन्हें लगता था कि मेरे ही कारण दुर्वासाजीको मृत्युभयसे ग्रस्त होकर भूखे ही भागना पड़ा। ऐसी अवस्थामें मेरे लिये भोजन करना कदापि उचित नहीं है। अतः वे केवल जल पीकर ऋषिके लौटनेकी पूरे एक वर्षतक प्रतीक्षा करते रहे। वर्षभरके बाद दुर्वासाजी जैसे भागे थे, वैसे ही भयभीत दौड़ते हुए आये और उन्होंने राजाका पैर पकड़ लिया। ब्राह्मणके द्वारा पैर पकड़े जानेसे राजाको बड़ा संकोच हुआ। उन्होंने स्तुति करके सुदर्शनको शान्त किया।

महर्षि दुर्वासा मृत्युके भयसे छूटे। सुदर्शनका अत्युग्र ताप, जो उन्हें जला रहा था, शान्त हुआ। अब प्रसन्न होकर वे कहने लगे—आज मैंने भगवान्‌के दासोंका महत्त्व देखा। राजन्! मैंने तुम्हारा इतना अपराध किया था, पर तुम मेरा कल्याण ही चाहते हो। जिन प्रभुका नाम लेनेसे ही जीव समस्त पापोंसे छूट जाता है, उन तीर्थपाद श्रीहरिके भक्तोंके लिये कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता। राजन्! तुम बड़े दयालु हो। मेरा अपराध न देखकर तुमने मेरी प्राणरक्षा की।

अम्बरीषके मनमें ऋषिके वाक्योंसे कोई अभिमान नहीं आया। उन्होंने इसको भगवान्‌की कृपा समझा। महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके बड़े आदरसे राजाने उन्हें भोजन कराया। उनके भोजन करके चले जानेपर एक वर्ष पश्चात् उन्होंने वह पवित्र अन्न प्रसादरूपसे लिया। बहुत कालतक परमात्मामें मन लगाकर प्रजापालन करनेके पश्चात् अम्बरीषजीने अपने पुत्रको राज्य सौंप दिया और भगवान् वासुदेवमें मन लगाकर वनमें चले गये। वहाँ भजन तथा तप करते हुए उन्होंने भगवान्‌को प्राप्त किया।

श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीअम्बरीषजीके चरित्रका निम्न कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अम्बरीष भक्त की जो रीस कोऊ करै और बड़ो मति बौर किहूँ जान नहिं भाखिये।
दुरबासा रिषि सीष सुनी नहीं कहूँ साधु मानि अपराध सिर जटा खैंचि नाखिये॥
लई उपजाय काल कृत्या विकराल रूप भूप महाधीर रह्यो ठाढ़ो अभिलाखिये।
चक्र दुख मानि लै कृशानु तेज राख करी परी भीर ब्राह्मण को भागवत साखिये॥ ३९॥
भाज्यो दिशा दिशा सब लोक लोकपाल पास गयो नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।
ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम टेव बुरी दासनि को भेद नहिं जान्यो वेद धारे हैं॥
पहुँचे बैकुण्ठ जाय कह्यौ दुःख अकुलाय हाय हाय राखौ प्रभु खरो तन जारे हैं।
मैं तो हौं अधीन तीनि गुन को न मान मेरे भक्तवात्सल्य गुण सबही को टारे हैं॥ ४०॥
मोको अति प्यारे साधु उनकी अगाधमति कर्‌यो अपराध तुम सह्यो कैसे जात हैं।
धाम धन वाम सुत प्राण तनु त्याग करैं ढरैं मेरी ओर निशिभोर मोसों बात है॥
मेरेउ न सन्त बिनु और कछु साँची कहौं जाओ वाही ठौर जाते मिटै उत्पात है।
बड़ेई दयाल सदा दीन प्रतिपाल करैं न्यूनता न धरैं कहूँ भक्ति गात गात है॥ ४१॥
है करि निरास ऋषि आयो नृप पास चल्यो गर्व सों उदास पग गहे दीन भाख्यो है।
राजा लाज मानि मृदु कहि सनमान कर्‌यो ढर्‌यो चक्र ओर करजोरि अभिलाख्यो है॥
भक्त निष्काम कभूं कामना न चाहत हैं चाहत हैं विप्र दुख दूरि करो चाख्यो है।
देखि कै विकलताई सदा सन्त सुखदाई आई मान माँझ सब तेज ढाँकि राख्यो है॥ ४२॥

इन कवित्तोंका भाव संक्षेपमें इस प्रकार है—

(ख) भक्त अम्बरीषकी छोटी रानीके विवाहकी कथा

भक्तवर अम्बरीषकी अपूर्व भगवद्भक्तिपर एक राजकुमारी लुब्ध हो गयी। उसने निश्चय किया कि मैं उन्हींको अपने पतिके रूपमें वरण करूँगी। अपना दृढ़ विचार उसने पिताके समक्ष उपस्थित कर दिया। पिताने एक पत्रमें सारी बातें लिखकर उसे ब्राह्मणके द्वारा अम्बरीषके पास भेजा।

ब्राह्मणदेव नृपशिरोमणि अम्बरीषके पास पहुँचे और पत्र उन्हें दे दिया। पत्र पढ़कर नरेशने कहा, 'भगवद्भजन और राज्य-कार्यसे मुझे तनिक भी अवकाश नहीं मिलता कि किसी भी रानीकी सेवामें उपस्थित हो सकूँ। रानियाँ भी मेरे अधिक हैं। ऐसी स्थितिमें किसी अन्य राजकुमारीका परिणय मुझे प्रिय नहीं है।'

ब्राह्मणदेव लौट आये। श्रीअम्बरीषका सन्देश राजा और उनकी पुत्रीको उन्होंने सुना दिया। राजकुमारीके मनकी कली विकसित हो गयी। उसने सोचा—'ऐसे पुरुष जिन्हें विलास आदिसे पूरी विरक्ति और भगवान्के चरणोंमें अनुपम अनुरक्ति है, धन्य हैं। मैं उन्हें अवश्य ही पति बनाऊँगी। इस प्रकार अपना जीवन सफल कर लूँगी।'

ब्राह्मणदेवता पुनः अम्बरीषके पास पहुँचे और बोले—'राजकुमारीने अत्यन्त विनयसे कहा है कि आपके विचारोंको सुनकर मेरा हृदय गद्गद हो गया है। मनसे आपको मैंने पति बना लिया है। पत्नीके रूपमें यदि आपने मुझे स्वीकार नहीं किया तो मैं आत्महत्या कर लूँगी। स्त्री-वधके महापापसे आप नहीं बच सकेंगे।'

धर्मप्राण नरेशने विवाह करना स्वीकार कर लिया। उन्होंने ब्राह्मणको अपना खड्ग देकर कहा, 'आप इससे राजकुमारीकी भाँवरी फिरा लें।'

प्रसन्नमन ब्राह्मण लौटे। राजकुमारी हर्षातिरेकसे नाच उठीं। खड्गसे भाँवरी फिराकर उसका विवाह-संस्कार पूर्ण हुआ। वे माता-पितासे विदा होकर पतिगृहमें आ गयीं। परम भगवद्-भक्त पतिकी शान्त मूर्तिके दर्शनकर उन्होंने अपना अहोभाग्य समझा।

(ग) छोटी रानीके भगवद्भावने सबको भगवद्भक्त बना दिया

अम्बरीषने देखा, उनके पूजाकी समस्त सामग्रियाँ धोकर यथास्थान रखी रहती हैं। पूजा-गृह धुला मिलता है। यह उन्हें अभीष्ट नहीं था; क्योंकि प्रभु-सेवाका सारा कार्य वे स्वयं अपने ही हाथों करना उचित समझते थे और इसीमें उन्हें प्रसन्नता मिलती थी। पता लगानेके लिये एक दिन रात्रिमें वे पूजागृहमें छिप गये। एक प्रहर रात रहते ही नयी रानीने वहाँ प्रवेश किया और पूजाके पात्र मलने लगीं। राजाका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने कहा, 'यदि ऐसा ही करना है तो भगवान् को अपने भवनमें पधरा लो, प्रिये!' रानीकी आकांक्षा पूरी हुई। उनकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी।

भगवान् उनके भवनमें ही पधारे। अब वे रात रहते ही स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्की धूप-दीपादि षोडशोपचारसे अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करतीं और भजनमें बैठतीं तो दोपहर बीत जाता। उन्हें खान-पानकी कुछ सुधि ही नहीं रहती। दासियोंके बार-बारके आग्रहपर वे भजनसे उठ पातीं।

यह समाचार अम्बरीषने भी सुना। दूसरे दिन सूर्योदयके समय ही वे छोटी रानीके पूजा-गृहमें आये। उन्होंने देखा, रानीने भगवान्को अत्यन्त सुन्दर ढंगसे सजा रखा है। धूपकी मधुर सुगन्ध उड़ रही है। घृत-दीप जल रहा है। रानी पद्मासन लगाये भगवान्के सामने बैठी हैं। मधुर स्वरमें वीणाके तार झनझना रहे हैं और भजनकी मधुर स्वर-लहरियाँ वीणाके तारोंके स्वरोंमें विलीन होती जा रही हैं। रानीकी आँखें अश्रुरूपी मोतियोंकी माला पिरोती जा रही हैं।

रानीकी तन्मयता! स्वर्गीय भजन!! अद्वितीय प्रभु-प्रेम!!! अम्बरीष पीछे खड़े-खड़े देख रहे थे। भजन

राजर्षि अम्बरीषकी रानी [पृ० ११८]

चन्द्रहास और विषया [पृ० १२९]

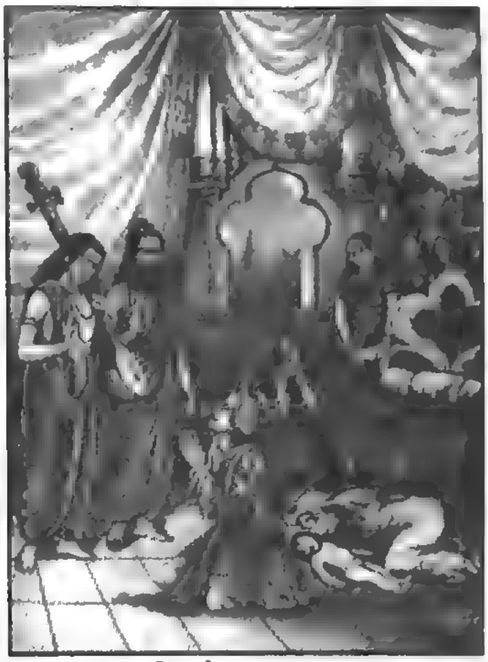
राजा चित्रकेतु [पृ० १३४]

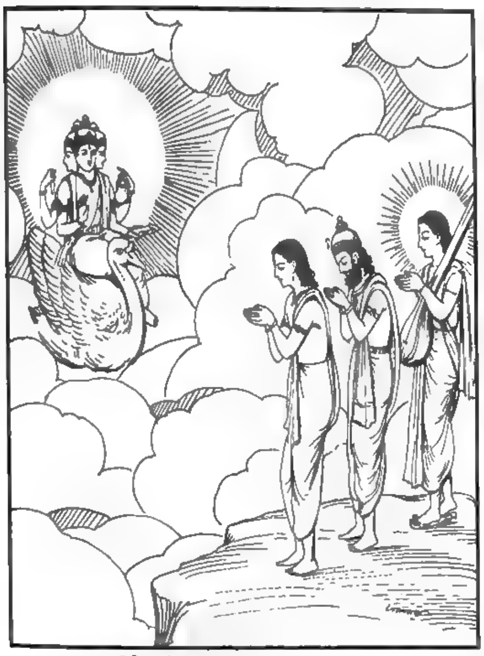
राजर्षि प्रियव्रत [पृ० १६४]

भगवती सती [पृ० १७२]

रानी मदालसा [पृ० १७९]

राजर्षि भगीरथ [पृ० १९२]

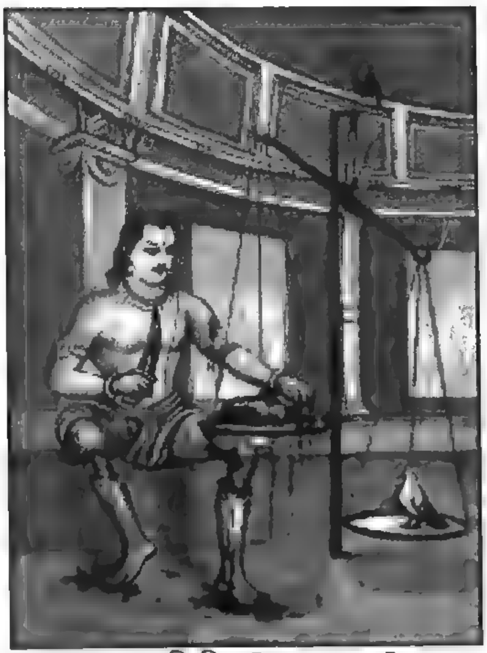
राजा शिबि [पृ० २०९]

अलर्क और दत्तात्रेय [पृ० २१४]

पतिप्राणा जयदेवपत्नी [पृ० ३९५]

बिल्वमंगल और चिन्तामणि [पृ० ४०१]

भक्तिमयी रतिवन्ती [पृ० ४२०]

कर्माबाईका वात्सल्यभाव [पृ० ४२२]

श्रीवारमुखीजी [पृ० ४५०]

पीपादम्पतीकी सन्तनिष्ठा [पृ० ४७२]

धन्नापर प्रभुकृपा [पृ० ४७६]

सेना नाईके रूपमें भगवान् [पृ० ४७७]

भक्तिमती सुरसुरी [पृ० ४८२]

समाप्त हुआ। शरीरकी छाया देखकर रानीने पीछे सिर घुमाया तो पतिदेवको देखा। उनके स्वागतके लिये वे उठने ही वाली थीं कि अत्यन्त प्रेमसे अम्बरीषने कहा, 'प्रिये! मेरे स्वागतकी आवश्यकता नहीं है— वही भजन फिर सुनाओ।'

रानीके सौभाग्यका क्या कहना! पतिदेव रीझ चुके थे। परमपतिको रिझाना था। वीणा उठी। पतली अँगुलियाँ तारोंपर थिरकने लगीं। मधुर स्वर-लहरीमें थिरकता हुआ भजन अम्बरीषको बेसुध कर रहा था। वे समाधिस्थ-से हो गये थे। उनकी आँखें बरस रही थीं।

उस दिनसे प्रतिदिन नियमपूर्वक भक्तवर अम्बरीष अपनी छोटी रानीके पास प्रातःकाल ही आ जाते। भजन-पूजनमें कभी-कभी दिन-का-दिन निकल जाता। वे रानीको अत्यन्त प्यार करने लगे।

'भजन-पूजनसे राजा प्रसन्न होते हैं' यह सोचते ही अम्बरीषकी समस्त रानियाँ खूब विधि और प्रेमसे अपने-अपने भवनमें भगवान्‌का विग्रह पधराकर पूजन करने लगीं। समस्त रानियाँ प्रभुके भजनमें तल्लीन हो गयीं।

'राजाकी प्रसन्नता भगवद्भजनमें है' यह समाचार समस्त प्रजामें फैल गया। फिर क्या था! राज्यकी समस्त प्रजा भगवान्‌की भक्ति करने लगी। राजा-रानी और समस्त प्रजाके प्राण भगवान् बन गये। भगवान्‌की कृपा सबपर बरसने लगी। धन्य अम्बरीष और धन्य उनकी भक्ति!

राजर्षि अम्बरीषकी रानीकी इस भगवद्भक्तिका वर्णन श्रीप्रियादासजीने निम्न कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

एक नृप सुता सुनि अम्बरीष भक्ति भाव भयो हिय भाव ऐसो वर कर लीजिये।
पिता सों निशंक ह्वै कै कही पति कियो मैं ही विनय मानि मेरी वेगि चीठी लिख दीजिये॥
पाती लैके चल्यो विप्र छिप्र वही पुरी गयो नयो चाव जान्यो ऐ पै कैसे तिया धीजिये।
कहो तुम जाय रानी बैठी सत आय मोको बोल्यो न सुहाय प्रभु सेवा माँझ भीजिये॥ ४३॥
कह्यो नृप सुता सों जु कीजिये जतन कौन पौन जिमि गयो आयो काम नाहीं बिया को।
फेरिकै पठायो सुख पायो मैं तो जान्यो वह बड़े धर्मज्ञ वाके लोभ नाहीं तिया को॥
बोली अकुलाय मन भक्ति ही रिझाय लियो कियो पति मुख नहीं देखौं और पिया को।
जायके निशंक यह बात तुम मेरी कहो चेरी जो न करौ तौपै लेवो पाप जिया को॥ ४४॥
कही विप्र जाय सुनि चाय भहराय गयो दयो लै खड़ग यासों फेरी फेर लीजिये।
भयो जू विवाह उत्साह कहूं मात नाहिं आई घर अम्बरीष देखि छवि भीजिये॥
कह्यौ नव मन्दिर में झारिकै बसेरो देवो देवो सब भोग विभौ नाना सुख कीजिये।
पूरब जनम कोऊ मेरे भक्ति गन्ध हुती याते सम्बन्ध पायो यहै मानि धीजिये॥ ४५॥
रजनी के सेस पति भौन में प्रवेश कियो लियो प्रेम साथ ढिग मन्दिर के आइये।
बाहिरी टहल पात्र चौका करि रीझि रही गही कौन जाय जामे होत न लखाइये॥
आवत ही राजा देखि लगै न निमेष किहूँ कौन चोर आयो मेरी सेवा लै चुराइये।
देखि दिन तीनि फेर चीन्हिके प्रवीन कही ऐसो मन जौ पै प्रभु माथे पधराइये॥ ४६॥
लई बात मानि मानो मन्त्र लै सुनायौ कान होत ही बिहान सेवा नीकी पधराई है।
करत सिंगार फिर आपु ही निहारि रहै लहै नहीं पार दृग झरी सी लगाई है॥
भई बढ़वार राग भोग सों अपार भाव भक्ति विस्तार रीति पुरी सब छाई है।
नृप हू सुनत अब लागि चोप देखिबे की आये ततकाल मति अति अकुलाई है॥ ४७॥

हरे हरे पाँव धरै पौरियान मने करै खरे अरबैं कब देखौं भागभरी को।
गये चलि मन्दिर लौं सुन्दरी न सुधि अङ्ग रङ्ग भीजि रही दृग लाइ रहे झरी को॥
बीन लै बजावै गावैं लालन रिझावै त्यों त्यों अति मनभावै कहैं धन्य यह घरी को।
द्वार पै रह्यो न जाय गये ढिग ललचाय भई उठि ठाढ़ि देखि राजा गुरु हरी को॥ ४८॥
वैसे ही बजाओ बीन ताननि नवीन लैके झीन सुर कान परै जाति मति खोइये।
जैसे रंग भीजि रही कही सो न जात मोपै ऐपै मन नैन चैन कैसे करि गोइये॥
करि कै अलापचारी फेरि कै सँभारि तान आइ गयो ध्यान रूप ताहि माँझ भोइये।
प्रीति रस रूप भई राति सब बीति गई नई कछु रीति अहो जामें नहिं सोइये॥ ४९॥
बात सुनी रानी और राजा गये नई ठौर भई सिरमौर अब कौन वाकी सर है।
हमहूँ लै सेवा करैं पति मति वश करैं धरैं नित्य ध्यान विषय बुद्धि राखी धर है॥
सुनिकै प्रसन्न भये अति अम्बरीष ईस लागी चोप फैलि गई भक्ति घर घर है।
बढ़ैं दिन दिन चाव ऐसोई प्रभाव कोई पलटै सुभाव होत आनँद को भर है॥ ५०॥

श्रीविदुरजी एवं उनकी धर्मपत्नी (विदुरानीजी)

माण्डव्य ऋषिके शापसे यमराजजीने ही दासीपुत्रके रूपमें धृतराष्ट्र तथा पाण्डुके भाई होकर जन्म लिया था। यमराजजी भागवताचार्य हैं। अपने इस रूपमें मनुष्य-जन्म लेकर भी वे भगवान्‌के परम भक्त तथा धर्मपरायण ही रहे। विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे और सदा इसी प्रयत्नमें रहते थे कि महाराज धर्मका पालन करें। नीतिशास्त्रके ये महान् पण्डित और प्रवर्तक थे। इनकी विदुरनीति बहुत ही उपादेय और प्रख्यात है।

जब कभी पुत्र-स्नेहवश धृतराष्ट्र पाण्डवोंको क्लेश देते या उनके अहितकी योजना सोचते, तब विदुरजी उन्हें समझानेका प्रयत्न करते। स्पष्टवादी और न्यायका समर्थक होनेपर भी धृतराष्ट्र इन्हें बहुत मानते थे। दुर्योधन अवश्य ही इनसे जला करता था। धर्मरत पाण्डुके पुत्रोंसे ये स्नेह करते थे। जब दुरात्मा दुर्योधनने लाक्षाभवनमें पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र किया, तब विदुरजीने उन्हें बचानेकी व्यवस्था की और गुह्य भाषामें सन्देश भेजकर युधिष्ठिरको पहले ही सावधान कर दिया तथा उस भयंकर गृहसे बच निकलनेकी युक्ति भी बता दी।

सज्जनोंको सदा न्याय एवं धर्म ही अच्छा लगता है। अन्याय तथा अधर्मका विरोध करना उनका स्वभाव होता है। इसके लिये अनेकों बार दुर्जनोंसे उन्हें तिरस्कृत तथा पीड़ित भी होना पड़ता है। विदुरजी दुर्योधनके दुष्कर्मोंका प्रबल विरोध करते थे। जब कौरवोंने भरी सभामें द्रौपदीको अपमानित करना प्रारम्भ किया, तब वे रुष्ट होकर सभाभवनसे चले गये। पाण्डवोंके वनवासके समय दुर्योधनके भड़कानेसे धृतराष्ट्रने विदुरजीको कह दिया—तुम सदा पाण्डवोंकी ही प्रशंसा करते हो, अतः उन्हींके पास चले जाओ। विदुरजी वनमें पाण्डवोंके पास चले गये। उनके चले जानेपर धृतराष्ट्रको उनकी महत्ताका पता लगा। विदुरसे रहित अपनेको वे असहाय समझने लगे। तब दूत भेजकर विदुरजीको उन्होंने फिर बुलाया। मानापमानमें समान भाव रखनेवाले विदुरजी लौट आये।

पाण्डवोंके वनवासके तेरह वर्ष कुन्तीदेवी विदुरजीके यहाँ ही रही थीं। जब श्रीकृष्णचन्द्र सन्धि कराने पधारे, तब दुर्योधनका स्वागत-सत्कार उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उन मधुसूदनको कभी ऐश्वर्य सन्तुष्ट नहीं कर पाता, वे तो भक्तके भावभरे तुलसीदल एवं जलके ही भूखे रहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रने धृतराष्ट्र, भीष्म,

भूरिश्रवा आदि समस्त लोगोंका आतिथ्य अस्वीकार कर दिया और विदुरजीके घर वे बिना निमन्त्रणके ही पहुँच गये। अपने सच्चे भक्तका घर तो उनका अपना ही घर है। विदुरके शाकको उन त्रिभुवनपतिने नैवेद्य बनाया। विदुरानीके केलेके छिलकेकी कथा प्रसिद्ध है। महाभारतके अनुसार विदुरजीने विविध व्यंजनादिसे उनका सत्कार किया था।

महाराज धृतराष्ट्रको भरी सभामें श्रीकृष्णचन्द्रके सम्मुख तथा केशवके चले जानेपर अकेले भी विदुरने समझाया—दुर्योधन पापी है। इसके कारण कुरुकुलका विनाश होता दीखता है। इसे बाँधकर आप पाण्डवोंको दे दें। दुर्योधन इससे बहुत बिगड़ा। उसने कठोर वचन कहे। विदुरजीको युद्धमें किसीका पक्ष लेना नहीं था, अतः शस्त्र छोड़कर वे तीर्थाटनको चले गये। अवधूतवेशमें वे तीर्थोंमें घूमते रहे। बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, वही खा लेते। नंगे शरीर कन्द-मूल खाते हुए वे तीर्थोंमें लगभग ३६ वर्ष विचरते रहे। अन्तमें मथुरामें इन्हें उद्धवजी मिले। उनसे महाभारतके युद्ध, यदुकुलके क्षय तथा भगवान्‌के स्वधामगमनका समाचार मिला। भगवान्‌ने स्वधाम पधारते समय महर्षि मैत्रेयको आदेश दिया था विदुरजीको उपदेश करनेका। उद्धवजीसे यह समाचार पाकर विदुरजी हरद्वार गये। वहाँ मैत्रेयजीसे उन्होंने भगवदुपदिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और फिर हस्तिनापुर आये। हस्तिनापुर विदुरजी केवल बड़े भाई धृतराष्ट्रको आत्मकल्याणका मार्ग प्रदर्शन करने आये थे। उनके उपदेशसे धृतराष्ट्र एवं गान्धारीका मोह दूर हो गया और वे विरक्त होकर वनको चले गये। विदुरजी तो सदासे विरक्त थे। वनमें जाकर उन्होंने भगवान्‌में चित्त लगाकर योगियोंकी भाँति शरीरको छोड़ दिया।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराजने श्रीविदुरजी और उनकी धर्मपत्नीके चरित्रका वर्णन इस प्रकार किया है—

न्हात ही विदुर नारि अंगन पखारि करि आइ गये द्वार कृष्ण बोलिकै सुनायो है।
सुनत ही स्वर सुधि डारी लै निदरि मानो राख्यो मद भरि दौरि आनिकै चितायो है॥
डारि दियो पीतपट कटि लपटाय लियो हियौ सकुचायो वेष वेगि ही बनायो है।
बैठी ढिग आइ केरा छीलि छिलका खवाइ आयो पति खीझ्यो दुःख कोटि गुनो पायो है॥ ५१॥
प्रेम को बिचारि आपु लागे फलसार दैन चैन पायो हियो नारि बड़ी दुखदाई है।
बोले रीझि श्याम तुम कीनो बड़ोकाम ऐपै स्वाद अभिराम वैसी वस्तु में न पाई है॥
तिया सकुचाय कर काटि डारौं हाय प्राणप्यारे को खवाइ छीलि छिलका न भाई है।
हित ही की बातें दोऊ पार पावैं नाहिं कोऊ नीकेकै लड़ावै सोई जानै यह गाई है॥ ५२॥

कवित्तोंका भाव इस प्रकार है—

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण विदुरजीके दरवाजेपर पहुँचे, उस समय उनकी स्त्री स्नान कर रही थी। आते ही श्रीकृष्णने बाहरसे आवाज लगायी। विदुरानीने सुनते ही श्रीकृष्णकी आवाज पहचान ली और सुध-बुध भूल गयी, जैसे उस स्वरमें कोई आकर्षण हो। वस्त्र पहने बिना ही वह ज्यों-की-त्यों दौड़ आयी और किवाड़ खोलकर भगवान्‌के दर्शन किये। भगवान्‌ने जब उनका यह हाल देखा, तो झटसे कमरसे लिपटा हुआ पीताम्बर उनके शरीरपर डाल दिया। अब विदुरानीको होश आया। वह बड़ी लज्जित हुई और जल्दी ही अन्दर जाकर कपड़े पहन आयी। इसके अनन्तर वह श्रीकृष्णके पास आकर बैठ गयी और खिलानेके लिये लाये हुए केलोंको छील-छीलकर प्रेममें बेसुध होनेके कारण गूदेके स्थानपर छिलके खिलाने लगीं। इतनेमें पतिदेव श्रीविदुरजी भी आ गये। उन्होंने यह दृश्य देखा, तो अपनी पत्नीपर बहुत झल्लाये। विदुरानीको

जब अपनी भूल मालूम हुई तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ।

प्रेमाधिक्यके कारण पत्नीसे हुई भूलको विचारकर श्रीविदुरजी भगवान्‌को केलेके गूदे खिलाने लगे। अब उनके हृदयको शान्ति मिली। फिर भी बार-बार यही सोचते रहे कि इस स्त्रीने छिलका खिलाकर भगवान्‌को बड़ा कष्ट दिया। इसपर भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा—'विदुरजी! आपने यह काम ठीक किया कि मुझे केले खिलाये, पर सच बात तो यह है कि इतनेपर भी जैसा स्वाद उन छिलकोंमें मिला था, वैसा इन केलोंके गूदोंमें कहाँ!' उधर श्रीविदुरानी अपने मनमें कह रही थी—'हाय! इन हाथोंको मैं कैसे काट डालूँ, जिन्होंने गूदा तो फेंक दिया और छिलका खिला दिया। धन्य हैं विदुर-विदुरानी और धन्य है उनकी भक्ति! सूरदासजीने भी प्रभुद्वारा विदुरजीके यहाँ भोजन करनेका प्रधान कारण प्रेम ही माना है—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

श्रीअक्रूरजी

अक्रूरजीका जन्म यदुवंशमें ही हुआ था। ये कुटुम्बके नातेसे वसुदेवजीके भाई लगते थे। इनके पिताका नाम श्वफल्क था। ये कंसके दरबारके एक दरबारी थे। कंसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर बहुत-से यदुवंशी इधर-उधर भाग गये थे, किंतु ये जिस-किसी प्रकार कंसके दरबारमें ही पड़े हुए थे।

जब अनेक उपाय करके भी कंस भगवान्‌को नहीं मरवा सका, तब उसने एक चाल चली। उसने एक धनुषयज्ञ रचा और उसमें मल्लोंके द्वारा मरवा डालनेके लिये गोकुलसे गोप-ग्वालोंके सहित श्रीकृष्ण-बलरामको बुलवाया। उन्हें आदरपूर्वक लानेके लिये अक्रूरजीको भेजा गया। कंसकी आज्ञा पाकर अक्रूरजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान्‌के दर्शनके लिये बड़े उत्कण्ठित थे। किसी-न-किसी प्रकार वे भगवान्‌के दर्शन करना चाहते थे। भगवान्‌ने स्वतः ही कृपा करके ऐसा संयोग जुटा दिया। जीव अपने पुरुषार्थसे प्रभुके दर्शन करना चाहे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। कोटि जन्ममें भी उतनी पवित्रता, वैसी योग्यता जीव नहीं प्राप्त कर सकता कि जिससे वह परात्पर प्रभुके सामने पुरुषार्थके बलपर पहुँच सके। जब प्रभु ही अपनी अहैतुकी कृपाके द्वारा जीवको अपने समीप बुलाना चाहें, तभी वह वहाँ जा सकता है। प्रभुने कृपा करके घर बैठे ही अक्रूरजीको बुला दिया।

प्रातःकाल मथुरासे रथ लेकर वे नन्दगाँव भगवान्‌को लेने चले। रास्तेमें अनेक प्रकारके मनोरथ करते जाते थे। सोचते थे—अहा, उन पीताम्बरधारी बनवारीको मैं इन्हीं चक्षुओंसे देखूँगा, उनके सुन्दर मुखारविन्दको, घुँघराली काली-काली अलकावलीसे युक्त सुकपोलोंको निहारूँगा। वे जब मुझे अपने सुकोमल करकमलोंसे स्पर्श करेंगे, उस समय मेरे समस्त शरीरमें बिजली-सी दौड़ जायगी। वे मुझसे हँस-हँसकर बातें करेंगे। मुझे पास बिठायेंगे। बार-बार प्रेमपूर्वक चाचा-चाचा कहेंगे। मेरे लिये वह कितने सुखकी स्थिति होगी। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करते हुए वे वृन्दावनके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने वज्र,

अंकुश, यव, ध्वजा आदि चिह्नोंसे विभूषित श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखा। बस, फिर क्या था! वे उन घनश्यामके चरणचिह्नोंको देखते ही रथसे कूद पड़े और उनकी वन्दना करके उस धूलिमें लोटने लगे। उन्हें उस धूलिमें लोटनेमें कितना सुख मिल रहा था, यह कहनेकी बात नहीं है। जैसे-तैसे व्रज पहुँचे। सर्वप्रथम बलदेवजीके साथ श्यामसुन्दर ही उन्हें मिले। उन्हें छातीसे लगाया, घर ले गये। कुशल पूछी, आतिथ्य किया और सब समाचार जाने।

दूसरे दिन रथपर चढ़कर अक्रूरके साथ श्यामसुन्दर और बलराम मथुरा चले। गोपियोंने उनका रथ घेर लिया, बड़ी कठिनतासे वे आगे बढ़ सके। थोड़ी दूर चलकर यमुना-किनारे अक्रूरजी नित्य-कर्म करने ठहरे। स्नान करनेके लिये ज्यों ही उन्होंने डुबकी लगायी कि भीतर चतुर्भुज श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। घबराकर ऊपर आये तो दोनों भाइयोंको रथपर बैठे देखा। फिर डुबकी लगायी तो फिर वही मूर्ति जलके भीतर दिखायी दी। अक्रूरजीको ज्ञान हो गया कि जलमें, स्थलमें, शून्यमें—कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ श्यामसुन्दर विराजमान न हों। भगवान् उन्हें देखकर हँस पड़े। वे भी प्रणाम करके रथपर बैठ गये। मथुरा पहुँचकर भगवान् रथपरसे उतर पड़े और बोले—हम अकेले ही पैदल जायँगे। अक्रूरजीने बहुत प्रार्थना की—आप रथपर पहले मेरे घर पधारें, तब कहीं अन्यत्र जायँ। भगवान्‌ने कहा—आपके घर तो तभी जाऊँगा, जब कंसका अन्त हो जायगा। अक्रूरजी दुखी मनसे चले गये।

कंसको मारकर भगवान् अक्रूरजीके घर गये। अब अक्रूरजीके आनन्दका क्या ठिकाना! जिनके दर्शनके लिय योगीन्द्र-मुनीन्द्र हजारों-लाखों वर्ष तपस्या करते हैं, वे स्वतः ही बिना प्रयासके घरपर पधार गये। अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की और कोई आज्ञा चाही। भगवान्‌ने अक्रूरजीको अपना अन्तरंग सुहृद् समझकर आज्ञा दी कि हस्तिनापुरमें जाकर हमारी बूआके लड़के पाण्डवोंके समाचार ले आइये। हमने सुना है, धृतराष्ट्र उन्हें दुःख देता है। भगवान्‌की आज्ञा पाकर अक्रूरजी हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्रको सब प्रकारसे समझाकर और पाण्डवोंके समाचार लेकर लौट आये।

भगवान् जब मथुरापुरीको त्यागकर द्वारका पधारे, तब अक्रूरजी भी उनके साथ ही गये। अक्रूरजी इतने पुण्यशील थे कि वे जहाँ रहते, वहाँ खूब वर्षा होती, अकाल नहीं पड़ता। किसी प्रकारका कष्ट और महामारी आदि उपद्रव नहीं होते। एक बार वे जब किसी कारणवश द्वारकासे चले गये थे, तब द्वारकामें दैविक और भौतिक दुःखोंसे प्रजाको बड़ा भारी मानसिक और शारीरिक कष्ट सहना पड़ा था। आखिर भगवान्‌ने उनको ढुँढ़वाकर वापस बुलवाया। ये सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णके चाचा होनेपर भी उनके सच्चे भक्त थे। अन्तमें भगवान्‌के साथ ही वे परम धामको पधारे।

श्रीसुदामाजी

विप्रवर सुदामा जन्मसे ही दरिद्र थे। श्रीकृष्णचन्द्र जब अवन्तीमें महर्षि सान्दीपनिके यहाँ शिक्षा प्राप्त करने गये, तब सुदामाजी भी वहीं गुरुके आश्रममें थे। वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रसे उनकी मैत्री हो गयी। दीनबन्धुको छोड़कर दीनोंसे भला और कौन मित्रता करेगा? श्यामसुन्दर तो गिने-चुने दिन गुरु-गृह रहे और उतने ही दिनोंमें वे समस्त वेद-वेदांग, शास्त्रादि तथा सभी कलाओंकी शिक्षा पूर्ण करके चले आये। वे द्वारकाधीश हो गये। सुदामाकी भी जब शिक्षा पूरी हुई, तब गुरुदेवकी आज्ञा लेकर वे भी अपनी जन्मभूमि लौट आये। विवाह करके उन्होंने भी गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। एक टूटी झोंपड़ी, टूटे-फूटे दो-चार पात्र और लज्जा ढकनेको कुछ मैले चिथड़े—बस, इतनी ही गृहस्थी थी सुदामाकी। जन्मसे सरल, सन्तोषी सुदामा किसीसे कुछ माँगते नहीं थे। जो कुछ बिना माँगे मिल जाय, भगवान्‌को अर्पण करके उसीपर उनका एवं उनकी

पत्नीका जीवन-निर्वाह होता था। प्रायः पति-पत्नीको उपवास करना पड़ता था। उन दोनोंके शरीर क्षीण—कंकालप्राय हो रहे थे।

जिसने श्यामसुन्दरकी स्वप्नमें भी एक झाँकी कर ली, उसके हृदयसे वह मोहिनी मूर्ति कभी हटती नहीं; फिर सुदामा तो उन भुवन-मोहनके सहपाठी रह चुके थे। उन वनमालीके साथ बहुत दिनतक उन्होंने पढ़ा था, गुरुकी सेवा की थी, वनमें साथ-साथ कुश, समिधा, फल-फूल एकत्र किये थे। उस मयूरमुकुटीने उनके चित्तको चुरा लिया था। वे उसीका बराबर ध्यान करते, उसीका गुणगान करते। पत्नीसे भी वे अपने सखाके रूप, गुण, उदारता आदिका बखान करते थकते न थे।

सुदामाकी पत्नी सुशीला, साध्वी एवं पतिपरायणा थी। उसे अपने कष्टकी कोई चिन्ता नहीं थी; किंतु उसके दुबले, क्षीणकाय, धर्मात्मा पतिदेवको जब उपवास करना पड़ता था, तब उसे अपार कष्ट होता था। एक बार जब कई दिनों उपवास करना पड़ा, तब उसने डरते-डरते स्वामीसे कहा—'महाभाग! ब्राह्मणोंके परम भक्त, साक्षात् लक्ष्मीपति, शरणागतवत्सल यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र आपके मित्र हैं। आप एक बार उनके पास जाइये। आप कुटुम्बी हैं, दरिद्रताके कारण क्लेश पा रहे हैं, अवश्य आपको प्रचुर धन देंगे। वे द्वारकाधीश अपने श्रीचरणोंकी सेवा करनेवालेको अपने आपको दे डालते हैं; फिर धन दे देंगे, इसमें तो सन्देह ही क्या है। मैं जानती हूँ कि आपके मनमें धनकी रत्तीभर भी इच्छा नहीं है, पर आप कुटुम्बी हैं। आपके कुटुम्बका इस प्रकार कैसे निर्वाह होगा? आप अवश्य द्वारका जायँ।'

सुदामाने देखा कि ब्राह्मणी भूखके कष्टसे व्याकुल हो गयी है, दरिद्रतासे घबराकर वह मुझे द्वारका भेज रही है। किंतु श्यामसुन्दरके पास धनकी इच्छासे जानेमें उन्हें बड़ा संकोच हुआ। उन्होंने स्त्रीसे कहा—'पगली! ब्राह्मणको धनसे क्या काम? तू कहे तो मैं भिक्षा माँग लाऊँ, पर धनके लिये द्वारका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। हमें तो सन्तोषपूर्वक भगवान्का भजन करनेमें ही सुख मानना चाहिये।'

ब्राह्मणीने बहुत आग्रह किया। वह चाहती थी कि सुदामा अपने मित्रसे केवल मिल आयें एक बार। सुदामाने भी सोचा कि श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन हो जायँ, यह तो परम लाभकी बात है। परंतु मित्रके पास खाली हाथ कैसे जायँ? कहनेपर किसी प्रकार ब्राह्मणी किसी पड़ोसिनसे चार मुट्ठी रूखे चिउरे माँग लायी और उनको एक चिथड़ेमें बाँधकर दे दिया। वह पोटली बगलमें दबाकर सुदामाजी चल पड़े द्वारकाकी ओर।

अब कई दिनोंकी यात्रा करके सुदामा द्वारका पहुँचे, तब वहाँका ऐश्वर्य देखकर हक्के-बक्के रह गये। गगनचुम्बी स्फटिकमणिके भवन, स्वर्णके कलश, रत्नखचित दीवारें—स्वर्ग भी जहाँ फीका, झोपड़ी-सा जान पड़े, उस द्वारकाको देखकर दरिद्र ब्राह्मण ठक् रह गये। किसी प्रकार उन्हें पूछनेका साहस हुआ। एक नागरिकने श्रीकृष्णचन्द्रका भवन दिखा दिया। ऐसे कंगाल, चिथड़े लपेटे, मैले-कुचैले ब्राह्मणको देखकर द्वारपालको आश्चर्य नहीं हुआ। उसके स्वामी ऐसे ही दीनोंके अपने हैं, यह उसे पता था। उसने सुदामाको प्रणाम किया। परंतु जब सुदामाने अपनेको भगवान्का 'मित्र' बताया, तब वह चकित रह गया। देवराज इन्द्र भी अपनेको जहाँ बड़े संकोचसे 'दास' कह पाते थे, वहाँ यह कंगाल 'मित्र' कह रहा था। किंतु उन अशरण-शरण कृपासिन्धुका कौन कैसा मित्र है, यह भला, कब किसीने जाना है। नियमानुसार सुदामाजीको द्वारपर ठहराकर द्वारपाल आज्ञा लेने भीतर गया।

त्रिभुवनके स्वामी, सर्वेश्वर यादवेन्द्र अपने भवनमें शय्यापर बैठे थे। श्रीरुक्मिणीजी अपने हाथमें रत्नदण्ड लेकर व्यजन कर रही थीं भगवान्को। द्वारपालने भूमिमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कहा—'एक फटे चिथड़े लपेटे, नंगे सिर, नंगे बदन, शरीर मैला-कुचैला, बहुत ही दुर्बल ब्राह्मण द्वारपर खड़ा है। पता नहीं,

वह कौन है और कहाँका है ? बड़े आश्चर्यसे चारों ओर वह देखता है। अपनेको प्रभुका मित्र कहता, प्रभुका निवास पूछता है और अपना नाम 'सुदामा' बताता है।'

'सुदामा' यह शब्द कानमें पड़ा कि श्रीकृष्णचन्द्रने जैसे सुधि-बुधि खो दी। मुकुट धरा रहा, पटुका भूमिपर गिर गया, चरणोंमें पादुकातक नहीं, वे विह्वल दौड़ पड़े। द्वारपर आकर दोनों हाथ फैलाकर सुदामाको इस प्रकार हृदयसे लगा लिया, जैसे चिरकालसे खोयी निधि मिल गयी हो। सुदामा और श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंके नेत्रोंसे अजस्र अश्रुप्रवाह चलने लगा। कोई एक शब्दतक नहीं बोला। नगरवासी, रानियाँ, सेवक—सब चकित हो देखते रह गये। देवता पुष्पवर्षा करते हुए ब्राह्मणके सौभाग्यकी प्रशंसा करने लगे।

बड़ी देरमें जब उद्धवादिने सावधान किया, तब श्यामसुन्दर सुदामाको लेकर अपने भवनमें पधारे। प्रिय सखाको उन्होंने अपने दिव्य पलंगपर बैठा दिया। स्वयं उनके पैर धोने बैठे। 'ओह, मेरे सखाके पैर इस प्रकार बिवाइयोंसे फट रहे हैं! इतनी दरिद्रता, इतना कष्ट भोगते हैं ये विप्रदेव!' हाथमें सुदामाका चरण लेकर कमललोचन अश्रु गिराने लगे। उनकी नेत्र-जलधारासे ही ब्राह्मणके चरण धुल गये। रुक्मिणीजीने भगवान्की यह भावविह्वल दशा देखकर अपने हाथों सुदामाके चरण धोये। जिन भगवती महालक्ष्मीकी कृपा-कोरकी याचना सारे लोकपाल करते हैं, वे आदरपूर्वक कंगाल ब्राह्मणका पाद-प्रक्षालन करती रहीं। द्वारकेशने वह चरणोदक अपने मस्तकपर छिड़का, तमाम महलोंमें छिड़कवाया। दिव्य गन्धयुक्त चन्दन, दूब, अगुरु, कुंकुम, धूप, दीप, पुष्प, माला आदिसे विधिपूर्वक सुदामाकी भगवान्ने पूजा की। उन्हें नाना प्रकारके पक्वान्नोंसे भोजन कराके तृप्त किया। आचमन कराके पान दिया।

जब भोजन करके सुदामा बैठ गये, तब भगवान्की पटरानियाँ स्वयं अपने हाथों उनपर पंखा झलने लगीं। श्रीकृष्णचन्द्र उनके समीप बैठ गये और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर बातें करने लगे। श्यामसुन्दरने उनसे गुरुगृहमें रहनेकी चर्चा की, अपनी मित्रताके मधुर संस्मरण कहे, घरकी कुशल पूछी। सुदामाके मनमें कहीं कोई कामना नहीं थी। धनकी इच्छा लेश भी उनके मनमें नहीं थी। उन्होंने कहा—'देवदेव! आप तो जगद्गुरु हैं। आपको भला, गुरुगृह जानेकी आवश्यकता कहाँ थी। यह तो मेरा सौभाग्य था कि मुझे आपका साथ मिला। सम्पूर्ण मंगलोंकी उत्पत्ति आपसे ही है। वेदमय ब्रह्म आपकी मूर्ति हैं। आपका गुरुगृहमें अध्ययन तो एक लीलामात्र था।'

अब हँसते हुए लीलामयने पूछा—'भाई! आप मेरे लिये भेंट क्या लाये हैं? प्रेमियोंकी दी हुई जरा-सी वस्तु भी मुझे बहुत प्रिय लगती है और अभक्तोंका विपुल उपहार भी मुझे सन्तुष्ट नहीं करता।'

सुदामाका साहस कैसे हो द्वारकाके इस अतुल ऐश्वर्यके स्वामीको रूखे चिउरे देनेका! वे मस्तक झुकाकर चुप रह गये। सर्वान्तर्यामी श्रीहरिने सब कुछ जानकर यह निश्चय कर ही लिया था कि 'यह मेरा निष्काम भक्त है। पहले भी कभी धनकी इच्छासे इसने मेरा भजन नहीं किया और न अब इसे कोई कामना है; किंतु अपनी पतिव्रता पत्नीके कहनेसे जब यह यहाँ आ गया, तब मैं इसे वह सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंको भी दुर्लभ है।'

'यह क्या है? भाभीने मेरे लिये जो कुछ भेजा है, उसे आप छिपाये क्यों जा रहे हैं?' यह कहते हुए श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं पोटली खींच ली। पुराना जीर्ण वस्त्र फट गया। चिउरे बिखर पड़े। भगवान्ने अपने पीतपटमें कंगालकी निधिके समान उन्हें शीघ्रतासे समेटा और एक मुट्ठी भरकर मुखमें डालते हुए कहा—'मित्र! यही तो मुझको परम प्रसन्न करनेवाली प्रिय भेंट है। ये चिउरे मेरे साथ समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे।'

'बड़ा मधुर, बहुत स्वादिष्ट! ऐसा अमृत-जैसा पदार्थ तो कभी कहीं मिला ही नहीं!' इस प्रकार प्रशंसा करते हुए जब श्रीकृष्णचन्द्रने दूसरी मुट्ठी भरी, तब रुक्मिणीजीने उनका हाथ पकड़ते हुए कहा—'प्रभो! बस कीजिये। मेरी कृपासे इस लोक और परलोकमें मिलनेवाली सब प्रकारकी सम्पत्ति तो इस एक मुट्ठी चिउरेसे ही इस ब्राह्मणको मिल चुकी। अब इस दूसरी मुट्ठीसे आप और क्या करनेवाले हैं? अब आप मुझपर दया कीजिये।' भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे।

कुछ दिनोंतक सुदामाजी वहाँ रहे। श्रीकृष्णचन्द्र तथा उनकी पटरानियोंने बड़ी सेवा की उनकी। अन्तमें अपने सखाकी आज्ञा लेकर वे घरको विदा हुए। लीलामयने दूरतक पहुँचाकर उनको विदा किया। सुदामाजीको धनकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। श्रीकृष्णचन्द्र बिना माँगे ही बहुत कुछ देंगे, ऐसी भावना भी उनके हृदयमें नहीं उठी थी। द्वारकासे कुछ नहीं मिला, इसका उन्हें कोई खेद तो हुआ ही नहीं। उलटे वे सोचते जा रहे थे—'ओह! मैंने अपने परम उदार सखाकी ब्राह्मण-भक्ति देखी। कहाँ तो मैं दरिद्र, पापी और कहाँ वे लक्ष्मीनिवास पुण्यचरित्र! किंतु मुझे उन्होंने उल्लसित होकर हृदयसे लगाया, अपनी प्रियाके पलंगपर बैठाया, मेरे चरण धोये। साक्षात् श्रीलक्ष्मीजीकी अवतार रुक्मिणीजी मुझपर चँवर करती रहीं! मेरे परम सुहृद् श्रीकृष्ण कितने दयालु हैं। मनुष्यको उनके चरणोंकी सेवा करनेसे ही तीनों लोकोंकी सम्पत्ति, सब सिद्धियाँ और मोक्षतक मिल जाता है। उनके लिये मुझे धन देना कितना सरल था; किंतु उन दयामयने सोचा कि यह निर्धन धन पाकर मतवाला हो जायगा और मेरा स्मरण नहीं करेगा, अतः मेरे कल्याणके लिये उन्होंने धन नहीं दिया।'

धन्य सुदामा! घरमें भूखी स्त्रीको छोड़ आये हैं, अन्न-वस्त्रका ठिकाना नहीं, पत्नीको जाकर क्या उत्तर देंगे, इसकी चिन्ता नहीं, राजराजेश्वर मित्रसे मिलकर कोरे लौटे—इसकी ग्लानि नहीं। धनके लिये धनके भक्त भगवान्‌की आराधना करते हैं और धन न मिलनेपर उन्हें कोसते हैं; किंतु सुदामा-जैसे भगवान्‌के भक्त तो भगवान्‌को ही चाहते हैं। भगवान्‌के पास सुदामा पत्नीकी प्रेरणासे गये थे। सुदामाके मनमें कोई कामना नहीं थी, पर पत्नीने धन पानेकी इच्छासे ही प्रेरित किया था उन्हें। भक्तवांछाकल्पतरु भगवान्‌ने विश्वकर्माको भेजकर उनके ग्रामको द्वारका-जैसी भव्य सुदामापुरी बनवा दिया था। एक रातमें झोपड़ीके स्थानपर देवदुर्लभ ऐश्वर्यपूर्ण मणिमय भवन खड़े हो गये थे। जब सुदामा वहाँ पहुँचे, उन्हें जान ही न पड़ा कि जागते हैं कि स्वप्न देख रहे हैं। कहाँ मार्ग भूलकर पहुँच गये, यह भी वे समझ नहीं पाते थे। इतनेमें बहुत-से सेवकोंने उनका सत्कार किया, उन्हें भवनमें पहुँचाया। उनकी ब्राह्मणी अब किसी स्वर्गकी देवी-जैसी हो गयी थी। उसने सैकड़ों दासियोंके साथ आकर उनको प्रणाम किया। उन्हें घरमें ले गयी। सुदामाजी पहले तो विस्मित हो गये, पर पीछे सब रहस्य समझकर भाव-गद्गद हो गये। वे कहने लगे—'मेरे सखा उदार-चक्र-चूड़ामणि हैं। वे माँगनेवालेको लज्जित न होना पड़े, इसलिये चुपचाप छिपाकर उसे पूर्णकाम कर देते हैं। परंतु मुझे यह सम्पत्ति नहीं चाहिये। जन्म-जन्म मैं उन सर्वगुणागारकी विशुद्ध भक्तिमें लगा रहूँ, यही मुझे अभीष्ट है।'

सुदामा वह ऐश्वर्य पाकर भी अनासक्त रहे। विषय-भोगोंसे चित्तको हटाकर भजनमें ही वे सदा लगे रहे। इस प्रकार वे ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये।

श्रीप्रियादासजीने सुदामाजीकी भक्तिप्रेममयी कथाका वर्णन इस प्रकार किया है—

बड़ो निष्काम सेर चूनहू न धाम ढिग आई निजभाम प्रीति हरिसों जनाई है।
सुनि सोच पर्‌यो हियो खरो अरबर्‌यो मन गाढ़ो लैकै कर्‌यो बोल्यो हाँजू सरसाई है॥

जावो एक बार वह वदन निहार आवो जोपै कछु पावो ल्यावो मोको सुखदाई है।
कही भली बात सात लोक में कलंक ह्वै है जानियत याही लिये कीन्ही मित्रताई है॥ ५३॥
तिया सुनि कहै कृष्ण रूप क्यों न चहै ? जाय दहै दुख आप ही सो बचन सुनाये हैं।
आई सुधि प्यारे की विचारे मति टारे सब धारे पग मग झूमि द्वारावती आये हैं॥
देखि के विभूति सुख उपज्यो अभूत कोऊ चल्यो मुख माधुरी के लोचन तिसाये हैं।
डरपत हियो ड्योढ़ी लाँघि मन गाढ़ो कियो लियो कर गहि चाह तहाँ पहुँचाये हैं॥ ५४॥
देख्यो श्याम आयो मित्र चित्रवत रहे नेकु हितको चरित्र दौरि रोइ गरे लागे हैं।
मानो एकतन भयो लयो ऐसे लाइ छाती नयो यह प्रेम छूटै नाहिं अङ्ग पागे हैं॥
आई दुबराई सुधि मिलन छुटाई ताने आने जल रानी पग धोये भाग जागे हैं।
सेज पधराइ गुरु चरचा चलाइ सुख सागर बढ़ाइ आपु अति अनुरागे हैं॥ ५५॥
चिउड़ा छिपाये काँख पूछैं कहा ल्याये मोंको अति सकुचाये भूमि तकैं दृग भीजे हैं।
खैंचि लई गाँठि मूठि एक मुख मांझ दई दूसरी हूँ लेत स्वाद पाइ आपु रीझे हैं॥
गह्यो कर रानी सुख सानी प्यारी वस्तु यह पावो बाँटि मानो श्रीसुदामा प्रेम धीजे हैं।
श्याम जू विचारि दीनी सम्पति अपार विदा भये पै न जानीं सार बिछुरनि छीजे हैं॥ ५६॥
आये निजग्राम वह अति अभिराम भयो नयो पुर द्वारका सों देखि मति गई है।
तिया रंग भीनी सङ्ग सतनि सहेली लीनी कीनी मनुहारि यों प्रतीति उर भई है॥
वहै हरि ध्यान रूप माधुरी को पान तासों राखैं निज प्रान जाके प्रीति रीति नई है।
भोग की न चाह ऐसे तनु निरबाह करैं ढरैं सोई चाल सुख जाल रसमई है॥ ५७॥

श्रीचन्द्रहासजी

जाको राखै साइँयाँ, मारि सकै न कोय। बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

(क) अनाथ चन्द्रहासपर भगवान् शालग्रामकी कृपा

केरलदेशमें एक मेधावी नामक राजा राज्य करते थे। शत्रुओंने उनके देशपर चढ़ाई की। युद्धमें महाराज मारे गये। उनकी रानी पतिके साथ सती हो गयीं। उस समयतक राजाके एक ही पुत्र थे—चन्द्रहास। राजकुमारकी अभी शैशवावस्था ही थी। धायने चुपकेसे उन्हें नगरसे निकाला और कुन्तलपुर ले गयी। वह स्वामिभक्ता धाय मेहनत-मजदूरी करके राजकुमारका पालन-पोषण करने लगी। चन्द्रहास बड़े ही सुन्दर थे और बहुत सरल तथा विनयी थे। सभी स्त्री-पुरुष ऐसे भोले सुन्दर बालकसे स्नेह करते थे।

जो अनाथ हो जाता है, जिसके कोई नहीं होता, जिसका कोई सहारा नहीं होता, उसके अनाथनाथ, अनाश्रयोंके आश्रय श्रीकृष्ण अपने हो जाते हैं, वे उसके आश्रय बन जाते हैं। अनाथ बालक चन्द्रहासको उनके बिना और कौन आश्रय देता ? उन दयामयकी प्रेरणासे एक दिन नारदजी घूमते हुए कुन्तलपुर पहुँचे। बालकको अधिकारी समझकर वे उसे एक शालग्रामकी मूर्ति देकर नाम-मन्त्र बता गये। नन्हा बालक देवर्षि की कृपासे हरिभक्त हो गया। अब जिस समय वह अपने-आपको भूलकर अपने कोमल कण्ठसे भगवन्नामका गान करते हुए नृत्य करने लगता, देखनेवाले मुग्ध हो उठते। चन्द्रहासको प्रत्यक्ष दीखता कि उसीकी अवस्थाका परम सुन्दर साँवरा-सलोना बालक हाथमें मुरली लिये उसके साथ नाच रहा है, गा रहा है। इससे चन्द्रहास और भी तन्मय हो जाता।

कुन्तलपुरके राजा परम भगवद्भक्त एवं संसारके विषयोंसे पूरे विरक्त थे। उनके कोई पुत्र तो था नहीं,

केवल चम्पकमालिनी नामकी एक कन्या थी। महर्षि गालवको राजाने अपना गुरु बनाया था और गुरुके उपदेशानुसार वे भगवान्‌के भजनमें ही लगे रहते थे। राज्यका पूरा प्रबन्ध मन्त्री धृष्टबुद्धि करता था। मन्त्रीकी पृथक् भी बहुत बड़ी सम्पत्ति थी और कुन्तलपुरके तो एक प्रकारसे वे ही शासक थे। उनके सुयोग्य पुत्र मदन तथा अमल उनकी राज्यकार्यमें सहायता करते थे। उनके 'विषया' नामकी एक सुन्दरी कन्या थी। मन्त्रीकी रुचि केवल राजकार्य और धन एकत्र करनेमें ही थी; किंतु उनके पुत्र मदनमें भगवान्‌की भक्ति थी। वह साधु-सन्तोंका सेवक था। इसलिये मन्त्रीके महलमें जहाँ विलास तथा राग-रंग चलता था, वहीं कभी-कभी सन्त भी एकत्र हो जाते थे। भगवान्‌की पावन कथा भी होती थी। अतिथि-सत्कार तथा भगवन्नाम-कीर्तन भी होते थे। इन कार्योंमें रुचि न होनेपर भी मन्त्री अपने पुत्रको रोकते नहीं थे।

एक दिन मन्त्रीके महलमें ऋषिगण बैठे थे। भगवान्‌की कथा हो रही थी। उसी समय सड़कपर भवनके सामनेसे भगवन्नाम-कीर्तन करते हुए चन्द्रहास बालकोंकी मण्डलीके साथ निकले। बच्चोंकी अत्यन्त मधुर कीर्तन-ध्वनि सुनकर ऋषियोंके कहनेसे मदनने सबको वहीं बुला लिया। चन्द्रहासके साथ बालक नाचने-गाने लगे। मन्त्री धृष्टबुद्धि भी इसी समय वहाँ आ गये। मुनियोंने तेजस्वी बालक चन्द्रहासको तन्मय होकर कीर्तन करते देखा। वे मुग्ध हो गये। कीर्तन समाप्त होनेपर स्नेहपूर्वक समीप बुलाकर ऋषियोंने उन्हें बैठा लिया और उनके शरीरके लक्षणोंको देखने लगे। ऋषियोंने चन्द्रहासके शारीरिक लक्षण देखकर धृष्टबुद्धिसे कहा—'मन्त्रिवर! तुम इस बालकका प्रेमपूर्वक पालन करो। इसे अपने घर रखो। यही तुम्हारी सम्पूर्ण सम्पत्तिका स्वामी तथा इस देशका नरेश होगा।'

'एक अज्ञात-कुल-शील, राहका भिखारी बालक मेरी सम्पत्तिका स्वामी होगा।' यह बात धृष्टबुद्धिके हृदयमें तीर-सी लगी। वे तो अपने लड़केको राजा बनानेका स्वप्न देख रहे थे। अब एक भिक्षुक-सा लड़का उनकी सारी इच्छाओंको नष्ट कर दे, यह उन्हें सहन नहीं हो रहा था। उन्होंने किसीसे कुछ कहा नहीं, पर सब लड़कोंको मिठाई देनेके बहाने घरके भीतर ले गया। मिठाई देकर दूसरे लड़कोंको तो उन्होंने विदा कर दिया, केवल चन्द्रहासको रोक लिया। एक विश्वासी वधिकको बुलाकर उसे चुपचाप समझाकर उसके साथ चन्द्रहासको भेज दिया।

वधिकको पुरस्कारका भारी लोभ मन्त्रीने दिया था। चन्द्रहासने जब देखा कि मुझे यह सुनसान जंगलमें रातके समय लाया है, तब इसका उद्देश्य समझकर कहा—'भाई! तुम मुझे भगवान्‌की पूजा कर लेने दो, तब मारना।' वधिकने अनुमति दे दी। चन्द्रहासने शालग्रामजीकी मूर्ति निकालकर उनकी पूजा की और उनके सम्मुख गद्गद कण्ठसे स्तुति करने लगा। भोले बालकका सुन्दर रूप, मधुर स्वर तथा भगवान्‌की भक्ति देखकर वधिककी आँखोंमें भी आँसू आ गये। उसका हृदय एक निरपराध बालकको मारना स्वीकार नहीं करता था। परंतु उसे मन्त्रीका भय था। उसने देखा कि चन्द्रहासके एक पैरमें छः अँगुलियाँ हैं। वधिकने तलवारसे जो एक अँगुली अधिक थी, उसे काट लिया और बालकको वहीं छोड़कर वह लौट गया। धृष्टबुद्धि वह अँगुली देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि 'अपने बुद्धि-कौशलसे ऋषियोंकी अमोघ वाणी मैंने झूठी कर दी।'

कुन्तलपुर राज्यके अधीन एक छोटी रियासत थी—चन्दनपुर। वहाँके नरेश कुलिन्दक किसी कार्यसे बड़े सबेरे वनकी ओरसे घोड़ेपर चढ़े जा रहे थे। उनके कानोंमें बड़ी मधुर भगवन्नाम-कीर्तन-ध्वनि पड़ी। कटी अँगुलीकी पीड़ासे भूमिमें पड़े-पड़े चन्द्रहास करुण-कीर्तन कर रहे थे। राजाने कुछ दूरसे बड़े आश्चर्यसे देखा कि एक छोटा देवकुमार-जैसा बालक भूमिपर पड़ा है। उसके चारों ओर अद्भुत प्रकाश फैला है। वनकी हरिणियाँ उसके पैर चाट रही हैं। पक्षी उसके ऊपर पंख फैलाकर छाया किये हुए हैं और उसके लिये वृक्षोंसे पके फल ला रहे हैं। राजाके और पास जानेपर पशु-पक्षी वनमें चले गये। राजाके कोई संतान

नहीं थी। उन्होंने सोचा कि 'भगवान्‌ने मेरे लिये ही यह वैष्णव देवकुमार भेजा है।' घोड़ेसे उतरकर बड़े स्नेहसे चन्द्रहासको उन्होंने गोदमें उठाया। उनके शरीरकी धूलि पोंछी और उन्हें अपने राजभवनमें ले आये।

चन्द्रहास अब चन्दनपुरके युवराज हो गये। यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके पश्चात् गुरुके यहाँ रहकर उन्होंने वेद, वेदांग तथा शास्त्रोंका अध्ययन किया। राजकुमारके योग्य अस्त्र-शस्त्र चलाना तथा नीतिशास्त्रादि सीखा। अपने सद्‌गुणोंसे वे राजपरिवारके लिये प्राणके समान प्रिय हो गये। राजाने उन्हींपर राज्यका भार छोड़ दिया। राजकुमारके प्रबन्धसे छोटी-सी रियासत हरिगुण-गानसे पूर्ण हो गयी। घर-घर हरिचर्चा होने लगी। सब लोग एकादशीव्रत करने लगे। पाठशालाओंमें हरिगुणगान अनिवार्य हो गया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीचन्द्रहासजीके बाल्यकालका वर्णन निम्न कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

हुतो एक नृप ताके सुत चन्द्रहास भयो परी यों विपत्ति धाई लाई और पुर है।
राजा कौ दीवान ताके रही घर आन बाल आपने समान संग खेलै रस ढुर है॥
भयो ब्रह्मभोज कोई ऐसोई संयोग बन्यो आये वै कुमार जहाँ विप्रन को सुर है।
बोलि उठे सबै तेरी सुता को जु पति यहै हुवो चाहै जानि सुनि गयो लाज घुर है॥ ५८॥
पर्‌यो सोच भारी कहा करौं यौं विचारी अहो सुता जो हमारी ताको पति ऐसो चाहिये।
डारौं याहि मार याको यहै है विचार तब बोलि नीच जन कह्यो मारो हिय दाहिये॥
लैके गये दूर देखि बाल छबि पूर हम योनि परै धूर दुःख ऐसो अवगाहिये।
बोले अकुलाय तोहिं मारेंगे सहाय कौन मागौं एक बात जब कहौं तब बाहिये॥ ५९॥
मानि लीन्हों बोल वे कपोल मध्य गोल एक गंडकी को सुत काढ़ि सेवा नीकी कीनी है।
भयो तदाकार यों निहार सुख भार भरि नैननि की कोर ही सों आज्ञा बध दीनी है॥
गिरे मुरझाइ दया आइ कछु भाय भरे ढरे प्रभु ओर मति आनन्द सों भीनी है।
हुती छटी आंगुरी सो काटि लई दूषन हो भूषन ही भयो जाइ कही सांच चीन्हीं है॥ ६०॥
वहै देश भूमि में रहत लघुभूप और और सुख सबै एक सुत चाह भारी है।
निकस्यो विपिन आनि देखि याहि मोदमानि कीन्हीं खगछाँह घिरी मृगीपाँति सारी है॥
दौरिकै निशंक लियो पाइ निधि रंक जियो कियो मनभायो सो बधायो श्रीहु वारी है।
कोऊ दिन बीते नृप भये चित चीते दियो राजको तिलक भावभक्ति बिसतारी है॥ ६१॥

(ख) चन्द्रहासके साथ धृष्टबुद्धिका षड्यन्त्र

चन्दनपुर रियासतकी ओरसे कुन्तलपुरको दस हजार स्वर्णमुद्राएँ 'कर' के रूपमें प्रतिवर्ष दी जाती थीं। चन्द्रहासने उन मुद्राओंके साथ और भी बहुत-से धन-रत्नादि उपहार भेजे। धृष्टबुद्धिने जब चन्दनपुर राज्यके ऐश्वर्य एवं वहाँके युवराजके सुप्रबन्धकी बहुत प्रशंसा सुनी, तब स्वयं वहाँकी व्यवस्था देखने वे चन्दनपुर आये। राजा तथा राजकुमारने उनका हृदयसे स्वागत किया। यहाँ आकर जब धृष्टबुद्धिने चन्द्रहासको पहचाना, तब उनका हृदय व्याकुल हो गया। उन्होंने इस लड़केको मरवा डालनेका पूरा निश्चय कर लिया। उन्होंने एक पत्र देकर कहा—'युवराज! बहुत ही आवश्यक काम है और दूसरे किसीपर मेरा विश्वास नहीं। तुम स्वयं यह पत्र लेकर कुन्तलपुर जाओ। मार्गमें पत्र खुलने न पाये। कोई इस बातको न जाने। इसे मदनको ही देना।'

चन्द्रहास घोड़ेपर चढ़कर अकेले ही पत्र लेकर कुन्तलपुरको चल पड़े। दिनके तीसरे पहर वे कुन्तलपुरके पास वहाँके राजाके बगीचेमें पहुँचे। बहुत प्यासे और थके थे, अतः घोड़ेको पानी पिलाकर एक ओर बाँध दिया और स्वयं सरोवरमें जल पीकर एक वृक्षकी शीतल छायामें लेट गये। लेटते ही उन्हें निद्रा आ गयी। उसी समय

उस बगीचेमें राजकुमारी चम्पकमालिनी अपनी सखियों तथा मन्त्री-कन्या 'विषया' के साथ घूमने आयी थी। संयोगवश अकेली विषया उधर चली आयी, जहाँ चन्द्रहास सोये थे। इस परम सुन्दर युवकको देखकर वह मुग्ध हो गयी और ध्यानसे उसे देखने लगी। उसे निद्रित कुमारके हाथमें एक पत्र दीख पड़ा। कुतूहलवश उसने धीरेसे पत्र खींच लिया और पढ़ने लगी। पत्र उसके पिताका था। उसमें मन्त्रीने अपने पुत्रको लिखा था—'इस राजकुमारको पहुँचते ही विष दे देना। इसके कुल, शूरता, विद्या आदिका कुछ भी विचार न करके मेरे आदेशका तुरंत पालन करना।' मन्त्रीकी कन्याको एक बार पत्र पढ़कर बड़ा दु:ख हुआ। उसकी समझमें ही न आया कि पिताजी ऐसे सुन्दर देवकुमारको क्यों विष देना चाहते हैं? सहसा उसे लगा कि पिताजी इससे मेरा विवाह करना चाहते हैं। वे मेरा नाम लिखते समय भूलसे 'या' अक्षर छोड़ गये। उसने भगवान्‌के प्रति कृतज्ञता प्रकट की कि 'पत्र मेरे हाथ लगा; कहीं दूसरेको मिलता तो कितना अनर्थ होता।' अपने नेत्रके काजलसे उसने पत्रमें 'विष' के आगे उससे सटाकर 'या' लिख दिया, जिससे 'विषया दे देना' पढ़ा जाने लगा। पत्रको बन्द करके निद्रित राजकुमारके हाथमें ज्यों-का-त्यों रखकर वह शीघ्रतासे चली गयी।

चन्द्रहासकी जब निद्रा खुली, तब वे शीघ्रतापूर्वक मन्त्रीके घर गये। मन्त्रीके पुत्र मदनने पत्र देखा और ब्राह्मणोंको बुलाकर उसी दिन गोधूलि मुहूर्तमें चन्द्रहाससे उन्होंने अपनी बहनका विवाह कर दिया। विवाहके समय कुन्तलपुर-नरेश स्वयं भी पधारे। चन्द्रहासको देखकर उन्हें लगा कि 'मेरी कन्याके लिये भी यही योग्य वर है।' उन्होंने चन्दनपुरके इस युवराजकी विद्या, बुद्धि, शूरता आदिकी प्रशंसा बहुत सुन रखी थी। अब राजपुत्रीका विवाह भी चन्द्रहाससे करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया।

धृष्टबुद्धि तीन दिन बाद लौटे। वहाँकी स्थिति देखकर वे क्रोधके मारे पागल हो गये। उन्होंने सोचा—'भले मेरी कन्या विधवा हो जाय, पर इस शत्रुका वध मैं अवश्य कराके रहूँगा।' द्वेषसे अन्धे हुए हृदयकी यही स्थिति होती है। अपने हृदयकी बात मन्त्रीने किसीसे कही नहीं। नगरसे बाहर पर्वतपर एक देवीका मन्दिर था। धृष्टबुद्धिने एक क्रूर वधिकको वहाँ यह समझाकर भेज दिया कि 'जो कोई देवीकी पूजा करने आये, उसे तुम मार डालना।' चन्द्रहासको उसने यह बताकर कि 'भवानीकी पूजा उसकी कुलप्रथाके अनुसार होनी चाहिये' सायंकाल देवीकी पूजा करनेका आदेश दिया।

इधर कुन्तलपुर-नरेशके मनमें वैराग्य हुआ। ऐसे उत्तम कार्यको करनेमें सत्पुरुष देर नहीं करते। राजाने मन्त्रीपुत्र मदनसे कहा—'बेटा! तुम्हारे बहनोई चन्द्रहास बड़े सुयोग्य हैं। उन्हें भगवान्‌ने ही यहाँ भेजा है। मैं आज ही उनके साथ राजकुमारीका ब्याह कर देना चाहता हूँ। प्रात:काल उन्हें सिंहासनपर बैठाकर मैं तपस्या करने वन चला जाऊँगा। तुम उन्हें तुरंत मेरे पास भेज दो।'

(ग) चन्द्रहासकी भक्तिका प्रभाव

मनुष्यकी कुटिलता, दुष्टता, प्रयत्न क्या अर्थ रखते हैं। वह दयामय गोपाल जो करना चाहे, उसे कौन टाल सकता है। चन्द्रहास पूजाकी सामग्री लिये मन्दिरकी ओर जा रहे थे। मन्त्रिपुत्र मदन राजाका सन्देश लिये बड़ी उमंगसे उन्हें मार्गमें मिला। मदनने पूजाका पात्र यह कहकर स्वयं ले लिया कि 'मैं देवीकी पूजा कर आता हूँ', चन्द्रहासको उसने राजभवन भेज दिया। जिस मुहूर्तमें धृष्टबुद्धिने चन्द्रहासके वधकी व्यवस्था की थी, उसी मुहूर्तमें राजभवनमें चन्द्रहास राजकुमारीका पाणिग्रहण कर रहे थे और देवीके मन्दिरमें वधिकने उसी समय मन्त्रीके पुत्र मदनका सिर काट डाला! धृष्टबुद्धिको जब पता लगा कि चन्द्रहास तो राजकुमारीसे विवाह करके

राजा हो गये, उनका राज्याभिषेक हो गया और मारा गया मेरा पुत्र मदन, तब व्याकुल होकर वे देवीके मन्दिरमें दौड़े गये। पुत्रका शरीर देखते ही शोकके कारण उन्होंने तलवार निकालकर अपना सिर भी काट लिया। धृष्टबुद्धिको उन्मत्तकी भाँति दौड़ते देख चन्द्रहास भी अपने श्वसुरके पीछे दौड़े। वे तनिक देरमें ही मन्दिरमें आ गये। अपने लिये दो प्राणियोंकी मृत्यु देखकर चन्द्रहासको बड़ा क्लेश हुआ। उन्होंने निश्चय करके अपने बलिदानके लिये तलवार खींची। उसी समय भगवती साक्षात् प्रकट हो गयीं। मातृहीन चन्द्रहासको उन्होंने गोदमें उठा लिया। उन्होंने कहा—'बेटा! यह धृष्टबुद्धि तो बड़ा दुष्ट था। यह सदा तुझे मारनेके प्रयत्नमें लगा रहा। इसका पुत्र मदन सज्जन और भगवद्भक्त था; किंतु उसने तेरे विवाहके समय तुझे अपना शरीर दे डालनेका संकल्प किया था, अतः वह भी इस प्रकार उऋण हुआ। अब तू वरदान माँग।'

चन्द्रहासने हाथ जोड़कर कहा—'माता! आप प्रसन्न हैं तो ऐसा वर दें, जिससे श्रीहरिमें मेरी अविचल भक्ति जन्म-जन्मान्तरतक बनी रहे और इस धृष्टबुद्धिके अपराधको आप क्षमा कर दें। मेरे लिये मरनेवाले इन दोनोंको आप जीवित कर दें और धृष्टबुद्धिके मनकी मलिनताका नाश कर दें।'

देवी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। धृष्टबुद्धि और मदन जीवित हो गये; चन्द्रहासको उन्होंने हृदयसे लगाया और वे भी भगवान्‌के परम भक्त हो गये। मदन तो भक्त था ही। उसने चन्द्रहासका बड़ा आदर किया। सब मिलकर सानन्द घर लौट आये।*

श्रीप्रियादासजीने धृष्टबुद्धिकी दुष्टता और चन्द्रहासकी इस सज्जनताका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

रहै जाके देश सो नरेश कछु पावै नाहीं बाँह बल जोरि दियो सचिव पठाइकै।
आयो घर जानि कियो अति सनमान सो पिछान लियो वहै बाल मारो छलछाइ कै॥
दई लिखि चीठी जाओ मेरेसुत हाथ दीजै कीजै वहीबात जाको आयौ लै लिखाइकै।
गये पुर पास बाग सेवा मति पाग करि भरी दृग नींद नेकु सोयो सुख पाइकै॥ ६२॥
खेलति सहेलिन मों आई वाहि बाग मांझ करि अनुराग भई न्यारी देखि रीझी है।
पाग मधि पाती छबिमाती झुंकि खैंचि लई बांची खोलि लिख्यौ विषदैन पिता खीझी है॥
विषया सुनाम अभिराम दृग अञ्जन सों विषया बनाइ मन भाइ रस भीजी है।
आइ मिली आलिन में लालनको ध्यान हिये पिये मद मानो गृह आइ तब धीजी है॥ ६३॥
उठ्यो चन्द्रहास जिहि पास लिख्यो ल्यायो आयो देखि मन भायो गाढ़े गरे सों लगायो है।
देई कर पाती बात लिखी मो सुहाती बोलि विप्र घरी एक माँझ व्याह उभरायो है॥
करी ऐसी रीति डारे बड़े नृप जीति श्री देत गई बीति चाव पार पै न पायो है।
आयो पिता नीच सुनि घूमि आई मीच मानों बानो लखि दूलह को शूल सरसायो है॥ ६४॥
बैठ्यो लै इकान्त सुत करी कहा भ्रान्त यह कह्यौ सो नितान्त कर पाती लै दिखाई है।
बाँचि आंच लागी मैं तो बड़ोई अभागी ऐ पै मारौं मति पागी बेटी रांड़ हू सुहाई है॥
बोलि नीच जाति बात कही तुम जावो मठ आवै यहाँ कोऊ मारि डारौ मोहि भाई है।
चन्द्रहास जू सों भाख्यौ देवी पूजि आवौ आप मेरी कुल पूज सदा रीति चलि आई है॥ ६५॥

* भक्त चन्द्रहासकी रम्य कथा अत्यन्त विस्तारसे जैमिनीयाश्वमेधपर्व ग्रन्थमें अध्याय ५० से ६० तक कुल ११ अध्यायोंमें वर्णित है। यह ग्रन्थ गीताप्रेससे प्रकाशित है।

चल्योई करन पूजा देशपति राजा कही मेरे सुत नाहीं राज वाही को लै दीजिये।
सचिव सुवन सों जु कह्यो तुम लावो जावो पावो नहिं फेरि समय अब काम कीजिये॥
दौर्‍यौ सुख पाइ जाइ मग ही में लियो जाय दियो सो पठाइ नृप रङ्गमाहि भीजिये।
देवी अपमान ते न डरौ सनमान करौं जात मारि डार्‍यौ यासों भाष्यो भूप लीजिये॥ ६६॥
काहू आनि कही सुत तेरो मार्‍यो नीचनि ने सींचन शरीर दृग नीर झरी लागी है।
चल्यो ततकाल देखि गिर्‍यो ह्वै बिहाल सिर पाथरसों फोरि मर्‍यौ ऐसो ही अभागी है॥
सुनि चन्द्रहास चलि वेगि मठ पास आये ध्याये पग देवता के काटे अङ्ग रागी है।
कह्यो तेरो द्वेषी याहि क्रोध करि मार्‍यो मैं ही उठैं दोऊ दीजै दान जिये बड़भागी है॥ ६७॥
कर्‍यो ऐसो राज सब देश भक्तराज कर्‍यो ढिग को समाज ताकी बात कहा भाखिये।
हरि हरि नाम अभिराम धाम धाम सुनैं और काम कामना न सेवा अभिलाषिये॥
काम क्रोध लोभ मद आदि लै कै दूरि किये जिये नृप पाइ ऐसो नैननि में राखिये।
कही जिती बात आदि अन्त लौं सुहाति हिये पढ़ै उठि प्रात फल जैमिनि में साखिये॥ ६८॥

श्रीचित्रकेतुजी

शूरसेन देशमें प्राचीन समयमें चित्रकेतु नामके एक राजा थे। बुद्धि, विद्या, बल, धन, यश, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि सब था उनके पास। उनमें उदारता, दया, क्षमा, प्रजावात्सल्य आदि सद्गुण भी पूरे थे। उनके सेवक नम्र और अनुकूल थे। मन्त्री नीतिनिपुण तथा स्वामिभक्त थे। राज्यमें भीतर-बाहर कोई शत्रु नहीं था। राजाके बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ थीं। इतना सब होनेपर भी राजा चित्रकेतु सदा दुखी रहते थे। उनकी किसी रानीके कोई सन्तान नहीं थी। वंश नष्ट हो जायगा, इस चिन्तासे राजाको ठीकसे निद्रातक नहीं आती थी। एक बार अंगिरा ऋषि सदाचारी भगवद्भक्त राजा चित्रकेतुके यहाँ पधारे। महर्षि राजापर कृपा करके उन्हें तत्त्वज्ञान देने आये थे, किंतु उन्होंने देखा कि मोहवश राजाको पुत्र पानेकी प्रबल इच्छा है। ऋषिने सोच लिया कि जब यह पुत्रवियोगसे दुखी होगा, तभी इसमें वैराग्य होगा और तभी कल्याणके सच्चे मार्गपर चलनेयोग्य होगा। अतः राजाकी प्रार्थनापर ऋषिने त्वष्टा देवताका यज्ञ किया और यज्ञसे बचा अन्न देकर यह कह दिया कि इसको तुम किसी रानीको दे देना। महर्षिने यह भी कहा कि इससे जो पुत्र होगा, वह तुम्हें हर्ष-शोक दोनों देगा।

उस अन्नको खाकर राजाकी एक रानी गर्भवती हुई। उसके पुत्र हुआ। राजा तथा प्रजा दोनोंको अपार हर्ष हुआ। अब पुत्रस्नेहवश राजा उसी रानीसे अनुराग करने लगे। दूसरी रानियोंकी याद ही अब उन्हें नहीं आती थी। राजाकी उपेक्षासे उनकी दूसरी रानियोंके मनमें सौतियाडाह उत्पन्न हो गया। सबने मिलकर उस नवजात बालकको एक दिन विष दे दिया और बच्चा मर गया। बालककी मृत्युसे मारे शोकके राजा पागल-से हो गये। राजाको ऐसी विपत्तिमें पड़ा देखकर उसी समय वहाँ देवर्षि नारदके साथ महर्षि अंगिरा आये। वे राजाको मृत बालकके पास पड़े देख समझाने लगे—राजन्! तुम जिसके लिये इतने दुखी हो रहे हो, वह तुम्हारा कौन है? इस जन्मसे पहले वह तुम्हारा कौन था? अब आगे यह तुम्हारा कौन रहेगा? जैसे रेतके कण जलके प्रवाहसे कभी एकत्र हो जाते हैं और फिर अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही कालके द्वारा विवश हुए प्राणी मिलते और अलग होते हैं। यह पिता-पुत्रका सम्बन्ध कल्पित है। ये शरीर न जन्मके पूर्व थे, न मृत्युके पश्चात् रहेंगे। अतः तुम इनके लिये शोक मत करो।'

राजाको इन वचनोंसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने पूछा—'महात्मन्! आप दोनों कौन हैं? मेरे-जैसे

विषयोंमें फँसे मूढ़बुद्धि लोगोंको ज्ञान देनेके लिये आप-जैसे भगवद्भक्त सिद्ध महापुरुष निःस्वार्थ भावसे पृथ्वीमें विचरा करते हैं। आप दोनों मुझपर कृपा करें। मुझे ज्ञान देकर इस शोकसे बचायें।'

महर्षि अंगिराने कहा—'राजन्! मैं तो तुम्हें पुत्र देनेवाला अंगिरा हूँ और मेरे साथ ये ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी हैं। तुम ब्राह्मणोंके और भगवान्‌के भक्त हो, अतः तुम्हें क्लेश नहीं होना चाहिये। मैं पहले ही तुम्हें ज्ञान देने आया था, पर उस समय तुम्हारा चित्त पुत्र-प्राप्तिमें लगा था। अब तुमने पुत्रके वियोगका क्लेश देख लिया। इसी प्रकार स्त्री, धन, ऐश्वर्य आदि भी नश्वर हैं। उनका वियोग भी चाहे जब सम्भव है और ऐसा ही दुःखदायी है। ये राज्य, गृह, भूमि, सेवक, मित्र, परिवार आदि सब शोक, मोह, भय और पीड़ा ही देनेवाले हैं। ये स्वप्नके दृश्योंके समान हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नहीं है। अपनी भावनाके अनुसार ही ये सुखदायी प्रतीत होते हैं। द्रव्य, ज्ञान और क्रियासे बना इस शरीरका अभिमान ही जीवको क्लेश देता है। एकाग्रचित्तसे विचार करो और एकमात्र भगवान्‌को ही सत्य समझकर उन्हींमें चित्त लगाकर शान्त हो जाओ।'

राजाको बोध देनेके लिये देवर्षि नारदने जीवका आवाहन करके बालकको जीवितकर उससे कहा—'जीवात्मन्! देखो। ये तुम्हारे पिता-माता, बन्धु-बान्धव तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहे हैं। तुम इनके पास क्यों नहीं रहते?'

जीवात्माने कहा—'ये किस-किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए थे? मैं तो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें अनन्त कालसे जन्म लेता आ रहा हूँ। सभी जीव परस्पर कभी पिता, कभी पुत्र, कभी मित्र, कभी शत्रु, कभी सजातीय, कभी विजातीय, कभी रक्षक, कभी विनाशक, कभी आत्मीय और कभी उदासीन बनते हैं। ये लोग मुझे अपना पुत्र मानकर रोते क्यों हैं? शत्रु मानकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? जैसे व्यापारियोंके पास वस्तुएँ आती और चली जाती हैं, एक पदार्थ आज उनका है, कल उनके शत्रुका है, वैसे ही कर्मवश जीव नाना योनियोंमें जन्म लेता घूमता है। जितने दिन जिस शरीरका साथ है, उतने दिन ही उसके सम्बन्धी अपने हैं। यह स्त्री-पुत्र, घर आदिका सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। आत्मा न जन्मता न मरता है। वह नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सर्वाधार, स्वयंप्रकाश है। वस्तुतः भगवान् ही अपनी मायासे गुणोंके द्वारा विश्वमें नाना रूपोंमें व्यक्त हो रहे हैं। आत्माके लिये न कोई अपना है, न पराया। वह एक है और हित-अहित करनेवाले शत्रु-मित्र आदि नाना बुद्धियोंका साक्षी है। साक्षी आत्मा किसी भी सम्बन्ध तथा गुण-दोषको ग्रहण नहीं करता। आत्मा तो कभी मरता नहीं, वह नित्य है और शरीर नित्य है नहीं, फिर ये लोग क्यों व्यर्थ रो रहे हैं?'

राजपुत्रका जीवात्मा इतना कहकर चला गया। उसकी बातोंसे सबका मोह दूर हो गया। मृतकका अन्त्येष्टि-संस्कार करके राजा शान्त हो गये। जब बालकको विष देनेवाली रानियोंने यह ज्ञान सुना, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। यमुनातटपर जाकर उन्होंने अपने पापका प्रायश्चित्त किया।

राजा चित्रकेतु ऋषियोंके उपदेशसे शोक, मोह, भय और क्लेश देनेवाले दुस्त्यज गृहके स्नेहको छोड़कर महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारदजीके पास जाकर उनसे भगवत्प्राप्तिका साधन पूछने लगे। नारदजीने उन्हें भगवान् शेषका ध्यान तथा स्तुति-मन्त्र बतलाया। उपदेश करके दोनों ऋषि चले गये। राजाने सात दिन केवल जलपर रहकर एकाग्र चित्तसे उस स्तुतिरूप विद्याका अखण्ड जप किया। उसके प्रभावसे वे विद्याधरोंके स्वामी हो गये। कुछ दिनोंमें राजा चित्रकेतु विद्याके बलसे मनोगतिके अनुसार भगवान् शेषके समीप पहुँच गये। यहाँ उन्होंने सनत्कुमारादि महर्षियोंसे सेवित संकर्षणभगवान्‌के दर्शन किये। राजाने प्रेमविह्वल होकर भगवान्‌के चरणोंमें प्रणिपात किया और वे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। दयामय भगवान् प्रसन्न हुए। उन्होंने चित्रकेतुको परम तत्त्वका उपदेश किया। तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हुए अन्तमें संकर्षण प्रभुने कहा—'राजन्!

मनुष्यशरीरमें ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। जो मानव-देह पाकर भी ज्ञान नहीं पाता—आत्माको नहीं जानता, उसका फिर किसी योनिमें कल्याण नहीं होता। विषयोंमें लगनेसे ही दुःख होता है, उन्हें छोड़ देनेमें कोई भय नहीं है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको विषयोंसे निवृत्त हो जाना चाहिये। जगत्के सभी स्त्री-पुरुष दुःखोंको दूर करने और सुख पानेके लिये अनेक प्रकारके कर्म करते हैं; पर उन कर्मोंसे न तो दुःख दूर हो पाते हैं और न सुख ही मिलता है। जो लोग अपनेको बुद्धिमान् मानकर कर्मोंमें लगे हैं, वे दुःख ही पाते हैं। आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे पृथक् है—यों समझकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इन अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले विषयोंसे निवृत्त हो जाय, लोक-परलोकसे चित्त हटा ले और ज्ञान-विज्ञानसे सन्तुष्ट होकर मेरी भक्ति करे। एक परमात्मा ही सब स्थानोंमें सर्वदा है—यह योगमार्गमें लगनेवालोंको जान लेना चाहिये।' इस प्रकार दिव्य उपदेश देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

चित्रकेतु द्वन्द्वरहित समदर्शी हो गये थे। वे कामना, स्पृहा, अहंकार छोड़कर सदा परमात्मामें ही चित्त लगाये रहते थे। तपोबलसे इच्छानुसार चौदहों भुवनोंमें वे घूम सकते थे। एक दिन विमानपर बैठकर वे आकाशमार्गसे जा रहे थे। उसी समय उन्होंने मुनियोंकी सभामें पार्वतीजीको भगवान् शंकरकी गोदमें बैठे देखा। चित्रकेतुको यह व्यवहार अनुचित लगा। उन्होंने इसकी कड़ी आलोचना की। भगवान् शंकर तो आलोचना सुनकर हँसकर रह गये, पर पार्वतीजीको क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दिया—'तू बड़ा अविनीत हो गया है, अतः भगवान्के चरणोंमें रहनेयोग्य नहीं है। जाकर असुरयोनिमें जन्म ग्रहण कर।'

शाप सुनकर चित्रकेतुको न डर लगा, न दुःख हुआ। असुरयोनिमें भी सर्वव्यापी भगवान् तो हैं ही, यह वे जानते थे। शिष्ट व्यवहार करनेके लिये विमानसे वे उतर पड़े और उन्होंने पार्वतीजीके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'माता! आपने जो शाप दिया है, उसे मैं सादर स्वीकार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि देवतालोग मनुष्यके लिये जो कुछ कहते हैं, वह उसके कर्मानुसार ही कहते हैं। अज्ञानसे मोहित प्राणी इस संसारचक्रमें घूमता हुआ सदा, सब कहीं सुख-दुःख भोगता ही रहता है। गुणोंके इस प्रवाहमें शाप-वरदान, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख—कुछ भी वास्तविक नहीं है। स्वयं मायातीत भगवान् अपनी मायासे प्राणियोंको रचते और उनके सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करते हैं। उन ईश्वरका न कोई अपना है, न पराया; न कोई प्रिय है, न अप्रिय। वे सर्वत्र समान और असंग हैं। जब उन सर्वेश्वरको सुखसे प्रेम नहीं है, तब क्रोध तो होगा ही कैसे! परंतु उनकी मायासे मोहित जीव जो पुण्य-पापरूप कर्मोंको करता है, वे कर्म ही उसके सुख-दुःखादिके कारण होते हैं। देवि! मैं शापसे छूटनेके लिये आपको प्रसन्न नहीं कर रहा हूँ। आपको मेरे वचन बुरे लगे, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।'

इस प्रकार क्षमा माँगकर चित्रकेतु विमानपर बैठकर चले गये। उनकी यह असंग स्थिति देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। शंकरजीने कहा—'देवि! तुमने भगवान्के दासानुदासोंका माहात्म्य देखा? भगवान् नारायणके परायण भक्त किसीसे भी डरते नहीं। वे स्वर्ग, नरक तथा मोक्षमें भी एक-सी दृष्टि रखते हैं। भगवान्की लीलासे ही जीव देह धारण करके सुख-दुःख, जन्म-मरण, शाप-अनुग्रहका भागी होता है। जैसे रस्सीमें अज्ञानसे सर्पका भ्रम होता है, वैसे ही इष्ट-अनिष्टका बोध अज्ञानसे ही है। भगवान्के आश्रित भक्त ज्ञान-वैराग्यके बलसे किसी भी सांसारिक पदार्थको अच्छा मानकर ग्रहण नहीं करते। जब मैं, ब्रह्माजी, सनत्कुमार, नारद, महर्षिगण तथा इन्द्रादि देवता भी परमेश्वरकी लीलाका रहस्य नहीं जान पाते, तब अपनेको समर्थ माननेवाले क्षुद्र अभिमानी उन परम प्रभुका स्वरूप कैसे जान सकते हैं! उन श्रीहरिका न कोई अपना है, न पराया। वे सबके आत्मा होनेसे सबके प्रिय हैं। फिर यह महाभाग चित्रकेतु उन्हीं भगवान्का प्यारा भक्त है, उन्हींकी रुचिसे चलनेवाला है, शान्त और समदर्शी है। मैं भी उन्हीं अच्युतका भक्त हूँ। अतः मुझको

उसपर क्रोध नहीं आया। ऐसे शान्त, समदर्शी, भगवद्भक्त महापुरुषोंके चरित्रपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये।' पार्वतीजीका आश्चर्य इन वचनोंसे दूर हो गया। शाप देनेमें समर्थ होनेपर भी चित्रकेतुने पार्वतीको शाप नहीं दिया था, उलटे उनका शाप स्वीकार करके क्षमा माँगी। इसी शापके फलसे त्वष्टाके यज्ञमें दक्षिणाग्निसे वे वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुए।

गज-ग्राह

द्रविड़ देशमें पहले पाण्ड्यराज्यके एक राजा थे इन्द्रद्युम्न। वे सदा भगवान्के स्मरण, ध्यान, पूजन तथा नामजपमें ही लगे रहते थे। एक बार वे कुलाचलपर्वतपर मौन होकर वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार करके श्रीहरिकी अर्चा करते थे। उसी समय वहाँ शिष्योंके साथ अगस्त्यजी पधारे। राजा उस समय भगवान्के पूजनमें लगे थे, अतः न तो कुछ बोले और न उन्होंने उठकर मुनिका सत्कार ही किया। अगस्त्यजीको इससे क्रोध आ गया। उन्होंने शाप देते हुए कहा—यह मूर्ख मतवाले हाथीकी भाँति बन गया है, ब्राह्मणका यह अपमान करता है, अतः इसे हाथीकी योनि प्राप्त हो।

शाप देकर अगस्त्यजी चले गये। उनके शापके प्रभावसे शरीर छूटनेपर राजा इन्द्रद्युम्न क्षीरसागरके मध्य त्रिकूट पर्वतपर हाथी हुए। वे बड़े ही बलवान् थे। उनके भयसे वहाँ व्याघ्र, सिंह भी गुफाओंमें छिप जाते थे। एक बार वे गजराज अपने यूथकी हथिनियों और कलभों (हाथीके बच्चों)-के साथ वनमें घूम रहे थे। धूप लगनेपर जब प्यास लगी, तब कमलकी गन्ध सूँघते हुए वह यूथ वहाँके सरोवरमें पहुँचा। वह सरोवर बहुत ही विशाल था। उसमें स्वच्छ जल भरा था। कमल खिले थे। सभी हाथियोंने जल पिया, स्नान किया और परस्पर सूँड़में जल लेकर उछालते हुए जलक्रीड़ा करने लगे।

उस सरोवरमें महर्षि देवलके शापसे ग्राह होकर हूहू नामक गन्धर्व रहता था। वह ग्राह जलक्रीड़ा करते हुए गजराजके पास चुपकेसे आया और पैर पकड़कर उन्हें जलमें खींचने लगा। गजराजने चिंग्घाड़ मारी, दूसरे हाथियोंने भी सहारा देना चाहा, किंतु ग्राह बहुत बलवान् था। दूसरे हाथी शीघ्र ही थक गये। कभी ग्राह जलकी ओर खींच ले जाता और कभी गजराज उसे किनारेके पास खींच लाते। इस प्रकार बराबर दोनों एक-दूसरेको खींचते रहे। गजराजमें हजारों हाथियोंके समान बल था, पर वह घटता जाता था। वे थकते जाते थे। ग्राह तो जलका प्राणी था। वह इनसे जलमें बलवान् पड़ने लगा। जब ग्राहके द्वारा खींचे जाते गजेन्द्र बिलकुल थक गये, उन्हें लगा कि अब डूब जायँगे, तब उन्होंने भगवान्की शरण लेनेका निश्चय किया। पूर्वजन्मकी आराधनाके प्रभावसे उनकी बुद्धि भगवान्में लगी। पाससे एक कमल-पुष्प तोड़कर सूँड़में उठाकर वे भगवान्की स्तुति करने लगे।

जब कोई अत्यन्त कातर होकर भगवान्को पुकारता है, तब वे दयामय एक क्षणकी भी देर नहीं करते। कातर कण्ठसे गजराज भगवान्की स्तुति कर रहे थे। देवता भी उनके स्वरमें स्वर मिलाकर भगवान्का स्तवन कर रहे थे। उसी समय भगवान् गरुड़पर बैठे वहाँ प्रकट हुए। भगवान्का दर्शन करके गजराजने वह पुष्प ऊपर उछालकर कहा—नारायण, निखिल जगत्के गुरु, भगवन्! आपको नमस्कार।

आते ही भगवान्ने एक हाथसे गजराजको ग्राहके सहित जलमेंसे निकालकर पृथ्वीपर रख दिया। अपने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़कर भगवान्ने गजराजको छुड़ाया। भगवानके चक्रसे मरकर ग्राह ऋषिके शापसे छूटकर फिर गन्धर्व हो गया। उसने भगवान्की स्तुति की और उनकी आज्ञा लेकर अपने लोकको चला गया। गजराजको भगवान्का स्पर्श मिला था। उनके अज्ञानका बन्धन तत्काल नष्ट हो गया। उनका हाथीका शरीर सुन्दर दिव्य चतुर्भुजरूपमें परिणत हो गया। भगवत्पार्षदोंका रूप पाकर वे भगवान्के साथ उनके नित्यधाममें पहुँच गये।

भक्त पाण्डव

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः*॥

जैसे शरीरमें पाँच प्राण होते हैं, वैसे ही महाराज पाण्डुके पाँच पुत्र हुए—कुन्तीदेवीके द्वारा धर्म, वायु तथा इन्द्रके अंशसे क्रमशः युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन और माद्रीके द्वारा अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल और सहदेव। महाराज पाण्डुका इनके बचपनमें ही परलोकवास हो गया। माद्री अपने पतिके साथ सती हो गयीं। पाँचों पुत्रोंका लालन-पालन कुन्तीदेवीने किया। ये पाँचों भाई जन्मसे ही धार्मिक, सत्यवादी और न्यायी थे। ये क्षमावान्, सरल, दयालु तथा भगवान्‌के परम भक्त थे।

महाराज पाण्डुके न रहनेपर उनके पुत्रोंको राज्य मिलना चाहिये था, किंतु इनके बालक होनेसे महाराज पाण्डुके अन्धे ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र राजाके रूपमें सिंहासनपर बैठे। उनके पुत्र स्वभावसे क्रूर और स्वार्थी थे। उनका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन अकारण ही पाण्डवोंसे द्वेष करता था। भीमसेनसे तो उसकी पूरी शत्रुता थी। उसने भीमसेनको विष देकर मूर्च्छित दशामें गंगाजीमें फेंक दिया, परंतु भीम बहते हुए नागलोक पहुँच गये। वहाँ उन्हें सर्पोंने काटा, जिससे खाये विषका प्रभाव दूर हो गया और वे नागलोकसे लौट आये। दुर्योधनने पाण्डवोंको लाक्षागृह बनवाकर उसमें रखा और रात्रिको उसमें अग्नि लगवा दी, परंतु विदुरजीने पहले ही इन लोगोंको सचेत कर दिया था। वे अग्निसे बचकर चुपचाप वनमें निकल गये और गुप्तरूपमें यात्रा करने लगे। भीमसेन शरीरसे बहुत विशाल थे। बलमें उनकी जोड़का कोई व्यक्ति मिलना कठिन था। वे बड़े-बड़े हाथियोंको उठाकर सहज ही फेंक देते थे। वनमें माता कुन्ती और सभी भाइयोंको वे कन्धोंपर बैठाकर मजेसे यात्रा करते थे। अनेक राक्षसोंको उन्होंने वनमें मारा।

धनुर्विद्यामें अर्जुन अद्वितीय थे। इसी वनवासमें पाण्डव द्रुपदके यहाँ गये और स्वयंवरसभामें अर्जुनने मत्स्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त किया। माता कुन्तीके वचनकी रक्षाके लिये द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी पत्नी बनीं। धृतराष्ट्रने समाचार पाकर पाण्डवोंको हस्तिनापुर बुलवा लिया और आधा राज्य दे दिया। युधिष्ठिरके धर्मशासन, अर्जुन तथा भीमके प्रभाव एवं भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे पाण्डवोंका ऐश्वर्य विपुल हो गया। युधिष्ठिरने दिग्विजय करके राजसूययज्ञ किया और वे राजराजेश्वर हो गये, परंतु युधिष्ठिरको इसका कोई अहंकार नहीं था, उन्होंने अपने भाइयोंसहित भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजा की और उनके चरण पखारे। दुर्योधनसे पाण्डवोंका यह वैभव सहा न गया। धर्मराजको महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जुआ खेलना स्वीकार करना पड़ा। जुएमें सब कुछ हारकर पाण्डव बारह वर्षके लिये वनमें चले गये। एक वर्ष उन्होंने अज्ञातवास किया। यह अवधि समाप्त हो जानेपर भी जब दुर्योधन उनका राज्य लौटानेको राजी नहीं हुए, तब महाभारत हुआ। उस युद्धमें कौरव मारे गये। युधिष्ठिर सम्राट् हुए। छत्तीस वर्ष उन्होंने राज्य किया। इसके बाद जब पता लगा कि भगवान् श्रीकृष्ण परम धाम पधार गये, तब पाण्डव भी अर्जुनके पौत्र परीक्षित्‌को राज्य देकर सब कुछ छोड़कर हिमालयकी ओर चल दिये। वे भगवान्‌में मन लगाकर महाप्रस्थान कर गये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र तो धर्म और भक्तिके साथ हैं। जहाँ धर्म है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण

* युधिष्ठिरका नाम लेनेमात्रसे धर्मकी वृद्धि होती है, वृकोदर (भीमसेन)-का नाम लेनेसे पापोंका नाश होता है, धनंजय (अर्जुन)-का नाम लेनेसे शत्रुओंका विनाश होता है और माद्रीके दोनों पुत्रों—नकुल-सहदेवका नाम लेनेसे रोग नहीं होते हैं।

हैं वहीं धर्म है। पाण्डवोंमें धर्मराज युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। अर्जुन तो श्रीकृष्णके प्राणप्रिय सखा ही थे। भीमसेन श्यामसुन्दरको बहुत मानते थे। भगवान् भी उनसे बहुत हास-परिहास कर लेते थे, किंतु कभी भी भीमसेनने श्रीकृष्णके आदेशपर आपत्ति नहीं की। कोई युधिष्ठिर या श्रीकृष्णका अपमान करे, यह उन्हें तनिक भी सहन नहीं होता था। जब राजसूययज्ञमें शिशुपाल श्यामसुन्दरको अपशब्द कहने लगा, तब भीम क्रोधसे गदा लेकर उसे मारनेको उद्यत हो गये।

पाण्डवोंकी भक्तिकी कोई क्या प्रशंसा करेगा, जिनके प्रेमके वश होकर स्वयं त्रिभुवननाथ द्वारकेश उनके दूत बने, सारथि बने और सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते रहे, उनके सौभाग्यकी क्या सीमा है! ऐसे ही पाण्डवोंका भ्रातृप्रेम भी अद्वितीय है। धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको प्राणके समान मानते थे और चारों भाई अपने बड़े भाईकी ऐसी भक्ति करते थे, जैसे वे उनके खरीदे हुए सेवक हों। युधिष्ठिरने जुआ खेला, उनके दोषसे चारों भाइयोंको वनवास हुआ और अनेक प्रकारके कष्ट झेलने पड़े, पर बड़े भाईके प्रति पूज्यभाव उनके मनमें ज्यों-का-त्यों बना रहा। क्षोभवश भीम या अर्जुन आदिने यदि कभी कोई कड़ी बात कह भी दी तो तत्काल उन्हें अपनी बातका इतना दुःख हुआ कि वे प्राणतक देनको उद्यत हो गये।

पाण्डवोंके चरित्रमें ध्यान देनेयोग्य बात है कि उनमें भीमसेन-जैसे बली थे, अर्जुन-जैसे अस्त्रविद्यामें अद्वितीय कुशल शूरवीर थे, नकुल-सहदेव-जैसे नीतिनिपुण एवं व्यवहारकी कलाओंमें चतुर थे, किंतु ये सब लोग धर्मराज युधिष्ठिरके ही वशमें रहकर उन्हींके अनुकल चलते थे। बल, विद्या, शस्त्रज्ञान, कला-कौशल आदि सबकी सफलता धर्मकी अधीनता स्वीकार करनेमें ही है। धर्मराज भी श्रीकृष्णचन्द्रको ही अपना सर्वस्व मानते थे। वे श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार ही चलते थे। भगवान्‌में भक्ति होना, भगवान्‌के प्रति सम्पूर्ण रूपसे आत्मसमर्पण कर देना ही धर्मका लक्ष्य है। यही बात, यही आत्मनिवेदन पाण्डवोंमें था और इसीसे श्यामसुन्दर उन्हींके पक्षमें थे। पाण्डवोंकी विजय इसी धर्म तथा भक्तिसे हुई।

महर्षि मैत्रेयजी

महर्षि मैत्रेय पुराणवक्ता ऋषि हैं। वे 'मित्र' के पुत्र होनेके कारण मैत्रेय कहलाये। श्रीमद्भागवतमें इनके सम्बन्धमें इतना ही मिलता है कि ये महर्षि पराशरके शिष्य और वेदव्यासजीके सुहृद् सखा थे। पराशरमुनिने जो विष्णुपुराण कहा, उसके प्रधान श्रोता ये ही हैं। इन्होंने स्वयं कहा है—

त्वत्तो हि वेदाध्ययनमधीतमखिलं गुरो। धर्मशास्त्राणि सर्वाणि तथाङ्गानि यथाक्रमम्॥
त्वत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मामन्ये नाकृतश्रमम्। वक्ष्यन्ति सर्वशास्त्रेषु प्रायशो येऽपि विद्विषः॥

(विष्णुपुराण १।१।२-३)

'हे गुरुदेव! मैंने आपसे ही सम्पूर्ण वेद, वेदांग और सकल धर्मशास्त्रोंका क्रमशः अध्ययन किया है। हे मुनिश्रेष्ठ! आपकी कृपासे मेरे विपक्षी भी मेरे लिये यह नहीं कह सकते कि मैंने सम्पूर्ण शास्त्रोंके अभ्यासमें परिश्रम नहीं किया है।' इससे स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार ये भगवान् वेदव्यासके सुहृद् और सखा थे, वैसे ही ये पूर्ण ज्ञानी और शास्त्रमर्मज्ञ भी थे। भगवान् श्रीकृष्णकी इनके ऊपर पूर्ण कृपा थी। उन्होंने निज लोकको पधारते समय अधिकारी समझकर अपना समस्त ज्ञान इन्हींको दिया था।

भगवान् जब परम धामको पधारने लगे, तब खोजते-खोजते उद्धवजी उनके पास पहुँचे। भगवान् एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे सरस्वतीके तटपर प्रभासक्षेत्रके समीप सुखासीन थे। उद्धवजीने प्रभुके दर्शन किये। उसी समय महामुनि मैत्रेयजी भी वहाँ पहुँच गये। भगवान्‌ने उन्हें ज्ञानोपदेश दिया और आज्ञा की कि इसे महामुनि विदुरको भी देना। अब उद्धवजीसे यह समाचार सुनकर महामना विदुरजी इनके समीप पहुँचे, तब ये बड़े प्रसन्न

हुए। उस भगवद्दत्त ज्ञानका, जिसे इन्होंने विदुरजीको दिया था, वर्णन श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके चौथे अध्यायसे आरम्भ होता है। महामुनि मैत्रेयका नाम ऐसा है, जिसे समस्त पुराणपाठक भली प्रकार जानते हैं। मैत्रेयजी ज्ञानके भण्डार, भगवल्लीलाओंके परम रसिक और भगवान्के परम कृपापात्र थे। इनके गुरु महर्षि पराशरने विष्णुपुराण सुनानेके अनन्तर अपनी गुरुपरम्परा बतलाते हुए इनसे कहा कि इस पुराणको, जिसे तुमने मुझसे सुना है, तुम भी कलियुगके अन्तमें शिनीकको सुनाओगे। इस प्रकार ये चिरजीवी हैं और अब भी किसी-न-किसी रूपमें इस धराधामपर विद्यमान हैं। भगवान्की कथाका महत्त्व बतलाते हुए ये कहते हैं—

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित् पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो विरज्येत विना नरेतरम्॥

'संसारमें पशुओं को छोड़कर, अपने पुरुषार्थका सार जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आवागमनसे छुड़ा देनेवाली भगवान्की प्राचीन कथाओंमेंसे किसी भी अमृतमयी कथाका अपने कर्णपुटोंसे एक बार पान करके फिर उनकी ओरसे मन हटा लेगा?'

श्रीप्रियादासजीने मैत्रेयजी तथा चित्रकेतु आदिके सम्बन्धमें एक कवित्त लिखा है, जो इस प्रकार है—

कौषारव नाम सो बखान कियो नाभ जू ने मैत्रेय अभिराम ऋषि जानि लीजै बात में।
आज्ञा प्रभु दई जाहु विदुर है भक्त मेरौ करौ उपदेश रूप गुण गात गात में॥
चित्रकेतु प्रेम केतु भागवत ख्यात जाते पलट्यो जनम प्रतिकूल फल घात में।
अक्रूर आदि ध्रुव भये सब भक्तभूप उद्धव से प्यारेन की ख्याति पात पात में॥ ६९॥

कवित्तमें बताया गया है कि श्रीनाभाजीने कौषारव नामसे जिनका वर्णन किया है, वे परम श्रेष्ठ ऋषि मैत्रेयजी हैं। परमधाम जानेसे पूर्व जब भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीको उपदेश दे रहे थे, उस समय मैत्रेयजी भी वहीं उपस्थित थे। मैत्रेयजीको भगवान्ने आज्ञा दी कि तुम जाओ और मेरे भक्त विदुरजीको मेरे द्वारा कथित ज्ञान-भक्तिका उपदेश दो, जिससे मेरे रूप और गुण उनके रोम-रोममें व्याप्त हो जायँ। मैत्रेय और विदुरजीका संवाद श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें वर्णित है। प्रेमकी ध्वजा फहरानेवाले भक्त चित्रकेतुका चरित्र भी श्रीभागवतमें प्रसिद्ध है। शंकरजीका अपमान करनेपर उन्हें दैत्ययोनि प्राप्त हुई। फिर भी उनकी भक्ति ज्यों-की-त्यों रही। अक्रूरजी और ध्रुवजी—ये श्रेष्ठ भक्तराज हुए। उद्धव-सरीखे भगवान्के प्यारे भक्तोंकी कथा संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध है॥ ६९॥

श्रीकुन्तीजी

श्रीकृष्णचन्द्रके पितामह शूरसेनजीने अपनी पुत्री पृथाको अपनी बुआके सन्तानहीन पुत्र कुन्तिभोजको दत्तकरूपमें प्रदान किया। परम सुन्दरी पृथा सात्त्विक प्रवृत्तिकी और धार्मिक थीं। एक बार महाराज कुन्तिभोजके यहाँ एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि हुए। पिताने उनके सत्कारका भार पृथाको दिया। पूरे वर्षभर वे विप्रदेव कुन्तिभोजके घर रहे। अवस्थामें छोटी होनेपर भी राजकुमारी पृथा अत्यन्त श्रद्धा, संयम तथा परिश्रमसे उनकी सेवामें लगी रही। विदा होते समय ब्राह्मणदेवताने सन्तुष्ट होकर वरदान माँगनेको कहा।

'आपके समान वेदज्ञ तपस्वी तथा मेरे पिता मुझपर प्रसन्न हैं, इसीसे मेरा श्रम सार्थक हो गया। मुझे कोई अभिलाषा नहीं है।' कुन्तीने ब्राह्मणकी निष्काम भावसे सेवा की थी।

'बेटी! मेरी प्रसन्नता निष्फल नहीं होनी चाहिये। मुझसे तू इन मन्त्रोंको ग्रहण कर ले। इनके द्वारा तू जिस देवताका आह्वान करेगी, वह विवश होकर तेरे समीप उपस्थित होगा।' ब्राह्मणने आग्रह किया। शापके भयसे पृथा निषेध न कर सकीं। अथर्वशीर्षमें आये मन्त्रोंका उपदेश करके तथा महाराजको अपना जाना सूचित करके वे तेजस्वी ब्राह्मण वहीं अन्तर्हित हो गये। ब्राह्मणवेषमें ये महर्षि दुर्वासा थे।

'विप्रदेवने ये कैसे मन्त्र दिये हैं।' कुन्ती राजभवनके ऊपर खड़ी सोच रही थीं। उनके मनमें परीक्षा करनेका कुतूहल हुआ। उदय होते सूर्यपर उनकी दृष्टि पड़ी। मन्त्र-प्रभावसे कवच-कुण्डलधारी भगवान् सूर्यके उस सूर्यमण्डलमें उन्हें दर्शन हुए। विधिवत् आचमन करके उन्होंने मन्त्रोंका जप करते हुए सूर्यनारायणका आह्वान किया। स्वर्णवर्ण, दिव्याभरणभूषित तेजोमय पुरुषरूपसे सूर्यदेव सम्मुख उपस्थित हो गये। उन्होंने कहा—'भद्रे! मैं तुम्हारी मन्त्र-शक्तिसे विवश होकर आया हूँ। आज्ञा दो, मैं क्या करूँ?'

कुन्तीने प्रणाम करके प्रार्थना की—'आप अपने धामको पधारें। मैंने कुतूहलवश आपको बुलाया था। मेरा अपराध क्षमा करें।'

भगवान् सूर्यने कहा—'देवताका आना व्यर्थ नहीं होना चाहिये। मुझे देखकर तुम्हारे मनमें यह भाव आया था कि मेरे इन कुण्डलों तथा कवचसे भूषित अतुल पराक्रमी पुत्र हो। अतः मैं तुम्हें ऐसा ही पुत्र प्रदान करूँगा।'

'मैं कन्या हूँ। मेरे माता-पिता जीवित हैं, इस शरीरपर उनका अधिकार है। सदाचार ही लोकमें श्रेष्ठ है और वह है—अनाचारसे शरीरको बचाये रखना। आप मेरे अपराधको क्षमा करके लौट जायँ।' कुन्तीने भीत होकर प्रार्थना की। भगवान् सूर्यने समझाया कि उनकी बात स्वीकार करके भी उसका कन्याभाव नष्ट नहीं होगा। वह सती ही रहेगी। कुन्तीने इसपर सूर्यनारायणकी बात स्वीकार कर ली। भगवान् सूर्यने योगशक्तिसे उसके उदरमें अपना अंश स्थापित किया। उसके कन्याभावको दूषित नहीं किया।

अन्तःपुरमें केवल एक धायको पता था कि पृथा गर्भवती हैं। यथासमय देवताओंके समान कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ। उसके शरीरपर स्वर्णकवच तथा कानोंमें दिव्य कुण्डल थे। पृथाने धात्रीकी सलाहसे एक पिटारीमें कपड़े बिछाये, ऊपरसे मोम चुपड़ दिया। उसीमें नवजात शिशुको लिटाकर ढक्कन लगा दिया। पिटारीको अश्वनदीमें छोड़ते हुए रोकर विदीर्ण होते हृदयसे माता कुन्तीने कहा—'बेटा! सभी जल, स्थल, नभके प्राणी तेरी रक्षा करें। तेरा मार्ग मंगलमय हो। शत्रु तुझे विघ्न न दें। सभी लोकपाल तेरी रक्षा करें! तू कभी कहीं भी मिलेगा तो इन कवच और कुण्डलोंसे मैं तुझे पहचान लूँगी।'

वह पिटारी अश्वनदीसे चर्मण्वती (चम्बल), उससे यमुनामें होती गंगामें पहुँची। चम्पापुरीमें सूत अधिरथने उसे पकड़ा और उसमेंसे निकले हुए बालकको पुत्र मानकर पालन-पोषण किया। वही बालक वसुषेण महारथी कर्णके नामसे प्रख्यात हुआ। दूतोंद्वारा कुन्तीको पता लग गया था कि उनका पुत्र सूतद्वारा पाला जा रहा है। लोकलज्जाके भयसे उन्होंने इस रहस्यको प्रकट नहीं किया।

× × ×

सुन्दरी पृथाके लिये महाराज कुन्तिभोजसे अनेक राजाओंने प्रार्थना की। स्वयंवर हुआ और महाराज पाण्डुके गलेमें जयमाल पड़ी। कुन्तीको लेकर वे हस्तिनापुर आये। आखेटमें मृगवेषधारी ऋषिकुमार किन्दमपर पाण्डुने बाण चला दिया। मरते समय ऋषिपुत्रने अपना रूप प्रकट करके शाप दे दिया—'तुमने सहवास करते मृगपर बाण छोड़ा, अतः पत्नीके साथ सहवास करते समय तुम्हारी मृत्यु होगी।'

विरक्त होकर महाराजने संन्यास लेनेका निश्चय किया, किंतु कुन्ती देवीके आग्रहसे पत्नियोंके साथ वनमें तपस्वी जीवन व्यतीत करना उन्होंने स्वीकार कर लिया। संतान न होनेसे पुरुष पितृ-ऋणसे उऋण नहीं होता, यह सोचकर महाराज दुखी रहते थे। ऋषियोंने उन्हें देवांशसे पाँच पुत्रोंकी प्राप्तिका वरदान दिया था। ऋषिवाक्य सत्य होने चाहिये, यह सोचकर उन्होंने एक दिन कुन्तीसे कहा—'भद्रे! तुम सन्तति-प्राप्तिके लिये कोई यत्न करो।'

'आपकी आज्ञा होनेपर मैं जिस देवताका आह्वान करूँगी, उसीसे मुझे संतान होगी। आप आज्ञा दें, किस देवताका संकल्प करूँ?' दुर्वासाजीद्वारा मन्त्र-प्राप्तिका वर्णन सुनाकर कुन्तीजीने पूछा।

'मुझे धर्मात्मा पुत्र चाहिये। धर्मात्मा सन्तति कुलको पवित्र कर देती है। तुम धर्मराजके उद्देश्यसे मन्त्रका जप करो!' महाराजने आदेश दिया। आज्ञाका पालन हुआ। फलतः धर्मराजके अंशसे युधिष्ठिरका जन्म हुआ।

'क्षत्रिय जाति बलप्रधान है। परम बलवान् सन्ततिकी मैं कामना करता हूँ।' कुछ दिनों पश्चात् महाराजने पुनः आज्ञा की। इस बार कुन्तीने वायुदेवताके उद्देश्यसे जप किया। पवनके अंशसे उन्हें भीमसेन-जैसे पराक्रमी पुत्रकी प्राप्ति हुई।

'मैंने देवराजको प्रसन्न कर लिया है, तुम उनका स्मरण करो।' पाण्डुने सर्वश्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्तिके लिये एक पैरसे सूर्यके सम्मुख खड़े होकर उग्र तपस्या करके महेन्द्रको प्रसन्न कर लिया था। पतिकी आज्ञासे कुन्ती देवीने भी एक वर्षतक व्रत एवं विशेष नियमोंका पालन किया था। महाराजके आदेशसे पृथाके आह्वान करनेपर देवराज पधारे। उनके अंशसे परम पराक्रमी नरके अवतार अर्जुनका जन्म हुआ।

छोटी रानी माद्रीके अनुरोध करनेपर महाराजने पृथाको आदेश दिया, 'कल्याणी! माद्रीको भी सन्तति प्रदान करो!'

पतिकी आज्ञा शिरोधार्य करके उन्होंने मन्त्र बताकर माद्रीसे किसी देवताका ध्यान करनेको कहा। माद्रीके ध्यान करनेपर अश्विनीकुमारोंके अंशसे यमज नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति हुई।

एकान्तमें पर्वतपर माद्रीके साथ घूमते हुए पाण्डु अपनेको संयमित न रख सके। फलतः उनका शरीरान्त हो गया। बड़ी रानी होनेके कारण सती होनेका अधिकार कुन्तीजीको था, किंतु माद्रीका अनुरोध स्वीकार करके उन्होंने आजीवन पति-वियोगका कष्ट स्वीकार किया। माद्रीके सती हो जानेपर अपने और माद्रीके पुत्रोंका सर्वथा समान भावसे उन्होंने पालन किया। उस वनके तपस्वियोंने पाण्डुके पुत्रों तथा पत्नीको धृतराष्ट्रके समीप पहुँचा देना आवश्यक समझा। कुन्तीदेवी तपस्वियोंके साथ हस्तिनापुर आयीं। धृतराष्ट्रके आदेशसे यहीं पाण्डु एवं माद्रीकी और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न हुई।

× × ×

दुरात्मा दुर्योधनके कारण पाण्डवोंपर अनेक आपत्तियाँ आयीं। उसने भीमसेनको विष दे दिया और बाँधकर जलमें फेंक दिया। इससे भीमके बच जानेपर सभी पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छासे वारणावत नगरमें लकड़ी, लाख, तैलके संयोगसे इस प्रकारका भवन बनवाया, जो अग्निसे तुरंत भस्म हो जाय। धृतराष्ट्र अपने पुत्रसे सहमत थे। उन्होंने माताके साथ पाण्डवोंको वारणावत जानेकी आज्ञा दे दी। विदुरजीको कौरवोंके इस षड्यन्त्रका पहले ही पता लग गया था। उन्होंने उस भवनसे वनतक एक सुरंग बनवा दी थी। जाते समय युधिष्ठिरको संकेतसे उन्होंने सब बातें समझा दीं।

दुर्योधनका सेवक पुरोचन लाक्षा-भवनमें अग्नि लगानेको नियुक्त था। एक वर्ष पाण्डव वहाँ रहे। एक दिन रात्रिमें स्वयं अग्नि लगाकर वे माताके साथ सुरंगसे वनमें चले गये। पुरोचन उसी अग्निमें भस्म हो गया। दैवात् पाण्डवोंसे अन्न लेने एक भील-स्त्री अपने पाँच पुत्रोंके साथ उसी दिन आयी थी। सुरापानके कारण प्रमत्त हो वे लोग उसी भवनमें अनजाने सोते रह गये थे। उनके जले शवोंको देखकर लोगोंने समझ लिया कि माताके साथ पाण्डव अग्निमें जल गये।

वहाँसे बचकर घूमते हुए पाण्डव एकचक्रा-नगरी पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण-वेशमें एक ब्राह्मणके घर वे

ठहर गये। एक दिन चारों भाई कन्द-मूल लाने वनमें गये थे, केवल भीमसेन माताके पास थे। उसी समय उस घरके लोगोंको करुण-क्रन्दन करते सुनकर माताने कहा—'बेटा! हमलोग ब्राह्मणके घरमें रहते हैं। ये हमारा सत्कार करते हैं। मैं बराबर इनका कोई उपकार करनेकी बात सोचा करती हूँ। आज इनपर कोई विपत्ति आयी जान पड़ती है। यदि इनकी कुछ सहायता हो सके तो हम इनके ऋणसे उऋण हो जायँ।'

भीमसेनने उत्तर दिया—'मा! पता लगाओ! कठिन-से-कठिन कार्य करके भी हम ब्राह्मणकी सेवा करेंगे।'

कुन्तीने जाकर छिपकर देखा, घरका प्रत्येक सदस्य—ब्राह्मण, उसकी पत्नी तथा पुत्री—दूसरेकी रक्षाकी आवश्यकता बताकर अपनेको किसी राक्षसकी भेंट करनेकी बात कर रहे हैं। सभी रो रहे हैं। सभी अपना बलिदान करनेको उत्सुक हैं। सभी अपनेको अनावश्यक तथा दूसरोंको आवश्यक सिद्ध करना चाहते हैं। एक छोटा बच्चा सबके पास जाकर तोतली वाणीमें कह रहा है कि मुझे राक्षसके पास भेज दो। मैं उसे मार डालूँगा।

'आपके दुःखका कारण क्या है? हो सका तो मैं उसे दूर करनेका प्रयत्न करूँगी।' कुन्तीदेवीका हृदय इस दृश्यसे द्रवित हो गया था। उन्होंने प्रकट होकर पूछा। ब्राह्मणने बताया कि बक नामक कोई राक्षस समीप ही रहता है। उसके लिये दो-एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे प्रतिदिन दिये जाते हैं। जो यह सामग्री लेकर जाता है, उसे भी वह खा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय तो पता नहीं ग्रामके कितने लोगोंको वह खा जाय। प्रत्येक घरके लोग बारी-बारीसे अन्न ले जाते हैं। आज मुझ ब्राह्मणकी बारी है। किसी-न-किसी घरके सदस्यको राक्षसका भक्ष्य बनना होगा। कुटम्बमें किसीको घरपर रहना स्वीकार न होनेके कारण ब्राह्मणने सपरिवार राक्षसके यहाँ जाना निश्चित किया है, यह भी बताया।

'आप शोक छोड़ दें। राक्षससे छुटकारेका उपाय मेरे पास है। आपके एक ही पुत्र है और एक ही कन्या है। आपमेंसे किसीका जाना उचित नहीं। मेरे पाँच पुत्र हैं। उनमेंसे एक राक्षसका भोजन लेकर चला जायगा।' कुन्तीदेवीने दृढ़ स्वरमें कहा।

'हरे, हरे, मैं इस नश्वर शरीरके लिये अतिथिका वध कभी न होने दूँगा। मैं आत्महत्या तो कर नहीं रहा हूँ। वह राक्षस मुझे पत्नीके साथ भले खा ले, परंतु अपने बदलेमें एक अतिथि ब्राह्मणका बलिदान कभी नहीं करूँगा। मुझे अपने धर्मका ज्ञान है। आपका त्याग, कुलीनता एवं धर्म प्रशंसनीय हैं, परंतु मैं अपने धर्मका नाश न करूँगा।' वह धर्मात्मा ब्राह्मण इस प्रस्तावसे ही काँप गया।

'मैं ब्राह्मणकी रक्षा करनेका दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ। आप निश्चिन्त रहें! राक्षस चाहे जितना बलवान् हो, वह मेरे पराक्रमी मन्त्रसिद्ध पुत्रका कोई अनिष्ट न कर सकेगा। मेरे पुत्रके हाथों अनेक विशालकाय राक्षस मारे जा चुके हैं। आपसे केवल इतनी प्रार्थना है कि इस बातको गुप्त रखें। लोग मेरे पुत्रोंको पीछे तंग न करें, यह मैं चाहती हूँ।' कुन्तीजीके दृढ़ निश्चयके सामने ब्राह्मणको झुकना पड़ा। भीमसेन अन्न लेकर गये। वहाँ जाकर गाड़ीमें जुते भैंसोंको तो पीटकर उन्होंने गाँवमें भगा दिया और अन्नका स्वयं प्रसाद पा लिया। राक्षस बक लाल-पीला होता आया सही, किंतु युद्धमें पछाड़कर वृकोदर (भीमसेन)-ने उसे सीधे यमलोक भेज दिया। माता कुन्तीकी कृपासे उस गाँवके निवासियोंकी विपत्ति सदाके लिये दूर हो गयी।

यहींसे पाण्डव पांचाल गये। स्वयंवरमें अर्जुनने द्रौपदीको प्राप्त किया। 'मा! हम एक भिक्षा लाये हैं।' राजकुमारीको लाकर अर्जुनने कहा। बिना देखे ही माताने भीतरसे कह दिया—पाँचों भाई उसे बाँट लो! फलतः पांचाली पाँचों भाइयोंकी पत्नी हुई। पता लगनेपर धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पाण्डवोंको बुला लिया।

आधा राज्य देकर इन्द्रप्रस्थ उनकी राजधानी कर दी। माताके साथ पाण्डवोंका वहाँ निवास हुआ।

× × ×

कंसारि श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे शान्तिदूत होकर हस्तिनापुर पधारे। दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया कि युद्धके बिना सूईकी नोक रखनेभर भूमि न दूँगा। जब श्रीकृष्ण पुनः विराटनगर लौटने लगे तो माता कुन्तीने अपने पुत्रोंके लिये सन्देश दिया—'युधिष्ठिर! क्षत्रियोंको बाहुबलसे आजीविका चलानी चाहिये। राजासे सुरक्षित रहकर प्रजा जो धर्म करती है, उसका चतुर्थांश राजाको प्राप्त होता है। दण्डनीतिका ठीक प्रयोग करके लोगोंको वह धर्ममार्गमें प्रवृत्त करता है। तुम जिस सन्तोषको लिये बैठे हो, उसे तुम्हारे पिता-पितामहने कभी आदर नहीं दिया। यह याचना तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं। भिक्षा ब्राह्मण माँगते हैं, वैश्य कृषि-वाणिज्यसे और शूद्र सेवासे आजीविका चलाते हैं। तुम क्षत्रिय हो, भुजबलसे राज्य प्राप्त करो। यही तुम्हारी धर्मसम्मत आजीविका है। तुम-सा पुत्र पाकर भी मैं दूसरोंके टुकड़ोंपर आश्रित हूँ, यह कितने कष्टकी बात है।'

द्यूतमें हारकर पाण्डवोंके वन जानेपर माता कुन्ती विदुरजीके यहाँ रहती थीं। वे अपना पूरा समय भजन, पूजन तथा व्रतोंमें व्यतीत करती थीं। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा था। अपने सब कार्य वे स्वयं कर लिया करती थीं। उन्होंने श्रीकृष्णको विदुलाका आख्यान सुनाकर फिर कहा—'अर्जुनसे कहना कि उससे मुझे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। आकाशवाणीने उसके जन्मके समय कहा था कि 'वह इन्द्रके समान पराक्रमी होगा। भीमके साथ रहकर शत्रुओंका जय करेगा। सारे कौरवोंको मारकर पितृराज्य प्राप्त करेगा।' मेरी इच्छा है कि देवताओंकी वाणी सत्य हो। क्षत्राणियाँ जिस कामके लिये पुत्र उत्पन्न करती हैं, उसका समय आ गया।'

श्रीकृष्णसे उन्होंने पुत्रोंको उत्साहित करने तथा रक्षा करनेका अनुरोध किया।

× × ×

'बेटा! कर्णको भी जलांजलि दो!' युद्धमें मारे गये सभी स्वजनोंको धर्मराज तिलांजलि दे रहे थे। रोती हुई माता कुन्तीने उनसे अनुरोध किया।

'मा! वह सूतपुत्र सदा हमसे द्वेष करता रहा। वह हमारे गोत्रका भी नहीं। हम उसे जल नहीं देंगे।' युधिष्ठिरने अस्वीकार किया।

'तुम नहीं जानते, वे महाभाग तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता थे!' कुन्तीने कर्णके जन्मका परिचय दिया।

'हाय! हम यह पहले जानते तो इतना अनर्थ क्यों होता? हम उनके चरणोंमें सिंहासन निवेदित करके स्वयं सेवक बने रहते। हमने अपने ही ज्येष्ठ भ्राताको मार डाला! मा! तूने यह बात मुझसे क्यों नहीं कही? धर्मराज अत्यन्त शोकार्त होकर रोते हुए बार-बार पूछने लगे।'

'पुत्र! युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व ही मैं उन सूर्यनन्दनके समीप गयी थी। वे उस समय जलमें खड़े होकर सन्ध्या कर रहे थे। उन्होंने अपनेको अधिरथका पुत्र कहकर मुझे प्रणाम किया। मैंने उन्हें बताया कि वे मेरे पुत्र हैं। भगवान् सूर्यने स्पष्ट वाणीमें मेरा समर्थन किया। मैंने अनुरोध किया कि वे पाण्डवोंके पक्षमें आ जायँ। हाय! मेरे पुत्रने अधिरथके उपकारोंका स्मरण करके इस सत्यको स्वीकार करके भी मानना नहीं चाहा। उसने किसी भी प्रकार दुर्योधनका पक्ष छोड़ना स्वीकार नहीं किया। उसने मुझसे वचन ले लिया कि मैं इस बातको छिपाये रहूँगी। माताका आदर करनेके लिये उसने प्रतिज्ञा की कि युद्धमें अर्जुनके अतिरिक्त किसी पाण्डवको मारनेमें समर्थ होकर भी वह नहीं मारेगा। अपनी प्रतिज्ञाका अन्ततक उसने निर्वाह किया।' माता कुन्तीने रोते हुए बताया।

'माता! तुमने यह बात छिपाकर हमारे हाथों बहुत बड़ा अनर्थ करा डाला। मैं शाप देता हूँ कि अबसे

स्त्रियाँ कोई बात छिपा नहीं सकेंगी।' शोकार्त धर्मराजने शाप दिया। विधिपूर्वक उन्होंने कर्णकी अन्त्येष्टि क्रिया की।

× × ×

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

'हे जगद्गुरु! हे सर्वेश्वर! मुझपर बार-बार विपत्तियाँ आयें; क्योंकि उनमें आपका दर्शन, स्मरण होता है, जो मोक्षको देनेवाला है।' माता कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे यह वरदान माँगा, जब वे हस्तिनापुरसे युद्धकी समाप्तिके पश्चात् द्वारका जाने लगे। विपत्तिका वरदान! माता कुन्तीने बराबर विपत्तियोंमें रहकर यह अनुभव कर लिया था कि भगवान्‌का सच्चा स्मरण विपत्तिमें ही होता है।

राज्य प्राप्त करके पाण्डवोंने धृतराष्ट्रका वही सम्मान रखा, जो पहले था। धृतराष्ट्रकी आज्ञासे ही वे सब कार्य करते थे। पन्द्रह वर्षोंतक पाण्डवोंने धृतराष्ट्रके संरक्षणमें राज्यकार्य किया। कुन्तीजीने सदा गान्धारीके अनुकूल आचरण किया और उनकी सेवामें लगी रहीं। अन्तमें धृतराष्ट्रने वनमें सपत्नीक रहकर तपस्या करनेका निश्चय किया। महर्षि व्यासके समझानेपर युधिष्ठिरने उनके वनवासके लिये सम्मति दे दी। अन्तमें पुत्रोंका श्राद्ध करके धृतराष्ट्र वनको चले। पाण्डव, सभी पाण्डवोंकी पत्नियाँ और परिजन पहुँचाने चले। माता कुन्ती गान्धारीका हाथ पकड़े आगे-आगे चल रही थीं। युधिष्ठिर, भीम आदिने मातासे लौटनेके लिये बहुत प्रार्थना की, पर कुन्ती अपने निश्चयपर अटल रहीं।

धृतराष्ट्र तथा गान्धारीने भी कुन्तीको लौटनेका आदेश दिया, अनेक प्रयत्न किये, किंतु असफल हुए। सती कुन्ती वनवासका निश्चय कर चुकी थीं। गान्धारी उन्हें किसी प्रकार लौटा न सकीं। वनमें कुशकी चटाईपर गान्धारीके साथ माता कुन्ती रात्रिमें सो रहती थीं। वही जल तथा कन्द-मूल लाती थीं। आश्रम भी वही स्वच्छ करती थीं। सब प्रकारसे वे धृतराष्ट्र तथा गान्धारीकी सावधानीपूर्वक सेवा करती थीं। स्वयं अनेक प्रकारके व्रत-उपवास किया करती थीं। तीनों समय स्नान करके पतिका स्मरण करतीं। इस प्रकार वनमें अपना समय वे व्यतीत करने लगीं।

वनमें युधिष्ठिर एक बार सपरिवार पूरे समाजके साथ मातृदर्शनके लिये पधारे। इसी समय वहाँ भगवान् व्यास भी आये। धृतराष्ट्रने भगवान् व्याससे अपने मृत पुत्रोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की। माता कुन्तीने भी कर्णको देखना चाहा। योगबलसे व्यासजीने सभी मृत पुरुषोंको दिखा दिया। पूरी रात्रि वे मृतजन पाण्डवोंके साथ मिलते-जुलते तथा क्रीड़ा करते रहे। प्रातः गंगामें वे अदृश्य हो गये। भगवान् व्यासने आदेश दिया— 'जो स्त्रियाँ पतियोंके समीप जाना चाहें, वे गंगामें डुबकी लगा लें।'

पाण्डवोंके हस्तिनापुर लौट आनेपर कुन्तीजी गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके साथ हरिद्वार चली गयीं। वहाँ तीनों कठोर व्रतोंका आचरण करने लगे। एक दिन वनमें दावाग्नि लगी देख तीनोंने आसन लगाया। योगके द्वारा प्राणनिरोध करके उन्होंने शरीर छोड़ दिया। उनका वह शरीर दावाग्निकी भेंट हो गया।

देवी कुन्तीजीके विषयमें श्रीप्रियादासजी एक कवित्तमें इस प्रकार कहते हैं—

कुन्ती करतूति ऐसी करै कौन भूत प्राणी मांगति विपति जासों भाजैं सब जन हैं।
देख्यो मुख चाहो लाल देखे बिन हिये शाल हूजिये कृपाल नहीं दीजै वास वन हैं॥
देखि विकलाई प्रभु आँखि भर आई फेरि घर ही को लाई कृष्ण प्राण तन धन हैं।
श्रवण वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो भयो वपु न्यारो अहो यही साँचो पन हैं॥ ७०॥

अर्थात् इस संसारमें ऐसा कौन प्राणी है, जो श्रीकुन्तीजीके समान भगवान्‌में प्रीति करे। जिस विपत्तिसे सभी लोग दूर भागते हैं, उसे कुन्तीजीने भगवान्‌से माँगा कि मुझपर सदा विपत्ति रहे, जिसमें आपका दर्शन होता है। हे लालन! मैं सदा तुम्हारे मुखारविन्दका दर्शन करना चाहती हूँ, बिना दर्शनोंके हृदयमें शूल लगनेके समान दुःख होता है या तो आप निकट रहकर सदा दर्शन दीजिये, नहीं तो विपत्तिरूप वनवास दीजिये। ऐसी व्याकुलता देखकर भगवान्‌की आँखोंमें आँसू आ गये। द्वारकाको प्रस्थान करते हुए श्रीकृष्णको फिर घरको ही लौटा लायीं। श्रीकृष्ण कुन्तीके तन, धन और प्राण थे। भूमिका भार उतारकर भगवान् निजधामको चले गये—यह सुनते ही उनके वियोगमें कुन्तीजीसे थोड़ा भी नहीं रहा गया। तुरंत शरीर छूट गया। वे भगवद्धामको चली गयीं। धन्य है, यही सच्चा प्रेमप्रण है॥ ७०॥

श्रीद्रौपदीजी

द्रोणाचार्यको गुरुदक्षिणा देनेके लिये अर्जुनने द्रुपदको पराजित कर दिया। यद्यपि आचार्य द्रोणने द्रुपदको पाशमुक्त करके केवल आधा राज्य लेकर मित्र बना लिया, परंतु वे इस अपमानको भूल न सके। द्रुपदने द्रोणसे बदला लेनेके लिये यज्ञ करके संतान-प्राप्तिका निश्चय किया। कल्माषी नगरीके तपस्वी, वेदज्ञ ब्राह्मण उपयाजकी उन्होंने अर्चना की। उनको प्रसन्न करके प्रार्थना की कि द्रोणको मारनेवाले पुत्रकी मुझे प्राप्ति हो, ऐसा यज्ञ करायें। उपयाजने प्रार्थना अस्वीकार कर दी। महाराजने पुनः एक वर्ष सेवा की। इससे प्रसन्न होकर उन विप्रदेवने कहा—'मैंने अपने अग्रजको भूमिमें पड़ा पका फल उठाकर ग्रहण करते एक बार देखा है। मैंने इससे समझा है कि वे द्रव्यकी शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करते। आप उनसे प्रार्थना करें।'

महाराज द्रुपदने उनके अग्रज याजको सेवासे प्रसन्न किया। दस करोड़ गायोंकी दक्षिणाका प्रलोभन थोड़ा नहीं था। याजने महाराजके नगरमें आकर सविधि यज्ञ कराया। यज्ञकी पूर्णाहुतिके समय उससे मुकुट, कुण्डल, कवच, त्रोण तथा धनुष धारण किये एक कुमार प्रकट हुआ। इस कुमारका नाम याजने धृष्टद्युम्न रखा। महाभारतके युद्धमें पाण्डवपक्षका पूरे युद्धमें यही कुमार सेनापति रहा। यज्ञकुण्डसे एक कुमारी भी प्रकट हुई। वह युवती थी। उसका वर्ण श्याम था। उसके समान रूपवती दूसरी स्त्री हो नहीं सकती। उसके शरीरसे प्रफुल्ल नील कमलकी गन्ध निकलकर कोसभरतक दिशाओंको सुरभित कर रही थी। वर्णके कारण याजने उसका नाम 'कृष्णा' रखा। इस रूपमें ऋषिकुमारी गुणवती अग्निवेदीसे प्रकट हुई थीं और महाकालीने अंशरूपसे क्षत्रिय-विनाशके लिये उनमें प्रवेश किया था। महाराज द्रुपदकी महारानीने याजसे प्रार्थना की कि ये दोनों मुझे ही माता समझें और याजने 'एवमस्तु' कह दिया।

× × ×

एकचक्रा नगरीमें ही पाण्डवोंको अपने आश्रयदाता ब्राह्मणसे ज्ञात हो गया कि महाराज द्रुपद अपनी पुत्रीका स्वयंवर कर रहे हैं। भगवान् व्यासने आकर आदेश दिया और उसे स्वीकारकर पाण्डव ब्राह्मणवेषमें पांचाल पहुँचे। वहाँ वे एक कुम्हारके घर ठहरे। स्वयंवर-सभामें भी वे ब्राह्मणोंके साथ बैठे। उनके वेष ब्राह्मणोंके समान थे। महाराज द्रुपदने सभाभवनमें ऊपर एक यन्त्र बना रखा था। यन्त्र घूमता रहता था। उसके मध्यमें एक मत्स्य बना था। नीचे तैलपूर्ण कड़ाह था। तैलमें छाया देखते हुए घूमते चक्रके मध्यस्थ मत्स्यको पाँच बाणोंसे मारना था। जो ऐसा कर सके, उसीसे द्रौपदीके विवाहकी घोषणा थी। इस कार्यके लिये जो सुदीर्घ धनुष रखा था, वह इतना कठोर और भारी था कि बहुत-से राजा तो उसे उठानेमें ही असमर्थ हो गये। जरासन्ध, शिशुपाल, शल्य उसपर ज्या चढ़ानेके प्रयत्नमें दूर गिर पड़े। केवल कर्णने धनुष चढ़ाया। वह बाण मारने ही जा रहा था कि द्रौपदीने पुकारकर कहा—'मैं सूतपुत्रका वरण नहीं करूँगी।'

अपमानसे तिलमिलाकर सूर्यकी ओर देखते हुए कर्णने धनुष रख दिया।

राजाओंके निराश होनेपर अर्जुन उठे। उन्हें ब्राह्मण जानकर विप्रवर्गने प्रसन्नता प्रकट की। धनुष चढ़ाकर अर्जुनने मत्स्यवेध किया। द्रौपदीने जयमाल डाली। राजाओंने एक ब्राह्मणसे द्रौपदीका विवाह होते देख द्रुपद और पाण्डवोंपर आक्रमण कर दिया। अर्जुनने धनुष चढ़ा लिया। एक वृक्ष लेकर भीमसेन टूट पड़े। अर्जुनसे युद्ध करके कर्णने शीघ्र समझ लिया कि वे अजेय हैं। उन्हें ब्राह्मण समझकर वह युद्धसे हट गया। उधर भीमने शल्यको दे पटका। इससे सभी नरेश युद्धसे पृथक् होने लगे। श्रीकृष्णने पाण्डवोंको पहचान लिया था। अतः उन्होंने समझा-बुझाकर राजाओंको शान्त कर दिया।

'मा! हम एक भिक्षा लाये हैं।' द्रौपदीको लेकर घर पहुँचनेपर अर्जुनने कहा।

'पाँचों भाई उसे बाँट लो।' बिना देखे ही घरमेंसे माता कुन्तीने कह दिया।

कुन्तीने बाहर आकर द्रौपदीको देखा तो बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे युधिष्ठिरसे अनुनय करने लगीं। 'मैंने कभी मिथ्याभाषण नहीं किया है। मेरे इस वचनने मुझे धर्मसंकटमें डाल दिया। बेटा! मुझे अधर्मसे बचा।'

'धर्मपूर्वक तुमने पांचालीको प्राप्त किया है, अतः तुम इससे विवाह करो।' धर्मराजने अर्जुनसे कहा।

'बड़े भाईके अविवाहित रहते छोटे भाईका विवाह करना अधर्म है। आप मुझे अधर्ममें प्रेरित न करें। द्रौपदीके साथ आपका विवाह ही उचित है। अर्जुनने नम्रतापूर्वक प्रतिवाद किया। युधिष्ठिरने देखा कि सभी भाई द्रौपदीके अलौकिक सौन्दर्यपर मुग्ध हैं। सभी उसे प्राप्त करना चाहते हैं। उन्होंने कहा—'माताके सत्यकी रक्षाके लिये हम पाँचों भाई इससे विवाह करेंगे। यह महाभागा हम सबकी समान रूपसे पत्नी होगी।'

श्रीकृष्णने आकर पाण्डवोंसे साक्षात् किया और उनसे सत्कृत होकर द्वारका गये। महाराज द्रुपदने पाण्डवोंके पीछे-पीछे धृष्टद्युम्नको भेजा था, उनका परिचय प्राप्त करनेके लिये। धृष्टद्युम्नने गुप्तरूपसे निरीक्षण करके लौटकर पितासे बताया कि लक्षणोंसे वे पाँचों भाई शूरवीर क्षत्रिय जान पड़ते हैं। महाराजके आमन्त्रणपर माताके साथ पाँचों भाई राजसदन गये। महाराजने उनका विविध प्रकारसे सत्कार किया। वे परिचय पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनकी चिर अभिलाषा कि उनकी कन्या अर्जुनको प्राप्त हो, पूर्ण जो हुई थी। द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी पत्नी हो, यह एक धर्म और समाजके विरुद्ध बात थी, जो किसी प्रकार द्रुपदको स्वीकार नहीं थी। भगवान् व्यासने आकर द्रौपदीके पूर्वजन्मका चरित बताकर समझाया। महाराज द्रुपदने स्वीकार किया। विधिपूर्वक क्रमशः एक-एक दिन पाँचों भाइयोंने पांचालीका पाणिग्रहण किया।

चरोंद्वारा सभी राजाओंको पता लग चुका था कि लाक्षाभवनसे पाण्डव जीवित निकल गये हैं और द्रुपदराजतनयाका विवाह उन्हींसे हुआ है। कौरवोंने यह समाचार पाकर पहले तो कर्णकी सलाहसे आक्रमण करना चाहा, किंतु द्वारकासे ससैन्य श्रीकृष्ण सहायता कर सकते हैं और राज्य दिलाने आ सकते हैं—भीष्मपितामहके यह समझानेपर धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर सम्मानपूर्वक उन्हें बुला लिया। एक साथ रहनेसे संघर्ष होगा, इस भयसे आधा राज्य देकर युधिष्ठिरकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ बना दी गयी। माता कुन्तीके साथ पाण्डव वहाँ रहने लगे।

देवर्षि नारदने पाण्डवोंको सुन्द-उपसुन्दकी कथा सुनाकर समझाया कि पत्नीके कारण भाइयोंका प्रगाढ़ प्रेम भी शत्रुतामें परिवर्तित हो जाता है। पाण्डवोंने देवर्षिके उपदेशसे यह नियम किया कि प्रत्येक भाई एक पक्षतक द्रौपदीके साथ रहे। एक भाई द्रौपदीके साथ जब अन्तःपुरमें हो और उस समय दूसरा भाई अन्तःपुरमें प्रवेश करे तो वह प्रायश्चित्तस्वरूप बारह वर्ष तीर्थाटन करे। एक बार

एक ब्राह्मणकी गौ दस्यु बलात् ले जा रहे थे। रक्षाके लिये ब्राह्मणने पुकार की। गाण्डीव अन्त:पुरमें था और वहाँ धर्मराज द्रौपदीके साथ थे। अर्जुनने गाण्डीव लाकर गौओंकी रक्षा की और नियमभंगके कारण स्वेच्छासे वे बारह वर्ष तीर्थाटन करते रहे।

श्रीप्रियादासजी देवी द्रौपदीका स्मरण करते हुए कहते हैं—

द्रौपदी सती की बात कहै कौन ऐसो पटु खैंचत ही पट पट कोटि गुने भये हैं।
द्वारका के नाथ जब बोली तब साथ हुते द्वारका सों फेरि आये भक्त वाणी नये हैं॥
गये दुर्वासा ऋषि वन में पठाये नीच धर्म पुत्र बोले विनय आवै पन लये हैं।
भोजन निवारि तिया आइ कही सोच पर्‌यो चाहै तनु त्याग्यौ कह्यो कृष्ण कहूँ गये हैं॥ ७१॥

× × ×

श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपासे महाराज युधिष्ठिरने मयद्वारा निर्मित राजसभा प्राप्त की। दिग्विजय हुई और राजसूय यज्ञ करके वे चक्रवर्ती सम्राट् हो गये। यज्ञ समाप्त हो जानेपर एक दिन दुर्योधन राजसभामें आ रहा था। मयके अद्भुत शिल्पके कारण भ्रान्त होकर उसने स्थलको जल समझा और वस्त्र ऊपर उठा लिये। आगे जलकुण्डको स्थल समझकर बढ़ा जा रहा था कि उसमें गिर पड़ा। सभी वस्त्र भीग गये। भीम तथा द्रौपदीको हँसी आ गयी। दुर्योधनको अत्यन्त अपमानका अनुभव हुआ। वह उलटे पैर लौट गया। अपमानका बदला लेनेके लिये अपने मामा शकुनिसे मन्त्रणा करके उसने धर्मराजको जुआ खेलनेका निमन्त्रण दे दिया। धृतराष्ट्रने जुआ खेलनेकी आज्ञा दे दी। द्यूत प्रारम्भ हुआ। शकुनि पासे फेंक रहा था। कपटपूर्ण पासोंके जालमें धर्मराज हारते गये। धन, गौएँ, राज्य, कोष—सभी हारनेपर जुएके उन्मादमें, अगली बाजी जीतनेकी आशामें वे अपने एक-एक भाइयोंको लगाते गये दाँवपर; अन्तमें अपनेको हार गये। कर्ण, दुर्योधनादिने प्रोत्साहित किया और द्रौपदी दाँवपर लगीं। बाजी तो हारनी थी ही।

दुर्योधनने दूतको आदेश दिया—'जा और द्रौपदीको यहाँ पकड़ ला। अब वह हमारी दासी है।' द्रौपदी रजस्वला थीं, यह सुनकर तो उनके दु:खका पार नहीं रहा। दूत उन्हें न ला सका तो दु:शासन बड़े भाईके आदेशसे गया। भागकर गान्धारीके यहाँ जानेपर भी वह दुष्ट उनके राजसूययज्ञके अवभृथ-स्नानसे पवित्र केशोंको पकड़कर घसीटता हुआ राजसभामें ले आया। वे अत्यन्त करुण स्वरसे विलाप कर रही थीं। कर्णने उन्हें अनेक पतियोंकी पत्नी और पण्या कहकर अपमानित किया। पाण्डव मस्तक नीचे किये बैठे थे। द्रौपदीकी पुकार और धिक्कार उनके कान सुननेमें असमर्थ-से थे।

'धर्मराजने पहले अपनेको दाँवपर हारा या मुझे? पहले अपनेको दाँवपर हार जानेके पश्चात् मुझे दाँवपर लगानेका उन्हें क्या अधिकार रह गया था?' बड़े करुणस्वरोंमें द्रौपदीने सबसे प्रार्थना की। भीष्म, द्रोण, कृप आदि सबने मस्तक झुका लिया था। दुर्योधनद्वारा अपमानित होनेके भयसे सब मौन हो रहे थे।

'दु:शासन! देखते क्या हो! इसका वस्त्र उतार लो और निर्वस्त्र करके यहाँ बैठा दो।' दुर्योधनने अपनी वाम जंघा वस्त्रहीन करके दिखायी। कर्णने स्वयंवर-सभाके अपमानका स्मरण करते हुए व्यंग्य करके दुर्योधनका समर्थन किया। दु:शासनने साड़ीका अंचल पकड़ लिया। अब क्या हो? अबलाकी लज्जा क्या इस प्रकार नष्ट हो जायगी? द्रौपदीने कातर होकर चारों ओर देखा। सबके मस्तक नीचे झुके थे। कर्ण प्रोत्साहन दे रहा था। हाथोंसे वस्त्र दबानेका प्रयत्न व्यर्थ था। अबलाके हाथ कहाँतक उन्हें रोक सकते थे। दस सहस्र हाथियोंके बलवाला दु:शासन साड़ीको खींचने लगा। द्रौपदीने नेत्र बन्द कर लिये। उनसे अश्रुवृष्टि हो रही थी। दोनों हाथ ऊपर उठाकर उन्होंने पुकारा—

'हे कृष्ण! हे द्वारकानाथ! हे करुणावरुणालय! दौड़ो! कौरवोंके समुद्रमें मेरी लज्जा डूब रही है। रक्षा करो! रक्षा करो!'

द्रौपदीको शरीरका भान भूल गया। दीनबन्धुका वस्त्रावतार हो चुका था। दु:शासन पसीने-पसीने हो रहा था। रंग-बिरंगे वस्त्रोंका पर्वत लग गया था। उस दस हाथकी साड़ीका ओर-छोर नहीं था। सब एकटक आश्चर्यसे देख रहे थे।

'महाराज! बहुत हो गया! शीघ्र द्रौपदीको सन्तुष्ट कीजिये। नहीं तो श्रीकृष्णके चक्रके प्रकट होकर आपके पुत्रोंको काट डालनेमें अधिक विलम्ब नहीं जान पड़ता।' विदुरने अन्धे राजा धृतराष्ट्रको पूरा वर्णन सुनाया। धृतराष्ट्र भयसे काँप गये। उन्होंने प्रेमसे द्रौपदीको समीप बुलाया। पुत्रोंके अपराधके लिये क्षमा-याचना की। पाण्डवोंको द्रौपदीके साथ दासत्वसे मुक्त करके हारा हुआ राज्य तथा धन लौटा दिया।

'जो हार जाय, वह भाइयों तथा स्त्रीके साथ बारह वर्ष वनमें रहे। वनवासके अन्तिम वर्षमें वह गुप्त रहे। यदि उसका पता लग जाय तो पुनः बारह वर्ष वनमें रहे।' दुर्योधनने पिताकी उदारतासे दुखी होकर किसी प्रकार केवल एक बाजी और खेलनेकी आज्ञा प्राप्त की। युधिष्ठिर इस नियमपर पुनः द्यूतमें हार गये। माता कुन्तीको विदुरके घर छोड़कर वे द्रौपदीके साथ वनमें चले गये। दुखी, उदास पाण्डवोंके साथ प्रजाके बहुत-से लोग साथ चले। वे तो किसी प्रकार लौटा दिये गये, किंतु कुछ ब्राह्मण ग्यारह वर्षतक उनके साथ वनमें रहे। गुप्तवास प्रारम्भ होनेपर वे विदा हुए।

× × ×

राजसूय यज्ञकी समाप्तिपर ही श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका चले गये थे। शाल्वने अपने कामचारी विमान सौभके द्वारा उत्पात मचा रखा था। पहुँचते ही केशवने शाल्वपर आक्रमण किया। सौभको गदाघातसे चूर्ण करके, शाल्व तथा उसके सैनिकोंको यमराजके घर भेजकर जब वे द्वारकामें लौटे तो उन्हें पाण्डवोंके जुएमें हारनेका समाचार मिला। वे सीधे हस्तिनापुर आये और वहाँसे जहाँ वनमें पाण्डव अपनी स्त्रियों, बालकों तथा प्रजावर्ग एवं विप्रोंके साथ थे, पहुँचे। पाण्डवोंसे मिलकर उन्होंने कौरवोंके प्रति रोष प्रकट किया।

द्रौपदीने श्रीकृष्णसे वहाँ कहा—'मधुसूदन! मैंने महर्षि असित और देवलसे सुना है कि आप ही सृष्टिकर्ता हैं। परशुरामजीने बताया था कि आप साक्षात् अपराजित विष्णु हैं। आप ही यज्ञ, ऋषि, देवता तथा पंचभूतस्वरूप हैं। जगत् आपके एक अंशमें स्थित है। त्रिलोकीमें आप व्याप्त हैं। निर्मलहृदय महर्षियोंके हृदयमें आप ही स्फुरित होते हैं। आप ही ज्ञानियों तथा योगियोंकी परम गति हैं। आप विभु हैं, सर्वात्मा हैं, आपकी शक्तिसे ही सबको शक्ति प्राप्त होती है। आप ही मृत्यु, जीवन एवं कर्मके अधिष्ठाता हैं। आप ही परमेश्वर हैं। मैं अपना दु:ख आपसे न कहूँ तो किससे कहूँ?'

द्रौपदीके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। वे कह रही थीं—'मैं महापराक्रमी पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहन और आपकी सखी हूँ। कौरवोंकी भरी सभामें मेरे केश पकड़कर मुझे घसीटा गया। मैं एकवस्त्रा रजस्वला थी, मुझे नग्न करनेका प्रयत्न किया गया। ये अर्जुन और भीम मेरी रक्षा न कर सके। इसी नीच दुर्योधनने भीमको विष देकर जलमें बाँधकर फेंक दिया था। इसी दुष्टने पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें भस्म करनेका प्रयत्न किया। इसी पिशाचने मेरे केश पकड़कर घसिटवाया और आज भी वह जीवित है।'

पांचाली फूट-फूटकर रोने लगीं। उनकी वाणी अस्पष्ट हो गयी। वे श्रीकृष्णको उलाहना दे रही थीं—'तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निसे उत्पन्न गौरवमयी स्त्री हूँ, तुमपर मेरा पवित्र अनुराग है, तुमपर मेरा अधिकार है और रक्षा करनेमें तुम समर्थ हो। तुम्हारे रहते मेरी यह दशा हो रही है।'

भक्तवत्सल और न सुन सके। उन्होंने कहा—'कल्याणी! जिनपर तुम रुष्ट हुई हो, उनका जीवन समाप्त हुआ समझो। उनकी स्त्रियाँ भी इसी प्रकार रोयेंगी और उनके अश्रु सूखनेका मार्ग नष्ट हो चुका रहेगा। थोड़े दिनोंमें अर्जुनके बाणोंसे गिरकर वे शृगाल और कुत्तोंके आहार बनेंगे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम सम्राज्ञी बनकर रहोगी। आकाश फट जाय, समुद्र सूख जायँ, हिमालय चूर हो जाय, पर मेरी बात असत्य न होगी।'

द्रौपदीने अर्जुनकी ओर देखा। अर्जुनने अपने सखाकी बातका समर्थन किया। श्रीकृष्ण अपने साथ सुभद्रा और अभिमन्युको लेकर द्वारका गये। धृष्टद्युम्न द्रौपदीके पुत्रोंको पांचाल ले गये। सभी आगत राजा अपने-अपने देशोंको लौट गये। विनयपूर्वक धर्मराजने प्रजावर्गको लौटा दिया।

× × ×

वनमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने सत्यभामाजीके साथ आये थे। एकान्तमें सत्यभामाने कृष्णासे पूछा—'बहन! तुम्हारे पति लोकपालोंके समान शूर हैं। तुम ऐसा क्या व्यवहार करती हो कि वे तुमपर कभी रुष्ट नहीं होते? वे तुमसे सदा प्रसन्न ही रहते हैं। वे सदा तुम्हारे वशमें क्यों रहते हैं? मुझे भी तुम कोई ऐसा व्रत, तप, तीर्थ, मन्त्र, ओषधि, विद्या, जप, हवन या उपचार बताओ, जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे वशमें रहें।'

द्रौपदीने कुछ स्नेह-रोषपूर्वक कहा—'सत्ये! तुम तो मुझसे दुराचारिणी स्त्रियोंकी बात पूछ रही हो। मैं ऐसी स्त्रियोंकी बात क्या जानूँ। मुझपर ऐसी शंका करना तुम्हारे लिये उचित नहीं। जब पति जान लेता है कि पत्नी उसे वशमें करनेके लिये मन्त्र-तन्त्र कर रही है तो वह उससे डरकर दूर रहने लगता है। इस प्रकार चित्तमें उद्वेग होता है और तब शान्ति कैसे रह सकती है? तन्त्र-मन्त्रादिसे कभी पति वशमें नहीं किया जा सकता! इससे तो अनर्थ ही होते हैं। धूर्तलोग स्त्रियोंद्वारा पतिको ऐसी वस्तुएँ खिला देते हैं, जिससे भयंकर रोग हो जाते हैं। पतिके शत्रु इसी बहाने विष दिला देते हैं। ऐसी स्त्रियाँ मूर्खतावश पतिको जलोदर, कुष्ठ, अकालवार्धक्य, नपुंसकता, उन्माद या बधिरता-जैसे रोगोंका रोगी बना देती हैं। पापियोंकी बातें माननेवाली पापी नारियाँ इस प्रकार पतिको अनेक कष्ट देती हैं। साध्वी स्त्रीको भूलकर भी ऐसा प्रयत्न नहीं करना चाहिये।'

द्रौपदीने इसके पश्चात् अपनी चर्या बतायी—'मैं अहंकार और क्रोध छोड़कर पाण्डवोंकी तथा उनकी दूसरी स्त्रियोंकी सावधानीसे सेवा करती हूँ। कभी ईर्ष्या नहीं करती। केवल सेवाके लिये मनको वशमें करके पतियोंके अनुकूल रहती हूँ। न तो अभिमान करती हूँ और न कभी कटुभाषण। असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, बुरे स्थानपर बैठती नहीं, बुरी बातोंपर दृष्टि नहीं देती और पतियोंका दोष न देखकर उनके संकेतोंके अनुसार व्यवहार करती हूँ। कितना भी सुन्दर पुरुष हो, मेरा मन पतियोंके अतिरिक्त उधर नहीं जाता। पतियोंके स्नान-भोजन किये बिना मैं स्नान या भोजन नहीं करती। उनके बैठ जानेपर ही बैठती हूँ और उनके घरमें आनेपर उठकर आदरपूर्वक उनको आसन तथा जल देती हूँ। घरके बर्तनोंको स्वच्छ रखती हूँ, सावधानीसे रसोई बनाती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ। घरको स्वच्छ रखती हूँ तथा गुप्तरूपसे अन्नका संचय रखती हूँ। कभी किसीका तिरस्कार नहीं करती, दुष्टा स्त्रियोंके पासतक नहीं जाती। द्वारपर बार-बार नहीं खड़ी होती, कूड़ा फेंकनेके स्थानपर अधिक नहीं ठहरती। पतिसे पृथक् रहना मुझे पसंद नहीं। पतियोंके घरसे कार्यवश बाहर जानेपर पुष्प, चन्दनका उपयोग छोड़कर व्रत करती हूँ। मेरे पति जिन वस्तुओंको खाते, पीते या सेवन नहीं करते, उनसे दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके शास्त्रविहित सब व्रत करती हूँ। अपनेको सदा वस्त्रालंकारसे सजाये रहती हूँ।'

द्रौपदीने और भी बताया—'मेरी पूज्या सासने जो भी कौटुम्बिक धर्म बताये हैं, सबका पालन करती हूँ। भिक्षा देना, अतिथि-सत्कार, श्राद्ध तथा त्योहारोंपर पक्वान्न बनाना, माननीयोंका सत्कार आदि सब धर्म सावधानीसे पालन करती हूँ। पतियोंसे अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र मैं कभी ग्रहण नहीं करती। उनसे ऊँचे आसनपर नहीं बैठती। सासजीसे विवाद नहीं करती। सदा अपनी वीरमाता सासकी भोजन-वस्त्रसे सेवा करती हूँ। उनकी कभी वस्त्र, भूषण या जलमें उपेक्षा नहीं करती। सबसे पीछे सोती हूँ, सबसे पहले शय्या छोड़ देती हूँ। धर्मराजके भवनमें प्रतिदिन आठ सहस्र ब्राह्मण स्वर्णपात्रमें भोजन करते थे। महाराज अट्ठासी सहस्र स्नातकोंका भरण-पोषण करते थे। दस सहस्र दासियाँ उनके थीं। मुझे सबके नाम, रूप, भोजन-वस्त्रका पता रहता था। मैं दासियोंके सम्बन्धमें पता रखती थी कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं। महाराजके पास एक लक्ष घोड़े और इतने ही हाथी थे। उनका भी मैं ही प्रबन्ध करती थी। उनकी गणना करती, आवश्यकताएँ सुनती और अन्त:पुरके ग्वालों, गड़रियों तथा सेवकोंकी देख-भाल करती।'

महारानी द्रौपदीके कार्य यहीं नहीं समाप्त हो जाते, वे और बताती हैं—'महाराजके आय-व्ययका हिसाब रखती थी। मेरे पति कुटुम्बका सारा भार छोड़कर पूजा-पाठ या आगतोंका सत्कार करते थे। पूरे परिवारकी देख-भाल मैं ही करती थी। वरुणके समान महाराजके अटूट खजानेका पता भी मुझे ही रहता था। भूख-प्यास सहकर रात-दिन एक करके मैं सदा पाण्डवोंके हितमें लगी रहती थी। मुझे तो पतियोंको वशमें करनेका भी यही उपाय ज्ञात है।'

महारानी कृष्णा सचमुच गृहस्वामिनी थीं। सत्यभामाने उनसे क्षमा माँगी। विदा होते समय पांचालीने उन्हें पतिको वश करनेका निर्दोष मार्ग बतलाते हुए कहा—'तुम सुहृदता, प्रेम, परिचर्या, कार्यकुशलता तथा विविध प्रकारके पुष्प-चन्दनादिसे श्रीकृष्णकी सेवा करो। वही काम करो, जिससे वे समझें कि तुम एकमात्र उन्हींको प्रिय मानती हो। उनके आनेकी आहट पाते ही आँगनमें खड़ी होकर स्वागतको उद्यत रहो। आते ही आसन और पैर धोनेको जल दो। वे दासीको कोई आज्ञा दें तो वह काम स्वयं कर डालो। तुमसे यदि कोई गुप्त रखनेयोग्य बात पतिदेव कहें तो उसे किसीसे मत कहो। पतिके मित्रों तथा हितैषियोंको भोजनादिसे सन्तुष्ट करो तथा पतिके शत्रु, द्वेषी, तटस्थ लोगोंसे दूर रहो। सपत्नियोंके पुत्रोंके साथ भी एकान्तमें मत बैठो। कुलीन, दोषरहित सती स्त्रियोंका ही साथ करो। क्रूर, झगड़ालू, पेटू, चोर, दुष्टा तथा चंचल स्वभावकी स्त्रियोंसे दूर रहो। इस प्रकारसे सब प्रकार पतिकी सेवा करनेसे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी तथा अन्तमें स्वर्ग प्राप्त होगा। तुम्हारे विरोधी शमित हो जायँगे।'

× × ×

'कृष्णे! मैं बहुत दूरसे आया हूँ। थक गया हूँ। बड़ी भूख लगी है। अपना गृहप्रबन्ध पीछे करना, पहले मुझे कुछ खानेको दो!' सहसा श्यामसुन्दरने प्रवेश करके कहा। पाण्डवोंने आश्चर्यसे देखा था कि अकस्मात् दारुकके रथ रोकते ही श्रीकृष्ण कूदकर पर्णकुटीमें चले गये। उन्होंने धर्मराजको अभिवादनतक नहीं किया।

'तुम तो जानते ही हो कि साथके विप्रोंको भोजन देनेके लिये महाराजने तपस्या करके सूर्यनारायणसे एक पात्र प्राप्त किया है। उसी पात्रसे विविध पक्वान्न निकलता है और उसीसे हम सबका काम चलता है। मेरे भोजनके पश्चात् वह पात्र रिक्त हो जाता है। मैंने भोजन कर लिया है। पात्र धोकर रख दिया है। अब क्या हो?' द्रौपदीने बड़ी खिन्नतासे कहा।

'मैं तो भूखसे व्याकुल हो रहा हूँ और तुम्हें हँसी सूझती है। मैं कुछ नहीं जानता; लाओ, कुछ

खिलाओ!' नकली रोषसे लीलामयने कहा।

द्रौपदीका भय दूर हो गया था। उसने प्रार्थना की। 'मेरे पतियोंके समीप दस सहस्र शिष्योंके साथ महर्षि दुर्वासा आये हैं। धर्मराजने उन्हें आतिथ्यको आमन्त्रित कर दिया है। स्नान-सन्ध्या करने वे सरोवर गये हैं। लौटनेपर उन्हें अन्न न मिला तो शाप देकर पाण्डवोंको भस्म कर देंगे। इसी संकटमें पड़कर मन-ही-मन तुम्हारा स्मरण करते हुए मैं रो रही थी। तुमने मुझ दुखियाकी पुकार सुन ली। अब अपने पाण्डवोंकी रक्षा करो!'

'यह सब पचड़ा पीछे; पहले लाओ, अपना वह पात्र दो!' श्रीकृष्ण झुँझलाये।

'लो! तुम्हीं देख लो!' द्रौपदीने पात्र लाकर दे दिया। भगवान्‌की लीला, भली प्रकार सावधानीसे स्वच्छ किये उस पात्रमें भी शाकका एक पत्ता चिपका निकल आया।

'यज्ञभोक्ता सर्वात्मा इससे तृप्त हों!' माधवने वह पत्ता उठाकर मुखमें डाल लिया। अब यह पुनः भोजनक्रम प्रारम्भ हो गया था, अतः पात्र भर गया। उसे तो अब द्रौपदीके भोजन न करनेतक अन्न देते रहना था।

'जाओ! ऋषियोंको बुला लाओ!' श्रीकृष्णने सहदेवको बाहर आकर आज्ञा दी। वहाँ जलमें खड़े ऋषियोंका उदर विश्वात्मा श्रीकृष्णके मुखमें शाक डालते ही भर गया था। खट्टी डकारें आ रही थीं। दुर्वासाजीने सोचा कि युधिष्ठिर अन्न प्रस्तुत करेंगे, अब हम भोजन तो कर नहीं सकते। कहीं अन्न व्यर्थ नष्ट होता देख धर्मराज रुष्ट हो गये तो लेनेके देने पड़ जायँगे। धर्मराज भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं। महर्षिको अभी अम्बरीषपर रुष्ट होकर कष्ट पानेकी घटना भूली नहीं थी। उन्होंने भागनेमें ही कल्याण समझा। सहदेवने लौटकर बताया कि वहाँ कोई नहीं है।

'महर्षि कहीं अर्धरात्रिको आकर अन्न न माँगें।' पाण्डव चिन्तित हो गये।

'दुर्वासा अब नहीं आयेंगे। दुष्ट दुर्योधनने अपनी सेवासे प्रसन्न करके उनसे वरदान ले लिया था कि शिष्योंके साथ वे तुम्हारा आतिथ्य ग्रहण करने तब पधारें, जब पांचाली भोजन कर चुकी हों। इस कष्टको मैंने निवारित कर दिया।' श्रीकृष्णने सबको समझाकर आश्वस्त किया।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका वर्णन अपने कवित्तमें इस प्रकार करते हैं—

सुन्यो भागवती को वचन भक्तिभाव भर्‌यो कर्‌यो मन आये श्याम पूजे हिये काम है।
आवत ही कही मोहि भूख लागी देवो कछु महासकुचाये माँगैं प्यारो नहीं धाम है॥
विश्व के भरण हार धरे हैं आहार अजू हमसों दुरावो कही वाणी अभिराम है।
लग्यो शाक पत्र पात्र जल सङ्ग पाइ गये पूरण त्रिलोकी विप्र गिनै कौन नाम है॥ ७२॥

× × ×

सिन्धुनरेश जयद्रथ सब प्रकार सज-धजकर विहारके लिये शाल्व देशकी ओर जा रहा था। उसने एकाकिनी द्रौपदीको वनमें देखा। पाण्डव आखेटके लिये गये थे। जयद्रथ द्रौपदीको देखते ही मुग्ध हो गया। उसने अपने साथी राजा कोटिकास्यको परिचय जाननेके लिये भेजा। कोटिकास्यने समीप जाकर मधुर शब्दोंमें परिचय पूछा और अपना परिचय दिया।

द्रौपदीने बड़े संकोचसे कहा—'मर्यादानुसार मुझे तुमसे नहीं बोलना चाहिये, परंतु समीपमें दूसरे किसी पुरुष या स्त्रीके न होनेसे मुझे विवश होकर बोलना पड़ा। मैं तुम्हें और सिन्धुनरेशको भी जानती हूँ। मेरे पति वनमें आखेटको गये हैं। उन विश्वविख्यात पाण्डवोंको तुम जानते हो। मैं उनकी पत्नी कृष्णा हूँ। अपने

वाहन खोल दो! पाण्डवोंका आतिथ्य स्वीकार करके जहाँ जाना हो, चले जाना। उनके लौटनेका समय हो गया है।'

द्रौपदी कुटीमें आतिथ्यकी व्यवस्था करने चली गयी। उसने इन लोगोंपर विश्वास कर लिया। कोटिकास्यसे परिचय पाकर स्वयं जयद्रथ आया। उसने पहले तो कुशल पूछी और पाण्डवोंको राज्यहीन, निर्धन कहकर द्रौपदीसे कहने लगा कि वह उनको छोड़कर सिन्धुकी महारानी बने। द्रौपदीने उसे फटकारा—'मेरे पति युद्धमें देवता और राक्षसोंका भी वध कर सकते हैं। मूर्खतावश अपने नाशके लिये तूने मेरे प्रति कुदृष्टि की है!'

जयद्रथने पुनः धमकाया। कृष्णाने कहा 'तू एकाकिनी समझकर मुझपर बल दिखा रहा है, पर मैं तेरे सम्मुख दीन वचन नहीं बोल सकती। जब एक रथपर बैठकर श्रीकृष्ण और अर्जुन मेरी खोजमें निकलेंगे तो इन्द्र भी तुझे छिपा नहीं सकते। अभी मेरे पति आकर तेरी सेनाका नाश कर देंगे। यदि मैं पतिव्रता हूँ तो इस सत्यके प्रभावसे आज मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे घसीट रहे हैं।'

जयद्रथने द्रौपदीको पकड़ना चाहा, उसे धक्का देकर पांचालीने धौम्यमुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और इसलिये स्वयं रथमें बैठ गयीं कि जयद्रथ उनका स्पर्श न करे। उनको लेकर जयद्रथ ससैन्य चला। पाण्डवोंने वनमें शृगालको रोते हुए पाससे जाते देख अमंगलकी आशंका की। वे शीघ्रतापूर्वक लौटे। आश्रममें धात्रिकाको रोते देख उससे पूछकर उन्होंने समाचार ज्ञात किया। आगे बढ़नेपर धौम्यमुनि पैदल सेनामें भीमको पुकारते हुए जाते दिखायी पड़े। भयभीत होकर पैदल सेनाने तो शरण माँग ली। शेषपर पाण्डवोंने बाणवर्षा प्रारम्भ की। अनेक राजा मारे गये। भयातुर जयद्रथ द्रौपदीको रथसे उतारकर भागा। द्रौपदी धौम्यमुनिके साथ धर्मराजके पास लौट आयीं।

'बहन दुःशला (दुर्योधनकी बहन)-का ध्यान करके जयद्रथको मारना मत! बहनको विधवा मत करना।' भीमको सिन्धुराजके पीछे जाते देख युधिष्ठिरने आदेश दिया। भीमने दौड़कर जयद्रथको ललकारा और पराजित करके पकड़ लिया। उसको पटककर मरम्मत कर दी। सिरके केश मूँड़कर पाँच चोटियाँ रखकर तथा दासत्व स्वीकार करवाके उसे बाँधकर वे ले आये। इस दशामें उसे देखकर द्रौपदीको दया आ गयी। उन्होंने भीमसेनसे कहा—'महाराजके इस दासको अब छोड़ दो।'

धर्मराजने बन्धनमुक्त करके जयद्रथको दासत्वसे भी मुक्त कर दिया और विदा करते समय समझाया कि—'अब कभी परस्त्रीपर कुदृष्टि डालने-जैसा नीच कार्य मत करना।'

× × ×

'महारानी! मैं सैरन्ध्री हूँ और अपने योग्य कार्य चाहती हूँ। मुझे बालोंको सुन्दर बनाना, गूँथना, पुष्पहार बनाना, चन्दन या अंगराग बनाना बहुत अच्छा आता है। मैं इससे पूर्व द्रौपदीके अन्तःपुरमें रह चुकी हूँ। मुझे केवल भोजन-वस्त्र चाहिये।' पांचालीने विराटकी महारानी सुदेष्णाको बताया। उसे नगरमें भटकते देख महारानीने बुलाया था।

'तुम तो देवताओंके समान सुन्दर हो। यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं। तुम्हें अन्तःपुरमें रखनेपर भय है कि महाराज तुमपर आसक्त हो जायँगे।' सुदेष्णाने उत्तर दिया!

'पाँच परम पराक्रमी गन्धर्व मेरे पति हैं। जो मुझपर कुदृष्टि करता है, उसे वे उसी रात्रि मार डालते हैं। जो मुझसे पैर नहीं धुलवाता तथा जूठेका स्पर्श नहीं कराता, उसका वे मंगल करते हैं। कृष्णाने आश्वासन दिया।'

'तुम्हें पैर नहीं धोने होंगे और उच्छिष्ट भी स्पर्श नहीं करना पड़ेगा। तुम मेरे समीप आदरपूर्वक निवास करो।' सुदेष्णाने स्वीकृति दे दी।

'तुम इतनी सुन्दर कौन हो? यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं। मुझे स्वीकार करो।' एक दिन विराटके सेनापति कीचकने अन्त:पुरमें सैरन्ध्रीको देखकर कहा। वह उसके सौन्दर्यपर मुग्ध हो गया था। द्रौपदीने परस्त्रीके प्रति आकर्षित न होनेके लिये उसे समझाया; किंतु वह दुष्ट बराबर हठ ही करता रहा। गन्धर्वोंके भयका भी उसपर कोई प्रभाव न हुआ। उसने द्रौपदीसे कोरा उत्तर पाकर अपनी बहन सुदेष्णासे प्रार्थना की। सुदेष्णाने द्रौपदीके अस्वीकार करनेपर भी बलपूर्वक रस लानेके बहाने उन्हें कीचकके भवनमें भेजा। उन्मत्त कीचकने उन्हें पकड़नेका प्रयत्न किया। किसी प्रकार उसे धक्का देकर भागकर वे राजसभामें आयीं। पीछे दौड़ता हुआ कीचक वहाँ भी पहुँचा और उसने द्रौपदीको केश पकड़कर पटक दिया तथा पाद-प्रहार किया। सूर्यद्वारा द्रौपदीकी रक्षामें नियुक्त राक्षसने आँधीके समान कीचकको दूर फेंक दिया। वह गिरकर मूर्च्छित हो गया।

भीमसेन और अर्जुन दोनों क्रोधित हो गये, पर धर्मराजने संकेतसे उन्हें रोक दिया। द्रौपदीने सभाभवनके द्वारपर खड़े होकर कहा, 'मेरे महापराक्रमी पति सूतद्वारा मेरा अपमान कायरोंकी भाँति देख रहे हैं। वे धर्मपाशमें बँधे हैं। यहाँका राजा विराट एक निरपराध स्त्रीको इस प्रकार मारे जाते देखकर चुप है। यह राजा होकर भी न्याय नहीं करता। यह लुटेरोंका-सा धर्म राजाको शोभा नहीं देता। सभासद् भी इस अन्यायको चुपचाप सह रहे हैं।'

सभासदोंने द्रौपदीकी प्रशंसा की। महाराज विराट कीचकके बलसे दबे थे। उसने अनेक देश जीते थे। यद्यपि वह लम्पट था, प्रजासे धन लूट लेता था और प्रजाकी स्त्रियोंके साथ अत्याचार करता था, परंतु महाराज उसका विरोध नहीं कर सकते थे, अतः वे चुप रहे। धर्मराजने संकेत से कहा—'तेरे पति तेरे कष्टदाताको अवश्य नष्ट कर डालेंगे। वे अभी अवसर नहीं देखते। तू अन्त:पुरमें जा!'

द्रौपदी अन्त:पुरमें गयी। सुदेष्णाने उसे आश्वासन देनेका प्रयत्न किया। रात्रिमें द्रौपदीने भोजनालयमें भीमसेनके पास जाकर रोते हुए कहा—'तुम लोगोंको इस वेषमें देखकर मेरा हृदय फटता है। मुझे भी सुदेष्णाकी दासी बनकर रहना पड़ रहा है। अब तो यह अपमान मैं सह नहीं सकती। कीचक नित्य घृणित संकेत करता है और गन्दी बातें कहता है। आज उसने भरी सभामें तुम सबके देखते मुझे मारा है। अब वह मुझे नित्य मारेगा और बलप्रयोग करेगा। यदि तुम मुझे अवधि पूर्ण होनेतक चुप रहनेको कहोगे तो मैं प्राण दे दूँगी।'

भीमसेनने द्रौपदीको आश्वासन दिया। उनकी सम्मतिसे जब कीचकने दूसरे दिन वही राग छेड़ा तो कृष्णाने उसे रात्रिको एकान्तमें विराटकी नवीन नृत्यशालामें बुलाया। भीमसेन सूचना पाकर पहलेसे ही वहाँ उपस्थित थे! उन्होंने युद्धमें कीचकको पछाड़कर मार डाला। उसके हाथ-पैर धड़में दबाकर घुसा दिये। इसी दशामें द्रौपदीको दिखाया। द्रौपदीने लोगोंसे कहा—'मेरा अपमान करनेवाले नीच कीचककी मेरे गन्धर्व पतियोंने क्या दशा की, सो जाकर देखो!'

'कीचककी मृत्यु सैरन्ध्रीके कारण ही हुई है। अत: इसे भी साथमें जला दो। इससे कीचककी आत्माको सन्तोष होगा।' कीचकको मरा देखकर रोषके मारे उपकीचकोंने यह निश्चय किया। उनके भयसे डरे विराटने भी ऐसा करनेकी आज्ञा दे दी। उन्होंने द्रौपदीको बाँध लिया और श्मशान ले चले। आर्तनाद करती जाती द्रौपदीकी रक्षा-पुकार भीमसेनने सुन ली। नगर-परकोटा लाँघकर वे पहले ही श्मशान पहुँच गये। एक महान्

वृक्ष उखाड़कर दौड़े। उन्हें देखकर उपकीचक भागे। भीमसे उन सबको मार डाला और द्रौपदीको बन्धनमुक्त कर दिया। भीम अपना काम करके पुनः उसी मार्गसे भोजनालय पहुँच गये।

'भद्रे! महाराज गन्धर्वोंसे बहुत डरे हैं। तुम अत्यन्त सुन्दरी हो और पुरुष स्वाभाविक कामी होते हैं। तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं। उन्होंने एक सौ पाँच उपकीचकोंको मार डाला है। अतः महाराजने कहा है कि तुम अब यहाँसे जहाँ इच्छा हो, चली जाओ! अन्तःपुरमें पहुँचते ही सुदेष्णाने कहा।'

'महाराज मुझे तेरह दिन और क्षमा करें। मेरे गन्धर्व पति इसके पश्चात् स्वयं मुझे ले जायँगे और वे महाराजका भी मंगल करेंगे।' सैरन्ध्रीकी इस बातका प्रतिवाद करनेका साहस अब रानी सुदेष्णामें नहीं था। तेरह दिन पश्चात् गुप्तवासकी अवधि समाप्त होनेपर पाण्डव प्रकट हो गये।

× × ×

पाण्डवोंके वनवासकी अवधि समाप्त हुई। विराटनगरमें उनके पक्षके नरेश एकत्र होने लगे। अनेक ऋषियोंने, विदुरने तथा औरोंने भी दुर्योधनको समझाया; किंतु वह बिना युद्धके पाँच ग्राम भी पाण्डवोंको देनेको प्रस्तुत नहीं था। अन्तिम प्रयत्नके रूपमें शान्तिदूत बनकर स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रने विराटनगरसे हस्तिनापुर जाना निश्चित किया। उनको जानेको उद्यत देखकर द्रौपदीने उनसे कहा—'जनार्दन! अवध्यका वध करनेमें जो पाप होता है, वही पाप वध्यका वध न करनेमें भी होता है। मैं अपने अपमानको भूल नहीं सकी हूँ। शान्ति और दुर्योधनकी दी हुई भिक्षा मेरी अन्तर्ज्वालाको शान्त नहीं करेगी। यादव, पाण्डव और पांचालके शूरोंके रहते मेरी यह दशा है! यदि आपका मुझपर तनिक भी स्नेह है तो कौरवोंपर कोप कीजिये।'

जाहु भले कुरुराज पर, धारि दूतवर-वेश।
भूलि न जैयो पे वहाँ, केशव द्रौपदि-केश॥

अपने काले-काले सुदीर्घ केशोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णको दिखाते हुए रोकर पांचालीने कहा—'आज बारह वर्षसे इन केशोमें कंघी नहीं पड़ी है। ये बाँधे नहीं गये हैं। जिसने इनको भरी सभामें खींचा है, उस दुष्ट दुःशासनकी उसी भुजाके रक्तसे धोकर तब मैं इन्हें बाँधूँगी, यह मैंने प्रतिज्ञा की है। मधुसूदन! क्या ये आजीवन खुले ही रहेंगे? यदि पाण्डव कायर हो गये हैं, यदि वे युद्ध नहीं करते तो मैं अपने पाँचों पुत्रोंको आदेश दूँगी। बेटा अभिमन्यु उनका नेतृत्व करेगा। मेरे पिता और भाई भी यदि मेरी उपेक्षा कर दें तो मैं तुम्हारे पैर पकड़ूँगी। क्या मेरी प्रार्थनापर भी तुम द्रवित न होओगे? क्या तुम्हारा चक्र शान्त ही रहेगा? मैं कौरवोंकी लाशोंको धूलिमें तड़पते देखना चाहती हूँ। इसके बिना कोई साम्राज्य मुझे सुखी नहीं कर सकता।'

श्रीकृष्णने गम्भीरतासे कहा—'कृष्णे! आँसुओंको रोको! इस नाटकको हो जाने दो! मैंने प्रतिज्ञा की है और प्रकृतिके सारे नियमोंके पलट जानेपर भी वह मिथ्या नहीं होगी। जिनपर तुम्हारा कोप है, उनकी विधवा पत्नियोंको तुम शीघ्र ही रोते देखोगी। ये ही धर्मराज युद्धका आदेश देंगे और तुम्हारे शत्रु युद्धभूमिमें मारे जायँगे।'

× × ×

महाभारतका युद्ध प्रारम्भ हो गया था। सहसा एक रात्रिको धर्मराजके चरोंने समाचार दिया कि दुर्योधनके द्वारा उत्तेजित किये जानेपर भीष्मपितामहने प्रतिज्ञा की है कि कल वे समस्त सैन्यके साथ पाँचों पाण्डवोंको मार देंगे। पाण्डवोंमें अत्यन्त व्याकुलता फैल गयी। धर्मराजने श्रीकृष्णके पास अर्जुनको भेजा, किंतु रूखा उत्तर मिला। अन्तमें द्रौपदीने माधवके शिविरमें जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे पाण्डवोंकी रक्षा करें।

यदि पितामहने प्रतिज्ञा की है, तो वह सत्य होकर रहेगी। 'मैं असमर्थ हूँ।' रूखे मुख उत्तर दे दिया गया।

'तो क्या तुमने लम्बी-लम्बी शपथें खाकर मुझको झूठा ही आश्वासन दिया था। श्रीकृष्णके जीवित रहते उनकी सखी कृष्णाके पति परलोक सिधार जायँ, इससे बढ़कर कलंक और क्या होगा?' द्रौपदीने खीझकर कहा।

'एक उपाय है—तुम चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चलो और भीष्मके शिविरमें जाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करो।' श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा।

'मैं तो सदा ही तुम्हारे वचनोंका अनुसरण करनेको प्रस्तुत हूँ, चलो शीघ्र।'

रातका तीसरा प्रहर था। भगवान् द्रौपदीको लेकर चले। 'अरे तुम्हारी पंचनदीय जूतियोंको देखकर तो कोई भी पहचान लेगा। उतारो जूतियाँ जल्दी।' श्रीकृष्णने द्रौपदीको कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया और जूतियोंको लेकर अपने पीत उत्तरीयमें लपेटा और धीरेसे बगलमें दबा लिया और कहा—'बस, पीछे-पीछे चली चलो। द्रौपदीने आज्ञाका पालन किया।'

'यह पितामहका शिविर है। चुपचाप अन्दर जाकर पितामहको प्रणाम करो। वे मेरा ध्यान कर रहे होंगे बैठे-बैठे। प्रणाम करना तो आभूषणोंको भली प्रकार बजाकर। मैं यहीं हूँ। मेरा पता मत बताना।' लीलामयने आदेश दे दिया।

पितामहके शिविरमें सौभाग्यवती स्त्री, ब्राह्मण, साधु तथा श्रीकृष्णके निर्बाध प्रवेशकी आज्ञा थी। पितामह ध्यानस्थ बैठे थे। द्रौपदीने जाकर पैरोंपर मस्तक रखा। पितामहने समझा दुर्योधन अभी-अभी गया है, रानी प्रणाम करने आयी होगी। झटसे कह दिया—'सौभाग्यवती हो, बेटी!'

'पतियोंको मारनेकी प्रतिज्ञा करके पत्नीको सौभाग्यवती होनेका आशीर्वाद? पितामह! आप तो कभी असत्य नहीं बोलते। यह कैसी विडम्बना!' द्रौपदीने पूछा।

'ओह, पांचाली! तू यहाँ कैसे, पुत्री! मैंने पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा तो की है; परंतु साथ ही यह भी कहा है कि यदि श्रीकृष्णने शस्त्र न उठाया तो ऐसा होगा! तू यहाँ किसके साथ आयी? बिना श्यामसुन्दरके यह सब कौन कर सकता है? बता, वे मेरे प्रभु कहाँ है?' बुद्धिमान् भीष्मने सब समझ लिया।

'मुझे धिक्कार है, जिसके यहाँ आनेमें संकोच करके श्रीकृष्णको द्वारपर रुकना पड़ता है।' द्रौपदीके न बतानेपर भी भीष्मने स्वयं मधुसूदनको ढूँढ़ लिया। जगत्पति जूतियोंको बगलमें दबाये द्वारपर निस्तब्ध खड़े मुसकरा रहे थे। भीष्म चरणोंपर गिरकर रोने लगे।

'यदि आप इसी प्रकार दस सहस्र महारथी नित्य मारते रहे तो द्रौपदी सौभाग्यवती हो चुकी।' शिविरमें आकर आसन तथा सत्कार ग्रहण करके केशवने कहा।

'आप जो चाहते हैं, वह तो होगा ही। मेरे मुखसे ही मेरी मृत्युका उपाय आपको सुनना है तो मैं वह भी बता दूँगा; किंतु कलके युद्धमें मेरी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनी होगी।' पितामहने गद्‌गद स्वरमें प्रार्थना की। वहाँसे पितामहके रथमें बैठकर द्रौपदीको लेकर श्रीकृष्ण धर्मराजके शिविरमें लौट आये। पूरा समाचार जानकर पाण्डवोंका समस्त शोक दूर हो गया।

× × ×

महाभारत समाप्त हुआ। पाण्डव-सेना शान्तिसे शयन कर रही थी। श्रीकृष्ण पाँचों पाण्डवों तथा द्रौपदीको लेकर उपप्लव्य नगर चले गये थे। प्रातः दूतने समाचार दिया कि रात्रिमें शिविरमें अग्नि लगाकर

अश्वत्थामाने सबको निर्दयतापूर्वक मार डाला। यह सुनते ही सब रथमें बैठकर शिविरमें पहुँचे। अपने मृत पुत्रोंको देखकर द्रौपदीने बड़े करुण स्वरमें क्रन्दन करते हुए कहा—'मेरे पराक्रमी पुत्र यदि युद्धमें लड़ते हुए मारे गये होते तो मैं सन्तोष कर लेती। क्रूर ब्राह्मणने निर्दयतापूर्वक उन्हें सोते समय मार डाला है।'

द्रौपदीको धर्मराजने समझानेका प्रयत्न किया, परंतु पुत्रके शवके पास रोती माताको क्या समझायेगा कोई। भीमने क्रोधित होकर अश्वत्थामाका पीछा किया। श्रीकृष्णने बताया कि नीच अश्वत्थामा भीमपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर सकता है। अर्जुनको लेकर वे भी पीछे रथमें बैठकर गये। अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। उसे शान्त करनेको अर्जुनने भी उसी अस्त्रसे उसे शान्त करना चाहा। दोनों ब्रह्मास्त्रोंने प्रलयका दृश्य उपस्थित कर दिया। भगवान् व्यास तथा देवर्षि नारदने प्रकट होकर ब्रह्मास्त्रोंको लौटा लेनेका आदेश दिया। अर्जुनने ब्रह्मास्त्र लौटा लिया। पकड़कर द्रोण-पुत्रको उन्होंने बाँध लिया और अपने शिविरमें ले आये।

अश्वत्थामा पशुकी भाँति बँधा हुआ था। निन्दित कर्म करनेसे उसकी श्री नष्ट हो गयी थी। उसने सिर झुका रखा था। अर्जुनने उसे लाकर द्रौपदीके सम्मुख खड़ा कर दिया। गुरुपुत्रको इस दशामें देखकर द्रौपदीको दया आ गयी। उन्होंने कहा—'इन्हें जल्दी छोड़ दो। जिनसे सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी आपलोगोंने शिक्षा पायी है, वे भगवान् द्रोणाचार्य पुत्ररूपमें स्वयं उपस्थित हैं। जैसे पुत्रोंके शोकमें मुझे दुःख हो रहा है, मैं रो रही हूँ, ऐसा ही प्रत्येक स्त्रीको होता होगा। देवी कृपीको यह शोक न हो! वे पुत्रशोकमें मेरी तरह न रोयें! ब्राह्मण सब प्रकार पूज्य होता है। इन्हें शीघ्र छोड़ दो! ब्राह्मणोंका हमारे द्वारा अनादर नहीं होना चाहिये।'

भीमसेन अश्वत्थामाके वधके पक्षमें थे। अन्तमें श्रीकृष्णकी सम्मतिसे द्रोणपुत्रके मस्तकपर रहनेवाली मणि छीनकर अर्जुनने उसे शिविरसे बाहर निकाल दिया।

× × ×

महाभारतकी समाप्तिपर युधिष्ठिरने बन्धुत्वकी भावना करके विरक्त होकर वनमें जानेका विचार प्रकट किया। जब सब भाई उन्हें समझा चुके तो पांचालराजकुमारीने कहा—'महाराज! आपने द्वैतवनमें बार-बार कहा है कि शत्रुओंको जीतकर आप हम सबको सुखी करेंगे, अब अपनी बातको क्यों मिथ्या कर रहे हैं? मेरी सास कुन्तीजी कभी झूठ नहीं बोलतीं। उन्होंने भी कहा था कि आप शत्रुओंपर विजय करके साम्राज्यका उपभोग करेंगे। अपनी माताके वचनोंको आप क्यों मिथ्या कर रहे हैं? दुष्टोंको दण्ड देकर, निर्बलोंकी रक्षा करके, अनाथोंकी सहायता करके, विप्रोंको दान देकर प्रजापालन करनेवाला राजा निःश्रेयसको प्राप्त करता है। आप अपने धर्मको छोड़कर किस विधर्मके प्रलोभनमें वन जाना चाहते हैं? आपने दानमें, शास्त्र सुनाकर, युद्धमें धोखा देकर या अन्यायसे यह राज्य नहीं पाया है। धर्मयुद्धमें शत्रुओंका दमन करके आपने इसे प्राप्त किया है। आपने सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन प्राप्त किया है, अब आप इस दायित्वसे क्यों विमुख होते हैं? मैं पुत्रोंके मरनेपर भी केवल आपकी ओर देखकर ही जीवित हूँ। आपके ये पराक्रमी भाई भी आपके लिये ही जीवन धारण किये हैं। आपके लिये उदासीनता उचित नहीं। शासन कीजिये, यज्ञ कीजिये और ब्राह्मणोंको दान दीजिये।'

महाराज युधिष्ठिरने दीर्घकालतक शासन किया। उन्होंने द्रौपदीके साथ तीन अश्वमेधयज्ञ किये। द्वारकासे लौटकर अर्जुनने जब यदुवंशके क्षयका समाचार दिया तो परीक्षित्‌का राज्याभिषेक करके धर्मराजने अपने राजोचित वस्त्रोंका त्याग कर दिया। मौनव्रत लेकर वे निकल पड़े। भाइयोंने भी उन्हींका अनुकरण किया। द्रौपदीने भी वल्कल पहना और पतियोंके पीछे चल पड़ीं। धर्मराज सीधे उत्तर दिशामें चलते गये।

बदरिकाश्रमसे ऊपर वे हिमप्रदेशमें जा रहे थे। द्रौपदी सबके पीछे चल रही थीं। सब मौन थे। कोई किसीकी ओर देखता नहीं था। द्रौपदीने अपना चित्त सब ओरसे एकाग्र करके परात्पर भगवान् श्रीकृष्णमें लगा दिया था। उन्हें शरीरका पता नहीं था। हिमपर फिसलकर वे गिर पड़ीं। शरीर उसी श्वेत हिमराशिमें विलीन हो गया। महारानी द्रौपदी तो परम तत्त्वसे एक हो चुकी थीं।

श्रीहरिध्याननिष्ठ भक्तगण

जोगेस्वर श्रुतदेव अंग मुचु (कुंद) प्रियब्रत जेता।
पृथू परीच्छित सेष सूत सौनक परचेता॥
सतरूपा त्रयसुता सुनीति सती (सबाह) मंदालस।
जग्यपत्नि ब्रजनारि किए केसव अपने बस॥
ऐसे नर नारी जिते तिनही के गाऊँ जसैं।
पद पंकज बांछौं सदा जिन के हरि नित उर बसैं॥ १०॥

जिन भक्तोंके हृदयमें भगवान् नित्य निवास करते हैं, मैं उनके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूँ। नौ योगीश्वर, श्रुतदेव, राजा अंग, मुचुकुन्दजी, विश्वविजयी प्रियव्रतजी, पृथुजी, परीक्षित्‌जी, शेषजी, सूतजी, शौनकादि ऋषि, प्रचेतागण, शतरूपाजी, प्रसूतिजी, आकूतिजी, देवहूतिजी, सुनीतिजी, दक्षकन्या सतीजी, सम्पूर्ण सतीवर्ग, मन्दालसा, यज्ञपत्नियाँ और व्रजगोपियाँ, जिन्होंने श्रीकृष्णको अपने वशमें कर लिया है, ऐसे जितने स्त्री या पुरुष हैं, मैं सदा उनके सुयशका गान करूँ॥ १०॥

यहाँ श्रीहरिध्याननिष्ठ इन भक्तजनोंके मंगलमय पावन चरित्रका किंचित् स्मरण प्रस्तुत है—

नौ योगीश्वर

महाराज स्वायम्भुव मनु और शतरूपासे इस सृष्टिका प्रारम्भ हुआ। स्वायम्भुव मनुके पुत्र हुए प्रियव्रत। प्रियव्रतके आग्नीध्र, आग्नीध्रके नाभि और नाभिके पुत्र हुए ऋषभ। वे भगवान् वासुदेवके अंश थे। मोक्ष-धर्मका उपदेश करनेके लिये उन्होंने अवतार लिया था। ऋषभके सौ पुत्र थे, वे सब-के-सब वेदोंके पारदर्शी विद्वान् थे। उनमें सबसे बड़े थे राजर्षि भरत। वे भगवान् नारायणके परम प्रेमी भक्त थे। उन्हींके नामसे यह भूमिखण्ड जो पहले 'अजनाभवर्ष' कहलाता था, 'भारतवर्ष' कहलाया। राजर्षि भरत चक्रवर्ती सम्राट् थे, उन्होंने सारी पृथ्वीका राज्य-भोग किया और अन्तमें इसे छोड़कर वनको चले गये। वहाँ उन्होंने तपस्याद्वारा भगवान्‌की उपासना की और तीसरे जन्ममें भगवान्‌को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभदेवके शेष निन्यानबे पुत्रोंमेंसे नौ पुत्र भारतवर्षके सब ओर स्थित नौ द्वीपोंके अधिपति, इक्यासी पुत्र कर्मकाण्डके रचयिता ब्राह्मण और बाकी नौ संन्यासी हो गये। ऋषभदेवके जो नौ पुत्र संन्यासी हो गये, वे बड़े ही भाग्यवान् थे। उन्होंने आत्मविद्याके सम्पादनमें बड़ा परिश्रम किया था और वास्तवमें वे उसमें बड़े निपुण थे। वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियोंको परमार्थ वस्तुका उपदेश दिया करते थे। उन्हें ही नौ योगीश्वर कहा जाता है। उनके नाम हैं—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन।

ये नौ योगीश्वर इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत्‌को अपनी आत्मासे अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करते थे। उनके लिये कहीं भी रोक-टोक न थी। वे जहाँ चाहते, चले जाते। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोकोंमें तथा मुनि, चारण, विद्याधर,

ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें वे स्वच्छन्द विचरते थे। वे सब-के-सब जीवन्मुक्त महात्मा थे। इन नौ योगीश्वरोंका विदेहराज महात्मा निमिसे एक बार संवाद हुआ था, जिसमें इन महात्मा योगीश्वरोंने भगवान्‌को प्राप्त करानेवाले धर्मों और साधनोंका वर्णन किया था। उस समय महाराज निमि बड़े-बड़े ऋषियोंद्वारा एक महान् यज्ञका सम्पादन करवा रहे थे। स्वच्छन्द भावसे विचरण करते हुए ये नौ योगीश्वर भी वहाँ पहुँच गये। महाराज निमिने इनका बहुत आदर-सत्कार किया और अधिकारी जानकर भगवच्चर्चा की।

महाराज निमिके पूछनेपर उन योगीश्वरमें **प्रथम योगीश्वर कवि**ने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त करानेवाले भागवतधर्मोंका उपदेश दिया। तत्पश्चात् राजा निमिके पूछनेपर नौ योगीश्वरोंमें **दूसरे योगीश्वर हरिजी**ने भगवद्भक्तोंके धर्म, लक्षण और स्वभावका वर्णन किया। इसके बाद पुनः राजाके पूछनेपर **तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्षजी**ने माया और उसके स्वरूपका वर्णन किया और **चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी**ने मायाको पार करनेका उपाय बताया। इसके बाद **पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायनजीने** 'नारायण' नामवाले परब्रह्म परमात्माका वर्णन किया। तत्पश्चात् राजा निमिने प्रार्थना की कि हे योगीश्वरो! अब आपलोग मुझे कर्मयोगका उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध होकर मनुष्य शीघ्रतिशीघ्र अपने कर्मबन्धनको काट डालता है और परम नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मबन्धनकी आत्यन्तिक निवृत्तिका लाभ करता है—जन्म-मृत्युके चक्रसे सर्वदाके लिये छुटकारा पा जाता है।

इस प्रश्नका उत्तर **छठे योगीश्वर श्रीआविर्होत्रजी**ने दिया। इसके बाद राजाके पूछनेपर **सातवें योगीश्वर श्रीद्रुमिलजी**ने भगवान्‌के तबतक हुए और आगे होनेवाले अवतारोंका वर्णन किया। इतना सब भगवच्चरित्र सुननेके बाद राजा निमिने पूछा—हे योगीश्वरो! कृपा करके यह बतलाइये कि जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई हैं, लौकिक-पारलौकिक भोगोंकी लालसा मिटी नहीं है और मन एवं इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं तथा प्रायः जो भगवान्‌का भजन नहीं करते—ऐसे लोगोंकी क्या गति होती है? इसका उत्तर देते हुए **आठवें योगीश्वर श्रीचमसजी**ने बताया कि हे राजन्! जो लोग अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे पराङ्मुख हैं, उनकी ओर न चलकर उनसे उलटे चल रहे हैं, वे अत्यन्त परिश्रम करके गृह, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं; परंतु उन्हें अन्तमें सब कुछ छोड़ देना पड़ता है और न चाहनेपर भी विवश होकर घोर नरकमें जाना पड़ता है। भगवान्‌का भजन न करनेवाले विषयी पुरुषोंकी यही गति होती है। अब राजा निमिने पूछा—हे योगीश्वरो! भगवान् किस समय किस रंग और किस आकारको स्वीकार करते हैं और मनुष्य किन नामों और विधियोंसे उनकी उपासना करते हैं?

इसका उत्तर देते हुए **नवें योगीश्वर श्रीकरभाजनजी**ने कहा—राजन! सत्ययुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग श्वेत होता है। उनके चार भुजाएँ और सिरपर जटा होती है तथा वे वल्कल वस्त्र पहनते हैं। वे काले मृगका चर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्षकी माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं। सत्ययुगमें लोग तपस्याद्वारा सबके प्रकाशक परमात्माका ध्यान करते हैं। त्रेतायुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग लाल होता है। उनके चार भुजाएँ होती हैं और वे कटिभागमें तीन मेखला धारण करते हैं। उनके केश सुनहले होते हैं और वे स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंको धारण किया करते हैं। इस युगके मनुष्य अपने धर्ममें बड़ी निष्ठा रखनेवाले और वेदोंके अध्ययन-अध्यापनमें प्रवीण होते हैं। वे लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयीके द्वारा सर्वदेवस्वरूप देवाधिदेव भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं। द्वापरयुगमें भगवान्‌के श्रीविग्रहका रंग साँवला होता है। वे पीताम्बर तथा शंख, चक्र, गदा आदि अपने आयुध धारण करते हैं। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, भृगुलता, कौस्तुभमणि आदि लक्षणोंसे वे पहचाने जाते हैं। कलियुगमें काले

रंगकी कान्तिसे, अंगों और उपांगों, अस्त्रों एवं पार्षदोंसे युक्त श्रीकृष्णकी श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न पुरुष ऐसे यज्ञोंके द्वारा आराधना करते हैं; जिनमें नाम, गुण, लीला आदिके कीर्तनकी प्रधानता रहती है। (भागवत ११।५।२१—३२)

इस प्रकार राजा निमि तथा अन्य ऋत्विजों-आचार्योंको भागवत-धर्मका उपदेश देकर वे नवों योगीश्वर अन्तर्धान हो गये।

श्रीश्रुतदेवजी

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया॥

(श्रीमद्भा० १०।८६।५२)

देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो धीरे-धीरे बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं। परंतु महापुरुष अपनी दृष्टिसे ही सबको पवित्र कर देते हैं।

मिथिलामें वहाँके नरेश महाराज बहुलाश्व भगवान्‌के भक्त, अहंकारहीन तथा प्रजावत्सल थे। उसी नगरमें श्रुतदेव नामके भगवान्‌के परम भक्त निर्धन ब्राह्मण भी रहते थे। श्रुतदेव विद्वान् थे, बुद्धिमान् थे और गृहस्थ थे। किंतु वे अत्यन्त शान्त स्वभावके थे, विषयोंमें उनकी तनिक भी आसक्ति नहीं थी। भगवान्‌की भक्तिसे ही वे सन्तुष्ट थे। बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, उसीसे वे जीवन-निर्वाह करते थे। एक दिनका घरका काम चल जाय, इससे अधिक वस्तु बिना माँगे मिलनेपर भी वे लेते नहीं थे। वे कलके लिये संग्रह नहीं करते थे। सन्ध्या-तर्पण, देवाराधन आदि शास्त्रसम्मत अपना कर्तव्य विधिपूर्वक करते थे और भगवान्‌की पूजा तथा ध्यानमें लगे रहते थे। महाराज बहुलाश्व भी सदा भगवान्‌के स्मरण-पूजनमें ही लगे रहते थे। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये महाराज यज्ञ, दान एवं गौ, ब्राह्मण तथा अतिथिका पूजन आदि बड़ी श्रद्धासे करते थे।

जब श्रीसत्यभामाजीके पिता सत्राजित्‌को शतधन्वाने रातमें छिपकर भवनमें प्रवेश करके मार दिया, उस समय श्रीराम-कृष्ण द्वारकामें नहीं थे। समाचार पाकर वे हस्तिनापुरसे आये। शतधन्वा भयके मारे घोड़ेपर बैठकर भागा। बलरामजीके साथ श्रीकृष्णचन्द्रने उसका रथमें बैठकर पीछा किया। मिथिला-नगरके बाहरी उपवनमें पहुँचकर शतधन्वा मारा गया। उस समय श्रीकृष्णचन्द्र तो द्वारका लौट गये, किंतु बलरामजी मिथिलामें महाराज बहुलाश्वके समीप चले आये। महाराजकी भक्ति, सेवा तथा प्रेमसे प्रसन्न होकर, द्वारकासे बार-बार सन्देश आते रहनेपर भी, श्रीबलरामजी मिथिलामें लगभग तीन वर्ष रह गये। फिर मिथिलानरेशको सन्तुष्ट करके वे द्वारका गये।

जबसे महाराज बहुलाश्व और विप्र श्रुतदेवने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण मिथिलाके बाहरी उद्यानतक आकर लौट गये, तबसे उनका हृदय व्याकुल रहने लगा। दोनोंको ही लगा कि अवश्य हमारी भक्तिमें, हमारे प्रेममें ही कमी है। भगवान् तो दयासागर हैं। वे तो अकारण दया करते हैं। अवश्य हममें कोई बड़ी त्रुटि है, जिससे इतने समीप आकर भी भगवान्‌ने हमें दर्शन नहीं दिये। दोनों और भी प्रेमसे भगवान्‌की पूजा तथा उनके नाम-जपमें लग गये। सच्चे प्रेमका यही लक्षण है कि निराश होनेसे प्रेमी भक्तका भजन छूटता नहीं। उसे अपनेमें ही कुछ त्रुटि जान पड़ती है। इससे उसका भजन और बढ़ जाता है।

ब्राह्मण श्रुतदेव तथा राजा बहुलाश्वपर कृपा करके उन्हें दर्शन देनेके लिये श्रीद्वारकानाथ रथपर बैठकर मिथिला पधारे। भगवान्‌के साथ देवर्षि नारद, वामदेव, अत्रि, व्यासजी, परशुरामजी, असित, आरुणि,

शुकदेवजी, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, च्यवन आदि ऋषि-मुनि भी द्वारकासे मिथिला आये। भगवान्‌के आनेका समाचार पाकर सभी नगरवासी नाना प्रकारके उपहार लेकर नगरसे बाहर आये और उन्होंने भूमिपर लेटकर भगवान्‌को प्रणाम किया। राजा बहुलाश्व तथा ब्राह्मण श्रुतदेव दोनोंको ऐसा लगा कि भगवान् मुझपर कृपा करने पधारे हैं। अतएव दोनोंने एक साथ भगवान्‌को प्रणाम किया और फिर एक साथ हाथ जोड़कर अपने-अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की। सर्वज्ञ भगवान्‌ने दोनोंका भाव समझकर ऋषि-मुनियोंसहित दो रूप धारण कर लिये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनोंके साथ वे उनके-उनके घर गये। प्रत्येकने यही समझा कि भगवान् मेरे ही घर पधारे हैं।

विदेहराज जनक बहुलाश्वने अपने राजभवनमें भगवान्‌को तथा ऋषियोंको स्वर्णके सिंहासनोंपर बैठाकर उनके चरण धोये। विधिपूर्वक पूजा की। भगवान्‌के चरणोंको अपनी गोदमें लेकर धीरे-धीरे दबाते हुए उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की और प्रार्थना की—प्रभो! कुछ दिन यहाँ निवास करके अपनी सेवासे मुझे कृतार्थ होनेका अवसर दें। भगवान्‌ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

दूसरी ओर श्रुतदेव अपनी कुटियापर भगवान्‌को लेकर पहुँचे। वे भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके प्रेममें इतने तन्मय हो गये कि सब सुधि-बुधि भूल गये। अपना दुपट्टा फहराते-उड़ाते हुए भगवान्‌के मंगलमय नामोंका कीर्तन करके नाचने लगे। जब कुछ देरमें सावधान हुए, तब कुशकी चटाई, पीढ़ा, वेदिका आदिपर उन्होंने सबको आसन दिये। कंगाल ब्राह्मणकी झोपड़ीमें सबके बैठनेके लिये चटाई भी पूरी कहाँसे आती? श्रुतदेवने भगवान्‌के चरण धोये और वह चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया। पूजा किस क्रमसे करनी चाहिये, वे इस बातको भूल ही गये। भगवान्‌को कन्द, मूल तथा फल और खस पड़ा हुआ शीतल जल उन्होंने निवेदित किया। तुलसीके नीचेकी सुगन्धित मिट्टी ही उनके लिये चन्दन था, दूर्वादल, कुश, तुलसीदल और कमलके फूल—बस, इतनी सामग्री थी उनके पास पूजा करनेकी। इन्हींसे उन्होंने भगवान्‌की पूजा की। श्रुतदेव भक्तिके आवेशमें आत्मविस्मृत हो गये थे। भगवान् चुपचाप भक्तके इस भावको देखकर प्रसन्न हो रहे थे।

श्रीश्रुतदेवजीके सम्बन्धमें श्रीप्रियादासजीने जो कवित्त लिखा है, वह इस प्रकार है—

जिनहीं के हरि नित उर बसैं तिनहीं की पद-रेनु चैन दैन आभरन कीजियै।
योगेश्वर आदि रस स्वाद में प्रवीन महा विप्र श्रुतिदेव ताकी बात कहि दीजियै॥
आये हरि घर देखि गयो प्रेम भरि हियो ऊँचो कर करि पट फेरि मति भीजियै।
जिते साधु सङ्ग तिन्हैं विनय न प्रसंग कियो कियो उपदेश मोसों बाढ़ पांव लीजियै॥ ७३॥

जिन भक्तोंके हृदयमें सदा श्रीहरि वास करते हैं, उनके चरणोंकी धूलि अखण्ड आनन्द देनेवाली है, उसीको भूषण मानकर मस्तकपर धारण कीजिये। नौ योगीश्वर आदि सभी भक्त प्रेम-रसके आस्वादनमें परम चतुर हैं। उनमेंसे श्रीश्रुतदेव ब्राह्मणकी बात कहता हूँ। भगवान्‌को घरमें आया देखकर इनका हृदय प्रेमसे भर गया। दोनों हाथोंको ऊँचे उठाकर वस्त्र फिरा-फिराकर वे नाचने लगे। प्रेममें ऐसे मग्न हो गये कि श्रीकृष्णके समेत आये हुए साधु-सन्तोंका स्वागत-सत्कार विनय-प्रणाम आदि भी न कर सके। तब भगवान्‌ने इन्हें सावधान करके उपदेश दिया कि ये सन्त मुझसे भी बढ़कर श्रेष्ठ हैं, इनके चरणोंका अर्चन-वन्दन करो॥ ७३॥

श्रुतदेव जब पूजा करके, स्तुति करके कुछ सावधान हुए, तब भगवान्‌ने उन्हें संतोंका माहात्म्य समझाया और ऋषियोंका पूजन करनेको कहा। अबतक श्रुतदेवने जान-बूझकर ऋषियोंका पूजन न किया हो, ऐसी बात नहीं थी। वे तो अपनेको भूल गये थे। अब उन्होंने उसी श्रद्धा, उसी सम्मानसे प्रत्येक ऋषिका पूजन

किया, जिस प्रकार भगवान्‌का पूजन किया था। सबको उन्होंने भगवान्‌का स्वरूप ही मानकर उनकी सेवा की। श्रुतदेवकी जिस झोपड़ीमें बैठनेके लिये पूरे पीढ़े और चटाइयाँ भी नहीं थीं, उसी झोपड़ीमें ऋषियोंके साथ समस्त ऐश्वर्योंके स्वामी द्वारकानाथ प्रभु उतने ही दिनोंतक रहे, जितने दिन वे जनकके राजमहलमें रहे। एक कंगाल और एक राजाधिराज—दोनों श्रीकृष्णचन्द्रके लिये समान हैं—यह उन्होंने वहाँ प्रत्यक्ष दिखा दिया। कुछ दिन वहाँ रहकर राजा बहुलाश्व तथा ब्राह्मण श्रुतदेवसे विदा लेकर वे द्वारका लौट आये। बहुलाश्व तथा श्रुतदेव उन आनन्दकन्द मुकुन्दका चिन्तन करते हुए अन्तमें उनके धामको प्राप्त हुए।

श्रीअंगजी

महाभागवत श्रीध्रुवजीके वंशमें राजर्षि अंगका प्रादुर्भाव हुआ था। पिता उल्मुक और माता पुष्करिणीने बड़ी तपस्याके बाद अंग-जैसा पुत्र पाया था। शील-स्वभाव, साधुता, ब्रह्मण्यता आदि सद्‌गुण अंगमें बाल्यावस्थासे ही विराजमान थे। एक बार राजर्षि अंगने अश्वमेध-महायज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें वेद-वादी ब्राह्मणोंके आवाहन करनेपर भी देवता लोग अपना भाग लेने नहीं आये। तब ऋत्विजोंने विस्मित होकर यजमान अंगसे कहा—राजन्! हम आहुतियोंके रूपमें आपका जो घृत आदि पदार्थ हवन करते हैं, उसे देवता लोग स्वीकार नहीं करते हैं। हम जानते हैं आपकी हवन-सामग्री दूषित नहीं है, आपने उसे बड़ी श्रद्धासे एकत्रित किया है तथा वेदमन्त्र भी किसी प्रकार बलहीन नहीं हैं; क्योंकि उनका प्रयोग करनेवाले ऋत्विजगण याजकोचित सभी नियमोंका पूर्णतया पालन करते हैं। देवताओंका किंचित् तिरस्कार भी नहीं हुआ है, फिर भी कर्माध्यक्ष देवता लोग क्यों अपना भाग नहीं ले रहे हैं? यह सुनकर महाराज अंग उदास हो गये और उन्होंने इसमें अपने कर्मको ही कारण मानकर सदस्योंसे अपने ज्ञाताज्ञात अपराधके सम्बन्धमें जिज्ञासा की। इस पर सुधी सदस्योंने कहा—राजन्! इस जन्ममें तो आपसे कोई अपराध नहीं हुआ, हाँ पूर्वजन्ममें अवश्य आपसे कुछ अपराध बन गया है, जिससे कि आप अबतक पुत्रहीन हैं। परंतु हम लोगोंका ऐसा विश्वास है कि यदि आप पुत्रकी कामनासे यज्ञ करेंगे तो यज्ञेश्वरभगवान् अवश्य आपको पुत्र प्रदान करेंगे। राजा अंगने पुत्रेष्टि यज्ञ किया।

ऋत्विजोंके सत्प्रयत्नसे यज्ञ पूर्ण हुआ। आहुति डालते ही अग्निकुण्डसे एक दिव्य पुरुष स्वर्णपात्रमें सिद्ध खीर लिये प्रकट हुए। राजाने उस चरुको अंजलिमें लेकर स्वयं सूँघकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नीको दे दिया। रानीने वह पुत्रप्रदायिनी खीर खाकर गर्भ धारण किया और यथासमय बेन नामक एक पुत्रको जन्म दिया। राजा अंगकी पत्नी मृत्युकी कन्या थीं, नाम था सुनीथा। उससे जो बालक पैदा हुआ, वह अपने नाना मृत्युके गुण-स्वभाव-लक्षणोंवाला हुआ। क्या पशु, क्या पक्षी, क्या मनुष्य, वह दुष्ट बालक हँसते-हँसते सहज ही उनके प्राण ले लेता। प्रजा उससे ऐसी संत्रस्त हो गयी थी कि वह जिधर ही जाता लोग चिल्ला पड़ते—बेन आया, बेन आया। बेनकी ऐसी दुष्ट प्रकृति देखकर महाराज अंगने उसे बहुत प्रकारसे समझाकर सुमार्गपर लानेकी चेष्टा की, परंतु सफल नहीं हुए। इससे उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ। वे मन-ही-मन सोचने लगे—जिन गृहस्थोंके पुत्र नहीं है, उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्ममें श्रीहरिकी आराधना की होगी, इसीसे उन्हें कपूतकी करतूतोंसे होनेवाले असह्य क्लेश नहीं सहने पड़ते हैं। जिससे सब प्रकारके अनर्थोंकी प्राप्ति होती है—ऐसी नाममात्रकी संतानके लिये कौन समझदार ललचायेगा? वह तो आत्माके लिये एक प्रकारका मोहमय बन्धन ही है।

पुनः श्रीअंगजीके मनमें यह विचार आया कि—मैं तो सपूतकी अपेक्षा कपूतको ही अच्छा समझता हूँ; क्योंकि सपूतको छोड़नेमें बड़ा क्लेश होता है परंतु कपूत तो घरको नरक बना डालता है, अतः उससे सहज ही छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार सोचते-सोचते राजा अंगका चित्त संसारसे विरक्त हो गया।

वे रात्रिमें घरसे निकल गये। प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री और सुहृद् वर्गने खोजनेका बहुत प्रयत्न किया, परंतु वे उन्हें वैसे ही नहीं पा सके, जैसे कुयोगी पुरुष सर्वगुहाशायी भगवान्‌को नहीं खोज पाते हैं।

श्रीरामरसिकावलीमें महाराज रघुराजसिंहजी आपके विषयमें लिखते हैं—

कानन जाइ भज्यो यदुराई। माया और डीठि नहिं आई॥
वन में करहिं साधु की सेवा। साधु छोड़ मानहिं नहिं देवा॥
कोउ एक साधु कह्यौ नृप पाहीं। कुटी देहु मेरे घर नाहीं॥
कुटी सहित सर्वस दै राखे। पुनि ताकी सेवा अभिलाखे॥
साधु प्रसन्न कह्यौ अस बानी। मिलिहिं तोहिं नृप सारङ्ग पानी॥
भूपति कह्यौ न अस मोहिं आसा। तोहि तजि चहौं न रमानिवासा॥
आये नृप कहँ लेन विमाना। साधु त्यागि सो किय न पयाना॥
हरिपार्षद तब सन्त चढ़ाई। लैगे नृपहि विकुण्ठ लिवाई॥
वैकुण्ठहुँ महँ अङ्ग नृप, साधु चरण-रति कीन।
विभवभोग पार्षद सरिस, जदपि कृष्ण बहु दीन॥

श्रीमुचुकुन्दजी

सूर्यवंशमें इक्ष्वाकुकुल बड़ा ही प्रसिद्ध है, जिसमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामरूपमें अवतीर्ण हुए। इसी वंशमें महाराज मान्धाता-जैसे महान् प्रतापशाली राजा हुए। महाराज मुचुकुन्द उन्हीं मान्धाताके पुत्र थे। ये सम्पूर्ण पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे। बल-पराक्रममें ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि पृथ्वीके राजाओंकी तो बात ही क्या, देवराज इन्द्र भी इनकी सहायताके लिये लालायित रहते थे।

एक बार असुरोंने देवताओंको पराभूत कर दिया, देवता बड़े दुखी हुए। उनके पास कोई योग्य सेनापति नहीं था, अतः उन्होंने महाराज मुचुकुन्दसे सहायताकी प्रार्थना की। महाराजने देवराजकी प्रार्थना स्वीकार की और वे बहुत समयतक देवताओंकी रक्षाके लिये असुरोंसे लड़ते रहे। बहुत कालके पश्चात् देवताओंको शिवजीके पुत्र स्वामिकार्तिकेयजी योग्य सेनापति मिल गये। तब देवराज इन्द्रने महाराज मुचुकुन्दसे कहा—'राजन्! आपने हमारी बड़ी सेवा की, अपने स्त्री-पुत्रोंको छोड़कर आप हमारी रक्षामें लग गये। यहाँ स्वर्गमें जिसे एक वर्ष कहते हैं, पृथ्वीमें उतने ही समयको तीन सौ साठ वर्ष कहते हैं। आप हजारों वर्षोंसे यहाँ हैं। अतः अब आपकी राजधानीका कहीं पता भी नहीं है; आपके परिवारवाले सब कालके गालमें चले गये। हम आपपर बड़े प्रसन्न हैं। मोक्षको छोड़कर आप जो कुछ भी वरदान माँगना चाहें, माँग लें; क्योंकि मोक्ष देना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।'

महाराजको मानवीय बुद्धिने दबा लिया। स्वर्गमें वे सोये नहीं थे। लड़ते-लड़ते बहुत थक भी गये थे। अतः उन्होंने कहा—'देवराज! मैं यही वरदान माँगता हूँ कि मैं भरपूर सो लूँ, कोई भी मेरी निद्रामें विघ्न न डाले। जो मेरी निद्रा भंग करे, वह तुरंत भस्म हो जाय।'

देवराजने कहा—'ऐसा ही होगा, आप पृथ्वीपर जाकर शयन कीजिये। जो आपको जगायेगा, वह तुरंत भस्म हो जायगा।' ऐसा वरदान पाकर महाराज मुचुकुन्द भारतवर्षमें आकर एक गुफामें सो गये। सोते-सोते उन्हें कई युग बीत गये। द्वापर आ गया, भगवान्‌ने यदुवंशमें अवतार लिया। उसी समय कालयवनने मथुराको घेर लिया। उसे अपने-आप ही मरवानेकी नीयतसे और महाराज मुचुकुन्दपर कृपा करनेकी इच्छासे भगवान् श्रीकृष्ण कालयवनके सामनेसे बचकर भागे। कालयवनको अपने बलका बड़ा घमण्ड था, वह भी भगवान्‌को ललकारता

हुआ उनके पीछे पैदल ही भागा। भागते-भागते भगवान् उस गुफामें घुसकर छिप गये, जहाँ महाराज मुचुकुन्द सो रहे थे। उन्हें सोते देखकर भगवान्ने अपना पीताम्बर धीरेसे उन्हें ओढ़ा दिया और आप छिपकर तमाशा देखने लगे; क्योंकि उन्हें छिपकर तमाशा देखनेमें बड़ा आनन्द आता है। द्रष्टा ही जो ठहरे।

कालयवन बलके अभिमानमें भरा हुआ गुफामें आया और महाराज मुचुकुन्दको ही भगवान् समझकर जोरोंसे दुपट्टा खींचकर जगाने लगा। महाराज जल्दीसे उठे। सामने कालयवन खड़ा था। दृष्टि पड़ते ही वहीं जलकर भस्म हो गया। अब तो महाराज इधर-उधर देखने लगे। भगवान्के तेजसे सम्पूर्ण गुफा जगमगा रही थी। उन्होंने नवजलधरश्याम पीतकौशेयवासा वनमालीको सामने मन्द-मन्द मुसकराते हुए देखा। देखते ही वे अवाक् रह गये। अपना परिचय दिया। प्रभुका परिचय पूछा। गर्गाचार्यके वचन स्मरण हो आये। ये साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, यह समझकर वे भगवान्के चरणोंपर लोट-पोट हो गये।

भगवान्ने उन्हें उठाया, छातीसे चिपटाया, भाँति-भाँतिके वरोंका प्रलोभन दिया, किंतु वे संसारी पदार्थोंकी निःसारता समझ चुके थे। अतः उन्होंने कोई भी सांसारिक वर नहीं माँगा। उन्होंने यही कहा—'प्रभो! मुझे देना हो तो अपनी भक्ति दीजिये, जिससे मैं सच्ची लगनके साथ भलीभाँति आपकी उपासना कर सकूँ; मैं श्रीचरणोंकी भलीभाँति भक्ति कर सकूँ, ऐसा वरदान दीजिये।' प्रभु तो मुक्तिदाता हैं, मुकुन्द हैं। उनके दर्शनोंके बाद फिर जन्म-मरण कहाँ! किंतु महाराजने अभीतक भलीभाँति उपासना नहीं की थी और वे मुक्तिसे भी बढ़कर उपासनाको चाहते थे। अतः भगवान्ने कहा—'अब तुम ब्राह्मण होओगे, सर्व जीवोंमें समान दृष्टिवाले होओगे, तब मेरी जी खोलकर अनन्य उपासना करना। तुम मेरे तो बन ही गये। तुम्हारी उपासना करनेकी जो अभिलाषा है, उसके लिये तुम्हें विशुद्ध ब्राह्मणवंशमें जन्म लेना पड़ेगा और वहाँ तुम उपासना-रसका भलीभाँति आस्वादन कर सकोगे।' वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मण-जन्ममें उपासना करके अन्तमें प्रभुके साथ अनन्य भावसे मिल गये।

श्रीप्रियव्रतजी

स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रतजी जन्मसे ही भगवान्के परम भक्त थे। उन्हें भगवान्के गुण-गान, उन उत्तमश्लोकके मंगलचरित-श्रवणको छोड़कर कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। देवर्षि नारदकी कृपासे उन परमभागवतने परमार्थतत्त्वको जान लिया था। वे देवर्षिके समीप गन्धमादनपर्वतपर रहकर निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते और नारदजीसे भगवान्की परम पावन लीलाका श्रवण करते। जब मनुजी ब्रह्मसत्रकी दीक्षा लेने लगे, तब उन्होंने प्रियव्रतको राज्य करनेके लिये बुलाया; किंतु जिनका चित्त भगवान् वासुदेवमें ही सब ओरसे लगा था, उन प्रियव्रतजीको राज्यके सुख-भोग अच्छे न लगे। उन्होंने संसारके विषयोंको विषके समान समझ लिया था। अतएव राज्य-संचालन उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

प्रियव्रतने जब राज्य करना अस्वीकार कर दिया, तब स्वयं भगवान् ब्रह्मा उन्हें समझानेके लिये ब्रह्मलोकसे वहाँ पधारे। आकाशसे हंसवाहन सृष्टिकर्ताको आते देख नारदजी और प्रियव्रत खड़े हो गये। उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके उनका पूजन किया। ब्रह्माजीने कहा—'बेटा प्रियव्रत! अप्रमेय, सर्वेश्वर प्रभुने जो कर्तव्य तुम्हें दिया है, उसमें तुम्हें दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये। मैं, शंकरजी, महर्षिगण विवश होकर उन प्रभुके आदेशका पालन करते हैं। कोई भी देहधारी तपस्या, विद्या, योगबल, अर्थ या धर्मके द्वारा स्वयं या दूसरोंकी सहायतासे भी उन सर्वसमर्थके किये विधानको अन्यथा नहीं कर सकता। उन प्रभुको प्रसन्न करना ही तुम्हारा भी उद्देश्य है, अतः तुम्हें उनके विधानसे प्राप्त कर्तव्यका पालन करना चाहिये। देखो, जो मुक्त पुरुष हैं, उन्हें भी अभिमानशून्य होकर प्रारब्ध शेष रहनेतक देह धारण करना ही पड़ता है। वे

भी प्रारब्ध-भोग भोगते ही हैं; किंतु जैसे स्वप्नमें अनुभव किये भोग जाग जानेवालेको बाधित नहीं करते, वैसे ही वे प्रारब्धके भोग मुक्त पुरुषोंको दूसरा शरीर नहीं दे पाते। रही घरमें रहने और वनमें तप करनेकी बात, सो जो प्रमत्त है, उसके लिये वनमें भी पतनका भय है; क्योंकि उसके चित्तमें काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर—ये छः विकार लगे हैं। किंतु जो सावधान है, जितेन्द्रिय है, आत्मचिन्तनमें लगा है, भगवदाश्रयी है, उसकी गृहस्थाश्रम क्या हानि कर सकता है, जो कामादि छः रिपुओंको जीतना चाहता हो, उसे पहले गृहस्थाश्रममें रहकर ही इनको जीत लेना चाहिये; क्योंकि गृहस्थाश्रमके भोगोंको भोगता हुआ किलेमें सुरक्षित राजाके समान शत्रुरूप इन विकारोंको वह सरलतासे जीत सकता है। तुम तो कमलनाभ नारायणके चरणकमलरूपी गढ़का आश्रय लेकर सभी विकारोंको जीत चुके हो; अतः अब भगवान्‌के दिये हुए भोगोंको भोगो और आसक्तिरहित होकर प्रजाका पालन करो।'

प्रियव्रतने अपनेसे श्रेष्ठ ब्रह्माजीकी आज्ञा स्वीकार की। लोकस्रष्टा उनसे सत्कृत होकर अपने लोकको चले गये। प्रियव्रत नगरमें आये। ब्रह्माजीके इस उपदेशमें आजके साधकोंके लिये बहुत ही महत्त्वकी बातें बतायी गयी हैं। किसी भी उत्तेजना या दुःखके कारण घरका त्याग करना कल्याणकारी नहीं है। घर छोड़कर बाहर जानेसे अधिक भजन होगा—यह भी मनका एक भ्रम ही है। जबतक मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर हैं, तबतक घर छोड़ देनेपर पतनका भय ही अधिक है। इन दोषोंपर घर रहकर जितनी सरलतासे विजय पायी जा सकती है, उतनी बाहर नहीं। भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर, भगवन्नामका जप करते हुए, कर्तव्यका पालन करते हुए घर रहकर ही इन दोषोंको जीतना चाहिये। इन शत्रुओंसे बचे रहनेके लिये घर सुरक्षित किला है। जो घरमें इन दोषोंसे घबराता है, उसे जानना चाहिये कि बाहर उसकी कठिनाई और बढ़ जायगी, दोषोंको बढ़नेके लिये बाहर अधिक अवसर मिलेगा।

ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर प्रियव्रत राजधानीमें आये। उन्होंने राज्य और गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। प्रजापति विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे उन्होंने विवाह किया। उनके दस पुत्र और एक कन्या हुई। प्रियव्रत सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके स्वामी थे। उन्हें यह अच्छा न लगा कि आधी पृथ्वीपर एक समय दिन और आधीपर रात्रि रहे। 'मैं रात्रिको भी दिन बना दूँगा।' यह सोचकर अपने ज्योतिर्मय दिव्य रथपर बैठकर वे सूर्य-रथकी गतिके समान ही वेगसे रात्रिवाले भागमें यात्रा करने लगे। इस प्रकार सात दिन-रात्रि वे घूमते रहे और उतने काल उन्होंने पूरे भूमण्डलपर दिनके समान प्रकाश बनाये रखा। ब्रह्माजीने इस कार्यसे उन्हें रोका। उनके रथके पहियोंसे ही सात समुद्र बन गये। उन समुद्रोंसे घिरे एक-एक द्वीपका अधिपति उन्होंने अपने एक-एक पुत्रको बनाया। आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र—ये उनके सात पुत्र क्रमशः जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप तथा पुष्करद्वीपके स्वामी हुए। कवि, महावीर और सवन—ये तीन पुत्र आजन्म ब्रह्मचारी, आत्मवेत्ता परमहंस हो गये।

इतना बड़ा अखण्ड साम्राज्य, पूरे भूमण्डलका ऐश्वर्य, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि समस्त सुख और स्वर्गादि लोकोंके लोकपाल भी उनके मित्र ही थे; किंतु भगवान्‌के परम भक्त प्रियव्रतको इन सबका तनिक भी मोह नहीं था। उन्हें लगता था कि व्यर्थ ही मैंने यह प्रपंच बढ़ाया। वे अपनेको गृहासक्त तथा पत्नीमें कामासक्त मानकर बराबर धिक्कारते थे। पुत्रोंको राज्य देकर वे सम्पूर्ण ऐश्वर्यका त्याग करके फिर गन्धमादनपर नारदजीके पास चले गये। भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना उन्होंने अपना एकमात्र व्रत बना लिया। कर्मके द्वारा, पुण्यके द्वारा और योगके द्वारा मिलनेवाला पृथ्वी और स्वर्गादि लोकोंका समस्त भोग उन्हें प्राप्त था; किंतु उन महाभागने उसे नरकके भोगके समान मानकर त्याग दिया। परमपुरुष भगवान्‌के अनन्त सुधा-सिन्धुमें

जिनका चित्त निमग्न हो गया है, वे धन्यभाग्य भगवद्भक्त ही ऐसा त्याग कर सकते हैं!

श्रीपृथुजी

श्रीपृथुजीका चरित्र छप्पय ५ में आया है।

महाराज परीक्षित्

सुभद्राकुमार अभिमन्युकी पत्नी महाराज विराट्‌की पुत्री उत्तरा गर्भवती थीं। उनके उदरमें कौरव एवं पाण्डवोंका एकमात्र वंशधर था। अश्वत्थामाने उस गर्भस्थ बालकका विनाश करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। भयविह्वल उत्तरा भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गयी। भगवान्‌ने उसे अभयदान दिया और बालककी रक्षाके लिये वे सूक्ष्मरूपसे उत्तराके गर्भमें स्वयं पहुँच गये। गर्भस्थ शिशुने देखा कि एक प्रचण्ड तेज चारों ओरसे समुद्रकी भाँति उमड़ता हुआ उसे भस्म करने आ रहा है। इसी समय बालकने अँगूठेके बराबर ज्योतिर्मय भगवान्‌को अपने पास देखा। भगवान् अपने कमलनेत्रोंसे बालकको स्नेहपूर्वक देख रहे थे। उनके सुन्दर श्याम-वर्णपर पीताम्बरकी अद्भुत शोभा थी। मुकुट, कुण्डल, अंगद, किंकिणी प्रभृति मणिमय आभरण उन्होंने धारण कर रखे थे। उनके चार भुजाएँ थीं और उनमें शंख, चक्र, गदा, पद्म थे। अपनी गदाको उल्काके समान चारों ओर शीघ्रतासे घुमाकर भगवान् उस उमड़ते आते अस्त्र-तेजको बराबर नष्ट करते जा रहे थे। बालक दस महीनेतक भगवान्‌को देखता रहा। वह सोचता ही रहा—'ये कौन हैं?' जन्मका समय आनेपर भगवान् वहाँसे अदृश्य हो गये। बालक मृत-सा उत्पन्न हुआ; क्योंकि जन्मके समय उसपर ब्रह्मास्त्रका प्रभाव पड़ गया था। तुरंत श्रीकृष्णचन्द्र प्रसूतिकागृहमें आये और उन्होंने उस शिशुको जीवित कर दिया। यही बालक परीक्षित्‌के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

जब परीक्षित् बड़े हुए, पाण्डवोंने इन्हें राज्य सौंप दिया और स्वयं हिमालयपर चले गये। प्रतापी एवं धर्मात्मा परीक्षित्‌ने राज्यमें पूरी सुव्यवस्था स्थापित की। एक दिन जब ये दिग्विजय करने निकले थे, इन्होंने एक उज्ज्वल साँड़ देखा, जिसके तीन पैर टूट गये थे। केवल एक ही पैर शेष था। पास ही एक गाय रोती हुई उदास खड़ी थी। एक काले रंगका शूद्र राजाओंकी भाँति मुकुट पहने, हाथमें डण्डा लिये गाय और बैलको पीट रहा था। यह जाननेपर कि गौ पृथ्वीदेवी हैं और वृषभ साक्षात् धर्म है तथा यह कलियुग शूद्र बनकर उन्हें ताड़ना दे रहा है—परीक्षित्‌ने उस शूद्रको मारनेके लिये तलवार खींच ली। शूद्रने अपना मुकुट उतार दिया और वह परीक्षित्‌के पैरोंपर गिर पड़ा। महाराजने कहा—'कलि! तुम मेरे राज्यमें मत रहो। तुम जहाँ रहते हो, वहाँ असत्य, दम्भ, छल-कपट आदि अधर्म रहते हैं।' कलिने प्रार्थना की—'आप तो चक्रवर्ती सम्राट् हैं; अतः मैं कहाँ रहूँ, यह आप ही मुझे बता दें। मैं कभी आपकी आज्ञा नहीं तोड़ूँगा।' परीक्षित्‌ने कलिको रहनेके लिये जुआ, शराब, स्त्री, हिंसारूप स्थान बताये। ये कलिके निवास हैं। इनसे प्रत्येक कल्याणकामीको बचना चाहिये। कलिने पुनः कहा—राजन्! आपने मुझे जो स्थान दिये, वे सब निकृष्ट कोटिके हैं, अतः मुझे कोई अच्छा स्थान भी दीजिये। इसपर राजाने उसे सुवर्णमें रहनेके लिये कहा।

एक दिन आखेट करते हुए परीक्षित् वनमें भटक गये। भूख और प्याससे व्याकुल वे एक ऋषिके आश्रममें पहुँचे। ऋषि उस समय ध्यानस्थ थे। राजाने उनसे जल माँगा, पुकारा; पर ऋषिको कुछ पता नहीं लगा। इसी समय कलिने राजापर अपना प्रभाव जनाया। उन्हें लगा कि जान-बूझकर ये मुनि मेरा अपमान करते हैं। पासमें ही एक मरा सर्प पड़ा था। उन्होंने उसे धनुषसे उठाकर ऋषिके गलेमें डाला—यह परीक्षा करनेके लिये कि ऋषि ध्यानस्थ हैं या नहीं, और फिर वे राजधानी लौट गये। बालकोंके साथ खेलते हुए उन ऋषिके तेजस्वी पुत्रने जब यह समाचार पाया, तब शाप दे दिया—'इस दुष्ट राजाको आजके सातवें

दिन तक्षक काट लेगा।'

उस समय वे भीमसेनद्वारा विजित मगधराज जरासंधका स्वर्ण-मुकुट सिरपर धारण किये थे। उसमें कलिका वास हो गया था, इसीलिये उनसे यह अकरणीय कृत्य हो गया था। घर पहुँचकर मुकुट उतारनेपर परीक्षित्को स्मरण आया कि 'मुझसे आज बहुत बड़ा अपराध हो गया।' वे पश्चात्ताप कर ही रहे थे, इतनेमें शापकी बातका उन्हें पता लगा। इससे राजाको तनिक भी दुःख नहीं हुआ। अपने पुत्र जनमेजयको राज्य देकर वे गंगातटपर जा बैठे। सात दिनोंतक उन्होंने निर्जल व्रतका निश्चय किया। उनके पास उस समय बहुत-से ऋषि-मुनि आये। परीक्षित्ने कहा—'ऋषिगण! मुझे शाप मिला, यह तो मुझपर भगवान्की कृपा ही हुई। मैं विषयभोगोंमें आसक्त हो रहा था, दयामय भगवान्ने शापके बहाने मुझे उनसे अलग कर दिया। अब आप मुझे भगवान्का पावन चरित सुनाइये।' उसी समय वहाँ घूमते हुए श्रीशुकदेवजी पहुँच गये। परीक्षित्ने उनका पूजन किया। उनके पूछनेपर शुकदेवजीने सात दिनोंमें उन्हें पूरे श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। अन्तमें परीक्षित्ने अपना चित्त भगवान्में लगा दिया। तक्षकने आकर उन्हें काटा और उसके विषसे उनकी देह भस्म हो गयी; पर वे तो पहले ही शरीरसे ऊपर उठ चुके थे। उनको इस सबका पतातक नहीं चला।

श्रीशेषजी

शास्त्रोंमें भगवान्के पंचविध स्वरूप माने गये हैं। इनमें एक रूप 'व्यूह' के नामसे प्रसिद्ध है। यह रूप सृष्टि-पालन और संहार करनेके लिये, संसारीजनोंका संरक्षण करनेके लिये और उपासकोंपर अनुग्रह करनेके लिये ग्रहण किया जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार व्यूह हैं। वास्तवमें संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं। वासुदेव तो व्यूहमण्डलमें आकर व्यूहरूपमें केवल गिने जाते हैं। इनमेंसे संकर्षण जीवतत्त्वके अधिष्ठाता हैं। इनमें ज्ञान और बल—इन दो गुणोंकी प्रधानता है। यही 'शेष' अथवा 'अनन्त' के रूपमें पातालमूलमें रहते हैं और प्रलयकालमें इन्हींके मुखमेंसे संवर्तक अग्नि प्रकट होकर सारे जगत्को भस्म कर देती है। ये ही भगवान् आदिपुरुष नारायणके पर्यंक-रूपमें क्षीरसागरमें रहते हैं। ये अपने सहस्र मुखोंके द्वारा निरन्तर भगवान्का गुणानुवाद करते रहते हैं और अनादि कालसे यों करते रहनेपर भी अघाते या ऊबते नहीं। ये भक्तोंके परम सहायक हैं और जीवको भगवान्की शरणमें ले जाते हैं। इनकी सारे देवता वन्दना करते हैं। इनके बल, पराक्रम, प्रभाव और स्वरूपको जानने अथवा वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, नाग आदि कोई भी इनके गुणोंकी थाह नहीं लगा सकते—इसीसे इन्हें 'अनन्त' कहते हैं। ये पंचविध ज्योतिःसिद्धान्तके प्रवर्तक माने गये हैं। ये सारे विश्वके आधारभूत भगवान् नारायणके श्रीविग्रहको धारण करनेके कारण सब लोकोंमें पूज्य और धन्यतम कहे जाते हैं। ये सारे ब्रह्माण्डको अपने मस्तकपर धारण किये रहते हैं। ये भगवान्के निवास—शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, पादपीठ, तकिया तथा छत्रके रूपमें शेष अर्थात् अंगीभूत होनेके कारण 'शेष' कहलाते हैं। त्रेतायुगमें श्रीलक्ष्मणजीके रूपमें और द्वापरमें श्रीबलरामजीके रूपमें ये ही अवतीर्ण होकर भगवान्की लीलामें सहायक बनते हैं। ये भगवान्के नित्य परिकर, नित्यमुक्त एवं अखण्ड ज्ञानसम्पन्न माने जाते हैं।

श्रीसूतजी

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥*

* सब शास्त्रोंका मन्थन करके तथा पुनः-पुनः विचार करके यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् नारायण ही सदा ध्यान करनेयोग्य हैं।

रोमहर्षणजी सूत जातिके थे। ये भगवान् वेदव्यासजीके परमप्रिय शिष्य थे। भगवान् व्यासने इन्हें समस्त पुराणोंको पढ़ाया और आशीर्वाद दिया कि तुम समस्त पुराणोंके वक्ता होओगे। इसीलिये ये समस्त पुराणोंके वक्ता माने जाते हैं। ये सदा ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते रहते थे और सबको पुराणोंकी कथा सुनाया करते थे। नैमिषारण्यमें अठासी हजार ऋषि वास करते थे, सूतजी उनके यहाँ सदा कथा कहा करते थे। यद्यपि ये सूत जातिके थे, किंतु पुराणोंके वक्ता होनेके कारण समस्त ऋषि इनका आदर करते थे और उच्चासनपर बिठाकर इनकी पूजा करते थे। इनकी कथा इतनी अद्भुत होती थी कि आसपासके ऋषिगण जब सुन लेते थे कि अमुक जगह सूतजी आये हैं तो सभी दौड़-दौड़कर इनके पास आ जाते और चित्र-विचित्र कथाएँ सुननेके लिये इन्हें घेरकर चारों ओर बैठ जाते। पहले तो ये सब ऋषियोंकी पूजा करते, उनका कुशल-प्रश्न पूछते और कहते—'ऋषियो! आप कौन-सी कथा मुझसे सुनना चाहते हैं?' इनके प्रश्नको सुनकर शौनक या और कोई वृद्ध ऋषि किसी तरहका प्रश्न कर देते और कह देते—'रोमहर्षण सूत! यदि हमारा यह प्रश्न पौराणिक हो और पुराणोंमें गाया गया हो, तो इसका उत्तर दीजिये।'

ऐसी कौन-सी बात है, जो पुराणोंमें न हो। पहले तो सूत उनके प्रश्नका अभिनन्दन करते और फिर कहते 'आपका यह प्रश्न पौराणिक ही है। इसके सम्बन्धमें मैंने अपने गुरु भगवान् व्याससे जो कुछ सुना है, उसे आपके सामने कहता हूँ, सावधान होकर सुनिये।' इतना कहकर सूतजी कथाका आरम्भ करते और यथावत् समस्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कथाएँ सुनाते। इस प्रकार ये सदा भगवल्लीलाकीर्तनमें लगे रहते थे। इनसे बढ़कर भगवान्‌का कीर्तनकार कौन होगा। इनकी मृत्यु भगवान् बलदेवजीके द्वारा हुई। नैमिषारण्यमें तीर्थयात्रा करते हुए बलदेवजी पहुँचे। ये उस समय व्यासासनपर बैठे थे, उस आसनकी गरिमाके कारण ये उन्हें देखकर उठे नहीं। इसपर बलरामजीको क्रोध आ गया और उन्होंने इनका सिर काट लिया। ऋषियोंने बलरामजीसे कहा—'यह आपने अच्छा नहीं किया, हमने इन्हें दीर्घ आयु देकर इस उच्चासनपर बिठाया था। आपको ब्रह्महत्याका पाप लगा है, आप प्रायश्चित्त करें।' ऋषियोंकी आज्ञा बलदेवजीने शिरोधार्य की और उन्होंने जैसा प्रायश्चित्त बताया था, वैसा किया। उस समयसे इनके पुत्र उग्रश्रवाको वह गद्दी दी गयी और तबसे रोमहर्षणकी जगह उग्रश्रवा पुराणोंके वक्ता हुए। **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** के नाते उग्रश्रवामें अपने पिताके समस्त गुण मौजूद थे।

महाशाल श्रीशौनकजी

ये नैमिषारण्यके अठासी हजार ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी ऋषियोंमें प्रधान ऋषि थे। भृगुवंशमें उत्पन्न होनेसे भार्गव और शुनकके अपत्य होनेके कारण इनका नाम शौनक पड़ा। समस्त पुराणोंको और महाभारतको इन्होंने ही सूतजीके मुखसे सुना था। पुराणोंको श्रवण करनेवाला ऐसा कौन-सा मनुष्य होगा, जो इनके नामको न जानता हो। समस्त पुराणोंमें **'शौनक उवाच'** पहले ही आता है। हमें पुराणोंमें व्रतोंका माहात्म्य तथा तीर्थोंकी महिमा—जो कुछ भी सुनायी पड़ती है, सब शौनकजीकी ही कृपाका फल है। ये हजारों वर्षका श्रवणसत्र करते थे। एक जगह कहा है—

कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः॥

'कलियुगको आया देखकर हम सब ऋषि इस वैष्णव क्षेत्रमें भगवान्‌की कथाओंका आनन्द लेते हुए दीर्घकालका सत्र कर रहे हैं।' इनका समस्त समय भगवत्कथाश्रवणमें ही व्यतीत होता था। ऋषियोंमें जैसा विशुद्ध और संयमयुक्त चरित्र महर्षि शौनकका मिलता है, वैसा अन्य किसी ऋषिका शायद ही हो। ये नियमसे

हवन आदि नित्यकर्म करके कथाश्रवणके लिये बैठ जाते थे और फिर भगवान्‌की कथाओंमें ही पूरा समय लगाते थे। इस प्रकार शौनकजी, हमें पुराण कैसे सुनने चाहिये, इसकी शिक्षा देते हैं। भगवच्चरित्र सुनकर कैसे अनुमोदन करना चाहिये, कथामें किस प्रकार एकाग्रता रखनी चाहिये और समयका कैसे सदुपयोग करना चाहिये, इन समस्त बातोंकी शिक्षा हमें शौनकजीके चरित्रसे मिलती है।

श्रीप्रचेतागण

महाराज पृथुके वंशमें बर्हिषद् नामके एक महानुभाव राजा हुए। वे प्रजाका नीतिपूर्वक पालन करनेवाले, यज्ञादिके अनुष्ठानरूप कर्मकाण्डमें तथा प्राणायाम आदि योगाभ्यासमें पारंगत और परम पुण्यात्मा थे। उन्होंने जहाँ एक यज्ञ किया, उसके समीप ही दूसरा यज्ञ किया और दूसरेके समीप ही तीसरा यज्ञ किया। इस प्रकार उन्होंने यज्ञोंका ताँता-सा लगा दिया, जिससे यह सारा भूमण्डल प्राङ्मुख दर्भोंसे आच्छादित यज्ञमण्डप-सा बन गया। इसीसे ये प्राचीनबर्हि नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने देवाधिदेव ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी शतद्रुति नामक कन्याके साथ विवाह किया और उसके द्वारा उन्होंने प्रचेता नामके दस पुत्र उत्पन्न किये। ये सब-के-सब भगवान्‌की आराधनारूप धर्ममें परिनिष्ठित थे। ये जब वयस्क हुए तो पिताने इन्हें विवाहकर संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी। भगवान्‌के अनुग्रहके बिना उत्तम संतानका होना कठिन है, यह सोचकर वे भगवान्‌की प्रसन्नताके निमित्त तप करनेको पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये। चलते-चलते समुद्रके समीप उन्होंने समुद्रसे कुछ ही छोटे एक सरोवरको देखा, जिसका जल सत्पुरुषोंके अन्तःकरणके समान निर्मल था और जिसमें रहनेवाले मत्स्य, कच्छप आदि प्राणी शान्त थे। वहाँ मृदंग और झाँझ आदि बाजोंके साथ गन्धर्वोंका मनोहर गान हो रहा था। उस दिव्य गानको सुनकर वे राजपुत्र परम विस्मित हुए। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि साक्षात् देवाधिदेव महादेव नन्दीश्वर आदि सेवकोंको लिये हुए उस सरोवरमेंसे निकल रहे हैं। उन्हें देखकर राजपुत्रोंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। भगवान् शंकर भी उन राजपुत्रोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—'हे राजपुत्रो! तुम राजा प्राचीनबर्हिके पुत्र हो और तुम्हारे मनमें भगवान्‌की आराधना करनेकी इच्छा है, यह सब मैं जानता हूँ और तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैंने तुम्हें दर्शन दिये हैं। जो जीव भगवान् वासुदेवकी शरणमें चला जाता है, उससे बढ़कर मुझे कोई भी प्रिय नहीं है। जैसे भगवान् मुझे प्रिय हैं, उसी प्रकार तुम भगवद्भक्त भी मुझे प्रिय हो। भगवान्‌के भक्तोंको भी मुझसे अधिक प्रिय कोई नहीं है। अतः मैं तुम्हें जप करनेयोग्य, पवित्र, मंगलकारी, श्रेष्ठ और भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति करा देनेवाले स्तोत्रको* कहता हूँ। उसे धारणकर एकान्तमें मौन होकर उसका जप करो। शुद्धचित्त होकर अपने धर्मका आचरण करते हुए और अपना अन्तःकरण भगवान्‌को समर्पित करके इस स्तोत्रका जप करनेसे अवश्य तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति होगी। साथ-साथ अपने तथा दूसरे समस्त प्राणियोंके अन्दर रहनेवाले भगवान्‌का ध्यान और पूजन भी करते रहना चाहिये।' यह कहकर भगवान् शंकरने उन्हें अड़सठ श्लोकोंका वह उत्तम स्तोत्र कह सुनाया और राजपुत्रोंसे पूजित होकर वे उनके सामने वहीं अन्तर्धान हो गये।

राजपुत्रोंने उस स्तोत्रका जप करते हुए समुद्रके अन्दर कटिपर्यन्त जलमें खड़े होकर दस हजार वर्षतक तप किया। उनके इस तपसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि शुद्ध सत्त्वगुणी मूर्ति धारणकर अपनी कान्तिसे उनके तपजनित क्लेशको दूर करते हुए उनके समीप प्रकट हुए और बोले—'हे राजपुत्रो! तुम लोग बड़े प्रेमके साथ भगवदाराधनरूप एक ही धर्मका आचरण कर रहे हो, तुम्हारे इस सखाभावसे हम बहुत प्रसन्न हैं। इसलिये हमसे इच्छित वर माँगो। जो मनुष्य प्रतिदिन सन्ध्याके समय तुम्हारा स्मरण करेगा, उसका

* जिन्हें यह स्तोत्र देखना हो, उन्हें श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धका २४वाँ अध्याय देखना चाहिये।

भ्राताओंमें तथा सकल प्राणियोंमें तुम्हारे ही समान प्रेम उत्पन्न होगा। तुम्हें ब्रह्माके समान एक लोकप्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न होगा, जो अपनी संतानके द्वारा इस त्रिलोकीको भर देगा।' भगवान्‌के इन वाक्योंको सुनकर प्रचेतागण कृतज्ञतासे गद्‌गद हो गये। उन्होंने भगवान्‌की अनेक प्रकारसे स्तुति की और बोले 'प्रभो, आप तो घट-घटमें व्यापक हैं, आपसे कोई बात छिपी नहीं रह सकती; अतः हमारे मनोरथको भी आप भलीभाँति जानते हैं। फिर भी यदि आप हमारे मनोरथको हमींसे सुनना चाहते हैं तो हम तो यही जानते हैं कि परम पुरुषार्थरूप आप स्वयं हमपर प्रसन्न हुए हैं, इससे बढ़कर हमारे लिये अभीष्ट वर क्या हो सकता है? आपकी कृपासे आपके चरणोंका सान्निध्य प्राप्त हो जानेके बाद ऐसी कौन-सी वस्तु रह जाती है, जो हम आपसे माँगें? अतः हम तो आपसे इतना ही चाहते हैं कि आपकी मायासे मोहित हुए हम अपने कर्मोंद्वारा जबतक इस संसारमें भ्रमण करते रहें तबतक प्रत्येक जन्ममें हमें आपके भक्तोंका संग मिलता रहे। सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या है, साधुसमागमके सामने हम स्वर्ग तथा मोक्षको भी कुछ नहीं समझते। दूसरा वरदान आपसे हम यह माँगते हैं कि जलमें खड़े होकर दीर्घकालपर्यन्त जो हमने तप किया है, वह आपकी प्रसन्नताका कारण हो।'

प्रचेताओंके इन प्रेमभरे वचनोंको सुनकर भगवान् बड़े सन्तुष्ट हुए और 'तथास्तु' कहकर अपने धामको चले गये। उनके चले जानेपर प्रचेतागण समुद्रमेंसे बाहर निकले और उन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे वृक्षोंकी दी हुई मारिषा नामक कन्याके साथ विवाह कर लिया। उस मारिषाके गर्भसे ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने (जिन्होंने चाक्षुष मन्वन्तरमें भगवान् शंकरका अपराध करनेके कारण अपना शरीर त्याग दिया था) पुनः जन्म धारण किया। कर्मोंमें दक्ष होनेके कारण उन्हें भी लोग 'दक्ष' नामसे पुकारने लगे। उन्हें जब ब्रह्माजीने प्रजाओंकी सृष्टि और रक्षाके कार्यमें नियुक्त कर दिया तो ये प्रचेतागण अपनी भार्याको अपने पुत्रके अधीन करके घर छोड़कर वनको चल दिये। उन्होंने पहलेकी भाँति पश्चिम दिशामें समुद्रतटपर जाकर ब्रह्मसत्रकी दीक्षा ग्रहण की अर्थात् आत्मविचार करनेका संकल्प किया। तदनन्तर वे प्राण, मन, वाणी और दृष्टिको वशमें करके, आसनोंपर विजय प्राप्तकर तथा मूलाधार चक्रसे मस्तकपर्यन्त सारे अंगोंको शान्त तथा स्थिर करके शुद्ध ब्रह्ममें मनको लगानेका अभ्यास करने लगे। वे जब इस प्रकार साधनमें लगे हुए थे, उन दिनों नारदजी उनके पास आये। देवर्षिको आते देख ये सब-के-सब उठ खड़े हुए और उन्हें आसनपर बिठाकर विधिपूर्वक उनका पूजन किया। जब नारदजी स्वस्थ होकर बैठ गये, तब प्रचेतागण उनसे इस प्रकार कहने लगे—'हे देवर्षि! आज हम आपके आगमनसे सनाथ हो गये। आपने कृपा करके हमें दर्शन दिये, इसके लिये हम आपके चिरऋणी रहेंगे। अब आप हमारे ऊपर एक कृपा और कीजिये। हमें देवाधिदेव शंकर और भगवान् नारायणने तत्त्वज्ञानका जो उपदेश दिया था, उसे हम लोग भूल-से गये हैं। अतः आप कृपा करके हमें उसी ज्ञानको फिरसे कहिये।' उनकी इस प्रार्थनाको स्वीकारकर नारदजीने उन्हें आत्मतत्त्वका उपदेश दिया और भगवान् तथा उनके भक्तोंके अनेक इतिहास सुनाकर वे ब्रह्मलोकको चले गये। तदनन्तर वे प्रचेतागण भी देवर्षि नारदके मुखसे भगवान्‌के मंगलमय यशको सुनकर उन्हींके चरणोंका ध्यान करते हुए देवदुर्लभ गतिको प्राप्त हुए। (श्रीमद्भागवतके आधारपर)

श्रीशतरूपाजी

शतरूपाजी मानव सर्गकी आदिमाता हैं। ये स्वायम्भुव मनुकी पत्नी थीं। मनु और शतरूपासे ही मानव-सृष्टिका आरम्भ हुआ। श्रुति भी कहती है—**'ततो मनुष्या अजायन्त।'** मनु और शतरूपा दोनों ही ब्रह्माजीके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं। दक्षिण भागसे मनुका और वाम भागसे शतरूपाका प्रादुर्भाव हुआ है। बृहदारण्यक

उपनिषद्में बतलाया गया है—केवल मनुष्य ही नहीं, सैकड़ों प्रकारके पशु भी इन्हीं दोनोंकी संतान हैं। शतरूपा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली तथा संकोचशीला स्त्री थीं। अतः प्रथम समागमके अवसरपर इन्होंने सैकड़ों रूप धारण करके अपनेको मनुकी दृष्टिसे छिपानेका प्रयत्न किया; किंतु उन सभी रूपोंमें मनुने उन्हें पहचाना और वैसा ही रूप धारण करके उनसे भेंट की। इस प्रकार सैकड़ों रूप धारण करनेके कारण ही सम्भवतः उनका नाम शतरूपा हो गया। जिन-जिन पशुओंके रूप इन्होंने धारण किये, उन सभीके रूपमें एक-एक संतान छोड़ दी। मानवी-सृष्टिका आदि स्रोत मनुसे ही आरम्भ हुआ। उन्हींके नामपर संसारके नर और नारी मानव कहलाते हैं।

स्वायम्भुव मनु ब्रह्मावर्तके राजा थे। सब प्रकारकी सम्पदाओंसे युक्त बर्हिष्मती नगरी उनकी राजधानी थी, जहाँ पृथ्वीको रसातलसे ले आनेके पश्चात् शरीर कँपाते समय श्रीवराहभगवान्के रोम झड़कर गिरे थे। वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और काश हुए, जिनके द्वारा मुनिजन यज्ञमें विघ्न डालनेवाले दैत्योंका तिरस्कार करके भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं। 'बर्हिष्' कहते हैं कुशोंको; उनकी अधिकता होनेके कारण ही मनुकी वह नगरी बर्हिष्मतीपुरीके नामसे प्रसिद्ध हुई। उसी पुरीमें महारानी शतरूपाके साथ मनुजी निवास करते थे। प्रतिदिन प्रेमपूर्ण हृदयसे भगवान्की कथाएँ सुनना, उनका नित्यका नियम था। वे दोनों दम्पती भलीभाँति धर्मका अनुष्ठान करते थे। आज भी वेद उनकी मर्यादाका गान करते हैं। मनु और शतरूपाके दो पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। पुत्रोंके नाम उत्तानपाद और प्रियव्रत थे और कन्याएँ आकूति, प्रसूति तथा देवहूतिके नामसे प्रसिद्ध हुई थीं। प्रसिद्ध भगवद्भक्त ध्रुव राजा उत्तानपादके ही पुत्र थे। राजा प्रियव्रतने इस पृथ्वीको सात भागोंमें विभक्त किया था। कन्याओंमेंसे आकूति रुचि प्रजापतिको ब्याही गयी थी, प्रसूति प्रजापति दक्षकी पत्नी थी और देवहूतिका विवाह महर्षि कर्दमसे हुआ था। देवहूतिके ही गर्भसे सांख्यशास्त्रके प्रणेता भगवत्स्वरूप महर्षि कपिलका अवतार हुआ था। महाराज मनुने बहुत समयतक राज्य किया और सब प्रकारसे प्रजापालन एवं शास्त्रमर्यादाकी रक्षारूप भगवान्की आज्ञाका पालन किया।

घरमें रहकर राज्य भोगते-भोगते चौथापन आ गया, परंतु विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ। इस बातका विचार करके राजाके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे—'हाय! हमारा सारा जन्म भगवान्का भजन किये बिना ही व्यर्थ बीत गया। तब मनुजीने अपने पुत्रको जबर्दस्ती राज्यपर बिठाया और स्वयं रानी शतरूपाको साथ ले वनको प्रस्थान किया। दोनोंने सहस्रों वर्षोंतक घोर तपस्या करके भगवान्को प्रसन्न किया। तब करुणानिधान भक्तवत्सल प्रभु श्रीराम उनके सामने प्रकट हो गये। भगवान्के श्रीअंगोंकी शोभा नीलकमल, नीलमणि तथा नीलमेघके समान श्याम थी, उसे देखकर कोटि-कोटि कामदेव लज्जित हो रहे थे। मुखपर शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी शोभा विहँस रही थी। मनोहर कपोल, सुन्दर ठोडी और शंखके सदृश ग्रीवा थी। लाल-लाल ओठ, स्वच्छ दन्त-पंक्ति, सुन्दर नासिका तथा चन्द्ररश्मियोंको तिरस्कृत करनेवाली हँसी सुशोभित थी। नेत्रोंकी छवि नवविकसित कमलके समान सुन्दर थी। मनोहारिणी चितवन जीको बहुत प्यारी लगती थी। सुन्दर भौंहें, ललाटपर प्रकाशमय तिलक, कानोंमें मकराकृत कुण्डल, मस्तकपर किरीट, कारी-कारी घुँघराली अलकें, वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और वनमाला, गलेमें पदक और हार तथा अन्य अंगोंमें भी मणिमय आभूषण शोभा पा रहे थे। सिंहकी-सी गर्दन, सुन्दर यज्ञोपवीत, हाथीकी सूँड़के समान मनोहर भुजदण्ड, कमरमें तरकस और हाथोंमें बाण एवं धनुष सुशोभित थे। पीताम्बरकी छवि बिजलीको लजा रही थी। उदरपर त्रिवलीकी रेखा देखने ही योग्य थी। नाभि ऐसी लगती थी, मानो यमुनाजीमें भँवर उठी हो। चरण-कमलोंकी शोभा अवर्णनीय थी। श्रीरघुनाथजीके वामभागमें उन्हींके समान शोभाकी निधि आदिशक्ति सीताजी शोभा पा रही थीं।

युगल सरकारकी यह मनोहर झाँकी देखकर मनु और शतरूपाकी पलकें स्थिर हो गयीं। वे एकटक दृष्टिसे उनकी रूप-माधुरीका पान कर रहे थे। देखते-देखते मन अघाता नहीं था। दोनों दम्पती आनन्दनिमग्न हो गये। शरीरकी सुध भूल गयी। भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श करके वे पृथ्वीपर दण्डकी भाँति पड़ गये। करुणामय भगवान्‌ने अपने हाथोंसे उनके मस्तकका स्पर्श किया और उन्हें तुरंत उठाकर खड़ा कर दिया; फिर वर माँगनेको कहा। राजाने कहा—'नाथ! आपके दर्शनसे ही सब अभिलाषा पूरी हो गयी, अब एक ही लालसा मनमें रह गयी है, वह यह कि आपके समान एक पुत्र हो जाय।' भगवान्‌ने कहा—'अपने-जैसा पुत्र कहाँ खोजता फिरूँगा, मैं ही तुम्हारा पुत्र बनूँगा।' इतना कहकर भगवान्‌ने शतरूपाकी ओर दृष्टिपात किया और कहा, 'देवि! तुम भी अपनी रुचिके अनुसार वर माँगो।' शतरूपाने कहा—'प्रभो! महाराजने जो वर माँगा है, वही मुझे भी प्रिय है; फिर भी आपकी आज्ञासे मैं एक वर माँगती हूँ; वह यह है—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु॥

यह कोमल, गूढ़ और मनोहर वाक्य-रचना सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये और बोले—'तुम्हारे मनमें जो कुछ अभिलाषा है, वह सब तुमको दे दी।' इतना कहकर भगवान्‌ने उसी दिन उन्हें माता कहकर पुकारा और विवेकका वरदान दिया—

मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥

इस प्रकार शतरूपाने अपनी अलौकिक भक्ति और तपस्यासे भगवान्‌को पुत्ररूपमें प्राप्त किया। वे दोनों दम्पती भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कुछ कालतक इन्द्रलोकमें रहे। उसके बाद मनु अयोध्याके चक्रवर्ती नरेश दशरथ हुए और शतरूपा उनकी पत्नी कौसल्या हुईं। श्रीरघुनाथजीने इनके पुत्ररूपमें प्रकट होकर इनको तो अनुगृहीत किया ही; साथ-ही-साथ अपनी पवित्र लीलाओंकी स्मृति छोड़ दी, जिसका गायन, स्मरण और कीर्तन करके जगत्‌के असंख्य मनुष्य परमपदकी प्राप्ति करते रहेंगे।

त्रयसुता

(१) आकूति

आकूतिजीका वर्णन छप्पय ५ में यज्ञावतारके प्रसंगमें आया है।

(२) प्रसूति

प्रसूतिजीका वर्णन छप्पय १२ में दक्षजीके प्रसंगमें आगे दिया है।

(३) देवहूति

देवहूतिका वर्णन छप्पय १६ में कर्दमजीके प्रसंगमें आगे दिया है।

श्रीसुनीतिजी

श्रीसुनीतिजीका वर्णन छप्पय ९ में ध्रुवके प्रसंगमें आया है।

श्रीसतीजी

पतिव्रता स्त्रियोंमें सबसे पहले दक्ष-कन्या सतीका नाम लिया जाता है। वे ही साध्वी स्त्रियोंकी आदर्श हैं। उन्हींके नामपर अन्य पतिव्रता स्त्रियाँ भी 'सती' की उपाधिसे विभूषित हुई हैं। सती-धर्म वही है, जिसका भगवती सतीने पालन किया है। उनके द्वारा स्वीकृत और पालित धर्म ही शास्त्रोंमें 'सती-धर्म' के नामसे संकलित है।

भगवती सती साक्षात् सच्चिदानन्दमयी आद्या प्रकृति हैं। व्यक्त और अव्यक्त सब उन्हींके रूप हैं। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूपमें उन्हींकी अभिव्यक्ति होती है। वे ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी जननी हैं। उन्हींके भृकुटि-विलाससे जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्य होते हैं। वे सर्वत्र व्यापक और सर्वस्वरूप होकर भी सबसे विलक्षण हैं। जगत्‌के जीवोंपर करुणा करके लीलाके लिये ही वे सगुणरूपमें प्रकट हैं। भिन्न-भिन्न पुराणों और उपपुराण आदि ग्रन्थोंमें उनके प्रादुर्भावकी अनेकों कथाएँ विभिन्न रूपोंमें उपलब्ध होती हैं। कल्पभेदसे वे सभी ठीक भी हैं। यहाँ अति संक्षेपसे उनके जीवनकी कुछ बातें निवेदन की जाती हैं।

प्रसिद्ध है कि भगवान् शंकर स्वभावसे ही विरक्त एवं आत्माराम हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें ही उन्होंने स्त्री-परिग्रहकी इच्छा त्याग दी। ब्रह्माजीको उनके इस अखण्ड वैराग्यसे अपने सृष्टिकार्यमें बाधा पड़ती दिखायी दी। वे शंकरजीके वीर्यसे एक पराक्रमी पुत्र प्राप्त करना चाहते थे, जो विध्वंसकारी असुरोंका दमन करनेवाला तथा देवताओंका संरक्षक हो। इसके लिये उन्होंने शंकरजीसे विवाह करनेके लिये अनुरोध किया, किंतु वे अपने संकल्पसे विचलित न हुए। भगवान् शिव दीर्घकालीन समाधिमें संलग्न होकर सदा अपने इष्टदेव साकेत-विहारी श्रीरघुनाथजीका चिन्तन करते रहते थे। सृष्टि और संसारके झमेलेमें पड़ना उन्हें स्वीकार नहीं था। ब्रह्माजी एक ऐसी नारीकी खोजमें थे, जो महादेवजीके अनुकूल हो, उनके तेजको धारण कर सके और अपने दिव्य सौन्दर्यसे उनके मनपर भी अधिकार प्राप्त करनेमें समर्थ हो; किंतु ऐसी कोई स्त्री उन्हें दिखायी न दी, तब उन्होंने अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये भगवती विष्णुमायाकी आराधना करना ही उचित समझा।

ब्रह्माजीके नव मानस पुत्रोंमें प्रजापति दक्ष बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे हुई थी। एक समय शापवश इनको यह शरीर त्यागना पड़ा। उसके बाद वे दस प्रचेताओंके अंशसे उनकी पत्नी मारिषाके गर्भसे उत्पन्न हुए। तबसे प्राचेतस दक्षके नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। प्रजापति वीरणकी कन्या वीरिणी इनकी धर्मपत्नी थी।* ब्रह्माजीके आदेशसे दक्षने आराधना करके भगवतीको पुत्रीरूपमें प्राप्त किया। परंतु भगवतीने उनसे पहले ही कह दिया कि 'यदि तुम कभी मेरा तिरस्कार करोगे, तो मैं तुम्हारी पुत्री न रह सकूँगी। शरीर त्यागकर अन्यत्र चली जाऊँगी।'

कन्याका साधु-स्वभाव और भोलापन देखकर ही माता-पिताने उसका नाम 'सती' रख दिया था। सतीका हृदय बचपनसे ही भगवान् शंकरकी ओर आकृष्ट था। कुछ बड़ी होनेपर उसने खेल-कूद और मनोरंजनसे मनको हटा लिया और वह नियमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करने लगी। वह प्रातःकाल ब्राह्मवेलामें उठकर गंगास्नान करती और भगवान्‌की पार्थिव मूर्ति बनाकर फूल और बिल्वपत्र आदिसे उसकी विधिवत् पूजा करती थी। फिर नेत्र बन्द करके मन-ही-मन प्राणाधारका ध्यान धरती और उनसे मिलनेको उत्सुक होकर देरतक आँसू बहाया करती थी।

सच्चे प्रेमकी पिपासा प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। यही दशा सतीकी भी थी। उसके मन-प्राण भगवान् शंकरके लिये व्याकुल रहने लगे। उसे विरहका एक-एक क्षण युगके समान प्रतीत होता था। उसकी जिह्वापर 'शिव' का नाम था। हृदयमें उन्हींकी मनोहर मूर्ति बसी हुई थी। उसकी आँखें शिवके सिवा दूसरे पुरुषको देखना नहीं चाहती थीं। वह सोचती, 'क्या आशुतोष भगवान् शिव मुझ दीन अबलापर भी कभी कृपा करेंगे? क्या कभी ऐसा समय भी आयेगा, जब मैं अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित करके यह तन, मन, जीवन और यौवन सार्थक कर सकूँगी?' इन्हीं भावनाओंमें वह बेसुध रहती थी। सतीकी यह प्रेम-साधना आगे

* कहीं-कहीं स्वायम्भुव मनुकी कन्या 'प्रसूति' को इनकी धर्मपत्नी बताया गया है।

चलकर कठोर तपस्याके रूपमें परिणत हो गयी।

उधर ब्रह्मा आदि देवता भगवान् शंकरके पास गये और उनसे असुरविनाशक पुत्रकी प्राप्तिके लिये विवाह करनेका अनुरोध करने लगे। शिवने विवाहकी अनुमति दे दी और योग्य कन्याकी खोज करनेको कहा। ब्रह्माजीने कहा—'महेश्वर! दक्ष-कन्या सती आपको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये तपस्या कर रही हैं। वे ही आपके सर्वथा अनुरूप हैं। आप उन्हें ग्रहण करें।' शिवने 'तथास्तु' कहकर देवताओंको विदा कर दिया।

सतीकी व्रताराधना अब पूर्ण होनेको आयी। आश्विनमासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथि थी। सतीने उस दिन बड़े प्रेम और भक्तिके साथ अपने प्राणाराध्य महेश्वरका पूजन किया। दूसरे दिन व्रत पूर्ण होनेपर भगवान् शिव एकान्त कुटीरमें सतीके सम्मुख प्रकट हुए। सती निहाल हो गयी। जिनकी बाट जोहते-जोहते युग बीत गये थे, उन्हीं आराध्यदेवको सहसा सामने पाकर वे क्षणभरके लिये लज्जासे जडवत् हो गयीं। मन आनन्दके समुद्रमें लहरें लेने लगा। उनकी आँखें भगवान्के चरणोंमें जा लगीं। शरीर रोमांचित हो उठा। काँपते हाथोंसे प्रियतमका चरण-स्पर्श किया और भक्तिभावसे प्रणाम करके प्रेमाश्रुओंसे वह उनके पाँव पखारने लगी।

भगवान्ने अपने हाथोंसे सतीको उठाकर खड़ा किया। उस समय उसका रोम-रोम अनिर्वचनीय रसमें डूबा हुआ था। शंकरजी सतीकी तपस्याका उद्देश्य जानते थे, तो भी उन्होंने उन्हींके मुँहसे उनका मनोरथ सुननेके लिये कहा—'दक्षकुमारी! मैं तुम्हारी आराधनासे बहुत सन्तुष्ट हूँ। बताओ, किसलिये अपने कोमल अंगोंको इस कठोर साधनाके द्वारा कष्ट पहुँचाया है?'

सती संकोचसे मुख नीचे किये हुए बोलीं—'देवाधिदेव! आप घटघटवासी हैं, मेरी अभिलाषा आपसे छिपी नहीं है। आप स्वयं ही आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' सतीका यह अलौकिक प्रेम देखकर भगवान् शिव उसके हाथों बिना दाम बिक गये। वे सहसा बोल उठे—'देवि! तुम मेरी पत्नी बनकर मुझे अनुगृहीत करो।' सतीका हाथ भगवान् शिवके हाथमें था। प्रभुकी वह अनुरागभरी वाणी सुनकर वे पुनः रमणी-सुलभ लज्जाके वशीभूत हो गयीं। उनकी जन्म-जन्मकी साध अब पूरी होने जा रही थी। उस समय उनके मनमें कितना सुख, कितना आह्लाद था, इसका वर्णन नहीं हो सकता। उन्होंने थोड़ी ही देरमें अपनेको सँभाला और मन्द मुसकानके साथ संकोचयुक्त वाणीमें कहा—'भगवन्! मैं अपने पिताके अधीन हूँ; आप उनकी अनुमतिसे मुझे अपनी सेवाका सौभाग्य प्रदान करें।'

'बहुत अच्छा' कहकर शंकरजीने सतीको आश्वासन दिया और उससे विदा लेकर वे वहीं अन्तर्धान हो गये। इधर सतीकी तपस्या और वरदान-प्राप्तिकी बात दक्षके घरमें फैल गयी। उसे सुनकर दक्ष चिन्तामें पड़े थे कि 'किस प्रकार सतीका विवाह शिवजीके साथ होगा?' इतनेमें ही भगवान् शंकरकी अनुमतिसे ब्रह्माजीने आकर कहा—'मैं स्वयं ही शंकरजीको साथ लेकर यहाँ आऊँगा; तुम विवाहकी तैयारी करो।' नियत समयपर ब्रह्मा आदि देवताओंके साथ भगवान् शिव विवाहके लिये पधारे। उस समय भी उनका वही अड़भंगी वेष था। दक्षको उनकी वेष-भूषापर क्षोभ हुआ; फिर भी उन्होंने समारोहपूर्वक सतीका विवाह शिवजीके साथ कर दिया।

विवाहके पश्चात् सती माता-पितासे विदा हो पतिके साथ कैलासधाम चली गयीं। वे भगवान् शिवके साथ दीर्घकालतक वहाँके सुरम्य प्रदेशोंमें सुखसे रहने लगीं। देवताओं और यक्षोंकी कन्याएँ उनकी सेवा किया करती थीं। भगवान् शिवके पास अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि, योगी, यति, सन्त-महात्मा पधारते और

सत्संगका लाभ उठाया करते थे। सतीको वहाँ भगवच्चर्चामें बड़ा सुख मिलता था। उस दिव्य वातावरणमें रहते हुए उन्हें कितने ही युग बीत गये। सतीके तन, मन और प्राण केवल शिवकी आराधनामें लगे रहते थे। उनके पति, प्राणेश और देवता सब कुछ भगवान् शिव ही थे।

एक बार त्रेतायुग आनेपर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीहरिने रघुवंशमें अवतार लिया था। उस समय वे पिताके वचनसे राज्य-त्याग करके तापस-वेषमें दण्डकवनके भीतर विचरण कर रहे थे। इसी समय रावणने मारीचको कपटमृग बनाकर भेजा था और सूने आश्रमसे सीताको हर लिया था एवं श्रीरामजी साधारण मनुष्यकी भाँति विरहसे व्याकुल होकर लक्ष्मणजीके साथ वनमें सीताकी खोज कर रहे थे। जिनके कभी संयोग-वियोग नहीं है, उनमें भी विरहका दुःख प्रत्यक्ष देखा जा रहा था।

इसी अवसरपर भगवान् शंकर सतीदेवीको साथ लिये अगस्त्यके आश्रमसे राम-कथाका आनन्द लेकर कैलासको लौट रहे थे। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीरघुनाथजीको देखा, उनके हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ। श्रीराम शोभाके समुद्र हैं, उन्हें शिवजीने आँख भरकर देखा; परंतु ठीक अवसर न होनेसे परिचय नहीं किया। उनके मुँहसे सहसा निकल पड़ा—***'जय सच्चिदानंद जग पावन।'*** शंकरजी सतीके साथ चले जा रहे थे, आनन्दातिरेकसे उनके शरीरमें बारम्बार रोमांच हो आता था। सतीने जब उनकी इस अवस्थाको लक्ष्य किया तो उनके मनमें बड़ा सन्देह हुआ। वे सोचने लगीं—'शंकरजी तो सारे जगत्के वन्दनीय हैं; देवता, मनुष्य और मुनि सब इनको मस्तक झुकाते हैं; इन्होंने एक राजकुमारको 'सच्चिदानन्द परमधाम' कहकर प्रणाम कैसे किया और उसकी शोभा देखकर ये इतने प्रेममग्न कैसे हो गये कि अबतक इनके हृदयमें प्रीति रोकनेसे भी नहीं रुकती। जो ब्रह्म सर्वत्र व्यापक, मायारहित, अजन्मा, अगोचर, इच्छारहित और भेद-शून्य है, जिसे वेद भी नहीं जान पाता, वह क्या देह धारण करके मनुष्य बन सकता है? देवताओंके हितके लिये जो मनुष्य-शरीर धारण करनेवाले विष्णु हैं, वे भी तो शिवजीकी ही भाँति सर्वज्ञ हैं, भला वे कभी अज्ञानीकी भाँति स्त्रीको खोजते फिरेंगे? परंतु शिवजीने सर्वज्ञ होकर भी उन्हें 'सच्चिदानन्द' कहा है, उनकी बात भी तो झूठी नहीं हो सकती।

इस प्रकार सतीके मनमें महान् सन्देह खड़ा हो गया। यद्यपि उन्होंने प्रकट कुछ नहीं कहा, फिर भी अन्तर्यामी शिवजी सब जान गये। उन्होंने सतीको समझाकर कहा कि 'समस्त ब्रह्माण्डोंके अधिपति मायापति, नित्य, परम स्वतन्त्र ब्रह्मरूप मेरे इष्टदेव भगवान् श्रीरामने ही अपने भक्तोंके हितके लिये अपनी इच्छासे 'रघुकुल-रत्न' होकर अवतार लिया है।' पर सतीके मनमें उनका उपदेश नहीं बैठा। तब महादेवजी मन-ही-मन भगवान्की मायाका बल जानकर मुसकराते हुए बोले—'यदि तुम्हारे मनमें अधिक सन्देह है, तो जाकर परीक्षा क्यों नहीं लेतीं? जबतक तुम लौट न आओगी, मैं इसी बड़की छाँहमें बैठा रहूँगा।'

भोली-भाली सतीपर भगवान्की योगमायाका प्रभाव पड़ चुका था। वे पतिकी आज्ञा पाकर चलीं। इधर शंकरजी अनुमान करने लगे, 'आज सतीका कल्याण नहीं है। मेरे समझानेपर भी जब सन्देह दूर नहीं हुआ तो विधाता ही विपरीत है, इसमें भलाई नहीं है। जो कुछ रामने रच रखा है, वही होगा, तर्क करके कौन प्रपंचमें फँसे।' यों विचारकर वे भगवान्का नाम जपने लगे। उधर सतीने खूब सोच-विचारकर सीताका रूप धारण किया और आगे बढ़कर उस मार्गपर चली गयीं, जिधर श्रीरामचन्द्रजी आ रहे थे। लक्ष्मणजी सीताको मार्गमें खड़ी देखकर चकित हो गये। जिनके स्मरणमात्रसे अज्ञान मिट जाता है, उन सर्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने सारी बात जानकर मन-ही-मन अपनी मायाके बलका बखान करते हुए हाथ जोड़कर सीतारूपिणी सतीको प्रणाम किया। अपना और अपने पिताका नाम बतलाया तथा हँसकर पूछा—'देवि! शिवजी कहाँ हैं? आप

वनमें अकेली क्यों विचर रही हैं?' अब तो सतीजी संकोचसे गड़ गयीं। वे भयभीत होकर शंकरजीके पास लौट चलीं। उनके हृदयमें बड़ी चिन्ता हो गयी थी, वे सोचने लगीं—'हाय! मैंने स्वामीका कहना नहीं माना, अपना अज्ञान श्रीरामचन्द्रजीपर आरोपित किया। अब मैं उनको क्या उत्तर दूँगी।'

फिर वे बारम्बार श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रणाम करके उस स्थानकी ओर चलीं, जहाँ शिवजी उनकी प्रतीक्षामें बैठे थे। निकट जानेपर शिवजीने हँसकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—'सच-सच बताओ, किस प्रकार परीक्षा ली है?' सतीने श्रीरघुनाथजीके प्रभावको समझकर भयके मारे शिवजीसे अपने सीतारूप धारण करनेकी बात छिपा ली। शंकरजीने ध्यान लगाकर देखा और सतीने जो कुछ किया था, यह सब जान लिया। फिर उन्होंने श्रीरामजीकी मायाको मस्तक झुकाया!

'सतीने सीताका वेष बना लिया,' यह जानकर शिवजीके मनमें बड़ा विषाद हुआ। उन्होंने सोचा, 'अब यदि मैं सतीसे पत्नीकी भाँति प्रीति करता हूँ तो भक्तिमार्गका लोप हो जाता है और बड़ा अन्याय होता है। सती परम पवित्र हैं, अत: इन्हें छोड़ते भी नहीं बनता और प्रेम करनेमें बड़ा पाप है।' महादेवजी प्रकटरूपसे कुछ नहीं कह सके; किंतु उनके हृदयमें बड़ा संताप था। तब उन्होंने श्रीरामको मन-ही-मन प्रणाम किया। भगवान्‌की याद आते ही उनके हृदयमें यह संकल्प उदित हुआ—'***एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।***' ऐसा निश्चय करके वे श्रीरामका स्मरण करते हुए चल दिये। उस समय आकाशवाणी हुई—'महेश्वर! आपकी जय हो, आपने भक्तिको अच्छी दृढ़ता प्रदान की। आपको छोड़कर ऐसी प्रतिज्ञा कौन कर सकता है। आप श्रीरामचन्द्रजीके भक्त हैं, समर्थ हैं और भगवान् हैं।'

सतीने भी वह आकाशवाणी सुनी। उनके मनमें बड़ी चिन्ता हो गयी। उन्होंने सकुचाते हुए पूछा—'दयामय! कहिये, आपने कौन-सा प्रण किया है। प्रभो! आप सत्यके धाम और दीनदयालु हैं। मुझ दीनपर दया करके अपनी की हुई प्रतिज्ञा बताइये।' सतीने भाँति-भाँतिसे पूछा, किंतु उन्होंने कुछ नहीं बताया। तब सतीने अनुमान किया, 'शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे सब कुछ जान गये। हाय! मैंने इनसे भी छल किया। स्त्री स्वभावसे ही मूर्ख और बेसमझ होती है।' अपनी करनीको याद करके सतीके हृदयमें बड़ा सोच और अपार चिन्ता हुई। उन्होंने समझ लिया कि शिवजी कृपाके अथाह सागर हैं, इसीसे प्रकटमें इन्होंने मेरा अपराध नहीं कहा; किंतु उनका रुख देखकर सतीको यह विश्वास हो गया कि स्वामीने मेरा परित्याग कर दिया है।

त्यागका विचार आते ही उनका हृदय व्याकुल हो गया। सतीको चिन्तामग्न देख शंकरजी उन्हें सुख देनेके लिये सुन्दर-सुन्दर कथा-वार्ता कहने लगे। मार्गमें अनेक प्रकारके इतिहासका वर्णन करते हुए वे कैलासधाम पहुँचे। वहाँ अपनी प्रतिज्ञाको याद करके वे वटवृक्ष नीचे आसन लगाकर बैठ गये। अपने सहज स्वरूपका स्मरण किया और अखण्ड समाधि लग गयी। सतीजी कैलासपर रहकर एकाकी जीवन व्यतीत करने लगीं। उनके मनमें बड़ा दु:ख था। एक-एक दिन एक-एक युगके समान बीत रहा था और इस दु:ख-समुद्रसे पार होनेका कोई उपाय नहीं सूझता था।

इस प्रकार दक्ष-कुमारी सतीके दारुण दु:खकी कोई सीमा नहीं थी। वे रात-दिन चिन्ताकी आगमें झुलस रही थीं। इस अवस्थामें पड़े-पड़े उनके सत्तासी हजार वर्ष बीत गये। इतने दिनों बाद शिवकी समाधि खुली, वे स्पष्ट वाणीमें राम-रामका उच्चारण करने लगे। तब सतीने जाना कि जगदीश्वर शिव समाधिसे जगे हैं। उन्होंने जाकर शंकरजीके चरणोंमें प्रणाम किया। शिवजीने उनको बैठनेके लिये सामने आसन दिया और श्रीहरिकी रसमयी कथाएँ सुनाने लगे। इस प्रकार दयालु महेश्वरने सतीके सन्तप्त हृदयको कुछ शीतल किया, जिससे उनके दु:खका आवेग बहुत कुछ कम हो गया।

इसी बीचमें सतीके पिता दक्ष 'प्रजापति' के पदपर अभिषिक्त हुए। यह महान् अधिकार पाकर दक्षके हृदयमें बड़ा भारी अभिमान पैदा हो गया। संसारमें कौन ऐसा है, जिसे प्रभुता पाकर मद न हो। उन्होंने ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंको जिनमें शंकरजी भी थे, उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना आरम्भ किया। शंकरजीपर उनके रोषका कुछ विशेष कारण था। वे उनके तत्त्वसे बिल्कुल अनभिज्ञ थे। सतीके विवाहके कुछ ही समय बाद एक बार प्रजापतियोंने यज्ञका आयोजन किया था। उसमें बड़े-बड़े ऋषि, देवता, मुनि और अग्नि आदि भी अपने अनुयायियोंसहित उपस्थित हुए थे। ब्रह्मा और शिवजी भी उस सभामें विराजमान थे। उसी समय दक्ष भी वहाँ पधारे। सभी सभासद् उनके स्वागतमें उठकर खड़े हो गये। केवल ब्रह्माजी और महादेवजी अपने स्थानपर बैठे रहे। ब्रह्माजी तो दक्षके पिता ही थे; अतः दक्षने झुककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु शंकरजीका बैठे रहना उनको बहुत बुरा लगा। उन्हें इस बातके लिये खेद था कि 'शंकरने उठकर मुझे प्रणाम क्यों नहीं किया' अतः उन्होंने भरी सभामें उनकी बड़ी निन्दा की, कठोर वचन सुनाये और शापतक दे डाला। भगवान् शंकर चुपचाप चले आये। उन्होंने उनकी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

इतनेपर भी दक्षका रोष उनके प्रति शान्त नहीं हुआ था। वे शिवसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिसे द्वेष रखने लगे। यहाँतक कि अपनी पुत्री सतीके प्रति भी उनका भाव अच्छा नहीं रह गया। प्रजापतियोंके नायक बन जानेपर उनको वैर-साधनका अच्छा अवसर मिला। पहले तो उन्होंने वाजपेय यज्ञ किया और उसमें शंकरजीको भाग नहीं लेने दिया। उसके बाद पुनः बड़े समारोहके साथ 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञका आयोजन किया। इस उत्सवमें प्रायः सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता और उपदेवता आदि आमन्त्रित थे। सबने अपनी-अपनी पत्नीके साथ जाकर यज्ञोत्सवमें भाग लिया और स्वस्तिवाचन किया। केवल ब्रह्मा और विष्णु कुछ सोचकर उस यज्ञमें सम्मिलित नहीं हुए। सतीने देखा, कैलासशिखरके ऊपर आकाशमार्गसे विमानोंकी श्रेणियाँ चली जा रही हैं। उसमें देवता, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर आदि बैठे हैं। उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी हैं, जो चमकीले कुण्डल, हार तथा विविध रत्नमय आभूषण पहने भलीभाँति सज-धजकर गीत गाती हुई जा रही हैं।

सतीने पूछा—'भगवन्! यह सब क्या है? ये लोग कहाँ जा रहे हैं?' भगवान् शिवने मुसकराते हुए कहा—'तुम्हारे पिताके यहाँ बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है। उसीमें ये लोग निमन्त्रित हैं।' पिताके यज्ञकी बात सुनकर सतीको कुछ हर्ष हुआ। उन्होंने सोचा, 'यदि स्वामीकी आज्ञा हो तो यज्ञके ही बहाने कुछ दिन वहीं चलकर रहूँ।' यह विचारकर वे भय, संकोच और प्रेमरसमें सनी हुई वाणीमें बोलीं—'देव! पिताजीके घर यज्ञ हो रहा है तो उसमें मेरी अन्य बहनें भी अवश्य पधारेंगी। माता और पितासे मिले मुझे युग बीत गये। इस अवसरपर आपकी आज्ञा हो तो आप और मैं दोनों वहाँ चलें। यज्ञका उत्सव भी देखेंगे और सबसे भेंट-मुलाकात भी हो जायगी। प्रभो! यह ठीक है कि उन्होंने निमन्त्रण नहीं दिया; अतः वहाँ जाना ठीक नहीं है, तथापि पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृदोंके यहाँ बिना बुलाये भी जाना चाहिये। सम्भव है भीड़-भाड़में निमन्त्रण देना भूल गये हों, अथवा देनेपर भी यहाँ पहुँच न पाया हो।'

शिवजीने कहा—'इसमें सन्देह नहीं कि माता-पिता आदि गुरुजनोंके यहाँ बिना बुलाये भी जा सकते हैं, परंतु ऐसा तभी करना चाहिये जब वहाँके लोग प्रेम रखते हों। जहाँ कोई विरोध मानता हो, वहाँ जानेसे कदापि कल्याण नहीं होता। तुम्हारे पिता मुझसे द्वेष रखते हैं, अतः तुम्हें उनको और उनके अनुयायियोंको देखनेका भी विचार नहीं करना चाहिये। यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो इसका परिणाम अच्छा न होगा; क्योंकि किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिको जब अपने स्वजनोंद्वारा तिरस्कार प्राप्त होता है, तो वह

तत्काल उसकी मृत्युका कारण बन जाता है।'

इसके बाद शंकरजीने बहुत प्रकारसे समझाया-बुझाया, पर सती रहना नहीं चाहती थीं। स्वजनोंके स्नेहका स्मरण करके उनका हृदय भर आया। वे आँखोंमें आँसू भरकर रोने लगीं। तब महादेवजीने अपने प्रधान-प्रधान पार्षदोंको साथ देकर सतीको अकेली ही विदा कर दिया। सती अपने समस्त सेवकोंके साथ गंगातटपर बनी हुई दक्षकी यज्ञशालामें पहुँचीं। मण्डपमें पहुँचनेपर दक्षने सतीका किंचित् भी सत्कार नहीं किया। उनकी चुप्पी देखकर दूसरे लोग भी उन्हींके भयसे कुछ भी न बोले। केवल माता और बहनें सतीसे प्रेमपूर्वक मिलीं और उन्हें आदरपूर्वक उपहारकी वस्तुएँ देने लगीं, किन्तु पितासे अपमानित होनेके कारण स्वाभिमानिनी सतीने किसीकी दी हुई कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं की। सतीको स्वामीकी कही हुई बातें याद आने लगीं।

उस यज्ञमें शिवजीके लिये कोई भाग न देकर उनका घोर अपमान किया गया था। सतीने इस बातकी ओर भी लक्ष्य किया। इससे उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें लाल हो गयीं और ऐसा जान पड़ा, मानो वे सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर डालेंगी। उनका यह भाव देखकर शिवके पार्षद भी दक्षको दण्ड देनेके लिये उद्यत हो गये, किंतु सतीने उन्हें रोक दिया और समस्त सभासदोंके सामने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

'पिताजी! भगवान् शंकर सम्पूर्ण देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं, उनसे बढ़कर इस संसारमें दूसरा कोई भी नहीं है। उनके लिये न कोई प्रिय है, न अप्रिय। वे सर्वरूप हैं, अतः उनका किसीके साथ भी वैर-विरोध नहीं है। ऐसे भगवान्के साथ आपको छोड़कर दूसरा कौन विरोध कर सकता है? अहो! महापुरुषोंके मनरूपी भ्रमर ब्रह्मानन्दमय रसका पान करनेकी इच्छासे जिनके चरण-कमलोंका निरन्तर सेवन करते हैं तथा जो भोग चाहनेवाले पुरुषोंको उनके अभीष्ट भोग भी देते हैं, उन्हीं विश्वबन्धु भगवान् भूतनाथसे आप वैर करते हैं, यह आपके लिये बड़े दुर्भाग्यकी बात है! सुनती हूँ, आप कहा करते हैं, वे केवल नाममात्रके शिव हैं; उनका वेष तो महान् अशिव—अभद्र है, क्योंकि वे नरमुण्डोंकी माला, चिताकी राख और हड्डियाँ धारण किये, जटा बिखराये, भूत-पिशाचोंको साथ लिये श्मशानमें विचरा करते हैं। मालूम होता है, शिवके उस अशिव रूपका ज्ञान सबसे अधिक आपको ही है; आपके सिवा दूसरे देवता ब्रह्मा आदि भी इस बातको नहीं जानते। तभी तो वे शिवके चरणोंपर चढ़े हुए निर्माल्यको अथवा उनके चरणोदकको अपने मस्तकपर धारण करते हैं। पिताजी! शास्त्र क्या कहता है? यदि कोई उच्छृङ्खल प्राणी धर्मकी रक्षा करनेवाले ईश्वरकी निन्दा करे तो अपनेमें उसे दण्ड देनेकी शक्ति न होनेपर दोनों कान मूँद ले और वहाँसे हट जाय। अथवा यदि शक्ति हो तो उस बकवादीकी—दुष्टकी जिह्वाको काटकर फेंक दे। ऐसा करते समय कदाचित् प्राणोंपर संकट आ जाय तो प्राणोंको भी त्याग दे; वही धर्म है। आप भगवान् नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले हैं; अतः आपसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं धारण करूँगी। यदि भूलसे कोई दूषित अन्न खा लिया जाय तो वमन करके उसे निकाल देना ही आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक बताया गया है। भगवान् शिव जब-जब आपके साथ मेरा सम्बन्ध दिखलाते हुए मुझे हँसीमें भी दाक्षायणी (दक्षकुमारी)-के नामसे पुकारते हैं, तब-तब उस हास-परिहासको भूलकर मेरा मन तुरंत ही दुःखके अगाध समुद्रमें डूब जाता है। अतः आपके अंगसे उत्पन्न हुए इस शवतुल्य शरीरको अब त्यागे देती हूँ; क्योंकि यह मेरे लिये कलंकरूप है।'

यज्ञमण्डपमें इस प्रकार कहकर देवी सती मौन हो उत्तर-दिशामें बैठ गयीं। उनका शरीर पीताम्बरसे ढका था। वे आचमन करके नेत्र बन्द किये योगमार्गमें स्थित हो गयीं। पहले उन्होंने आसनको स्थिर किया,

फिर प्राण और अपान वायुको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थापित किया। तदनन्तर उदान वायुको नाभि-चक्रसे धीरे-धीरे ऊपर उठाया और बुद्धिसहित हृदयमें स्थापित कर दिया; फिर हृदयस्थित वायुको वे कण्ठमार्गसे भृकुटियोंके बीचमें ले गयीं। महापुरुषोंके भी पूजनीय भगवान् शिव जिसको बड़े आदरके साथ अपने अंकमें बिठा चुके थे, उसी शरीरको मनस्विनी सतीदेवी दक्षपर क्रोध होनेके कारण त्याग देना चाहती थीं; अतः उन्होंने अपने सम्पूर्ण अंगोंमें अग्नि और वायुकी धारणा की। इसके बाद वे अपने स्वामी जगद्गुरु भगवान् शिवके चरणारविन्द-मकरन्दका चिन्तन करने लगीं; उसके सिवा दूसरी किसी वस्तुका उन्हें भान न रहा। उस समय उनकी वह दिव्य देह, जो स्वभावसे ही निष्पाप थी, तत्काल योगाग्निसे जलकर भस्म हो गयी।[१]

इस प्रकार पतिप्राणा सतीकी ऐहलौकिक लीला समाप्त हुई। उन्होंने जीवनभर सदा ही तन-मन, प्राणसे अपने पति भगवान् शिवकी सेवा और समाराधना की तथा अन्तमें भी उन्हींका चिन्तन करते-करते प्राण-त्याग किया। मरते समय भी उन्होंने भगवान्से यही वर माँगा था कि प्रत्येक जन्ममें मेरा भगवान् शिवके ही चरणोंमें अनुराग हो।[२]

इसीलिये वे पुनः गिरिराज हिमालयके यहाँ पार्वतीके रूपमें प्रकट हुईं और भगवान् शंकरको ही पतिरूपमें प्राप्त किया। सतीका यह दिव्य पतिप्रेम भारतकी नारियोंके लिये आदर्श बन गया। आज घर-घरमें सती-पूजाकी जो प्रथा चली आती है, उसमें दक्ष-कन्या सतीके प्रति ही भारतीय नारियाँ अपनी श्रद्धा और भक्ति अर्पित करती हैं। सतीजी भगवान् शिवके लिये ही उत्पन्न हुईं, उन्हींकी सेवाके लिये जीवित रहीं और उसीमें बाधा पड़नेपर फिर उन्हींको सम्पूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये उन्होंने अपने शरीरको त्याग दिया। गंगाके किनारे जिस स्थानपर सतीने अपना शरीर छोड़ा था, वह आज भी 'सौनिक तीर्थ' के नामसे विख्यात है।

श्रीमदालसाजी

भारतवर्षमें ऐसे योग्य पुत्र तो बहुत हुए हैं, जिन्होंने अपने सत्कर्मोंसे माता-पिताका उद्धार करके '**पुत्र**' नामको सार्थक किया हो; परंतु ऐसी माता, जो परम उत्तम ज्ञानका उपदेश देकर पुत्रोंका भी संसार-सागरसे उद्धार कर दे, केवल मदालसा ही थी। उसने पुत्रोंका ही नहीं, अपना और पतिका भी उद्धार किया था। मदालसा आदर्श विदुषी, आदर्श सती और आदर्श माता थी। उसका जन्म दिव्य कुलमें हुआ। पहले तो वह गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री थी। फिर नागराज अश्वतरकी कन्यारूपमें प्रकट हुई। उसके जीवनका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है—

प्राचीन कालमें शत्रुजित् नामके एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। उनकी राजधानी गोमतीके तटपर थी। उनके एक बड़ा बुद्धिमान्, पराक्रमी और सुन्दर पुत्र भी था, उसका नाम था ऋतध्वज। एक दिन नैमिषारण्यसे गालवमुनि राजा शत्रुजित्के दरबारमें पधारे। उनके साथ एक बहुत ही सुन्दर दिव्य अश्व था। उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! हम आपके राज्यमें रहकर तपस्या, यज्ञ तथा भगवान्का भजन करते हैं; किंतु एक दैत्य कुछ कालसे हमारे इस पवित्र कार्यमें बड़ी बाधा डाल रहा है। यद्यपि हम उसे अपनी क्रोधाग्निसे भस्म कर सकते हैं तथापि ऐसा करना नहीं चाहते; क्योंकि प्रजाकी रक्षा करना और दुष्टोंको

---

१. ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्। ददर्श देहो हतकल्मषः सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥ (श्रीमद्भा० ४।४।२७)

२. सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥ (श्रीरामचरितमानस)

दण्ड देना—यह राजाका कार्य है। एक दिन उसके उपद्रवसे पीड़ित होकर हम उसे रोकनेके उपायपर विचार कर रहे थे, इतनेमें ही यह दिव्य अश्व आकाशसे नीचे उतरा। उसी समय यह आकाशवाणी हुई—'मुने! यह अश्व बिना किसी रुकावटके समस्त पृथ्वीकी परिक्रमा कर सकता है; आकाश, पाताल, पर्वत, समुद्र सब जगह आसानीसे जा सकता है। इसलिये इसका नाम 'कुवलय' है। भगवान् सूर्यने यह अश्व आपको समर्पित किया है। आप इसे ले जाकर राजा शत्रुजित्के पुत्र राजकुमार ऋतध्वजको दे दें। वे ही इसपर आरूढ़ होकर उस दैत्यका वध करेंगे, जो सदा आपको कष्ट दिया करता है। इस अश्वरत्नको पाकर इसीके नामपर राजकुमारकी प्रसिद्धि होगी, वे कुवलयाश्व कहलायेंगे। इस आकाशवाणीको सुनकर हम आपके पास आये हैं। आप इस अश्वको लीजिये और राजकुमारको इसपर सवार करके हमारे साथ भेजिये, जिससे धर्मका लोप न होने पाये।'

गालवमुनिके यों कहनेपर धर्मात्मा राजाने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजकुमारको मुनियोंकी रक्षाके लिये भेजा। महर्षिके आश्रमपर पहुँचकर वे सब ओरसे उसकी रक्षा करने लगे। एक दिन वह मदोन्मत्त दानव शूकरका रूप धारण करके वहाँ आया। राजकुमार शीघ्र ही घोड़ेपर सवार हो उसके पीछे दौड़े। अर्धचन्द्राकार बाणसे उसपर प्रहार किया। बाणसे आहत होकर वह शूकराकार दैत्य प्राण बचानेके लिये भागा और वृक्षों तथा पर्वतसे घिरी हुई घनी झाड़ीमें घुस गया। राजकुमारके अश्वने उसका पीछा न छोड़ा। दैत्य भागता हुआ सहस्रों योजन दूर निकल गया और एक स्थानपर बिलके आकारमें दिखायी देनेवाली अँधेरी गुफामें कूद पड़ा। अश्वारोही राजकुमार भी उसके पीछे उसी गड्ढेमें कूद पड़े। भीतर जानेपर वहाँ सूअर नहीं दिखायी पड़ा; बल्कि दिव्य प्रकाशसे परिपूर्ण पाताललोकका दर्शन हुआ। सामने ही इन्द्रपुरीके समान एक सुन्दर नगर था, जिसमें सैकड़ों सोनेके महल शोभा पा रहे थे। राजकुमारने उसमें प्रवेश किया; किंतु वहाँ उन्हें कोई मनुष्य नहीं दिखायी दिया। वे नगरमें घूमने लगे। घूमते-ही-घूमते उन्होंने एक स्त्री देखी, जो बड़ी उतावलीके साथ कहीं चली जा रही थी। राजकुमारने उससे कुछ पूछना चाहा; किंतु वह आगे बढ़कर चुपचाप एक महलकी सीढ़ियोंपर चढ़ गयी। ऋतध्वजने भी घोड़ेको एक जगह बाँध दिया और उसी स्त्रीके पीछे-पीछे महलमें प्रवेश किया। भीतर जाकर देखा, सोनेका बना हुआ एक विशाल पलँग है। उसपर एक सुन्दरी कन्या बैठी है, जो अपने सौन्दर्यसे रतिको भी लजा रही है। दोनोंने एक-दूसरेको देखा और दोनोंका मन परस्पर आकर्षित हो गया। कन्या मूर्च्छित हो गयी। तब पहली स्त्री ताड़का पंखा लेकर उसे हवा करने लगी। जब वह कुछ होशमें आयी तो राजकुमारने उसकी मूर्च्छाका कारण पूछा। वह लजा गयी। उसने सब कुछ अपनी सखीको बता दिया।

उसकी सखीने कहा—'प्रभो! देवलोकमें गन्धर्वराज विश्वावसु सर्वत्र विख्यात हैं। यह सुन्दरी उन्हींकी कन्या मदालसा है। एक दिन जब यह अपने पिताके उद्यानमें घूम रही थी, पातालकेतु नामक दानवने अपनी माया फैलाकर इसे हर लिया। उसका निवासस्थान यहीं है। सुननेमें आया है, आगामी त्रयोदशीको वह इसके साथ विवाह करेगा, इससे मेरी सखीको अपार कष्ट है। अभी कलकी बात है, यह बेचारी आत्महत्या करनेको तैयार हो गयी थी। उसी समय कामधेनुने प्रकट होकर कहा—'बेटी! वह नीच दानव तुम्हें नहीं पा सकता। मर्त्यलोकमें जानेपर उसे जो अपने बाणोंसे बींध डालेगा, वही तुम्हारा पति होगा।' यों कहकर माता सुरभि अन्तर्धान हो गयीं। मेरा नाम कुण्डला है। मैं इस मदालसाकी सखी, विन्ध्यवान्की पुत्री और वीर पुष्करमालीकी पत्नी हूँ। मेरे पति देवासुर-संग्राममें शुम्भके हाथों मारे गये। तबसे मैं तपस्याका जीवन व्यतीत कर रही हूँ। सखीके स्नेहसे यहाँ इसे धीरज बँधाने आ गयी हूँ। सुना है, मर्त्यलोकके किसी वीरने

पातालकेतुको अपने बाणोंका निशाना बनाया है। मैं उसीका पता लगाने गयी थी। बात सही निकली। आपको देखकर मेरी सखीके हृदयमें प्रेमका संचार हो गया है, किंतु माता सुरभिके कथनानुसार इसका विवाह उस वीरके साथ होगा, जिसने पातालकेतुको घायल किया है। यही सोचकर दु:खके मारे यह मूर्च्छित हो गयी है। जिससे प्रेम हो, उसीके साथ विवाह होनेपर जीवन सुखमय बीतता है। इसका प्रेम तो आपसे हुआ और विवाह दूसरेसे होगा, यही इसकी चिन्ताका कारण है। अब आप अपना परिचय दीजिये। कौन हैं और कहाँसे आये हैं?'

राजकुमारने अपना यथावत् परिचय दिया तथा उस दानवको बाण मारने और पातालमें पहुँचनेकी सारी कथा विस्तारपूर्वक कह सुनायी। सब बातें सुनकर मदालसाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने लज्जित होकर सखीकी ओर देखा, किंतु कुछ बोल न सकी। कुण्डलाने उसका मनोभाव जानकर कहा—'वीरवर! आपकी बात सत्य है। मेरी सखीका हृदय किसी अयोग्य पुरुषकी ओर आसक्त नहीं हो सकता। कमनीय कान्ति चन्द्रमामें और प्रचण्ड प्रभा सूर्यमें ही मिलती है। आपके ही लिये गोमाता सुरभिने संकेत किया था। आपने ही दानव पातालकेतुको घायल किया है। मेरी सखी आपको पतिरूपमें प्राप्त करके अपनेको धन्य मानेगी।' कुण्डलाकी बात सुनकर राजकुमारने कहा—'मैं पिताकी आज्ञा लिये बिना विवाह कैसे कर सकता हूँ?' कुण्डला बोली—'नहीं, नहीं, ऐसा न कहिये। यह देवकन्या है। आपके पिताजी इस विवाहसे प्रसन्न होंगे। अब उनसे पूछने और आज्ञा लेनेका समय नहीं रह गया है। आप विधाताकी प्रेरणासे ही यहाँ आ पहुँचे हैं; अतः यह सम्बन्ध स्वीकार कीजिये।' राजकुमारने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली। कुण्डलाने अपने कुलगुरु तुम्बुरुका स्मरण किया। वे समिधा और कुशा लिये तत्काल वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अग्नि प्रज्वलित करके विधिपूर्वक ऋतध्वज और मदालसाका विवाह-संस्कार सम्पन्न किया। कुण्डलाने अपनी सखी राजकुमारके हाथों सौंप दी और दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यपालनका उपदेश दिया। फिर दोनोंसे विदा लेकर वह दिव्य गतिसे अपने अभीष्ट स्थानपर चली गयी। ऋतध्वजने मदालसाको घोड़ेपर बिठाया और स्वयं भी उसपर सवार हो पाताललोकसे जाने लगे। इतनेहीमें पातालकेतुको यह समाचार मिल गया और वह दानवोंकी विशाल सेना लिये राजकुमारके सामने आ डटा। राजकुमार भी बड़े पराक्रमी थे। उन्होंने हँसते-हँसते बाणोंका जाल-सा फैला दिया और त्वाष्ट्र नामक दिव्य अस्त्रका प्रयोग करके पातालकेतुसहित समस्त दानवोंको भस्म कर डाला। इसके बाद वे अपने पिताके नगरमें जा पहुँचे। घोड़ेसे उतरकर उन्होंने माता-पिताको प्रणाम किया। मदालसाने भी सास-ससुरके चरणोंमें मस्तक झुकाया। ऋतध्वजके मुखसे सब समाचार सुनकर माता-पिता बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने पुत्र और पुत्रवधूको हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा। मदालसा पतिगृहमें बड़े सुखसे रहने लगी। वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर सास-ससुरके चरणोंमें प्रणाम करती और पतिको अपनी सेवाओंसे सन्तुष्ट रखती थी।

तदनन्तर एक दिन राजा शत्रुजित्ने राजकुमार ऋतध्वजसे कहा—'बेटा! तुम प्रतिदिन प्रातःकाल इस अश्वपर सवार हो ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये इस पृथ्वीपर विचरते रहो।' राजकुमारने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की। वे प्रतिदिन पूर्वाह्णमें ही पृथ्वीकी परिक्रमा करके पिताके चरणोंमें नमस्कार करते थे। एक दिन घूमते हुए वे यमुनातटपर गये। वहाँ पातालकेतुका छोटा भाई तालकेतु आश्रम बनाकर मुनिके वेषमें रहता था। राजकुमारने मुनि जानकर उसे प्रणाम किया। वह बोला—'राजकुमार! मैं धर्मके लिये यज्ञ करना चाहता हूँ; किंतु मेरे पास दक्षिणा नहीं है। तुम अपने गलेका यह आभूषण दे दो और यहीं रहकर मेरे आश्रमकी रक्षा करो। मैं जलके भीतर प्रवेश करके वरुण-देवताकी स्तुति करता हूँ। उसके बाद जल्दी ही लौटूँगा।' यों

कहकर तालकेतु जलमें घुसा और मायासे अदृश्य हो गया। राजकुमार उसके आश्रमपर ठहर गये। मुनिवेषधारी तालकेतु राजा शत्रुजित्‌के नगरमें गया। वहाँ जाकर उसने कहा—'राजन्! आपके पुत्र दैत्योंके साथ युद्ध करते-करते मारे गये। यह उनका आभूषण है।' यों कहकर वह जैसे आया था, उसी प्रकार लौट गया। राजकुमारकी मृत्युका दुःखपूर्ण समाचार सुनकर नगरमें हाहाकार मच गया। राजा-रानी तथा रनिवासकी स्त्रियाँ शोकसे व्याकुल होकर विलाप करने लगीं। मदालसाने उनके गलेके आभूषणको देखा और पतिको मारा गया सुनकर तुरंत ही अपने प्यारे प्राणोंको त्याग दिया। राजमहलका शोक दूना हो गया। राजा शत्रुजित्‌ने किसी प्रकार धैर्य धारण किया और रानी तथा अन्तःपुरके अन्य लोगोंको भी समझा-बुझाकर शान्त किया। मदालसाका दाह-संस्कार किया गया। उधर तालकेतु यमुना-जलसे निकलकर राजकुमारके पास गया और कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसने उनको घर जानेकी आज्ञा दे दी। राजकुमारने तुरंत अपने नगरमें पहुँचकर पिता-माताको प्रणाम किया। उन्होंने पुत्रको छातीसे लगा लिया और नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे। राजकुमारको सब बातें मालूम हुईं। मदालसाके वियोगसे उनका हृदय रो उठा। उनकी दुनिया सूनी हो गयी। उन्होंने मदालसाके लिये जलांजलि दी और यह प्रतिज्ञा की, 'मैं मृगके समान विशाल नेत्रोंवाली गन्धर्वराजकुमारी मदालसाके अतिरिक्त दूसरी किसी स्त्रीके साथ भोग नहीं करूँगा। यह मैंने सर्वथा सत्य कहा है।'

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके उन्होंने स्त्री-सम्बन्धी भोगसे मन हटा लिया और समवयस्क मित्रोंके साथ मन बहलाने लगे। इसी समय नागराज अश्वतरके दो पुत्र मनुष्यरूपमें पृथ्वीपर घूमनेके लिये निकले। राजकुमार ऋतध्वजके साथ उनकी मित्रता हो गयी। उनका आपसका प्रेम इतना बढ़ गया कि नागकुमार एक क्षण भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे। वे दिनभर पातालसे गायब रहते थे। एक दिन नागराजके पूछनेपर उन्होंने ऋतध्वजका सारा वृत्तान्त सुनाकर पितासे कहा—'हमारे मित्र ऋतध्वज मदालसाके सिवा दूसरी किसी स्त्रीको स्वीकार न करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। मदालसा पुनः जीवित हो सके तो कोई उपाय करें।' नागराज बोले—'उद्योगसे सब कुछ सम्भव है। प्राणीको कभी निराश नहीं होना चाहिये।' यों कहकर नागराज अश्वतर हिमालयपर्वतके प्लक्षावतरण तीर्थमें, जो सरस्वतीका उद्‌गमस्थान है, जाकर अपने पुत्रोंके मित्र राजकुमार ऋतध्वजके हितार्थ दुष्कर तपस्या करने लगे। सरस्वती देवीने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा। अश्वतर बोले—'देवि! मैं और मेरा भाई कम्बल दोनों संगीतशास्त्रके पूर्ण मर्मज्ञ हो जायँ।' सरस्वतीदेवी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। अब दोनों भाई कम्बल और अश्वतर कैलासपर्वतपर गये और भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिये तालस्वरके साथ उनके गुणोंका गान करने लगे। शंकरजीने प्रसन्न होकर कहा—'वर माँगो।' तब कम्बलसहित अश्वतरने महादेवजीको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! कुवलयाश्वकी पत्नी मदालसा जो अब मर चुकी है, पहलेकी ही अवस्थामें मेरी कन्याके रूपमें प्रकट हो। उसे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण बना रहे। पहले ही-जैसी उसकी कान्ति हो तथा वह योगिनी एवं योगविद्याकी जननी होकर मेरे घरमें प्रकट हो।' महादेवजीने कहा—'नागराज! तुम श्राद्धका दिन आनेपर यही कामना लेकर पितरोंका तर्पण करना और श्राद्धमें दिये हुए मध्यम पिण्डको शुद्ध भावसे खा लेना। इससे वह तत्काल ही तुम्हारे मध्यम फणसे प्रकट हो जायगी।' नागराजने वैसा ही किया। सुन्दरी मदालसा उनके मध्यम फणसे प्रकट हो गयी। नागराजने उसे महलके भीतर स्त्रियोंके संरक्षणमें रख दिया। यह रहस्य उन्होंने किसीपर प्रकट नहीं किया।

तदनन्तर नागराज अश्वतरने अपने पुत्रोंसे कहा—'तुम राजकुमार ऋतध्वजको यहाँ बुला लाओ।' नागकुमार उन्हें लेकर गोमतीके जलमें उतरे और वहींसे खींचकर उन्हें पातालमें पहुँचा दिया। वहाँ वे अपने

असली रूपमें प्रकट हुए। ऋतध्वज नागलोककी शोभा देखकर चकित हो उठे। उन्होंने नागराजको प्रणाम किया। नागराजने आशीर्वाद देकर ऋतध्वजका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया। भोजनके पश्चात् सब लोग एक साथ बैठकर प्रेमालाप करने लगे। नागराजने मदालसाके पुनः जीवित होनेकी सारी कथा उन्हें कह सुनायी। फिर तो उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी प्यारी पत्नीको ग्रहण किया। उनके स्मरण करते ही उनका प्यारा अश्व वहाँ आ पहुँचा। नागराजको प्रणाम करके वे मदालसाके साथ अश्वपर आरूढ़ हुए और अपने नगरमें चले गये। वहाँ उन्होंने मदालसाके जीवित होनेकी कथा सुनायी। मदालसाने भी सास-ससुरके चरणोंमें प्रणाम किया। नगरमें बड़ा भारी उत्सव मनाया गया।

कुछ कालके पश्चात् महाराज शत्रुजित् परलोकवासी हो गये। ऋतध्वज राजा हुए और मदालसा महारानी। मदालसाके गर्भसे प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। राजाने उसका नाम विक्रान्त रखा। मदालसा यह नाम सुनकर हँसने लगी। इसके बाद समयानुसार क्रमशः दो पुत्र और हुए। उनके नाम सुबाहु और शत्रुमर्दन रखे गये। उन नामोंपर भी मदालसाको हँसी आयी। इन तीनों पुत्रोंको उसने लोरियाँ गानेके व्याजसे विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश दिया। बड़े होनेपर वे तीनों ममताशून्य और विरक्त हो गये।

तत्पश्चात् रानी मदालसाके गर्भसे चौथा पुत्र उत्पन्न हुआ। जब राजा उसका नामकरण करने चले तो उनकी दृष्टि मदालसापर पड़ी। वह मन्द-मन्द मुसकरा रही थी। राजाने कहा—'मैं नाम रखता हूँ तो हँसती हो। अब इस पुत्रका नाम तुम्हीं रखो।' मदालसाने कहा—'जैसी आपकी आज्ञा। आपके चौथे पुत्रका नाम मैं अलर्क रखती हूँ।' 'अलर्क!' यह अद्भुत नाम सुनकर राजा ठठाकर हँस पड़े और बोले—'इसका क्या अर्थ है?' मदालसाने उत्तर दिया, 'सुनिये! नामसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। संसारका व्यवहार चलानेके लिये कोई-सा नाम कल्पना करके रख लिया जाता है। वह संज्ञामात्र है, उसका कोई अर्थ नहीं। आपने भी जो नाम रखे हैं, वे भी निरर्थक ही हैं; पहले 'विक्रान्त' इस नामके अर्थपर विचार कीजिये। क्रान्तिका अर्थ है गति। जो एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाता है, वही विक्रान्त है। आत्मा सर्वत्र व्यापक है, उसका कहीं आना-जाना नहीं होता; अतः यह नाम उसके लिये निरर्थक तो है ही, स्वरूपके विपरीत भी है। आपने दूसरे पुत्रका नाम 'सुबाहु' रखा है। जब आत्मा निराकार है, तो उसे बाँह कहाँसे आयी? जब बाँह ही नहीं है तो सुबाहु नाम रखना कितना असंगत है। तीसरे पुत्रका नाम 'शत्रुमर्दन' रखा गया है; उसकी भी कोई सार्थकता नहीं दिखायी देती। सब शरीरोंमें एक ही आत्मा रम रहा है; ऐसी दशामें कौन किसका शत्रु है और कौन किसका मर्दन करनेवाला? यदि व्यवहारका निर्वाहमात्र ही उसका प्रयोजन है तब तो अलर्क नामसे भी इस उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती है।

राजा निरुत्तर हो गये। मदालसाने उस बालकको भी ब्रह्मज्ञानका उपदेश सुनाना आरम्भ किया। तब राजाने रोककर कहा—'देवि! इसे भी ज्ञानका उपदेश देकर मेरी वंश-परम्पराका उच्छेद करनेपर क्यों तुली हो? इसे प्रवृत्तिमार्गमें लगाओ और उसके अनुकूल ही उपदेश दो।' मदालसाने पतिकी आज्ञा मान ली और अलर्कको बचपनमें ही व्यवहार-शास्त्रका पण्डित बना दिया। उसे राजनीतिका पूर्ण ज्ञान कराया। धर्म, अर्थ और काम तीनों शास्त्रोंमें वह प्रवीण बन गया। बड़े होनेपर माता-पिताने अलर्कको राजगद्दीपर बिठाया और स्वयं वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये। जाते समय मदालसाने अलर्कको एक अँगूठी दी और कहा—'जब तुमपर कोई संकट पड़े तो इस अँगूठीके छिद्रसे उपदेशपत्र निकालकर पढ़ना और इसके अनुसार कार्य करना।' अलर्कने गंगा-यमुनाके संगमपर अपनी अलर्कपुरी नामकी राजधानी बनायी, जो आजकल अरैलके नामसे प्रसिद्ध है। कुछ कालके बाद अलर्कको भोगोंमें आसक्त देख उनके बड़े भाई सुबाहुने काशिराजकी

सहायतासे उनपर आक्रमण किया। अलर्कने संकट जानकर माताका उपदेश पढ़ा। उसमें लिखा था—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

'संग (आसक्ति)-का सब प्रकारके त्याग करना चाहिये; किंतु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उसकी ओषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मोक्षकी इच्छा)-के प्रति कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।'

इस उपदेशको अनेक बार पढ़कर राजाने सोचा, मनुष्योंका कल्याण कैसे होगा? मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् करनेपर और मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् होगी सत्संगसे। ऐसा विचारकर अलर्कने महात्मा दत्तात्रेयजीकी शरण ली और वहाँ ममतारहित विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश पाकर वे सदाके लिये कृतार्थ हो गये। इस प्रकार महासती मदालसाने अपने पुत्रोंका उद्धार करके स्वयं भी पतिके साथ परमात्मचिन्तनमें मन लगाया और थोड़े ही समयमें मोक्षस्वरूप परमपद प्राप्त कर लिया। मदालसा अब इस लोकमें नहीं है; किंतु उसका नाम सदाके लिये अमर हो गया। (मार्कण्डेयपुराण)

यज्ञपत्नियाँ

'श्यामसुन्दर! हमें बहुत भूख लगी है। कोई भी उपाय करो।' गौओंने भरपेट कोमल हरित तृण चरकर सुशीतल यमुनाजल पी लिया था और अब वे वृक्षोंकी छायामें बैठकर नेत्रोंको आधा बन्द करके रोमन्थ कर रही थीं। कभी-कभी उनकी पूँछें इधर-उधर हिल जाती थीं। चंचल बछड़े मयूरों, बन्दरोंके पीछे दौड़ रहे थे और कुछ श्रीकृष्णचन्द्रके समीप बैठे थे। एक ही शिलापर एक वृक्षके नीचे श्रीकृष्ण और बलराम दोनों विराज रहे थे। सखाओंने पृथक् जाकर परस्पर कुछ कानाफूसी की और अन्तमें एक साथ ही सब दोनों भाइयोंके समीप आये। सबकी ओरसे मधुमंगलने प्रार्थना की। आज दोपहरका कलेऊ आया नहीं था। गायें चराते, खेलते सब लोग बहुत दूर मथुराकी दिशामें चले आये थे। कलेऊ लेकर आनेवाली गोपियाँ सम्भवतः बहुत ढूँढ़कर भी इन लोगोंतक नहीं पहुँच सकी थीं।

'वह देखो, थोड़ी दूरपर धुआँ उठ रहा है। मुझे बाबाने बताया है कि मथुराके ब्राह्मण वनमें आकर यज्ञ कर रहे हैं। उनसे जाकर कहो कि बलराम और श्रीकृष्णके लिये अन्न दो। ब्राह्मण अतिथियोंका सत्कार करनेवाले होते हैं।' श्रीकृष्णने एक ओर अँगुलीसे संकेत किया। सब-के-सब उधर ही दौड़ गये।

'द्विजोत्तमगण! आपको प्रणाम! हमें बलराम तथा श्यामने भेजा है। वे दोनों बहुत भूखे हैं और हमलोगोंको भी भूख लगी है। अतिथि-सत्कारसे आपके यज्ञमें कोई दोष नहीं आयेगा।' भूमिमें लेटकर प्रणाम करनेके अनन्तर गोपबालकोंने प्रार्थना की। ब्राह्मणोंने उधर देखातक नहीं। यह उपेक्षा देखकर वे निराश होकर लौट आये।

'पुरुष तो निर्दय होते ही हैं। स्त्रियाँ दयालु होती हैं। अबकी बार यज्ञमण्डपमें न जाकर स्त्रियोंके लिये जो आवास बना हो, वहाँ जाकर विप्रपत्नियोंसे कहो। वे अवश्य तुम्हें तुष्ट करेंगी।' नन्दनन्दनने सब सुनकर कहा।

'कन्हैया! अब तो हम नहीं जायँगे। तू स्त्रियोंमें हमें भेजकर उन मथुराके मोटे-ताजे चौबोंसे पिटवाना

चाहता है? स्त्रियोंसे तेरी ही पटती है। तू ही जा!' मधुमंगलने रुष्ट होकर अस्वीकार कर दिया।

'भैया! यहाँ और कुछ है भी नहीं। इस वनमें फल भी तो नहीं हैं। मुझे तो इतनी भूख लगी है कि चलनेमें भी असमर्थ हूँ। मेरे कहनेसे एक बार और जाओ।' जब वह मयूरमुकुटी अनुरोध करे तो टालनेका साहस ही किसमें है।

'री साध्वियो! हम आप सबको प्रणिपात करते हैं। नन्दनन्दन अपने अग्रजके साथ गायें चराते हुए समीपतक आ गये हैं। उन्होंने ही हमें आपके समीप भेजा है। वे बहुत भूखे हैं और हमारी सबकी भी यही दशा है। कृपा करके आप कुछ भोज्य पदार्थ प्रदान करें।' इस बार सुबलने प्रार्थना की।

'हमारे सौभाग्य!' सम्पूर्ण नारी-आवासमें हलचल मच गयी। हाथके कामोंको एक ओर फेंककर स्वर्णथालोंमें बड़ी शीघ्रतासे पक्वान्नोंको सजानेमें सब आतुरतासे व्यस्त हो गयीं। कौन सोचे कि इतना पदार्थ क्या होगा। अनेक प्रकारके चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय अधिक-से-अधिक मात्रामें वे अपने पात्रोंमें भर लेना चाहती थीं। बड़ी शीघ्रतासे थाल सजाकर उन्होंने कहा—'चलो, हमें उन नन्दकुमारतक पहुँचा दो।' बहुत दिनोंसे उस मनमोहनके अपूर्व सौन्दर्य एवं गुणोंका वर्णन सुनते आ रही थीं। बड़ी उत्कण्ठा थी उस भुवनमोहनको एक बार देखनेकी। गोपकुमारोंको आगे करके वे निकल पड़ीं।

ब्राह्मणोंने देखा कि उनकी स्त्रियाँ स्वर्णथाल सजाये गोपबालकोंके साथ जा रही हैं तो वे स्रुक्-स्रुवा छोड़कर पुकारते हुए दौड़े। गोपकुमार भयके मारे भाग खड़े हुए। द्विजपत्नियाँ भी दौड़ने लगीं। केवल एकको उसके पतिने पकड़ लिया। बड़ा दुःख हुआ उसे। श्रीकृष्णके दर्शन न होनेकी तीव्र वेदना हुई। इस कष्टने जन्म-जन्मान्तरके पाप भस्म कर दिये। नेत्र बन्द करते ही हृदयमें ललितत्रिभंगी वंशीधर प्रकट हो गये। अपार आनन्द हुआ। समस्त पुण्योंका सुख-भोग हो गया एक पलमें। पाप और पुण्यके बिना शरीर कैसे टिके? वह तो मुक्त होकर भगवद्धाममें पहुँच गयी।

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।२२)

इन्दीवरदलश्याम शरीर, स्वर्णाभ पीताम्बर धारण किये, गलेमें वनमाला तथा गुंजाओंकी माला, सिरपर मयूरमुकुट, अनेक धातुओंसे शरीरको नटोंकी भाँति सजाये, एक सखाके कन्धेपर दाहिना हाथ रखे और बायें हाथमें एक विकच कमल लेकर घुमाते हुए मनमोहनको विप्रपत्नियोंने दूरसे देखा। उन्होंने कानोंमें अधखिले कमल पहन रखे थे। कपोलोंपर घुँघराली अलकें आ गयी थीं और उनका मुखकमल मन्द मुसकानसे शोभित था। आकर उन द्विजपत्नियोंने स्वर्णथाल सम्मुख रख दिये और एकटक उस मनोहर मूर्तिको देखने लगीं।

'आपलोगोंका स्वागत। आपने बड़ा कष्ट किया। मुझे देखने आप आयीं, यह ठीक ही हुआ। अब आप सब लौटें। आपलोगोंके पति आपकी प्रतीक्षामें होंगे, आपके बिना उनका यज्ञकार्य रुका रहेगा।' बड़े मधुर स्वरोंमें श्यामसुन्दरने उनसे अनुरोध किया।

'आप इस प्रकार निष्ठुरकी भाँति न बोलें। आपने शरणागतका परित्याग न करनेकी जो प्रतिज्ञा की है, उसे सत्य करें। अपने समस्त बन्धुओंका अनादर करके हम आपके श्रीचरणोंकी शरणमें आयी हैं। हमारा परित्याग आपके लिये उचित नहीं। भला, हमारे पति, पिता, पुत्र और भाई हमें अपने घरोंमें अब क्यों रहने देंगे? हम आश्रयहीना हैं। हे सर्वाश्रय! हमें आश्रय दें।' रोते हुए उन सबने प्रार्थना की।

'आप व्यर्थ शोक कर रही हैं। आपके पति आपलोगोंका अनादर नहीं करेंगे। मेरे शरणागतोंका तो

देवता भी स्वागत करते हैं। आप घरोंको लौटें, मर्यादाका पालन करें।' श्यामसुन्दरने विवश किया। इच्छा न होनेपर भी किसी प्रकार उन्हें लौटना ही पड़ा। उनके जानेपर मोहनने अग्रज तथा सखाओंके साथ उनके लाये अन्नको उत्साहके साथ ग्रहण किया। जो अवशेष रहा, उससे वनके कपियोंने अपनी तृप्ति की।

द्विजपत्नियाँ श्रीकृष्णके पाससे लौटी थीं। वे पतितपावन हो चुकी थीं। उनको देखते ही ब्राह्मणोंके हृदयका मल दूर हो गया। उनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने सर्वेशकी याचनाकी उपेक्षा कर दी। ऐसी भगवद्भक्ता स्त्रियोंके पति होनेके कारण उन्होंने अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

महाभाग्यवती व्रजगोपियाँ

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥*

व्रजकी गोपांगनाओंके सम्बन्धमें हम-जैसे पामर पुरुषोंका कुछ कहना ही अपराध है। शुकदेवजीने भी बड़ी ही सावधानीसे श्रीमद्भागवतमें कुछ कहा है; क्योंकि बिना तीनों गुणोंसे परे हुए कोई मनुष्य यथार्थमें गोपी-तत्त्वको समझ ही नहीं सकता। जो बिना समझे केवल उस भावकी नकल करते हैं, उनसे तो पग-पगपर अपराध बननेकी सम्भावना है। सिंहिनीका दूध सुवर्णके ही पात्रमें रह सकता है, दूसरी जगह वह टिक ही नहीं सकता। वह इतना गूढ़ रहस्य है कि आदर्शका भी आदर्श माना जाता है। जबतक हृदयमें तनिक भी कामवासना हो, तबतक मनुष्य गोपी-तत्त्वके विषयमें कुछ कहनेका अधिकारी नहीं, तबतक तो वह यम, निमय, संयम, ध्यान, धारणा, जप, तप, योग आदिके द्वारा कामवासनाका क्षय करे। तब उसे गोपीप्रेमकी ओर बढ़नेका अधिकार होगा। इसके बिना किये बढ़ेगा तो गिर जायगा। इसीलिये नारदजीने अपने भक्तिसूत्रोंमें गोपियोंको परमप्रेमका आदर्श बताया है। सूरदासजी कहते हैं ***'गोपी प्रेमकी धुजा।'*** वे हरिकी परमानन्दिनी परमाह्लादिनी शक्तियाँ ही हैं। भगवान्‌से भिन्न उनका कोई स्वरूप ही नहीं। उद्धव-जैसे ज्ञानी भी उनके अलौकिक प्रेमको देखकर कह उठे **'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्'**—मैं यदि वृन्दावनकी कोई लता या गुल्म बन जाता तो कृतकृत्य हो जाता। क्यों? इसलिये कि इन महाभाग्यवती गोपियोंके पावन पाद-पद्मोंकी परागराशि उड़-उड़कर मेरे ऊपर पड़ती। अहा! जिनकी चरणरेणुको ब्रह्मा आदि देवता तरसते हों, उनके सम्बन्धमें कुछ लिखना बड़ी ही धृष्टता है।

गोपी! गोपी! कितना मोहक नाम है। भगवान्‌के अनन्त नामोंको ले लीजिये; जितना मधुमय, स्निग्ध, चित्तको हठात् आकर्षित करनेवाला उनका **'गोपीजनवल्लभ'** नाम है, उतना कोई भी नहीं। इसीलिये वैष्णवोंका इष्ट मन्त्र यही है। गोपीजनोंके वल्लभ! अहा! वल्लभका महत्त्व नहीं, महत्त्व तो गोपीजनोंका है। गोपीजन न होते तो इन वल्लभमें इतना माधुर्य आता ही कहाँसे? भगवान्‌से एक बार पूछा गया—'तुम्हारे गुरु कौन हैं?' उन्होंने कई नाम बताये। तब पूछा गया—'असली गुरु कौन हैं?' श्यामसुन्दर रो पड़े। उनका हृदय भर आया, कण्ठ रुद्ध हो गया। 'गो……' इतना ही कह पाये, आगे कुछ न कह सके। गोपी! अहा! गोपी! वे हमारे श्यामसुन्दरकी परमाराधनीया परम आदरणीया गुरुरूप हैं, हे जगद्गुरुकी भी गुरुरूपा देवीगण! तुम्हारे पादपद्मोंमें पुनः-पुनः प्रणाम है।

श्यामसुन्दरसे पूछा गया, 'तुम कभी हारे हो?' वे बोले—'कभी नहीं।' जरासन्धसे डरकर क्यों भागे?

* हम उन गोकुलकी व्रजांगनाओंकी चरणरेणुको बार-बार श्रद्धासहित सिरपर चढ़ाते हैं, जिनकी भगवत्सम्बन्धिनी कथाएँ तीनों लोकोंको पावन करनेवाली हैं।

कालयवनके सामने भी तो भागे थे। इन सबका समाधान उन्होंने किया। भागना और बात है, हारना और बात है। सिंह जब शिकारको मारता है तो उसे पकड़नेको दस कदम पीछे भी हट जाता है। जोरसे दौड़नेके लिये पीछे हटना ही पड़ता है। यह तो विद्या है, रणकौशल है। हारनेके मानी हैं दूसरेके अधीन हो जाना, उसके हाथकी कठपुतली बन जाना। भगवान्‌से पूछा गया 'किसीसे नहीं हारे?' वे सोचमें पड़ गये और बोले—'हाँ, हारे क्यों नहीं, गोपियोंसे तो हम सदा हारे ही हुए हैं।'

श्यामसुन्दरसे पूछा गया, तुम्हें वेदशास्त्र निर्लेप कहते हैं, तुम क्या लक्ष्मीके बिना रह सकते हो? वे बोले—'अवश्य, इसमें क्या, वह तो मेरी दासी है।' क्या ब्रह्माके बिना रह सकते हो? उन्होंने कहा—'मेरे प्रत्येक श्वासमें अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और प्रश्वासमें बहुत-से ब्रह्मा पेटमें चले जाते हैं।' तो क्या जगत्‌के बिना भी रह सकते हो? भगवान्‌ने कहा—'जगत् तो मेरी भ्रकुटीके संकेतमें पैदा होता है और पलक मारते ही समाप्त।'

फिर पूछा—'क्या वृन्दावनके बिना, क्या व्रजांगनाओंके बिना रह सकते हो?' श्यामसुन्दर रो पड़े। 'नहीं, यह मैं सुन भी नहीं सकता। रहनेकी बात तो अलग रही।'

गोपी-तत्त्वको अभीतक किसीने ठीक-ठीक समझा ही नहीं। आगे भी कोई यथार्थमें समझेगा, ऐसी आशा नहीं। रसमर्मज्ञ आचार्यगण गोपियोंके चार भेद बताते हैं—नित्य गोपी, ऋचारूपा गोपी, ऋषिरूपा गोपी, पुण्यप्राप्ता गोपी। एक तो सदा जो गोलोकमें भगवान्‌के साथ रहती हैं, वे गोपिकाएँ वृन्दावनमें अवतरित हुईं। दूसरी वेदकी ऋचाओंने बड़ी तपस्या की थी, वे गोपीरूपमें प्रकट हुईं। तीसरे ऋषियोंने दण्डकारण्यमें प्रभुसे कान्ताभावके रसास्वादनका वरदान माँगा था, वे गोपीरूपमें प्रकट हुए। चौथे जिन्होंने सुकृत कर्मोंसे, ऋषियोंके वरदानसे कृष्णवल्लभा होनेका वरदान पाया था। ये सभी कृष्णप्रिया और भगवद्-अनुगामिनी हुईं।

श्रीगोपीजनोंके सम्बन्धमें एक बात और है, जिसे सुनने-समझनेके भी अधिकारी सब नहीं। आजतक इतिहासमें श्रवण-भक्तिके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण महाराज परीक्षित्‌जी हैं। इनसे बढ़कर श्रोता तो कदाचित् ही कोई हो; क्योंकि इन्होंने स्वयं कहा है—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥

'सबसे अधिक दुःसह भूख और प्यास है, सो वह भी मुझे तनिक भी क्लेश नहीं पहुँचा रही है; क्योंकि आपके मुखसे जो हरिकथारूपी अमृत टपक रहा है, उसे पीनेसे मैं सब कुछ भूल गया हूँ।'

शुकदेवजीने यह सोचकर कि बड़ा अच्छा श्रोता है, इसे गोपी-प्रेमकी असली कथा सुनानी चाहिये, कथा आरम्भ की।

'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' यहाँसे शुरू किया। भगवान्‌की वंशी सुनकर कोई बच्चेको दूध पिला रही थी, वह वैसे ही भागी। कोई दूध दुह रही थी, वहींसे चल दी। कोई अंजन लगा रही थी, एक ही आँखमें लगा पायी थी, वैसे ही भागी। कोई केश बाँध रही थी, उसी दशामें चल दी। किसीने कहींका वस्त्र कहीं पहन लिया। इस तरह शुकदेवजी बड़ी उमंगमें वर्णन कर रहे थे। बीचमें ही परीक्षित्‌जी बोल उठे—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १२)

'हे महामुनि! वे गोपिकाएँ तो भगवान्‌को अपना एक प्रियजन, सुहृद् मानती थीं, उनका श्रीकृष्णमें ब्रह्मभाव तो था नहीं, तब उन्हें संसारसे मुक्ति कैसे मिल गयी? मुक्ति तो ज्ञानके बिना होती नहीं और उनका चित्त आसक्त था मायाके गुणोंमें।'

शुकदेवजीने अपना माथा ठोंका। 'अरे बाप रे बाप! यह अभी गोपियोंको समझा ही नहीं। कहता है, उन्हें मुक्ति कैसे मिली? ज्ञान तो हुआ ही नहीं? गोपियोंकी और मुक्ति? उनको और ज्ञानकी कमी?' प्रश्न सुनकर शुकाचार्यजी बड़े जोरसे बिगड़े और बोले—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१३)

'बाबा! मैं तुझे पहले ही बता चुका हूँ कि अरे! दुष्टबुद्धि शिशुपाल उन अखिलेश्वर प्रभुसे द्वेष करके ही मुक्त हो गया। सो भलेमानुस! ये तो उन परमेश्वरकी प्रिया थीं। उन्हें प्यार करती थीं। उनसे कैसे भी सम्बन्ध हो तो सही। जब उनसे द्वेष करनेपर असुरोंको मुक्ति मिलती है, तो प्रेम करनेवालोंको और फिर उन गोपियोंको—जिन्होंने अपना सर्वस्व उन प्रभुको ही समझ रखा है—उन्हें क्या मिलेगा, तुझे कैसे बताऊँ? तू तो अभी मुक्तिके ही चक्करमें है।' इसके बाद श्रीशुकदेवजीने भगवान्‌की दिव्य रासलीलाका वर्णन किया, जिसका रहस्य गोपीभावकी स्फुरणा हुए बिना नहीं समझा जा सकता। श्रीराधाजीके परम भक्त सन्त श्री 'हठी' जीने गोपियोंकी अपार महिमाको समझकर ही 'गोपीपदपंकजपराग' होनेकी अभिलाषा निम्न मनोहारी पदमें व्यक्त की है—

कोऊ उमाराज, रमाराज, जमाराज कोऊ, कोऊ रामचंद सुखकंद नाम नाधे मैं।
कोऊ ध्यावै गनपति, फनपति, सुरपति, कोऊ देव ध्याय फल लेत पल आधे मैं॥
'हठी'को अधार निराधार की अधार तुही, जप तप जोग जग्य कछुवै न साधे मैं।
कटै कोटि बाधे मुनि धरत समाधे ऐसे, राधे पद रावरे सदा ही अवराधे मैं॥
गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को, पसु कीजै महाराज नंद के बगर कौ।
नर कौन? तौन, जौन 'राधे-राधे' नाम रटै, तट कीजै बर कूल कालिंदी कगर कौ॥
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह, राखिए न आन फेर 'हठी' के झगर कौ।
गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज! तृन कीजै रावरेई गोकुलनगर कौ॥

प्रभुप्राप्तिके मार्गका अनुसरण करनेवाले भक्त

प्राचिनबर्हि सत्यब्रत रहुगन सगर भगीरथ।
बालमीक मिथिलेस गए जे जे गोबिंद पथ॥
रुकमांगद हरिचंद भरत्त दधीचि उदारा।
सुरथ सुधन्वा सिबिर सुमति अति बलि की दारा॥
नील मोरध्वज ताम्रध्वज अलरक कीरति राचिहौं।
अंघ्री अंबुज पांसु को जनम जनम हौं जाचिहौं॥ ११॥

प्राचीनबर्हिजी, सत्यव्रतजी, रहूगणजी, सगरजी, भगीरथजी, महर्षि वाल्मीकिजी, श्वपच वाल्मीकिजी और मिथिलापुरीके राजा आदि जो-जो गोविन्द भगवान्‌को प्राप्त करनेवाले मार्गपर चले। रुक्मांगदजी, हरिश्चन्द्रजी, भरतजी, परम उदार दधीचिजी, सुरथजी, सुधन्वाजी, शिविजी, अति शुद्ध बुद्धिवाली बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीजी, नीलध्वजजी, मोरध्वजजी, ताम्रध्वजजी और अलर्कजी—इन सभी भक्तोंकी कीर्तिमें मेरा अनुराग हो, मैं उस रंगमें रँग जाऊँ। इनके चरणकमलोंकी धूलिको मैं प्रत्येक जन्ममें माँगता हूँ॥ ११॥

श्रीनाभादासजीद्वारा परिगणित भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलनेवाले इन भक्तजनोंका पावन चरित संक्षेपमें इस प्रकारसे वर्णित है—

श्रीप्राचीनबर्हिजी

आदिराज महाराज पृथुके विमल वंशमें श्रीहविर्धानकी पत्नी हविर्धानीसे बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नामके छः पुत्र पैदा हुए। इनमें महाभाग बर्हिषद् यज्ञादि कर्मकाण्ड और योगादिमें कुशल थे। अपने परम-प्रभावके कारण उन्होंने प्रजापतिका पद प्राप्त किया। राजा बर्हिषद्‌ने एक स्थानके बाद दूसरे स्थानमें लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशोंसे पट गयी थी। इसीसे आगे चलकर ये प्राचीनबर्हिके नामसे विख्यात हुए। राजा प्राचीनबर्हिने ब्रह्माजीके कहनेसे समुद्रकी कन्या शतद्रुतिसे विवाह किया था। जिससे प्रचेता नामके दस पुत्र हुए थे। जिनका वर्णन पूर्व आ चुका है।

राजा प्राचीनबर्हिका चित्त कर्मकाण्डमें बहुत रम गया था। इनकी अगाध कर्मनिष्ठाको देखकर देवर्षि नारदजीने विचार किया कि यदि यह निष्ठा भगवान्‌में लग जाती तो राजाका कल्याण हो जाता। दूसरी बात यह भी थी कि विविध धर्मानुष्ठानोंसे इनका हृदय शुद्ध भी हो गया था, अतः ये अब उपदेशके परम अधिकारी भी हो गये हैं, यह विचारकर एक बार अध्यात्म-विद्या-विशारद, परम-कृपालु श्रीनारदजीने आकर उन्हें तत्त्वोपदेश दिया।

श्रीनारदजीने कहा—राजन्! इन कर्मोंके द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण चाहते हो? दुःखके आत्यन्तिक नाश और परमानन्दकी प्राप्तिका नाम कल्याण है, वह तो कर्मोंसे मिलनेका नहीं। यथा—**'नास्त्यकृतः कृतेन।'** (मुण्डकोपनिषद्) अर्थात् किये जानेवाले कर्मोंसे अकृत अर्थात् स्वतःसिद्ध नित्य परमेश्वर निश्चय ही नहीं मिल सकते। राजाने कहा—महाभाग नारदजी! मेरी बुद्धि कर्ममें फँसी हुई है, इसलिये मुझे परम कल्याणका कोई पता नहीं है। आप ही मुझे विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दीजिये, जिससे मैं इस कर्मबन्धनसे छूट जाऊँ; क्योंकि जो पुरुष कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें ही रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धनको ही परम पुरुषार्थ मानता है, वह अज्ञानवश संसारारण्यमें ही भटकता रहता है। उसे परम कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्राचीनबर्हिने स्वर्गकी कामनासे बहुत ही हिंसाप्रधान यज्ञ भी किये थे। श्रीनारदजीने कृपा करके राजाको दिव्य दृष्टि देकर कहा—राजन्! देखो, देखो, तुमने यज्ञमें निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है—उन्हें आकाशमें देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी गयी पीड़ाको याद करते हुए बदला लेनेके लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे। तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपनी लोहेकी सींगोंसे छेदेंगे। अरे! यज्ञमें पशुओंकी बलि देनेवालेकी तो बात ही क्या, पशुबलिका समर्थन करनेवाला पतित हो जाता है।

इस प्रकार उपदेश देकर नारदजी सिद्धलोकको चले गये, तब राजर्षि प्राचीनबर्हि भी प्रजापालनका भार अपने पुत्रोंको सौंपकर तपस्या करनेके लिये कपिलाश्रमको चले गये। वहाँ उन्होंने समस्त विषयोंकी आसक्ति

छोड़ एकाग्र मनसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिके चरणकमलोंका चिन्तन करते हुए सारूप्य पद प्राप्त किया।

श्रीसत्यव्रतजी

श्रीसत्यव्रतकी कथा छप्पय ५ मत्स्यावतारके प्रसंगमें आयी है।

राजा रहूगण और जड़भरतजी

प्राचीनकालमें भरत नामके एक महान् प्रतापी एवं भगवद्भक्त राजा हो गये हैं, जिनके नामसे यह देश 'भारतवर्ष' कहलाता है। अन्त समयमें उनकी एक मृगशावकमें आसक्ति हो जानेके कारण उन्हें मृत्युके बाद मृगका शरीर मिला और मृगशरीर त्यागनेपर वे उत्तम ब्राह्मणकुलमें जडभरतके रूपमें अवतीर्ण हुए। जडभरतके पिता आंगिरस गोत्रके वेदपाठी ब्राह्मण थे और बड़े सदाचारी एवं आत्मज्ञानी थे। वे शम, दम, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि गुणोंसे विभूषित थे और तप, दान तथा धर्माचरणमें रत रहते थे। भगवान्के अनुग्रहसे जडभरतको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति बनी हुई थी। अतः वे फिर कहीं मोहजालमें न फँस जायँ, इस भावसे बचपनसे ही निःसंग होकर रहने लगे। उन्होंने अपना स्वरूप जान-बूझकर उन्मत्त, जड, अन्धे और बहिरेके समान बना लिया और इसी छद्मवेषमें वे निर्द्वन्द्व होकर विचरने लगे। उपनयनके योग्य होनेपर पिताने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और वे उन्हें शौचाचारकी शिक्षा देने लगे। परंतु वह आत्मनिष्ठ बालक जान-बूझकर पिताकी शिक्षाके विपरीत ही आचरण करता। ब्राह्मणने उन्हें वेदाध्ययन करानेके विचारसे पहले चार महीनोंतक व्याहृति, प्रणव और शिरके सहित त्रिपदा गायत्रीका अभ्यास कराया; परंतु इतने दीर्घकालमें वे उन्हें स्वर आदिके सहित गायत्री-मन्त्रका उच्चारण भी ठीक तरहसे नहीं करा सके। कुछ समय बाद जडभरतके पिता अपने पुत्रको विद्वान् देखनेकी आशाको मनमें ही लेकर इस असार-संसारसे चल बसे और इनकी माता इन्हें तथा इनकी बहनको इनकी सौतेली माँको सौंपकर स्वयं पतिका सहगमनकर पतिलोकको चली गयीं।

पिताका परलोकवास हो जानेपर इनके सौतेले भाइयोंने, जिनका आत्मविद्याकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं था और जो कर्मकाण्डको ही सब कुछ समझते थे, इन्हें जडबुद्धि एवं निकम्मा समझकर पढ़ानेका आग्रह ही छोड़ दिया। जडभरतजी भी जब लोग इनके स्वरूपको न जानकर इन्हें जड-उन्मत्तादि कहकर इनकी अवज्ञा करते, तब वे उन्हें जड और उन्मत्तका-सा ही उत्तर देते। लोग इन्हें जो कोई भी काम करनेको कहते, उसे ये तुरंत कर देते। कभी बेगारमें, कभी मजदूरीपर, किसी समय भिक्षा माँगकर और कभी बिना उद्योग किये ही जो कुछ बुरा-भला अन्न इन्हें मिल जाता, उसीसे ये अपना निर्वाह कर लेते थे। स्वादकी बुद्धिसे तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये कभी कुछ न खाते थे; क्योंकि उन्हें यह बोध हो गया था कि स्वयं अनुभवरूप आनन्दस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ और मान-अपमान, जय-पराजय आदि द्वन्द्वोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखसे वे सर्वथा अतीत थे। वे सर्दी, गरमी, वायु तथा बरसातमें भी वृषभके समान सदा नग्न रहते। इससे उनका शरीर पुष्ट और दृढ़ हो गया था। वे भूमिपर शयन करते, शरीरमें कभी तेल आदि नहीं लगाते थे और स्नान भी नहीं करते थे, जिससे उनके शरीरपर धूल जम गयी थी और उनके उस मलिन वेषके अन्दर उनका ब्रह्मतेज उसी प्रकार छिप गया था, जैसे हीरेपर मिट्टी जम जानेसे उसका तेज प्रकट नहीं होता। वे कमरमें एक मैला-सा वस्त्र लपेटे रहते और शरीरपर एक मैला-सा जनेऊ डाले रहते, जिससे लोग इन्हें जातिमात्रका ब्राह्मण अथवा अधम ब्राह्मण समझकर इनका तिरस्कार करते। परंतु ये इसकी तनिक भी परवा नहीं करते थे। इनके भाइयोंने जब देखा कि ये दूसरोंके यहाँ मजदूरी करके पेट पालते हैं, तब उन्होंने लोकलज्जासे इन्हें धानके खेतमें क्यारी इकसार करनेके कार्यमें नियुक्त कर दिया; किंतु कहाँ मिट्टी अधिक

डालनी चाहिये और कहाँ कम डालनी चाहिये—इसका इन्हें बिल्कुल ध्यान नहीं रहता और भाइयोंके दिये हुए चावलके दानोंको, खलको, भूसीको, घुने हुए उड़द और बरतनमें लगी हुई अन्नकी खुरचन आदिको बड़े प्रेमसे खा लेते।

× × ×

एक दिन किसी लुटेरोंके सरदारने सन्तानकी कामनासे देवी भद्रकालीको नरबलि देनेका संकल्प किया। उसने इस कामके लिये किसी मनुष्यको पकड़कर मँगवाया, किंतु वह मरणभयसे इनके चंगुलसे छूटकर भाग गया। उसे ढूँढ़नेके लिये उसके साथियोंने बहुत दौड़-धूप की, परंतु अँधेरी रातमें उसका कहीं पता न चला। अकस्मात् दैवयोगसे उनकी दृष्टि जडभरतजीपर पड़ी, जो एक टाँगपर खड़े होकर हरिन, सूअर आदि जानवरोंसे खेतकी रखवाली कर रहे थे। इन्हें देखकर वे लोग बहुत प्रसन्न हुए और 'यह पुरुष-पशु उत्तम लक्षणोंवाला है, इसे देवीकी भेंट चढ़ानेसे हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध होगा।' यह समझकर वे लोग इन्हें रस्सीसे बाँधकर देवीके मन्दिरमें ले गये। उन्होंने इन्हें विधिवत् स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये और आभूषण, पुष्पमाला और तिलक आदिसे अलंकृतकर भोजन कराया; फिर गान, स्तुति एवं मृदंग तथा मजीरोंका शब्द करते हुए इन्हें देवीके आगे ले जाकर बिठा दिया। तदनन्तर पुरोहितने उस पुरुष-पशुके रुधिरसे देवीको तृप्त करनेके लिये मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किये हुए कराल खड्गको उठाया और चाहा कि एक ही हाथसे उनका काम तमाम कर दें। इतनेमें ही उसने देखा कि मूर्तिमेंसे बड़ा भयंकर शब्द हुआ और साक्षात् भद्रकालीने मूर्तिमेंसे प्रकट होकर पुरोहितके हाथसे तलवार छीन ली और उसीसे उन पापी दुष्टोंके सिर काट डाले।

× × ×

एक दिनकी बात है, सिन्धुसौवीर देशोंका राजा रहूगण तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे कपिलमुनिके आश्रमको जा रहा था। इक्षुमती नदीके तीरपर पालकी उठानेवालोंमें एक कहारकी कमी पड़ गयी। दैवयोगसे महात्मा जडभरतजी आ पहुँचे। कहारोंने देखा कि 'यह मनुष्य हट्टा-कट्टा, नौजवान और गठीले शरीरका है, अतः यह पालकी ढोनेमें बहुत उपयुक्त होगा।' इसलिये उन्होंने इनको जबरदस्ती पकड़कर अपनेमें शामिल कर लिया। पालकी उठाकर चलनेमें हिंसा न हो जाय, इस भयसे बाणभर आगेकी पृथ्वीको देखकर वहाँ कोई कीड़ा, चींटी आदि तो नहीं है—यह निश्चय करके आगे बढ़ते थे। इस कारण इनकी गति दूसरे पालकी उठानेवालोंके साथ एक-सरीखी नहीं हुई और पालकी टेढ़ी होने लगी। तब राजाको उन पालकी उठानेवालोंपर बड़ा क्रोध आया और वह उन्हें डाँटने लगा। इसपर उन्होंने कहा कि 'हमलोग तो ठीक चल रहे हैं, यह नया आदमी ठीक तरहसे नहीं चल रहा है।' यह सुनकर राजा रहूगण, यद्यपि उनका स्वभाव बहुत शान्त था, क्षत्रियस्वभावके कारण कुछ तमतमा उठे और जडभरतजीके स्वरूपको न पहचान उन्हें बुरा-भला कहने लगे। जडभरतजी उनकी बातोंको बड़ी शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उनकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। राजा रहूगण भी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वको जाननेके अधिकारी थे। जब उन्होंने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना, तब उनके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो ये कोई छद्मवेषधारी महात्मा हैं। अतः वे अपने बड़प्पनके अभिमानको त्यागकर तुरंत पालकीसे नीचे उतर पड़े और लगे उनके चरणोंमें गिरकर गिड़गड़ाने और क्षमा माँगने। तब जड़भरतजीने राजाको अध्यात्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर उपदेश दिया*, जिसे सुनकर राजा कृतकृत्य हो गये और अपनेको धन्य मानने लगे।

---

* जड़भरतजीद्वारा राजा रहूगणको दिये उपदेशका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवतके पंचम स्कन्धके अध्याय ११ से १४ तक देखना चाहिये।

श्रीसगरजी

इक्ष्वाकुवंशमें राजा हरिश्चन्द्र नामके चक्रवर्ती सम्राट् थे। उनके पुत्रका नाम रोहित था। रोहितसे हरितका और हरितसे चम्पका जन्म हुआ, जिसने चम्पापुरी बसायी। चम्पका सुदेव, सुदेवका विजय, विजयका भरुक, भरुकका वृक और वृकका पुत्र हुआ बाहुक। शत्रुओंने बाहुकसे राज्य छीन लिया तो वे अपनी पत्नीके साथ वनमें चले गये। वनमें जानेपर बुढ़ापेके कारण जब उनकी मृत्यु हो गयी तो उनकी पत्नी भी उनके साथ सती होनेको उद्यत हुईं; परंतु महर्षि और्वको यह मालूम था कि रानी गर्भवती हैं, अतः उन्होंने उन्हें सती होनेसे रोक दिया। जब उनकी सौतोंको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने रानीको भोजनमें विष मिलाकर दे दिया। परंतु ईश्वर-कृपासे गर्भपर उस विषका कोई प्रभाव नहीं हुआ और विष (गर)-सहित बालकका जन्म हुआ था, अतः वह बालक 'सगर' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

सगर चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्हींके पुत्रोंने पृथ्वी खोदकर समुद्र बना दिया था। सगरके पिता महाराज बाहुकका राज्य तालजंघ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जातिके लोगोंने छीन लिया था। सगरने गुरुदेव और्वसे सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्तकर इन जातियोंपर आक्रमण कर दिया और बुरी तरह पराजित कर दिया; परंतु अपने गुरुदेव और्वकी आज्ञा मानकर उन सबका वध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप बना दिया।

इसके बाद राजा सगरने और्व ऋषिके उपदेशानुसार अश्वमेध यज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना की। उनके यज्ञमें जो घोड़ा छोड़ा गया, उसे इन्द्रने चुरा लिया। उस समय महारानी सुमतिके गर्भसे उत्पन्न साठ हजार सगर-पुत्रोंने अपने पिताके आज्ञानुसार घोड़ेके लिये सारी पृथ्वी छान डाली। खोदते-खोदते उन्हें पूर्व और उत्तरके कोनेमें कपिलमुनिके पास अपना घोड़ा दिखायी दिया। घोड़ेको देखकर वे साठ हजार राजकुमार शस्त्र उठाकर यह कहते हुए उनकी ओर दौड़ पड़े कि 'यही हमारे घोड़ेको चुरानेवाला चोर है। देखो तो सही, इसने इस समय कैसे आँखें मूँद रखी हैं। यह पापी है। इसको मार डालो, मार डालो!' उन उद्दण्ड राजकुमारोंने कपिलमुनि-जैसे महापुरुषका तिरस्कार किया था, जिसके कारण उन सबके शरीरमें ही आग जल उठी और वे सब-के-सब क्षणभरमें भस्मीभूत हो गये।

महाराज सगरकी दूसरी पत्नीसे असमंजस नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। असमंजस पूर्वजन्मके योगी थे, अतः उन्होंने वनमें जाकर योगमार्गका अनुसरण किया। असमंजसके पुत्रका नाम था अंशुमान्। वह अपने पितामह महाराज सगरका आज्ञाकारी था। उनकी आज्ञासे अंशुमान् घोड़ेको ढूँढ़नेके लिये निकला। वह भी उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कपिलमुनिके आश्रमपर पहुँचा। वहाँ उसे अपने चाचाओंके शरीरकी भस्म, यज्ञीय अश्व और भगवान् कपिलमुनिके दर्शन हुए। अंशुमान्‌ने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और एकाग्र मनसे उनकी स्तुति की। अंशुमान्‌की विनम्रता और साधुभावसे भगवान् कपिल बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स अंशुमन्! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यज्ञपशु है। इसे तुम ले जाओ। तुम्हारे भस्मीभूत हुए चाचाओंका उद्धार केवल गंगाजलसे होगा और कोई उपाय नहीं है।' अंशुमान्‌ने बड़ी नम्रतासे उन्हें प्रसन्न किया और उनकी परिक्रमा करके वे घोड़ेको ले आये। राजा सगरने उस यज्ञपशुद्वारा यज्ञकी शेष क्रिया पूरी की और अंशुमान्‌को राज्यभार सौंप स्वयं विषयोंसे निःस्पृह और बन्धनमुक्त हो गये। उन्होंने महर्षि और्वके बतलाये मार्गसे परमपदकी प्राप्ति की।

श्रीभगीरथजी

इक्ष्वाकुवंशीय सम्राट् दिलीपके पुत्र ही भगीरथ नामसे विख्यात हुए। उनके पूर्वपुरुषोंने कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्मीभूत सगरपुत्रोंका उद्धार करनेके लिये गंगाजीको लानेकी बड़ी चेष्टा की और तपस्या करते-करते प्राण त्याग दिये, परन्तु कृतकार्य न हुए। अब महाराज भगीरथ राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हुए। ये बड़े

प्रतापशाली राजा थे। ये देवताओंकी सहायता करनेके लिये स्वर्गमें जाते और इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठकर सोमरस पान करते। इनकी प्रजा सब प्रकारसे सुखी थी। इनकी उदारता, प्रजावत्सलता और न्यायशीलताकी प्रख्याति घर-घरमें थी। इनके मनमें यदि कोई चिन्ता थी तो यही कि अबतक भूतलपर गंगाजी नहीं आयीं और मेरे पूर्वजोंका उद्धार नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने राज्यभार मन्त्रियोंको सौंप दिया और स्वयं तपस्या करनेके लिये निकल पड़े। गोकर्ण नामक स्थानपर जाकर इन्होंने घोर तपस्या की। ब्रह्माने सन्तुष्ट होकर इनसे वर माँगनेको कहा। तब भगीरथने कहा—'प्रभो! कोई ऐसा उपाय करें, जिससे हमारे पितरोंको दो अंजलि गंगाजल मिल जाय और गंगाजी आकर उनकी राखको सींच दें, तब उनके उद्धारमें कोई शंका नहीं रह जायगी।' ब्रह्माजीने कहा—'हिमालयकी ज्येष्ठ कन्या गंगा शीघ्र पृथ्वीपर अवतीर्ण होंगी। अतः उनका वेग धारण करनेके लिये महादेवकी आराधना करो। तब तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो सकेगी।' तत्पश्चात् पैरके एक अँगूठेपर खड़े रहकर उन्होंने एक वर्षतक शिवकी आराधना की। भगवान् शंकर उनपर प्रसन्न हुए और उन्होंने गंगाधारणकी बात स्वीकार की। उस समय गंगा प्रबल वेगसे शिवके सिरपर गिरने लगीं। वे मनमें ऐसा सोच रही थीं कि अपने प्रबल वेगमें बहाकर शंकरको भी रसातल ले जाऊँ। महादेव उनके मनकी बात जानकर बड़े कुपित हुए और अपने जटाजालमें उन्हें छिपा लिया। गंगाजी चेष्टा करके भी बाहर न निकल सकीं। भगीरथने शंकरकी बड़ी प्रार्थना की, तब कहीं उन्होंने गंगाको निकालकर विन्दुसरोवरकी ओर छोड़ दिया। इसीसे गंगाकी सात धाराएँ हो गयीं। उनमेंसे एकने ही भगीरथका अनुगमन किया। भगीरथ दिव्य रथपर चढ़कर गंगाके आगे-आगे चलते हुए वर्तमान गंगासागरके पास पहुँचे, जहाँ कपिलकी तीव्र दृष्टिसे उनके पूर्वपुरुष भस्म हुए थे। यों तो मार्गमें कई विघ्न पड़े, परंतु वे भगवान्‌की कृपासे सबसे बचते गये। वहाँ जाकर गंगाने उनके चाचाओंकी भस्मराशिको अपनी धारासे प्लावित कर दिया, जिससे उन सबोंने सद्गति प्राप्त की।

श्रीमद्भागवतमें गंगाजीके अवतीर्ण होनेके पूर्व उनके और राजा भगीरथके बीचमें जो बातचीत हुई, उसका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। गंगाजीने भगीरथसे कहा कि 'भूतलके प्राणी जब मेरे अन्दर स्नान करके अपने पापोंको धोयेंगे तो उनके वे पाप मेरे अन्दर प्रवेश कर जायँगे, उनसे मेरा छुटकारा कैसे होगा?' राजा भगीरथने गंगाजीके प्रश्नका जो उत्तर दिया, उससे साधुओंकी अगाध महिमा प्रकट होती है। भगीरथने कहा—'जिनकी विषयवासना निर्मूल हो गयी है और जो शान्त, ब्रह्मनिष्ठ एवं संसारको पावन करनेवाले हैं, ऐसे महापुरुष जब तुम्हारे अन्दर स्नान करेंगे तो उनके अंग-स्पर्शसे तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट हुए सारे पातक धुल जायँगे, क्योंकि सारे पातकोंका नाश करनेवाले श्रीहरि उनके हृदयमें सदा विराजमान रहते हैं।' जगत्‌को पावन करनेवाली श्रीगंगाजी भी जिनके स्पर्शसे पवित्र होती हैं, उन सन्तोंकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय!

देवीभागवतमें वर्णन है कि गंगाको लानेके लिये भगीरथने श्रीकृष्णकी आराधना की थी और बृहन्नारदीयके अनुसार भृगुमुनिके उपदेशसे हिमालयपर जाकर इन्होंने भगवान् नारायणकी आराधना की और उन्हींके प्रसाद एवं वरदानसे गंगाजी भूतलपर अवतीर्ण हुईं। चाहे जो हो—कल्पभेदसे सभी ठीक है—महाराज भगीरथने हम भूतलवासियोंको एक ऐसी अमूल्य निधि दान की, जिससे हम जबतक सृष्टि रहेगी, उनके ऋणी रहेंगे और उनके यश:संगीतका गायन करते रहेंगे। उन्होंने अपने पितरोंके बहाने हम सबका उद्धार कर दिया। हमारे हाथमें परम कल्याणका गुप्त मन्त्र दे दिया। इससे बढ़कर हमारा और कौन-सा उपकार हो सकता है? विभिन्न पुराणोंमें इनके विभिन्न पुत्रोंका वर्णन आता है और इनकी पितृभक्ति, गुरुभक्ति एवं भगवद्भक्तिका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। पुराणोंद्वारा उनका अनुशीलन किया जा सकता है।

महर्षि वाल्मीकि

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो, सन्तपदपंकज रेनु सीस पर धारिये।
पराचीनबर्हि आदि कथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित्त तैं न टारिये॥
भये भील सङ्ग भील ऋषि सङ्ग ऋषि भये, भये राम दरसन लीला विसतारिये।
जिन्हें जग गाय किहूँ सकै न अघाय चाय, भाय भरि हियोभरि नैन भरि ढारिये॥ ७४॥

प्रियादासजी नाभाजीके हार्दिक भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अहो! यदि मुझे बार-बार जन्म लेकर संसारमें आना पड़े तो इसकी मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है; क्योंकि इससे बड़ा भारी लाभ होगा कि सन्तोंके चरणकमलोंकी रज सिरपर धारण करनेका शुभ अवसर मिलेगा। प्राचीनबर्हि आदि भक्तोंकी कथाएँ पुराण-इतिहासमें वर्णित हैं, परंतु महर्षि वाल्मीकि और श्वपचभक्त वाल्मीकि—इन दोनोंकी कथाको चित्तसे कभी दूर नहीं करना चाहिये। महर्षि वाल्मीकि पहले भीलोंका साथ पाकर भीलोंका-सा आचरण करनेवाले हो गये। फिर ऋषियोंका संग पाकर ऋषि हो गये। उन्हें श्रीरघुनाथजीके दर्शन हुए। उन्होंने अपनी वाल्मीकिरामायणमें श्रीरामजीके चरित्रका विस्तारपूर्वक ऐसा उत्तम वर्णन किया है, जिन्हें गाते और सुनते हुए संसार तृप्त नहीं होता है। श्रोताओं और वक्ताओंके हृदय उत्कट प्रेमानुरागमय भावोंसे भर जाते हैं, फिर आनन्दवश नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है॥ ७४॥

श्रीरामकथाका गुणगान करनेवाले महर्षि वाल्मीकिजीका पावन चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

राम त्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान्॥*

भगवन्नामके जपसे मनुष्य क्या-से-क्या हो सकता है, इसके ज्वलन्त उदाहरण भगवान् वाल्मीकि हैं! इनका जन्म तो अंगिरागोत्रके ब्राह्मणकुलमें हुआ था, किन्तु डाकुओंके संसर्गमें रहकर ये लूट-मार और हत्याएँ करने लगे। जो भी आता उसीको लूटते और कोई कुछ कहता तो उसे जानसे मार देते। इस प्रकार बहुत वर्षोंतक ये इस लोकनिन्दित क्रूर कर्मको करते रहे।

इस संसारचक्रमें घूमते-घूमते जब जीवके उद्धार होनेके दिन आते हैं, तब उसे साधुसंगति प्राप्त होती है। जिसे भगवत्कृपासे साधुसंगति प्राप्त हो गयी और साधु-सन्त उसपर अहैतुकी कृपा करने लगे तब समझना चाहिये कि अब इसके उद्धारका समय आ गया। वाल्मीकिजीके भी उद्धारके दिन आ गये। एक दिन उन्होंने देखा उधरसे नारदजी चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही ये उनके ऊपर झपटे और बोले—'जो कुछ है उसे रख दो, नहीं तो जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा।'

नारदजीने बड़े ही कोमल स्वरमें हँसते-हँसते कहा—'हमारे पास और है ही क्या? यह वीणा है, एक वस्त्र है; इसे लेना चाहो तो ले लो, जानसे क्यों मारते हो?'

वाल्मीकिजीने कहा—'वीणाका क्या करते हो, थोड़ा गाकर सुनाओ।' नारदजीने मधुर स्वरसे भगवान्के त्रैलोक्यपावन नामोंका कीर्तन किया। कीर्तन सुनकर वाल्मीकिका हृदय पसीजा। कठोर हृदयमें दयाका संचार हुआ और चित्तमें कुछ कोमलता आयी। देवर्षिने कृपावश उनसे कहा—'तुम व्यर्थमें जीवहिंसा क्यों करते हो? प्राणियोंके वधके समान कोई दूसरा पाप नहीं है।' यह सुनकर वाल्मीकिजीने कहा—'भगवन्! मेरा परिवार बड़ा है, उनकी आजीविकाका दूसरा कोई प्रबन्ध नहीं। वे सब मेरे सुख-दुःखके साथी हैं, उनका भरण-पोषण मुझे करना होता है; यदि मैं लूटपाट न करूँ तो वे क्या खायँ?' नारदजीने कहा—'तुम जाकर

* हे रामजी! तुम्हारे नामकी महिमाको कौन कह सकता है, जिसके प्रभावसे मैंने ब्रह्मर्षिपद प्राप्त कर लिया!

अपने परिवारवालोंसे पूछो कि वे खानेके ही साथी हैं या तुम्हारे पापमें भी हिस्सा बँटायेंगे।'

मनमें कुछ दुविधा हो गयी, इन्होंने समझा कि ये महात्मा इस प्रकार बहाना बनाकर भागना चाहते हैं। उनके मनकी बात जानकर सर्वज्ञ ऋषि बोले—'तुम विश्वास करो कि तुम्हारे लौटनेतक हम कहीं भी न जायँगे, इतनेपर भी तुम्हें संतोष न हो तो तुम हमें इस पेड़से बाँध दो।' यह बात इनके मनमें बैठ गयी। देवर्षिको एक पेड़से बाँधकर ये घर चले गये और वहाँ जाकर अपने माता-पिता, स्त्री तथा कुटुम्बियोंसे पूछा—'तुम हमारे पापके हिस्सेदार हो या नहीं?' सभीने एक स्वरसे कहा—'हमें खिलाना-पिलाना तुम्हारा कर्तव्य है। हम क्या जानें कि तुम किस प्रकार धन लाते हो, हम तुम्हारे पापोंके हिस्सेदार नहीं।'

जिनके लिये वे निर्दयतासे प्राणियोंका वध करते रहे, उनका ऐसा उत्तर सुनकर वाल्मीकिजीके ज्ञाननेत्र खुल गये। जल्दीसे जंगलमें आकर मुनिका बन्धन खोला और रोते-रोते उनके चरणोंमें लिपट गये। महर्षिके चरणोंमें पड़कर वे खूब जी खोलकर रोये। उस रुदनमें गहरा पश्चात्ताप था। नारदजीने उन्हें धैर्य बँधाया और कहा—'अबतक जो हुआ सो हुआ, अब यदि तुम हृदयसे पश्चात्ताप करते हो तो मेरे पास राम-नामरूप एक ऐसा मन्त्र है, जिसके निरन्तर जपसे तुम सभी पापोंसे छूट जाओगे। इस नामके जपमें ऐसी शक्ति है कि वह किसी प्रकार भी जपा जाय पापोंको नाश कर देता है।' अत्यन्त दीनताके साथ वाल्मीकिजीने कहा—'भगवन्! पापोंके कारण यह नाम तो मेरे ओठोंसे निकलता नहीं, अतः मुझे कोई ऐसा नाम बताइये, जिसे मैं सरलतासे ले सकूँ।' तब नारदजीने बहुत समझ-सोचकर रामनामको उलटा करके 'मरा-मरा' का उपदेश दिया। निरन्तर 'मरा-मरा' कहनेसे अपने-आप 'राम-राम' हो जाता है।

देवर्षिका उपदेश पाकर वे निरन्तर एकाग्रचित्तसे 'मरा-मरा' जपने लगे। हजारों वर्षोंतक एक ही जगह बैठकर वे नामकी रटनमें निमग्न हो गये। उनके सम्पूर्ण शरीरपर दीमकका पहाड़-सा जम गया। दीमकोंके घरको वल्मीक कहते हैं, उसमें रहनेके कारण ही इनका नाम वाल्मीकि पड़ा। पहले इनका नाम रत्नाकर था। ये ही संसारमें लौकिक छन्दोंके आदिकवि हुए, इन्होंने ही श्रीवाल्मीकीय रामायण आदिकाव्यकी रचना की। वनवासके समय भगवान् स्वयं इनके आश्रमपर गये थे। सीताजीने भी अपने अन्तिम वनवासके दिन इन्हीं महर्षिके आश्रममें बिताये थे। वहींपर लव और कुशका जन्म हुआ। सर्वप्रथम लव और कुशको ही श्रीरामायणका गान सिखाया गया। इस प्रकार निरन्तर रामनामके जपके प्रभावसे वाल्मीकिजी व्याधकी वृत्तिसे हटकर ब्रह्मर्षि हो गये। इसीलिये नाममहिमामें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जान आदिकबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

श्वपच भक्त वाल्मीकिजी

श्वपच वाल्मीकि नामक एक भगवान्‌के बड़े भारी भक्त थे, वे अपनी भक्तिको गुप्त ही रखते थे। एक बारकी बात है, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें इतने ऋषि-महर्षि पधारे कि सम्पूर्ण यज्ञस्थल भर गया। भगवान्‌ने शंख स्थापित किया और कहा कि यज्ञके सांगोपांग पूर्ण हो जानेपर यह शंख बिना बजाये ही बजेगा। यदि नहीं बजे तो समझिये कि यज्ञमें अभी कुछ त्रुटि है, यज्ञ पूरा नहीं हुआ। वही बात हुई। पूर्णाहुति, तर्पण, ब्राह्मणभोजन, दान-दक्षिणादि सभी कर्म विधिसमेत सम्पन्न हो गये, परंतु वह शंख नहीं बजा। तब सबको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने श्रमके बाद भी यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ। सभी लोगोंने भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर कहा कि प्रभो! आप कृपा करके बताइये कि यज्ञमें कौन-सी कमी रह गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—शंख न बजनेका रहस्य सुनिये। यद्यपि ऋषियोंके समूहसे चारों दिशाएँ, सम्पूर्ण भूमि भर गयी है और सभीने भोजन किया है, परंतु किसी रसिक वैष्णव सन्तने भोजन नहीं किया है, यदि आपलोग यह कहें कि इन ऋषियोंमें क्या कोई भक्त नहीं है तो मैं 'नहीं' कैसे कहूँ, अवश्य इन ऋषियोंमें बहुत उत्तम-उत्तम भक्त हैं, फिर भी मेरे हृदयकी एक गुप्त बात यह है कि मैं सर्वश्रेष्ठ रसिक वैष्णव भक्त उसे मानता हूँ, जिसे अपनी जाति, विद्या, ज्ञान आदिका अहंकार बिलकुल न हो और जो अपनेको दासोंका दास मानता हो, यदि यज्ञ पूर्ण करनेकी इच्छा है तो ऐसे भक्तको लाकर जिमाइये।

भगवान्की यह बात सुनकर युधिष्ठिरने कहा—प्रभो! सत्य है, पर ऐसा भगवद्भक्त हमारे नगरकें आस-पास कहीं भी दिखायी नहीं देता है। जिसमें अहंकारकी गन्ध न हो—ऐसा भक्त तो किसी दूसरे लोकमें भले ही मिले। भगवान्ने कहा—नहीं, तुम्हारे नगरमें ही रहता है। दिन-रात, प्रातः-सायं तुम्हारे यहाँ आता-जाता भी है, पर उसे कोई जानता नहीं है और वह स्वयं अपनेको प्रकट भी नहीं करता है। यह सुनकर सभी आश्चर्यसे चौंक उठे और बोले—प्रभो! कृपया शीघ्र ही बताइये, उनका क्या नाम है और कहाँ स्थान है? जहाँ जाकर हम उनका दर्शन करके अपनेको सौभाग्यशाली बनायें।

भगवान्ने कहा—श्वपच भक्त वाल्मीकिके घरको चले जाओ, वे सर्वविकाररहित सच्चे साधु हैं।

अर्जुन और भीमसेन भक्त वाल्मीकिजीको निमन्त्रण देनेके लिये उनके घर जानेको तैयार हुए। तब भगवान्ने उन्हें सतर्क करते हुए हृदयकी बात खोलकर कही—जाते तो हो पर सावधान रहना, भक्तोंकी भक्तिका भाव अत्यन्त दुर्लभ और गम्भीर है, उनको देखकर मनमें किसी प्रकारका विकार न लाना, अन्यथा तुम्हारी भक्तिमें दोष आ जायगा। दोनोंने वाल्मीकिके घर पहुँचकर उसके चारों ओर घूमकर उसकी प्रदक्षिणा की। आनन्दसे झूमते हुए पृथ्वीपर पड़कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। भीतर जाकर देखा तो उनका उपासनागृह बड़ा सुन्दर था। वाल्मीकिजीने जब दोनों राज-राजाओंको आया देखा तो उन्होंने सब काम छोड़ दिये। लज्जा एवं संकोचवश काँपने लगे, उनका मन विह्वल हो गया। अर्जुन और भीमसेनने सविनय निवेदन किया—भक्तवर! कल आप हमारे घरपर पधारिये और वहाँ अपनी जूठन गिराकर हमारे पापग्रहोंको दूर कीजिये। हम सबको परम भाग्यशाली बनाइये।

दोनोंको निमन्त्रण देते तथा अपनी बड़ाई करते हुए सुनकर वाल्मीकिजी कहने लगे—अजी! हम तो सदासे आपकी जूठन उठाते हैं और आपके द्वारपर झाड़ू लगाते हैं। मेरा निमन्त्रण कैसा? पहले आपलोग भोजन कीजियेगा, फिर पीछेसे हमें अपनी जूठन दीजियेगा। अर्जुन-भीमसेनने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं? पहले आप भोजन कीजियेगा, फिर पीछेसे हमें कराइयेगा। बिना आपको खिलाये हमलोग नहीं खायेंगे। दूसरी बात भूलकर भी मनमें न सोचिये। वाल्मीकिजीने कहा—बहुत अच्छी बात, यदि आपके मनमें ऐसा है तो ऐसा ही होगा।

अर्जुन और भीमसेनने लौटकर राजा युधिष्ठिरसे वाल्मीकिकी सब बात कही, सुनकर युधिष्ठिरको श्वपच भक्तके प्रति बड़ा प्रेम हुआ। भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीको अच्छी प्रकारसे सिखाया कि तुम सभी प्रकारके षट्रस व्यंजनोंको अच्छी प्रकारसे बनाओ। तुम्हारे हाथोंकी सफलता आज इसीमें है कि भक्तके लिये सुन्दर रसोई तैयार करो। रसोई तैयार हो चुकनेपर राजा युधिष्ठिर जाकर वाल्मीकिको लिवा लाये। उन्होंने कहा कि हमें बाहर ही बैठाकर भोजन करा दो। श्रीकृष्णभगवान्ने कहा—हे युधिष्ठिर! ये तो तुम्हारे भाई हैं, इन्हें सादर गोदमें उठाकर स्वयं ले आओ। इस प्रकार उन्हें पाकशालामें लाकर बैठाया गया और उनके सामने सभी प्रकारके व्यंजन परोसे गये। रसमय प्रसादका कौर लेते ही शंख बज उठा, परंतु थोड़ी देर बजकर फिर बन्द हो गया, तब भगवान्ने शंखको एक छड़ी लगायी।

भगवान्‌ने शंखसे पूछा—तुम कण-कणके भोजन करनेपर ठीकसे क्यों नहीं बज रहे हो? घबड़ाकर शंख बोला—आप द्रौपदीके पास जाकर उनसे पूछिये, आप मनसे यह मान लीजिये कि मेरा कुछ भी दोष नहीं है। जब द्रौपदीसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि शंखका कथन सत्य है। भक्तजी खट्टे-मीठे आदि सभी रसोंके सभी व्यंजनोंको एकमें मिलाकर खा रहे हैं, इससे मेरी रसोई करनेकी चतुरता धूलमें मिल गयी। अपनी पाकविद्याका निरादर देखकर मेरे मनमें यह भाव आया कि आखिर हैं तो ये श्वपच जातिके ही, ये भला व्यंजनोंका स्वाद लेना क्या जानें? तब भगवान्‌ने सब पदार्थोंको एकमें मिलाकर खानेका कारण पूछा। वाल्मीकिने कहा कि इनका भोग तो आप पहले ही लगा चुके हैं, अतः पदार्थबुद्धिसे अलग-अलग स्वाद कैसे लूँ? पदार्थ तो एकके बाद दूसरे रुचिकर और अरुचिकर लगेंगे। फिर इसमें प्रसादबुद्धि कहाँ रहेगी? मैं तो प्रसादका सेवन कर रहा हूँ, व्यंजनोंको नहीं खा रहा हूँ। यह सुनकर भक्त वाल्मीकिमें द्रौपदीका अपार सद्भाव हुआ। शंख जोरोंसे बजने लगा। लोग भक्तकी जय-जयकार करने लगे। इस प्रकार यज्ञ पूर्ण हुआ और भक्त वाल्मीकिजीकी महिमाका सबको पता चल गया।

श्रीप्रियादासजीने श्वपच भक्त वाल्मीकिके इस चरितका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

हुतो वालमीकि एक सुपच सनाम ताको श्याम लै प्रकट कियो भारत में गाइयै।
पांडवन मध्य मुख्य धर्म पुत्र राजा आप कीनो यज्ञ भारी ऋषि आए भूमि छाइयै॥
ताको अनुभाव शुभ शङ्ख सो प्रभाव कहै जो पै नहीं बाजै तो अपूरनता आइयै।
सोई बात भई वह बाज्यो नाहिं शोच पर्‌यौ पूछैं प्रभुपास याकी न्यूनता बताइयै॥ ७५॥
बोले कृष्णदेव याको सुनो सब भेव ऐ पै नीके मानि लेव बात दुरी समुझाइये।
भागवत संत रसवन्त कोऊ जेंयो नाहिं ऋषिन समूह भूमि चहूँ दिशि छाइये॥
जौपै कहौ 'भक्तनाहीं' नाहीं कैसे कहौं गहौं गांस एक और कुलजाति सो बहाइये।
दासनि को दास अभिमान की न बास कहूँ पूरणकी आस तोपै ऐसो लै जिमाइये॥ ७६॥
ऐसो हरिदास पुर आस पास दीसै नाहिं बास बिन कोऊ लोक लोकन में पाइये।
तेरेई नगर मांझ निशि दिन भोर सांझ आवै जाय ऐपै काहू बात न जनाइये॥
सुनि सब चौंकि परे भाव अचरज भरे हरे मन नैन अजू वेगि ही बताइये।
कहा नाँव? कहाँ ठाँव? जहाँ हम जाय देखैं लेखैं करि भाग धायपाय लपटाइये॥ ७७॥
जिते मेरे दास कभूं चाहैं न प्रकाश भयो करौं जो प्रकाश मानैं महादुखदाइये।
मोको पर्‌यो सोच यज्ञपूरन की लोच हिये लिये वाको नाम कहूँ ग्राम तजि जाइये॥
ऐसौ तुम कहौ जामें रहो न्यारे प्यारे सदा हमही लिवाइ ल्याइ नीके कै जिमाइये।
जावो वालमीक घर बड़ो अवलीक साधु कियो अपराध हम दियो जो बताइये॥ ७८॥
अर्जुन औ भीमसेन चलेई निमन्त्रण को अन्तर उघारि कही भक्तिभाव दूर है।
पहुँचे भवन जाइ चहुँ दिशि फिरि आई परे भूमि झूमि घर देख्यो छबिपूर है॥
आये नृप राजनिको देखि तजे काजनिको लाजनि सो काँपि काँपि भयो मनचूर है।
पायनि को धारिये जू जूठन को डारिये जू पाप ग्रह टारिये जू कीजै भागभूर है॥ ७९॥
जूठनि लै डारौं सदा द्वार को बुहारों नहीं और को निहारौं अजू यही साँचो पन है।
कहो कहा? जेंवो कछु पाछे लै जिंवावो हमें जानी गई रीति भक्तिभाव तुम तन है॥

तब तौ लजानौ हिये कृष्ण पै रिसानो नृप चाहौ सोई ठानौ मेरे संग कोऊ जन है।
भोर ही पधारौ अब यही उर धारौ और भूलि न विचारौ कहीभली जो पै मन है॥ ८०॥
कही सब रीति सुनि धर्म पुत्र प्रीति भई करी लै रसोई कृष्ण द्रौपदी सिखाई है।
जेतिक प्रकार सब व्यञ्जन सुधारि करो आजु तेरे हाथनि की होति सफलाई है॥
ल्याये जा लिवाय कहैं बाहिर जिमाय देवो कही प्रभु आपु ल्यावो अङ्कभरि भाई है।
आनिकै बैठायो पाकशाल में रसाल ग्रास लेत बाज्यो शङ्ख हरि दण्डकी लगाई है॥ ८१॥
सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो कछु लाज्यो कहा भक्ति को प्रभाव तै न जानत यों जानिये।
बोल्यो अकुलाय जाय पूछिये जू द्रौपदी को मेरो दोष नाहिं यह आपु मन आनिये॥
मानि सांच बात जाति बुद्धि आई देखि याहि सबही मिलाई मेरी चातुरी विहानिये।
पूँछेते कही है बालमीक मैं मिलायों यातें आदि प्रभु पायो पाऊँ स्वाद उनमानिये॥ ८२॥

श्रीमिथिलेशजी

मिथिलापुरीके सभी राजा मैथिल, विदेह और जनककी संज्ञासे अभिहित किये जाते हैं। यहाँके सभी राजा धर्मप्राण, योगी और भगवद्भक्त थे। इन सबका चरित परम पावन है। इनमें कतिपय राजाओं यथा सीरध्वज जनक, निमि और बहुलाश्वका चरित भक्तमालमें दिया गया है। यथा—राजा सीरध्वज जनकका चरित्र छप्पय ७ में, निमिका चरित्र छप्पय १२ में और बहुलाश्वका छप्पय १० में।

श्रीरुक्मांगदजी

परमभागवत महाराज रुक्मांगद अयोध्याके महाराज ऋतध्वजके पुत्र थे। ये इक्ष्वाकुवंशमें बड़े ही प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए हैं। इनकी सन्ध्यावली नामकी पत्नी थी, उसके गर्भसे राजकुमार धर्मांगदका जन्म हुआ। कुमार धर्मांगद पिताके समान ही धर्मात्मा और पितृभक्त थे। महाराज रुक्मांगदको एकादशीव्रतका इष्ट था। उन्होंने अपने समस्त राज्यमें घोषणा करा दी थी कि जो एकादशीव्रत न करेगा, उसे राज्यकी ओरसे दण्ड दिया जायगा। अत: उनके राज्यमें छोटे-छोटे बच्चों, अति वृद्धों और गर्भिणी स्त्रियोंको छोड़कर सभी एकादशीव्रत करते थे। एकादशीव्रतके प्रतापके उनके राज्यमें कोई भी यमपुरीको नहीं जाता था। यमराजको बड़ी चिन्ता हुई, वे प्रजापति भगवान् ब्रह्माके पास गये और यमपुरीके उजाड़ होनेका संवाद सुनाया। ब्रह्माजीने कुछ सोचकर उत्तर दिया कि अच्छा हम इसका प्रबन्ध करेंगे।

ब्रह्माजीने अपनी इच्छासे एक मोहिनी नामकी मायाकी स्त्री बनायी। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं महाराजसे एकादशीका व्रत छुड़वा दूँगी। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह हिमालयके रमणीक प्रदेशमें चली गयी। इधर महाराज राज्य करते-करते थक गये थे, वे अपने पुत्र धर्मांगदको राज्य देकर और अपनी रानीको साथ लेकर हिमालयकी ओर तप करने चले गये। जाते हुए वे अपने पुत्रको आदेश दे गये कि एकादशीके व्रतका नियम इसी प्रकार चलता रहे। पितृभक्त राजकुमारने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की और उसी प्रकार एकादशीका व्रत स्वयं करने लगा तथा समस्त प्रजाके लोगोंसे कराने लगा। महाराज रुक्मांगद जंगलमें भी सदा एकादशीका व्रत करते थे। महाराज जहाँ तपस्या करते थे, वहाँ मोहिनी गयी और उसने अपने हाव-भाव, कटाक्षोंद्वारा महाराजको अपने वशमें कर लिया तथा अपनेको ब्रह्माजीकी पुत्री बताकर अपनी कुलीनताका भी परिचय दिया। महाराजने उससे विवाह करनेका प्रस्ताव किया। उसने कहा आप अपने नगरमें चलकर मुझसे विवाह कर लें; किंतु शर्त यह है कि मैं जो कुछ कहूँगी, वही आपको मानना पड़ेगा। महाराजने मोहवश यह शर्त स्वीकार कर ली। वे मोहिनीको साथ लेकर अपनी राजधानीमें लौट आये। उनके धर्मात्मा पुत्रने विधिवत् उनका स्वागत किया।

महाराजको मोहिनीने वशमें कर लिया था। अतः उन्होंने उसकी सब बातें मानकर उससे विवाह कर लिया। सन्ध्यावली बड़ी ही धर्मपरायणा पतिव्रता थीं। वे बड़ी श्रद्धासे महाराजकी तथा मोहिनीकी सेवा करने लगीं। उनके मनमें तनिक भी सौतियाडाह नहीं था। महाराज उनके इष्टदेव थे। महाराज जिन्हें मानते हैं, वह उनकी भी मान्य हैं। महाराजकी जिसमें प्रसन्नता है, उसे करनेमें वे अपना सौभाग्य समझती थीं।

इतना सब होनेपर भी महाराज एकादशीव्रतको सदा नियमपूर्वक करते थे। एकादशीका व्रत उन्होंने नहीं छोड़ा।

एक दिन एकादशी आयी, महाराज व्रत रहे और विधिवत् रात्रिजागरण करनेको भी उद्यत हुए। मोहिनीने कहा—'महाराज! मेरी एक बात आपको माननी होगी।'

महाराजने कहा—'मैं तुम्हारी सभी बातोंको मानता रहा हूँ और मानूँगा, बताओ कौन-सी बात है?'

मोहिनीने कहा—'मेरी प्रार्थना यही है कि आप एकादशीका व्रत न करें, इसीमें मेरी प्रसन्नता है।'

महाराज यह सुनते ही अवाक् रह गये, उन्होंने बड़े कष्टसे कहा—'मोहिनी! मैं तुम्हारी सभी बातें मान सकता हूँ, सब कुछ कर सकता हूँ; किंतु एकादशीव्रत छोड़नेके लिये मुझसे मत कह। एकादशीव्रतको छोड़ना मेरे लिये नितान्त असम्भव है।'

मोहिनीने कहा—'महाराज! आप एकादशीव्रत रहेंगे तो मैं अभी मर जाऊँगी। मेरी यही इच्छा है, इसे आपको पूरा करना ही होगा। आप मुझसे विवाहके समय प्रतिज्ञा कर चुके हैं।'

महाराजने कहा—'तुम इसके बदले और जो कुछ भी चाहो, माँग लो। बस, एकादशीव्रत छोड़नेको मत कहो।'

तब मोहिनीने कहा—'अच्छा अपने इकलौते पुत्रका सिर दीजिये।' महाराज बड़े दुखी हुए। धर्मांगदको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने पिताको बहुत समझाया कि 'इससे बढ़कर सौभाग्य मेरे लिये क्या होगा? आप धर्मसंकटसे बच जायँगे, माताकी इच्छापूर्ति होगी। यह शरीर तो कभी-न-कभी जाना ही है, यदि इसके द्वारा कोई महान् कार्य हो जाय तो इससे बढ़कर इसका सदुपयोग और हो ही क्या सकता है?' सन्ध्यावली रानीने भी पुत्रकी बातोंका अनुमोदन किया।

पुत्रके कहनेपर महाराज ज्यों ही अपने इकलौते पुत्रका सिर काटनेवाले थे, त्यों ही भगवान् विमान लेकर आये और महाराजको सपरिवार अपने लोकको ले गये।

जिन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्राणसे भी प्यारे अपने इकलौते पुत्रका सिर देनातक मंजूर कर लिया किंतु एकादशीका व्रत नहीं छोड़ा, उनसे बढ़कर परमभागवत और कौन हो सकता है?

राजा रुक्मांगदको एकादशीव्रत क्यों इतना प्रिय था? इस विषयमें भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज निम्न दो कवित्तोंमें इस प्रसंगका वर्णन करते हुए कहते हैं—

रुक्मांगद बाग शुभ गन्ध फूल पागि रह्यो करि अनुराग देवबधू लेन आवहीं।
रहि गई एक कांटा चुभ्यो पग बैंगन को सुनि नृप माली पास आये सुख पावहीं॥
कहौ 'को उपाइ स्वर्ग लोक को पठाइ दीजै' करै एकादशी जल धरै कर जावहीं।
व्रतको तो नाम यही ग्राम कोउ जानै नाहिं कीनो हो अजान काल्हि लावो गुनगावहीं॥ ८३॥
फेरी नृप डौंड़ी सुनि बनिक की लौंड़ी भूखी रही ही कनौड़ी निशि जागी उन मारिये।
राजा ढिग आनि करि दियो व्रत दान गई तिया यों उड़ानि निज लोक को पधारिये॥

महिमा अपार देखि भूपने विचारी याको कोऊ अन्न खाय ताको बाँधि मारि डारिये।
याही के प्रभाव भाव भक्ति विसतार भयो नयो चोज सुनो सब पुरी लै उधारिये॥ ८४॥

भक्त राजा रुक्मांगदका बाग अनेक प्रकारके सुन्दर फूलोंकी उत्तम सुगन्धसे भरा हुआ था, इससे प्रभावित होकर स्वर्गकी अप्सराएँ भी यहाँ आती थीं। दैवयोगसे एक दिन एक अप्सराके पैरमें बैंगनका काँटा चुभ गया, इससे उसका पुण्य क्षीण हो गया। वह उड़कर स्वर्गको न जा सकी, बागमें ही रह गयी। प्रात:काल बागके मालियोंसे यह समाचार सुनकर रुक्मांगदजी बागमें आये। अप्सराको चिन्तित देखकर राजाने पूछा—तुम्हें सुखी करनेका क्या उपाय किया जाय? तब उसने कहा कि कल जिसने एकादशीका व्रत किया हो, वह हाथमें जल लेकर अपने व्रतके फलका संकल्प करके मुझे दे दे। तब मैं अपने लोकको जा सकती हूँ। राजाने कहा—व्रत करना तो दूर रहा, मेरे नगरमें तो कोई इसका नाम भी नहीं जानता है। तब अप्सराने कहा कि बिना जाने ही कोई भूखा रह गया हो, उसे ही लाकर संकल्प करा दो, उसीके फलसे चली जाऊँगी और कृतज्ञ होकर सदा आपका गुन गाऊँगी।

राजाने अपने नगरमें ढिंढोरा पिटवाया कि कल जिसने अन्न-जल ग्रहण न किया हो, वह दरबारमें आये, उसे इनाम मिलेगा। इसे सुनकर एक बनियेकी दासी आयी, जिस बिचारीको बिना अपराधके ही बनियेने मारा था। इससे वह ग्लानिवश दिन-रात भूखी-प्यासी और जागती ही रह गयी थी। राजाने उसीसे व्रतका संकल्प करा दिया। अप्सरा उड़कर अपने लोकको चली गयी। एकादशीव्रतकी ऐसी अपार महिमाको देखकर राजाने विचार करके यह घोषणा की कि मेरे राज्यमें सभीको व्रत करना अनिवार्य है। यदि कोई अन्न खायेगा तो उसे बाँधकर मार डाला जायगा। इसके प्रभावसे राजा रुक्मांगदके राज्यमें भाव-भक्तिका बहुत विस्तार हुआ।

श्रीरुक्मांगदजीकी पुत्री

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने श्रीरुक्मांगदजीकी पुत्रीकी एकादशी-निष्ठाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

एकादशी व्रत की सचाई लै दिखाई राजा सुता कि निकाई सुनौ नीके चित लाइकै।
पिता घर आयो पति भूख ने सतायो अति माँगे तिया पास नहिं दियो यह भाइकै॥
आजु हरिवासर सो तासर न पूजै कोऊ डर कहा मीच को यों मानी सुख पाइकै।
तजे उन प्रान पाये बेगि भगवान् वधू हिये सरसान भई कह्यों पन गाइकै॥ ८५॥

कवित्तमें बताया गया है कि राजा रुक्मांगदजीकी पुत्रीको भी अपने पिताकी भाँति एकादशी व्रतमें अगाध निष्ठा थी। एक बार जब वह अपने पिताके ही घर थी, तब एक दिन उसका पति आया। व्रतका दिन था, इसलिये किसीने भोजन-पानादिकी बात भी नहीं पूछी। उसे भूखने बहुत सताया, व्याकुल होकर उसने अपनी स्त्रीसे भोजन माँगा। एकादशीव्रत होनेके कारण उसने भी कुछ खानेको नहीं दिया। तब उसके पतिने कहा—मुझसे भूख-प्यास सही नहीं जा रही है, मैं थोड़ी देरमें मर जाऊँगा। राजपुत्रीने कहा—आज तो एकादशी है, इसके समान प्राण त्यागनेका उत्तम दिन कोई नहीं है। इसलिये मृत्युका क्या भय? यदि प्राण छूट भी जाय तो दुर्लभ वैकुण्ठकी प्राप्ति होगी। उधर भोजन न मिलनेसे उसके पतिने प्राण त्याग दिये और शीघ्र ही वैकुण्ठधामको पहुँचकर वे भगवान्‌को प्राप्त हो गये। यह देखकर उसकी स्त्रीका हृदय भक्तिसे भर गया। उसने भी शरीर त्यागकर पतिका अनुगमन किया॥ ८५॥

राजा हरिश्चन्द्र आदि परोपकारी भक्त

सुनो हरिश्चन्द कथा व्यथा बिन द्रव्य दियो तथा नहीं राखी बेचि सुततिया तन है।
सुरथ सुधन्वा जू सों दोष के करत मरे शङ्ख औ लिखित विप्र भयौ मैलो मन है॥
इन्द्र औ अगिनि गये शिवि पै परीक्षा लैन काटि दियो मांस रीझि साँचो जान्यो पन है।
भरत दधीच आदि भागवत बीच गाए सबनि सुहाये जिन दियो तन धन है॥ ८६॥

श्रीप्रियादासजी कहते हैं—अब सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रकी कथा सुनिये—उन्होंने मनमें बिना किसी कष्टका अनुभव किये प्रसन्नतापूर्वक विश्वामित्रमुनिको अपना राज्यवैभव दान कर दिया। कुछ भी शेष नहीं रखा। पहले संकल्पको पूरा किया, सत्यका पालन करनेमें अपने समान किसीको नहीं रखा। राज्य छोड़कर काशीपुरीको चले गये। वहाँ उन्होंने अपने शरीरके साथ ही स्त्री-पुत्रको बेच दिया। सत्यकी रक्षा करके भगवान्‌को प्रसन्न किया। [सूर्यवंशमें त्रिशंकु नामके एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् हो गये हैं, जिन्हें भगवान् विश्वामित्रने अपने योगबलसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका प्रयत्न किया था। महाराज हरिश्चन्द्र उन्हीं त्रिशंकुके पुत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, सत्यपरायण तथा प्रसिद्ध दानी थे। इनके सत्यकी परीक्षाकी गाथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। इनकी पत्नी शैब्या थीं तथा पुत्रका नाम रोहित था।] **सुरथ** और **सुधन्वा** दोनों बड़े भारी भक्त थे। शंख और लिखित दोनों ब्राह्मणोंके मन मलिन थे, उन्होंने दोनों भक्तोंको मिथ्या दोष लगाया और वे अपने पापसे मर गये। शरणागतरक्षक राजा **शिबि**के पास परीक्षा लेनेके लिये इन्द्र और अग्निदेव बाज और कबूतर बनकर गये। शरणागत कबूतरकी रक्षा करते हुए प्रसन्न होकर उन्होंने बाजको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया, तब दोनोंको विश्वास हुआ कि राजा अपने प्रणका पालक और सच्चा धर्मात्मा है। छप्पयमें आये शेष **भरत** और **दधीचि** आदि भक्तोंकी कथाएँ श्रीमद्भागवतमें कही गयी हैं। जिन्होंने परोपकारमें अपना तन-मन और धन अर्पण किया, वे भक्त संसारमें सभीको प्रिय हुए॥ ८६॥

श्रीहरिश्चन्द्रजी

सूर्यवंशमें त्रिशंकु नामके एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट् हो गये हैं, जिन्हें मुनि विश्वामित्रने अपने योगबलसे सशरीर स्वर्ग भेजनेका प्रयत्न किया था। महाराज हरिश्चन्द्र उन्हीं त्रिशंकुके पुत्र थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, सत्यपरायण तथा प्रसिद्ध दानी थे। इनके राज्यमें प्रजा बड़ी सुखी थी और दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव कभी नहीं होते थे। महाराज हरिश्चन्द्रके यशसे त्रिभुवन भर गया। देवर्षि नारदके मुखसे इनकी प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्र ईर्ष्यासे जल उठे और उनकी परीक्षाके लिये मुनि विश्वामित्रसे प्रार्थना की। इन्द्रकी प्रार्थनापर प्रसन्न होकर मुनि परीक्षा लेनेको तैयार हो गये।

महामुनि विश्वामित्र अयोध्या पहुँचे। राजा हरिश्चन्द्रसे बातों-ही-बातोंमें उन्होंने समस्त राज्य दानरूपमें ले लिया। महाराज हरिश्चन्द्र ही भूमण्डलके एकछत्र राजा थे। वह सारा राज्य तो मुनिकी भेंट हो चुका—अब वे रहें तो कहाँ रहें ? उन दिनों काशी ही एक ऐसा स्थान था, जिसपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं समझा जाता था। वे रानी शैब्या और पुत्र रोहिताश्वके साथ काशीकी तरफ चल पड़े। जाते समय मुनिने राजासे कहा कि बिना दक्षिणाके यज्ञ, दान और जप-तप आदि सब निष्फल होते हैं; अतः आप इस बड़े भारी दानकी सांगताके लिये एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणास्वरूप दीजिये। महाराजके पास अब रह ही क्या गया था? उन्होंने इसके लिये एक मासकी अवधि माँगी। विश्वामित्रने प्रसन्नतापूर्वक एक मासका समय दे दिया।

महाराज हरिश्चन्द्र काशी पहुँचे और शैब्या तथा रोहिताश्वको एक ब्राह्मणके हाथ बेंचकर स्वयं एक

चाण्डालके यहाँ बिक गये; क्योंकि इसके सिवा अन्य कोई उपाय भी न था। इस प्रकार मुनिके ऋणसे मुक्त होकर राजा हरिश्चन्द्र अपने स्वामीके यहाँ रहकर काम करने लगे। इनका स्वामी मरघटका मालिक था। उसने इन्हें श्मशानमें रहकर मुर्दोंके कफन लेनेका काम सौंपा। इस प्रकार राजा बड़ी सावधानीसे स्वामीका काम करते हुए श्मशानमें ही रहने लगे।

इधर रानी शैब्या ब्राह्मणके घर रहकर उसके बर्तन साफ करती, घरमें झाड़ू-बुहारी देती और कुमार पुष्प-वाटिकासे ब्राह्मणके देवपूजनके लिये पुष्प लाता। राजसुख भोगे हुए और कभी कठिन काम करनेका अभ्यास न होनेके कारण रानी शैब्या और कुमार रोहिताश्वका शरीर अत्यन्त परिश्रमके कारण इतना सूख गया कि उन्हें पहचानना कठिन हो गया। इसी बीचमें एक दिन जबकि कुमार पुष्पचयन कर रहा था, एक पुष्पलताके भीतरसे एक काले विषधर सर्पने उसे डस लिया। कुमारका मृत शरीर जमीनपर गिर पड़ा। जब शैब्याको यह खबर मिली तो वह स्वामीके कार्यसे निपटकर विलाप करती हुई पुत्रके शवके पास गयी और उसे लेकर दाहके लिये श्मशान पहुँची। महारानी पुत्रके शवको जलाना ही चाहती थी कि हरिश्चन्द्रने आकर उससे कफन माँगा। पहले तो दम्पतीने एक-दूसरेको पहचाना ही नहीं, परंतु दुःखके कारण शैब्याके रोने-चीखनेसे राजाने रानी और पुत्रको पहचान लिया। यहाँपर हरिश्चन्द्रकी तीसरी बार कठिन परीक्षा हुई। शैब्याके पास रोहिताश्वके कफनके लिये कोई कपड़ा नहीं था। परंतु राजाने रानीके गिड़गिड़ानेकी कोई परवा नहीं की। वे पिताके भावसे पुत्रशोकसे कितने ही दुखी क्यों न हों, पर यहाँ तो ये पिता नहीं थे। वे तो मरघटके स्वामीके नौकर थे और उनकी आज्ञा बिना किसी भी लाशको कफन लिये बिना जलाने देना पाप था। राजा अपने धर्मसे जरा भी विचलित नहीं हुए। जब रानीने स्वामीको किसी तरह मानते नहीं देखा तो वह अपने साड़ीके दो टुकड़े करके उसे कफनके रूपमें देनेकी तैयार हो गयी। रानी ज्यों ही साड़ीके दो टुकड़े करनेको तैयार हुई कि वहाँ भगवान् नारायण एवं मुनि विश्वामित्रसहित ब्रह्मादि देवगण आ उपस्थित हुए और कहने लगे कि हम तुम्हारी धर्मपालनकी दृढ़तासे अत्यन्त प्रसन्न हैं, तुम तीनों सदेह स्वर्गमें जाकर अनन्तकालतक स्वर्गके दिव्य भोगोंको भोगो।

इधर इन्द्रने रोहिताश्वके मृत शरीरपर अमृतकी वर्षा करके उसे जीवित कर दिया। कुमार सोकर उठे हुएकी भाँति उठ खड़े हुए। हरिश्चन्द्रने समस्त देवगणसे कहा कि जबतक मैं अपने स्वामीसे आज्ञा न ले लूँ, तबतक यहाँसे कैसे हट सकता हूँ? इसपर धर्मराजने कहा—'राजन्! तुम्हारी परीक्षाके लिये मैंने ही चाण्डालका रूप धारण किया था। तुम अपनी परीक्षामें पूर्णतः उत्तीर्ण हो गये। अब तुम सहर्ष स्वर्ग जा सकते हो।' इसपर महाराज हरिश्चन्द्रने कहा—'महाराज! मेरे विरहमें मेरी प्रजा अयोध्यामें व्याकुल हो रही होगी। उनको छोड़कर मैं अकेला कैसे स्वर्ग जा सकता हूँ? यदि आप मेरी प्रजाको भी मेरे साथ स्वर्ग भेजनेको तैयार हों तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, अन्यथा उनके बिना मैं स्वर्गमें रहनेकी अपेक्षा उनके साथ नरकमें रहना भी अधिक पसन्द करूँगा।' इसपर इन्द्रने कहा—'महाराज! उन सबके कर्म तो अलग-अलग हैं, वे सब एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं?' यह सुनकर हरिश्चन्द्रने कहा—'मुझे आप मेरे जिन कर्मोंके कारण अनन्तकालके लिये स्वर्ग भेजना चाहते हैं, उन कर्मोंका फल आप सबको समानरूपसे बाँट दें, फिर उनके साथ स्वर्गका क्षणिक सुख भी मेरे लिये सुखकर होगा। किंतु उनके बिना मैं अनन्तकालके लिये भी स्वर्गमें रहना नहीं चाहता।' इसपर देवराज प्रसन्न हो गये और उन्होंने 'तथास्तु' कह दिया। सब देवगण महाराज हरिश्चन्द्र एवं शैब्या तथा रोहिताश्वको आशीर्वाद एवं नाना प्रकारके वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। भगवान् नारायणदेवने भी उन्हें अपनी अचल भक्ति देकर कृतार्थ कर दिया।

इधर सब-के-सब अयोध्यावासी अपने स्त्री, पुत्र एवं भृत्योंसहित सदेह स्वर्ग चले गये। बादमें मुनि विश्वामित्रने अयोध्या नगरीको फिरसे बसाया और कुमार रोहितको अयोध्याके राजसिंहासनपर बिठाकर उसे समस्त भूमण्डलका एकछत्र अधिपति बना दिया।

राजर्षि भरत

राजर्षि भरतजी भगवान् ऋषभदेवजीके पुत्र थे। इन्हींके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा। इनका विस्तृत विवरण 'राजा रहूगण और जड़भरतजी' शीर्षकसे छप्पय ११ में दिया गया है।

श्रीदधीचिजी

परोपकाराय सतां विभूतयः।*

एक बारकी बात है, देवराज इन्द्र अपनी सभामें बैठे थे। उन्हें अभिमान हो आया कि हम तीनों लोकोंके स्वामी हैं। ब्राह्मण हमें यज्ञमें आहुति देते हैं, देवता हमारी उपासना करते हैं। फिर हम सामान्य ब्राह्मण बृहस्पतिजीसे इतना क्यों डरते हैं? उनके आनेपर खड़े क्यों हो जाते हैं, वे तो हमारी जीविकासे पलते हैं। ऐसा सोचकर वे सिंहासनपर डटकर बैठ गये। भगवान् बृहस्पतिके आनेपर न तो वे स्वयं उठे, न सभासदोंको उठने दिया। देवगुरु बृहस्पतिजी इन्द्रका यह औद्धत्य देखकर लौट गये और कहीं एकान्तमें जाकर छिप गये।

थोड़ी देरके पश्चात् देवराजका मद उतर गया, उन्हें अपनी गलती मालूम हुई। वे अपने कृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप करने लगे, दौड़े-दौड़े गुरुके यहाँ आये; किंतु गुरुजी तो पहले ही चले गये थे, निराश होकर इन्द्र लौट आये। गुरुके बिना यज्ञ कौन कराये, यज्ञके बिना देवता शक्तिहीन होंगे। असुरोंको यह बात मालूम हो गयी, उन्होंने अपने गुरु शुक्राचार्यकी सम्मतिसे देवताओंपर चढ़ाई कर दी। इन्द्रको स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ा, स्वर्गपर असुरोंका अधिकार हो गया। पराजित देवताओंको लेकर इन्द्र भगवान् ब्रह्माजीके पास गये, अपना सब हाल सुनाया। ब्रह्माजीने कहा—'त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको अपना पुरोहित बनाकर काम चलाओ।' देवताओंने ऐसा ही किया। विश्वरूप बड़े विद्वान्, वेदज्ञ और सदाचारी थे; किंतु इनकी माता असुरकुलकी थीं, इससे ये देवताओंसे छिपाकर असुरोंको भी कभी-कभी भाग दे देते थे। इससे असुरोंके बलकी वृद्धि होने लगी।

इन्द्रको इस बातका पता चला, उन्हें दूसरा कोई उपाय ही न सूझा। एक दिन विश्वरूप एकान्तमें बैठे वेदाध्ययन कर रहे थे कि इन्द्रने पीछेसे जाकर उनका सिर काट लिया। इसपर उन्हें ब्रह्महत्या लगी। जिस-किसी प्रकार गुरु बृहस्पतिजी प्रसन्न हुए। उन्होंने यज्ञ आदि कराके ब्रह्महत्याको पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियोंमें बाँट दिया। इन्द्रका फिरसे स्वर्गपर अधिकार हो गया।

इधर त्वष्टा ऋषिने जब सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार दिया है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने तपके प्रभावसे उन्होंने उसी समय इन्द्रको मारनेकी इच्छासे एक बड़े भारी बलशाली दैत्य वृत्रासुरको उत्पन्न किया। वृत्रासुरके पराक्रमसे सम्पूर्ण त्रैलोक्य भयभीत था। उसके ऐसे पराक्रमको देखकर देवराज भी डर गये, वे दौड़े-दौड़े ब्रह्माजीके पास गये। सब हाल सुनाकर उन्होंने ब्रह्माजीसे वृत्रासुरके कोपसे बचनेका कोई उपाय पूछा। ब्रह्माजीने कहा—'देवराज! तुम किसी प्रकार वृत्रासुरसे बच नहीं सकते। वह बड़ा बली, तपस्वी और भगवद्भक्त है। उसे मारनेका एक ही उपाय है कि नैमिषारण्यमें एक महर्षि दधीचि तपस्या कर रहे हैं। उग्र तपके प्रभावसे उनकी हड्डियाँ वज्रसे भी अधिक मजबूत हो गयी हैं। यदि परोपकारकी इच्छासे वे

* सज्जनोंकी सम्पूर्ण विभूति परोपकारके लिये होती है।

अपनी हड्डियाँ दे दें और उनसे तुम अपना वज्र बनाओ तो वृत्रासुर मर सकता है।'

ब्रह्माजीकी सलाह मानकर देवराज समस्त देवताओंके साथ नैमिषारण्यमें पहुँचे। उग्र तपस्यामें लगे हुए भगवान् दधीचिकी उन्होंने भाँति-भाँतिसे स्तुति की। तब ऋषिने उनसे वरदान माँगनेके लिये कहा। इन्द्रने हाथ जोड़कर कहा—'त्रैलोक्यकी मंगलकामनाके निमित्त आप अपनी हड्डियाँ हमें दे दीजिये।'

महर्षि दधीचिने कहा—'देवराज! समस्त देहधारियोंको अपना शरीर प्यारा होता है, स्वेच्छासे इस शरीरको जीवित-अवस्थामें छोड़ना बड़ा कठिन होता है; किंतु त्रैलोक्यकी मंगलकामनाके निमित्त मैं इस कामको भी करूँगा। मेरी इच्छा तीर्थ करनेकी थी।'

इन्द्रने कहा—'ब्रह्मन्! समस्त तीर्थोंको मैं यहीं बुलाये देता हूँ।' यह कहकर देवराजने समस्त तीर्थोंको नैमिषारण्यमें बुलाया। सभीने ऋषिकी स्तुति की। ऋषिने सबमें स्नान, आचमन आदि किया और वे समाधिमें बैठ गये। जंगली गौने उनके शरीरको अपनी काँटेदार जीभसे चाटना आरम्भ किया। चाटते-चाटते चमड़ी उड़ गयी। तब इन्द्रने उनकी तप:पूत रीढ़की हड्डी निकाल ली, उससे एक महान् शक्तिशाली तेजोमय दिव्य वज्र बनाया गया और उसी वज्रकी सहायतासे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर त्रिलोकीके संकटको दूर किया। इस प्रकार एक महान् परोपकारी ऋषिके अद्वितीय त्यागके कारण देवराज इन्द्र बच गये और तीनों लोक सुखी हुए।

संसारके इतिहासमें ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े मिलेंगे, जिनमें स्वेच्छासे केवल परोपकारके ही निमित्त—जिसमें मान, प्रतिष्ठा आदि अपना निजी स्वार्थ कुछ भी न हो—अपने शरीरको हँसते-हँसते एक याचकको सौंप दिया गया हो। इसलिये भगवान् दधीचिका यह त्याग परोपकारी सन्तोंके लिये एक परम आदर्श है।

दधीचि ऋषिकी और भी विशेषता देखिये। अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेके कारण इन्द्रने इनका मस्तक उतार लिया था। फिर अश्विनीकुमारोंने इनके धड़पर घोड़ेका सिर चढ़ा दिया और इससे इनका नाम अश्वशिरा विख्यात हुआ था। जिस इन्द्रने इनके साथ इतना दुष्ट बर्ताव किया था, उसी इन्द्रकी महर्षिने अपनी हड्डी देकर सहायता की। सन्तोंकी उदारता ऐसी ही होती है। वज्र बननेके बाद जो हड्डियाँ बची थीं, उन्हींसे शिवजीका पिनाकधनुष बना था। दधीचि ब्रह्माजीके पुत्र अथर्वा ऋषिके पुत्र थे। साभ्रमती और चन्द्रभागाके संगमपर इनका आश्रम था।

भक्त सुधन्वा

चम्पकपुरीके राजा हंसध्वज बड़े ही धर्मात्मा, प्रजापालक, शूरवीर और भगवद्भक्त थे। उनके राज्यकी यह विशेषता थी कि राजकुल तथा प्रजाके सभी पुरुष 'एकपत्नीव्रत' का पालन करते थे। जो भगवान्का भक्त न होता या जो एकपत्नीव्रती न होता, वह चाहे जितना विद्वान् या शूरवीर हो, उसे राज्यमें आश्रय नहीं मिलता था। पूरी प्रजा सदाचारी, भगवान्की भक्त, दानपरायण थी। पाण्डवोंका अश्वमेध-यज्ञका घोड़ा जब चम्पकपुरीके पास पहुँचा, तब महाराज हंसध्वजने सोचा—'मैं वृद्ध हो गया, पर अबतक मेरे नेत्र श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे सफल नहीं हुए। अब इस घोड़ेको रोकनेके बहाने मैं युद्धभूमिमें जाकर भगवान् पुरुषोत्तमके दर्शन करूँगा। मेरा जन्म उन श्यामसुन्दर भुवनमोहनके श्रीचरणोंके दर्शनसे सफल हो जायगा।'

घोड़ेकी रक्षाके लिये गाण्डीवधारी अर्जुन प्रद्युम्नादि महारथियोंके साथ उसके पीछे चल रहे थे, यह सबको पता था; किंतु राजाको पार्थसारथि श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन करने थे। अश्व पकड़कर बाँध लिया गया। राजगुरु शंख तथा लिखितकी आज्ञासे यह घोषणा कर दी गयी कि 'अमुक समयतक सब योद्धा रणक्षेत्रमें उपस्थित हो जायँ। जो ठीक समयपर नहीं पहुँचेगा, उसे उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया जायगा।'

राजा हंसध्वजके पाँच पुत्र थे—सुबल, सुरथ, सम, सुदर्शन तथा सुधन्वा। छोटे राजकुमार सुधन्वा अपनी माताके पास आज्ञा लेने पहुँचे। वीरमाताने पुत्रको हृदयसे लगाया और आदेश दिया—'बेटा! तू युद्धमें जा और विजयी होकर लौट! परंतु मेरे पास चार पैरवाले पशुको मत ले आना। मैं तो मुक्तिदाता 'हरि' को पाना चाहती हूँ। तू वही कर्म कर, जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। वे भक्तवत्सल हैं। यदि तू अर्जुनको युद्धमें छका सके तो वे पार्थकी रक्षाके लिये अवश्य आयेंगे। वे अपने भक्तको कभी छोड़ नहीं सकते। देख, तू मेरे दूधको लज्जित मत करना। श्रीकृष्णको देखकर डरना मत। श्रीकृष्णके सामने युद्धमें मरनेवाला मरता नहीं, वह तो अपनी इक्कीस पीढ़ियाँ तार देता है। युद्धमें लड़ते हुए पुरुषोत्तमके सम्मुख तू यदि वीरगति प्राप्त करेगा तो मुझे सच्ची प्रसन्नता होगी।' धन्य माता!

सुधन्वाने माताकी आज्ञा स्वीकार की। बहन कुबलासे आज्ञा तथा प्रोत्साहन प्राप्तकर वे अपने अन्तःपुरमें गये। द्वारपर उनकी सती पत्नी प्रभावती पहलेसे पूजाका थाल सजाये पतिकी आरती उतारनेको खड़ी थी। उसने पतिकी पूजा करके प्रार्थना की—'नाथ! आप अर्जुनसे संग्राम करने जा रहे हैं। मैं चाहती हूँ कि आपके चले जानेपर एक अंजलि देनेवाला पुत्र रहे।'

सुधन्वाने पत्नीको समझाना चाहा, पर वह पतिव्रता थी। उसने कहा—'मेरे स्वामी! मैं जानती हूँ कि श्रीकृष्णचन्द्रके समीप जाकर कोई इस संसारमें लौटता नहीं। मैं तो आपकी दासी हूँ। आपकी इच्छा और आपके हितमें ही मेरा हित है। मैं आपके इस मंगल-प्रस्थानमें बाधा नहीं देना चाहती। इस दासीकी तो एक तुच्छ प्रार्थना है। आपको वह प्रार्थना पूर्ण करनी चाहिये।'

अनेक प्रकारसे सुधन्वाने समझाना चाहा; किंतु अन्तमें प्रभावतीकी विजय हुई। सती नारीकी धर्मसम्मत प्रार्थना वे अस्वीकार नहीं कर सके। वहाँसे फिर स्नान-प्राणायाम करके वे युद्धके लिये रथपर बैठे।

उधर युद्ध-भूमिमें महाराज हंसध्वज अपने चारों राजकुमारोंके साथ पहुँच गये। सभी शूर एकत्र हो गये; किंतु समय हो जानेपर भी जब सुधन्वा नहीं पहुँचे, तब राजाने उन्हें पकड़ लानेके लिये कुछ सैनिक भेजे। सैनिकोंको सुधन्वा मार्गमें ही मिल गये। पिताके पास पहुँचकर जब उन्होंने विलम्बका कारण बताया, तब क्रोधमें भरकर महाराज कहने लगे—'तू बड़ा मूर्ख है। यदि पुत्र होनेसे ही सद्गति होती हो तो सभी कूकर-शूकर स्वर्ग ही जायँ। तेरे धर्म तथा विचारको धिक्कार है। श्रीकृष्णचन्द्रका नाम सुनकर भी तेरा मन कामके वश हो गया! ऐसा कामी, भगवान्से विमुख कुपुत्रका तो तेलमें उबलकर ही मरना ठीक है।'

राजाने व्यवस्थाके लिये पुरोहितोंके पास दूत भेजा। धर्मके मर्मज्ञ, स्मृतियोंके रचयिता ऋषि शंख और लिखित बड़े क्रोधी थे। उन्होंने दूतसे कहा—'राजाका मन पुत्रके मोहसे धर्मभ्रष्ट हो गया है। जब सबके लिये एक ही आज्ञा थी, तब व्यवस्था पूछनेकी क्यों आवश्यकता हुई!' जो मन्दबुद्धि लोभ, मोह या भयसे अपने वचनोंका पालन नहीं करता, उसे नरकके दारुण दुःख मिलते हैं। हंसध्वज पुत्रके कारण अपने वचनोंको आज झूठा करना चाहता है। ऐसे अधर्मी राजाके राज्यमें हम नहीं रहना चाहते। इतना कहकर वे दोनों ऋषि चल पड़े।

दूतसे समाचार पाकर राजाने मन्त्रीको आदेश दिया—'सुधन्वाको उबलते तेलके कड़ाहेमें डाल दो।' इतना आदेश देकर वे दोनों पुरोहितोंको मनाने चले गये। मन्त्रीको बड़ा दुःख हुआ; किंतु सुधन्वाने उन्हें कर्तव्यपालनके लिये दृढ़तापूर्वक समझाया। पिताकी आज्ञाका सत्पुत्रको पालन करना ही चाहिये, यह उसने निश्चय किया। उसने तुलसीकी माला गलेमें डाली और हाथ जोड़कर भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! गोविन्द, मुकुन्द! मुझे मरनेका कोई भय नहीं है। मैं तो आपके चरणोंमें देहत्याग करने ही आया था; परंतु मैं आपका

प्रत्यक्ष दर्शन न कर सका, यही मुझे दु:ख है। मैंने आपका तिरस्कार करके बीचमें कामकी सेवा की, क्या इसीलिये आप मेरी रक्षाको अपने अभय हाथ नहीं बढ़ाते? पर मेरे स्वामी! जो लोग कष्टमें पड़कर, भयसे व्याकुल होकर आपकी शरण लेते हैं, उन्हें क्या सुखकी प्राप्ति नहीं होती? मैं आपका ध्यान करते हुए शरीर छोड़ रहा हूँ, अत: आपको अवश्य प्राप्त होऊँगा; किंतु लोग कहेंगे कि सुधन्वा वीर होकर भी कड़ाहेमें जलकर मरा। मैं तो आपके भक्त अर्जुनके बाणोंको अपना शरीर भेंट करना चाहता हूँ। आपने अनेक भक्तोंकी टेक रखी है, अनेकोंकी इच्छा पूर्ण की है, मेरी भी इच्छा पूर्ण कीजिये। अपने इस चरणाश्रितकी टेक भी रखिये। इस अग्निदाहसे बचाकर इस शरीरको अपने चरणोंमें गिरने दीजिये।' इस प्रकार प्रार्थना करके 'हरे! गोविन्द! श्रीकृष्ण!' आदि भगवन्नामोंको पुकारते हुए सुधन्वा कड़ाहेके खौलते तेलमें कूद पड़े।

एक दिन प्रह्लादके लिये अग्निदेव शीतल हो गये थे, एक दिन व्रजबालकोंके लिये मयूरमुकुटीने दावाग्निको पी लिया था, आज सुधन्वाके लिये खौलता तेल शीतल हो गया! सुधन्वाको तो शरीरका भान ही नहीं था। वे तो अपने श्रीकृष्णको पुकारने, उनका नाम लेनेमें तल्लीन हो गये थे; किंतु देखनेवाले आश्चर्यमूढ़ हो रहे थे। खौलते तेलमें सुधन्वा जैसे तैर रहे हों। उनका एक रोमतक झुलस नहीं रहा था। यह बात सुनकर राजा हंसध्वज भी दोनों पुरोहितोंके साथ वहाँ आये। श्रद्धारहित तार्किक पुरोहित शंखको सन्देह हुआ—'अवश्य इसमें कोई चालाकी है। भला, तेल गरम होता तो उसमें सुधन्वा बचा कैसे रहता! कोई मन्त्र या ओषधिका प्रयोग तो नहीं किया गया?' तेलकी परीक्षाके लिये उन्होंने एक नारियल कड़ाहेमें डाला। उबलते तेलमें पड़ते ही नारियल फूट गया। उसके दो टुकड़े हो गये और उछलकर वे बड़े जोरसे शंख तथा लिखितके सिरमें लगे। अब उनको भगवान्‌के महत्त्वका ज्ञान हुआ। सेवकोंसे उन्होंने पूछा कि 'सुधन्वाने कोई ओषधि शरीरमें लगायी क्या? अथवा उसने किसी मन्त्रका जप किया था?' सेवकोंने बताया कि 'राजकुमारने ऐसा कुछ नहीं किया। वे प्रारम्भसे भगवान्‌का नाम ले रहे हैं।' अब शंखको अपने अपराधका पता लगा। उन्होंने कहा—'मुझे धिक्कार है! मैंने भगवान्‌के एक सच्चे भक्तपर सन्देह किया। प्रायश्चित्त करके प्राण त्यागनेका निश्चयकर शंखमुनि उसी उबलते तेलके कड़ाहेमें कूद पड़े; किंतु सुधन्वाके प्रभावसे उनके लिये भी तेल शीतल हो गया। मुनिने सुधन्वाको हृदयसे लगा लिया। उन्होंने कहा—'कुमार! तुम्हें धन्य है। मैं तो ब्राह्मण होकर शास्त्र पढ़कर भी असाधु हूँ। मूर्ख हूँ मैं। बुद्धिमान् और विद्वान् तो वही है, जो भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करता है। तुम्हारे स्पर्शसे मेरा यह अधम देह भी आज पवित्र हो गया। तुम-जैसे भगवान्‌के भक्तोंका तो दर्शन ही मनुष्य-जीवनकी परम सफलता है। राजकुमार! अब तुम इस तेलसे निकलो। अपने पिता, भाइयों और सेनाको पावन करके मेरा भी उद्धार करो! त्रिलोकीके स्वामी श्रीकृष्ण जिनके सारथि बनते हैं, उन धनुर्धर अर्जुनको संग्राममें तुम्हीं सन्तुष्ट कर सकते हो।'

मुनिके साथ सुधन्वा कड़ाहेसे बाहर आये। राजा हंसध्वजने अपने भगवद्भक्त पुत्रका समादर किया और उन्हें आशीर्वाद दिया। पिताकी आज्ञासे सुधन्वा सेनानायक हुए। अर्जुनकी सेनासे उनका संग्राम होने लगा। सुधन्वाके शौर्यके कारण पाण्डवदलमें खलबली मच गयी। वृषकेतु, प्रद्युम्न, कृतवर्मा, सात्यकि आदि वीरोंको उस तेजस्वीने घायल करके पीछे हटनेको विवश कर दिया। अन्तमें अर्जुन सामने आये। अर्जुनको अपनी शूरताका कुछ दर्प भी था; किंतु सुधन्वा तो केवल श्यामसुन्दरके भरोसे युद्ध कर रहे थे। भगवान्‌को अपने भक्तका प्रभाव दिखलाना था। बालक सुधन्वाको अपने सामने देख पार्थको बड़ा आश्चर्य हुआ। सुधन्वाने उनसे कहा—'विजय! सदा आपके रथपर श्रीकृष्णचन्द्र सारथिके स्थानपर बैठे आपकी रक्षा किया करते थे, इसीसे आप सदा विजयी होते रहे। आज आपने अपने उन समर्थ सारथिको कहाँ छोड़ दिया? मेरे साथ

युद्ध करनेमें श्रीकृष्णने तो आपको नहीं छोड़ दिया? आप अब उन मुकुन्दसे रहित हैं, ऐसी दशामें मुझसे संग्राम कर भी सकेंगे या नहीं?'

सुधन्वाकी बातोंसे अर्जुन क्रुद्ध हो गये। उन्होंने बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। परंतु हँसते हुए सुधन्वाने उनके बाणोंके टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिये। अर्जुनके दिव्यास्त्रोंको भी राजकुमारने व्यर्थ कर दिया। स्वयं पार्थ घायल हो गये। उनका सारथि मरकर गिर पड़ा। सुधन्वाने फिर हँसकर कहा—'धनंजय! मैं तो पहले ही कहता था कि अपने सर्वज्ञ सारथिको छोड़कर आपने अच्छा नहीं किया। आपका सारथि मारा गया। आप मेरे बाणोंसे घायल हो गये हैं। अब भी शीघ्रतासे अपने उस श्यामरूप सारथिका स्मरण कीजिये।'

अर्जुनने बायें हाथसे घोड़ोंकी डोरी पकड़ी। एक हाथसे युद्ध करते हुए वे भगवान्‌को मन-ही-मन पुकारने लगे। उनके स्मरण करते ही श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो गये। उन्होंने अर्जुनके हाथसे रथकी रश्मि ले ली। सुधन्वा और अर्जुन दोनों ने भगवान्‌को प्रणाम किया। सुधन्वाके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। जिसके लिये उसने युद्धमें अर्जुनको छकाया था, वह कार्य तो अब पूरा हुआ। कमललोचन श्रीकृष्णचन्द्र आ गये। उनके दर्शन करके वह कृतार्थ हो गया। अब उसे भला और क्या चाहिये। उसने अर्जुनको ललकारा—'पार्थ! आपके ये सर्वसमर्थ सारथि तो आ गये। अब तो आज मुझपर विजय पानेके लिये कोई प्रतिज्ञा करें।'

अर्जुनको भी आवेश आ गया। उन्होंने तीन बाण निकालकर प्रतिज्ञा की—'इन तीन बाणोंसे यदि मैं तेरा सुन्दर मस्तक न काट दूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें।'

अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर सुधन्वाने हाथ उठाकर कहा—'ये श्रीकृष्ण साक्षी हैं। इनके सामने ही मैं तुम्हारे इन तीनों बाणोंको काट न दूँ तो मुझे घोर गति प्राप्त हो।' यह कहकर सुधन्वाने श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको बाणोंसे घायल कर दिया। उनके रथको कुछ तोड़ डाला। बाणोंसे मारकर उनके रथको कुम्हारके चाककी भाँति घुमाने लगा। चार सौ हाथ पीछे हटा दिया उस रथको। भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! सुधन्वा बहुत बाँका वीर है। मुझसे पूछे बिना प्रतिज्ञा करके तुमने अच्छा नहीं किया। जयद्रथ-वधके समय तुम्हारी प्रतिज्ञाने कितना संकट उपस्थित किया था, यह तुम भूल कैसे गये! सुधन्वा 'एकपत्नीव्रत' के प्रभावसे महान् है और इस विषयमें हम दोनों पिछड़े हुए हैं।'

अर्जुनने कहा—'गोविन्द! आप आ गये हैं, फिर मुझे चिन्ता ही क्या। जबतक आपके हाथमें मेरे रथकी डोरी है, मुझे कौन संकटमें डाल सकता है? मेरी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी होगी।' अर्जुनने एक बाण चढ़ाया। भगवान्‌ने अपने गोवर्धन-धारणका पुण्य उस बाणको अर्पित किया। बाण छूटा। कालाग्निके समान वह बाण चला। सुधन्वाने गोवर्धनधारी श्रीकृष्णका स्मरण करके बाण मारा और अर्जुनका बाण दो टुकड़े होकर गिर पड़ा। पृथ्वी काँपने लगी। देवता भी आश्चर्यमें पड़ गये। भगवान्‌की आज्ञासे अर्जुनने दूसरा बाण चढ़ाया। भक्तवत्सल प्रभुने उसे अपने बहुत-से पुण्य अर्पण किये। सुधन्वाने—'श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!' कहकर अपने बाणसे उसे भी काट दिया। अर्जुन उदास हो गये। रणभूमिमें हाहाकार मच गया। देवता सुधन्वाकी प्रशंसा करने लगे।

अब तीसरे बाणको भगवान्‌ने अपने रामावतारका पूरा पुण्य दिया। बाणके पिछले भागमें ब्रह्माजीको तथा मध्यमें कालको प्रतिष्ठित करके नोकपर वे स्वयं एक रूपसे बैठे। अर्जुनने वह बाण भगवान्‌के आदेशसे धनुषपर चढ़ाया। सुधन्वाने कहा—'नाथ! आप मेरा वध करने स्वयं बाणमें स्थित होकर आ रहे हैं, यह मैं जान गया हूँ। मेरे स्वामी! आओ। रणभूमिमें मुझे अपने श्रीचरणोंका आश्रय देकर कृतार्थ करो। अर्जुन! तुम्हें धन्य है! साक्षात् नारायण तुम्हारे बाणको अपना पुण्य ही नहीं देते, स्वयं बाणमें स्थित भी होते हैं।

विजय तो तुम्हारी है ही; किंतु भूलो मत! मैं इन्हीं श्रीकृष्णकी कृपासे इस बाणको भी अवश्य काट दूँगा!'

बाण छूटा। सुधन्वाने पुकार की—'भक्तवत्सल गोविन्दकी जय!' और बाण मार दिया। भक्तके प्रभावको काल देवता रोक लें, यह सम्भव नहीं। अर्जुनका बाण बीचमेंसे कटकर दो टुकड़े हो गया। सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। अब अर्जुनका प्रण पूरा होना था। बाण कट गया, पर उसका अगला भाग गिरा नहीं। उस आधे बाणने ही ऊपर उठकर सुधन्वाका मस्तक काट दिया। मस्तकहीन सुधन्वाके शरीरने पाण्डवसेनाको तहस-नहस कर दिया और उसका सिर भगवान्‌के चरणोंपर जाकर गिरा। श्रीकृष्णचन्द्रने 'गोविन्द, मुकुन्द, हरि' कहते उस मस्तकको अपने हाथोंमें उठा लिया। इसी समय परम भक्त सुधन्वाके मुखसे एक ज्योति निकली और सबके देखते-देखते वह श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमें प्रविष्ट हो गयी।

भक्त सुरथ

सुरथ चम्पकपुरीके राजा हंसध्वजका पुत्र और सुधन्वाके भाई थे। अनुज सुधन्वाके मारे जानेपर परम भागवत वीर-धुरीण सुरथ रथपर आरूढ़ हो, बहुत बड़ी सेना साथमें ले, हाथमें कठिन कोदण्ड धारणकर समरांगणमें आकर अर्जुनसे बोले—महाबली पार्थ! अब मेरे साथ युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जाओ। तत्पश्चात् सुरथने श्रीकृष्णसे कहा—देवकीनन्दन! अब आप अर्जुनकी सम्यक् प्रकारसे रक्षा कीजिये। हरे! आपने अपना पुण्य प्रदान करके जो मेरे भाईका वध करा दिया है, यह तो आपकी बाल चेष्टा ही है। आपने अपनी हानिपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। जैसे कोई शिशु मोतियोंको देकर बदलेमें बेर ले लेता है, उस तरह आपने सुधन्वाके बेरसदृश जीवनको लेकर उसके बदलेमें मुक्ताफलरूपी अपना पुण्य प्रदान किया। अतः बताइये, यहाँ कौन किसके द्वारा ठगा गया? इस प्रकार श्रीकृष्णसे प्रेममय व्यंग्य-विनोद करके सुरथने अर्जुनको ललकारा। सुरथके रणोत्साहको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको इस महावीरके सम्मुख ले जाना उचित नहीं समझा, अतः सेनाको आगे करके श्रीकृष्ण अर्जुनको रणक्षेत्रसे तीन योजन दूर हटा ले गये। परंतु धन्य सुरथ! अर्जुनकी विशालवाहिनीको क्षणमात्रमें तितर-बितरकर तत्काल उस स्थानपर पहुँचे गये, जहाँ श्रीहरि विराजमान थे। अर्जुन और सुरथके घोर युद्धके ही बीच सुरथने कहा—पार्थ! मैंने सुन रखा है कि इस लोकमें तुम्हारी की हुई प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं होती, अतः वीर! अब तुम कोई सत्य प्रतिज्ञा करो।

अर्जुनने कहा—वीर! मैं तुम्हारे पिताके सामने ही तुम्हें धराशायी करूँगा, यही प्रतिज्ञा है। अब तुम अपनी यथोचित प्रतिज्ञा बतलाओ। सुरथने कहा—अर्जुन! मैं भी तुम्हें युद्धस्थलमें रथसे भूतलपर गिरा दूँगा। यदि मैं इस वचनको सत्य न करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय। तत्पश्चात् बहुत देरतक दोनोंमें रोमहर्षण युद्ध होनेके बाद अर्जुनने एक सर्वदेवमय बाणसे सुरथके बड़े-बड़े नेत्रोंवाले तथा कुण्डलोंसे सुशोभित विशाल सिरको काट गिराया। भक्तके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसी लीला की कि सुरथका कटा हुआ सिर उछलकर अर्जुनके ललाटमें जा लगा, जिसके आघातसे वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और वह सिर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें गिर पड़ा। तदनन्तर भक्तवत्सल भगवान्‌ने अर्जुनको पृथ्वीसे उठाकर रथपर बैठाया और सुरथके सिरको दोनों हाथोंसे उठाकर देखने लगे। अर्जुनने भी उस सिरको लेकर, यह कहते हुए कि 'इसके समान कोई योद्धा नहीं है' युद्ध-स्थलमें उसकी वन्दना की। इसके बाद श्रीकृष्णने गरुड़जीसे कहा—पक्षिराज! वीरवर सुरथके सिरको लेकर शीघ्र ही प्रयागमें डाल दो। इस सिरके स्पर्शसे मेरा वह प्रयाग भी पावन हो जायगा। प्रयाग मेरा कोश है, अतः इस वीरके रत्नरूपी सिरको उस कोशमें डाल दो। श्रीगरुड़जीने ऐसा ही किया। भगवान् शिवने सुरथके सिरको अपनी मुण्डमालामें पिरो लिया। धन्य हैं सुरथ और धन्य है उनकी वीरता एवं श्रीकृष्णभक्ति!

महाराज शिबि

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मुझे राज्य नहीं चाहिये, स्वर्ग नहीं चाहिये और मोक्ष भी मैं नहीं चाहता। मैं तो नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंकी आर्ति—पीड़ाका नाश चाहता हूँ।'

उशीनरके पुत्र शरणागतवत्सल महाराज शिबि यज्ञ कर रहे थे। शिबिकी दयालुता तथा भगवद्भक्तिकी ख्याति पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली थी। देवराज इन्द्रने राजाकी परीक्षा करनेका निश्चय किया। इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निदेव कबूतर बने। बाजके भयसे डरता, काँपता, घबराया कबूतर उड़ता आया और राजा शिबिकी गोदमें बैठकर उनके वस्त्रोंमें छिप गया। उसी समय वहाँ एक बड़ा भारी बाज भी आया। वह मनुष्यकी भाषामें राजासे कहने लगा—'राजन्! आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं, परंतु आज यह धर्मविरुद्ध आचरण क्यों कर रहे हैं? आपने कृतघ्नको धनसे, झूठको सत्यसे, निर्दयको क्षमासे तथा दुर्जनको अपनी साधुतासे ही सदा जीता है। आप तो अपनी बुराई करनेवालेका भी उपकार ही करते हैं। जो आपका अहित सोचते हैं, उनका भी आप भला ही करना चाहते हैं; पापियोंपर भी आप दया करते हैं। जो आपमें दोष ढूँढ़ते रहते हैं, उनके भी आप गुण ही देखते हैं। मैं भूखसे व्याकुल हूँ और भाग्यसे मुझे यह कबूतर आहारके रूपमें मिला है। अब आप मुझसे मेरा आहार छीनकर अधर्म क्यों कर रहे हैं?'

कबूतरने राजासे बड़ी कातरतासे कहा—'महाराज! मैं इस बाजके भयसे प्राणरक्षाके लिये आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें।'

राजाने बाजसे कहा—'पक्षी! जो मनुष्य समर्थ रहते भी शरणागतकी रक्षा नहीं करते या लोभ, द्वेष अथवा भयसे उसे त्याग देते हैं, उनको ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है, सर्वत्र उनकी निन्दा होती है। मैं मरूँगा—इस प्रकार सभीको मृत्युका भय तथा दुःख होता है। अपनेसे ही दूसरेके दुःखका अनुमान करके उसकी रक्षा करनी चाहिये। जैसे तुम्हें अपना जीवन प्यारा है, जैसे तुम भूखसे नहीं मरना चाहते, उसी प्रकार दूसरेकी जीवनरक्षा भी तुम्हें करनी चाहिये। मैं शरण आये हुए भयभीत कबूतरको तुम्हें नहीं दे सकता। तुम्हारा काम और किसी प्रकार हो सके तो बतलाओ।'

बाजने कहा—'वह धर्म धर्म नहीं है, जो दूसरेके धर्ममें बाधा दे। भोजनसे ही जीव उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं तथा जीवित रहते हैं। बिना भोजन कोई जीवित नहीं रह सकता। मैं भूखसे मर जाऊँ तो मेरे बाल-बच्चे भी मर जायँगे। एक कबूतरको बचानेमें अनेकोंके प्राण जायँगे। आप परस्परविरोधी इन धर्मोंमें सोच-समझकर निर्णय करें कि एकको प्राणरक्षा ठीक है या कईकी।'

राजाने कहा—'बाज! भयभीत जीवोंकी रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। दयासे द्रवित होकर जो दूसरोंको अभयदान देता है, वह मरनेपर संसारके महान् भयसे छूट जाता है। यश और स्वर्गके लिये तो बहुत लोग दान-पुण्य करते हैं; किंतु सब जीवोंकी निःस्वार्थ भलाई करनेवाले पुरुष थोड़े ही हैं। यज्ञोंका फल चाहे जितना बड़ा हो, अन्तमें क्षय हो जाता है, पर प्राणीको अभयदान देनेका फल कभी क्षय नहीं होता। मैं सारा राज्य तथा अपना शरीर भी तुम्हें दे सकता हूँ, पर इस भयभीत दीन कबूतरको नहीं दे सकता। तुम तो केवल आहारके लिये ही उद्योग कर रहे हो, अतः कोई भी दूसरा आहार माँग लो, मैं तुम्हें दूँगा।'

बाजने कहा—'राजन्! मैं मांसभक्षी प्राणी हूँ। मांस ही मेरा आहार है। कबूतरके बदले आप और किसी प्राणीको मारें या मरने दें, इससे कबूतरको मरने देनेमें मुझे तो कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। हाँ, आप चाहें

तो अपने शरीरसे इस कबूतरके बराबर मांस तौलकर मुझे दे सकते हैं। मुझे अधिक नहीं चाहिये।'

राजाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—'बाज! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की। यदि यह शरीर प्राणियोंके उपकारमें न आये तो प्रतिदिनका इसका पालन-पोषण व्यर्थ ही है। इस नाशवान् अनित्य शरीरसे नित्य, अविनाशी धर्म किया जाय, यही तो शरीरकी सफलता है।'

एक तराजू मँगाया गया। एक पलड़ेमें कबूतरको रखकर दूसरेमें राजा शिबि अपने हाथों अपने शरीरका मांस काट-काटकर रखने लगे। कबूतरके प्राण बचें और बाजको भी भूखका कष्ट न हो, इसलिये वे राजा बिना पीड़ा या खेद प्रकट किये अपना मांस काटकर पलड़ेपर रखते जाते थे; किंतु कबूतरका वजन बढ़ता ही जाता था। अन्तमें राजा स्वयं तराजूपर चढ़ गये। उनके ऐसा करते ही आकाशमें बाजे बजने लगे। ऊपरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी।

'ये मनुष्यभाषा बोलनेवाले बाज और कबूतर कौन हैं? ये बाजे क्यों बजते हैं?' राजा शिबि यह सोच ही रहे थे कि उनके सामने अग्निदेव और इन्द्र अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। देवराज इन्द्रने कहा—'राजन्! तुमने बड़ोंसे कभी ईर्ष्या नहीं की, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया और बराबरवालोंसे कभी स्पर्धा नहीं की; अतः तुम संसारमें सर्वश्रेष्ठ हो। जो मनुष्य अपने प्राणोंको त्यागकर भी दूसरोंकी प्राणरक्षा करता है, वह परम धामको जाता है। पशु भी अपना पेट तो भर ही लेते हैं; पर प्रशंसनीय वे पुरुष हैं, जो परोपकारके लिये जीते हैं। संसारमें तुम्हारे समान अपने सुखकी इच्छासे रहित केवल परोपकार-परायण साधु जगत्की रक्षाके लिये ही जन्म लेते हैं। तुम दिव्यरूप प्राप्त करो और चिरकालतक पृथ्वीका सुख भोगो। अन्तमें तुम्हें परमपद प्राप्त होगा।' यों कहकर इन्द्र और अग्नि स्वर्ग चले गये।

राजा शिबि भगवान्में मन लगाकर चिरकालतक पृथ्वीका शासन करते रहे और अन्तमें भगवद्धाम पधारे।

बलिपत्नी श्रीविन्ध्यावलीजी

श्रीविन्ध्यावलीजी परम भगवद्भक्त राजा बलिकी धर्मपत्नी थीं। बड़ी सात्त्विक प्रकृति थी इनकी। भक्तिकी तो ये जीवित मंजुल प्रतिमा थीं। ये प्रभुकी प्रत्येक क्रियामें उनकी मंगलमयी लीला देखती थीं।

भगवान्ने वामनरूपमें इनके पतिसे तीन पग पृथ्वीका संकल्प करा लिया, पर पृथ्वी नापनेके समय उन्होंने अपना महान् रूप धारण किया। बलि बन्दी हो गये।

पतिको इस दशामें देखकर श्रीविन्ध्यावलीजीके मनमें तनिक भी खेद नहीं हुआ। वे भगवान्की महिमासे पूर्ण परिचित थीं। स्तुति करते हुए उन्होंने कहा 'प्रभो! पतिका सर्वस्व छीनकर आपने इन्हें बन्दी बना लिया, बड़ा ही अच्छा किया। आपकी ही पृथ्वी आपको ही ये दान दे रहे थे। इसका इनके मनमें गर्व भी था। बड़ी कृपा की प्रभु आपने। पतिदेवका अभिमान दूर हो गया। आपकी इस अनुपम दयासे मैं अत्यन्त आनन्द पा रही हूँ।'

भक्तिमती श्रीविन्ध्यावलीजीकी निष्ठा अद्वितीय थी। इनका प्रभु-प्रेम अवर्णनीय था।

श्रीप्रियादासजीने महाराज बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीजीकी महिमा अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णित की है—

विन्ध्यावली तियासी न देखी कहूँ तिया नैन बाँध्यो प्रभु पिया देखि कियो मन चौगुनौ।
करि अभिमान दान देन बैठ्यो तुमहीं को कियो अपमान मैं तो मान्यों सुख सौगुनौ॥
त्रिभुवन छीनि लिये दिये बैरी देवतान प्रानमात्र रहे हरि आन्यो नहिं औगुनौ।
ऐसी भक्ति होइ जो पै जागौ रहौ सोइ अहो रहो भव मांझ ऐ पै लागै नहीं भौगुनौ॥ ८७॥

राजा बलिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावलीजीके समान कोई भी स्त्री देखने-सुननेमें नहीं आयी। जिसने वामनभगवान्‌द्वारा अपने पतिको बाँधा गया देखकर मनको थोड़ा भी मलिन नहीं किया, बल्कि मनमें अति प्रसन्न हुई। उस समय भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए विन्ध्यावलीजीने कहा—प्रभो! राजा आपका सेवक होकर 'मैं बड़ा दानी हूँ', इस अभिमानके वश अपनेको दानी और अनन्तकोटिब्रह्माण्डके स्वामी आपको तुच्छ भिक्षुक मानकर दान करने बैठ गया। इससे आपका बड़ा भारी अपमान हुआ। आपने जो कृपारूप दण्ड देकर इसके अभिमानको चूर किया, इससे मैंने सौगुना सुख पाया। अहो, देखिये, रानी विन्ध्यावलीकी कैसी अपूर्व निष्ठा है कि वामनभगवान्‌ने राजासे छलपूर्वक तीनों लोकोंको छीनकर राजा बलिके शत्रु देवताओंको दे दिया, पतिको अति अपमानित करके बँधवा दिया, नरक भेजनेकी धमकी दी। बलिके केवल प्राणमात्र शेष रहे, फिर भी विन्ध्यावलीजीने भगवान्‌में कोई दोष नहीं देखा, राजाकी ही भूल मानी। यदि भगवान्‌की दयासे किसीमें ऐसी भक्ति हो तो वह चाहे जागता [सावधान होकर सत्कर्म करता] रहे अथवा सोता (लोगोंकी दृष्टिमें निष्क्रिय) रहे—दोनों अवस्थाएँ समान हैं। वह संसारमें संसारीकी भाँति व्यवहार करता रहे, उसपर मायाके गुण नहीं लगेंगे। वह जीवन्मुक्त है॥ ८७॥

श्रीनीलध्वजजी

ये माहिष्मती नगरीके राजा थे। इनके प्रवीर नामका एक महापराक्रमी पुत्र था। महाराज युधिष्ठिरके यज्ञीय अश्वको प्रवीरने पकड़ लिया और अपने शौर्यके अभिमानमें अर्जुनके पास यह सन्देश भिजवा दिया कि मुझ नीलध्वजके पुत्र प्रवीरने यज्ञीय अश्वको पकड़कर माहिष्मती नगरीमें भेज दिया है, अब अर्जुन कोप करके इसे छुड़ा लें। प्रवीरकी इस चुनौतीको स्वीकार करते हुए घोर संग्राम हुआ। प्रवीर पाण्डव वीरोंके समक्ष नहीं टिक सका, तब इसके पिता महाराज नीलध्वज तीन अक्षौहिणी सेना लेकर युद्धभूमिमें आ डटे। इनका मुकाबला वीरवर अर्जुनसे रहा। अर्जुनने इन्हें मूर्च्छित कर दिया। नीलध्वजने अपनी स्वाहा नामकी कन्या अग्निदेवको ब्याही थी। अपनेको संकटमें पड़ा जानकर इन्होंने अपने जामाता अग्निदेवको बाणाग्र भागपर प्रतिष्ठित करके पाण्डव सेनापर छोड़ दिया, जिससे बहुत-से वीर क्षणमात्रमें भस्म हो गये।

यद्यपि अर्जुनने अग्निको शान्त करनेके लिये वरुणास्त्रका प्रयोग किया, लेकिन अग्निदेव नहीं शान्त हुए, तब अर्जुनने नारायणास्त्रका प्रयोग किया। नारायणास्त्रका धनुषपर सन्धान हुआ देखकर अग्निदेव शान्त हो गये और अर्जुनके यह पूछनेपर कि अबतक तो आपकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा रही है। आपने ही मुझे गाण्डीव धनुष और दिव्य रथ प्रदान किया है तथा आप सर्वदा मेरे साथ उत्तम और दिव्य सौहार्दका व्यवहार करते आये हैं, परंतु आज आप मेरे विरुद्ध अधिकाधिक उद्दीप्त होते जा रहे हैं, क्या बात है? अब आप यों प्रेमभावको तिलांजलि देकर विपरीत व्यवहार करनेपर उतारू हो गये हैं, तो बताइये, मैं कर ही क्या सकता हूँ?

अग्निदेवने कहा—धनंजय! यदि तुम कमलनयन श्रीकृष्णके समीप रहनेपर भी अश्वमेध-यज्ञद्वारा युधिष्ठिरको पवित्र करना चाहते हो तो उन श्रीहरिके बिना यज्ञ, देवता अथवा मन्त्र—कोई भी उन्हें पवित्र करनेमें समर्थ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा श्रीकृष्णमें विश्वास नहीं है। तुम क्षीरसागरको पाकर भी दूधके लिये बकरी क्यों दुहाते हो तथा उदित हुए सूर्यका परित्याग करके प्रकाशके लिये जुगनूकी आकांक्षा कैसे कर रहे हो? पार्थ! इस समय मैंने तुम्हारी सेनापर जो आक्रमण किया है, उसका प्रधान कारण यही है। नीलध्वजकी प्रेरणा तो गौण है। यह कहकर अग्निदेवने अर्जुनकी नष्ट समस्त सेनाको जीवित कर दिया और राजा नीलध्वजको समझाया कि भला जिन्होंने इन्द्रके खाण्डववनको सहज ही

जलाकर भस्म कर दिया, जो श्रीकृष्णके अन्तरंग सखा हैं, उन्हें कौन हरा सकता है? अतः आप उनका यह यज्ञीय अश्व वापस करके उनसे मित्रता कर लो, जिससे आपका कल्याण हो। राजा नीलध्वजने ऐसा ही किया और अर्जुनसे बोले—महाबाहु पार्थ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तब अर्जुनने कहा—भूपालशिरोमणे! आप श्रेष्ठ वीर हैं। इसलिये मेरे साथ रहकर मेरे इस यज्ञीय अश्वकी रक्षा कीजिये। राजा नीलध्वज 'तथास्तु' कहकर राज्य अपने पुत्र प्रवीरको सौंपकर अर्जुनके साथ हो लिये और अश्व-रक्षामें अपने अद्भुत पराक्रमका परिचय दिया। अर्जुनके द्वारा राजा नीलध्वजजीकी बड़ाई सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बड़े प्रेमसे इनका गाढ़ आलिंगन किया।

भक्त मयूरध्वज एवं ताम्रध्वज

द्वापरके अन्तमें रत्नपुरके अधिपति महाराज मयूरध्वज एक बहुत बड़े धर्मात्मा तथा भगवद्भक्त सन्त हो गये हैं। इनकी धर्मशीलता, प्रजावत्सलता एवं भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुराग अतुलनीय ही था। इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ अनेकों बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, करते ही रहते थे।

एक बार इनका अश्वमेधका घोड़ा छूटा हुआ था और उसके साथ इनके वीर पुत्र ताम्रध्वज तथा प्रधान-मन्त्री सेनाके साथ रक्षा करते हुए घूम रहे थे। उधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिरका भी अश्वमेध यज्ञ चल रहा था और उनके घोड़ेके रक्षकरूपमें अर्जुन और उनके सारथि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे। मणिपुरमें दोनोंकी मुठभेड़ हो गयी।

उन दिनों भगवान्‌के सारथ्य और अनेकों वीरोंपर विजय प्राप्त करनेके कारण अर्जुनके मनमें कुछ अपनी भक्ति तथा वीरताका गर्व-सा हो आया था। सम्भव है, इसीलिये अथवा अपने एक छिपे हुए भक्तकी महिमा प्रकट करनेके लिये भगवान्‌ने एक अद्‌भुत लीला रची। परिणामतः युद्धमें श्रीकृष्णके ही बलपर मयूरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने विजय प्राप्त की और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन दोनोंको मूर्च्छित करके वह दोनों घोड़ोंको अपने पिताके पास ले गया। पिताके पूछनेपर मन्त्रीने बड़ी प्रसन्नतासे सारा समाचार कह सुनाया। किंतु सब कुछ सुन लेनेके पश्चात् मयूरध्वजने बड़ा खेद प्रकट किया। उन्होंने कहा—'तुमने बुद्धिमानीका काम नहीं किया। श्रीकृष्णको छोड़कर घोड़ेको पकड़ लेना या यज्ञ पूरा करना अपना उद्देश्य नहीं है! तुम मेरे पुत्र नहीं, बल्कि शत्रु हो, जो भगवान्‌के दर्शन पाकर भी उन्हें छोड़कर चले आये।' इसके बाद वे बहुत पश्चात्ताप करने लगे।

उधर जब अर्जुनकी मूर्च्छा टूटी, तब उन्होंने श्रीकृष्णसे घोड़ेके लिये बड़ी व्यग्रता प्रकट की। भगवान् अपने भक्तकी महिमा दिखानेके लिये स्वयं ब्राह्मण बने और अर्जुनको अपना शिष्य बनाया तथा दोनों मयूरध्वजकी यज्ञशालामें उपस्थित हुए। इनके तेज और प्रभावको देखकर मयूरध्वज अपने आसनसे उठकर नमस्कार करनेवाले ही थे कि इन्होंने पहले ही 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद दिया। मयूरध्वजने इनके इस कर्मको अनुचित बतलाते हुए इन्हें नमस्कार किया और स्वागत-सत्कार करके अपने योग्य सेवा पूछी। ब्राह्मणवेशधारी भगवान्‌ने अपनी इच्छित वस्तु लेनेकी प्रतिज्ञा कराकर बतलाया—'मैं अपने पुत्रके साथ इधर आ रहा था कि मार्गमें एक सिंह मिला और उसने मेरे पुत्रको खाना चाहा। मैंने पुत्रके बदले अपनेको देना चाहा, पर उसने स्वीकार नहीं किया। बहुत अनुनय-विनय करनेपर उसने यह स्वीकार किया है कि राजा मयूरध्वज पूर्ण प्रसन्नताके साथ अपनी स्त्री और पुत्रके द्वारा अपने आधे शरीरको आरेसे चिरवाकर मुझे दे दें, तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ सकता हूँ।' राजाने बड़ी प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ली। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि इस वेशमें स्वयं भगवान् ही मेरे सामने उपस्थित हैं। यह बात सुनते ही सम्पूर्ण सदस्योंमें

हलचल मच गयी। साध्वी रानीने अपनेको उनका आधा शरीर बताकर देना चाहा, पर भगवान्‌ने दाहिने अंशकी आवश्यकता बतलायी। पुत्रने भी अपनेको पिताकी प्रतिमूर्ति बताकर सिंहका ग्रास बननेकी इच्छा प्रकट की; पर भगवान्‌ने उसके द्वारा चीरे जानेकी बात कहकर उसकी प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी।

अन्तमें दो खम्भे गाड़कर उनके बीचमें हँसते हुए और उच्चस्वरसे भगवान्‌के 'गोविन्द', 'मुकुन्द', 'माधव' आदि मधुर नामोंका सस्वर उच्चारण करते हुए मयूरध्वज बैठ गये और उनके स्त्री-पुत्र आरा लेकर उनके सिरको चीरने लगे। सदस्योंने आपत्ति करनेका भाव प्रकट किया; परंतु महाराजने यह कहकर कि 'जो मुझसे प्रेम करते हों, मेरा भला चाहते हों, वे ऐसी बात न सोचें' सबको मना कर दिया। जब उनका शरीर चीरा जाने लगा, तब उनकी बायीं आँखसे आँसूकी कुछ बूँदें निकल पड़ीं, जिन्हें देखते ही ब्राह्मणदेवता बिगड़ गये और यह कहकर चल पड़े कि 'दुःखसे दी हुई वस्तु मैं नहीं लेता।' फिर अपनी स्त्रीकी प्रार्थनासे मयूरध्वजने उन ब्राह्मणदेवताको बुलाकर बड़ा आग्रह किया और समझाया कि 'भगवन्! आँसू निकलनेका यह भाव नहीं है कि मेरा शरीर काटा जा रहा है; बल्कि बायीं आँखसे आँसू निकलनेका यह भाव है कि ब्राह्मणके काम आकर दाहिना अंग तो सफल हो रहा है, परंतु बायाँ अंग किसीके काम न आया। बायीं आँखके खेदका यही कारण है।'

अपने परम प्रिय भक्त मयूरध्वजका यह विशुद्ध भाव देखकर भगवान्‌ने अपने-आपको प्रकट कर दिया। शंख-चक्र-गदाधारी, चतुर्भुज, पीताम्बर पहने हुए, मयूरमुकुटी प्रभुने अभयदान देते हुए उनके शरीरका स्पर्श किया और स्पर्श पाते ही मयूरध्वजका शरीर पहलेकी अपेक्षा अधिक सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ हो गया। वे भगवान्‌के चरणोंपर गिरकर स्तुति करने लगे। भगवान्‌ने उन्हें सान्त्वना दी और वर माँगनेको कहा। उन्होंने भगवान्‌के चरणोंमें अविचल प्रेम माँगा और आगे चलकर 'वे भक्तोंकी ऐसी परीक्षा न लें' इसका अनुरोध किया। भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे उनकी अभिलाषा पूर्ण की और स्वयं अपने सिरपर कठोरताका लांछन लेकर भी अपने भक्तकी महिमा बढ़ायी। अर्जुन उनके साथ-ही-साथ सब लीला देख रहे थे। उन्होंने मयूरध्वजके चरणोंपर गिरकर अपने गर्वकी बात कही और भक्तवत्सल भगवान्‌की इस लीलाका रहस्य अपने घमण्डको चूर करना बतलाया। अन्तमें तीन दिनोंतक उनका आतिथ्य स्वीकार करनेके पश्चात् घोड़ा लेकर वे दोनों चले गये और मयूरध्वज निरन्तर भगवान्‌के प्रेममें छके रहने लगे।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज उपर्युक्त घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अर्जुन के गर्व भयो कृष्ण प्रभु जानि लियो दियो रस भारी याहि रोग यों मिटाइयै।
मेरो एक भक्त आहि तो को लै दिखाऊँ ताहि भये विप्र वृद्ध संग बाल चलि जाइयै॥
पहुँचत भाष्यो जाइ मोरध्वज राजा कहाँ वेगि सुधि देवो काहू बात जा जनाइयै।
सेवा प्रभु करौं नेकु रहौ पाउँ धरौं जाइ कहौ तुम बैठो कही आग सी लगाइयै॥ ८८॥
चले अनखाय पाँय गहि अटकाय जाय नृप को सुनाय ततकाल दौरे आये हैं।
बड़ी कृपा करी आज फरी चाह बेलि मेरी निपट नबेल फल पाँय याते पाये हैं॥
दीजै आज्ञा मोहिं सोई कीजै सुख लीजै यही, पीजै वाणी रस मेरे नैन लै सिराये हैं।
सुनि क्रोध गयो मोद भयो सो परीक्षाहिये लिये चित चाव ऐसे बचन सुनाये हैं॥ ८९॥
देबे की प्रतिज्ञा करो करी जू प्रतिज्ञा हम जाहि भाँति सुख तुम्हैं सोई मोको भाई है।
मिल्यो मग सिंह यहि बालक को खाये जात कही खावो मोहिं नहीं यही सुखदाई है॥

काहू भाँति छोड़ो नृप आधो जो शरीर आवै तौ ही याहि तजौं कहि बात मों जनाई है।
बोलि उठी तिया अरधङ्गी मोहि जाइ देवो पुत्र कहै मोको लेवो और सुधि आई है॥ १०॥
सुनो एक बात सुत तिया लै करौंत गात चीरैं धीरैं भीरैं नाहिं पीछे उन भाखिये।
कीन्ह्यो वाही भाँति अहो नासा लगि आयो जब ढर्‌यो दृग नीर भीर बाकर न चाखिये॥
चले अनखाय गहि पाँय सो सुनाये बैन नैन जल बांयो अङ्ग काम किहिं नाखिये।
सुनि भरि आयो हियो निज तनु श्याम कियो दियो सुखरूप व्यथा गई अभिलाषिये॥ ११॥
मोपै तौ दियौ न जाइ निकट रिझाइ लियो तऊ रीझि दिये बिना मेरे हिये साल है।
माँगौ बर कोटि चोट बदलो न चूकत है सूखत है मुख सुधि आये वही हाल है॥
बोल्यौ भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृत जाल है।
एक मोको दीजै दान दीयो जू बखानो बेगि साधुपै परीक्षा जनि करो कलिकाल है॥ १२॥

श्रीअलर्कजी

महाराज अलर्क महाराज ऋतध्वज और महारानी मदालसाके चार पुत्रोंमें सबसे छोटे थे। इनके अन्य ज्येष्ठ भाइयोंके नाम विक्रान्त, सुबाहु और शत्रुमर्दन थे। इनकी माता महारानी मदालसा अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मज्ञानी थीं। उन्होंने अलर्कके ज्येष्ठ भाइयोंको बचपनसे ही ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दी, जिससे वे लोग ब्रह्मज्ञानी होकर जीवन्मुक्त हो गये। राजाके कहनेपर उन्होंने अलर्कको ब्रह्मज्ञान न देकर क्षत्रियोचित कर्तव्यका ज्ञान कराया। वे बचपनमें ही अलर्कको लोरीके माध्यमसे राजाका कर्तव्य बताते हुए कहतीं—

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥

अर्थात् हे तात! राज्य करते हुए अपने सुहृदोंको प्रसन्न रखना, साधु पुरुषोंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करना, संग्राममें दुष्ट शत्रुओंका संहार करते हुए गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण निछावर कर देना।

अलर्कको राजनीतिका उपदेश देते हुए वे कहती हैं कि बेटा! राज्याभिषेक होनेपर राजाको उचित है कि वह अपने धर्मके अनुकूल चलता हुआ आरम्भसे ही प्रजाको प्रसन्न रखे। सातों व्यसनों (कटु वचन बोलना, कठोर दण्ड देना, धनका अपव्यय करना, मदिरा पीना, स्त्रियोंमें आसक्ति रखना, शिकार खेलनेमें व्यर्थ समय लगाना और जुआ खेलना)-का परित्याग कर दे; क्योंकि वे राजाका मूलोच्छेद करनेवाले हैं। अपनी गुप्त मन्त्रणाके बाहर फूटनेसे उसके द्वारा लाभ उठाकर शत्रु आक्रमण कर देते हैं; अतः ऐसा न होने देकर शत्रुओंसे अपनी रक्षा करे। जैसे रथी रथकी गति वक्र होनेपर आठों प्रकारसे नाशको प्राप्त होता है, उसके ऊपर आठों दिशाओंसे प्रहार होने लगते हैं, उसी प्रकार गुप्त मन्त्रणाके बाहर फूटनेपर राजाके आठों वर्गों (खेतीकी उन्नति, व्यापारकी वृद्धि, दुर्गनिर्माण, सेतुनिर्माण, जंगलसे हाथी पकड़कर मँगवाना, खानोंपर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओंसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना)-का निश्चय ही नाश होता है। इसी प्रकारके अनेक राजोचित उपदेश माता मदालसाने अलर्कको दिये। वर्णधर्मका ज्ञान कराते हुए वे कहती हैं—वत्स! दान, अध्ययन और यज्ञ—ये तीन क्षत्रियके धर्म हैं। पृथ्वीकी रक्षा तथा शस्त्रग्रहण करके जीवननिर्वाह करना—यह उसकी जीविका है। गृहस्थ पुरुषके करनेयोग्य कार्योंका उपदेश करती हुई वे कहती हैं—गृहस्थ पुरुष प्रतिदिन

पितरोंके उद्देश्यसे अन्न और जलके द्वारा श्राद्ध करे और अनेक या एक ब्राह्मणको भोजन कराये। अन्नमेंसे अग्राशन निकालकर ब्राह्मणको दे। ब्रह्मचारी और संन्यासी जब भिक्षा माँगनेके लिये आयें तो उन्हें भिक्षा अवश्य दे। यथाशक्ति आदरपूर्वक अतिथिका पूजन करे। पुत्र! गृहस्थको सदा सदाचारका पालन करना चाहिये; क्योंकि वह इस लोक और परलोकमें भी कल्याणकारी है। वेदत्रयीका सदा स्वाध्याय करे, विद्वान् बने। धर्मानुसार धनका उपार्जन करे और उसे यत्नपूर्वक यज्ञमें लगाये। जिस कर्मको करते हुए अपने मनमें घृणा न हो और जिसे महापुरुषोंके समक्ष प्रकट करनेमें कोई संकोच न हो, ऐसा कर्म निःशंक होकर करना चाहिये। ऐसे आचरणवाले गृहस्थ पुरुषको धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है और परलोकमें भी उसका कल्याण होता है।

मातासे इस प्रकार उपदेश ग्रहण करके अलर्कने युवावस्थामें विधिपूर्वक अपना विवाह किया। उससे अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। उसने यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन किया। तदनन्तर बहुत समय बाद वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेपर धर्मपरायण महाराज ऋतध्वजने महारानी मदालसाके साथ तपस्याहेतु वन जानेका विचार किया और पुत्र अलर्कका राज्याभिषेक कर दिया। उस समय मदालसाने अलर्ककी विषयभोग-विषयक आसक्तिको हटानेके लिये उससे यह अन्तिम वचन कहा—बेटा! गृहस्थ धर्मका अवलम्बन करके राज्य करते समय यदि तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठीसे यह उपदेशपत्र निकालकर, जो रेशमी वस्त्रपर बहुत सूक्ष्म अक्षरोंमें लिखा गया है, तुम अवश्य पढ़ना; क्योंकि ममतामें बँधा रहनेवाला गृहस्थ दुःखोंका केन्द्र होता है। यों कहकर मदालसाने अलर्कको सोनेकी अँगूठी दी और गृहस्थ पुरुषके योग्य अनेक उपदेश और आशीर्वाद भी दिये। तत्पश्चात् पुत्रको राज्य सौंपकर महाराज ऋतध्वज और महारानी मदालसा तपस्या करनेके लिये वनमें चले गये।

अलर्क यद्यपि धर्मात्मा राजा थे और वे अपनी प्रजाका न्यायपूर्वक पुत्रकी ही भाँति पालन करते थे, परंतु मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंका भोग करते हुए उन्हें कभी भी उनकी ओरसे वैराग्य नहीं हुआ। उनकी ओरसे उन्हें अतृप्ति बनी ही रही। उनके इस प्रकार भोगमें आसक्त, प्रमादी और अजितेन्द्रिय होनेका समाचार उनके भाई सुबाहुने भी सुना, जो वनमें निवास करते थे। अलर्कको किसी तरह ज्ञान प्राप्त हो, इस अभिलाषासे उन्होंने काशिराजकी सहायतासे अलर्कपर आक्रमण करनेकी तैयारी की और दूत भेजकर कहलाया कि अपने बड़े भाई सुबाहुको राज्य दे दो। अलर्कने उत्तर दिया—'मेरे बड़े भाई मेरे ही पास आकर मुझसे प्रेमपूर्वक राज्य माँग लें। मैं किसीके आक्रमणके भयसे थोड़ी-सी भी भूमि नहीं दूँगा।' अलर्कका इस प्रकार उत्तर सुनकर काशिराजने अपनी समस्त सेनाके साथ अलर्कके राज्यपर चढ़ाई कर दी। उन्होंने अलर्कके सीमावर्ती नरेशोंको अपने अधीन कर लिया। इतना ही नहीं अलर्कके दुर्गरक्षकोंको भी साम, दान, दण्ड, भेदसे अपने वशवर्ती बना लिया। इस प्रकार शत्रुसेनासे घिरे अलर्कका सैन्यबल और कोश क्रमशः क्षीण होता जा रहा था, इससे उनका चित्त व्याकुल हो उठा। जब वे अत्यन्त वेदनासे व्यथित हो उठे, तब सहसा उन्हें उस अँगूठीका स्मरण हो आया, जिसे ऐसे ही अवसरोंपर उपयोग करनेके लिये उनकी माता मदालसाने दिया था। उन्होंने वह उपदेशपत्र निकालकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रति तत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥

अर्थात् संग (आसक्ति)-का सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये; किंतु यदि उसका त्याग न किया जा

सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उसकी औषधि है। कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्तिके प्रति इच्छा)-की कामना करनी चाहिये; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है।

इस उपदेशको अनेक बार पढ़कर अलर्कने सोचा, 'मनुष्योंका कल्याण कैसे होगा? मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् करनेपर। और मुक्तिकी इच्छा जाग्रत् होगी सत्संगसे।' ऐसा निश्चय करके सत्संगके लिये वे महात्मा दत्तात्रेयजीकी शरणमें गये। उनके चरणोंमें प्रणाम करके राजाने उनका पूजन किया और कहा—'ब्रह्मन्! आप शरणार्थियोंको शरण देनेवाले हैं। मुझपर कृपा कीजिये। मैं भोगोंमें अत्यन्त आसक्त और दुःखसे आतुर हूँ, आप मेरा दुःख दूर कीजिये।'

दत्तात्रेयजी बोले—राजन्! मैं अभी तुम्हारा दुःख दूर करता हूँ। सच-सच बताओ, तुम्हें किसलिये दुःख हुआ है?

अलर्कने कहा—भगवन्! इस शरीरके बड़े भाई यदि राज्य लेनेकी इच्छा रखते हैं तो यह शरीर तो पाँच भूतोंका समुदायमात्र है। गुणकी ही गुणोंमें प्रवृत्ति हो रही है; अतः मेरा उसमें क्या है, शरीरमें रहकर भी वे और मैं दोनों ही शरीरसे भिन्न हैं। यह हाथ आदि कोई भी अंग जिसका नहीं है; मांस, हड्डी और नाड़ियोंके विभागसे भी जिसका कोई सम्पर्क नहीं है, उस पुरुषका इस राज्य, हाथी, घोड़े, रथ और कोश आदिसे किंचित् भी क्या सम्बन्ध है! इसलिए न तो मेरा कोई शत्रु है, न मुझे दुःख या सुख होता है और न नगर तथा कोशसे ही मेरा कोई सम्बन्ध है। यह हाथी-घोड़े आदिकी सेना न सुबाहुकी है, न दूसरे किसीकी है और न मेरी ही है। जैसे कलसी, घट और कमण्डलुमें एक ही आकाश है तो भी पात्रभेदसे अनेक-सा दिखायी देता है; उसी प्रकार सुबाहु, काशिराज और मैं भिन्न-भिन्न शरीरोंमें रहकर भी एक ही हैं। शरीरोंके भेदसे ही भेदकी प्रतीति होती है। पुरुषकी बुद्धि जिस-जिस वस्तुमें आसक्त होती है, वहाँ-वहाँसे वह दुःख ही लाकर देती है। मैं तो प्रकृतिसे परे हूँ; अतः न दुखी हूँ, न सुखी। प्राणियोंका भूतोंके द्वारा जो पराभव होता है, वही दुःखमय है। तात्पर्य यह कि जो भौतिक भोगोंमें ममताके कारण आसक्त है, वही सुख-दुःखका अनुभव करता है।

अलर्ककी बात सुनकर दत्तात्रेयजीने कहा—नरश्रेष्ठ! वास्तवमें ऐसी ही बात है। तुमने जो कुछ कहा है, ठीक है; ममता ही दुःखका और ममताका अभाव ही सुखका कारण है। मेरे प्रश्न करनेमात्रसे तुम्हें यह उत्तम ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसने ममताकी प्रतीतिको सेमरकी रूईकी भाँति उड़ा दिया।

इसके बाद अत्रिनन्दन भगवान् दत्तात्रेयने अलर्कको योगचर्या, योगके विघ्न तथा उनसे बचनेके उपाय, सात धारणा, आठ ऐश्वर्य, योगीकी मुक्ति, प्रणवकी महिमा, योगसाधनामें आनेवाले अरिष्ट तथा उनसे सावधानी आदि विविध विषयोंका उपदेश किया।

तदनन्तर राजा अलर्कने अत्रिनन्दन दत्तात्रेयजीके चरणोंमें प्रणाम करके अत्यन्त प्रसन्नताके साथ विनीत भावसे कहा—ब्रह्मन्! सौभाग्यवश आपके संगसे मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ और सौभाग्यसे ही आपने मुझपर कृपा की। भगवन्! भाई सुबाहु तथा काशिराज दोनों ही मेरे उपकारी हैं, जिनके कारण मुझे आपके समीप आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपके प्रसादरूपी अग्निसे मेरा अज्ञान और पाप जल गया। अब मैं ऐसा यत्न करूँगा, जिससे फिर इस प्रकारके दुःखका भागी न बनूँ। आप मेरे ज्ञानदाता महात्मा हैं; अतः आपसे आज्ञा लेकर मैं गार्हस्थ्य-आश्रमका परित्याग करूँगा, जो विपत्तिरूपी वृक्षोंका वन है।

इसके बाद राजा अलर्क उन्हें प्रणाम करके उस स्थानपर आये, जहाँ काशिराज और सुबाहु बैठे थे।

उन लोगोंके निकट पहुँचकर अलर्कने हँसते हुए कहा—'राज्यकी इच्छा रखनेवाले काशिराज! अब आप इस राज्यको भोगें अथवा आपकी इच्छा हो तो भाई सुबाहुको दे दें।' अलर्ककी यह बात सुनकर काशिराजने कहा—'अलर्क! तुम क्षत्रिय धर्मके ज्ञाता हो, फिर बिना युद्ध किये राज्य क्यों छोड़ रहे हो?'

अलर्कने कहा—नरेश्वर! तुम्हारे भयसे अत्यन्त दुःख पाकर मैंने योगीश्वर दत्तात्रेयजीकी शरण ली और उनकी कृपासे अब मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। समस्त इन्द्रियोंको जीतकर तथा सब ओरसे आसक्ति हटाकर मनको ब्रह्ममें लगाना और इस प्रकार मनको जीतना ही सबसे बड़ी विजय है; अतः अब मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ, तुम भी मेरे शत्रु नहीं हो तथा ये सुबाहु भी मेरे अपकारी नहीं है। मैंने इन सब बातोंको अच्छी तरह समझ लिया है।

अलर्कके यों कहनेपर राजा सुबाहु अत्यन्त प्रसन्न होकर उठे और 'धन्य! धन्य!' कहकर अपने भाईका अभिनन्दन करनेके पश्चात् वे काशिराजसे इस प्रकार बोले—'नृपश्रेष्ठ! मैं जिस कार्यके लिये तुम्हारी शरणमें आया था, वह सब पूरा हो गया। अब मैं जाता हूँ।'

काशिराजने आश्चर्यचकित होते हुए कहा—सुबाहो! तुम किसलिये आये थे? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध हो गया? मुझे तुम्हारी बातोंसे बड़ा कौतूहल हो रहा है।

सुबाहुने कहा—'काशिराज! मेरा यह छोटा भाई तत्त्वज्ञ होकर भी सांसारिक भोगोंमें फँसा हुआ था। मेरे दो बड़े भाई परम ज्ञानी हैं। उन दोनोंको तथा मुझे हमारी माताने बचपनमें ही तत्त्वज्ञान दिया था, किंतु यह अलर्क उस ज्ञानसे वंचित रह गया। इस अलर्कको गृहस्थ-आश्रमके मोहमें फँसकर कष्ट उठाते हुए देखकर हम तीनों भाइयोंको कष्ट होता था। तब मैंने सोचा, दुःख पड़नेपर ही इसके मनमें वैराग्यकी भावना जाग्रत् होगी; अतः युद्धोद्योगके लिये आपका आश्रय लिया। राजन्! आपके संगसे मैंने यह बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर लिया। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगा।'

काशीनरेशसे यों कहकर परम बुद्धिमान् सुबाहु चले गये। काशिराजने भी अलर्कका सत्कार करके अपने नगरकी राह ली। अलर्कने अपने ज्येष्ठ पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके आत्मसिद्धिके लिये वनमें चले गये। वहाँ बहुत समयतक वे निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य होकर रहे और अनुपम योगसम्पत्तिको पाकर परम निर्वाणपदको प्राप्त हुए।

महाराज अलर्कसे सम्बद्ध कथाका सार श्रीप्रियादासजीने निम्न कवित्तमें इस प्रकार निरूपित किया है—

अलरक कीरति में राँचौं नित सांचो हिये किये उपदेश हू न छूटै विषै वासना।
माता मन्दालसा की बड़ी यह प्रतिज्ञा सुनौ आवै जो उदर मांझ फेरि गर्भ आसना॥
पतिको निहोरो ताते रह्यो छोटो कोरो ताको लै गये निकासि मिलि काशी नृप शासना।
मुद्रिका उघारि और निहारि दत्तात्रेयजूको भये भवपार करी प्रभु की उपासना॥ ९३॥

भगवान्‌की मायाको जीत लेनेवाले भक्त

रिभु इक्ष्वाकु रु ऐल गाधि रघु (रै) गै सतधन्वा।
अमुरत रंति उतंक भूरि देवल (बैबस्वत) मन्वा॥
नहुष जजाति दिलीप पूरु जदु गुह मांधाता।
पिप्पल निमि भरद्वाज दच्छ सरभंग सँघाता॥

संजय समीक उत्तानपद जाग्यबल्क जस जग भरे।
तिन चरन धूरि मो भूरि सिर जे जे हरिमाया तरे॥ १२॥

जो भक्त भगवान्‌की अपार मायासे तर गये, उसके जालमें नहीं फँसे, उनके श्रीचरणोंकी बहुत-सी रज सादर मेरे सिरपर है और सदा रहे। ऋभुजी, इक्ष्वाकुजी, ऐलजी, गाधिजी, रघुजी, रयजी, गयजी, शतधन्वाजी, अमूर्तजी, रन्तिदेवजी, उत्तंकजी, भूरिश्रवाजी, देवलजी, वैवस्वतमनुजी, नहुषजी, ययातिजी, दिलीपजी, पूरुजी, यदुजी, गुहजी, मान्धाताजी, पिप्पलजी, निमिजी, भरद्वाजजी, दक्षजी, शरभंगजी, संजयजी, शमीकजी, उत्तानपादजी और याज्ञवल्क्यजी—इनके सुयश संसारमें भरे हुए हैं। ये भगवद्भक्तिके प्रतापसे मायाको जीतनेवाले हैं॥ १२॥

यहाँ इन भक्तोंका पावन चरित संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

महर्षि ऋभु

महर्षि ऋभु ब्रह्माके मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं। ये स्वभावसे ही ब्रह्मतत्त्वज्ञ तथा निवृत्तिपरायण भक्त हैं। तथापि सद्‌गुरु-मर्यादाकी रक्षाके लिये इन्होंने श्रद्धाभक्तिसे युक्त होकर अपने बड़े भाई सनत्सुजातकी शरण ली थी। उनसे सम्प्रदायगत मन्त्र, योग और ज्ञान प्राप्त करके ये सर्वदा सहज स्थितिमें ही रहने लगे। मल, विक्षेप तथा आवरणसे रहित होकर ये जहाँ-कहीं भी पड़े रहते। शरीरके अतिरिक्त इनकी कोई कुटी नहीं थी।

यों ही विचरते हुए महर्षि ऋभु एक दिन पुलस्त्य ऋषिके आश्रमके समीप जा पहुँचे। वहाँ पुलस्त्यका पुत्र निदाघ वेदाध्ययन कर रहा था। निदाघने आगे आकर नमस्कार किया। उसके अधिकारको देखकर महर्षि ऋभुको बड़ी दया आयी। उन्होंने कहा—'इस जीवनका वास्तविक लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। यदि वेदोंको सम्पूर्णतः रट जाय और वस्तुतत्त्वका ज्ञान न हो तो वह किस कामका है? निदाघ! तुम आत्मज्ञानका सम्पादन करो।'

महर्षि ऋभुकी बात सुनकर उसकी जिज्ञासा जग गयी। उसने इन्हींकी शरण ली। अपने पिताका आश्रम छोड़कर वह उनके साथ भ्रमण करने लगा। उसकी सेवामें तन्मयता और त्याग देखकर महर्षिने उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उपदेशके पश्चात् आज्ञा की कि 'निदाघ! जाकर गृहस्थ-धर्मका अवलम्बन लो। मेरी आज्ञाका पालन करो।'

गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निदाघ अपने पिताके पास आया। उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इसके पश्चात् देविका नदीके तटपर वीरनगरके पास एक उपवनमें निदाघने अपना आश्रम बनाया और वहाँ वह अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्यका पालन करने लगा। कर्मपरायण हो गया।

बहुत दिनोंके बाद ऋभुको उसकी याद आयी। अपने अंगीकृत जनका कल्याण करनेके लिये वे वहाँ पहुँच गये। महापुरुष जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं, उसे फिर कभी नहीं छोड़ते। वे बलिवैश्वदेवके समय निदाघके द्वारपर उपस्थित हुए। निदाघने उन्हें न पहचाननेपर भी गृहस्थ-धर्मानुसार अतिथिको भगवद्रूप समझकर उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराया। अन्तमें उसने प्रश्न किया कि 'महाराज! भोजनसे तृप्त हो गये क्या? आप कहाँ रहते हैं? कहाँसे आ रहे हैं? और किधर पधारनेकी इच्छा है?' महर्षि ऋभुने अपने कृपालु स्वभावके कारण उपदेश करते हुए उत्तर दिया—'ब्राह्मण! भूख और प्यास प्राणोंको ही लगती है। मैं प्राण नहीं हूँ। जब भूख-प्यास मुझे लगती ही नहीं, तब तृप्ति-अतृप्ति क्या बताऊँ? स्वस्थता और तृप्ति मनके ही धर्म हैं। आत्मा इनसे सर्वथा पृथक् है। रहने और आने-जानेके सम्बन्धमें जो पूछा, उसका उत्तर

सुनो। आत्मा आकाशकी भाँति सर्वगत है। उसका आना-जाना नहीं बनता। मैं न आता हूँ, न जाता हूँ और न किसी एक स्थानपर रहता ही हूँ। तृप्ति-अतृप्तिके हेतु ये सब रस आदि विषय परिवर्तनशील हैं। कभी अतृप्तिकर पदार्थ तृप्तिकर हो जाते हैं और कभी तृप्तिकर अतृप्तिकर हो जाते हैं। अत: विषमस्वभाव पदार्थोंपर आस्था मत करो; इनकी ओरसे दृष्टि मोड़कर त्रिगुण, व्यवस्था और समस्त अनात्म वस्तुओंसे ऊपर उठकर अपने-आपमें स्थिर हो जाओ। ये सब संसारी लोग मायाके चक्करमें पड़कर अपने स्वरूपको भूले हुए हैं। तुम इस मायापर विजय प्राप्त करो।' महर्षि ऋभुके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े। फिर उन्होंने बतलाया कि 'मैं तुम्हारा गुरु ऋभु हूँ।' निदाघको बड़ी प्रसन्नता हुई, महर्षि चले गये।

बहुत दिनोंके पश्चात् फिर महर्षि ऋभु वहाँ पधारे। संयोगवश उस दिन वीरपुरनरेशकी सवारी निकल रही थी। सड़कपर बड़ी भीड़ थी। निदाघ एक ओर खड़े होकर भीड़ हट जानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेमें ही महर्षिने इनके पास आकर पूछा—'यह भीड़ कैसी है?'

निदाघने उत्तर दिया—'राजाकी सवारी निकलनेके कारण भीड़ है।' उन्होंने पूछा—'तुम तो जानकार जान पड़ते हो। मुझे बताओ इनमें कौन राजा है और कौन दूसरे लोग हैं?' निदाघने कहा—'जो इस पर्वतके समान ऊँचे हाथीपर सवार हैं, वे राजा हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे लोग हैं।' ऋभुने पूछा—'महाराज! मुझे हाथी और राजाका ऐसा लक्षण बताओ कि मैं समझ सकूँ कि ऊपर क्या है? नीचे क्या है?' यह प्रश्न सुनकर निदाघ झपटकर उनपर सवार हो गये और कहा—'देखो, मैं राजाकी भाँति ऊपर हूँ। तुम हाथीके समान नीचे हो। अब समझ जाओ राजा और हाथी कौन हैं।' महर्षि ऋभुने बड़ी शान्तिसे कहा—'यदि तुम राजा और मैं हाथीकी भाँति स्थित हूँ तो बताओ तुम कौन हो और मैं कौन हूँ?' यह बात सुनते ही निदाघ उनके चरणोंपर गिर पड़े, वह हाथ जोड़कर कहने लगे—'प्रभो! आप अवश्य ही मेरे गुरुदेव ऋभु हैं। आपके समान अद्वैतसंस्कार-संस्कृतचित्त और किसीका नहीं है। आप अवश्य-अवश्य मेरे गुरुदेव हैं, मैंने अनजानमें बड़ा अपराध किया। संत स्वभावत: क्षमाशील होते हैं। आप कृपया मुझे क्षमा करें।' ऋभुने हँसते हुए कहा—

'कौन किसका अपराध करता है? यदि एक वृक्षकी दो शाखाएँ परस्पर रगड़ खायँ तो उनमें किसका अपराध है? मैंने तुम्हें पहले व्यतिरेक मार्गसे आत्माका उपदेश किया था। उसे तुम भूल गये। अब अन्वय-मार्गसे किया है। इसपर परिनिष्ठित हो जाओ। यदि इन दोनों मार्गोंपर विचार करोगे तो संसारमें रहकर भी तुम इससे अलिप्त रहोगे।' निदाघने उनकी बड़ी स्तुति की। वे स्वच्छन्दतया चले गये।

ऋभुकी इस क्षमाशीलताको सुनकर सनकादि गुरुओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ब्रह्माके सामने इनकी महिमा गायी और इनका नाम क्षमाका एक अक्षर लेकर ऋभुक्ष रख दिया। तबसे साम्प्रदायिक लोग इन्हें ऋभुक्षानन्दके नामसे स्मरण करते हैं। इनकी कृपासे निदाघ आत्मनिष्ठ हो गये।

श्रीइक्ष्वाकुजी

परम पुरुष परमात्माने जब सृष्टिकी इच्छा की तो सर्वप्रथम उनकी नाभिसे एक सुवर्णमय कमलकोश प्रकट हुआ, उसीमें चतुर्मुख ब्रह्माजीका आविर्भाव हुआ। ब्रह्माजीके मनसे मरीचि और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। उनकी पत्नी अदितिसे विवस्वान् (सूर्य)-का जन्म हुआ। विवस्वान्‌की संज्ञा नामक पत्नीसे श्राद्धदेव मनुका जन्म हुआ। परम मनस्वी राजा श्राद्धदेव मनुने अपनी पत्नी श्रद्धाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें सबसे ज्येष्ठ इक्ष्वाकुजी थे। कहीं-कहीं मनुजीकी नासिकासे इक्ष्वाकुका प्रादुर्भाव होना पाया जाता

है। यथा—**क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः॥** (भा०)

श्रीइक्ष्वाकुजी अयोध्याके प्रथम राजा हुए यथा—**तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम्॥** (वाल्मीकीय रामायण) महाराजा इक्ष्वाकुजी बड़े ही प्रजावत्सल राजा हुए। श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि श्रीपरीक्षित्‌जीकी जन्म-कुण्डलीका वर्णन करते हुए ज्योतिषियोंने सर्वप्रथम यही कहा है कि—**पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः॥** (भा०) अर्थात् धर्मराज! यह बालक मनुपुत्र इक्ष्वाकुके समान अपनी प्रजाका पालन करेगा। महाभारतके युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीता-ज्ञानका अनादित्व वर्णन करते हुए श्रीइक्ष्वाकुजीका स्मरण किया है। यथा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

अर्थात् श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी ज्ञानयोगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार श्रीइक्ष्वाकुजी महाराज गीताज्ञानके आचार्य सिद्ध होते हैं।

रीवांनरेश महाराज श्रीरघुराजसिंहजीने स्वरचित श्रीरामरसिकावली भक्तमालमें श्रीइक्ष्वाकुजीकी लीलाभिनय-निष्ठाका एक सरस प्रसंग वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि—

जबते महिपाल इक्ष्वाकु भये हरि लीला रचें शिशुसंगन में।
सतिभाव विलोकि कै तासु हरी कह्यो मांगु रँगे रति रङ्गन में॥
रघुराज कह्यो जस खेलत हैं तुमहू तस खेलो उमङ्गन में।
मुसकाइ कह्यो हरि तेरेइ वंश में खेलिहौं औध के अङ्गन में॥

इसी वरदानके फलस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीरामने इसी वंशमें अवतार ग्रहण किया था। यथा—**इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः॥**

एक बार महाराज इक्ष्वाकु तीर्थयात्रा करते हुए श्रीजापकमुनिके आश्रमपर पहुँचे। मुनिने राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मंगल पूछनेके बाद इस प्रकार कहा—महाराज! आपका स्वागत है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ? यह आप मुझे बतायें। राजाने कहा—विप्रवर! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप स्वधर्ममें स्थित ब्राह्मण हैं, अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर! आप उन ब्राह्मणोंको दान करें, जो प्रवृत्तिमार्गमें हों। मैं तो प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ। अतः आपसे दान नहीं ले सकता। हाँ, आपको जो अभीष्ट हो, वह कहें; मैं अपने तपोबलसे पूर्ण कर दूँगा। इक्ष्वाकुजी बोले—क्षत्रियोंको याचनाका अभ्यास नहीं होता। यदि कभी ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है तो हम लोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो।' ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर! जैसे आप अपने धर्मसे सन्तुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्मसे सन्तुष्ट हैं। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, अतः आपको जो अच्छा लगे, वही कीजिये। महाराज इक्ष्वाकुने इन उदारचेता ब्राह्मण मुनिसे इनके समस्त जप-साधनका फल माँगा। मुनिने सहर्ष संकल्प कर दिया। तत्पश्चात् राजा इक्ष्वाकुने अपने समस्त पुण्योंका फल जापक मुनिको समर्पित कर दिया और कहा—हमारा और आपका सारा पुण्य हम दोनोंके लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें। जापक मुनिने इनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों एक-दूसरेका उपकार करते हुए एक साथ हो गये। वे एक ही साथ मनको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनसहित प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राणवायुओंको सुषुम्णामार्गद्वारा मूर्धामें स्थापित करके समाधिमें स्थित हो गये। तत्पश्चात् दोनों

ही ब्रह्मरन्ध्रका भेदन करके दिव्यरूप धारण करके ब्रह्मलोकको गये और सभी देवताओंके देखते-देखते श्रीब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गये।

श्रीऐलजी (पुरूरवा)

वैवस्वत मनुके पुत्र न था। उस समय सर्वसमर्थ भगवान् वसिष्ठजीने इन्हें संतानप्राप्ति करानेके लिये मित्रावरुणदेवका यज्ञ कराया। मनु-पत्नी श्रद्धा, जिसने यज्ञकी दीक्षा ली थी, उसने होताके पास जाकर प्रणामपूर्वक कन्याके लिये प्रार्थना की। फलतः होताने आहुति छोड़ते समय एकाग्रचित्त हो कन्याका संकल्प करके आहुति छोड़ी। होताके इस व्यतिक्रमसे मनुके पुत्रके स्थानपर इला नामकी कन्या पैदा हुई। उसे देखकर मनुजी प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने अपने गुरु वसिष्ठजीसे पूछा कि यह विपरीत फल कैसे हुआ? तब वसिष्ठजीने ध्यान करके देखा तो सब बात विदित हो गयी। तत्पश्चात् राजासे समस्त वृत्तान्त कहकर वे बोले कि अब हम अपने ब्रह्मतेजसे आपकी कामना पूर्ण करेंगे। ऐसा निश्चय करके ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीने उस इला नामकी कन्याको ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान् नारायणकी स्तुति की, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिने सन्तुष्ट होकर इन्हें मुँहमाँगा वर दिया, जिसके प्रभावसे वह कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गयी।

एक बार शिकार खेलते हुए ससमाज राजा सुद्युम्न सुमेरु पर्वतकी तलहटीके एक गिरिजाशंकर-विहार वनमें पहुँच गये। वहाँ प्रवेश करते ही (शिवजीके पूर्वशापवश कि इस वनमें जो आयेगा, वह स्त्री हो जायगा) सब स्त्री हो गये। इसलिये वे पुनः इला नामकी कन्या बने हुए अपने अनुचरोंके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे। उसी समय चन्द्रमा-पुत्र बुध, जो समीपके ही एक वनमें तपस्या कर रहे थे, स्त्रीरूपधारी सुद्युम्नको देखकर मोहित हो गये और इधर इन्होंने भी कामोपम चन्द्रकुमार बुधको पति बनाना चाहा। फिर तो दोनोंमें परस्पर प्रेम हो गया। परिणामस्वरूप बुधने उनसे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया। कुछ काल बाद सुद्युम्नने श्रीसद्‌गुरुदेव वसिष्ठजीका स्मरण किया। वे आये और राजकुमारकी दशा देखकर उन्हें दया आ गयी। उन्होंने सुद्युम्नको पुनः पुरुष बना देनेके लिये भगवान् शंकरकी आराधना की। श्रीशिवजीने अपना शाप और वसिष्ठजीकी विनय—दोनोंकी रक्षा करते हुए यह वर दिया कि यह एक महीनेतक पुरुष एवं एक महीनेतक स्त्री रहेंगे। बुध-पुत्र पुरूरवा ही इलाके गर्भसे उत्पन्न होनेसे ऐल कहे गये।

स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी एक दिन इन्द्रकी सभामें देवर्षि नारदजीके मुखसे पुरूरवाके रूप, गुण, शील-स्वभाव, शौर्य-वीर्य, बल-पराक्रमको सुनकर मोहित होकर स्वर्गसे पुरूरवाके पास चली आयी। उर्वशीको मर्त्यलोकमें जानेका मित्रावरुणका शाप भी था। अतः उसने पुरूरवाके साथ विहार करते हुए शापकी अवधि बितानेका निश्चय किया। इधर देवांगना उर्वशीको देखकर राजा पुरूरवा भी धैर्य खो बैठे। परिणामस्वरूप दोनोंमें स्नेह-सम्बन्ध हो गया। शापकी अवधिपर्यन्त पुरूरवाके साथ विहार करती हुई उर्वशी अवधि बीतनेपर बिना किसी शील-संकोचके इन्हें छोड़कर स्वर्ग चली गयी। उसके चले जानेपर पहले तो परम यशस्वी सम्राट् पुरूरवा विरहसे अत्यन्त व्याकुल हो गये। परंतु पीछे शोक हट जानेपर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और तब उनके हृदयसे जो उद्‌गार निकला है, वह परमार्थ-पथके पथिकोंके लिये बड़े ही महत्त्वका है। यथा—अपने वास्तविक कल्याणको समझनेवाले विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्त्रियों एवं स्त्रीलम्पट पुरुषोंका संग न करे। विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है, अन्यथा विकारका कोई अवसर ही नहीं है। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मनमें विकार नहीं होता। जो लोग विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग नहीं होने देते, उनका मन अपने-आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है; अतः मन, वाणी और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे स्त्रियों और स्त्रीलम्पटोंका संग कभी नहीं करना चाहिये।

मुझ-जैसे सांसारिक लोगोंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानोंके लिये भी अपनी इन्द्रियाँ और मन विश्वसनीय नहीं हैं।

राजराजेश्वर पुरूरवाके मनमें जब इस प्रकार उद्‌गार उठने लगे, तब उन्होंने उर्वशीका मनसे परित्याग कर दिया। अब ज्ञानोदय होनेसे उनके मनका मोह जाता रहा और उन्होंने अपने हृदयसे ही आत्मस्वरूपसे श्रीकृष्णका साक्षात्कार कर लिया और भावमें स्थित हो गये। महाभारत अनुशासनपर्वमें इनका प्रातः स्मरणीय राजर्षियोंके रूपमें स्मरण किया गया है।

श्रीगाधिजी

श्रीब्रह्माजीके पुत्र थे राजर्षि कुश, कुशके पुत्र कुशनाभ हुए। राजा कुशनाभके कोई पुत्र नहीं था, अतः श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्तिके लिये इन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञके अनुष्ठानकालमें परम उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुशने इनकी देवता, पितरोंके प्रति अगाध श्रद्धा देखकर ब्रह्मलोकसे आकर आश्वासन दिया—बेटा कुशनाभ! तुम्हें अपने समान ही परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त होगा और उसके द्वारा तुम्हें संसारमें अक्षय कीर्ति उपलब्ध होगी। पृथ्वीपति कुशनाभसे ऐसा कहकर राजर्षि कुश आकाशमें प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोकको चले गये। कुछ कालके पश्चात् बुद्धिमान् राजा कुशनाभके यहाँ परम धर्मज्ञ 'गाधि' नामक पुत्र हुआ। (वा० रा०) ये कान्यकुब्ज देशके राजा थे। महाराज गाधि दीर्घकालतक पुत्रहीन रह गये, तब संतानकी इच्छासे पुण्यकर्म करनेके लिये ये वनमें रहने लगे। वहाँ रहते समय सोमयाग करनेसे राजाके एक कन्या हुई। जिसका नाम सत्यवती था। भूतलपर कहीं भी उसके रूप और सौन्दर्यकी तुलना नहीं थी। परमतपमें संलग्न महर्षि ऋचीकने राजा गाधिसे उस कन्याको माँगा। ऋषिकी सामर्थ्यसे सुपरिचित राजा गाधिने यज्ञार्थ शुल्करूपमें एक सहस्र ऐसे घोड़े माँगे, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और वायुके समान वेगवान् हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंगका हो। महर्षि ऋचीकने वरुणदेवतासे एक सहस्र अश्व लेकर राजा गाधिको दे दिये। तब राजा गाधिने अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषितकर भृगुनन्दन ऋचीकको दे दिया। इन्हीं महर्षि ऋचीककी कृपासे राजा गाधिके श्रीविश्वामित्रजी-सरीखे पुत्ररत्न हुए।

राजा गाधि महान् योगी और बड़े भारी तपस्वी थे। वे प्रजाका पुत्रवत् पालन करते थे और प्रजा भी इन्हें साक्षात् भगवद्-रूप समझती थी। इन्होंने अपने राज्यकालमें विविध यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुष भगवान्‌की आराधना की थी। इनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय था। जब इन्होंने अपने पुत्र विश्वामित्रको राज्यपर अभिषिक्त करके शरीरको त्याग देनेका विचार किया, तब सारी प्रजा इनसे नत-मस्तक होकर बोली—प्रभो! आप कहीं न जायँ, यहीं रहकर हमारी इस जगत्‌के महान् भयसे रक्षा करते रहें। राजा गाधिने श्रीविश्वामित्रके सद्‌गुणोंकी प्रशंसा करके प्रजाको आश्वस्त किया और मंगल-मुहूर्तमें विश्वामित्रजीको राजसिंहासनपर बैठाकर स्वयं प्राणायामके द्वारा प्राणोंका उत्क्रमणकर भगवद्धामको चले गये।

महाराज रघु

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, अजमीढ आदि राजा बहुत प्रसिद्ध हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध, पराक्रमी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्हींके नामसे 'रघुवंश' प्रसिद्ध हुआ। इसीलिये सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंशविभूषण, रघुनाथ आदि नाम हुए। ये बड़े धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छत्र सम्राट् हुए। ये प्रजाको बिलकुल कष्ट

नहीं देना चाहते थे, 'राज्यकर' भी ये बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे, उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे।

एक बार ये दरबारमें बैठे थे कि इनके पास कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्घ्यसे उनकी पूजा की। ऋषिकुमारने विधिवत् उनकी पूजा ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये आप लौटे क्यों जा रहे हैं?'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक प्रयोजनसे आपके पास आया था; किंतु मैंने सुना है कि आपने यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी कोई धातुका पात्र नहीं है और आपने मुझे मिट्टीके पात्रसे अर्घ्य दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता।'

राजाने कहा—'नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये; मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।'

स्नातकने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर सांगोपांग वेदोंका अध्ययन किया। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही सन्तुष्ट हैं, मुझे और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।' गुरुजीके यों कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो चौदह लाख सुवर्णमुद्रा लाकर हमें दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया था।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें धनुष-बाणके रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख जाय तो मेरे राज-पाट, धन-वैभवको धिक्कार है। आप बैठिये, मैं कुबेर-लोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको दूँगा।'

महाराजने सेनाको सुसज्जित होनेकी आज्ञा दी। बात-की-बातमें सेना सज गयी। निश्चय हुआ कि कल प्रस्थान होगा। प्रातःकाल कोषाध्यक्षने आकर महाराजसे निवेदन किया कि महाराज! रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोष सुवर्णमुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि सर्वत्र सुवर्णमुद्राएँ भरी हैं। वहाँ जितनी सुवर्णमुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा, ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं, तब उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! मुझे तो केवल चौदह लाख ही चाहिये। इतनी मुद्राओंका मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल कामभरके लिये चाहिये।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होंगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ?'

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे, अन्तमें ऋषिको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको लुटा दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे। अन्तमें महाराज अपने पुत्र अजको राज्य देकर तपस्या करने वनमें चले गये। अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए, जिन्हें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रके पिता होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

श्रीरयजी

ये महाराज पुरूरवाके पुत्र थे। इनकी माता उर्वशी नामकी अप्सरा थी। इनके जय, विजय, आयु, श्रुतायु एवं सत्यायु—ये पाँच भाई और थे। रय अपने सब भाइयोंमें प्रतापी और ज्ञानी थे। इनको भगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त थी। श्रीरयजी परम भागवत थे और भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें मन लगाकर मायासे पार हो गये।

राजर्षि गय

राजर्षि गय महाराज भरतके वंशमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम नक्त और माताका नाम द्रुति था। महाराज गयकी पत्नीका नाम गयन्ती था, जिससे उन्हें चित्ररथ, सुगति और अवरोधन नामक तीन पुत्र प्राप्त हुए। उदारकीर्ति राजर्षिप्रवर गय साक्षात् भगवान् विष्णुके अंश माने जाते थे। महाराज गय प्रजापालन, शासन और यज्ञानुष्ठानादि सभी कर्म निष्काम भावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ करते थे। वे सदा ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंकी चरण-सेवा किया करते थे। इन सबके फलस्वरूप उन्हें भक्तियोगकी प्राप्ति हुई।

वायुपुराणमें गया-माहात्म्यके सन्दर्भमें एक अन्य विष्णुभक्त असुर गयकी कथा आती है, जो इस प्रकार है—

गय अद्भुत असुर था। असुरवंशमें उत्पन्न होनेपर भी उसमें आसुर-भावका लेश भी नहीं था। स्वभावसे अत्यन्त शान्त और भगवान् नारायणका परम भक्त था वह। एक पैरपर खड़े होकर कई सहस्र वर्षपर्यन्त गय निर्जल, निराहार, स्थिर रहकर भगवान् नारायणका ध्यान करता रहा। उसके तेजसे सभी देवता, सूर्य, चन्द्र, अग्नि भी श्रीहत हो गये। भगवान् ब्रह्माको सृष्टि-रक्षाकी चिन्ता हुई।

'महाभाग! तुम तो मुझसे वरदान माँगते नहीं, आज मैं तुमसे याचना करने आया हूँ। मुझे यज्ञ करना है और तुम्हारे शरीर-जैसा पवित्र स्थल उस यज्ञके लिये त्रिभुवनमें नहीं है।'

'मेरे देहपर मेरे आराध्यको सन्तुष्ट करनेके लिये आप यज्ञ करेंगे, इससे अधिक सौभाग्य मेरा क्या होगा?' ब्रह्माजीकी बात पूरी होनेसे पहले ही गय भूमिपर लेट गया और बोला—'आप इसपर यज्ञ करें।'

कुण्ड-वेदिकादि सभी बने और सैकड़ों वर्ष यज्ञ चला, किंतु गयका एक रोम भी नहीं जला। वह श्वास रोके स्थिर पड़ा रहा। यज्ञको समाप्त करना ही था। गय फिर उठ खड़ा होगा—इस भयसे ब्रह्माजीने भगवान् नारायणका स्मरण किया। भगवान्‌ने उसके विभिन्न अंगोंपर देवताओंको स्थापित किया और उसके हृदयदेशपर स्वयं गदा लेकर खड़े हुए।

'मेरे शरीरपर कहीं कोई कैसा भी पिण्डदान करे, उसके पितरोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त हो!' यह वरदान गयने भगवान्‌से माँगा। पूरा गयाक्षेत्र उसके देहपर ही स्थित है।

श्रीशतधन्वाजी

पूर्वकालमें पृथिवीतलपर शतधनु नामसे विख्यात एक राजा था। उसकी पत्नी शैव्या अत्यन्त धर्मपरायणा थी। वह महाभागा पतिव्रता, सत्य-शौच और दयासे युक्त तथा विनय और नीति आदि सम्पूर्ण सुलक्षणोंसे सम्पन्न थी। उस महारानीके साथ राजा शतधनुने परम-समाधिद्वारा सर्वव्यापक, देवदेव श्रीजनार्दनकी आराधना की। वे प्रतिदिन तन्मय होकर अनन्यभावसे होम, जप, दान, उपवास और पूजन आदिद्वारा भगवान्‌की भक्तिपूर्वक आराधना करने लगे। एक दिन कार्तिकी पूर्णिमाको उपवास कर उन दोनों पति-पत्नीने श्रीगंगाजीमें एक साथ ही स्नान करनेके अनन्तर बाहर आनेपर एक पाखण्डीको सामने आता देखा। यह ब्राह्मण उस महात्मा राजाके धनुर्वेदाचार्यका मित्र था; अतः आचार्यके गौरववश राजाने भी उससे मित्रवत् व्यवहार किया। किंतु उसकी पतिव्रता पत्नीने उसका कुछ भी आदर नहीं किया; वह मौन रही और यह

सोचकर कि मैं उपोषिता (उपवासयुक्त) हूँ, उसे देखकर सूर्यका दर्शन किया। फिर उन दोनोंने यथारीति आकर भगवान् विष्णुके पूजा आदिक सम्पूर्ण कर्म विधिपूर्वक किये।

कालान्तर में वह शत्रुजित् राजा मर गया। तब, देवी शैव्याने भी चितारूढ़ महाराजका अनुगमन किया।

राजा शतधनुने उपवास-अवस्थामें पाखण्डीसे वार्तालाप किया था। अतः उस पापके कारण उसने कुत्तेका जन्म लिया तथा उसकी शुभलक्षणा पत्नी शैव्या काशीनरेशकी कन्या हुई, जो सब प्रकारके विज्ञानसे युक्त, सर्वलक्षणसम्पन्ना और जातिस्मरा (पूर्वजन्मका वृत्तान्त जाननेवाली) थी। राजाने उसे किसी वरको देनेकी इच्छा की, किंतु उस सुन्दरीके ही रोक देनेपर वह उसके विवाहादिसे उपरत हो गये।

तब उसने दिव्य दृष्टिसे अपने पतिको श्वान हुआ जान विदिशा नामक नगरमें जाकर उसे वहाँ कुत्तेकी अवस्थामें देखा। अपने महाभाग पतिको श्वानरूपमें देखकर उस सुन्दरीने उसे सत्कारपूर्वक अति उत्तम भोजन कराया। उसके दिये हुए उस अति मधुर और इच्छित अन्नको खाकर वह अपनी जातिके अनुकूल नाना प्रकारकी चाटुता प्रदर्शित करने लगा। उसके चाटुता करनेसे अत्यन्त संकुचित हो उस बालिकाने कुत्सित योनिमें उत्पन्न हुए उस अपने प्रियतमको प्रणामकर उससे इस प्रकार कहा—'महाराज! आप अपनी उस उदारताका स्मरण कीजिये, जिसके कारण आज आप श्वान-योनिको प्राप्त होकर मेरे चाटुकार हुए हैं। हे प्रभो! क्या आपको यह स्मरण नहीं है कि तीर्थस्नानके अनन्तर पाखण्डीसे वार्तालाप करनेके कारण ही आपको यह कुत्सित योनि मिली है?'

काशिराजसुताद्वारा इस प्रकार स्मरण कराये जानेपर उसने बहुत देरतक अपने पूर्वजन्मका चिन्तन किया। तब उसे अति दुर्लभ निर्वेद प्राप्त हुआ। उसने अत्यन्त उदास चित्तसे नगरके बाहर आ प्राण त्याग दिये और फिर श्रृगाल-योनिमें जन्म लिया। तब, काशिराजकन्या दिव्य दृष्टिसे उसे दूसरे जन्ममें श्रृगाल हुआ जान उसे देखनेके लिये कोलाहल-पर्वतपर गयी। वहाँ भी अपने पतिको श्रृगाल-योनिमें उत्पन्न हुआ देख वह सुन्दरी राजकन्या उससे बोली—'हे राजेन्द्र! श्वान-योनिमें जन्म लेनेपर मैंने आपसे जो पाखण्डसे वार्तालापविषयक पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा था, क्या वह आपको स्मरण है?' तब सत्यनिष्ठोंमें श्रेष्ठ राजा शतधनुने उसके इस प्रकार कहनेपर सारा सत्य वृत्तान्त जानकर निराहार रह वनमें अपना शरीर छोड़ दिया।

फिर वह एक भेड़िया हुआ; उस समय भी अनिन्दिता राजकन्याने निर्जन वनमें जाकर अपने पतिको उसके पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण कराया। [उसने कहा—] 'हे महाभाग! तुम भेड़िया नहीं हो, तुम राजा शतधनु हो। तुम [अपने पूर्वजन्मोंमें] क्रमशः कुक्कुर और श्रृगाल होकर अब भेड़िया हुए हो।' इस प्रकार उसके स्मरण करानेपर राजाने जब भेड़ियेके शरीरको छोड़ा तो गृध्र-योनिमें जन्म लिया। उस समय भी उसकी निष्पाप भार्याने उसे फिर बोध कराया—'हे नरेन्द्र! तुम अपने स्वरूपका स्मरण करो; इन गृध्र चेष्टाओंको छोड़ो। पाखण्डीके साथ वार्तालाप करनेके दोषसे ही तुम गृध्र हुए हो।'

फिर दूसरे जन्ममें काक-योनिको प्राप्त होनेपर भी अपने पतिको योगबलसे पाकर उस सुन्दरीने कहा—'प्रभो! जिनके वशीभूत होकर सम्पूर्ण सामन्तगण नाना प्रकारकी वस्तुएँ भेंट करते थे, वही आप आज काक-योनिको प्राप्त होकर बलिभोजी हुए हैं।' इसी प्रकार काक-योनिमें भी पूर्वजन्मका स्मरण कराये जानेपर राजाने अपने प्राण छोड़ दिये और फिर मयूर-योनिमें जन्म लिया।

मयूरावस्थामें भी काशिराजकी कन्या उसे क्षण-क्षणमें अति सुन्दर मयूरोचित आहार देती हुई उसकी टहल करने लगी। उस समय राजा जनकने अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया; उस यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय उस मयूरको स्नान कराया। तब उस सुन्दरीने स्वयं भी स्नानकर राजाको यह स्मरण कराया

कि किस प्रकार उसने श्वान और शृगाल आदि योनियाँ ग्रहण की थीं। अपनी जन्म-परम्पराका स्मरण होनेपर उसने अपना शरीर त्याग दिया और फिर महात्मा जनकजीके यहाँ ही पुत्ररूपसे जन्म लिया।

तब उस सुन्दरीने अपने पिताको विवाहके लिये प्रेरित किया। उसकी प्रेरणासे राजाने उसके स्वयंवरका आयोजन किया। स्वयंवर होनेपर उस राजकन्याने स्वयंवरमें आये हुए अपने उस पतिको फिर पतिभावसे वरण कर लिया। उस राजकुमारने काशिराजसुताके साथ नाना प्रकारके भोग भोगे और फिर पिताके परलोकवासी होनेपर विदेहनगरका राज्य किया। उसने बहुत-से यज्ञ किये, याचकोंको नाना प्रकारसे दान दिये, बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये और शत्रुओंके साथ अनेकों युद्ध किये। इस प्रकार उस राजाने पृथिवीका न्यायानुकूल पालन करते हुए राज्य-भोग किया और अन्तमें अपने प्रिय प्राणोंको धर्मयुद्धमें छोड़ा। तब उस सुलोचनाने पहलेके समान फिर अपने चितारूढ पतिका विधिपूर्वक प्रसन्न-मनसे अनुगमन किया। इससे वह राजा उस राजकन्याके सहित इन्द्रलोकसे भी उत्कृष्ट अक्षय लोकोंको प्राप्त हुआ।

इस प्रकार शुद्ध हो जानेपर उसने अतुलनीय अक्षय स्वर्ग, अति दुर्लभ दाम्पत्य और अपने पूर्वार्जित सम्पूर्ण पुण्यका फल प्राप्त कर लिया। (श्रीविष्णुपुराण ३।१८।५३—९५)

श्रीअमूर्तजी

श्रीअमूर्तजी परम निष्ठावान् भक्त थे। इनको हरिदासजी भी कहते हैं। ये रात-दिन भगवान्‌के ध्यानमें लीन रहा करते थे। इनकी बाल्यकालसे ही भगवान्‌में सहज प्रीति थी।

महाराज रन्तिदेव

चन्द्रवंशी राजा दुष्यन्तके वंशमें संकृति नामके एक राजा थे। राजा संकृतिके दो पुत्र थे—गुरु और रन्तिदेव। इनमें रन्तिदेव बड़े ही न्यायशील, धर्मात्मा और दयालु थे। दूसरोंकी दरिद्रता देखना उनसे सहा ही नहीं जाता था। अपनी सारी सम्पत्ति उन्होंने दीन-दुःखियोंको बाँट दी थी और स्वयं बड़ी कठिनतासे निर्वाह करते थे। ऐसी दशामें भी उन्हें जो कुछ मिल जाता था, उसे दूसरोंको दे देते थे और स्वयं भूखे ही रह जाते थे।

एक बार रन्तिदेव तथा उनके पूरे परिवारको अड़तालिस दिनोंतक, भोजनकी तो कौन कहे, पीनेको जल भी नहीं मिला। देशमें घोर अकाल पड़ जानेसे जल मिलना भी दुर्लभ हो गया था। भूख-प्याससे राजा तथा उनका परिवार—सब-के-सब मरणासन्न हो गये। उनचासवें दिन कहींसे उनको घी, खीर, हलवा और जल मिला। अड़तालीस दिनोंके निर्जल व्रती थे वे। उनका शरीर काँप रहा था। कण्ठ सूख गया था। शरीरमें उठनेकी शक्ति नहीं थी। ऐसी दशामें रन्तिदेव भोजन करने जा ही रहे थे कि एक ब्राह्मण अतिथि आ गये। रन्तिदेवने बड़ी श्रद्धासे उन विप्रको उसी अन्नमेंसे भोजन कराया।

विप्रके भोजन कर लेनेपर बचे हुए अन्नको राजाने अपने परिवारके लोगोंमें बाँट दिया। वे सब भोजन करने जा ही रहे थे कि एक शूद्र अतिथि आ गया। उस दरिद्र शूद्रको भी राजाने आदरपूर्वक भोजन करा दिया। अब एक चाण्डाल कई कुत्तोंके साथ आया और कहने लगा—'राजन्! मेरे ये कुत्ते भूखे हैं और मैं भी बहुत भूखा हूँ।'

रन्तिदेवने उन सबका भी सत्कार किया। सभी प्राणियोंमें श्रीहरिको देखनेवाले उन महापुरुषने बचा हुआ सारा अन्न कुत्तों और चाण्डालके लिये दे दिया। अब केवल इतना जल बचा था, जो एक मनुष्यकी प्यास बुझा सके। राजा उससे अपना सूखा कण्ठ गीला करना चाहते थे कि एक और चाण्डाल आकर दीन स्वरसे कहने लगा—'महाराज! मैं बहुत थका हूँ। मुझ अपवित्र नीचको पीनेके लिये थोड़ा पानी दीजिये।'

चाण्डाल थका था और बहुत प्यासा था। उसकी वाणी बड़े परिश्रमसे निकलती जान पड़ी थी।

उसकी दशा देखकर राजाको बड़ी दया आयी। स्वयं प्यासके मारे मरणासन्न रहनेपर भी परम दयालु राजा रन्तिदेवने वह जल आदर एवं प्रसन्नताके साथ चाण्डालको पिला दिया।

भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले त्रिभुवनके स्वामी ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही रन्तिदेवकी परीक्षाके लिये इन रूपोंमें आये थे। राजाका धैर्य देखकर वे प्रकट हो गये। राजाने उनको प्रणाम किया, उनका पूजन किया। बहुत कहनेपर भी रन्तिदेवने कोई वरदान नहीं माँगा। जैसे जगनेपर स्वप्न लीन हो जाता है, वैसे ही भगवान् वासुदेवमें चित्तको तन्मय कर देनेसे राजा रन्तिदेवके सामनेसे त्रिगुणमयी माया लीन हो गयी। रन्तिदेवके प्रभावसे उनके परिवारके सब लोग भी नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हुए।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज रन्तिदेवकी उपर्युक्त कथाका अपने निम्न कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अहो रन्तिदेव नृप सन्त दुसयन्त वंश अति ही प्रशंस सो अकाश वृत्ति लई है।
भूखे को न देखि सकैं आवै सो उठाइ देत नेति नहिं करैं भूखे देह छीन भई है॥
चालिस औ आठ दिन पीछे जल अन्न आयो दियो विप्र शूद्र नीच श्वान यह नई है।
हरि कों निहारैं उन माँझ तब आए प्रभु भाए जग दुःख जिते भोगौं भक्ति छई है॥ ९४॥

गुरुभक्त उत्तंक

गुरुभक्त उत्तंक आचार्य वेदके शिष्य थे। एक बार राजा जनमेजय और पौष्यने आचार्य वेदको पुरोहितके रूपमें वरण किया। वेद कभी पुरोहितीके कामसे बाहर जाते तो घरकी देखरेखके लिये अपने शिष्य उत्तंकको नियुक्त कर जाते थे। एक बार आचार्य वेदने बाहरसे लौटकर अपने शिष्य उत्तंकके सदाचार-पालनकी बड़ी प्रशंसा सुनी, तो उन्होंने कहा—'बेटा! तुमने धर्मपर दृढ़ रहकर मेरी बड़ी सेवा की है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई, तुम अब जाओ।' उत्तंकने प्रार्थना की, 'आचार्य! मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु भेंटमें दूँ?' आचार्यने पहले तो अस्वीकार किया, पीछे कहा कि 'अपनी गुरुमातासे पूछ लो।' जब उत्तंकने गुरुमातासे पूछा तो उन्होंने कहा, 'तुम राजा पौष्यके पास जाओ और उनकी रानीके कानोंके कुण्डल माँग लाओ। मैं आजके चौथे दिन उन्हें पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ।'

उत्तंक बड़ी कठिनाईसे राजा पौष्यके पास पहुँचे और शुद्धहृदय हो, उनकी आज्ञा ले अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए। रानीने उत्तंकको सत्पात्र समझकर अपने कुंडल दे दिये। साथ ही यह कहकर सावधान भी कर दिया कि नागराज तक्षक ये कुण्डल चाहता है। कहीं तुम्हारी असावधानीसे लाभ उठाकर वह ले न जाय!

मार्गमें चलते समय उत्तंकने देखा कि उसके पीछे-पीछे एक नग्न क्षपणक चल रहा है, वह कभी प्रकट होता है और कभी छिप जाता है। एक बार उत्तंकने कुण्डल रखकर जल लेनेकी चेष्टा की। इतनेमें ही वह क्षपणक कुण्डल लेकर अदृश्य हो गया। नागराज तक्षक ही उस वेषमें आया था। उत्तंकने इन्द्रके वज्रकी सहायतासे नागलोकतक उसका पीछा किया। अन्तमें भयभीत होकर तक्षकने उसे कुण्डल दे दिये। उत्तंक ठीक समयपर अपनी गुरुमाताके पास पहुँचा और उन्हें कुण्डल देकर आशीर्वाद प्राप्त किया। ऐसे आदर्श गुरुभक्त शिष्य थे उत्तंक!

× × ×

एक अन्य भक्त मुनि उत्तंकके विषयमें निम्नलिखित कथा भी प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है—

सौवीर नगरमें एक सुन्दर बगीचा था। उसमें एक बड़ा भव्य एवं विशाल विष्णुभगवान्‌का मन्दिर था। महात्मा उत्तंक उस बगीचेमें रहकर मन्दिरमें भगवान् विष्णुकी पूजा किया करते थे। वे भगवान्‌की सेवामें रात-दिन लगे

रहनेवाले, परम शान्त, निःस्पृह, दयालु और महात्मा थे।

एक दिन कणिक नामका व्याध-डाकू मन्दिरके सामनेसे निकलकर जा रहा था। उसकी दृष्टि मन्दिरके ऊपर लगे हुए स्वर्ण-कलशपर पड़ी। उसे देखकर कणिकने अनुमान लगाया कि मन्दिरके अन्दर अपार धन-सम्पत्ति होगी। रातमें वह मन्दिरमें घुस गया। महात्मा उत्तंक उस समय भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न होकर उनका भजन कर रहे थे। डाकूने देखा कि जागते हुए व्यक्तिके सामनेसे धन ले जाना बड़ा मुश्किल है, अतः उसने एक हाथसे उनकी चोटी पकड़ी और दूसरे हाथमें तलवार लेकर उनका मस्तक काटनेको तैयार हो गया। तब बड़े मीठे शब्दोंमें उत्तंकने डाकूसे कहा—भद्र! मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है, जो तुम मुझको मारनेको उद्यत हो? मुनि उत्तंककी अमृतमयी वाणीका प्रभाव डाकूपर ऐसा पड़ा कि उसका हृदय बिलकुल पलट गया। पहले किये पापोंका पश्चात्ताप करके वह क्षमा माँगते हुए रोने लगा। जब वह इस पश्चात्तापकी जलनको न सह सका तो उसने अपने प्राणोंको त्याग दिया। तब मुनिने भगवान्‌का चरणामृत उसके मृत शरीरपर डाला। उस दिव्य भगवच्चरणामृतके स्पर्शसे डाकूका उद्धार हो गया, मुनि पुनः भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन रहने लगे। समय आनेपर वे भी दिव्यरूप धारणकर भगवद्धाममें चले गये।

श्रीभूरिश्रवाजी

कुरुकुलकी कीर्तिको बढ़ानेवाले श्रीभूरिश्रवाजी महाराज शान्तनुके ज्येष्ठभ्राता बाह्लीकके पौत्र और सोमदत्तके पुत्र थे। नरश्रेष्ठ सोमदत्तकी दीर्घकालीन आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उन्हें पुत्र-प्राप्तिका वरदान दिया था, जिसके प्रभावसे इन्हें महान् तेजस्वी, महारथी और यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भूरिश्रवासदृश पुत्रकी प्राप्ति हुई थी। भूरिश्रवाने अनेक महान् यज्ञ किये थे और उनमें हजारों स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा दी थी। यद्यपि भूरिश्रवा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और शल्यकी भाँति कौरव पक्षसे युद्ध कर रहे थे, परंतु ये इस विनाशकारी युद्धके पक्षमें नहीं थे, इन्होंने पाण्डवोंके बल-पराक्रमका वर्णनकर दुर्योधनको सन्धि करनेकी सलाह दी थी। शत्रुपक्षी होते हुए भी अर्जुन और श्रीकृष्णने इनके भगवद्भावकी बड़ी प्रशंसा की। परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते हुए इनकी मृत्यु हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णने इनकी मृत्युका सम्मान करते हुए इन्हें इस प्रकार वर दिया—

ये लोका मम विमलाः सकृद् विभाता
ब्रह्माद्यैः सुरवृषभैरपीष्यमाणाः।
तान् क्षिप्रं व्रज सतताग्निहोत्रयाजिन्
मत्तुल्यो भव गरुडोत्तमाङ्गयानः॥

(महा० द्रोण० १४३।४८)

अर्थात् निरन्तर अग्निहोत्रद्वारा यजन करनेवाले भूरिश्रवाजी! मेरे जो निरन्तर प्रकाशित होनेवाले निर्मल लोक हैं और ब्रह्मा आदि देवेश्वर भी जहाँ जानेकी सदैव अभिलाषा रखते हैं, उन्हीं लोकोंमें आप शीघ्र पधारिये और मेरे ही समान गरुडकी पीठपर बैठकर विचरण करनेवाले होइये।

महर्षि देवल

महर्षि देवल ब्रह्माजीके प्रपौत्र हैं। प्रचेताके पुत्र महर्षि असित ने सौ वर्षतक भगवान् शिवसे प्राप्त भगवती राधिकाके मन्त्रका जपकर उन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त किया था। महर्षि देवलने साठ हजार वर्षोंतक निराहार रहकर तपस्या की, इससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णने भगवती राधिकासहित उन्हें दर्शन दिये। भक्तश्रेष्ठ देवलने उनकी स्तुति करते हुए उनके चरणोंमें गिरकर प्राण त्याग दिये। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उनका दाह-संस्कार

किया और राधाजीसे कहा कि इनसे बड़ा मेरा भक्त न हुआ है न होगा। महर्षि देवलकी गणना अत्यन्त प्राचीन धर्मशास्त्रकारोंमें की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महर्षियोंमें महर्षि असित एवं देवलका नाम बड़े ही आदरभावसे लिया गया है—'**असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥**' (गीता १०। १३)

श्रीवैवस्वत मनुजी

विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञा भगवान् सूर्यकी पत्नी हैं। उनके गर्भसे वैवस्वत मनुका जन्म हुआ, जो परम विख्यात यशस्वी और अनेक विषयोंके परिज्ञानमें पारंगत थे। विवस्वान् (सूर्य)-के पुत्र होनेके कारण ही ये वैवस्वत कहलाये। पिता भगवान् सूर्यने इन्हें भगवान्से प्राप्त गुह्यतम ज्ञानकी शिक्षा दी थी, जिसका वर्णन गीताके चतुर्थ अध्यायमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने किया है। ये भगवान्के बड़े भक्त थे। इन्होंने बदरिकाश्रममें जाकर दोनों बाहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़े होकर दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। ये चौदह मनुओंमें सातवें मनु हैं। वर्तमान मन्वन्तराधिपति ये ही हैं। समस्त पुण्य कार्योंमें इनका पावन स्मरण '**सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे**' कहकर संकल्पमें किया जाता है। भागवतके अनुसार राजर्षि सत्यव्रत ही वैवस्वत मनु हुए हैं, जिन्हें ब्राह्म कल्पमें भगवान्ने मत्स्य-अवतार लेकर मत्स्यपुराणके रूपमें भगवत्तत्त्वका ज्ञान दिया था।

राजर्षि नहुषजी

महाराज नहुष महान् तेजस्वी, यशस्वी, धर्मिष्ठ और दानी थे। देवराज इन्द्र जब वृत्रासुरका वध करनेसे ब्रह्महत्याद्वारा पीड़ित होकर जलमें छिपे रहे तो चारों ओर अराजकता छा गयी, तब देवताओंने राजा नहुषको इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित किया।

नहुषने एक दिन इन्द्राणीको देखा तो उनका चित्त दूषित हो गया और उन्होंने आज्ञा दी कि शची देवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें। इन्द्राणी भयभीत तथा चिन्तातुर हो गयीं, वे अपने स्वामी तथा इन्द्रका पता लगाकर उनके पास गयीं और सब वृत्तान्त कह सुनाया तथा पातिव्रत्यकी रक्षा चाही। इन्द्रने यह उपाय बताया कि तुम एकान्तमें नहुषसे मिलकर कहो कि तुम मुझसे मिलनेके लिये ऋषीश्वरोंकी दिव्य सवारीपर चढ़कर आओ। तब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे अधीन हो जाऊँगी। शचीने ऐसा ही किया। नहुष सहर्ष तैयार हो गये और देवर्षियों तथा महर्षियोंसे पालकी उठवाकर इन्द्राणीके पास चले। नहुष 'सर्प-सर्प' अर्थात् 'जल्दी चलो-जल्दी चलो' इस प्रकार कहकर ऋषियोंको शासित कर रहा था। परंतु पालकी ढोनेके अनभ्यस्त ऋषिगण धीरे-धीरे ही चल रहे थे। क्रोधान्ध हो नहुषने श्रीअगस्त्यजीके सिरपर लात चलायी। श्रीअगस्त्यजीने शाप दे दिया कि तूने अधर्मसे व्याप्त होकर मेरे सिरमें पैरकी ठोकर मारी, अतः तू हततेज होकर पृथ्वीपर गिर और दस हजार वर्षतक अजगर बना रहे। नहुषका कामका नशा उतर गया और अत्यन्त दीन होकर मुनिश्रेष्ठ श्रीअगस्त्यजीसे प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे शापका अन्त नियत कर दीजिये। तब श्रीअगस्त्यजीने कहा कि जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर दे दे, वही तुम्हें शापसे छुड़ा सकता है। राजन्! जिसे तुम पकड़ लोगे, वह बलवान्से भी बलवान् क्यों न हों, उसका भी धैर्य छूट जायगा। तत्पश्चात् राजा नहुष अजगर होकर पृथ्वीपर गिर पड़े।

जब पाण्डव जुएमें हारकर वनवास कर रहे थे। उस समय द्वैतवनमें एक दिन भीमसेन नहुष (अजगर)-की पकड़में आ गये। लाख प्रयत्न करनेपर भी महाबली भीम अपनेको छुड़ानेमें जब समर्थ नहीं हो सके, तब उनको खोजते-खोजते धर्मराज युधिष्ठिरजी वहाँ पहुँचे। श्रीधर्मराजने अजगरसे भीमको छोड़ देनेके लिये बहुत प्रार्थना की। अजगरने कहा—यदि तुम मेरे पूछे हुए कुछ प्रश्नोंका अभी उत्तर दे दोगे तो मैं तुम्हारे भाईको छोड़ दूँगा। श्रीयुधिष्ठिरजीकी अनुमति पाकर अजगरने पूछा—राजन्! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है? जाननेयोग्य तत्त्व क्या है? श्रीयुधिष्ठिरजीने कहा—नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता,

क्रौर्याभाव, तपस्या और दया—ये सद्गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है तथा जाननेयोग्य तत्त्व तो परब्रह्म ही कहा गया है। अजगरने कहा—'युधिष्ठिर! तुम जाननेयोग्य सभी बातें जानते हो। तुम्हारे शुभागमनसे मेरे लिये यह महान् पुण्यकाल उपस्थित हो गया है, अब इस घोर तमोमयी योनिसे मेरा उद्धार हो गया है।' यह कहते हुए राजा नहुषने अजगरका शरीर त्याग दिया और वे दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गलोकको चले गये।

राजर्षि ययाति

राजा नहुषके यति, ययाति, संयाति, आयाति, वियाति और कृति नामक छः महाबलविक्रमशाली पुत्र हुए। यतिने राज्यकी इच्छा नहीं की, इसलिये ययाति ही राजा हुए। ययातिने शुक्राचार्यजीकी पुत्री देवयानी और वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठासे विवाह किया था। देवयानीने यदु और तुर्वसुको जन्म दिया तथा वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु और पूरुको उत्पन्न किया।

ययातिको शुक्राचार्यजीके शापसे युवावस्थामें ही बुढ़ापेने घेर लिया था, किंतु उनकी विषय-कामना शान्त नहीं हुई थी, उन्होंने पुत्रोंसे वृद्धावस्था लेकर उनकी युवावस्थाको ग्रहण करना चाहा, किंतु प्रत्येकके अस्वीकार करनेपर उन्होंने उन सभीको शाप दे दिया। अन्तमें सबसे छोटे शर्मिष्ठाके पुत्र पूरुसे भी वही बात कही तो उसने अति नम्रता और आदरके साथ पिताको प्रणाम करके उदारतापूर्वक कहा—'यह तो हमारे ऊपर आपका महान् अनुग्रह है।' ऐसा कहकर पूरुने अपने पिताकी वृद्धावस्था ग्रहणकर उन्हें अपनी युवावस्था दे दी।

राजा ययातिने पूरुकी युवावस्था लेकर समयानुसार प्राप्त हुए यथेच्छ विषयोंको अपने उत्साहके अनुसार धर्मपूर्वक भोगा और अपनी प्रजाका भली प्रकार पालन किया। फिर शर्मिष्ठा और देवयानीके साथ विविध भोगोंको भोगते हुए 'मैं कामनाओंका अन्त कर दूँगा'—ऐसा सोचते-सोचते वे क्षुब्धचित्त हो गये, अन्तमें उन्होंने इस प्रकार अपना उद्गार प्रकट किया—

'भोगोंकी तृष्णा उनके भोगनेसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृताहुतिसे अग्निके समान वह बढ़ती ही जाती है। सम्पूर्ण पृथ्वीमें जितने भी धान्य, यव, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं, इसलिये तृष्णाको सर्वथा त्याग देना चाहिये। जिस समय कोई पुरुष किसी भी प्राणीके लिये पापमयी भावना नहीं करता, उस समय उस समदर्शीके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। दुर्मतियोंके लिये जो अत्यन्त दुस्त्यज है तथा वृद्धावस्थामें भी जो शिथिल नहीं होती, बुद्धिमान् पुरुष उस तृष्णाको त्यागकर सुखसे परिपूर्ण हो जाता है। अवस्थाके जीर्ण होनेपर केश और दाँत तो जीर्ण हो जाते हैं; किंतु जीवन और धनकी आशाएँ उसके जीर्ण होनेपर भी जीर्ण नहीं होतीं*। बड़े दुःखका विषय है, विषयोंमें आसक्त रहते हुए मुझे एक सहस्र वर्ष बीत गया, फिर भी नित्य ही उनमें मेरी कामना होती है। अतः अब मैं इसे छोड़कर अपने चित्तको भगवान्‌में ही स्थिरकर निर्द्वन्द्व और निर्मम होकर वनमें विचरूँगा।'

ऐसा कहकर राजा ययातिने पूरुसे अपनी वृद्धावस्था वापस लेकर उसकी युवावस्था लौटा दी। स्वयं वनको चले गये।

---

* न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्। समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वास्सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। तां तृष्णां सन्त्यजेत्प्राज्ञस्सुखेनैवाभिपूर्यते॥
जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यतः॥ (वि० पु० ४। १०। २३—२७)

महाराज दिलीप

इक्ष्वाकुवंशमें महाराज दिलीप बड़े ही प्रसिद्ध राजर्षि हो गये हैं। वे बड़े भक्त, धर्मात्मा और प्रजापालक राजा थे। चारों वर्ण उनके शासनसे सन्तुष्ट थे। महाराजको सभी प्रकारके सुख थे, किंतु उनके कोई संतान नहीं थी। एक बार ये इसके लिये अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठजीके आश्रमपर गये और अपने आनेका कारण बताकर उनसे उपाय पूछा।

महर्षि वसिष्ठने दिव्यदृष्टिसे सब बातें समझकर कहा—'राजन्! आप एक बार देवासुर-संग्राममें गये थे। वहाँसे लौटकर जब आप आ रहे थे, तब रास्तेमें आपको सुरनन्दिनी कामधेनु मिली। आपके सामने होनेपर भी आपकी दृष्टि उनपर नहीं पड़ी, इसलिये आपने उन्हें प्रणाम नहीं किया। कामधेनुने इसे अविनय समझकर आपको संतानहीनताका शाप दे दिया। अतः अब आप गो-सेवा करें। भगवान्‌ने चाहा तो आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा।'

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर महाराज अपनी महारानीके सहित गौकी सेवामें लग गये। अनन्य गोसेवाके प्रभावसे यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे विख्यात हुआ।

श्रीपूरुजी

श्रीपूरुजी पौरव वंशके प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इनका गुरुजनोंके प्रति बड़ा आदर भाव था। जिस समय इनके पिता राजा ययाति अपनी वृद्धावस्थाके बदले पुत्रोंसे उनकी युवावस्था माँग रहे थे और सभी पुत्रोंने अस्वीकार कर दिया। तब राजाने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरुसे कहा। उस समय पूरुने '**गुरोराज्ञागरीयसी**' का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है। यथा—

गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम्।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः॥
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥

(म० भा०)

गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन मनुष्योंके लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करनेवाला है। गुरुके ही प्रसादसे इन्द्रने तीनों लोकोंका शासन किया है। गुरुस्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। यह कहकर पूरुने सहर्ष अपनी युवावस्था पिताको देकर बदलेमें उनके बुढ़ापेको स्वीकार कर लिया, जिससे कि महान् यशके भागी हुए। इनको गुरुजनोंकी कृपासे परावर तत्त्वका ज्ञान था। इस कारण ये जगत्प्रपंचसे सर्वथा अनासक्त रहे। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने इनका पितृ-भक्तरूपमें स्मरण किया है। यथा—***'तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ॥'*** पूरुजीके वंशमें बहुतसे राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुए हैं।

श्रीयदुजी

ये राजा ययातिके प्रथम पुत्र थे, जो देवयानीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ये यादववंशके प्रवर्तक राजा हुए। इन्हींके वंशमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ था। ये बड़े धर्मज्ञ तथा धर्मशील थे। यथा—**अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्। कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥** (श्रीमद्भा० ११।७।२५) तथा—**यदोश्च धर्मशीलस्य**'''। यहाँ यदि कोई शंका करे कि इन्होंने तो पिता ययातिकी आज्ञाका उल्लंघन कर दिया था जो कि अधर्म है। फिर इन्हें धर्मवित् या धर्मशील कैसे कहा गया? इसका समाधान यह है कि इन्होंने मुख्य धर्म भगवद्भक्तिको प्राधान्य देकर सामान्य धर्म पित्राज्ञापालनको अस्वीकार

किया था, अतः अधर्म नहीं है। वास्तविक धर्म तो भगवद्भक्ति ही है। यथा—**धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो**……। और पिताकी आज्ञा मानकर जरावस्थाको स्वीकार करनेसे भगवद्भजनमें बाधा पड़ती। जरावस्था साधनोपयोगी नहीं कही गयी है।

अतः इन्होंने पिताकी आज्ञाको नहीं माना। पुनः परम पिता परमात्माकी सेवामें दत्तचित्त यदुने यदि लौकिक पिताके वचनको नहीं माना तो कोई दोष नहीं। सामान्य धर्मसे विशेष धर्म श्रेष्ठ है। पुनः राजा ययातिके आज्ञापालनमें यदुको महान् अनौचित्य यह दिखायी पड़ा कि मुझ पुत्रकी युवावस्थासे माताके साथ भोग-विलास करना चाहते हैं, जो कि सर्वथा धर्मके प्रतिकूल है। पुनः हरिवंशपुराणमें वर्णन आता है कि श्रीयदुजीने किसी ब्राह्मणको उनके अनिर्दिष्ट कार्यकी पूर्तिका वचन दे दिया था। जरावस्थाके अंगीकार करनेपर वह कार्य-सम्पादन असम्भव हो जाता, इसलिये भी पिताकी आज्ञा नहीं मानी। इसमें यदुजीकी ब्रह्मण्यता प्रदर्शित होती है। पुनः यदि श्रीयदुजीने पिताकी एक आज्ञा नहीं मानी तो उसके प्रायश्चित्तके लिये सम्पूर्ण जीवन धर्माचरणमें बिताया और इनकी धर्मशीलताका परम प्रमाण तो यह है कि स्वयं भगवान्‌ने इनके कुलमें जन्म लिया। श्रीयदुजी महाराज भगवान् दत्तात्रेयजीसे ज्ञान प्राप्तकर जीवन्मुक्त हो गये थे।

श्रीगुह निषादजी

ये भगवान् श्रीरामजीके अत्यन्त प्रिय सखा थे। जातिके निषाद एवं शृंगवेरपुरके राजा थे। शिवपुराणमें इनके पूर्वजन्मका प्रसंग प्राप्त होता है। कथा इस प्रकारसे है—एक जंगलमें गुरुद्रुह नामका एक भील रहता था। जीवोंकी हिंसा करना उसका सहज कर्म बन गया था। उसीसे वह परिवारका पालन-पोषण करता था। महाशिवरात्रिका दिन था, वह प्रातःकाल ही शिकारकी टोहमें घरसे निकल पड़ा, परंतु दैवयोगसे उस दिन उसे कुछ नहीं मिला। सन्ध्या हो गयी। घरके लोग भूखे बाट देखते होंगे, अतः अवश्यमेव कुछ लेकर ही लौटना चाहिये। यह विचारकर वह भील एक जलाशयके समीपके बेलके वृक्षपर चढ़ गया। उसके नीचे एक शिवलिंग था। रात्रिके प्रथम प्रहरमें एक हरिणी जल पीनेके लिये जलाशयपर आयी। भील हर्षित होकर अपना धनुष-बाण सँभालने लगा। इसीमें उसके शरीरके हिलनेसे कन्धेपर लटकती हुई जलभरी तूँबीसे कुछ जल छलककर श्रीशिवलिंगपर जा पड़ा तथा धनुष-बाणके संचालनसे बिल्वपत्र भी टूटकर शिवलिंगपर जा पड़ा। इस अचानक सम्पादित हुए सुकृतसे उस भीलका बहुत-सा पाप तत्काल नष्ट हो गया।

इतनेमें हरिणीकी दृष्टि व्याधपर गयी। वह उसके अभिप्रायको समझकर बोली—व्याध! मैं अपने बच्चोंको अपनी बहनको अथवा स्वामीको सौंपकर अभी आती हूँ, फिर तुम मुझे मारकर अपनी उदरपूर्ति कर लेना। मैं शपथपूर्वक कहती हूँ, मेरे वचनोंका विश्वास करो। अकस्मात् सम्पन्न शिवार्चनके पुण्य-प्रभावसे व्याधने दया करके उस हरिणीको छोड़ दिया। थोड़ी देर बाद उसी हरिणीकी बहन दूसरी हरिणी वहीं जल पीनेके लिये आयी। उसके वधका उद्योग करते समय पुनः पूर्ववत् जल और बिल्वदल शिवलिंगपर जा गिरा। इस हरिणीने भी व्याधसे पहली हरिणीके समान ही वार्ता की। व्याधने इसे भी छोड़ दिया। इतनेमें एक हृष्ट-पुष्ट हरिण जलाशयकी ओर आता दिखायी पड़ा। पुनः उसके भी वधोद्योगमें सहज शिवार्चन सम्पन्न हो गया। वधका अभिप्राय समझकर हिरणने भी यह निवेदन किया कि मैं अभी-अभी अपने बच्चोंको उनकी माताके हाथों सौंपकर आता हूँ। व्याध यद्यपि स्वयं बहुत भूखा था, परिवारके लोग अत्यन्त क्षुधार्त होकर उसके आनेकी बाट देख रहे थे, परंतु श्रीशिवजीकी कृपासे उसके समस्त पाप नष्ट हो गये थे, हृदय शुद्ध हो गया था। शिवरात्रिके दिन उसने जो अनायास व्रत एवं शिवार्चन कर लिया था, उसके फलस्वरूप उसे

आशुतोष और औढरदानी शिवकी कृपा प्राप्त हो गयी थी। व्याधने दयापरवश हो मृगको भी छोड़ दिया।

निवास-स्थानपर पहुँचनेपर जब मृग और दोनों मृगियाँ मिलीं तो परस्पर विचार-विमर्शकर उन्होंने यही निर्णय किया कि हम सब लोग मिलकर व्याधके पास चलें, क्योंकि सबने सत्यकी सौगन्ध खायी है। माता-पिताको जाते देख बच्चे भी साथ लग गये। इस मृगसमूहको देखकर व्याधको बड़ा ही हर्ष हुआ और धनुषपर बाण-सन्धान करनेका उपक्रम करने लगा। पुनः जल और बिल्वदल शिवलिंगपर गिरे। उस व्याधके पाप तो पहलेके ही पूजनके प्रभावसे नष्ट हो गये थे। इस बार तो उसे दयाके साथ विवेक भी प्राप्त हो गया। व्याधको सहसा बड़ी ही आत्मग्लानि हुई कि ये पशु होकर भी कितने परमार्थनिष्ठ हैं और मैं मनुष्य होकर भी परमार्थकी कौन कहे, स्वार्थसे भी विमुख रहा। उचित रीतिसे मैं उदरपूर्ति करनेमें भी असमर्थ रहा। धन्य हैं ये मृग और मेरे जीवनको बार-बार धिक्कार है! इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न होनेपर व्याधने अपने बाणोंको रोक लिया और कहा—श्रेष्ठ मृगो! तुम धन्य हो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम जाओ। व्याधके ऐसा कहनेपर भगवान् शिवजीने तत्काल प्रकट होकर अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया और प्रसन्न होकर सुदुर्लभा भक्तिका वरदान देकर बोले—व्याध! एक दिन निश्चय ही भगवान् श्रीराम तुम्हारे घर आयेंगे और तुम्हारे साथ मित्रता करेंगे। वे मृग भी शिवजीका दर्शनकर दिव्यरूप धारणकर दिव्य शिवलोकको चले गये और वह भील भी कालान्तरमें शृंगवेरपुरका राजा निषादराज गुह हुआ, जिसकी श्रीरामजीमें अविचल प्रीति थी। तभी तो कहा गया है—***सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥***

निषादराज गुह और श्रीरामजीके प्रथम मिलनकी बड़ी मधुर कथा सन्त-महानुभाव इस प्रकार वर्णन करते हैं—निषादराजके पितासे और चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजीसे बड़ी मित्रता थी। वे समय-समयपर श्रीअयोध्या आया करते थे। जिस समय श्रीदशरथजीके यहाँ प्रभुका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। लालको बधाई लेकर तो वे स्वयं आये थे और चारों कुमारोंका दर्शनकर परम सुख पाये थे। परंतु एक तो स्वयं जराग्रस्त थे, दूसरे बालक गुह नित्य अयोध्याके लिये मचलता रहता था और जबसे उसने श्रीरामकी शोभाका वर्णन सुना था, तबसे तो वह श्रीअयोध्या जाकर भ्राताओंसहित श्रीरामका दर्शन करनेके लिये विशेष उत्कण्ठित रहने लगा था। आज-कल करते-करते पाँच वर्ष बीत गये। गुह अब कुछ बड़ा भी हो गया था और उधर राजकुमार भी अवधकी गलियोंमें विविध विनोद करते हुए विहरने लगे, तब एक दिन वृद्ध पिताने गुहको श्रीअयोध्या जानेकी आज्ञा दी। गुहके हर्षका पारावार नहीं रहा। भेंटके लिये वन्य कन्द-मूल, फल तथा चारों राजकुमारोंके लिये चार जोड़ी रुरुनामक मृगके चर्मसे बनी हुई सुन्दर पनहियाँ बगलमें दबाये हुए गुह श्रीअयोध्याको चल पड़े, हृदयमें अनेकानेक मधुर भावनाओंको सँजोये हुए। पिताजीके द्वारा सुने हुए राजकुमारोंके सौन्दर्य-माधुर्यका अनुचिन्तन करते हुए गुह श्रीअवधमें आ पहुँचा।

मनमें विचार आया प्रथम श्रीसरयू-स्नान कर लूँ, फिर दरबारमें चलूँ। अत: श्रीसरयूतटपर उपहारकी पोटली रखकर स्नान करने लगा। तबतक क्या देखते हैं कि चार बालक उपहार-पोटली खोल रहे हैं। बालक बड़े सुघर थे, देखते ही मन मोह गया। अतः ऊपरसे तो उन्हें मना करते हैं, परंतु भीतरसे यह हो रहा है कि खोल लो, ले लो, पहन लो, मैं तो आपके लिये ही लाया हूँ। हुआ भी ऐसा ही। गुह मना करते ही रहे बालकोंने पोटली खोल ली, पनहियाँ पहन लीं और केलेके फल लेकर खाते हुए सरजूतटपर विहरने लगे। गुह नाराज भी हो रहा था और प्रसन्न भी। स्नानकर बाहर निकला। वस्त्र बदलकर बालकोंके समीप पहुँचा, कुछ रीझसे, कुछ खीझसे पूछा—आप लोग किसके बालक हैं? आप लोगोंको मालूम नहीं, मैं यह

उपहार चक्रवर्ती महाराज-कुमारोंके लिये लाया था। बालक मधुर मुसकानपूर्वक बोल पड़े—ओ हो! तब तो हमारे लिये ही था। गुहने पूछा—तो क्या महाराज श्रीदशरथजीके राजकुमार आप ही हैं? बालकोंके उत्तर देनेके पूर्व ही गुहका हृदय बोल पड़ा—गुह! सचमुच महाराज श्रीदशरथ-राजकुमार ये ही हैं। तुम्हारे परमाराध्य, प्रिय सखा ये ही हैं। तुम्हारे जीवनधन, प्राण—सर्वस्व यही हैं।

गुहके हृदयके कथनका ही समर्थन बालकोंने भी किया। वे बोले—सखा! महाराजकुमार हम ही हैं। गुहकी आँखें सजल हो गयीं, हाथ जुट गये, शीश झुक गया, चरणोंपर गिरनेके पूर्व ही राजकुमारोंने हाथोंसे थाम लिया। श्रीराम-लक्ष्मणने दाहिना हाथ पकड़ लिया, श्रीभरत-शत्रुघ्नने बायाँ हाथ पकड़ा और लिवा ले चले अपने मित्रको महलकी ओर। गुह गद्गद है कृपाको विचारकर। श्रीचक्रवर्तीजी चकित हैं, सख्य प्रेमको देखकर। राजकुमारोंने पिताजीको प्रणाम किया, गुहने भी साश्रुनयन, पुलकिततन, विह्वलवाणीसे हाथ जोड़कर अभिवादन किया। श्रीरामललाने अपने नये सखाका परिचय दिया, श्रीदशरथजीने जैसे अपने पुत्रोंको हृदयसे लगाया, वैसे ही गुहको भी हृदयसे लगा लिया। श्रीदशरथजीने देखा—राम बड़े प्रसन्न हैं अपने इस सखासे और सखाने भी तन-मन-प्राण न्यौछावर कर दिया है उनके ऊपर। महाराजने रोक लिया गुहको श्रीअयोध्यामें, बहाना यह बनाया कि तुम यहाँ रहकर मेरे पुत्रोंको धनुर्विद्याका अभ्यास कराते रहो, वनमें शिकार खेलना सिखाया करो। गुहके लिये तो मानो—***'जनम रंक जनु पारस पावा।'*** सत्योपाख्यान ग्रन्थमें विस्तारसे राजकुमारोंका गुहके साथ वन-क्रीड़ाका प्रसंग वर्णन किया गया है। यथा—

एक बार श्रीरामजीने अनुज और सखाओंसे कहा कि आज वनमें जो प्रथम शिकार सामने आयेगा, उसपर शर-सन्धान मैं करूँगा। यदि दूसरा कोई वार करेगा तो मैं उसे पिताजीसे कहकर दण्ड दिलाऊँगा। सब लोग सजग हो गये। संयोगकी बात, वनमें पहुँचते ही एक सिंह सामने आ डटा। लोग जहाँके तहाँ खड़े हो गये। श्रीराम शर-सन्धानमें बिलम्ब कर रहे थे, सिंह ऊपर टूटने ही वाला था, अनुज एवं अन्य सखा श्रीरामाज्ञाका पालन करते हुए अपने स्थानपर थे, गुहने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया, जो भी दण्ड मिले मैं सह लूँगा, परंतु मेरी आँखके सामने सिंहके द्वारा कोई अनिष्ट मुझे सह्य नहीं। इन्होंने तत्काल एक सांग चलायी। निशाना सही बैठा, सिंह मारा गया। श्रीरामके हृदयमें भक्तवत्सलता उमड़ रही थी, अन्य सशंक हो रहे थे कि इन्होंने श्रीरामकी आज्ञाका उल्लंघन किया, पता नहीं कौन-सा दण्ड मिलेगा? निषादगुह परम प्रसन्न हो रहा था अपने मित्रको सकुशल देखकर। लोग वन-विहारकर घर लौट आये। सबने देखा—श्रीरामके श्रीमुखसे गुहका गुणगान सुनकर श्रीचक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी अपने हाथका आभूषण गुहके हाथमें पहना रहे हैं, हृदयसे लगा रहे हैं तथा तुरंत ही शृंगवेरपुरके राजा होनेकी घोषणा कर देते हैं। यथा—

एक बार शिकार को राम गये वन में तब आय के सिंह अड़ा।
भरतादिक संग सखा सकुचे सुनि के रघुनाथ के सौह बढ़ा॥
समया पर सेवक ढीठ न जानि निषाद झपट्ट के सांग जड़ा।
शृंगवेर को राज बकस्स दिये पहिराय दियो निज हाथ कड़ा॥

भगवान् श्रीराम जब वन जाते समय शृंगवेरपुर आये तो उस समय निषादराज गुह ही वहाँका राजा था। अपने मित्रको वनवासीके रूपमें देखकर उसे बहुत कष्ट हुआ और उसने हाथ जोड़कर विनय की कि आप इस शृंगवेरपुरका राज्य करें और यहीं रहें, परंतु श्रीरामने उसे माता-पिताकी आज्ञा बताकर अपने वनवासका निश्चय बताया। इस प्रकार निषादराज गुह भगवान् श्रीरामका सच्चा मित्र और भक्त था। श्रीरामके प्रति उसकी इतनी निष्ठा थी कि भरतको सेनासहित आते देखकर वह उनसे युद्धके लिये तैयार हो गया, परंतु जब उसे भरतजीके

आन्तरिक भावका पता चला तो उनका श्रीराम-जैसा ही स्वागत किया। धन्य है निषादराज गुह और धन्य है उसकी सख्यभक्ति!

श्रीप्रियादासजीने निषादराज गुहकी उपर्युक्त प्रेममयी भक्तिका निम्न कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भीलन को राजा गुह राम अभिराम प्रीति भयो वनवास मिल्यो मारग में आइकै।
करौ यह राज जू विराजि सुख दीजै मोको बोले चैन साज तज्यों आज्ञा पितु पाइकै॥
दारुण वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पीछे लोहू जात वह सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि रघुनाथ बिन देखौं कहा? अहा प्रेम रीति मेरे हिये रही छाइ कै॥ ९५॥

वनवासकी लीला समाप्त करके चौदह वर्षोंके बाद पुष्पक विमानपर बैठकर जब श्रीरघुनाथजी आये, तब आपके साथी भीलोंने कहा कि प्रभु पधारे हैं, उनका दर्शन कीजिये, पर श्रीनिषादराजको विश्वास नहीं हो रहा था। वे वियोगसे व्याकुल होते हुए बोले—मैं फिरसे श्रीरामको पाऊँ, ऐसा मेरा भाग्य कहाँ? इतनेमें श्रीरामचन्द्रजी आ गये और प्रेमसे मिलकर बोले कि मैं आ गया, मुझे देखिये। निषादराजने भगवान्‌के श्रीअंगको स्पर्श करके पहचाना और प्रभुसे लिपट गये। स्पर्श प्राप्तकर दिव्य सुखसागरमें डूब गये। उनके गये प्राण मानो पुनः आ गये। निषादराजने अपनेको परम सौभाग्यशाली माना।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

चौदह वरष पीछे आये रघुनाथ नाथ साथ के जे भील कहैं आए प्रभु देखिये।
बोल्यो 'अब पाऊँ कहाँ?' होति न प्रतीति क्यों हूँ प्रीति करि मिले राम कहि मोको पेखिये॥
परसि पिछाने लपटाने सुख सागर समाने प्राण पाये मानो भाग भाल लेखिये।
प्रेम की जू बात क्यों हूँ बानी में समात नाहिं अति अकुलात कहौ कैसे कै विशेखिये॥ ९६॥

श्रीमान्धाताजी

महाराज इक्ष्वाकुके वंशमें एक युवनाश्व नामके परम प्रतापी राजा हुए। राजा युवनाश्वके सौ रानियाँ थीं। परंतु संतान किसीके भी नहीं थी। इसलिये राजा युवनाश्व दुखी होकर अपनी सभी रानियोंके साथ वनमें चले गये। वहाँ ऋषियोंने कृपा करके राजासे पुत्रप्राप्तिके लिये इन्द्रदेवताका यज्ञ कराया। एक दिन राजा युवनाश्वको रात्रिके समय बड़े जोरकी प्यास लगी। वे यज्ञशालामें गये। किंतु वहाँ देखा कि ऋषि लोग सो रहे हैं। तब जल मिलनेका कोई और उपाय न देखकर उन्होंने वह मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल ही पी लिया। जब प्रातःकाल ऋषियोंको मालूम हुआ तो उन लोगोंने भगवदिच्छाको ही प्रधान माना। इसके बाद प्रसवका समय आनेपर युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर एक बालक उत्पन्न हुआ। उसे रोते देखकर ऋषियोंने कहा—यह बालक दूधके लिये रो रहा है। अतः किसका दूध पीयेगा? तब इन्द्रने कहा—मेरा पीयेगा—**'मां धाता'** बेटा! तू रो मत। यह कहकर इन्द्रने अपनी तर्जनी उँगली उसके मुँहमें डाल दी। ब्राह्मणों और देवताओंके प्रसादसे युवनाश्वकी भी मृत्यु नहीं हुई। वे जंगलमें ही तपस्या करके मुक्त हो गये। इन्द्रने उस बालकका नाम रखा त्रसद्दस्यु; क्योंकि रावणादि दस्यु (लुटेरे) उससे भयभीत रहते थे और इन्द्रने जो जन्मके समय कह दिया था—**'मां धाता'** अतः बालक मान्धाता नामसे भी जगत्‌में प्रसिद्ध हुआ। मान्धाताजी चक्रवर्ती राजा हुए। भगवान्‌के तेजसे तेजस्वी होकर उन्होंने अकेले ही सातों द्वीपवाली पृथ्वीका शासन किया। वे यद्यपि आत्मज्ञानी थे तथा कर्मकाण्डकी उन्हें कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी, फिर भी उन्होंने बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यज्ञपुरुष प्रभुकी आराधना की। परमयोगी मुचुकुन्दजी इन्हींके पुत्र थे।

श्रीपिप्पलादजी

ये महर्षि दधीचिके पुत्र थे। जिस समय देवताओंकी याचनापर श्रीदधीचिजीने अपनी अस्थियाँ उनको प्रदान कीं, ऋषि-पत्नी सुवर्चा उस समय आश्रमसे कहीं बाहर गयी हुई थीं। जब वे आश्रममें आयीं और देवताओंकी स्वार्थपरतासे पतिकी मृत्युका समाचार उन्होंने सुना तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उस पतिव्रताने पतिलोक जानेका विचारकर पवित्र लकड़ियोंद्वारा एक चिता तैयार की। उसी समय श्रीशिवजीकी प्रेरणासे आकाशवाणी हुई कि—प्राज्ञे! ऐसा साहस मत करो, तुम्हारे उदरमें मुनिका तेज वर्तमान है। तुम उसे यत्नपूर्वक पहले उत्पन्न करो, पीछे तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करना; क्योंकि शास्त्रका ऐसा आदेश है कि गर्भवतीको सती नहीं होना चाहिये। उसे सुनकर वह मुनिपत्नी क्षणभरके लिये विस्मयमें पड़ गयी। परंतु उस सती साध्वी सुवर्चाको तो पतिलोककी प्राप्ति ही अभीष्ट थी, अतः उसने अपने उदरको विदीर्णकर दिव्य स्वरूपधारी अपने पुत्रको पीपलके समीप रख दिया और स्वयं स्वामीमें चित्त लगाकर अग्निको प्रणामकर चितामें प्रवेश किया और पतिसहित दिव्यलोकको चली गयीं।

पीपलके वृक्षोंने उस बालकका पालन किया था, इसलिये आगे चलकर वह पिप्पलाद नामसे प्रसिद्ध हुआ। ये भगवान् शिवके अंशसे प्रादुर्भूत हुए थे। पिप्पलादजीने उसी अश्वत्थके नीचे लोकोंकी हितकामनासे महान् तप किया था। वह स्थल आज भी पिप्पलतीर्थ एवं अश्वत्थतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। (मा० पु०, शि० पु०) प्रश्नोपनिषद्‌में वर्णन आता है कि भरद्वाजपुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेशीय आश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव और कत्यऋषिके प्रपौत्र कबन्धी—ये सबके सब परब्रह्मकी खोज करते हुए हाथमें समिधा लेकर भगवान् पिप्पलाद ऋषिके पास गये। तब श्रीपिप्पलादजीने उन लोगोंको श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तप करनेको कहा। आपका कथन है—'**तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।**' (प्रश्न०) अर्थात् जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है; उन्हींको ब्रह्मलोक मिलता है।

श्रीनिमिजी

ये महाराज इक्ष्वाकुके पुत्र थे और महर्षि गौतमके आश्रमके समीप वैजयन्त नामक नगर बसाकर वहाँका राज्य करते थे। एक बार निमिने एक सहस्र वर्षमें समाप्त होनेवाले एक यज्ञका आरम्भ किया और उसमें श्रीवसिष्ठजीको ऋत्विजके रूपमें वरण किया। श्रीवसिष्ठजीने कहा कि पाँच सौ वर्षके यज्ञके लिये इन्द्रने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अतः इतने समयतक तुम ठहर जाओ। राजाने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वसिष्ठजीने यह समझकर कि राजाने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्रका यज्ञ कराने चले गये। विचारवान् निमिने यह सोचकर कि शरीर तो क्षणभंगुर है, अतः विलम्ब करना उचित नहीं है, उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओंद्वारा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होते ही, 'मुझे निमिका यज्ञ कराना है' इस विचारसे वसिष्ठजी तुरंत ही आ गये। राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञमें अपने स्थानपर गौतमको होताका कर्म करते देखकर वसिष्ठजीने सोते हुए राजाको शाप दे दिया कि इसने मेरी अवज्ञा करके सम्पूर्ण कर्मका भार गौतमको सौंपा है, इसलिये यह देहहीन हो जाय।

वसिष्ठजीने शाप दिया है, यह जानकर राजा निमिने भी उनको शाप दे दिया कि गुरुने मुझसे बिना बातचीत किये अज्ञानतापूर्वक मुझ सोये हुए को शाप दिया है, इसलिये उनकी भी देह नष्ट हो जायगी। इस प्रकार शाप देकर राजाने शरीर छोड़ दिया। महर्षि गौतम आदिने निमिके शरीरको तैल आदिमें रखकर उसे यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रखा।

यज्ञकी समाप्तिपर जब देवतालोग अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्म शरीरके द्वारा कहा कि देह धारण करनेपर उससे वियोग होनेमें बहुत दुःख होता है। इसलिये मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियोंके नेत्रोंपर मेरा निवास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं।

देवताओंने आशीर्वाद दिया कि राजा निमि बिना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंपर अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीरसे भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा। इसके बाद महर्षियोंने यह सोचकर कि राजाके न रहनेपर लोगोंमें अराजकता फैल जायगी। निमिके शरीरका मन्थन किया, उस मन्थनसे एक कुमार उत्पन्न हुआ। जन्म लेनेके कारण उसका नाम 'जनक' हुआ—विदेहसे उत्पन्न होनेके कारण 'वैदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उसी बालकका नाम 'मिथिल' हुआ। उसीने मिथिलापुरी बसायी। यथा—'**जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥**' (भा०) इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं। मुनियोंके आशीर्वादसे यह वंश सदासे योगी, ज्ञानी और भक्त रहा है। इसी कुलमें श्रीशीरध्वज जनकके यहाँ आदिशक्ति श्रीसीताजीने अवतार लिया था।

श्रीभरद्वाजजी

श्रीभरद्वाजजी श्रीरामचरणकमलानुरागी संत थे। इनकी भगवद्भक्ति लोकप्रसिद्ध है। भगवद्भक्तिका इन्हें आदिस्रोत कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रीरामायणजीकी कथाका प्रचार तो इनके ही द्वारा हुआ। ये श्रीगंगा-यमुनाजीके परम पावन संगमपर प्रयागराजमें रहते थे—

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहि रामपद अति अनुरागा॥

प्रत्येक मकरमें समस्त ऋषि कल्पवास करने आते थे और इन्हींके आश्रममें आकर ठहरते थे। एक बार याज्ञवल्क्य ऋषिको इन्होंने आग्रहपूर्वक कुछ दिनके लिये और रख लिया। रखा था भगवत्कथा सुननेके लिये। इसलिये उनकी विधिवत् पूजा करके बोले—

नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेदतत्त्व सबु तोरें॥
कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा॥
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावनु मारा॥
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥

याज्ञवल्क्यजी सुनकर हँस पड़े। महामुनि भरद्वाज और उन्हें सन्देह! यह तो असम्भव है। जगत्‌के हितके लिये ये रामकथा सुनना चाहते हैं, जिससे सभी रामकथाको बार-बार सुनें। अतः वे हँसकर बोले—***'चतुराई तुम्हारि मैं जानी'***—

चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥

तब याज्ञवल्क्यजीने समस्त कथा सुनायी। वही रामसुरसरिधारा श्रीरामायण हुई, जो त्रैलोक्यको पावन करनेमें समर्थ हुई।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी वनवासके समय सर्वप्रथम इन्हींके आश्रमपर आये। इन्होंने प्रार्थना की कि चौदह वर्षतक यहीं रहिये। भगवान्‌ने कहा—'यहाँसे अवध समीप है, रोज भीड़ लगी रहेगी।' इनकी आज्ञा लेकर

भगवान् इनके बताये हुए स्थान चित्रकूटपर चले गये।

भरतजी जब श्रीरामजीकी खोजमें आये तो इन्होंने उनका इतना भारी स्वागत-सत्कार किया कि वे आश्चर्यमें पड़ गये। श्रीरामजीसे भी अधिक इन्होंने उनका सत्कार किया और स्पष्ट कह दिया—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

भरतजी लज्जित हुए। मुनिने उनपर अनन्त प्रेम दरसाया—*'राम तें अधिक राम कर दासा।'*

महामुनि भरद्वाज श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ऋषि थे। इनकी एक कन्या याज्ञवल्क्यजीको विवाही थी, दूसरी विश्रवामुनिको, जिनके पुत्र कुबेरजी हुए। ये अद्वितीय रामानुरागी थे।

श्रीदक्षजी

'दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः' (भा०) अर्थात् दक्षजी ब्रह्माजीके अँगूठेसे उत्पन्न हुए। स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति दक्षपत्नी हुईं। प्रजापति दक्षने क्षीरसागरके उत्तर तटपर स्थित होकर देवी जगदम्बिकाको पुत्री रूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा तथा उनके प्रत्यक्ष दर्शनकी कामनासे उन्हें हृदयमन्दिरमें विराजमान करके कठिन तप किया। उनकी सात्त्विक आराधनासे सन्तुष्ट होकर पराम्बाने दर्शन देकर पुत्री होनेका वचन दिया, साथ ही यह भी कह दिया कि यदि कभी मेरे प्रति तुम्हारा आदरभाव घट जायगा, तब उसी समय मैं अपने शरीरको त्यागकर अपने स्वरूपमें लीन हो जाऊँगी। दक्ष यह सोचकर बहुत प्रसन्न रहने लगे कि देवी शिवा मेरी पुत्री होनेवाली हैं।

सृष्टिविस्तारार्थ ब्रह्माजीकी आज्ञासे दक्षप्रजापतिने पंचजनप्रजापतिकी असिक्नी नामकी कन्याको पत्नी-रूपमें स्वीकारकर हर्यश्वसंज्ञक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। पिताकी आज्ञासे उत्तम सृष्टिके उद्देश्यसे वे हर्यश्वगण नारायणसरोवरपर जाकर तप करने लगे। इन्हें अधिकारी जानकर देवर्षि नारदजीने आत्मतत्त्वका उपदेश देकर निवृत्तिपरायण बना दिया। तत्पश्चात् दक्षने शबलाश्वसंज्ञक एक हजार पुत्र उत्पन्न किये, परंतु श्रीनारदजीने इन्हें भी पूर्ववत् ही परमार्थ-पथका पथिक बना दिया। अबकी बार दक्षने कुपित होकर श्रीनारदजीको शाप दे दिया कि आजसे तीनों लोकोंमें विचरते हुए तुम्हारा पैर कहीं स्थिर नहीं रहेगा। नारदजीने इसे भगवान्‌की इच्छा ही मानकर शाप शिरोधार्य कर लिया।

श्रीदक्षजीने प्रसूतिके गर्भसे चौबीस कन्याएँ उत्पन्न करके उन्होंने बड़ी प्रथम तेरह कन्याएँ धर्मको ब्याह दीं, शेष ग्यारहमेंसे एक अग्निको, एक शिवको, एक पितृगणको ब्याह दी और अन्य आठ मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, भृगु—इन आठ प्रजापतियोंको ब्याह दीं। प्रसूतिकी कन्याओंद्वारा विशाल वंश-परम्परा त्रिलोकीमें फैल गयी। प्रजाकी वृद्धिका कार्य जैसा दक्षद्वारा हुआ, ऐसा किसीसे न हुआ। इसलिये ब्रह्माजीने इन्हें प्रजापतियोंका नायक बना दिया।

अति प्राचीनकालमें एक बार विश्वस्रष्टाओंने एक यज्ञ किया था, जिसमें समस्त परमर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियोंसहित आकर उपस्थित हुए। जब सूर्यके समान तेजस्वी दक्ष उस समय वहाँ आये तो दक्षको देखकर उनके तेजसे प्रभावित और धर्षितचित्त होकर श्रीशिवजी और ब्रह्माजीको छोड़कर अन्य सभी देवगण, ऋषिगण आदि सदस्यगणोंने अपने आसनोंसे उठकर सम्मान किया। दक्ष अपने पिता ब्रह्माजीको प्रणामकर और उनकी आज्ञा पाकर उनके दिये हुए आसनपर बैठ गये। दक्षने यह देखा कि शिवजी आसनपर बैठे ही रहे, उठकर उन्होंने सम्मान नहीं किया। उनके इस व्यवहारसे अपना अपमान समझकर क्रूर दृष्टिसे उनकी

ओर देखा और इस महासभामें ही उनको बहुत दुर्वचन कहे और पछताने लगे कि मैंने केवल ब्रह्माजीके कहनेसे ही ऐसे पुरुषको अपनी सुन्दरी साध्वी भोली-भाली कन्या दे दी। दुर्वचन कहकर दक्षने श्रीशिवजीको शाप भी दिया कि देवयज्ञोंमें इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवगणोंके साथ वे यज्ञका भाग न पायें। श्रीशिवजी कुछ भी न बोले। शाप देकर अत्यन्त क्रुद्ध हो दक्ष सभासे निकलकर अपने स्थानको चले गये।

यह जानकर कि दक्षने शाप दिया है, नन्दीश्वरको बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको, जिन्होंने दक्षके कुवाक्योंका अनुमोदन किया था, घोर प्रतिशाप दिया कि यह दक्ष देहाभिमानी है, देहको ही आत्मा समझता है, अविद्याको विद्या जानता है। विषय—सुखवासनाओंमें आसक्त होकर कर्मकाण्डमें रत रहता है। अतएव यह जड़ पशु है, पशुओंके समान यह स्त्रीलम्पट हो और इसका मुख शीघ्र बकरेका हो। यह सदा तत्त्वज्ञानसे विमुख रहे। इस प्रकार परस्पर शाप देनेके बाद श्रीशिवजी भी अपने गणोंसहित वहाँसे चल दिये। कालान्तरमें दक्षने रुद्रका अपमान करनेके लिये ही बृहस्पतिसव नामक यज्ञ किया। यज्ञमें शिवका अपमान देखकर सतीने शरीरत्याग कर दिया। सतीके तन-त्यागको सुनकर श्रीशिवके गणोंने दक्षका यज्ञ विध्वंस कर दिया। शिवजीका अपमान करनेवाले देवताओं तथा सदस्योंको समुचित दण्ड दिया। गणनायक वीरभद्रने दक्षके सिरको मरोड़कर धड़से अलगकर यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया, मानो इससे होमकुण्डकी पूर्णाहुति की। अन्तमें यज्ञशालाको जलाकर शम्भुगण कैलासको लौट आये।

श्रीब्रह्माजीकी सलाहसे सभी देवता ब्रह्माजीको भी साथ लेकर कैलासपर गये, स्तुति और प्रार्थना करके भगवान् शिवको प्रसन्न किया। श्रीशिवजीने कहा—

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥

अर्थात् प्रजापते! भगवान्‌की मायासे मोहित हुए दक्ष-जैसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। मैंने तो केवल सावधान करनेके लिये ही थोड़ा-सा दण्ड दे दिया। तत्पश्चात् शिवाज्ञानुसार दक्षके धड़से बकरेका सिर जोड़ दिया गया। श्रीशिवजीकी कृपासे दक्ष सोकर जागे हुए के समान जी उठे। दक्षका हृदय शुद्ध हो चुका था, श्रीशिवके प्रति श्रद्धाका सिन्धु उमड़ पड़ा और बड़े ही विनीत भावसे उन्होंने शिवकी स्तुति की। इसके बाद पुनः यज्ञारम्भ किया गया, जिसमें यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुने साक्षात् प्रकट होकर दक्षको ज्ञानोपदेश देते हुए शिव-ब्रह्मा तथा स्वयंमें तात्त्विक एकताका निरूपण किया। सबने भगवान्‌की स्तुति की। यज्ञ सानन्द सम्पन्न हुआ।

मैंने इस शरीरसे शिवका अपमान किया है—यह विचारकर ग्लानिमें भरकर प्रजापति दक्षने अपना वह शरीर त्यागकर प्रचेतागणकी मारिषा नामकी पत्नीके गर्भसे पुनः जन्म लिया। इन्होंने जन्म लेते ही अपनी कान्तिसे समस्त तेजस्वियोंका तेज छीन लिया। श्रीब्रह्माजीने इन्हें पुनः प्रजापतियोंके नायक पदपर अभिषिक्त कर दिया। ये कर्म करनेमें बड़े दक्ष थे, इसीसे इनका नाम दक्ष हुआ। भगवदराधनपूर्वक इन्होंने सृष्टिका विस्तार एवं संरक्षण किया।

महर्षि श्रीशरभंगजी

तपोभूमि दण्डकारण्य-क्षेत्रमें अनेकानेक ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी ऋषियोंने घोर तपस्याएँ की हैं। कठिन योगाभ्यास एवं प्राणायामादिद्वारा संसारके समस्त पदार्थोंसे आसक्ति, ममता, स्पृहा एवं कामनाका समूल नाश करके अपनी उग्र तपस्याद्वारा समस्त इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करनेवाले अनेकानेक ऋषियोंमेंसे शरभंगजी भी एक थे।

अपनी उत्कट तपस्याद्वारा इन्होंने ब्रह्मलोकपर विजय प्राप्त कर ली थी। देवराज इन्द्र इन्हें सत्कारपूर्वक ब्रह्मलोकतक पहुँचानेके निमित्त आये। इन्होंने देखा कि पृथ्वीसे कुछ ऊपर आकाशमें देवराजका रथ खड़ा है। बहुत-से देवताओंसे घिरे वे उसमें विराजमान हैं। सूर्य एवं अग्निके समान उनकी शोभा है। देवांगनाएँ उनकी स्वर्ण-दण्डिकायुक्त चमरोंसे सेवा कर रही हैं। उनके मस्तकपर श्वेत छत्र शोभायमान है। गन्धर्व, सिद्ध एवं अनेक ब्रह्मर्षि उनकी अनेक उत्तमोत्तम वचनोंद्वारा स्तुति कर रहे हैं। ये इनके साथ ब्रह्मलोककी यात्राके लिये तैयार ही थे कि इन्हें पता चला कि राजीवलोचन कोसलकिशोर श्रीराघवेन्द्र रामभद्र भ्राता लक्ष्मण एवं भगवती श्रीसीताजीसहित इनके आश्रमकी ओर पधार रहे हैं। ज्यों-ही भगवान् श्रीरामके आगमनका शुभ समाचार इनके कानोंमें पहुँचा, त्यों-ही तपःपूत अन्तःकरणमें भक्तिका संचार हो गया। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अहो! लौकिक और वैदिक समस्त धर्मोंका पालन जिन भगवान्‌के चरण-कमलोंकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है—वे ही भगवान् स्वयं जब मेरे आश्रमकी ओर पधार रहे हैं, तब उन्हें छोड़कर ब्रह्मलोकको जाना तो सर्वथा मूर्खता है। ब्रह्मलोकके प्रधान देवता तो मेरे यहाँ ही आ रहे हैं—तब वहाँ जाना निष्प्रयोजनीय ही है। अतः मन-ही-मन यह निश्चयकर कि 'तपस्याके प्रभावसे मैंने जिन-जिन अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, वे सब मैं भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करता हूँ' इन्होंने देवराज इन्द्रको विदा कर दिया।

ऋषि शरभंगजीके अन्तःकरणमें प्रेमजनित विरह-भावका उदय हो गया—

'चितवत पंथ रहेउँ दिन राती।'

वे भगवान् श्रीरामकी अल्प-कालकी प्रतीक्षाको भी युग-युगके समान समझने लगे। 'भगवान् श्रीरामके सम्मुख ही मैं इस नश्वर शरीरका त्याग करूँगा'—इस दृढ़ संकल्पसे वे भगवान् रामकी क्षण-क्षण प्रतीक्षा करने लगे।

कमल-दल-लोचन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीराम इनके आश्रमपर पधारे ही। सीता-लक्ष्मणसहित रघुनन्दनको मुनिवरने देखा। उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया। वे कहने लगे—

चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥

भगवान् श्रीरामको देखते ही प्रेमवश इनके लोचन भगवान्‌के रूप-सुधा-मकरन्दका साग्रह पान करने लगे। इनके नेत्रोंके सम्मुख तो वे थे ही—अपने प्रेमसे इन्होंने उन्हें अपने अन्तःकरणमें भी बैठा लिया—

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हियँ बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम॥

भगवान्‌को अपने अन्तःकरणमें बैठाकर मुनि योगाग्निसे अपने शरीरको जलानेके लिये तत्पर हो गये। योगाग्निने इनके रोम, केश, चमड़ी, हड्डी, मांस और रक्त—सभीको जलाकर भस्म कर डाला। अपने नश्वर शरीरको नष्टकर वे अग्निके समान तेजोमय शरीरसे उत्पन्न हुए। परम तेजस्वी कुमारके रूपमें वे अग्नियों, महात्मा ऋषियों और देवताओंके भी लोकोंको लाँघकर दिव्य धामको चले गये।

श्रीसंजयजी

श्रीमद्भगवद्‌गीतामें संजय प्रधान व्यक्ति हैं। संजयके मुखसे ही श्रीमद्भगवद्‌गीता धृतराष्ट्रने सुनी थी। संजय विद्वान् गावल्गण नामक सूतके पुत्र थे। ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्णके परम भक्त तथा उनको तत्त्वसे जाननेवाले थे।

अर्जुनके साथ संजयकी लड़कपनसे मित्रता थी; इसीसे अर्जुनके उस अन्तःपुरमें, जहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश निषिद्ध था, संजयको प्रवेश करनेका अधिकार था। जिस समय संजय कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके यहाँ गये थे, उस समय अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण अन्तःपुरमें थे। वहीं देवी द्रौपदी और महाभागा सत्यभामाजी भी थीं। संजयने वापस जाकर वहाँका वर्णन सुनाते हुए धृतराष्ट्रसे कहा था—'मैंने अर्जुनके अन्तःपुरमें जाकर देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रखे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं। अर्जुनने बैठनेके लिये एक सोनेका पादपीठ (पैर रखनेकी चौकी) मेरी ओर सरका दी। मैं उसे हाथसे स्पर्श करके जमीनपर बैठ गया। उन दोनों महापुरुषोंको इस प्रकार अत्यन्त प्रेमसे एक आसनपर बैठे देखकर मैं समझ गया कि ये दोनों जिनकी आज्ञामें रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके मनका संकल्प ही पूरा होगा।'

महाभारत-युद्ध आरम्भ होनेसे पूर्व त्रिकालदर्शी भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रके पास जाकर युद्धका अवश्यम्भावी होना बतलाते हुए यह कहा कि 'यदि तुम युद्ध देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ।' धृतराष्ट्रने अपने कुलका नाश देखनेकी अनिच्छा प्रकट की; पर श्रीवेदव्यासजी जानते थे कि इससे युद्धकी बातें जाने-सुने बिना रहा नहीं जायगा। अतएव वे संजयको दिव्य दृष्टि देकर कहने लगे कि 'युद्धकी सब घटनाएँ संजयको मालूम होती रहेंगी, वह दिव्य दृष्टिसे सर्वज्ञ हो जायगा और प्रत्यक्ष-परोक्ष या दिन-रातमें जहाँ जो कोई घटना होगी—यहाँतक कि मनमें चिन्तन की हुई भी सारी बातें संजय जान सकेगा।' (महा० भीष्म० अ० २) तदनुसार संजयने पहले दोनों ओरकी सेनाओंका वर्णन करके फिर गीता सुनाना आरम्भ किया। गीता भीष्मपर्वके २५ वेंसे ४२वें अध्यायतक है। इसके बाद जब कौरवोंके प्रथम सेनापति भीष्मपितामह दस दिनोंतक घमासान युद्ध करके एक लाख महारथियोंको अपार सेनासहित वध करनेके उपरान्त अर्जुनके द्वारा आहत होकर शरशय्यापर पड़ गये, तब संजयने आकर यह समाचार धृतराष्ट्रको सुनाया, तब भीष्मके लिये शोक करते हुए धृतराष्ट्रने संजयसे युद्धका सारा हाल पूछा।

महर्षि व्यास, संजय, विदुर और भीष्म आदि कुछ ही ऐसे महानुभाव थे, जो भगवान् श्रीकृष्णके यथार्थ स्वरूपको पहचानते थे। धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयने कहा था कि 'मैं स्त्री-पुत्रादिके मोहमें पड़कर अविद्याका सेवन नहीं करता, मैं भगवान्‌के अर्पण किये बिना (वृथा) धर्मका आचरण नहीं करता, मैं शुद्ध भाव और भक्तियोगके द्वारा ही जनार्दन श्रीकृष्णके स्वरूपको यथार्थ जानता हूँ।' भगवान्‌का स्वरूप और पराक्रम बतलाते हुए संजयने कहा—'उदारहृदय श्रीवासुदेवके चक्रका मध्यभाग पाँच हाथ विस्तारवाला है, परंतु भगवान्‌के इच्छानुकूल वह चाहे जितना बड़ा हो सकता है। वह तेज-पुंजसे प्रकाशित चक्र सबके सारासार बलकी थाह लेनेके लिये बना है। वह कौरवोंका संहारक है और पाण्डवोंका प्रियतम है। महाबलवान् श्रीकृष्णने लीलासे ही भयानक राक्षस नरकासुर, शंखासुर, अभिमानी कंस और शिशुपालका वध कर दिया था। परम ऐश्वर्यवान् सुन्दर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण मनके संकल्पसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको अपने वशमें कर सकते हैं।...एक ओर सारा जगत् हो और दूसरी ओर अकेले श्रीकृष्ण हों तो साररूपमें वही उस सबसे अधिक ठहरेंगे। वे अपनी इच्छामात्रसे ही जगत्‌को भस्म कर सकते हैं; परंतु उनको भस्म करनेमें सारा विश्व भी समर्थ नहीं है—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

'जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वरविरोधी कार्यमें लज्जा और हृदयकी सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं,

वहीं निःसन्देह विजय है।' सर्वभूतात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण लीलासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गका संचालन किया करते हैं, वे श्रीकृष्ण सब लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंका बहाना करके तुम्हारे अधर्मी मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रभावसे काल-चक्र, जगत्-चक्र और युग-चक्रको सदा घुमाया (बदला) करते हैं। मैं यह सत्य कहता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु और स्थावर-जंगमरूप जगत्के एकमात्र अधीश्वर हैं। जैसे किसान अपने ही बोये हुए खेतको (पक जानेपर) काट लेता है, इसी प्रकार महायोगेश्वर श्रीकृष्ण समस्त जगत्के पालनकर्ता होनेपर भी स्वयं उसके संहारके लिये कर्म करते हैं। वे अपनी महामायाके प्रभावसे सबको मोहित किये रहते हैं, परंतु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे मायासे कभी मोहको प्राप्त नहीं होते।

'ये त्वामेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः।'

इसके बाद धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णके नाम और उनके अर्थ पूछे। तब परम भागवत संजयने कहा—'भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण अपार हैं। मैं जो कुछ सुना-समझा हूँ, वही संक्षेपसे कहता हूँ। श्रीकृष्ण मायासे आवरण करते हैं और सारा जगत् उनमें निवास करता है तथा वे प्रकाशमान हैं—इससे उनको 'वासुदेव' कहते हैं। अथवा सब देवता उनमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है। सर्वव्यापक होनेके कारण उनका नाम 'विष्णु' है। 'मा' यानी आत्माकी उपाधिरूप बुद्धि-वृत्तिको मौन, ध्यान या योगसे दूर कर देते हैं, इससे श्रीकृष्णका नाम 'माधव' है। मधु अर्थात् पृथ्वी आदि तत्त्वोंके संहारकर्ता होनेसे या वे सब तत्त्व इनमें लयको प्राप्त होते हैं, इससे भगवान्‌को 'मधुहा' कहते हैं। मधु नामक दैत्यका वध करनेवाले होनेके कारण श्रीकृष्णका नाम 'मधुसूदन' है। 'कृषि' शब्द सत्तावाचक है और 'ण' सुखवाचक है, इन दोनों धातुओंके अर्थरूप सत्ता और आनन्दके सम्बन्धसे भगवान्‌का नाम 'कृष्ण' हो गया है। अक्षय और अविनाशी परम स्थानका या हृदयकमलका नाम है पुण्डरीक। भगवान् वासुदेव उसमें विराजित रहते हैं और कभी उसका क्षय नहीं होता, इससे भगवान्‌को 'पुण्डरीकाक्ष' कहते हैं। दस्युओंका दलन करते हैं, इससे भगवान्‌का नाम 'जनार्दन' है। वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और सत्त्व उनसे कभी अलग नहीं होता, इससे उनको 'सात्त्वत' कहते हैं। वृषभका अर्थ वेद है और ईक्षणका अर्थ है ज्ञापक अर्थात् वेदके द्वारा भगवान् जाने जाते हैं, इसलिये उनका नाम 'वृषभेक्षण' है। वे किसीके गर्भसे जन्म ग्रहण नहीं करते, इससे उनको 'अज' कहते हैं। इन्द्रियोंमें स्वप्रकाश हैं तथा इन्द्रियोंका अत्यन्त दमन किये हुए हैं, इसलिये भगवान्‌का नाम 'दामोदर' है। हर्ष, स्वरूप-सुख और ऐश्वर्य—तीनों ही भगवान् श्रीकृष्णमें हैं, इसीसे उनको 'हृषीकेश' कहते हैं। अपनी दोनों विशाल भुजाओंसे उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वीको धारण कर रखा है, इसलिये वे 'महाबाहु' कहलाते हैं। वे कभी अधःप्रदेशमें क्षय नहीं होते, यानी संसारमें लिप्त नहीं होते, इसलिये उनका नाम 'अधोक्षज' है। नरोंके आश्रय होनेके कारण उन्हें 'नारायण' कहते हैं। वे सब भूतोंके पूर्ण कर्ता हैं और सभी भूत उन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं, इसलिये उनको 'सर्व' कहा जाता है। श्रीकृष्ण सत्यमें हैं और सत्य उनमें है तथा वे गोविन्द व्यावहारिक सत्यकी अपेक्षा भी परम सत्यरूप हैं, इससे उनका नाम 'सत्य' है। चरणोंद्वारा विश्वको व्याप्त करनेवाले होनेसे 'विष्णु' और सबपर विजय प्राप्त करनेके कारण भगवान्‌को 'जिष्णु' कहते हैं। शाश्वत और अनन्त होनेसे उनका नाम 'अनन्त' है और गो यानी इन्द्रियोंके प्रकाशक होनेसे 'गोविन्द' कहे जाते हैं। वास्तवमें तत्त्वहीन (असत्य) जगत्‌को भगवान् अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे तत्त्व (सत्य)-सा बनाकर सबको मोहित करते हैं।'

यह संजयकी श्रीकृष्णभक्ति और श्रीकृष्ण-तत्त्व-ज्ञानका एक उदाहरण है।

श्रीशमीकजी

परम तपस्वी श्रीशमीकजी वनमें गौओंके रहनेके स्थानमें बैठते थे और गौओंका दूध पीते समय बछड़ोंके मुखसे जो फेन निकलता था, उसीको पीकर निरन्तर तपमें निरत रहते थे। ये परम शान्त, दान्त, तितिक्षु और क्षमाशील सन्त थे। वनमें शिकार खेलनेके लिये गये हुए राजा परीक्षित् भूख-प्याससे व्याकुल होकर इनके आश्रममें आये। परंतु मौन व्रत लेकर समाधिमें स्थित होनेके कारण ऋषिद्वारा राजाका समयोचित समुचित सत्कार न हुआ। क्षुधार्त, तृषार्त, अतः हतविवेक राजा परीक्षित् मुनिकी स्थितिको बिना समझे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो धनुषकी कोरसे ऋषिके गलेमें मृतक सर्पको डालकर घर चले आये। जब ऋषिकुमार शृंगीको यह पता चला तो राजाके व्यवहारसे क्षुभित होकर उसने शाप दे दिया कि—'आजसे सातवें दिन राजा परीक्षित्‌को तक्षक नाग डँस लेगा।' जिस समय ब्रह्मर्षि शमीकको यह सब मालूम हुआ तो उन्होंने पुत्रका अभिनन्दन नहीं किया। उनकी दृष्टिमें परीक्षित् शापके योग्य नहीं थे। उन्होंने कहा—मूर्ख बालक! तूने थोड़ी-सी गलतीके लिये इतना बड़ा शाप देकर बहुत बड़ा अपराध किया। तुझे भगवत् स्वरूप राजाको साधारण मनुष्योंके समान नहीं समझना चाहिये। राजा ईश्वरका अंश होता है। यथा—'**नराणां च नराधिपः।**'

जिस समय राजाका रूप धारण करके भगवान् पृथ्वीपर नहीं दिखायी देंगे, उस समय अराजकतावश निरंकुश प्रजा मनमाना आचरण करने लग जायगी। तब उसके अपराधोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न होनेपर भी वह हमपर लागू होगा। सम्राट् परीक्षित् तो बड़े यशस्वी और धर्मधुरन्धर हैं। उन्होंने बहुतसे अश्वमेध यज्ञ किये हैं और वे भगवान्‌के प्यारे भक्त हैं। वे ही राजर्षि भूख-प्याससे व्याकुल होकर हमारे आश्रमपर आये थे। वे शापके योग्य कदापि नहीं थे, इस नासमझ बालकने हमारे निष्पाप सेवक राजाका अपराध किया है, सर्वात्मा भगवान् कृपा करके इसे क्षमा करें। महामुनि शमीकको पुत्रके अपराधपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। राजा परीक्षित्‌ने जो उनका अपमान किया था, उसपर तो उनका ध्यान ही नहीं गया। यही साधु पुरुषोंके स्वभावकी विशेषता है। तत्पश्चात् महर्षि शमीकने अपने गौरमुख नामवाले परम संयमी शिष्यद्वारा राजाको शापकी सूचना भेजी तथा स्वयं राजाकी मंगलकामना की।

श्रीउत्तानपादजी

महाराज उत्तानपाद स्वायम्भुव मनुके ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी दो रानियाँ थीं—सुनीति और सुरुचि। परम भागवत ध्रुव इन्हीं महाराज उत्तानपादके पुत्र थे। इनका विवरण छन्द ९ में ध्रुवके प्रसंगमें आया है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी

ये ब्रह्माजीके अवतार हैं। एक समयकी बात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजीकी पत्नी सावित्रीजीको आनेमें देर हुई और शुभ मुहूर्त बीता जा रहा था। तब इन्द्रने एक गोपकन्याको लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहणकर यज्ञ आरम्भ कीजिये। परंतु ब्राह्मणी न होनेके कारण उसको ब्रह्माने गौके मुखमें प्रविष्टकर योनिद्वारा निकालकर ब्राह्मणी बना लिया, क्योंकि ब्राह्मणका और गौका कुल शास्त्रमें एक माना गया है। फिर विधिवत् उसका पाणिग्रहणकर उन्होंने यज्ञारम्भ किया। यही गायत्री है। कुछ देरमें सावित्रीजी वहाँ पहुँचीं और ब्रह्माके साथ यज्ञमें दूसरी स्त्रीको बैठे देखकर उन्होंने ब्रह्माजीको शाप दिया कि तुम मनुष्यलोकमें जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना सम्बन्ध ब्रह्मासे तोड़कर वे तपस्या करने चली गयीं। कालान्तरमें ब्रह्माजीने चारण ऋषिके यहाँ जन्म लिया और वहाँ उनका याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होनेपर

वे शापवशात् अत्यन्त कामी हुए, जिससे पिताने उनको घरसे निकाल दिया। पागल-सरीखे भटकते हुए वे चमत्कारपुरमें शाकल्यऋषिके यहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय आनर्त्त देशका राजा चातुर्मास्य व्रत करनेको वहाँ प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजा-पाठके लिये शाकल्यको पुरोहित बनाया। शाकल्यऋषि नित्यप्रति अपने यहाँका एक विद्यार्थी पूजा-पाठ करनेको भेज देते थे।

एक बार याज्ञवल्क्यजीकी बारी आयी। यह पूजा आदि करके जब मन्त्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गये तब वह राजा विषयमें आसक्त था, अतः उसने कहा कि ये लकड़ी जो पास ही पड़ी है, इसपर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोधमें आ, आशीर्वादके मन्त्राक्षत काष्ठपर छोड़कर चले गये, दक्षिणा भी नहीं ली। मन्त्राक्षत पड़ते ही काष्ठमें शाखा-पल्लव आदि हो गये। यह देखकर राजाको बहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे शिरपर पड़ते तो मैं अजर-अमर हो जाता। दूसरे दिन राजाने शाकल्यजीको कहला भेजा कि आज भी उसी शिष्यको भेजिये। परंतु उन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये हम नहीं जायँगे। तब शाकल्यने कुछ दिन और विद्यार्थियोंको भेजा। राजा विद्यार्थियोंसे दूसरे काष्ठपर आशीर्वाद छुड़वा देता। परंतु किसीके मन्त्राक्षतसे काष्ठ हरा-भरा न हुआ। यह देखकर राजाने स्वयं जाकर आग्रह किया कि आप याज्ञवल्क्यको ही भेजें। परंतु इन्होंने साफ जवाब दे दिया। शाकल्यको इसपर क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि—**एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्त्वा चानृणी भवेत्॥** (स्कन्दपुराण) अर्थात् गुरु, जो शिष्यको एक भी अक्षर प्रदान करता है, पृथ्वीमें कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो शिष्य देकर उससे उऋण हो जाय।

उत्तरमें याज्ञवल्क्यजीने कहा—'**गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते॥**' (स्क० पु०) अर्थात् जो गुरु अभिमानी हो, कार्य-अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नहीं)-को नहीं जानता हो, ऐसा दुराचारी, चाहे वह गुरु ही क्यों न हो, उसका परित्याग कर देना चाहिये। तुम हमारे गुरु नहीं, हम तुम्हें छोड़कर जाते हैं। यह सुनकर शाकल्यने अपनी विद्या लौटा देनेको कहा और अभिमन्त्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन कर दो। याज्ञवल्क्यजीने वैसा ही किया। अन्नके साथ वह सब विद्या उगल दी। विद्या निकल जानेसे वे मूढ़बुद्धि हो गये। तब उन्होंने हाटकेश्वरमें जाकर सूर्यकी बारह मूर्तियाँ स्थापित करके सूर्यकी उपासना की। बहुत काल बीतनेपर सूर्यदेव प्रकट हुए और वर माँगनेको कहा। याज्ञवल्क्यजीने प्रार्थना की कि मुझे चारों वेद सांगोपांग पढ़ा दीजिये। सूर्यने कृपा करके इन्हें वह मन्त्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारण कर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीरसे मेरे रथके घोड़ेके कानमें बैठ जाओ, मेरी कृपासे तुम्हें ताप न लगेगा। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम बैठे-बैठे सुनना। इस प्रकार याज्ञवल्क्यने सूर्यसे सांगोपांग चारों वेद पढ़ा। (स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा इस प्रकार है—याज्ञवल्क्यजीने ऋग्वेदसंहिता वाष्कलमुनिसे और वाष्कलने पैलसे सुनी। पैलने श्रीव्यासजीसे पढ़ी थी। इसी प्रकार यजुर्वेदसंहिता व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायनजीसे कही, वैशम्पायनजीसे याज्ञवल्क्यने पढ़ी थी। एक बार वैशम्पायनजीको ब्रह्महत्या लगी। हत्या लगनेका प्रसंग इस प्रकारसे है कि एक बार समस्त ऋषियोंने किसी विषयके सम्बन्धमें विचार करनेके लिये सुमेरुपर्वतपर एक सभा करनेका निश्चय किया। उसमें यह नियम किया कि जो ऋषि उस सभामें सम्मिलित नहीं होगा, उसको सात दिनके लिये ब्रह्महत्या लगेगी। उस दिन वैशम्पायनजीके पिताका श्राद्ध था, इसलिये वे अपनी नित्य क्रियाके लिये अँधेरेमें ही उठकर स्नानको जाने लगे तो एक बालकपर उनका पैर पड़ा और वह मर गया। इस बालहत्याके शोकसे वे सभामें न जा सके। इस प्रकार एक तो उन्हें बालहत्या लगी, दूसरे ब्रह्महत्या।

इन्हीं दोनों हत्याओंके निवारणार्थ वैशम्पायनजीने अपने सब शिष्योंसे प्रायश्चित्त करनेको कहा। तब उनके शिष्य चरकावध्वर्युने हत्या दूर करनेवाले व्रतका आचरण किया।

उस समय याज्ञवल्क्यजीने गुरु श्रीवैशम्पायनजीसे कहा—भगवन्! ये चरकाध्वर्यु ब्राह्मण तो बहुत ही थोड़ी शक्ति रखते हैं। इनके व्रत-पालनसे लाभ ही कितना है? मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित्तके लिये बहुत ही कठिन तप करूँगा। यह सुनकर वैशम्पायनजी रुष्ट होकर बोले—मुझे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले ऐसे शिष्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुमने अबतक मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है, उसका शीघ्रसे शीघ्र त्याग कर दो और यहाँसे शीघ्र चले जाओ। याज्ञवल्क्यजीने यजुः श्रुतियोंको वमन कर दिया और वहाँसे चल दिये। उन वमनरूपसे पड़े हुए यजुर्वेदके अत्यन्त सुरम्य मन्त्रोंको देखकर अन्यान्य मुनियोंने लोलुपतावश तीतरका रूप धरकर उन्हें ग्रहण कर लिया। तीतररूप इसलिये धारण कर लिये कि ब्राह्मणरूपसे वमनको कैसे निगलेंगे? यही कारण है कि वह अत्यन्त मनोहर यजुःशाखा तैत्तिरीय शाखा कहलायी। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्यने वैशम्पायन भी जिनको न जानते हों, ऐसी यजुः श्रुतियोंकी प्राप्तिके लिये सूर्यभगवान्‌की आराधना की। इनकी उपासनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने अश्वरूप धारणकर उनकी कामनानुसार उन्हें वैसी ही यजुः श्रुतियाँ प्रदान कीं। वही वाजसनेय शाखाके नामसे प्रसिद्ध है। वाजसनेयी संहिताके आचार्य होनेसे इनका नाम वाजसनेय भी हुआ।

एक बार मोक्षवित् जनकके पिता देवरातजीने यज्ञ किया। अध्वर्युकर्ममें जो प्रायश्चित्त आदि रहता है, उसे वैशम्पायनजी करा रहे थे। उसके करनेमें कुछ त्रुटि हो जानेसे यज्ञमें कुछ न्यूनता मालूम पड़ी। उस समय याज्ञवल्क्यजीने वैशम्पायनजीको टोका। तब जनक तथा वैशम्पायन दोनोंने इनसे प्रार्थना की कि उसकी पूर्ति करा दें। याज्ञवल्क्यजीने अपने वेदोंसे उस त्रुटिकी पूर्ति करायी। यज्ञ समाप्त होनेपर देवरातजीने जब वैशम्पायनको दक्षिणा दी तब याज्ञवल्क्यजीने उसका विरोध किया और कहा कि यह सब दक्षिणा हमको मिलनी चाहिये न कि वैशम्पायन को; क्योंकि यज्ञकी पूर्ति तो हमने अपने वेदोंसे करायी है, अन्तमें महर्षि देवलने वह दक्षिणा दोनोंमें आधी-आधी बँटवा दी। याज्ञवल्क्यजीने उनके कहनेसे स्वीकार कर लिया।

एक बार देवरातजीके पुत्र मोक्षवित् राजा जनकने ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका समाज एकत्र किया और एक सहस्र सवत्सा गौओंको समलंकृतकर यह प्रतिज्ञा की कि जो ऋषि ब्रह्मनिष्ठ हो, वह हमारे प्रश्नोंका उत्तर दे और इन गौओंको ले जाय। सब ऋषि सोचने लगे कि ब्रह्मनिष्ठ तो हम सभी हैं, तब दूसरोंका अपमान करके हममेंसे कोई एक इन गायोंको कैसे ले जाय, इतनेमें याज्ञवल्क्यजी आये और उन्होंने यह कहते हुए कि मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ, अपने शिष्योंको आज्ञा दी कि इन गौओंको आश्रमपर ले जाओ। मैं इनके प्रश्नोंका उत्तर दूँगा। इसपर अन्य सब ब्रह्मनिष्ठ ऋषि बिगड़ गये। तब इन्होंने सबको परास्त किया। राजा जनक याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हो गये।

श्रीतुलसीदासजीने भी इन्हें परम विवेकी कहा है। यथा—***'जागबलिक मुनि परम बिबेकी।'*** (रा०च०मा० १।४५।४) सूर्यभगवान्‌से समस्त वेद-ज्ञान प्राप्त होनेके बाद लोग आपसे बड़े उत्कट प्रश्न किया करते थे। आपने सूर्यभगवान्‌से शिकायत की, तब उन्होंने वर दिया कि जो कोई तुमसे अतिप्रश्न करेगा तथा तुमसे वाद-विवाद करके तुम्हारे निश्चित किये यथार्थ सिद्धान्तपर भी वितण्डावाद करेगा, उसका सिर फट जायगा। वर्णन आया है कि शाकल्यऋषिने याज्ञवल्क्यजीका उपहास किया तो उनका सिर फट गया था। तभीसे सब लोग इनसे प्रश्न करनेमें डरने लगे। इन्होंने श्रीकाकभुशुण्डिजीसे श्रीरामचरित श्रवण किया है और महर्षि भरद्वाजको सुनाया है। यथा—***तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥*** (रा०च०मा० १।३०।५)

इस प्रकार पृथ्वीपर श्रीरामकथाके प्रचारमें इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

राजर्षि निमि और नौ योगीश्वर

कबि हरि करभाजन भक्ती रत्नाकर भारी।
अंतरिच्छ अरु चमस अननिता पधति उधारी॥
प्रबुध प्रेम की रासि भूरिदा आबिरहोता।
पिप्पल द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता॥
जयंति नंदन जगत के त्रिबिध ताप आमय हरन।
निमि अरु नव जोगेस्वरा पादत्रान की हौं सरन॥ १३॥

मैं राजा निमिजी और नौ योगीश्वरोंकी चरणपादुकाओंकी शरणमें हूँ। कवि, हरि और करभाजनजी भक्तिके अथाह समुद्र हैं। अन्तरिक्ष और चमसजी वैष्णव-उपासनामें अनन्यताकी परिपाटीको चलानेवाले हैं। प्रबुद्धजी प्रेमकी राशि हैं। आविर्होत्रजी ज्ञान और भक्तिके उदार दाता हैं। पिप्पलायनजी और द्रुमिलजी प्राणियोंको भवसागरसे पार करनेवाले प्रसिद्ध जहाज हैं। श्रीऋषभदेवजीकी पत्नी जयन्तीदेवीको आनन्दित करनेवाले उनके ये नौ पुत्र संसारके तीनों तापोंको तथा मानसिक रोगोंको हरनेवाले हैं॥ १३॥

कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ योगीश्वर हैं। ये भगवान् वासुदेवके अंशावतार श्रीऋषभदेवजीके पुत्र हैं। ये महाभागवत और भागवतधर्मके विज्ञाता हुए हैं। श्रीमद्भागवत-महापुराणके एकादश स्कन्धके दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक इनका मिथिलाधिपति राजर्षि निमिसे संवाद वर्णित है, जिसमें इन योगीश्वरोंने महाराज निमिके पूछनेपर उनसे क्रमशः भागवतधर्म, भगवद्भक्तका लक्षण, मायाका स्वरूप, उससे पार होनेका उपाय, परब्रह्म परमात्मा नारायणका स्वरूप, कर्मयोग, भगवान्के अवतार और उनकी लीलाएँ, भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवान्की पूजा-विधिका वर्णन किया।

महाराज निमि और नौ योगीश्वरोंका यह पवित्र संवाद छप्पय १० में भी आया है।

श्रीनिमि और नौ योगीश्वरोंका संवाद

एक बारकी बात है—महाराज निमि बड़े-बड़े ऋषियोंके द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। पूर्वोक्त नौ योगीश्वर (नौ योगीश्वरोंका वर्णन छन्द १० में आया है।) स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञमें जा पहुँचे। सूर्यके समान तेजस्वी, परमानुरागी इन नौ योगीश्वरोंको देखकर राजा निमि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सबके सब स्वागतमें खड़े हो गये तथा उन्होंने प्रेम तथा आनन्दसे भरकर विधिपूर्वक इनकी पूजा की। तत्पश्चात् श्रीनिमिजीने कहा—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। २९)

अर्थात् भगवन्! जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्युका भय सिरपर सवार रहता है; क्योंकि यह क्षणभंगुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्के प्यारे और उनको प्यार करनेवाले भक्तजनोंका, सन्तोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है। हम आप

लोगोंसे यह जानना चाहते हैं कि जीवके परम कल्याणका स्वरूप क्या है और उसका साधन क्या है? तथा कृपा करके भागवतधर्मोंका भी वर्णन कीजिये।

श्रीनिमिके प्रश्नका अभिनन्दन करते हुए श्रीकविजी बोले—

मन्येऽकुतश्चिद् भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३३)

अर्थात् राजन्! भक्तजनोंके हृदयसे कभी दूर न होनेवाले अच्युतभगवान्‌के चरणोंकी नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसारमें परम कल्याण—आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भयशून्य है। ऐसा मेरा निश्चित मत है, देह-गेहादि तुच्छ एवं असत् पदार्थोंमें अहंता एवं ममता हो जानेके कारण जिनकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासनाका अनुष्ठान करनेपर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३६)

अर्थात् कल्याणकामी पुरुष शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३९)

अर्थात् संसारमें भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मंगलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुतसे नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान भी करते रहना चाहिये तथा सर्वत्र आसक्तिशून्य होकर विचरण करते रहना चाहिये।

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

अर्थात् राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं—ऐसा समझकर अनन्य भक्त प्राणि-मात्रको प्रणाम करता है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४२)

अर्थात् जैसे भोजन करनेवालेको प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति—ये तीनों एक साथ हो जाते हैं; वैसे ही जो मनुष्य भगवान्‌की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजनके प्रत्येक क्षणमें भगवान्‌के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभुके स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—इन तीनोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है।

भगवद्भक्तोंके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर श्रीहरिने कहा—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

अर्थात् आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं और साथ ही समस्त प्राणी और समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्में स्थित हैं। इस प्रकारका जिसका अनुभव है, उसे उत्तम भागवत समझना चाहिये।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

अर्थात् बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूँढ़ते रहते हैं—भगवान्के ऐसे चरण-कमलोंसे आधे क्षण, आधे पलके लिये भी जो नहीं हटता, निरन्तर उन चरणोंकी सन्निधि और सेवामें संलग्न रहता है; यहाँतक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नहीं तोड़ता है, उस राज्यलक्ष्मीकी ओर ध्यान नहीं देता, वही पुरुष वास्तवमें भगवद्भक्त वैष्णवोंमें अग्रगण्य है।

श्रीनिमिजीकी जिज्ञासापर श्रीकरभाजनजीने चारों युगोंके ध्येय स्वरूपोंका वर्णन करते हुए कलियुगमें भगवन्नाम-संकीर्तनको सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन बताया है। यही कारण है कि सतयुग, त्रेता और द्वापरकी प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुगमें हो। आपका कथन है कि कलियुगमें भगवत्परायणभक्त बहुत होंगे। यथा—

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।३८)

भगवच्छरणागतिकी महिमा वर्णन करते हुए श्रीकरभाजनजी कहते हैं कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

अर्थात् राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा भेद-बुद्धिका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है; वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है। वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बन्धनमें नहीं रहता।

श्रीअन्तरिक्षजीने मायाका विशद विवेचन किया है। दृश्यमान जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय मायाके ही कार्य हैं। यथा—'**एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी॥**' मायासे मोहित होकर ईश्वरांश, चेतन, अमल, अविनाशी, सहज सुखराशि जीव अनेक प्रकारकी कामनाओंसे युक्त होकर अनेकों कर्म, अकर्म, विकर्म करता है और उनके अनुसार शुभकर्मका फल सुख और अशुभ कर्मका फल दुःख भोगता है और विविध योनियोंमें जन्म लेकर इस संसारमें भटकने लगता है। यथा—'**कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि**

देहभृत्। तत्तत् कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्॥'

श्रीचमसजीने विमुख जीवोंका अध:पतन वर्णन करते हुए उन्हें साधु पुरुषोंकी दयाका पात्र बताया है, यथा—

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥

(श्रीमद्भा० ११।५।१५)

अर्थात् यह शरीर मृतक-शरीर है, इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते हैं। जो लोग इस शरीरसे तो प्रेमकी गाँठ बाँध लेते हैं और दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान् भगवान्से द्वेष करते हैं, उन मूर्खोंका अध:पतन निश्चित है। **'तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्।'** अर्थात् वे आप-जैसे साधु पुरुषोंकी दयाके पात्र हैं।

भगवान्की दुरत्यया मायासे पार पानेके लिये उपाय-निरूपण करते हुए श्रीप्रबुद्धजी कहते हैं कि—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥

(श्रीमद्भा० ११।३।२१-२२)

अर्थात् इसलिये जो परम कल्याणका जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेवकी शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्दब्रह्म—वेदोंके पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे आश्रितको ठीक-ठीक समझा सकें तथा साथ ही परब्रह्ममें परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभवके द्वारा प्राप्त हुई रहस्यकी बातोंको बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, विशेष व्यावहारिक प्रपंचमें प्रवृत्त न हों। जिज्ञासुको चाहिये कि गुरुको ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपट भावसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवत-धर्मकी—भगवान्को प्राप्त करानेवाले भक्ति-भावके साधनोंकी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनोंसे सर्वात्मा और भक्तोंको अपने आत्माका दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं। सन्त-सद्गुरुसमाश्रित साधकको चाहिये कि वह स्वयं राशि-राशि पापोंको नष्ट करनेवाले भगवान् श्रीहरिके महामंगलमय नामोंका स्मरण करे और एक-दूसरेको स्मरण कराये।

इस प्रकार साधन-भक्तिका अनुष्ठान करते-करते प्रेम-भक्तिका उदय हो जाता है, जिससे शरीरमें निरन्तर प्रेमके अष्टसात्त्विक भाव रोमांच आदि बने ही रहते हैं। यथा—**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥** जो इस प्रकार भागवतधर्मोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेमलक्षणा-भक्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायणके पारायण होकर उस मायाको अनायास ही पार हो जाता है, जिसके पंजेसे निकलना बहुत ही कठिन है।

श्रीनिमिजीके कर्मयोगके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर श्रीआविर्होत्रजीने भगवत्सेवा-पूजारूप कर्मको परम कल्याणदायक बताया है। यथा—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३।४७)

अर्थात् जो पुरुष चाहता है कि शीघ्रसे शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्माकी हृदयग्रन्थि (मैं और मेरेकी

कल्पित गाँठ) खुल जाय, उसे चाहिये कि वह वैदिक और तान्त्रिक—दोनों ही पद्धतियोंसे भगवान्‌की आराधना करे। आराधना-विधिका संकेत करते हुए कहते हैं कि—

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥

अर्थात् अपने-अपने उपास्यदेवके विग्रहकी हृदयादि अंग, आयुधादि उपांग और पार्षदोंके सहित मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, अक्षत (तिलकालंकारमें, अन्यथा नहीं—'**नाक्षतैरर्चयेद् विष्णुं**') अर्थात् दधि-अक्षतके तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे तथा फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करे। ऐसा करनेसे वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यथा—'**अचिरान्मुच्यते हि सः॥**' (श्रीमद्भा० ११।३।५५)

श्रीपिप्पलायनजीने भगवत्स्वरूपका निरूपण करते हुए भगवद्भक्तिका बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया। यथा—

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

(श्रीमद्भा० ११।३।४०)

अर्थात् जब भगवान् कमलनाभके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्निकी भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रोंके निर्विकार होनेसे सूर्यके प्रकाशकी प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

श्रीद्रुमिलजीने श्रीनिमिजीके पूछनेपर भगवान्‌के विविध अवतारोंका वर्णन किया है। आपका कहना है कि—भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणोंको गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है। यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वीके धूलिकणोंको गिन ले, परंतु समस्त शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌के अनन्त गुणोंका कोई कभी किसी प्रकार पार नहीं पा सकता है। यथा—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥

(श्रीमद्भा० ११।४।२)

नवधाभक्तिके आचार्य

श्रवन परीच्छित सुमति ब्यास सावक संकीरतन।
सुठि सुमिरन प्रहलाद पृथु पूजा कमला चरनन मन॥
बंदन सुफलक सुवन दास्य दीपत्ति कपीस्वर।
सख्यत्वे पारत्थ समर्पन आतम बलि धर॥
उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के।
पद पराग करुना करौ (जे) नेता नवधा भगति के॥ १४॥

श्रवण आदि नौ प्रकारकी भक्तिके जो मुख्य आचार्य हैं, वे अपने चरणकमलोंकी रज देते हुए हम दयनीय दासोंपर करुणा (दया) करें। बुद्धिमान् परीक्षित्‌जी श्रवणभक्तिके तथा व्यासपुत्र शुकदेवजी कीर्तनभक्तिके आचार्य हैं, सुन्दर रूपके स्मरण करनेवालोंमें प्रह्लादजी, अष्टयाम भगवच्चरणसेवनमें मन देनेवालोंमें लक्ष्मीजी और विधिसमेत पूजन-भक्तिमें पृथुजी प्रधान हैं। वन्दनभक्तिमें श्वफल्क-पुत्र अक्रूरजी और दास्यभक्तिको प्रकाशित करनेवालोंमें श्रीहनुमान्‌जी सर्वश्रेष्ठ हैं। सख्यरसके उपासकोंमें अर्जुन और सर्वस्वसमेत आत्मसमर्पण करनेवालोंमें राजा बलि अग्रगण्य हैं। मैं नवधा भक्तिके इन आचार्योंके नामके आश्रित हूँ अर्थात् इनका नाम लेकर जीविका चलाता हूँ, जीवन धारण करता हूँ। ये जीवोंको नरकगमन आदि दुर्गतियोंसे बचाते हैं। इन श्रेष्ठ भागवतोंकी कृपासे ही नवधा भक्तिका आचरण सम्भव है॥ १४॥

परमभागवत श्रीप्रह्लादजी भक्तिके नौ प्रकारों (नवधा भक्ति)-का निरूपण करते हुए श्रीमद्भागवत (७।५।२३)-में कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थात् भगवान् विष्णुकी भक्तिके नौ भेद हैं—भगवान्‌के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण; उन्हींका कीर्तन; उनके रूप, नाम आदिका स्मरण; उनके चरणोंकी सेवा; पूजा-अर्चा; वन्दन, दास्य; सख्य और आत्मनिवेदन।

नवधा भक्तिके आचार्योंका वर्णन निम्न श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

अर्थात् भगवान् विष्णुकी श्रवण भक्तिमें राजर्षि परीक्षित्, कीर्तनमें व्यासजीके पुत्र श्रीशुकदेवजी, भगवत्स्मरणमें प्रह्लादजी, भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवामें श्रीलक्ष्मीजी, पूजनमें आदिराज पृथु, चरण-कमलोंके वन्दनमें अक्रूरजी, दास्यभक्तिमें कपिराज श्रीहनुमान्‌जी, सख्यभक्तिमें नररूप श्रीअर्जुनजी और सर्वस्व-निवेदनमें श्रीबलिजी हुए हैं। इन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई है।

नवधा भक्तिके इन आचार्योंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीपरीक्षित्‌जी

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीपरीक्षित्‌जीकी श्रवण-भक्तिकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

श्रवण रसिक कहूँ सुने न परीक्षित से पानहू करत लागी कोटि गुणी प्यास है।
मुनिमन माँझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वही गर्भमध्य देखि आयो रूप रास है॥
कही शुकदेव जू सों टेव मेरी लीजै जानि प्रान लागे कथा नहीं तक्षक को त्रास है।
कीजिये परीक्षा उर आनी मति सानी अहो बानी विरमानी जहाँ जीवन निरास है॥ ९७॥

जो भगवान्‌का गुणानुवाद सुनकर अपूर्व सुखका अनुभव करते हैं, ऐसे श्रवण-रसिक भक्त अनेकों हैं, पर परीक्षित्‌के समान श्रवण-रसिक भक्त सुननेमें नहीं आये। वे जैसे-जैसे कथारूपी अमृतका कर्णपुटोंसे पान करते थे, वैसे-ही-वैसे उनकी प्यास अर्थात् कथाश्रवणकी अभिलाषा करोड़ों गुनी बढ़ती जाती थी। समाधि लगाकर

निरन्तर ध्यान करनेपर मुनियोंके हृदयमें जो भगवान् नहीं आते हैं, उन्हीं रूपके समूह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन परीक्षित्‌जीने अपनी माताके गर्भमें ही किया था। श्रीमद्भागवतका कथाश्रवण करते हुए उन्होंने श्रीशुकदेवजीसे कहा कि आप हमारे स्वभावको जान लीजिये, मेरे प्राण कथामें लीन हो रहे हैं, मुझे साँपके डँसनेका भय बिलकुल नहीं है। आप चाहें तो परीक्षा लेकर देख लें। श्रीशुकदेवजीने मनमें मान लिया कि राजाकी बुद्धि कथामें लीन हो गयी है, राजाकी श्रवण-निष्ठा अनुपम है। सातवें दिन कथा कहकर जैसे ही शुकदेवजीकी वाणीने विश्राम किया, वैसे ही राजाने शरीर त्याग दिया॥ ९७॥

श्रीपरीक्षित्‌जीसे सम्बन्धित विवरण छप्पय १० में भी आया है।

श्रीशुकदेवजी

श्रीशुकदेवजी कीर्तन भक्तिके आचार्य हैं। श्रीप्रियादासजी महाराज उनके सम्बन्धमें निम्न कवित्तमें कहते हैं—

गर्भते निकसि चले बनहीं में कीयो बास व्याससे पिता को नहिं उत्तर हू दियो है।
दशम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई लई नई रीति पढ़ि भागवत लियो है॥
रूप गुन भरि सह्यो जात कैसे करि आए सभा नृप ढरि भीज्यौ प्रेमरस हियो है।
पूछे भक्त भूप ठौर ठौर परे भौंर जाय गाय उठे जबै मानो रंगझर कियो है॥ ९८॥

परमहंस श्रीशुकदेवजी माताके गर्भसे जन्म लेते ही वनको चल दिये और वहीं रहकर भजन करने लगे। वात्सल्यप्रेमवश पुत्र! पुत्र!! पुकारनेपर भी वेदव्यास-सरीखे पिताको जिन्होंने उत्तर भी नहीं दिया था, वे ही शुकदेव व्यासशिष्योंद्वारा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके श्लोकोंको सुनकर मोहित हो गये। श्लोकोंके अर्थका मनन करके उनकी बुद्धि भगवान्‌के गुणानुवादोंमें रम गयी। विचित्र बात तो यह हुई कि पुकारनेपर उत्तर न देकर जिनकी उपेक्षा की थी, उन्हींके समीप आकर उनकी शिष्यता स्वीकार की और श्रीमद्भागवतको पढ़ा। श्रीकृष्णके अद्भुत रूप और गुणोंसे शुकदेवजीका हृदय भर गया। प्रतिक्षण बढ़नेवाले भावोंका भार कैसे सहा जाय। फिर आप गंगातटपर आत्मोद्धारके निमित्त राजा परीक्षित्‌द्वारा आयोजित ऋषियोंकी सभामें पधारे। कृपावश उनका हृदय राजाका उद्धार करनेके लिये पसीज गया। भक्तभूप राजा परीक्षित्‌ने सात दिनोंमें ही अपने उद्धारका उपाय पूछा। जिसे सुनकर ऋषिलोग जहाँ-तहाँ विचारने लगे, पर वे दुविधाके चक्करमें पड़ गये। कुछ भी निर्णय न कर सके। तब शुकदेवजी भावविभोर होकर भगवद्‌गुणानुवाद गा उठे, उस समय ऐसा लगा मानो वे भक्तिरसके आनन्दकी निरन्तर वर्षा कर रहे हैं॥ ९८॥

श्रीशुकदेवजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण छप्पय ७ पर भी आया है।

श्रीप्रह्लादजी

रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥*

जब भगवान् वाराहने पृथ्वीको रसातलसे लाते समय हिरण्याक्षको मार दिया, तब उसका बड़ा भाई दैत्यराज हिरण्यकशिपु बहुत ही क्रोधित हुआ। उसने निश्चय किया कि 'मैं अपने भाईका बदला लेकर रहूँगा।' अपनेको अजेय एवं अमर बनानेके लिये हिमालयपर जाकर वह तप करने लगा। उसने सहस्रों

* सभी प्रकारके तापोंका शमन करनेवाली एकमात्र औषधि रामनामका जप करनेवालेको भय कहाँ? हे तात! देखिये, अग्नि भी इस समय मेरे शरीरसे स्पर्शकर शीतल हो गयी है।

वर्षोंतक उग्र तप करके ब्रह्माजीको सन्तुष्ट किया। ब्रह्माजीने उसे वरदान दिया कि 'तुम किसी अस्त्र-शस्त्रसे, ब्रह्माजीद्वारा निर्मित किसी प्राणीसे, रातमें, दिनमें, जमीनपर, आकाशमें—कहीं मारे नहीं जाओगे।'

जब हिरण्यकशिपु तपस्या करने चला गया था, तभी देवताओंने दैत्योंकी राजधानीपर आक्रमण किया। कोई नायक न होनेसे दैत्य हारकर दिशाओंमें भाग गये। देवताओंने दैत्योंकी राजधानीको लूट लिया। देवराज इन्द्रने हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको बन्दी कर लिया और स्वर्गको ले चले। रास्तेमें देवर्षि नारद मिल गये। उन्होंने इन्द्रको रोका कि 'तुम दैत्यराजकी पतिव्रता पत्नीको मत ले जाओ।' इन्द्रने बताया कि 'कयाधू गर्भवती है। उसके जब संतान हो जायगी, तब उसके पुत्रका वध करके उसे छोड़ दिया जायगा।' देवर्षिने कहा—'इसके गर्भमें भगवान्‌का परम भक्त है। उससे देवताओंको भय नहीं है। उस भागवतको मारा नहीं जा सकता।' इन्द्रने देवर्षिकी बात मान ली। वे 'कयाधूके गर्भमें भगवान्‌का भक्त है' यह सुनकर उसकी परिक्रमा करके अपने लोकको चले गये।

जब कयाधू देवराजके बन्धनसे छोड़ दी गयी, तब वह देवर्षिके आश्रममें आकर रहने लगी। उसके पति जबतक तपस्यासे न लौटें, उसके लिये दूसरा निरापद आश्रय नहीं था। देवर्षि भी उसे पुत्रीकी भाँति मानते थे और बराबर गर्भस्थ बालकको लक्ष्य करके उसे भगवद्भक्तिका उपदेश किया करते थे। गर्भस्थ बालक प्रह्लादने उन उपदेशोंको ग्रहण कर लिया। भगवान्‌की कृपासे वह उपदेश उन्हें फिर भूला नहीं।

जब वरदान पाकर हिरण्यकशिपु लौटा, तब उसने सभी देवताओंको जीत लिया। सभी लोकपालोंको जीतकर वह उनके पदका स्वयं उपभोग करने लगा। उसे भगवान्‌से घोर शत्रुता थी, अतः ऋषियोंको वह कष्ट देने लगा। यज्ञ उसने बन्द करा दिये। धर्मका वह घोर विरोधी हो गया। उसके गुरु शुक्राचार्य उस समय तप करने चले गये थे। अपने पुत्र प्रह्लादको उसने अपने गुरुपुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास शिक्षा पाने भेज दिया। प्रह्लाद उस समय पाँच ही वर्षके थे। एक बार प्रह्लाद घर आये। माताने उन्हें वस्त्राभरणोंसे सजाया। पिताके पास जाकर उन्होंने प्रणाम किया। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठा लिया। स्नेहपूर्वक उनसे उसने पूछा—'बेटा! तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमेंसे कोई अच्छी बात मुझे भी सुनाओ तो।'

प्रह्लादजीने कहा—'पिताजी! संसारके सभी प्राणी असत् संसारमें आसक्त होकर सदा उद्विग्न रहते हैं। मैं तो सबके लिये यही अच्छा मानता हूँ कि अपना पतन करानेवाले जलहीन अन्धकूपके समान घरोंको छोड़कर मनुष्य वनमें जाकर श्रीहरिका आश्रय ले।'

हिरण्यकशिपु जोरसे हँस पड़ा। उसे लगा कि किसी शत्रुने मेरे बच्चेको बहका दिया है। उसने गुरुपुत्रोंको सावधान किया कि 'वे प्रह्लादको सुधारें। उसे दैत्यकुलके उपयुक्त अर्थ, धर्म, कामका उपदेश दें।' गुरुपुत्र प्रह्लादको अपने यहाँ ले आये। उन्होंने प्रह्लादसे पूछा कि 'तुमको यह उलटा ज्ञान किसने दिया है?' प्रह्लादने कहा—'गुरुदेव! यह मैं हूँ और यह दूसरा है, यह तो अज्ञान है। भगवान्‌की इस मायासे ही जीव मोहित हो रहे हैं। वे दयामय जिसपर दया करते हैं, उसीका चित्त उनमें लगता है। मेरा चित्त तो उनकी अनन्त कृपासे ही उन परम पुरुषकी ओर सहज खिंच गया है।'

गुरुपुत्रोंने बहुत डाँटा-धमकाया और वे प्रह्लादको अर्थशास्त्र, दण्डनीति, राजनीति आदिकी शिक्षा देने लगे। गुरुद्वारा पढ़ायी विद्याको प्रह्लाद ध्यानपूर्वक सीखते थे। वे गुरुका कभी अपमान नहीं करते थे और न उन्होंने विद्याका ही तिरस्कार किया; पर उस विद्याके प्रति उनके मनमें कभी आस्था नहीं हुई। गुरुपुत्रोंने जब उन्हें भलीभाँति सुशिक्षित समझ लिया, तब दैत्यराजके पास ले गये। हिरण्यकशिपुने अपने विनयी पुत्रको गोदमें बैठाकर पूछा—'बताओ, बेटा! तुम अपनी समझसे उत्तम ज्ञान क्या मानते हो?' प्रह्लादजीने कहा—

'भगवान्‌के गुण एवं चरित्रोंका श्रवण, उनकी लीलाओं तथा नामोंका कीर्तन, उन मंगलमयका स्मरण, उनके श्रीचरणोंकी सेवा, उन परम प्रभुकी पूजा, उनकी वन्दना, उनके प्रति दास्यभाव, उनसे सख्य, उन्हें आत्म-निवेदन—यह नवधा भक्ति है। इस नवधा भक्तिके आश्रयसे भगवान्‌में चित्त लगाना ही समस्त अध्ययनका सर्वोत्तम फल मैं मानता हूँ।'

हिरण्यकशिपु तो क्रोधसे लाल-पीला हो गया। उसने गोदसे प्रह्लादको धक्का देकर भूमिपर पटक दिया। गुरुपुत्रोंको उसने डाँटा कि 'तुमलोगोंने मेरे पुत्रको उलटी शिक्षा देकर शत्रुका व्यवहार किया है।' गुरुपुत्रोंने बताया कि 'इसमें हमारा कोई दोष नहीं है।' प्रह्लादजी पिताद्वारा तिरस्कृत होकर भी शान्त खड़े थे। उन्हें कोई क्षोभ नहीं था। उन्होंने कहा—'पिताजी! आप रुष्ट न हों। गुरुपुत्रोंका कोई दोष नहीं है। जो लोग विषयासक्त हैं—घरके, परिवारके मोहमें जिनकी बुद्धि बँधी है, वे तो उगले हुएको खानेके समान नरकमें ले जानेवाले विषयोंको, जो बार-बार भोगे गये हैं, सेवन करनेमें लगे हैं। उनकी बुद्धि अपने-आप या दूसरेकी प्रेरणासे भी भगवान्‌में नहीं लगती। जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग नहीं बता सकता, वैसे ही जो सांसारिक सुखोंको ही परम पुरुषार्थ माने हुए हैं, वे भगवान्‌के स्वरूपको नहीं जानते। वे भला, किसीको क्या मार्ग दिखा सकते हैं। सम्पूर्ण क्लेशों, सभी अनर्थोंका नाश तो तभी होता है, जब बुद्धि भगवान्‌के श्रीचरणोंमें लगे। परंतु जबतक महापुरुषोंकी चरण-रज मस्तकपर धारण न की जाय, तबतक बुद्धि निर्मल होकर भगवान्‌में लगती नहीं।'

नन्हा-सा बालक त्रिभुवनविजयी दैत्यराजके सामने निर्भय होकर इस प्रकार उनके शत्रुका पक्ष ले, यह असह्य हो गया दैत्यराजको। चिल्लाकर हिरण्यकशिपुने अपने क्रूर सभासद् दैत्योंको आज्ञा दी—'जाओ, तुरंत इस दुष्टको मार डालो।' असुर भाले, त्रिशूल, तलवार आदि लेकर एक साथ 'मारो! काट डालो।' चिल्लाते हुए पाँच वर्षके बालकपर टूट पड़े। पर प्रह्लाद निर्भय खड़े रहे। उन्हें तो सर्वत्र अपने दयामय प्रभु ही दिखायी पड़ते थे। डरनेका कोई कारण नहीं जान पड़ा उन्हें। असुरोंने पूरे बलसे अपने अस्त्र-शस्त्र बार-बार चलाये; किंतु प्रह्लादको कोई क्लेश नहीं हुआ। उनको तनिक भी चोट नहीं लगी। उनके शरीरसे छूते ही वे हथियार टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे।

अब हिरण्यकशिपुको आश्चर्य हुआ। उसने प्रह्लादको मारनेका निश्चय कर लिया। अनेक उपाय करने लगा वह। मतवाले हाथीके सामने हाथ-पैर बाँधकर प्रह्लाद डाल दिये गये, पर हाथीने उन्हें सूँड़से उठाकर मस्तकपर बैठा लिया। कोठरीमें उन्हें बन्द किया गया और वहाँ भयंकर सर्प छोड़े गये, पर वे सर्प प्रह्लादके पास पहुँचकर केंचुओंके समान सीधे हो गये। जंगली सिंह जब वहाँ छोड़ा गया, तब वह पालतू कुत्तेके समान पूँछ हिलाकर प्रह्लादके पास जा बैठा। प्रह्लादको भोजनमें उग्र विष दिया गया; किंतु उससे उनके ऊपर कोई प्रभाव न हुआ, विष जैसे उनके उदरमें जाकर अमृत हो गया हो। अनेक दिनोंतक भोजन तो क्या, जलकी एक बूँदतक प्रह्लादको नहीं दी गयी; पर वे शिथिल होनेके बदले ज्यों-के-त्यों बने रहे। उनका तेज बढ़ता ही जाता था। उन्हें ऊँचे पर्वतपरसे गिराया गया और पत्थर बाँधकर समुद्रमें फेंका गया। दोनों बार वे सकुशल भगवन्नामका कीर्तन करते नगरमें लौट आये। बड़ा भारी लकड़ियोंका पर्वत एकत्र किया गया। हिरण्यकशिपुकी बहन होलिकाने तप करके एक वस्त्र पाया था। वह वस्त्र अग्निमें जलता नहीं था। होलिका वह वस्त्र ओढ़कर प्रह्लादको गोदमें लेकर उस लकड़ियोंके ढेरपर बैठ गयी। उस ढेरमें अग्नि लगा दी गयी। होलिका तो भस्म हो गयी। पता नहीं, कैसे उसका वस्त्र उड़ गया उसकी देहसे; किंतु प्रह्लाद तो अग्निमें बैठे हुए पिताको समझा रहे थे—'पिताजी! आप भगवान्‌से द्वेष करना छोड़ दें। राम-नामका यह प्रभाव

तो देखें कि यह अग्नि मुझे अत्यन्त शीतल लग रही है। आप भी राम-नाम लें और संसारके समस्त तापोंसे इसी प्रकार निर्भय हो जायँ।'

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके अनेक दैत्योंने मायाके प्रयोग किये; किंतु माया तो प्रह्लादके सम्मुख टिकती ही नहीं। उनके नेत्र उठाते ही मायाके दृश्य अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। गुरुपुत्र षण्ड तथा अमर्कने अभिचारके द्वारा प्रह्लादको मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न की; परंतु उस कृत्याने गुरुपुत्रोंको ही उलटे मार दिया। प्रह्लादने भगवान्‌की प्रार्थना करके गुरुपुत्रोंको फिरसे जीवित किया। यों मारनेकी चेष्टा करनेवालोंको उनके मरनेपर जिला दिया। धन्य है!

इस प्रकार दैत्यराजने अनेकों उपाय कर लिये प्रह्लादको मारनेके, पर कोई सफल न हुआ। जिसका चित्त भगवान्‌में लगा है, जो सर्वत्र अपने दयामय प्रभुको प्रत्यक्ष देखता है, भला, उसकी तनिक-सी भी हानि वे सर्वसमर्थ प्रभु कैसे होने दे सकते हैं! अब दैत्यराजको भय लगा। वे सोचने लगे कि 'कहीं यह नन्हा-सा बालक मेरी मृत्युका कारण न हो जाय।' गुरुपुत्रोंके कहनेसे प्रह्लादको उन्होंने फिर गुरुगृह भेज दिया। शिक्षा तथा संगके प्रभावसे बालक सुधर जाय, यह उनकी इच्छा थी। गुरुगृहमें प्रह्लादजी अपने गुरुओंकी पढ़ायी विद्या पढ़ते तो थे, पर उनका चित्त उसमें लगता नहीं था। जब दोनों गुरु आश्रमके काममें लग जाते, तब प्रह्लाद अपने सहपाठी बालकोंको बुला लेते। एक तो ये राजकुमार थे, दूसरे अत्यन्त नम्र तथा सबसे स्नेह करनेवाले थे; अतएव सब बालक खेलना छोड़कर इनके बुलानेपर इनके समीप ही एकत्र हो जाते थे। प्रह्लादजी बड़े प्रेमसे उन बालकोंको समझाते थे—'भाइयो! यह जन्म व्यर्थ नष्ट करनेयोग्य नहीं है। यदि इस जीवनमें भगवान्‌को न पाया गया तो बहुत बड़ी हानि हुई। घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, राज्य-धन आदि तो दुःख ही देनेवाले हैं। इनमें मोह करके तो नरक जाना पड़ता है। मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटा लेनेमें ही सुख और शान्ति है। भगवान्‌को पानेका साधन सबसे अच्छे रूपमें इस कुमारावस्थामें ही हो सकता है। बड़े होनेपर तो स्त्री, पुत्र, धन आदिका मोह मनको बाँध लेता है और भला, वृद्धावस्थामें कोई कर ही क्या सकता है? भगवान्‌को पानेमें कोई बड़ा परिश्रम भी नहीं। वे तो हम सबके हृदयमें ही रहते हैं। सब प्राणियोंमें वे ही भगवान् हैं, अतः किसी प्राणीको कष्ट नहीं देना चाहिये। मनको सदा भगवान्‌में ही लगाये रहना चाहिये।'

सीधे-सादे सरल-चित्त दैत्यबालकोंपर प्रह्लादजीके उपदेशका प्रभाव पड़ता था। बार-बार सुनते-सुनते वे उस उपदेशपर चलनेका प्रयत्न करने लगे। शुक्राचार्यके पुत्रोंने यह सब देखा तो उन्हें बहुत भय हुआ। उन्होंने प्रह्लादको दैत्यराजके पास ले जाकर सब बातें बतायीं। अब हिरण्यकशिपुने अपने हाथसे प्रह्लादको मारनेका निश्चय किया। उसने गरजकर पूछा—'अरे मूर्ख! तू किसके बलपर मेरा बराबर तिरस्कार करता है? मैं तेरा वध करूँगा। कहाँ है तेरा वह सहायक? वह अब तुझे आकर बचाये तो देखूँ!'

प्रह्लादजीने नम्रतासे उत्तर दिया—'पिताजी! आप क्रोध न करें। सबका बल उस एक निखिल शक्तिसिन्धुके सहारे ही है! मैं आपका तिरस्कार नहीं करता। संसारमें जीवका कोई शत्रु है तो उसका अनियन्त्रित मन ही है। उत्पथगामी मनको छोड़कर दूसरा कोई किसीका शत्रु नहीं। भगवान् तो सब कहीं हैं। वे मुझमें हैं, आपमें हैं, आपके हाथके इस खड्गमें हैं, इस खम्भेमें हैं, सर्वत्र हैं।

'वे इस खम्भेमें भी हैं?' हिरण्यकशिपुने प्रह्लादकी बात पूरी होने नहीं दी। उसने सिंहासनसे उठकर पूरे जोरसे एक घूँसा खम्भेपर मारा। घूँसेके शब्दके साथ ही एक महाभयंकर दूसरा शब्द हुआ, जैसे सारा ब्रह्माण्ड फट गया हो। सब लोग भयभीत हो गये। हिरण्यकशिपु भी इधर-उधर देखने लगा। उसने देखा

कि वह खम्भा बीचसे फट गया है और उससे मनुष्यके शरीर एवं सिंहके मुखकी एक अद्भुत भयंकर आकृति प्रकट हो रही है। भगवान् नृसिंहके प्रचण्ड तेजसे दिशाएँ जल-सी रही थीं। वे बार-बार गर्जन कर रहे थे। दैत्यने ढाल-तलवार लेकर बहुत उछल-कूद की, बहुत पैंतरे बदले उसने; किंतु अन्तमें नृसिंहभगवान्ने उसे पकड़ लिया और राजसभाके द्वारपर ले जाकर अपने जानुपर रखकर नखोंसे उसका उदर फाड़ डाला।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु मारा गया, किंतु भगवान् नृसिंहका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे बार-बार गर्जना कर रहे थे। ब्रह्माजी, शंकरजी तथा दूसरे सभी देवताओंने दूरसे ही उनकी स्तुति की। पास आनेका साहस तो भगवती लक्ष्मीजी भी न कर सकीं। वे भी भगवान्का वह विकराल क्रुद्ध रूप देखकर डर गयीं। अन्तमें ब्रह्माजीने प्रह्लादको नृसिंहभगवान्को शान्त करनेके लिये उनके पास भेजा। प्रह्लाद निर्भय होकर भगवान्के पास जाकर उनके चरणोंपर गिर गये। भगवान्ने स्नेहसे उन्हें उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया। वे बार-बार अपनी जीभसे प्रह्लादको चाटते हुए कहने लगे—'बेटा प्रह्लाद! मुझे आनेमें बहुत देर हो गयी। तुझे बहुत कष्ट सहने पड़े। तू मुझे क्षमा कर दे।'

प्रह्लादजीका कण्ठ भर आया। आज त्रिभुवनके स्वामी उनके मस्तकपर अपना अभय कर रखकर उन्हें स्नेहसे चाट रहे थे। प्रह्लादजी धीरेसे उठे। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर भगवान्की स्तुति की। बड़े ही भक्तिभावसे उन्होंने भगवान्का गुणगान किया। अन्तमें भगवान्ने उनसे वरदान माँगनेको कहा। प्रह्लादजीने कहा—'प्रभो! आप वरदान देनेकी बात करके मेरी परीक्षा क्यों लेते हैं? जो सेवक स्वामीसे अपनी सेवाका पुरस्कार चाहता है, वह तो सेवक नहीं, व्यापारी है। आप तो मेरे उदार स्वामी हैं। आपको सेवाकी अपेक्षा नहीं है और मुझे भी सेवाका कोई पुरस्कार नहीं चाहिये। मेरे नाथ! यदि आप मुझे शुद्ध वरदान ही देना चाहते हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें कभी कोई कामना ही न उठे।'

फिर प्रह्लादजीने भगवान्से प्रार्थना की—'मेरे पिता आपकी और आपके भक्तकी (मेरी) निन्दा करते थे, वे पापसे छूट जायँ।'

भगवान्ने कहा—'प्रह्लाद! जिस कुलमें मेरा भक्त होता है, वह पूरा कुल पवित्र हो जाता है। तुम जिसके पुत्र हो, वह तो परम पवित्र हो चुका। तुम्हारे पिता तो इक्कीस पीढ़ियोंके साथ पवित्र हो चुके। मेरा भक्त जिस स्थानपर उत्पन्न होता है, वह स्थान धन्य है। वह पृथ्वी तीर्थ हो जाती है, जहाँ मेरा भक्त अपने चरण रखता है।' भगवान्ने वचन दिया कि 'अब मैं प्रह्लादकी संतानोंका वध नहीं करूँगा।' कल्पपर्यन्तके लिये प्रह्लादजी अमर हुए। वे भक्तराज अपने महाभागवत पौत्र बलिके साथ अब भी सुतलमें भगवान्की आराधनामें नित्य तन्मय रहते हैं!

श्रीप्रह्लादजी भगवान्के स्वरूप-स्मरणरूपी भक्तिके आचार्य हैं। श्रीप्रियादासजी महाराज उनकी भक्तिपर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

सुमिरन साँचो कियो लियो देखि सबहीं में एक भगवान् कैसे काटै तरवार है।
काटिबो खडग जल बोरिबो सकति जाकी ताहिको निहारै चहूँ ओर सो अपार है॥
पूछे ते बतायो खम्भ तहाँ ही दिखायो रूप प्रगट अनूप भक्तवाणी ही सों प्यार है।
दुष्ट डार्‌यौ मारि गरे आंतैं लई डारि तऊ क्रोधको न पार कहा कियो यों बिचार है॥ ९९॥

भक्तवर प्रह्लादजीने सच्चे हृदयसे भगवान्का सच्चा स्मरण किया। उन्होंने देख लिया कि एक ही भगवान् चराचरमें सर्वत्र विराजमान हैं, अब भला उन्हें तलवार कैसे काट सकती थी! जिसकी शक्तिसे तलवारमें काटनेकी और जलमें डुबानेकी शक्ति है, उसी भगवान्को वे तलवार तथा जलमें देखते थे। इसलिये उन्हें तलवार कैसे काटे

और जल कैसे डुबाये, वे अपने तथा संसारमें चारों ओर अपार-अनन्त भगवन्तको ही देखते थे। जब हिरण्यकशिपुने पूछा—तेरा रक्षक भगवान् कहाँ है ? प्रह्लादजीने कहा—वह सर्वत्र है। हिरण्यकशिपुने कहा—तो इस खम्भेमें क्यों नहीं दीखता है ? प्रह्लादजीने कहा—मुझे तो इस खम्भेमें भी दिखायी पड़ता है। यह सुनकर उसने क्रोधवश खम्भेमें बड़े जोरसे घूँसा मारा। तब खम्भेसे प्रकट होकर भगवान्ने अपना अनुपम रूप दिखाया; क्योंकि भगवान्को तो भक्तवाणीसे ही प्यार है। फिर भगवान्ने हिरण्यकशिपुको मार डाला। उसके पेटको फाड़कर उसकी आँतें अपने गलेमें डाल लीं। फिर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। पता नहीं, अब और कौन-सा कार्य करनेका विचार है॥ ९९॥

डरे शिव अज आदि देख्यो नहीं क्रोध ऐसो आवत न ढिंग कोऊ लछिमी हूँ त्रास है।
तब तो पठायो प्रह्लाद अहलाद महा अहो भक्ति भाव पग्यो आयो प्रभु पास है॥
गोद में उठाइ लियो शीस पर हाथ दियो हियो हुलसायो कही वाणी विनयरास है।
आई जग दया लगि पर्‌यो श्रीनृसिंहजू को अर्‌यो यों छुटावो कर्‌यो माया ज्ञान नास है॥ १००॥

नृसिंहभगवान्के अति भयंकर रूपको देखकर ब्रह्माजी आदि सभी देवगण भयभीत हो गये। उन्होंने आजतक ऐसा क्रोध नहीं देखा था। डरके मारे कोई भी समीप नहीं आता था। यहाँतक कि लक्ष्मीजीको भी उनके पास आनेमें भय लगता था। तब ब्रह्माजीने उनका क्रोध शान्त करनेके लिये प्रह्लादजीको उनके समीप भेजा। नृसिंहजीके दर्शनोंसे प्रह्लादजीको अति प्रसन्नता हुई, वे भक्तिभावमें निमग्न नृसिंहजीके पास पहुँचे। भगवान्ने प्रह्लादको गोदमें उठा लिया और उनके सिरपर हाथ फेरा। प्रभुके करकमलका कोमल स्पर्श पाकर उनका हृदय आनन्दित हो गया। वे विनम्रतापूर्वक प्रभुकी स्तुति करने लगे। फिर 'वर माँगो' ऐसा नृसिंहभगवान्के कहनेपर प्रह्लादजीको संसारी जीवोंपर दया आ गयी। उन्होंने भगवान्के श्रीचरणोंमें लगकर यह वर माँगा कि आप मायासे बँधे जीवोंको छुड़ाइये। मायाने ही लोगोंके ज्ञानका नाश कर दिया है। इस वरको पानेके लिये प्रह्लादजीने मचलकर हठ किया॥ १००॥

भक्त प्रह्लादजीके विषयमें विवरण छप्पय ५ में नृसिंहावतारके प्रकरणमें भी आया है।

भगवती श्रीलक्ष्मीजी

भगवती लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुकी नित्य शक्ति हैं। वे आठों याम भगवान्के श्रीचरणोंकी सेवामें लीन रहती हैं। भगवान् जब-जब अवतार लेते हैं, तब-तब भगवती महालक्ष्मी भी अवतीर्ण होकर उनकी प्रत्येक लीलामें सहयोग देती हैं। इनके आविर्भावके अनेक आख्यान पुराणोंमें आते हैं। एक आख्यानके अनुसार महर्षि भृगुकी पत्नी ख्यातिके गर्भसे एक त्रिलोकसुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित थी। इसलिये उसका नाम लक्ष्मी रखा गया। धीरे-धीरे बड़ी होनेपर लक्ष्मीने भगवान् नारायणके गुण-प्रभावका वर्णन सुना। इससे उनका हृदय भगवान्में अनुरक्त हो गया। वे भगवान् नारायणको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये समुद्रतटपर घोर तपस्या करने लगीं। उन्हें तपस्या करते-करते एक हजार वर्ष बीत गये। उनकी परीक्षा लेनेके लिये देवराज इन्द्र भगवान् विष्णुका रूप धारण करके लक्ष्मीदेवीके पास आये और उनसे वर माँगनेके लिये कहा—लक्ष्मीजीने उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये कहा। इन्द्र वहाँसे लज्जित होकर लौट गये। अन्तमें भगवती लक्ष्मीको कृतार्थ करनेके लिये स्वयं भगवान् विष्णु पधारे। भगवान्ने देवीसे वर माँगनेके लिये कहा। उनकी प्रार्थनापर भगवान्ने उन्हें विश्वरूपका दर्शन कराया। तदनन्तर लक्ष्मीजीके इच्छानुसार भगवान् विष्णुने उन्हें पत्नीरूपमें स्वीकार किया।

लक्ष्मीजीके प्रकट होनेका दूसरा इतिहास इस प्रकार है—देवगणोंने दैत्योंसे सन्धि करके अमृत-प्राप्तिके

लिये समुद्र-मन्थनका कार्य आरम्भ किया। मन्दराचलकी मथानी और वासुकि नागकी रस्सी बनी। भगवान् विष्णु स्वयं कच्छपरूप धारण करके मन्दराचलके आधार बने। इस प्रकार मन्थन करनेपर क्षीरसागरसे क्रमशः कालकूट विष, कामधेनु, उच्चैःश्रवा नामक अश्व, ऐरावत हाथी, कौस्तुभमणि, कल्पवृक्ष, अप्सराएँ, लक्ष्मी, वारुणी, चन्द्रमा, शंख, शार्ङ्ग धनुष, धन्वन्तरि और अमृत प्रकट हुए। क्षीरसमुद्रसे जब भगवती लक्ष्मी देवी प्रकट हुईं, तब वे खिले हुए श्वेत कमलके आसनपर विराजमान थीं। उनके श्रीअंगोंसे दिव्य कान्ति निकल रही थी। उनके हाथमें कमल था। लक्ष्मीजीका दर्शन करके देवता और महर्षिगण प्रसन्न हो गये। उन्होंने वैदिक श्रीसूक्तका पाठ करके लक्ष्मीदेवीका स्तवन किया। सबके देखते-देखते वे भगवान् विष्णुके पास चली गयीं।

श्रीलक्ष्मीजीका विवरण छप्पय ९ में भी आया है।

श्रीपृथुजी

श्रीपृथुजी पूजन-भक्तिके आचार्य हैं। आप भगवान् श्रीहरिके अंशावतार और आदि राजा हैं। आपने धरतीको अपनी पुत्रीके रूपमें स्वीकार किया था, इसीलिये धरतीका एक नाम पृथ्वी भी हो गया।

महाराज पृथुने निन्यानबे अश्वमेध यज्ञोंद्वारा भगवान् श्रीहरिका भलीभाँति पूजन किया था। इससे यज्ञभोक्ता यज्ञेश्वरभगवान् अत्यन्त सन्तुष्ट हुए थे। राजा पृथु जब सौवाँ अश्वमेधयज्ञ कर रहे थे तो ईर्ष्यावश इन्द्रने अश्वका हरण कर लिया था। इन्द्रकी इस कुचेष्टासे महाराज पृथु बहुत क्रोधित हुए और इन्द्रका वध करनेको उद्यत हो गये। यह देखकर स्वयं भगवान् विष्णु इन्द्रको लेकर उनकी यज्ञशालामें प्रकट हुए और इन्द्रको क्षमा कर देनेको कहा। महाराज पृथु तो भगवान्का दर्शनकर ही कृतकृत्य हो गये थे, उन्होंने इन्द्रको गले लगा लिया।

तदनन्तर भगवान् श्रीहरिने महाराज पृथुसे वरदान माँगनेको कहा। इसपर पृथुने कहा—हे प्रभो! मुझे मोक्ष आदि तुच्छ विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है, मुझे तो आप दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके गुणानुवादको सुनता रहूँ।* ऐसी उत्कट भक्ति थी महाराज पृथुकी भगवान् श्रीहरिके पादारविन्दोंमें!

महाराज पृथुके विषयमें विवरण छप्पय ५ में भी आया है।

श्रीअक्रूरजी

श्रीअक्रूरजी भगवान्की पद-वन्दन भक्तिके आचार्य हैं। भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी उनकी भक्तिका वर्णन करते हुए कहते हैं—

चले अकरूर मधुपुरी ते विसूर नैन चली जलधारा कब देखौं छबिपूर को।
सगुन मनावैं एक देखिबोई भावैं देह सुधि बिसरावैं लोटैं लखि पगधूर को॥
वन्दन प्रवीन चाह निपट नवीन भई दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को।
मिले रामकृष्ण झिले पाइ के मनोरथको खिले दृगरूप कियो हियो चूर-चूर को॥ १०१॥

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको लिवा लानेके लिये जब कंसने अक्रूरको मथुरासे भेजा, तब ये प्रेमातुर होकर नन्दगोकुलको चले। प्रेमचिन्तित अक्रूरजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। मार्गमें जाते हुए सोच रहे थे कि कब मैं शीघ्र जाकर शोभाधाम श्यामसुन्दरको देखूँगा। वे मन-ही-मन यही मना रहे थे कि मुझे जो यह शुभ शकुन हो रहे हैं, इनका फल प्रभुदर्शन ही हो। उन्हें दर्शनोंके अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उन्हें अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं थी। गोकुलमें प्रविष्ट होते ही उन्हें धूलिमें वज्र-ध्वज-अंकुश-कमलयुक्त श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखायी पड़े, तब वे सहसा कूद पड़े

* न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः। महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥

(श्रीमद्भा० ४। २०। २४)

और वहीं व्रजरजमें लोटने लगे। वन्दनभक्तिमें परमप्रवीण श्रीअक्रूरजीके हृदयमें बिलकुल नयी प्रेममयी एक अभिलाषा प्रकट हुई। श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें उस उत्कण्ठाका वर्णन किया है, जो भक्तोंके जीवनमें भक्तिरूपी प्राणोंके लिये संजीवनी बूटी है। बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई बड़े प्रेमसे अक्रूरजीसे छाती लगाकर मिले। अक्रूरजीने मार्गमें जितने मनोरथ किये थे, वे सभी पूर्ण हो गये। प्रभुकी रूपमाधुरीसे उनके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। अक्रूरजीने अपने हृदयको प्रेमार्द्र करके प्रभुमें लीन कर दिया॥ १०१॥

श्रीअक्रूरजीसे सम्बन्धित विवरण छप्पय ९ में भी आया है।

श्रीहनुमान्‌जी

श्रीहनुमान्‌जी भगवान्‌की दास्यभक्तिके आचार्य हैं। वे स्वयं कहते हैं—'**दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य**' अर्थात् मैं कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ।

श्रीहनुमान्‌जीके जन्मके सम्बन्धमें यह कथा प्रसिद्ध है कि अपने इष्टदेव प्रभु श्रीरामजीकी सेवा करनेके लिये स्वयं भगवान् शंकर ही रुद्ररूप छोड़कर वानररूपमें अवतरित हुए थे। गोस्वामीजी इस तथ्यको दोहावली (१४२-१४३)-में इस प्रकार निरूपित करते हैं—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान। रुद्र देह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥
जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुखा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान॥

अर्थात् सज्जन उसी शरीरका आदर करते हैं, जिससे श्रीरामसे प्रेम हो। इसी स्नेहवश रुद्रदेह त्यागकर हनुमान्‌जीने वानरका शरीर धारण किया। इसी प्रकार श्रीरामजीकी सेवाका आनन्द अपने मनमें जानकर ही ब्रह्माजी जामवन्त और शंकरजी हनुमान्‌जीके रूपमें अवतरित हुए।

श्रीअर्जुनजी

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥*

(महाभारत, उद्योगपर्व ४९। २०)

साक्षात् श्रीहरि ही भक्तोंपर कृपा करनेके लिये, जगत्‌के कल्याण के लिये और संसारमें धर्मकी स्थापनाके लिये नाना अवतार धारण करते हैं। लोकमंगलके लिये नर-नारायण—इन दो रूपोंमें बदरिकाश्रममें तप करते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुनके रूपमें वे ही द्वापरके अन्तमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। अर्जुन पाण्डवोंमें मझले भाई थे अर्थात् युधिष्ठिर तथा भीमसेनसे अर्जुन छोटे थे और नकुल तथा सहदेवसे बड़े। श्रीकृष्णचन्द्रके समान ही उनका वर्ण नवजलधर-श्याम था। वे कमलनेत्र एवं आजानुबाहु थे।

भगवान् व्यासने तथा भीष्मपितामहने अनेक बार महाभारतमें कहा है कि वीरता, स्फूर्ति, ओज, तेज, शस्त्र-संचालनकी कुशलता और अस्त्रज्ञानमें अर्जुनके समान दूसरा कोई नहीं है। सभी पाण्डव धर्मात्मा, उदार, विनयी, ब्राह्मणोंके भक्त तथा भगवान्‌को परम प्रिय थे; किंतु अर्जुन तो श्रीकृष्णचन्द्रसे अभिन्न, उन श्यामसुन्दरके समवयस्क सखा और उनके प्राण ही थे। दृढ़ प्रतिज्ञाके लिये अर्जुनकी बड़ी ख्याति है। पूर्वजन्मके कई शाप-वरदानोंके कारण पांचालराजकुमारी द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंसे हुआ। संसारमें कलहकी मूल तीन ही वस्तुएँ हैं—स्त्री, धन और पृथ्वी। इन तीनोंमें भी स्त्रीके लिये जितना रक्तपात हुआ है, उतना और किसीके लिये नहीं हुआ। एक स्त्रीके कारण भाइयोंमें परस्पर वैमनस्य न हो, इसलिये देवर्षि नारदजीकी आज्ञासे पाण्डवोंने नियम बनाया कि 'प्रत्येक भाई दो महीने बारह दिनके क्रमसे द्रौपदीके पास

* [ब्रह्माजी बृहस्पतिसे कहते हैं—] ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं, परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं।

रहे। यदि एक भाई एकान्तमें द्रौपदीके पास हो और दूसरा वहाँ उसे देख ले तो वह बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार करे।' एक बार रात्रिके समय चोरोंने एक ब्राह्मणकी गायें चुरा लीं। वह पुकारता हुआ राजमहलके पास आया। वह कह रहा था—'जो राजा प्रजासे उसकी आयका छठा भाग लेकर भी रक्षा नहीं करता, वह पापी है।' अर्जुन ब्राह्मणको आश्वासन देकर शस्त्र लेने भीतर गये। जहाँ उनके धनुष आदि थे, वहाँ युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें स्थित थे। एक ओर ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाका प्रश्न था और दूसरी ओर निर्वासनका भय। अर्जुनने निश्चय किया—'चाहे कुछ हो, मैं शरणागतकी रक्षासे पीछे नहीं हटूँगा।' भीतर जाकर शस्त्र ले आये वे और लुटेरोंका पीछा करके उन्हें दण्ड दिया। गौएँ छुड़ाकर ब्राह्मणको दे दीं। अब वे धनंजय निर्वासन स्वीकार करनेके लिये उद्यत हुए। युधिष्ठिरजीने बहुत समझाया—'बड़े भाईके पास एकान्तमें छोटे भाईका पहुँच जाना कोई बड़ा दोष नहीं। द्रौपदीके साथ साधारण बातचीत ही तो हो रही थी। ब्राह्मणकी गायें बचाना राजधर्म था, अतः वह तो राजाका ही कार्य हुआ।' परंतु अर्जुन इन सब प्रयत्नोंसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा—'महाराज! मैंने आपसे ही सुना है कि धर्मपालनमें बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। मैं सत्यको नहीं छोड़ूँगा। नियम बनाकर उसका पालन न करना तो असत्य है।' इस प्रकार बड़े भाईके वचनोंका लाभ लेकर अर्जुन विचलित नहीं हुए। उन्होंने स्वेच्छासे निर्वासन स्वीकार किया।

× × × ×

व्यासजीकी आज्ञासे अर्जुन तपस्या करके शस्त्र प्राप्त करने गये। अपने तप तथा पराक्रमसे उन्होंने भगवान् शंकरको प्रसन्न करके पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। दूसरे लोकपालोंने भी प्रसन्न होकर अपने-अपने दिव्यास्त्र उन्हें दिये। इसी समय देवराज इन्द्रका सारथि मातलि रथ लेकर उन्हें बुलाने आया। उसपर बैठकर वे स्वर्ग गये और वहाँ देवताओंके द्रोही असुरोंको उन्होंने पराजित किया। वहीं चित्रसेन गन्धर्वसे उन्होंने नृत्य-गान-वाद्यकी कला सीखी।

एक दिन अर्जुन इन्द्रके साथ उनके सिंहासनपर बैठे थे। देवराजने देखा कि पार्थकी दृष्टि देवसभामें नाचती हुई उर्वशी अप्सरापर लगी है। इन्द्रने समझा कि अर्जुन उस अप्सरापर आसक्त हैं। पराक्रमी धनंजयको प्रसन्न करनेके लिये उन्होंने एकान्तमें चित्रसेन गन्धर्वके द्वारा उर्वशीको रात्रिमें अर्जुनके पास जानेका सन्देश दिया। उर्वशी अर्जुनके भव्य रूप एवं महान् पराक्रमपर पहलेसे ही मोहित थी। इन्द्रका सन्देश पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। उसी दिन चाँदनी रातमें वस्त्राभरणसे अपनेको भलीभाँति सजाकर वह अर्जुनके पास पहुँची। अर्जुनने उसका आदरसे स्वागत किया। जो उर्वशी बड़े-बड़े तपस्वी-ऋषियोंको खूब सरलतासे विचलित करनेमें समर्थ हुई थी, भगवान् नारायणकी दी हुई जो स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, एकान्तमें वह रात्रिके समय अर्जुनके पास गयी थी। उसने इन्द्रका सन्देश कहकर अपनी वासना प्रकट की। अर्जुनके मनमें इससे तनिक भी विकार नहीं आया। उन्होंने कहा—'माता! आप हमारे पूरुवंशके पूर्वज महाराज पुरूरवाकी पत्नी रही हैं। आपसे ही हमारा वंश चला है। भरतकुलकी जननी समझकर ही देवसभामें मैं आपको देख रहा था और मैंने मन-ही-मन आपको प्रणाम किया था। देवराजको समझनेमें भूल हुई। मैं तो आपके पुत्रके समान हूँ। मुझे क्षमा करें।'

उर्वशी काममोहिता थी। उसने बहुत समझाया कि स्वर्गकी अप्सराएँ किसीकी पत्नी नहीं होतीं। उनका उपभोग करनेका सभी स्वर्ग आये लोगोंको अधिकार है। परंतु अर्जुनका मन अविचल था। उन्होंने कहा—'देवि! मैं जो कहता हूँ, उसे आप, सब दिशाएँ और सब देवता सुन लें! जैसे मेरे लिये माता कुन्ती और माद्री पूज्य हैं, जैसे शची मेरी माता हैं, वैसे ही मेरे वंशकी जननी आप भी मेरी माता हैं। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ।'

रुष्ट होकर उर्वशीने एक वर्षतक नपुंसक रहनेका शाप दे दिया। अर्जुनके इस त्यागका कुछ ठिकाना है! सभाओंमें दूसरोंके सामने बड़ी ऊँची बातें करना तो सभी जानते हैं; किंतु एकान्तमें युवती स्त्री प्रार्थना करे और उसे 'माता' कहकर वहाँसे अछूता निकल जाय, ऐसे तो विरले ही होते हैं। अर्जुनका यह इन्द्रियसंयम तो इससे भी महान् है। उन्होंने उस उर्वशीको एकान्तमें रोती, गिड़गिड़ाती लौटा दिया, जिसके कटाक्षमात्रसे बड़े-बड़े तपस्वी क्षणभरमें विचलित हो जाते थे!

× × × ×

श्रीकृष्णचन्द्र क्यों अर्जुनको इतना चाहते थे, क्यों उनके प्राण धनंजयमें ही बसते थे—यह बात जो समझ जाय, उसे श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त करना सरल हो जाता है। प्रेमस्वरूप भक्तवत्सल श्यामसुन्दरको जो जैसा, जितना चाहता है, उसे वे भी उसी प्रकार चाहते हैं। उन पूर्णकामको बल, ऐश्वर्य, धन या बुद्धिकी चतुरतासे कोई नहीं रिझा सकता। अर्जुनमें लोकोत्तर शूरता थी, वे आडम्बरहीन इन्द्रियविजयी थे और सबसे अधिक यह कि सब होते हुए भी अत्यन्त विनयी थे। उनके प्राण श्रीकृष्णमें ही बसते थे। युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञका पूरा भार श्रीकृष्णचन्द्रपर ही था। श्यामसुन्दरने ही अपने परम भक्त धर्मराजके लिये समस्त राजाओंको जीतनेके लिये पाण्डवोंको भेजा। उन मधुसूदनकी कृपासे ही भीमसेन जरासन्धको मार सके। इतनेपर भी अपने मित्र अर्जुनको प्रसन्न करनेके लिये युधिष्ठिरको चौदह सहस्र हाथी भगवान्‌ने भेंटस्वरूप दिये।

जिस समय महाभारतके युद्धमें अपनी ओर सम्मिलित होनेका निमन्त्रण देने दुर्योधन श्रीद्वारकेशके भवनमें गये, उस समय श्रीकृष्णचन्द्र सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक आसनपर बैठ गये। अर्जुन भी कुछ पीछे पहुँचे और हाथ जोड़कर श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंके पास नम्रतापूर्वक बैठ गये। भगवान्‌ने उठकर दोनोंका स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधनने कहा—'मैं पहले आया हूँ, अतः आपको मेरी ओर आना चाहिये।' श्रीकृष्णचन्द्रने बताया कि 'मैंने पहले अर्जुनको देखा है।' लीलामयने तनिक हँसकर कहा—'एक ओर तो मेरी 'नारायणी सेना' के वीर सशस्त्र सहायता करेंगे और दूसरी ओर मैं अकेला रहूँगा; परंतु मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। आपमेंसे जिन्हें जो रुचे, ले लें; किंतु मैंने अर्जुनको पहले देखा है, अतः पहले माँग लेनेका अधिकार अर्जुनका है।'

एक ओर भगवान्‌का बल, उनकी सेना और दूसरी ओर शस्त्रहीन भगवान्! एक ओर भोग और दूसरी ओर श्यामसुन्दर। परंतु अर्जुन-जैसे भक्तको कुछ सोचना नहीं पड़ा। उन्होंने कहा—'मुझे तो आपकी आवश्यकता है। मैं आपको ही चाहता हूँ।' दुर्योधन बड़े प्रसन्न हुए। उसे अकेले शस्त्रहीन श्रीकृष्णकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी। भोगकी इच्छा करनेवाले विषयी लोग इसी प्रकार विषय ही चाहते हैं। विषयभोगका त्यागकर श्रीकृष्णको पानेकी इच्छा उनके मनमें नहीं जगती। श्रीकृष्णचन्द्रने दुर्योधनके जानेपर अर्जुनसे कहा—'भला, तुमने शस्त्रहीन अकेले मुझे क्यों लिया? तुम चाहो तो तुम्हें दुर्योधनसे भी बड़ी सेना दे दूँ।' अर्जुनने कहा—'प्रभो! आप मुझे मोहमें क्यों डालते हैं? आपको छोड़कर मुझे तीनों लोकोंका राज्य भी नहीं चाहिये। आप शस्त्र लें या न लें, पाण्डवोंके तो एकमात्र आश्रय आप ही हैं।'

अर्जुनकी यही भक्ति, यही निर्भरता थी, जिसके कारण श्रीकृष्णचन्द्र उनके सारथि बने। अनेक तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनियोंको छोड़कर जनार्दनने युद्धके आरम्भमें उन्हें ही अपने श्रीमुखसे गीताके दुर्लभ और महान् ज्ञानका उपदेश किया। युद्धमें इस प्रकार उनकी रक्षामें वे दयामय लगे रहे, जैसे माता अबोध पुत्रको सारे संकटोंसे बचानेके लिये सदा सावधान रहती है।

× × ×

युद्धमें जब द्रोणाचार्यके चक्रव्यूहमें फँसकर कुमार अभिमन्युने वीरगति प्राप्त कर ली, तब अर्जुनने अभिमन्युकी मृत्युका मुख्य कारण जयद्रथको जानकर प्रतिज्ञा की—'यदि जयद्रथ मेरी, धर्मराज युधिष्ठिरकी या श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण न आ गया तो कल सूर्यास्तसे पूर्व उसे मार डालूँगा। यदि ऐसा न करूँ तो मुझे वीर तथा पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले लोक न मिलें। पिता-माताका वध करनेवाले, गुरु-स्त्रीगामी, चुगलखोर, साधु-निन्दा और परनिन्दा करनेवाले, धरोहर हड़प जानेवाले, विश्वासघाती, भुक्तपूर्वा स्त्रीको स्वीकार करनेवाले, ब्रह्महत्यारे, गोघाती आदिकी जो गति होती है, वह मुझे मिले, यदि मैं कल जयद्रथको न मार दूँ। वेदाध्ययन करनेवाले तथा पवित्र पुरुषोंका अपमान करनेवाले, वृद्ध-साधु एवं गुरुका तिरस्कार करनेवाले, ब्राह्मण-गौ तथा अग्निको पैरसे छूनेवाले, जलमें थूकने तथा मल-मूत्र त्यागनेवाले, नंगे नहानेवाले, अतिथिको निराश लौटानेवाले, घूसखोर, झूठ बोलनेवाले, ठग, दम्भी, दूसरोंको मिथ्या दोष देनेवाले, स्त्री-पुत्र एवं आश्रितको न देकर अकेले ही मिठाई खानेवाले, अपने हितकारी और आश्रित तथा साधुका पालन न करनेवाले, उपकारीकी निन्दा करनेवाले, निर्दयी, शराबी, मर्यादा तोड़नेवाले कृतघ्न, अपने भरण-पोषणकर्ताके निन्दक, गोदमें भोजन रखकर बायें हाथसे खानेवाले, धर्मत्यागी, उषाकालमें सोनेवाले, जाड़ेके भयसे स्नान न करनेवाले, युद्ध छोड़कर भागनेवाले क्षत्रिय, वेदपाठरहित तथा एक कुएँवाले ग्राममें छः माससे अधिक रहनेवाले, शास्त्रनिन्दक, दिनमें स्त्रीसंग करनेवाले, दिनमें सोनेवाले, घरमें आग लगानेवाले, विष देनेवाले, अग्नि तथा अतिथिकी सेवासे विमुख, गौको जल पीनेसे रोकनेवाले, रजस्वलासे रति करनेवाले, कन्या बेचनेवाले तथा दान देनेकी प्रतिज्ञा करके लोभवश न देनेवाले जिन नरकोंमें जाते हैं, वे ही मुझे मिलें, यदि मैं कल जयद्रथको न मारूँ। यदि कल सूर्यास्ततक मैं जयद्रथको न मार सका तो चिता बनाकर उसमें जल जाऊँगा।'

भक्तके प्रणकी चिन्ता भगवान्‌को ही होती है। अर्जुनने तो श्रीकृष्णचन्द्रसे कह दिया—'आपकी कृपासे मुझे किसीकी चिन्ता नहीं। मैं सबको जीत लूँगा।' बात सच है; अर्जुनने अपने रथकी, अपने जीवनकी बागडोर जब मधुसूदनके हाथोंमें दे दी, तब वह क्यों चिन्ता करे। दूसरे दिन घोर संग्राम हुआ। श्रीकृष्णचन्द्रको अर्जुनकी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये सारी व्यवस्था करनी पड़ी। सायंकाल श्रीहरिने सूर्यको ढककर अन्धकार कर दिया। सूर्यास्त हुआ समझकर अर्जुन चितामें प्रवेश करनेको उद्यत हुए। सभी कौरवपक्षके महारथी उन्हें इस दशामें देखने आ गये। उन्हींमें जयद्रथ भी आ गया। भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! शीघ्रता करो। जयद्रथका मस्तक काट लो, पर वह भूमिपर न गिरे! सावधान!' भगवान्‌ने अन्धकार दूर कर दिया। सूर्य अस्ताचल जाते दिखायी पड़े। जयद्रथके रक्षक चकरा गये। अर्जुनने उसका सिर काट लिया। श्रीकृष्णने बताया—'जयद्रथके पिताने तप करके शंकरजीसे वरदान पाया है कि जो जयद्रथका सिर भूमिपर गिरायेगा, उसके सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे।' केशवके आदेशसे अर्जुनने जयद्रथका सिर बाणसे ऊपर-ही-ऊपर उड़ाकर जहाँ उसके पिता सन्ध्याके समय सूर्योपस्थान कर रहे थे, वहाँ पहुँचाकर उनकी अंजलिमें गिरा दिया। झिझक उठनेसे पिताके द्वारा ही सिर भूमिपर गिरा। फलतः उनके सिरके सौ टुकड़े हो गये।

× × ×

इन्द्रने कर्णको एक अमोघ शक्ति दी थी। एक ही बार उस शक्तिका कर्ण प्रयोग कर सकते थे। नित्य रात्रिको वे संकल्प करते थे दूसरे दिन अर्जुनपर उसका प्रयोग करनेके लिये, किंतु श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें सम्मोहित कर देते थे। वे शक्तिका प्रयोग करना भूल जाते थे। भगवान्‌ने भीमके पुत्र घटोत्कचको रात्रि-युद्धके लिये भेजा। उसने राक्षसी मायासे कौरव-सेनामें 'त्राहि-त्राहि' मचा दी। दुर्योधनादिने कर्णको विवश किया—'यह

राक्षस अभी सबको मार देगा। यह जब दीखता ही नहीं, तब इसके साथ युद्ध कैसे हो, इसे चाहे जैसे भी हो मारो।' अन्तमें कर्णने वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़ी। वह राक्षस मर गया। घटोत्कचकी मृत्युसे जब पाण्डव दुखी हो रहे थे, तब श्रीकृष्णको प्रसन्न होते देख अर्जुनने कारण पूछा। भगवान्‌ने बताया—'कर्णने तुम्हारे लिये ही शक्ति रख छोड़ी थी। शक्ति न रहनेसे अब वह मृत-सा ही है। घटोत्कच ब्राह्मणोंका द्वेषी, यज्ञद्रोही, पापी और धर्मका लोप करनेवाला था; उसे तो मैं स्वयं मार डालता; किंतु तुमलोगोंको बुरा लगेगा, इसलिये अबतक छोड़ दिया था।'

कर्णसे युद्धमें अर्जुनने अपने सखासे पूछा—'यदि कर्ण मुझे मार डाले तो आप क्या करेंगे?' भगवान्‌ने कहा—'चाहे सूर्य भूमिपर गिर पड़े, समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतल बन जाय, पर ऐसा कभी नहीं होगा। यदि किसी प्रकार कर्ण तुम्हें मार दे तो संसारमें प्रलय हो जायगी। मैं अपने हाथोंसे ही कर्ण और शल्यको मसल डालूँगा।'

भगवान्‌ने तो बहुत पहले घोषणा की थी—'जो पाण्डवोंके मित्र हैं, वे मेरे मित्र हैं और जो पाण्डवोंके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं।' उन भक्तवत्सलके लिये भक्त सदासे अपने हैं। जो भक्तोंसे द्रोह करते हैं, श्रीकृष्ण सदा ही उनके विपक्षी हैं।

कर्णने अनेक प्रयत्न किये। उसने सर्पमुख बाण छोड़ा, दिशाओंमें अग्नि लग गयी। दिनमें ही तारे टूटने लगे। खाण्डवदाहके समय बचकर निकला हुआ अर्जुनका शत्रु अश्वसेन नामक नाग भी अपना बदला लेने उसी बाणकी नोकपर चढ़ बैठा। बाण अर्जुनतक आये, इससे पहले ही भगवान्‌ने रथको अपने चरणोंसे दबाकर पृथ्वीमें धँसा दिया। बाण केवल अर्जुनके मुकुटमें लगा, जिससे मुकुट भूमिपर जलता हुआ गिर पड़ा।

महाभारतके युद्धमें इस प्रकार अनेक अवसर आये, अनेक बार अर्जुनकी बुद्धि तथा शक्ति कुण्ठित हुई। किंतु धर्मात्मा धैर्यशाली अर्जुनने कभी धर्म नहीं छोड़ा। उनके पास एक ही बाणसे प्रलय कर देनेवाला पाशुपतास्त्र था; परंतु प्राण संकटमें होनेपर भी उसको काममें लेनेकी उन्होंने इच्छा नहीं की। इसी प्रकार श्रीकृष्णके चरणोंमें उनका विश्वास एक पलको भी शिथिल नहीं हुआ। इसी प्रेम और विश्वासने भगवान्‌को बाँध लिया था। भगवान् उनका रथ हाँकते, घोड़े धोते और आपत्तिमें सब प्रकार उनकी रक्षा करते। श्रीकृष्णके प्रतापसे ही पाण्डव महाभारतके युद्धमें विजयी हुए। विजय हो जानेपर अन्तिम दिन छावनीपर आकर भगवान्‌ने अर्जुनको रथसे पहले उतरनेको कहा। आज यह नयी बात थी, पर अर्जुनने आज्ञापालन किया। अर्जुनके उतरनेपर जैसे ही भगवान् उतरे कि रथकी ध्वजापर बैठा दिव्य वानर भी अदृश्य हो गया और वह रथ घोड़ोंके साथ तत्काल भस्म हो गया। भगवान्‌ने बताया—'दिव्यास्त्रोंके प्रभावसे यह रथ भस्म तो कभीका हो चुका था। अपनी शक्तिसे मैं इसे अबतक बचाये हुए था। आज तुम पहले न उतर जाते तो रथके साथ ही भस्म हो जाते।'

× × × ×

अश्वत्थामाने जब ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, तब भगवान्‌ने ही पाण्डवोंकी रक्षा की। अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रके तेजसे उत्तराका गर्भस्थ बालक मरा हुआ उत्पन्न हुआ, उसे श्रीकृष्णचन्द्रने जीवित कर दिया। सुधन्वाको मारनेकी अर्जुनने प्रतिज्ञा कर ली, तब भी मधुसूदनने ही उनकी रक्षा की।

द्वारकामें एक ब्राह्मणका पुत्र उत्पन्न होते ही मर जाया करता था। दुःखी ब्राह्मण मृत शिशुका शव राजद्वारपर रखकर बार-बार पुकारता—'पापी, ब्राह्मणद्रोही, शठ, लोभी राजाके पापसे ही मेरे पुत्रकी मृत्यु हुई है। जो राजा हिंसारत, दुश्चरित्र, अजितेन्द्रिय होता है, उसकी प्रजा कष्ट पाती है और दरिद्र रहती है।' ब्राह्मणके आठ बालक इसी प्रकार मर गये। किसीके किये कुछ होता नहीं था। जब नवें बालकका मृत

शव लेकर वह ब्राह्मण आया, तब अर्जुन राजभवनमें ही थे। वे श्रीकृष्णके साथ द्वारका आये हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी तो पास आकर कारण पूछा और आश्वासन दिया। उन्होंने कहा कि 'मैं आपकी रक्षा करूँगा।' ब्राह्मणने अविश्वास प्रकट किया तो अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'यदि आपके बालकको न बचा सकूँ तो मैं अग्निमें प्रवेश करके शरीर त्याग दूँगा।'

दसवें बालकके उत्पन्न होनेके समय ब्राह्मणने समाचार दिया। उसके घर जाकर अर्जुनने सूतिकागारको ऊपर-नीचे चारों ओर बाणोंसे इस प्रकर ढक दिया कि उसमेंसे चींटी भी न जा सके। परंतु इस बार बड़ी विचित्र बात हुई। बालक उत्पन्न हुआ, रोया और फिर सशरीर अदृश्य हो गया। ब्राह्मण अर्जुनको धिक्कारने लगा। वे महारथी कुछ बोले नहीं। उनमें अब भी अहंकार था। भगवान्से भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। योगविद्याका आश्रय लेकर वे यमपुरी गये। वहाँ ब्राह्मणपुत्र न मिला तो इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, चन्द्र, वायु, वरुण आदि लोकपालोंके धाम, अतल, वितल आदि नीचेके लोक भी ढूँढ़े; परंतु कहीं भी उन्हें ब्राह्मणका पुत्र नहीं मिला। अन्तमें द्वारका आकर वे चिता बनाकर जलनेको तैयार हो गये।

भगवान्ने अब उन्हें रोका और कहा—'मैं तुम्हें द्विजपुत्र दिखलाता हूँ, मेरे साथ चलो।' भगवान्को तो अर्जुनमें जो अपनी शक्तिका गर्व था, उसे दूर करना था। वह दूर हो चुका था; अब अपने दिव्यरथमें अर्जुनको बैठाकर भगवान्ने सातों द्वीप, सभी पर्वत और सातों समुद्र पार किये। लोकालोक पर्वतको पार करके अन्धकारमय प्रदेशमें अपने चक्रके तेजसे मार्ग बनाकर अनन्त जलके समुद्रमें पहुँचे। अर्जुन वहाँकी दिव्य ज्योति देखनेमें असमर्थ थे, अत: नेत्र बन्द कर लिये। इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको लेकर भगवान् शेषशायीके समीप पहुँचे। अर्जुनने वहाँ भगवान् अनन्त—शेषजीकी शय्यापर सोये नारायणके दर्शन किये। उन भूमा पुरुषने दोनोंका सत्कार करके उन्हें ब्राह्मणके बालक देते हुए कहा—'तुमलोगोंको देखनेके लिये ही मैंने ये बालक यहाँ मँगाये थे। तुम नारायण और नर हो। मेरे ही स्वरूप हो। पृथ्वीपर तुम्हारा कार्य पूरा हो गया। अब शीघ्र यहाँ आ जाओ।' वहाँसे आज्ञा लेकर दोनों लौट आये। अर्जुनने ब्राह्मणको बालक देकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

× × × ×

महाभारतके तो मुख्य नायक ही श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। अर्जुनकी शूरता, धर्मनिष्ठा, उदारता, भगवद्भक्ति तथा उनपर भगवान् मधुसूदनकी कृपाका महाभारतमें विस्तारसे वर्णन है। दूसरे पुराणोंमें भी अर्जुनका चरित है। उन ग्रन्थोंको अवश्य पढ़ना चाहिये। यहाँ तो थोड़े-से चरित संकेतरूपसे दिये गये हैं। अर्जुन भगवान्के नित्य पार्षद हैं। नारायणके नित्य संगी नर हैं। धर्मराज युधिष्ठिर जब परम धाम गये, तब वहाँ अर्जुनको उन्होंने भगवान्के पार्षदोंमें देखा। दुर्योधनतकने कहा—'अर्जुन श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और श्रीकृष्ण अर्जुनकी आत्मा हैं। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन जीवित नहीं रहना चाहते और अर्जुनके लिये श्रीकृष्ण अपना दिव्यलोक भी त्याग सकते हैं। भगवान् स्वयं अर्जुनको अपना प्रिय सखा और परम इष्टतक कहते रहे हैं और उन्होंने अपना और अर्जुनका प्रेम बने रहने तथा बढ़नेके लिये अग्निसे वरदानतक चाहा था।'

सभी पाण्डव धर्मात्मा, उदार, विनयी, ब्राह्मणोंके भक्त तथा भगवान्को परम प्रिय थे; किंतु अर्जुन तो श्रीकृष्णचन्द्रसे अभिन्न, उन श्यामसुन्दरके समवयस्क सखा और उनके प्राण ही थे। श्रीकृष्णचन्द्र क्यों अर्जुनको इतना चाहते थे, क्यों उनके प्राण धनंजयमें ही बसते थे—इस प्रसंगमें एक कथा इस प्रकार है—

एक बार कैलासके शिखरपर श्रीगौरीशंकर भगवद्भक्तोंके विषयमें कुछ वार्तालाप कर रहे थे। उसी प्रसंगमें जगज्जननी श्रीपार्वतीजीने आशुतोष श्रीभोलेबाबासे निवेदन किया—'भगवन्! जिन भक्तोंकी आप

इतनी महिमा वर्णित करते हैं, उनमेंसे किसीके दर्शन करानेकी कृपा कीजिये। आपके श्रीमुखसे भक्तोंकी महिमा सुनकर मेरे चित्तमें बड़ा आह्लाद हुआ है।'

प्राणप्रिया उमाके ये वचन सुनकर श्रीभोलेनाथ उन्हें साथ लेकर इन्द्रप्रस्थको चले और वहाँ कृष्ण-सखा अर्जुनके महलके द्वारपर जाकर द्वारपालसे पूछा—'कहो, इस समय अर्जुन कहाँ हैं?' उसने कहा—'इस समय महाराज शयनागारमें पौढ़े हुए हैं।' यह सुनकर पार्वतीजीने उतावलीमें कहा, 'तो अब हमें उनके दर्शन कैसे हो सकेंगे?' प्रियाको अधीर देखकर श्रीमहादेवजीने कहा—'देवि! भक्तको उसके इष्टदेव भगवान्‌के द्वारा ही जगाना चाहिये, अतः मैं इसका प्रयत्न करता हूँ।' तदनन्तर उन्होंने समाधिस्थ होकर प्रेमाकर्षणद्वारा आनन्दकन्द श्रीव्रजचन्द्रको बुलाया और कहा, 'भगवन्! कृपया अपने भक्तको जगा दीजिये, देवी पार्वती उनका दर्शन करना चाहती हैं।' श्रीमहादेवजीके कहनेसे श्यामसुन्दर तुरंत ही मित्र उद्धव, देवी रुक्मिणी और सत्यभामासहित अर्जुनके शयनागारमें गये। भाई कृष्णको आया देखकर सुभद्रा हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुईं और उनकी जगह श्रीसत्यभामाजी विराजमान होकर पंखा डुलाने लगीं। गरमी अधिक थी, इसलिये भगवान्‌का संकेत पाकर उद्धवजी भी पंखा हाँकने लगे। इतनेमें ही अकस्मात् सत्यभामा और उद्धव चकित-से होकर एक-दूसरेकी ओर ताकने लगे। भगवान्‌ने पूछा, तुमलोग किस विचारमें पड़े हो? उन्होंने कहा—'महाराज! आप अन्तर्यामी हैं, सब जानते हैं; हमसे क्या पूछते हैं?' भगवान् श्रीकृष्ण बोले, 'बताओ तो सही, क्या बात है?' तब उद्धवने कहा कि 'अर्जुनके प्रत्येक रोमसे 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' की आवाज आ रही है। रुक्मिणीजी पैर दबा रही थीं, वे बोलीं—'महाराज! पैरोंसे भी वही आवाज आती है!' भगवान्‌ने समीप जाकर सुना तो उन्हें भी स्पष्ट सुनायी दिया कि अर्जुनके शरीरके प्रत्येक रोमसे यही 'जय कृष्ण-कृष्ण, जय कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि निकल रही है। तब तो भगवान् उसे जगाना भूलकर स्वयं भी उसके प्रेम-पाशमें बँध गये और गद्‌गद होकर स्वयं उसके चरण दबाने लगे।

इधर महादेव और पार्वतीको प्रतीक्षा करते हुए जब बहुत देर हो गयी, तब उन्होंने ब्रह्माजीको बुलाकर अर्जुनको जगानेके लिये भेजा। किंतु अन्तःपुरमें पहुँचनेपर ब्रह्माजी भी अर्जुनके रोम-रोमसे 'कृष्ण-कृष्ण'की ध्वनि सुनकर और स्वयं भगवान्‌को अपने भक्तके पाँव पलोटते देखकर अपने प्रेमावेशको न रोक सके एवं अपने चारों मुखोंसे वेद-स्तुति करने लगे। जब ब्रह्माजीकी प्रतीक्षामें भी श्रीमहादेव और पार्वतीको बहुत समय हो गया, तब उन्होंने देवर्षि नारदजीका आवाहन किया। अबकी बार वे अर्जुनको जगानेका बीड़ा उठाकर चले। किंतु शयनागारका अद्भुत दृश्य देख-सुनकर उनसे भी न रहा गया। वे भी अपनी वीणाकी खूँटियाँ कसकर हरि-कीर्तनमें तल्लीन हो गये। जब उनके कीर्तनकी ध्वनि भगवान् शंकरके कानमें पड़ी तो उनसे और अधिक प्रतीक्षा न हो सकी; वे भी पार्वतीजीके साथ तुरंत ही अन्तःपुरमें पहुँच गये। वहाँ अर्जुनके रोम-रोमसे 'जय कृष्ण, जय कृष्ण' का मधुर नाद सुनकर उनसे भी न रहा गया। उन्होंने भी अपना त्रिभुवन-मोहन ताण्डव-नृत्य आरम्भ कर दिया; साथ ही श्रीपार्वतीजी भी स्वर और तालके साथ सुमधुर वाणीसे हरि-गुण गाने लगीं। इस प्रकार वह सम्पूर्ण समाज प्रेमोन्मत्त हो गया। भक्तराज अर्जुनके प्रेम-प्रवाहने सभीको सराबोर कर दिया। धन्य हैं अर्जुन और धन्य है उनकी सख्य भक्ति!

श्रीबलिजी

भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना सर्वस्व और स्वयंको भी समर्पित कर देनेवाले भक्तोंमें श्रीबलिजी अग्रगण्य हैं। भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने महाराज बलिके सर्वस्व-समर्पण और आत्मसमर्पणकी घटनाको अपने निम्न कवित्तमें इस प्रकार प्रकट किया है—

दियो सरबसु करि अति अनुराग बलि पागि गयो हियो प्रहलाद सुधि आई है।
गुरु भरमावैं नीति कहि समुझावैं बोलि उर में न आवैं केती भीति उपजाई है॥
कयो जोई कियो सांचो भाव पन लियो अहो दीयो डर हरिहूं ने मति न चलाई है।
रीझे प्रभु रहे द्वार भये बस हारि मानी श्रीशुक बखानी प्रीति रीति सोई गाई है॥ १०२॥

राजा बलिने बड़े प्रेमके साथ वामनभगवान्‌को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनका हृदय भक्तिभावमें मग्न हो गया। इन्हें अपने पितामह भक्तवर प्रह्लादकी याद आ गयी कि उन्होंने कितने संकट सहे थे, अभी मेरे ऊपर वैसा एक भी संकट नहीं आया है। नीतिका उपदेश दे-देकर गुरु शुक्राचार्य भी बहकाने और समझाने लगे कि ये भिक्षुक ब्रह्मचारी नहीं हैं। ये तो साक्षात् विष्णु हैं, ये विराट् रूप धारण करेंगे और तुम्हारा सब ले लेंगे। ये बातें बलिकी समझमें नहीं आयीं। तब शुक्राचार्यजीने भय दिखाया कि ये तुम्हें पृथ्वीपर नहीं रहने देंगे। परंतु राजा बलिने जो तीन पग पृथ्वी दान करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीपर डटे रहे और उन्होंने पूर्ण भी किया। राजा बलिने प्रेमभावसे परिपूर्ण प्रणको धारण किया था। फिर पृथ्वी और स्वर्गको दो पगोंसे नापकर भगवान्‌ने कहा कि तीसरा पग कहाँ रखूँ? तुमने तीन पग भूमि देनेकी प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी नहीं हुई। अतः असत्य-भाषणके पापसे अब तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। इस प्रकार भगवान्‌के धमकानेपर भी राजाकी बुद्धि चलायमान नहीं हुई। राजाने कहा—भगवन्! तीसरा पैर मेरे सिरपर रखिये। राजाकी इस आत्मसमर्पण भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् इनके द्वारपाल बने। अपनी हार मानकर भगवान् बलिके अधीन हो गये। उनकी भक्तिकी रीतिका श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया है॥ १०२॥

महाराज बलिसे सम्बन्धित विवरण छप्पय ५ में वामनावतारके प्रसंगमें भी आया है।

भगवत्प्रसादके तत्त्वको जाननेवाले श्रेष्ठ भक्त

संकर सुक सनकादि कपिल नारद हनुमाना।
बिष्वकसेन प्रहलाद बलि रु भीषम जग जाना॥
अर्जुन ध्रुव अँबरीष बिभीषन महिमा भारी।
अनुरागी अक्रूर सदा उद्धव अधिकारी॥
भगवत भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहन सुजान।
हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान॥ १५॥

भगवान्‌को अर्पण करके प्रसादके रसका स्वाद लेनेवाले ये सोलह भक्त परमश्रेष्ठ हैं—शंकरजी, शुकदेवजी, सनकादिकजी, कपिलजी, नारदजी, हनुमान्‌जी, विष्वक्सेनजी, प्रह्लादजी, बलिजी, भीष्मजी, अर्जुनजी, ध्रुवजी, अम्बरीषजी, विभीषणजी, अक्रूरजी और उद्धवजी। इनको सम्पूर्ण जगत् जानता है, इनकी बड़ी भारी महिमा है। ये सभी सर्वदा प्रसादके अधिकारी हैं। ये भगवत्प्रसादकी महिमाको भलीभाँति जानते हैं, उसका वर्णन करते रहते हैं। भगवान्‌का भोग लगाकर प्रसाद इन्हें अवश्य अर्पण करना चाहिये॥ १५॥

उपर्युक्त छप्पयमें वर्णित भगवत्प्रसादके रसिक भक्तोंका विवरण क्रमशः शंकरजी छप्पय ७, शुकदेवजी छप्पय ७, सनकादिकजी छप्पय ७, कपिलजी छप्पय ७, नारदजी छप्पय ७, हनुमान्‌जी छप्पय ९, विष्वक्सेनजी छप्पय ३०, प्रह्लादजी छप्पय १४, बलिजी छप्पय ७, भीष्मजी छप्पय ७, अर्जुनजी

छप्पय १४, ध्रुवजी छप्पय ९, अम्बरीषजी छप्पय ९, विभीषणजी छप्पय ९, अक्रूरजी छप्पय ९, उद्धवजी छप्पय ९ में भी आया है।

भगवत्प्रसादकी महिमा

भगवान्‌को भक्तिपूर्वक अर्पित किये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिकी 'प्रसाद' संज्ञा होती है। भगवदर्चन करते समय प्रभुको समर्पण किया हुआ प्रत्येक पदार्थ भगवान्‌की साकार बनी हुई प्रत्यक्ष कृपा ही है—इसी दृढ़ भावनासे उसका ग्रहण-सेवन करना चाहिये। '**प्रसादोऽनुग्रहः**', '**प्रसादस्तु प्रसन्नता**' '**प्रसन्नस्य भावः प्रसादः**' आदिका यही तात्त्विक अर्थ है; क्योंकि भगवत्प्रसाद स्वयं भगवद्रूप ही होता है—

प्रसादं जगदीशस्य ह्यन्नपानादिकं च यत्।
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्॥

अर्थात् जैसे भगवान्‌का दर्शन, स्पर्श आदि महामंगलकारी है, वैसे ही प्रसाद भी। परम वैष्णव सन्त श्रीभगवतरसिकजी महाराज कहते हैं—

यह दिव्य प्रसाद प्रिया प्रिय को।
दरशत ही मन मोद बढ़ावत परसत पाप हरत हिय को॥
पावत परम प्रेम उपजावत भुलवत भाव पुरुषतिय को।
'भगवतरसिक' भावतो भूषण तिहि क्षण होत युगल जिय को॥

वृन्दावनके परम रसिक सन्त श्रीहरिराम व्यासजी महाराजकी तो भगवत्प्रसादके प्रति अद्भुत निष्ठा थी। वे कहते थे—

हमारी जीवनमूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत, मेटत सब प्रतिवाद॥
जो षटमास व्रतनि कीनें फल, सो एक सीथ के स्वाद।
दरसन पाप नसात, खात सुख, परषत मिटत विषाद॥
देत-लेत जो करै अनादर, सो नर अधम गवाद।
श्रीगुरु सुकल प्रताप 'व्यास' यह रस पायौ अनहाद॥

भगवत्प्रसादकी श्रेष्ठता और उसके प्रति अनन्य भाव प्रदर्शित करते हुए वे आगे कहते हैं कि वृन्दावन-क्षेत्रसे इतरके किसी ब्राह्मणद्वारा लायी गयी मिठाई भी उन्हें ग्राह्य नहीं है, जबकि वृन्दावनके श्वपचद्वारा लाया गया भगवत्प्रसाद और सन्तोंकी सीथ प्रसादीकी जूठन भी उनके लिये वरेण्य है—

'व्यास' मिठाई विप्र की तामें लागै आग।
वृन्दावन के स्वपच की जूठिन खैये माँग॥

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि श्रीभगवान्‌द्वारा उपभुक्त माला, चन्दन, वस्त्र, अलंकार, नैवेद्य आदिका जो भक्त सेवन करते हैं, उनपर मायाका प्रभाव नहीं पड़ता है—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

इसी प्रकार भगवत्प्रसादकी महिमाका वर्णन करते हुए पद्मपुराणमें कहा गया है कि जो भगवान्‌के सम्मुख निवेदित, तुलसीमिश्रित और विशेष रूपसे चरणामृतसे भीगे हुए नैवेद्य अन्नको नित्य खाता है, वह

करोड़ों यज्ञोंके पुण्यको प्राप्त करता है—

नैवेद्यमन्नं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्॥

इस प्रकार भगवत्प्रसादकी अमित महिमा है, भक्तोंके लिये तो वह जीवन-धन होता है, तभी तो कहा जाता है—*'जगन्नाथका भात, जगत पसारे हाथ।'*

भक्ति तथा ज्ञानके प्रकाशक आचार्य

पुलह अगस्त्य पुलस्त्य च्यवन सौभरि बसिष्ठ रिषि।
कर्दम अत्रि रिचीक गर्ग गौतम सुब्यास सिषि॥
लोमस भृगु दालभ्य अंगिरा सृंगि प्रकासी।
मांडब बिस्वामित्र द्रुबासा सहस अठासी॥
जाबालि जमदग्नि मायादर्श कस्यप परबत पारासर पद रज धरौं।
ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यो तिन्हें सरन हौं अनुसरौं॥ १६॥

जिन भक्तोंने भगवान्‌के चतुर्भुजरूपका ध्यान अपने हृदयमें धारण किया, मैं उनकी शरणमें हूँ। वे हमारे सब प्रकारसे रक्षक हैं। पुलहजी, अगस्त्यजी, पुलस्त्यजी, च्यवनजी, सौभरिजी, वसिष्ठजी, कर्दमजी, अत्रिजी, ऋचीकजी, गर्गजी, गौतमजी, व्यासजीके शिष्य, लोमशजी, भृगुजी, दाल्भ्यजी, अंगिराजी, ऋष्यशृंगजी, माण्डव्यजी, विश्वामित्रजी, दुर्वासाजी, शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषि, जाबालिजी, जमदग्निजी, मार्कण्डेयजी, कश्यपजी, पर्वतजी और पराशरजी—इनके चरणोंकी रज मैं अपने सिरपर चढ़ाता हूँ। ये ऋषिगण बड़े तपस्वी हैं। मोहरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये सदा ज्ञान-भक्तिका प्रकाश करते रहते हैं॥ १६॥

यहाँ भक्ति तथा ज्ञानके प्रकाशक इन आचार्योंका संक्षेपमें वर्णन प्रस्तुत है—

महर्षि पुलह

महर्षि पुलह भी ब्रह्माके मानसपुत्र और षोडश प्रजापतियोंमें एक हैं। ये भी अन्यान्य ऋषियोंकी भाँति जगत्‌के हितसाधनमें लगे रहते हैं। इन्होंने अपने पिता ब्रह्माजीकी आज्ञासे दक्षप्रजापतिकी और महर्षि कर्दमकी कन्याओंको पत्नीरूपसे ग्रहण करके सृष्टिकी वृद्धि की। अनेकों योनि और जातियोंकी संतान इनसे हुई। इन्होंने महर्षि सनन्दनकी शरण ग्रहण करके सम्प्रदायकी रक्षा करते हुए तत्त्वज्ञानका सम्पादन किया और फिर अपने शरणागत जिज्ञासु गौतमको उसका दान करके जगत्‌में उसका विस्तार किया।* जगत्‌की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शान्तिके लिये ये निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। पुराणोंमें इनकी चर्चा स्थान-स्थानपर आयी है।

अगस्त्य

महर्षि अगस्त्य वेदोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। कहीं मित्रावरुणके द्वारा वसिष्ठके साथ घड़ेमेंसे पैदा होनेकी बात आती है तो कहीं पुलस्त्यकी पत्नी

* ये महर्षि शिवजीके बड़े भक्त थे। इन्होंने काशीमें पुलहेश्वर नामक लिंगकी स्थापना की है, जो अद्यावधि विद्यमान है। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शिवने अपना श्रीविग्रह प्रकट किया था।

हविर्भूके गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है। किसी-किसी ग्रन्थके अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पुलस्त्यतनय दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये सभी बातें कल्पभेदसे ठीक उतरती हैं। इनके विशाल जीवनकी समस्त घटनाओंका वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ संक्षेपतः दो-चार घटनाओंका उल्लेख किया जाता है।

एक बार विन्ध्याचलने गगनपथगामी सूर्यका मार्ग रोक लिया। इतना ऊँचा हो गया कि सूर्यके आने-जानेका स्थान ही न रहा। सूर्य महर्षि अगस्त्यके शरणागत हुए। अगस्त्यने उन्हें आश्वासन दिया और स्वयं विन्ध्याचलके पास उपस्थित हुए। विन्ध्याचलने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे उन्हें नमस्कार किया। महर्षि अगस्त्यने कहा—'भैया, मुझे तीर्थोंमें पर्यटन करनेके लिये दक्षिण दिशामें जाना आवश्यक है। परंतु तुम्हारी इतनी ऊँचाई लाँघकर जाना बड़ा कठिन प्रतीत होता है, इसलिये कैसे जाऊँ?' उनकी बात सुनते ही विन्ध्याचल उनके चरणोंमें लोट गया। बड़ी सुगमतासे महर्षि अगस्त्यने उसे पार करके कहा कि अब जबतक मैं न लौटूँ, तुम इसी प्रकार पड़े रहना। विन्ध्याचलने बड़ी नम्रता और प्रसन्नताके साथ उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। तबसे महर्षि अगस्त्य लौटे ही नहीं और विन्ध्याचल उसी प्रकार पड़ा हुआ है। अगस्त्यने जाकर उज्जयिनी नगरीके शूलेश्वरतीर्थकी पूर्व दिशामें एक कुण्डके पास शिवजीकी आराधना की। भगवान् शिवने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। आज भी भगवान् शंकरकी मूर्ति वहाँ अगस्त्येश्वरके नामसे प्रसिद्ध है।

एक बार भ्रमण करते-करते महर्षि अगस्त्यने देखा कि कुछ लोग नीचे मुँह किये हुए कुएँमें लटक रहे हैं। पता लगानेपर मालूम हुआ कि ये उन्हींके पितर हैं और उनके उद्धारका उपाय यह है कि वे संतान उत्पन्न करें। बिना ऐसा किये पितरोंका कष्ट मिटना असम्भव था। अतः उन्होंने विदर्भराजसे पैदा हुई अपूर्व सुन्दरी और परम पतिव्रता लोपामुद्राको पत्नीके रूपमें स्वीकार किया। उस समय इल्वल और वातापी नामके दो दैत्योंने बड़ा उपद्रव मचा रखा था। वे ऋषियोंको अपने यहाँ निमन्त्रित करते और वातापी स्वयं भोजन बन जाता और जब ऋषिलोग खा-पी चुकते तब इल्वल बाहरसे उसे पुकारता और वह उनका पेट फाड़कर निकल आता। इस प्रकार महान् ब्राह्मणसंहार चल रहा था। भला, महर्षि अगस्त्य इसे कैसे सहन कर सकते थे? वे भी एक दिन उनके यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हुए और फिर तो सर्वदाके लिये उसे पचा गये। इस प्रकार लोकका महान् कल्याण हुआ।

एक बार जब इन्द्रने वृत्रासुरको मार डाला तब कालेय नामके दैत्योंने समुद्रका आश्रय लेकर ऋषि-मुनियोंका विनाश करना शुरू किया। वे दैत्य दिनमें तो समुद्रमें रहते और रातमें निकलकर पवित्र जंगलोंमें रहनेवाले ऋषियोंको खा जाते। उन्होंने वसिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज—सभीके आश्रमोंपर जा-जाकर हजारोंकी संख्यामें ऋषि-मुनियोंका भोजन किया था। अब देवताओंने महर्षि अगस्त्यकी शरण ग्रहण की, तब उनकी प्रार्थनासे और लोगोंकी व्यथा और हानि देखकर उन्होंने अपने एक चुल्लूमें ही सारे समुद्रको पी लिया। तब देवताओंने जाकर कुछ दैत्योंका वध किया और कुछ भागकर पाताल चले गये।

एक बार ब्रह्महत्याके कारण इन्द्रके स्थानच्युत होनेके कारण राजा नहुष इन्द्र हुए थे। इन्द्र होनेपर अधिकारके मदसे मत्त होकर उन्होंने इन्द्राणीको अपनी पत्नी बनानेकी चेष्टा की, तब बृहस्पतिकी सम्मतिसे इन्द्राणीने एक ऐसी सवारीसे आनेकी बात कही, जिसपर अबतक कोई सवार न हुआ हो। मदमत्त नहुषने सवारी ढोनेके लिये ऋषियोंको ही बुलाया। ऋषियोंको तो सम्मान-अपमानका कुछ खयाल था ही नहीं। आकर सवारीमें जुत गये। जब सवारीपर चढ़कर नहुष चले तब शीघ्रातिशीघ्र पहुँचनेके लिये हाथमें कोड़ा

लेकर 'जल्दी चलो! जल्दी चलो! (सर्प, सर्प)' कहते हुए उन ब्राह्मणोंको विताड़ित करने लगे। यह बात महर्षि अगस्त्यसे देखी नहीं गयी। वे इसके मूलमें नहुषका अध:पतन और ऋषियोंका कष्ट देख रहे थे। उन्होंने नहुषको उसके पापोंका उचित दण्ड दिया। शाप देकर उसे एक महाकाय सर्प बना दिया और इस प्रकार समाजकी मर्यादा सुदृढ़ रखी तथा धनमद और पदमदके कारण अन्धे लोगोंकी आँखें खोल दीं।

भगवान् श्रीराम वनगमनके समय इनके आश्रमपर पधारे थे और इन्होंने बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमसे उनका सत्कार किया और उनके दर्शन, आलाप तथा संसर्गसे अपने ऋषिजीवनको सफल किया। साथ ही ऋषिने उन्हें कई प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये और सूर्योपस्थानकी पद्धति बतायी। लंकाके युद्धमें उनका उपयोग करके स्वयं भगवान् श्रीरामने उनके महत्त्वकी अभिवृद्धि की। प्रेमलक्षणा भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप भक्त सुतीक्ष्ण इन्हींके शिष्य थे। उनकी तन्मयता और प्रेमके स्मरणसे आज भी लोग भगवान्‌की ओर अग्रसर होते हैं। लंकापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् श्रीराम अयोध्याको लौट आये और उनका राज्याभिषेक हुआ तब महर्षि अगस्त्य वहाँ आये और उन्होंने भगवान् श्रीरामको अनेकों प्रकारकी कथाएँ सुनायीं। वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डकी अधिकांश कथाएँ इन्हींके द्वारा कही हुई हैं। इन्होंने उपदेश और सत्संकल्पके द्वारा अनेकोंका कल्याण किया। इनके द्वारा रचित अगस्त्यसंहिता नामका एक रामोपासना-सम्बन्धी बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है।

पुलस्त्य

महर्षि पुलस्त्य भी पूर्वोक्त ऋषियोंकी भाँति ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। ये भी अपनी तपस्या, ज्ञान और दैवी सम्पत्तिके द्वारा जगत्‌के कल्याणसम्पादनमें लगे रहते हैं। इनका प्रभाव इतना अधिक है कि जब एक बार अपनी दुष्टताके कारण रावणको कार्तवीर्य सहस्रार्जुनके यहाँ बन्दी होना पड़ा था तब इन्होंने उनसे कहा कि इस बेचारेको मुक्त कर दो और इनकी आज्ञा सुनते ही वह सहस्रार्जुन जिसके सामने बड़े-बड़े देवता और वीर पुरुष नतमस्तक हो जाते थे, इनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका। इनके तपोबलके सामने बरबस उसका सिर झुक गया। पुलस्त्यकी सन्ध्या, प्रतीची आदि कई स्त्रियाँ थीं और दत्तोलि आदि कई पुत्र थे। यही दत्तोलि स्वायम्भुव मन्वन्तरमें अगस्त्य नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हींकी एक पत्नी हविर्भूसे विश्रवा हुए थे, जिनके पुत्र कुबेर, रावण आदि हुए। ये योगविद्याके आचार्य माने जाते हैं। ऋषि पुलस्त्यने ही देवर्षि नारदको वामनपुराणकी कथा सुनायी है। जब पराशर क्रुद्ध होकर राक्षसोंके नाशके लिये एक महान् यज्ञ कर रहे थे, तब वसिष्ठके परामर्शसे पुलस्त्यका अनुरोध मानकर उन्होंने यज्ञ बन्द कर दिया, जिससे महर्षि पुलस्त्य उनपर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें अपनी कृपा और आशीर्वादसे समस्त शास्त्रोंका पारदर्शी बना दिया। भगवान्‌के अवतार ऋषभदेवने बहुत दिनोंतक राज्यपालन करनेके पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र भरतको राज्य देकर जब वनगमन किया तब उन्होंने महर्षि पुलस्त्यके आश्रममें रहकर ही तपस्या की थी। ब्रह्माके सर्वतत्त्वज्ञ पुत्र ऋभुसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले निदाघ इन्हीं महर्षि पुलस्त्यके पुत्र थे। ये अब भी जगत्‌की रक्षा-दीक्षामें तत्पर हैं और संसारमें यत्किंचित् सुख-शान्तिका दर्शन हो रहा है, उसमें इनका बहुत बड़ा हाथ है। महाभारत और पुराणोंमें इनकी पर्याप्त चर्चा है।

महर्षि च्यवन

लोकप्रजापति भगवान् ब्रह्माजीने वरुणके यज्ञमें एक पुत्र उत्पन्न किया, जिनका नाम भृगु था। भृगु महर्षिने पुलोमा नामवाली स्त्रीके साथ विधिवत् विवाह किया। पुलोमा जब गर्भवती थी तभी उन्हें एक प्रलोमा नामवाला राक्षस सूकरका रूप बनाकर उठा ले गया। पुलोमा रोती जाती थी। तेज दौड़नेके कारण ऋषिपत्नीका

गर्भ च्यवित हो गया, जिससे एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्रको देखते ही वह राक्षस उसके तेजसे भस्म हो गया। वे ही महर्षि च्यवन हुए।

भृगुके पुत्र च्यवन बड़े ही तपस्वी, तेजस्वी और ब्रह्मनिरत हुए। वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे। तपस्या करते-करते उनके ऊपर दीमक जम गयी थी और दीमकके एक टीलेके नीचे वे दब गये थे, केवल उनकी दो आँखें दिखायी देती थीं। एक दिन महाराज शर्याति अपनी सेनाके सहित वहाँ पहुँचे। सैनिकोंने जंगलमें डेरे डाल दिये, हाथी-घोड़े यथास्थान बाँधे गये और सैनिक इधर-उधर घूमने-फिरने लगे। महाराज शर्यातिकी पुत्री सुकन्या अपनी सखियोंसहित जंगलमें घूमने लगी। घूमते-घूमते उसने एक टीला देखा, वहाँपर वह वैसे ही विनोदके लिये बैठ गयी। उसे दो जुगनूकी तरह चमकती हुई आँखें उस दीमकके टीलेके नीचे दिखायी दीं। बाल्यकालकी चंचलताके कारण उसने उन दोनों आँखोंमें काँटा चुभो दिया। उनमेंसे रक्तकी धारा बह निकली। कन्या डर गयी और भागकर अपने डेरेमें आ गयी, उसने यह बात किसीसे कही नहीं।

इधर राजाकी सेनामें एक अपूर्व ही दृश्य दिखायी देने लगा, राजाकी समस्त सेनाका मल-मूत्र बन्द हो गया। राजा, मन्त्री, सेवक, सैनिक, घोड़े, हाथी, रानी, राजपुत्री सभी दुखी हो गये। राजाको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सबसे पूछा—'यहाँपर भगवान् भार्गव-मुनि च्यवनका आश्रम है, तुम लोगोंने उनका कोई अनिष्ट तो नहीं किया है, किसीने उनके आश्रमपर जाकर अपवित्रता या अशिष्टता तो नहीं की है?' सभीने कहा—'महाराज! हम तो उधर गये भी नहीं।' तब डरते-डरते सुकन्याने कहा—'अज्ञानवश एक अपराध मुझसे हो गया है—दीमकके ढेरमें दो जुगनू-से चमक रहे थे; उनमें मैंने काँटा चुभो दिया, जिससे उनमेंसे रक्तकी धारा बह निकली।'

महाराज सब समझ गये, वे पुरोहित और मन्त्रीके साथ बड़ी दीनतासे महर्षि च्यवनके आश्रमपर पहुँचे। उनकी विधिवत् पूजा की और अज्ञानमें अपनी कन्याके किये हुए अपराधकी क्षमा चाही। महाराजने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मेरी यह कन्या सरल है, सीधी है। इससे अनजानेमें यह अपराध बन गया, अब मुझे जो भी आज्ञा हो मैं उसका सहर्ष पालन करूँ।'

च्यवनमुनि बोले—'राजन्! यह अपराध अज्ञानमें ही हुआ सही; किंतु मैं वृद्ध हूँ, आँखें भी मेरी फूट गयीं; अतः तुम इस कन्याको ही मेरी सेवाके लिये छोड़ जाओ।' महाराजने इसे सहर्ष स्वीकार किया। सुकन्याने भी बड़ी प्रसन्नतासे इसको स्वीकार किया। सुकन्याका विवाह विधिवत् च्यवनमुनिके साथ कर दिया गया। सुकन्या अपने पतिकी सेवामें रह गयी। राजा उसे समझाकर अपनी राजधानीको चले गये। च्यवन मुनिका स्वभाव कुछ कड़ा था, किंतु साध्वी सुकन्या दिन-रात सेवा करके उन्हें सदा सन्तुष्ट रखती थी।

एक बार देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार भगवान् च्यवनके आश्रमपर आये। च्यवनमुनिने उनका विधिवत् सत्कार किया। ऋषिके आतिथ्यको स्वीकार करके अश्विनीकुमारोंने कहा—'ब्रह्मन्! हम आपका क्या उपकार करें?'

च्यवनमुनिने कहा—'देवताओ! तुम सब कुछ कर सकते हो। तुम मेरी इस वृद्धावस्थाको मेट दो और मुझे युवावस्था प्रदान करो, इसके बदले मैं तुम्हें यज्ञमें भाग दिलाऊँगा। अभीतक तुम्हें यज्ञोंमें भाग नहीं मिलता है।'

अश्विनीकुमारोंने ऋषिकी आज्ञा मानकर एक सरोवरका निर्माण किया और बोले—'आप इसमें स्नान कीजिये।'

ऋषि उसमेंसे स्नान करके ज्यों ही निकले, तब सुकन्याने क्या देखा कि बिल्कुल एक ही आकार-

प्रकारके तीन देवतुल्य युवा पुरुष उसमेंसे निकले। असलमें अश्विनीकुमारोंने सुकन्याके पातिव्रत्यकी परीक्षा लेनेके लिये ही अपने भी वैसे ही रूप बना लिये थे। तब सुकन्याने अश्विनीकुमारोंकी बहुत प्रार्थना की, कि मेरे पतिको अलग कर दीजिये। सुकन्याकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमार अन्तर्धान हो गये और सुकन्या अपने परम सुन्दर रूपवान् पतिके साथ सुखपूर्वक रहने लगी।

च्यवनऋषिकी वृद्धावस्था जाती रही, उन्हें आँखें फिरसे मिल गयीं, उनका तपस्यासे क्षीण जर्जर शरीर एकदम बदल गया। वे परम सुन्दर रूपवान् युवा बन गये। एक दिन राजा अपनी कन्याको देखने आये। पहले तो वे ऋषिको न पहचानकर कन्यापर क्रुद्ध हुए। जब उन्होंने सब वृत्तान्त सुना तो कन्यापर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने ऋषिकी चरणवन्दना की कि आपके तपके प्रभावसे हमारा वंश पावन हुआ। उन च्यवन ऋषिके पुत्र प्रमति हुए और प्रमतिके रुरु। रुरुके शुनक हुए। ये सब भृगुवंशमें उत्पन्न होनेसे भार्गव कहलाये।

सौभरि

दयाकी मूर्ति भगवान् सौभरि ऋग्वेदके ऋषि हैं। इनके चरित्र वेदों, पुराणों और उपनिषदोंमें सर्वत्र मिलते हैं। 'सौभरिसंहिता' नामसे एक संहिता भी है। ये वृन्दावनके निकट कालिन्दीके तटपर रमणक नामक द्वीपमें रहते थे, जो आजकल सुनरख नामसे प्रसिद्ध है। ये यमुनाजीके जलमें डूबकर हजारों वर्षोंतक तपस्या करते रहे। एक बार मल्लाहोंने मछली पकड़नेके लिये जाल डाला। मछलियोंके साथ जालमें ये स्वयं भी फँसकर चले आये। मल्लाहोंने समझा कोई बड़ा भारी मत्स्य फँस गया है। उन्होंने ऊपर खींचा तो मालूम हुआ ये तो महर्षि सौभरि हैं। मल्लाह बड़े घबड़ाये। ऋषिने कहा—'भाई! हम अब तुम्हारे जालमें फँस गये हैं, तुम हमें बेच दो।' मल्लाहोंकी हिम्मत कहाँ थी, ऋषिके आग्रह करनेपर वहाँके राजा आ गये। ऋषिको भला कौन मोल ले सकता है, उनका मूल्य कौन-सी वस्तुसे आँका जा सकता है? अन्तमें ऋषिके सुझानेपर यह निश्चय हुआ कि गौके रोम-रोममें अनन्त देवताओंका निवास है, राजाने गौको बदलेमें देकर ऋषिको मुक्त कराया। मल्लाहोंको उन्होंने और भी बहुत-सा धन दिया।

एक बार ऋषिने देखा कि गरुड़देव उनके स्थानके समीप मछलियोंको खा रहे हैं। एक बड़ा मत्स्य था, उसे भी वे खाना चाहते थे। ऋषिने मना किया, किंतु गरुड़ इतने भूखे थे कि उन्होंने ऋषिकी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। मत्स्यके बालक तड़पने लगे। महर्षिको बड़ी करुणा आयी और उन्होंने गरुड़को लक्ष्य करके शाप दिया कि 'आजसे यदि गरुड़ यहाँ आकर किसी भी जीवको खायेगा तो उसकी मृत्यु उसी क्षण हो जायगी, यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।' उस दिनसे उनके समीपका समस्त स्थान हिंसाशून्य बन गया। वहाँ कोई भी जीव हिंसा नहीं कर सकता।

एक बारकी बात है कि रमणक द्वीपके रहनेवाले सर्पोंने सलाह की कि गरुड़ हमारे समस्त परिवारका बड़ी निर्दयतासे संहार करते हैं, अतः उनके पास पारी-पारीसे सर्प जाया करें और उन्हें बलि दिया करें। ऐसा करनेसे शीघ्र ही कुलका नाश न होगा। यह बात समस्त सर्पोंने स्वीकार कर ली और वे बारी-बारी गरुड़के पास जाने लगे। एक दिन कालियनागकी बारी आयी। वह गया और गरुड़की बलिको स्वयं ही खा गया। इसपर गरुड़ बड़े क्रोधित हुए, वे नागपर झपटे। कालिय अपनी जान लेकर भागा और भगवान् सौभरिकी शरणमें गया। ऋषिने उसे आश्रय देते हुए कहा—'यहाँ तुम्हें किसी भी बातका भय नहीं, यहाँ गरुड़ तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा।' उस दिनसे कालिय भगवान् सौभरिके ही आश्रमके समीप रहने लगा। इसीलिये उस स्थानका नाम अहिवास और उसके समीप रहनेवाले भगवान् सौभरि ऋषिके वंशज अहिवासी कहलाये। ऋषिके विवाहकी भी एक बड़ी मनोरंजक कहानी है।

ऋषि सदा जलके भीतर समाधि लगाकर तपस्या करते थे। एक बार जलके भीतर-ही-भीतर उनकी समाधि भंग हुई। वहाँ उन्होंने देखा एक मत्स्य अपनी स्त्रीके सहित बड़े सुखसे विहार कर रहा है। आँखोंके जरा-से कुसंगने अपना असर डाला, उसी समय ऋषिके मनमें संकल्प उठा कि 'देखो, ये जलचर जन्तु होकर कैसा सुखभोग कर रहे हैं, हम तो मनुष्यका शरीर पाकर भी इस सुखसे वंचित हैं।' यह विचार आते ही ऋषि समाधि, प्राणायाम सब भूल गये। जलसे बाहर निकले। उन दिनों महाराजा मान्धाता अयोध्यामें राज्य करते थे, ऋषि सीधे उन्हींके पास पहुँचे। महाराजने ऋषिका बड़ा सत्कार किया, विधिवत् पूजा की, गौदान करनेके अनन्तर उनसे पधारनेका कारण पूछा। महर्षिने कहा—'राजन्! मैं गृहस्थसुखका उपभोग करना चाहता हूँ; तुम्हारे पचास कन्याएँ हैं, इनमेंसे एक मुझे दे दो।'

महाराज सुनकर सन्न रह गये। भला, हजारों वर्षके इन बूढ़े ऋषिको अब इस ढलती उम्रमें यह क्या सूझी? इन्हें क्या कैसे दूँ? किंतु मना करनेकी भी हिम्मत नहीं हुई। ऋषिकी तनिक-सी भ्रकुटी टेढ़ी होते ही राज-पाटसे हाथ धोना पड़ेगा। यह सब सोच-समझकर उन्होंने एक चाल चली। बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—'भगवन्! मेरे अन्तःपुरमें आपके लिये कोई रुकावट तो है ही नहीं, आप भीतर पधारें। मेरे पचास कन्याएँ हैं, उनमेंसे मेरी जो कन्या आपको पसन्द करे, उसे ही आप प्रसन्नतापूर्वक ले जायँ।' महाराजने सोचा मेरी युवती कन्याएँ इन-जैसे अति बूढ़े ऋषिको क्यों पसन्द करने लगेंगी। जब वे पसन्द न करेंगी तो ये खुद ही लौट जायँगे। इस प्रकार साँप भी मर जायगा और लाठी भी न टूटेगी। मना भी न करनी पड़ेगी और ऋषि भी नाराज न होंगे।

महर्षि तो थे सर्वज्ञ। उनसे भला कोई क्या छिपा सकता है, वे महाराजके भावको ताड़ गये। तपस्याके बलसे वे नयी सृष्टि रच सकते थे, उन्होंने झटसे अपना रूप परम सुन्दर युवावस्थासम्पन्न बना लिया। रनवासमें जाते ही पचासों-की-पचासों कन्याएँ उनपर मुग्ध हो गयीं। राजाको अब क्या आपत्ति थी। पचासों कन्याएँ ऋषिके अर्पण कर दीं। उन सबको लेकर महर्षि अपने आश्रमपर आये। विश्वकर्माको आज्ञा दी, बहुत जल्दी पचास महल बने। फिर क्या था, बात-की-बातमें समस्त स्वर्गीय सुखोंसे युक्त पचास महल बन गये। उनमें सब प्रकारकी सुखोपभोगकी सामग्रियाँ थीं। योगबलसे पचास रूप बनाकर ऋषि उनके साथ गृहस्थसुखका उपभोग करने लगे। प्रत्येकके दस-दस पुत्र हुए। उन पुत्रोंके भी पुत्र हो गये। बड़ा परिवार होनेसे भाँति-भाँतिके झंझट, भाँति-भाँतिकी नित्य नयी उपाधियाँ होने लगीं। अब तो ऋषिको होश हुआ। अरे! यह मैंने क्या किया, तनिक देर विषयी मत्स्यका संसर्ग होनेसे मैं भी विषयी बन गया। विषयीजनोंके क्षणभरके संगका ऐसा दुष्परिणाम!! यह सोचते ही वे चिल्लाकर कहने लगे—

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥
सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद् व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥
निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'अरे! यह मेरा पतन तो देखो, मैं व्रतमें तत्पर सच्चरित्र तपस्वी था। जलके भीतर मत्स्यके प्रसंगको

देखकर मैं इतने दिनके प्राप्त किये हुए अपने ब्रह्मतेजको विषयभोगोंके पीछे खो बैठा। मुमुक्षु पुरुषको मैथुनमें लगे हुए प्राणियोंका साथ कभी न करना चाहिये। यदि सब प्रकारसे न छोड़ सके तो बाहरकी इन्द्रियोंसे ही छोड़ दे। बिलकुल एकान्तमें रहकर अनन्त प्रभुमें चित्त लगाकर उनके प्यारे भक्तोंका सत्संग करना चाहिये। नि:संग होना ही यतियोंके लिये मुक्तिका मार्ग है। संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। दु:संगसे योगमें आरूढ़ हुए योगीतक गिर जाते हैं, फिर अल्पसिद्धिवाले जीवोंकी तो बात ही क्या है?'

ऐसा सोचकर वे वानप्रस्थधर्मका पालन करते हुए ब्रह्ममें लीन हो गये। सौभरिमुनिके जीवनमें भूतदया विशेषरूपसे देखी जाती है, वे प्राणियोंको दुखी नहीं देख सकते थे। प्राणिमात्रके प्रति दयाका भाव रखना यही तो सच्ची साधुता है।

महर्षि वसिष्ठजी

महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्तिका वर्णन पुराणोंमें विभिन्नरूपसे आता है। ये कहीं ब्रह्माके मानसपुत्र, कहीं आग्नेय पुत्र और कहीं मित्रावरुणके पुत्र कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप तपोनिधि महर्षि वसिष्ठके चरित्रसे हमारे धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। इनकी सहधर्मिणी अरुन्धतीजी हैं, जो सप्तर्षिमण्डलके पास ही अपने पतिदेवकी सेवामें लगी रहती हैं। जब इनके पिता ब्रह्माजीने इन्हें सृष्टि करनेकी और भूमण्डलमें आकर सूर्यवंशी राजाओंका पौरोहित्य करनेकी आज्ञा की, तब इन्होंने उस कार्यसे बड़ी हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजीने समझाया कि इसी वंशमें आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका पूर्ण अवतार होनेवाला है, अत: इस निन्दित कर्मके द्वारा भी तुम्हें बड़ी ऊँची गति प्राप्त होगी। तब कहीं उन्होंने आना स्वीकार किया। यहाँ आकर इन्होंने सर्वदा अपनेको सर्वभूतहितमें लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पड़ा, तब उन्होंने अपने तपोबलसे वर्षा करायी और जीवोंकी अकालमृत्युसे रक्षा की। इक्ष्वाकु, निमि आदिसे अनेकों यज्ञ कराये और विभिन्न महापुरुषोंके यज्ञोंमें सम्मिलित होकर उनके अनुष्ठानको पूर्ण किया। जब अपने पूर्वजोंके असफल हो जानेके कारण गंगाको लानेसे भगीरथको निराशा हुई तब इन्होंने उन्हें प्रोत्साहन देकर मन्त्र बतलाया और इन्हींके उपदेशके बलपर भगीरथने महान् प्रयत्न करके गंगा-जैसी लोककल्याणकारिणी महानदीको हमलोगोंके लिये सुलभ कर दिया। जब दिलीप संतानहीन होनेके कारण अत्यन्त दुखी हो रहे थे तब उन्हें अपनी गौ नन्दिनीकी सेवाविधि बताकर रघु-जैसे पुत्र-रत्नका दान किया। दशरथकी निराशामें आशाका संचार करनेवाले यही महर्षि वसिष्ठ थे। इन्हींकी सम्मतिसे पुत्रेष्टि-यज्ञ हुआ और फलस्वरूप भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण किया। भगवान् श्रीरामको शिष्यरूपमें पाकर वसिष्ठने अपना पुरोहितजीवन सफल किया और न केवल वेद-वेदांग ही बल्कि योगवाशिष्ठ-जैसे अपूर्व ज्ञानमय ग्रन्थका उपदेश करके अपने ज्ञानको सफल किया। भगवान् श्रीरामके वनगमनसे लौटनेपर उन्हें राज्यकार्यमें सर्वदा परामर्श देते रहे और उनसे अनेकों यज्ञ-यागादि करवाये।

महर्षि वसिष्ठसे काम-क्रोधादि शत्रु पराजित होकर उनकी चरणसेवा किया करते थे, इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है। एक बार विश्वामित्र उनके अतिथि हुए, इन्होंने बड़े प्रेमसे अपनी कामधेनुकी सहायतासे अनेकों प्रकारकी भोजन-सामग्री आदि उपस्थित कर दी और विश्वामित्रने अपनी सेनाके साथ पूर्णत: तृप्तिलाभ किया। उस गौकी ऐसी अलौकिक क्षमता देखकर विश्वामित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसे लेनेकी इच्छा प्रकट की। वह गौ वसिष्ठके अग्निहोत्रके लिये आवश्यक थी, अत: जब उन्होंने देनेमें असमर्थता प्रकट की तब विश्वामित्रने बलात् छीन ले जानेकी चेष्टा की। उस समय वसिष्ठने उस गौकी सहायतासे अपार सेनाकी सृष्टि कर दी और विश्वामित्रकी सेनाको मार भगाया। क्षत्रियबलके सामने इस प्रकार ब्रह्मबलका उत्कर्ष देखकर

उन्हें हार माननी पड़ी; परंतु इससे उनकी द्वेषभावना कम न हुई, बल्कि उन्होंने वसिष्ठको हरानेके लिये महादेवजीकी शरण ग्रहण की। शंकरजीकी कृपासे दिव्यास्त्र प्राप्त करके उन्होंने फिर वसिष्ठपर आक्रमण किया, परंतु वसिष्ठके ब्रह्मदण्डके सामने उनकी एक न चली और उनके मुँहसे बरबस निकल पड़ा—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्ततः पराजय स्वीकार करके उन्हें ब्राह्मणत्व-लाभके लिये तपस्या करने जाना पड़ा।

महर्षि वसिष्ठ क्षमाकी तो मूर्ति ही थे। जब विश्वामित्रने इनके सौ पुत्रोंका संहार कर दिया, उस समय यद्यपि इन्होंने बड़ा शोक प्रकट किया, परंतु सामर्थ्य होनेपर भी विश्वामित्रके किसी प्रकारके अनिष्टका चिन्तनतक नहीं किया; बल्कि अन्तःकरणके क्षणिक शोकाकुल होनेपर भी ये अपनी निर्लेपता और असंगताको नहीं भूले।

एक बार बात-ही-बातमें विश्वामित्रसे इनका विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्संग? वसिष्ठजीका कहना था कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्रजीका कहना था कि तपस्या बड़ी है। अन्तमें दोनों ही महर्षि अपने विवादका निर्णय करानेके लिये शेषभगवान्‌के पास उपस्थित हुए। सब बातें सुनकर शेषभगवान्‌ने कहा कि भाई! अभी तो मेरे सिरपर पृथ्वीका भार है, दोनोंमेंसे कोई एक थोड़ी देरके लिये इसे ले ले तो मैं निर्णय कर सकता हूँ। विश्वामित्र अपनी तपस्याके घमण्डमें फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्षकी तपस्याके फलका संकल्प किया और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेकी चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसारमें तहलका मच गया। तब वसिष्ठजीने अपने सत्संगके आधे क्षणके फलका संकल्प करके पृथ्वीको धारण कर लिया और बहुत देरतक धारण किये रहे। अन्तमें जब शेषभगवान् फिर पृथ्वीको लेने लगे तब विश्वामित्रने कहा कि अभीतक आपने निर्णय तो सुनाया ही नहीं। शेषभगवान् हँस पड़े। उन्होंने कहा, निर्णय तो अपने-आप हो गया, आधे क्षणके सत्संगकी बराबरी हजारों वर्षकी तपस्या नहीं कर सकती। फिर क्या था, दोनों महर्षि तो थे ही, यह तो सत्संगकी महिमा प्रकट करनेका एक अभिनयमात्र था। दोनों ही बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने आश्रमपर लौट आये।

महर्षि वसिष्ठ योगवासिष्ठके उपदेशकके रूपमें ज्ञानकी साक्षात् मूर्ति हैं और अनेक यज्ञ-यागों तथा वसिष्ठसंहिताके प्रणयनद्वारा उन्होंने कर्मके महत्त्व और आचरणका आदर्श स्थापित किया है। उनका जीवन तो भगवान् श्रीरामके प्रेमसे सराबोर है ही। हमारे इतिहास-पुराणोंमें इनके चरित्रका बहुत बड़ा विस्तार है। उन सब बातोंका अध्ययन तो उन्हींमें हो सकता है। यहाँ तो केवल उनके जीवनकी दो-चार घटनाएँ ही उद्धृत की गयी हैं। महर्षि वसिष्ठ आज भी सप्तर्षियोंमें रहकर सारे जगत्‌के कल्याणमें लगे हुए हैं।

श्रीकर्दमजी

'छायायाः कर्दमो जज्ञे' अर्थात् ब्रह्माजीकी छायासे श्रीकर्दमजी उत्पन्न हुए। जब ब्रह्माजीने प्रजापति कर्दमको सृष्टि-विस्तारकी आज्ञा दी तो उन्होंने सर्वप्रथम स्वरूपानुरूप धर्मपत्नीकी प्राप्तिके लिये सरस्वती नदीके तटपर बिन्दुसरोवर तीर्थमें दस हजार वर्षोंतक तपस्याके द्वारा शरणागत-वरदायक श्रीहरिकी आराधना की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। प्रभुकी परम मनोहर मूर्तिका दर्शनकर कर्दमजीको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने सानन्द साष्टांग दण्डवत् प्रणामकर प्रेम-प्रवण चित्तसे हाथ जोड़कर अत्यन्त सुमधुर वाणीसे भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने कहा—जिसके लिये तुमने आत्मसंयमादिके द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदयके उस भावको जानकर मैंने पहलेसे ही उसकी व्यवस्था कर दी है। परम यशस्वी सार्वभौम सम्राट्

महामानव मनु परसों अपनी धर्मशीला भार्या शतरूपाके साथ अपनी रूप-यौवनशीला और सद्गुणसम्पन्ना कमललोचना कन्याको लेकर आयेंगे। प्रजापते! वह सर्वथा आपके स्वरूपानुरूप है। मनुजी वह कन्या आपको अर्पण करेंगे। उससे सृष्टिका विस्तार करनेवाली नौ कन्याएँ होंगी तथा सांख्यशास्त्रका प्रचार करनेके लिये मैं भी अपने अंश-कलासे आपके वीर्यका आश्रय लेकर आपकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे अवतीर्ण होऊँगा। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

इधर मनुजी भी महारानी शतरूपाके साथ सुवर्णजटित रथपर सवार होकर तथा परम साध्वी, मुनि-वृत्तिशीला कन्या देवहूतिको भी बिठाकर भगवान्‌के बताये संकेतानुसार निश्चित समयपर शान्तिपरायण महर्षि कर्दमके आश्रमपर पहुँचे। अग्निहोत्रसे निवृत्त परम तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ कर्दमको मनुजीने प्रणाम किया। श्रीकर्दमजीने आशीर्वाद देते हुए यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया और आगमनका कारण पूछा। मनुजीने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया—यह मेरी कन्या है—जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहन है, स्वभावसे ही राजसुख भोगोंसे विरक्त है; अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पति पानेकी इच्छा रखती है। जबसे इसने नारदजीके मुखसे आपके शील, विद्या, रूप और गुणोंका वर्णन सुना है, तभीसे आपको अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है। द्विजवर! मैं बड़ी श्रद्धासे आपको यह कन्या समर्पित करता हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिये।

श्रीकर्दमजीने स्वीकृति तो दे दी परंतु शर्तपर। वह यह कि जबतक इसके संतान नहीं हो जायगी, तबतक मैं गृहस्थधर्मानुसार इसके साथ रहूँगा, इसके पश्चात् भगवान्‌के बताये हुए परमधर्म भगवदाराधनको ही मैं अधिक महत्त्व दूँगा। महाराज मनुजीने ब्राह्म विधिसे देवहूतिका विवाह कर्दमजीसे कर दिया और दहेजमें भूरि-भूरि बहुमूल्य वस्त्राभूषण एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कीं तथा मुनिकी आज्ञा लेकर वहाँसे अपने स्थानको चले आये।

मनुपुत्री देवहूतिने काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, मदादिका त्यागकर बड़ी सावधानी और लगनके साथ सेवामें तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषणादि गुणोंसे अपने परम तेजस्वी पतिदेवको सन्तुष्ट कर लिया। बहुत काल व्यतीत होनेपर सेवापरायणा देवहूतिके मनमें संतानकी अभिलाषा जाग्रत् होनेपर परम तपोधन श्रीकर्दमजीने अपने तपोबलसे स्वयं दिव्य स्वरूप धारणकर तथा देवहूतिको भी दिव्यरूप प्रदानकर, सहस्रों दास-दासियोंसे सेवित एवं समावृत होकर योग-प्रभाव-विनिर्मित दिव्य विमानपर विराजमान होकर देवहूतिके साथ बहुत वर्षोंतक विहार किया। तत्पश्चात् देवहूतिको संतानप्राप्तिके लिये समुत्सुक देखकर श्रीकर्दमजीने अपने स्वरूपके नौ विभाग किये और नवों स्वरूपोंसे उनके गर्भमें अपना तेज स्थापित किया। इससे देवहूतिके नौ कन्याएँ पैदा हुईं। श्रीकर्दमजी अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार संन्यास ग्रहण करनेको समुद्यत हुए। पतिदेवके हार्दिक अभिप्रायको जानकर देवहूतिने बड़ी विनम्रतापूर्वक कन्याओंको योग्य वरोंके हाथोंमें सौंपने तथा वन चले जानेपर अपने आधारके लिये एक पुत्रकी प्रार्थना की। तब कृपालु मुनि कर्दमको भगवान् विष्णुका वह कथन याद हो आया, जिसमें कि उन्होंने स्वयंका मुनि-पुत्र होनेका संकेत किया था। श्रीकर्दमजीने देवहूतिको आश्वासन दिया—प्रिये! अधीर न हो, तुम्हारे गर्भमें अविनाशी भगवान् विष्णु शीघ्र ही पधारेंगे। अब तुम संयम, नियम, दान और तपादिके द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का आराधन करो; पतिवचन-विश्वासिनी देवहूति प्राणपणसे भगवदाराधनमें लग गयीं। इधर कर्दमजीने श्रीब्रह्माजीके आदेशानुसार अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अंगिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको, अरुन्धती वसिष्ठको और शान्ति अथर्वाको समर्पित की। ये ऋषि लोग श्रीकर्दमजीकी

आज्ञा लेकर अति आनन्दपूर्वक अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ अपने-अपने आश्रमको चले गये।

इधर परम मंगल मुहूर्त आनेपर साक्षात् देवाधिदेव भगवान् विष्णु श्रीकर्दमजीके वीर्यका आश्रय लेकर देवहूतिके गर्भसे श्रीकपिलरूपमें प्रकट हुए। देवताओंने दुन्दुभियाँ बजायीं, पुष्पवृष्टि की। ब्रह्मादिकने ऋषि-दम्पतीके सौभाग्यकी सराहना करते हुए श्रीकपिलभगवान्‌की स्तुति की। श्रीकर्दमजीने पुनः पूर्वप्रतिज्ञाका स्मरणकर श्रीकपिलभगवान्‌की आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की और प्रसन्नतापूर्वक वनको चले गये। वहाँ परम भक्तिभावके द्वारा सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेवमें चित्त लगाकर उन्होंने परम पद प्राप्त कर लिया। भगवान् श्रीकपिलदेव भी माता देवहूतिको तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर गंगा-सागर-संगमपर जाकर भजनमें प्रवृत्त हो गये। देवहूतिजी भी भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका अनुचिन्तन करती हुई भगवद्धामको प्राप्त हुईं।

श्रीअत्रिजी

ये भी महर्षि मरीचिकी भाँति ब्रह्माजीके मानसपुत्र और प्रजापति हैं। ये दक्षिण दिशामें रहते हैं, इनकी पत्नी अनसूया भगवदवतार कपिलकी भगिनी है तथा कर्दमप्रजापतिकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे पैदा हुई हैं। जैसे महर्षि अत्रि अपने नामके अनुसार त्रिगुणातीत थे, वैसे ही अनसूया भी असूयारहित थीं। इन दम्पतीको जब ब्रह्माने आज्ञा की कि सृष्टि करो, तब इन्होंने सृष्टि करनेके पहले तपस्या करनेका विचार किया और बड़ी घोर तपस्या की। इनके तपका लक्ष्य संतानोत्पादन नहीं था बल्कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌का दर्शन प्राप्त करना था। इनकी श्रद्धापूर्वक दीर्घकालकी निरन्तर साधना और प्रेमसे आकृष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों ही देवता प्रत्यक्ष उपस्थित हुए। उस समय ये दोनों उनके चिन्तनमें इस प्रकार तल्लीन थे कि उनके आनेका पतातक न चला। जब उन्होंने ही इन्हें जगाया तब ये उनके चरणोंपर गिर पड़े, किसी प्रकार सँभलकर उठे और गद्‌गद वाणीसे उनकी स्तुति करने लगे। इनके प्रेम, सचाई और निष्ठाको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वरदान माँगनेको कहा। इन दम्पतीके मनमें अब संसारी सुखकी इच्छा तो थी ही नहीं, परंतु ब्रह्माकी आज्ञा थी सृष्टि करनेकी और वे इस समय सामने ही उपस्थित थे; तब इन्होंने और कोई दूसरा वरदान न माँगकर उन्हीं तीनोंको पुत्ररूपमें माँगा और भक्तिपरवश भगवान्‌ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके 'एवमस्तु' कह दिया। समयपर तीनोंहीने इनके पुत्ररूपसे अवतार ग्रहण किया। विष्णुके अंशसे दत्तात्रेय, ब्रह्माके अंशसे चन्द्रमा और शंकरके अंशसे दुर्वासाका जन्म हुआ। जिनकी चरणधूलिके लिये बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तरसते रहते हैं, वे ही भगवान् अत्रिके आश्रममें बालक बनकर खेलने लगे और दोनों दम्पती उनके दर्शन और वात्सल्यस्नेहके द्वारा अपना जीवन सफल करने लगे। अनसूयाको तो अब कुछ दूसरी बात सूझती ही न थी। अपने तीनों बालकोंको खिलाने-पिलानेमें ही लगी रहतीं।

इन्हींके पातिव्रत्य, सतीत्वसे प्रसन्न होकर वनगमनके समय स्वयं भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ इनके आश्रमपर पधारे और इन्हें जगज्जननी माँ सीताको उपदेश करनेका गौरव प्रदान किया।

कहीं-कहीं ऐसी कथा भी आती है कि महर्षि अत्रि ब्रह्माके नेत्रसे प्रकट हुए थे और अनसूया दक्षप्रजापतिकी कन्या थीं। यह बात कल्पभेदसे बन सकती है। अनेकों बार बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे इन्होंने जगत्‌की रक्षा की है। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि एक बार राहुने अपनी पुरानी शत्रुताके कारण सूर्यपर आक्रमण किया और सूर्य अपने स्थानसे च्युत हो गये, गिर पड़े। उस समय महर्षि अत्रिके तपोबल और शुभ संकल्पसे उनकी रक्षा हुई तथा जगत् जीवन एवं प्रकाशसे शून्य होते-होते बच गया। तबसे महर्षियोंने अत्रिका एक नाम प्रभाकर रख दिया। महर्षि अत्रिकी चर्चा वेदोंमें भी आती है। एक बार जब ये समाधिमग्न थे, दैत्योंने इन्हें उठाकर शतद्वार यन्त्रमें डालकर अग्नि जला दी और इन्हें नष्ट करनेकी चेष्टा की, किंतु

इन्हें इस बातका पतातक न था। उस समय भगवत्प्रेरणासे अश्विनीकुमारोंने वहाँ पहुँचकर इन्हें बचाया। धर्मशास्त्रोंमें अत्रिसंहिता एक प्रधान स्मृति है और हमारे कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये वह एक अमूल्य ग्रन्थरत्न है। इनके विस्तृत और पवित्र जीवनकी चर्चा प्रायः समस्त आर्ष ग्रन्थोंमें आयी है।

श्रीऋचीकजी

श्रीऋचीकजीका वर्णन छप्पय ५ में परशुरामावतारके प्रसंगमें आया है।

श्रीगर्गजी

श्रीगर्गाचार्यजी यदुवंशियोंके पुरोहित थे और थे बड़े तपस्वी **'गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः॥'** श्रीवसुदेवजीने इन्हें अपने पुत्रोंका नामकरण-संस्कार करनेके लिये गोकुल भेजा था। श्रीगर्गाचार्यजीका दर्शनकर श्रीनन्दबाबाके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। उनके चरणोंमें साष्टांग दण्डवत् प्रणामोपरान्त श्रीनन्दजीने विधिपूर्वक आचार्यचरणका पूजन किया और उनके शुभागमनसे अपना अहोभाग्य माना। तत्पश्चात् अपने दोनों बालकोंको मुनिके चरणोंमें प्रणाम कराकर इनका नामकरणादि संस्कार करनेकी प्रार्थना की। मुनि तो इसी निमित्त आये ही थे। परंतु कंसको कहीं यह आभास न हो जाय कि वसुदेवजीके पुरोहितने नन्दात्मजका समयोचित संस्कार कराया है, अतः हो न हो, ये वसुदेव-पुत्र ही हैं, वह दुष्ट इनके अनिष्टका उद्यम करने लगेगा, अतः श्रीगर्गजीने एकान्त गोशालामें स्वस्तिवाचनपूर्वक बालकोंका द्विजाति-समुचित संस्कार कर दिया। इसी व्याजसे श्रीगर्गाचार्यजीने श्रीबलराम-कृष्णके ऐश्वर्यका भी वर्णन कर दिया, जिससे कि आगेकी लोकोत्तर लीलाओंमें किसी प्रकारका सन्देह न हो। भगवान्‌के अतिमानुषी चरित्रोंको देखकर श्रीगर्गजीके वचनोंको याद कर लेनेपर सहज ही सन्देहका समाधान हो जाता था।

श्रीगर्गजीका श्रीकृष्ण-लीलामें बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। समस्त नन्दव्रजकुमारिकाएँ श्रीकृष्णको ही पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये श्रीकात्यायनीदेवीका पूजन कर रही थीं। परंतु उनके माता-पिता तो लोक-व्यवहारके अनुसार अपनी कन्याओंको अन्यत्र ही व्याहना चाहते थे। बड़ी कठिन समस्या थी। श्रीगर्गाचार्यजीने इसको बड़ी बुद्धिमानीसे सुलझाया। जिस समय श्रीब्रह्माजी मोहवश गोप-बालक-वत्सोंको हर ले गये थे और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही अनेक-अनेक बालक और वत्स बनकर विविध विनोद कर रहे थे, उस समय श्रीगर्गाचार्यजीने लीलाके अनुकूल परिस्थिति विचारकर ब्रजमें आकर सबको यह चेतावनी दी कि ग्रहस्थितिके अनुसार अगले बारह वर्षोंतक विवाह-मुहूर्त नहीं मिलनेवाले हैं, अतः इसी वर्ष कुमार-कुमारियोंका विवाह-संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिये। सब लोगोंने श्रीगर्गजीकी बात मानकर उपर्युक्त वरोंके साथ अपनी कन्याओंका विवाह कर दिया, जो कि वस्तु-तस्तु अनेक रूपमें श्रीकृष्ण ही थे। इस प्रकार सभी गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया ही हुईं। श्रीगर्गाचार्यजीने स्वरचित 'गर्ग-संहिता' में भगवान् श्रीकृष्णकी अति मधुर रसमयी लीलाओंका बड़ी मधुरताके साथ वर्णन किया है।

श्रीगौतमजी

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥*

---

* मतवाले हाथीके मदको चूर्ण करनेवाले शूर पुरुष होते हैं। बहुतसे बलवान् सिंहको भी पछाड़नेकी शक्ति रखते हैं, किंतु मैं बलवानोंके सम्मुख हठपूर्वक कहता हूँ कि कामदेवके मदको चूर्ण करनेवाले होते तो हैं, किंतु विरले ही होते हैं अर्थात् इसे वशमें करना बहुत कठिन है।

महर्षि गौतम सप्तर्षियोंमें एक ऋषि हैं। कहीं-कहीं पुराणोंमें ऐसी कथा मिलती है कि महर्षि अन्धतमा जन्मके अन्धे थे, उनपर स्वर्गकी कामधेनु प्रसन्न हो गयी और उस गौने इनका तम हर लिया। ये देखने लगे। तबसे इनका नाम गौतम पड़ गया। ये ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टिके हैं। पुराणान्तरोंमें ऐसी कथा आती है कि सर्वप्रथम ब्रह्माजीकी इच्छा एक स्त्री बनानेकी हुई, उन्होंने सब जगहसे सौन्दर्य इकट्ठा करके एक अभूतपूर्व स्त्री बनायी। उसके नखसे शिखतक सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य भरा था। हल कहते हैं पापको, हलका भाव हल्य और जिसमें पाप न हो उसका नाम अहल्या है; अतः उस निष्पापाका नाम भगवान् ब्रह्माने अहल्या रखा। यह पृथ्वीपर सर्वप्रथम इतनी सुन्दर मानुषी स्त्री हुई कि सब ऋषि, देवता उसकी इच्छा करने लगे। इन्द्रने तो उसके लिये भगवान् ब्रह्मासे याचना भी की, किंतु ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी ललनाको भला कौन नहीं चाहेगा? उन दिनों भगवान् गौतम बड़ी घोर तपस्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उनके पास गये और जाकर बोले—'यह अहल्या तुम्हें हम धरोहरके रूपमें दिये जाते हैं, जब हमारी इच्छा होगी ले लेंगे।' ब्रह्माजीकी आज्ञा ऋषिने शिरोधार्य की। अहल्या ऋषिके आश्रमें रहने लगी। वह हर तरहसे ऋषिकी सेवामें तत्पर रहती और ऋषि भी उसका धरोहरकी वस्तुकी भाँति ध्यान रखते, किंतु उनके मनमें कभी किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आया।

हजारों वर्षके बाद ऋषि स्वयं ही अहल्याको लेकर ब्रह्माजीके यहाँ गये और बोले—'ब्रह्मन्! आप अपनी यह धरोहर ले लें।' ब्रह्माजी इनके इस प्रकारके संयम और पवित्र भावको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अहल्याका विवाह इन्हींके साथ कर दिया। ऋषि सुखपूर्वक इनके साथ रहने लगे। इनके एक पुत्र भी हुए, जो महर्षि शतानन्दके नामसे विख्यात हैं और जो महाराज जनकके राजपुरोहित थे। इन्द्रने जब अहल्याके साथ अनुचित बर्ताव किया—न करनेयोग्य काम किया, तब इसमें अहल्याकी भी कुछ सम्मति समझकर गौतमजीने उसे पाषाण होनेका शाप दे दिया। तब ब्रह्माजीने भी शाप दिया कि आजसे केवल अहल्यामें ही सम्पूर्ण सौन्दर्य न रहकर पृथ्वीभरकी स्त्रीमात्रमें बँट जायगा। उन्होंने इन्द्रको शाप दिया कि तुम्हारा पद स्थायी न रहेगा, इन्द्र सदा बदलते रहेंगे। इस प्रकार ऋषि गौतम अपनी पत्नीको त्यागकर हिमवान् पर्वतपर तपस्या करने चले गये। जब श्रीरामचन्द्रजीकी चरणधूलिसे अहल्या पुनः पवित्र हो गयी, तब गौतमजीने उसे स्वीकार कर लिया। महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके-ऐसा त्याग, वैराग्य और तप कहाँ देखनेको मिलेगा!

व्यासशिष्यगण

युगानुसार मनुष्योंकी आयु, शक्ति और बुद्धि क्षीण हो जाती है, इससे ब्रह्मवेत्ता ऋषिगण अपने हृदय-देशमें स्थित परमात्माकी प्रेरणासे वेदोंका विभाजन कर देते हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तरमें भी ब्रह्मा-शंकर आदि देवाधिपतियोंकी प्रार्थनासे अखिल विश्वके जीवनदाता भगवान्ने धर्मकी रक्षाके लिये महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे अपने कलांशस्वरूप व्यासके रूपमें अवतार ग्रहण किया है। उन्होंने ही वर्तमान युगमें वेदके चार विभाग किये हैं। जैसे मणियोंके समूहमेंसे विभिन्न जातिकी मणियाँ छाँटकर अलग-अलग कर दी जाती हैं। वैसे ही भगवान् वेदव्यासने मन्त्र-समुदायोंमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रोंका संग्रह करके उनसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं और अपने चार शिष्योंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक संहिताकी शिक्षा दी। उन्होंने 'बह्वृच' नाम की पहली ऋक्-संहिताको पैलको, 'निगद' नामकी दूसरी यजुःसंहिता वैशम्पायनको, सामश्रुतियोंकी 'छन्दोगसंहिता' जैमिनिको और सुमन्तुको 'अथर्वाङ्गिरससंहिता' का अध्ययन कराया। समस्त पुराणोंका सूतजीको एवं श्रीमद्भागवतका श्रीशुकदेवजीको अध्ययन कराया। आगे

चलकर इन शिष्योंके बहुतसे शिष्य-प्रशिष्य हुए।

श्रीलोमशजी

ये चिरंजीवी महर्षि हैं। शरीरपर बहुतसे रोम होनेके कारण इनको लोमश कहते हैं। द्विपरार्ध व्यतीत होनेपर जब ब्रह्माकी आयु समाप्त होती है तो इनका एक रोम गिरता है। यद्यपि ब्रह्माजीकी आयु बहुत बड़ी है। इनका एक कल्प (हजार चतुर्युगी)-का दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि भी होती है। इस प्रकार तीस दिनका महीना और बारह महीनेके सालके हिसाबसे ब्रह्माजीकी सौ बरसकी आयु है, लेकिन श्रीलोमशजीकी दृष्टिमें मानो रोज-रोज ब्रह्माजी मरते ही रहते हैं। एक बार तो अपनी दीर्घायुष्यतासे अकुलाकर इन्होंने भगवान्‌से मृत्युका वरदान माँगा। प्रभुने उत्तर दिया कि यदि 'जल-ब्रह्म' की अथवा ब्राह्मणकी निन्दा करो तो उस महापातकसे आप भले ही मर सकते हो, अन्यथा आपके यहाँ कालकी दाल नहीं गलनेवाली है। इन्होंने कहा कि अच्छा! आश्रममें जाकर मैं वैसा ही करूँगा। मार्गमें इन्होंने थोड़ा-सा जल देखा, जो कि शूकरके लोटनेसे अत्यन्त गँदला हो गया था। वहींपर इन्होंने देखा कि एक स्त्री, जिसके गोदमें दो बालक थे, पहले एक बालकको स्तनपान कराकर, फिर अपना स्तन धोकर तब दूसरे बच्चेको स्तन पिला रही है। श्रीलोमशजीने इसका कारण पूछा तो उसने कहा कि यह एक पुत्र तो ब्राह्मणके तेजसे है और दूसरा नीच जातिके मेरे पतिसे जन्मा है। अतएव मैंने ब्राह्मणोद्भव बालकको धोये स्तनका दूध पिलाया है।

श्रीलोमशजीका नियम था कि वह नित्य ब्राह्मणका चरणोदक लेते थे। आज उन्होंने अभी नहीं लिया था। दूसरा जल और दूसरा ब्राह्मण मिला नहीं, अतः उन्होंने उसी जलसे ब्रह्मवीर्यसे उत्पन्न उसी बालकका चरणामृत ले लिया। उसी समय प्रभु प्रकट हो गये और बोले कि तुमने जब ऐसे जलको भी आदर दिया और ऐसे ब्राह्मणके चरणसरोजकी भी भक्ति की तो तुम भला जल या विप्रके निन्दक कब हो सकते हो! मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि विप्रप्रसादसे तुम चिरंजीव ही बने रहोगे। तभी तो कहा गया है कि—***'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई॥' 'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥'*** (रामा०)

श्रीलोमशजी इतने दीर्घायु होकर भी शरीरकी क्षणभंगुरताका निरन्तर अनुसन्धान करते हुए सर्वथा अपरिग्रहपूर्वक सदा-सर्वदा हरिचिन्तनमें तल्लीन रहते हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें एक कथा आती है कि एक बार देवराज इन्द्रने अपनेको अमर मानकर एक बड़ा विशाल महल बनवाना प्रारम्भ किया। बेचारा विश्वकर्मा पूरे सौ वर्षतक कन्नी-बसुली चलाता रहा, परंतु तब भी जब निर्माण-कार्यका पर्यवसान उन्हें नहीं दीख पड़ा तो घबराकर वह मन-ही-मन ब्रह्माजीकी शरण गया। ब्रह्माजीने भगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान् एक ब्राह्मण-बालकका रूप धारणकर इन्द्रके पास पहुँचे और पूछा—देवेन्द्र! आपके इस निर्माण-कार्यमें कितने विश्वकर्मा लगे हैं और कबतक यह पूर्ण होगा? इन्द्र तो आजतक एक ही विश्वकर्माको जानते थे। यह प्रश्न सुनकर कुछ चकराकर पूछा—क्या विश्वकर्मा भी कई हैं? तब बालकरूपधारी भगवान्‌ने इन्द्रसे सृष्टिका आनन्त्य वर्णन करते हुए नीचे जाते हुए दो सौ गज लम्बे-चौड़े चींटोंके समुदायकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि ये सब पहले कभी इन्द्र हो चुके हैं। पुण्य क्षीण होनेपर अब इस गतिको प्राप्त हैं। इन्द्रके पाँवके नीचेकी जमीन खिसक गयी। भगवान् यह कह ही रहे थे कि महर्षि लोमश भी सिरपर चटाई रखे वहाँ आ पहुँचे। वस्तुतस्तु भगवान्‌ने उनका स्मरण किया था। इन्द्रने यथोचित सत्कार किया। तदनन्तर भगवान्‌ने जब मुनिसे सिरपर चटाई रखने एवं वक्षःस्थलपरके रोमरिक्त स्थानके रहस्यको जाननेकी इच्छा

की तो मुनिने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा—जीवन क्षणभंगुर है। इस थोड़ी-सी आयुके लिये संग्रह-परिग्रह तथा कुटिया आदि बनानेकी कौन खटपट करे। यह चटाई मुझे पर्याप्त छाया दे देती है। मैंने अपनी आँखोंसे न जाने कितने इन्द्र और ब्रह्माका विनाश देखा है। इनकी मृत्युपर मेरा एक रोम गिर जाता है। यही विचारकर मैं समस्त जगत्प्रपंचसे मुँह मोड़कर, भगवन्नामका एकमात्र सहारा लेकर, पर्यटन करता रहता हूँ। इन्द्रको अपनी भूल समझमें आ गयी और उन्होंने निर्माण-कार्य बन्द कर दिया।

एक बार श्रीलोमशजीने श्रीनारदजीसे पूछा—आप कहाँसे आ रहे हैं? श्रीनारदजीने कहा—मैं नित्यप्रति भगवान् श्रीरामका दर्शन करने श्रीअयोध्या जाता हूँ। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लिखा है—*'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥'* (रा०च०मा० ७।२७।१-२) श्रीलोमशजी काकभुसुण्डिजीकी तरह श्रीनारदजीको भी ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे। श्रीनारदजीको यह उपदेश नहीं रुचा। भगवान्से शिकायत की, तब भगवान्ने इन्हें भी श्रीमार्कण्डेयजीकी तरह मायाका दर्शन कराया। इन्होंने मायाके प्रलयपयोधिमें डूबते-उतराते वैकुण्ठमें पहुँचकर भगवान् विष्णुसे रक्षाकी प्रार्थना की तो भगवान् विष्णुने कहा—हम तो एक ब्रह्माण्डके पालक हैं और यह माया अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीरामजीकी है, अतः आप श्रीरामजीकी शरण ग्रहण करें। लोमशजी जिस भी ब्रह्माण्डमें पहुँचते वहाँ यही आदेश होता, तब भटकते-भटकते जब वे श्रीअयोध्याजी पहुँचे तो इन्होंने प्रथम श्रीसरजूजीमें स्नान किया, तब श्रीरघुनाथजीका दर्शन हुआ। 'त्राहि-त्राहि' कहकर ये चरणोंमें पड़े, तब मायासे छूटे। फिर तो इन्होंने खूब श्रीरामजीका यश गाया; जो लोमशरामायणके नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीभृगुजी

भृगु ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमेंसे एक हैं। ये एक प्रजापति भी हैं। चाक्षुष मन्वन्तरमें इनकी सप्तर्षियोंमें गणना होती है। इनकी तपस्याका अमित प्रभाव है। दक्षकी कन्या ख्यातिको इन्होंने पत्नीरूपसे स्वीकार किया था; उनसे धाता-विधाता नामके दो पुत्र और 'श्री'नामकी एक कन्या हुई। इन्हीं श्रीका पाणिग्रहण भगवान् नारायणने किया था। इनके और बहुत-सी संतान हैं, जो विभिन्न मन्वन्तरोंमें सप्तर्षि हुआ करते हैं। वाराहकल्पके दसवें द्वापरमें महादेव ही भृगुके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। कहीं-कहीं स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें भी भृगुकी गणना है। सुप्रसिद्ध महर्षि च्यवन इन्हींके पुत्र हैं। इन्होंने अनेकों यज्ञ किये-कराये हैं और अपनी तपस्याके प्रभावसे अनेकोंको सन्तान प्रदान की है। ये श्रावण और भाद्रपद दो महीनोंमें भगवान् सूर्यके रथपर निवास करते हैं। प्रायः सभी पुराणोंमें महर्षि भृगुकी चर्चा आयी है। उसका अशेषतः वर्णन तो किया ही नहीं जा सकता। हाँ, उनके जीवनकी एक बहुत प्रसिद्ध घटना, जिसके कारण सभी भक्त उन्हें याद करते हैं, यहाँ दी जा रही है—

एक बार सरस्वती नदीके तटपर ऋषियोंकी बहुत बड़ी परिषद् बैठी थी। उसमें यह विवाद छिड़ गया कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनोंमें कौन बड़ा है? इसका जब कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं हुआ तब इस बातका पता लगानेके लिये सर्वसम्मतिसे महर्षि भृगु ही चुने गये। ये पहले ब्रह्माकी सभामें गये और वहाँ अपने पिताको न तो नमस्कार किया और न स्तुति की। अपने पुत्रकी इस अवहेलनाको देखकर ब्रह्माके मनमें बड़ा क्रोध आया, परंतु उन्होंने अपना पुत्र समझकर इन्हें क्षमा कर दिया, अपने क्रोधको दबा लिया। इसके बाद ये कैलासपर्वतपर अपने बड़े भाई रुद्रदेवके पास पहुँचे। अपने छोटे भाई भृगुको आते देखकर आलिंगन करनेके लिये वे बड़े प्रेमसे आगे बढ़े, परंतु भृगुने यह कहकर कि तुम उन्मार्गगामी हो

उनसे मिलना अस्वीकार कर दिया। उन्हें बड़ा क्रोध आया और वे त्रिशूल उठाकर मारनेके लिये दौड़ पड़े। अन्ततः पार्वतीने उनके चरण पकड़कर प्रार्थना की और क्रोध शान्त किया। अब विष्णुभगवान्‌की बारी आयी। ये बेखटके वैकुण्ठमें पहुँच गये। वहाँ ब्राह्मण भक्तोंके लिये कोई रोक-टोक तो है नहीं। ये पहुँच गये भगवान्‌के शयनागारमें। उस समय भगवान् विष्णु सो रहे थे और भगवती लक्ष्मी उन्हें पंखा झल रही थीं, उनकी सेवामें लगी हुई थीं। इन्होंने बेधड़क वहाँ पहुँचकर उनके वक्षःस्थलपर एक लात मारी। तुरंत भगवान् विष्णु अपनी शय्यापरसे उठ गये और इनके चरणोंपर अपना सिर रखकर नमस्कार किया और कहा—'भगवन्! आइये, आइये, विराजिये, आपके आनेका समाचार न जाननेके कारण ही आपके स्वागतसे वंचित रहा। क्षमा कीजिये! क्षमा कीजिये! कहाँ तो आपके कोमल चरण और कहाँ यह मेरी वज्रकर्कश छाती! आपको बड़ा कष्ट हुआ।' यह कहकर उनके चरण अपने हाथों दबाने लगे। उन्होंने कहा—'ब्राह्मण देवता! आज आपने मुझपर बड़ी कृपा की। आज मैं कृतार्थ हो गया। अब ये आपके चरणोंकी धूलि सर्वदा मेरे हृदयपर ही रहेगी।' कुछ समय बाद महर्षि भृगु वहाँसे लौटकर ऋषियोंकी मण्डलीमें आये और अपना अनुभव सुनाया। इनकी बात सुनकर ऋषियोंने एक स्वरसे यह निर्णय किया कि जो सात्त्विकताके प्रेमी हैं, उन्हें एकमात्र भगवान् विष्णुका ही भजन करना चाहिये। महर्षि भृगुका साक्षात् भगवान्‌से सम्बन्ध है, इनकी स्मृति हमें भगवान्‌की स्मृति प्रदान करती है।

श्रीदाल्भ्यजी

विप्रवर श्रीदाल्भ्यजीने भगवान् श्रीदत्तात्रेयजीसे भक्ति-योगकी शिक्षा पायी थी, इनकी साधनासे सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीहरिने दर्शन दिया था। इन्होंने धर्म-ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-प्रतिपादक संहिता-ग्रन्थका प्रणयन किया था, जिसे 'दाल्भ्यसंहिता' कहते हैं। इनकी परमभागवतोंमें गणना की जाती है। यथा—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीनेतानहं परमभागवतान्नमामि ॥*

श्रीअंगिराजी

महर्षि अंगिरा भी ब्रह्माके एक मानसपुत्र और प्रजापति हैं। इनकी तपस्या और उपासना इतनी तीव्र थी कि इनका तेज और प्रभाव अग्निकी अपेक्षा भी अधिक बढ़ गया। उस समय अग्निदेव भी जलमें रहकर तपस्या करते थे। जब उन्होंने देखा कि अंगिराके तपोबलके सामने मेरी तपस्या और प्रतिष्ठा तुच्छ हो रही है, तब बड़े सन्ताप और ग्लानिके साथ वे महर्षि अंगिराके पास आये। महर्षि अंगिराने उनके विषादका अनुभव करके कहा—'आपके सन्तप्त होनेका कोई कारण नहीं है, आप बड़ी प्रसन्नताके साथ लोगोंका कल्याण करें।'

अग्निने गिड़गिड़ाकर कहा—'मेरी कीर्ति नष्ट हो रही है; अब मुझे कोई अग्नि कहकर सम्मान नहीं करेगा। आप प्रथम अग्नि हैं और मैं द्वितीय अग्नि हूँ।' उस समय महर्षि अंगिराने कहा—'आप अग्निके रूपमें देवताओंको भोजन पहुँचायें और स्वर्ग चाहनेवालोंको उनका मार्ग बतायें तथा अपनी दिव्य ज्योतिद्वारा मुमुक्षुओंका अन्तःकरण शुद्ध करें, मैं आपको पुत्रके रूपमें वरण करता हूँ।' अग्निदेवने बड़ी प्रसन्नताके साथ उनकी बात स्वीकार की और बृहस्पति नामसे उनके पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

कहीं-कहीं ऐसी कथा भी आती है कि अंगिरा अग्निके पुत्र हैं। यह बात कल्पभेदमें ही बन सकती

* प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुकदेव, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्मांगद, अर्जुन, वसिष्ठ, विभीषण आदि—इन परम भागवतोंको मैं नमस्कार करता हूँ।

है। इनकी पत्नी दक्षप्रजापतिकी पुत्री स्मृति थीं, जिनसे अनेकों पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न हुईं।

शिवपुराणमें ऐसी कथा आती है कि युग-युगमें भगवान् शिव व्यासावतार ग्रहण करते हैं; उनमें वाराहकल्पमें वेदोंके विभाजक, पुराणोंके प्रदर्शक और ज्ञानमार्गके उपदेशक अंगिरा ही व्यास थे। वाराहकल्पके नवें द्वापरमें महादेवने ऋषभ नामसे अवतार ग्रहण किया था। उस समय उनके पुत्ररूपमें महर्षि अंगिरा थे। एक बार भगवान् श्रीकृष्णने व्याघ्रपाद ऋषिके आश्रमपर महर्षि अंगिरासे पाशुपतयोगकी प्राप्तिके लिये बड़ी दुष्कर तपस्या की थी। इनके पुत्रोंमें बृहस्पति-जैसे ज्ञानी और अनेकों मन्त्रद्रष्टा थे। ये बहुधा देवर्षि नारदके साथ विचरते रहते हैं और वृत्रासुरके पूर्वजन्ममें जबकि वह चित्रकेतु था, इन्होंने उसकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसे पुत्र प्रदान किया और पुत्रके मर जानेपर उसे संसारसे वैराग्यका उपदेश करके भगवत्प्राप्तिका मार्ग बताया, जिससे चित्रकेतुको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हुई। अभी थोड़े दिन हुए महर्षि अंगिरारचित एक 'भक्तिदर्शन' प्राप्त हुआ है। उसमें भक्तिशास्त्रकी बड़ी ही मार्मिक और पूर्ण व्याख्या हुई है। एक महर्षि अंगिराकी स्मृति भी है, जिसमें धर्म-कर्मका बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है। संक्षेपमें महर्षि अंगिरा सप्तर्षियोंमें एकके रूपमें जगत्‌का धारण करते हैं तथा ज्ञान, भक्ति और कर्मके विस्तारके द्वारा सुप्त जीवोंको जाग्रत् करके भगवान्‌की ओर अग्रसर करते हैं। पुराणोंमें इनका चरित्र भी विस्तारसे मिलता है।

श्रीशृंगी ऋषिजी

इनके जन्मकी कथा इस प्रकारसे है कि एक बार विभाण्डकमुनि एक कुण्डमें समाधि लगाये बैठे थे। उसी समय उर्वशी अप्सरा उधरसे आ निकली। उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया, जिसे जलके साथ एक प्यासी मृगी पी गयी। उस मृगीसे इनका जन्म हुआ। माताके समान इनके सिरपर भी एक सींग थी, अतः इनका नाम ऋष्यशृंग पड़ा। ये सदा वनमें अपने पिता विभाण्डकके पास रहनेके कारण किसी स्त्री अथवा पुरुषको नहीं जानते थे। इस प्रकार इन्हें ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने, अग्नि और पिताकी सेवा करते बहुत काल बीत गया। उसी समय अंगदेशमें रोमपाद नामक प्रतापी राजा हुए। उनके राज्यमें बड़ा भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। राजाने सुविज्ञ वेदज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने कर्मोंका, जिसके कारण राज्यमें वर्षा नहीं हो रही है, प्रायश्चित्त पूछा। उन ब्राह्मणोंने राजाको यह उपाय बताया कि आप जैसे बने तैसे विभाण्डकमुनिके पुत्र ऋष्यशृंगको यहाँ ले आइये और उनका सत्कार करके यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये।

राजा चिन्तित हुए कि ऋषिको कैसे यहाँ लाया जाय? बहुत सोच-विचारकर उन्होंने अपने पुरोहित और मन्त्रियोंसे कहा कि आप लोग जाकर ऋषिकुमारको ले आयें। परंतु उन लोगोंने निवेदन किया कि हम लोग वहाँ जानेमें विभाण्डकऋषिके शापसे डरते हैं। अतः स्वयं न जाकर किसी अन्य उपायसे उनको यहाँ ले आयेंगे, जिससे हमको दोष न लगे। मन्त्री और पुरोहितोंने निर्विघ्न कृतकार्य होनेका यह उपाय बताया कि रूपवती वेश्याएँ सत्कारपूर्वक भेजी जायँ। वे अपने कौशलसे उन्हें ले आयेंगी। राजाने वैसा ही उपाय करनेको कहा। वेश्याएँ भेजी गयीं। आश्रमके निकट पहुँचकर वे धीर ऋषिपुत्रके दर्शनका प्रयत्न करने लगीं। ऋष्यशृंगने आजतक स्त्री, पुरुष, नगर या राज्यके अन्य जीवोंको कभी नहीं देखा था। दैवयोगसे वे एक दिन उस जगह पहुँचे, जहाँ वेश्याएँ टिकी हुई थीं। तब मधुर स्वरसे गाती हुई वे सब उनके पास आकर बोलीं कि आप कौन हैं? और किसलिये इस निर्जन वनमें अकेले फिरते हैं? उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और उनको अपने आश्रमपर लिवा ले जाकर अर्घ्य-पाद्य, फल-मूलसे उनका सत्कार किया। वेश्याओंने भी उनको तरह-तरहकी मिठाइयाँ यह कहकर खिलायीं कि ये हमारे यहाँके फल हैं, इनको चखिये। फिर

उनका आलिंगनकर वे विभाण्डकजीके भयसे झूठ-मूठ व्रतका बहाना बनाकर वहाँसे चली आयीं। वेश्याओंके चले जानेसे ऋष्यशृंगजी उदास हो गये।

दूसरे दिन वे फिर वहाँ पहुँचे, जहाँ पहले दिन मनको मोहनेवाली उन वेश्याओंसे भेंट हुई थी। इनको देखकर वेश्याएँ प्रसन्न हुईं और इनसे बोलीं कि आइये, आप हमारा भी आश्रम देखिये, यहाँकी अपेक्षा वहाँ इससे भी उत्तम फल मिलेंगे और अधिक उत्तम सत्कार होगा। ये वचन सुनकर वे साथ चलनेको राजी हो गये और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आयीं। उन महात्माके राज्यमें आते ही सहसा जलकी बहुत वर्षा हो गयी, जिससे प्रजा सुखी हुई। वर्षा होनेसे राजा जान गये कि मुनि आ गये। राजाने उनके पास जाकर दण्डवत् प्रणामकर उनका अर्घ्य-पाद्यादिद्वारा यथाविधि पूजन किया और उनसे वर माँगा कि वे एवं उनके पिता छलपूर्वक लाये जानेके कारण राजापर कोप न करें। फिर राजा उन्हें अपने रनिवासमें ले गये और अपनी पुत्री शान्ताका विवाह उनसे कर दिया। ऋष्यशृंग वहीं शान्ताके साथ रहने लगे।

अंगनरेश रोमपादजी श्रीअयोध्यानरेश महाराज दशरथजीके मित्र थे। श्रीवसिष्ठजीकी आज्ञाके अनुसार राजा दशरथ पुत्रेष्टियज्ञ करानेके लिये ऋष्यशृंगको लेने अंगदेश गये। श्रीरोमपादजीने मित्रभावसे उनका सत्कार किया और उनके अभिप्रायको जानकर ऋष्यशृंगसे शान्तासहित उनके साथ जानेका अनुरोध किया। वे राजी हो गये और उनके साथ श्रीअयोध्या आकर मंगलमुहूर्तमें पुत्रेष्टियज्ञका शुभारम्भ किया गया, जिसमें अग्निदेवने साक्षात् प्रकट होकर दिव्य चरु प्रदान किया, जिसको पाकर रानियोंने गर्भ धारण किया। यथा—
'सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥ भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥'

श्रीमाण्डव्यजी

महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुररूपमें उत्पन्न हुए थे। कथा इस प्रकार है—एक बार राजपुरुषोंद्वारा पीछा किये जानेपर बहुतसे चोर चोरीका माल महर्षि माण्डव्यजीके आश्रममें रखकर स्वयं भी वहीं छिप गये। मुनि ध्यानस्थ थे। उन्हें इस बातकी किंचित् जानकारी नहीं थी। अतः राजपुरुषोंके पूछनेपर उन्होंने कुछ नहीं कहा, तब उन राजपुरुषोंने आश्रममें खोज-बीन प्रारम्भ की तो चोर एवं चोरीका माल, दोनों ही बरामद हुए। फिर तो उनका मुनिपर भी सन्देह हो गया और चोरोंके साथ उन्हें भी राजाके सम्मुख पेश किया गया। राजाने शूलीपर चढ़ा देनेका हुक्म दे दिया। अन्य चोर तो तत्काल मृत्युको प्राप्त हो गये परंतु महामुनि माण्डव्य शूलीके अग्रभागपर बैठे हुए तप ही करते रहे। बहुत दिनोंतक इस प्रकार तपोधन मुनिको शूलीपर बैठे देखकर राजकर्मचारियोंने जाकर राजासे यह सब समाचार निवेदन किया। राजा तत्काल ही दौड़े आये और विविध प्रकारसे अनुनय-विनयकर अपराधके लिये क्षमा-याचना करते हुए मुनिको शूलीसे उतार दिया। शूलकी किंचित् अणी शरीरमें प्रविष्ट हो गयी थी जो निकालनेका प्रयत्न करनेपर भी नहीं निकल सकी तो उसे उतना काट दिया गया। शूलकी अणीको शरीरमें धारण करनेसे आगे चलकर इनका नाम अणीमाण्डव्य पड़ गया।

एक बार महर्षिने धर्मराजके पास जाकर उन्हें उलाहना देते हुए कहा—मैंने अनजानेमें कौन-सा ऐसा पाप किया है, जिसके फलका भोग मुझे इस रूपमें प्राप्त हुआ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ और फिर मेरी तपस्याका फल देखो। धर्मराजने कहा—आपने बाल्यावस्थामें एक पतिंगेके पुच्छभागमें सींक चुभो दिया था, उसीका यह फल मिला। ऋषिने कहा—एक तो बाल्यावस्थामें धर्मशास्त्रका ज्ञान नहीं होता, दूसरे तुमने थोड़े-से अपराधमें मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है, अतः मैं तुम्हें शाप दूँगा। धर्मराजने कहा कि यदि आप

मुझे शाप ही देना चाहते हैं तो कृपाकर राजा, दासीपुत्र एवं चाण्डाल होनेका शाप न दीजियेगा। मुनिने क्रुद्ध होकर कहा—तुम तीनों हो जाओ। इसी शापके फलस्वरूप धर्मराजने राजा युधिष्ठिर, दासीपुत्र विदुर एवं श्वपच भक्तके रूपमें जन्म लेकर मुनिके शापको सफल किया।

श्रीविश्वामित्रजी

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥*

महर्षि विश्वामित्रजीके समान सतत लगनके पुरुषार्थी ऋषि शायद ही कोई और हों, इन्होंने अपने पुरुषार्थसे क्षत्रियत्वसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया। राजर्षिसे ब्रह्मर्षि बने, सप्तर्षियोंमें अग्रगण्य हुए और वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा ऋषि हुए।

प्रजापतिके पुत्र कुश हुए। इन्हींके वंशमें एक महाराज गाधि हुए, उन्हींके पुत्र महाराज विश्वामित्र हैं। कुशवंशमें पैदा होनेसे इन्हें कौशिक भी कहते हैं। पहले ये एक बड़े धर्मात्मा प्रजापालक राजा थे। एक बार सेना साथ लेकर ये जंगलमें शिकारके लिये गये। वहाँपर ये भगवान् वसिष्ठके आश्रमपर पहुँचे। भगवान् वसिष्ठने इनकी कुशल-क्षेम पूछी और सेनासहित आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करनेकी प्रार्थना की।

विश्वामित्रजीने कहा—'भगवन्! हमारे साथ हजारों-लाखों सैनिक हैं, आप अरण्यवासी ऋषि हैं, आपने जो फल-फूल दिये, उसीसे हमारा सत्कार हो चुका। हम इसी सत्कारसे सन्तुष्ट हैं।'

महर्षि वसिष्ठने उनसे बहुत आग्रह किया, उनके आग्रहसे इन्होंने सेनासहित आतिथ्य ग्रहण करनेकी स्वीकृति दे दी। वसिष्ठजीने अपने योगबलसे कामधेनुकी सहायतासे समस्त सैनिकोंको भाँति-भाँतिके पदार्थोंसे खूब ही सन्तुष्ट किया। कामधेनुके ऐसे प्रभावको देखकर विश्वामित्रजी चकित हो गये। उनकी इच्छा हुई कि यह धेनु हमें मिल जाय। उन्होंने इसके लिये भगवान् वसिष्ठसे प्रार्थना की। वसिष्ठजीने कहा—'इसीके द्वारा मेरे यज्ञ-याग, अतिथिसेवा आदि सब कार्य होते हैं, इसे मैं नहीं दूँगा।' इसपर विश्वामित्रजी जबरदस्ती कामधेनुको ले चले। वसिष्ठजी सब चुपचाप शान्तिपूर्वक देखते रहे। कामधेनुने आज्ञा चाही कि वह अपनी रक्षा स्वयं कर ले। तब उन्होंने स्वीकृति दे दी। कामधेनुने अपने प्रभावसे लाखों सैनिक पैदा किये। विश्वामित्रजीकी सेना भाग गयी। वे पराजित हो गये। इससे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने कहा—'क्षत्रियबल—शारीरिक बलको धिक्कार है, ब्रह्मबल ही सच्चा बल है।' यह सोचकर उन्होंने राज-पाट छोड़ दिया और घोर तपस्या करने लगे। तपस्यामें भाँति-भाँतिके विघ्न होते हैं। सबसे पहले कामके विघ्न हुए। मेनका अप्सराने उनकी तपस्यामें विघ्न डाला, जब उन्हें होश हुआ तो पश्चात्ताप करते हुए फिर जंगलमें चले गये। वहाँ जाकर घोर तपस्यामें तल्लीन हो गये। कामके बाद क्रोधने विघ्न डाला। त्रिशंकु राजाको गुरु वसिष्ठका शाप था, आपने भगवान् वसिष्ठके वैरको याद करके उसे यज्ञ करनेके लिये कह दिया। सभी ऋषियोंको बुलाया। सब ऋषि उनके तपके प्रभावको सुनकर आ गये, किंतु भगवान् वसिष्ठजीके सौ पुत्र नहीं आये। इसपर क्रोधके वशीभूत होकर इन्होंने उन सबको मार डाला। इतनेपर भी वसिष्ठजीने उनसे कुछ नहीं कहा। तब तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। ओहो! यह तो मेरी तपस्यामें बड़ा विघ्न हुआ। तपस्वीको क्रोध करना घोर पाप है, वे सब छोड़कर फिर तपस्यामें रत हो गये। बहुत दिनकी घोर तपस्याके

* सब काम उद्यम करनेसे—पुरुषार्थसे ही सिद्ध होते हैं, केवल मनसे सोच लेनेसे ही सिद्ध नहीं होते। सिंह सोच ले कि मैं तो जंगलका राजा हूँ, मुझे पुरुषार्थ करनेसे क्या? और यह सोचकर सोता रहे तो क्या मृग उसके मुँहमें आकर स्वयं घुस जायँगे? कभी नहीं।

पश्चात् उन्हें बोध हुआ कि—'काम और क्रोध ही तपस्यामें बड़े विघ्न हैं। जिन्होंने काम-क्रोधको जीत लिया वही ब्रह्मर्षि है, वही महर्षि है, उसे ही सच्चा ज्ञान है। मैंने भगवान् वसिष्ठका कितना अनिष्ट किया, उनकी कामधेनुको भी जबरदस्ती लेने लगा। तब भी वे चुप रहे। उनके पुत्रोंको मार दिया, तब भी वे कुछ नहीं बोले। मुझमें यही दोष है, मैं भी वैसा ही बनूँगा, अब काम-क्रोधके वशीभूत न हूँगा।' ऐसा निश्चय करके वे काम-क्रोधको जीतकर बड़ी तत्परतासे तप करने लगे।

उनके घोर तपसे भगवान् ब्रह्माजी प्रसन्न हुए। वे इनके पास आये और वरदान माँगनेको कहा। इन्होंने कहा—'यदि आप मुझे योग्य समझें तो ब्रह्मर्षि बननेका आशीर्वाद दें और स्वयं भगवान् वसिष्ठ अपने मुँहसे मुझे ब्रह्मर्षि कह दें।'

इनकी तपस्यासे वसिष्ठजी पहले ही प्रसन्न हो चुके थे। उन्हें पता चल चुका था कि विश्वामित्रजीने तपस्याके प्रभावसे काम-क्रोधको जीत लिया है, इसलिये ब्रह्माजीके कहनेपर उन्होंने बड़े ही आदरसे विश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षिकी उपाधि दी। उन्हें गलेसे लगाया, उनके तपकी, सच्ची लगनकी—सतत उद्योगकी प्रशंसा की और सप्तर्षियोंमें उन्हें स्थान दिया।

उसीके प्रभावसे ये जगत्पूज्य हुए। दशरथजीके यहाँसे भगवान् श्रीरामजीको ले आये, उन्हें सब प्रकारकी विद्याएँ दीं, मिथिला ले जाकर श्रीसीताजीसे विवाह कराया और अन्तमें त्रैलोक्यको कँपानेवाले रावणका वध कराया। महर्षि विश्वामित्रजीका समस्त जीवन तपस्या और परोपकारमें ही व्यतीत हुआ।

श्रीदुर्वासाजी

महर्षि अत्रिजीके तपसे सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ही दुर्वासारूपसे उनके पुत्र बने थे। रुद्रावतार थे, अतः स्वभावमें रौद्रता स्वाभाविक थी; परंतु थे परम समर्थ। पुराणोंमें आपकी बड़ी विलक्षण कथाएँ मिलती हैं। पूर्वमें श्रीअम्बरीषजी एवं द्रौपदीजीके प्रसंगमें इनका स्मरण किया जा चुका है। एक प्रसंग यहाँ भी दिया जा रहा है। एक बार ये यह कहते हुए घूम रहे थे कि—मैं दुर्वासा हूँ, दुर्वासा। मुझे निवास करनेके लिये एक स्थान चाहिये। परंतु याद रखना—मुझे तनिकसे भी अपराधपर क्रोध आ जाता है। भला, जानबूझकर कौन विपत्ति बुलाने लगा? तीनों लोकोंमें किसीने भी अपने यहाँ रखनेका साहस नहीं किया। अन्तमें घूमते-घूमते श्रीद्वारका पहुँचे। सबके परमाश्रय भगवान् श्रीकृष्णने इन्हें आदरपूर्वक बुलाकर अपने निजसदनमें वास दिया। कभी तो ये हजारों मूर्तियोंका भोजन अकेले ही खा जाते थे, कभी एक बालककी तरह थोड़ा पाकर ही रह जाते थे। कभी दिनमें बाहर निकल जाते तो दिनभर लौटते ही नहीं। भोजन धरा ही रह जाता था। कभी आधी रातको भोजन माँगते। सर्वसमर्थ प्रभुने सब व्यवस्था की। एक दिन इन्होंने अपने ठहरनेके स्थानमें आग लगा दी। सब कुछ जलकर भस्म हो गया और अपने दौड़े-दौड़े श्रीकृष्णके पास आकर बोले—मैं अभी-अभी खीर खाना चाहता हूँ। श्रीकृष्णका संकेत पाते ही महारानी श्रीरुक्मिणीजी तुरंत स्वर्णथालमें खीर परोसकर लायीं। दुर्वासाजी थोड़ी-सी खीर खाकर श्रीकृष्णसे बोले—अब इस जूठी खीरको तुरंत अपने अंगोंमें पोत लो और रुक्मिणीजीको भी पोत दो। भगवान्ने वैसा ही किया।

तदनन्तर मुनिजीने श्रीरुक्मिणीजीको एक रथमें जोतकर, उसपर स्वयं सवार होकर, जिस तरह सारथी घोड़ेको चाबुक मारता है, उसी तरह कोड़े मारते हुए रथ चलाने लगे। रथ राजमार्गसे जा रहा था। भयवश किसीको कुछ कहनेका साहस नहीं हो रहा था। श्रीरुक्मिणीजी अत्यन्त श्रमित होकर जब पृथ्वीपर गिर पड़ीं तो आप रथसे कूदकर दक्षिण दिशाकी ओर भागने लगे। पीछे-पीछे श्रीकृष्ण भी दौड़े और कहते जा रहे थे कि 'भगवन्! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये।' तब दुर्वासा खड़े हो गये और बोले—वासुदेव! तुमने

क्रोधको जीत लिया है। अब मैं तुमको प्रसन्न होकर वर देता हूँ कि तुम सम्पूर्ण विश्वको प्रिय होओगे, तुम्हारी अक्षयकीर्ति होगी। तुमने पूरे शरीरमें खीर लगायी है, अतः तुम्हारा शरीर समस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे अभेद्य रहेगा। किंतु तुमने पैरके तलवेमें खीर क्यों नहीं लगायी? बस, केवल ये तुम्हारे पादतल निर्भय नहीं बन सके। तत्पश्चात् श्रीरुक्मिणीजीसे बोले—कल्याणी! तुमको रोग तथा जरा नहीं स्पर्श करेगी। तुम्हारी अंगकान्ति कभी म्लान नहीं होगी। इतना कहकर महर्षि अन्तर्धान हो गये। श्रीरुक्मिणीजीको साथ लेकर श्रीकृष्ण घर आये तो देखा कि मुनिके द्वारा जलायी अथवा नष्ट की हुई सभी वस्तुएँ सुरक्षित हैं। ऐसे ही आपके अनेकों चरित्र हैं।

अट्ठासी हजार ऋषिगण

ये ऋषिगण श्रीशौनकजीके साथ रहते थे। ये सभी ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी थे। सूतजीके मुखसे इन लोगोंने पुराणोंका श्रवण किया था। ये ऋषिगण हजारों वर्षोंका श्रवण सत्र करते थे। कलियुगको आया देखकर इन ऋषियोंने श्रीशौनकजीको अपना प्रधान बनाकर नैमिषारण्यमें दीर्घकालीन सत्र किया और भगवान्‌की कथाओंका आनन्द लिया। ये लोग हवन आदि नित्यकर्म करके कथा-श्रवणके लिये बैठ जाते और प्रायः सारा समय श्रीसूतजीके मुखारविन्दसे भगवत्कथामृतका श्रवणपुटपान करनेमें ही व्यतीत करते थे। पुराणोंमें आये विविध विषयोंका मनुष्यमात्रको ज्ञान करानेके लिये ही इन करुणापरायण ऋषियोंने यह उपक्रम किया था।

श्रीजाबालिजी

ये एक ब्रह्मर्षि हैं। ये धर्म और नीतिमें बड़े ही निपुण थे, चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी इनसे मन्त्रणा लिया करते थे। ये उनके यहाँ मन्त्रि-पदपर प्रतिष्ठित थे। श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणमें वर्णन आता है कि जब श्रीभरतलालजी श्रीरामजीको मनाने चित्रकूट गये थे तो ये साथ थे। वहाँपर इन्होंने बड़े ही चातुर्यपूर्ण ढंगसे श्रीरामजीके श्रीमुखसे परमार्थका विवेचन सुननेकी लालसासे स्वार्थको प्राधान्य देते हुए श्रीरामसे घर लौटनेका आग्रह किया है। नीति-प्रीति-परमार्थ-स्वार्थ सुजान श्रीरामजीने मुनिके भावको जानकर बड़े ही शास्त्रानुमोदित ढंगसे परमार्थका निरूपण किया है।

महर्षि जमदग्नि

विश्वामित्रजीके पिताका नाम गाधि था। गाधि बड़े ही धर्मात्मा राजा थे। उनके सत्यवती नामकी एक कन्या थी। कन्या जब विवाहयोग्य हुई तो महर्षि ऋचीक महाराजके पास आये। ऋचीकमुनिने राजासे सत्यवतीकी याचना की। अरण्यवासी वृद्ध ऋषिको देखकर राजा दुखी हुए। अपनी प्यारी कन्याको ऋषिको कैसे दें? न दें तो ऋषि शाप दे देंगे। अतः उन्होंने कहा—'भगवन्! हमारे वंशमें ऐसी प्रथा है कि कन्याके पतिसे कुछ शुल्क लेते हैं, आप यदि एक हजार श्यामकर्ण सफेद घोड़े हमें दें तो आपके साथ हम अपनी कन्याका विवाह कर दें।' ऋषि राजाके अभिप्रायको समझ गये, वे योगबलसे वरुणके पास गये और उनसे एक हजार श्यामकर्ण घोड़े लाकर राजाको दे दिये। राजाने विधिपूर्वक सत्यवतीका ऋचीक महामुनिके साथ विवाह कर दिया।

महाराज गाधिके कोई पुत्र नहीं था। सत्यवतीकी माताने अपनी लड़कीसे कहा—'तेरे पति सर्वसमर्थ ऋषि हैं, उनसे ऐसा वरदान माँग कि तेरे भाई हो जाय।' सत्यवतीने अपनी माताकी प्रार्थना ऋचीकमुनिसे कही और अपने भी एक पुत्र हो—ऐसी इच्छा प्रकट की। ऋषिने दो चरु मन्त्रबलसे तैयार किये। एकमें तो क्षात्रधर्मवाली शक्ति स्थापित की और अपनी पत्नीके लिये ब्रह्मशक्ति। दोनों चरु वे अपनी पत्नीको देकर चले गये। माताने समझा कन्यावाला चरु अच्छा होगा, अतः उसने अपनी कन्यावाला चरु खा लिया और

कन्याने मातावाला। ऋषिको जब मालूम हुआ तो उन्होंने कहा—'तेरी माताके ब्राह्मण तेजवाला पुत्र होगा और तेरे पुत्र होना चाहिये क्षत्रियकर्मवाला किंतु पुत्र ऐसा न होकर पौत्र ऐसा होगा।' माताके गर्भसे जो पुत्र हुआ, वह विश्वामित्र मुनि हुए, जो क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण हुए और सत्यवतीके महर्षि जमदग्नि हुए, उनके पुत्र परशुरामजी ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियकर्मवाले हुए।

महर्षि जमदग्नि सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे। वैदिक कर्मोंको करते रहना ही उनका कार्य था। एक बार सहस्रार्जुन शिकार खेलते हुए महर्षि जमदग्निके आश्रमपर आ पहुँचे। राजाको देखकर ऋषिने शास्त्रकी विधिसे उनका सत्कार किया और सेनासहित उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। महर्षि जमदग्निने अपनी तपस्याके प्रभावसे कामधेनुद्वारा सम्पूर्ण सेनाको भाँति-भाँतिके भोजनोंसे सन्तुष्ट किया। कामधेनुकी ऐसी करामात देखकर राजाने उसे महर्षिसे माँगा। ऋषिने कहा—'राजन्! मेरे समस्त यज्ञ-यागके कार्य इसी कामधेनुपर निर्भर हैं। इसे मैं देकर कर्महीन बन जाऊँगा।' राजाने नहीं माना, वे गौको जबरदस्ती लेकर चले गये। महर्षि चुपचाप बैठे रहे। जब इनके पुत्र परशुरामजीने यह सुना तो वे फरसा लेकर माहिष्मती नगरीमें गये और सहस्रार्जुनको मारकर गौ ले आये और आकर पितासे सब हाल सुनाया। इस बातको सुनकर महर्षि जमदग्नि बड़े दुखी हुए। उन्होंने अत्यन्त दुःखके साथ कहा—

राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत्। अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा॥
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः। यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमियात् पदम्॥

हे महाबाहो परशुराम! तुमने यह अच्छा नहीं किया कि सर्वदेवमय राजाका वध कर डाला। हम ब्राह्मणोंका एकमात्र धन क्षमा ही है। बेटा! क्षमाके ही कारण हम ब्राह्मण जगत्पूज्य हैं। इस क्षमाके ही गुणके कारण लोकपितामह ब्रह्मा जगद्गुरु होकर परमेष्ठी-पदको प्राप्त हुए हैं।

परम क्षमाशील महर्षि जमदग्नि सुखपूर्वक अपने आश्रममें रहने लगे। उस समयके प्रायः समस्त राजा दुष्ट हो गये थे। राजाओंके रूपमें सभी असुर उत्पन्न हुए थे। सहस्रबाहुके दुष्ट पुत्रोंने तपस्यामें लगे हुए महर्षि जमदग्निका सिर काट लिया और इससे वे दुष्ट प्रसन्न हुए। ऋषिके लिये इसमें दुःखकी कोई बात नहीं थी। वे स्वर्गमें जाकर सप्तर्षियोंके साथ बड़े सुखसे रहने लगे। जमदग्नि सप्तर्षियोंमेंसे ही एक ऋषि हैं।

पिताकी मृत्युकी बात सुनकर परशुरामजी अपने क्रोधको नहीं रोक सके और पिताकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उन्होंने कई बार क्षत्रियवंशका नाश किया।

महर्षि जमदग्निकी क्षमा, कार्यतत्परता और अतिथिसत्कार ऐसे गुण हैं, जो समस्त मानवजातिके लिये आदर्श हैं। वे क्षमाकी तो मूर्ति ही थे।

श्रीमायादर्श (मार्कण्डेयजी)

मार्कण्डेयमुनि महर्षि मृकण्डुके पुत्र थे। ये भृगुकुलमें उत्पन्न हुए थे। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर ये ब्रह्मचर्यव्रतको धारणकर वेदाध्ययन करने लगे और वेदपारंगत होकर तप और स्वाध्यायमें लग गये। वे ब्रह्मचारी-वेषमें रहकर अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण और आत्मामें श्रीहरिका पूजन करने लगे। वे प्रातःकाल और सायंकाल भिक्षा माँगकर लाते और गुरुको अर्पण करते और गुरुकी आज्ञा मिलनेपर मौन होकर एक समय भोजन करते। गुरुकी आज्ञा न मिलनेपर ये किसी-किसी दिन निराहार ही रह जाते थे। इस प्रकार मार्कण्डेयमुनिने दस करोड़ वर्षपर्यन्त श्रीहरिकी आराधना करके दुर्जेय कालको भी जीत लिया। उनके इस प्रकार मृत्युको जीत लेनेपर ब्रह्मा, शिव, भृगु, दक्ष और नारदादिको बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर तथा इन्द्रियजयके द्वारा अन्तःकरणको रागादि दोषोंसे रहितकर भगवान् अधोक्षजका

ध्यान करते हुए मुनिको छः मन्वन्तर (१७०४ युगोंकी चौकड़ी)-का काल बीत गया। वैवस्वत नामक सातवें मन्वन्तरमें इस मन्वन्तरमेंके पुरन्दर नामक इन्द्रने इस भयसे कि ये कहीं मेरे पदको न छीन लें, इनके तपमें विघ्न करनेका निश्चय किया। उसने इन्हें तपसे डिगानेके लिये गन्धर्व, अप्सरा, कामदेव, वसन्त ऋतु, मलयानिल तथा लोभ और मदको भेजा। ये लोग हिमालयके उत्तरकी ओर पुष्पभद्रा नदीके तटपर अवस्थित मुनि मार्कण्डेयके आश्रममें पहुँचे और सब लोग मिलकर मुनिके ध्यानको भंग करनेकी चेष्टा करने लगे। परंतु इन सबके प्रयत्न भाग्यहीनके उद्योगकी भाँति सर्वथा निष्फल हुए और ये सब उन तेजस्वी मुनिके तेजसे जलने लगे। अन्ततः जिस प्रकार किसी विषधर सर्पको छेड़कर बालक भयसे पीछे हट जाते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्र-दूत निराश होकर वहाँसे लौट गये। इन्द्र उन सबको हतप्रभ एवं म्लानमुख देखकर तथा उनसे उन ब्रह्मर्षिका प्रभाव सुनकर परम विस्मित हुए। ऋषिके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीहरि उनपर अनुग्रह करनेके निमित्त नर-नारायणके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए।

उन तपोमूर्ति ऋषिप्रवरोंको देखते ही मुनि उनके चरणोंमें लोट गये और उनकी स्तुति करने लगे। भगवान् नारायण बोले—'हे ऋषिश्रेष्ठ! तुम्हारी निर्दोष भक्तिसे हम अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं, अतः तुम हमसे इच्छित वर माँगो।' ऋषि बोले—'भगवन्! आपने कृपा करके मुझे अपने सुर-मुनिदुर्लभ दर्शनसे कृतार्थ किया; इससे बढ़कर मैं कौन-सा वर आपसे माँगूँ? तथापि मेरी इच्छा है कि जिस आपकी मायासे यह सत् वस्तु भेदयुक्त प्रतीत होती है, उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ।' नर-नारायण 'तथास्तु' कहकर बदरिकाश्रमको चले गये। इधर ऋषि यह सोचते हुए कि उस मायाका दर्शन मुझे कब होगा, अपने आश्रममें ही रहकर अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, भूमि, वायु, आकाश और आत्मामें तथा अन्यत्र सब जगह सर्वव्यापी श्रीहरिका ध्यान करते हुए मानसिक उपचारोंसे उनका पूजन करने लगे।

× × ×

सायंकालका समय है। मुनि नदी-तटपर सन्ध्या कर रहे हैं। इतनेमें वे क्या देखते हैं कि अकस्मात् वायु बड़े जोरसे चलने लगा। उस प्रचण्ड वायुके साथ ही आकाशमें भयानक मेघ घुमड़ आये और उनमें बिजलीकी चमकके साथ कड़कड़ाहटका शब्द होने लगा। देखते-देखते मूसलाधार वृष्टि शुरू हो गयी। इधर चारों समुद्र बड़े प्रचण्ड वेगके साथ भूमण्डलको ग्रास करते हुए दिखायी देने लगे और बात-की-बातमें सर्वत्र जल-ही-जल हो गया। सप्तद्वीप, नवखण्ड तथा सप्त कुलाचलोंसहित समस्त पृथ्वीमण्डल ही नहीं, अपितु आकाश, स्वर्ग, तारागण और दिशाओंसहित सारी त्रिलोकी जलमग्न हो गयी। उस अनन्त महार्णवमें अकेले मार्कण्डेय ही रह गये। वे जटाओंको बिखेरकर बावले और अन्धेके समान इधर-उधर भटकने लगे। बड़े-बड़े मगर उनकी देहको नोचने लगे तथा वायुके प्रबल झकोरों एवं उत्ताल तरंगोंके थपेड़ोंसे उनका शरीर जर्जर हो गया। इधर भूख-प्यास उन्हें अलग सताने लगी। सर्वत्र घोर अन्धकार छा जानेके कारण उन्हें कुछ नहीं सूझता था। उन्हें कभी शोक होता, कभी मोह होता, कभी सुखकी अनुभूति होती और कभी मृत्युके समान कष्ट होता। इस प्रकार विष्णुकी मायासे मोहित हुए मुनिको उस समुद्रमें भ्रमण करते एक शंख वर्ष बीत गये। इस बीचमें उस महान् जलराशिके किसी कोनेमें पृथ्वीका कुछ भाग दिखलायी देने लगा और उसपर फलों और पत्तोंसे लदा हुआ वट (बरगद)-का एक छोटा-सा पौधा दिखायी दिया। साथ ही उसके ईशानकोणकी शाखाके एक पर्णपुट (दोने)-में सोया हुआ एक तेजस्वी बालक दीख पड़ा। उसके प्रकाशसे सभी दिशाएँ आलोकित हो उठीं। उसका मरकतमणिके सदृश श्यामवर्ण, शोभायमान मुखकमल, शंखके समान बल पड़ी हुई ग्रीवा, विशाल वक्षःस्थल, सुन्दर नासिका और धनुषके समान भौंहें

मनको मोहे लेती थीं, उसके दोनों कानोंमें दाड़िमके फूल खोंसे हुए थे। वह अपने सुन्दर हाथोंसे अपना चरण पकड़कर उसका अँगूठा चूस रहा था।

उस मनोहरमूर्ति बालकको देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके दर्शनमात्रसे उनकी सारी व्यथा दूर हो गयी और मारे आनन्दके उन्हें रोमांच हो आया। वे खिसककर उस बालकके समीप चले गये। ज्यों ही वे उसके समीप गये, उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उस बालकके श्वासके साथ वे उसके उदरके भीतर मच्छरकी भाँति खिंचे चले जा रहे हैं। थोड़ी ही देरमें उन्होंने अपनेको उस बालकके उदरके भीतर पाया। वहाँ उन्होंने सारे जगत्‌को उसी रूपमें पाया, जिस रूपमें उन्होंने प्रलयके पूर्व उसे बाहर देखा था। यह सब दृश्य देखकर उन्हें परम विस्मय हुआ। कुछ क्षणके अनन्तर वे उसी बालकके श्वासके द्वारा प्रेरित होकर बाहर निकल आये और पुनः उसी प्रलयसमुद्रमें जा पड़े। बाहर निकलकर उन्होंने उस बालकको उसी अवस्थामें अपनी ओर प्रेमपूर्ण कटाक्षोंसे देखते हुए पाया। उसकी मन्द मुसकानसे आकर्षित होकर वे उसके समीप जाकर उसे आलिंगन करना ही चाहते थे कि वे योगाधिपति बालवेशधारी भगवान् एकाएक अन्तर्धान हो गये, उनके अन्तर्धान होते ही वह वटवृक्ष और वह प्रलयसमुद्र सारा-का-सारा क्षणभरमें विलीन हो गया और मुनि अपने आश्रममें पूर्ववत् स्थित हो गये। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् नारायणकी मायाको प्रणाम किया और हृदयसे उन मायेश्वरकी शरण हो गये।

× × ×

एक समय मुनि समाधि लगाये अपने आश्रममें बैठे थे। इतनेमें देवाधिदेव भगवान् शंकर जगज्जननी पार्वतीके साथ नन्दीपर सवार होकर आकाशमार्गसे उधरकी ओर निकले। मुनिको शान्तभावसे बैठे देखकर पार्वतीजी भगवान् शंकरसे बोलीं—'भगवन्! ये कोई महातपस्वी मुनि मालूम होते हैं। इन्हें सिद्धि प्रदान कीजिये; क्योंकि सारी तपस्याओंको सिद्ध करनेवाले आप ही हैं।' शंकरजी बोले—'हे पार्वति! ये मार्कण्डेय मुनि भगवान् पुरुषोत्तमके बड़े भक्त हैं, अतएव ये तपके द्वारा कोई सिद्धि नहीं चाहते। अधिक क्या कहें, इन्हें मोक्षकी भी परवा नहीं है, फिर सांसारिक सुखोंकी तो बात ही क्या है? तथापि हे पार्वति! हम चलकर थोड़ी देर इनसे वार्तालाप करें, क्योंकि साधुसमागमसे बढ़कर संसारमें कोई लाभ नहीं है।' यह कहकर जगन्नियन्ता भगवान् शंकर मुनिके समीप गये। किंतु मुनिकी वृत्तियाँ ब्रह्ममें लीन होनेके कारण उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया था, अतएव उन्हें जगदात्मा शिव-पार्वतीके आनेका पता नहीं लगा। यह देखकर भगवान् शंकर अपनी योगमायाके प्रभावसे मुनिकी हृदयगुहामें प्रविष्ट हो गये। मुनिने देखा कि उनके हृदयमें एकाएक एक पीली जटाओंवाली, त्रिशूल, धनुष-बाण तथा ढाल-तलवारसे सुसज्जित, शरीरमें व्याघ्रचर्म लपेटे, रुद्राक्षमाला, डमरू, नरकपाल और फरसा धारण किये, तीन नेत्र और दस भुजाओंवाली मूर्ति प्रकट हो गयी। इस विकराल मूर्तिको हृदयस्थित देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और इसी आश्चर्यमें उनकी समाधि टूट गयी। मुनिने आँख खोलकर देखा तो सामने भगवान् रुद्र पार्वतीसहित अपने गणोंको साथ लिये खड़े हैं। मुनिने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और पार्वतीसहित उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की। उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर बोले—'हे मुने! हम तुम्हारी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हैं, अतः हमसे इच्छित वर माँगो। ब्रह्मा, विष्णु और मैं—तीनों ही वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं। तुम्हारी तरह जो लोग हम तीनोंकी समानभावसे भक्ति करते हैं तथा जो शान्त, निःसंग, निर्वैर, प्राणीमात्रके प्रति दया करनेवाले और सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाले हैं, उनकी इन्द्रादि लोकपाल ही नहीं, अपितु हम तीनों भी वन्दना और सेवा-पूजन करते हैं; क्योंकि आपलोग हम तीनोंमें, अपनेमें तथा जगत्‌के अन्य प्राणियोंमें अणुमात्र भी भेद नहीं देखते। अतएव हम लोग आप-

जैसे ब्राह्मणोंका भजन किया करते हैं। तीर्थ और देवता तो चिरकालपर्यन्त सेवा करनेपर फल देते हैं, किंतु आप-जैसे साधुपुरुष तो दर्शनमात्रसे ही कृतार्थ कर देते हैं। जो तुम्हारी भाँति चित्तको एकाग्र करके तप, स्वाध्याय और संयममें रत रहते हैं, उन ब्राह्मणोंको हम सदा नमस्कार किया करते हैं। आपसदृश महानुभावोंके दर्शन अथवा नाम सुननेमात्रसे ही महापातकी और चाण्डाल भी शुद्ध हो जाते हैं। फिर जिन्हें आप लोगोंके साथ सम्भाषण आदिका सौभाग्य प्राप्त होता है, उनकी तो बात ही क्या है?'

भगवान् शंकरके इन वचनोंको सुनकर ऋषि गद्‌गद हो गये। वे बोले—'भगवन्! मैं तो आपके दर्शनमात्रसे कृतार्थ हो गया और वरदान क्या माँगूँ? तथापि आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि मेरी भगवान् अच्युत और उनके भक्तोंमें तथा आपमें अनन्य भक्ति हो।' शंकरजी बोले—'हे विप्रवर! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो। इस कल्पके अन्ततक तुम्हारी कीर्ति अटल रहेगी और तुम अजर, अमर होकर रहोगे। तुम्हें त्रिकालविषयक ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और पुराणोंका आचार्यत्व प्राप्त होगा।' यह कहकर भगवान् शंकर वहाँसे चले गये और महामुनि मार्कण्डेय योगका महान् सामर्थ्य तथा भगवान् जनार्दनकी एकान्त भक्ति प्राप्तकर भूलोकमें विचरने लगे और अब भी उसी प्रकार विचरते हैं। वे लोकमें 'चिरंजीव' के नामसे विख्यात हुए।

बृहन्नारदीयपुराणके अनुसार महर्षि मृकण्डुके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् नारायणने ही पुत्ररूपमें उनके यहाँ जन्म ग्रहण किया था।

श्रीकश्यपजी

समस्त लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्माने ही इस चराचर सृष्टिको उत्पन्न किया है। सृष्टिकी इच्छासे उन्होंने छः मानसिक पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु हैं। मरीचिके पुत्र कश्यप हुए। दक्षप्रजापतिने अपनी तेरह कन्याओंका विवाह इनके साथ कर दिया। उनके नाम ये हैं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू। इन सबकी इतनी संतानें हुईं कि उन्हींसे यह सम्पूर्ण सृष्टि भर गयी। अदितिसे समस्त देवता तथा बारह आदित्य हुए। सभी दैत्य दितिके पुत्र हैं। दनुके दानव हुए। काला और दनायुके भी दानव ही हुए। सिंहिकासे सिंह, व्याघ्र हुए। क्रोधाके क्रोध करनेवाले असुर हुए। विनताके गरुड, अरुण आदि छः पुत्र हुए। कद्रूके सर्प, नाग आदि हुए। मनुसे समस्त मनुष्य उत्पन्न हुए। इस प्रकार समस्त स्थावर-जंगम, पशु-पक्षी, देवता-दैत्य, मनुष्य हम सब सगे भाई-भाई हैं। एक कश्यपभगवान्‌की ही हम संतान हैं। वृक्ष, पशु, पक्षी हम सब कश्यपगोत्रीय ही हैं।

इन तेरह कन्याओंमें अदिति भगवान् कश्यपकी सबसे प्यारी पत्नी थी। उन्हींसे इन्द्रादि समस्त देवता हुए और भगवान् वामनने भी इन्हींके यहाँ अवतार लिया। इनका तप अनन्त है, इनकी भगवद्भक्ति अटूट है। ये दम्पती भगवान्‌के परमप्रिय हैं। तीन बार भगवान्‌ने इनके घरमें अवतार लिया। अदिति और कश्यपके महातपके प्रभावसे ही जीवोंको निर्गुणभगवान्‌के सगुणरूपमें दर्शन हो सके।

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥

भगवान् जिनके पुत्र बने, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जा सकता है? भगवान् कश्यपकी पुराणोंमें बहुत-सी कथाएँ हैं; उनमेंसे वामन, बलि, अदिति आदिके प्रसंगमें बहुत-सी आ गयी हैं। अतः उनके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये महानुभाव भगवान्‌को निर्गुणसे सगुण साकार बनानेवाले हैं, तथा हम सब जीवोंके आदि पिता हैं।

श्रीपर्वतजी

इनकी देवर्षियोंमें गणना है। महाभारतमें इनका और श्रीनारदजीका अनेक स्थलोंपर साथ-साथ वर्णन पाया जाता है। श्रीनारदजीकी ही तरह ये भी विचरणशील स्वभावके हैं। लिंगपुराण एवं अद्भुत रामायणमें कथा आती है कि एक बार श्रीनारदजी और श्रीपर्वतजी—दोनों मित्र साथ-साथ विचरते हुए श्रीनगरके राजा अम्बरीषजीके यहाँ गये। राजाने इनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और अपनी लाडिली बेटी, जिसका नाम श्रीमती था, उसको बुलाकर मुनिके चरणोंमें प्रणाम कराकर, उसके भाग्यके सम्बन्धमें जिज्ञासा की। दोनों ही मुनि श्रीमतीके सुन्दर रूप एवं शुभ लक्षणोंपर मोहित होकर उसको पृथक्-पृथक् राजासे माँगने लगे। राजाका यह उत्तर मिलनेपर कि कन्या जिसको जयमाल पहना दे, वही ले जाय; दोनों पृथक्-पृथक् भगवान्के यहाँ गये और दोनोंने ही उनसे सब वृत्तान्त कहकर अपना-अपना मनोरथ प्रकट किया। नारदजीने पर्वतऋषिका मुख बन्दरका-सा और पर्वतने नारदमुनिका मुख लंगूरका-सा कर देनेके लिये पृथक्-पृथक् प्रार्थना की और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि राजकुमारीको ही वह रूप दीख पड़े, दूसरेको नहीं।

भगवान्ने दोनोंसे 'एवमस्तु' कहा। तत्पश्चात् दोनों ही राजाके यहाँ गये। राजाने बुलाकर कहा कि दोनों ऋषियोंमेंसे जिसे चाहो, उसे जयमाल पहना दो। कन्या जयमाल लिये खड़ी है। उसे वहाँ एक बन्दर, एक लंगूर और एक सुन्दर धनुष-बाणधारी पुरुष दीख पड़े। ऋषि कोई न देख वह ठिठककर रह गयी। संकोचका कारण पूछे जानेपर उसे जो दीख रहा था, वह उसने कह दिया और जयमाल धनुषधारी पुरुष (भगवान् श्रीराम)-के गलेमें डाल दिया। भगवान् उसे लेकर अन्तर्धान हो गये। इस रहस्यको न समझकर दोनों ऋषि भगवान्के पास गये और उपालम्भ दिये। भगवान्ने कहा कि हम भक्तपराधीन हैं, तुम दोनों ही हमारे भक्त हो, अतः हमने दोनोंका कहा किया। ऋषियोंको जब यह मालूम हुआ कि ये ही कन्याको ले गये। दोनोंने ही उनको शाप दिया कि—'***मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी॥ कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥***' बादमें जब इन्हें आत्मस्वरूपका ज्ञान हुआ है तो ये बहुत ही पश्चात्ताप किये हैं और भगवान्से शापके मिथ्या हो जानेकी प्रार्थना किये हैं। परंतु भगवान्ने शापको अपनी इच्छा कहकर दोनोंको समझा-बुझाकर विदा किया।

श्रीपराशरजी

ये ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीके पौत्र, महर्षि शक्तिजीके पुत्र एवं भगवान् वेदव्यासजीके पिता हैं। इनकी माताका नाम अदृश्यन्ती था। इन्होंने बारह वर्षोंतक माताके गर्भमें ही रहकर वेदाभ्यास किया था। इनके द्वारा रचित 'पराशरस्मृति' में धर्माधर्मका बड़ा विवेकपूर्ण निर्णय किया गया है। धर्मके सम्बन्धमें इनका कथन है कि जो मनुष्य परमदुर्लभ मानव जन्मको पाकर भी कामपरायण हो दूसरोंसे द्वेष करता है और धर्मकी अवहेलना करता है, वह महान् लाभसे वंचित रह जाता है। यथा—'**यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः। धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वंच्यते॥**' (म०भा०) भगवत्स्मरणकी महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं कि—'**प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्। नारायणमवाप्नोति सद्यःपापक्षयान्नरः॥**' (विष्णु० २।६।४१) अर्थ—प्रातःकाल, सायंकाल, रात्रिमें अथवा मध्याह्नमें, किसी भी समय श्रीनारायणका स्मरण करनेसे पुरुषके समस्त पाप तत्काल क्षीण हो जाते हैं।

अठारह पुराण

ब्रह्म बिष्नु सिव लिंग पद्म अस्कँद बिस्तारा।
बामन मीन बराह अग्नि कूरम ऊदारा॥

गरुड़ नारदी भविष्य ब्रह्मबैबर्त श्रवन सुचि।
मार्कंडेय ब्रह्मंड कथा नाना उपजै रुचि॥
परम धर्म श्रीमुख कथित चातुश्लोकी निगम सत।
साधन साध्य सत्रह पुरान फलरूपी श्रीभागवत॥ १७॥

ब्रह्म, विष्णु, शिव, लिंग, पद्म, स्कन्द, वामन, मत्स्य, वराह, अग्नि, कूर्म, गरुड, नारद, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड—इन सभी पुराणोंमें विशेषतया श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे परमधर्म कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें चतुःश्लोकी सभी वेदोंका सार है। अठारहों पुराण विस्तृत हैं, उदार हैं। इनके सुननेसे अन्तःकरण पवित्र होता है, इनमें अनेक प्रकारकी कथाओंका वर्णन है, जिनसे इष्टदेवमें रुचि उत्पन्न होती है, ये ब्रह्मपुराण आदि सत्रह पुराण साधन हैं और श्रीमद्भागवत पुराण साध्य है, पुराणोंमें यह फलरूप है॥ १७॥

अष्टादश पुराण

संस्कृत साहित्यमें पुराणोंका एक विशेष स्थान है। वेदोंके बाद इन्हींकी मान्यता है। महाभारतके साथ पुराणोंको पंचम वेद कहा गया—'**इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥**' समष्टिरूपमें पुराणोंको प्राचीन भारतकी धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्कृतिका लोकसम्मत विश्वकोष ही समझना चाहिये।

पुराणका शाब्दिक अर्थ तो 'प्राचीन कथा' अथवा 'प्राचीन विवरण' है, परंतु धर्मग्रन्थके रूपमें जिन पुराणोंकी चर्चा आती है, उनके निम्नलिखित पाँच लक्षण हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (लय और पुनः सृष्टि), वंश (देवताओंकी वंशावली), मन्वन्तर (मनुओंके काल-विभाग) और वंशानुचरित (राजाओंके वंशवृत्त)—ये पुराणके पाँच लक्षण हैं। पुराणोंमें १८ महापुराणों और १८ उपपुराणोंकी गणना होती है। निम्नलिखित श्लोकमें पुराणकी नामावली संक्षेपमें इस प्रकार वर्णित है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्॥

(श्रीमद्देवी० १। ३। २)

अर्थात् 'म' वाले (मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण) दो, 'भ' वाले (भविष्यपुराण तथा भागवत) दो, 'ब्र' वाले (ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्तपुराण) तीन, 'व' वाले (वामन, वायु, विष्णु और वाराहपुराण) चार, 'अ' वाला (अग्निपुराण), 'ना' वाला (नारदपुराण), 'प' वाला (पद्मपुराण), 'लिं' वाला (लिंगपुराण), 'ग' वाला (गरुडपुराण), 'कू' वाला (कूर्मपुराण) और 'स्क' वाला (स्कन्दपुराण)—ये पृथक्-पृथक् अठारह पुराण हैं।

इनकी श्लोक-संख्या इस प्रकार वर्णित की गयी है—

चतुर्दशसहस्रं च मत्स्यमाद्यं प्रकीर्तितम्। तथा ग्रहसहस्रं तु मार्कण्डेयं महाद्भुतम्॥
चतुर्दश सहस्राणि तथा पञ्चशतानि च। भविष्यं परिसंख्यातं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
अष्टादशसहस्रं वै पुण्यं भागवतं किल। तथा चायुतसंख्याकं पुराणं ब्रह्मसंज्ञकम्॥

द्वादशैव सहस्त्राणि ब्रह्माण्डं च शताधिकम्। तथाष्टादशसाहस्त्रं ब्रह्मवैवर्तमेव च॥
अयुतं वामनाख्यं च वायव्यं षट्शतानि च। चतुर्विंशतिसंख्यातः सहस्त्राणि तु शौनक॥
त्रयोविंशतिसाहस्त्रं वैष्णवं परमाद्भुतम्। चतुर्विंशतिसाहस्त्रं वाराहं परमाद्भुतम्॥
षोडशैव सहस्त्राणि पुराणं चाग्निसंज्ञितम्। पञ्चविंशति साहस्त्रं नारदं परमं मतम्॥
पञ्चपञ्चाशत्साहस्त्रं पद्माख्यं विपुलं मतम्। एकादशसहस्त्राणि लिंगाख्यं चातिविस्तृतम्॥
एकोनविंशत्साहस्त्रं गारुडं हरिभाषितम्। सप्तदशसहस्त्रं च पुराणं कूर्मभाषितम्॥
एकाशीतिसहस्त्राणि स्कन्दाख्यं परमाद्भुतम्।

(श्रीमद्देवी० १।३।३—१२)

अर्थात् आदिके मत्स्यपुराणमें चौदह हजार, अत्यन्त अद्भुत मार्कण्डेयपुराणमें नौ हजार तथा भविष्यपुराणमें चौदह हजार पाँच सौ श्लोक-संख्या तत्त्वदर्शी मुनियोंने बतायी है। पवित्र भागवतपुराणमें अठारह हजार और ब्रह्मपुराणमें दस हजार श्लोक हैं। ब्रह्माण्डपुराणमें बारह हजार एक सौ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें अठारह हजार श्लोक हैं। वामनपुराणमें दस हजार तथा वायुपुराणमें चौबीस हजार छः सौ श्लोक हैं। परमविचित्र विष्णुपुराणमें तेईस हजार, वाराहपुराणमें चौबीस हजार, अग्निपुराणमें सोलह हजार तथा नारदपुराणमें पचीस हजार श्लोक कहे गये हैं। विशाल पद्मपुराणमें पचपन हजार और लिंगपुराणमें ग्यारह हजार श्लोक हैं। भगवान् श्रीहरिके द्वारा कहे हुए गरुडपुराणमें उन्नीस हजार तथा कूर्मपुराणमें सत्रह हजार श्लोक हैं। परम अद्भुत स्कन्दपुराणकी श्लोक-संख्या इक्यासी हजार कही गयी है।

उक्त पुराणोंमें मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द तथा अग्नि—ये छः पुराण तामस; ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, ब्राह्म—ये छः पुराण राजस और विष्णु, नारद, गरुड, पद्म, वाराह एवं भागवत पुराण सात्त्विक पुराण हैं। सात्त्विक पुराणोंमें भगवान् श्रीहरिका यश विशेष रूपसे वर्णित रहता है। इस आधारपर श्रीमद्भागवत अन्य पुराणोंसे श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि उसका प्रत्येक स्कन्ध भगवान् श्रीहरिका अंग कहा गया है। कौशिकसंहितान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें भगवान् श्रीहरिके अवयवोंकी भागवतके स्कन्धोंके साथ एकरूपता इस प्रकार दर्शायी गयी है—

पादादिजानुपर्यन्तं प्रथमस्कन्ध ईरितः। तदूर्ध्वं कटिपर्यन्तं द्वितीयस्कन्ध उच्यते॥
तृतीयो नाभिरित्युक्तश्चतुर्थ उदरं मतम्। पञ्चमो हृदयं प्रोक्तं षष्ठः कण्ठं सबाहुकम्॥
सर्वलक्षणसंयुक्तं सप्तमो मुखमुच्यते। अष्टमश्चक्षुषी विष्णोः कपोलौ भ्रुकुटिः परः॥
दशमो ब्रह्मरन्ध्रं च मन एकादशः स्मृतः। आत्मा तु द्वादशस्कन्धः श्रीकृष्णस्य प्रकीर्तितः॥

अर्थात् श्रीभगवान्के श्रीविग्रहका पैरसे लेकर जानुपर्यन्त श्रीमद्भागवतका प्रथम स्कन्ध है, जानुसे कटिपर्यन्त दूसरा स्कन्ध, तीसरा स्कन्ध नाभि, चौथा स्कन्ध उदर, पाँचवाँ स्कन्ध हृदय, छठा स्कन्ध बाहुसहित कण्ठ, सातवाँ स्कन्ध मुख, आठवाँ स्कन्ध नेत्र, नवाँ स्कन्ध कपोल एवं भ्रुकुटि, दसवाँ स्कन्ध ब्रह्मरन्ध्र, ग्यारहवाँ स्कन्ध मन और बारहवाँ स्कन्ध आत्मा कहा गया है।

पुराणोंके श्रवणकी बहुत महिमा है। पुराणोंका प्रतिपादन आख्यानशैलीमें है। इसीलिये ये परम रोचक और शीघ्र प्रभाव डालते हैं। पुराणोंमें वेदोंके ही अर्थोंका उपबृंहण हुआ है। '**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थ-मुपबृंहयेत्।**' वेदमें जहाँ '**सत्यं वद**' आदि उपदेश आये हैं, पुराणोंने इन उपदेशोंको राजा हरिश्चन्द्र आदिके आख्यानसे कथारूपमें प्रस्तुत किया है। पुराण हमें सच्चे मित्रकी भाँति कल्याणकारी परामर्श प्रदान करते हैं। पुराण श्रीवेदव्यासजीकी कृतियाँ हैं। यह व्यासजीका लोकपर महान् अनुग्रह है। आत्मकल्याण तथा

भगवत्प्राप्तिके साधनोंका जैसा समावेश पुराणोंमें हुआ है, वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। मुख्य तथा अवान्तररूपसे भगवच्चर्चा ही पुराणोंका अन्यतम प्रतिपाद्य है। आख्यानों, उपाख्यानों तथा गाथाओंके द्वारा पुराणोंमें उसी परम प्रभुकी महिमाका गान हुआ है। इनमें लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान-विज्ञानके सभी विषय भरे पड़े हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतपुराण साक्षात् भगवान्का स्वरूप है, भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति है। भागवतके श्रवण एवं पारायणकी अद्भुत महिमा है। शुकदेवजी इसकी अतुलनीय महिमाका बखान करते हुए कहते हैं—भागवत पुराणोंका तिलक और वैष्णवोंका धन है। इसमें परमहंसोंके प्राप्य विशुद्ध ज्ञानका ही वर्णन किया गया है तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके सहित निवृत्तिमार्गको प्रकाशित किया गया है, जो पुरुष भक्तिपूर्वक इसके श्रवण, पठन और मननमें तत्पर रहता है, वह मुक्त हो जाता है। यह भागवतशास्त्र भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाला और नित्य प्रेमानन्दरूप फल प्रदान करनेवाला है—'**कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत् प्रेमानन्दफलप्रदम्॥**' ब्रह्म, पद्म आदि सत्रह पुराणोंको साधनरूप और भागवतको साध्य एवं फलरूप बताया गया है। इसीसे भक्त-भागवतगण इसकी भगवद्भावनासे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजा किया करते हैं। भगवान् वेदव्यास-सदृश महापुरुषको जिसकी रचनासे ही परम शान्ति मिली, जिसमें ज्ञान-भक्तिका परम रहस्य बड़ी ही मधुरताके साथ अभिव्यक्त हुआ है, उस श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें क्या कहा जाय? इसके प्रत्येक अंगसे भगवद्भावपूर्ण पारमहंस्य ज्ञान-सुधासरिताकी बाढ़ आ रही है—'**यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।**' भगवान्के मधुर प्रेमका छलकता हुआ सागर है श्रीमद्भागवत। इसीसे भावुक भक्तगण इसमें सदा अवगाहन करते रहते हैं। परम मधुर भगवद्-रससे भरा हुआ—'**स्वादु स्वादु पदे पदे**'—ऐसा ग्रन्थ बस यही है। इसकी कहीं तुलना नहीं है।

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीब्रह्माजीकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अपना दर्शन दिया, अपने निर्गुण-सगुण स्वरूपोंका ज्ञान दिया, सृष्टि रचनेकी सामर्थ्य दी और सृष्टि करते हुए भी संसारमें लिप्त न हों, इसके लिये चतुःश्लोकोंका उपदेश दिया। जो इस प्रकार है—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्। सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि। तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

(श्रीमद्भा० २।९।३०—३५)

[श्रीभगवान्ने कहा—हे ब्रह्माजी!] अनुभव, प्रेमाभक्ति तथा साधनोंसे युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूपका ज्ञान मैं तुम्हें कहता हूँ, तुम उसे सुनकर ग्रहण करो। जितना मेरा विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण और लीलाएँ हैं—मेरी कृपासे तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो। सृष्टिके पूर्व केवल मैं-ही-मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टिके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ। वास्तवमें न होनेपर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मामें दो चन्द्रमाओंकी

तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होनेपर भी आकाश-मण्डलके नक्षत्रोंमें राहुकी भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये। जैसे प्राणियोंके पंचभूतरचित छोटे-बड़े शरीरोंमें आकाशादि पंचमहाभूत उन शरीरोंके कार्यरूपसे निर्मित होनेके कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपोंमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेके कारण प्रवेश नहीं भी करते, वैसे ही उन प्राणियोंके शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपमें प्रवेश किये हुए हूँ और आत्मदृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होनेके कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ। 'यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं'—इस प्रकार निषेधकी पद्धतिसे और 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है'—इस अन्वयकी पद्धतिसे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं। वे ही वास्तविक तत्त्व हैं। जो आत्मा अथवा परमात्माका तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जाननेकी आवश्यकता है।

अठारह स्मृतियाँ और उनके रचयिता आचार्य

मनुस्मृति अत्रै बैष्नवीय हारीतक यामी।
जाग्यबल्क्य अंगिरा सनैश्चर सँवृतक नामी॥
कात्यायनि सांडिल्य गौतमी बसिठी दाषी।
सुरगुरु सातातप पारासर क्रतु मुनि भाषी॥
आसा पास उदार धी परलोक लोक साधन्न सो।
दस आठ सुमृति जिन उच्चरी तिन पद सरसिज भाल मो॥ १८॥

मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, यम, याज्ञवल्क्य, अंगिरा, शनि, संवर्तक, कात्यायन, शाण्डिल्य, गौतम, वसिष्ठ, दक्ष, बृहस्पति, शातातप, पराशर तथा महर्षि क्रतु नामवाले जिन अठारह ऋषियोंने स्मृतियोंकी रचना की, उनके चरण-कमलोंमें मैं अपना मस्तक रखता हूँ। आशा-तृष्णाके बन्धनसे छुड़ानेके लिये उदार बुद्धिवाले ऋषियोंने स्मृतियाँ बनायी हैं। वे इस लोकमें उन्नति तथा परलोकमें कल्याणका साधन हैं॥ १८॥

यहाँ संक्षेपमें इन स्मृतियों तथा स्मृतिकारोंके सन्दर्भमें विवरण प्रस्तुत है—

मनुष्य धर्मका मर्म समझ सके, शुद्ध आचरणका महत्त्व जान सके, पाप-पुण्य, नीति-अनीतिको पहचाननेकी सामर्थ्य प्राप्त कर सके तथा देव, पितृ, अतिथि, गुरु आदिके प्रति अपना कर्तव्य समझे एवं अपने कर्तव्य-पथपर बढ़ता रहे—यही स्मृतिग्रन्थोंका प्रधान उद्देश्य है, स्मृतियाँ हमें अच्छे आचारवान् बननेकी शिक्षा देती हैं, सद्व्यवहार सिखाती हैं, सच्चा मानव बननेकी प्रेरणा देते हुए अपने कर्तव्योंका अवबोध कराती हैं और प्रभुप्राप्तिके मार्गको प्रशस्त करती हैं। इस दृष्टिसे धर्मशास्त्रकारों (स्मृतिकारों)-का जगत्पर महान् उपकार है।

स्मृतियाँ अनेक हैं, किंतु श्रीनाभादासजीने अपने भक्तमालमें जिन अठारह स्मृतियोंके प्रणयनकर्ता आचार्यों तथा उनकी स्मृतियोंका नाम प्रमुखरूपसे दिया है, यहाँ संक्षेपमें उन्हींके विषयमें कुछ विवरण प्रस्तुत है—

(१) मनुस्मृति—राजर्षि मनु और उनके धर्मशास्त्र मनुस्मृतिका सनातनधर्ममें विशेष स्थान है। धर्मशास्त्रकारोंमें मनुका अत्यन्त गौरव है, सभी स्मृतियोंमें मनुस्मृतिका प्राधान्य है **'प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।'** मनुजीद्वारा निर्दिष्ट मानवधर्मशास्त्र (मनुस्मृति) विश्वके सच्चे संविधानके रूपमें और सभी धर्म-कर्मोंके निर्णयके लिये सर्वोपरि मान्य है। मनुस्मृति बारह अध्यायोंमें उपनिबद्ध है। इसके उपदेश तथा इसमें बताये गये विधि-विधान सभीके लिये अत्यन्त कल्याणकारी हैं।

(२) अत्रिस्मृति—अत्रिस्मृति एवं अत्रिसंहिताके प्रणेता महर्षि अत्रि वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ये ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं तथा सप्तर्षियोंमें परिगणित हैं। ये दिव्य ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न एवं भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं। कर्दमप्रजापतिकी पुत्री देवी अनसूया इनकी धर्मपत्नी हैं, जो पतिव्रताओंका आदर्श हैं।

(३) विष्णुस्मृति—भगवान् विष्णुद्वारा धरा (पृथ्वी) देवीको दिया गया कल्याणकारी उपदेश वैष्णवधर्मशास्त्र कहलाता है। यह सूत्रों तथा श्लोकोंके रूपमें उपनिबद्ध है। गीताकी तरह इसे भी भगवद्वाणी कहा गया है। इस स्मृतिमें एक सौ अध्याय हैं।

(४) हारीतस्मृति—परम वैष्णव महर्षि हारीतके नामसे तीन स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं—हारीतस्मृति, लघुहारीतस्मृति तथा वृद्धहारीत। महाभारतमें हारीतजीके नामसे हारीतगीता भी प्राप्त होती है। उसके उपदेश बड़े ही कल्याणकारी हैं। महर्षि हारीत भगवान् विष्णुके अनन्य उपासक थे। अपनी स्मृतियोंमें उन्होंने उनकी उपासनापद्धति तथा मन्त्रोंका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

(५) यमस्मृति—धर्मराज यम भगवान् सूर्य और देवी संज्ञाके पुत्र हैं। ये जीवोंके कर्मोंके साक्षी, उनका नियमन करनेवाले होनेके कारण यम तथा धर्मरूप होनेके कारण धर्म या धर्मराज कहलाते हैं। जीवोंको उनके कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल प्रदानकर उन्हें शुद्ध एवं पवित्र बनाना तथा भगवान्‌के मार्गमें प्रवृत्त कराना धर्मराज यमका मुख्य कार्य है। इन्होंने भगवन्नाम-महिमाको कल्याणका अत्यन्त सुगम उपाय बताया है। इनकी तीन स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं—यमस्मृति, लघुयमस्मृति और बृहद्यमस्मृति। प्रधानरूपसे तीनों स्मृतियोंमें प्रायश्चित्त-सम्बन्धी विधान निरूपित हैं।

(६) याज्ञवल्क्यस्मृति—रामकथाके प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्यजी महान् योगी, अध्यात्मवेत्ता तथा धर्मके निगूढ़ तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले आचार्य हैं। ये उच्चकोटिके भगवद्भक्त हैं। स्मृतिकारोंमें याज्ञवल्क्यजीका स्थान बहुत ही विशिष्ट है। याज्ञवल्क्यस्मृति, योगियाज्ञवल्क्यस्मृति, बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृतियाँ उनके नामसे विख्यात हैं। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त नामक तीन अध्याय हैं और अध्यायोंके अन्तर्गत अनेक प्रकरण हैं।

(७) अंगिरास्मृति—महर्षि अंगिरा ब्रह्माजीके पुत्र हैं। कर्दमऋषिकी पुत्री श्रद्धा इनकी धर्मपत्नी हैं। देवगुरु बृहस्पति, उतथ्य तथा संवर्त इनके पुत्र हैं और सिनीवाली, कुहू, राका तथा अनुमति—इनकी चार दिव्य कन्याएँ हैं। महर्षि अंगिरा अथर्ववेदके प्रवर्तक हैं। इसलिये ये अथर्वा भी कहलाते हैं। इनकी गणना सप्तर्षियोंमें भी है। इनके जीवन-दर्शनका सार यही है कि परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वतः जान लेनेपर इस जीवात्माके हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, इसी बातको उन्होंने मुण्डकोपनिषद् (२। २। ८)-में महाशाल शौनकजीको बताया है—'**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**' इनके नामसे दो स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें मुख्यरूपसे गृहस्थाश्रमके सदाचार, गोसेवा, पंचमहायज्ञ तथा प्रायश्चित्तविधानका वर्णन है।

(८) शनैश्चरस्मृति—शनि या शनैश्चर भगवान् सूर्यके पुत्र हैं। श्रीनाभादासजीने इनका धर्मशास्त्रकारोंमें परिगणन किया है।

(९) संवर्तस्मृति—आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न तथा अध्यात्मवेत्ताओं और धर्माचरणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवालोंमें महात्मा संवर्त विशेष रूपसे परिगणनीय हैं। ये महर्षि अंगिराके पुत्र और देवगुरु बृहस्पतिके छोटे भाई हैं। इनका उदात्त चरित वेद, इतिहास, पुराण तथा महाभारतमें विस्तारसे आया है।

भगवान्के भक्तों तथा भक्तिके आचार्योंमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। ये परम शिवभक्त, गायत्रीके महान् उपासक, भक्तोंके परम उपास्य तथा मन्त्रद्रष्टा वामदेव, मार्कण्डेय आदि ऋषियोंके परम गुरु हैं। पुराणेतिहास ग्रन्थोंमें वर्णित है कि ये अवधूत-वेषमें गुप्तरीतिसे भगवत्-ध्यानमें निमग्न हो सर्वत्र विचरण किया करते हैं और भगवान् विश्वनाथकी नगरी काशीपुरी इन्हें अत्यन्त प्रिय है। इनकी बनायी हुई संवर्तस्मृति यद्यपि संक्षिप्त है, किंतु इसके उपदेश बड़े ही उपादेय तथा कल्याणकारक हैं। इस स्मृतिमें वर्णाश्रमधर्म, प्रायश्चित्त, गायत्रीजप तथा दानकी महिमा विशेषरूपसे आयी है।

(१०) **कात्यायनस्मृति**—महर्षि कात्यायनका अत्यन्त प्राचीन धर्मशास्त्रकारोंमें परिगणन है। प्राचीन भारतीय व्यवहार एवं व्यवहार-विधिके नियमोंमें तथा स्त्रीधनकी मीमांसामें महर्षि कात्यायनके वचन अत्यन्त प्रामाणिक माने गये हैं। परवर्ती सभी निबन्धकारोंने इनके वचनोंको उद्धृत किया है।

(११) **शाण्डिल्यस्मृति**—परम भागवत ऋषि शाण्डिल्यजी भक्तिके आचार्य हैं। इनका भक्तिसूत्र अति प्रसिद्ध है। इनके अनुसार भगवान्में परम अनुराग ही भक्ति है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे।**' इन्होंने भगवद्भजनको ही सबसे बड़ा कल्याणकारक बताया है—'**क्षेममात्यन्तिकं विप्रा हरेर्भजनमेव हि।**' (शाण्डिल्यसंहिता १।९) आचार्यजी भगवान्का सर्वोपरि गुण बताते हुए कहते हैं कि '**मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।**' (शाण्डिल्यसूत्र ४९) अर्थात् भगवान्का मुख्य गुण है कारुण्य या दयालुता। इनका धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ शाण्डिल्यस्मृति वैष्णवोंकी परम आचारसंहिता है।

(१२) **गौतमस्मृति**—महर्षि गौतम वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें एक ऋषि हैं। ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। देवी अहल्या इनकी पत्नी हैं। महर्षि गौतमके नामसे एक धर्मसूत्र तथा एक स्मृति प्राप्त होती है। गौतमस्मृतिमें मुख्यरूपसे धर्माचरणकी महिमा, पंचयज्ञ, गोमहिमा, आपद्धर्म, भोजनविधि, तीर्थमहिमा तथा भगवद्भक्तिकी महिमा वर्णित है।

(१३) **वसिष्ठस्मृति**—क्षमाधर्म तथा आचार-निष्ठाके परमादर्श महर्षि वसिष्ठ वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। आप ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। आपकी पत्नी देवी अरुन्धती पतिव्रताओंकी आदर्श हैं। ये भगवान् श्रीरामके गुरु रहे हैं तथा उनके परम भक्त भी हैं। भगवद्भक्तोंमें आपकी प्रथम गणना होती है। आपकी गोसेवा और गोभक्ति प्रसिद्ध ही है। आपकी धर्मशास्त्रीय तथा आचारसम्बन्धी मर्यादाएँ वसिष्ठधर्मसूत्र तथा वसिष्ठस्मृतिमें उपनिबद्ध हैं। धर्माधर्म तथा कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें वसिष्ठजीके वचनोंका विशेष गौरव है।

(१४) **दक्षस्मृति**—दक्षस्मृतिके निर्माता प्रजापति दक्ष ब्रह्माजीके पुत्र हैं। मनुपुत्री प्रसूति इनकी धर्मभार्या थीं। शंकरपत्नी भगवती सती इन्हीं दक्षकी पुत्री हैं। इसीलिये ये दाक्षायणी भी कहलाती हैं। प्रजापति दक्ष भगवान् विष्णुके अनन्य भक्त और उनके कृपापात्र हैं। सात अध्यायोंमें उपनिबद्ध दक्षस्मृतिमें मुख्य रूपसे गृहस्थधर्म, सदाचार एवं अध्यात्मयोगज्ञान निरूपित है।

(१५) **बृहस्पतिस्मृति**—आचार्य बृहस्पति देवोंके भी गुरु हैं। ये वाणी-बुद्धि एवं ज्ञानके अधिष्ठाता तथा महान् परोपकारी हैं। ये महर्षि अंगिराके पुत्र हैं। इनकी बनायी स्मृति संक्षिप्त होनेपर भी बड़ी ही उपयोगी है। इसमें मुख्यरूपसे भूमिदान एवं गोदानकी और भगवद्भक्तिकी महिमा आयी है।

(१६) **शातातपस्मृति**—महर्षि याज्ञवल्क्यजीने विशिष्ट धर्मशास्त्रकारोंमें महर्षि शातातपजीका उल्लेख किया है। ये महर्षि शरभंगके गुरु हैं। इन्होंने अनेक प्रकारके तपोंका अनुष्ठान किया और तप करते-करते ये अत्यन्त क्षीणकाय हो गये थे। इसीलिये ये शातातप कहलाते हैं। कर्मविपाक (अच्छे-बुरे कर्मोंका फल)-मीमांसाके लिये ये ही सर्वाधिक प्रमाण माने गये हैं। इनके नामसे तीन स्मृतियाँ प्राप्त होती हैं—

लघुशातातप, वृद्धशातातप तथा शातातपीय कर्मविपाकसंहिता। मुख्य रूपसे इनमें पातक-उपपातक-महापातकोंका निरूपण तथा उनका प्रायश्चित्त वर्णित है।

(१७) पराशरस्मृति—'कलौ पाराशरः स्मृतः' इस वचनके अनुसार कलियुगमें महात्मा पराशरजीका कहा हुआ धर्म विशेष मान्यताप्राप्त है। पराशरजी कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासजीके पिता हैं। विष्णुपुराण इन्हींकी रचना है। पराशरस्मृतिमें बारह अध्याय हैं। इन्हींके नामसे एक बृहद्-पाराशरस्मृति भी प्राप्त होती है।

(१८) क्रतुस्मृति—महर्षि क्रतु ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं। ये धर्मज्ञ, सत्यवादी और व्रतपरायण महात्मा हैं। बालखिल्य ऋषिगण इन्हीं महर्षिके पुत्र हैं। इन महात्माने धर्मकी व्यवस्थाके लिये जो शास्त्र बनाया, वह क्रतुस्मृतिके नामसे कहा जाता है। श्रीनाभादासजीने इनका स्मृतिकारोंमें परिगणन किया है।

श्रीरामसचिव (श्रीरामके मन्त्रिगण)

धृष्टी बिजय जयंत नीतिपर सुचिर बिनीता।
राष्टरबर्धन निपुन सुराष्टर परम पुनीता॥
असोक सदा आनंद धर्मपालक तत्ववेता।
मन्त्रीबर्य सुमंत्र चतुर्भुज मंत्री जेता॥
अनायास रघुपति प्रसन भवसागर दुस्तर तरैं।
पावैं भक्ति अनपाइनी (जे) राम सचिव सुमिरन करैं॥ १९॥

धृष्टिजी, विजयजी, जयन्तजी, राष्ट्रवर्धन, सुराष्ट्र, अशोक, धर्मपालक और सुमन्त्रजी—ये नीतिपरायण, पवित्र, सुशील, परम चतुर, आनन्दमय और रहस्यके ज्ञाता हैं। सुमन्त्रजी चारों युगोंके मन्त्रियोंमें विजयी और श्रेष्ठ हैं। जो लोग भगवान् श्रीरामके इन आठ मन्त्रियोंका स्मरण करते हैं, वे श्रीरामजीकी अचला भक्ति पाते हैं, उनपर प्रभु अपने-आप ही प्रसन्न हो जाते हैं और वे जन्म-मृत्युके कठिन चक्रसे छूट जाते हैं, संसार-सागरसे पार हो जाते हैं॥ १९॥

यहाँ भगवान् श्रीरामकी सभाके मन्त्रिगणोंके सम्बन्धमें कुछ बातें निरूपित हैं—

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें महाराज दशरथके मन्त्रिजनोचित गुणोंसे सम्पन्न आठ मन्त्रियोंका वर्णन मिलता है। ये सदा ही राजाके प्रिय एवं हितमें लगे रहते थे। ये सभी शुद्ध आचार-विचारसे युक्त थे और राजकीय कार्योंमें निरन्तर संलग्न रहते थे। इनके नाम इस प्रकार हैं—

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥

(वा०रा० बाल० ७। ३)

अर्थात् धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप (अशोक), धर्मपाल और आठवें सुमन्त्र, जो अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे।

कालान्तरमें महाराज दशरथके दिवंगत हो जानेके बाद, जबकि श्रीरामचन्द्रजी वनवासमें थे और भरतजी नन्दिग्राममें निवास कर रहे थे, इन मन्त्रियोंने ही अयोध्याकी सम्पूर्ण व्यवस्थाको सुचारुरूपसे सँभाले रखा और भगवान् श्रीरामके आनेपर पुनः अपने-अपने पदोंपर नियुक्त हो गये। ये सभी उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा राजाके हितैषी थे। नीतिरूपी नेत्रोंसे देखते हुए ये सदा सजग रहते थे। अपने गुणोंके कारण

ये सभी मन्त्री गुरुतुल्य समादरणीय थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी कि इनमें भगवान् श्रीरामके प्रति अनन्य प्रेम था। इनमें भी सुमन्त्रजीका तो पिताके बालसखा होनेके कारण श्रीरामजी विशेषरूपसे पिताकी ही भाँति आदर करते थे। यहाँ संक्षेपमें श्रीसुमन्त्रजीका चरित्र दिया जा रहा है—

श्रीसुमन्त्रजी

सोइ जीवन सोई जनम, सोइ तन सफल सनाथ।
अपनो कहि जानत जिनहिं, सतकारत रघुनाथ॥

सुमन्त्रजीका जन्म सूतकुलमें हुआ था, परंतु अपनी योग्यता, कर्तव्यपरायणता और राज्यके प्रति निष्ठासे उन्होंने अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट्के महामन्त्री होनेका गौरव प्राप्त किया। अयोध्यासम्राट् महाराज दशरथके ये बालमित्र थे, सखा थे और महाराजके निजी सारथि भी थे। इनकी सम्मतिसे ही महाराज राज्यके सब कार्य करते थे और सभी राज्यसेवकोंके ये अध्यक्ष भी थे। यात्रा, विवाह, राज्याभिषेक आदि जितने भी बृहत् कर्म अयोध्यामें होते थे, उनकी पूरी व्यवस्था सुमन्त्रजी ही करते थे। श्रीरामचन्द्रजी पिताके इन सखा एवं मन्त्रीको पिताके समान ही आदर देते थे। महारानियाँ भी सुमन्त्रका सम्मान करती थीं, परंतु इन सबसे बढ़कर उनके चरित्रका जो अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष है, वह है उनका श्रीरामप्रेम।

गुरु वसिष्ठजीसे आज्ञा लेकर महाराज दशरथने सुमन्त्रसे सम्मति ली और श्रीरामको दूसरे ही दिन युवराजपद देना निश्चित हो गया। सुमन्त्र उस महोत्सवका प्रबन्ध करनेमें लग गये; किंतु दूसरे दिन प्रातःकाल महाराज बहुत देरतक राजभवनसे निकले ही नहीं। सुमन्त्र ही अन्तःपुरमें जाकर महाराजको जगा सकते थे। सुमन्त्र भीतर गये। उन्होंने कोपभवनमें भूमिपर मूर्च्छित पड़े हुए महाराजको और पास बैठी रोषकी मूर्ति कैकेयीको देखा। यहींसे उनकी व्यथाके अपार समुद्रका प्रारम्भ हो गया। कैकेयीके कहनेसे वे श्रीरामको वहाँ बुला लाये। कैकेयीके मुखसे उन्होंने श्रीरामको वनवास देनेकी बात सुनी और एक शब्दतक व्यथाके मारे उनके मुखसे नहीं निकल सका।

श्रीराम भाई लक्ष्मण और जानकीजीके साथ वनको चले। महाराजकी आज्ञासे सुमन्त्रने उन्हें रथपर बैठाया। शृंगवेरपुरतक रथ आया। शृंगवेरपुरमें गंगातटपर श्रीरामने अपनी घुँघराली काली अलकोंको वटके दूधसे चिपकाकर जटा बना लिया। सुमन्त्रका हृदय फटा जाता था। उन्होंने महाराज दशरथका सन्देश सुनाकर श्रीरामको लौटनेके लिये कहा; श्रीजनकराजकुमारीको वनके क्लेश बताकर अयोध्या चलनेकी प्रार्थना की; किंतु कोई फल न हुआ। श्रीराम और वैदेही तो सदासे उनको पिताकी भाँति मानते आये हैं। आज भी वही सम्मान, वही आदर, वही संकोचपूर्ण विनय; किंतु कोई भी लौटकर साथ नहीं चलना चाहता। सुमन्त्रने बहुत प्रयत्न किया कि 'उसे ही वनमें साथ चलनेकी अनुमति मिल जाय, पर ऐसा कब सम्भव था। सुमन्त्रकी दशा क्या हो गयी?'

बहुत प्रकार समझा-बुझाकर श्रीरघुनाथजीने उन्हें लौटाया, पर सुमन्त्र लौट न सके। वे बार-बार लौट आते थे। केवटने नाव चला दी। अयोध्याके जीवन-धन वन चले गये। जब निषादराज कुछ दूर श्रीराघवको पहुँचाकर लौटे, तब उन्होंने जलसे बाहर पड़ी मछलीकी भाँति तड़पते सुमन्त्रको देखा। साथमें चार सेवक देकर किसी प्रकार उन्हें अयोध्या लौटाया। सुमन्त्रकी अन्तर्वेदनाका पार नहीं है। वे क्या मुख लेकर अयोध्या जायँ। पुरवासियोंको, सेवकोंको, महारानी कौसल्याको और महाराजको कौन-सा संवाद सुनायें। किसी प्रकार अन्धकार होनेपर वे नगरमें गये। रथ राजद्वारपर छोड़कर भवनमें प्रवेश किया। उस समय उनकी वाणी विकल हो गयी, कानोंसे सुनायी नहीं पड़ता, आँखोंसे दिखायी नहीं देता; वे सबसे पूछते हैं—राजा कहाँ हैं?

सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृपु तेहि तेहि बूझा॥

वे किसी प्रकार महाराजके पास पहुँचे। रामका सन्देश कहनेका उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, महाराजको धैर्य देनेका प्रयास किया; किंतु उन्हींका हृदय हाहाकार कर रहा था। उन्होंने सन्देशके अन्तमें कहा—

मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जिअत फिरेउँ लेइ राम सँदेसू॥

महाराज दशरथने शरीर त्याग दिया। अयोध्या अनाथ हो गयी। सुमन्त्र धैर्य धारण न करें तो उनके हृदयधन श्रीरामका साम्राज्य व्यवस्थित कैसे रहे? ननिहालसे भरतजी लौटे और पिताकी अन्त्येष्टि करके वे निष्पाप चित्रकूट पहुँचे बड़े भाईको मनाने। वहाँसे वे श्रीरामकी चरणपादुका ले आये। सिंहासनपर वे पादुकाएँ प्रतिष्ठित हुईं। सुमन्त्रने धैर्यपूर्वक व्यवस्था सँभाल ली और वे चौदह वर्ष उसे सँभाले रहे। अन्तमें अयोध्याके स्वामी अयोध्या लौटे। श्रीरामने सुमन्त्रको सदा पिताकी भाँति ही आदर दिया और सुमन्त्र राम-राज्यमें भी उस साम्राज्यके महामन्त्रीपदपर प्रतिष्ठित रहे।

श्रीराम-सहचरवर्ग

दिनकर सुत हरिराज बालिबछ केसरि औरस।
दधिमुख द्विबिद मयंद रिच्छपति सम को पौरस॥
उल्का सुभट सुषेन दरीमुख कुमुद नील नल।
सरभ रु गवै गवाच्छ पनस गँधमादन अतिबल॥
पद्म अठारह जूथपति रामकाज भट भीर के।
सुभ दृष्टि बृष्टि मो पर करौ जे सहचर रघुबीर के॥ २०॥

सूर्यके पुत्र वानरराज सुग्रीवजी, बालिपुत्र अंगदजी, केशरीके पुत्र हनुमान्‌जी, दधिमुखजी, द्विविदजी, मयन्दजी, जिनके समान कोई साहसी और बलवान् नहीं है—ऐसे रीछोंके राजा जाम्बवान्‌जी, श्रेष्ठ योद्धा उल्कामुखजी, सुषेणजी, दरीमुख, कुमुद, नील, नल, शरभ, गवय, गवाक्ष, पनस और महाबलवान् गन्धमादन आदि अठारह पद्म जो सेनापति हैं—ये संकटके समय भक्तोंके तथा श्रीरामजीके कार्यको करनेवाले महान् वीर हैं। श्रीरामचन्द्रजीके ये जो सखागण हैं, वे हमारे ऊपर मंगलकारिणी कृपादृष्टिकी वर्षा करें॥ २०॥

यहाँ श्रीरामजीके इन सहचरोंका किंचित् वर्णन प्रस्तुत है—

सूर्यपुत्र सुग्रीव

वानरराज सुग्रीवजी श्रीरामके सखा और भक्त थे। इनका वर्णन छन्द ९ में आया है।

बालिपुत्र अंगद

वनवासके समय भगवती जानकीका अन्वेषण करते हुए मर्यादापुरुषोत्तम ऋष्यमूकपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की। सुग्रीवका पक्ष लेकर उन्होंने वानरराज बालिको मारा। मरते समय बालिने अपने पुत्र अंगदको उन सर्वेश्वरके चरणोंमें अर्पित किया। बालिने कहा—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

(रा०च०मा० ४।१०।२ छं०)

प्रभुने अंगदको स्वीकार किया। सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य मिला, किंतु युवराजपद बालिकुमार

अंगदजीका ही रहा। अंगदने भगवान्‌की इस कृपाको हृदयसे ग्रहण किया। श्रीसीताजीको ढूँढ़ते हुए जब वानर-वीरोंका दल दक्षिण समुद्रतटपर पहुँचा और गृध्रराज सम्पातिसे यह पता चल गया कि जानकीजी लंकामें हैं, उस समय यह प्रश्न सामने आया कि सौ योजन समुद्र पार करके लंकामें कौन जाय, इसपर युवराज राम-काजके लिये लंका जानेको उद्यत हो गये थे। परंतु जाम्बवन्तजीने उन्हें नहीं जाने दिया। हनुमान्‌जी लंका गये और वहाँके समाचार ले आये। भगवान्‌की कृपासे समुद्रपर सेतु बाँधा गया। असंख्य वानरी सेना लंकाके त्रिकूटपर्वतपर उतर गयी। अब प्रभुने अंगदको दूत बनाकर रावणके पास भेजा। श्रीरामने अंगदके विषयमें वहाँ कहा है—

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥

(रा०च०मा० ६। १७। ७)

अंगदजीके इस दौत्यकर्मको ठीक-ठीक समझना चाहिये। श्रीहनुमान्‌जी रावणसे मिल चुके थे। उसे सामनीतिसे समझानेका जो प्रयत्न उन्होंने किया, वह असफल हो चुका था। उसीको फिर दुहराना बुद्धिमानी नहीं थी। रावण अहंकारी है, वह शिक्षा सुनना ही नहीं चाहता, प्रलोभनका उसपर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता—यह पता लग चुका था। अब तो हनुमान्‌जीके कार्यको आगे बढ़ाना था। डाँटकर, भय दिखाकर ही बुद्धिहीन अहंकारी लोगोंको रास्तेपर लाया जा सकता है। यदि रावण न भी माने तो उसके साहसको तोड़ देना, उसके अनुचरोंको भयभीत कर देना आनेवाले युद्धकी दृष्टिसे आवश्यक था। अंगदजीने यही किया। रावणकी राजसभामें उनकी तेजस्विता, उनका शौर्य अद्वितीय रहा। श्रीराम सर्वेश्वर हैं। उनके सेवककी प्रतिज्ञा त्रिलोकीमें कोई भंग नहीं कर सकता—यह अविचल विश्वास अंगदमें था; इसीसे उन्होंने रावणकी सभामें प्रतिज्ञा की—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं रामु सीता मैं हारी॥

(रा०च०मा० ६। ३४। ९)

इस प्रतिज्ञाका दूसरा कोई अर्थ करना अंगदके दृढ़ विश्वासको न समझना है। रावण नीतिज्ञ था। उसने अनेक प्रकारकी भेदनीतिसे काम लिया। उसने सुझाया—'बालि मेरा मित्र था। वे राम-लक्ष्मण तो बालिको—तुम्हारे पिताको मारनेवाले हैं। यह तो बड़ी लज्जाकी बात है कि तुम अपने पितृघातीका पक्ष ले रहे हो।' अंगदने रावणको स्पष्ट फटकार दिया—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाकें॥

(रा०च०मा० ६। २१। १०)

जब रावण भगवान्‌की निन्दा करने लगा, तब युवराज उसे सह नहीं सके। क्रोध करके उन्होंने मुट्ठी बाँधकर दोनों भुजाएँ भूमिपर बड़े जोरसे दे मारीं। भूमि हिल गयी। रावण गिरते-गिरते बचा। उसके मुकुट पृथ्वीपर गिर पड़े। उनमेंसे चार मुकुट अंगदने उठाकर भगवान्‌के पास उछाल दिये। इतना शौर्य दिखाकर, इतना पराक्रम प्रकट करके जब वे प्रभुके पास आये और जब उन दयामयने पूछा—

रावनु जातुधान कुल टीका। भुज बल अतुल जासु जग लीका॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए। कहहु तात कवनी बिधि पाए॥

(रा०च०मा० ६। ३८। ६-७)

परंतु जिनपर प्रभुकी कृपा है, जो भगवान्‌के चरणोंके अनन्य भक्त हैं, उनमें कभी किसी प्रकार भी अहंकार नहीं आता। उस समय अंगदजीने बड़ी सरलतासे उत्तर दिया—

सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥
साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥
नीति धर्म के चरन सुहाए। अस जियँ जानि नाथ पहिं आए॥

(रा०च०मा० ६। ३८। ८—१०)

—जैसे अंगदने कुछ किया हो, इसका उन्हें बोधतक नहीं। वे सर्वथा निरभिमान हैं। इसके पश्चात् युद्ध हुआ। रावण मारा गया। उस युद्धमें युवराज अंगदका पराक्रम वर्णनातीत है। लंका-विजय करके श्रीराम अयोध्या पधारे। राज्याभिषेक हुआ। अन्तमें कपिनायकोंको विदा करनेका अवसर आया। भगवान् एक-एकको वस्त्राभरण देकर विदा करने लगे। अंगदका हृदय धक्-धक् करने लगा। वे एक कोनेमें सबसे पीछे दुबककर बैठ गये। 'कहीं प्रभु मुझे भी जानेको न कह दें'—इस आशंकासे। श्रीरामके चरणोंसे पृथक् होना होगा, इस कल्पनासे ही वे व्याकुल हो गये। जब सभी वानर-यूथपतियों एवं रीछ-नायकोंको भगवान् अपने उपहार दे चुके, जब सब आज्ञा पाकर उठ खड़े हुए, तब अन्तमें प्रभुने अंगदजीकी ओर देखा। अंगदका शरीर काँपने लगा। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और कहने लगे—

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरत बंधो॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥
असरन सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

(रा०च०मा० ७। १८। १—७)

'नाथ! मेरे पिताने मरते समय मुझे आपके चरणोंमें डाला है, अब आप मेरा त्याग न करें। मुझे जिस किसी भी प्रकार अपने चरणोंमें ही पड़ा रहने दें!' यह कहकर अंगद श्रीरघुनाथजीके चरणोंपर गिर पड़े। करुणासागर प्रभुने उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। अपने निजी वस्त्र, अपने आभरण और अपने कण्ठकी माला श्रीराघवने अंगदको पहनायी और स्वयं अंगदको पहुँचाने चले। अंगद बार-बार प्रभुको दण्डवत्-प्रणाम करते हैं। बार-बार उस कमलमुखकी ओर देखते हैं। बार-बार सोचते हैं—'अब तो मुझे प्रभु कह दें कि 'अच्छा, तुम यहीं रहो।''

दूरतक दयाधामने अंगदको पहुँचाया। जब हनुमान्‌जी सुग्रीवसे अनुमति लेकर श्रीरामके पास लौटने लगे, तब अंगदजीने उनसे कहा—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥

(रा०च०मा० ७। १९ क)

महाभाग! मैं आपसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, प्रभु से मेरी दण्डवत् कहना और श्रीरघुनाथजीको बार-बार मेरी याद कराते रहना।

केशरीपुत्र हनुमान्‌जी

श्रीहनुमान्‌जीसे सम्बन्धित वर्णन छन्द ९ में आया है।

श्रीजाम्बवान्‌जी

श्रीजाम्बवान्‌जीका विवरण छन्द ९ में आया है।

अन्य सहचर

इनके अतिरिक्त दधिमुख, द्विविद, मयन्द, सुषेण, नील, नल, शरभ, गवय और गन्धमादन—ये भी भगवान् श्रीरामके सहचर थे। ये सभी देवांशसे उत्पन्न थे। ब्रह्माजीके आदेशसे इन लोगोंने वानरका शरीर धारण किया था। इनमें अथाह बल था। श्रीदधिमुखजी चन्द्रमाके अंशसे उत्पन्न हुए थे और ये सुग्रीवके मामा थे। ये बड़े ही सौम्य, भगवद्भक्त और मधुरभाषी थे। सुग्रीवके मधुवन नामक मनोरम महावनके ये प्रधान रक्षक थे। राम-रावण-युद्धके समय इन्होंने अपने वानर-सैनिकोंके साथ श्रीरामका साथ दिया था। द्विविद और मयन्द अश्विनीकुमारोंके पुत्र थे। श्रीसुषेणजी धर्मके अंशसे अवतीर्ण हुए थे। नील अग्निके और नल विश्वकर्माके पुत्र थे। ये दोनों लोग एक ही मातासे उत्पन्न थे, अतः भाई-भाई थे। समुद्रपर सेतु बाँधनेमें इन दोनोंका विशेष योगदान था। ये दोनों दस-दस करोड़ वानरोंके यूथपति थे। श्रीशरभजी पर्जन्य देवताके पुत्र थे। श्रीगवयजी यमराजके अंशसे अवतीर्ण हुए थे और उन्हींके समान पराक्रमी थे। श्रीगन्धमादनजी कुबेरके पुत्र थे। भगवान्‌ने इन सबको अपना सखा माना है। इनकी प्रशंसा करते हुए प्रभु श्रीराम गुरुदेव वसिष्ठजीसे कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

इन सहचरोंका भी प्रभुपर इतना प्रेम था कि वे लोग जी-जानसे युद्ध करनेपर भी इसे प्रभुकी सेवामें तुच्छ कार्य भी नहीं गिनते। भगवान्‌द्वारा प्रशंसा किये जानेपर वे कहते हैं—

सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥

युद्धकी समाप्तिपर इन सहचरों और इनकी सेनाका आभार मानते हुए प्रभुने इन्हें घर जानेके लिये विदा किया, परंतु प्रेमवश इनमेंसे कोई घर जानेको तैयार नहीं हुआ, अतः प्रभु सबको साथ लेकर अयोध्या आये और वहाँ छः महीनेतक सबका अतिथ्य-सत्कार किया। तत्पश्चात् प्रभुने सबको वस्त्र-आभूषणसे सम्मानित करके विदा किया। अन्य लोग तो प्रभु श्रीरामजीकी साँवली मूर्ति अपने हृदयमें बसाकर चले गये, परंतु अंगद और श्रीहनुमान्‌जी तब भी नहीं गये। अंगदके विशेष प्रेमको देखकर भगवान् श्रीरामने उन्हें अपने हृदयकी माला, वस्त्र और मणि पहनाकर और बहुत प्रकारसे समझा-बुझाकर विदा किया और इतना ही नहीं भाइयोंसहित उन्हें बहुत दूरतक पहुँचाने भी गये। श्रीहनुमान्‌जी तो भगवान्‌के नित्य परिकर ही हैं, वे सुग्रीवजीसे अनुमति लेकर भगवान्‌की चरणसेवामें ही रह गये।

नौ नन्दजी

धरानंद ध्रुवनंद तृतिय उपनंद सु नागर।
चतुर्थ तहाँ अभिनंद नंद सुखसिंधु उजागर॥
सुठि सुनंद पसुपाल निर्मल निस्चै अभिनंदन।
कर्मा धर्मानंद अनुज बल्लभ जग बंदन॥
आस पास वा बगर के (जहँ) बिहरत पसुप सुछंद।
ब्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुत नीके नव नंद॥ २१॥

व्रजमण्डलके सबसे बड़े माननीय गोप पर्जन्यजीके अति सुन्दर एवं सुशील नौ पुत्र थे, वे ही नौ नन्द हैं। धरानन्दजी, ध्रुवनन्दजी, तीसरे परम चतुर उपनन्दजी और चौथे अभिनन्दजी थे। प्रसिद्ध यशस्वी तथा सुखके सागर नन्दजी थे। पशुओंके पालक आनन्दप्रद निर्मल और निश्चल बुद्धिवाले सुनन्दजी थे। विश्ववन्दनीय कर्मानन्दजी और धर्मानन्दजी तथा उनके छोटे भाई बल्लभजी थे। जहाँ गायोंके चरनेका स्थान है, वहाँ उसीके आस-पास स्वच्छन्दतासे ये गोप विचरते रहते थे॥ २१॥

यहाँ श्रीपर्जन्यजी तथा उनके नन्द आदि नौ पुत्रोंके विषयमें संक्षेपमें कुछ विवरण प्रस्तुत है—

श्रीपर्जन्यजी

यदुवंशमें सर्वगुणसम्पन्न एक देवमीढ़ नामके राजा हुए। वे श्रीमथुराजीमें निवास करते थे। उनके दो पत्नियाँ थीं, पहली क्षत्रियवर्णकी, दूसरी वैश्यवर्णकी। उन दोनों रानियोंके क्रमसे यथायोग्य दो पुत्र हुए। एकका नाम था शूरसेन, दूसरेका नाम था पर्जन्य। माता-पिता दोनों क्षत्रियवर्ण होनेसे श्रीशूरसेनजी क्षत्रिय रहे, परंतु पर्जन्यजीका जन्म वैश्यवर्णकी मातासे हुआ था। अतः '**मातृवद् वर्णसङ्करः**' इस न्यायसे वैश्य जातिको प्राप्त होकर इन्होंने गोपालन वृत्तिविशेषको अपनाया। ये बड़े ही भगवत्-भागवतसेवी थे। साधु ब्राह्मणोंमें इनकी अपार श्रद्धा थी। ये अपने औदार्य गुणसे परम प्रशंसनीय थे। ये यशमें प्रह्लाद, प्रतिज्ञामें ध्रुव, महिमामें पृथु, शत्रुओंके प्रति भीष्म, मित्रोंके प्रति शंकर, गौरवमें ब्रह्मा तथा तेजमें श्रीहरिके तुल्य थे। पर्जन्य (मेघ)-की तरह प्राणिमात्रके लिये मंगलकारी होकर इन्होंने अपने पर्जन्य नामको चरितार्थ कर दिया था। इनके समान ही इनकी परम भागवती पत्नीने भी सर्व शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न होकर अपने 'वरीयसी' इस नामको सार्थक किया था। ये समस्त गोपोंके राजा थे। इनके परम भाग्यशाली उपनन्दादि नव पुत्र थे।

गर्गसंहितामें वर्णन आता है कि गोलोकधाममें भगवान् श्रीकृष्णके निकुंजद्वारपर जो नौ गोप हाथमें बेंत लिये पहरा देते थे, वे ही श्याम अंगवाले नौ गोप भगवल्लीलामें सहयोग देनेके लिये व्रजमें 'नौ नन्द' के रूपमें अवतरित हुए थे। ये लोग बालकृष्णको अपने घर ले जाते और वहाँ बिठाकर उनकी रूप-माधुरीका आस्वादन करते। वे उन्हें खेलनेके लिये गेंद देते, उनका लालन-पालन करते और उनकी लीलाओंका गान करते थे। इसी प्रकार गोलोकधाम-निकुंजमें जो करोड़ों गौएँ हैं, उनके पालनमें रत रहनेवाले गोप उपनन्द कहलाते हैं। भगवान्‌की लीलामें सहयोग देनेके लिये वे भी यहाँ अवतरित हुए। नौ नन्दोंमें भी श्रीनन्दरायजीकी विशेष महिमा है।

श्रीनन्दजी

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः। अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

वैसे तो नन्दबाबा नित्य-गोलोकधाममें सदा ही विराजमान रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके नित्य सिद्ध पिता हैं। जब श्यामसुन्दरको पृथ्वीपर आना होता है, तब गोप, गोपियाँ, गायें और पूरा व्रजमण्डल नन्दबाबाके साथ पहले ही पृथ्वीपर प्रकट हो जाता है। किंतु जब भी इस प्रकारके भगवान्‌के नित्यजन पृथ्वीपर पधारते हैं, कोई-न-कोई जीव जो सृष्टिमें उनका अंशरूप होता है, उनसे एक हो जाता है। इसलिये ऐसा भी वर्णन आता है कि पूर्वकल्पमें वसुश्रेष्ठ द्रोण और उनकी पत्नी धरादेवीने भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये बहुत कठिन तपस्या की। जब ब्रह्माजी उन्हें वरदान देकर तपस्यासे निवृत्त करनेके लिये उनके समीप आये, तब उन्होंने सृष्टिकर्तासे वरदान माँगा—'जब विश्वेश्वर श्रीहरि धरापर प्रकट हों, तब हमारा उनमें पुत्रभाव हो।' ब्रह्माजीके उसी वरदानके प्रभावसे द्रोण व्रजमें नन्द हुए और धरादेवी यशोदा हुईं।

मथुरामें वृष्णिवंशमें सर्वगुणालंकृत राजा देवमीढ़जी हुए। इनके दो पत्नियाँ थीं—एक क्षत्रियकन्या और

दूसरी वैश्यपुत्री। क्षत्रियकन्यासे इनके पुत्र हुए—शूरसेनजी। इन्हीं शूरसेनजीके पुत्र वसुदेवजी हुए। वैश्यकन्यासे हुए—पर्जन्यजी। ये अपनी माताके कारण गोप-जातिके माने गये और मथुराके अन्तर्गत बृहद्वनमें—यमुनाजीके उस पार महावनमें इन्होंने अपना निवास बनाया। मथुरामण्डलकी गो-सम्पत्तिके ये प्रमुख अधिकारी हुए। इनके पुत्र हुए—उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सन्नन्द और नन्दन। पिताके पश्चात् व्रजमण्डलके गोष्ठनायकों तथा भाइयोंकी सम्मतिसे योग्य होनेके कारण मझले भाई होनेपर भी नन्दजी व्रजेश्वर हुए। वसुदेवजी इनके भाई ही लगते थे ओर उनसे नन्दबाबाकी घनिष्ठ मित्रता थी। जब मथुरामें कंसका अत्याचार बढ़ने लगा, तब वसुदेवजीने अपनी पत्नी रोहिणीको नन्दजीके यहाँ भेज दिया। गोकुलमें ही रोहिणीजीकी गोदमें बलरामजी पधारे। श्रीकृष्णचन्द्रको भी वसुदेवजी चुपचाप नन्दगृहमें रख आये। राम-श्याम नन्दगृहमें लालित-पालित हुए। नन्दबाबा वात्सल्य-रसके अधिदेवता हैं। उनके प्राण श्रीकृष्णमें ही बसते हैं। अपने श्यामके लिये ही वे उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, प्राण धारण करते तथा दान-धर्म, पूजा-पाठ आदि करते थे। कन्हैया प्रसन्न रहे, सकुशल रहे—बस, एकमात्र यही चिन्ता और यही इच्छा उनमें थी।

जब गोकुलमें नाना प्रकारके उत्पात होने लगे, शकटका गिरना, यमलार्जुनका टूटना आदि घटनाएँ हुईं, तब नन्दबाबा अपने पूरे समुदायके साथ वहाँसे बरसानेके पास नन्दगाँव चले गये। एक बार बाबाने एकादशीका व्रत किया था। रात्रि-जागरण करके वे गोपोंके साथ हरि-कीर्तनमें लगे थे। कुछ अधिक रात्रि शेष थी, तभी प्रातःकाल समझकर वे स्नान करने यमुनाजीमें उतर गये। वरुणका एक दूत उन्हें पकड़कर वरुणजीके पास ले गया। व्रजवासी नन्दबाबाको न देखकर विलाप करने लगे। उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र यमुनामें कूदकर वरुणलोक पहुँचे। जलके अधिदेवता वरुणने भगवान्‌का बड़ा आदर किया, ससम्मान पूजा की। बाबाको वहाँसे लेकर श्यामसुन्दर लौट आये। इसी प्रकार शिवरात्रिको अम्बिका-वनकी यात्रामें रातको सोते समय जब बाबाको अजगरने आकर पकड़ लिया और गोपोंद्वारा जलती लकड़ियोंसे मारे जानेपर भी वह टस-से-मस नहीं हुआ, तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपने चरणोंसे छूकर उसे सद्‌गति दी और बाबाको छुड़ाया।

अक्रूरजी व्रजमें आये। नन्दबाबा गोपोंके साथ राम-श्यामको लेकर मथुरा चले गये। मथुरामें श्रीकृष्णचन्द्रने कंसको मारकर अपने नाना उग्रसेनको राजा बनाया। वसुदेव-देवकीको कारागारसे छुड़ाया। यह सब तो हुआ, किंतु राम-श्याम व्रज नहीं लौटे। वे मथुरा ही रह गये। नन्दबाबाको लौट आना पड़ा व्रज। जब उद्धवजी श्यामका सन्देश लेकर व्रज आये, तब बाबाने उनसे व्याकुल होकर पूछा—'उद्धवजी! क्या कभी श्यामसुन्दर हम सबको देखने यहाँ आयेंगे? क्या हम उनके हँसते हुए कमल-मुखको एक बार देख सकेंगे? हमारे लिये उन्होंने दावाग्निपान किया, कालियदमन किया, इन्द्रकी वर्षासे हमें बचाया, अजगरसे मेरी रक्षा की। अनेक संकटोंसे व्रजका परित्राण किया उन्होंने। उनका पराक्रम, उनकी हँसी, उनका बोलना, उनका चलना, उनकी क्रीड़ा आदिका जब हम स्मरण करते हैं और जब हम उनके चरण-कमलोंसे अंकित पर्वत, पृथ्वी, वन एवं यमुना-पुलिनको देखते हैं, तब अपने-आपको भूल जाते हैं। हमारी सब क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं।'

श्रीबलरामजी द्वारकासे एक बार व्रज आये और दो महीने वहाँ रहे। फिर सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें पूरा व्रजमण्डल और द्वारकाका समाज एकत्र हुआ। यहीं बाबाने अपने श्यामको फिर देखा। कुरुक्षेत्रसे लौटनेपर तो व्रजमण्डल, उसके सभी दिव्य तरु, लता, पादपतक अन्तर्हित हो गये। जैसे नन्दबाबा गोप, गोपी, गौएँ तथा व्रजमण्डलके साथ नित्यलोकसे पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, वैसे ही नित्यलोकको चले गये सबको साथ लेकर।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाके सहचर—व्रजवासीगण

नंद गोप उपनंद ध्रुव धरानंद (महरि) जसोदा।
कीरतिदा बृषभानु कुँअरि सहचरि (बिहरति) मन मोदा॥
(मधु) मंगल सुबल सुबाहु भोज अर्जुन श्रीदामा।
मंडल ग्वाल अनेक स्याम संगी बहु नामा॥
घोष निवासिन की कृपा सुर नर बांछत आदि अज।
बाल बृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पाद रज॥ २२॥

ब्रह्मा आदि सभी देव तथा ऋषि-मुनि जिन व्रजमण्डलके निवासियोंकी कृपाको चाहते हैं, उन बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी गोपी-ग्वालोंकी चरणरजको मैं अपने सिरपर चढ़ाना चाहता हूँ। नन्दगोप, उपनन्द, ध्रुवनन्द, धरानन्द, नन्दजीकी पत्नी यशोदाजी, कीर्ति देनेवाली वृषभानुकी पत्नी कीर्तिजी, बरसानेके राजा वृषभानुजी, वृषभानुकुमारी श्रीराधिका, प्रसन्नचित्ता सखियाँ, मधुमंगल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा और सम्पूर्ण ग्वाल-मण्डली जिनके अनेक नाम हैं, जो श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रके साथी हैं, मैं इन सबके पदकी धूरिका चाहनेवाला हूँ॥ २२॥

उपर्युक्त छप्पयमें वर्णित श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रके लीलासहचर व्रजवासीजनोंमेंसे कुछका वर्णन यहाँ संक्षेपमें प्रस्तुत है—

नन्दपत्नी माता यशोदा

(१)

वसुश्रेष्ठ द्रोणने पद्मयोनि ब्रह्मासे यह प्रार्थना की—'देव! जब मैं पृथ्वीपर जन्म धारण करूँ तो विश्वेश्वर स्वयं भगवान् श्रीहरि श्रीकृष्णचन्द्रमें मेरी परमा भक्ति हो।' इस प्रार्थनाके समय द्रोणपत्नी धरा भी वहीं खड़ी थीं। धराने मुखसे कुछ नहीं कहा; पर उनके अणु-अणुमें भी यही अभिलाषा थी, मन-ही-मन धरा भी पद्मयोनिसे यही माँग रही थीं। पद्मयोनिने कहा—'तथास्तु—ऐसा ही होगा।' इसी वरके प्रतापसे धराने व्रजमण्डलके एक सुमुख नामक गोप* एवं उनकी पत्नी पाटलाकी कन्याके रूपमें भारतवर्षमें जन्म धारण किया—उस समय जबकि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अवतरणका समय हो चला था, श्वेतवाराहकल्पकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीके द्वापरका अन्त हो रहा था। पाटलाने अपनी कन्याका नाम यशोदा रखा। यशोदाका विवाह व्रजराज नन्दसे हुआ। ये नन्द पूर्वजन्ममें वही द्रोण नामक वसु थे, जिन्हें ब्रह्माने वर दिया था।

भगवान्की नित्य लीलामें भी एक यशोदा हैं। वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्य माता हैं। वात्सल्यरसकी घनीभूत मूर्ति ये यशोदारानी सदा भगवान्को वात्सल्यरसका आस्वादन कराया करती हैं। जब भगवान्के अवतरणका समय हुआ तो इन चिदानन्दमयी, वात्सल्यरसमयी यशोदाका भी इन यशोदा (पूर्वजन्मकी धरा)-में ही आवेश हो गया। पाटलापुत्री यशोदा नित्ययशोदासे मिलकर एकमेक हो गयीं तथा इन्हीं यशोदाके पुत्रके रूपमें आनन्दकन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अवतीर्ण हुए।

जब भगवान् अवतीर्ण हुए थे, उस समय यशोदाकी आयु ढल चुकी थी। अतः जब पुत्र हुआ तो फिर आनन्दका कहना ही क्या है—

* सुमुखका एक नाम महोत्साह भी था।

'सूखत धानन कौं ज्यौं पान्यो, यों पायौ या पनमें।'

—यशोदाको पुत्र हुआ है, इस आनन्दमें सारा व्रजपुर निमग्न हो गया।

(२)

छठे दिन यशोदाने अपने पुत्रकी छठी पूजी। इसके दूसरे दिनसे ही मानो यशोदा-वात्सल्य-सिन्धुका मन्थन आरम्भ हो गया, मानो स्वयं जगदीश्वर अपनी जननीका हृदय मथते हुए राशि-राशि भावरत्न निकाल-निकालकर बिखेरने लगे, बतलाने लगे, घोषणा करने लगे—'जगत्की देवियो! देखो, यदि तुममेंसे कोई मुझ परब्रह्म पुरुषोत्तमको अपना पुत्र बनाना चाहो तो मैं पुत्र भी बन सकता हूँ; पर पुत्र बनाकर मुझे कैसे प्यार किया जाता है, वात्सल्यभावसे मेरा भजन कैसे होता है—इसकी तुम्हें शिक्षा लेनी पड़ेगी। इसीलिये इन सर्वथा अनमोल रत्नोंको निकालकर मैं जगत्में छोड़ दे रहा हूँ, ये ही तुम्हारे आदर्श होंगे; इन्हें पिरोकर अपने हृदयका हार बना लेना। हृदय आलोकित हो जायगा; उस आलोकमें आगे बढ़कर पुत्ररूपसे मुझे पा लोगी, अनन्तकालके लिये सुखी हो जाओगी।' अस्तु,

कंसप्रेरित पूतना यशोदानन्दनको मारने आयी। अपना विषपूरित स्तन यशोदानन्दनके मुखमें दे दिया, किंतु यशोदानन्दन विषमय दूधके साथ ही पूतनाके प्राणोंको भी पी गये। शरीर छोड़ते समय श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर ही पूतना मधुपुरीकी ओर दौड़ी। आह! उस क्षण यशोदाके प्राण भी मानो पूतनाके पीछे-पीछे दौड़ चले। यशोदाके प्राण तभी लौटे, तभी उनमें जीवनका संचार हुआ, जब पुत्रको लाकर गोपसुन्दरियोंने उनके वक्षःस्थलपर रखा। यशोदाने स्नेहवश उस समय परमात्मा श्रीकृष्णपर गो-पुच्छ फिराकर उनकी मंगल-कामना की।

(३)

क्रमशः यशोदानन्दन बढ़ रहे थे। एवं उसी क्रमसे मैयाका आनन्द भी प्रतिक्षण बढ़ रहा था। यशोदा मैया पुत्रको देख-देखकर फूली न समाती थीं।

जसुमति फूली फूली डोलति।
अति आनंद रहत सगरो दिन हसि हसि सब सों बोलति॥
मंगल गाय उठति अति रस सों अपने मनको भायो।
बिकसित कहति देख व्रजसुंदरि कैसो लगत सुहायो॥

कभी पालनेपर पुत्रको सुलाकर आनन्दमें निमग्न होती रहतीं—

पलना स्याम झुलावति जननी।
अति अनुराग परस्पर गावति, प्रफुलित गमन होति नँद-घरनी॥
उमँगि-उमँगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी।
सूरदास प्रभु मुदित जसोदा, पूरन भई पुरातन करनी॥

इस प्रकार जननीका प्यार पाकर श्रीकृष्णचन्द्र तो आज इक्यासी दिनके हो गये, पर जननीको ऐसा लगता था मानों कुछ देर पहले ही मैंने अपने पुत्रका यह सलोना मुख देखा है। आज वे अपने पुत्रको एक विशाल शकटके नीचे पलनेपर सुला आयी थीं। इसी समय कंसप्रेरित उत्कच नामक दैत्य आया, उस गाड़ीमें प्रविष्ट हो गया, शकटको यशोदानन्दनपर गिराकर वह उनको पीस डालना चाहता था। पर इससे पूर्व ही यशोदानन्दनने अपने पैरसे शकटको उलट दिया, शकटासुरके संसरणका अन्त कर दिया! इधर जब जननीने शकट-पतनका भयंकर शब्द सुना तो ये सोच बैठीं कि मेरा लाल तो अब जीवित रहा नहीं। बस, ढाढ़

मारकर एक बार चीत्कार कर उठीं और फिर सर्वथा प्राणशून्य-सी होकर गिर पड़ीं। बड़ी कठिनतासे गोपसुन्दरियाँ उनकी मूर्च्छा तोड़नेमें सफल हुईं। उन्होंने आँखें खोलकर अपने पुत्रको देखा, देखकर रोती हुई ही अपनेको धिक्कार देने लगीं—

बालो मे नवनीततश्च मृदुलस्त्रैमासिकोऽस्यान्तिके
हा कष्टं शकटस्य भूमिपतनाद् भङ्गोऽयमाकस्मिकः।
तच्छ्रुत्वापि न मे गतं यदसुभिस्तेनास्मि वज्राधिका
धिङ्मे वत्सलतामहो सुविदितं मातेति नामैव मे॥

'हाय रे हाय! मेरा यह नीलमणि नवनीतसे भी अधिक सुकोमल है, केवल तीन महीनेका है और इसके निकट शकट हठात् भूमिपर गिरकर टूट गया। यह बात सुनकर भी मेरे प्राण न निकले, मैं उन्हीं प्राणोंको लेकर अभीतक जीवित हूँ तो यही सत्य है कि मैं वज्रसे भी अधिक कठोर हूँ। मैं कहलानेमात्रको माता हूँ; मेरे ऐसे मातृत्वको, मातृवत्सलताको धिक्कार है।'

(४)

यशोदारानी कभी तो प्रार्थना करतीं—हे विधाता! मेरा वह दिन कब आयेगा, जब मैं अपने लालको घुटरूँ चलते देखूँगी, दूधकी दँतुलिया देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे, इसकी तोतली बोली सुनकर कानोंमें अमृत बहेगा—

नंद घरनि आनँदभरी, सुत स्याम खिलावै। कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे, कहि बिधिहि मनावै॥
कबहिं दँतुलि द्वै दूध की देखौं इन नैननि। कबहिं कमल मुख बोलिहैं, सुनिहौं उन बैननि॥
चूमति कर पग अधर भ्रू, लटकति लट चूमति। कहा बरनि सूरज करै, कहँ पावै सो मति॥

—तथा कभी श्रीकृष्णचन्द्रसे ही निहोरा करने जातीं—

नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ौ किन होहि।
इहिं मुख मधुर बचन हँसि कैधौं जननि कहै कब मोहि॥

जननीका मनोरथ पूर्ण करते हुए क्रमशः श्रीकृष्णचन्द्र बोलने भी लगे, घुटरूँ भी चलने लगे और फिर खड़े होकर भी चलने लगे। इतनेमें वर्ष पूरा हो गया, यशोदारानीने अपने पुत्रकी प्रथम वर्षगाँठ मनायी। इसी समय कंसने तृणावर्त दैत्यको भेजा। वह आया और यशोदाके नीलमणिको उड़ाकर आकाशमें चला गया। यशोदा मृतवत्सा गौकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ीं—

'भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः।'

इस बार जननीके जीवनकी आशा किसीको न थी, पर जब श्रीकृष्णचन्द्र तृणावर्तको चूर्ण-विचूर्णकर लौटे, गोपियाँ उन्हें दैत्यके छिन्न-भिन्न शरीरपरसे उठा लायीं, तो तत्क्षण यशोदाके प्राण भी लौट आये—

शिशुमुपसद्य यशोदा दनुजहृतं द्राक् चिचेत लीनापि।
वर्षाजलमुपलभ्य प्राणिति जातिर्यथेन्द्रगोपाणाम्॥

'दैत्यके द्वारा अपहृत शिशुको पाकर महाप्रयाण (मृत्यु)-में लीन होनेपर भी यशोदा उसी क्षण वैसे ही चैतन्य हो गयीं, जैसे वर्षाका जल पाकर इन्द्रगोप (बीरबहूटी) कीटकी भाँति जीवित हो जाती है।'

(५)

यशोदा एवं श्रीकृष्णचन्द्रमें होड़ लगी रहती थी। यशोदाका वात्सल्य उमड़ता, उसे देखकर उससे सौगुने परिमाणमें श्रीकृष्णचन्द्रका लीलामाधुर्य प्रकाशित होता; फिर इस लीलामाधुरीको देखकर सहस्रगुनी मात्रामें

यशोदाका भावसिन्धु तरंगित हो उठता; इन भावलहरियोंसे धुलकर पुनः श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाकिरणें निखर उठतीं, क्षणभर पूर्व जो थीं, उससे लक्षगुणित परिमाणमें चमक उठतीं—इस क्रमसे बढ़कर यशोदाका वात्सल्य अनन्त, असीम, अपार बन गया था। उसमें डूबी हुई यशोदा और सब कुछ भूल गयी थीं, केवल नीलमणि ही उनके नेत्रोंमें नाचते रहते थे। कब दिन हुआ, कब रात्रि आयी, यशोदाको यह भी किसीके बतानेपर ही भान होता था। उनको क्षणभरके लिये भावसमाधिसे जगानेके लिये ही मानो यशोदानन्दनने मृत्तिका-भक्षणकी लीला की। श्रीकृष्णने मिट्टी खायी है, यह सुनकर यशोदा उनका मुख खुलाकर मिट्टी ढूँढ़ने गयीं और उनके मुखमें सारा विश्व अवस्थित देखा, देखकर एक बार तो काँप उठीं—

देखे चर अरु अचर सिंधु कानन सरि सरिबर। देख्यौ धरनि अकास सूर खेचर ससि गिरिबर॥
देखे काल सजीव लोक जसुदा नंदादिक। देखे सुर अरु असुर पवन पंनग तपसाधिक॥
भनि 'मान' अमित ब्रह्मांड लखि देखि अनल तोखन तपतु।
मुख सूखि बचनु आवत नहीं, महरि गातु थर थर कँपतु॥

किंतु इतनेमें ही श्रीकृष्णचन्द्रकी वैष्णवी मायाका विस्तार हुआ; यशोदा-वात्सल्यसागरमें एक लहर उठी, वह यशोदाके इस विश्वदर्शनकी स्मृतितकको बहा ले गयी, नीलमणिको गोदमें लेकर यशोदा अपने प्यारसे उन्हें स्नान कराने लगीं—

अंक में लगाइ नंद नंदको अनंद माइ। ग्यान गूढ भूलि गौ, भयो सुपुत्र प्रेम आइ॥
देखि बाल लाल कौं फँसी सु मोह फाँस आइ।
सीस सूँघि चूमि चारु दूध दै हिये अघाइ॥

(६)

यशोदा भूली रहती थीं। पर दिन तो पूरे होते ही थे। यशोदाके अनजानमें ही उनके पुत्रकी दूसरी वर्षगाँठ भी आ पहुँची। फिर देखते-देखते ही उनके नीलमणि दो वर्ष दो महीनेके हो गये। पर अब नीलमणि ऐसे, इतने चंचल हो गये थे कि यशोदाको एक क्षण भी चैन नहीं। गोपियोंके घर जाकर तो न जाने कितने दहीके भाँड फोड़ ही आया करते थे, एक दिन मैयाका वह दहीभाँड भी फोड़ दिया, जो उनके कुलमें वर्षोंसे सुरक्षित चला आ रहा था। जननीने डरानेके उद्देश्यसे श्रीकृष्णचन्द्रको ऊखलमें बाँधा। सारा विश्व अनन्त कालतक यशोदाकी इस चेष्टापर बलिहार जायगा—

जिन बाँध्यौ सुर असुर नाग मुनि प्रबल कर्म की डोरी।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यौ सकत न छोरी॥

इस बन्धनको निमित्त बनाकर यशोदाके नीलमणिने दो अर्जुनवृक्षोंको जड़से उखाड़ दिया। फिर तो व्रजवासी यशोदानन्दनकी रक्षाके लिये अतिशय व्याकुल हो गये। पूतनासे, शकटसे, तृणावर्तसे, वृक्षसे—इतनी बार तो नारायणने नीलमणिको बचा लिया; अब आगे यहाँ इस गोकुलमें तो एक क्षण भी नहीं रहना चाहिये। गोपोंने परामर्श करके निश्चय कर लिया—बस, इसी क्षण वृन्दावन चले जाना है। यही हुआ, यशोदा अपने नीलमणिको लेकर वृन्दावन चली आयीं।

(७)

वृन्दावन आनेके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रकी अनेकों भुवनमोहिनी लीलाओंका प्रकाश हुआ। उन्हें गोपबालकोंके मुखसे सुन-सुनकर तथा कुछको अपनी आँखोंसे देखकर यशोदा कभी तो आनन्दमें निमग्न हो जातीं, कभी पुत्रकी रक्षाके लिये उनके प्राण व्याकुल हो उठते।

श्रीकृष्णचन्द्रका तीसरा वर्ष अभी पूरा नहीं हुआ था, फिर भी वे बछड़ा चराने वनमें जाने लगे। वनमें वत्सासुर-वकासुर आदिको मारा। जब इन घटनाओंका विवरण जननी सुनती थीं तो पुत्रके अनिष्टकी आशंकासे उनके प्राण छटपट करने लगते। पाँचवें वर्षकी शुक्लाष्टमीसे श्रीकृष्णचन्द्रका गोचारण आरम्भ हुआ तथा इसी वर्ष ग्रीष्मके समय उनकी कालियदमन-लीला हुई। कालियके बन्धनमें पुत्रको बँधा देखकर यशोदाकी जो दशा हुई थी, उसे चित्रित करनेकी क्षमता किसीमें नहीं। छठे वर्षमें जैसी-जैसी विविध मनोहारिणी गोष्ठक्रीडा श्रीकृष्णचन्द्रने की, उसे सुन-सुन यशोदाको कितना सुख हुआ था, इसे भी वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं। सातवें वर्ष धेनुकवधकी घटना हुई, आठवें वर्ष गोवर्धनधारणकी लीला हुई, नवम वर्षमें सुदर्शनका उद्धार हुआ, दसवें वर्ष अनेकों आनन्दमयी बालक्रीड़ाएँ हुईं, ग्यारहवें वर्ष अरिष्टवध हुआ, बारहवें वर्षके गौण फाल्गुनमासकी द्वादशीको केशी दैत्यका उद्धार हुआ। इन-इन अवसरोंपर यशोदाके हृदयमें हर्ष अथवा दु:खकी जो धाराएँ फूट निकलती थीं, उनमें यशोदा स्वयं तो डूब ही जातीं, सारे व्रजको भी निमग्न कर देती थीं। इस प्रकार ग्यारह वर्ष छ: महीने यशोदारानीके भवनको श्रीकृष्णचन्द्र आलोकित करते रहे, किंतु अब यह आलोक मधुपुरी जानेवाला था। श्रीकृष्णचन्द्रको मधुपुरी ले जानेके लिये अक्रूर आ ही गये। वही फाल्गुन द्वादशीकी सन्ध्या थी, अक्रूरने आकर यशोदाके हृदयपर मानो अतिक्रूर वज्र गिरा दिया। सारी रात व्रजेश्वर व्रजरानी यशोदाको समझाते रहे, पर यशोदा किसी प्रकार भी सहमत नहीं हो रही थीं, किसी हालतमें पुत्रको कंसकी रंगशाला देख आनेकी अनुमति नहीं देती थीं। आखिर योगमायाने मायाका विस्तार किया, यशोदा भ्रान्त हो गयीं। अनुमति तो उन्होंने फिर भी नहीं दी, पर अबतक जो विरोध कर रही थीं, वह न करके आँसू ढालने लगीं। विदा होते समय यशोदारानीकी जो करुण दशा थी, उसे देखकर कौन नहीं रो पड़ा। आह!

यात्रामङ्गलसम्पदं न कुरुते व्यग्रा तदात्वोचितां
वात्सल्यौपयिकञ्च नोपनयते पाथेयमुद्भ्रान्तधीः।
धूलीजालमसौ विलोचनजलैर्जम्बालयन्ती परं
गोविन्दं परिरभ्य नन्दगृहिणी नीरन्ध्रमाक्रन्दति॥

व्यग्र हुई यशोदा यात्राके समय करनेयोग्य मंगलकार्य भी नहीं कर रही हैं। इतनी भ्रान्तचित्त हो गयी हैं कि अपने वात्सल्यके उपयुक्त पुत्रको कोई पाथेय (राहखर्च)-तक नहीं दे रही हैं, देना भूल गयी हैं। श्रीकृष्णचन्द्रको हृदयसे लगाकर निरन्तर रो रहीं है, उनके अजस्र अश्रुप्रवाहसे भूमि पंकिल हो रही है।

रथ श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर चल पड़ा। रथचक्रों (पहियों)-के चिह्न भूमिपर अंकित होने लगे, मानो धरारूपिणी यशोदाके छिदे हुए हृदयको पृथ्वीदेवी व्यक्त कर रही थीं।

(८)

श्रीकृष्णचन्द्रके विरहमें जननी यशोदाकी क्या दशा हुई, इसे यथार्थ वर्णन करनेकी सामर्थ्य सरस्वतीमें भी नहीं। यशोदामैया वास्तवमें विक्षिप्त हो गयीं। जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र रथपर बैठे थे, वहाँ प्रतिदिन चली आतीं। उन्हें दीखता अभी-अभी मेरे नीलमणिको अक्रूर लिये जा रहे हैं! वे चीत्कार कर उठतीं—'अरे! क्या व्रजमें कोई नहीं, जो मेरे जाते हुए नीलमणिको रोक ले, पकड़ ले। वह देखो, रथ बढ़ा जा रहा है, मेरे प्राण लिये जा रहा है, मैं दौड़ नहीं पा रही हूँ, कोई दौड़कर मेरे नीलमणिको पकड़ लो, भैया!'

कभी जड-चेतन, पशु-पक्षी, मनुष्य—जो कोई भी दृष्टिके सामने आ जाता, उसीसे वसुदेवपत्नी देवकीको अनेकों सन्देश भेजतीं। उन सन्देशोंमें एक यह भी था—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तुम्हारे सुत की, मया करत नित रहियो।
जदपि टेव तुम जानत उन की, तऊ मोहि कहि आवै॥
प्रातहि उठत तुम्हारे सुत कों माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल देखत ही भजि जावै॥
जोइ जोइ माँगत, सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हावै॥
सूर पथिक सुनि मोहि रैन दिन बढ़्यो रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वैहै करत सकोच॥

किसी पथिकने यशोदाका यह सन्देश श्रीकृष्णचन्द्रसे जाकर कह भी दिया। सान्त्वना देनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्रने उद्धवको भेजा। उद्धव आये; पर जननीके आँसू पोंछ नहीं सके।

(९)

यशोदारानीका हृदय तो तब शीतल हुआ, जब वे कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्णचन्द्रसे मिलीं। राम-श्यामको हृदयसे लगाकर, गोदमें बैठाकर उन्होंने नव-जीवन पाया।

कुरुक्षेत्रसे जब यशोदारानी लौटीं तो उन्हें ऐसा लग रहा था कि जैसे उनके नीलमणि उनके साथ ही वृन्दावन लौट आये। यशोदाका उजड़ा हुआ संसार फिरसे बस गया।

× × ×

श्रीकृष्णचन्द्र अपनी लीला समेटनेवाले थे। इसीलिये अपनी जननी यशोदाको भी पहलेसे भेज दिया। जब वृषभानुनन्दिनी गोलोकविहारिणी श्रीराधाकिशोरीको वे विदा करने लगे तो गोलोकके उसी दिव्यातिदिव्य विमानपर जननीको भी बिठाया तथा राधाकिशोरीके साथ ही यशोदा अन्तर्धान हो गयीं, गोलोकमें पधार गयीं।

जगज्जननी श्रीराधा

(क) गोलोकमें आविर्भाव

कल्पका आरम्भ है। आदिपुरुष श्रीकृष्णचन्द्र गोलोकके सुरम्य रासमण्डलमें विराजित हैं। गोलोकविहारीका अनन्त ऐश्वर्य झाँक रहा है, झाँककर देख रहा है—आज अभिनय आरम्भ होनेका समय हुआ या नहीं? अभिनयके दर्शक चतुर्भुज श्रीनारायण, पंचवक्त्र महेश्वर, चतुर्मुख ब्रह्मा, सर्वसाक्षी धर्म, वागधिष्ठात्री सरस्वती, ऐश्वर्यकी अधिदेवी महालक्ष्मी, जगज्जननी दुर्गा, जपमालिनी सावित्री—ये सभी तो रंगमंचपर आ गये हैं, लीलासूत्रधार श्रीगोविन्द भी उपस्थित हैं; पर सूत्रधारके प्राणसूत्र जिनके हाथ हैं, वे अभी नहीं आयी हैं। देववृन्द आश्चर्य-विस्फारित नेत्रोंसे मंच—रासमण्डलकी ओर देखने लगते हैं।

किंतु अब विलम्ब नहीं। देवोंने देखा—गोलोकविहारी श्रीगोविन्द श्रीकृष्णचन्द्रके वामपार्श्वमें एक कम्पन-सा हुआ, नहीं-नहीं, ओह! एक कन्याका आविर्भाव हुआ है; अतीत, वर्तमान, भविष्यका समस्त सौन्दर्य पुंजीभूत होकर सामने आ गया है। आयु सोलह वर्षकी है; सुकोमलतम अंग यौवनभारसे दबे जा रहे हैं; बन्धुजीव-पुष्प-जैसे अरुण अधर हैं; उज्ज्वल दशनोंकी शोभाके आगे मुक्तापंक्तिकी अमित शोभा तुच्छ, हेय बन जा रही है, शरत्कालीन कोटि राकाचन्द्रोंका सौन्दर्य मुखपर नाच रहा है; ओह! उस सुन्दर सीमन्त (माँग)-की शोभा वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसमें है? चारु पंकजलोचनोंका सौन्दर्य कौन बताये? सुठाम नासा, सुन्दर चन्दन-चित्रित गण्डयुगल—इनकी तुलना किससे करें? कर्णयुगल रत्नभूषित हैं; मणिमाला, हीरक-कण्ठहार, रत्न केयूर, रत्नकंकण—इनसे श्रीअंगोंपर एक किरणजाल फैला है; भालपर

सिन्दूरविन्दु कितना मनोहर है। मालतीमाला-विभूषित, सुसंस्कृत केशपाश, उनमें सुगन्धित कबरीभारकी सुषमा कैसी निराली है! स्थलपद्मोंकी शोभा तो सिमटकर इन युगल चरणतलोंमें आ गयी है, चरणविन्यास हंसको लज्जित कर रहा है; अनेक आभरणोंसे विभूषित श्रीअंगोंसे सौन्दर्यकी सरिता प्रवाहित हो रही है। रूपधर्षित हुए देववृन्द इस सौन्दर्यको देखते ही रह जाते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रके वामपार्श्वसे आविर्भूत यह कन्या, यह सुन्दरी ही श्रीराधा हैं। 'राधा' नाम इसलिये हुआ कि 'रास' मण्डलमें प्रकट हुईं तथा प्रकट होते ही पुष्प चयनकर श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें अर्घ्य समर्पित करनेके लिये 'धावित' हुईं—दौड़ीं।

उसी समय इन्हीं श्रीराधाके लोमकूपोंसे लक्षकोटि गोपसुन्दरियाँ प्रकट हुईं। वास्तवमें तो यह आविर्भावकी लीला प्रपंचकी दृष्टिसे ही हुई। अन्यथा प्रलय, सृजन, फिर संहार, फिर सृष्टि—इस प्रवाहसे उस पार श्रीराधाकी, राधाकान्तकी लीला, उनका नित्य निकुंजविहार तो अनादिकालसे सपरिकर नित्य दो रूपोंमें प्रतिष्ठित रहकर चल रहा है एवं अनन्तकालतक चलता रहेगा। प्रलयकी छाया उसे छू नहीं सकती, सृजनका कम्पन उसे उद्वेलित नहीं कर सकता। श्रीराधाका यह आविर्भाव तो प्रपंचगत कतिपय बड़भागी ऋषियोंकी चित्तभूमिपर कल्पके आरम्भमें उस लीलाका उन्मेष किस क्रमसे हुआ, इसका एक निदर्शनमात्र है।

अब रासेश्वरी श्रीराधाके भारतवर्षमें अवतरित होनेकी भूमिका कैसे बनी; उनके नित्य रासकी, नित्य निकुंजलीलाकी एक झाँकीका दर्शन करते हैं।

(ख) अवतरण

नृगपुत्र राजा सुचन्द्रका एवं पितरोंकी मानसी कन्या सुचन्द्रपत्नी कलावतीका पुनर्जन्म हुआ। सुचन्द्र तो वृषभानु गोपके रूपमें उत्पन्न हुए एवं कलावती कीर्तिदा गोपीके रूपमें। यथासमय दोनोंका विवाह होकर पुनर्मिलन हुआ। एक तो राजा सुचन्द्र हरिके अंशसे ही उत्पन्न हुए थे; उसपर उन्होंने पत्नीसहित दिव्य द्वादश वर्षोंतक तप करके ब्रह्माको सन्तुष्ट किया था। इसीलिये कमलयोनिने ही यह वर दिया था—'द्वापरके अन्तमें स्वयं श्रीराधा तुम दोनोंकी पुत्री बनेंगी।' उस वरकी सिद्धिके लिये ही सुचन्द्र वृषभानु गोप बने हैं। इन्हीं वृषभानुमें इनके जन्मके समय सूर्यका भी आवेश हो गया; क्योंकि सूर्यने तपस्याकर श्रीकृष्णचन्द्रसे एक कन्या-रत्नकी याचना की थी तथा श्रीकृष्णचन्द्रने सन्तुष्ट होकर 'तथास्तु' कहा था। इसके अतिरिक्त नित्यलीलाके वृषभानु एवं कीर्तिदा—ये दोनों भी इन्हीं वृषभानु गोप एवं कीर्तिदामें समाविष्ट हो गये; क्योंकि स्वयं गोलोकविहारिणी राधाका अवतरण होने जा रहा है। अस्तु, इस प्रकार योगमायाने द्वापरके अन्तमें रासेश्वरीके लिये उपयुक्त क्षेत्रकी रचना कर दी।

धीरे-धीरे वह निर्दिष्ट समय भी आ पहुँचा। वृषभानुके व्रजकी गोपसुन्दरियोंने एक दिन अकस्मात् देखा—कीर्तिदा रानीके अंग पीले हो गये हैं; गर्भके अन्य लक्षण भी स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। फिर तो उनके हर्षका पार नहीं। कानों-कान यह समाचार वृषभानु-व्रजमें सुखस्रोत बनकर फैलने लगा। सभी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे।

वह मुहूर्त आया। भाद्रपदकी शुक्ला अष्टमी है; चन्द्रवासर है, मध्याह्न है। कीर्तिदा रानी रत्नपर्यंकपर विराजित हैं। एक घड़ी पूर्वसे प्रसवका आभास-सा मिलने लगा है। वृद्धा गोपिकाएँ उन्हें घेरे बैठी हैं। इस समय आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है। सहसा प्रसूतिगृहमें एक ज्योति फैल जाती है—इतनी तीव्र ज्योति कि सबके नेत्र निमीलित हो गये। इसी समय कीर्तिदा रानीने प्रसव किया। प्रसवमें केवल वायु निकला; इतने दिन उदर तो वायुसे ही पूर्ण था। किंतु इससे पूर्व कि कीर्तिदा रानी एवं अन्य गोपिकाएँ आँख खोलकर

देखें, उसी वायुकम्पनके स्थानपर एक बालिका प्रकट हो गयी। सूतिकागार उस बालिकाके लावण्यसे प्लावित होने लगा। गोपसुन्दरियोंके नेत्र खुले, उन्होंने देखा—शत-सहस्र शरच्चन्द्रोंकी कान्ति लिये एक बालिका कीर्तिदाके सामने लेटी है, कीर्तिदा रानीने प्रसव किया है। कीर्तिदा रानीको यह प्रतीत हुआ—मेरे द्वारा सद्यःप्रसूत इस कन्याके अंगोंमें मानो किसी दिव्यातिदिव्य शतमूली-प्रसूनकी आभा भरी हो, अथवा रक्तवर्णकी तडिल्लहरी ही बालिकारूपमें परिणत हो गयी हो। आनन्दविवशा कीर्तिदा रानी कुछ बोलना चाहती हैं, पर बोल नहीं पातीं। मन-ही-मन दो लक्ष गोदानोंका संकल्प करती हैं।

संयोगकी बात! आज ही कुछ देर पहलेसे करभाजन, शृंगी, गर्ग एवं दुर्वासा—चारों वहाँ आये हुए हैं। गोपोंकी प्रार्थनापर वृषभानुको आनन्दमें निमग्न करते हुए वे श्रीराधाके ग्रह-नक्षत्रका निर्णय कर रहे हैं—

करभाजन शृंगी जु गर्गमुनि लगन नछत बल सोध री।
भए अचरज ग्रह देखि परस्पर कहत सबन प्रति बोध री॥
सुदि भादौं सुभ मास, अष्टमी अनुराधा के सोध री।
प्रीति जोग, बल बालव करनैं, लगन धनुष बर बोध री॥

बालिकाका नाम रखा गया—'राधा'! 'राधिका' नाम वृषभानु एवं कीर्तिदा दोनोंने मिलकर रखा—लोहितवर्ण विद्युत्-लहरी-सी अंगप्रभा होनेके कारण। राधा—राधिका नाम जगत्में विख्यात हुआ।

इस प्रकार अयोनिसम्भवा श्रीराधा भूतलपर श्रीवृषभानु एवं कीर्तिदा रानीकी पुत्रीके रूपमें प्रकट हुईं।

(ग) देवर्षिको दर्शन

वीणाकी झनकारपर हरि-गुण-गान करते हुए देवर्षि नारद व्रजमें घूम रहे हैं। कुछ देर पहले व्रजेश्वर नन्दके घर गये थे। वहाँ नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके उन्होंने दर्शन किये। दर्शन करनेपर मनमें आया—जब स्वयं गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र भूतलपर अवतरित हुए हैं तो गोलोकेश्वरी श्रीराधा भी कहीं-न-कहीं गोपीरूपमें अवश्य आयी हैं। उन्हीं श्रीराधाको ढूँढ़ते हुए देवर्षि व्रजके प्रत्येक गृहके सामने ठहर-ठहरकर आगे बढ़ते जा रहे हैं। देवर्षिका दिव्य ज्ञान कुण्ठित हो गया है, सर्वज्ञ नारदको श्रीराधाका अनुसंधान नहीं मिल रहा है; मानो योगमाया देवर्षिको निमित्त बनाकर राधादर्शनकी यह साधना जगत्को बता रही हों—पहले श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन होते हैं, उनके दर्शनोंसे श्रीराधाके दर्शनकी इच्छा जाग्रत् होती है; फिर श्रीराधाको पानेके लिये व्याकुल होकर व्रजकी गलियोंमें भटकना पड़ता है। अस्तु, घूमते हुए देवर्षि वृषभानु-प्रासादके सामने आकर खड़े हो जाते हैं। वह विशाल मन्दिर देवर्षिको मानो अपनी ओर आकर्षित कर रहा हो। देवर्षि भीतर प्रवेश कर जाते हैं। वृषभानु गोपकी दृष्टि उनपर पड़ती है। वे दौड़कर नारदजीके चरणोंमें लोट जाते हैं।

विधिवत् पाद्य-अर्घ्यसे पूजा करके देवर्षिको प्रसन्न अनुभवकर वृषभानु गोप अपने सुन्दर पुत्र श्रीदामको गोदमें उठा लाते हैं, लाकर मुनिके चरणोंमें डाल देते हैं। बालकका स्पर्श होते ही मुनिके नेत्रोंमें स्नेहाश्रु भर आता है; उत्तरीयसे अपनी आँखें पोंछकर उसे उठाकर वे हृदयसे लगा लेते हैं तथा गद्गद कण्ठसे बालकका भविष्य बतलाते हैं—'वृषभानु! सुनो, तुम्हारा यह पुत्र नन्दनन्दनका, बलरामका प्रिय सखा होगा।'

तो क्या रासेश्वरी श्रीराधा यहाँ भी नहीं हैं? वृषभानु उन्हें तो लाया नहीं?—यह सोचकर निराश-से हुए देवर्षि चलनेको उद्यत हुए। उसी समय वृषभानुने कहा—'भगवन्! मेरी एक पुत्री है; सुन्दर तो वह इतनी है मानो सौन्दर्यकी खानि—कोई देवपत्नी इस रूपमें उतर आयी हो। पर आश्चर्य यह है कि वह अपनी आँखें सदा निमीलित रखती है; हमलोगोंकी बातें भी उसके कानोंमें प्रवेश नहीं करतीं, उन्मादिनी-सी दीखती

है; इसलिये हे भगवत्तम! श्रीचरणोंमें मेरी यह प्रार्थना है कि एक बार अपनी सुप्रसन्न दृष्टि उस बालिकापर भी डालकर उसे प्रकृतिस्थ कर दें।'

आश्चर्यमें भरे नारद वृषभानुके पीछे-पीछे अन्त:पुरमें चले जाते हैं। जाकर देखा—स्वर्णनिर्मित सजीव सुन्दरतम प्रतिमा-सी एक बालिका भूमिपर लोट रही है। देखते ही नारदका धैर्य जाता रहा, अपनेको वे किसी प्रकार भी संवरण न कर सके; वे दौड़े तथा बालिकाको उठाकर उन्होंने अंकमें ले लिया। एक परमानन्द-सिन्धुकी लहरें देवर्षिको लपेट लेती हैं, उनके प्राणोंमें अननुभूतपूर्व एक अद्भुत प्रेमका संचार हो जाता है, वे बालिकाको क्रोड़में धारण किये मूर्च्छित हो जाते हैं। दो घड़ीके लिये तो उनकी यह दशा है, मानो उनका शरीर एक शिलाखण्ड हो। दो घड़ीके पश्चात् जाकर कहीं बाह्यज्ञान होता है तथा बालिकाका अप्रतिम सौन्दर्य निहारकर विस्मयकी सीमा नहीं रहती। वे मन-ही-मन सोचने लगते हैं—'ओह! ऐसे सौन्दर्यके दर्शन मुझे तो कभी नहीं हुए। मेरी अबाध गति है, सभी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरता हूँ; ब्रह्मलोक, रुद्रलोक, इन्द्रलोक—इनमें कहीं भी इस शोभासागरका एक विन्दु भी मैंने नहीं देखा; महामाया भगवती शैलेन्द्रनन्दिनीके दर्शन मैंने किये हैं, उनका सौन्दर्य चराचर-मोहन है; किंतु इतनी सुन्दर तो वे भी नहीं! लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति, विद्या आदि सुन्दरियाँ तो इस सौन्दर्यपुंजकी छाया भी नहीं छू पातीं। विष्णुके हर-विमोहन उस मोहिनी रूपको भी मैंने देखा है, पर इस अतुल रूपकी तुलनामें वह भी नहीं। बालिकाको देखते ही श्रीगोविन्द-चरणाम्बुजमें मेरी जैसी प्रीति उमड़ी, वैसी आजतक कभी नहीं हुई। बस, बस, यही श्रीराधा हैं; निश्चय ही यही श्रीरासेश्वरी हैं।—देवर्षिका अन्तर्हृदय आलोकित हो उठा।'

'वृषभानु! कुछ क्षणके लिये तुम बाहर चले जाओ; बालिकाके सम्बन्धमें कुछ करना चाहता हूँ'—गद्गद कण्ठसे देवर्षिने धीरे-धीरे कहा। सरलमति वृषभानु देवर्षिको प्रणामकर बाहर चले आये। एकान्त पाकर नारदने श्रीराधाका स्तवन आरम्भ किया—'देवि! महायोगमयि! महाप्रभामयि! मायेश्वरि! मेरे महान् सौभाग्यसे, न जाने किन अनन्त शुभ कर्मोंसे रचित सौभाग्यका फल देने तुम मेरे दृष्टिपथमें उतर आयी हो।'

'देवि! तुम्हीं ब्रह्म हो; सच्चिदानन्द ब्रह्मके सत्-अंशमें स्थित सन्धिनी शक्तिकी चरम परिणति—विशुद्ध तत्त्व तुम्हीं हो; विशुद्ध सत्त्वमयी तुममें ही चिदंशकी संवित् शक्ति, संवित्की चरम परिणति विद्यात्मिका परा शक्ति—ज्ञानशक्तिका भी निवास है; तुम्हीं आनन्दांशकी ह्लादिनी शक्ति, ह्लादिनीकी भी चरम परिणति महाभावरूपिणी हो; आश्चर्यवैभवमयि! तुम्हारी एक कलाका भी ज्ञान ब्रह्म-रुद्रतकके लिये कठिन है, फिर योगीन्द्रगणके ध्यानपथमें तो तुम आ ही कैसे सकती हो! मेरी बुद्धि तो यह कह रही है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति—ये सभी तुम ईश्वरीके अंशमात्र हैं। ××× श्रीकृष्णचन्द्रकी आनन्दरूपिणी शक्ति तुम्हीं हो, तुम्हीं उनकी प्राणेश्वरी हो—इसमें कोई संशय नहीं; निश्चय ही तुम्हारे ही साथ श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दावनमें क्रीड़ा करते हैं। ओह देवि! जब तुम्हारा कौमार रूप ही ऐसा विश्वविमोहन है, तब वह तरुण रूप कितना विलक्षण होगा!'

कहते-कहते नारदका कण्ठ रुद्ध होने लगता है। प्राणोंमें श्रीराधाके तरुणरूपको देखनेकी प्रबल उत्कण्ठा भर जाती है। वे वहींपर टँगे मणिपालनेपर श्रीराधाको लिटा देते हैं तथा उनकी ओर देखते हुए बारम्बार प्रणाम करने लगते हैं, तरुणरूपसे दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करते हैं। नारदके अन्तर्हृदयमें मानो कोई कह देता है—देवर्षे! श्रीकृष्णकी वन्दना करो, तभी श्रीकृष्णप्रियतमाके नेत्र तुम्हारी ओर फिरेंगे। देवर्षि श्रीकृष्णचन्द्रकी जय-जयकार कर उठते हैं—

जय कृष्ण मनोहारिन् जय वृन्दावनप्रिय। जय भ्रूभङ्गललित जय वेणुरवाकुल॥

जय बर्हकृतोत्तंस जय गोपीविमोहन। जय कुङ्कुमलिप्ताङ्ग जय रत्नविभूषण॥

(पद्मपुराण पा० खं०)

—बस, इसी समय दृश्य बदल जाता है। मणिपालनेपर विराजित वृषभानुकुमारी अन्तर्हित हो जाती हैं तथा नारदके सामने किशोरी श्रीराधाका आविर्भाव हो जाता है। इतना ही नहीं, दिव्य भूषण-वसनसे सज्जित अगणित सखियाँ भी वहाँ प्रकट हो जातीं हैं, श्रीराधाको घेर लेती हैं। वह रूप! वह सौन्दर्य!—नारदके नेत्र निमेषशून्य एवं अंग निश्चेष्ट हो जाते हैं, मानो नारद सचमुच अन्तिम अवस्थामें जा पहुँचे हों।

राधाचरणाम्बुकणिकाका स्पर्श कराकर एक सखी देवर्षिको चैतन्य करती है और कहती है—'मुनिवर्य! अनन्त सौभाग्यसे श्रीराधाके दर्शन तुम्हें हुए हैं। महाभागवतोंको भी इनके दर्शन दुर्लभ हैं। देखो, ये अब तुम्हारे सामनेसे फिर अन्तर्हित हो जायँगी, प्रदक्षिणा करके नमस्कार कर लो। जाओ। गिरिराज-परिसरमें, कुसुमसरोवरके तटपर एक अशोकलता फूल रही है, उसके सौरभसे वृन्दावन सुवासित हो रहा है, वहाँ उसके नीचे हम सबोंको अर्द्धरात्रिके समय देख पाओगे………।'

श्रीराधाका वह कैशोररूप अन्तर्हित हो गया। बाल्यरूपसे रत्नपालनेपर वे पुनः प्रकट हो गयीं।

द्वारपर खड़े वृषभानु प्रतीक्षा कर रहे थे। जय-जयकारकी ध्वनि सुनकर आश्चर्य कर रहे थे। अश्रुपूरित कण्ठसे देवर्षिने पुकारा, वे भीतर आ गये। देवर्षि बोले—'वृषभानु! इस बालिकाका यही स्वभाव है; देवताओंकी सामर्थ्य नहीं कि वे इसका स्वभाव बदल दें। किंतु तुम्हारे भाग्यकी सीमा नहीं; जिस गृहमें तुम्हारी पुत्रीके चरणचिह्न अंकित हैं, वहाँ लक्ष्मीसहित नारायण, समस्त देव नित्य निवास करते हैं।' यह कहकर स्खलित गतिसे नारद चल पड़ते हैं। वीणामें राधायशोगानकी लहरी भरते, आँसू बहाते हुए वे अशोकवनकी ओर चले गये।

× × ×

उसी दिन कीर्तिदा रानीकी गोदमें पुत्रीको देखकर प्रेमविवश हुए वृषभानु लाड़ लड़ाने लगे। नारदके गानका इतना-सा अंश वृषभानुके कानमें प्रवेश कर गया था **'जय कृष्ण मनोहारिन्!'** जानकर नहीं, लाड़ लड़ाते समय यों ही उनके मुखसे निकल गया—**जय कृष्ण मनोहारिन्!** बस, भानुकुमारी श्रीराधा आँखें खोलकर देखने लगीं। वृषभानुके हर्षका पार नहीं, कीर्तिदा आनन्दमें निमग्न हो गयीं; उन्हें तो पुत्रीको प्रकृतिस्थ करनेका मन्त्र प्राप्त हो गया। इससे पूर्व जब-जब नन्दगेहिनी यशोदा कीर्तिदासे मिलने आयी हैं, तब-तब भानुकुमारीने आँखें खोल-खोलकर देखा है।

(घ) श्रीकृष्णचन्द्र-मिलन

एक दिनकी बात है, भाण्डीर वनमें एक वटके नीचे व्रजेश्वर नन्द श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये खड़े हैं। अचानक काली घटाएँ घिर आती हैं। वनमें अन्धकार छा जाता है। वायु बड़े वेगसे बहने लगती है। तरु-लताएँ काँप उठती हैं। कदम्ब-तमालपत्र छिन्न हो-होकर गिरने लगते हैं। नन्दबाबाको चिन्ता हो रही है कि श्रीकृष्णकी रक्षा कैसे हो?

गोपोंका गोचारण निरीक्षण करने वे आ रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्र साथ चलनेके लिये मचल गये; किसी प्रकार नहीं माने, रोने लगे। इसीलिये वे उन्हें साथ ले आये थे। यहाँ वनमें आनेपर गोरक्षकोंको तो उन्होंने दूसरे वनकी गायें एकत्रकर वहीं ले आनेके लिये भेज दिया, स्वयं उन गायोंकी सँभालके लिये खड़े रहे। इतनेमें यह झंझावात प्रारम्भ हो गया। कोई गोरक्षक भी नहीं कि उसे गायें सँभलाकर वे भवनकी ओर जायँ; तथा यों ही गायोंको छोड़ भी दें तो जायँ कैसे? बड़ी-बड़ी बूँदें जो आरम्भ हो गयी हैं। अतः कोई भी

उपाय न देखकर व्रजेश्वर एकान्त मनसे नारायणका स्मरण करने लगते हैं।

मानो कोटि सूर्य एक साथ उदय हुए हों, इस प्रकार दिशाएँ उद्भासित हो जाती हैं; तथा वह झंझावात तो न जाने कहाँ चला गया! नन्दराय आँखें खोलकर देखते हैं—सामने एक बालिका खड़ी है। 'हैं—हैं! वृषभानुकुमारी! तू यहाँ इस समय कैसे आयी, बेटी!' व्रजेश्वरने अचकचाकर कहा। किंतु दूसरे ही क्षण अन्तर्हृदयमें एक दिव्य ज्ञानका उन्मेष होने लगता है, मौन होकर ये वृषभानुनन्दिनीकी ओर देखने लगते हैं—कोटि चन्द्रोंकी द्युति मुखमण्डलपर झलमल-झलमल कर रही है, नीलवसनभूषित अंग हैं; अंगोंपर कांची, कंकण, हार, अंगद, अंगुरीयक मंजीर यथास्थान सुशोभित हैं; चंचल कर्णकुण्डल तथा दिव्यातिदिव्य रत्नचूड़ामणिसे किरणें झर रही हैं; अंगोंके तेजका तो कहना ही क्या है, भानुकुमारीकी अंगप्रभासे ही वन आलोकित हुआ है। नन्दरायको गर्गजीकी वे बातें भी स्मरण हो आयीं; पुत्रके नामकरण-संस्कारसे पूर्व उन्होंने एकान्तमें वृषभानुपुत्रीकी महिमा, श्रीराधातत्त्वकी बात बतलायी थी; पर उस समय तो नन्दराय सुन रहे थे और साथ-ही-साथ भूलते जा रहे थे; इस समय उन सबकी स्मृति हो आयी, सबका रहस्य सामने आ गया। अंजलि बाँधकर नन्दरायने श्रीराधाको प्रणाम किया और बोले—'देवि! मैं जान गया, पुरुषोत्तम श्रीहरिकी तुम प्राणेश्वरी हो एवं मेरी गोदमें तुम्हारे प्राणनाथ स्वयं पुरुषोत्तम श्रीहरि ही विराजित हैं; लो, देवि! ले जाओ; अपने प्राणेश्वरको साथ ले जाओ। किंतु..........।' नन्द कुछ रुक-से गये; श्रीकृष्णचन्द्रके भीति-विजड़ित नयनोंकी ओर उनकी दृष्टि चली गयी थी। क्षणभर बाद बोले—'किंतु देवि! यह बालक तो आखिर मेरा पुत्र ही है न! इसे मुझे ही लौटा देना।'—नन्दरायने श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाके हस्तकमलोंपर रख दिया। श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये गहन वनमें प्रविष्ट हो गयीं।

× × ×

वृन्दावनकी भूमिपर गोलोकका दिव्य रासमण्डल प्रकट होता है। श्रीराधा नन्दपुत्रको लिये उसी मण्डपमें चली आती हैं। सहसा नन्दपुत्र श्रीराधाकी गोदसे अन्तर्हित हो जाते हैं। वृषभानुनन्दिनी विस्मित होकर सोचने लगती हैं—नन्दरायने जिस बालकको सौंपा था—वह कहाँ चला गया? इतनेमें गोलोकविहारी नित्यकैशोरमूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र दीख पड़ते हैं। अपने प्रियतमको देखकर वृषभानुनन्दिनीका हृदय भर आता है, प्रेमावेशसे वे विह्वल हो जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र कहने लगते हैं—'प्रिये! गोलोककी वे बातें भूल गयी हैं या अभी भी स्मरण हैं? मुझे भी भूल गयी क्या? मैं तो तुम्हें नहीं भूला। तुम्हें भूल जाऊँ, यह मेरे लिये असम्भव है। मेरे प्राणोंकी रानी! तुमसे अधिक प्रिय मेरे पास कुछ हो, तब तो तुम्हें भूलूँ। तुम्हीं बताओ, प्राणोंसे अधिक प्यारी वस्तुको कोई कैसे भूल सकता है?'

इस प्रकार रसिकेश्वर राधानाथ अपनी प्रियाको अतीतकी स्मृति दिलाकर, स्वरूपकी स्मृति कराकर, उन्हींके नामकी सुधासे उनको सिक्तकर प्रियतमा श्रीराधाका आनन्दवर्द्धन करने लगते हैं। राधाभावसिन्धुमें भी तरंगें उठने लगती हैं, भावके आवर्त बन जाते हैं; आवर्त राधानाथको रसके अतलतलमें डुबाने ही जा रहे थे कि उसी समय माला-कमण्डलु धारण किये जगद्विधाता चतुर्मुख ब्रह्मा आकाशसे नीचे उतर आते हैं; राधा-राधानाथके चरणोंमें वन्दना करते हैं। पुष्कर-तीर्थमें साठ हजार वर्षोंतक विधाताने श्रीकृष्णचन्द्रकी आराधना की थी, राधाचरणारविन्द-दर्शनका वर प्राप्त किया था। उसी वरकी पूर्तिके लिये एवं राधानाथकी मनोहारिणी लीलामें एक छोटा-सा अभिनय करनेके लिये योगमायाप्रेरित वे ठीक उपयुक्त समयपर आये हैं।

अस्तु, श्रीराधा एवं राधानाथको प्रणामकर दोनोंके बीचमें विधाता अग्नि प्रज्वलित करते हैं। अग्निमें विधिवत् हवन करते हैं। फिर विधाताके द्वारा बताये हुए विधानसे स्वयं रासेश्वर हवन करते हैं। इसके पश्चात्

रासेश्वरी-रासेश्वर दोनों ही सात बार अग्नि-प्रदक्षिणा करते हैं, अग्निदेवको प्रणाम करते हैं। विधाताकी आज्ञा मानकर श्रीराधा एक बार पुनः हुताशन-प्रदक्षिणा करके श्रीकृष्णचन्द्रके समीप आसन ग्रहण करती हैं। ब्रह्मा श्रीकृष्णचन्द्रको श्रीराधाका पाणिग्रहण करनेके लिये कहते हैं तथा श्रीकृष्णचन्द्र राधा-हस्तकमलको अपने हस्तकमलपर धारण करते हैं। हस्तग्रहण होनेपर श्रीकृष्णचन्द्रने सात वैदिक मन्त्रोंका पाठ किया। इसके पश्चात् श्रीराधा अपना हस्तकमल श्रीकृष्ण-वक्ष:स्थलपर एवं श्रीकृष्णचन्द्र अपना हस्तपद्म श्रीराधाके पृष्ठदेशपर रखते हैं तथा श्रीराधा मन्त्र-समूहका पाठ करती हैं। आजानुलम्बित दिव्यातिदिव्य पारिजातनिर्मित कुसुममाला श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको पहनाती हैं, एवं श्रीकृष्णचन्द्र सुन्दर मनोहर वनमाला श्रीराधाके गलेमें डालते हैं। यह हो जानेपर कमलोद्भव श्रीराधाको श्रीकृष्णचन्द्रके वामपार्श्वमें विराजितकर, दोनोंके अंजलि बाँधनेकी प्रार्थनाकर, दोनोंके द्वारा पाँच वैदिक मन्त्रोंका पाठ कराते हैं। अनन्तर श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम करती हैं; जैसे पिता विधिवत् कन्यादान करे, वैसे सारी विधि सम्पन्न करते हुए विधाता श्रीराधाको श्रीकृष्ण-करकमलोंमें समर्पित करते हैं। आकाश दुन्दुभि, पटह, मुरज आदि देव-वाद्योंकी ध्वनिसे निनादित होने लगता है, आनन्दनिमग्न देववृन्द पारिजातपुष्पोंकी वर्षा करते हैं; गन्धर्व मधुर गान आरम्भ करते हैं, अप्सराएँ मनोहर नृत्य करने लगती हैं। व्रजगोपोंके, व्रजसुन्दरियोंके सर्वथा अनजानमें ही इस प्रकार वृषभानुनन्दिनी एवं नन्दनन्दनकी विवाहलीला सम्पन्न हो गयी।

× × ×

भाण्डीर-वनके उन निकुंजोंमें रसकी तरंगिणी बह चली; रासेश्वरी श्रीराधा, रासेश्वर श्रीकृष्ण—दोनों ही आनन्दविभोर होकर उसमें बह चले। जब इस स्रोतमें अन्य रसधाराएँ आकर मिलने लगीं—भावसन्धिका समय आया तो श्रीराधाको बाह्यज्ञान हुआ। वृषभानुनन्दिनी देखती हैं—मेरी गोदमें नन्दरायने जिस पुत्रको सौंपा था, वह तो है; शेष सब स्मृतिमात्र। श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कैशोर-मूर्ति अन्तर्हित हो गयी है, पुनः वे बालकरूप हो गये हैं।

× × ×

नन्दनन्दनको श्रीराधा यशोदारानीके पास ले जाती हैं। 'मैया! वनमें झंझावात आरम्भ हो गया था; बाबा बोले—'तू इसे ले जा, घर पहुँचा दे।' बड़ी वर्षा हुई है; देखो, मेरी साड़ी सर्वथा भीग गयी है। मैं अब जाती हूँ; घरसे आये मुझे बहुत देर हो गयी है, मेरी मैया चिन्तित होगी; श्रीकृष्णको सँभाल लो'—यह कहकर वृषभानुनन्दिनीने श्रीकृष्णचन्द्रको यशोदारानीकी गोदमें रख दिया और स्वयं वृषभानुपुरकी ओर चल पड़ीं। यशोदारानीने देखा—साड़ी वास्तवमें सर्वथा आर्द्र है, प्रबल उत्कण्ठा हुई कि दूसरी साड़ी पहना दूँ; किंतु मैयाका शरीर निश्चेष्ट-सा हो गया—ओह! कीर्तिदाकी पुत्री इतनी सुन्दर है। मैया इस सौन्दर्यप्रतिमाकी ओर देखती ही रह गयीं और प्रतिमा देखते-ही-देखते उपवनके लताजालमें जा छिपी।

× × ×

वहाँ भाण्डीरवनमें व्रजेश्वर नन्दको इतनी ही स्मृति है कि वर्षाका ढंग हो रहा था, भानुकुमारीके साथ मैंने पुत्रको घर भेज दिया है।

अष्टसखी

श्रीराधाकिशोरीकी सखियाँ पाँच प्रकारकी मानी जाती हैं—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमप्रेष्ठसखी। कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि तो सखी कहलाती हैं। कस्तूरी, मणिमंजरिका आदि नित्यसखी कही जाती हैं। शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि प्राणसखीकी गणनामें हैं। कुरंगाक्षी, मंजुकेशी,

माधवी, मालती आदि प्रियसखी कही जाती हैं तथा श्रीललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा, चम्पकलता, रंगदेवी, तुंगविद्या, सुदेवी—ये आठ परमप्रेष्ठसखीकी गणनामें हैं। ये आठों सखियाँ ही अष्टसखीके नामसे विख्यात हैं।

हृदयसे जुड़ी हुई अनन्त धमनियोंकी भाँति श्रीराधाकी समस्त सखियाँ राधा हृत्सरोवरसे निरन्तर प्रेमरस लेती हैं। लेकर उस रसको सर्वत्र फैलाती रहती हैं तथा साथ ही अपना प्रेमरस भी राधा-हृदयमें उँड़ेलती रहती हैं। इस रसविस्तारके कार्यमें श्रीललिता आदि अष्टसखियोंका सबसे प्रमुख स्थान है।

श्रीकृष्णचन्द्रकी नित्यकैशोरलीलामें श्रीललिताकी आयु चौदह वर्ष तीन मास बारह दिनकी रहती है। श्रीललितामें यह नित्य दिव्य आवेश रहता है कि इस समय मेरी आयु इतनी हुई है। इसी प्रकार उस लीलामें श्रीविशाखा चौदह वर्ष दो मास पन्द्रह दिन, श्रीचित्रा चौदह वर्ष एक मास उन्नीस दिन, श्रीइन्दुलेखा चौदह वर्ष दो मास बारह दिन, श्रीचम्पकलता चौदह वर्ष दो मास चौदह दिन, श्रीरंगदेवी चौदह वर्ष दो मास आठ दिन, श्रीतुंगविद्या चौदह वर्ष दो मास बीस दिन और श्रीसुदेवी चौदह वर्ष दो मास आठ दिनकी रहती हैं। अवश्य ही जब श्रीराधाकिशोरीकी लीलाका प्रपंचमें प्रकाश होता है, वे अवतरित होती हैं, तब ये भी उसी प्रकार अवतरित होती हैं—इनका जन्म होता है, कौमार आता है, पौगण्ड आता है, फिर कैशोरसे विभूषित होती हैं।

इन आठ सखियोंका जीवन-चरित्र श्रीराधामहारानीकी लीलामें सर्वथा अनुस्यूत रहता है। जो राधाभावसिन्धुका कोई-सा एक कण पा लेते हैं, वे ही इन सखियोंके दिव्य भुवनपावन चरित्रके सम्बन्धमें यत्किंचित् जान पाते हैं। वह भी एक-सा नहीं, जो जैसे पात्र हों। हमारे लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि श्रीराधाकिशोरीको स्मरण करते हुए हम इनकी वन्दना कर लें—

गोरोचनारुचिमनोहरकान्तिदेहां मायूरपुच्छतुलितच्छविचारुचेलाम्।
राधे तव प्रियसखीं च गुरुं सखीनां ताम्बूलभक्तिललितां ललितां नमामि॥

हे राधे! गोरोचनके समान जिनके श्रीअंगोंकी मनोहर कान्ति है, जो मयूरपिच्छके समान चित्रित साड़ी धारण करती हैं, तुम्हारी ताम्बूलसेवा जिनके अधिकारमें है, इस सेवासे जो अत्यन्त ललित (सुन्दर) हो रही हैं, जो सखियोंकी गुरुरूप हैं, तुम्हारी उन प्यारी सखी श्रीललिताको मैं प्रणाम कर रहा हूँ।

सौदामिनीनिचयचारुरुचिप्रतीकां तारावलीललितकान्तिमनोज्ञचेलाम्।
श्रीराधिके तव चरित्रगुणानुरूपां सद्गन्धचन्दनरतां विषये विशाखाम्॥

श्रीराधिके! मानो सौदामिनी-समूह एकत्र हो, इस प्रकार तो जिनके अंगोंका सुन्दर वर्ण है, तारिकाश्रेणीकी सुन्दर कान्ति जिनकी मनोहर साड़ीमें भरी हुई है, सुगन्धित द्रव्य, चन्दन आदिसे जो तुम्हारे लिये अंगराग प्रस्तुत करती हैं, उनसे तुम्हारा अंगविलेपन करती हैं तथा चरित्रमें, गुणमें जो तुम्हारे समान हैं, तुम्हारी उन विशाखा [सखी]-का मैं आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ।

काश्मीरकान्तिकमनीयकलेवराभां सुस्निग्धकाचनिचयप्रभचारुचेलाम्।
श्रीराधिके तव मनोरथवस्त्रदाने चित्रां विचित्रहृदयां सदयां प्रपद्ये॥

श्रीराधिके! केशरकी कान्ति-जैसी जिनके कमनीय अंगोंकी शोभा है, सुचिक्कण काँचसमूहकी प्रभावाली सुन्दर साड़ी धारण किये रहती हैं, तुम्हारी रुचिके अनुसार तुम्हें वस्त्र पहनानेमें जो लगी हुई हैं, जिनके हृदयमें अनेकों विचित्र भाव भरे हैं! जो करुणासे भरी हैं, तुम्हारी उन चित्रा [सखी]-की मैं शरण ले रहा हूँ।

नृत्योत्सवां हि हरितालसमुज्ज्वलाभां सद्दाडिमीकुसुमकान्तिमनोज्ञचेलाम्।
वन्दे मुदा रुचिविनिर्जितचन्द्ररेखां श्रीराधिके तव सखीमहमिन्दुलेखाम्॥

श्रीराधिके! जिनके अंगोंकी आभा समुज्ज्वल हरिताल-जैसी है, जो दाडिम-पुष्पोंकी कान्तिवाली सुन्दर साड़ीमें विभूषित हैं, जिनका मुख अत्यन्त प्रसन्न है, प्रसन्नमुखकी कान्तिसे जो चन्द्रकलाको भी जीत ले रही हैं, जो नृत्योत्सवके द्वारा तुम्हें सुखी करती हैं, तुम्हारी उन इन्दुलेखा सखीकी मैं वन्दना करता हूँ।

सद्रत्लचामरकरां वरचम्पकाभां चाषाख्यपक्षिरुचिरच्छविचारुचेलाम्।
सर्वान् गुणांस्तुलयितुं दधतीं विशाखां राधेऽथ चम्पकलतां भवतीं प्रपद्ये॥

श्रीराधे! जिनके अंगोंकी आभा चम्पकपुष्प-जैसी है, जो नीलकण्ठ पक्षीके रंगकी साड़ी पहनती हैं, जिनके हाथमें रत्ननिर्मित चामर है, सभी गुणोंमें जो विशाखाके समान हैं, तुम्हारी उन [सखी] चम्पकलताकी मैं शरण ले रहा हूँ।

सद्पद्मकेशरमनोहरकान्तिदेहां प्रोद्यज्जवाकुसुमदीधितिचारुचेलाम्।
प्रायेण चम्पकलताधिगुणां सुशीलां राधे भजे प्रियसखीं तव रङ्गदेवीम्॥

राधे! जिनके अंगोंकी छवि सुन्दर पद्मपरागके समान है, जिनकी सुन्दर साड़ीकी कान्ति पूर्णविकसित जवाकुसुम-जैसी है, जिनमें गुणोंकी इतनी अधिकता है कि चम्पकलतासे भी बढ़ी-चढ़ी हैं, उन अत्यन्त सुन्दर शीलवाली तुम्हारी प्यारी सखी रंगदेवीका मैं भजन करता हूँ।

सच्चन्द्रचन्दनमनोहरकुङ्कुमाभां पाण्डुच्छविप्रचुरकान्तिलसद्दुकूलाम्।
सर्वत्र कोविदतया महितां समज्ञां राधे भजे प्रियसखीं तव तुङ्गविद्याम्॥

राधे! कर्पूर-चन्दनमिश्रित कुङ्कुमके समान जिनका वर्ण है, पीतवर्ण कान्तिपूर्ण वस्त्रसे जो सुशोभित हैं, सर्वत्र जिनकी बुद्धिमत्ताका आदर होता है, उन सुयशमयी तुम्हारी प्रियसखी तुंगविद्याका मैं भजन करता हूँ।

प्रोत्तप्तशुद्धकनकच्छविचारुदेहां प्रोद्यत्प्रवालनिचयप्रभचारुचेलाम्।
सर्वानुजीवनगुणोज्ज्वलभक्तिदक्षां श्रीराधिके तव सखीं कलये सुदेवीम्॥

श्रीराधिके! उत्तप्त विशुद्ध स्वर्ण-जैसी सुन्दर जिनकी देह है, चमकते हुए मूँगेके रंगकी जो साड़ी धारण करती हैं, तुम्हें जल पिलानेकी सुन्दर सेवामें जो निपुण हैं, तुम्हारी उन सुदेवी सखीका मैं ध्यान कर रहा हूँ।

श्रीकृष्णके व्रजसखा

व्रजभूमि प्रेमका दिव्य धाम है। वहाँ निवास करनेवाले सभी लोग अपने पूर्वजन्ममें अनेक प्रकारके जप-तप, भजन-ध्यान करके परमात्माके समीप रहनेका अधिकार प्राप्त कर चुके थे। इसीलिये उन लोगोंने व्रजकी प्रेम-भूमिमें परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्णको सुहृद्के रूपमें प्राप्त किया। व्रजके गोप, गोपियाँ, गोपकुमार, गायें, वनके पशु-पक्षी—सभी प्रेमके मूर्तिमान् विग्रह हैं। व्रजके गोपकुमार तो सख्यभक्तिके अनुपम उदाहरण हैं। सुबल, सुभद्र, भद्र, मणिभद्र, वरूथप, तोककृष्ण, श्रीदामा आदि सहस्रों व्रजसखाओंके श्रीकृष्ण ही जीवन थे। उनके श्रीकृष्ण ही प्राण तथा सर्वस्व थे। वे सभी श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये उनके साथ दौड़ते, कूदते, गाते, नाचते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे। श्याम गाते तो वे तालियाँ बजाते, कन्हैया नाचते तो वे प्रशंसा करते। श्रीकृष्णकी नजरोंसे दूर होते ही उनके प्राण तड़पने लगते थे। श्रीकृष्णका वे विभिन्न वनपुष्पोंसे शृंगार करते। श्रीकृष्ण थक जाते तो वे उनके चरण दबाते। व्रजसखाओंका खेलना, झगड़ना तथा रूठना—सब कुछ मोहनकी प्रसन्नताके लिये ही होता था। श्रीकृष्णके चेहरेपर क्षोभकी हलकी-सी छाया गोपबालकोंसे सहन नहीं होती थी।

भगवान् श्रीकृष्ण दूसरोंके लिये चाहे कितने भी ऐश्वर्यशाली रहे हों, किंतु अपने इन बालसखाओंके लिये सदैव प्राणप्रिय, स्नेहमय सखा ही रहे। सखाओंका मान रखना, उनकी हर तरहसे सुरक्षा करना श्रीकृष्णका सदाका व्रत रहा है। बहुत दिनोंतक कष्ट उठाकर जिन्होंने अपनी इन्द्रियों और अन्तःकरणको वशमें कर लिया है, उन योगियोंके लिये भी भगवान् श्रीकृष्णकी चरणरज मिलना दुर्लभ है। वही भगवान् अपने व्रजसखाओंके साथ नित्य क्रीड़ा करते थे। एक दिन अघासुर नामक महान् दैत्य कंसके भेजनेपर व्रजभूमिमें आया। उससे श्रीकृष्ण और ग्वालबालोंकी सुखमयी क्रीड़ाएँ देखी न गयीं। अघासुर पूतना और वकासुरका छोटा भाई था। वह श्रीकृष्ण, श्रीदामा आदि ग्वाल-बालोंको देखकर मन-ही-मन सोचने लगा कि 'यही मेरे सगे भाई-बहनको मारनेवाला है, आज मैं इसको इसके सखाओंके साथ यमलोक पहुँचा दूँगा।' ऐसा निश्चय करके वह दुष्ट दैत्य अजगरका रूप धारण करके मार्गमें लेट गया। उसका अजगर-शरीर एक योजन लम्बे पर्वतके समान विशाल और मोटा था। उसने गुफाके समान अपना मुँह फाड़ रखा था। भगवान् श्रीकृष्णके बालसखा अघासुरको वृन्दावनका कोई कौतुक समझकर उसके मुखमें घुस गये। भगवान् श्रीकृष्ण सबको अभय देनेवाले हैं। जब उन्होंने देखा कि मेरे प्यारे सखा—जिनका एकमात्र रक्षक मैं हूँ, मृत्युरूप अघासुरके मुखमें प्रवेश कर गये, तब भगवान् भी उस दैत्यके मुखमें चले गये। भगवान् श्रीकृष्णने अघासुरके पेटमें अपने शरीरको इतना बढ़ाया कि वह दुष्ट दैत्य स्वयं मृत्युका ग्रास बन गया और अपने सखाओंके साथ भगवान् सहज ही बाहर निकल आये। इसी प्रकार व्योमासुर जब गोपबालक बनकर भगवान् श्रीकृष्णके बालसखाओंको गुफामें बन्द करने लगा, तब उन्होंने घूँसों और थप्पड़ोंसे उसका अन्त कर दिया। श्यामसुन्दरने अपने इन सखाओंके लिये दावाग्निपान किया। कालियनागके विषसे दूषित यमुना-जलको शुद्ध करनेके लिये उन्होंने महानागके गर्वको चूर करके उसे वहाँसे अन्यत्र भेजा। भगवान् श्रीकृष्ण लोकदृष्टिमें मथुरा भले ही चले गये, किंतु अपने गोपसखाओंके लिये तो उन्होंने वृन्दावनका कभी त्याग ही नहीं किया। शास्त्र कहता है—'**वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति।**'

श्रीकृष्णके षोडश सखा

रक्तक पत्रक और पत्रि सबही मन भावैं।
मधुकंठौ मधुबर्त रसाल बिसाल सुहावैं॥
प्रेमकंद मकरंद सदा-आनँद चंद्रहासा।
पयद बकुल रसदान सारदा बुद्धिप्रकासा॥
सेवा समय बिचारि कै चारु चतुर चित की लहैं।
ब्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं॥ २३ ॥

रक्तक, पत्रक और पत्री—ये सबके मनको प्रिय लगते हैं। मधुकण्ठ, मधुवर्त, रसाल, विशाल, प्रेमकन्द, मकरन्द, सदानन्द, चन्द्रहास, पयद, बकुल, रसदान, शारदा और बुद्धिप्रकाश—ये सुन्दर, सुशील एवं परम चतुर सखागण भगवान्‌की इच्छाके अनुसार जिस सेवाका जो समय है एवं जब जो सेवा उचित है, उसको विचारकर करते हैं। ये उनके प्यारे सोलह सखा हैं। व्रजमण्डलके राजा नन्दजीके पुत्र श्रीकृष्णके साथ घरमें तथा वनमें उनके ये सोलह सखा सेवामें सदा तत्पर रहते हैं। मैं इनकी चरण-रजका अर्थी हूँ॥ २३॥

श्रीकृष्ण-सखाओंकी सेवा

रक्तक आदिका सखारूपमें संग रहकर सेवा करना तो प्रसिद्ध ही है। वनमें ये अन्य रूपोंसे भी प्यारे श्यामसुन्दरकी सेवा करते हैं। जैसे रक्तक लाल चन्दन, कुंकुम, केशर बनकर, पत्रक तमालवृक्ष, पलाशवृक्ष बनकर, पत्रि रंग-बिरंगकी चिड़िया बनकर तथा ताल आदिके वृक्ष बनकर, मधुकण्ठ कोयल बनकर, मधुवर्त भ्रमर बनकर, रसाल आम्र-कटहल बनकर, विशाल सभी सुख एवं सुखदायक वस्तुओंका विस्तार बनकर या बड़े-बड़े शालके वृक्ष बनकर अथवा शाल-दुशाले बनकर, प्रेमकन्द कन्दविशेष बनकर, मकरन्द पुष्परस, कुन्दपुष्प बनकर, सदानन्द आनन्द प्रकाश वस्तु बनकर, चन्द्रहास चन्द्रमाकी किरण बनकर, पयद मेघ बनकर, बकुल मौलसिरीका पेड़ बनकर, रसदान रसमय पदार्थ बनकर, शारदा शांखाहुली जड़ी बनकर एवं बुद्धिप्रकाश ब्राह्मी बूटी बनकर सेवा करते हैं।

सप्तद्वीपके भक्त

जंबू और पलच्छ सालमलि बहुत राजरिषि।
कुस पबित्र पुनि क्रौंच कौन महिमा जानै लिखि॥
साक बिपुल बिस्तार प्रसिध नामी अति पुहकर।
पर्बत लोकालोक ओक टापू कंचनधर॥
हरिभृत्य बसत जे जे जहाँ तिन सों नित प्रति काज।
सप्त दीप में दास जे ते मेरे सिरताज॥ २४॥

जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप और शाल्मलिद्वीपमें बहुत-से ऋषिराज भक्त हैं। कुशद्वीप और क्रौंचद्वीप—ये अति पवित्र हैं। यहाँके भक्तोंकी महिमा कौन जान सकता है। शाकद्वीप और पुष्करद्वीप—इनका बहुत विस्तार है और इनके नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। लोकालोक पर्वत, सुवर्णमयी भूमि एवं अन्य द्वीपसमूहोंमें जो भगवान्‌के सेवक निवास करते हैं, उनसे हमारा नित्य ही प्रयोजन है। सातों द्वीपोंमें जो भगवान्‌के दास हैं, वे मेरे सिरके मुकुट हैं॥ २४॥

सप्तद्वीप और वहाँ स्थित भगवद्भक्त

श्रीप्रियव्रतके रथके पहियेसे जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए और उनसे एक ही भूमण्डल सप्तद्वीपोंमें विभक्त हो गया। (छ० १० में श्रीप्रियव्रतजीका प्रसंग वर्णित है) इनका वर्णन इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप—इसका विस्तार एक लाख योजन है। इसमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा और इतने ही विस्तारवाला विशाल जामुनका वृक्ष है, अतः इस द्वीपका नाम भी जम्बूद्वीप पड़ गया। वह अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है। श्रीप्रियव्रतजीके पुत्र आग्नीध्रजी इसके अधिपति हुए।

प्लक्षद्वीप—इसका विस्तार दो लाख योजन है। यह खारे समुद्रको चारों ओरसे परिवेष्टित किये है। इसमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा और इतने ही विस्तारवाला सुवर्णमय प्लक्ष (पाकर)-का वृक्ष है। इसी कारण इसका नाम प्लक्षद्वीप हुआ। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है। श्रीप्रियव्रतजीके पुत्र इध्मजिह्वजी इसके अधिपति हैं।

शाल्मलिद्वीप—इसका विस्तार चार लाख योजन है। यह इक्षुरसके समुद्रको चारों ओरसे परिवेष्टित

किये है। इसमें प्लक्षद्वीपके पाकरके ही समान शाल्मलि (सेमर)-का वृक्ष है। कहते हैं, यही वृक्ष अपने वेदमय पंखोंसे भगवान्‌की स्तुति करनेवाले पक्षिराज गरुड़जीका निवास-स्थान है तथा यही इस द्वीपके नामकरणका भी हेतु है। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले मदिराके सागरसे घिरा है। श्रीप्रियव्रतपुत्र यज्ञबाहु इसके अधिपति हैं।

कुशद्वीप—मदिराके समुद्रसे आगे, उसको चारों ओरसे घेरे हुए आठ लाख योजन विस्तारवाला कुशद्वीप है, पूर्वोक्त द्वीपोंके समान यह भी अपने ही समान विस्तारवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें भगवान्‌का रचा हुआ एक कुशोंका झाड़ है। उसीसे इस द्वीपका नाम कुशद्वीप हुआ। श्रीप्रियव्रतपुत्र महाराज हिरण्यरेता इसके अधिपति हैं।

क्रौञ्चद्वीप—घृतसमुद्रके आगे उसके चारों ओर उससे द्विगुण परिमाणवाला अर्थात् सोलह लाख योजन विस्तारवाला क्रौंचद्वीप है। यह अपने समान परिमाणवाले दूधके समुद्रसे घिरा हुआ है। यहाँ क्रौंचनामका बहुत बड़ा पर्वत है। उसीके कारण इसका नाम क्रौंचद्वीप हुआ है। श्रीप्रियव्रतपुत्र घृतपृष्ठ इसके अधिपति हैं।

शाकद्वीप—क्षीरसमुद्रके आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है, जो अपने ही समान परिमाणवाले मट्ठेके समुद्रसे घिरा है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है। उसकी मनोहर सुगन्धसे पूरा शाकद्वीप महकता रहता है। इसीसे इस द्वीपको शाकद्वीप कहते हैं। श्रीप्रियव्रतपुत्र मेधातिथिजी इसके अधिपति हैं।

पुष्करद्वीप—मट्ठेके समुद्रसे आगे उसके चारों ओर उससे दुगने विस्तारवाला पुष्कर द्वीप है, जो अपने ही समान विस्तारवाले मीठे जलके समुद्रसे घिरा है। वहाँ अग्निकी शिखाके समान देदीप्यमान लाखों स्वर्णमय पंखुड़ियोंवाला एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है, जो ब्रह्माजीका आसन माना जाता है। इसीसे इस द्वीपका नाम पुष्करद्वीप पड़ा। श्रीप्रियव्रतपुत्र वीतिहोत्र इसके अधिपति हैं।

लोकालोक पर्वत—मीठे जलके समुद्रसे आगे नौ करोड़ छियानबे लाख पचास हजार योजनके बाद लोकालोक पर्वत है। यह सूर्य आदिसे प्रकाशित एवं अप्रकाशित भूभागोंके बीचमें है। इससे इसका नाम लोकालोक पर्वत पड़ा, इसे परमात्माने त्रिलोकीके बाहर उसके चारों ओर सीमाके रूपमें स्थापित किया है। यह इतना ऊँचा और लम्बा है कि इसके एक ओरसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यसे लेकर ध्रुवपर्यन्त समस्त ज्योतिर्मण्डलकी किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकती हैं। यह साढ़े बारह करोड़ योजन विस्तारवाला है।

कंचनधर टापू—मीठे जलके समुद्रसे आगे एक करोड़, सत्तावन लाख, पचास हजार योजन भूमिके उपरान्त कांचनी भूमि है, जो दर्पणके समान स्वच्छ है। यहाँ देवकोटिके लोग रहते हैं। इसका विस्तार आठ करोड़ उनतालीस लाख योजन है।

जम्बूद्वीपके भक्त

इलाबर्त अधिईस सँकर्षन अनुग सदासिव।
रमनक मछ मनु दास हिरन्य कूरम अर्यम इव॥
कुरु बराह भू भृत्य बर्ष हरि सिंह प्रहलादा।
किंपुरुष राम कपि भरत नरायन बीना नादा॥

भद्रासु ग्रीवहय भद्रस्त्रव केतु काम कमला अनूप।
मध्य दीप नव खंड में भक्त जिते मम भूप॥ २५॥

सब द्वीपोंके मध्यका जो जम्बूद्वीप है, उसके नौ खण्ड हैं। उनमें जो निवास करते हैं, वे हमारे राजा हैं, हम उनकी प्रजा हैं। इलावर्तखण्डके स्वामी भगवान् संकर्षण हैं और उनके मुख्य सेवक शंकरजी हैं। रमणकखण्डके अधीश्वर श्रीमत्स्यभगवान् हैं, उनके सेवक मनुजी हैं। हिरण्यखण्डमें भगवान् श्रीकूर्मजी आराध्य हैं और अर्यमा उनके पुजारी हैं। कुरुखण्डके अधीश श्रीवराहभगवान् हैं और उनकी सेवा करनेवाली पृथ्वीदेवी हैं। हरिवर्षखण्डमें श्रीनृसिंहभगवान् विराजते हैं और उनके सेवक प्रह्लादजी हैं। किम्पुरुषखण्डके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी हैं और उनकी सेवामें हनुमान्जी तत्पर रहते हैं। भरतखण्डमें भगवान् श्रीनरनारायण आराध्यदेव हैं, उनकी पूजा करनेवाले नारदजी हैं। भद्राश्वखण्डमें हयग्रीवभगवान् आराध्य हैं और भद्रश्रवाजी उनके पुजारी हैं। केतुमालखण्डके अधिपति भगवान् कामदेव हैं और कमलादेवी उनकी सेविका हैं॥ २५॥

जम्बूद्वीपके नौ खण्डोंमें भक्तिके स्वरूपके विषयमें यहाँ कुछ विवरण प्रस्तुत है—

मध्यद्वीप नौ खण्ड

सातों द्वीपोंके मध्यमें स्थित जम्बूद्वीपके अधिपति महाराज आग्नीध्रके नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नामके नौ पुत्र हुए। राजा आग्नीध्रने जम्बूद्वीपका विभाग करके नौ-नौ हजार योजन विस्तारवाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्रको सौंप दिया। इन्हीं पुत्रोंके नामसे नौ वर्ष प्रसिद्ध हो गये। यथा—राजा नाभिके नामसे अजनाभवर्ष, किम्पुरुषके नामसे किम्पुरुषवर्ष इत्यादि।

अजनाभवर्षको ही भारतवर्ष कहा जाता है। आग्नीध्रनन्दन राजा नाभि एवं उनकी पत्नी मेरुदेवीके यहाँ स्वयं भगवान्ने ऋषभदेवके नामसे अवतार ग्रहण किया। ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें राजर्षि भरत सबसे बड़े, सर्वाधिक गुणवान् और महान् भगवद्भक्त थे। वे अत्यन्त प्रतापी और धर्मात्मा हुए, उन्हींके नामसे अजनाभखण्डका नाम भारतवर्ष पड़ा—'**अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति**' (श्रीमद्भा० ५।७।३) इन नवों वर्षोंमें परम पुरुष भगवान् वहाँके लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी विभिन्न मूर्तियोंसे विराजमान रहते हैं। इन समस्त वर्षोंमें भारतवर्ष श्रेष्ठ है। देवता भी भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी महिमाका गान करते हैं। यथा—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।२१)

अहा! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो हम भी निरन्तर तरसते रहते हैं। देवता यह अभिलाषा करते हैं कि अबतक स्वर्ग-सुख भोग लेनेके बाद हमारे पूर्वकृत यज्ञ, प्रवचन और शुभ कर्मोंसे यदि कुछ भी पुण्य बचा हो तो उसके प्रभावसे हमें इस भारतवर्षमें भगवान्की स्मृतिसे युक्त मनुष्य-शरीर मिले; क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करनेवालेका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं। यथा—

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरिर्यद् भजतां शन्तनोति॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।२८)

इसी जम्बूद्वीपमें भारतवर्ष है, यह स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त करनेवालोंकी कर्मभूमि है। पृथ्वीपर

भारतवर्षके अतिरिक्त कहीं भी कर्मकी विधि नहीं है। अन्य वर्ष भोगभूमियाँ हैं। '**यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्यां भोगभूमयः**' (विष्णुपु० २।३।२२)। जन्म-जन्मान्तरके महान् पुण्योंका उदय होनेपर ही भारतवर्षमें जन्म होता है, जिसकी कीर्तिका गान करते हुए देवता भी कहते हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(श्रीविष्णुपुराण २।३।२४)

अर्थात् देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्गके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक धन्य (बड़भागी) हैं।

श्वेतद्वीपके भक्त

श्रीनारायन (को) बदन निरंतर ताही देखैं।
पलक परै जो बीच कोटि जमजातन लेखैं॥
तिन के दरसन काज गए तहँ बीनाधारी।
स्याम दई कर सैन उलटि अब नहिं अधिकारी॥
नारायन आख्यान दृढ़ तहँ प्रसंग नाहिन तथा।
स्वेतद्वीप में दास जे श्रवन सुनौ तिन की कथा॥ २६॥

श्वेतद्वीप (भगवद्धाम)-में निवास करनेवाले भगवान्के भक्तोंकी गाथा कान लगाकर सुनिये। ये श्रीनारायणभगवान्के मुखारविन्दका निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। यदि कभी पलक पड़नेभरका भी व्यवधान हो जाय तो उसे वे करोड़ों नारकीय कष्टोंके समान मानते हैं। किसी समय नारदजी इन भक्तोंका दर्शन करनेके लिये गये। नारदजी इन्हें ज्ञानोपदेश करना चाहते थे। श्रीनारायणभगवान्ने हाथसे संकेत किया कि यहाँसे लौट जाओ; क्योंकि ये रूपमाधुरीमें आसक्तजन तुम्हारे उपदेशोंके अधिकारी नहीं हैं अर्थात् इन्हें ज्ञानचर्चा सुननेकी इच्छा नहीं है। यहाँ भगवान्की प्रेमापरा भक्तिमें ही निष्ठा है, अतः दूसरे ज्ञानप्रसंगोंकी यहाँ चर्चा ही नहीं है॥ २६॥

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्वेतद्वीपमें निवास करनेवाले भक्तजनोंकी उपासनाके सम्बन्धमें तीन कवित्तोंमें इस प्रकार कहते हैं—

श्वेतद्वीप वासी सदा रूप के उपासी गये नारद विलासी उपदेश आशा लागी है।
दई प्रभु सैन जिनि आवो इहि ऐन दृग देखैं सदा चैन मति गति अनुरागी है॥
फिरे दुःख पाइ जाइ कही श्रीबैकुण्ठनाथ साथ लिये चले लखो भक्ति अङ्ग पागी है।
देख्यो एक सर खग रह्यो ध्यान धरि ऋषि पूछैं कहो हरि कह्यो बड़ो बड़भागी है॥ १०३॥

श्वेतद्वीपमें निवास करनेवाले भक्तजन सर्वदा भगवान्के रूपकी उपासना करते हैं। रूपमाधुरीका दर्शन ही उनका साधन और साध्य है। अपने उपदेशोंसे सभीको कृतार्थ करते हुए सर्वदा सर्वत्र विचरनेवाले कौतुकी श्रीनारदजी एक बार श्वेतद्वीपको गये। वहाँके भक्तोंको उपदेश देनेकी आशा लगी थी। भगवान्ने इशारा किया कि उपदेश देनेकी इच्छासे यहाँ मत आओ। यहाँके भक्तलोग सदा परमानन्ददायक रूपका दर्शन करते रहते हैं। उनकी बुद्धि मेरे रूपमें अत्यन्त आसक्त है। मन-ही-मन दुखी होकर नारदजी लौट आये और वैकुण्ठधाममें जाकर वैकुण्ठनाथजीसे सब बात कही। तब भगवान्ने कहा—हम तुम्हें साथ लेकर चलें और देखें कि किस प्रकार उन भक्तोंके रोम-रोममें भक्ति रम रही है? दोनों श्वेतद्वीप पहुँचे तो वहाँ देखा कि

एक सरोवरके तटपर एक पक्षी ध्यान लगाये बैठा है। नारदजीने पूछा—भगवन्! यह पक्षी इस प्रकार कैसे बैठा है? भगवान्ने कहा—यह बड़ा ही भाग्यशाली है; क्योंकि भक्तिमें पूर्णरूपसे लीन है॥ १०३॥

बरस हजार बीते भये नहीं चित चीते प्यासोई रहत ऐपै पानी नहीं पीजिये।
पावै जो प्रसाद जब जीभ सौ सवाद लेत लेत नहीं और याकी मति रस भीजिये॥
लीजै बात मानि जलपान करि डारि दियो लियो चोंच भरि दृग भरि बुधि धीजिये।
अचरज देखि चख लगै न निमेष किहूँ चहुँ दिशि फिर्यौ अब सेवा याकी कीजिये॥ १०४॥

इस भक्त पक्षीको इस प्रकार ध्यान करते हुए एक हजार वर्ष बीत गये हैं, परंतु अभी इसके मनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई है। पानीमें रहते हुए भी यह प्यासा रहता है, परंतु पानी नहीं पीता है। इसकी ऐसी निष्ठा है कि इसे प्रसाद मिले तभी जीभसे उसका स्वाद लेता है। बिना प्रसादके कभी कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार इसकी बुद्धि प्रसाद-रसमें मग्न हो गयी है। मेरी इस बातको मान लीजिये। नारदजीको प्रकट दिखानेके लिये भगवान्ने जलपानकर शेष जल उसके सामने रख दिया। तुरंत उसने चोंच भरकर पी लिया। भगवत्प्रसादके स्वादसे उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू आ गये और बुद्धि भी विभोर हो गयी। इस आश्चर्यको देखकर नारदजी टकटकी लगाकर उस भक्त पक्षीका दर्शन करने लगे। फिर उसके चारों ओर फिरकर उसकी परिक्रमा की और कहने लगे कि अब तो हम यहीं रहकर कुछ काल इसकी सेवा करेंगे॥ १०४॥

चलो आगे देखौ कोऊ रहै न परेखौ भाव भक्ति करि लेखौ गए द्वीप हरि गाइये।
आयो एक जन धाय आरती समय विहाय खैंचि लिये प्राण फिरि बधू याकी आइये॥
वही इन कही, पति देख्यो नहीं मही पर्यो हर्यो याको जीव तन गिर्यो मन भाइये।
ऐसे पुत्र आदि आये सांचे हित में दिखाए फेरिकै जिवाये ऋषि गाये चित लाइये॥ १०५॥

भगवान्ने कहा—अभी और आगे चलो, यहाँके भक्तोंकी भक्तिका विचित्र भाव देखो और फिर उसपर विचार करो। श्रीवैकुण्ठनाथ और नारदजी श्वेतद्वीपमें और आगे गये। वहाँ एक मन्दिरमें भगवान्के नाम और लीलाओंका गान हो रहा था। मन्दिरमें आरती हुई। थोड़ी देरबाद एक भक्त दौड़कर आये, जब उन्हें यह मालूम हुआ कि आरती हो गयी, मन्दिर बन्द हो गया, हम दर्शनोंसे वंचित रह गये। इस पश्चात्तापसे उसके प्राण खिंच गये, वह निर्जीव होकर गिर पड़ा। पीछेसे उसकी स्त्री भी आयी और इसने भी वही पूछा कि क्या आरती हो गयी? तो उन लोगोंने फिर भी वही बात कही, जो उसके पतिसे कही थी कि हाँ, आरती हो गयी। तुम्हारा पति भी आरतीका दर्शन नहीं कर सका। देखती नहीं हो, वह निर्जीव होकर पृथ्वीपर पड़ा है। फिर तो आरती-अदर्शनजन्य दुःखने इसके भी प्राणोंको हर लिया। इसका भी शरीर निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। इसी प्रकार उसके पुत्र आदि भी आये। दर्शनोंके वियोगमें वे भी सभी निष्प्राण हो गये। रूपमाधुरी देखे बिना उनके मनको मरण ही अच्छा लगा, जीवन प्रिय नहीं लगा। उनका दर्शनोंका यह प्रेम नारदजीको अति प्रिय लगा। वे सभी भगवत्प्रेममें सच्चे दिखलायी पड़े। भगवान्ने नारदजीको सच्चे प्रेमका दर्शन कराया। कुछ समय बाद जब पुनः आरती होने लगी, तब सभी भगवत्कृपासे जीवित होकर दर्शनानन्दमें विभोर हो गये। व्यास आदि ऋषियोंने इन चरित्रोंका गान किया है, इनका चिन्तन कीजिये॥ १०५॥

श्वेतद्वीपनिवासियोंकी भगवद्भक्ति

श्वेतद्वीप भगवान् नारायणका अनिर्वचनीय धाम है, जो क्षीरसागरके उत्तर भागमें विशाल द्वीपके रूपमें स्थित है। इसकी ऊँचाई मेरुपर्वतसे बत्तीस हजार योजन है। वहाँके निवासी इन्द्रियोंसे रहित, निराहार तथा

ज्ञानसम्पन्न होते हैं; उनके अंगोंसे उत्तम सुगन्ध निकलती रहती है। उस द्वीपमें सब प्रकारके पापोंसे रहित श्वेत वर्णवाले पुरुष निवास करते हैं। उनकी ओर देखनेसे पापी मनुष्योंकी आँखें चौंधिया जाती हैं। उनके शरीर तथा हड्डियाँ वज्रके समान सुदृढ़ होती हैं। वे मान-अपमानको समान समझते हैं। उनके अंग दिव्य होते हैं। वे शुभ (योगके प्रभावसे उत्पन्न) बलसे सम्पन्न होते हैं। उनके मस्तकका आकार छत्रके समान और स्वर मेघोंकी घटाके गर्जनके समान गम्भीर होता है। उनके बराबर-बराबर चार भुजाएँ होती हैं। उनके पैर सैकड़ों कमलसदृश रेखाओंसे सुशोभित होते हैं। उनके मुँहमें साठ सफेद दाँत और आठ दाढ़ें होती हैं। वे सूर्यके समान कान्तिमान् तथा सम्पूर्ण विश्वको अपने मुखमें रखनेवाले महाकालको भी अपनी जिह्वाओंसे चाट लेते हैं। जिनसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, सारे लोक प्रकट हुए हैं; वेद, धर्म, शान्त स्वभाववाले मुनि तथा सम्पूर्ण देवता जिनकी सृष्टि हैं, उन अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वरको श्वेतद्वीपके निवासी भक्ति-भावसे अपने हृदयमें धारण करते हैं। चन्द्रमाके समान गौरवर्ण और सब प्रकारके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न वहाँके निवासी प्रतिदिन ईशान कोणकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े हुए उन परब्रह्म परमात्माका मानस जप करते हैं। उनके मनकी एकाग्रतासे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं। प्रलयकालमें सूर्यकी जैसी प्रभा होती है, वैसी ही उस द्वीपमें रहनेवाले प्रत्येक पुरुषकी होती है। इस प्रकार वह द्वीप तेजका निवास-स्थान ही है। भगवान् श्रीहरि भी वहाँके निवासियोंको तेजःपुंजके रूपमें ही दर्शन देते हैं। उस समय उनकी प्रभा हजारों सूर्योंके समान होती है। उस समय वहाँके निवासी दोनों हाथ जोड़कर **'नमो नमः'** कहते हुए उनकी ओर तेज गतिसे दौड़ते हैं और विभिन्न प्रकारके उपचारोंसे उनका पूजन करते हैं; तत्पश्चात् उनकी इस प्रकार स्तुति करते हैं—

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज॥

तदनन्तर वहाँ पवित्र और सुगन्धित वायु बहुत-से दिव्य पुष्प एवं कार्योपयोगी औषधियोंको लेकर आती है, जिनसे वहाँके पंचकालवेत्ता अनन्य भक्त मनसा, वाचा, कर्मणा उन तेजोरूप भगवान् श्रीहरिका पूजन करते हैं।

अष्टनाग

इलापत्र मुख अनँत अनँत कीरति बिसतारत।
पद्म संकु पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत॥
अँसु कंबल बासुकी अजित आग्या अनुबरती।
करकोटक तच्छक सुभट्ट सेवा सिर धरती॥
आगमोक्त सिवसंहिता अगर एकरस भजन रति।
उरग अष्टकुल द्वारपति सावधान हरिधाम थिति॥ २७॥

भक्त सर्पोंके आठ वंश हैं। ये भगवान्के द्वारपाल हैं। प्रभुकी सेवामें सदा सावधान रहते हैं। भगवान्के धाममें इनकी स्थिति है। इलापत्रजी और अनन्त मुखवाले शेषजी अनन्तभगवान्की कीर्तिका विस्तार करते रहते हैं। पद्म और शंकु—इनका प्रण प्रसिद्ध है। ये हृदयसे भगवान्के रूपका ध्यान कभी नहीं टालते हैं। अंशुकम्बल और वासुकि—ये भगवान्के आज्ञाकारी हैं। कर्कोटक और तक्षक—ये बड़े वीर हैं, सेवारूपी भूमिको सदा अपने सिरपर धारण करते हैं। शिवसंहिता नामक आगममें इनका वर्णन है। श्रीअग्रदासजीका कथन है कि इन भक्त सर्पोंकी भजनमें सदा एकरस प्रीति रहती है॥ २७॥

यहाँ अष्ट नागकुलके नागोंकी भक्ति संक्षेपमें दी जा रही है—

पुराणोंमें नागोंके आठ कुल प्रसिद्ध हैं; ये हैं—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंखपाल और कुलिक। ये प्रजापति कश्यप और नागमाता कद्रूकी संतान हैं। ये आठ नाग क्रमशः पूर्वादि आठ दिशाओंके स्वामी हैं। पद्म, उत्पल, स्वस्तिक, त्रिशूल, महापद्म, शूल, क्षत्र और अर्धचन्द्र—ये क्रमशः इन आठ नागोंके आयुध हैं। अनन्त और कुलिक—ये दोनों ब्राह्मण नाग-जातियाँ हैं, शंखपाल और वासुकि क्षत्रिय, महापद्म और तक्षक वैश्य तथा पद्म और कर्कोटक शूद्र नाग हैं। अनन्त और कुलिक नाग शुक्लवर्ण तथा ब्रह्माजीसे उत्पन्न हैं, वासुकि और शंखपाल रक्तवर्ण तथा अग्निसे उत्पन्न हैं, तक्षक और महापद्म स्वल्प पीतवर्ण तथा इन्द्रसे उत्पन्न हैं, पद्म और कर्कोटक कृष्णवर्ण तथा यमराजसे उत्पन्न हैं।

भगवान् अनन्तका ही एक नाम 'शेष' भी है। भगवान् श्रीहरि उन्हीं शेषको शय्या बनाकर क्षीरसागरमें शयन करते हैं। वे शेषजी अपने एक हजार मुखों और दो हजार जिह्वाओंसे सदा भगवान् श्रीहरिका नामजप करते रहते हैं। उन सर्वाधार प्रभुका आधार बननेका परम सौभाग्य प्राप्त है शेषजीको। वस्तुतः शेषजी भगवान् श्रीहरिकी ही विभूति हैं; जिस समय ब्रह्माजीकी आयु—दो परार्ध बीत जाती है, उस समय कालशक्तिके प्रभावसे सारे लोक नष्ट हो जाते हैं। पंच महाभूत अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है—उस समय भगवान् श्रीहरि ही एकमात्र शेष रह जाते हैं, इसीसे उनका एक नाम 'शेष' भी है—

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः॥

भगवान् शेष सेवाभक्तिके आदर्श उदाहरण हैं। उन्होंने स्वयंको अपने प्रभुका सेवोपकरण बना दिया है। वे ही प्रभुकी शय्या हैं, वे ही प्रभुके छत्र हैं और वे ही उनके सिंहासन। प्रभु जब लीलावतार लेते हैं, तो वे भी उनकी सेवाके लिये आ जाते हैं। श्रीरामावतारमें उन्होंने अनुज लक्ष्मण बनकर सेवाका आदर्श दिखाया तो श्रीकृष्णावतारमें अग्रज संकर्षण बलरामके रूपमें उनके संरक्षणका भार वहन करनेकी लीला की। वे ही पाताललोकमें नागराज शेषनागके रूपमें कर्कोटक, तक्षक आदि नागोंसे घिरे बैठे हुए मन-वचन-शरीरके कर्मोंद्वारा भगवान् वासुदेवका जप करते रहते हैं—

वृतं कर्कोटकाद्यैस्तैः शेषं तक्षकपन्नगैः। जपन्तं वासुदेवेति वाङ्मनःकायकर्मभिः॥

(जैमिनीयाश्वमेधपर्व ३८। १८९)

चतुःसम्प्रदायाचार्य[1]

(श्री) रामानुज[2] ऊदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
बिष्नुस्वामि बोहित्थ सिंधु संसार पार करु॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।
निम्बादित्य अदित्य कुहर अग्यान जु हरिया॥
जनम करम भागवत धरम संप्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि बपु धरे (त्यों) चतुर्ब्यूह कलिजुग प्रगट॥ २८॥

१. श्रीनाभादासजीने छप्पय २७ तक सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर युगके भक्तोंका वर्णन करनेके अनन्तर २८वें छप्पयसे कलियुगके भक्तोंके पावन चरित्रोंका विवेचन प्रस्तुत किया है।

२. भक्तमालकी कतिपय प्रतियोंमें 'रामानुज' की जगह 'रामानन्द' पाठ भी मिलता है, दोनों ही ठीक हैं; क्योंकि 'श्री'सम्प्रदायके सम्वर्धक दक्षिण भारतमें श्रीरामानुजाचार्य, उत्तर भारतमें श्रीरामानन्दाचार्यजी हुए।

रमा पधति रामानुज बिष्नुस्वामि त्रिपुरारि।
निंबादित्य सनकादिका मधुकर गुरु मुखचारि॥ २९॥

जिस प्रकार पहले तीन युगोंमें भगवान्ने चौबीस अवतार धारण किये, उसी प्रकार कलियुगमें आचार्योंका चतुर्व्यूह प्रकट हुआ। जैसे—श्रीसम्प्रदायके सम्वर्धक दक्षिण भारतमें श्रीरामानुजाचार्य, उत्तर भारतमें श्रीरामानन्दाचार्यजी हुए। ये महान् उदार थे, शरणागतोंको अपनानेमें इनका दृष्टिकोण संकुचित न था। ये प्रेमामृत और ज्ञानामृतके अगाध समुद्र थे और इस पृथ्वीपर भक्तोंकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिये साक्षात् कल्पवृक्ष थे। रुद्रसम्प्रदायके सम्वर्धक आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी भवसागरमें डूबते हुए जीवोंको पार करनेके लिये जहाज थे। ब्रह्मसम्प्रदायके सम्वर्धक श्रीमध्वाचार्यजी सरोवर (सरस) और ऊसर (नीरस) हृदयवाले लोगोंके हृदयोंको भक्तिसे परिपूर्ण करनेके लिये भक्तिकी वर्षा करनेवाले मेघ थे। सनकादिक सम्प्रदायके सम्वर्धक श्रीनिम्बार्काचार्यजी अज्ञानरूपी कुहरको नष्ट करनेवाले और ज्ञानभक्तिका प्रकाश करनेवाले सूर्य थे। इन्होंने जन्म लेकर और सत्कर्मोंका स्वयं आचरण करके वैष्णवधर्मके सम्प्रदायोंकी सर्वथा अक्षय एवं सुदृढ़ स्थापना की॥ २८॥

श्रीसम्प्रदायके श्रीरामानुजाचार्य एवं श्रीरामानन्दाचार्य, रुद्रसम्प्रदायके आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी, सनकादिक सम्प्रदायके श्रीनिम्बार्काचार्य और ब्रह्म-सम्प्रदायके श्रीमध्वाचार्यजी सम्वर्धक तथा संस्थापक हुए॥ २९॥

यहाँ इन आचार्योंके विषयमें संक्षेपमें विवरण दिया जा रहा है—

श्रीरामानुजाचार्यजी

श्रीरामानुजाचार्यजी श्रीसम्प्रदायके प्रधान आचार्य हैं। भगवती महालक्ष्मी इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका हैं। श्रीरामानुजाचार्यजीका चरित्र छप्पय ३१ में विस्तारपूर्वक दिया गया है।

श्रीरामानन्दाचार्यजी

श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज श्रीरामायत या श्रीरामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य हैं। कबीर, सेन, धन्ना, रैदास आदि इनके द्वादश प्रधान शिष्य हैं। छप्पय ३६ में इनसे सम्बन्धित विवरण दिया गया है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी

धर्मराज युधिष्ठिरके संवत् २५०० व्यतीत होनेपर अर्थात् विक्रमसे ६०० वर्षपूर्व द्रविडदेशके एक क्षत्रिय राजाके मन्त्री भक्त ब्राह्मणने भगवान्‌की बड़ी आराधना करके विष्णुस्वामीको पुत्रके रूपमें प्राप्त किया था। कोई-कोई इनका समय विक्रमके बाद भी मानते हैं। भगवद्विभूतिस्वरूप होनेके कारण बचपनमें ही इनमें अलौकिक गुण प्रकट हुए थे। इनकी जैसी अद्भुत प्रतिभा थी, वैसा ही सुन्दर शरीर भी था। यज्ञोपवीत-संस्कारके अनन्तर थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण वेद-वेदांग, पुराणादिका यथावत् ज्ञान प्राप्त कर लिया। **'यो यदंशः स तं भजेत्'** के नियमानुसार अब ये परम सुखके अन्वेषणकी ओर अग्रसर हुए। इन्होंने मर्त्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकपर विचार किया, परंतु इन्हें इनके अभीष्ट वस्तुके दर्शन नहीं हुए। इनकी उपासना बहुत दिनोंतक बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ एक-सी चलती रही; परंतु अभिलाषा पूर्ण न हुई।

अब इन्होंने भगवद्वियोगमें अन्न-जलका त्याग कर दिया, परंतु भगवत्सेवा पूर्ववत् चलती रही। छः दिन बीत गये, शरीर शिथिल पड़ गया, परंतु उत्साहमें न्यूनता नहीं आयी। सातवें दिन इनकी विरह-व्यथा इतनी तीव्र हो गयी कि इन्हें एक-एक क्षण कल्पके समान जान पड़ने लगा, जीना भारस्वरूप हो गया। तब इन्होंने अपने शरीरको विरहाग्निमें जला देनेका निश्चय किया। इसी समय इनका हृदय प्रकाशसे भर

गया और भगवत्प्रेरणासे आँखें खुलनेपर इन्होंने भगवान् श्यामसुन्दरका सुर-मुनिदुर्लभ दर्शन प्राप्त किया। उस समय इनकी जो दशा हुई, वह सर्वथा अवर्णनीय है। आनन्दपूर्ण हृदयसे इन्होंने भगवान्के चरणकमलोंपर सिर रख दिया एवं पुलकित शरीरसे अश्रुधारा बहाते हुए वहीं लोटने लगे। भगवान्ने इन्हें निज करकमलोंसे उठाकर हृदयसे लगाया एवं इनके सिर तथा पीठपर हाथ फेरकर कृतार्थ किया। थोड़ी देर बाद सँभलकर अंजलि बाँधकर इन्होंने भगवान्की स्तुति की। इनके मनमें उपनिषदोंके अभिप्रायके सम्बन्धमें कुछ सन्देह था, अतः उसका निवारण करनेके लिये भगवान्ने इन्हें अपने गुह्यतम तत्त्वका रहस्य बताया। भगवान्ने कहा—'अपने मनमें इस सन्देहको तो स्थान ही मत दो कि मुझ पुरुषोत्तम भगवान्के, जो तुम्हारे सामने साकाररूपसे, साक्षात् प्रत्यक्ष होकर बात कर रहा हूँ, अतिरिक्त भी कोई दूसरा तत्त्व है। इसी साकाररूपसे एक, अद्वितीय, त्रिविधभेदशून्य अनिर्वचनीय परम तत्त्व मैं हूँ। माया, जगत् आदि कुछ नहीं, सब मैं ही हूँ। जितने विरुद्ध धर्म दीखते हैं, सब मुझमें हैं। मैं ही सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष—सब कुछ हूँ। अतः यह शंका छोड़कर सर्वभावसे मेरा ही भजन करो।'

इसके पश्चात् विष्णुस्वामीसे भगवान्की बहुत देरतक बातचीत होती रही। इन्होंने आग्रह किया कि 'अब आप अन्तर्धान न हों, सर्वदा मुझे दर्शन दिया करें या अपने साथ ले चलें।' भगवान्को तो इनसे भक्तिका प्रचार कराना था। अतः एक मूर्ति बनानेवालेको बुलाकर दर्शन दिया और वैसी ही मूर्ति बनाकर स्थापित करके अर्चा-सेवा करनेका आदेश दिया और स्वयं उसमें प्रवेश कर गये। विष्णुस्वामी उस विग्रहको साक्षात् भगवद्रूप मानकर अर्चा-पूजा करते हुए आनन्दसे जीवन बिताने लगे। ये '**श्रीकृष्ण तवास्मि**' इस मन्त्रका जप करते थे।

भगवद्दर्शन और भगवदादेशके बाद विष्णुस्वामी भक्तिके प्रचार-प्रसारमें संलग्न हो गये। एक बारकी बात है, अपने बहुत-से शिष्योंको साथ लेकर आप भक्तिका प्रचार करते हुए भगवान् जगन्नाथजीका दर्शन करने उनके धाम श्रीजगन्नाथपुरी आये। उस समय महाप्रभु जगन्नाथस्वामीका फूल-डोल महोत्सव चल रहा था, भक्त दर्शनार्थियोंकी अपार भीड़ लगी थी। आप गरुडस्तम्भके पास खड़े होकर प्रभुकी मनोरम झाँकीके दर्शन करने लगे, परंतु दर्शनार्थियोंके बढ़ते जन-सैलाबमें आपको वहाँ खड़े रह पाना सम्भव न लगा तो मन्दिरके द्वारसे हटकर आप उसके पृष्ठभागमें चले गये और वहाँ बैठकर प्रभुकी उसी मनोरम झाँकीका ध्यान करने लगे, जिसका उन्हें गरुडस्तम्भके पाससे दर्शन हुआ था।

जितनी उत्सुकता भक्तको भगवान्का दर्शन करनेकी होती है, उतनी ही उत्सुकता भगवान्को भी अपने भक्तके दर्शनकी होती है; वे तो अपने भक्तोंके पीछे-पीछे उनकी पादरेणुके लिये दौड़ते हैं। भक्त विष्णुस्वामीका मुख्य द्वारसे हटकर मन्दिरके पीछेकी ओर बैठना भगवान् जगन्नाथजीके लिये असह्य हो गया और उन्होंने उनके लिये मन्दिरके पृष्ठभागमें भी द्वार बनाकर अपना दर्शन सुलभ कर दिया। भगवान्की अहैतुकी कृपाका दर्शनकर विष्णुस्वामी भावविभोर हो गये, उनका भक्त हृदय भगवत्प्रेमसे गद्गद हो उठा। उधर दर्शनार्थियोंको जब यह ज्ञात हुआ कि मन्दिरके पृष्ठभागमें भी एक द्वार खुला है और उससे भी भगवान्के दर्शन हो सकते हैं, तो वहाँ भी सहस्रोंकी संख्यामें जनसमुदाय पहुँच गया। अब विष्णुस्वामी इधर भी अत्यन्त भीड़-भाड़ देख कुछ तो एकान्त दर्शनहेतु और कुछ भक्तोंपर कृपा करनेके उद्देश्यसे मन्दिरके दक्षिणकी ओर जाकर बैठ गये और वहीं अपने महाप्रभुका ध्यान करने लगे, फिर क्या था? मन्दिरके दक्षिण भागमें भी एक द्वार प्रकट हो गया! और विष्णुस्वामी वहाँसे प्रभुके दर्शन करने लगे। उधर मन्दिरके दक्षिणद्वारसे भी दर्शन होनेकी सूचना जब दर्शनार्थियोंमें पहुँची तो उधर भी सहस्र-सहस्र जनसमुदाय भगवान् जगन्नाथके दर्शन करने पहुँच गया। अब विष्णुस्वामीजी उठकर मन्दिरके

उत्तर भागकी ओर चले गये तो उधर भी द्वार प्रकट हो गया, इन आश्चर्यमयी घटनाओंको देख लोगोंका ध्यान विष्णुस्वामीजीकी ओर गया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि ये उच्च श्रेणीके सिद्ध सन्त महापुरुष हैं तथा इन्हींके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही अपने मन्दिरमें चारों ओर द्वार प्रकट कर दिये हैं। तब वहाँका असंख्य जनसमुदाय इनके प्रति श्रद्धावनत हो उठा और उन्होंने भी उन सबको प्रभुकी भक्तिका उपदेश दे कृतकृत्य कर दिया।

भगवत्प्रेरणासे भक्तिकी संवर्द्धना करते-करते इनकी वृद्धावस्था आ गयी, तब इन्होंने शास्त्रमर्यादाके रक्षणके लिये त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण किया और भगवच्चिन्तन करते-करते ये भगवान्‌की नित्यलीलामें प्रवेश कर गये।

शुद्धाद्वैतसिद्धान्तके मूल प्रवर्तकाचार्य श्रीविष्णुस्वामीजी हैं और इस सिद्धान्तके विशेष प्रचारक तथा प्रसारक श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुजी हैं। यह भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग भी कहलाता है।

श्रीमध्वाचार्यजी

श्रीभगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वयं वायुदेवने ही भक्ति-सिद्धान्तकी रक्षाके लिये मद्रास प्रान्तके मंगलूर जिलेके अन्तर्गत उडूपाक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर वेललि ग्राममें भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टके अंशसे तथा माता वेदवतीके गर्भसे विक्रम-संवत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमीके दिन आचार्य मध्वके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। कई लोगोंने आश्विन शुक्ला दशमीको इनका जन्मदिन माना है, परंतु वह इनके वेदान्त-साम्राज्यके अभिषेकका दिन है, जन्मका नहीं। इनके जन्मके पूर्व पुत्रप्राप्तिके लिये माता-पिताको बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी। बचपनसे ही इनमें अलौकिक शक्ति दीखती थी। इनका मन पढ़ने-लिखनेमें नहीं लगता था; अत: यज्ञोपवीत होनेपर भी ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़नेमें ही लगे रहते थे। अत: बहुत-से लोग इनके पितृदत्त नाम वासुदेवके स्थानपर इन्हें 'भीम' नामसे पुकारते थे। ये वायुदेवके अवतार थे, इसलिये यह नाम भी सार्थक ही था। परंतु इनका अवतार-उद्देश्य खेलना-कूदना तो था नहीं; अत: जब वेद-शास्त्रोंकी ओर इनकी रुचि हुई, तब थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त कर ली। जब इन्होंने संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की, तब मोहवश माता-पिताने बड़ी अड़चनें डालीं; परंतु इन्होंने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें कई चमत्कार दिखाकर, जो अबतक एक सरोवर और वृक्षके रूपमें इनकी जन्मभूमिमें विद्यमान हैं और एक छोटे भाईके जन्मकी बात कहकर, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास ग्रहण किया। यहाँपर इनका संन्यासी नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। संन्यासके पश्चात् इन्होंने वेदान्तका अध्ययन आरम्भ किया। इनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि अध्ययन करते समय ये कई बार गुरुजीको ही समझाने लगते और उनकी व्याख्याका प्रतिवाद कर देते। सारे दक्षिण देशमें इनकी विद्वत्ताकी धूम मच गयी।

एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे गंगास्नान और दिग्विजय करनेके लिये आज्ञा माँगी। ऐसे सुयोग्य शिष्यके विरहकी सम्भावनासे गुरुदेव व्याकुल हो गये। उनकी व्याकुलता देखकर अनन्तेश्वरजीने कहा कि भक्तोंके उद्धारार्थ गंगाजी स्वयं सामनेवाले सरोवरमें परसों आयँगी, अत: वे यात्रा न कर सकेंगे। सचमुच तीसरे दिन उस तालाबमें हरे पानीके स्थानपर सफेद पानी हो गया और तरंगें दीखने लगीं। अतएव आचार्यकी यात्रा नहीं हो सकी। अब भी हर बारहवें वर्ष एक बार वहाँ गंगाजीका प्रादुर्भाव होता है। वहाँ एक मन्दिर भी है।

कुछ दिनोंके बाद आचार्यने यात्रा की और स्थान-स्थानपर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ किये। इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य होता भगवद्भक्तिका प्रचार, वेदोंकी प्रामाणिकताका स्थापन, मायावादका खण्डन और मर्यादाका संरक्षण। एक जगह तो इन्होंने वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमश: तीन, दस और सौ अर्थ हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके और व्याख्या करके पण्डितमण्डलीको आश्चर्यचकित कर दिया। गीताभाष्यका निर्माण करनेके पश्चात् इन्होंने बदरीनारायणकी यात्रा की और वहाँ महर्षि वेदव्यासको अपना भाष्य दिखाया। कहते हैं

कि दुखी जनताका उद्धार करनेके लिये उपदेश, ग्रन्थनिर्माण आदिकी इन्हें आज्ञा प्राप्त हुई। बहुत-से नृपतिगण इनके शिष्य हुए, अनेक विद्वानोंने पराजित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होंने अनेक प्रकारकी योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इनके जीवनमें समय-समयपर वे प्रकट भी हुईं। इन्होंने अनेक मूर्तियोंकी स्थापना की और इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह आज भी विद्यमान हैं। श्रीबदरीनारायणमें व्यासजीने इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ भी दी थीं, जो इन्होंने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यतलमें पधरायीं।

द्वैतवादके आचार्योंमें श्रीमन्मध्वाचार्यका विशिष्ट स्थान है। आपके अनुसार समस्त पदार्थोंका मूल कारण परमात्मा हैं। उन्हींसे सारा जगत् आविर्भूत हुआ है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों अनादि हैं और इन दोनोंमें भेद है। परमात्मा स्वतन्त्र हैं और जीवात्मा परतन्त्र। आपके अनुसार श्रीहरि ही सर्वोत्तम हैं, उनकी महिमा जानते हुए अपने स्त्री-सुतादि परिवारकी अपेक्षा अधिक एवं दृढ़तर स्नेह भगवान्पर रखना ही भक्ति है। भगवान् श्रीहरिकी इसी भक्तिका प्रचार करते हुए वे एक बार अपने सहस्रों शिष्योंके साथ पांचाल राज्यमें गये। मार्गमें शिष्यगण पीछे रह गये थे, इसीलिये आचार्यश्री एक शिलापर बैठकर विश्राम करने लगे। थोड़ी ही देरमें वे भगवान् श्रीहरिके ध्यानमें मग्न हो गये और उन्हें बाह्य जगत्का किंचित् भी ज्ञान न रहा। उधरसे ही पांचालनरेशकी सवारी आनी थी, अतः सैनिक उन्हें वहाँसे हटाने लगे; परंतु समाधि-अवस्थामें होनेके कारण आचार्यश्रीको सैनिकोंके क्रिया-कलापोंका कोई ज्ञान ही नहीं था। इतनेमें हाथीपर सवार राजा भी वहाँ पहुँच गये। एक साधुवेशधारीको मार्गमें बैठे देखकर और सैनिकोंद्वारा हटानेपर भी न हटनेपर उन्हें अपना अपमान लगा। उन्होंने क्रोधमें आकर महावतको आज्ञा दी कि 'इस पाखण्डीको हाथीसे कुचल दो।' फिर क्या था, राजाकी सेनाके हाथी और घुड़सवार आचार्यश्रीको कुचलनेके लिये आगे बढ़े; परंतु सब-के-सब मूर्तिवत् स्तम्भित खड़े रह गये। एक पग भी आगे न बढ़ सके। यह देख पांचालनरेश हाथीसे कूदकर उनके चरणोंमें प्रणत हो गये और अपने सम्पूर्ण समाजसहित उनकी शिष्यता ग्रहण की।

एक बार किसी व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलाबार जा रहा था। तुलुबके पास वह डूब गया। उसमें गोपीचन्दनसे ढकी हुई एक भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर मूर्ति थी। मध्वाचार्यको भगवान्की आज्ञा प्राप्त हुई और उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उडूपिमें उसकी स्थापना की। तभीसे वह रजतपीठपुर अथवा उडूपि मध्वमतानुयायियोंका तीर्थ हो गया। एक बार एक व्यापारीके डूबते हुए जहाजको इन्होंने बचा दिया। इससे प्रभावित होकर वह अपनी आधी सम्पत्ति इन्हें देने लगा; परंतु इनके रोम-रोममें भगवान्का अनुराग और संसारके प्रति विरक्ति भरी हुई थी। ये भला, उसे क्यों लेने लगे। इनके जीवनमें इस प्रकारके असामान्य त्यागके बहुत-से उदाहरण हैं। कई बार लोगोंने इनका अनिष्ट करना चाहा और इनके लिखे हुए ग्रन्थ भी चुरा लिये, परंतु आचार्य इससे तनिक भी विचलित या क्षुब्ध नहीं हुए, बल्कि उनके पकड़े जानेपर उन्हें क्षमा कर दिया और उनसे बड़े प्रेमका व्यवहार किया। ये निरन्तर भगवच्चिन्तनमें संलग्न रहते थे। बाहरी काम-काज भी केवल भगवत्-सम्बन्धसे ही करते थे। इन्होंने उडूपिमें और भी आठ मन्दिर स्थापित किये, जिनमें श्रीसीताराम, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियाँ हैं। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपने जीवनका लाभ लेते हैं। ये अपने अन्तिम समयमें सरिदन्तर नामक स्थानमें रहते थे। यहींपर उन्होंने परम धामकी यात्रा की। देहत्यागके अवसरपर पूर्वाश्रमके सोहन भट्टको—अब जिनका नाम पद्मनाभतीर्थ हो गया था—श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर अपने मतके प्रचारकी आज्ञा कर गये। इनके शिष्योंके द्वारा अनेक मठ स्थापित हुए तथा इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थोंका प्रचार होता रहा।

श्रीमदाचार्यके बनाये अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें गीताभाष्य, दशोपनिषद्भाष्य, ब्रह्मसूत्रतात्पर्यबोधक अनुव्याख्यान, ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य, भागवत-भारत-गीतातात्पर्यनिर्णय, श्रीकृष्णामृतमहार्णव आदि मुख्य हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी

वैष्णवोंके प्रमुख चार सम्प्रदायोंमेंसे एक सम्प्रदाय है द्वैताद्वैत या निम्बार्क-सम्प्रदाय। निश्चितरूपसे यह मत बहुत प्राचीनकालसे चला आ रहा है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने परम्पराप्राप्त इस मतको अपनी प्रतिभासे उज्ज्वल करके लोक-प्रचलित किया, इसीसे इस द्वैताद्वैत मतकी निम्बार्क-सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्धि हुई।

भक्तोंके मतसे द्वापरमें और सम्प्रदायके कुछ विद्वानोंके मतसे विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें श्रीनिम्बार्काचार्यजीका प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण भारतमें वैदूर्यपत्तन परम पवित्र तीर्थ है। इसे दक्षिणकाशी भी कहते हैं। यही स्थान श्रीएकनाथजीकी जन्मभूमि है। यहीं अरुणमुनिजीका अरुणाश्रम था। श्रीअरुणमुनिजीकी पत्नी जयन्तीदेवीकी गोदमें जिस दिव्य कुमारका आविर्भाव हुआ, उसका नाम पहले नियमानन्द हुआ और यही आगे श्रीनिम्बार्काचार्यजीके नामसे प्रख्यात हुए।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके जीवनवृत्तके विषयमें इससे अधिक ज्ञात नहीं है। वे कब गृह त्यागकर व्रजमें आये, इसका कुछ पता नहीं है। व्रजमें श्रीगिरिराज गोवर्धनके समीप ध्रुवक्षेत्रमें उनकी साधना-भूमि है। एक दिन समीपके स्थानसे एक दण्डी महात्मा आचार्यके समीप पधारे। दो शास्त्रज्ञ महापुरुष परस्पर मिले तो शास्त्रचर्चा चलनी स्वाभाविक थी। समयका दोमेंसे किसीको ध्यान नहीं रहा। सायंकालके पश्चात् आचार्यने अतिथि यतिसे प्रसाद ग्रहण करनेके लिये निवेदन किया। सूर्यास्त होनेके पश्चात् नियमतः यतिजी भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे। उन्होंने असमर्थता प्रकट की। परंतु आचार्यजी नहीं चाहते थे कि उनके यहाँ आकर एक विद्वान् अतिथि उपोषित रहें। आश्रमके समीप एक नीमका वृक्ष था, सहसा उस वृक्षपरसे चारों ओर प्रकाश फैल गया। ऐसा लगा, जैसे नीमके वृक्षपर सूर्यनारायण प्रकट हो गये हैं। कोई नहीं कह सकता कि आचार्यके योगबलसे भगवान् सूर्य वहाँ प्रकट हो गये थे या श्रीकृष्णचन्द्रका कोटिसूर्यसमप्रभ सुदर्शन चक्र, जिसके आचार्य मूर्त अवतार थे, प्रकट हो गया था। अतिथिके प्रसाद ग्रहण कर लेनेपर सूर्यमण्डल अदृश्य हो गया। इस घटनासे आचार्य निम्बादित्य या निम्बार्क नामसे विख्यात हुए। आचार्यका वह आश्रम 'निम्बग्राम' कहा जाता है। यह गोवर्धनके समीपका निम्बग्राम है, माटके समीपका नीमगाँव नहीं। वे यतिजी उस समय जहाँ आश्रम बनाकर रहते थे, वहाँ आज यतिपुरा नामक ग्राम है।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

निम्बादित्य नाम जाते भयो अभिराम कथा आयो एक दण्डी ग्राम न्यौतो करि आये हैं।
पाक को अबार भई सन्ध्या मानि लई जती रती हूँ न पाऊँ वेद वचन सुनाये हैं॥
आँगन में नींब तापै आदित दिखायौ ताहि भोजन करायो पाछे निशि चिन्ह पाये हैं।
प्रगट प्रभाव देखि जान्यो भक्ति भाव जग दांव पाइ नांव पर्‍यो हर्‍यो मन गाये हैं॥ १०६॥

श्रीनिम्बार्काचार्यजीका वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य 'वेदान्तसौरभ' और 'वेदान्तकामधेनु' अथवा 'दशश्लोक'— ये दो ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त हैं। इनके अतिरिक्त कृष्णस्तवराज, वेदान्ततत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप, स्वधर्माध्वबोध, ऐतिह्यतत्त्वसिद्धान्त, राधाष्टक आदि कई ग्रन्थ आचार्यके लिखे बताये जाते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यजीके शिष्योंमें एक नाम श्रीऔदुम्बराचार्यजीका भी प्राप्त होता है। इनके उत्पत्तिकी कथा बड़ी ही विलक्षण सुननेमें आती है। कहा जाता है कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज भक्तिका प्रचार करते-करते किसी ऐसे देशमें पहुँच गये, जहाँके लोग भगवद्भक्तिसे विमुख थे। उन लोगोंने आचार्यश्रीके साधुवेशको देखकर

उनके साथ उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करना शुरू कर दिया, परंतु उनकी आशाके विपरीत आचार्यश्री शान्त ही रहे और तनिक भी क्रोधित नहीं हुए। आचार्यश्रीने वहीं स्थित एक गूलरके वृक्षके नीचे आसन लगा लिया और ध्यानस्थ हो गये। दुष्टजनोंको अब और अच्छा मौका मिल गया था; वे तरह-तरहके उपद्रव करते रहे। सहसा एक गूलरका फल वृक्षसे टूटकर आचार्यश्रीके चरणोंपर गिरा और उनके श्रीचरणोंसे स्पर्श होते ही एक दिव्य मानवाकृतिमें परिवर्तित हो गया तथा आचार्यश्रीकी वन्दना करते हुए उनके चरणोंमें प्रणिपात करने लगा।

इस अलौकिक घटनाको देखकर उन भगवद्विमुख दुष्टजनोंके होश उड़ गये। उन्होंने समझ लिया कि ये कोई सिद्ध महापुरुष हैं, इनकी हँसी उड़ाना या इन्हें किसी प्रकारसे अपमानित करना उचित नहीं है। इस घटनाकी खबर शीघ्र ही जंगलकी आगकी तरह चारों तरफ फैल गयी और उस भगवद्भक्तिविमुख देशके लोग भी आचार्यश्रीके शिष्य हो गये। उदुम्बर (गूलर) फलसे उत्पन्न होनेके कारण उस दिव्य पुरुषका आचार्यश्रीने औदुम्बराचार्य नाम रखा और उसे भक्तितत्त्वका उपदेश देकर भगवद्विमुख जीवोंका उद्धार करनेका आदेश दिया।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी तथा उनकी परम्पराके अधिकांश आचार्योंकी यह प्रधान विशेषता रही है कि उन्होंने दूसरे आचार्योंके मतका खण्डन नहीं किया है। श्रीदेवाचार्यजीने ही अपने ग्रन्थोंमें अद्वैतमतका खण्डन किया है। श्रीनिम्बार्काचार्यजीने प्रस्थानत्रयीके स्थानपर प्रस्थानचतुष्टयको प्रमाण माना और उसमें भी चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवतको परम प्रमाण स्वीकार किया। अनेक वीतराग, भावुक भगवद्भक्त इस परम्परामें सदा ही रहे हैं।

श्रीसम्प्रदायके आचार्य

बिष्वकसेन मुनिबर्य सुपुनि सठकोप प्रनीता।
बोपदेव भागवत लुप्त उधर्‍यौ नवनीता॥
मंगल मुनि श्रीनाथ पुंडरीकाच्छ परम जस।
राममिश्र रस रासि प्रगट परताप परांकुस॥
जामुन मुनि रामानुज तिमिर हरन उदय भान।
सँप्रदाय सिरोमनि सिंधुजा रच्यो भक्ति बित्तान॥ ३०॥

समुद्रसुता श्रीलक्ष्मीजीने सभी सम्प्रदायोंमें श्रेष्ठ श्रीसम्प्रदायको भक्तिके मण्डपके समान बनाया, जिसके नीचे (पास) आकर त्रयतापसे तपे प्राणियोंने शरण पायी। भगवान्‌के पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी श्रीलक्ष्मीजीके अनुयायी हुए। पश्चात् मुनिश्रेष्ठ श्रीशठकोपजी, जिनके द्वारा पवित्र श्रीसम्प्रदाय परिवर्धित हुआ। फिर श्रीबोपदेवजी हुए, जिन्होंने श्रीमद्भागवतरूपी मक्खनको प्रकट किया। पश्चात् मंगलकारी श्रीनाथमुनि, उसके बाद परम यशस्वी श्रीपुण्डरीकाक्षजी, तदनन्तर भक्तिरसके समूह श्रीराममिश्रजी हुए। फिर परांकुशाचार्यजी, जिनका प्रताप संसारमें प्रकट है। उनके बाद श्रीयामुनाचार्यजी और फिर अज्ञानरूपी अन्धकारको हरनेवाले सूर्यके समान श्रीरामानुजाचार्यजी हुए॥ ३०॥

श्रीसम्प्रदायके इन आचार्योंमेंसे कुछका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीविष्वक्सेनजी

श्रीविष्वक्सेनजी श्रीभगवान्‌के प्रधान पार्षद हैं तथा पंचरात्रादि आगमरूप भी कहे गये हैं— **'विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः॥'** (श्रीमद्भा० १२। ११। २०) भगवान् विष्णुके पार्षदोंमें इनका वही स्थान है, जो शिवगणोंमें श्रीगणेशजीका। इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका भगवती लक्ष्मीने सर्वप्रथम

इन्हींको श्रीनारायण-मन्त्रकी दीक्षा दी थी। विष्वक्सेनजी भगवान् विष्णुके निर्माल्यधारी कहे जाते हैं। वे चतुर्भुज हैं। उनके हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म रहते हैं। वे श्वेत पद्मपर विराजमान रहते हैं। 'बँ' बीजमन्त्रसे उनकी पूजा होती है। ये भगवान् विष्णुकी पूजा-सपर्यामें सदा संलग्न रहते हैं। भगवान् विष्णुके विशेष पूजनमें इनका भी साथमें पूजन होता है। भगवद्भक्तोंपर इनका बड़ा ही अनुग्रह रहता है।

श्रीशठकोपाचार्य

तमिल वैष्णव सन्तोंमें महात्मा शठकोपका स्थान बहुत ऊँचा और आदरके योग्य गिना जाता है। इनका तमिल नाम नम्मालवार है और तमिल इन्हें जन्मसिद्ध वैष्णव मानते हैं। इनके प्रसिद्ध नाम शठकोपन् और मारन् भी हैं। ये भगवान् विष्णुके प्रमुख पार्षद विष्वक्सेनके अवतार माने जाते हैं।

शठकोपके पिताका नाम करिमारन् था। ये पाण्ड्यदेशके राजाके यहाँ किसी ऊँचे पदपर थे और आगे चलकर कुरुगनाडु नामक छोटे राज्यके राजा हो गये, जो पाण्ड्यदेशके ही अधीन था। शठकोपका जन्म अनुमानतः तिरुक्कुरुकूर नामक नगरमें हुआ था, जो तिरुनेल्वेली जिलेमें ताम्रपर्णी नदीके तटपर अवस्थित था। इनके सम्बन्धमें यह कथा प्रचलित है कि जन्मके बाद दस दिनतक इन्हें भूख, प्यास कुछ भी नहीं लगी। यह देखकर इनके माता-पिताको बड़ी चिन्ता हुई। वे इसका रहस्य कुछ भी नहीं समझ सके। अन्तमें यही उचित समझा गया कि इन्हें भगवान्‌के मन्दिरमें ले जाकर वहीं छोड़ दिया जाय। बस, इस निर्णयके अनुसार इन्हें स्थानीय मन्दिरमें एक इमलीके वृक्षके नीचे छोड़ दिया गया। तबसे लेकर सोलह वर्षकी अवस्थातक बालक नम्मालवार उसी इमलीके पेड़के कोटरमें योगकी प्रक्रियासे ध्यान और भगवान् श्रीहरिके साक्षात्कारमें लगे रहे। नम्मालवारकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी। तिरुक्कोईलूर नामक स्थानके एक ब्राह्मण, जो मधुर कविके नामसे विख्यात थे, उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ ये बालक भक्त अपने भगवान् श्रीनारायणका ध्यान कर रहे थे।

इतिहास यह है कि जब नम्मालवारजी ध्यानमें मग्न थे, दयामय भगवान् नारायण उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें **'ॐ नमो नारायणाय'** इस अष्टाक्षर मन्त्रकी दीक्षा दी। बालक शठकोप पहलेसे ही विशेष शक्तिसम्पन्न थे और अब तो वे महान् आचार्य तथा धर्मके उपदेष्टा हो गये। कहते हैं कि नम्मालवार पैंतीस वर्षकी अवस्थातक इस मर्त्यलोकमें रहे और इसके बाद उन्होंने अपने भौतिक विग्रहको त्याग दिया। कहा जाता है, इनके जीवनका अधिकांश भाग राधाभावमें बीता। वे सर्वत्र सब समय सारी परिस्थितियों और घटनाओंमें अपने इष्टदेवमें ही रमे रहते। ये भगवान्‌के विरहमें रोते, चिल्लाते, नाचते, गाते और मूर्छित हो जाते थे। इसी बीचमें इन्होंने कई भक्तिभावपूर्ण धार्मिक ग्रन्थोंकी रचना की, जो बड़े विचारपूर्ण, गम्भीर और भगवत्प्रेरित जान पड़ते हैं। इनके प्रधान ग्रन्थोंके नाम तिरुविरुत्तम्, तिरुवाशिरियम्, पेरिय तिरुबन्त और तिरुवाय्मोलि हैं। महात्मा शठकोपके ये चार ग्रन्थ चार वेदोंके तुल्य माने जाते हैं। इन चारोंमें भगवान् श्रीहरिकी लीलाओंका वर्णन है और ये चारों-के-चारों भगवत्प्रेमसे ओतप्रोत हैं। ग्रन्थकारने अपनेको प्रेमिकाके रूपमें व्यक्त किया है और श्रीहरिको प्रियतम माना है। तिरुविरुत्तम्‌में आदिसे अन्ततक यही भाव भरा हुआ है। इनके ग्रन्थोंमेंसे अकेले तिरुवाय्मोलिमें, जिसका अर्थ है—पवित्र उपदेश, हजारसे ऊपर पद हैं। दक्षिणके वैष्णवोंके प्रधान ग्रन्थ दिव्यप्रबन्धम्‌के चतुर्थांशमें इसीके पद संगृहीत हैं। मन्दिरोंमें धार्मिक साहित्यमें तिरुवाय्मोलिका अपना निराला ही स्थान है। वहाँ इसके पाठका महत्त्व उतना ही माना जाता है, जितना वेदाध्ययन और वेदपाठका; क्योंकि इसमें वेदका सार भर दिया गया है।

श्रीबोपदेवजी

श्रीनाभादासजीने श्रीसम्प्रदायके आचार्योंमें श्रीबोपदेवजीका नाम बड़े ही आदरभावसे लिया है और इन्हें लुप्त भागवतका उद्धारकर्ता बताया है। बोपदेवजी महान् भगवद्भक्त तथा परम वैष्णव सन्त थे। इनका समय तेरहवीं शती है। ये धर्मशास्त्रके महान् निबन्ध ग्रन्थ 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के प्रणेता हेमाद्रिके सभासद् थे और हेमाद्रि देवगिरिके राजा रामचन्द्रके मन्त्री थे। मन्त्रिप्रवर हेमाद्रिकी प्रसन्नताके लिये श्रीबोपदेवने भागवत-धर्मप्रधान अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। भागवततत्त्वका वर्णन करनेके लिये उन्होंने जिन तीन ग्रन्थोंका निर्माण किया, उनके नाम हैं—'परमहंसप्रिया', 'हरिलीलामृत' और 'मुक्ताफल'। हरिलीलामृतका ही दूसरा नाम भागवतानुक्रमणिका है। इसमें सम्पूर्ण भागवतका सारांश आ गया है। परमहंसप्रिया—इनके द्वारा की गयी भागवतकी संस्कृत टीका है। इन्हीं ग्रन्थोंके आधारपर कुछ लोगोंने यह धारणा बना ली है कि श्रीमद्भागवत बोपदेवकी रचना है, व्यासदेवजीकी नहीं। वस्तुतः श्रीमद्भागवत अठारह पुराणोंके कर्ता भगवान् वेदव्यासजीकी ही रचना है।

श्रीबोपदेवजी भगवान्‌के परम भक्त थे। भगवान्‌के मंगलमय नाम तथा उनके गुणों एवं लीलाओंके चिन्तनमें ये सदा निमग्न रहते थे। इनका पाण्डित्य महान् था। इनकी रचना कवित्तकल्पद्रुमके वर्णनसे पता चलता है कि ये द्रविड़ ब्राह्मण थे और इनके पिताका नाम धनेश्वर था। बोपदेवजीने २६ ग्रन्थोंकी रचना की है। भागवतधर्मके प्रचार-प्रसार तथा भगवद्भक्तिकी प्रतिष्ठामें इनका महान् योगदान है। ये भगवत्प्रेमी सच्चे सन्त थे।

श्रीनाथमुनिजी

श्रीसम्प्रदायके आचार्योंमें परिगणित मुनित्रयमें श्रीनाथमुनिजीका अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। आप वेदशास्त्र-पुराणादिके प्रकाण्ड विद्वान्, सिद्ध और जीवन्मुक्त महात्मा थे। आपका जन्म द्रविड़देशके चिदम्बरम् क्षेत्रके तिरुनारायणपुरम् (कारटुमन्नार, वर्तमान वीरना-रायणपुरम्)-में हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीईश्वरभट्टर था। आपका विवाह वंगीपुराचार्यकी पुत्री अरविन्दजासे हुआ, जिससे ईश्वरमुनिका जन्म हुआ। ईश्वरमुनिके पुत्र श्रीयामुनाचार्यजी हुए, जिन्हें श्रीसम्प्रदायके आचार्योंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। श्रीनाथमुनिको ब्रजभूमि और यमुनातट विशेष प्रिय था, इसीलिये उन्होंने अपने पौत्रका नाम यामुन रखा।

श्रीनाथमुनिने उत्तर भारतके अनेक तीर्थोंकी यात्रा की और व्रजकी प्रेमलक्षणा नारदीय भक्तिका दक्षिणमें व्यापक प्रचार किया। आपने आलवारोंके प्रबन्धोंकी खोजके लिये भी अनेक यात्राएँ कीं। आप सिद्धयोगी थे, समाधि-अवस्थामें आपको श्रीशठकोपाचार्यजीका साक्षात्कार हुआ था और उनके कृपाप्रसादसे चार हजार दिव्य प्रबन्धोंकी आपको प्राप्ति हुई थी। समाधि-अवस्थामें ही आपने श्रीशठकोपजीसे वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की और रहस्यार्थसहित मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया। आपके ही प्रयत्नोंसे श्रीरंगम्‌में भगवान्‌के मन्दिरमें आलवार भक्तोंके पद्योंके संगीतमय गायनका प्रारम्भ हुआ।

श्रीपुण्डरीकाक्षजी

श्रीपुण्डरीकाक्षजी महाराज परम वैष्णव अमानी सन्त थे। आप श्रीनाथमुनिके प्रिय शिष्य थे। ***'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।'***—यह आपके जीवनका सिद्धान्त था। आप कहते थे कि दूसरोंके दोषोंको छिपाने और अपने दोषोंको प्रकट करनेसे मानसिक दुर्बलताएँ दूर होती हैं तथा निजधर्ममें दृढ़ता होती है। श्रीनाथमुनिके शिष्य और प्रकाण्ड विद्वान् श्रीश्रीराममिश्रजी आपके समकालीन ही थे और आपमें बड़ा आदरभाव रखते थे। जीवनकी अनेक समस्याओंका समाधान पानेके लिये श्रीमिश्रजी श्रीपुण्डरीकाक्षजीके पास आते थे और उनसे भक्तिपूर्ण सम्यक् समाधान प्राप्त करते थे।

श्रीराममिश्रजी

श्रीराममिश्रजी श्रीयामुनाचार्यजीके पितामह श्रीनाथमुनिजीके अत्यन्त प्रिय कृपापात्र एवं विश्वासपात्र शिष्य थे। यहाँतक कि श्रीनाथमुनिजीने अपने अन्तिम समयमें इन्हींको श्रीयामुनाचार्यजीकी जिम्मेदारी दी थी; क्योंकि यामुनाचार्यजीके पिता ईश्वरमुनिका पहले ही परमधामगमन हो चुका था। श्रीमिश्रजी बड़े ही विद्वान् और सदाचारी थे, वे सबमें सर्वव्यापी परमात्माका दर्शन करते थे।

श्रीयामुनाचार्यजी

श्रीयामुनाचार्य महान् भक्त, भगवान्‌के परम विश्वासी और विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके प्रचारक थे। आपका जन्म संवत् १०१० वि० में मदुरामें हुआ था। श्रीवैष्णवसम्प्रदायके आचार्य नाथमुनिके पुत्र ईश्वरमुनि आपके पिता थे। पिताकी मृत्युके समय आपकी अवस्था मात्र दस सालकी थी। पितामहके संन्यास ले लेनेपर आपका पालन-पोषण दादी और माताकी देख-रेखमें हुआ। आप बाल्यावस्थासे ही अद्‌भुत प्रतिभाशाली और विद्वान् थे। आपका स्वभाव बहुत मधुर, प्रेममय और उदार था। पाण्ड्यराजके महापण्डित कोलाहलको शास्त्रार्थमें परास्त करनेके उपलक्ष्यमें महारानीने आपको आधा राज्य सौंप दिया था, साथ ही 'आलवन्दार' की उपाधिसे विभूषित किया था। श्रीयामुनाचार्यजी और महापण्डित कोलाहलमें हुए शास्त्रार्थकी बड़ी रोचक कथा है, जो इस प्रकार है—

राजा पाण्ड्यके राज्यमें कोलाहल नामक एक विद्वान् थे, उन्होंने शास्त्रार्थमें अनेक पण्डितोंको हराया था, अतः उन्हें 'महापण्डित' का राजसम्मान प्राप्त था। राजाको शास्त्रार्थ सुनने और कोलाहलको विद्वान् पण्डितोंको हराकर अपमानित करनेमें विशेष आनन्द आता था। इधर श्रीयामुनमुनिकी विद्वत्ताकी भी ख्याति फैल रही थी, जो राजा पाण्ड्यके कानोंतक पहुँची। उन्हें अपने महापण्डितपर विश्वास था ही, अतः कौतूहलवशात् उन्होंने श्रीयामुनमुनिजीको कोलाहलसे शास्त्रार्थ करनेके लिये आमन्त्रित किया और आनेके लिये पालकी भेजी।

श्रीयामुनाचार्यजी जब पालकीपर बैठे आ रहे थे तो राजा-रानीने उन्हें महलके झरोखेसे देखा। रानीको आचार्यश्रीके चेहरेपर दिव्य तेज दिखायी पड़ा। उन्होंने महाराजसे कहा कि ये कोई दिव्य महापुरुष हैं, कोलाहल पण्डित इनसे जीत नहीं पायेंगे। राजाको अपने राज-पण्डितकी विद्वत्ता और पाण्डित्यपर बहुत गर्व था, अतः उन्होंने रानीकी बातका प्रतिवाद करते हुए कहा कि महापण्डित कोलाहल इन्हें जरूर हरा देंगे। रानीने अपनी बातपर जोर देते हुए कहा—महाराज! यदि कोलाहल पण्डित इन्हें हरा देंगे तो मैं रानीके स्थानपर आपकी दासी बन जाऊँगी और यदि ये महापुरुष विजयी हुए तो आपको इन्हें अपना आधा राज्य देना होगा। राजाने शर्त स्वीकार कर ली।

समयपर राजा पाण्ड्यका दरबार लगा। दोनों पण्डित आमने-सामने अपने-अपने आसनपर विराजमान हो गये। कोलाहलने घमण्डमें भरकर आचार्यश्रीसे कहा कि आप जो कुछ भी कहेंगे, मैं उसका खण्डन कर दूँगा। इसपर श्रीयामुनाचार्यजी महाराजने कहा कि मैं तीन बातें कह रहा हूँ, इनमेंसे यदि किसी एकका भी तुम खण्डन कर दोगे तो मैं तुम्हारा शिष्य हो जाऊँगा। यह कहकर उन्होंने कोलाहल पण्डितसे निम्नलिखित तीन बातें कहीं—(१) तुम्हारी माता काकवन्ध्या है, (२) राजा पाण्ड्य बड़े ही नीतिनिपुण और धर्मज्ञ हैं तथा (३) रानीजी बड़ी ही पतिव्रता और साधु स्वभाववाली हैं।

इन बातोंको सुनकर पण्डित कोलाहल अवाक् रह गये, उनकी समझमें न आया कि इन बातोंका खण्डन कैसे करें? क्योंकि वे अपनी माताके एकमात्र पुत्र थे, अतः माताके काकवन्ध्या होनेवाली बात सत्य ही

थी। शेष दो बातोंके खण्डन करनेका अर्थ था राजा-रानीपर दोष लगाना, यह भी उनके लिये सम्भव नहीं था; अतः उन्होंने मौन रहकर हार स्वीकार कर ली।

यामुनाचार्य जब पैंतीस सालके हुए तो अपने देहावसान-कालमें नाथमुनिने अपने शिष्यप्रवर राममिश्रसे कहा—'ऐसा न हो कि यामुन राजकार्यमें ही अपना अमूल्य समय बिता दें, विषय-भोगमें ही उनकी आयु बीत जाय।' नाथमुनिके देहावसानके बाद राममिश्र यामुनको उनकी सम्पत्तिका अधिकार सौंपनेके लिये ले जा रहे थे। रास्तेमें श्रीरंगके मन्दिरमें दर्शनके निमित्त आनेपर यामुनके हृदयमें सहसा भक्तिका स्रोत उमड़ आया। उनके हृदयमें पूर्ण और अखण्ड वैराग्यका उदय हुआ, माया और राज्यभोगकी प्रवृत्तिका नाश हो गया। उन्होंने शुद्ध हृदयसे भगवान् श्रीरंगकी स्तुति की—'परमपुरुष! मुझ अपवित्र, उद्दण्ड, निष्ठुर और निर्लज्जको धिक्कार है, जो स्वेच्छाचारी होकर भी आपका पार्षद होनेकी इच्छा करता है। आपके पार्षदभावको बड़े-बड़े योगीश्वरोंके अग्रगण्य तथा ब्रह्मा, शिव और सनकादि भी पाना तो दूर रहा, मनमें सोच भी नहीं सकते।' उन्होंने अत्यन्त सादगी और विनम्रतासे कहा कि 'आपके दास्यभावमें ही सुखका अनुभव करनेवाले सज्जनोंके घरमें मुझे कीड़ेकी भी योनि मिले, पर दूसरोंके घरमें मुझे ब्रह्माजीकी भी योनि न मिले।' वे भगवान् श्रीरंगके पूर्ण भक्त हो गये, उनके अधरोंपर भक्तिकी रसमयी वाणी विहार करने लगी।

श्रीयामुनाचार्यने भगवान्‌को पूर्ण पुरुषोत्तम माना, जीवको अंश और ईश्वरको अंशीके रूपमें निरूपित किया। जीव और ईश्वर नित्य पृथक् हैं। उन्होंने कहा कि जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें परिणत है। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म जगत्‌के आत्मा हैं। आत्मा और शरीर अभिन्न हैं। इसलिये जगत् ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म सविशेष—सगुण, अशेष कल्याणगुणगणसागर सर्वनियन्ता हैं। जीव स्वभावसे ही उनका दास है, भक्त है; भक्ति जीवका स्वधर्म है, आत्मधर्म है। भक्ति शरणागतिका पर्याय है। भगवान् अशरण-शरण हैं।

यामुनाचार्य श्रीरामानुजके परमगुरु थे। स्तोत्ररत्न, सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य और गीतार्थसंग्रह उनके ग्रन्थरत्न हैं। उनका आलवंदारस्तोत्र बड़ा ही मधुर है। यामुनाचार्यने आजीवन भगवान्‌से अनन्य-भक्तिका ही वरदान माँगा। उनके लिये भगवान् ही परमाश्रय थे। उन्हींके चरणोंकी शरण लेनेमें उन्हें बन्धनमुक्ति दीख पड़ी। वे अपने समयके महान् दार्शनिक, अनन्य भक्त और विचारक थे। यामुनाचार्यने महाप्रयाणकालमें श्रीरामानुजाचार्यको याद किया, परंतु उनके पहुँचनेसे पहले ही वे दिव्यधामको पधार गये। उनकी तीन अंगुलियाँ उठी रह गयीं। वे ही उनके मनमें रही तीन कामनाएँ थीं, जिनको श्रीरामानुजाचार्यने पूर्ण किया।

श्रीरामानुजाचार्यजी एवं श्रीकूरेशाचार्यजी

गोपुर ह्वै आरूढ ऊँच स्वर मंत्र उचार्‌यो।
सूते नर परे जागि बहत्तरि श्रवननि धार्‌यो॥
तितनेई गुरुदेव पधति भइँ न्यारी न्यारी।
कुर तारक सिष्य प्रथम भक्ति बपु मंगलकारी॥
कृपनपाल करुना समुद्र रामानुज सम नहिं बियो।
सहस आस्य उपदेस करि जगत उद्धरन जतन कियो॥ ३१॥

सहस्र मुखवाले शेष भगवान्‌के अवतार श्रीरामानुजाचार्यजीने भक्तिपथका उपदेश देकर संसारके

उद्धारका महान् प्रयत्न किया। गुरुदेवने मन्त्र देकर जिसे गुप्त रखनेके लिये कहा था, उसका श्रीरामानुजाचार्यजीने मन्दिर-द्वारके सबसे ऊँचे भागपर चढ़कर ऊँचे स्वरसे उच्चारण किया, ताकि सभी लोग श्रवण कर सकें। मन्त्रध्वनिको सुनकर सोये हुए लोग जग पड़े और बहत्तर भक्तोंने उसे सुनकर हृदयमें धारण कर लिया। इसलिये अलग-अलग बहत्तर पद्धतियाँ हुईं। इनके शिष्योंमें कुरुतारकजी प्रधान थे, जो जीवोंका मंगल करनेवाले और भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप थे। दीन एवं शरणागतोंका पालन करनेवाले करुणाके समुद्र श्रीरामानुजाचार्यके समान दूसरा कोई नहीं हुआ॥ ३१॥

श्रीरामानुजाचार्यजी एवं श्रीकुरुतारकजी (श्रीकूरेशाचार्यजी)-से सम्बन्धित संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीरामानुजाचार्यजी

श्रीरामानुजाचार्य बड़े ही विद्वान्, सदाचारी, धैर्यवान्, सरल एवं उदार थे। ये आचार्य आलवन्दार (यामुनाचार्य)-की परम्परामें थे। इनके पिताका नाम केशवभट्ट था। ये दक्षिणके तिरुकुदूर नामक क्षेत्रमें रहते थे। जब इनकी अवस्था बहुत छोटी थी, तभी इनके पिताका देहान्त हो गया और इन्होंने कांचीमें जाकर यादवप्रकाश नामक गुरुसे वेदाध्ययन किया। इनकी बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि ये अपने गुरुकी व्याख्यामें भी दोष निकाल दिया करते थे। इसीलिये गुरुजी इनसे बड़ी ईर्ष्या करने लगे, यहाँतक कि वे इनके प्राण लेनेतकको उतारू हो गये। उन्होंने रामानुजके सहाध्यायी एवं चचेरे भाई गोविन्दभट्टसे मिलकर यह षड्यन्त्र रचा कि गोविन्दभट्ट रामानुजको काशीयात्राके बहाने किसी घने जंगलमें ले जाकर वहीं उनका काम तमाम कर दें। गोविन्दभट्टने ऐसा ही किया, परंतु भगवान्‌की कृपासे एक व्याध और उसकी स्त्रीने इनके प्राणोंकी रक्षा की।

विद्या, चरित्रबल और भक्तिमें रामानुज अद्वितीय थे। इन्हें कुछ योगसिद्धियाँ भी प्राप्त थीं, जिनके बलसे इन्होंने कांचीनगरीकी राजकुमारीको प्रेतबाधासे मुक्त कर दिया। इस सन्दर्भमें बड़ी ही रोचक कथा है, जिससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको जीवनमें जो कुछ प्राप्त होता है—वह केवल अपने पुरुषार्थसे ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि उसके पीछे ईश्वरकृपा भी होती है। अत: मनुष्यको जो कुछ भी धन, विद्या आदिके रूपमें प्राप्त हो; उसे अन्यमें भी बाँटते रहना चाहिये। कांचीनरेशकी राजकुमारी जिस ब्रह्मराक्षससे आविष्ट थी, वह पूर्वजन्ममें एक विद्वान् ब्राह्मण था, परंतु उसने जीवनमें किसीको भी विद्यादान नहीं दिया, फलस्वरूप ब्रह्मराक्षस हुआ। राजकुमारीको प्रेतबाधासे मुक्ति दिलानेके लिये अनेक मन्त्रज्ञ बुलाये गये, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। नरेशका आमन्त्रण पाकर रामानुजके गुरु यादवप्रकाशजी भी शिष्योंके साथ कांची आये। उन्होंने जैसे ही मन्त्र-प्रयोग प्रारम्भ किया, तुरंत ही ब्रह्मराक्षसने राजकुमारीके मुखसे कहा—तू जीवनभर मन्त्रपाठ करे तो भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हाँ, यह तेरा शिष्य रामानुज यदि मेरे मस्तकपर अपना अभय कर रख दे तो मैं इस प्रेतत्वसे मुक्त हो जाऊँगा।

श्रीरामानुजजीने आगे बढ़कर जैसे ही राजकुमारीके मस्तकपर भगवान्‌का स्मरण करते हुए हाथ रखा, राजकुमारी स्वस्थ हो गयी और उसे पीड़ित करनेवाला ब्रह्मराक्षस उस कुत्सित योनिसे मुक्त हो गया।

जब महात्मा आलवन्दार मृत्युकी घड़ियाँ गिन रहे थे, उन्होंने अपने शिष्यके द्वारा रामानुजाचार्यको अपने पास बुलवा भेजा। परंतु रामानुजके श्रीरंगम् पहुँचनेके पहले ही आलवन्दार (यामुनाचार्य) भगवान् नारायणके धाममें पहुँच चुके थे। रामानुजने देखा कि श्रीयामुनाचार्यके हाथकी तीन उँगलियाँ मुड़ी हुई हैं। इसका कारण कोई नहीं समझ सका। रामानुज तुरंत ताड़ गये कि यह संकेत मेरे लिये है। उन्होंने यह जान लिया कि

श्रीयामुनाचार्य मेरेद्वारा ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम और आलवन्दारोंके 'दिव्यप्रबन्धम्' की टीका करवाना चाहते हैं। उन्होंने आलवन्दारके मृत शरीरको प्रणाम किया और कहा—'भगवन्! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, मैं इन तीनों ग्रन्थोंकी टीका अवश्य लिखूँगा अथवा लिखवाऊँगा।' रामानुजके यह कहते ही आलवन्दारकी तीनों उँगलियाँ सीधी हो गयीं। इसके बाद श्रीरामानुजने आलवन्दारके प्रधान शिष्य पेरियनाम्बिसे विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा ली और वे भक्तिमार्गमें प्रवृत्त हो गये।

रामानुज गृहस्थ थे; परंतु जब उन्होंने देखा कि गृहस्थीमें रहकर अपने उद्देश्यको पूरा करना कठिन है, तब उन्होंने गृहस्थका परित्याग कर दिया और श्रीरंगम् जाकर यतिराज नामक संन्यासीसे संन्यासकी दीक्षा ले ली। श्रीरामानुजाचार्यजीके संन्यास-ग्रहणकी घटना भी बड़ी विलक्षण है, जिससे यह सिद्ध होता है कि साधकके जीवनमें आनेवाली प्रतिकूलताएँ उसके अध्यात्म-पथपर आगे बढ़नेके लिये सोपान बनती हैं। आचार्यश्रीकी पत्नी इनसे ठीक प्रतिकूल स्वभावकी थीं। श्रीरामानुजाचार्यजी श्रीयामुनाचार्यजीसे वैष्णवदीक्षा लेना चाहते थे, परंतु ऐसा संयोग बने उससे पूर्व ही श्रीयामुनाचार्यजी महाराज परमधामको प्रस्थान कर गये। अतः आचार्यश्रीने उनके पाँच प्रमुख शिष्यों (श्रीकांचीपूर्णजी, श्रीमहापूर्णजी, श्रीगोष्ठीपूर्णजी, श्रीशैलपूर्णजी और श्रीमालाधरजी)-से पाँच उपदेश ग्रहण किये और उन्हें गुरु माना। एक दिन उन्होंने अपने गुरु श्रीकांचीपूर्णजी महाराजको अपने घरपर भगवान्‌का भोग लगाने और प्रसाद ग्रहण करनेके लिये आमन्त्रित किया और अपनी पत्नी तंजमाम्बासे प्रसाद तैयार करनेको कहा। प्रसाद तैयार होनेपर जब वे गुरुजीको बुलानेके लिये गये तो गुरुजी किसी अन्य मार्गसे पहले ही उनके घर पहुँच गये। तंजमाम्बाने उनको प्रसाद तो ग्रहण कराया, पर रसोईमें बचा हुआ समस्त भोजन शूद्रोंमें बाँटकर और रसोई धो-साफकर पुनः भोजन बनाकर रामानुजजीको दिया। रामानुजजीने जब इसका कारण पूछा तो तंजमाम्बाने कहा कि कांचीपूर्णजी हीनजातिके हैं, अतः उनका उच्छिष्ट मैं आपको नहीं दे सकती। पत्नीके मनमें गुरुके प्रति इस प्रकारके कुभाव जानकर रामानुजजी मन-ही-मन बहुत दुखी हुए।

बात यहींपर समाप्त हो जाती तो भी ठीक था, परंतु तंजमाम्बाने तो सम्भवतः इनके गुरुओंको अपमानित करना अपना स्वभाव ही बना लिया था। एक दिन उनके दूसरे गुरु श्रीमहापूर्णाचार्यजी महाराजकी पत्नी कुएँपर जल भरने आयीं, तंजमाम्बा भी जल भर रही थीं, संयोगवश इनके घड़ेका कुछ जल छलककर तंजमाम्बाके घड़ेमें पड़ गया; फिर क्या था; तंजमाम्बाने गुरुपत्नीपर कुवाच्योंकी झड़ी लगा दी। बेचारी गुरुपत्नी कुछ बोल न सकीं और घर जाकर सारी बात श्रीमहापूर्णजी महाराजसे बतायीं। श्रीमहापूर्णजी महाराजने उन्हें सांत्वना दी और चुपचाप उनको साथ लेकर कांचीसे श्रीरंगम् आ गये। जब रामानुजको इस बातकी जानकारी हुई तो उनके दुःखका पारावार न रहा।

इसके बाद घटी एक अन्य घटनाने तो उनके गृहस्थ-जीवनमें विराम-चिह्न ही लगा दिया। हुआ यूँ कि एक दिन ये भगवान् वरदराजकी सेवामें गये हुए थे, उसी समय एक भूखा गरीब ब्राह्मण इनके घर आ गया। तंजमाम्बाने उसका सत्कार करना तो दूर; ऐसी कड़ी फटकार लगायी कि वे बेचारे ब्राह्मणदेवता अपने भाग्यको कोसते हुए उलटे पाँव भाग खड़े हुए। संयोगवश रामानुजजी मार्गमें ही मिल गये और उन्हें सारी बातें ज्ञात हुईं। रामानुजजी दुखी तो बहुत हुए, परंतु ब्राह्मणको समझा-बुझाकर धैर्य धारण कराया और मन-ही-मन संन्यास-ग्रहणका निर्णय ले लिया। उन्होंने ब्राह्मणदेवताको बाजारसे कुछ फल आदि खरीदकर दिये और कहा कि आप पुनः मेरे घर जायँ और मेरी पत्नीसे कहें कि मैं तुम्हारे मायकेसे आया हूँ। तुम्हारी बहनका विवाह होनेवाला है और तुम्हारे माता-पिताने यह सामग्री तुम्हें उपहारस्वरूप भेजी है।

यह सुनकर वे आपका बहुत आदर-सत्कार करेंगी। ब्राह्मणने ठीक वैसा ही किया। तंजमाम्बाने ब्राह्मणका बड़ा आदर-सत्कार किया। थोड़ी देर बाद जब रामानुज आये तो उनसे भी तंजमाम्बाने बहनके विवाहकी बात बतायी। रामानुजजीने कहा—'यह तो बहुत आनन्दकी बात है, तुम जाना चाहो तो आज ही चली जाओ, उत्सवके दिन मैं भी आ जाऊँगा।' तंजमाम्बा खुशी-खुशी मायकेके लिये चल दी, इधर रामानुजजीने संन्यास ग्रहण कर लिया।

इधर इनके गुरु यादवप्रकाशको अपनी करनीपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वे भी संन्यास लेकर श्रीरामानुजकी सेवा करनेके लिये श्रीरंगम् चले आये। उन्होंने अपना संन्यास-आश्रमका नाम गोविन्दयोगी रखा।

श्रीरामानुजने तिरुकोट्टियूरके महात्मा नाम्बिसे अष्टाक्षर मन्त्र (**ॐ नमो नारायणाय**)-की दीक्षा ली थी। नाम्बिने मन्त्र देते समय इनसे कहा था कि 'तुम इस मन्त्रको गुप्त रखना।' परंतु रामानुजने सभी वर्णके लोगोंको एकत्रकर मन्दिरके शिखरपर खड़े होकर सब लोगोंको वह मन्त्र सुना दिया। गुरुने जब रामानुजकी इस धृष्टताका हाल सुना, तब वे इनपर बड़े रुष्ट हुए और कहने लगे—'तुम्हें इस अपराधके बदले नरक भोगना पड़ेगा।' श्रीरामानुजने इसपर बड़े विनयपूर्वक कहा कि 'भगवन्! यदि इस महामन्त्रका उच्चारण करके हजारों आदमी नरककी यन्त्रणासे बच सकते हैं तो मुझे नरक भोगनेमें आनन्द ही मिलेगा।' रामानुजके इस उत्तरसे गुरुका क्रोध जाता रहा, उन्होंने बड़े प्रेमसे इन्हें गले लगाया और आशीर्वाद दिया। इस प्रकार रामानुजने अपने समदर्शिता और उदारताका परिचय दिया।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका एक कवित्तमें वर्णन करते हुए कहते हैं—

आस्य सो बदन नाम सहस हजार मुख शेष अवतार जानो वही सुधि आई है।
गुरु उपदेशि मन्त्र कह्यो नीके राखो अन्त्र जपतहि श्यामजू ने मूरति दिखाई है॥
करुणानिधान कही सब भगवान पावैं चढ़ि दरवाजे सो पुकार्‌यौ धुनि छाई है।
सुनि सीखे लियो यों बहत्तर हि सिद्ध भये नये भक्ति चोज यह रीति लै कै गाई है॥ १०७॥

यद्यपि श्रीरामानुजाचार्यजी उदार और समदर्शी प्रकृतिके थे, परंतु आचार-विचारके आप बहुत ही पक्के थे और उसमें जरा-सी भी ढिलाई पसन्द नहीं करते थे। एक बार आप श्रीजगन्नाथस्वामीका दर्शन करने जगन्नाथपुरी गये। वहाँ उन्होंने देखा कि पण्डे-पुजारी आचारभ्रष्ट हैं। इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ। इस समस्याके समाधानके लिये वे वहाँके राजासे मिले और उनका ध्यान पुजारियोंकी आचारहीनताकी ओर आकृष्ट कराया। राजाकी सहमतिसे उन्होंने सभी पण्डे-पुजारियोंको हटाकर अपने एक हजार शिष्योंको भगवान् श्रीजगन्नाथस्वामीकी सेवा-पूजा सौंप दी।

इधर पण्डे-पुजारी सेवा-पूजासे हटा दिये जानेके कारण वृत्तिहीन हो गये। वे बेचारे मन्दिरके पीछे बैठकर रोने-बिलखने और महाप्रभुसे क्षमा-प्रार्थना करने लगे। प्रभु तो परम करुणामय हैं ही, उनसे पण्डे-पुजारियोंका दुःख न देखा गया। उन्होंने स्वप्नमें रामानुजाचार्यजीसे कहा कि वे पण्डे-पुजारियोंको सेवा-पूजा करने दें। इसपर रामानुजजीने कहा कि वे मन्दिरमें वेद-विरुद्ध शूद्रवत् आचारण करते हैं, अतः मैं उन्हें मन्दिरमें प्रवेश ही नहीं करने दूँगा। भगवान्‌ने कहा कि वे लोग जब मेरे सम्मुख ताली बजाकर नृत्य करते हैं, तो वह मुझे बहुत ही प्रिय लगता है, अतः मेरी सेवा-पूजाका कार्य तुम उन्हें ही दे दो। परंतु रामानुज उन पण्डोंको किसी भी शर्तपर सेवा-पूजाका कार्य नहीं सौंपना चाहते थे। करुणामय भगवान्‌को अपने भक्त रामानुजका हठ भी रखना था और अपने दीन सेवकोंपर भी करुणा करनी थी। अतः उन्होंने

गरुड़जीको आज्ञा दी कि रामानुजको शिष्यों समेत श्रीरंगनाथधाम पहुँचा दो। गरुड़जीने प्रभुके आज्ञानुसार रामानुजाचार्यजीको शिष्योंसहित रातमें सोते समय श्रीजगन्नाथधामसे श्रीरंगनाथधाम पहुँचा दिया। प्रातः जगनेपर इस आश्चर्यमयी घटनाको देख रामानुजजी प्रभुकी भक्तवत्सलताका अनुभवकर गद्गद हो गये।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका दो कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

गये नीलाचल जगन्नाथ जू के देखिबे कों देख्यो अनाचार सब पण्डा दूरि किये हैं।
सङ्ग लै हजार शिष्य रङ्ग भरि सेवा करैं धरैं हिये भाव गूढ़ दरसाय दिये हैं॥
बोले प्रभु वेई आवैं करे अङ्गीकार मैं तो प्यार ही को लेत कभूं औगुन न लिये हैं।
तऊ दृढ़ कीनी फिरि कही नहीं कान दीनी लीनी वेदवाणी विधि कैसे जात छिये हैं॥ १०८॥
जोरावर भक्त सों बसाइ नहीं कही किती रती हूँ न लावैं मन चोज दरसायो है।
गरुड़ कौ आज्ञा दई सोई मानि लई उन शिष्यनि समेत निज देश छोड़ि आयो है॥
जागिकै निहारे ठौर और ही मगन भये दिये यों प्रकट करि गूढ़ भाव पायो है।
वेई सब सेवा करैं श्याम मन सदा हरैं धरैं सांचो प्रेम हिये प्रभुजू दिखायो है॥ १०९॥

रामानुजने आलवन्दारकी आज्ञाके अनुसार आलवारोंके 'दिव्यप्रबन्धम्' का कई बार अनुशीलन किया और उसे कण्ठ कर डाला। उनके कई शिष्य हो गये और उन्होंने इन्हें आलवन्दारकी गद्दीपर बिठाया; परंतु इनके कई शत्रु भी हो गये, जिन्होंने कई बार इन्हें मरवा डालनेकी चेष्टा की। एक दिन इनके किसी शत्रुने इन्हें भिक्षामें विष मिला हुआ भोजन दे दिया; परंतु एक स्त्रीने इन्हें सावधान कर दिया और इस प्रकार रामानुजके प्राण बच गये। रामानुजने आलवारोंके भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये सारे भारतकी यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखे। वेदान्तसूत्रोंपर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है और इनका सम्प्रदाय भी 'श्रीसम्प्रदाय' कहलाता है; क्योंकि इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी मानी जाती हैं। यह ग्रन्थ पहले-पहल काश्मीरके विद्वानोंको सुनाया गया था। इनके प्रधान शिष्यका नाम कूरत्तालवार (कूरेश) था। कूरत्तालवारके पराशर और पिल्लन् नामके दो पुत्र थे। रामानुजने पराशरके द्वारा विष्णुसहस्रनामकी और पिल्लन्से 'दिव्यप्रबन्धम्' की टीका लिखवायी। इस प्रकार उन्होंने आलवन्दारकी तीनों इच्छाओंको पूर्ण किया।

इस समय आचार्य रामानुज मैसूरराज्यके शालग्राम नामक स्थानमें रहने लगे थे। वहाँके राजा भिट्टिदेव वैष्णवधर्मके सबसे बड़े पक्षपाती थे। आचार्य रामानुजने वहाँ बारह वर्षतक रहकर वैष्णवधर्मकी बड़ी सेवा की। सन् १०९९ ई० में उन्हें नम्मले नामक स्थानमें एक प्राचीन मन्दिर मिला और राजाने उसका जीर्णोद्धार करवाकर पुनः नये ढंगसे निर्माण करवाया। वह मन्दिर आज भी तिरुनारायणपुरके नामसे प्रसिद्ध है। वहाँपर भगवान् श्रीरामका जो प्राचीन विग्रह है, वह पहले दिल्लीके बादशाहके अधिकारमें था। बादशाहकी लड़की उसे प्राणोंसे भी बढ़कर मानती थी। रामानुज अपनी योगशक्तिके द्वारा बादशाहकी स्वीकृति प्राप्तकर उस विग्रहको वहाँसे ले आये और उसकी पुनः तिरुनारायणपुरमें स्थापना की।

इस सन्दर्भमें जो कथा प्राप्त होती है, वह भगवान्‌की अतिशय भक्तवत्सलताकी कथा है। हुआ यूँ कि भगवान्‌ने आचार्यश्रीको स्वप्नमें बताया कि मेरी उत्सवमूर्ति बादशाहके यहाँ दिल्लीमें है, उसकी आप स्थापना कीजिये। भगवान्‌का आदेश मानकर रामानुजजीने बहुत-से वैष्णवोंको लेकर बादशाहका किला घेर लिया। जब बादशाहको यह समाचार मिला तो उसने अपने मन्त्रीसे कहा कि आचार्यश्रीको संग्रहालयमें

ले जाकर सभी मूर्तियोंके दर्शन करा दो और जो मूर्ति इनकी इष्ट हो, वह इन्हें प्राप्त करा दो। रामानुजजीने संग्रहालयमें जाकर मूर्तियोंके दर्शन किये, परंतु उन्हें वह मूर्ति न दिखायी दी, जिसके लिये भगवान्‌ने आदेश दिया था। इससे रामानुजजी बहुत ही चिन्तित और दुखी हुए। उन्हें व्याकुल देखकर भगवान्‌ने रात्रिमें पुनः स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा कि मैं शहजादीके पास हूँ और उसकी प्रीति-डोरसे बँधा हूँ। वह मुझसे इतना स्नेह करती है कि एक भी क्षणको अलग करना नहीं चाहती।

रामानुजजीने पुनः बादशाहसे भेंट की और उन्हें सारी बात बतलायी। बादशाहने शहजादीसे कहा कि वह उस मूर्तिको इन हिन्दू साधुको सौंप दे और उसके बदलेमें उसके लिये मणिनिर्मित मूर्ति बनवा दी जायगी, परंतु शहजादी किसी भी प्रलोभनपर मूर्ति अपनेसे अलग करनेको राजी न हुई। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि मूर्ति सभाके मध्यमें रखी जायगी और जिसके बुलानेपर वह चली आयेगी, वही उसकी प्राप्तिका अधिकारी होगा।

दूसरे दिन मूर्तिका शृंगारकर उसे सभाके मध्यमें पधरा दिया गया और आचार्यश्री तथा शहजादी—दोनोंसे मूर्तिको अपने पास बुलानेके लिये कहा गया। सर्वप्रथम आचार्यश्रीने मूर्तिका आवाहन किया, परंतु मूर्ति टस-से-मस न हुई। इसके बाद शहजादीने अपने आराध्यरूप मूर्ति-विग्रहसे विनय की तो मूर्ति बड़े ही प्रेमके साथ शहजादीकी ओर चल दी। यह देखकर अन्य लोग तो विस्मित हो गये, परंतु आचार्यश्री कुपित होकर भगवान्‌से बोले—'यदि सभामें आपको मेरा अपमान ही करना था तो मुझे स्वप्न देकर बुलाया ही क्यों?' आचार्यश्रीके इस प्रकार उलाहना देनेपर मूर्ति पुनः वापस लौटकर उनकी गोदमें विराजमान हो गयी। सभा धन्य-धन्य कह उठी। मूर्ति लेकर वैष्णवजन तो चल दिये, पर शहजादीने अन्न-जल त्याग दिया। बादशाहको लगा कि उसकी पुत्री प्राण दे देगी तो उसने उसे भी आचार्यजीके पीछे जानेकी अनुमति दे दी। शहजादीको इस प्रकार मार्गमें तो मूर्तिके दर्शन मिलते रहे, पर मन्दिरमें प्रतिष्ठित होनेके बाद उसका प्रवेश-निषेध हो गया। तब करुणामय भगवान्‌से उसका दुःख न देखा गया और कहा जाता है कि उन्होंने सबके देखते-देखते उसे अपने श्रीविग्रहमें लीन कर लिया। शहजादीके अतिशय प्रेमके प्रतीकरूपमें आज भी उसकी एक सुवर्णप्रतिमा भगवान्‌के समीप विद्यमान है।

कुछ समय पश्चात् आचार्य रामानुज श्रीरंगम् चले आये। वहाँ उन्होंने एक मन्दिर बनवाया, जिसमें नम्मालवार और दूसरे आलवार सन्तोंकी प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं और उनके नामसे कई उत्सव भी जारी किये। उन्होंने तिरुपतिके मन्दिरमें भगवान् गोविन्दराज-पेरुमलकी पुनः स्थापना करवायी और मन्दिरका पुनः निर्माण करवाया। उन्होंने देशभरमें भ्रमण करके हजारों नर-नारियोंको भक्तिमार्गमें लगाया। आचार्य रामानुजके चौहत्तर शिष्य थे, जो सब-के-सब सन्त हुए। इन्होंने कूरत्तालवारके पुत्र महात्मा पिल्ललोकाचार्यको अपना उत्तराधिकारी बनाकर एक सौ बीस वर्षकी अवस्थामें इस असार-संसारको त्याग दिया।

श्रीकूरेशाचार्यजी

श्रीमद्रामानुजाचार्यजीके शिष्योंमें श्रीकूरेशजीका अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। भोगोंके बीच रहते हुए भी निरासक्त रहना, अद्भुत मेधासम्पन्न होनेपर भी अहंकारका लेशमात्र भी न होना, अपने गुरुके प्रति सर्वस्व समर्पण करना और धर्मरक्षाहेतु प्राणोंको न्योछावर करनेके लिये तत्पर रहना-जैसे गुणोंका यदि एक साथ किसीमें दर्शन करना हो तो श्रीकूरेशाचार्यजी महाराज उसके अप्रतिम उदाहरण हैं।

श्रीकूरेशजी लक्ष्मी एवं सरस्वतीके वरद पुत्र थे। दोनोंकी उनपर अपार कृपा थी। कांचीपुरीसे दो कोस दूर कूरपुर नामका एक राज्य था, कूरेशजी वहाँके राजा थे। सन्तों-वैष्णवोंकी सेवा, दीनोंमें दीनदयालका

दर्शन करना और अन्न-वस्त्रसे उनकी सेवा करना उनका जीवन-सिद्धान्त था। उनके राजद्वारपर प्रात:कालसे अर्धरात्रितक याचकोंको अन्न-वस्त्र वितरित होता और फाटक बन्द होनेसे पूर्व घण्टा-ध्वनि करके यह कहा जाता कि जो लोग अन्न-वस्त्र न प्राप्त कर सके हों, वे आकर प्राप्त कर लें।

कहते हैं कि घण्टा-ध्वनि जब एक दिन कांचीपुरीमें सुनायी पड़ी तो माता लक्ष्मीने वरदराजभगवान्‌से उस ध्वनिके विषयमें पूछा, इसपर भगवान् वरदराजने माता लक्ष्मीको कूरेशजीकी दान-गाथा सुनायी। माता लक्ष्मीको कूरेशजीके कार्यसे बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने प्रभुसे ऐसे भक्तके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की। भगवान् वरदराजने अपने पुजारी श्रीकांचीपूर्णजीको कूरेशजीको बुला लानेकी आज्ञा दी।

भगवान् वरदराजकी आज्ञा और माता लक्ष्मीकी इच्छा सुनकर कूरेशजी आनन्दमग्न हो गये, उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि यह हम लोगोंका धन्यभाग है कि माता लक्ष्मीने हमें याद किया है! यह शरीर तो अत्यन्त पतित है। अत: इसे पावन करनेके लिये हमें सबसे पहले भगवान् रामानुजाचार्यजीसे दीक्षा लेनी चाहिये। यह निश्चयकर वे सपत्नीक श्रीरामानुजके दर्शनके लिये श्रीरंगम् चल दिये। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका दान कर दिया और अंकिचन होकर, एक साधारण वस्त्र पहनकर श्रीरंगम्‌के लिये चल पड़े। रास्तेमें घना जंगल पड़ता था, कूरेशजीकी पत्नी भयभीत होने लगीं, इसपर कूरेशजीने कहा—देवि! अंकिचनके लिये कहाँ भय है, लगता है तुम्हारे पास कुछ धन है, इसीलिये तुम भयभीत हो। कूरेशजीकी पत्नीने एक स्वर्णमुद्रा अपने पास छिपा रखी थी, उन्होंने उसे भी फेंक दिया और इस प्रकार सर्वस्व त्यागकर कूरेश दम्पती आचार्य रामानुजकी शरणमें पहुँच गये, फिर श्रीरामानुजजीने इन्हें नारायण-मन्त्रकी दीक्षा दी और वहीं रहनेकी व्यवस्था कर दी। अब कूरेश-दम्पतीका जीवन नये प्रकारका हो गया था, जो कल राजाके रूपमें महादानी थे, वे ही अब भिक्षा करके भोजन करते थे। एक दिन अतिवृष्टिके कारण ये भिक्षार्थ नहीं जा सके और भूखे ही भगवत्स्मरण करते रहे। उनकी पत्नीने पतिको भोजन कराना अपना धर्म समझकर भगवान्‌से प्रार्थना की, तुरंत ही भगवान्‌के भोगका थाल लेकर पुजारीजी वहाँ आ गये। वस्तुत: घट-घटवासी प्रभुने स्वयं ही पुजारीके अन्त:करणमें इस बातकी प्रेरणा दी थी। भगवत्प्रसादका थाल देखकर कूरेशजीके मनमें आश्चर्यमिश्रित आनन्द हुआ, उन्होंने अपनी पत्नीसे पूछा कि यह थाल कैसे आया? इसपर पत्नीने कहा—'नाथ! मैंने अपने पत्नी-धर्मका निर्वाह करनेके लिये प्रभुसे याचना की थी', इसपर कूरेशजीने उन्हें समझाया कि इस प्रकार बार-बार भगवान्‌को कष्ट देना उचित नहीं है।

किंवदन्ती है कि उस भगवत्प्रसादके प्रभावसे कूरेशजीको दो पुत्ररत्नोंकी प्राप्ति हुई। दोनों ही पुत्र सर्वगुण-सम्पन्न और भगवद्भक्त थे। श्रीरामानुजजीने बड़ेका नाम पराशरभट्ट और छोटेका श्रीराम नाम रखा। एक बारकी बात है, सर्वज्ञभट्ट नामक एक दिग्विजयी पण्डित अपने शास्त्र-ज्ञानके अहंकारमें श्रीरंगपुरी आये और वहाँके विद्वानोंको शास्त्रार्थकी चुनौती दी। पराशरभट्ट उस समय बालक थे, वे धूलमें खेल रहे थे। अचानक उन्होंने एक अंजुलि धूल उठायी और दिग्विजयी पण्डितके पास जाकर कहा—पण्डितजी! मेरी अंजुलिमें धूलके कितने कण हैं? पण्डितजी कुछ भी उत्तर न दे सके और हक्के-बक्के रह गये। इसपर बालक पराशरने कहा—जब इतना भी नहीं जानते तो अपना नाम सर्वज्ञ क्यों रखा है? दिग्विजयी पण्डित बालक पराशरके चरणोंमें गिर गये और अहंकारशून्य होकर बोले—'आप मेरे गुरु हैं।'

आचार्य रामानुजजीने ब्रह्मसूत्रपर श्रीभाष्य लिखा है। उनके इस श्रीभाष्यलेखनमें श्रीकूरेशजीकी अद्भुत मेधाशक्तिकी दिग्दर्शना होती है। हुआ यूँ कि श्रीभाष्य लिखनेके लिये रामानुजजीको 'बोधायनवृत्ति'

की आवश्यकता थी। यह अत्यन्त दुर्लभ ग्रन्थ था, जो कि कश्मीरके शारदापीठमें ही प्राप्त हो सकता था। परंतु वहाँके अद्वैतसमर्थक विद्वान् इसे देना नहीं चाहते थे; क्योंकि वे इस बातसे भयभीत थे कि इस ग्रन्थके प्राप्त हो जानेपर आचार्य रामानुज हमारे अद्वैतमतका खण्डन करके अपने विशिष्टाद्वैत मतका प्रतिस्थापन करेंगे। अतः उन लोगोंने बहाना बनाया। स्वामीजी उदास हो गये, तब रात्रिमें भगवती शारदा देवीने स्वयं वह ग्रन्थ लाकर रामानुजजी को दे दिया और कहा कि आपलोग यहाँसे चले जाइये, अन्यथा ये लोग इसे पुनः छीन लेंगे। भगवती शारदा देवीका आदेश स्वीकारकर रामानुजजी वहाँसे चल दिये। पुस्तककी सुरक्षाका भार उन्होंने कूरेशजीपर सौंप दिया, इधर कुछ दिन बाद शारदापीठके पण्डितोंने देखा कि बोधायनवृत्ति तो अपने स्थानपर है ही नहीं तो उन्हें यह शंका हुई कि रामानुज और उनके साथ आये हुए उनके शिष्य ग्रन्थको चुरा ले गये। अब क्या था, उन लोगोंने क्रुद्ध होकर रामानुजजीका पीछा किया और एक महीनेमें रामानुजजीतक पहुँच ही गये और उनसे ग्रन्थ छीन लिया। इससे रामानुजाचार्यजीको अत्यन्त वेदना हुई। उन्हें लगा कि उनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य करनेका संकल्प अधूरा ही रह जायगा। अपने गुरुदेवको इस प्रकार दुखी देखकर कूरेशजीने कहा—प्रभो! आप दुखी न हों, कश्मीरसे चलते समय प्रत्येक रात्रिमें आपके सो जानेके पश्चात् मैं ग्रन्थका पाठ किया करता था। ऐसा करते हुए एक माहमें मुझे पूरा ग्रन्थ कण्ठस्थ हो गया है। आप आज्ञा दें तो मैं उसे तुरंत ही लिख डालूँ। रामानुजाचार्यजीका हृदय कूरेशजीकी यह बात सुनकर गद्‌गद हो गया। उन्होंने कूरेशजीको अपने हृदयसे लगा लिया और कहा—वत्स! तुम चिरंजीवी होओ, तुम गुरु-ऋणसे उऋण हो गये। इस प्रकार कूरेशजीकी दिव्य मेधा शक्ति श्रीभाष्यकी रचनामें आधारपीठिका बनी।

चार महान् सन्त

श्रुतिप्रज्ञा श्रुतिदेव रिषभ पुहकर इभ ऐसे।
श्रुतिधामा श्रुति उदधि पराजित बामन जैसे॥
(श्री) रामानुज गुरुबंधु बिदित जग मंगलकारी।
सिवसंहिता प्रनीत ग्यान सनकादिक सारी॥
इँदिरा पधति उदारधी सभा साखि साँरग कहैं।
चतुर महँत दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं॥ ३२॥

श्रीश्रुतिप्रज्ञ, श्रीश्रुतिदेव, श्रीश्रुतिधाम तथा श्रीश्रुतिउदधि—ये चार महान् सन्त चार दिग्गजोंके समान थे। ये भक्तिरूपी भूमिको अपने प्रभावसे अचल रखते थे अर्थात् कोई भी विधर्मी भक्तिका थोड़ा भी विरोध अथवा खण्डन करनेका साहस नहीं करता था। श्रीश्रुतिप्रज्ञजी और श्रीश्रुतिदेवजी—दोनों श्रीऋषभ और श्रीपुष्कर—इन दो दिग्गजोंके समान थे, श्रीश्रुतिधामजी और श्रीश्रुतिउदधिजी—ये पराजित और वामन नामक दिग्गजोंके समान थे। ये चारों श्रीरामानुजाचार्यके गुरुभाई थे। ये अपनी भक्तिनिष्ठा और विद्वत्ताके कारण विश्वमें विख्यात थे एवं संसारका मंगल करनेवाले थे। शिवसंहितामें वर्णित ज्ञान-विज्ञानके तत्त्वको जाननेमें सनकादिकोंके समान थे। ये श्रीसम्प्रदायमें निष्ठावान् और उदार बुद्धिवाले थे। सन्तसभाके दर्शक-सत्संगी लोग इन्हें दिग्गज विद्वान् कहते थे॥ ३२॥

श्रीश्रुतिप्रज्ञ आदि इन महान् सन्तोंका विवरण संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीश्रुतिप्रज्ञजी

श्रीश्रुतिप्रज्ञजी परम भागवत समदर्शी सन्त थे। श्रुति-सिद्धान्तके विशेष ज्ञाता होनेके कारण इनका यह नाम पड़ा। जाति-पाँतिकी संकीर्णतासे दूर रहनेवाले और सदा भगवन्नामका जप एवं उपदेश करनेवाले श्रीश्रुतिप्रज्ञजी महाराज भक्तिको ही सबसे बड़ा आचार मानते थे, इसीलिये उन्हें 'भक्ति-भूमि-दिग्गज' कहा गया है अर्थात् जिस प्रकार दिग्गज लोग भूमिको धारणकर स्थिर रखते हैं, वैसे ही श्रुतिप्रज्ञजी भक्तिको अचल रखनेवाले थे, तत्कालीन विधर्मी उनके कारण समाजसे भक्तिका उन्मूलन न कर सके।

श्रीश्रुतिप्रज्ञजी महाराजका जीवन गीताके श्लोक—'**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥**' का साक्षात् स्वरूप था। आप श्वपचतकमें अपने आराध्य प्रभुके ही दर्शन करते थे। कहते हैं कि एक बार आप महाप्रभु जगन्नाथजीका दर्शन करने श्रीजगन्नाथधाम नीलाचल जा रहे थे। जब पुरीसे वे कुछ ही दूरीपर थे तो उन्हें उधरसे एक श्वपच भगवान् श्रीजगन्नाथस्वामीका दर्शन करके लौटता दिखायी दिया, उसके हाथमें भगवान्का प्रसाद था।

उस श्वपचने जब श्रुतिप्रज्ञजीको देखा तो उसका हृदय श्रद्धासे अत्यन्त गद्गद हो उठा। उसे लगा कि मैंने जो महाप्रभुका दर्शन किया था, उस पुण्यके फलस्वरूप मुझे इन सन्तका दर्शन करनेका सौभाग्य मिला है। *'राम तें अधिक राम कर दासा'* के भावसे उसका हृदय गद्गद हो उठा और उसने दण्डकी भाँति गिरकर श्रीश्रुतिप्रज्ञजी महाराजके चरणोंमें प्रणिपात किया। उस समय उसकी आँखोंसे आनन्दाश्रुओंका प्रवाह हो रहा था। उसकी यह भावपूर्ण दशा देखकर श्रुतिप्रज्ञजीको बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें उसमें श्वपचके स्थान पर एक सच्चे वैष्णवके दर्शन हुए। उन्होंने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। थोड़ी देर बाद जब उस श्वपचको अपनी स्थितिका ज्ञान हुआ, तो उसे अत्यन्त पश्चात्ताप होने लगा। उसे लगा कि इस परम अपावन श्वपच शरीरसे मैंने इन महापुरुषका स्पर्श कर लिया, मेरी तो छाया भी इनपर नहीं पड़नी चाहिये थी—यह सोचकर वह अपने-आपको धिक्कारता हुआ श्रुतिप्रज्ञजी महाराजसे बार-बार क्षमायाचना करने लगा। श्रुतिप्रज्ञजी उसके इस भावसे और भी द्रवित होकर उसके शरीरमें लगी धूलको अपने वस्त्रसे झाड़ते हुए बोले—भैया! तुम तो मुझसे भी श्रेष्ठ हो, फिर अपावन कैसे? तुमने तो पतितपावन भगवान् महाप्रभुका दर्शन कर लिया है, मैं तो अभी उनका दर्शन करने जा रहा हूँ, अतः तुम मुझसे श्रेष्ठ हो। 'महाप्रभुका थोड़ा-सा प्रसाद मुझे भी दो'—यह कहकर श्रुतिप्रज्ञजी उस श्वपचके सम्मुख हाथ फैलाकर खड़े हो गये। सच्चे सन्त तो ऊँच-नीच, जाति-पाँति, ज्ञानी-अज्ञानीके भेद-भावसे परे होते हैं, उनके लिये तो सारा जगत् 'सियाराममय' ही होता है।

उधर श्वपचको उनके आग्रहपर बहुत ही संकोच हो रहा था, वह सोच रहा था कि भला मैं अपने हाथका प्रसाद इन्हें कैसे दे दूँ? परंतु इनका प्रेमाग्रह देख उसने इन्हें वह भगवान् महाप्रभुका महाप्रसाद अर्पित कर दिया। फिर क्या था, उसे पाकर तो ये आनन्दमग्न हो नृत्य करने लगे। अत्यन्त आदरके साथ इन्होंने उस श्वपचके साथ पूरी रात्रि सत्संग किया और प्रातःकाल अत्यन्त आदरपूर्वक उसे विदाकर ये भगवान् जगन्नाथजीका दर्शन करने उनके धाम पधारे।

श्रीश्रुतिदेवजी

श्रीश्रुतिदेवजी महाराज आचार्य श्रीरामानुजजीके गुरुभाई थे। भगवद्विमुख जीवोंको भगवत्सम्मुख करा देना इनका जीवन-लक्ष्य था और इसी लक्ष्यकी सिद्धिके लिये आप प्रायः देश-देशान्तरमें भ्रमण ही किया

करते थे। वस्तुतः सन्त तो जगत्‌में जगदीशके प्रतिनिधि ही होते हैं। उनका स्वभाव अत्यन्त शान्त और सुखदायक होता है। वे मनपर विजय पाये हुए, जितेन्द्रिय और भगवद्भजनमें रत रहनेवाले होते हैं। उनका कार्य ही होता है कि वे संसारासक्त जड़ जीवोंको सचेत करके भगवान्‌की ओर लगाते हैं और इसी उद्देश्यसे जगत्‌में विचरण करते रहते हैं—

अति सीतल अति ही सुखदाई। सम दम राम भजन अधिकाई॥
जड़ जीवन कौं करै सचेता। जग महँ बिचरत है एहि हेता॥

(वैराग्य-संदीपनी ९)

श्रीश्रुतिदेवजी महाराज इसी प्रकारके सन्त थे, उन्होंने नीरस हृदयको सरस बनाया और घर-घर भक्तिका प्रचार किया।

एक बारकी बात है, भक्तिका प्रचार करते हुए आप सन्तोंकी मण्डली लिये एक ऐसे राज्यमें पहुँच गये, जहाँका राजा ईश्वर और धर्मको न माननेवाला—नास्तिक था। वहाँकी प्रजा और राजकर्मचारी भी नास्तिक ही थे। श्रीश्रुतिदेवजी महाराज सन्तोंकी मण्डली लेकर राजाके उपवनमें रुक गये। वहाँ आस-पास स्नानार्थ कोई जलस्रोत—नदी, सरोवर आदि न होनेके कारण सन्तमण्डली उपवनके कुओंसे ही जब जल लेने लगी तो वहाँके मालियों और रखवालोंने इनका अपमान किया और जल लेनेसे मना कर दिया। श्रुतिदेवजीके अनुनय करनेपर भी उन दुष्टोंने यह कहकर जल नहीं लेने दिया कि ये कुएँ उपवनके पेड़-पौधोंको सींचनेके लिये हैं, मुण्डी-वैरागियोंके नहानेके लिये नहीं। मालियोंकी इस प्रकारकी अभद्रता और हठधर्मिता देखकर श्रुतिदेवजीने सन्तोंसे कहा कि आप सब बिना स्नान किये ही भगवत्स्मरण कर लें और यहाँसे प्रस्थान करें।

श्रुतिदेवजीके साथ सन्तमण्डली भगवत्संकीर्तन करते हुए चल दी। सन्त तो जगत्‌का हित करनेवाले ही होते हैं। उनका स्वभाव कृपा करना होता है, कोप नहीं, परंतु अपने भक्तोंका इस प्रकार अपमान भक्तवत्सल भगवान्‌से सहन नहीं हुआ। सन्तोंके उपवनसे जाते ही नगरभरके कुओंका जल सूख गया। प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। राजकीय उपवनके भी कुएँ सूख गये। जलस्रोतोंके इस प्रकार अचानक सूख जानेकी सूचना जब राजाको मिली तो उन्होंने मन्त्रियोंसे इसपर विचार करनेको कहा। तभी मालियोंने आकर राजासे सन्तमण्डलीके आगमन और उनके साथ किये दुर्व्यवहारका क्षमा-प्रार्थनासहित वर्णन किया। यह सुनकर राजाकी आँखें खुल गयीं, उन्हें अपनी भूलका ज्ञान हुआ। वे त्राहि-त्राहि करते प्रजाजनों और मन्त्रियोंके सहित सन्तोंके चरणोंमें जा पड़े। श्रीश्रुतिदेवजी महाराजने उन्हें धीरज बँधाया और पुनः नगरमें आये। उनके नगरमें आते ही पुनः सभी जलस्रोत निर्मल जलसे परिपूर्ण हो गये, साथ ही वहाँके राजा और प्रजाके हृदय भी भक्तिभावसे परिपूर्ण हो गये। राजा-प्रजा सभीने श्रीश्रुतिदेवजीकी शिष्यता ग्रहण कर ली। इसी प्रकार अनेक भगवद्विमुखोंको सन्त श्रीश्रुतिदेवजीने भगवत्पथका पथिक बनाया।

श्रीश्रुतिधामजी

श्रीश्रुतिधामजी महाराज अविचल भक्ति एवं अखण्ड पाण्डित्यसे परिपूर्ण परम वैष्णव सन्त थे। आप आचार्य रामानुजजीके गुरुभाई थे और वेद-पुराण एवं इतिहासके मर्मज्ञ विद्वान् थे। भक्तिभावसमन्वित सरस कथा-प्रवचनोंके माध्यमसे जन-जनमें भक्ति-भावका प्रचार करना आपका जीवन-सिद्धान्त था। इसके लिये आप वैष्णव सन्तोंकी मण्डली लेकर सदैव विचरण किया करते थे। आप भगवद्भक्तोंको भगवान्‌का ही स्वरूप मानते थे और उनके प्रति उसी प्रकारकी आदर-बुद्धि रखते थे। वैष्णव वेषके प्रति आपकी बड़ी

ही निष्ठा थी, अतः आप सबको कंठी, माला, तिलक और छाप आदि वैष्णव चिह्नोंको धारण करनेका उपदेश करते थे। श्रीश्रुतिधामजी महाराज एक सिद्ध सन्त थे, परंतु उनकी सिद्धियाँ चमत्कार-प्रदर्शनके लिये न होकर भावुक भक्तोंको भक्तिकी ओर उन्मुख करनेके लिये होती थीं।

एक बारकी बात है, आप सन्त-मण्डलीको लेकर तीर्थराज प्रयागमें त्रिवेणी-स्नानके लिये गये थे। स्नानके बाद वहीं त्रिवेणी-तटपर ही सत्संग होने लगा। भक्तोंका एक बड़ा समाज आपके सत्संगमें जुट गया था। भगवत्कथाओंके माध्यमसे ब्रह्म-निरूपण, धर्म एवं भक्तिपर सरस प्रवचन चल रहा था। महाराजश्री प्रवचनके माध्यमसे कर्म, ज्ञान और उपासनाकी त्रिवेणीका रहस्य समझा रहे थे कि किसी श्रद्धालुने प्रश्न किया—महाराज! त्रिवेणी-संगममें गंगाजी और यमुनाजीकी श्वेत और श्याम धाराओंके तो प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं, परंतु सरस्वतीजीकी धाराके दर्शन नहीं होते, वह तो केवल कथाओंमें सुननेकी ही बात है। दूसरे कथावाचक होते तो कथा-कहानियोंके माध्यमसे श्रद्धालु श्रोताओंकी जिज्ञासाको शान्त करनेका प्रयास करते, परंतु श्रुतिधामजी महाराज तो साक्षात् भक्ति-विग्रह ही थे। उन्होंने ध्यानस्थ होकर माता गंगा, यमुना और सरस्वतीका आवाहन किया, फिर क्या था, अपने भक्तकी भावनाको साकार रूप देनेके लिये तीनों देवियोंने प्रत्यक्ष होकर अपने दिव्य स्वरूपके दर्शन भक्त-मण्डलीको कराये, तत्पश्चात् उनकी जलधाराएँ भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हुईं। सारा त्रिवेणीतट 'त्रिवेणीजीकी जय' और 'श्रुतिधामजी महाराजकी जय' से गूँज उठा। इस प्रकार श्रुति और शास्त्रमें कही गयी बातोंकी सत्यताको श्रीश्रुतिधामजी महाराजने जन-जनके मनमें प्रतिष्ठापित किया।

श्रीश्रुतिउदधिजी

श्रीश्रुतिउदधिजी महाराज महान् त्यागी, विरक्त, वैष्णव सन्त थे। आप आचार्यश्री रामानुजजी महाराजके गुरुभाई थे। भगवद्भजन-चिन्तन करते हुए एकाकी भ्रमण करना आपका स्वभाव और भगवद्विमुखोंको भक्ति पथका पथिक बनाना जीवन-लक्ष्य था।

एक बार आप श्रीगंगाजीके दर्शन-स्नानके लिये जा रहे थे, मार्गमें एक राजाकी वाटिका पड़ती थी। शान्त, एकान्त स्थान देखकर वहाँ कुछ क्षण बैठकर आप भगवान्का ध्यान करने लगे। संयोगवश उसी रात राजाके महलमें चोरोंने सेंध लगायी थी और कुछ माल-मत्ता लेकर चम्पत हो गये थे। सुबह होनेपर जब चोरीका ज्ञान हुआ तो राजमहलमें हड़कम्प मच गया। चारों ओर सिपाही छोड़ दिये गये। उधर चोर भी डरके मारे भागे जा रहे थे, उन्हें भी पकड़े जानेपर मौतका खौफ सता रहा था। मार्गमें राजाकी वाटिकामें श्रीश्रुतिउदधिजी महाराजको ध्यानस्थ देखकर उन लोगोंने एक मणिमाला निकालकर उनके गलेमें पहना दी और चोरीका कुछ माल भी वहीं रख दिया, जिससे सिपाही और राजकर्मचारी भ्रमित हो जायँ। यह सब करके चोर वहाँसे चल दिये, उधर थोड़ी ही देरमें कुछ सिपाही और राजकर्मचारी चोरोंको खोजते हुए राजवाटिकातक आ पहुँचे। उन्हें दूरसे ही श्रीश्रुतिउदधिजीके गलेमें चमकती हुई मणिमाला दिखायी पड़ी, यह देखकर वे लोग शीघ्रतासे उनके समीप गये। वहाँ आस-पास कुछ और भी चोरीका माल पड़ा दिखायी दिया। उधर श्रीश्रुतिउदधिजी महाराज तो पूरी तरह ध्यानमग्न थे, उन्हें दीन-दुनियाकी कोई खबर ही नहीं थी। अब क्या था, अविवेकी राजकर्मचारियों और सिपाहियोंने श्रीश्रुतिउदधिजी महाराजको ही चोर समझ लिया और बाँधकर राजाके पास ले चले।

सन्त तो नित्यमुक्त होते हैं, उनके लिये इस प्रकारके लौकिक बन्धनकी भला क्या सत्ता थी, परंतु श्रुतिउदधिजी महाराजने इसे भी अपने आराध्य प्रभुकी लीला ही समझा और निश्चिन्त भावसे चल पड़े

राजाको अज्ञान और अहंकारके बन्धनसे मुक्त करने। सिपाहियोंने बरामद माल राजाके पास रखकर सारी घटना बतायी, राजा भी अविवेकी ही था, उसने बिना सोचे-विचारे श्रीश्रुतिउदधिजी महाराजको चोरीके आरोपमें कारागारमें निरुद्ध करा दिया। सन्तके लिये क्या! उनके लिये तो कुटिया और कारागारमें कोई भेद ही नहीं था, वे वहीं बैठकर भगवान्‌का ध्यान करने लगे। उन्हें इस घटनासे किसी प्रकारका खेद या रोष नहीं था, परंतु राजाका यह अन्याय सन्तोंके परम आराध्य परमात्मप्रभुसे न देखा गया। उन्होंने राजाके मस्तकमें पीड़ा उत्पन्न कर दी। राजाने अनेक प्रकारके उपचार किये, परंतु सन्त-अपमानजनित प्रभुद्वारा दण्डस्वरूप दी गयी वह पीड़ा किंचित् भी शान्त नहीं हुई। तब प्रभु-प्रेरणासे किसी मन्त्रीने राजाको सलाह दी कि 'महाराज! जिसे चोर समझकर आपने कारागारमें बन्द करा दिया है, वे कोई चोर नहीं, बल्कि परम तपस्वी भगवद्भक्त सन्त हैं। आप उन्हें तुरंत कारागारसे मुक्त कराइये।' राजाकी भी समझमें यह बात आ गयी और वह 'त्राहि माम्' करता हुआ सन्तके चरणोंमें जा पड़ा। श्रीश्रुतिउदधिजी महाराज परम सन्त थे, उन्हें कहींसे किसी भी प्रकारका राजाके प्रति क्रोध नहीं था, उन्होंने राजाके सिरपर हाथ रखा, इससे उसके न केवल मस्तककी पीड़ा शान्त हो गयी, बल्कि उसके मस्तिष्कके बन्द ज्ञान-कपाट भी खुल गये। उसने सपरिवार श्रीश्रुतिउदधिजी महाराजका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इस प्रकार श्रीश्रुतिउदधिजी महाराजने अनेक भगवद्विमुखजनोंको प्रभु-भक्तिका उपदेश दे उन्हें भगवत्सम्मुख किया और उनका परमकल्याणसाधन किया।

श्रीलालाचार्यजी

(कोउ) मालाधारी मृतक बह्यो सरिता में आयो।
दाह कृत्य ज्यों बंधु न्योति सब कुटुँब बुलायो॥
नाम सकोचहिं बिप्र तबहिं हरिपुर जन आए।
जेंवत देखे सबनि जात काहू नहिं पाए॥
लालाचारज लच्छधा प्रचुर भई महिमा जगति।
(श्री) आचारज जामात की कथा सुनत हरि होइ रति॥ ३३॥

श्रीरामानुजाचार्यजीके दामाद श्रीलालाचार्यजीकी कथा सुनते ही भगवान्‌में विशेष प्रीति होती है। एक बार कोई तुलसीकण्ठी धारण किये हुए मृत शरीर नदीमें बहता हुआ आया। श्रीलालाचार्यजीने उसे निकालकर उसका अपने भाईके समान दाह-संस्कार किया। तेरहवें दिन भोजनके लिये ब्राह्मणोंको तथा कुटुम्बियोंको निमन्त्रण देकर बुलवाया। अज्ञात शवका भण्डारा जानकर ब्राह्मणलोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगे और भोजन करने कोई नहीं आया। तब वैकुण्ठधामसे भगवान्‌के पार्षद आये, जिन्हें भोजन करते हुए तो सभी लोगोंने देखा, परंतु जाते समय वे आकाशमार्गसे चले गये। किसीको मिले नहीं, उन्हें कोई न देख पाया। इस चमत्कारसे लालाचार्यजीकी महिमा संसारमें लाखों गुना बढ़ गयी॥ ३३॥

सन्त श्रीलालाचार्यजी महाराजका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

परम वैष्णव सन्त श्रीलालाचार्यजी महाराज आचार्य रामानुजजीके जामाता थे। वैष्णव-वेशके प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी। वे वैष्णव-वेशधारी प्रत्येक सन्तको अपना भाई मानते थे और उसका उसी प्रकार आदर-सत्कार करते थे। श्रीलालाचार्यजी महाराजके इस दिव्य भावको उनकी सहधर्मिणी तो जानती थी,

परंतु साधारण लोग भला इसे क्या समझें कि केवल तुलसीमाला धारण करनेमात्रसे ही वैष्णव ब्रह्माजीद्वारा भी पूज्य हो जाता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है—

मालाधारकमात्रोऽपि वैष्णवो भक्तिवर्जितः।
पूजनीयः प्रयत्नेन ब्रह्मणा किन्नु मानुषैः॥

एक दिन श्रीलालाचार्यजी महाराजकी पत्नी जल भरनेके लिये नदीतटपर गयी हुई थीं, उनके साथ उनकी कुछ सहेलियाँ भी थीं, जो श्रीलालाचार्यजीकी वैष्णवनिष्ठाके कारण उनका मजाक उड़ाया करती थीं। जिस समय वे लोग जल भर रही थीं, उसी समय किसी वैष्णव सन्तका शव बहता हुआ उधर आया, उसके शरीरपर वैष्णव चिह्न अंकित थे और वह कण्ठी-माला धारण किये हुए था। सहेलियोंने व्यंग्य करते हुए श्रीलालाचार्यजी महाराजकी पत्नीसे कहा—'इन्हें देखकर ठीकसे पहचान लो, तुम्हारे जेठ हैं या देवर!' यह कहकर खिलखिलाती हुई चल दीं। श्रीलालाचार्यजी महाराजकी पत्नीने घर आकर श्रीलालाचार्यजीसे यह बात बतायी, सुनकर श्रीलालाचार्यजी करुण क्रन्दन करने लगे। उनके मनमें ठीक वैसे ही करुण भाव उत्पन्न हुए, जैसे अपने अग्रज या अनुजके शरीर शान्त होनेपर होते हैं। अन्तमें यह सोचकर अपने मनको शान्त किया कि मेरे ये भाई भगवद्भक्त थे—वैष्णव सन्त थे, अतः इन्हें भगवद्धामकी प्राप्ति हुई है। तत्पश्चात् उनका शव प्राप्तकर अन्तिम क्रिया करनेके उद्देश्यसे वे नदीके किनारे आये और विधि-विधानपूर्वक उनकी क्रिया की।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आचारज को जामात बात ताकी सुनौ नीके पायो उपदेश सन्त बन्धु कर मानिये।
कीजै कोटि गुनी प्रीति ऐपै न बनति रीति तातें इति करौ याते घटती न आनिये॥
मालाधारी साधु तन सरिता में बह्यो आयो ल्यायो घर फेरिकै विमान शव जानिये।
गावत बजावत लै नीर तीर दाह कियो हियो दुख पायो सुख पायो समाधानिये॥ ११०॥

त्रयोदशाहके दिन श्रीलालाचार्यजीने उन वैष्णव सन्तके निमित्त ब्राह्मण-भोजनका आयोजन किया और उसके हेतु स्थानीय ब्राह्मणोंको आमन्त्रण दिया, परंतु कोई भी ब्राह्मण उनके यहाँ भोजन करने न आया। उन ब्राह्मणोंने आपसमें तय किया कि यह लालाचार्य पता नहीं किस जातिका शव उठा लाया और उसके त्रयोदशाहमें हम लोगोंको खिलाकर भ्रष्ट करना चाहता है, अतः इसके यहाँ किसी भी ब्राह्मणको नहीं जाना चाहिये तथा जो ब्राह्मण परिचयके आयें, उन्हें भी सब बातें बताकर रोक देना चाहिये।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी इस घटनाका इन शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

कियो सो महोच्छौ ज्ञाति विप्रनको न्योतो दियो लियो आये नाहिं कियो शंका दुखदाइये।
भये इक ठौरे माया कीने सब बोरे कछु कहैं बात औरे मरी देह बही आइये॥
याते नहीं खात वाकी जानत न जाति पाँति बड़ौ उतपात घर ल्याइ जाइ दाहिये।
मग अवलोकि उत पर्यो सुनि शोक हिये जिये आइ पूछैं गुरु कैसे कै निबाहिये॥ १११॥

ब्राह्मणोंकी इस दुरभिसन्धिका ज्ञान जब लालाचार्यजीको हुआ, तो वे बहुत ही दुखी और चिन्तित हुए। उन्होंने ये सब बातें आचार्यश्री रामानुजजीसे निवेदन कीं। आचार्यश्रीने कहा कि तुम्हें इस विषयमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। वे ब्राह्मण अज्ञानी हैं और उन्हें वैष्णव-प्रसादके माहात्म्यका ज्ञान ही नहीं है। यह कहकर उन्होंने दिव्य वैष्णव पार्षदोंका आवाहन किया, वैष्णव-प्रसादकी महिमा जाननेवाले

वे दिव्य पार्षद ब्राह्मण-वेशमें उपस्थित होकर श्रीलालाचार्यजीके घरकी ओर उन्मुख हुए। उन्हें देखकर वहाँके स्थानीय ब्राह्मणोंने उन्हें रोकना चाहा, परंतु उनके दिव्य तेजसे अभिभूत होकर खड़े-के-खड़े रह गये और आपसमें विचार किया कि अभी जब ये लोग भोजन करके बाहर आयेंगे तो हम लोग इनकी हँसी उड़ायेंगे कि कहो, किसके श्राद्धके ब्राह्मण-भोजनमें आप गये थे? क्या उसके कुल-गोत्रका भी आप सबको ज्ञान है?

श्रीप्रियादासजी महाराज इस प्रसंगका अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

चले श्रीआचारज पै बारिज बदन देखि करि साष्टांग बात कहि सो जनाइयै।
जाओ निहशङ्क वे प्रसाद को न जानैं रङ्क जानैं जे प्रभाव आवैं वेगि सुखदाइयै॥
देखे नभ भूमि द्वार ऐहैं निरधार जन वैकुण्ठ निवासी पाँति ढिग ह्वै कै आइयै।
इन्हैं अब जान देवौ जनि कछु कहो अहो गहो करौ हाँसी जब घर जाय खाइयै॥ ११२॥

इधर ब्राह्मण लोग ऐसा सोच रहे थे, उधर ब्राह्मणवेशधारी दिव्य पार्षदोंने श्रीलालाचार्यजीके आँगनमें जाकर वैष्णव-प्रसाद पाया और पुनः आकाशमार्गसे वैकुण्ठधामके लिये प्रस्थान कर गये। ब्राह्मणोंने उन्हें जब आकाशमार्गसे जाते देखा तो उनकी आँखें खुल गयीं। उन्हें अपनी भूलका बहुत पछतावा हुआ। वे लोग आकर श्रीलालाचार्यजी महाराजके चरणोंमें गिर पड़े और क्षमा माँगते हुए रोने लगे। सन्त श्रीलालाचार्यजी महाराज तो परम वैष्णव थे, उन्हें उन लोगोपर किंचित् रोष था ही नहीं। वे बोले—आप सब ब्राह्मण हैं, इस प्रकार कहकर मुझे लज्जित न करें। आप सबकी कृपासे मुझे आज दिव्य वैष्णव पार्षदोंके दर्शन हुए, अतः मैं तो स्वयं आपका कृतज्ञ हूँ।

ब्राह्मणोंको अब श्रीलालाचार्यजीके साधुत्व और सिद्धित्वमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह गया। उन सबने श्रीलालाचार्यजीका शिष्यत्व ग्रहण किया और वैष्णव दीक्षा प्राप्त की।

श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीलालाचार्यजीकी इस वैष्णवनिष्ठाका निम्न कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आये देखि पारषद गयो गिरि भूमि सद हद करी कृपा यह जानि निज जन को।
पायो लै प्रसाद स्वाद कहि अहलाद भयो नयो लयो मोद जान्यो साँचो सन्तपन को॥
विदा ह्वै पधारे नभ मग में सिधारे विप्र देखत विचारे द्वार व्यथा भई मन को।
गयो अभिमान आनि मन्दिर मगन भये नये दृग लाज बीनि-बीनि लेत कन को॥ ११३॥
पाँइ लपटाइ अंग धूरि में लुटाय कहैं करो मनभायो और दीन बहु भाख्यो है।
कही भक्तराज तुम कृपा मैं समाज पायो गायौ जो पुराणन में रूप नैन चाख्यो है॥
छाड़ो उपहास अब करो निजदास हमैं पूजै हिये आस मन अति अभिलाख्यो है।
किये परशंस मानो हंस ये परम कोऊ ऐसे जस लाख भाँति घर घर राख्यो है॥ ११४॥

श्रीपादपद्मजी

गुरू गमन (कियो) परदेस सिष्य सुरधुनी दृढ़ाई।
एक मंजन एक पान हृदय बंदना कराई॥
गुरु गंगा में प्रबिसि सिष्य को बेगि बुलायो।
बिष्नुपदी भय जानि कमलपत्रन पर धायो॥

पाद पद्म ता दिन प्रगट, सब प्रसन्न मन परम रुचि।
श्रीमारग उपदेस कृत श्रवन सुनौ आख्यान सुचि॥ ३४॥

श्रीसम्प्रदायके अनुयायी गुरुदेवके उपदेश करनेसे गंगाजीमें उत्पन्न निष्ठाका पवित्र इतिहास सुनिये। गुरुदेव अपनी अनुपस्थितिमें अपने समान गंगाजीको माननेका उपदेश देकर चले गये। ये गुरुवत् गंगाजीकी उपासना करने लगे। अन्य कोई शिष्य श्रद्धापूर्वक स्नान करते थे, कोई गंगाजलपान करते थे, परंतु पादपद्मजी हृदयसे ही गंगाजीकी वन्दना-पूजा करते थे। कभी भी गंगाजीमें स्नान, आचमन नहीं करते थे। इनके हृदयके भावको न जानकर दूसरे लोग आलोचना करते थे। बादमें गुरुदेव लौटकर आये और इनकी निष्ठाका परिचय प्रकट करनेके लिये एक दिन स्नानार्थ गंगाजीमें घुसे और पादपद्मजीको वहीं शीघ्र वस्त्र लेकर आनेको कहा। गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन और गंगामें चरणस्पर्श इन दोनों अपराधोंसे ये भयभीत हुए। भाव जानकर गंगाजीने तटसे लेकर गुरुजीके समीपतक कमलपत्र प्रकट कर दिये। उन्हींपर पैर रखते हुए ये गुरुदेवके समीप दौड़कर गये। पादपद्मजीका जो प्रभाव गुप्त था, वह उस दिन प्रकट हो गया, इस दिव्य चमत्कारको देखकर सभीके मनमें गंगाजी और पादपद्मजीमें अपार श्रद्धा हो गयी। उसी दिनसे उनका पादपद्माचार्य यह नाम पड़ गया॥ ३४॥

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने निम्न दो कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

देवधुनी तीर सो कुटीर बहु साधु रहैं रहै गुरुभक्त एक न्यारो नहिं ह्वै सकै।
चले प्रभु गाँव जिनि तजो बलि जाँव करौ कही दाससेवा गंगा में ही कैसे छ्वै सकै॥
क्रिया सब कूप करै 'बिष्णुपदी' ध्यान धरै रोष भरै सन्त श्रेणी भाव नहीं भ्वै सकै।
आये ईश जानि दुख मानि सो बखान कियो आनि मन जानि बात अंग कैसे ध्वै सकै॥ ११५॥
चले लैके न्हान संग गंग में प्रवेश कियो रंगभरि बोले सो अँगोछा वेगि ल्याइये।
करत विचार सोच सागर न वारापार गंगा जू प्रगट कह्यो कंजन पै आइये॥
चलेई अधर पग धरैं सो मधुर जाइ प्रभु हाथ दियो लियो तीर भीर छाइये।
निकसत धाय चाय पग लपटाय गये बड़ौ परताप यह निशिदिन गाइये॥ ११६॥

सन्त श्रीपादपद्म आचार्यजी महाराजका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीपादपद्मजी श्रीसम्प्रदायके अनुयायी परम वैष्णव सन्त थे। इनकी अपने गुरु और माता गंगाजीमें अनन्य श्रद्धा थी। इनके पादपद्म नाम पड़नेकी बड़ी रोचक कथा है, जो गुरु और गंगाजीके प्रति इनकी अनन्य भक्तिको दरसाती है—

पादपद्माचार्यजी अपने सद्गुरुदेवको साक्षात् परमात्मा मानकर उनकी अत्यन्त भक्तिभावसे पूजा-सेवा किया करते थे। गुरुसेवाको छोड़कर अन्य कोई भी कार्य उनके लिये रुचिकर नहीं था। उन्हें अपने गुरुसे एक क्षण भी विलग रहना स्वीकार नहीं था। एक बार किसी कार्यवश उनके गुरुदेवको अन्यत्र किसी दूसरे ग्राममें जाना था, पादपद्माचार्यजीने गुरुदेवसे साथ ही ले चलनेकी प्रार्थना की और कहा कि बिना आपके श्रीचरणोंके दर्शनके मेरा जीवन सम्भव नहीं होगा, अतः कृपाकर मुझे आप अपनेसे अलग न कीजिये। गुरुदेवने कहा—वत्स! मेरे आश्रमपर अनेक सन्त-भक्त आते रहते हैं, उनकी सेवा करना मेरा धर्म है, यदि तुम भी मेरे साथ चले चलोगे तो आश्रम सूना हो जायगा और यहाँ आनेवाले साधु-सन्तोंको महान् कष्ट होगा। अतः तुम्हें आश्रममें रहते हुए मेरे इस दायित्वकी पूर्ति करनी चाहिये। वत्स! गुरुकी आज्ञा मानना गुरुकी भौतिक सेवासे भी बड़ी बात है, अतः तुम्हें यहीं रुककर मेरी आज्ञाका पालन करना चाहिये। रही

मेरे प्रति भावकी बात तो ये माता गंगाजी तो आश्रमके पास हैं ही; ये ब्रह्मद्रवरूपिणी साक्षात् परमात्मा ही हैं, अतः तुम इन्हें ही गुरु मानकर इनकी सेवा-पूजा करना। मैं कुछ ही समयमें वापस आ जाऊँगा।

पादपद्माचार्यजीने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वे आश्रममें आये साधु-सन्तोंकी सेवा करते और गुरु मानकर नित्य गंगाजीका पूजन करते। आश्रममें गंगाजीमें अपने शरीरका स्पर्श न कराकर बाहर कुएँ आदिपर स्नान कर लेते थे। उनके इस दिव्य भावको माता गंगाजी और उनके गुरुदेव ही जान सकते थे, अन्य आश्रमवासी तो उनकी इस क्रियापर व्यंग्य ही किया करते थे।

कुछ दिनों बाद गुरुदेव पुनः आश्रममें आ गये। कुछ लोगोंने पादपद्मके उक्त आचरणकी बात उनसे शिकायतके रूपमें कही। यह सब सुनकर गुरुदेवने पादपद्मजीके दिव्य भाव और उनके प्रभावको प्रकट करनेका मन-ही-मन निर्णय लिया। एक दिन वे पादपद्मजीको लेकर गंगा-स्नान करने गये और तटपर अँगौछा रखकर स्वयं गंगाजीमें प्रवेश कर गये। डुबकी लगानेके बाद उन्होंने वहीं खड़े-खड़े पादपद्मजीसे अँगौछा माँगा। अब पादपद्मजीके लिये बड़ी विषम स्थिति हो गयी, यदि अँगौछा लेकर जाते हैं तो गंगाजीमें उनका पैर पड़ेगा और यदि नहीं जाते तो गुरु-आज्ञाकी अवहेलना होगी। उनके मनके इस ऊहापोह और अपने प्रति दिव्य भाव जानकर गंगाजी स्वयं प्रकट हो गयीं और उन्हें एक पद्मपत्र दिखाते हुए कहा कि इसपर पैर रखकर चले जाओ। श्रीपादपद्मजीने जैसे ही उस पद्मपत्रपर पैर रखा, उनके सामने एक दूसरा पद्मपत्र प्रकट हो गया। इस प्रकार वे पद्मपत्रोंपर पैर रखते हुए गुरुदेवतक पहुँच गये और उनका यह नाम पड़ा।*

श्रीरामानुजसिद्धान्तके मतावलम्बी अन्य आचार्यगण

देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानँद।
तस्य राघवानंद भए भक्तन को मानद॥
पृथ्वी पत्रावलँब करी कासी अस्थाई।
चारि बरन आश्रम सबहीको भक्ति दृढ़ाई॥
तिन के रामानँद प्रगट बिश्वमँगल जिन्ह बपु धरयो।
(श्री) रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसरयो ॥ ३५ ॥

श्रीदेवाचार्यजीद्वारा श्रीरामानुजाचार्यकी पद्धति अर्थात् विशिष्टाद्वैतसम्मत श्रीसम्प्रदायका प्रताप संसारी जीवोंको भक्तिरूप जीवन देनेके लिये अमृतके समान कल्याणकारी होकर पृथ्वीपर फैला। देवगुरु बृहस्पतिके समान महामहिमावाले दूसरे आचार्य श्रीहर्यानन्दजी हुए। उनके शिष्य श्रीराघवानन्दजी हुए, जो भक्तोंको आदर देनेवाले थे, जिन्होंने भारतभूमिको अपने विजयपत्रके आश्रित कर लिया था। ये काशीमें स्थायीरूपसे निवास करते थे। इन्होंने चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लोगोंमें भगवान्‌की भक्तिको सुदृढ़रूपसे स्थापित किया। उनके शिष्यरूपमें भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी प्रकट हुए, जिन्होंने संसारका कल्याण करनेके लिये ही शरीर धारण किया था॥ ३५ ॥

श्रीसम्प्रदायके इन सन्तोंका पावन चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

* श्रीपद्मपादाचार्य नामके एक अन्य प्रसिद्ध सन्त श्रीमद् आद्य शंकराचार्यजीके चार प्रधान शिष्योंमें भी हुए हैं, जिनके जीवनमें भी ऐसी घटना घटी थी। भक्तोंके जीवनमें कभी-कभी समान घटनाएँ भी घटती हैं, अतएव भ्रमित नहीं होना चाहिये।

श्रीदेवाचार्यजी

श्रीदेवाचार्यजी महाराज भगवत्प्राप्त परम वैष्णव सिद्ध सन्त थे। श्रीमद्भागवत ग्रन्थपर आपकी अगाध श्रद्धा थी। आपके कथावाचनके समय जड़-चेतन सभी मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। वैष्णव धर्मका प्रचार करना आपका जीवन-लक्ष्य था और इसकी सम्पूर्तिके लिये आप सदैव विचरण किया करते थे।

एक बारकी बात है, आप काशीपुरीकी यात्रापर थे, मार्गमें आपने एक गाँवमें विश्राम किया। गाँववाले बड़े ही श्रद्धालु थे, उन्होंने अपने बीच वैष्णव सन्तको देखा तो उनसे सत्संग—कथा-प्रवचन करनेका अनुरोध किया। फिर क्या था, सन्त श्रीदेवाचार्यजी महाराज तो यही चाहते ही थे कि कथा-प्रवचनके माध्यमसे भगवद्भक्तिका प्रचार हो। उन्होंने मन-ही-मन 'यमलार्जुन-उद्धार' की कथा सुनानेका निश्चय किया। उनका उद्देश्य था कि लोग उस परमात्माकी भक्ति करें जो चेतन क्या, जड़का भी उद्धार करनेवाला है। ऐसा निश्चयकर आचार्यजीने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें आयी ऊखल-बन्धन एवं नल-कूबरके उद्धारकी कथा सुनाना प्रारम्भ किया। अकस्मात् समीपमें ही स्थित एक प्राचीन विशाल वृक्ष भयंकर ध्वनिके साथ जड़से उखड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ा। सभी लोग उस महान् आश्चर्यमयी घटनाको देख भौंचक्के रह गये। उनमें आपसमें चर्चा होने लगी कि किसी प्रकारका आँधी-तूफान तो आया नहीं, फिर यह वृक्ष क्यों उखड़ पड़ा? श्रीदेवाचार्यजी इतनी बड़ी घटनाके बाद भी शान्त और स्थिरचित्त ही रहे। इतनेमें ही 'जय-जय' की गम्भीर ध्वनि करता हुआ एक दिव्य पुरुष वृक्षकी जड़से प्रकट हुआ और श्रीदेवाचार्यजीके चरणोंमें प्रणामकर कहने लगा—'हे प्रभो! आपने भगवान् श्रीहरिकी मंगलमयी कथा सुनाकर वृक्षयोनिसे मेरा उद्धार कर दिया, अब मैं श्रीभगवान्‌के धाम जा रहा हूँ।' यह कहकर वह दिव्य पुरुष अदृश्य हो गया और आकाशमें शंख एवं घड़ियालकी मंगलमयी ध्वनि होने लगी।

इस घटनासे उपस्थित जन-समुदायके मनमें यह विश्वास हो गया कि श्रीदेवाचार्यजी महाराज भगवत्प्राप्त सन्त हैं और उन सबने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस प्रकार श्रीदेवाचार्यजीने अनेक स्थानोंका भ्रमणकर लाखों लोगोंको भगवद्भक्त बनाकर उनका कल्याण किया।

श्रीहर्यानन्दजी

परम वैष्णव सन्त श्रीहर्यानन्दजी महाराज श्रीश्रियानन्दाचार्यजी महाराजके शिष्य थे। आप सदा भगवान् श्रीहरिकी भक्तिमें लवलीन रहा करते थे, इसलिये आपके गुरुदेवने आपका 'हर्यानन्द'—यह नाम रख दिया था। भगवद्भजन और भगवन्नाम-स्मरण करते-करते आप स्वयं भगवत्स्वरूप हो गये थे। आपके दर्शनसे प्राणियोंको बहुत सुख मिलता था। भगवद्विमुख जीव भी आपका दर्शन करके भगवद्भक्त बन जाते थे। आपने अनेक स्थानोंपर भ्रमण करते हुए बहुत-से शिष्य बनाये और भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार किया।

एक बार आप महाप्रभु भगवान् जगन्नाथजीका दर्शन करने भगवद्धाम श्रीजगन्नाथपुरीकी यात्रापर जा रहे थे, आपके साथ और भी बहुत-से वैष्णव भक्त थे। उस समय जगन्नाथपुरीमें भगवान् श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्राका महोत्सव चल रहा था। भगवान्‌को रथपर बैठाकर गुण्डिचा मन्दिर ले जाया जा रहा था। भगवान् जगन्नाथ महाप्रभुका विशाल गगनचुम्बी रथ भक्तोंद्वारा खींचा जा रहा था। अचानक रथ चलते-चलते रुक गया। लोगोंने बहुत प्रयास किया, परंतु रथ टस-से-मस न हुआ। सम्भवतः भगवान्‌को अपने भक्तकी प्रतीक्षा थी या उसकी महिमाका ख्यापन करना था। रथ आगे बढ़ सके—इसका लोगोंको कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। तभी श्रीहर्यानन्दजी भीड़से निकलकर आगे आये और सबको सुनाकर कहा कि आपलोग रथको छोड़कर दूर हट जायँ, यह रथ स्वयं चलेगा।

श्रीहर्यानन्दजी महाराजकी बात सुनकर उपस्थिति जनसमुदाय रथ छोड़कर अलग हट गया। आश्चर्य! रथ अपने-आप चलने लगा और सौ कदमतक अपने-आप चलता रहा। उपस्थित जनसमुदायमें महाप्रभु जगन्नाथस्वामीके साथ-साथ श्रीहर्यानन्दजी महाराजकी भी जय-जयकार होने लगी। सबने मान लिया कि ये कोई सिद्ध सन्त हैं, भगवान्ने इन्हींके लिये अपना रथ रोक रखा था। सम्पूर्ण जनसमुदाय इनका शिष्य बन गया। इसी प्रकार श्रीहर्यानन्दजी महाराजने बहुत-से लोगोंको अपना शिष्य बनाकर उन्हें भगवद्भक्तिके मार्गमें लगाया।

श्रीराघवानन्दजी

श्रीसम्प्रदायमें श्रीराघवानन्दजी महाराजको गुरुदेव वसिष्ठका अवतार माना जाता है। आप श्रीहर्यानन्दजी महाराजके कृपापात्र थे। वेद-शास्त्र-पुराणादिके प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी आप अत्यन्त अमानी थे, किसी प्रकारका अहंकार आपको छू नहीं गया था। आप भक्तिमें वर्णभेद नहीं मानते थे, अतः आपने चारों वर्णोंके लोगोंको भक्तिका उपदेश दिया।

आप एक सिद्ध सन्त थे, परंतु आपकी सिद्धियाँ चमत्कार-प्रदर्शनके लिये नहीं, अपितु जनता-जनार्दनको भगवद्भक्तिकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये थीं। एक बारकी बात है, आपके तीन श्रद्धालु भक्तोंने एक ही दिन मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये कहा। तीनों अलग-अलग स्थानके रहनेवाले थे। श्रीराघवानन्दजी महाराज अपने तीनों भक्तोंकी इच्छा पूरी करना चाहते थे, अतः उन्होंने योगबलसे तीन रूप बनाये और तीनों भक्तोंके यहाँ जाकर एक ही साथ एक ही समयपर मन्त्र-दीक्षा दी। आपने बहुत समयतक काशीमें निवास किया। आपको श्रीरामानन्दाचार्यजीका गुरु होनेका गौरव प्राप्त है, जिन्हें श्रीसम्प्रदायमें साक्षात् भगवान् श्रीरामका अवतार माना जाता है।

श्रीरामानन्दाचार्यजी

श्रीरामानन्दजी श्रीरामायत या श्रीरामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य हैं। कबीर, सेन, धन्ना, रैदास आदि इनके शिष्य थे। इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण आगे छप्पय ३६ में दिया गया है।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी और उनके द्वादश प्रधान शिष्य

अनँतानंद कबीर सुखा (सुरसुरा) पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानँद रैदास धना सेन सुरसुर की घरहरि॥
औरौ सिष्य प्रसिष्य एक ते एक उजागर।
बिस्वमँगल आधार सर्वानँद दसधा आगर॥
बहुत काल बपु धारि कै प्रनत जनन कौं पार दियो।
(श्री) रामानँद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो॥ ३६॥

जिस प्रकार श्रीरघुनाथजीने वानरोंकी सेनाको पार करनेके लिये समुद्रपर पुल बनवाया था, उसी प्रकार श्रीरामानन्दाचार्यजीने संसारी जीवोंको भवसागरसे पार करनेके लिये अपनी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परासे सेतु-निर्माण कराया। श्रीअनन्तानन्दजी, श्रीकबीरदासजी, श्रीसुखानन्दजी, श्रीसुरसुरानन्दजी, श्रीपद्मावतीजी, श्रीनर-हरियानन्दजी, श्रीपीपाजी, श्रीभावानन्दजी, श्रीरैदासजी, श्रीधन्नाजी, श्रीसेनजी और श्रीसुरसुरानन्दजीकी पत्नी—ये श्रीरामानन्दाचार्यजीके सर्वप्रधान द्वादश शिष्य थे। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से शिष्य-प्रशिष्य

एक-से-एक प्रसिद्ध एवं प्रतापी हुए। ये संसारका कल्याण करनेवाले, भक्तोंके आधार और प्रेमाभक्तिके खजाने थे। श्रीरामानन्दाचार्यजीने बहुत कालतक शरीरको धारणकर शरणागत जीवोंको संसार-सागरसे पार किया॥ ३६ ॥

श्रीरामानन्दजी एवं उनके द्वादश प्रधान शिष्योंके चरित इस प्रकार हैं—

श्रीरामानन्दाचार्यजी

श्रीरामायत या श्रीरामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य श्रीरामानन्दजी एक उच्चकोटिके आध्यात्मिक महापुरुष थे। इनका जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मणकुलमें माघकृष्ण सप्तमी, भृगुवार, संवत् १३२४ को प्रयागमें त्रिवेणीतटपर हुआ था। इनके पिताका नाम पुण्यसदन और माताका नाम श्रीमती सुशीला था।

आठवें वर्ष इनका उपनयन-संस्कार किया गया। उपनीत ब्रह्मचारी जब पलाशदण्ड धारणकर काशी विद्याध्ययन करने चला, तब आचार्य एवं सम्बन्धियोंके आग्रह करनेपर भी नहीं लौटा। विवश हो माता-पिता भी साथ हो लिये और बालक अपनी माताके साथ अपने मामा ओंकारेश्वरके यहाँ काशीमें ठहरकर विद्याध्ययन करता रहा। बारह वर्षकी अवस्थातक बालक ब्रह्मचारीने समस्त शास्त्रोंका अध्ययन पूर्ण कर लिया।

विवाहकी चर्चा चली। बालकने इनकार कर दिया। इसके पश्चात् स्वामी राघवानन्दजीसे दीक्षा लेकर पंचगंगा घाटपर जाकर एक घाटवालेकी झोंपड़ीमें ठहरकर तप करना आरम्भ कर दिया। लोगोंने ऊँचे स्थानपर एक कुटी बनाकर तपस्वी बालकसे उसमें रहनेकी विनय की। उनकी विनय सुनकर वे उस कुटियामें आ गये और उसीमें ज्ञानार्जन और तपस्या करते रहे। उनके अलौकिक प्रभावके कारण उनकी बड़ी ख्याति हुई। बड़े-बड़े साधु और विद्वान् आपके दर्शनार्थ आश्रममें आने लगे।

स्वामीजीने देश और धर्मका महान् कल्याण किया। उनका दिव्य तेज राजनीतिक क्षेत्रमें उसी प्रकार चमकता था, जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्रमें। उस महाभयंकर कालमें आर्य-जाति और आर्य-धर्मके त्राणके साथ ही विश्वकल्याण एवं भगवद्धर्मके अभ्युत्थानके लिये जैसे शक्तिशाली और प्रभावशाली आचार्यकी आवश्यकता थी, स्वामी रामानन्दजी वैसे ही जगद्गुरु थे।

कहते हैं कि इनके सम्प्रदायकी प्रवर्तिका जगज्जननी श्रीसीताजी हैं। उन्होंने पहले हनुमान्‌जीको उपदेश दिया था और फिर उनसे संसारमें इस रहस्यका प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदायका नाम 'श्रीसम्प्रदाय' है और इसके मुख्य मन्त्रको रामतारक कहते हैं।

अपने परमधाम-गमनके पूर्व श्रीस्वामीजीने अपनी शिष्यमण्डलीको सम्बोधित करके कहा कि 'सब शास्त्रोंका सार भगवत्स्मरण है, जो सच्चे सन्तोंका जीवनाधार है। कल श्रीरामनवमी है। मैं अयोध्याजी जाऊँगा। परंतु मैं अकेला जाऊँगा। सब लोग यहीं रहकर उत्सव मनायें। कदाचित् मैं लौट न सकूँ, आपलोग मेरी त्रुटियों एवं अविनय आदिको क्षमा कीजियेगा। यह सुनकर सबके नेत्र सजल हो गये। दूसरे दिन स्वामीजी संवत् १५१५ में अपनी कुटीमें अन्तर्धान हो गये।

यहाँ संक्षेपमें इनकी शिष्यपरम्पराका वर्णन प्रस्तुत है—

श्रीरामानन्दजीके द्वादश शिष्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इन द्वादश भक्तोंमेंसे श्रीअनन्तानन्दजीका वर्णन छप्पय ३७ में, श्रीकबीरदासजीका छप्पय ६० में, श्रीसुखानन्दजीका छप्पय ६४ में, श्रीसुरसुरानन्दजीका छप्पय ६५ में, श्रीनरहरियानन्दजीका छप्पय ६७ में, श्रीपीपाजीका छप्पय ६१ में, श्रीरैदासजीका छप्पय ५९ में, श्रीधन्नाजीका छप्पय ६२ में, श्रीसेनजीका छप्पय ६३ में तथा श्रीसुरसुरीजीका छप्पय ६६ में आया है।

अन्य शिष्योंका वर्णन आगे इस प्रकार किया गया है—

श्रीपद्मावतीजी

श्रीपद्मावतीजी साक्षात् भगवती लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूप ही थीं, पद्मसदृश कान्ति होनेके कारण उनके माता-पिताने उनका पद्मावती यह नाम रखा था। पद्मावतीजीका जन्म त्रिपुरा नामक नगरमें एक ब्राह्मणदम्पतीके घर हुआ था। आपके पिता पण्डित श्रीप्रभाकरजी महाराज भगवती लक्ष्मीके अनन्य आराधक थे। उनकी आराधनाके फलस्वरूप साक्षात् भगवती लक्ष्मीजी ही उनकी कन्याके रूपमें अवतरित हुई थीं। पद्मावतीकी बाल-लीलाएँ अत्यन्त दिव्य थीं, उनके जन्मके साथ ही पण्डित श्रीप्रभाकरजी महाराजका घर ऋद्धि-सिद्धियोंसे परिपूर्ण हो गया। बालिका पद्मावती जब पाँच वर्षकी हुईं तो उन्होंने अपने पितासे काशी ले चलनेका आग्रह किया। उन्होंने यह भी बताया कि वे काशीमें श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके दर्शन करना चाहती हैं। माता-पिताने अपनी लाडली पुत्रीका आग्रह स्वीकारकर काशीपुरीकी यात्रा की और श्रीस्वामीजीके दर्शन किये तथा उन्हें अपनी पुत्रीकी इच्छा बतायी। श्रीस्वामीजी तो सिद्ध सन्त थे ही, उन्हें पद्मावतीके साक्षात् स्वरूपको समझनेमें देर न लगी। उन्होंने पण्डित श्रीप्रभाकरजीको पद्मावतीको लानेकी अनुमति दे दी।

पद्मावतीने श्रीस्वामीजीके दर्शनकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय उनके श्रीअंग पुलकायमान हो रहे थे। उन्होंने आचार्यश्रीसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। पद्मावतीकी विनती मानकर आचार्यश्रीने उन्हें मन्त्र-दीक्षा दी और उपासना-रहस्यका बोध कराया। पद्मावतीके कहनेपर उनके माता-पिताने भी श्रीस्वामीजीसे दीक्षा ले ली। इस प्रकार पद्मावती अपने माता-पिताके साथ काशीमें ही रहकर भगवदाराधन करने लगीं। पद्मावती जब आठ वर्षकी हुईं तो उन्होंने अन्न-जलका परित्याग कर दिया और वे महान् तपस्यामें लीन हो गयीं। उस समय उनके इस महान् तपकी चर्चा काशीमें सर्वत्र व्याप्त हो गयी। एक दिन श्रीपद्मावतीजी गुरुदेव श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजीके दर्शन करने गयीं। श्रीगुरुदेवने दर्शन देनेके बाद उनसे कहा कि अब तुम्हारा तप पूर्ण हो गया है, अब तुम अपने निजधामको जाओ। यह सुनकर पद्मावतीने आचार्यश्रीके चरणोंमें बार-बार प्रणाम किया और उनकी स्तुतिकर सबके देखते-देखते दिव्य विमानपर बैठकर परमधामको चली गयीं।

श्रीभावानन्दजी

श्रीभावानन्दजी महाराज परम सन्त श्रीज्ञानदेवजीके पिता थे। इनके गृहस्थाश्रमका नाम श्रीविट्ठलपन्त था। इनके पूर्वज मिथिलाके निवासी थे, परंतु इनके पितामह भगवान् पुण्डरीकनाथजीके बड़े भक्त थे, अतः वे पण्ढरपुरके पास ही आलन्दी नामक ग्राममें बस गये। वहीं श्रीविट्ठलपन्तजीका जन्म हुआ, जो बादमें स्वामी रामानन्दाचार्यजीसे दीक्षा लेकर भावानन्दके नामसे विख्यात हुए। आपके पितामह श्रीहरिनाथमिश्रजी और पिता श्रीरघुनाथमिश्रजी सद्‌गृहस्थ और परम भागवत थे, अतः वेद-शास्त्र आदिकी शिक्षा इन्हें घरपर ही प्राप्त हो गयी। इस प्रकार ज्ञान-भक्ति और वैराग्यके इनके संस्कार घरसे ही पुष्ट हो गये। कालान्तरमें आपका विवाह सिद्धोपन्त नामक एक कुलीन ब्राह्मणकी परम सुशीला कन्या रुक्मिणीसे हो गया। श्रीरुक्मिणीबाईजी परम पतिव्रता थीं, वे पतिके कार्यों, अतिथि-अभ्यागतोंके सत्कार और गृहस्थ धर्मका सम्यक् रूपसे निर्वाह करती थीं। श्रीविट्ठलपन्तजीकी साधुता देखकर एक कर्कोटकवंशीय नाग-दम्पतीने इन्हें पर्याप्त मात्रामें धन प्रदान किया, जिसका आपने साधु-सन्त-सेवामें उपयोग किया।

एक दिन आपके यहाँ एक सन्त आये, सत्संगके दौरान उन्होंने बताया कि काशीमें श्रीरामानन्दाचार्य नामके एक परम भागवत वैष्णव सन्त हैं, मैं उन्हींके दर्शन करने जा रहा हूँ। यह सुनकर आप भी काशी जानेके लिये तैयार हो गये। पत्नीको घर-गृहस्थी और अतिथि-सेवाका कार्य सौंपकर स्वयं उन सन्त भगवान्‌के साथ काशीके लिये प्रस्थान कर गये। मार्गमें उन्हें अनुभूति हुई कि मेरे साथ चल रहे सन्त साक्षात् विश्वामित्रजी हैं और इनके साथ सुकुमार अवस्थाके श्याम-गौर दो किशोर श्रीराम-लक्ष्मण हैं। फिर क्या था! वहीं इनकी भावसमाधि लग गयी। समाधिसे जाग्रत् होनेपर उन्होंने देखा कि वहाँ न तो वे सन्त हैं और न ही दोनों किशोर। फिर तो वे प्रभु-दर्शनके लिये व्याकुल हो गये और 'हा राम' 'हा रघुनाथ' कहते हुए करुण क्रन्दन करने लगे। कहते हैं कि इनकी इस प्रकारकी दशा देखकर दो बालक इनके पास आये और इन्हें खानेके लिये भगवत्प्रसाद दिया और फिर इन्हें मार्ग दिखाते हुए काशीके पंचगंगाघाटपर पहुँचा दिया, जहाँ स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजीका आश्रम था। उन बालकोंके प्रति आपका श्रीराम-लक्ष्मणका भाव था, अतः उनके चले जानेपर पुनः आप विरह-व्याकुल हो गये। उसी समय श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके शंखकी दिव्य ध्वनि आपके कानोंमें पड़ी, जिसे श्रवणकर आपके अन्तःकरणमें ज्ञानका उदय हुआ और आपने स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजकी शरण ग्रहण की। स्वामीजीने आपको राम-मन्त्रकी दीक्षा देकर आपका नाम भावानन्द रख दिया।

स्वामीजी अपने शिष्योंसहित धर्म-प्रचारार्थ सम्पूर्ण देशमें भ्रमण करते रहते थे। इसी क्रममें वे एक बार श्रीरामेश्वरम् धामकी यात्रापर निकले थे। संयोगसे एक दिन उन्होंने आलन्दी ग्राममें विश्राम किया। यह वही ग्राम था, जहाँ भावानन्दजीका गृहस्थाश्रमका घर था। स्वामीजीका आगमन जानकर गाँवके समस्त नर-नारी उनके दर्शनके लिये आये। उनमें श्रीभावानन्दजी महाराजकी पत्नी श्रीरुक्मिणीबाई भी थीं। उन्होंने जब स्वामीजीके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया, तो स्वामीजीने उन्हें स्वाभाविक रूपसे '**पुत्रवती भव**' का आशीर्वाद दे दिया। इसपर रुक्मिणीबाईने कहा—'प्रभो! मेरे पतिदेव तो आपसे दीक्षा लेकर संन्यासी हो गये हैं, ऐसेमें आपका आशीर्वाद कैसे सफल होगा?'

स्वामी रामानन्दजी महाराज सिद्ध सन्त थे, उनकी वाणी मिथ्या नहीं हो सकती थी। उन्होंने अपनी ज्ञानदृष्टिसे भविष्यकी घटनाओंको देखते हुए भावानन्दजीको आदेश दिया कि तुम पुनः गृहस्थाश्रममें लौट जाओ। मेरी आज्ञा होनेसे तुम्हारा पतन नहीं होगा और न ही तुम्हें कोई पाप लगेगा। तुम्हें तीन दिव्य पुत्रों और एक कन्यारत्नकी प्राप्ति होगी। तुम्हारे पुत्र साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु और महेशके अंश होंगे और पुत्री साक्षात् योगमाया होगी, अतः तुम विश्वका कल्याण करनेके लिये पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करो—यही विधि-विधान है।

श्रीभावानन्दजीने प्रभुकी इच्छा जानकर गुरुकी आज्ञासे पुनः गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। कालान्तरमें निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव और सोपानदेव नामक उनके तीन पुत्र हुए, जो आगे चलकर महान् सन्त हुए। एक कन्या हुई, जिसका नाम मुक्ताबाई हुआ, वह भी सिद्धयोगिनी थी। इतना सब होते हुए भी वहाँके ब्राह्मणोंने श्रीभावानन्दजीके पुत्रोंका यज्ञोपवीत-संस्कार करनेसे मना कर दिया। उनका कथन था कि एक बार संन्यासी होनेके बाद पुनः गृहस्थाश्रममें लौटकर सन्तानोत्पत्ति करनेकी कोई शास्त्रीय व्यवस्था नहीं है, अतः तुम्हें प्रायश्चित्त करना होगा; तभी तुम्हारे पुत्रोंका वैदिक-संस्कार सम्भव है। प्रायश्चित्त भी कोई साधारण प्रायश्चित्त नहीं था। पति-पत्नी दोनोंको शरीर त्यागना होगा—यही प्रायश्चित्त निश्चित हुआ। श्रीभावानन्दजीने कहा—जिससे धर्मशास्त्रकी रक्षा हो, जिससे मेरे पुत्रोंका कल्याण

हो—वह मेरे लिये भी मंगलकारी है, ऐसा निश्चयकर वे रुक्मिणीबाईको साथ लेकर तीर्थराज प्रयाग चले आये और वहीं माता त्रिवेणीकी गोदमें समा गये।

श्रीअनन्तानन्दजी और उनकी शिष्यपरम्परा

जोगानंद गयेस करमचँद अल्ह पैहारी।
(सारी) रामदास श्रीरंग अवधि गुन महिमा भारी॥
तिन के नरहरि उदित मुदित मेहा मंगलतन।
रघुबर जदुबर गाइ बिमल कीरति संच्यो धन॥
हरिभक्ति सिंधु बेला रचे पानि पद्मजा सिर दए।
अनँतानँद पद परसि कै लोकपाल से ते भए॥ ३७॥

योगानन्दजी, गयेशजी, कर्मचन्दजी, अल्हजी, पयहारीजी, (सारी) रामदासजी और श्रीरंगजी उत्तम-गुणोंकी सीमा तथा महाप्रतापी हुए। श्रीरंगजीके शिष्यके रूपमें परमप्रसन्न श्रीनरहरिजीका उदय हुआ। ये सभी निरन्तर भक्तिकी वर्षा करनेवाले मेघके समान मंगलमय शरीर धारण करनेवाले हुए। श्रीअनन्तानन्दजी एवं उनके शिष्यगणोंने श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रजीका निर्मल यशोगान करके पवित्र कीर्तिरूपी धनका संग्रह किया। श्रीअनन्तानन्दजी भगवद्भक्तिरूपी समुद्रकी मर्यादा थे। पद्मजा श्रीजानकीजीने आपके सिरपर अपना वरदहस्तकमल रखकर आशीर्वाद दिया। श्रीस्वामी अनन्तानन्दाचार्यजीके पूज्य श्रीचरण-कमलोंका स्पर्श करके उनके ये शिष्यगण लोकपालोंके समान भक्तजनोंका पालन करनेवाले हुए॥ ३७॥

यहाँ श्रीअनन्तानन्दजी तथा उनके शिष्योंका चरित संक्षेपमें दिया जा रहा है—

श्रीअनन्तानन्दजी

श्रीअनन्तानन्दजी महाराज स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके द्वादश प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। आपके गृहस्थाश्रमका नाम पं० छन्नूलाल था। आपका जन्म श्रीअयोध्याजीके समीप रामरेखा नदीके तटपर स्थित महेशपुर नामक ग्राममें हुआ था, परंतु आपकी शिक्षा-दीक्षा काशीमें हुई और आप वहीं बस गये थे। आपके पिता पं० श्रीविश्वनाथमणित्रिपाठी सनाढ्य ब्राह्मण थे, भगवान् श्रीराम और अयोध्याधामके प्रति विशेष निष्ठा होनेके कारण ये 'अवधू पण्डित' के नामसे विख्यात थे।

अवधू पण्डित भगवती सरस्वतीके बड़े भक्त थे, कहते हैं कि माता सरस्वतीजीके ही आशीर्वादसे कार्तिकपूर्णिमा, सं० १३६३ वि० को श्रीअनन्तानन्दजीका जन्म हुआ था। महापुरुषोंका जीवन बहुत ही विषम होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी ही भाँति आपकी भी माताका परमधामगमन आपके जन्मके ठीक बाद ही हो गया था। उसके कुछ समय बाद पिताकी भी छत्रछाया सिरसे उठ गयी। अब तो बालक छन्नू अनाथ ही हो गये, ऐसे समयमें अवधू पण्डितके यजमान ग्वालोंकी दृष्टि आपपर पड़ी। उन लोगोंने आपका लालन-पालन किया। थोड़ा बड़े होनेपर आप भी ग्वाल-बालोंके साथ वनमें गाय चराने लगे।

एक दिन आप वनमें गायें चरा रहे थे कि उसी समय आपको दिव्य वंशी-ध्वनि सुनायी पड़ी, आप उस ध्वनिसे आकर्षित होकर उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ 'सँवरू' नामक साँवला-सलोना बालक अपनी गायोंको चराते हुए वंशीवादन कर रहा था। आपकी बालक 'सँवरू' से मित्रता हो गयी। अब तो सँवरूके

साथ गायें चराना और उसका वंशीवादन सुनना आपका नित्यकार्य हो गया। आप दोनोंकी मित्रता इतनी प्रगाढ़ हो गयी कि एक पलका भी विरह अच्छा नहीं लगता था। अत: आपने एक दिन अपने मित्रसे यह बात बतायी और स्वयंको भी अपने घर ले चलनेको कहा। कहनेकी बात नहीं कि आपके मित्र 'सँवरू' और कोई नहीं, अखण्डब्रह्माण्डाधिपति गोलोकाधीश्वर भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही थे। उन्होंने आपसे आँखें बन्द करनेको कहा और जैसे ही आपने अपनी आँखें बन्द कीं, एक ही क्षणमें आप भगवान्‌के नित्य निवास श्रीगिरिराज गोवर्धनपर पहुँच गये। वहाँ श्रीभगवान्‌ने आपको अपनी विविध लीलाओंका दर्शन कराया, इससे इन्हें अपने ब्रह्मस्वरूपका ध्यान हुआ और आपकी भाव-समाधि लग गयी। पुन: समाधिसे जाग्रत् होनेपर आपने अपने-आपको वनमें उसी स्थानपर पाया, जहाँ आपकी सँवरूसे भेंट हुई थी। अब तो आप विरह-व्याकुल हो उठे।

इधर भगवान्‌ने पं० श्रीश्यामकिशोर नामक एक भगवद्भक्त ब्राह्मणको ध्यानावस्थामें आज्ञा दी कि वह आपको अपने घर लाये और लालन-पालन करे। पं० श्रीश्यामकिशोरजीको भी कोई सन्तान नहीं थी, प्रभुकी आज्ञा मान उन्होंने आपका पुत्रवत् पालन-पोषण किया और विद्याध्ययनके लिये काशी ले आये और फिर यहीं बस गये। आप भगवती सरस्वतीके वरद पुत्र थे, थोड़े ही समयमें आप सर्वशास्त्रनिष्णात होकर काशीके प्रतिष्ठित विद्वान् हो गये।

एक बारकी बात है, महाशिवरात्रिको आप भगवान् विश्वनाथजीके मन्दिरमें जागरण कर रहे थे। उसी समय आपको स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजकी दिव्य शंख-ध्वनि सुनायी दी। उस शंख-ध्वनिसे आकृष्ट होकर आप पंचगंगाघाटस्थित स्वामी रामानन्दजीके आश्रममें आये और वहीं उसी समय उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया, फिर घर लौटकर नहीं गये। श्रीमदाचार्यचरणने आपको श्रीराममन्त्रकी दीक्षा देकर 'श्रीअनन्तानन्द' नाम रख दिया।

श्रीअनन्तानन्दजी महाराज परम अमानी और अपरिग्रही वैष्णव थे। आपने अपनी समस्त सम्पत्ति घर-द्वार आदिको तृणके समान त्याग दिया और आश्रममें रहते हुए बुहारी करने लगे। साधुता सिद्धिकी कारक होती है, अनन्तानन्दजी गुरुकृपासे सिद्ध महात्मा हो गये थे। एक बार श्रीकृपाशंकरजी नामक एक सिद्धयोगी आचार्यचरण श्रीरामानन्दजी महाराजके दर्शन करने आये, उस समय आचार्यश्री समाधिस्थ थे। अनन्तानन्दजीने जब दर्शनार्थ आये योगी अतिथियोंको आकाशमें स्थित देखा तो स्वयं भी उनके स्वागतार्थ आकाशमें ही जाकर उनके लिये आसन बिछा दिया और धूपसे रक्षार्थ चँदोवा तान दिया। सिद्धलोग उनके इस अद्भुत प्रभावको देखकर विस्मित हो गये और उन्हें विश्वास हो गया कि श्रीरामानन्दजी सिद्ध सन्त हैं, जब उनके शिष्यका ऐसा प्रभाव है, तो उनकी महिमाकी क्या इयत्ता!

भगवान् श्रीकृष्णके प्रति बालपनका आपका मित्रभाव जीवनभर बना रहा और प्रभु भी आपके प्रति अपने मित्रभावका निर्वाह करते रहे। कहते हैं कि एक बार आश्रममें नित्य-भोगके लिये दूधकी आवश्यकता थी और दूध देनेवाले ग्वालेके यहाँ अशौचावस्था थी, अत: उसके यहाँका दूध स्वीकार्य नहीं हो सकता था। ऐसे समयमें आपने अपने बालसखा 'सँवरू' का दूधके लिये स्मरण किया और भगवान् भी उनके भावकी पूर्तिके लिये दूध लेकर सँवरूके रूपमें उपस्थित हो गये।

अनन्तानन्दजी अपने समयके काशीके प्रतिष्ठित विद्वान् थे, परंतु विद्याका अभिमान आपको लेशमात्र भी नहीं था। एक बार काश्मीरके एक दिग्विजयी पण्डितने आकर काशीके विद्वानोंको शास्त्रार्थकी चुनौती दी, इसपर सभी पण्डितोंने एक स्वरसे कहा कि यदि आप श्रीअनन्तानन्दजी महाराजको शास्त्रार्थमें पराजित

कर देंगे तो हम लोग अपनी हार स्वीकार कर लेंगे। श्रीअनन्तानन्दजीने कहा—भाई! हम तो साधु हैं, हमें शास्त्रार्थसे क्या काम; परंतु दिग्विजयी पण्डितकी हठधर्मिताके कारण आपने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अन्तमें परिणाम यह हुआ कि दिग्विजयी पण्डित पराजित हो गये और श्रीअनन्तानन्दजीसे मन्त्र-दीक्षा लेकर उनके शिष्य बन गये।

श्रीयोगानन्दजी

परम वैष्णव सन्त और श्रीरामभक्त श्रीयोगानन्दजीके गृहस्थाश्रमका नाम श्रीयज्ञेशदत्त था। आपके पिता श्रीमणिशंकरजी परम यशस्वी वैदिक ब्राह्मण और भगवान् सूर्यके भक्त थे। भगवान् सूर्यदेवके वरदानसे गुजरात प्रान्तमें सिद्धपुरमें आपका जन्म वैशाख कृष्ण ७, सं० १४५७ वि० को हुआ। चूँकि आपका जन्म मूल नक्षत्रमें हुआ था, अत: ज्योतिषियोंके परामर्शसे श्रीमणिशंकरजीने पुत्र यज्ञेशका एक वर्षतक मुख नहीं देखा और इस अवधिमें तीर्थयात्रा करते रहे। ***'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'*** वाली कहावत बालक यज्ञेशपर सर्वथा लागू रही। आप बचपनसे ही दीपककी लौको टकटकी लगाकर देखा करते थे, जो इनके आगे चलकर सिद्धयोगी बननेका संकेत थी। बचपनमें आपके नेत्र सदैव अर्धनिमीलितावस्थामें ही रहा करते थे, ऐसा लगता था, कि जैसे कोई योगी समाधि-अवस्थामें हो। एक दिन पासके ही बगीचेमें एक सन्त-मण्डलीका आगमन हुआ। बालक यज्ञेश भी माता-पिताके साथ सन्तोंका दर्शन करने गये। सन्तोंका दर्शन करनेके बाद यज्ञेशके नेत्र स्वाभाविक रूपसे खुलने लगे। नौ वर्षकी अवस्थामें बालक यज्ञेशका यज्ञोपवीत हुआ और वे पण्डित श्रीनाथजी महाराजकी पाठशालामें विद्याध्ययन करने लगे। बालक यज्ञेश विलक्षण प्रतिभासम्पन्न थे, उनकी अद्‌भुत प्रतिभाको देखकर श्रीनाथजीने उन्हें काशी जाकर विद्याध्ययन करनेका परामर्श दिया। बालक यज्ञेशने गुरूपदेशको स्वीकारकर काशीमें पं० श्रीनारायणभट्टजीकी पाठशालामें न्याय-वेदान्तका अध्ययन करना शुरू किया। थोड़े ही दिनोंमें आपकी गणना काशीके प्रतिष्ठित पण्डितोंमें होने लगी। इसके बाद आप योगका अभ्यास करने लगे और इस क्षेत्रमें भी आपको अद्भुत सफलता मिली और आप लम्बी अवधिकी समाधियाँ लगाने लगे। यहाँतक कि आप सत्रह महीनेतक लगातार समाधि-अवस्थामें रहे।

काशीमें ही आपका विवाह एक सुशीला ब्राह्मण-कन्यासे हो गया और आपका गृहस्थ-जीवन सुखपूर्वक बीतने लगा, परंतु आपका जन्म तो धर्मप्रचार और जीवोंको भगवद्-सम्मुख करनेके लिये हुआ था, अत: गृहस्थ-जीवन अधिक समयतक न चल सका और अर्धांगिनीका परलोकगमन हो गया। इस घटनाने आपमें संसारके प्रति वैराग्यभावको जन्म दिया और आपने पत्नीकी अन्त्येष्टि क्रिया करके सब धन-सम्पत्ति ब्राह्मणोंको दान कर दी। अकिंचनरूपमें आप भगवान् विश्वनाथजीके दर्शन करने गये और वहीं आपको प्रेरणा हुई कि इसे विधिका विधान मानकर स्वीकार करो और स्वामी रामानन्दाचार्यजी महाराजकी शरण ग्रहण करो। श्रीयज्ञेशजी मन्दिरसे सीधे श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजकी शरणमें आये और उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। श्रीस्वामीजीने कृपापूर्वक आपको श्रीराम-मन्त्रका उपदेश दिया और यज्ञेशदत्तके स्थानपर आपका नाम 'योगानन्द' रख दिया। श्रीस्वामीजीकी आज्ञासे श्रीअनन्तानन्दजीने आपको प्रस्थानत्रयपर आनन्दभाष्यका बोध कराया।

श्रीयोगानन्दजी महाराज भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकारके अनन्य भक्त थे। श्रीरामानन्दाचार्यजीकी दिग्विजय-यात्राके समय आप ठाकुरजीका सिंहासन अपने सिरपर रखकर स्वामीजीकी पालकीके आगे-आगे उलटे पैरों चलते थे। श्रीजगन्नाथधामके चन्दन तालाबका आपने जीर्णोद्धार कराया और उसे जलपूर्ण किया। जीवनके अन्तिम समयमें आपने गंगासागर-संगमपर निवास करते हुए भक्ति-प्रचारका कार्य किया। श्रीयोगानन्दजी

महाराज कहा करते थे कि भक्तको पतिव्रता स्त्री और चातककी तरह भगवान् श्रीरामके प्रति अनन्य भक्ति रखनी चाहिए।

श्रीगयेशजी

श्रीगयेशजी स्वामी रामानन्दाचार्यजीके द्वादश प्रधान शिष्योंमें एक श्रीअनन्ताचार्यजी महाराजके शिष्य थे। भगवद्भक्तिके प्रचारार्थ आप भगवान्‌के नाम-गुणका कीर्तन करते हुए विचरण करते रहते थे। एक बारकी बात है, आप भ्रमण करते हुए एक गाँवके निकट पहुँचे और इमलीके एक सूखे वृक्षके नीचे स्वच्छ-समतल स्थानपर बैठ गये। वहीं भगवान्‌का ध्यान करते हुए आपको समाधि लग गयी। उस गाँवमें एक वैष्णवद्वेषी व्यक्ति निवास करता था। उसने जब आपको देखा तो आपका उपहास करने लगा। वह उधरसे जानेवाले लोगोंसे कहता—'भाइयो! देखो, ये एक सिद्ध महात्मा बैठे हैं; ये तबतक यहाँसे नहीं उठेंगे, जबतक यह सूखा पेड़ हरा नहीं हो जायगा।'

इस प्रकार वह वैष्णवद्वेषी व्यक्ति श्रीगयेशजीकी हँसी उड़ा रहा था, परंतु गयेशजीको क्या! वे तो निर्विकारभावसे अपने इष्टदेवके स्वरूपचिन्तनमें मग्न थे, उन्हें बाह्य जगत्‌का ज्ञान ही कहाँ था! परंतु सर्वज्ञ परमात्मासे अपने भक्तका अपमान न देखा गया, उन्होंने श्रीगयेशजीकी महिमाका ख्यापन करनेके लिये उस सूखे इमलीके वृक्षको हरा-भरा कर दिया। फिर क्या था? अभीतक जो जन-समुदाय उनकी हँसी उड़ानेके लिये एकत्र हुआ था, वही अब उनकी जय-जयकार करने लगा।

अपने दाँवको उलटा पड़ते देख वह वैष्णवद्वेषी व्यक्ति क्रुद्ध हो गया। उसे लगा कि अब तो इस वैष्णव सन्तका प्रभाव जम जायगा। उसने अपने तान्त्रिक गुरुसे अनुमति लेकर अभिचारकर्मद्वारा श्रीगयेशजीपर मारण-प्रयोग किया। परंतु उस मूर्खको यह नहीं ज्ञात था कि सच्चे वैष्णव सन्तोंकी रक्षामें भगवान् श्रीहरिका सुदर्शन चक्र सतत नियुक्त रहता है। उस दुष्टका मारण-प्रयोग श्रीगयेशजीका तो कुछ नहीं बिगाड़ सका, परंतु उससे उलटे उसके तान्त्रिक गुरुकी ही मृत्यु हो गयी। अब तो वह बहुत ही घबड़ाया और आकर श्रीगयेशजीके चरणोंमें गिर पड़ा। श्रीगयेशजी तो सन्तहृदय थे, तुरंत ही द्रवित हो गये और उसे अभय दान देते हुए उसके गुरुको भी पुनर्जीवित कर दिया। उनके इस प्रभावको देखकर उस क्षेत्रका समस्त जन-समुदाय उनका शिष्य बन गया। इस प्रकार आप वैष्णव धर्मका प्रचार-प्रसार करते हुए सदा विचरण किया करते थे।

श्रीकर्मचन्दजी

श्रीकर्मचन्दजी अनन्तानन्दजीके शिष्य थे। आपके पिताका नाम धनचन्द था। सन्तकृपासे व्यक्तिके जीवनमें कितना परिवर्तन आ सकता है, धनचन्दजीका जीवन इसका एक अनूठा उदाहरण है। धनचन्दजी यथा नाम तथा गुण अर्थात् प्रचुर धन-सम्पत्तिके स्वामी थे। राजस्थानमें देवासा नामका एक ग्राम है, वहाँके धनी श्रेष्ठियोंमें आपकी गणना थी। आपकी धर्मपत्नी परमभगवद्भक्ता, उदारहृदया और सन्त-सेविका थीं; परंतु सन्तकृपासे पूर्व आपका जीवन पत्नीके सद्‌गुणोंसे ठीक विपरीत था। इसका एक कारण भी था कि धनचन्द पत्नीके इतने धार्मिक होनेके बाद भी सन्तान-सुखसे वंचित ही थे, अतः वे धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, सन्तसेवा और दान आदिको ढकोसला ही मानते थे। एक बार जब धनचन्दजीकी पत्नी गर्भवती थीं तो वे किसी नास्तिकके प्रभावमें आकर पत्नीसे कहने लगे कि यदि तुम्हारी संतान इस बार भी जीवित नहीं रही तो मैं तुम्हें ही मार डालूँगा, अन्यथा यह सन्त-सेवा करना छोड़ दो।

धनचन्दजीकी पत्नीको पतिके इस दुर्भावसे बहुत दुःख हुआ, परंतु उनकी सन्त-सेवामें निष्ठा और

विश्वास दृढ़ ही रहे। इस अवधिमें वे भगवान्‌से बराबर प्रार्थना करती रहीं कि प्रभु! मेरे सुखके लिये नहीं, अपितु सन्त-महिमाकी प्रतिष्ठा संसारमें बनी रहे—इस हेतु मुझे एक भक्त पुत्र प्रदान कीजिये। भगवान्‌की लीला! और बार तो पुत्र जन्म लेकर कुछ दिन जीवित रहता था, इस बार तो उसकी छठी भी न हो सकी और वह चल बसा।

धनचन्दजीकी पत्नीको पुत्र-वियोगका दुःख तो कम, पर सन्त-महिमापर प्रश्न-चिह्न लगनेका बहुत दुःख था। धनचन्द तो आगबबूला ही हो गये और पत्नीका केश पकड़कर घरसे निकालने लगे। इतनेमें ही किसी व्यक्तिने आकर कहा कि गाँवमें स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके पट्टशिष्य श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी आये हैं; वे सिद्ध सन्त हैं, उनकी कृपासे यह बालक पुनः जीवित हो सकता है, अतः आप लोगोंको इस बालकको लेकर उनकी शरणमें चलना चाहिये। इतना सुनना था कि धनचन्दकी पत्नी तत्काल श्रीअनन्तानन्दजी महाराजके दर्शन करने चल दी, उसे अब भी सन्त-भगवन्तकी कृपापर पूर्ण विश्वास था। श्रीअनन्तानन्दजीके पास पहुँचकर उसने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और सन्त-महिमाकी प्रत्यक्ष अनुभूति करा पतिको सद्बुद्धि प्रदान करनेका आग्रह किया।

श्रीअनन्तानन्दजी धनचन्दके घर आये और बालकके मुखमें चरणोदक डाला। सन्तकृपाका चमत्कार! निश्चेष्ट पड़े बालकके शरीरमें श्वास-प्रश्वासके स्पन्दन होने लगे! फिर क्या था, हर्षसे सन्त-भगवन्तका जयघोष होने लगा। धनचन्द तो इस सुखद आश्चर्यको देखकर किंकर्तव्यविमूढ़से रह गये, फिर पश्चात्तापके आँसुओंसे श्रीअनन्तानन्दजीके चरणोंका प्रक्षालन करने लगे। अनन्तानन्दजीने उन्हें उठाया और भगवद्भक्तिका उपदेश दिया। तत्पश्चात् उन्होंने बालकके गलेमें कण्ठी बाँधकर उसे भी श्रीराम नामका उपदेश दिया और उसका नाम रख दिया कर्मचन्द।

बालक कर्मचन्दमें भक्तिके संस्कार बचपनसे ही थे, बड़े होकर उन्होंने अपने पिताके कपड़ेके व्यवसायको सँभाला, पर साधु-सन्तोंके प्रति भक्ति और उदारतामें कोई कमी नहीं आयी। एक बार एक सन्त-मण्डली भगवान् अमरनाथजीके दर्शन करने जा रही थी, उन लोगोंके पास शीतनिवारणयोग्य वस्त्रोंका अभाव था। कर्मचन्दजीने दुकानसे पर्याप्त मात्रामें कम्बल निकालकर सन्त-मण्डलीको दे दिये। साधुजन आशीर्वाद देकर श्रीअमरनाथजीकी यात्रापर चल दिये। उधर इस बातकी खबर जब धनचन्दको लगी तो उन्हें लगा कि पुत्रकी यह उदारता तो मेरे व्यवसायको ही चौपट कर देगी। वे दौड़े-दौड़े सन्तोंके पास गये और उनसे कम्बल ले लिये। कर्मचन्दजीको पिताके इस व्यवहारसे बड़ा ही खेद हुआ और उन्होंने पिताको समझाते हुए कहा कि सन्तोंको कुछ देनेसे कमी नहीं आती, आपको विश्वास न हो तो आप दूकानपर चलकर स्टॉक मिला लें। धनचन्दने दूकानपर जाकर देखा तो कम्बलोंका स्टॉक पूरा था। अब उन्हें सन्तोंकी महिमा और अपनी भूलका ज्ञान हुआ, फिर उन्होंने कर्मचन्दजीके कार्योंमें हस्तक्षेप नहीं किया। कर्मचन्दजीने सन्तोंसे पिताके अभद्र व्यवहारके लिये क्षमा-याचना की।

धीरे-धीरे कर्मचन्दजीकी सन्त-सेवाकी प्रवृत्ति बढ़ती ही गयी, वे सन्तोंके भोजन-वस्त्र आदिपर खुले हाथ धन खर्च करते। इससे उनकी पत्नीको चिन्ता हुई। उन्होंने कर्मचन्दजीसे कहा कि यदि आप इसी प्रकार धन खर्च करते रहेंगे तो हम लोग एक दिन भिक्षुक हो जायँगे, अतः आपको सन्त-सेवापर सीमित धन ही खर्च करना चाहिये। इसपर कर्मचन्दजीने आकाशकी ओर दृष्टि करने भगवान्‌का ध्यान किया। इतनेमें ही कर्मचन्दजीकी पत्नीने देखा बहुमूल्य मणिरत्नोंसे खचित एक पर्वताकार आकृति आकाशसे धरतीपर उतर रही है, वह आकृति आकर उनके सम्मुख स्थित हो गयी। कर्मचन्दजीने पत्नीको समझाया कि सन्त साक्षात्

भगवत्स्वरूप होते हैं, अतः उनके लिये धन खर्च करनेसे धनकी कमी नहीं हो सकती। उनके लिये धन खर्च करनेवालेको भगवान् इतना धन दे देते हैं कि वह उतना खर्च ही नहीं कर सकता। इसके बाद कर्मचन्दजीकी पत्नीको भी पतिके वचनों और सन्तोंकी महिमापर पूर्ण विश्वास हो गया और वे भी तन-मन-धनसे सन्त-सेवा करने लगीं। कर्मचन्दजीने एक पुत्रकी उत्पत्तिके बाद गृहस्थ-आश्रमका परित्याग कर दिया और श्रीअनन्तानन्दजीसे ही विरक्त दीक्षा ले ली। इनके पुत्र दिवाकर भी पिताकी ही भाँति परम भागवत हुए। श्रीकर्मचन्दजीने अपना शेष जीवन भगवत्सेवा और भगवद्भक्तिके प्रचारमें बिताया।

श्रीसारीरामदासजी

श्रीसारीरामदासजी महाराज श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी महाराजके शिष्य थे। आप परम वैष्णव सन्त थे और भगवद्धर्मके प्रचारार्थ तथा भगवद्-विमुखोंको भक्तिमार्गपर लानेके उद्देश्यसे निरन्तर विचरण करते रहते थे। एक बारकी बात है, आप विचरण करते हुए एक ऐसे ग्राममें पहुँच गये, जहाँके लोग वैष्णवद्वेषी और भक्तजन-विरोधी थे। श्रीरामदासजीने एक गृहस्थका द्वार खटखटाया और 'जय श्रीसीताराम'का उद्घोष किया। उनकी आवाज सुनकर गृहस्वामी बाहर निकला और उन्हें देखते ही कुवाक्यों—दुर्वचनोंकी बौछार कर दी, परंतु सन्तप्रकृति श्रीरामदासजी शान्त बने खड़े ही रहे। साधुकी साधुता भी दुष्टके क्रोधको बढ़ानेवाली ही होती है, अतः गृहस्वामी उनकी शान्ति देखकर क्रोधसे पागल हो गया और धक्के देकर उन्हें द्वारसे बाहर कर दिया। इतना ही नहीं, चेतावनी देते हुए बोला—अगर दुबारा इस गाँवमें दिखायी दिये तो तुम्हारी खैर नहीं।

श्रीरामदासजीके मनपर उसकी बातों और उसके कृत्योंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वे निर्विकार ही रहे और शान्तभावसे ग्रामसे बाहर जाकर नदीके किनारे बैठकर भगवान्का भजन करने लगे। सन्त तो साक्षात् करुणाविग्रह ही होते हैं, उनका कार्य ही भूले-भटके जीवोंको भगवद्सम्मुख करना होता है। श्रीरामदासजीके मनमें ग्रामवासियोंके प्रति लेशमात्र भी रोष नहीं था, वे तो अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही धरापर विचरण कर रहे थे। संयोगकी बात, जिस समय आप नदीके किनारे बैठे थे, उसी समय उस राज्यके राजाका राजकुमार मर गया। राजा-प्रजा सब करुण-क्रन्दन करते हुए राजकुमारके शवको लेकर दाह-संस्कार करने नदीके किनारे आये। उस करुण-क्रन्दनको सुनकर श्रीरामदासजीका सन्त-हृदय द्रवित हो गया। वे राजाके पास गये और बोले—'राजन्! यदि आप और आपकी प्रजा आजसे यह प्रतिज्ञा करें कि हम लोग साधु, ब्राह्मण, अतिथि-अभ्यागतोंकी यथाशक्ति सेवा करेंगे, भगवान्का भजन करेंगे, सबके प्रति सद्भाव रखेंगे, तो मैं भगवान्से प्रार्थना करके इस बालकको जीवन-दान दिला सकता हूँ।' भला, अन्धा क्या चाहे—दो आँखें! राजा-प्रजा सभी सन्तके चरणोंमें गिर पड़े और शपथपूर्वक प्रार्थना की कि अब हम लोग कभी भी सन्तों-भक्तोंका अपमान नहीं करेंगे और यथाशक्ति उनकी सेवा और भक्ति करेंगे। राजाने भी अपने राज्यमें धर्मप्रचार और भक्तिभावके प्रसारकी शपथ ली। श्रीरामदासजीने शालग्रामशिलापर तुलसीदल चढ़ाया और उसका पादोदक राजकुमारके मुखमें डाला। अकाल मृत्युका हरण करनेवाले उस महाप्रसादके मुखमें जाते ही राजकुमारने इस तरह आँखें खोल दीं, जैसे अभी-अभी नींद पूरी हुई हो। चारों ओर सन्त-भगवन्तकी जय-जयकार होने लगी। इसी प्रकार सन्त श्रीसारीरामदासजीने अनेक भगवद्-विमुख लोगोंको भक्तिपथका पथिक बनाया।

श्रीरंगजी

श्रीरंगजी श्रीअनन्तानन्दाचार्यजी महाराजके प्रधान शिष्योंमें एक थे। गृहस्थाश्रमके समय आपका निवास

द्यौसा नामक ग्राममें था, जो तत्कालीन जयपुर राज्यमें आता था। आप वैश्यकुलमें उत्पन्न हुए थे। आपके यहाँ सेवाकार्य करनेके लिये एक नौकर रखा गया था, परंतु वह स्वभावसे बड़ा ही दुष्ट था। कोई भी पापकर्म उससे शेष नहीं था। कालवश मृत्युको प्राप्तकर वह यमलोक गया। वहाँ उस पापीको यमराजने दूतकार्यमें नियुक्त किया और मृत प्राणियोंके प्राणोंको लानेका कार्य सौंपा। एक बार यमराजने उसे एक बनजारेके प्राणोंका हरण करके लानेको कहा, जो कि उसी द्यौसा ग्रामका रहनेवाला था, जहाँ वह मरनेसे पहले श्रीरंगजीके यहाँ नौकरी करता था। वहाँ आनेपर वह सबसे पहले श्रीरंगजीसे मिलने गया। वे उसे देखते ही चौंक पड़े और बोले—अरे! मैंने सुना कि तू मर गया है, फिर तू यहाँ कैसे आ गया? यमदूतने कहा—मालिक! आपने ठीक ही सुना था, मैं मर चुका हूँ और अब यमदूत बन गया हूँ। यहाँ मैं बनजारेको ले जाने आया हूँ। श्रीरंगजीने कहा—अभी तो वह पूर्ण स्वस्थ है और थोड़ी देर पहले ही मेरे यहाँसे कुछ माल लादकर ले गया है, उसे तुम कैसे ले जाओगे? उसने कहा—मैं उसके बैलकी सींगपर बैठ जाऊँगा, जिससे कालप्रेरित वह बैल सींग मारकर उसका पेट फाड़ देगा। श्रीरंगजीने पूछा—क्या तुम लोग सबके साथ ऐसा ही व्यवहार करते हो? यमदूत बोला—नहीं, हम लोग केवल पापियोंके साथ ही ऐसा व्यवहार करते हैं, भगवान्‌के भक्तोंकी ओर तो हम देख भी नहीं सकते, अतः मैं आपको भी यह सलाह देने आया हूँ कि जीवनके शेष भागमें आप भगवद्भक्ति कर लें। मैंने आपका नमक खाया है, अतः आपको कष्टमें पड़ते नहीं देखना चाहता हूँ। आपको यदि मेरी बातोंपर विश्वास न हो तो आप मेरे साथ बनजारेके घर चलिये। मैं केवल आपको ही दिखायी दूँगा, दूसरा कोई मुझे नहीं देख सकेगा। वहाँ मेरे बतायेके अनुसार जब सारी घटना घटे, तो मेरी बातकी सत्यता समझ लेना। हम लोग पापी प्राणियोंको इसी प्रकार ले जाते हैं और यमलोक ले जाकर उसके पापोंके अनुसार और भी नाना प्रकारके कठोर दण्ड देते हैं।

यह कहकर यमदूत बनजारेका प्राण-हरण करनेके उद्देश्यसे उसके घरकी ओर चल दिया। श्रीरंगजी भी उसके पीछे-पीछे चल दिये, वहाँ जाकर श्रीरंगजीने देखा कि बनजारा अपने बैलको खली-भूसा चला रहा है। बैल बार-बार सिर हिला रहा था, जिससे बनजारेको खली-भूसा चलानेमें असुविधा हो रही थी; अतः उसने एक हाथसे बैलको जोरसे हटाया। ठीक उसी समय यमदूत जाकर बैलकी सींगोंपर बैठ गया, फिर तो कालप्रेरित बैलने क्रोधमें भरकर सींगोंसे ऐसा प्रहार किया कि बनजारेका पेट फट गया, उसकी आँतें बाहर निकल आयीं और वह वहीं तुरंत मर गया।

श्रीरंगजीकी आँखोंके सामने घटी इस आश्चर्यमयी घटनाने उनकी आँखें खोल दीं, उन्होंने श्रीअनन्तानन्दजी महाराजके चरण पकड़े और उनके उपदेशानुसार भगवद्भक्ति करने लगे। श्रीरंगजीका श्रीपीपाजीके प्रति भी बड़ा ही आदर भाव था, श्रीपीपाजीने एक मासतक उनके द्यौसा ग्राममें निवास और सत्संग किया। इनके समयमें द्यौसा ग्राम श्रीरामरंगमें रँग गया था।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

द्यौसा एक गाँव तहाँ श्रीरंग सुनाम हुतो बनिक सरावगी की कथा लै बखानिये।
रहतो गुलाम गयो धर्मराज धाम उहाँ भयो बड़ो दूत कही सुनु अरे बानिये॥
आये बनिजारे लैन देख तू दिखावै चैन बैल शृङ्ग मध्य पैठि मारे पहिचानिये।
बिनु हरि भक्ति सब जगत की यही रीति भयो हरि भक्त श्रीअनन्त पद ध्यानिये॥ ११७॥

श्रीरंगजीके पुत्रको रातमें भूत दिखायी देता था, उसके भयसे वह नित्य सूखता ही चला जाता था। श्रीरंगजीने बालकसे इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि रातमें भयंकर प्रेतके देखनेसे मैं दिन-रात चिन्तित

रहता हूँ। तब श्रीरंगजी पुत्रके सोनेके स्थानपर स्वयं सोये। रात होते ही वह प्रेत आया। श्रीरंगजी क्रोध करके उसे मारनेके लिये दौड़े। प्रेतने दैन्यतापूर्वक कहा कि आप कृपा करके मुझे इस पापयोनिसे मुक्त करके सद्गति प्रदान कीजिये। मैं जातिका सुनार हूँ, परायी स्त्रीसे पाप-सम्बन्धके कारण मैं प्रेत हो गया हूँ। अपने उद्धारका उपाय संसारमें खोजनेके बाद अब आपकी शरण ली है। प्रेतकी आर्तवाणी सुनकर श्रीरंगजीने उसे चरणामृत दिया और उसका अत्यन्त सुन्दर दिव्यरूप कर दिया। इस प्रकार श्रीरंगजीके भक्तिभावका गान किया गया है।

श्रीरंगजीकी महिमा-सम्बन्धी इस घटनाका भक्तमालके टीकाकारने इस प्रकार वर्णन किया है—

सुत को दिखाई देत भूत नित सूख्यो जात पूछें कही बात जाइ वाके ठौर सोयो है।
आयो निशि मारिबेको धायो यह रोष भर्यो देवोगति मोकों उन बोलिकै सुनायो है॥
जाति को सोनार परनारि लगि प्रेत भयों लयों तेरी शरण मैं ढूँढ़ि जग पायो है।
दियो चरणामृत लै कियो दिव्यरूप वाको अति ही अनूप सुनो भक्तिभाव गायो है॥ ११८॥

पयहारी श्रीकृष्णदासजी

जाके सिर कर धर्‍यो तासु कर तर नहिं अड्ड्यो।
आप्यो पद निर्बान सोक निर्भय करि अड्ड्यो॥
तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरन सरोज राय राना भुवि जेता॥
दाहिमा बंस दिनकर उदय संत कमल हिय सुख दियो।
निर्बेद अवधि कलि कृष्नदास अन परिहरि पय पान कियो॥ ३८॥

इस कराल कलिकालमें पयहारी श्रीकृष्णदासजी वैराग्यकी सीमा हुए। आपने अन्नको त्यागकर केवल दुग्धपान करके भजन किया। इसीलिये आप 'पयहारी' इस नामसे विशेष प्रसिद्ध हुए। आपने शिष्य बनाकर जिसे अपनाया, उससे याचना नहीं की, वरन् उसे भगवत्पद—मोक्षका अधिकारी बना दिया और सांसारिक शोक-मोहसे सदाके लिये छुड़ाकर अभय कर दिया। श्रीपयहारीजी भक्तिमय तेजके समूह थे और आपमें अपार भजनका बल था। बालब्रह्मचारी एवं योगी होनेके कारण आप ऊर्ध्वरेता हो गये थे। भारतवर्षके छोटे-बड़े जितने राजा-महाराजा थे, वे सभी आपके चरणोंकी सेवा करते थे। दधीचिवंशी ब्राह्मणोंके वंशमें उदय (उत्पन्न) होकर आपने भक्तिके प्रतापसे भक्तोंके हृदयकमलोंको सुख दिया॥ ३८॥

यहाँ पयहारी श्रीकृष्णदासजीका जीवन-चरित संक्षेपमें दिया जा रहा है—

जयपुरमें गलता नामक एक प्रसिद्ध स्थान है, जो गालव ऋषिका आश्रम माना जाता है। वहाँ वैष्णव सन्तोंकी गद्दी है, जो 'गालता गादी' नामसे आज भी प्रसिद्ध है और वहाँ आज भी हजारों सन्तोंकी नित्यप्रति सेवा होती रहती है। एक समय वहाँके स्वामी श्रीकृष्णदासजी नामके प्रसिद्ध सन्त थे। ये दधीचिके वंशमें उत्पन्न दाहिमा ब्राह्मण थे। इन्होंने आजीवन अन्नके स्थानपर दुग्धका ही आहार किया, जिसके कारण आपकी प्रसिद्धि पयहारी बाबाके नामसे रही।

श्रीपयहारीजी महाराज सिद्ध सन्त थे। एक बार आप विचरण करते हुए कुल्हूकी पहाड़ियोंकी ओर चले गये और वहाँ एक गुफामें बैठकर भगवद्भजन करने लगे। अब उस निर्जन पहाड़ी गुफामें दूध कहाँसे

प्राप्त होता? परंतु उन्हें भला उसकी क्या चिन्ता; चिन्ता तो उसे करनी थी, जिनका वे भजन कर रहे थे; क्योंकि अपने भक्तोंके योगक्षेमका भार तो वे ही वहन करते हैं। प्रभु-प्रेरणासे पहाड़ियोंपर चरती हुई एक ग्वालेकी गाय झुंडसे निकलकर उस पहाड़ी गुफाके पास चली आयी और उसके स्तनोंसे पयःस्रवण होने लगा। पयहारी बाबाने इसे ईश्वरकृपा मानकर अपने कमण्डलुमें दूध एकत्र कर लिया और वस्त्रपूत करके पी गये। गाय फिरसे जाकर झुंडमें शामिल हो गयी। अब तो यह नित्य प्रतिका क्रम हो गया। गाय आ जाती और बाबाजीको दूध मिल जाता। एक दिन ग्वालेने गायको गुफाकी ओर जाते देख लिया, तो वह उसके पीछे-पीछे वहाँतक चला गया। वहाँका अद्भुत दृश्य देखकर वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जड़वत् खड़ा रह गया, फिर पयहारी बाबाको सिद्ध सन्त समझ उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बोला—बाबा! गोमाताकी कृपासे आज मुझे आपके दर्शन हो गये; आप मुझे कोई और सेवा बताइये। श्रीपयहारी बाबा उसकी साधुता और सेवा भावसे बहुत प्रसन्न हुए और बोले—तुम कोई वरदान माँग लो। ग्वाला बोला—प्रभो! आपकी कृपासे मुझे दूध-पूत सब प्राप्त है; मुझे अब किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रही। हाँ, अगर आप कुछ देना ही चाहते हैं तो ऐसी कृपा कीजिये कि मेरे देशके राजाका राज्य फिरसे उन्हें मिल जाय। बाबा उसकी निःस्पृहता, स्वामिभक्ति और परोपकारिता देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और कहा कि तुम अपने राजाको यहाँ बुला लाना। उन दिनों वहाँके राजा शत्रुओंद्वारा राज्य छीन लिये जाने और प्राण-संकटके कारण एक गुफामें छिपकर रह रहे थे। ग्वालेने वहाँ जाकर उनसे पयहारी बाबाके विषयमें बताया और उन्हें लिवा लाया। राजाने बाबाके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया और अपनी करुणकथा सुनायी। बाबाने राजाको '**विजयी भव**' का आशीर्वाद दिया और कहा कि इस पहाड़ीपर चढ़कर चारों ओर देखो, जहाँतक तुम्हारी दृष्टि जायगी, वहाँतकका राज्य तुम्हारा हो जायगा। राजाने बाबाकी आज्ञाका पालन किया और थोड़े ही दिनोंमें बिना किसी विशेष प्रयासके उनका खोया राज्य पुनः उन्हें प्राप्त हो गया। राज्य-प्राप्तिके बाद राजाने अपने सम्पूर्ण राज्यमें सन्त-सेवा और भगवद्भजनका आदेश लागू कर दिया। इस प्रकार श्रीपयहारी बाबाकी कृपासे कुल्हू राज्यके लोग भगवद्भक्त हो गये।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराजने श्रीपयहारीजीके सम्बन्धमें कई रोचक घटनाओंका वर्णन इस प्रकार किया है—

जाके सिर कर धर्‌यो तातर न ओड्‌यो हाथ दीनो बड़ोबर राजा कुल्हू को जु साखिये।
परबत कन्दरामें दरशन दीयो आनि दियो भाव साधु हरि सेवा अभिलाखिये॥
गिरी जो जिलेबी थार मांझते उठाई बाल भयो हिये शाल बिन अरपित चाखिये।
लै करि खड़ग ताहि मारन उपाय कियो जियो सन्त ओट फिर मोल करि राखिये॥ ११९॥
नृप सुत भक्त बड़ो अब लौं विराजमान साधु सनमान में न दूसरो बखानिये।
संत बधू गर्भ देखि उभै पनवारे दिये कही अर्भ इष्ट मेरो ऐसी उर आनिये॥
कोऊ भेषधारी सो व्योपारी पग दासिनको कही कृपा करो कहा जानैं और प्रानिये।
ऐपै तजि देवो क्रिया देखि जग बुरो होत जोति बहु दई दाम राम मति सानिये॥ १२०॥

पयहारी श्रीकृष्णदासजीने जिस किसीके सिरपर हाथ रखा, उसके हाथके नीचे अपना हाथ नहीं फैलाया, अपितु उसे बड़ा भारी-भक्तिका वरदान अवश्य दिया। कुल्हू देशका राजा इस बातका प्रमाण है। इसको आपने पर्वतकी कन्दरामें जाकर दर्शन दिया और आपकी कृपासे उसे राज्य भी प्राप्त हुआ। राजाको आपने ऐसा प्रेमभाव दिया कि उसे सन्त-भगवन्तकी सेवा करनेकी अभिलाषा बनी रहती थी। एक बार पुजारी मन्दिरमें भगवान्‌का भोग लगानेके लिये जलेबियोंके थाल ले जा रहे थे, उसमेंसे एक जलेबी गिर गयी। राजाका छोटा-सा बालक

उसे उठाकर खा गया। यह देखकर राजाके मनमें बड़ा भारी दुःख हुआ कि बिना भोग लगे ही इसने खा लिया, तुरंत हाथमें तलवार लेकर उसे मार डालनेके लिये उठा, परंतु समीपमें उपस्थित सन्तोंने उसे बचा लिया और राजासे कहा कि अब तो यह बालक हमारा हो गया। यदि आपको लेना है तो मूल्य देकर आप इसे रख लीजिये॥ ११९ ॥

श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि कुल्हूके राजाका यह पुत्र मेरे इस टीकाके लिखनेके समयतक विराजमान है, वह बड़ा भारी भगवद्भक्त है, साधुओंकी सेवा तथा उनका सम्मान करनेमें उसके समान दूसरा कोई नहीं है। एक बार अपने भण्डारेकी पंक्तिमें एक सन्तकी पत्नीको गर्भवती देखकर राजपुत्रने दो पत्तलें दीं और कहा कि गर्भस्थ बालक भक्त है और वह मेरा इष्टदेव है, मैं ऐसा मनमें मानता हूँ। इसीलिये दूसरा पत्तल दे रहा हूँ। कोई वैष्णव वेषधारी मनुष्य जूतियोंको बेंचता और गाँठता था, उसे देखकर राजपुत्रको बड़ी दया आयी और उसने उससे कहा—भगवन्! आप दूसरे लोगोंको सन्त मानकर उनकी जूतियोंकी सेवा करते हैं, पर आपके इस गुप्त भावको तुच्छ प्राणी क्या जानें। इसलिये आप इस जूती-सेवा-कार्यको छोड़ दीजिये। इस वेषको धारणकर और इस कार्यको देखकर लोगोंके मनमें कुभाव होता है। ऐसा कहकर उसे वैष्णव-सेवा एवं स्वनिर्वाहके लिये बहुत-सी खेती करनेयोग्य भूमि और धन दिया, साथ ही उसे ज्ञान-प्रकाश भी दिया, उसकी बुद्धि राममें रम गयी॥ १२० ॥

आमेरके राजा पृथ्वीराजजीकी रानी भी श्रीपयहारी बाबाजीकी शिष्या थीं, कालान्तरमें राजा पृथ्वीराजने भी श्रीपयहारीजी महाराजका शिष्यत्व स्वीकारकर सम्पूर्ण आमेरको वैष्णव भक्त बना दिया।

कहते हैं कि एक बार राजा पृथ्वीराजजीने पयहारीजीसे श्रीद्वारिकाधीशजीके दर्शन करनेके लिये द्वारका चलनेकी प्रार्थना की। तब आपने राजाकी भक्ति देख अपनी योगसिद्धिसे आधी रातके समय राजमहलमें प्रकट हो राजाको वहींपर श्रीद्वारकाधीशजीके दर्शन करा दिये।

एक अन्य किंवदन्तीके अनुसार एक बार आपकी गुफाके पास एक बाघ आ गया, आपने अतिथि मानकर अपनी जंघाका माँस काटकर उसे खानेको दे दिया। बाघ तो मांस खाकर चला गया, परंतु उनके इस आतिथ्य-पालनरूप धर्मसे उनके इष्टदेव प्रभु श्रीरामजीसे न रहा गया; वे कोटि कामकमनीयरूपमें प्रकट हो गये और उनके सिरपर अपने कमल-करका स्पर्श कराया। उनके स्पर्शसे पयहारीजीका शरीर तो पहले जैसा स्वस्थ हो ही गया, उनका अन्तःकरण भी प्रभु-दर्शनसे गद्गद हो गया।

श्रीपयहारीजीके शिष्यगण

कील्ह अगर केवल्ल चरन ब्रत हठी नरायन।
सूरज पुरुषा पृथू तिपुर हरि भक्ति परायन॥
पद्मनाभ गोपाल टेक टीला गदाधारी।
देवा हेम कल्यान गंग गंगासम नारी॥
बिष्णुदास कन्हर रँगा चाँदन सबिरि गोबिंद पर।
पैहारी परसाद तें सिष्य सबै भए पार कर॥ ३९॥

पयहारी श्रीकृष्णदासजीकी कृपासे उनके सभी शिष्य जीवोंको भवसागरसे पार करनेवाले हुए—श्रीकील्हदेवजी, स्वामी श्रीअग्रदेवजी, केवलदासजी, चरणदासजी, हठीनारायणजी, सूरजदासजी, पुरुषाजी (पुरुषोत्तमदास), पृथुदासजी, त्रिपुरदासजी—ये हरिभक्तिमें रत थे। पद्मनाभजी, गोपालदासजी, टेकरामजी, टीलाजी, गदाधारी (गदाधरदासजी), देवापण्डाजी, हेमदासजी, कल्याणदासजी, गंगाजीके समान गंगाबाई, विष्णुदासजी, कान्हरदासजी, रंगारामजी, चाँदनजी और सबीरीजी—ये सभी भक्त गोविन्दपरायण थे॥ ३९ ॥

श्रीपयहारीजी महाराजके इन शिष्योंमेंसे कुछका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीकील्हदेवजी

परम भागवत सिद्ध सन्त श्रीकील्हदेवजी श्रीपयहारीजी महाराजके प्रधान शिष्य और भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकारके अनन्य भक्त थे। आपका पावन चरित आगे छप्पय ४० पर दिया गया है।

श्रीअग्रदेवजी (श्रीअग्रदासजी)

श्रीअग्रदासजी श्रीरामोपासनामें शृंगाररसके आचार्य माने गये हैं। रसिक-महानुभावोंने आपको श्रीजानकीजीकी प्रिय सखी श्रीचन्द्रकलाजीका अवतार कहा है। इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण आगे छप्पय ४१ पर दिया गया है।

श्रीचरणदासजी

श्रीचरणदासजीके नामसे अनेक सन्त हुए हैं, परंतु यहाँ जिन चरणदासजीका वर्णन किया जा रहा है, वे श्रीसम्प्रदायकी आचार्य-परम्पराके विशिष्ट सन्त श्रीपयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके प्रधान शिष्योंमेंसे एक हैं। इनके माता-पिताका नाम या जन्मस्थान-तिथि आदि ज्ञात नहीं है, पर सन्तोंके इस प्रकारके भौतिक परिचयकी आवश्यकता भी नहीं होती; बल्कि उनका आध्यात्मिक परिचय ही विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण होता है।

श्रीचरणदासजी महाराज आध्यात्मिक ऊँचाईप्राप्त सिद्ध सन्त थे, परंतु उनकी सिद्धियाँ चमत्कार-प्रदर्शन या अहंकारके लिये नहीं होती थीं; बल्कि वे दीन-दु:खियोंकी सेवा और परोपकारके लिये होती थीं। आपकी सन्त-सेवा अद्भुत थी। आप सन्तोंको भगवान्‌का ही प्रतीक मानते थे और उसी भावसे उनकी सेवा करते थे। आप बिना किसी भेद-भावके सन्तमात्रका धूप-दीप-नैवेद्यादिसे विधिवत् पूजन करते थे तथा सन्तोंकी सीथ-प्रसादी पाते थे।

एक बारकी बात है, इनके आश्रममें एक ऐसे सन्त आये, जो पैरसे चलनेमें असमर्थ थे। आप अपने स्वभाव और संस्कारवश उनकी सेवा करने लगे। इनको पूजा करनेके लिये प्रस्तुत देखकर वे सन्त महानुभाव बहुत ही संकुचित हुए और निषेध भी किया, परंतु अपनी निष्ठाके पक्के श्रीचरणदासजीने अपने नित्यके नियमानुसार विधिपूर्वक उन सन्तका पादप्रक्षालनादि करके पूजन किया। भगवान्‌की कृपा! श्रीचरणदासजीके स्पर्श करते ही उन सन्त महानुभावके चरणोंमें शक्ति आ गयी, उनकी चलने-सम्बन्धी असमर्थता दूर हो गयी। प्रभुकी इस कृपा और सन्त चरणदासजीके दिव्य प्रभावको देखकर आश्रमवासी धन्य-धन्य कर उठे। उन सन्त महानुभावने इसके बाद पैदल ही सभी तीर्थोंकी यात्रा करते हुए इनके सुयशका प्रचार-प्रसार किया।

श्रीहठीनारायणदासजी

सन्त श्रीहठीनारायणदासजीका बचपनका नाम नारायण था, इन्होंने अपने गुरुदेव पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके दर्शनके लिये हठ किया था, इसीलिये इनकी निष्ठा देखकर श्रीगुरुदेवने इनका नाम हठीनारायणदास रख दिया। श्रीहठीनारायणदासजीका जन्म माघ मासकी मौनी अमावस्याको सं० १६०४ वि० में ग्राम ईंगरी जिला इटावा (उ०प्र०)-में हुआ था। आपके पिताका नाम पं० श्रीजयनारायण चतुर्वेदी और माताका नाम गंगादेवी था। कहते हैं कि आपके माता-पिताको कोई संतान नहीं थी, तब उन्होंने बदरिकाश्रम जाकर कठोर तप किया, जिसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान् बदरीनारायणकी कृपासे आपका जन्म हुआ।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत आपपर अक्षरशः सत्य उतरी। आप बचपनसे ही अत्यन्त सौम्य और शान्त प्रकृतिके थे। घरके निकटके श्रीसीतारामजीके मन्दिरसे भगवत्प्रसाद एवं

चरणामृत लेना और भगवद्दर्शन करना आपका नित्यकार्य था। कहते हैं कि जन्मके समय आपने रोनेके स्थानपर भगवान् श्रीरामके बीजमन्त्र 'रां रां' का उच्चारण किया था। इस प्रकार बचपनसे ही आपकी सन्त-प्रकृति थी, जिसे माता-पिताकी असमय मृत्युने वैराग्यकी ओर प्रवृत्त कर दिया और आप घर-बार छोड़कर भगवान्‌के नित्यधाम श्रीवृन्दावनको चले गये।

श्रीवृन्दावनमें आपको श्रीसम्प्रदायके महान् सन्त पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजका सुयश सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और आप उससे इतना प्रभावित हुए कि उन्हें मन-ही-मन अपना गुरु मान लिया। उस समय श्रीपयहारीजी अमरनाथ गये हुए थे, अतः आप भी उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये श्रीअमरनाथजीकी अत्यन्त दुर्गम यात्रापर चले गये। इनका दर्शनके लिये हठ और सच्ची निष्ठा देखकर सद्गुरु श्रीपयहारीजी महाराज बहुत ही प्रसन्न हुए और इनके सम्मुख प्रकट होकर इन्हें राममन्त्रका उपदेश दिया।

श्रीहठीनारायणदासजी भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार करते हुए यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते थे। इसी क्रममें एक बार आप गुजरात प्रान्तके नड़ियाद ग्राम पहुँचे, वहाँके लोगोंने आपका बड़ा स्वागत किया। उस ग्रामके पासमें ही एक तान्त्रिक रहता था, उसे आपकी बढ़ती हुई कीर्ति सहन न हुई। उसने आपको अप्रतिष्ठित करने और भगानेके लिये अनेक तन्त्र-मन्त्र किये, परंतु उनका आपपर तो कुछ प्रभाव न पड़ा; उलटे वह तान्त्रिक ही उन अभिचारकर्मोंके दुष्प्रभावकी चपेटमें आ गया। अन्तमें उसने स्वयं आकर श्रीहठीनारायणदासजीकी शरण ली और उनके सदुपदेशोंका श्रवणकर वह स्थान त्यागकर चला गया और एकान्तमें भगवद्भजन करने लगा।

एक बार आप भगवद्भक्तिका प्रचार करते पंजाब पहुँच गये। आप सुध-बुध खोकर रामप्रेममें मतवाले होकर संकीर्तन कर रहे थे, लोगोंने आपकी प्रेमोन्मत्तताकी दशाको न समझकर भँगेड़ी समझ लिया। नशा किया है क्या?—ऐसा लोगोंके पूछनेपर आप कह भी देते थे कि 'मैं नामी नशेबाज हूँ।' आपका तात्पर्य होता था कि मैं नामामृतका पानकर उसके नशेमें उन्मत्त रहता हूँ, जबकि लोग उसका उलटा अर्थ ले लेते थे और आपको अत्यधिक नशा करनेवाला समझते थे।

कहते हैं कि आपके संकीर्तनमें इतनी दिव्यता होती थी कि चेतन मनुष्यकी क्या बात, जड़ वृक्ष भी झूमने लगते थे। धीरे-धीरे आपकी प्रसिद्धि वहाँके राजाके कानोंमें भी पहुँची। लोगोंके द्वारा उन्हें ज्ञात हुआ कि राज्यमें एक सिद्ध महात्मा आये हैं। उन्होंने दरबारमें बुलाकर इनका बड़ा सत्कार किया, परंतु इनकी सिद्धिकी परीक्षाके लिये इनके भोजनमें तीव्र विष मिलवा दिया। सन्तजन भोजन करनेसे पहले उसे भगवान् श्रीहरिको समर्पित करते हैं, तत्पश्चात् उसे प्रसादरूपमें ग्रहण करते हैं। श्रीहठीजीने भी उस भोजनको प्रभुप्रसादके रूपमें ही ग्रहण किया और प्रभुकृपासे उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह देखकर राजा अत्यन्त लज्जित हुए और इनके चरणोंमें पड़कर अपने अपराधके लिये क्षमा-याचना की। सन्तोंके हृदयमें तो क्रोधके लिये कोई स्थान होता ही नहीं, श्रीहठीजीने उन्हें सदुपदेश देकर भक्त बना दिया। राजाके भक्त हो जानेसे राजाकी प्रजा भी भगवद्भक्त हो गयी। इस प्रकार विमुख जीवोंको भगवत्सम्मुख करते और भगवद्भक्तिका प्रचार करते हुए श्रीहठीनारायणदासजी ने श्रावण शुक्ल ७, सं० १७०३ वि० को भगवद्धामकी प्राप्ति की।

श्रीसूरजदासजी

श्रीसूरजदासजी सन्तशिरोमणि श्रीपयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके षोडश प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। आप परम वैष्णव और सिद्ध सन्त थे तथा आपकी श्रीसीतारामजीमें अखण्ड निष्ठा थी। आपका यह दृढ़ नियम था कि सूर्यमण्डलमध्यस्थ श्रीसीतारामजीका बिना दर्शन किये आप अन्न-जलका ग्रहण नहीं करते

थे। इस प्रकार कभी-कभी आपको कई दिन बिना अन्न-जल ग्रहण किये ही बीत जाते, परंतु अपनी नियम-निष्ठामें किंचित् भी ढील देना आपको स्वीकार्य नहीं था।

एक बारकी बात है, भादोंका महीना था; आकाशमें काले-काले बादल चारों ओर छाये हुए थे, भगवान् सूर्यदेवका कहीं अता-पता नहीं था। सूरजदासजी सन्तोंकी टोली लिये हुए तीर्थयात्रापर निकले थे। आज उनके सामने अद्भुत धर्मसंकट खड़ा हो गया था—एक तरफ अपने आश्रित सन्तमण्डलीका आतिथ्य करना था, दूसरी ओर अपनी नियम-निष्ठा निबाहना था। आखिर वे स्वयं तो भूखे रह सकते थे, पर सन्तोंको तो भूखा रख नहीं सकते थे।

सेवकका बल तो स्वामी ही होते हैं, भक्तके योग-क्षेमका निर्वहण तो उसके आराध्यको ही करना होता है, फिर जब सूर्यमण्डलमध्यस्थ श्रीसीतारामजी-जैसे आराध्य, स्वामी और इष्टदेव हों तो सूरजदासजीको सूरजके दर्शनके लिये कैसी चिन्ता! श्रीसूरजदासजीने भक्तिभावपूर्वक पूजनका थाल तैयार किया। लोगोंको आश्चर्य था कि सूर्यभगवान्‌का तो कहीं अता-पता नहीं है, फिर ये किसके पूजनके लिये थाल तैयार कर रहे हैं।

समस्त सामग्री यथास्थान रखकर श्रीसूरजदासजीने पूजा प्रारम्भ की, फिर सूर्यदेवका दर्शन करनेके लिये जैसे ही दृष्टि ऊपर गगनमण्डलकी ओर उठायी कि मेघाच्छन्न आकाश अनन्तप्रकाशराशिसे परिपूरित हो उठा, भगवान् भास्कर कुहरावरणका विदारण करते हुए प्रकट हो गये। अनन्य श्रद्धाभावसे सूरजदासजीने उस सूर्यमण्डलके मध्यमें अपने आराध्य श्रीसीतारामजीके दर्शन किये। सन्त-मण्डली भक्त और भगवान्‌की जय-जयकार करने लगी। भक्तका प्रेम और भगवान्‌की कृपा देख सब लोग धन्य हो गये। ऐसे तेजस्वी और निष्ठावान् सन्त थे श्रीसूरजदासजी! उन्होंने अपनी इस नियम-निष्ठाका आजीवन निर्वाह किया और अन्तमें श्रीसीतारामजीके दिव्य धामको चले गये।

श्रीटीलाजी

श्रीटीलाजी महाराजका जन्म ज्येष्ठ शुक्ल १०, सं० १५१५ वि० को राजस्थानके किशनगढ़ राज्यान्तर्गत सलेमाबादमें हुआ था। आपके पिता श्रीहरिरामजी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पण्डित और माता श्रीमती शीलादेवी साधु-सन्तसेवी सद्‌गृहिणी थीं। कहते हैं कि आपके माता-पिताको बहुत समयतक कोई संतान नहीं थी, बादमें आबूराजनिवासी एक सिद्ध सन्तके आशीर्वादसे आपका जन्म हुआ था। सन्तकृपा, तीर्थक्षेत्रका प्रभाव, पूर्वजन्मके संस्कारों और माता-पिताकी भगवद्भक्तिके सम्मिलित प्रभावसे बालक टीलाजीमें बचपनसे ही भक्तिके दिव्य संस्कार उत्पन्न हो गये थे, जो आयु और शास्त्रानुशीलनके साथ-साथ बढ़ते ही रहे। आपके पिता पं० श्रीहरिरामजी भक्त होनेके साथ-साथ विद्वान् भी थे, वे आपको बचपनसे ही पुराणोंकी कहानियाँ और भगवच्चरित्र सुनाया करते थे, जिससे आपमें भगवद्भक्तिका संस्कार दृढ़ हुआ। बचपनमें ही आप किसी ऊँचे टीलेपर चढ़कर बैठ जाते और किसी सिद्ध सन्तकी भाँति समाधिस्थ हो जाते, आपकी इस प्रवृत्तिको देखकर ही लोगोंने आपका टीलाजी नाम रख दिया।

एक बारकी बात है, आपके पिताजीने आपको बालक ध्रुवकी कथा सुनायी; फिर क्या था, बालक टीलाने भी तपस्या करके भगवान्‌का दर्शन करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। बालक टीलाकी भक्ति और दृढ़ता देखकर माता-पिताने भी तपस्याकी अनुमति दे दी। कहते हैं कि आपको तपके लिये उद्यत देखकर श्रीहनुमान्‌जीने मथुरास्थित श्रीध्रुवटीलापर तपस्या करनेका सुझाव दिया। उस सिद्ध स्थानपर तपस्या करनेसे बालक टीलाको शीघ्र ही श्रीभगवान्‌के दर्शन प्राप्त हो गये।

भक्तवत्सल भगवान्ने टीलाजीसे वर माँगनेको कहा। इसपर टीलाजीने कहा—प्रभो! आपका दर्शन प्राप्तकर मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, अब मेरा कोई भी मनोरथ शेष नहीं रहा; फिर भी यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यही वरदान दीजिये कि किसी सद्गुरुसे मुझे वैष्णवी दीक्षा प्राप्त हो जाय। श्रीभगवान् बोले—वत्स! जिस प्रकार शिष्यको सद्गुरुकी खोज रहती है, उसी प्रकार सद्गुरुको भी परमयोग्य शिष्यकी खोज रहती है। मेरी कृपासे तुम्हें घर बैठे ही परम सन्त सिद्ध सद्गुरुदेवकी प्राप्ति हो जायगी। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और टीलाजी उसी भुवनमोहिनी छविका निरन्तर ध्यान करते हुए भगवदाज्ञाके अनुसार घरपर ही भजन-भाव करने लगे। प्रभुकृपासे थोड़े दिनोंमें ही इनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी। अनेक सिद्ध-महात्मा आपके दर्शनहेतु आने लगे। अनेक वयोवृद्ध सन्तोंने इनकी विद्वत्ता और सिद्धता देखकर इन्हें दीक्षा लेनेको कहा, परंतु ये विनम्रतापूर्वक कहते कि जिस दिन भगवान्की इच्छा होगी, उस दिन वे दीक्षा भी दे देंगे। कुछ लोग जब अधिक हठ करते तो आप विनयपूर्वक कह देते कि आप ही कृपाकर मेरे कण्ठी बाँध दीजिये। पर जब कोई आपको कण्ठी बाँधने लगता, तो आप अपने सिद्धिबलसे आसनसहित ऊँचे उठ जाते और बाँधनेवालेका हाथ आपके गलेतक पहुँच ही न पाता—ऐसा करनेके पीछे आपका उद्देश्य सिद्धिबल दिखाना या सन्तोंकी अवमानना करना नहीं, अपितु सच्चे सद्गुरुकी खोज करना ही था।

इस प्रकार जब बहुतसे सन्त प्रयास करनेपर भी श्रीटीलाजीके गलेमें कण्ठी न बाँध सके तो सबने जाकर श्रीपयहारीजी महाराजसे सब बातें कहीं और टीलाजीको शिष्य बनानेका निवेदन किया। पयहारीजीने प्रथम तो यह कहकर इनकार कर दिया कि वे सन्तोंको अपना सिद्धिबल दिखाते हैं; परंतु बादमें सबके आग्रहपर कण्ठी बाँधना स्वीकार कर लिया। श्रीपयहारीजी महाराज भी जब कण्ठी बाँधने लगे तो टीलाजी पूर्वकी भाँति आसनसहित ऊपर उठ गये, परंतु पयहारीजी तो ठहरे सिद्ध सन्त; उन्होंने अपना हाथ बढ़ाया तो वह बढ़ता ही गया और अन्तमें उन्होंने टीलाजीके गलेमें कण्ठी बाँध ही दी। इस प्रकार टीलाजीको उनके सद्गुरु मिल गये और पयहारीजी महाराजको टीलाजीके रूपमें एक योग्य शिष्य प्राप्त हो गया। श्रीपयहारीजी महाराजने उन्हें उपासनाका रहस्य समझाया और वैष्णव मन्त्रकी दीक्षा देकर उनका नाम श्रीसाकेतनिवासाचार्य रख दिया।

श्रीसाकेतनिवासाचार्यजीने बहुत दिनोंतक गलतागादी (जयपुर)-में रहते हुए श्रीपयहारीजी महाराजकी सेवा की, फिर उनकी आज्ञा लेकर भारतके सम्पूर्ण तीर्थोंका परिभ्रमण एवं भगवद्भक्तिका प्रचार किया। तत्पश्चात् जयपुरराज्यान्तर्गत ही अरविया ग्राममें आचार्यपीठका निर्माण कराकर वैष्णवधर्मका प्रचार-प्रसार करते रहे। चैत्रशुक्लपूर्णिमा सं० १६४२ वि० को श्रीसाकेतनिवासाचार्यजी महाराजने अपने आराध्य श्रीसीतारामजीके श्रीसाकेतधाममें निवास प्राप्त किया।

श्रीगंगादेवीजी

श्रीभगवान्की भक्तिमें सबका अधिकार है, श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

अर्थात् स्त्री-पुरुष, नपुंसक या कोई भी जड़-चेतनप्राणी कपट भावको सब प्रकारसे छोड़कर जो मुझे भजता है, वही मेरे लिये परम प्रिय है।

स्वामी रामानन्दजी महाराजने कलिमलग्रसित जीवोंके कल्याणके लिये जो सम्प्रदाय चलाया, उसमें दीक्षित होनेका सबको अधिकार था। उनके सम्प्रदायमें वर्ण-लिंग-सम्बन्धी कोई भेद नहीं था। इस सम्प्रदायमें

जहाँ चारों वर्णोंको दीक्षा प्राप्त हुई, वहीं पुरुषोंके साथ-साथ स्त्रियाँ भी दीक्षित हुईं। श्रीपद्मावतीजी श्रीरामानन्दाचार्यजीकी शिष्या थीं, उसी प्रकार श्रीपयहारी श्रीकृष्णदासजीकी शिष्या थीं गंगादेवी।

श्रीगंगादेवी परम भगवद्भक्ता थीं, भगवत्प्रसाद और चरणामृतमें इनकी बड़ी निष्ठा थी। कहते हैं कि इनके भाईको एक पिशाची लग गयी थी, जिससे वह दिनोंदिन क्षीण होता जा रहा था। उसे हटानेके लिये अनेक यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र किये गये; पर सब व्यर्थ रहे। वह पिशाची इनके भाईको किसी प्रकारसे छोड़नेको तैयार नहीं थी। जब इन्हें यह बात ज्ञात हुई तो इन्होंने विश्वासपूर्वक भगवच्चरणामृत लाकर भाईके ऊपर छिड़का। उसे छिड़कते ही पिशाचिनी तुरंत वहीं भाईको छोड़कर अलग हो गयी और अपने भी उद्धारकी प्रार्थना करने लगी। तब गंगादेवीजीने दयाकर उस पिशाचिनीका भी भगवच्चरणामृतसे उद्धार कर दिया।

श्रीविष्णुदासजी

श्रीविष्णुदासजी श्रीपयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके प्रधान शिष्योंमें एक थे। आप एक सिद्ध सन्त थे और भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार करने एवं भगवद्विमुखोंको भगवत्सम्मुख करनेके लिये सदा भ्रमण करते रहते थे। आपकी भगवच्चरणामृतमें बड़ी ही निष्ठा थी। आप भगवच्चरणामृतमें भिगोकर बनी हुई रजकी गुटिका सदा साथ रखते थे और उसके द्वारा भूत-प्रेत-अभिचारकर्म आदिसे ग्रस्त मनुष्योंको मुक्त करते थे।

एक बारकी बात है, आप भ्रमण करते हुए किसी ऐसे ग्राममें पहुँचे, जो भूत-प्रेतके उपद्रवोंसे ग्रस्त था। आपने ग्रामवासियोंकी प्रेतबाधा दूरकर उन्हें शान्ति प्रदान की तथा उस प्रेतको भी श्रीराम-मन्त्र सुनाकर प्रेतयोनिसे मुक्त किया। उनके इस प्रभावको देखकर ग्रामवासी उनके भक्त हो गये। श्रीविष्णुदासजीने उन्हें अपने सदुपदेशोंसे भगवत्पथका पथिक बना दिया।

श्रीरंगदासजी (श्रीरंगारामजी)

श्रीरंगदासजी महाराज श्रीपयहारीजीके प्रधान शिष्य थे। आपकी श्रीगुरुचरणकमलोंमें बड़ी ही निष्ठा थी। आपके जीवनमें गुरुका स्थान भगवान्से भी बढ़कर था। यहाँतक कि आप सिंहासनपर भगवद्विग्रह न रखकर उसके स्थानपर गुरुपादुका रखकर उसका ही पूजन करते थे। आप परम वैष्णव सन्त थे और अकिंचनवृत्तिसे रहते थे।

एक बारकी बात है, आपकी कुटियामें चोरी करनेके उद्देश्यसे एक चोर घुस गया। उसे और कुछ तो मिला नहीं, सिंहासनपर रखी हुई चरण-पादुकाएँ ही दिखायी दीं और वह उन्हें ही लेकर चल दिया। वह कुछ दूर ही गया होगा कि उसका चित्त व्याकुल हो गया, उसे कहीं मार्ग ही सूझ नहीं रहा था। वह घबराकर पुनः श्रीरंगदासजीकी कुटीपर लौट आया और पादुकाओंको वापसकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ा तथा बार-बार क्षमा-प्रार्थना करने लगा। श्रीरंगदासजीने उसे क्षमाकर भगवद्भक्तिका सदुपदेश दे भक्त बना दिया। इस प्रकार सन्तकृपासे एक चोरका भी जीवन धन्य हो गया। इस प्रकारके अनेक भगवद्विमुख जीवोंका सन्त श्रीरंगदासजीने उद्धार किया।

श्रीकील्हदेवजी

राम चरन चिंतवनि रहति निसि दिन लौ लागी।
सर्ब भूत सिर नमित सूर भजनानँद भागी॥
सांख्य जोग मत सुदृढ़ किए अनुभव हस्तामल।
ब्रह्मरंध्र करि गौन भए हरि तन करनी बल॥

सुमेरदेव सुत जग बिदित भू बिस्तार्यो बिमल जस।
गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं त्यों कील्ह करन नहिं काल बस॥ ४०॥

जिस प्रकार गंगाजीके पुत्र श्रीभीष्म पितामहजीको मृत्युने नष्ट नहीं किया, उसी प्रकार स्वामी श्रीकील्हदेवजी भी साधारण जीवोंकी तरह मृत्युके वशमें नहीं हुए, बल्कि उन्होंने अपनी इच्छासे प्राणोंका त्याग किया। कारण कि आपकी चित्तवृत्ति दिन-रात श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंका ध्यान करनेमें लगी रहती थी। आप मायाके षड्विकारोंपर विजय प्राप्त करनेवाले महान् शूरवीर थे। सदा भगवद्भजनके आनन्दमें मग्न रहते थे। सभी प्राणी आपको देखते ही नतमस्तक हो जाते थे और आप सभी प्राणियोंमें अपने इष्टदेवको देखकर उन्हें सिर झुकाते थे। सांख्यशास्त्र तथा योगका आपको सुदृढ़ ज्ञान था और योगकी क्रियाओंका आपको इतना सुन्दर अनुभव था कि जैसे हाथमें रखे आँवलेका होता है। ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे प्राणोंको निकालकर आपने शरीरका त्याग किया और अपने योगाभ्यासके बलसे भगवद्रूप पार्षदत्व प्राप्त किया। इस प्रकार श्रीसुमेरुदेवजीके सुपुत्र श्रीकील्हदेवजीने अपने पवित्र यशको पृथ्वीपर फैलाया, आप विश्वविख्यात सन्त हुए॥ ४०॥

श्रीकील्हदेवजी महाराजका जीवन-चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीकील्हदेवजी महाराज श्रीपयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। श्रीपयहारीजीके परमधामगमनके बाद गलतागादी (जयपुर)-के महन्त आप ही हुए। आप दिव्यदृष्टिसम्पन्न परम वैष्णव सिद्ध सन्त थे। कहते हैं कि भक्तमाल ग्रन्थके रचनाकार श्रीनाभादासजी महाराजके नेत्र क्या, नेत्रके चिह्न भी नहीं थे, श्रीकील्हदेवजीने अपने कमण्डलुके जलसे उनके नेत्र-स्थानको धुला, जिससे उनके बाह्य चक्षु प्रकट हो गये।

कहते हैं कि एक बार श्रीकील्हदेवजी मथुरापुरी आये हुए थे और श्रीयमुनाजीमें स्नानकर एकान्तमें समाधिस्थ हो भगवद्ध्यान करने लगे। उसी समय बादशाहके दिल्लीसे मथुरा-आगमनकी सूचना मिली। सेना तुरंत व्यवस्थामें लग गयी, रास्ता साफ किया जाने लगा, सब लोग तो हट गये, परंतु ध्यानावस्थित होनेके कारण श्रीकील्हदेवजी महाराजको बाह्य जगत्की कुछ खबर ही नहीं थी; वे समाधिमें स्थिर होकर बैठे थे। किसी सिपाहीने जाकर बादशाहको बताया कि हुजूर! एक हिन्दू फकीर रास्तेमें बैठा है और हमारे शोर मचानेपर भी नहीं उठ रहा है। उसने फौरन हुक्म दिया कि उस काफिरके माथेमें लोहेकी कील ठोंक दो। हुक्म मिलते ही दुष्ट सिपाहियोंने लोहेकी एक कील लेकर कील्हजीके माथेमें ठोंकना शुरू किया। परंतु आश्चर्य! कील्हदेवजी तो वैसे ही शान्त, निर्विकार बने रहे, परंतु उनके माथेका स्पर्श करते ही वह लोहेकी कील गलकर पानी हो गयी! यह आश्चर्य देख सिपाही भागकर बादशाहके पास गये। बादशाहको भी यह विचित्र घटना सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उसे लगा कि मैंने बादशाहतके नशेमें चूर होकर किसी सिद्ध सन्तका अपमान कर दिया है और इसका दण्ड भी भोगना पड़ सकता है, अतः भागता हुआ जाकर श्रीकील्हदेवजी महाराजके चरणोंमें गिर पड़ा और बार-बार क्षमा माँगने लगा। थोड़ी देर बाद जब कील्हदेवजीकी समाधि टूटी और वे अन्तःजगत्से बाह्य जगत्में आये तो उन्हें इस घटनाका ज्ञान हुआ। श्रीकील्हदेवजी महाराज तो परम सन्त थे, उनके मनमें क्रोधके लिये कहीं स्थान ही नहीं था, उन्होंने बादशाहको तुरंत क्षमा कर दिया।

बादशाह यद्यपि श्रीकील्हदेवजी महाराजसे प्रभावित तो बहुत हुआ, परंतु मुसलमान मुल्ला-मौलवियोंके

निरन्तर सम्पर्कमें रहनेसे उसने हिन्दुओंका धर्म परिवर्तनकर उन्हें मुसलमान बनानेका अभियान चला रखा था। अब हिन्दुओंने मिलकर श्रीकील्हजीकी शरण ली और धर्मरक्षा करनेकी प्रार्थना की। श्रीकील्हदेवजीने सबको आश्वासन दिया और स्वयं बादशाहके दरबारमें गये। बादशाहने श्रीकील्हदेवजीके चरणोंमें प्रणाम किया और आगेसे ऐसा न करनेकी शपथ ली।

श्रीकील्हदेवजी महाराज दिव्यदृष्टिसम्पन्न थे, जिस समय आपके पिता श्रीसुमेरुदेवजीका भगवद्धामगमन हुआ, उस समय आप श्रीमथुराजीमें विराजमान थे और आपके समीप ही राजा मानसिंह बैठे थे। आपने जब आकाशमार्गसे विमानस्थ पिताजीको भगवद्धाम जाते देखा तो उठकर प्रणाम किया और पिताने भी इन्हें आशीर्वाद दिया। इनके अतिरिक्त अन्य किसीको इनके पिता नहीं दिखायी दिये, इसीलिये राजा मानसिंहको बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने श्रीकील्हजीसे पूछा कि प्रभो! आप क्यों उठे और हाथ जोड़कर किसे प्रणाम किया? श्रीकील्हजीने उन्हें पिताजीके परमधामगमनकी बात बतायी। मानसिंहको बहुत आश्चर्य हुआ; क्योंकि श्रीकील्हदेवजीके पिताजीका शरीर छूटा था गुजरातमें और श्रीकील्हदेवजी थे मथुरामें—ऐसेमें श्रीकील्हदेवजीको पिताका दर्शन कैसे हुआ, यह मानसिंहके लिये आश्चर्यकी बात थी। उन्होंने तुरंत ही अपने दूतोंको गुजरात भेजकर सत्यताकी जानकारी की। श्रीकील्हदेवजीकी बात अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई, इससे राजा मानसिंहको इनपर बहुत ही श्रद्धा हो गयी।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रीसुमेर देव पिता सूबे गुजरात हुते भयो तनुपात सो विमान चढ़ि चले हैं।
बैठे मधुपुरी कील्ह मानसिंह राजा ढिंग देखे नभ जात उठि कही भले भले हैं॥
पूछे नृप बोले कांसों? कैसे कै प्रकासों, कहौ, कह्यौ हठ परे सुनि अचरज रले हैं।
मानुस पठाये सुधि ल्याए सांच आंच लागी कारी साष्टाङ्ग बात मानी भाग फले हैं॥ १२१॥

उनके संतत्वकी एक दूसरी घटना इस प्रकार है—एक बारकी बात है, आप अपने आराध्य प्रभु श्रीसीतारामजी महाराजकी सेवा कर रहे थे। आपने माला निकालनेके लिये पिटारीमें जैसे ही हाथ डाला, वैसे ही उसमें बैठे एक विषधर सर्पने आपके हाथमें काट लिया। करुणाविग्रह आपने उस अपकारी सर्पपर भी दया की और उसे भूखा जानकर पुनः अपना हाथ पिटारीमें डाल दिया। इस प्रकार आपने तीन बार पिटारीमें हाथ डाला और सर्पने तीन बार काटा, चौथी बार वह स्वयं पिटारीसे बाहर चला गया। इस प्रकार आपने सर्पको भी अतिथि मानकर उसका सत्कार किया और उसकी क्षुधापूर्ति की। श्रीरामकृपासे उस विषधरके विषका आपपर कोई प्रभाव भी नहीं हुआ। सत्य है, जब भजनके प्रभावसे काल-व्यालका विष नहीं व्यापता तो लौकिक व्यालका विष क्या व्यापेगा!

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

ऐसे प्रभु लीन नहिं कालके अधीन बात सुनिये नवीन चाहैं रामसेवा कीजिये।
धरी ही पिटारी फूलमाला हाथ डार्‌यो तहाँ व्याल कर काट्‌यो कह्यो फेरि काटि लीजिये॥
ऐसे ही कटायो बार तीनि हुलसायो हियो कियो न प्रभाव नेकु सदा रस पीजिये।
करिकैं समाज साधु मध्य यौं विराज प्रान तजे दशैं द्वार योगी थके सुनि जीजिये॥ १२२॥

श्रीकील्हदेवजी महाराज सिद्ध सन्त थे, भविष्यकी बातें जान लेनेकी उनमें सामर्थ्य थी। जब उन्हें भगवद्धाम जाना हुआ तो पहलेसे ही सन्तोंके पास इस आशयका सन्देश भेज दिया और सन्तोंसे संकीर्तन करनेको कहा। संकीर्तन सुनते हुए ही आपने ब्रह्मरन्ध्रसे अपने प्राणोंका उत्क्रमण किया।

श्रीअग्रदासजी

सदाचार ज्यों संत प्राप्त जैसे करि आए।
सेवा सुमिरन सावधान (चरन) राघव चित लाए॥
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरंतर।
रसना निर्मल नाम मनहुँ बर्षत धाराधर॥
(श्री) कृष्णदास कृपा करि भक्ति दत मन बच क्रम करि अटल दयो।
(श्री) अग्रदास हरि भजन बिन काल बृथा नहिं बित्तयो॥ ४१ ॥

श्रीस्वामी अग्रदासजीने भगवद्भजनके बिना क्षणमात्र भी समयको व्यर्थ नहीं बिताया। आपका वैष्णव सदाचार पूर्ववर्ती आचार्योंके समान ही था। आप सदा मानसी सेवा एवं प्रकट विग्रहसेवामें तथा भगवन्नामस्मरणमें सावधान रहते थे। सदा राघवेन्द्रसरकारके श्रीचरणोंमें मनको लगाये रहते थे। (सीताराम-विहार) प्रसिद्ध बागमें आपकी बड़ी प्रीति थी, उसे सींचने, बुहारने आदिकी सब सेवाएँ सदा आप अपने हाथसे ही करते थे। आपकी जिह्वासे परम पवित्र श्रीसीताराम नामकी ध्वनि इस प्रकार होती रहती थी, मानो मधुर गर्जनके साथ मन्द-मन्द वर्षा हो रही है। गुरुदेव पयहारी श्रीकृष्णदासजीने परमकृपा करके मन-वचन-कर्मसे सम्बन्धित अचल भक्तिका भाव आपको प्रदान किया था॥ ४१ ॥

श्रीनाभादासजीके गुरुमहाराज श्रीअग्रदासजीका चरित संक्षेपमें यहाँ प्रस्तुत है—

महात्मा श्रीअग्रदासजी श्रीकृष्णदास पयहारीजी महाराजके शिष्य थे, जिन्होंने जयपुरमें गलता नामक प्रसिद्ध स्थानपर पधारकर तत्कालीन जयपुर-नरेशको वैष्णव बनाया और वहींपर पहाड़में धूनी स्थापित की, जो अभीतक चालू है। श्रीपयहारीजी महाराजके बड़े शिष्य श्रीकील्हने तो श्रीगुरुदेवके परमधामगमनके बाद गलताकी गद्दी सँभाली और अग्रदासजीने जयपुरके पास ही लगभग ३० मील दूर गोरयाँ स्टेशनके निकट रैवासा नामक स्थानपर गद्दी स्थापित की।

श्रीअग्रदासजीका प्रादुर्भाव फाल्गुन शु० २, सं० १५५३ वि० को राजस्थानके एक गाँवमें ब्राह्मणकुलमें हुआ था। इनमें भक्तिके संस्कार बचपनसे ही विद्यमान थे, अतः अत्यन्त अल्पवयमें ही आपने घर छोड़कर श्रीपयहारीजी महाराजकी शरण ग्रहण कर ली। श्रीपयहारीजीने इन्हें योग्य जानकर श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा दी और उपासना-रहस्य एवं शरणागति-माहात्म्यका उपदेश दिया।

श्रीपयहारीजीकी ही भाँति श्रीअग्रदासजी भी सिद्ध सन्त थे। एक बारकी बात है, राजा मानसिंह कहीं युद्ध करने जा रहे थे। मार्गमें श्रीपयहारीजी महाराजका आश्रम पड़ता था। मानसिंहकी श्रीपयहारीजी महाराजपर बड़ी श्रद्धा थी, अतः वे अपनी दस हजार सेनाके साथ आश्रम आ गये और श्रीमहाराजजीके चरणोंमें प्रणिपात किया। श्रीपयहारीजी महाराजने मानसिंहको आशीर्वाद दिया और श्रीअग्रदासजीको सेनासहित राजाका अतिथ्य करनेको कहा। उस समय कुटीमें मात्र दस केले रखे थे, अग्रदासजी उन दस केलोंको लेकर आये। श्रीपयहारीजीने कहा—दस-दस केले सबको बाँट दो। श्रीअग्रदासजीने बिना कोई प्रश्न किये गुरु-आज्ञाका पालन किया और दस हजार लोगोंको दस-दस केले बाँट दिये, तब भी उनके हाथमें दस केले बचे ही रहे!

श्रीअग्रदासजी सन्तोंकी मण्डली लेकर भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार करनेके लिये भ्रमण किया करते थे।

एक बारकी बात है, आप सन्तमण्डली लेकर एक गाँवमें पहुँचे। वहाँका एक सेठ धनवान् होनेके साथ-साथ बड़ा भगवद्भक्त भी था। उसने सन्तमण्डलीसे रुकनेका आग्रह किया और एक माहतक बड़ी सेवा की। संयोगकी बात, जिस दिन सन्तलोग वहाँसे चलनेको हुए, उसी दिन उस सेठके पुत्रको एक विषधर सर्पने काट लिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। सेठके यहाँ कुहराम मच गया। उस गाँवमें बहुतसे ऐसे भी लोग थे, जो सन्त-सेवा और भगवद्भक्तिको व्यर्थकी बात मानते थे। ऐसे द्वेषी और भगवद्विमुख लोगोंके लिये मौका मिल गया और वे कहने लगे कि 'देख लिया न इन साधुओंकी सेवाका फल।' यह बात जब श्रीअग्रदासजीके कानोंमें पड़ी तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने सन्त-सेवा और भगवद्भक्तिकी महिमाको प्रकट करनेके लिये भगवच्चरणामृतकी कुछ बूँदें मृत बालकके मुखमें डालीं और अपने इष्टदेवका ध्यान किया। फिर क्या था! नींदसे जगेकी भाँति मृत बालकने आँखें खोल दीं। चारों ओर सन्त-भगवन्तकी जय-जयकार होने लगी। जो लोग सन्तोंकी निन्दा कर रहे थे, वे भी आकर चरणोंमें गिर पड़े और सदा-सदाके लिये भगवद्भक्त बन गये।

भक्तमालके रचनाकार परमभागवत श्रीनाभादासजी महाराज श्रीअग्रदासजीके कृपापात्र थे और श्रीकील्हदेवजी महाराजके प्रति आपका अग्रजका भाव था। भगवती जगज्जननी जनकलली जानकीजीकी प्रिय सखी चन्द्रकलाके आप अवतार माने जाते हैं, अग्रअलीके नामसे आपने मधुररसोपासना और मधुर भावकी भक्ति की। अपने रेवासा आश्रमके पास ही आपने श्रीरामबाग और श्रीसियमनरंजिनीवाटिकाका निर्माण किया। रेवासा गाँवके लोगोंको पीनेके लिये जलकी समस्या थी, आपने अपना चिमटा गाड़कर पृथ्वीसे जलस्रोत प्रकट कर दिया, जो आज भी कुएँके रूपमें विद्यमान है।

श्रीप्रियादासजीने आपकी महिमा निम्न कवित्तमें प्रकट की है—

दरशन काज महाराज मानसिंह आयो छायो, बाग मांझ बैठे द्वार द्वारपाल हैं।
झारि कै पतौवा गये बाहिर लै डारिबे को, देखी भीर भार रहे बैठि ये रसाल हैं॥
आये देखि नाभाजू ने उठि साष्टांग करी, भरी जल आँखें चली अँसुवनि जाल हैं।
राजा मग चाहि हारि आनिकै निहारि नैन, जानी आप जानी भये दासनि दयाल हैं॥ १२३॥

एक बारकी बात है—जयपुरके राजा मानसिंह स्वामी श्रीअग्रदेवजीके दर्शन करनेके लिये आये। उस समय स्वामीजी बागमें ही थे। बागके द्वारपर राजाके द्वारपाल बैठ गये। अन्य कुछ व्यक्तियोंके साथ राजा बागके भीतर गये। इसी बीच स्वामीजी बागके सूखे पत्तोंको झाड़कर बाहर फेंकने गये। राजाके साथ आयी हुई भीड़भाड़को देखकर स्वामीजी लौटकर नहीं आये। बाहर ही बैठ गये और माधुर्यरसरूप श्रीस्वामीजी मधुर ध्यान-रसमें लीन हो गये। स्वामीजीको आया देखकर श्रीनाभाजी स्वामीजीके निकट आये और उन्होंने उनके प्रेममग्न स्वरूपका दर्शन करके उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीनाभाजीकी आँखें तर हो आयीं और नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। राजाने बागमें देरतक बाट देखी, फिर उससे न रहा गया, हारकर वह भी वहीं आ गया और उसने स्वामीजीके दर्शन करके यह जाना कि श्रीरामचन्द्रजीने ही दासोंपर दया की है, वे ही श्रीअग्रदेवजीके रूपमें सामने विराजमान हैं॥ १२३॥

श्रीशंकराचार्यजी

उतसृंखल अग्यान जिते अनईस्वरबादी।
बुद्ध कुतर्की जैन और पाखंडहि आदी॥

बिमुखनि को दियो दंड ऐंचि सन्मारग आने।
सदाचार की सींव बिस्व कीरतिहि बखाने॥
ईस्वरांस अवतार महि मरजादा माँड़ी अघट।
कलिजुग धर्मपालक प्रगट आचारज संकर सुभट॥ ४२ ॥

अधर्मप्रधान कलियुगमें वैदिक धर्मके रक्षक श्रीशंकराचार्यजीका अवतार हुआ। आप विधर्मियोंको शास्त्रार्थमें परास्त करनेवाले वाक्-वीर थे। वैदिक मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले उद्दण्ड, ईश्वरको न माननेवाले बौद्ध, शास्त्रविरुद्ध तर्क करनेवाले जैनी और पाखण्डी आदि जो लोग भगवान्‌से विमुख थे, उन्हें आपने दण्ड दिया। भय दिखाकर शास्त्रार्थमें हराकर उन्हें बलात् खींचकर सनातन धर्मके मार्गपर ले आये। आप सदाचारकी सीमा अर्थात् बड़े सदाचारी थे। सारा संसार आपकी कीर्तिका वर्णन करता है। आप भगवान् शंकरके अंशावतार थे। पृथ्वीपर प्रकट होकर आपने वेदशास्त्रकी सम्पूर्ण मर्यादाओंका इस प्रकार समर्थन और स्थापन किया कि उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रही। वह अचल हो गयी॥ ४२॥

यहाँ श्रीशंकराचार्यजीका महिमामय चरित संक्षेपमें वर्णित है—

श्रीमदाद्यशंकराचार्यजी

शंकरावतार भगवान् श्रीशंकराचार्यके जन्मसमयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। कुछ लोगोंके मतानुसार ईसासे पूर्वकी छठी शताब्दीसे लेकर नवम शताब्दीपर्यन्त किसी समय इनका आविर्भाव हुआ था, जबकि कुछ लोग आचार्यपादका जन्मसमय ईसासे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व मानते हैं। मठोंकी परम्परासे भी यही बात प्रमाणित होती है। अस्तु, किसी भी समय हो, केरल प्रदेशके पूर्णा नदीके तटवर्ती कलान्दी नामक गाँवमें बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रा* माताके गर्भसे वैशाख शुक्ल पंचमीके दिन इन्होंने जन्म ग्रहण किया था। इनके जन्मके पूर्व वृद्धावस्था निकट आ जानेपर भी इनके माता-पिता सन्तानहीन ही थे। अतः उन्होंने बड़ी श्रद्धाभक्तिसे भगवान् शंकरकी आराधना की। उनकी सच्ची और आन्तरिक आराधनासे प्रसन्न होकर आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शंकर प्रकट हुए और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया। इसीके फलस्वरूप न केवल एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र ही, बल्कि स्वयं भगवान् शंकरको ही इन्होंने पुत्ररूपमें प्राप्त किया। नाम भी उनका शंकर ही रखा गया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेज दिया गया और केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही वेद, वेदान्त और वेदांगोंका पूर्ण अध्ययन करके वे घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन आश्चर्यचकित रह गये।

गुरुकुलनिवासकालकी बात है, बालक शंकर भिक्षाटन करते हुए एक निर्धन ब्राह्मणीके घर गये। उस बेचारीके घर अन्नका एक दाना भी नहीं था। कहींसे उसे एक आँवलेका फल मिला था, उसीको उसने ब्रह्मचारी शंकरको दिया और घरमें कुछ न होनेके कारण अन्न देनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की। उस

* कहीं-कहीं इनका नाम 'विशिष्टा' भी मिलता है। सम्भवतः दो नाम रहे हों।

ब्राह्मणीकी दशा देखकर बालक शंकरका मन करुणासे भर गया और इन्होंने 'कनकधारास्तोत्र' का प्रणयन-कर उसीसे भगवती महालक्ष्मीकी स्तुति की। भगवती महालक्ष्मीने प्रसन्न होकर ब्राह्मणीके घरको सोनेके आँवलोंसे भर दिया।

विद्याध्ययन समाप्तकर शंकरने संन्यास लेना चाहा; परंतु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तब उन्होंने मना कर दिया। शंकर माताके बड़े भक्त थे, वे उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको संकटमें देखकर माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शंकरने मातासे कहा—'मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शंकरको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार यह वचन देते गये कि 'तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।'

घरसे चलकर शंकर नर्मदा-तटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी चले गये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दन हुए, जो पीछे पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें इन्हें दर्शन दिये, उस समय आप श्रीगंगाजीसे स्नानकर आ रहे थे। चाण्डालरूपधारी भगवान् विश्वनाथ मार्गमें खड़े थे, आप सहज रूपसे उनके स्पर्शसे बचकर निकलने लगे तो उन्होंने कहा—'***गंगा गड़ही वारिमें चन्द्र बिम्ब दरसाय। उनमें ऊँचो नीचको यह मोहिं देहु बताय॥***' इस परम अद्वैत सिद्धान्तको सुनते ही श्रीशंकराचार्यजीने तुरंत समझ लिया कि ये श्वपच नहीं परमज्ञाननिधान साक्षात् भगवान् शिव ही हैं, फिर तो ये श्रीशिवजीके चरणोंमें पड़ गये। भगवान् शिवने इन्हें ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मके प्रचार करनेका आदेश दिया।

काशीमें निवास करते समयकी बात है, एक दिन आप मणिकर्णिकाघाटपर स्नान कर रहे थे, उसी समय भगवान् वेदव्यास एक वयोवृद्ध ब्राह्मणके रूपमें प्रकट होकर ब्रह्मसूत्रके किसी सूत्रपर विचार-विमर्श करने लगे, परंतु होते-होते वह विचार-विमर्श शास्त्रार्थके रूपमें परिणत हो गया और आठ दिनतक लगातार गंगातटपर ही शास्त्रार्थ होता रहा। अन्तमें आपने सोचा कि सामान्य मनुष्यके वशकी बात नहीं है कि वह मुझसे इतने लम्बे समयतक शास्त्रार्थ कर सके, अतः ज्ञानदृष्टिसे देखा तो ज्ञात हुआ कि ये ब्राह्मणदेवता और कोई नहीं, साक्षात् नारायणके अवतार भगवान् वेदव्यास हैं। उसी समय आपके शिष्य पद्मपादाचार्यने भी आपको इस श्लोकके माध्यमसे संकेत किया—

शंकरः शंकरः साक्षात् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यहम्॥

—यह सुनकर श्रीव्यासजीने प्रकट होकर दर्शन दिया और आपके वेदान्तभाष्यकी भूरि-भूरि प्रशंसाकर अन्तर्धान हो गये।

इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की, विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया और बहुत-से ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे

माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मण्डनकी पत्नी भारती मध्यस्था थीं। शास्त्रार्थमें शंकराचार्यजीने मिश्रजीको हरा दिया, तब भारतीने कहा कि मुझ अर्धांगिनीको हराये बिना आप विजयी नहीं हो सकते। तब आपने भारतीसे शास्त्रार्थ किया। उसने रतिशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्न किये, उनके उत्तरके लिये इन्होंने छः मासका समय माँगा और अपने शिष्योंसे कहा कि मैं मृत राजा अमरुकके शरीरमें प्रवेशकर शृंगार रसका अध्ययन करूँगा। तबतक मेरे भौतिक शरीरकी रक्षा करना। यदि वहाँसे वापस लौटनेमें मुझे विलम्ब हो जाय तो मेरे पास आकर मुझे मोहमुद्गरके श्लोक सुनाना। उस राजा अमरुकके मृत शरीरमें प्रवेशकर शंकराचार्यजीने रतिशास्त्रका अध्ययन किया। तत्पश्चात् उनके शिष्योंने मोहमुद्गरके श्लोक उन्हें सुनाये और वे राजा अमरुकका शरीर छोड़कर पुनः अपने शरीरमें आ गये तथा भारतीके प्रश्नोंका उत्तर दे उसे निरुत्तर किया। अन्तमें मण्डनमिश्रने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। इससे आपकी ख्याति बहुत फैल गयी।

एक बारकी बात है, शास्त्रार्थमें आपने सेवड़ों (प्रतिपक्षियों)-को परास्त किया, पराजित सेवड़ा लोग अपने राजाके पास पहुँचे। राजाने सेवड़ोंकी बात नहीं मानी, तब सेवड़ोंको यह भय सताने लगा कि कहीं हमारा राजा शंकराचार्यका शिष्य न बन जाय, अतः उन्होंने राजा तथा शंकराचार्यको मार डालनेका एक षड्यन्त्र रचा। सेवड़ोंका गुरु राजा एवं शंकराचार्यको लेकर एक ऊँची छतपर चढ़ गया और उसने तन्त्र-बलसे ऐसी माया रची कि चारों ओर जल ही जल हो गया। धीरे-धीरे जल बढ़ता हुआ छततक आ गया। सेवड़ोंके गुरुने मायाकी नाव भी बना दी और राजासे कहा कि इसपर चढ़ जाओ, नहीं तो जलमें डूब जाओगे। राजा जैसे ही नावपर चढ़ने लगे शंकराचार्यजीने उन्हें नावपर बैठनेसे मना कर दिया और पहले सेवड़ोंको चढ़ानेको कहा। सेवड़े जैसे ही नावपर चढ़े, मायाकी नाव और जल गायब हो गया और वे लोग छतसे नीचे गिर गये। उन सेवड़ोंके शरीर भग्न हो गये। राजा उनकी चाल और शंकराचार्यजीका प्रभाव समझ गये और उनके चरणोंपर गिर पड़े।

श्रीप्रियादासजी महाराज इन घटनाओंका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बिमुख समूह लैके किये सनमुख स्याम, अति अभिराम लीला जग बिसतारी है।
सेवरा प्रबल वास केवरा ज्यौं फैलि रहे, गहे नहीं जाहिं बादी सुचि बात धारी है॥
तजिकै शरीर काहू नृपमें प्रवेश कियो, दियौ करि ग्रन्थ मोह मुद्गर सुभारी है।
शिष्यनि सों कह्यौ कभूं देहमें आवेश जानो तब ही बखानो आप सुनि कीजै न्यारी है॥ १२४॥
जानिकै आवेश तन शिष्यने प्रवेश कियो रावलेमें देखि सो श्लोक लै उचार्‌यौ है।
सुनत ही तज्यौ तन निज तन आय लियौ कियो यों प्रनाम दास पन पूरो पार्‌यौ है॥
सेवरा हराये बादी आये नृप पास ऊँचे छातपर बैठि एक माया फन्द डार्‌यौ है।
जल चढ़ि आयो नाव भाव लै दिखायौ कहैं चढ़ौ नहीं बूड़ौ आप कौतुक सो धार्‌यौ है॥ १२५॥
आचारज कही यों चढ़ाओ इन सेवरानि राजाने चढ़ाये गिरे टूक उड़ि गये हैं।
तब तौ प्रसन्न नृप पाँव पर्‌यौ भाव भर्‌यौ कह्यौ जोई कर्‌यो धर्म भागवत लये हैं॥
भक्ति ही प्रचार पाछै मायावाद डारि दीनों कीनों प्रभु कह्यौ किते विमुख हू भये हैं।
ऐसे सो गँभीर सन्त धीर वह रीति जानें प्रीति ही में साने हरिरूप गुन नये हैं॥ १२६॥

तत्पश्चात् आचार्यने विभिन्न मठोंकी स्थापना की और उनके द्वारा औपनिषद सिद्धान्तकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

आचार्यने अनेक मन्दिर बनवाये, बहुतसे लोगोंको सन्मार्गमें लगाया और कुमार्गका खण्डन करके भगवान्के वास्तविक स्वरूपको प्रकट किया। आपने भारतवर्षके चारों कोनोंपर चार मठोंकी स्थापना की और वहाँ अपने शिष्योंको नियुक्त किया। पूर्वमें श्रीजगन्नाथपुरी (उड़ीसा)-में गोवर्धन मठ, दक्षिणमें शृंगेरी मठ, पश्चिममें द्वारकापुरीमें शारदामठ और उत्तरमें ज्योतिर्मठकी आपने स्थापना की। इन मठोंके मठाधीश आज भी श्रीमद् आद्य शंकराचार्यके नामपर शंकराचार्य कहे जाते हैं।

यद्यपि आपका लौकिक जीवनकाल अत्यन्त अल्प मात्र ३२ वर्ष ही रहा, परंतु इतने कम समयमें ही आपने छोटे-बड़े २६२ ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता)-पर भाष्य ही आपके यशको अमर रखनेमें पर्याप्त हैं।

श्रीनामदेवजी

बालदसा बीठल्ल पानि जाके पय पीयौ।
मृतक गऊ जीवाय परचौ असुरन कौं दीयौ॥
सेज सलिल तें काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सबही सोती॥
पँडुरनाथ कृत अनुग ज्यों छानि स्वकर छइ घास की।
नाम देव प्रतिग्या निर्बही (ज्यों) त्रेता नरहरिदास की॥ ४३॥

जल-थल और अग्नि आदिमें सर्वत्र अपने इष्टका ही दर्शन करूँगा—यह प्रतिज्ञा श्रीनामदेवजीकी उसी प्रकार निभी, जैसे कि त्रेतायुगमें नरसिंहभगवान्के दास श्रीप्रह्लादजीकी निभी थी। बचपनमें ही उनके हाथसे विट्ठलनाथभगवान्ने दूध पिया। एक मरी हुई गायको आपने जीवित करके असुर-यवनोंको अपने भजनबलका परिचय दिया। फिर उस यवन राजाके द्वारा दी गयी शय्याको नदीके अथाह जलमें डाल दिया। उसके आग्रहपर उसी तरहकी अनेक शय्याएँ निकालकर दिखा दीं। पण्ढरपुरमें पण्ढरीनाथभगवान्के मन्दिरका द्वार उलटकर आपकी ओर हो गया, इस चमत्कारको देखकर मन्दिरके पुजारी सभी श्रोत्रिय ब्राह्मणलोग संकुचित और लज्जित हो गये। प्रेमके प्रभावसे पण्डरनाथभगवान् आपके पीछे-पीछे चलनेवाले सेवककी तरह कार्य करते थे। आगसे जल जानेपर अपने हाथोंसे भगवान्ने आपका छप्पर छाया॥ ४३॥

(क) नामदेवजीके जन्मकी दिव्य घटना

नामदेवजीके प्रादुर्भावकी घटनाका श्रीप्रियादासजी निम्न प्रकारसे वर्णन करते हैं—

छीपा वामदेव हरिदेव जू को भक्त बड़ो ताकी एक बेटी पतिहीन भई जानिये।
द्वादश वरष मांझ भयो तब कही पिता सेवा सावधान मन नीके करि आनिये॥
तेरे जे मनोरथ हैं पूरन करन एई जो पै दत्तचित्त है कै मेरी बात मानिये।
करत टहल प्रभु बेगि ही प्रसन्न भये कीनी काम वासना सु पेखि उनमानिये॥ १२७॥
विधवा को गर्भ ताकी बात चली ठौर ठौर दुष्ट शिरमौरनि की भई मन भाइयै।
चलत चलत वामदेव जू के कान परी करी निरधार प्रभू आप अपनाइयै॥
भये जू प्रगट बाल नाम नामदेव धर्‌यौ कर्‌यौ मन भायो सब सम्पति लुटाइयै।
दिन दिन बढ़्यो कछू और रंग चढ़्यो भक्तिभाव अंग मढ़्यो कढ़्यो रूप सुखदाइयै॥ १२८॥

(ख) श्रीनामदेवजीके बचपनके भक्तिमय चरित

श्रीनामदेवजी बचपनमें खिलौनोंसे खेलते थे, आप खेलमें ही भगवान्‌की सेवा-पूजा करते थे, वे किसी काष्ठ या पाषाणकी मूर्ति बना लेते और फिर उसे बड़े प्रेमसे वस्त्र पहनाते, भोग लगाते, घण्टा बजाते तथा नेत्र बन्द करके मनमें अच्छी तरह भगवान्‌का ध्यान करते। वे जैसे-जैसे इन कार्योंको करते थे, वैसे-वैसे वे अत्यन्त सुख पाते थे। प्रेमवश उनके नेत्रोंमें जल भर जाता। नामदेवजी अपने नाना वामदेवजीसे बार-बार कहते कि भगवान्‌की सेवा मुझे दे दीजिये। सेवा मुझे बहुत प्यारी लगती है। इस प्रकार नामदेवजीने बार-बार कहा। कुछ समय बाद वामदेवजीने नामदेवसे कहा कि मैं एक गाँवको जाऊँगा और तीन दिनमें लौट आऊँगा, तबतक तुम भगवान्‌की सेवा करना और भगवान्‌को दूध पिलाना, स्वयं मत पी जाना। यदि अच्छी प्रकारसे तीन दिन सेवा करोगे तो तुम्हें ही सेवा सौंप दी जायगी।

श्रीनामदेवजीके हृदयमें सेवा प्राप्त करनेकी लालसा बढ़ी, वे नानाजीसे बार-बार पूछते कि अभी आप गये नहीं? एक दिन नानाजीके बाहर गाँव जानेका समय आ गया, वे चले गये। नामदेवजीने अच्छी तरह देखभालकर कड़ाहीमें दो सेर दूध डाला और मनमें निश्चय किया कि दूधको औटाकर अति उत्तम बनाऊँ, जिससे प्रसन्न होकर प्रभु पी लें। श्रीनामदेवजीके हृदयमें प्रेमकी बड़ी भारी उमंग थी, उन्हें चिन्ता भी थी कि सेवामें कोई त्रुटि न हो जाय।

बालक नामदेवजी दूध औटाकर उसे एक सुन्दर कटोरेमें भरकर भगवान्‌के समीप ले आये। दूधमें इलायची और मिश्री मिलायी। दूध पिलानेकी आशासे परदा कर दिया। कुछ देर प्रेमकी लम्बी श्वासें भरते रहे फिर परदा हटाकर देखा तो दूधभरा कटोरा ज्यों-का-त्यों रखा था। इससे इनके मनमें बड़ी निराशा हुई और भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! आप दूध पीकर तृप्त हो जायँ।

श्रीनामदेवजी भगवान्‌को दूध-भोग लगाते और यह देखते कि भगवान्‌ने दूध नहीं पिया है, इस प्रकार दो दिन बीत गये। स्वयं भी उन्होंने अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया और इस बातको अपने मनमें ही छिपाकर रखा। माताजीको भी नहीं बताया और भूखे-प्यासे ही रातको सो गये, पर चिन्ताके कारण निद्रा नहीं आयी। तीसरे दिनका सबेरा हुआ, फिर उसी प्रकार सावधानीसे दूधको औटाया इलायची, मिश्री मिलायी और आज प्रभु अवश्य ही दूध पी लेंगे—इस भावसे मनको मजबूत करके भगवान्‌के सामने दूध रखा और कहा—प्रभो! (नानाजी दूध पिलानेको कह गये थे) आप दूधको पीजिये, तभी मैं प्रसन्न होऊँगा। इतनेपर भी जब भगवान्‌ने दूध नहीं पिया, तब श्रीनामदेवजी बोले—मैं बारम्बार आपसे दूधकी विनती करता हूँ, परंतु आप दूध नहीं पीते हैं। कल प्रातःकाल नानाजी आ जायँगे और वे हमपर रुष्ट होंगे, फिर कभी सेवा मुझे नहीं देंगे। इसलिये ऐसे जीनेसे तो मरना ही अच्छा है। ऐसा कहकर छुरी निकाली और भगवान्‌को दिखाकर अपना गला काटनेके लिये गलेपर छुरी चलाना ही चाहते थे कि भगवान्‌ने हाथ पकड़ लिया और कहा कि अरे! ऐसा मत करो, मैं अभी दूध पीता हूँ। यह कहकर भगवान् दूध पीने लगे। श्रीनामदेवजीने देखा कि ये तो सब दूध पी जायँगे, तब बोले कि थोड़ा-सा प्रसाद मेरे लिये भी रहने दीजियेगा; क्योंकि नानाजीके भोग लगानेपर मैं सदा दूध-प्रसाद पीता था।

चौथे दिन वामदेवजी गाँवसे लौटकर आये और नामदेवजीसे 'अच्छी प्रकार सेवा की या नहीं' यह पूछा तो इन्होंने अत्यन्त प्रेमरंगमें भरकर दुग्धपानलीलाका सारा वर्णन किया। यह सुनकर वामदेवजीने कहा कि मेरे सामने फिर पिलाओ, तब हम जानें। तब श्रीनामदेवजीने उसी प्रकार दूध तैयार करके भगवान्‌के सामने रखा, पर भगवान्‌ने नहीं पिया, तब अड़ गये उसी प्रकार छुरी निकालकर गला काटनेको तैयार हो गये कि कल पीकर आज नानाजीके सामने मुझे झूठा बनाना चाहते हो। आपको दूध

पीना ही पड़ेगा। बालकके प्रेमहठसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने वामदेवजीके देखते-देखते दूध पिया और प्रसाद नामदेवको पिलाया। वामदेवजीने सोचा कि मैंने जीवनभर सेवा की, पर दर्शन नहीं हुए। आज बालकके प्रभावसे दर्शन हुए। इस प्रसंगके द्वारा भगवान्‌ने यह दिखला दिया कि मैं भक्तके वशमें होकर उसके प्रेमके कारण अर्पित भोगको ग्रहण करता हूँ।

श्रीप्रियादासजीने नामदेवजीके इस प्रेमभावका वर्णन निम्न कवित्तोंमें किया है—

खेलत खिलौना प्रीति रीति सब सेवा ही की पट पहिरावैं पुनि भोगको लगावहीं।
घंटा लै बजावैं नीके ध्यान मन लावैं त्यों-त्यों अति सुख पावैं नैन नीर भरि आवहीं॥
बार-बार कहैं नामदेव वामदेव जू सों देवो मोहिं सेवा मांझ अति ही सुहावहीं।
जाऊँ एक गाँव फिरि आऊँ दिन तीन मध्य दूधको पिवावौ मत पीवो मोहि भावहीं॥ १२९॥
कौन वह बेर जेहिं बेर दिन फेर होय फेर फेर कहैं वह बेर नहीं आइये।
आई वह बेर लै कराहीं मांझ हेरि दूध डार्‌यो युग सेर मन नीके कै बनाइये॥
चोपनिके ढेर लागि निपट औसेर दृग आयो नीर घेरि जिनि गिरैं घूंटि जाइये।
माता कहै टेरि करी बड़ी तैं अबेर अब करो मति झेरि अजू चित दै औटाइये॥ १३०॥
चल्यो प्रभु पास लै कटोरा छबिरास तामें दूध सो सुबास मध्य मिसरी मिलाइयै।
हिये में हुलास निज अज्ञताको त्रास ऐपै करैं जो पै दास मोहि महासुख दाइयै॥
देख्यो मृदुहास कोटि चांदनी को भास कियो भावको प्रकास मति अति सरसाइयै।
प्याइबेकी आस करि ओट कछु भर्‌यो स्वास देखिकै निरास कह्यो पीवो जू अघाइयै॥ १३१॥
ऐसे दिन बीते दोय राखी हिये बात गोय रह्यो निशि सोय ऐपै नींद नहीं आवहीं।
भयो जू सबेरो फिरि वैसे ही सुधार लियौ हियौ कियौ गाढ़ौ जाय धर्‌यो पियो भावहीं॥
बार बार पीवो कहूं अब तुम पीवो नाहिं आवैं भोर नाना गरे छूरी दै दिखावहीं।
गहि लीनो कर जिनि करें ऐसो पीवौं मैं तो पीवे कों लगेई नेकु राखो सदा पावहीं॥ १३२॥
आये वामदेव पाछै पूछैं नामदेव जू सों दूधको प्रसंग अति रंग भरि भाखियै।
मोसौं न पिछानि दिनदोय हानि भई तब मानि डर प्रान तज्यो चाहौं अभिलाषियै॥
पीयौ सुख दीयो जब नेकु राखि लीयो मैं तो जीयो सुनि बातें कही प्यायो कौन साखियै।
धर्‌यौ पै न पीयैं अर्‌यौ प्यायौ सुख पायौ नाना यामें लै दिखायौ भक्तबस रस चाखियै॥ १३३॥

(ग) श्रीनामदेवजीकी भगवद्भक्ति और गोभक्ति

एक बार मुसलमानोंके राजा सिकन्दर लोदीने श्रीनामदेवजीको बुलवाकर कहा कि आप साहबसे मिले हैं, उनका दर्शन करते रहते हैं—ऐसा मैंने सुना है तो हमें भी साहबसे मिला दीजिये और कुछ विचित्र चमत्कार दिखलाइये। श्रीनामदेवजीने कहा कि यदि हममें कोई शक्ति या चमत्कार होता तो फिर खानेके लिये दिनभर धंधा ही क्यों करते? किसी प्रकार दिनभर धंधा (सिलाई-छपाई) करनेसे जो भी कुछ मिल जाता है, उसे सन्तोंके साथ बाँटकर खाता हूँ। उन्हीं संतोंकी सेवाके प्रतापसे लोग मुझे भक्त कहते हैं और दूर-दूरतक मेरा नाम फैल गया है, तभी आपने भी हमें यहाँ अपने दरबारमें बुलाया है। यह सुनकर बादशाहने कहा—आप इस मरी हुई गायको जीवित कर दीजिये और अपने घरको जाइये, नहीं तो कारागारमें रहना पड़ेगा; क्योंकि तुम झूठे भगत बनकर लोगोंको ठगते हो। तब

आपने सहज स्वभावसे एक प्रार्थनाका पद* गाकर गायको जीवित कर दिया और प्रभुकृपाका अनुभव करके सुखी हुए। यह देखकर बादशाह अति प्रसन्न हुआ और श्रीनामदेवजीके चरणोंमें पड़ गया।

यह विचित्र चमत्कार देखकर बादशाहने श्रीनामदेवजीसे कहा कि आप कृपा करके कोई देश या गाँव ले लीजिये, जिससे मेरा भी कुछ नाम हो जाय। आपने उत्तर दिया कि हमें कुछ भी नहीं चाहिये। फिर बादशाहने एक मणिजटित शय्या आपको दी। श्रीनामदेवजी उसे अपने सिरपर रखकर चलने लगे। तब उसने कहा कि दस-बीस आदमी मैं आपके साथ भेजता हूँ, वे इस पलंगको ले जायँगे और आपके निवासस्थानतक पहुँचा देंगे। आपने बिलकुल मना कर दिया और कहा कि यह भगवान्‌के शयनका पलंग है, मैं उनका सेवक हूँ, अतः मुझे ही अपने सिरपर रखकर ले जाना चाहिये। फिर भी बादशाहने कुछ रक्षक भेजे। आगे आपने विचारा कि यह मूल्यवान् वस्तु है, इससे अनेक संकट आ सकते हैं। भजनमें बाधा हो सकती है। इस कारण मार्गमें श्रीयमुना नदीके अथाह जलमें उस पलंगको डाल दिया। राजाको इसकी सूचना मिली तो वह चौंककर आश्चर्यमें पड़ गया। सिपाहियोंसे कहा—उन्हें शीघ्र बुलाकर लाओ। श्रीनामदेवजी फिर आये और बोले कि अब क्यों बुलाया? तब बादशाहने कहा कि जो पलंग मैंने आपको दे दिया है, जरा उसे यहाँ लाकर कारीगरोंको दिखा दीजिये। उसी प्रकारका नया दूसरा बनवाना है। श्रीनामदेवजी बादशाहको लेकर नदीपर आये और जलमें प्रवेश करके अनेक पलंग वैसे और उससे भी मूल्यवान् निकाल-निकालकर डाल दिये और बादशाहसे बोले—आप अपना पलंग पहचान लो। यह देखकर उसकी सुधि-बुधि जाती रही।

इस वृत्तान्तका वर्णन प्रियादासजी इन कवित्तोंमें इस प्रकार करते हैं—

नृप सो मलेच्छ बोलि कही मिले साहिब को दीजिये मिलाय करामात दिखराइयै।
होय करामात तो पै काहे को कसब करैं? भरैं दिन एपैं बांटि सन्तन सों खाइयै॥
ताहीके प्रताप आप इहां लौं बुलायो हमें दीजिये जिवाय गाय घर चलि जाइयै।
दई लै जिवाय गाय सहज सुभाय ही में अति सुख पाय पांय पर्‌यो मन भाइयै॥ १३४॥
लेवो देश गांव जाते मेरो कछु नांव होय चाहिये न कछु दई सेज मनि मई है।
धरि लई सीस देऊँ संग दस बीस नर नाहीं करि आये जल मांझ डारि दई है॥
भूप सुनि चौंकि पर्‌यौ ल्यावो फेरि आये कहौ कही नेकु आनिके दिखावो कीजै नई है।
जलतैं निकासि बहुभांति गहि डारी तट लीजिये पिछानि देखि सुधि बुधि गई है॥ १३५॥

(घ) नामदेवजीकी भक्तिका माहात्म्य

श्रीनामदेवजीकी करामात देखकर बादशाह भयवश उनके चरणोंमें आ गिरा और प्रार्थना करने लगा कि मुझे ईश्वरके दण्डसे बचा लीजिये। श्रीनामदेवजीने कहा—यदि क्षमा चाहते हो तो एक बात करो कि पुनः इस प्रकार कभी किसी साधुको दुःख मत देना। इसे बादशाहने स्वीकार कर लिया। फिर उन्होंने कहा कि फिर अब कभी मुझे मत बुलाना। ऐसा कहकर श्रीनामदेवजी वहाँसे चल दिये। उनकी इच्छा हुई कि पहले पण्ढरीनाथजीके मन्दिरमें चलूँ। प्रभुके नामगुण-कीर्तनका नित्य-नेम पूरा कर लूँ। मन्दिरपर गये तो द्वारपर बहुत भीड़-भाड़ दिखायी पड़ी। (जूतोंकी चोरीकी शंकासे शायद मन एकाग्र न हो, इसलिये

---

* विनती सुन जगदीश हमारी।
तेरो दास आस मोहिं तेरो इत करु कान मुरारी॥
दीनानाथ दीन है टेरूँ गाइहिं क्यों न जियावो।
आछे सबै अंग हैं याके मेरे यशहिं बढ़ावो॥
जो कहूँ याके कर्महिं में नहिं जीवन लिख्यो विधाता। तो अब नामदेव आयुष तें होहु तुमहिं प्रभु दाता॥

कपड़ेमें लपेटकर) जूतोंको कमरमें बाँध लिया। हाथोंसे भीड़को हटाकर भीतर गये। दर्शन करके पदगान आरम्भ करना ही चाहते थे कि किसीने जूतोंको देख लिया और रुष्ट होकर पाँच-सात चोटें लगायीं। फिर धक्का देकर मन्दिरसे बाहर निकाल दिया। परंतु श्रीनामदेवजीके मनमें पण्डोंके इस व्यवहारसे थोड़ा भी क्रोध नहीं आया।

अब श्रीनामदेवजी मन्दिरके पिछवाड़े जाकर बैठ गये और भगवान्‌से कहने लगे कि प्रभो! आपने यह बहुत ही अच्छा किया जो मुझमें मार लगायी। मेरे अपराधका दण्ड तुरंत ही दे दिया। अब नित्य-नियमके अनुसार पद गाता हूँ, सुनो। यह कहकर नामदेवजी पद गाने लगे, जिसे सुनते ही भगवान्‌का हृदय करुणासे भर गया। भक्तको विरह-व्यथित एवं दीन देखकर प्रभु व्याकुल हो गये। सम्पूर्ण मन्दिरको घुमाकर श्रीनामदेवकी ओर द्वार कर दिया। यह देखकर जितने भी वेदपाठी पण्डा-पुजारी थे, सबके मुखकी कान्ति क्षीण हो गयी, सब ऐसे फीके पड़ गये, जैसे पानी उतरनेसे मोती फीका हो जाता है। अब उनके हृदयमें श्रीनामदेवजीके प्रति बड़ी भारी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो गयी। सबोंने श्रीनामदेवजीके सुख देनेवाले चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना की। उन्हें प्रसन्न देखकर सबको शान्ति प्राप्त हुई।

इस घटनाका वर्णन प्रियादासजी इस प्रकार करते हैं—

आनि पर्‌यो पांय प्रभु पास तें बचाय लीजै कीजै एक बात कभू साधु न दुखाइयै।
लई यही मानि फेरि कीजिये न सुधि मेरी लीजिये गुननि गाय मन्दिर लौं जाइयै॥
देखि द्वार भीर पग दासी कटि बांधी धर कर सों उछीर करि चाहैं पद गाइयै।
देखि लीनी वेई काहू दीनी पांच सात चोट कीनी धका धकी रिस मनमें न आइयै॥ १३६॥
बैठे पिछवारे जाइ कीनी जू उचित यह लीनी जो लगाइ चोट मेरे मन भाइयै।
कान दैकैं सुनो अब चाहत न और कछु ठौर मोकों यहीं नित नेम पद गाइयै॥
सुनत ही आनि करि करुना विकल भये फेर्‌यो द्वार इतै गहि मन्दिर फिराइयै।
जेतिक वे सोती मोती आब-सी उतरि गई भई हिये प्रीति गहे पाँव सुखदाइयै॥ १३७॥

(ङ) सर्वत्र भगवद्दर्शन

एक बार अकस्मात् ही सायंकालमें श्रीनामदेवजीके घरमें आग लग गयी। पर आप तो जल, थल और अग्निमें सर्वत्र अपने प्यारे प्रभुको ही देखते थे। अतः अपने घरमें जो दूसरे सुन्दर पदार्थ घी, गुड़ आदि जलनेसे रह गये थे, उन्हें भी उठा-उठाकर जलती हुई आगमें डालते हुए प्रार्थना करने लगे—हे नाथ! इन सब वस्तुओंको भी स्वीकार कीजिये। भक्तकी ऐसी सुन्दर भावना देखकर भगवान्‌ने प्रकट होकर दर्शन दिया और हँसकर बोले कि अत्यन्त कोमल मुझ श्यामसुन्दरको तीक्ष्ण, असह्य अग्निकी ज्वालामें भी देखते हो। श्रीनामदेवजीने कहा—प्रभो! यह आपका भवन है, आपके अतिरिक्त दूसरा कौन यहाँ आ सकता है! यह सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये और अग्नि शीतल हो गयी। प्रसन्न हुए भगवान्‌ने अपने हाथोंसे नामदेवजीका सुन्दर छप्पर छा दिया। सुबह होते ही लोगोंने वैसा सुन्दर छप्पर देखा तो आश्चर्यमें पड़ गये और नामदेवजीसे पूछने लगे कि ''यह किसने छाया है?' जिसने यह छाया है, उसे बता दो तो हम भी छवा लें। जितनी मजदूरी वह माँगेगा, हम उतनी दे देंगे।'' नामदेवजीने कहा—ऐसे छप्परकी छवाईके लिये तन, मन, प्राण—सब देने पड़ते हैं।

इस घटनाके सम्बन्धमें श्रीप्रियादासजी निम्न कवित्तमें इस प्रकार कहते हैं—

औचक ही घर माँझ सांझ ही अगिनि लागी बड़ो अनुरागी रहि गई सोऊ डारियै।
कहैं अहो नाथ सब कीजिये जु अंगीकार हँसे सुकुमार हरि मोहीको निहारियै॥
तुम्हरो भवन और सकै कौन आइ इहाँ भये यों प्रसन्न छानि छाई आप सारियै।
पूछे आनि लोग कौन छाई हो छवाइ दीजै लीजै जोई भावै तनमन प्राण वारियै॥ १३८॥

(च) श्रीनामदेवजीद्वारा तुलसीदल और रामनामकी महिमाका प्राकट्य

पण्ढरपुरमें एक बहुत बड़ा धनी सेठ रहता था। उसके यहाँ तुलादानका उत्सव हुआ। उसने अपनेको सोनेसे तौलकर नगरके सभी लोगोंको सोना दिया। सेठने लोगोंसे पूछा कि कोई रह तो नहीं गया? तब लोगोंने कहा—श्रीनामदेवजी भगवान्‌के बड़े प्रेमी सन्त हैं, वे रह गये हैं। सेठने कहा—उन्हें बुलाकर लाओ। सेठके नौकर, मुनीम बुलाने गये। दान ब्राह्मणोंको दो, हमें कुछ भी नहीं चाहिये, यह कहकर बड़भागी श्रीनामदेवजीने पहली और फिर दूसरी बार लोगोंको वापस लौटा दिया, जानेसे मना कर दिया। पर तीसरी बार अति आग्रह देखकर आप सेठके घरपर आये और सेठसे बोले—तुम बड़े भाग्यशाली हो। कहो—हमसे क्या कहते हो? सेठजीने कहा—आप मेरे द्वारा दिये गये कुछ धनको स्वीकार कीजिये, जिससे मेरा कल्याण हो। नामदेवजीने कहा—तुम्हारा कल्याण तो हो गया, अब मुझे कुछ देनेकी आपकी प्रबल इच्छा है तो दीजिये।

श्रीनामदेवजीका एकमात्र प्रिय सर्वस्व तो श्रीगोविन्दचरणप्रिय श्रीतुलसी हैं, ऐसे श्रीतुलसीके पत्तेमें आधा राम-नाम अर्थात् केवल 'रा' लिखकर उसे दिया और कहा कि इसके बराबर तौलकर दे दीजिये। सेठने अभिमानपूर्वक कहा—महाराज! क्यों हँसी करते हो, इतने थोड़ेसे सोनेसे क्या होगा? कृपा करके कुछ अधिक लीजिये। जिससे मुझ दाताकी हँसी न हो। नामदेवजीने कहा—इसके बराबर सोना तौलकर देखो तो सही, फिर देखो कि क्या विचित्र खेल होता है। यदि तुम इसके बराबर पूरा करके सोना दे दोगे तो मैं तुमपर प्रसन्न होऊँगा। यह सुनकर सेठजी एक तौलनेका काँटा ले आये और एक ओर तुलसीपत्र तथा दूसरी ओर सोना चढ़ाया। उस समय बड़ा विचित्र आश्चर्य हुआ, सोनेका ढेला तुलसीपत्रसे बराबर नहीं हुआ। सेठजी उदास हो गये, जिससे पाँच-सात मन तौला जा सके—ऐसा बड़ा तराजू मँगवाया। उसपर एक ओर तुलसीपत्र दूसरी ओर घरभरका सम्पूर्ण सोना-चाँदी आदि रखा। पूरा न पड़नेपर जाति-कुटुम्बवालोंके घरोंसे ला-लाकर बहुत-सा धन रखा, परंतु वह सब तुलसीपत्रके बराबर नहीं हुआ।

श्रीरामनामलिखित तुलसीपत्रके महत्त्वको देखकर घरके सभी स्त्री-पुरुषोंके समेत सेठजीको बड़ा शोक तथा दुःख हुआ। श्रीनामदेवजीने विचारा कि अभी इन्हें तुलसीपत्र एवं श्रीरामनामकी महिमाका पूरा अनुभव नहीं हुआ है, इसलिये वे बोले—आपलोगोंने जितने व्रत-दान और तीर्थस्नान आदि पुण्यकर्म किये हों, उनका संकल्प करके जल डाल दीजिये। सभी लोगोंने पुण्योंका स्मरण कर-करके संकल्प पढ़कर जल डाला, पर इस उपायके करनेसे भी काम न चला। जिधर तुलसीपत्र रखा था, वह पलड़ा अपने पैर भूमिमें गाड़ रहा था। यह देखकर सभी लोग लज्जित हो गये और प्रार्थना करने लगे कि इतना ही ले लीजिये। श्रीनामदेवजीने कहा—हम इस तुच्छ धनको लेकर क्या करें? हमारे पास तो रामनाम-धन है, यह धन उसकी बराबरी नहीं कर सकता है। इस धनसे कल्याण होना सम्भव नहीं है। नामकी और तुलसीकी महिमा देखकर आजसे इस धनको तुच्छ समझो और रामनामरूपी धनसे प्रेम करो, गलेमें तुलसी धारण करो, रामनाम जपो। यह कहकर श्रीनामदेवजीने सबके हृदयमें भक्तिका भाव भर दिया। सबकी बुद्धि प्रेमरसमें भीग गयी।

इस भक्तिभावका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

सुनौ और परचै जे आये न कवित्त मांझ बांझ भई माता क्यों न जौ न मति पागी है।
हुतो एक साह तुलादान को उछाह भयो दयो पुर सबै रह्यौ नामदेव रागी है॥
ल्यावो जु बुलाइ एक दोइ तौ फिराइ दिये तीसरे सों आये कहा कहो बड़भागी है।
कीजिये जु कछु अङ्गीकार मेरो भलो होय भयो भलो तेरो दीजै जो पै आस लागी है॥ १३९॥

जाके तुलसी है ऐसे तुलसी के पत्र मांझ लिख्यो आधो राम नाम यासों तोल दीजियै।
कहा परिहास करो ढरो ह्वै दयाल देखि होत कैसो ख्याल याकों पूरो करो रीझियै॥
ल्यायो एक कांटो लै चढ़ायो पात सोना संग भयो बड़ो रंग सम होत नाहिं छीजियै।
लई सो तराजू तासों तुलै मन पांच सात जाति पांतिहू को धन धर्‌यो पै न धीजियै॥ १४०॥
पर्‌यो शोच भारी दुःख पावैं नर-नारी नामदेवजू विचारी एक और काम कीजिये।
जिते व्रतदान औ स्नान किये तीरथमें करियै संकल्प यापै जल डारि दीजिये॥
करेऊ उपाइ पात पला भूमि गाड़े पांय रहे वे खिसाय कह्यौ इतनोई लीजिये।
लैकै कहा करैं सरवरहू न करै भक्तिभावसों लैं भरै हिये मति अति भीजिये॥ १४१॥

(छ) श्रीनामदेवजीकी एकादशी-व्रतके प्रति निष्ठा

एक बार भगवान्‌के मनमें यह उमंग उठी कि श्रीनामदेवजीकी एकादशीव्रत-निष्ठाका परिचय लिया जाय। यह विचारकर उन्होंने एक अत्यन्त दुर्बल ब्राह्मणका रूप धारण किया। एकादशीव्रतके दिन श्रीनामदेवजीके पास पहुँचकर बड़ी दीनता करके अन्न माँगने लगे कि मैं बहुत भूखा हूँ, कई दिनसे भोजन प्राप्त नहीं हुआ है, कुछ अन्न दो। श्रीनामदेवजीने कहा—आज तो एकादशी है, (दूध-फलाहारादि कर लीजिये) अन्न न दूँगा। प्रातःकाल जितनी इच्छा हो उतना अन्न लीजियेगा। दोनों अपनी-अपनी बातपर बड़ा भारी हठ कर बैठे। इस बातका शोर चारों ओर फैल गया। लोग इकट्ठे हो गये और श्रीनामदेवजीको समझाने लगे कि इस भूखे ब्राह्मणपर क्रोध क्यों करते हो, तुम्हीं मान जाओ, इसे कुछ अन्न दे दो। श्रीनामदेवजी नहीं माने, दिनके चौथे पहरके बीतनेपर उस भूखे ब्राह्मणदेवने इस प्रकार पैर फैला दिये कि मानो मर गये। गाँवके लोग श्रीनामदेवजीके भावको नहीं जानते थे। अतः उन लोगोंने नामदेवजीके सिर ब्राह्मण-हत्या लगा दी और उनका समाजसे बहिष्कार कर दिया। पर नामदेवजी बिलकुल चिन्तित नहीं हुए।

अपने नियमके अनुसार जागरण और कीर्तन करते हुए श्रीनामदेवजीने रात बितायी, प्रातःकाल चिता बनाकर उस ब्राह्मणके मृतक-शरीरको गोदमें लेकर उसपर बैठ गये कि हत्यारे शरीरको न रखकर प्रायश्चित्तस्वरूप उसे भस्म कर देना ही उत्तम है। उसी समय भगवान् प्रकट हो गये और मुसकराकर कहने लगे कि मैंने तो तुम्हारी परीक्षा ली थी, तुम्हारी एकादशीव्रतकी सच्ची निष्ठा मैंने देख ली, वह मेरे मनको बहुत ही प्यारी लगी, मुझे बड़ा सुख हुआ। इस प्रकार दर्शन देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। लोगोंने जब यह लीला देखी तो श्रीनामदेवजीके चरणोंमें आकर गिरे और प्रीतिमय चरित्र देखकर सभी भक्त हो गये।

एक बार एकादशीकी रात्रिको जागरण-कीर्तन हो रहा था। भगवद्भक्तोंको बड़ी प्यास लगी। तब श्रीनामदेवजी जल लानेके लिये नदीपर गये, प्रेतभयसे दूसरोंको जानेका साहस न था। श्रीनामदेवजीको आया देखकर महाविकरालरूपधारी प्रेतराज अपने साथियों-समेत आकर चारों ओर फेरी लगाने लगा। उसका स्वरूप एवं उसकी माया देखकर श्रीनामदेवजी थोड़ा भी भयभीत न हुए, उसे अपने इष्टका ही स्वरूप माना और उन्होंने फेंटसे झाँझ निकालकर तत्काल एक पद* गाया और प्रणाम किया। भगवान् तो बड़े ही दयालु हैं, प्रेतरूप न जाने कहाँ गया! शोभाधाम श्यामसुन्दर प्रकट हो गये, जिनका दर्शन करके श्रीनामदेवजी परम प्रसन्न हुए और जल लाकर भक्तोंको पिलाया।

* भले पधारे लंबकनाथ। धरनी पाँव स्वर्ग लौं माथा, जोजन भरके लाँबे हाथ॥
सिव सनकादिक पार न पावैं अनगिन साज सजायें साथ। नामदेव के तुमही स्वामी, कीजै प्रभुजी मोहि सनाथ॥

श्रीप्रियादासजीने इन घटनाओंका वर्णन इस प्रकार किया है—

कियौ रूप ब्राह्मण को दूबरो निपट अंग भयो हिये रंग व्रत परिचैको लीजिये।
भई एकादशी अन्न मांगत बहुत भूखो आजु तौ न देहौं भोर चाहौ जितौ दीजिये॥
कर्‍यो हठभारी मिलि दोऊ ताको शोर पर्‍यो समझावै नामदेव याको कहा खीझिये।
बीते जाम चारि मरि रहे यों पसारि पांव भाव पै न जानै दई हत्या नहीं छीजिये॥ १४२॥
रचिकै चिताकों विप्र गोद लैकै बैठे जाइ दियो मुसुकाइ मैं परीक्षा लीनी तेरी है।
देखि सो सचाई सुखदाई मन भाई मेरे भये अन्तर्धान परे पाँय प्रीति हेरी है॥
जागरन मांझ हरि भक्तनको प्यास लगी गये लैन जल प्रेत आनि कीनी फेरी है।
फेंट ते निकासि ताल गायो पद ततकाल बड़ेई कृपाल रूप धर्‍यो छबि ढेरी है॥ १४३॥

एक बार नामदेवजीने जंगलमें पेड़के नीचे रोटी बनायी, भोजन बनाकर लघुशंका करने गये। लौटकर देखते हैं तो एक कुत्ता मुखमें रोटी दबाये भागा जा रहा है। आपने घीकी कटोरी उठायी और दौड़े उसके पीछे यह पुकारते हुए 'प्रभो! ये रोटियाँ रूखी हैं। आप रूखी रोटी न खायँ। मुझे घी चुपड़ लेने दें, फिर भोग लगायें।' भगवान् उस कुत्तेके शरीरसे ही प्रकट हुए अपने चतुर्भुजरूपमें। नामदेव उनके चरणोंपर गिर पड़े।

पंजाबमें बारकरी पन्थके एक प्रकारसे नामदेवजी ही आदिप्रचारक हैं। अनेक लोग उनकी प्रेरणासे भक्तिके पावन-पथमें प्रवृत्त हुए। ८० वर्षकी अवस्थामें संवत् १४०७ वि० में नश्वर देह त्यागकर ये परमधाम पधारे।

श्रीजयदेवजी

प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीतगोबिंद उजागर।
कोक काब्य नव रस्स सरस सिंगार को सागर॥
अष्टपदी अभ्यास करैं तेहि बुद्धि बढ़ावैं।
राधारमन प्रसन्न सुनन निश्चै तहँ आवैं॥
संत सरोरुह षंड कों पद्मापति सुखजनक रबि।
जयदेव कबी नृप चक्कवै खँडमँडलेस्वर आन कबि॥ ४४॥

एक महाकवि श्रीजयदेवजी संस्कृतके कविराजोंके राजा चक्रवर्ती-सम्राट् थे। शेष दूसरे सभी कवि आपके सामने छोटे-बड़े राजाओंके समान थे। आपके द्वारा रचित 'गीतगोविन्द' महाकाव्य तीनों लोकोंमें बहुत अधिक प्रसिद्ध एवं उत्तम सिद्ध हुआ। यह गीतगोविन्द माधुर्यभावापन्न-काव्य, साहित्यके नवरसोंका और विशेषकर उज्ज्वल एवं सरस शृंगाररसका सागर है। इसकी अष्टपदियोंका जो कोई नित्य अध्ययन एवं गान करे, उसकी बुद्धि पवित्र एवं प्रखर होकर दिन-प्रतिदिन बढ़ेगी। जहाँ अष्टपदियोंका प्रेमपूर्वक गान होता है, वहाँ उन्हें सुननेके लिये भगवान् श्रीराधारमणजी अवश्य आते हैं और सुनकर प्रसन्न होते हैं। श्रीपद्मावतीजीके पति श्रीजयदेवजी सन्तरूपी कमलवनको आनन्दित करनेवाले सूर्यके समान इस पृथ्वीपर अवतरित हुए॥ ४४॥

श्रीजयदेवजीका चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

प्रसिद्ध भक्त-कवि जयदेवका जन्म लगभग छः सौ वर्ष पूर्व बंगालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व नामक ग्राममें हुआ। इनके पिताका नाम भोजदेव और माताका नाम वामादेवी था। ये भोजदेव कान्यकुब्जसे बंगालमें आये हुए पंच-ब्राह्मणोंमें भरद्वाजगोत्रज श्रीहर्षके वंशज थे। माता-पिता बाल्यकालमें

ही जयदेवको अकेला छोड़कर चल बसे थे। ये भगवान्‌का भजन करते हुए किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। पूर्व-संस्कार बहुत अच्छे होनेके कारण इन्होंने कष्टमें रहकर भी बहुत अच्छा विद्याभ्यास कर लिया था और सरल प्रेमके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णकी परम कृपाके अधिकारी हो गये थे।

इनके पिताको निरंजन नामक उसी गाँवके एक ब्राह्मणके कुछ रुपये देने थे। निरंजनने जयदेवको संसारसे उदासीन जानकर उनकी भगवद्भक्तिसे अनुचित लाभ उठानेके विचारसे किसी प्रकार उनके घर-द्वार हथियानेका निश्चय किया। उसने एक दस्तावेज बनाया और आकर जयदेवसे कहा—'देख जयदेव! मैं तेरे राधा-कृष्णको और गोपी-कृष्णको नहीं जानता या तो अभी मेरे रुपये ब्याज-समेत दे दे, नहीं तो इस दस्तावेजपर सही करके घर-द्वारपर मुझे अपना कब्जा कर लेने दे!'

जयदेव तो सर्वथा निःस्पृह थे। उन्हें घर-द्वारमें रत्तीभर भी ममता नहीं थी। उन्होंने कलम उठाकर उसी क्षण दस्तावेजपर हस्ताक्षर कर दिये। निरंजन कब्जा करनेकी तैयारीसे आया ही था। उसने तुरंत घरपर कब्जा कर लिया। इतनेमें ही निरंजनकी छोटी कन्या दौड़ती हुई अपने घरसे आकर निरंजनसे कहने लगी—'बाबा! जल्दी चलो, घरमें आग लग गयी; सब जल गया। भक्त जयदेव वहीं थे। उनके मनमें द्वेष-हिंसाका कहीं लेश भी नहीं था, निरंजनके घरमें आग लगनेकी खबर सुनकर वे भी उसी क्षण दौड़े और जलती हुई लाल-लाल लपटोंके अन्दर उसके घरमें घुस गये। जयदेवका घरमें घुसना ही था कि अग्नि वैसे ही अदृश्य हो गयी, जैसे जागते ही सपना!'

जयदेवकी इस अलौकिक शक्तिको देखते ही निरंजनके नेत्रोंमें जल भर आया। अपनी अपवित्र करनीपर पछताता हुआ निरंजन जयदेवके चरणोंमें गिर पड़ा और दस्तावेजको फाड़कर कहने लगा—'देव! मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने लोभवश थोड़े-से पैसोंके लिये जान-बूझकर बेईमानीसे तुम्हारा घर-द्वार छीन लिया है। आज तुम न होते, तो मेरा तमाम घर खाक हो गया होता। धन्य हो तुम! आज मैंने भगवद्भक्तका प्रभाव जाना।'

उसी दिनसे निरंजनका हृदय शुद्ध हो गया और वह जयदेवके संगसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजन-कीर्तनमें समय बिताने लगा।

भगवान्‌की अपने ऊपर इतनी कृपा देखकर जयदेवका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने घर-द्वार छोड़कर पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरी जानेका विचार किया और अपने गाँवके पराशर नामक ब्राह्मणको साथ लेकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। भगवान्‌का भजन-कीर्तन करते, मग्न हुए जयदेवजी चलने लगे। एक दिन मार्गमें जयदेवजीको बहुत दूरतक कहीं जल नहीं मिला। बहुत जोरकी गरमी पड़ रही थी, वे प्यासके मारे व्याकुल होकर जमीनपर गिर पड़े। तब भक्तवांछाकल्पतरु हरिने स्वयं गोपाल-बालकके वेषमें पधारकर जयदेवको कपड़ेसे हवा की और जल तथा मधुर दूध पिलाया। तदनन्तर मार्ग बतलाकर उन्हें शीघ्र ही पुरी पहुँचा दिया। अवश्य ही भगवान्‌को छद्मवेषमें उस समय जयदेवजी और उनके साथी पराशरने पहचाना नहीं।

जयदेवजी प्रेममें डूबे हुए सदा श्रीकृष्णका नाम-गान करते रहते थे। एक दिन भावावेशमें अकस्मात् उन्होंने देखा मानो चारों ओर सुनील पर्वतश्रेणी है, नीचे कल-कल-निनादिनी कालिन्दी बह रही है। यमुना-तीरपर कदम्बके नीचे खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्ण मुरली हाथमें लिये मुसकरा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही जयदेवजीके मुखसे अकस्मात् यह गीत निकल पड़ा—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैर्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

पराशर इस मधुर गानको सुनकर मुग्ध हो गया। बस, यहींसे ललितमधुर 'गीत-गोविन्द' आरम्भ हुआ!

कहा जाता है, यहीं जयदेवजीको भगवान्‌के दशावतारोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उन्होंने *'जय जगदीश हरे'* की टेर लगाकर दसों अवतारोंकी क्रमशः स्तुति गायी। कुछ समय बाद जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ, तब पराशरको साथ लेकर वे चले भगवान् श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने! भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर जयदेवजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका हृदय आनन्दसे भर गया! वे पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरीमें एक विरक्त संन्यासीकी भाँति रहने लगे। उनका कोई नियत स्थान नहीं था। प्रायः वृक्षके नीचे ही वे रहा करते और भिक्षाद्वारा क्षुधा-निवृत्ति करते। दिन-रात प्रभुका ध्यान, चिन्तन और गुणगान करना ही उनके जीवनका एकमात्र कार्य था।

(क) जयदेवजी श्रीजगन्नाथजीके स्वरूप

कविसम्राट् श्रीजयदेवजी बंगालप्रान्तके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व नामक ग्राममें उत्पन्न हुए थे। आपका वैराग्य ऐसा प्रखर था कि एक वृक्षके नीचे एक ही दिन निवास करते थे, दूसरे दिन दूसरे वृक्षके नीचे आसक्तिरहित रहते थे। जीवन-निर्वाह करनेकी अनेक सामग्रियोंमेंसे आप केवल एक गुदरी और एक कमण्डलु ही अपने पास रखते थे और कुछ भी नहीं। सुदेव नामके एक ब्राह्मणके कोई सन्तान न थी, उसने श्रीजगन्नाथजीसे प्रार्थना की कि यदि मेरे सन्तान होगी तो पहली सन्तान आपको अर्पण कर दूँगा। कुछ समयके बाद उसके एक कन्या हुई और जब द्वादश वर्षकी विवाहके योग्य हो गयी तो उस ब्राह्मणने श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें उस कन्या (पद्मावती)-को लाकर प्रार्थना की कि हे प्रभो! मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार आपको भेंट करनेके लिये यह कन्या लाया हूँ। उसी समय श्रीजगन्नाथजीने आज्ञा दी कि परमरसिक जयदेव नामके जो भक्त हैं, वे मेरे ही स्वरूप हैं, अतः इसे अभी ले जाकर उन्हें अर्पण कर दो और उनसे कह देना कि जगन्नाथजीकी ऐसी ही आज्ञा हुई है।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण वनमें वहाँ गया, जहाँ कविराजराज भक्त श्रीजयदेवजी बैठे थे और उनसे बोला—हे महाराज! आप मेरी इस कन्याको पत्नीरूपसे अपनी सेवामें लीजिये, जगन्नाथजीकी ऐसी आज्ञा है। जयदेवजीने कहा—जगन्नाथजीकी बात जाने दीजिये, वे यदि हजारों स्त्रियाँ सेवामें रखें तो उनकी शोभा है, परंतु हमको तो एक ही पहाड़के समान भारवाली हो जायगी। अतः अब तुम कन्याके साथ यहाँसे लौट जाओ। ये भगवान्‌की आज्ञाको भी नहीं मान रहे हैं—यह देखकर ब्राह्मण खीज गया और अपनी लड़कीसे बोला—मुझे तो जगन्नाथजीकी आज्ञा शिरोधार्य है, मैं उसे कदापि टाल नहीं सकता हूँ। तुम इनके ही समीप स्थिर होकर रहो। श्रीजयदेवजी अनेक प्रकारकी बातोंसे समझाकर हार गये, पर वह ब्राह्मण नहीं माना और अप्रसन्न होकर चला गया। तब वे बड़े भारी सोचमें पड़ गये। फिर वे उस ब्राह्मणकी कन्यासे बोले—तुम अच्छी प्रकारसे मनमें विचार करो कि तुम्हारा अपना क्या कर्तव्य है? तुम्हारे योग्य कैसा पति होना चाहिये? यह सुनकर उस कन्याने हाथ जोड़कर कहा—मेरा वश तो कुछ भी नहीं चलता है। चाहे सुख हो या दुःख, यह शरीर तो मैंने आपपर न्यौछावर कर दिया है।

श्रीपद्मावतीजीका भावपूर्ण निश्चय सुनकर श्रीजयदेवजीने निर्वाहके लिये झोंपड़ी बनाकर छाया कर ली। अब छाया हो गयी तो उसमें भगवान् श्यामसुन्दरकी एक मूर्ति सेवा करनेके लिये पधरा ली। पश्चात् मनमें आया कि परम प्रभुकी ललित लीलाएँ जिसमें वर्णित हों, ऐसा एक ग्रन्थ बनाऊँ। उनके इस निश्चयके अनुसार अति सरस 'गीतगोविन्द' महाकाव्य प्रकट हुआ। गीतगोविन्द लिखते समय एक बार श्रीकिशोरी राधिकाजीके मानका प्रसंग आया। उसमें भगवान् श्यामसुन्दरने अपनी प्रियाके चरणकमलोंको अपने मस्तकका भूषण बताकर प्रार्थना की कि इसे मेरे मस्तकपर रख दीजिये। इस आशयका पद आपके हृदयमें आया, पर उसे मुखसे कहते तथा पद्मावतीद्वारा ग्रन्थमें लिखाते समय सोच-विचारमें पड़ गये कि इस गुप्त रहस्यको कैसे प्रकट किया जाय? आप स्नान करने चले गये, लौटकर आये तो देखा कि वह पद पोथीमें श्यामसुन्दरने लिख दिया है। इससे जयदेवजी

अति प्रसन्न हुए और संकोच त्यागकर माधुर्यरसकी लीलाओंका गान करने लगे।

इस घटनाका वर्णन प्रियादासजीने निम्न कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

किन्दु बिल्लु ग्राम तामे भये कविराज राज भर्‌यो रसराज हिये मन मन चाखियै।
दिन दिन प्रति रूख रूख तर जाइ रहैं गहैं एक गूदरी कमण्डल कों राखियै॥
कही देवै विप्र सुता जगन्नाथदेव जू कों भयो जब समै चल्यो दैन प्रभु भाखिये।
रसिक जैदेव नाम मेरोई सरूप ताहि देवो ततकाल अहो मेरी कहि साखिये॥ १४४॥
चल्यो द्विज तहां जहां बैठे कविराजराज अहो महाराज मेरी सुता यह लीजियै।
कीजिये विचार अधिकार विस्तार जाके ताहीको निहारि सुकुमारि यह दीजियै॥
जगन्नाथदेव जू की आज्ञा प्रतिपाल करौ ढरो मति धरो हिये ना तो दोष भीजियै।
उनको हजार सोहैं हमको पहार एक ताते फिरि जावो तुम्हैं कहा कहि खीजियै॥ १४५॥
सुता सों कहत तुम बैठि रहौ याही ठौर आज्ञा सिरमौर मौपै नाहीं जाति टारी है।
चल्यौ अनखाइ समझाइ हारे बातनि सों मन तूं समझ कहा कीजै सोच भारी है॥
बोले द्विज बालकी सों आपही विचार करो धरो हिये ज्ञान मोपै जात न सँभारी है।
बोली करजोरि मेरो जोर न चलत कछू चाहौ सोई होहु यह वारि फेरि डारी है॥ १४६॥
जानी जब भई तिया कियो प्रभु जोर मोपै तो पै एक झोंपड़ी की छाया कर लीजिये।
भई तब छाया श्याम सेवा पधारइ लई नई एक पोथी मैं बनाऊँ मन कीजिये॥
भयो जू प्रगट गीत सरस गोविन्दजू को मान में प्रसंग सीसमण्डन सो दीजिये।
वही एक पद मुख निकसत सोच पर्‌यो धर्‌यो कैसे जात लाल लिख्यो मति रीझिये॥ १४७॥

(ख) गीतगोविन्दकी महिमा

(१)

जगन्नाथधामका राजा पण्डित था। उसने भी एक पुस्तक बनायी और उसका गीतगोविन्द नाम रखा। उसमें भी श्रीकृष्णचरित्रोंका वर्णन था। राजाने ब्राह्मणोंको बुलाकर कहा कि यही गीतगोविन्द है। इसकी प्रतिलिपियाँ करके पढ़िये और देश-देशान्तरोंमें प्रचार करिये। इस बातको सुनकर विद्वान् ब्राह्मणोंने असली गीतगोविन्दको खोलकर दिखा दिया और मुसकराकर बोले कि यह तो कोई नयी दूसरी पुस्तक है, गीतगोविन्द नहीं है। राजाका तथा राजभक्त विद्वानोंका आग्रह था कि यही गीतगोविन्द है, इससे लोगोंकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। कौन-सी पुस्तक असली है, यह निर्णय करनेके लिये दोनों पुस्तकें श्रीजगन्नाथदेवजीके मन्दिरमें रखी गयीं। बादमें जब पट खोले गये तो देखा गया कि जगन्नाथजीने राजाकी पुस्तकको दूर फेंक दिया है और श्रीजयदेवकविकृत गीतगोविन्दको अपनी छातीसे लगा लिया है।

इस दृश्यको देखकर राजा अत्यन्त लज्जित हुआ। अपनी पुस्तकका अपमान जानकर बड़े भारी शोकमें पड़ गया और निश्चय किया कि अब मैं समुद्रमें डूबकर मर जाऊँगा। जब राजा डूबने जा रहा था तो उस समय प्रभुने दर्शन देकर आज्ञा दी कि तू समुद्रमें मत डूब। श्रीजयदेवकविकृत गीतगोविन्द-जैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं हो सकता है। इसलिये तुम्हारा शरीरत्याग करना वृथा है। अब तुम ऐसा करो कि गीतगोविन्दके बारह सर्गोंमें अपने बारह श्लोक मिलाकर लिख दो। इस प्रकार तुम्हारे बारह श्लोक उसके साथ प्रचलित हो जायँगे, जिसकी प्रसिद्धि तीनों लोकोंमें फैल जायगी।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

नीलाचल धाम तामै पण्डित नृपति एक करी यही नाम धरि पोथी सुखदाइयै।
द्विजन बुलाइ कही यही है प्रसिद्ध करो लिखि लिखि पढ़ो देश देशनि चलाइयै॥
बोले मुसकाइ विप्र छिप्रसों दिखाइ दई नई यह कोऊ मति अति भरमाइयै।
धरी दोऊ मन्दिर में जगन्नाथ देवजू के दीनी यह डारि वह हार लपटाइयै॥ १४८॥
पर्‌यो सोच भारी नृप निपट खिसानों भयो गयो उठि सागर मैं बूड़ों वही बात है।
अति अपमान कियो, कियो मैं बखान सोई गोई जात कैसे? आंच लागी गात गात है॥
आज्ञा प्रभु दई मत बूड़ै तूं समुद्र मांझ दूसरो न ग्रंथ ऐसो वृथा तनुपात है।
द्वादश सुश्लोक लिखि दीजै सर्ग द्वादश में ताहि संग चलै जाकी ख्याति पात पात है॥ १४९॥

(२)

एक बार एक मालीकी लड़की बैंगनके खेतमें बैंगन तोड़ते समय गीतगोविन्दके पाँचवें सर्गकी ***'धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली'*** इस अष्टपदीको गा रही थी। उस मधुर गानको सुननेके लिये श्रीजगन्नाथजी जो उस समय अपने श्रीअंगपर महीन एवं ढीली पोशाक धारण किये हुए थे, उसके पीछे-पीछे डोलने लगे। प्रेमवश बेसुध होकर लड़कीके पीछे-पीछे घूमनेसे काँटोंमें उलझकर श्रीजगन्नाथजीके वस्त्र फट गये। उस लड़कीके गान बन्द करनेपर आप मन्दिरमें पधारे। फटे वस्त्रोंको देखकर पुरीके राजाने आश्चर्यचकित होकर पुजारियोंसे पूछा—अरे! यह क्या हुआ, ठाकुरजीके वस्त्र कैसे फट गये? पुजारियोंने कहा कि हमें तो कुछ भी मालूम नहीं है। तब स्वयं ठाकुरजीने ही सब बात बता दी। राजाने प्रभुकी रुचि जानकर पालकी भेजी, उसमें बिठाकर उस लड़कीको बुलाया। उसने आकर ठाकुरजीके सामने नृत्य करते हुए उसी अष्टपदीको गाकर सुनाया। प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हुए। तबसे राजाने मन्दिरमें नित्य गीतगोविन्दगानकी व्यवस्था की।

उक्त घटनासे गीतगोविन्दके गायनको अति गम्भीर रहस्य जानकर पुरीके राजाने सर्वत्र यह ढिंढोरा पिटवाया कि कोई राजा हो या निर्धन प्रजा हो, सभीको उचित है कि इस गीतगोविन्दका मधुर स्वरोंसे गान करें। उस समय ऐसी भावना रखें कि प्रियाप्रियतम श्रीराधाश्यामसुन्दर समीप विराजकर श्रवण कर रहे हैं।

(३)

गीतगोविन्दके महत्त्वको मुलतानके एक मुगलसरदारने एक ब्राह्मणसे सुन लिया। उसने घोषित रीतिके अनुसार गान करनेका निश्चय करके अष्टपदियोंको कण्ठस्थ कर लिया। जब वह घोड़ेपर चढ़कर चलता था तो उस समय घोड़ेपर आगे भगवान् विराजे हैं ऐसा ध्यान कर लेता था, फिर गान करता था। एक दिन उसने घोड़ेपर प्रभुको आसन नहीं दिया और गान करने लगा, फिर क्या देखा कि मार्गमें घोड़ेके आगे-आगे मेरी ओर मुख किये हुए श्यामसुन्दर पीछेको चलते हैं और गान सुन रहे हैं। घोड़ेसे उतरकर उसने प्रभुके चरणस्पर्श किये तथा नौकरी छोड़कर विरक्त वेश धारण कर लिया। गीतगोविन्दका अनन्त प्रताप है, स्वर्गकी देवांगनाएँ भी इसका गान करती हैं। इसकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है, जिसपर स्वयं रीझकर भगवान्ने उसमें अपने हाथसे पद लिखा है।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

सुता एक मालीकी जू बैंगनकी वारी मांझ तौरै वनमाली गावै कथा सर्ग पांच की।
डोलैं जगन्नाथ पांछे काछें अंग मिहींझँगा आछे कहि घूमैं सुधि आवै विरहांच की॥
फट्यो पट देखि नृप पूछी अहो भयो कहा? जानत न हम अब कहो बात सांच की।
प्रभु ही जनाई मनभाई मेरे वही गाथा ल्याये वही बालकी कौं पालकी में नाच की॥ १५०॥

फेरी नृप डौंड़ी यह औंड़ी बात जानि महा कही राजा रंक पढ़ैं नीकी ठौर जानिकैं।
अक्षर मधुर और मधुर स्वरनि ही सों गावै जब लाल प्यारी ढिग हिलैं आनिकैं॥
सुनि यह रीति एक मुगल ने धारि लई पढ़ै चढ़ै घोड़े आगे श्यामरूप ठानि कैं।
पोथी को प्रताप स्वर्ग गावत हैं देव बधू आप ही जू रीझि लिख्यो निजकर आनि कैं॥ १५१॥

(ग) श्रीजयदेवजीकी साधुता

श्रीजयदेवजीको एक बार एक सेवकने अपने घर बुलाया। दक्षिणामें आग्रह करके कुछ मुहरें देने लगा, आपके मना करनेपर भी उसने आपकी चद्दरमें मुहरें बाँध दीं। आप अपने आश्रमको चले, तब मार्गमें उन्हें ठग मिल गये। आपने उनसे पूछा कि तुमलोग कहाँ जाओगे? ठगोंने उत्तर दिया—जहाँ तुम जा रहे हो, वहीं हम भी जायँगे। श्रीजयदेवजी समझ गये कि ये ठग हैं। आपने गाँठ खोलकर सब मुहरें उन्हें दे दीं और कहा कि इनमेंसे जितनी मोहर आप लेना चाहें ले लें। उन दुष्टोंने अपने मनमें सोच-समझकर कहा कि इन्होंने मेरे साथ चालाकी की है। अभी तो भयवश सब धन बिना माँगे ही हमें सौंप दिया है। परंतु इनके मनमें यही है कि यहाँसे तो चलने दो, आगे जब नगर आयेगा तो शीघ्र ही इन सबोंको पकड़वा दूँगा।

यह सोचकर उन ठगोंने श्रीजयदेवजीके हाथ-पैर काटकर बड़े गड्ढेमें डाल दिये और अपने-अपने घरोंको चले गये। थोड़े समय बाद ही वहाँ एक राजा (लक्ष्मणसेन) आया। उसने देखा कि श्रीजयदेवजी संकीर्तन कर रहे हैं और गड्ढेमें दिव्य प्रकाश छाया है तथा हाथ-पैर कटे होनेपर भी वे परम प्रसन्न हैं। तब उन्हें गड्ढेसे बाहर निकालकर राजाने हाथ-पैर कटनेका प्रसंग पूछा। जयदेवजीने उत्तर दिया कि मुझे इस प्रकारका ही शरीर प्राप्त हुआ है।

श्रीजयदेवजीके दिव्य दर्शन एवं मधुर वचनामृतको सुनकर राजाने मनमें विचारा कि मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है कि ऐसे सन्तके दर्शन प्राप्त हुए। राजा उन्हें पालकीमें बिठाकर घर ले आया। चिकित्साके द्वारा कटे हुए हाथ-पैरोंके घाव ठीक करवाये, फिर श्रीजयदेवजीसे प्रार्थना की कि अब आप मुझे आज्ञा दीजिये कि कौन-सी सेवा करूँ? श्रीजयदेवजीने कहा कि राजन्! भगवान् और भक्तोंकी सेवा कीजिये। ऐसी आज्ञा पाकर राजा साधु-सेवा करने लगा। इसकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। एक दिन वे ही चारों ठग सुन्दर कण्ठी-माला धारणकर राजाके यहाँ आये। उन्हें देखते ही श्रीजयदेवजीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—देखो, आज तो मेरे बड़े गुरु भाई लोग आये हैं। ऐसा कहकर उन्होंने सबका बड़ा ही स्वागत किया।

श्रीजयदेवजीने शीघ्र राजाको बुलवाकर कहा कि इनकी प्रेमसे यथोचित सेवा करके संत-सेवाका फल प्राप्त कर लो। आज्ञा पाकर राजा उन्हें भीतर महलमें ले गया और अनेक सेवकोंको उनकी सेवामें लगा दिया, परंतु उन चारोंके मन अपने पापसे व्याकुल थे, उन्हें भय था कि यह हमें पहचान गया है, राजासे कहकर मरवा देगा। वे राजासे बार-बार विदा माँगते थे, पर राजा उन्हें जाने नहीं देता था। तब श्रीजयदेवजीके कहनेपर राजाने अनेक प्रकारके वस्त्र-रत्न-आभूषण आदि देकर उन्हें विदा किया। सामानको ढोनेके लिये साथमें कई मनुष्योंको भी भेजा।

राजाके सिपाही गठरियोंको लेकर उन ठग-सन्तोंको पहुँचानेके लिये उनके साथ-साथ चले, कुछ दूर जानेपर राजपुरुषोंने उन सन्तोंसे पूछा कि भगवन्! राजाके यहाँ नित्य संत-महात्मा आते-जाते रहते हैं, परंतु स्वामीजीने जितना सत्कार आपका किया और राजासे करवाया है, ऐसा किसी दूसरे साधु-सन्तका सेवा-सत्कार आजतक नहीं हुआ। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि आप बताइये कि स्वामीजीसे आपका क्या सम्बन्ध है? उन्होंने कहा—यह बात अत्यन्त गोपनीय है, मैं तुम्हें बताता हूँ, पर तुम किसीसे मत कहना।

पहले तुम्हारे स्वामीजी और हम सब एक राजाके यहाँ नौकरी करते थे। वहाँ इन्होंने बड़ा भारी अपराध किया। राजाने इन्हें मार डालनेकी आज्ञा दी। परंतु हमने अपना प्रेमी जानकर इनको मारा नहीं। केवल हाथ-पैर काटकर राजाको दिखा दिया और कह दिया कि हमने मार डाला। उसी उपकारके बदलेमें हमारा सत्कार विशेषरूपसे कराया गया है।

उन कृतघ्नी साधु-वेषधारियोंके इस प्रकार झूठ बोलते ही पृथ्वी फट गयी और वे सब उसमें समा गये। इस दुर्घटनासे राजपुरुष लोग आश्चर्यचकित हो गये। वे सब-के-सब दौड़कर स्वामीजीके पास आये और जैसा हाल था, कह सुनाया। उसके सुनते ही श्रीजयदेवजी दुखी होकर हाथ-पैर मलने लगे। उसी क्षण उनके हाथ-पैर बड़े सुन्दर जैसे थे, वैसे ही फिर हो गये। राजपुरुषोंने दोनों आश्चर्यजनक घटनाओंको राजासे कह सुनाया। हाथ-पैर पूरे हो जानेकी घटना सुनकर राजा अति प्रसन्न हुआ। उसी समय वह दौड़कर स्वामीजीके समीप आया और चरणोंमें सिर रखकर पूछने लगा—प्रभो! कृपा करके इन दोनों चरित्रोंका रहस्य खोलकर कहिये कि क्यों धरती फटी और उसमें सब साधु कैसे समाये? आपके ये हाथ-पैर कैसे निकल आये?

राजाने स्वामीजीसे जब अत्यन्त हठ किया। तब उन्होंने सब बात खोलकर कह दी, फिर बोले कि देखो राजन्! यह सन्तोंकी बड़ी भारी महिमा है। सन्तोंके साथ कोई चाहे जैसी और चाहे जितनी बुराई करे तो भी वे उस बुराई करनेवालेका बुरा न सोचकर बदलेमें उसके साथ भलाई ही करते हैं। साधुताका त्याग न करनेपर सन्त, महापुरुष एवं भगवान् श्रीश्यामसुन्दर मिल जाते हैं। राजाने श्रीजयदेवजीका नाम तो सुना था, पर उसने कभी दर्शन नहीं किया था। आज जब उसने श्रीजयदेवजीके नाम-गाँवको जाना तो प्रसन्न होकर कहने लगा कि आप कृपाकर यहाँ विराजिये। आपके यहाँ विराजनेसे मेरे पूरे देशमें प्रेमभक्ति फैल गयी है।

श्रीप्रियादासजीने इन घटनाओंका वर्णन इन कवित्तोंमें किया है—

पोथी की तो बात सब कही मैं सुहात हिये सुनो और बात जामें अति अधिकाइये।
गाँठि में मुहर मग चलत में ठग मिले कहो कहाँ जात जहाँ तुम चलि जाइये॥
जानि लई बात खोलि द्रव्य पकराय दियो, लियो चाहो जोई-जोई सोइ मोकों ल्याइये।
दुष्टनि समुझि कही कीनी इन विद्या अहो आवै जो नगर इन्हें बेगि पकराइये॥ १५२॥
एक कहै डारो मार भलो है विचार यही एक कहै मारौ मत धन हाथ आयो है।
जो पै ले पिछान कहूँ, कीजिये निदान कहा? हाथ पाँव काटि बड़े गाढ़ पधरायो है॥
आयो तहाँ राजा एक देखिकै विवेक भयो छायो उजियारो औ प्रसन्न दरसायो है।
बाहर निकासि मानो चन्द्रमा प्रकास राशि पूछ्यो इतिहास कह्यो ऐसो तनु पायो है॥ १५३॥
बड़ेई प्रभाववान सकै को बखान अहो मेरे कोऊ भूरि भाग दरशन कीजियै।
पालकी बिठाय लिये किये सब ठूठ नीके जीके भाये भये कछु आज्ञा मोहिं दीजियै॥
करौ हरि साधु सेवा नाना पकवान मेवा आवैं जोई सन्त तिन्हैं देखि देखि भीजियै।
आये वेई ठग माला तिलक चिलक किये किलकि के कही बड़े बन्धु लखि लीजियै॥ १५४॥
नृपति बुलाय कही हिये हरि भाय भरि ढरे तेरे भाग अब सेवा फल लीजियै।
गयो लै महल माँझ टहल लगाये लोग लागे होन भोग जिय शंका तन छीजियै॥
माँगें बार बार विदा राजा नहीं जान देत अति अकुलाये कही स्वामी धन दीजियै।
दैकै बहु भाँति सो पठाये संग मानुष हूँ आवौ पहुँचाय तब तुम पर रीझियै॥ १५५॥

पूछैं नृप नर कोऊ तुम्हरी न सरवर जिते आये साधु ऐसी सेवा नहीं भई है।
स्वामीजू सौं नातौ कहा? कहौ हम खांड़ हा हा राखियो दुराइ यह बात अति नई है॥
हूते एक ठौर नृप चाकरीमें तहाँ इन कियोई बिगार 'मारि डारो' आज्ञा दई है।
राखे हम हितू जानि लै निदान हाथ-पाँव वाही के इसान अब हम भरि लई है॥ १५६॥
फाटि गई भूमि सब ठग वे समाइ गये भये ये चकित दौरि स्वामी जू पै आये हैं।
कही जिती बात सुनि गात गात कांपि उठे हाथ-पांव मीड़ैं भये ज्योंके त्यों सुहाये हैं॥
अचरज दोऊ नृप पास जा प्रकाश किये जिये एक सुनि आये वाही ठौर धाये हैं।
पूछैं बार-बार सीस पांयनि पै धारि रहे कहिये उघारि कैसे मेरे मन भाये हैं॥ १५७॥
राजा अति आरि गही कही सब बात खोलि निपट अमोल यह सन्तन को वेस है।
कैसो अपकार करै तऊ उपकार करै ढरैं रीति आपनी ही सरस सुदेस है॥
साधुता न तजैं कभूं, जैसे दुष्ट दुष्टता न यही जानि लीजै मिले रसिक नरेस है।
जान्यो जब नांव ठांव रहो इहा बलि जांव भयो मैं सनाथ प्रेम भक्ति भई देस है॥ १५८॥

(घ) जयदेवजीकी पत्नी पद्मावतीजीका पतिप्रेम

श्रीजयदेवजीकी आज्ञासे राजा किन्दुबिल्व आश्रमसे उनकी पत्नी श्रीपद्मावतीजीको लिवा लाये। श्रीपद्मावतीजी रानीके निकट रनिवासमें रहने लगीं। एक दिन जब रानी पद्मावतीके निकट बैठी थीं। उसी समय किसीने आकर रानीको सूचित किया कि तुम्हारा भाई शरीर छोड़कर देवलोकवासी हुआ और तुम्हारी भावजोंमेंसे एक सती हो गयी। यह सुनकर रानीको अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि हमारी भाभी कितनी बड़ी सती साध्वी थीं। श्रीपद्मावतीजीको इससे कुछ भी आश्चर्य न हुआ। उन्होंने रानीको समझाया कि पतिके स्वर्गवासी होनेपर उनके मृत शरीरके साथ जल जाना उत्तम पातिव्रत-सूचक है, परंतु अनन्य प्रीतिकी यह रीति है कि प्रियतमके प्राण छूट जायँ तो अपने प्राण भी उसी समय शरीरको छोड़कर साथ चले जायँ।

पद्मावतीजीने रानीकी भाभीकी प्रशंसा नहीं की, इससे रानीने व्यंग्य करते हुए कहा कि आपने जैसी पतिव्रता बतायी—ऐसी तो केवल आप ही हो। समय पाकर सब बात रानीने राजासे कहकर फिर यों कहा—आप स्वामीजी (श्रीजयदेवजी)-को थोड़ी देरके लिये बागमें ले जाओ, तब मैं यह देखूँगी कि इनकी पतिमें कैसी प्रीति है। राजाने रानीका विचार सुनकर कहा कि यह उचित नहीं है। जब रानीने बड़ा हठ किया, तब राजाने उसकी बात मानकर वैसा ही किया, राजाके साथ जयदेवजीके बागमें चले जानेपर रानीकी सिखायी हुई एक दासीने आकर पद्मावतीजीको सुनाया कि आपके स्वामीजी भगवान्‌के धामको चले गये। यह सुनते ही रानी और समीप बैठी हुई स्त्रियाँ दुःख प्रकट करनेके ढोंगको रचकर धरतीपर लोटने और रोने लगीं। ध्यानद्वारा जानकर थोड़ी देर बाद भक्तवधू श्रीपद्मावतीजी बोलीं—अजी रानीजी! मेरे स्वामीजी तो बहुत अच्छी तरहसे हैं, तुम अचानक ही इस प्रकार क्यों धोखेमें आकर डर रही हो?

रानीकी मायाका श्रीपद्मावतीजीपर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ, भेद खुल गया, इससे रानीको बड़ी लज्जा हुई। जब कुछ दिन बीत गये तो फिर दूसरी रानीने उसी प्रकारकी तैयारी करके माया-जाल रचा। श्रीपद्मावतीजी अपने मनमें समझ गयीं कि रानी परीक्षा लेना चाहती है तो परीक्षा दे ही देना चाहिये। इस बार जैसे ही किसी दासीने आकर कहा—अजी! स्वामीजी तो प्रभुको प्राप्त हो गये। वैसे ही झट पतिप्रेमसे परिपूर्ण होकर श्रीपद्मावतीजीने अपना शरीर छोड़ दिया। इनके मृतक शरीरको देखकर रानीका मुख कान्तिहीन सफेद हो गया। राजा आये और उन्होंने जब यह सब जाना तो कहने लगे कि इस स्त्रीके चक्करमें आकर

मेरी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गयी, अब इस पापका यही प्रायश्चित्त है कि मैं भी जल मरूँ। श्रीजयदेवजीको जब यह समाचार मिला तो वे दौड़कर वहाँपर आये और मरी हुई पद्मावतीको तथा मरनेके लिये तैयार राजाको देखा। राजाने कहा कि इनको मृत्यु मैंने दी है। जयदेवजीने कहा—तो अब तुम्हारे जलनेसे ये जीवित नहीं हो सकती हैं। अतः तुम मत जलो।

राजाने कहा—महाराज! अब तो मुझे जल ही जाना चाहिये; क्योंकि मैंने आपके सभी उपदेशोंको धूलमें मिला दिया। श्रीजयदेवजीने राजाको अनेक प्रकारसे समझाया, परंतु उसके मनको कुछ भी शान्ति नहीं मिली, तब आपने गीतगोविन्दकी एक अष्टपदीका गान आरम्भ किया। संगीत-विधिसे अलाप करते ही पद्मावतीजी जीवित हो गयीं। इतनेपर भी राजा लज्जाके मारे मरा जा रहा था और आत्महत्या कर लेना चाहता था। वह बार-बार मनमें सोचता था कि ऐसे महापुरुषका संग पाकर भी मेरे मनमें भक्तिका लेशमात्र भी नहीं आया। श्रीजयदेवजीने समझा-बुझाकर राजाको शान्त किया और किन्दुबिल्व ग्रामको चले आये।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

गये जा लिवाय ल्याय कविराज राजतिया किया लै मिलाप आप रानी ढिग आई हैं।
मर्‍यो एकभाई वाकी भई यों भौजाई सती कोऊ अंग काटि कोऊ कूदि परी धाई हैं॥
सुनत ही नृप बधू निपट अचम्भो भयो इनकैं न भयो फिरि कही समुझाई हैं।
प्रीति की न रीति यह बड़ी विपरीत अहो छुटै तन जबै प्रिया प्रान छूटि जाई हैं॥ १५९॥
'ऐसी एक आप' कहि राजा सूं यूं बात कही लैके जाओ बाग स्वामी नेकु देखौं प्रीतिकों।
निपट बिचारी बुरी देत मेरे गरे छुरी तिया हठ मानि करी वैसे ही प्रतीति कों॥
आनि कहैं आपु पाये कही यही भांति आय बैठी ढिग तिया देखि लोटि गई रीति कों।
बोलीं भक्तबधू अजू वे तो हैं बहुत नीके तुम कहा औचक ही पावति हो भीति कों॥ १६०॥
भई लाज भारी पुनि फेरि कै सँवारी दिन बीति गये कोऊ जब तब वही कीनी है।
जानि गई भक्त बधू चाहति परीछा लियो कही अजू पाये सुनि तजी देह भीनी है॥
भयो मुख स्वेत रानी राजा आये जानी यह रची चिता जरौं मति भई मेरी हीनी है।
भई सुधि आपकौं सु आये बेगि दौरि इहाँ देखि मृत्युप्राय नृप कह्यो मेरी दीनी है॥ १६१॥
बोल्यो नृप अजू मोहिं जरेई बनत अब सब उपदेश लैकै धूरिमें मिलायौ है।
कह्यौ बहु भांति ऐपै आवति न शांति किहूँ गाई अष्टपदी सुर दियौ तन ज्यायौ है॥
लाजनिको मार्‍यो राजा चहै अपघात कियौ जियो नहिं जाति भक्ति लेसहूं न आयौ है।
करि समाधान निज ग्राम आये किंदुबिल्लु जैसो कछु सुन्यौ यह परचै लै गायौ है॥ १६२॥

(ङ) श्रीजयदेवजीकी गंगाजीके प्रति निष्ठा

श्रीजयदेवजीका जहाँ आश्रम था, वहाँसे गंगाजीकी धारा अठारह कोस दूर थी। परंतु आप योगबलसे नित्य गंगा-स्नान करते थे। जब आपका शरीर अत्यन्त वृद्ध हो गया, तब भी आप अपने गंगा-स्नानके नित्य-नियमको कभी नहीं छोड़ते थे। इनके बड़े भारी प्रेमको देखकर इन्हें सुख देनेके लिये रातको स्वप्नमें श्रीगंगाजीने कहा—अब तुम स्नानार्थ इतनी दूर मत आया करो, केवल ध्यानमें ही स्नान कर लिया करो। धारामें जाकर स्नान करनेका हठ मत करो। श्रीजयदेवजीने इस आज्ञाको स्वीकार नहीं किया। तब फिर गंगाजीने स्वप्नमें कहा—तुम नहीं मानते हो तो मैं ही तुम्हारे आश्रमके निकट सरोवरमें आ जाऊँगी। तब आपने कहा—मैं कैसे विश्वास करूँगा कि आप आ गयी हैं? गंगाजीने कहा—जब आश्रमके समीप

जलाशयमें कमल खिले देखना, तब विश्वास करना कि गंगाजी आ गयीं। ऐसा ही हुआ, खिले हुए कमलोंको देखकर श्रीजयदेवजीने वहीं स्नान करना आरम्भ कर दिया।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

देवधुनी सोत हो अठारै कोस आश्रम तैं सदाई स्नान करैं धरैं जोगताई कौं।
भयो तन वृद्ध तऊँ छोड़ें नहीं नित्य नेम प्रेम देखि भारी निशि कही सुखदाई कौं॥
आवौ जिनि ध्यान करौ, करौ मत हठ ऐसो मानी नहीं आऊँ मैं ही जानौं कैसे आई कौं।
फूले देखौ कंज तब कीजियो प्रतीति मेरी भई वही भांति सेवैं अबलौं सुहाई कौं॥ १६३॥

(च) जयदेव-दम्पतीपर कृष्णकृपा

एक दिन श्रीजयदेवजी 'गीत-गोविन्द' का एक गीत लिख रहे थे, परंतु वह पूरी ही नहीं हो पाती थी। पद्मावतीने कहा—'देव! स्नानका समय हो गया है, अब लिखना बन्द करके आप स्नान कर आयें तो ठीक हो।' जयदेवजीने कहा—'पद्मा! जाता हूँ। क्या करूँ, मैंने एक गीत लिखा है; परंतु उसका शेष चरण ठीक नहीं बैठता। तुम भी सुनो—

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं जनितरतिरङ्गपरभागम्।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं सरसलसदलक्तकरागम्॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्.....................

इसके बाद क्या लिखूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पाता!' पद्मावतीने कहा—'इसमें घबरानेकी कौन-सी बात है! गंगास्नानसे लौटकर शेष चरण लिख लीजियेगा।'

'अच्छा, यही सही। ग्रन्थको और कलम-दावातको उठाकर रख दो, मैं स्नान करके आता हूँ।'

जयदेवजी इतना कहकर स्नान करने चले गये। कुछ ही मिनटों बाद जयदेवका वेष धारणकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पधारे और बोले—'पद्मा! जरा 'गीत-गोविन्द' देना।'

पद्मावतीने विस्मित होकर पूछा, 'आप स्नान करने गये थे न? बीचसे ही कैसे लौट आये?'

महामायावी श्रीकृष्णने कहा—'रास्तेमें ही अन्तिम चरण याद आ गया, इसीसे लौट आया।' पद्मावतीने ग्रन्थ और कलम-दावात ला दिये। जयदेव-वेषधारी भगवान्ने—

'देहि पदपल्लवमुदारम्'

—लिखकर पादपूर्ति कर दी। तदनन्तर पद्मावतीसे जल मँगाकर स्नान किया और पूजादिसे निवृत्त होकर भगवान्के निवेदन किया हुआ पद्मावतीके हाथसे बना भोजन पाकर पलँगपर लेट गये।

पद्मावती पत्तलमें बचा हुआ प्रसाद पाने लगीं। इतनेमें ही स्नान करके जयदेवजी लौट आये। पतिको इस प्रकार आते देखकर पद्मावती सहम गयी और जयदेव भी पत्नीको भोजन करते देखकर विस्मित हो गये। जयदेवजीने कहा—'यह क्या? पद्मा, आज तुम श्रीमाधवको भोग लगाकर मुझको भोजन कराये बिना ही कैसे जीम रही हो? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा।'

पद्मावतीने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं? आप गीतका शेष चरण लिखनेके लिये रास्तेसे ही लौट आये थे, पादकी पूर्ति करनेके बाद आप अभी-अभी तो स्नान-पूजन-भोजन करके लेटे थे। इतनी देरमें मैं आपको नहाये हुए-से आते कैसे देख रही हूँ!' जयदेवजीने जाकर देखा, पलँगपर कोई नहीं लेट रहा है। वे समझ गये कि आज अवश्य ही यह भक्तवत्सलकी कृपा हुई है। फिर कहा—'अच्छा, पद्मा! लाओ तो देखें, गीतकी पूर्ति कैसे हुई है?'

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेवजीने देखकर मन-ही-मन कहा—'यही तो मेरे मनमें था, पर मैं संकोचवश लिख नहीं रहा था।' फिर वे दोनों हाथ उठाकर रोते-रोते पुकारकर कहने लगे—'हे कृष्ण! हे नन्दनन्दन! हे राधावल्लभ! हे व्रजांगनाधव! हे गोकुलरत्न! हे करुणासिन्धु! हे गोपाल! हे प्राणप्रिय! आज किस अपराधसे इस किंकरको त्यागकर आपने केवल पद्माका मनोरथ पूर्ण किया!' इतना कहकर जयदेवजी पद्मावतीकी पत्तलसे श्रीहरिका प्रसाद उठाकर खाने लगे। पद्मावतीने कितनी ही बार रोककर कहा—'नाथ! आप मेरा उच्छिष्ट क्यों खा रहे हैं?' परंतु प्रभु-प्रसादके लोभी भक्त जयदेवने उसकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटनाके बाद उन्होंने 'गीत-गोविन्द' को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। तदनन्तर वे उसीको गाते मस्त हुए घूमा करते। वे गाते-गाते जहाँ कहीं जाते, वहीं भक्तका कोमलकान्त गीत सुननेके लिये श्रीनन्दनन्दन छिपे हुए उनके पीछे-पीछे रहते। धन्य प्रभु!

अन्तकालमें श्रीजयदेवजी अपनी पतिपरायणा पत्नी पद्मावती और भक्त पराशर, निरंजन आदिको साथ लेकर वृन्दावन चले गये और वहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला देख-देखकर आनन्द लूटते रहे। कहते हैं कि वृन्दावनमें ही दम्पती देह त्यागकर नित्यनिकेतन गोलोक पधार गये।

किसी-किसीका कहना है कि जयदेवजीने अपने ग्राममें शरीर छोड़ा था और उनके घरके पास ही उनका समाधिमन्दिर बनाया गया।

उनके स्मरणार्थ प्रतिवर्ष माघकी संक्रान्तिपर केन्दुबिल्व गाँवमें अब भी मेला लगता है, जिसमें प्रायः लाखसे अधिक नर-नारी एकत्र होते हैं।

श्रीश्रीधरस्वामीजी

तीनि कांड एकत्व सानि कोउ अग्य बखानत।
कर्मठ ग्यानी ऐंचि अर्थ कौ अनरथ बानत॥
परमहंस संहिता बिदित टीका बिसतार्‍यो।
षट सास्त्रनि अबिरुद्ध बेद संमतहि बिचार्‍यो॥
परमानंद प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियो।
श्रीधर श्रीभागवत में परम धरम निरनय कियो॥ ४५॥

श्रीश्रीधरस्वामीने श्रीमद्भागवतमें परमधर्मका निर्णय किया। श्रीभागवतधर्मके रहस्योंको ठीक प्रकारसे न जाननेके कारण कुछ विद्वानोंने तीनों (कर्म, ज्ञान, उपासना) काण्डोंको एकमें मिश्रित करके श्रीमद्भागवतकी व्याख्या की। कर्मकाण्डी और शुष्क ज्ञानी लोग खींचातानी एवं कठिन कल्पनाएँ करके अर्थका विपरीत अर्थ (अनर्थ) करते थे। जिज्ञासु भक्तगण शंकित हो जाते थे, वास्तविक तात्पर्य ओझल हो जाता था। ऐसी स्थितिमें विश्वविख्यात 'परमहंससंहिता' की विद्वानोंमें प्रसिद्ध टीका 'भावार्थ-दीपिका' की रचना स्वामी श्रीधराचार्यजीने की। उसमें षट्शास्त्र एवं षड्-दर्शनोंके सर्वथा अनुकूल तथा वेदोपनिषद्-सम्मत सिद्धान्तका समर्थन किया। श्रीधरस्वामीके गुरुदेव श्रीपरमानन्द-सरस्वतीपादजीकी कृपासे भगवान् विन्दुमाधवने श्रीधरकृत टीकाको अपने हस्तकमलसे सुधार दिया, हस्ताक्षरित करके सर्वोत्तम सिद्ध किया॥ ४५॥

यहाँ श्रीश्रीधरस्वामीजीके विषयमें संक्षेपमें कुछ विवरण प्रस्तुत है—

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥

—श्रीधरस्वामी

प्रामाणिक सामग्री तो कोई है नहीं; जो किंवदन्तियाँ हैं। उन्हींके आधारपर कुछ कहना है। महापुरुषोंके जीवनके सत्यको ऐसी किंवदन्तियाँ ही कुछ प्रकट कर पाती हैं। ईसाकी दसवीं या ग्यारहवीं सदीकी बात होगी। दक्षिण भारतके किसी नगरमें वहाँके राजा और मन्त्रीमें मार्ग चलते समय भगवान्की कृपा तथा प्रभावके सम्बन्धमें बात हो रही थी। मन्त्री कह रहे थे—'भगवान्की उपासनासे उनकी कृपा प्राप्त करके अयोग्य भी योग्य हो जाता है, कुपात्र भी सत्पात्र हो जाता है, मूर्ख भी विद्वान् हो जाता है।' संयोगकी बात या दयामय भगवान्की इच्छा—राजाने देखा कि एक बालक फूटे पात्रमें तेल लिये जा रहा है। राजाने मन्त्रीसे पूछा—'क्या यह बालक भी बुद्धिमान् हो सकता है?' मन्त्रीने बड़े विश्वासके साथ कहा—'भगवान्की कृपासे अवश्य हो सकता है।' बालक बुलाया गया। पता लगा कि वह ब्राह्मणका बालक है। उसके माता-पिता उसे बचपनमें ही छोड़कर परलोक चले गये थे। परीक्षाके लिये नृसिंहमन्त्रकी दीक्षा दिलाकर उसे आराधनामें लगा दिया गया। बालक भी सब प्रकारसे भगवान्के भजनमें लग गया। उस अनाथ बालककी भक्ति देखकर अनाथोंके वे एकमात्र नाथ प्रकट हो गये। नृसिंहरूपमें दर्शन देकर भगवान्ने बालकको वरदान दिया—'तुम्हें वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र आदिका सम्पूर्ण ज्ञान होगा और मेरी भक्ति तुम्हारे हृदयमें निवास करेगी।' बालक और कोई नहीं वे हमारे चरित्रनायक श्रीधर स्वामी ही थे।

अब इस बालककी विद्वत्ताका क्या पूछना! भगवान्की दी हुई विद्याकी लोकमें भला, कौन बराबरी कर सकता था! बड़े-बड़े विद्वान् इनका सम्मान करने लगे। राजा इन्हें आदर देने लगे। धनका अभाव नहीं रहा। विवाह हुआ और पत्नी आयी। परंतु भगवान्के भक्त विषयोंमें उलझा नहीं करते और न दयामय भगवान् ही भक्तोंको संसारके विषयोंमें आसक्त रहने देते हैं। गृहस्थ होकर भी इनका चित्त घरमें लगता नहीं था। सब कुछ छोड़कर केवल प्रभुका भजन किया जाय, इसके लिये इनके प्राण तड़पते रहते थे। इनकी स्त्री गर्भवती हुई, प्रथम सन्तानको जन्म देकर वह परलोक चली गयी। स्त्रीकी मृत्युसे इन्हें दुःख नहीं हुआ। इन्होंने इसे प्रभुकी कृपा ही माना। परंतु अब नवजात बालकके पालन-पोषणमें ही व्यस्त रहना इन्हें अखरने लगा। ये विचार करने लगे—'मैं मोहवश ही अपनेको इस बच्चेका पालन-पोषण करनेवाला मानता हूँ। जीव अपने कर्मोंसे ही जन्म लेता है और अपने कर्मोंका ही फल भोगता है। विश्वम्भर भगवान् ही सबका पालन तथा रक्षण करते हैं।' ये शिशुको भगवान्की दयापर छोड़कर भजनका निश्चय करके घर छोड़नेको उद्यत हुए, पर बच्चेके मोहने एक बार रोका। लीलामय प्रभुकी लीलासे इनके सामने घरकी छतसे एक पक्षीका अण्डा भूमिपर गिर पड़ा और फूट गया। अण्डा पक चुका था। उससे लाल-लाल बच्चा निकलकर अपना मुख हिलाने लगा। इनको ऐसा लगा कि इस बच्चेको भूख लगी है; यदि अभी कुछ न मिला तो यह मर जायगा। उसी समय एक छोटा कीड़ा उड़कर फूटे अण्डेके रसपर आ बैठा और उसमें चिपक गया। पक्षीके बच्चेने उसे खा लिया। भगवान्की यह लीला देखकर श्रीधर स्वामीके हृदयमें बल आ गया। ये वहाँसे काशी चले आये। विश्वनाथपुरीमें आकर ये भगवान्के भजनमें तल्लीन हो गये।

श्रीश्रीधर स्वामीजी श्रीबिन्दुमाधवजीके बड़े ही भक्त थे। काशीवास करते समय एक विद्यार्थी आपकी सेवामें रहा करता था, संयोगसे उसका भी नाम माधव ही था। एक बारकी बात है, आप बीमार पड़ गये, उस समय माधव आपकी सेवामें था। उसी बीच माधवके पिताजी भी बीमार पड़ गये

और उसके घरसे बुलानेके लिये आदमी आ गया। परदुःखकातर श्रीस्वामीजीने स्वयं अस्वस्थ रहते हुए भी माधवको उसके पिताकी सेवामें आग्रहपूर्वक भेज दिया। माधव गुरुकी आज्ञा मानकर चला गया, इधर स्वामीजी ज्वरकी अधिकतासे अचेतावस्थामें हो गये और माधव! माधव! कहकर उसे बुलाने लगे। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तकी पुकार सुनकर इस स्थितिमें भला कैसे अनसुनी कर सकते थे! भगवान् श्रीबिन्दुमाधवने विद्यार्थी माधवका रूप बनाया और आ गये सेवा करने। अब विद्यार्थी बने भगवान् बिन्दुमाधव श्रीधर स्वामीकी परिचर्या करते, उनके लिये भोजन बनाते तथा गुरुकी समस्त आज्ञाओंका पालन करते। इस प्रकार कई दिन बीत गये। श्रीस्वामीजी स्वस्थ हो गये थे, उधर विद्यार्थी माधवके पिता भी स्वस्थ हो गये थे, अतः वह गुरुजीके पास लौट आया। उसे आया देख भगवान् अन्तर्धान हो गये। आनेपर माधवने देखा कि चूल्हा जल रहा है और उसपर खिचड़ी बन रही है, पर कोई बनानेवाला न दिखायी दिया। श्रीस्वामीजी विश्राम कर रहे थे। बालक माधवने गुरुजीको अपने पिताके स्वस्थ हो जानेकी सूचना दी और पूछा—गुरुदेव! मेरी अनुपस्थितिमें आश्रमकी व्यवस्था कौन कर रहा था? आपकी सेवामें कौन था? और यह खिचड़ी कौन पका रहा है? श्रीस्वामीजी उसके प्रश्नोंको सुनकर आश्चर्यचकित हो गये और बोले—बेटा माधव! तू ही तो मेरे पास था, तू ही तो आश्रमकी व्यवस्था भी कर रहा था और तूने ही मेरी सेवा भी की और अभी-अभी तूने ही तो चूल्हा जलाकर खिचड़ी चढ़ायी है, फिर मुझसे ऐसे प्रश्न क्यों कर रहा है?

माधवने कहा—गुरुजी! मैं तो आपकी आज्ञासे ही अपने अस्वस्थ पिताकी सेवामें गाँव गया था, फिर मैंने कैसे आपकी सेवा की? अब श्रीश्रीधर स्वामीजीके समक्ष सारी बात स्पष्ट हो गयी कि मेरे 'माधव-माधव' पुकारनेपर आकर मेरी सेवा करनेवाले स्वयं भक्तवत्सल भगवान् बिन्दुमाधवजी ही थे।

कुछ कालतक काशीवास करनेके बाद आप श्रीधाम श्रीवृन्दावन चले आये। इधर संन्यासकी बात सुनकर आपके संगके बहुत-से पण्डित-विद्वान्, विद्यार्थी तथा आपके गाँवके लोग आपसे मिलने आये। बातचीत करते-करते दोपहरका समय हो गया। श्रीस्वामीजी इतने सारे लोगोंके भोजनकी चिन्ता करते हुए मध्याह्नकालिक स्नानके लिये श्रीयमुनाजीकी ओर चले। इधर श्रीभगवान् श्यामसुन्दर अपने धाममें अपने भक्तको चिन्तित देख ग्वाल बालकका रूप धारणकर तथा बहुतसे ग्वाल-बालोंको संग लेकर श्रीस्वामीजीकी कुटियापर पधारे। प्रत्येकके सिरपर एक-एक गठरी थी और सबमें विभिन्न प्रकारकी खाद्य सामग्री थी। आते ही उन्होंने लोगोंसे पूछा—श्रीस्वामीजी कहाँ हैं? लोगोंके यह बतानेपर कि श्रीयमुनाजी स्नान करने गये हैं, उन्होंने कहा कि आयें तो हमारा दण्डवत् कह देना और कहियेगा कि सारा सामान साधु-ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये आया है, खूब सेवा करें। चिन्ता ही करना था तो घर क्यों छोड़ा?

श्रीस्वामीजीके आनेपर लोगोंने सारी बात बतायी और सीधा-सामग्री दिखायी। श्रीस्वामीजी समझ गये कि ग्वालके रूपमें आनेवाले और कोई नहीं, बल्कि भक्तोंका योग-क्षेम वहन करनेवाले उनके श्यामसुन्दर ही थे।

गीता, भागवत, विष्णुपुराणपर श्रीधर स्वामीकी टीकाएँ मिलती हैं। इनकी टीकाओंमें भक्ति तथा प्रेमका अखण्ड प्रवाह है। एकमात्र श्रीधर स्वामी ही ऐसे हैं कि जिनकी टीकाका सभी सम्प्रदायके लोग आदर करते हैं। कुछ लोगोंने इनकी भागवतकी टीकापर आपत्ति की, उस समय इन्होंने वेणीमाधवजीके मन्दिरमें भगवान्के पास ग्रन्थ रख दिया। कहते हैं कि स्वयं भगवान्ने अनेक साधु-महात्माओंके सम्मुख वह ग्रन्थ उठाकर हृदयसे लगा लिया। भगवान्के ऐसे लाड़ले भक्त ही पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

इस घटनाका वर्णन भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

पंडित समाज बड़े बड़े भक्तराज जिते भागवत टीका करि आपसमें रीझिये।
भयो जू विचार काशीपुरी अविनाशी मांझ सभा अनुसार जोई सोई लिखि दीजिये॥
ताको तो प्रमान भगवान बिन्दुमाधौजी हैं साधौ यही बात धरि मन्दिर में लीजिये।
धरे सब जाय प्रभु सुकर बनाय दियो कियो सर्व ऊपर लै चल्यो मति धीजिये॥ १६४॥

श्रीबिल्वमंगलजी

करुनामृत सुकबित्त जुक्ति अनुछिष्ट उचारी।
रसिक जनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी॥
हरि पकरायो हाथ बहुरि तहँ लियो छुटाई।
कहा भयो कर छुटैं बदौं जौ हिय तें जाई॥
चिंतामनि सँग पाय कें ब्रजबधू केलि बरनी अनूप।
कृष्न कृपा कोपर प्रगट बिल्वमँगल मंगलस्वरूप॥ ४६॥

भगवान् श्रीकृष्णके परम कृपापात्र श्रीबिल्वमंगलजी इस संसारमें प्रत्यक्ष मंगल-कल्याणके स्वरूप थे। विश्वका मंगल ही बिल्वमंगलके रूपमें प्रकट हुआ। आपने 'श्रीकृष्णकर्णामृत' नामक सुन्दर काव्यका निर्माण किया, जिसकी उक्तियाँ सर्वथा नयी हैं, दूसरे कवियोंकी जूठी नहीं हैं। प्रेमाभक्तिसे प्रकट सहज एवं दिव्य उद्‌गार हैं। श्रीकृष्णकर्णामृत रसिकभक्तोंका जीवन-प्राण है, उन्होंने इसे कई लड़ियोंके हारके समान अपने हृदयमें धारण किया है। एक बार भगवान् श्यामसुन्दरने (श्रीबिल्वमंगलजीके अन्धा होनेपर वृन्दावनका) मार्ग दिखाते हुए अपना हाथ पकड़ाया और फिर उसे छुड़ा लिया। उस समय आपने उनसे कहा—हाथ छुड़ाकर चले जानेसे क्या हुआ, मैं तुम्हें वीर पुरुष तब समझूँ, जब मेरे हृदयके बन्धनसे छूटकर चले जाओ। आपने चिन्तामणिका संग पाकर व्रजगोपियोंके साथ हुई श्रीकृष्णकी लीलाओंका अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उसके द्वारा सभी भक्तोंका मंगल हुआ, अतः आप मंगलकी मूर्ति ही थे॥ ४६॥

भक्त बिल्वमंगलजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

(क) भक्त बिल्वमंगलका प्रारम्भिक जीवन

दक्षिण प्रदेशमें कृष्णवीणा-नदीके तटपर एक ग्राममें रामदास नामक एक भगवद्भक्त ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हींके पुत्रका नाम था बिल्वमंगल। पिताने यथासाध्य पुत्रको धर्मशास्त्रोंकी शिक्षा दी थी। बिल्वमंगल पिताकी शिक्षा तथा उनके भक्तिभावके प्रभावसे बाल्यकालमें ही अति शान्त, शिष्ट और श्रद्धावान् हो गया था। परंतु दैवयोगसे पिता-माताके देहावसान होनेपर जबसे घरकी सम्पत्तिपर उसका अधिकार हुआ, तभीसे उसके कुसंगी मित्र जुटने लगे।

संगदोषसे बिल्वमंगलके अन्तःकरणमें अनेक दोषोंने अपना घर कर लिया। एक दिन गाँवमें कहीं चिन्तामणि नामकी वेश्याका नाच था, शौकीनोंके दल-के-दल नाचमें जा रहे थे। बिल्वमंगल भी अपने मित्रोंके साथ वहाँ जा पहुँचा। वेश्याको देखते ही बिल्वमंगलका मन चंचल हो उठा, विवेकशून्य बुद्धिने

सहारा दिया, बिल्वमंगल डूबा और उसने हाड़-मांसभरे चामके कल्पित रूपपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया—तन, मन, धन, कुल, मान, मर्यादा और धर्म सबको उत्सर्ग कर दिया! ब्राह्मणकुमारका पूरा पतन हुआ। सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते सब समय बिल्वमंगलके चिन्तनकी वस्तु केवल एक 'चिन्तामणि' ही रह गयी।

बिल्वमंगलके पिताका श्राद्ध है, इसलिये आज वह नदीके उस पार चिन्तामणिके घर नहीं जा सकता। श्राद्धकी तैयारी हो रही है। विद्वान् कुलपुरोहित बिल्वमंगलसे श्राद्धके मन्त्रोंकी आवृत्ति करवा रहे हैं, परंतु उसका मन 'चिन्तामणि' की चिन्तामें निमग्न है। उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किसी प्रकार श्राद्ध समाप्तकर जैसे-तैसे ब्राह्मणोंको झटपट भोजन करवाकर बिल्वमंगल चिन्तामणिके घर जानेको तैयार हुआ। सन्ध्या हो चुकी थी, लोगोंने समझाया कि 'भाई! आज तुम्हारे पिताका श्राद्ध है, वेश्याके घर नहीं जाना चाहिये।' परंतु कौन सुनता था। उसका हृदय तो कभीका धर्म-कर्मसे शून्य हो चुका था। बिल्वमंगल दौड़कर नदीके किनारे पहुँचा। भगवान्‌की माया अपार है, अकस्मात् प्रबल वेगसे तूफान आया और उसीके साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। आकाशमें अन्धकार छा गया, बादलोंकी भयानक गर्जना और बिजलीकी कड़कड़ाहटसे जीवमात्र भयभीत हो गये। रात-दिन नदीमें रहनेवाले केवटोंने भी नावोंको किनारे बाँधकर वृक्षोंका आश्रय लिया, परंतु बिल्वमंगलपर इन सबका कोई असर नहीं पड़ा। उसने केवटोंसे उस पार ले चलनेको कहा, बारम्बार विनती की, उतराईका भी गहरा लालच दिया; परंतु मृत्युका सामना करनेको कौन तैयार होता। सबने इनकार कर दिया। ज्यों-ज्यों बिलम्ब होता था, त्यों-ही-त्यों बिल्वमंगलकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी। अन्तमें वह अधीर हो उठा और कुछ भी आगा-पीछा न सोचकर तैरकर पार जानेके लिये सहसा नदीमें कूद पड़ा। भयानक दु:साहस का कर्म था, परंतु '**कामातुराणां न भयं न लज्जा।**' संयोगवश नदीमें एक मुर्दा बहा जा रहा था। बिल्मवमंगल तो बेहोश था, उसने उसे काठ समझा और उसीके सहारे नदीके उस पार चला गया। उसे कपड़ोंकी सुध नहीं थी, बिल्कुल दिगम्बर हो गया था, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था, बनैले पशु भयानक शब्द कर रहे थे, कहीं मनुष्यकी गन्ध भी नहीं आती, परंतु बिल्वमंगल उन्मत्तकी भाँति अपनी धुनमें चला जा रहा था। कुछ ही दूरपर चिन्तामणिका घर था। श्राद्धके कारण आज बिल्वमंगलके आनेकी बात नहीं थी, अतएव चिन्ता घरके सब दरवाजोंको बन्द करके निश्चिन्त होकर सो चुकी थी। बिल्वमंगलने बाहरसे बहुत पुकारा; परंतु तूफानके कारण अन्दर कुछ भी नहीं सुनायी पड़ा। बिल्वमंगलने इधर-उधर ताकते हुए बिजलीके प्रकाशमें दीवालपर एक रस्सा-सा लटकता देखा, तुरंत उसने उसे पकड़ा और उसीके सहारे दीवाल फाँदकर अन्दर चला गया। चिन्ताको जगाया। वह तो इसे देखते ही स्तम्भित-सी रह गयी! सारा शरीर पानीसे भीगा हुआ, भयानक दुर्गन्ध आ रही है। उसने कहा—'तुम इस भयावनी रातमें नदी पार करके बन्द घरमें कैसे आये?' बिल्वमंगलने काठपर चढ़कर नदी पार होने और रस्सेकी सहायतासे दीवालपर चढ़नेकी कथा सुनायी! वृष्टि थम चुकी थी। चिन्ता दीपक हाथमें लेकर बाहर आयी, देखती है तो दीवालपर भयानक काला नाग लटक रहा है और नदीके तीर सड़ा मुर्दा पड़ा है। बिल्वमंगलने भी देखा और देखते ही काँप उठा। चिन्ताने भर्त्सना करके कहा—'तू ब्राह्मण है? अरे, आज तेरे पिताका श्राद्ध था, परंतु एक हाड़-मांसकी पुतलीपर तू इतना आसक्त हो गया कि अपने सारे धर्म-कर्मको तिलांजलि देकर इस डरावनी रातमें मुर्दे और साँपकी सहायतासे यहाँ दौड़ा आया! तू आज जिसे

परम सुन्दर समझकर इस तरह पागल हो रहा है, उसका भी एक दिन तो वही परिणाम होनेवाला है, जो तेरी आँखोंके सामने इस सड़े मुर्देका है! धिक्कार है तेरी इस नीच वृत्तिको! अरे! यदि तू इसी प्रकार उस मनमोहन श्यामसुन्दरपर आसक्त होता—यदि उससे मिलनेके लिये यों छटपटाकर दौड़ता, तो अबतक उसको पाकर तू अवश्य ही कृतार्थ हो चुका होता!'

वेश्याकी वाणीने बड़ा काम किया! बिल्वमंगल चुप होकर सोचने लगा। बाल्यकालकी स्मृति उसके मनमें जाग उठी। पिताजीकी भक्ति और उनकी धर्मप्राणताके दृश्य उसकी आँखोंके सामने मूर्तिमान् होकर नाचने लगे। बिल्वमंगलकी हृदयतन्त्री नवीन सुरोंसे बज उठी, विवेककी अग्निका प्रादुर्भाव हुआ, भगवत्-प्रेमका समुद्र उमड़ा और उसकी आँखोंसे अश्रुओंकी अजस्र धारा बहने लगी। बिल्वमंगलने चिन्तामणिके चरण पकड़ लिये और कहा—'माता! तूने आज मुझको दिव्यदृष्टि देकर कृतार्थ कर दिया।' मन-ही-मन चिन्तामणिको गुरु मानकर प्रणाम किया और उसी क्षण जगच्चिन्तामणिकी चारु चिन्तामें निमग्न होकर उन्मत्तकी भाँति चिन्तामणिके घरसे निकल पड़ा। बिल्वमंगलके जीवन-नाटककी यवनिकाका परिवर्तन हो गया।

इस घटनाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

कृष्ण वेना तीर एक द्विज मतिधीर रहै है गयो अधीर संग चिन्तामनि पाइकै।
तजी लोकलाज हिये वाहीको जु राज भयौ निशि दिन काज वहै रहै घर जाइकै॥
पिताको सराध नेकु रह्यौ मन साधि दिन शेषमें आवेश चल्यौ अति अकुलाइकै।
नदी चढ़ी रही भारी पैये न अवारी नाव भाव भर्‍यो हियौ जियौ जात न धिजाइकै॥ १६५॥
करत विचार वारिधार में न रहै प्राण ताते भली धार मित्र सनमुख जाइयै।
परे कूदि नीर कछु सुधि न शरीर की है वही एक पीर कब दरसन पाइयै॥
पैयत न पार तन हारि भयो बूड़िबे कों मृतक निहारि मानी नाव मन भाइयै।
लगेई किनारे जाय चले पग धाय चाय आये पट लागे निशि आधी सो विहाइयै॥ १६६॥
अजगर घूमि झूमि भूमिको परस कियो लियोई सहारो चढ्यो छात पर जायकै।
ऊपर किवार लगे पर्‍यो कूदि आंगन में गिर्‍यो यों गरत रागी जागी सोर पायकै॥
दीपक बराइ जो पै देखै विल्वमंगल है बड़ोई अमंगल तूं कियो कहा आय कै।
जल अन्हवाय सूखे पट पहिराय हाय! कैसें करि आयो जल पार द्वार धाय कै॥ १६७॥
नौका पठवाई द्वार लाव लटकाई देखि मेरे मन भाई मैं तो तबैं लई जानि कै।
चलो देखौं अहो, यह कहा धौं प्रलाप करै देख्यो विषधर महा खीजी अपमानि कै॥
जैसो मन मेरे हाड़ चाम सौं लगायो तैसो स्याम सों लगावो तौ पै जानिये सयानिकै।
मैं तो भये भोर भजौं युगल किशोर अब तेरी तुही जानै चाहौ करौ मन मानिकै॥ १६८॥

(ख) सात्त्विक परिवर्तन

दोनोंने उस पूरी रात भगवान्‌का भजन किया और प्रातः होते ही चिन्तामणिने हरिद्वारकी और बिल्वमंगलने सन्त श्रीसोमगिरिजी महाराजके आश्रमकी राह ली। वहाँ गुरुदेवसे दीक्षा लेकर एक वर्षतक आश्रममें ही रहकर भजन-पूजन किया, फिर वृन्दावन धामके लिये चल पड़ा।

श्यामसुन्दरकी प्रेममयी मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेके लिये बिल्वमंगल पागलकी तरह जगह-जगह भटकने लगा। कई दिनोंके बाद एक दिन अकस्मात् उसे रास्तेमें एक परम रूपवती युवती दीख पड़ी, पूर्व-संस्कार अभी

सर्वथा नहीं मिटे थे। युवतीका सुन्दर रूप देखते ही नेत्र चंचल हो उठे और नेत्रोंके साथ ही मन भी खिंचा।

बिल्वमंगलको फिर मोह हुआ। भगवान्‌को भूलकर वह पुनः पतंग बनकर विषयाग्निकी ओर दौड़ा। बिल्वमंगल युवतीके पीछे-पीछे उसके मकानतक गया। युवती अपने घरके अन्दर चली गयी, बिल्वमंगल उदास होकर घरके दरवाजेपर बैठ गया। घरके मालिकने बाहर आकर देखा कि एक मलिनमुख अतिथि ब्राह्मण बाहर बैठा है। उसने कारण पूछा। बिल्वमंगलने कपट छोड़कर सारी घटना सुना दी और कहा कि 'मैं एक बार फिर उस युवतीको प्राण भरकर देख लेना चाहता हूँ, तुम उसे यहाँ बुलवा दो।' युवती उसी गृहस्थकी धर्मपत्नी थी, गृहस्थने सोचा कि इसमें हानि ही क्या है; यदि उसके देखनेसे ही इसकी तृप्ति होती हो तो अच्छी बात है। अतिथिवत्सल गृहस्थ अपनी पत्नीको बुलानेके लिये अन्दर गया। इधर बिल्वमंगलके मन-समुद्रमें तरह-तरहकी तरंगोंका तूफान उठने लगा।

जो एक बार अनन्यचित्तसे उन अशरण-शरणकी शरणमें चला जाता है, उसके योगक्षेम* का सारा भार वे अपने ऊपर उठा लेते हैं। आज बिल्वमंगलको सम्हालनेकी भी चिन्ता उन्हींको पड़ी। दीनवत्सल भगवान्‌ने अज्ञानान्ध बिल्वमंगलको दिव्यचक्षु प्रदान किये; उसको अपनी अवस्थाका यथार्थ ज्ञान हुआ, हृदय शोकसे भर गया और न मालूम क्या सोचकर उसने पासके बेलके पेड़से दो काँटे तोड़ लिये। इतनेमें ही गृहस्थकी धर्मपत्नी वहाँ आ पहुँची, बिल्वमंगलने उसे फिर देखा और मन-ही-मन अपनेको धिक्कार देकर कहने लगा कि 'अभागी आँखें! यदि तुम न होतीं तो आज मेरा इतना पतन क्यों होता?' इतना कहकर बिल्वमंगलने उन दोनों काँटोंको दोनों आँखोंमें भोंक लिया! आँखोंसे रुधिरकी अजस्र धारा बहने लगी! बिल्वमंगल हँसता और नाचता हुआ तुमुल हरिध्वनिसे आकाशको गुँजाने लगा। गृहस्थको और उसकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ, परंतु वे बेचारे निरुपाय थे। बिल्वमंगलका बचा-खुचा चित्त-मल भी आज सारा नष्ट हो गया और अब तो वह उस अनाथके नाथको अतिशीघ्र पानेके लिये बड़ा ही व्याकुल हो उठा। उसके जीवन-नाटकका यह तीसरा पट-परिवर्तन हुआ!

इस घटनाका वर्णन प्रियादासजीने निम्न कवित्तोंमें किया है—

खुलि गईं आँखैं अभिलाषैं रूप माधुरी कौं चाखैं रसरंग औ उमंग अंग न्यारियै।
बीन लै बजाई गाई विपिन निकुंज क्रीड़ा भयो सुख पुंज जापै कोटि विषै वारियै॥
बीति गई राति प्रात चले आप आप कों जू हिये वही जाप दृग नीरि भरि डारियै।
सोमगिरि नाम अभिराम गुरु कियो आनि सकै को बखानि लाल भुवन निहारियै॥ १६९॥
रहे सो बरस रस सागर मगन भये नये नये चोजके श्लोक पढ़ि जीजिये।
चले वृन्दावन मन कहै कब देखौं जाय आय मग मांझ एक ठौर मति भीजिये॥
परयो बड़ो सोर दृगकोर कै न चाहैं काहू तहां सर तिया न्हाति देखि आंखैं रीझिये।
लगे वाके पाछे कांछे कांछकी न सुधि कछू गई घर आछे रहे द्वार तन छीजिये॥ १७०॥
आयो वाको पति द्वार देखै भागवत ठाढ़े बड़े भागवत पूछी वधू सों जनाइयें।
कही जू पधारौ पाँव धारो गृह पावनकों पांवन पखारौं जल ढारौं सीस भाइयें॥
चले भौन मांझ मन आरति मिटायबेकौं गायवेकौं जोई रीति सोई कें बताइयें।
नारिसे कह्यौ है तू सिंगार करि सेवा कीजै लीजै यौं सुहाग जामें बेगि प्रभु पाइयें॥ १७१॥
चली ये सिंगार करि थार मैं प्रसाद लैके ऊँची चित्रसारी जहाँ बैठे अनुरागी हैं।
झनक मनक जाइ जोरि कर ठाढ़ी रही गही मति देखि-देखि नून वृत्ति भागी हैं॥

* भगवत्प्राप्तिका नाम 'योग' और उसके निमित्त किये हुए साधनोंकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

कही युग सूई ल्यावो, ल्याई, दई, लई, हाथ, फोरि डारी आंखैं अहो बड़ी ये अभागी हैं।
गई पति पास स्वास भरत न बोलि आवै बोली दुख पाय आय पांय परे रागी हैं॥ १७२॥
कियो अपराध हम साधु कौं दुखायौं अहो बड़े तुम साधु हम नाम साधु धर्‍यो है।
रहौ अजू सेवा करौं करी तुम सेवा ऐसी जैसी नहीं काहू मांझ मेरौ मन भर्‍यो है॥
चले सुख पाय दृगभूतसे छुटाइ दिये हिये ही की आंखिन सों अबै काम पर्‍यो है।
बैठे बन मध्य जाइ भूखे जानि आप आइ भोजन कराइ चलौ छाया दिन ढर्‍यो है॥ १७३॥

(ग) बिल्वमंगलपर भगवान्‌की कृपा

परम प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगकी दारुण व्यथासे उसकी फूटी आँखोंने चौबीसों घण्टे आँसुओंकी झड़ी लगा दी। न भूखका पता है न प्यासका, न सोनेका ज्ञान है और न जगनेका। 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकारसे दिशाओंको गुँजारता हुआ बिल्वमंगल जंगल-जंगल और गाँव-गाँवमें घूम रहा है! जिस दीनबन्धुके लिये जान-बूझकर आँखें फोड़ीं, जिस प्रियतमको पानेके लिये ऐश-आरामपर लात मारी, वह मिलनेमें इतना विलम्ब करे—यह भला, किसीसे कैसे सहन हो? पर 'जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे प्रेमास्पदके विरहमें जीवनभर रोया करते हैं, सहस्रों आपत्तियोंको सहन करते हैं, परंतु उसपर दोषारोपण कदापि नहीं करते; उनको अपने प्रेमास्पदमें कभी कोई दोष दीखता ही नहीं!' ऐसे प्रेमीके लिये प्रेमास्पदको भी कभी चैन नहीं पड़ता। उसे दौड़कर आना ही पड़ता है। आज अन्ध बिल्वमंगल श्रीकृष्ण-प्रेममें मतवाला होकर जहाँ-तहाँ भटक रहा है। कहीं गिर पड़ता है, कहीं टकरा जाता है, अन्न-जलका तो कोई ठिकाना ही नहीं। ऐसी दशामें प्रेममय श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं। एक छोटे-से गोप-बालकके वेषमें भगवान् बिल्वमंगलके पास आकर अपनी मुनि-मनमोहिनी मधुर वाणीसे बोले,—'सूरदासजी! आपको बड़ी भूख लगी होगी, मैं कुछ मिठाई लाया हूँ, जल भी लाया हूँ; आप इसे ग्रहण कीजिये।' बिल्वमंगलके प्राण तो बालकके उस मधुर स्वरसे ही मोहे जा चुके थे, उसके हाथका दुर्लभ प्रसाद पाकर तो उसका हृदय हर्षके हिलोरोंसे उछल उठा! बिल्वमंगलने बालकसे पूछा, 'भैया! तुम्हारा घर कहाँ है, तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्या किया करते हो?'

बालकने कहा, 'मेरा घर पास ही है, मेरा कोई खास नाम नहीं; जो मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं उसीसे बोलता हूँ, गौएँ चराया करता हूँ। मुझसे जो प्रेम करते हैं, मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ।' बिल्वमंगल बालककी वीणा-विनिन्दित वाणी सुनकर विमुग्ध हो गया! बालक जाते-जाते कह गया कि 'मैं रोज आकर आपको भोजन करवा जाया करूँगा।' बिल्वमंगलने कहा, 'बड़ी अच्छी बात है; तुम रोज आया करो।' बालक चला गया और बिल्वमंगलका मन भी साथ लेता गया। 'मनचोर' तो उसका नाम ही ठहरा! अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे भोग लगाकर भी लोग जिनकी कृपाके लिये तरसा करते हैं, वही कृपासिन्धु रोज बिल्वमंगलको अपने करकमलोंसे भोजन करवाने आते हैं? धन्य है! भक्तके लिये भगवान् क्या-क्या नहीं करते।

बिल्वमंगल अबतक यह तो नहीं समझा कि मैंने जिसके लिये फकीरीका बाना लिया और आँखोंमें काँटे चुभाये, वह बालक यही है; परंतु उस गोप-बालकने उसके हृदयपर इतना अधिकार अवश्य जमा लिया कि उसको दूसरी बातका सुनना भी असह्य हो उठा। एक दिन बिल्वमंगल मन-ही-मन विचार करने लगा कि 'सारी आफतें छोड़कर यहाँतक आया, यहाँ यह नयी आफत आ गयी। स्त्रीके मोहसे छूटा तो इस बालकने मोहमें घेर लिया।' यों सोच ही रहा था कि वह रसिक बालक उसके पास आ बैठा और अपनी दीवाना बना देनेवाली वाणीसे बोला, 'बाबाजी! चुपचाप क्या सोचते हो? वृन्दावन चलोगे?' वृन्दावनका

नाम सुनते ही बिल्वमंगलका हृदय हरा हो गया, परंतु अपनी असमर्थता प्रकट करता हुआ बोला—'भैया! मैं अन्धा वृन्दावन कैसे जाऊँ?' बालकने कहा—'यह लो मेरी लाठी, मैं इसे पकड़े-पकड़े तुम्हारे साथ चलता हूँ!' बिल्वमंगलका मुख खिल उठा, लाठी पकड़कर भगवान् भक्तके आगे-आगे चलने लगे। धन्य दयालुता! भक्तकी लाठी पकड़कर मार्ग दिखाते हैं। थोड़ी-सी दूर जाकर बालकने कहा, 'लो! वृन्दावन आ गया, अब मैं जाता हूँ।' बिल्वमंगलने बालकका हाथ पकड़ लिया, हाथका स्पर्श होते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी, सात्त्विक प्रकाशसे सारे द्वार प्रकाशित हो उठे, बिल्वमंगलने दिव्य दृष्टि पायी और उसने देखा कि बालकके रूपमें साक्षात् मेरे श्यामसुन्दर ही हैं। बिल्वमंगलका शरीर रोमांचित हो गया, आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अनवरत धारा बहने लगी, भगवान्का हाथ उसने और भी जोरसे पकड़ लिया और कहा—'अब पहचान लिया है, बहुत दिनोंके बाद पकड़ सका हूँ। प्रभु! अब नहीं छोड़नेका!' भगवान्ने कहा, 'छोड़ते हो कि नहीं?' बिल्वमंगलने कहा, 'नहीं, कभी नहीं, त्रिकालमें भी नहीं।'

भगवान्ने जोरसे झटका देकर हाथ छुड़ा लिया। भला, जिनके बलसे बलान्वित होकर मायाने सारे जगत्को पददलित कर रखा है, उसके बलके सामने बेचारा अन्धा क्या कर सकता था! परंतु उसने एक ऐसी रज्जुसे उनको बाँध लिया था कि जिससे छूटकर जाना उनके लिये बड़ी टेढ़ी खीर थी! हाथ छुड़ाते ही बिल्वमंगलने कहा—जाते हो? पर स्मरण रखो।

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥
हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि॥

भगवान् नहीं जा सके! जाते भी कैसे। प्रतिज्ञा कर चुके हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्ने बिल्वमंगलकी आँखोंपर अपना कोमल करकमल फिराया, उसकी आँखे खुल गयीं। नेत्रोंसे प्रत्यक्ष भगवान्को देखकर—उनकी भुवनमोहिनी अनूप रूपराशिके दर्शन पाकर बिल्वमंगल अपने आपको सँभाल नहीं सका। वह चरणोंमें गिर पड़ा और प्रेमाश्रुओंसे प्रभुके पावन चरणकमलोंको धोने लगा!

इस भावको श्रीप्रियादासजी इस प्रकार कहते हैं—

चले लै गहाइ कर छाया घन तरुतर चाहत छुड़ायो हाथ छोड़ैं कैसे? नीको है।
ज्यों ज्यों बल करैं त्यों त्यों तजत न एऊ अरे लियोई छुटाइ गह्यो गाढ़ो रूप ही को है॥
ऐसे ही करत वृन्दावन घन आइ लियो पियो चाहैं रस सब जग लाग्यो फीको है।
भई उतकण्ठा भारी आये श्रीबिहारीलाल मुरली बजाइकै सु कियो भायो जीको है॥ १७४॥

(घ) बिल्वमंगल और चिन्तामणिका सौभाग्य

भगवान्ने उठाकर उसे अपनी छातीसे लगा लिया। भक्त और भगवान्के मधुर मिलनसे समस्त जगत्में मधुरता छा गयी। देवता पुष्पवृष्टि करने लगे। सन्त—भक्तोंके दल नाचने लगे। हरिनामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश परिपूर्ण हो गया। भक्त और भगवान् दोनों धन्य हुए। वेश्या चिन्तामणि, गृहस्थ और उसकी पत्नी भी वहाँ आ गयीं, भक्तके प्रभावसे भगवान्ने उन सबको अपना दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ किया।

इस वृत्तान्तका प्रियादासजीने अपने दो कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

खुलि गये नैंन ज्यौं कमल रवि उदै भये देखि रूपराशि बाढ़ी कोटि गुनी प्यास है।
मुरली मधुर सुर राख्यो मद भरि मनो ढरि आयो कानन मैं आनन मैं भास है॥
मानिकै प्रताप चिन्तामनि मन मांझ भई 'चिन्तामनि जैति' आदि बोले रसरास है।
'करनामृत' ग्रन्थ हृदय ग्रन्थिको विदारि डारै बांधै रस ग्रन्थ पन्थ युगल प्रकास है॥ १७५॥
चिन्तामनि सुनी वनमांझ रूप देख्यौ लाल ह्वै गई निहाल आई नेह नातो जानिकै।
उठि बहु मान कियौ दियौ दूध भात दोना दै पठावैं नित हरि हितू जन मानिकै॥
लियौ कैसे जाय तुम्हें भायसों दियो जो प्रभु लैहौं नाथ हाथसौं जो देहैं सनमानिकै।
बैठे दोऊ जन कोऊ पावैं नहीं एक कन रीझे श्याम घन दीनो दूसरो हू आनिकै॥ १७६॥

बिल्वमंगल जीवनभर भक्तिका प्रचार करके भगवान्‌की महिमा बढ़ाते रहे और अन्तमें गोलोकधाम पधारे।

श्रीविष्णुपुरीजी

भगवत धर्म उतंग आन धर्म आन न देखा।
पीतर पटतर बिगत निकष ज्यों कुंदन रेखा॥
कृष्न कृपा कहि बेलि फलित सतसंग दिखायो।
कोटि ग्रंथ को अर्थ तेरह बिरचन में गायो॥
महा समुद्र भागवत तें भक्ति रतन राजी रची।
कलि जीव जँजाली कारने बिष्णुपुरी बड़ि निधि सँची॥ ४७॥

श्रीविष्णुपुरीजीने कलियुगके प्रपंची जीवोंके कल्याणके लिये बड़े भारी खजानेको (भक्तिको) इकट्ठा किया। उन्होंने वैष्णवधर्मको ही सर्वश्रेष्ठ माना। अन्य अवैदिक धर्मोंकी ओर देखा भी नहीं। जिस प्रकार कसौटीपर सोनेकी रेखाके सामने पीतलकी रेखा चमकती ही नहीं है, उसी प्रकार उन्होंने अपनी बुद्धिकी कसौटीपर वैष्णवधर्मको कसकर सच्चा-खरा पाया और अन्य धर्मोंको तुच्छ देखा। आपने संतसंगको श्रीकृष्णकी कृपारूपी लताका फल बताया। करोड़ों ग्रन्थोंका तात्पर्य (भक्ति) केवल तेरह विरचनों (अध्यायों)-में गाया। श्रीमद्भागवतरूपी महासमुद्रसे रत्नरूपी श्लोकोंको निकालकर 'भक्तिरत्नावली' की रचना की॥ ४७॥

श्रीविष्णुपुरीजीका चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीविष्णुपुरीजी परमहंसकोटिके संन्यासी थे और तिरहुतके रहनेवाले थे। ये बड़े ही प्रेमी भक्त तथा विद्वान् थे। इनकी भक्तिरत्नावलीका पन्द्रहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें कृष्णदास लौरीयके द्वारा बँगलामें अनुवाद हुआ था, जिससे यह अनुमान होता है कि विष्णुपुरी चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें विद्यमान रहे होंगे। हिन्दी विश्वकोषमें लिखा है कि विष्णुपुरीका दूसरा नाम वैकुण्ठपुरी था और ये मदनगोपालके शिष्य थे। इन्होंने भगवद्भक्तिरत्नावली, भागवतामृत, हरिभक्तिकल्पलता और वाक्यविवरण—ये चार ग्रन्थ लिखे थे।

कहा जाता है कि नवद्वीपके महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव और विष्णुपुरी एक बार काशीमें मिले थे। जब चैतन्य महाप्रभु वृन्दावनसे पुरीको जा रहे थे, उस समय दोनों ही एक-दूसरेके प्रति बड़े आकर्षित हुए। एक बार विष्णुपुरीके एक शिष्य काशीसे जगन्नाथपुरी गये और वहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभुसे मिलकर पूछा कि 'आपको

विष्णुपुरीके लिये कोई सन्देशा भेजना हो अथवा उनसे कोई प्रार्थना करनी हो तो कृपाकर बताइये।' तब श्रीचैतन्यदेवने सभी वैष्णवोंके सामने उस शिष्यके द्वारा विष्णुपुरीको यह कहला भेजा कि 'आप हमारे लिये एक सुन्दर रत्नावली भेजिये।'

श्रीचैतन्य महाप्रभु-जैसे महान् त्यागीके मुँहसे इस प्रकारके शब्द सुनकर उनके साथियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ परंतु उन्हें डरके मारे कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ। कुछ दिन बीत जानेपर विष्णुपुरीका वही शिष्य फिर जगन्नाथपुरी आया और महाप्रभुके हाथमें एक पुस्तक देकर बोला कि 'गुरुदेवने आपके आदेशानुसार यह रत्नावली आपकी सेवामें भेजी है।' यह सुनकर महाप्रभुके साथियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने महाप्रभुके आशयको न समझ सकनेपर बड़ा पश्चात्ताप किया। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने उस रत्नावलीको भगवान् श्रीनीलाचलनाथके चरणोंमें रख दिया।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

जगन्नाथ क्षेत्र मांझ बैठे महा प्रभूजू वै चहूँ ओर भक्त भूप भीर अति छाई है।
बोले विष्णुपुरी पुरीकाशी मध्य रहैं जाते जानियत मोक्ष चाह नीकी मन आई है॥
लिखी प्रभु चीठी 'आपु मणिगण माला' एक दीजिये पठाइ मोहिं लागती सुहाई है।
जानि लई बात निधि भागवत रत्नदाम दई पठै आदि मुक्ति खोदिकै बहाई है॥ १७७॥

इसी पुस्तकके सम्बन्धमें एक कथा यह है कि सन्त विष्णुपुरीके एक मित्र थे माधवदास। उन्होंने एक बार विष्णुपुरीसे एक अनोखे ढंगकी रत्नावली माँगी, जिसको धारण करनेसे सुख मिले। अपने उन्हीं मित्रके अनुरोधसे विष्णुपुरीने कुछ चुने हुए रत्नोंको संगृहीतकर उन्हें पुरुषोत्तमक्षेत्र भेज दिया, जहाँ उनके मित्र रहते थे।

भक्तिरत्नावलीमें भागवतमें नवधा भक्तिविषयक कई सुन्दर वाक्य संगृहीत किये गये हैं और उन्हें विषयके अनुसार तेरह भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रत्येक भागका नाम 'विरचन' रखा गया है। जो लोग पूरी भागवत नहीं पढ़ सकते, उनके लिये यह ग्रन्थ बड़े कामका है। अपने ग्रन्थके सम्बन्धमें वे स्वयं लिखते हैं कि 'मैं चाहे कितना भी अज्ञ एवं अल्पबुद्धि होऊँ, मेरे इस प्रयासका भक्तलोग अवश्य आदर करेंगे। मधुमक्खीमें कितनी बुद्धि है और क्या-क्या गुण हैं—इस बातको कोई नहीं पूछता; किंतु उसके द्वारा संचित मधुका सभी बड़े चावसे आस्वादन करते हैं।'

भक्तिरत्नावलीपर कई टीकाएँ मिलती हैं। इनमेंसे पहली टीका श्रीधरद्वारा संस्कृतमें लिखी गयी है, इसका नाम है कान्तिमाला। दूसरी टीका हिन्दी गद्यमें लिखी गयी है। तीसरी टीका हिन्दीके दोहे-चौपाइयोंमें लिखी गयी है। उसका नाम है—भक्तिप्रकाशिका। इसके अतिरिक्त भक्तिरत्नावलीपर दो टीकाएँ गुजरातीमें भी मिलती हैं। भक्तिप्रकाशिकाके अनुसार भक्तिरत्नावलीके विरचनोंमें निम्नलिखित विषयोंका वर्णन हुआ है। पहले विरचनमें भक्तिकी महिमाका वर्णन हुआ है, दूसरेमें महापुरुषोंके तथा उनके संगके प्रभावका वर्णन है। तीसरे विरचनमें भक्तिके कई भेद बताये गये हैं। चौथेसे लेकर बारहवें विरचनतक नवधा भक्तिका अलग-अलग वर्णन है और तेरहवें विरचनमें शरणागतिका वर्णन है।

श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायके अनुयायी सन्तगण

नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदृस उजागर।
गिरा गंग उनहारि काब्य रचना प्रेमाकर॥

आचारज हरिदास अतुल बल आनँद दायन।
तेहिं मारग बल्लभ्भ बिदित पृथु पधति परायन॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन बच क्रम हरि चरन रति।
बिष्णुस्वामि सँप्रदाइ दृढ़ ग्यानदेव गंभीर मति॥ ४८॥

श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके अनुयायी सुदृढ़ विचार एवं गम्भीर मतिवाले श्रीज्ञानदेवजी हुए। श्रीनामदेवजी और श्रीत्रिलोचनजी उनके शिष्य थे, जो सूर्य और चन्द्रके समान भक्तजगत्को प्रकाशित करनेवाले थे। श्रीज्ञानदेवजीकी वाणी गंगाजीके समान पवित्र थी। उनकी काव्यरचना (गीताकी टीका ज्ञानेश्वरी एवं अभंगादि) तो मानो भगवत्प्रेमकी खानि थी। आचार्यों तथा हरिभक्तोंका आपमें अपार बल था। आप सभीको आनन्दित करनेवाले थे। श्रीपृथुजीकी अर्चन-पद्धतिके अनुसार उपासना करनेवाले परम प्रसिद्ध श्रीवल्लभाचार्यजी इसी सम्प्रदायमें हुए। वे नवधाभक्तिको प्रधान मानकर सुदृढ़ भावसे भगवत्सेवा करते थे। उन्हें मन, वाणी और कर्मसे भगवान्के चरणोंमें प्रीति थी॥ ४८॥

श्रीविष्णुस्वामी-सम्प्रदायके इन सन्तोंका पावन चरित इस प्रकार है—

श्रीज्ञानदेवजी

श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके अनुयायी अति ही गम्भीर बुद्धिवाले श्रीज्ञानदेवजी नामक सन्त थे। इनके पिताजी श्रीविट्ठल पन्तने गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यास ले लिया और श्रीगुरुदेवसे झूठ बोल दिया कि मेरे स्त्री नहीं है, मैं गुरु करना चाहता हूँ। बादमें स्त्रीने संन्यासी होनेकी बात सुनी, तब वह आयी और उसने उनके गुरुसे सब बात कही। तब गुरुजीने जाना कि इसने मिथ्या बोलकर मुझसे संन्यास लिया है। स्त्रीने कहा कि प्रभो! आप इनका हाथ पकड़कर मेरे साथ कर दीजिये। इस प्रकार वह उन्हें घर ले आयी। इससे कुटुम्बी लोग अत्यन्त रुष्ट हुए और इन्हें उन लोगोंने जाति-पाँतिसे बाहर निकाल दिया। अब ये समाजसे अलग रहने लगे, परंतु इनके मनमें किसी प्रकारका दुःख नहीं था; क्योंकि इन्होंने गुरुकी आज्ञासे पुनः गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया था।

श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीज्ञानदेवजीके माता-पिताका परिचय देते हुए एक कवित्तमें कहते हैं—

विष्णु स्वामि सम्प्रदाई बड़ोई गम्भीर मति ज्ञानदेव नाम ताकी बात सुनि लीजियै।
पिता गृह त्यागि आइ ग्रहण संन्यास कियो दियो बोलि झूठ तिया नहीं गुरु कीजियै॥
आई सुनि बधू पांछें कह्यो जान्यो मिथ्यावाद भुजनि पकरि मेरे संग करि दीजियै।
ल्याई सो लिवाइ जाति अति ही रिसाइ दियो पंक्ति मैं ते डारि रहैं दूरि नहीं छीजियै॥ १७८॥

श्रीविट्ठलपन्तके द्वितीय पुत्र, श्रीनिवृत्तिनाथके छोटे भाई श्रीज्ञानेश्वरका जन्म सं० १३३२ वि० भाद्रकृष्णाष्टमीकी मध्यरात्रिमें हुआ था। जब ये पाँच वर्षके थे, तभी इनके माता-पिता धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये त्रिवेणीसंगममें अपने शरीरोंको छोड़कर इहलोकसे चले गये थे। श्रीज्ञानेश्वरसे छोटे सोपान उस समय चार वर्षके और सबसे छोटी बहन मुक्ताबाई तीन वर्षकी थी। इस तरह ये चारों बालक बचपनमें ही माता-पिताके बिना अनाथ हो गये थे। परंतु इनका चरित्र देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि ये चारों भाई-बहन इस प्रकार बाह्यतः अनाथोंकी-सी अवस्थामें ही नाथोंके नाथ सकललोकनाथका कार्य करनेके लिये आये हुए महान् आत्मा थे। ये मातृ-पितृविहीन बालक कच्चा अन्न भिक्षामें माँगकर लाते और उससे जीवननिर्वाह करते हुए सदा भगवद्भजन, भगवत्कथा-कीर्तन और भगवच्चर्चामें ही अपना समय व्यतीत करते थे। इनके

सामने सबसे बड़ी कठिनाई इनके उपनयन-संस्कार न होनेकी थी। उसके लिये आलन्दीके ब्राह्मण इन्हें संन्यासीके लड़के जानकर अनुकूल नहीं थे। परंतु इनके साधुजीवनका प्रभाव उनपर दिन-दिन अधिक पड़ रहा था और जब विट्ठलपन्त तथा रुक्मिणीबाईने अलौकिकरूपसे अपना देहविसर्जन कर दिया, तब तो उन ब्राह्मणोंपर इनका और भी गहरा प्रभाव पड़ा। उनके हृदयमें इन बालकोंके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गयी और उन्होंने इन्हें सलाह दी कि 'तुमलोग पैठण जाओ। वहाँके विद्वान् शास्त्रज्ञ यदि तुम्हारे उपनयनकी व्यवस्था दे देंगे तो हमलोग भी उसे मान लेंगे।' अतः ये लोग पैदल यात्रा करके भगवन्नाम-संकीर्तन करते हुए पैठण पहुँचे। वहाँ इनके लिये ब्राह्मणोंकी सभा हुई। परंतु सभामें यही निश्चय हुआ कि 'इन बालकोंकी शुद्धि और किसी तरह भी नहीं हो सकती। केवल एक उपाय है और वह यही कि—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च लौकिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

—श्रीमद्भागवत

अर्थात् 'अपने ऊपर हँसनेवाले लोगोंको और देह-दृष्टि तथा लोक-लाजको त्यागकर ये लोग कुत्ते, चाण्डाल और गौसमेत सबको भूमिपर लेटकर प्रणाम करें और इस प्रकारकी भगवान्‌की अनन्य भक्ति करें।' इस निर्णयको सुनकर चारों भाई-बहन सन्तुष्ट हो गये। निवृत्तिनाथने कहा—'ठीक है।' सोपान और मुक्ताने कहा—'यह बड़े आनन्दकी बात है।' और ज्ञानेश्वर गम्भीरतापूर्वक बोले—'आपलोग जो कहें, स्वीकार है।' वहाँसे चारों भाई-बहन लौटनेको ही थे कि कुछ दुष्टोंने उनसे छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी। ज्ञानदेवसे किसीने पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?' उत्तर मिला 'ज्ञानदेव।' पास ही एक भैंसा था, उसकी ओर संकेत करके एक भले आदमीने इनको ताना मारा कि 'यहाँ तो यही ज्ञानदेव है, दिनभर बेचारा ज्ञानका ही तो बोझा ढोया करता है। कहिये, देवता! क्या आप भी ऐसे ही ज्ञानदेव हैं?' ज्ञानदेवने कहा—'हाँ, हाँ, इसमें सन्देह ही क्या है? यह तो मेरा ही आत्मा है, इसमें-मुझमें कोई भेद नहीं।' यह सुनकर किसीने और भी छेड़ करनेके लिये भैंसेकी पीठपर सटासट दो साँटे लगा दिये और ज्ञानदेवसे पूछा कि 'ये साँटे तो तुम्हें जरूर लगे होंगे।' ज्ञानदेवने कहा—'हाँ, और अपना बदन खोलकर दिखला दिया, उसपर साँटोंके चिह्न थे!' परंतु इसपर भी उन लोगोंकी आँखें नहीं खुलीं। एक सज्जन बोले—'यह भैंसा यदि तुम्हारे-जैसा ही है तो तुम जैसी ज्ञानकी बातें कहते हो, वैसी इससे भी कहलाओ।' ज्ञानदेवने भैंसेकी पीठपर हाथ रखा। हाथ रखते ही वह भैंसा 'ॐ'का उच्चारण करके वेदमन्त्र बोलने लगा। यह चमत्कार देखकर पैठणके विद्वान् ब्राह्मण चकित—स्तम्भित हो गये। उन्होंने अब जाना कि ये साधारण मनुष्य नहीं, कोई महात्मा हैं, इससे उन पण्डितोंमें भी भक्ति प्राप्त करनेकी रुचि जाग गयी। उनका अहंकार दूर हो गया। उन्होंने आकर श्रीज्ञानदेवजीके चरण पकड़ लिये। भक्तोंका-सा सरल-स्वभाव अपनाकर उन्होंने दीनता ग्रहण की।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

भये पुत्र तीन तामें मुख्य बड़ो ज्ञानदेव जाकी कृष्णदेवजू सों हिये की सचाई है।
वेद न पढ़ावे कोऊ कहैं सब जाति गई लई करि सभा अहो कहा मन आई है॥
बिनस्यो ब्रह्मत्व कही श्रुति अधिकार नाहिं बोल्यों यों निहारि पढ़ै भैंसा लै दिखाई है।
देखि भक्ति भाव चाव भयो आनि गहैं पांव कियोई सुभाव वही गही दीनताई है॥ १७९॥

एक दिन एक ब्राह्मणके घर श्राद्धके अवसरपर ज्ञानेश्वरने ध्यान करके '**आगन्तव्यम्**' कहकर उसके पितरोंको सशरीर बुला लिया और उन्हें भोजन कराया। इस प्रकार इनकी अद्भुत सामर्थ्य देखकर पैठणके

लोग इनपर मुग्ध हो गये और इनके पास आ-आकर इनसे भगवन्नामकीर्तन और भगवत्कथा-श्रवण करने लगे। धर्मज्ञ ब्राह्मणोंने बड़ी नम्रताके साथ इन्हें शुद्धिपत्र लिखकर दे दिया। इसके पश्चात् कुछ कालतक चारों भाई-बहन पैठणमें ही रहे। वहाँ ये लोग गोदावरीमें स्नान करते, वेदान्तकी चर्चा करते, भगवन्नामसंकीर्तन करते, पुराणोंका पठन करते और पैठणवासियोंको भगवद्भक्तिका मार्ग दिखाते थे। वहाँ रहते हुए ही ज्ञानेश्वरने श्रीमच्छंकराचार्यका भाष्य, श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थ देख डाले और आगे जो ग्रन्थ लिखे, उनकी भूमिका भी वहीं तैयार कर ली। इस प्रकार कुछ कालतक पैठणवासियोंको अपना अपूर्व सत्संग-लाभ कराकर श्रीज्ञानेश्वरादि ब्राह्मणोंका दिया हुआ वह शुद्धिपत्र लेकर आलें नामक स्थानसे होते हुए नेवासें पहुँचे।

इसी नेवासेंमें ज्ञानेश्वर महाराजने गीताका ज्ञानेश्वरी-भाष्य कहा, जिसे सच्चिदानन्दजीने लिखा। नेवासेंसे कुछ कालके लिये श्रीज्ञानेश्वर आदि चारों भाई-बहन आलन्दी चले गये, वहाँके लोगोंने इस बार उनका बड़े आदर और प्रेमके साथ स्वागत किया। फिर जब ज्ञानेश्वर महाराज अपने भाई-बहिनोंके सहित नेवासें लौट आये, तब उन्होंने सद्‌गुरु श्रीनिवृत्तिनाथके सामने गीताका स्वानुभूत भाष्य कहना आरम्भ किया। उस समयतक श्रीनिवृत्तिनाथ सत्रह वर्षके, श्रीज्ञानेश्वर पन्द्रह वर्षके, सोपानदेव तेरह वर्षके और मुक्ताबाई ग्यारह वर्षकी हो चुकी थीं। ज्ञानेश्वर महाराजने अपने इस बालजीवनमें जो-जो चमत्कार दिखलाये, उनमें सबसे बढ़कर चमत्कार तो यह 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ ही है, जिसे उन्होंने केवल पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें लिखाया था। संवत् १३४७ वि० में यह 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ पूर्ण हुआ था।

इसके बाद श्रीज्ञानेश्वरने तीर्थयात्रा आरम्भ की। यात्रामें गुरु निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई भी साथ थे। कहते हैं कि इस यात्रामें विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा मेला, नरहरि सुनार आदि अन्य अनेक सन्त भी साथ हो लिये थे। सबसे पहले श्रीज्ञानेश्वर महाराज पण्ढरपुर गये, जहाँ उन्हें श्रीविट्ठलभगवान्‌के दर्शन हुए तथा परम विट्ठलभक्त श्रीनामदेवसे भेंट हुई। तत्पश्चात् श्रीनामदेवजीको भी साथ लेकर श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अनेक स्थानोंमें अपने ज्ञानोपदेशद्वारा असंख्य मनुष्योंका उद्धार करते हुए उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंका परिभ्रमण किया और तदनन्तर वे सब सन्तोंके साथ पण्ढरपुर लौट आये। पैठण आदि स्थानोंमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जो अद्भुत-अद्भुत चमत्कार दिखलाये, उनके कारण इन चारों भाई-बहनका यश सर्वत्र फैल गया और सब दिशाओंसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—सब प्रकारके भगवद्भक्त एवं योगी, यति, साधक आदि इनके दर्शनोंके लिये आने लगे।

बात उन दिनोंकी है, जब ज्ञानदेव अलन्दी ग्राममें निवास कर रहे थे। उन्हीं दिनों श्रीचाँगदेव नामके एक सिद्ध योगिराज ताप्ती नदीके किनारे आश्रम बनाकर रहा करते थे। उनकी आयु और प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी, साथ ही उनके शिष्योंकी संख्या भी हजारोंमें थी। इस बातका उन्हें अभिमान भी बहुत था। उन्होंने जब ज्ञानदेवकी महिमा सुनी तो अपने हजारों शिष्योंको लेकर वे उनसे मिलने चल दिये। उस समय वे एक सिंहपर सवार थे, उनके एक हाथमें त्रिशूल और एक हाथमें सर्पका कोड़ा था। आलन्दी गाँवके समीप पहुँचनेपर चाँगदेवके शिष्योंने श्रीज्ञानदेवके पास जाकर उनसे अपने गुरुके आगमनकी बात बतायी। यह सुनकर श्रीज्ञानदेवके बड़े भाई श्रीनिवृत्तिनाथजीने ज्ञानदेवसे कहा—चाँगदेव हमारे अतिथि हैं, अतः उनके स्वागतके लिये तुम्हें जाना चाहिये। उस समय शीत ऋतु थी, ज्ञानदेव एक मिट्टीकी दीवालपर बैठे धूप-सेवन कर रहे थे। चाँगदेवके शिष्यों और अपने बड़े भाईकी बात सुनकर उन्होंने दीवालसे कहा—'चल'। वह मिट्टीकी दीवाल चल पड़ी। जब यह आश्चर्य चाँगदेवने देखा, तो वे सिंहसे कूदकर ज्ञानदेवजीके चरणोंमें

गिर पड़े। उनका सिद्धिका अभिमान विगलित हो गया। उन्हें लगा कि सिंह तो चेतन प्राणी है, उसे वशमें करना बहुत बड़ी बात नहीं है, परंतु ज्ञानदेवकी महिमा तो अपार है, उन्होंने तो जड़ दीवारको ही चेतन बना दिया है। श्रीज्ञानदेवजीने उन्हें उठाया, उनकी कृपादृष्टि पड़ते ही चाँगदेवमें भक्तिका संचार हो गया, उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये और शरीरमें रोमांच हो आया। इसी प्रकार श्रीज्ञानदेवजीने बहुत-से लोगोंको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर भगवत्सम्मुख किया।

कुल इक्कीस वर्ष, तीन मास, पाँच दिनकी अल्पावस्थामें अर्थात् संवत् १३५३ वि० मार्गशीर्ष कृष्णा १३ को श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जीवित-समाधि ले ली। और उनके समाधि लेनेके बाद एक वर्षके भीतर ही सोपानेदव, चांगदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी एक-एक करके इस लोकसे परमधामको पधार गये। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके ये चार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—भावार्थदीपिका अर्थात् ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठके अभंग तथा चांगदेव-पासठी (पैंसठी)। इनके अतिरिक्त उन्होंने योगवासिष्ठपर एक अभंगवृत्तकी टीका भी लिखी थी, पर अभीतक वह उपलब्ध नहीं हुई।

श्रीत्रिलोचनजी

भक्तवर श्रीत्रिलोचनजी वैश्यकुलमें उत्पन्न हुए। ये बड़े ही वैष्णव भक्त थे, परंतु वे जैसी सेवा करना चाहते थे, वैसी बन नहीं पाती थी; क्योंकि उनकी पत्नीके अतिरिक्त घरमें और कोई सेवामें सहयोग देनेवाला न था। उनके मनमें एक यह बड़ी अभिलाषा थी कि कोई एक ऐसा नौकर मिल जाय जो साधुओंके मनकी बात जानकर अच्छी प्रकारसे उनकी सेवा किया करे।

अपने भक्तका मनोरथ पूरा करनेके लिये एक दिन स्वयं भगवान्‌ने ही नौकरका रूप धारण किया और श्रीत्रिलोचनजीके द्वारपर आये। श्रीत्रिलोचनजीने घरसे निकलते ही उन्हें देखा और इनसे पूछा—अजी! आप कहाँसे पधारे हैं, मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि आपके घरमें माता-पिता आदि कोई भी नहीं हैं। नौकररूपधारी भगवान्‌ने कहा—आप सच कहते हैं मेरे पिता-माता आदि कोई भी नहीं है। त्रिलोचनजीने कहा—क्या नौकरी करोगे, मुझे सन्तोंकी सेवाके लिये एक नौकर चाहिये। तब आपने कहा कि यदि मेरे स्वभावसे स्वामीका स्वभाव मिल जाय तो मैं सेवा-टहल कर सकता हूँ। श्रीत्रिलोचनजीने पूछा—आपके स्वभावसे औरोंका मेल क्यों नहीं हो पाता है? तब आपने कहा कि मैं पाँच-सात सेर अन्न नित्य खाता हूँ, इसीसे लोग नाराज हो जाते हैं और मुझे रख नहीं पाते हैं।

उस नौकरने फिर कहा—चार वर्णोंकी रीतियोंका मुझे ज्ञान है। सभी कार्योंको मैं अच्छी तरहसे मन लगाकर करता हूँ। उनमें किसीसे सहायता भी नहीं लेना चाहता हूँ। रही भक्तोंकी सेवा-टहल—उसे तो करते-करते मेरा सब जीवन ही बीता है। 'अन्तर्यामी' मेरा नाम है। मैं तो अब आपका दास हो गया। भक्त त्रिलोचनने कहा—इच्छानुसार खूब भर-पेट खाओ, किसी प्रकारका संकोच मत करो।

इसके बाद भक्त त्रिलोचनजीने अपनी स्त्रीसे कहा—तुम इस अन्तर्यामीको भोजन देते समय थोड़ी-सी भी खिन्नता मनमें मत लाना। नहीं तो यह कहीं भाग जायगा। फिर ऐसा नौकर कभी न मिलेगा। जो कुछ यह खाये, वही इसे खिलाओ। यह नित्यप्रति सन्तसेवा करेगा। श्रीत्रिलोचनजीके यहाँ अनेक साधु-सन्त नित्यप्रति आते ही रहते थे। सन्तसेवा अन्तर्यामीको हृदयसे प्रिय थी। सन्तोंकी इच्छाके अनुसार रुचिपूर्वक अन्तर्यामी उनके पैर दबाते और सब प्रकारकी सेवा करते। इस प्रकार सेवा करते-करते तेरह महीने बीत गये।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीत्रिलोचनजीकी सन्त-सेवाके प्रति इस अनन्य निष्ठाका वर्णन अपने कवित्तमें इस प्रकार करते हैं—

भये उभै शिष्य नामदेव श्रीतिलोचन जू सूर शशि नाईं कियो जग में प्रकाश है।
नामा की तो बात कहि आये सुनो दूसरे की सुनेई बनत भक्त कथा रसरास है॥
उपजे बनिक कुल सेवैं कुल अच्युत कों ऐपैं नहिं बनै एक तिया रहै पास है।
टहलू न कोई साधु मनही की जानि लेत ये ही अभिलाष सदा दासनिको दास है॥ १८० ॥
आये प्रभु टहलुवा रूपधरि द्वारपर फटी एक कामरी पन्हैंया टूटी पांय है।
निकसत पूछे अहो! कहां ते पधारे आप, बाप महतारी और देखिये न गाय है॥
बाप महतारी मेरे कोऊ नाहिं सांची कहौं, गहौं मैं टहल जो पै मिलत सुभाय हैं।
अनमिल बात कौन? दीजियै जनाय बहू, पाऊँ पांच सात सेर उठत रिसाय हैं॥ १८१ ॥
चारि हू बरन की जु रीति सब मेरे हाथ साथ हू न चाहौं करौं नीके मन लाइ कै।
भक्तनकी सेवा सो तो करत जनम गयो नयौ कछु नाहिं डारे बरस बिताइ कै॥
अंत्रजामी नाम मेरो चेरो भयो तेरो हौं तो बोल्यो भक्त भावै खावो निशंक अघाइ कै।
कामरी पन्हैयां सब नई करि दई और मीड़ि कै न्हवायो तन मैल कौं छुटाइ कै॥ १८२ ॥
बोल्यो घर दासी सों तू रहै याकी दासी होइ देखियो उदासी देत ऐसो नहीं पावनौ।
खाय सो खवावो सुखपावो नित नित कियै जियै जग माहिं जौलौं मिलि गुन गावनौ॥
आवत अनेक साधु भावत टहल हिये लिये चाव दाबैं पांव सबनि लड़ावनौ।
ऐसे ही करत मास तेरह बितीत भये गये उठि आपु नेकु बात कौ चलावनौ॥ १८३ ॥

श्रीत्रिलोचनजीकी स्त्री एक दिन पड़ोसिनके घर गयी, तब उसने पूछा कि तुम इतनी कमजोर एवं उदास क्यों हो गयी हो? भक्तजीकी स्त्रीने उत्तर दिया कि क्या कहूँ? मेरे पतिदेव कहींसे एक नौकर लिवाकर लाये हैं, वह ऐसा खोटा है कि बहुत-सा भोजन करनेपर भी उसका पेट नहीं भरता है। इसलिये मुझे अधिक आटा पीसना पड़ता है, उसीसे मेरा शरीर अति दुर्बल हो गया है। देखो, बहन! मैंने जो यह बात तुमसे कही है, उसे तुम किसी दूसरेसे मत कहना। इसे अपने मनमें ही रखना। यदि कहीं उसने सुन लिया तो सबेरे ही चला जायगा। वे तो अन्तर्यामी थे, उन्होंने सुन लिया और तुरंत उठकर चले गये।

अन्तर्यामीके चले जानेके बाद तीन दिन बीत जानेपर भी श्रीत्रिलोचनजीने अन्न-जल नहीं लिया। वे दुखी होकर स्त्रीसे कहने लगे—हाय! अब ऐसा चतुर सेवक मुझे कहाँ मिलेगा? तू तो बड़ी अभागिनी है, ऐसी बात क्यों कही? वह सन्त-सेवाका बड़ा प्रेमी था। किस उपायसे अब उसे लाऊँ? जब श्रीत्रिलोचनजी इस प्रकार अपने मनमें पछताने लगे। तब आकाशवाणी हुई कि तुम अन्न-प्रसाद पाओ और जल पियो। सन्तोंके प्रति जो तुम्हारी प्रीतिकी रीति है, वह मुझे अति प्रिय लगी; इसीसे तुम्हारा सेवक बनकर सन्तसेवा की। मैं तुम्हारे अधीन तुम्हारा दास हूँ और सदा तुम्हारे घरमें ही लीन रहता हूँ। यदि तुम कहो तो पहलेकी तरह मैं तुम्हारे यहाँ आकर रहूँ और सदा सेवा करूँ।

आकाशवाणी सुनकर श्रीत्रिलोचनजीने जब रहस्य जाना तो उन्हें और अधिक कष्ट हुआ, मैंने भगवान्‌को अपना दास करके माना। प्रभु मेरे घरमें आये, इतने दिन रहे, पर मैं ऐसा मूढ़ था कि उनको नहीं जान सका। अब वे किसी प्रकार आ जायँ तो मैं दौड़कर उनके पैरोंमें लिपट जाऊँ। इस प्रकार त्रिलोचनजी अन्तर्यामीके ध्यानमें सदा मग्न रहने लगे।

श्रीप्रियादासजीने इस वृत्तान्तका वर्णन निम्न कवित्तोंमें किया है—

एक दिन गई ही परोसिनके भक्तबधू पूछि लई बात अहो काहेको मलीन है।
बोली मुसकाय वे टहलुवा लिवाय ल्याये क्योंहू न अघाय खोट पीसि तन छीन है॥

काहू सौं न कहो यह गहौ मन मांझ एरी तेरी सौं सुनैगो जोपै जात रहे भीन है।
सुनि लई यही नेकु गये उठि हुती टेक दुखहूं अनेक जैसे जल बिन मीन है॥ १८४॥
बीते दिन तीन अन्नजल करि हीन भये ऐसो सो प्रवीन अहो फेरि कहाँ पाइये।
बड़ी तू अभागी बात काहे को कहन लागी रागी साधु सेवा मैं जु कैसे करि ल्याइये॥
भई नभबानी तुम खावो पीवो पानी यह मैं ही मति ठानी मोकौं प्रीति रीति भाइये।
मैं तौ हौं अधीन तेरे घर ही में रहौं लीन जो पै कहौ सदा सेवा करिबे को आइये॥ १८५॥
कीने हरिदास मैं तो दास हू न भयौं नेकु बड़ो उपहास मुख जग में दिखाइयै।
कहैं जन भक्त कहा भक्ति हम करी कहौ, अहो अज्ञताई रीति मन में न आइयै॥
उनकी तो बात बनि आवै सब उनही सों गुन ही कौं लेत मेरे औगुन छिपाइयै।
आये घर मांझ तऊ मूढ़ मैं न जानि सक्यों आवैं अब क्यों हूं धाय पांय लपटाइयै॥ १८६॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी

लगभग पाँच सौ साल पहलेकी बात है, संवत् १५३५ वि० में दक्षिण भारतसे एक तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मणभट्ट तीर्थयात्राके लिये उत्तर भारतका भ्रमण कर रहे थे। वैशाख मास था, वे उस समय अपनी पत्नी इल्लम्मागारुके सहित काशीमें थे। अचानक सुना गया कि काशीपर यवनोंका आक्रमण होनेवाला है; अतः वे दक्षिणकी ओर चल पड़े। रास्तेमें चम्पारण्य नामक वनमें इल्लम्माने पुत्र-रत्नको जन्म दिया। वैशाख कृष्ण एकादशी थी, माताने महानदीके निर्जन तटपर नवजात बालकको छोड़ दिया। पर माताकी ममताने करवट ली। लक्ष्मण और इल्लम्मा बालकको लेकर काशी लौट आये, हनुमानघाटपर रहने लगे। बालक अद्भुत प्रतिभा और सौन्दर्यसे सम्पन्न होनेके कारण सबका प्रियपात्र था। बाल्यावस्थामें लोगोंने उसे 'बालसरस्वती वाक्पति' कहना आरम्भ किया। विष्णुचित्, तिरुम्मल और माधव यतीन्द्रकी शिक्षासे बाल्यावस्थामें ही वल्लभ समस्त वैष्णव-शास्त्रोंमें पारंगत हो गये, उनमें भगवद्भक्तिका उदय होने लगा; तुलसीमाला, एकादशी, विष्णुव्रत और भगवदाराधनमें उनका समय बीतने लगा; तेरह सालकी ही अवस्थामें वे वेद, वेदांग, पुराण, धर्मशास्त्र आदिमें पूर्ण निष्णात हो गये।

धीरे-धीरे उनकी कीर्ति फैलने लगी, लोग उनकी भगवद्भक्तिकी सराहना करने लगे। श्रीवल्लभाचार्यके चरित्र-विकासपर विष्णुस्वामी-सम्प्रदायके भक्ति-सिद्धान्तोंका अधिक मात्रामें प्रभाव पड़ा था। उन्होंने विजयनगरकी राजसभामें शंकरके दार्शनिक सिद्धान्तों, वेदान्त और मायावादका खण्डन करके भगवान्की शुद्ध भक्तिकी मर्यादा स्थापित की। राजाने उनका कनकाभिषेक किया, वे जगद्गुरु महाप्रभु श्रीमदाचार्यकी उपाधिसे सम्मानित किये गये। कनकाभिषेकके बाद उन्होंने उत्तर भारतमें भागवतधर्मके प्रचारके लिये यात्रा की। अट्ठाईस सालकी अवस्थामें उन्होंने विधिपूर्वक विवाह कर लिया। उनकी पत्नी साध्वी महालक्ष्मीने उनके जीवनको सुखमय और भगवदीय बनानेकी प्रत्येक चेष्टा की। उनका गृहस्थ-जीवन बहुत आनन्दप्रद रहा। उस समय वे प्रयागके सन्निकट यमुनाके दूसरे तटपर अड़ैलमें रहा करते थे। वे आचार्यत्व पद ग्रहण कर चुके थे। दक्षिणापथ और उत्तरापथ दोनों एक स्वरसे उनके पाण्डित्य, भक्ति-सिद्धान्त और आचार्यत्वके सामने नत हो चुके थे। अड़ैल-निवासकालमें ही महाप्रभु वल्लभने परमानन्ददासको ब्रह्मसम्बन्ध दिया था।

आचार्यने पुष्टिमार्गकी संस्थापना की। उन्होंने श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंमें पूर्ण और अखण्ड आस्था प्रकट की। उनकी प्रेरणासे स्थान-स्थानपर श्रीमद्भागवतका पारायण होने लगा। वे स्वयं भागवतसप्ताह-श्रवणमें बड़ी अभिरुचि रखते थे। उन्होंने अपने महाभागवत होनेकी सार्थकता चरितार्थ कर दी।

सारे भागवत-धर्मावलम्बियोंके वे आश्रय हो गये। अपने समकालीन श्रीचैतन्य महाप्रभुसे भी उनकी जगदीश्वर-यात्राके समय भेंट हुई थी। दोनोंने एक-दूसरेके साक्षात्कारसे अपनी ऐतिहासिक महत्ताकी एक-दूसरेपर छाप लगा दी। उन्होंने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत और श्रीगीताको अपने पुष्टिमार्गका प्रधान साहित्य घोषित किया। प्रेमलक्षणा भक्तिपर विशेष जोर दिया। पुष्टि भगवदनुग्रह या कृपाका प्रतीक है। उन्होंने वात्सल्यरससे ओतप्रोत भक्ति-पद्धतिकी सीख दी। भगवान्के यश-लीला-गानको वे अपने पुष्टिमार्गका श्रेय मानते थे।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस पुष्टिमार्गका वर्णन अपने एक कवित्तमें इस प्रकार करते हैं—

हिये में स्वरूप सेवा करि अनुराग भरे ढरे और जीवनि की जीवनि को दीजिये।
सोई लै प्रकास घर-घर में विलास कियो अति ही हुलास फल नैननि को लीजिये॥
चातुरी अवधि नेकु आतुरी न होत किहूँ चहूँ दिसि नाना राग भोग सुख कीजिये।
बल्लभजू नाम लियो पृथु अभिराम रीति गोकुल में धाम जानि सुन मन रीझिये॥ १८७॥

यद्यपि श्रीमद्वल्लभाचार्यजी महाराज भगवान् श्रीकृष्णके बालरूपके आराधक थे, पर उनके लिये भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराममें कोई भेद नहीं था। कहते हैं कि एक बार आप श्रीगिरिश्रेष्ठ चित्रकूटपर गये और वहाँ आपने श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका पारायण किया। भगवान् श्रीरामने साक्षात् प्रकट होकर आपके द्वारा अर्पित केलेका भोग आरोगा। आप अपनी बैठकोंमें भी भागवत और गीताके साथ-साथ वाल्मीकीय रामायणका सदुपदेश दिया करते थे।

श्रीवल्लभके जीवनका अधिकांश व्रजमें बीता, वे अड़ैलसे व्रज आये। अड़ैलसे व्रज आते समय उन्होंने गऊघाटपर महाकवि सूरदासको दीक्षित किया, दो या तीन दिनों बाद उसी यात्रामें विश्रामघाटपर कृष्णदास अधिकारीको पुष्टिमार्गमें सम्मिलितकर ब्रह्म-सम्बन्ध दिया। कुम्भनदास भी उनके शिष्य हुए। गोवर्धनमें एक मन्दिर बनवाकर उसमें श्रीनाथजीकी मूर्ति प्रतिष्ठित की। उनके चौरासी शिष्योंमें प्रमुख सूर, कुम्भन, कृष्णदास और परमानन्द श्रीनाथजीकी विधिवत् सेवा और कीर्तन आदि करने लगे। उन्होंने वैष्णवोंको गुरुतत्त्व सुनाया, लीला-भेद बताया। सूरने उनकी चरण-भक्तिसे साहित्यमें भगवान्की लीलाका सागर उँड़ेल दिया, कुम्भनदासने श्रीवल्लभके प्रतापसे प्रमत्त होकर सीकरीमें लोकपति अकबरका मद-मर्दन कर दिया, परमानन्ददासने परमानन्दसागरकी सृष्टि की, श्रीकृष्णदासने कहा—***'कृष्णदास गिरिधरके द्वारे श्रीवल्लभ-पद-रज-बल गरजत।'*** चारों महाकवि उनकी भक्ति-कल्पलताके अमर फल थे।

एक बार एक सीधे-साधे सन्त दर्शन करनेके लिये गोकुलको गये। वहाँ जाकर गोष्ठमें गायोंके झुण्डका, गोपालका तथा मन्दिरोंमें बालकृष्णकी सेवा-पूजा और उत्सवोंका दर्शन करके प्रेममें मग्न हो गये। फिर उन सन्तने एक छोंकरके पेड़पर अपना ठाकुर-बटुवा लटका दिया और जाकर श्रीवल्लभाचार्यजीके दर्शन किये, जिससे उन्हें बड़ा भारी सुख हुआ। फिर आकर देखा तो ठाकुर-बटुवा नहीं था। तब वे सन्त फिर श्रीवल्लभाचार्यजीके निकट गये और बटुवा न मिलनेकी बात सुनायी। सन्तको चिन्तित एवं उदास देखकर आचार्यने कहा कि वहीं जाकर देखिये। सन्तने आकर देखा तो छोंकरके पेड़पर अनेकों बटुवे लटके हैं। उनका होश-हवास उड़ गया, फिर आचार्यके पास आकर बोले—प्रभो! वहाँ तो अनेक बटुवे हैं। इन्होंने कहा—आप अपना बटुवा पहचान लीजिये, आप तो नित्य सेवा-पूजा करते हैं, फिर भी अपने ठाकुरजीको नहीं पहचान सकते हैं।

इस घटनासे वे सन्त समझ गये कि यह सब श्रीवल्लभाचार्यजीका ही प्रभाव है, उनकी आँखें खुल

गयीं। अपने ठाकुरको पहचाननेकी अभिलाषा करने लगे। उन्होंने आचार्यसे प्रार्थना की कि मुझे वह उपाय बता दीजिये, जिससे मैं अपने सेव्य प्रभुके रूपको प्राप्त कर सकूँ। आचार्यने कहा कि हृदयसे प्रेम करो, भाव-भक्तिपूर्वक सेवा किया करो; क्योंकि यह प्रेममार्ग अतिविचित्र और सुन्दर है। आप वहीं छोंकरके वृक्षपर जाकर देखो। इस बार आकर उन्होंने देखा तो केवल अपने ही ठाकुरजी दिखायी पड़े, तब तो ये अति आनन्दित हुए। उन्होंने ठाकुरजीको हृदयसे लगा लिया। उनकी आँखोंमें आँसू भर आये। आचार्यकी कृपासे उन्होंने भक्तिके स्वरूपको जान लिया।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका वर्णन अपने कवित्तोंमें करते हुए कहते हैं—

गोकुलके देखिबे कौं गयौ एक साधु सूधो गोकुल मगन भयो रीति कछु न्यारिये।
छोंकरके वृक्षपर बटुवा झुलाय दियो कियो जाय दरशन सुख भयो भारिये॥
देखै आइ नाहीं प्रभु फेरि आप पास आयो चिंता सो मलीन देखि कही जा निहारिये।
वैसेई सरूप कई गई सुधि बोल्यो आनि लीजिये पिछानि कह्यो सेवा नित धारिये॥ १८८॥
खुलि गईं आंखैं अभिलाखैं पहिचानि कीजै दीजै जू बताइ मोहिं पाऊँ निजरूप है।
कही जावो वाही ठौर देखो प्रेम लेखौ हिये लिये भाव सेवा करौ मारग अनूप है॥
देखिकै मगन भयो लयो उर धारि हरि नैन भरि आये जान्यो भक्तिको स्वरूप है।
निसि दिन लग्यौ पग्यौ जग्यौ भाग पूरन हो पूरन चमत्कार कृपा अनुरूप है॥ १८९॥

एक बार आप श्रीराधाजीके धाम बरसानाके एक गह्वर वनमें अपने परिकरोंके साथ गये थे। वहाँ आपने देखा कि एक अजगरको सहस्रों चींटे-चींटियाँ खा रहे हैं। आपने कृपाकर उस जीवका उद्धार किया। परिकरोंके पूछनेपर आपने बताया कि पूर्वजन्ममें ये एक धनी-मानी सन्त थे और ये चींटे-चींटियाँ इनके शिष्य थे, इन्होंने अपने शिष्योंका धन तो खूब लूटा, परंतु उनका क्या अपना भी उद्धार न कर सके। इसलिये इन्हें इस घृणित योनिमें आना पड़ा।

व्रजमें श्रीनाथजीकी कीर्ति-पताका फहराकर वे अपने पूर्व निवासस्थान 'अड़ैल' में चले आये। श्रीआचार्यके दो पुत्र हुए। पहलेका नाम गोपीनाथ था और दूसरेका नाम श्रीविट्ठलनाथ था। उनका पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखमय और शान्त था।

भक्ति-प्रचारार्थ आपने सम्पूर्ण भारतवर्षकी तीन बार यात्रा की थी। इन यात्राओंके दौरान आप जहाँ-जहाँ ठहरे थे, उन्हें बैठक कहा जाता है, आपकी चौरासी बैठकें प्रसिद्ध हैं। एक बैठक आपकी ताम्रपर्णी नदीके तटपर भी है, कहते हैं कि वहाँके राजा अकाल मृत्यु-निवारणार्थ विद्वान् ब्राह्मणोंकी सलाहसे स्वर्णपुरुषका तुलादान कर रहे थे, परंतु डरके मारे कोई भी ब्राह्मण उस दानको लेनेको प्रस्तुत नहीं हो रहा था। राजाका ब्राह्मणोंके प्रति इस कारण भाव शिथिल हो रहा था। उसी समय श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज वहाँ आये और राजाकी प्रार्थनापर एवं ब्राह्मणत्वकी मर्यादा रखनेके लिये उन्होंने दान लेना स्वीकार कर लिया। जब आप उस स्वर्णपुरुषको ग्रहण करनेके लिये आगे बढ़े तो उसने एक अँगुली उठायी। यह देखकर आचार्य चरणने अपनी तीन उँगलियाँ उठायीं। इसपर उस स्वर्णपुरुषने सिर नीचा कर लिया। आचार्य चरणने उसे ग्रहणकर टुकड़े-टुकड़े कराकर सब ब्राह्मणोंमें बँटवा दिया। ब्राह्मणोंके पूछनेपर आपने बताया कि स्वर्णपुरुष एक अँगुली दिखाकर पूछता था कि क्या तुम एक बार भी दिनमें सन्ध्या करते हो, इसपर मैंने तीन उँगलियाँ दिखाकर उसे बताया कि मैं एक नहीं, तीनों सन्ध्या नियमित करता हूँ। इस प्रकार आपने सन्ध्याके महत्त्वका भी प्रतिपादन किया।

एक बारकी बात है—एक सज्जन शालग्रामशिला एवं प्रतिमा दोनोंकी एक साथ ही पूजा कर रहे थे; परंतु उनके मनमें भेदभाव था। वे शिलाको अच्छी एवं प्रतिमाको निम्नश्रेणीकी समझते थे। आचार्यने उन्हें समझाया कि 'भगवद्-विग्रहमें इस तरहकी भेदभावना नहीं रखनी चाहिये।' इसपर वे सज्जन बिगड़ खड़े हुए एवं अकड़कर प्रतिमाकी छातीपर शालग्रामको रखकर रातमें पधरा दिया। प्रातःकाल देखनेपर मालूम हुआ कि शालग्रामकी शिला चूर-चूर हो गयी है। तब तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और जाकर उन्होंने आचार्यचरणोंसे क्षमा माँगी। फिर आचार्यने भगवान्के चरणामृतसे उस चूर्णको भिगोकर गोली बनानेको कहा। ऐसा करनेपर मूर्ति फिर ज्यों-की-त्यों हो गयी।

उनका समग्र जीवन ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओंसे ओतप्रोत था; परंतु एक महान् भगवद्भक्तके जीवनमें इन चमत्कारोंका कोई ऊँचा स्थान है ही नहीं। गोकुलमें भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। सबसे ऊँची वस्तु तो उनके जीवनमें थी—भगवान्की विशुद्ध और अनन्यभक्ति।

उन्होंने तन-मन-धन सब कुछ भगवान्को समर्पित कर दिया था। एक बार भोगोंके लिये द्रव्यका अभाव देखकर उन्होंने सोनेकी कटोरी गिरवी रखवाकर भगवान्के सामने भोग उपस्थित किया। उन्होंने स्वयं प्रसाद नहीं लिया। दो दिनके बाद द्रव्य आनेपर प्रसाद लिया। वैष्णवोंके पूछनेपर उन्होंने कहा—'कटोरी ठाकुरजीको पूर्वसमर्पित थी, उनके भागका प्रसाद लेना महापातक है।' इस घटनासे उनकी कथनी-करनीके साम्यका पता चलता है। आचार्यने घोषणा कर दी थी कि 'मेरे वंशमें, या मेरा कहलाकर, जो कोई भगवद्-द्रव्यका उपयोग करेगा, उसका नाश हो जायगा।'

श्रीवल्लभाचार्य महान् भक्त होनेके साथ ही दर्शनशास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रपर बड़ा सुन्दर 'अणुभाष्य' लिखा है और श्रीभागवतके दशम स्कन्ध तथा कुछ अन्य स्कन्धोंपर सुबोधिनी टीका लिखी है। श्रीमद्भागवतको वे प्रस्थानचतुष्टयके अन्तर्गत मानते थे।

श्रीवल्लभके परमधाम पधारनेके विषयमें एक घटना प्रसिद्ध है। ये अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें अड़ैलसे लौटकर प्रयाग होते हुए काशी आ गये थे। अपने जीवनके कार्य समाप्तकर वे एक दिन हनुमानघाटपर गंगास्नान करने गये। आप मौनव्रत ले चुके थे, अतः पुत्रों और शिष्योंद्वारा उपदेशकी प्रार्थना करने पर गंगाकी रेतीपर साढ़े तीन श्लोक लिखकर उन्हें आश्वस्त किया, फिर गंगाजीमें प्रवेशकर विलीन हो गये। कहते हैं, तभी गंगाजीके प्रवाहसे एक तेजपुंज निकला और अनन्त आकाशमें विलीन हो गया। हनुमानघाटपर उनकी एक बैठक बनी हुई है। इस प्रकार वि० सं० १५८७ आषाढ़ शुक्ला ३ को ५२ वर्षकी अवस्थामें आपने भगवान्के आज्ञानुसार अलौकिक रीतिसे इहलीला संवरण करके गोलोकको प्रयाण किया।

कलियुगमें प्रेमकी प्रधानता प्रकट करनेवाले भक्त

भक्तदास इक भूप श्रवन सीता हर कीनो।
मार मार करि खड़्ग बाजि सागर मैं दीनो॥
नरसिंह को अनुकरन होइ हिरनाकुस मार्‍यो।
वहै भयो दसरत्थ राम बिछुरत तन छार्‍यो॥
कृष्न दाम बाँधे सुने तिहि छन दीयो प्रान।
संत साखि जानैं सबै प्रगट प्रेम कलिजुग प्रधान॥ ४९॥

सभी लोग जानते हैं और सन्तजन इस बातके साक्षी हैं कि कलियुगमें केवल प्रेमसे ही भगवान् प्रकट होते हैं, अतः प्रेम ही प्रधान है। भक्तोंका दास कुलशेखर नामका एक राजा था। उसने रामायणकी कथामें रावणद्वारा श्रीसीताजीका हरण सुना। सुनते ही उसे आवेश आ गया और वह तुरन्त हाथमें तलवार लेकर घोड़ेपर चढ़कर 'मारो-मारो' चिल्लाता हुआ दौड़ा और घोड़ेको समुद्रमें कुदा दिया। दूसरे एक प्रेमी भक्तने नृसिंहलीलाके अनुकरणमें नृसिंह बनकर हिरण्यकशिपु बने हुए व्यक्तिको सचमुच मार डाला। पुनः रामलीलामें उसी भक्तने दशरथ बनकर श्रीरामजीके वियोगमें अपने शरीरका त्याग कर दिया। श्रीरतिवन्तीबाईने श्रीभागवतकी कथामें सुना कि माता यशोदाने रस्सीसे श्रीकृष्णको बाँध दिया। सुनते ही अपने प्राण त्याग दिये। इन भक्तिचरित्रोंसे कलियुगमें प्रेमकी प्रधानता प्रकट एवं सिद्ध हुई॥ ४९॥

इन भगवत्प्रेमी भक्तोंका पावन चरित्र संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीकुलशेखरजी

कोल्लिनगर (केरल)-के राजा दृढ़व्रत बड़े धर्मात्मा थे, किंतु उनके कोई सन्तान न थी। उन्होंने पुत्रके लिये तप किया और भगवान् नारायणकी कृपासे द्वादशीके दिन पुनर्वसु नक्षत्रमें उनके घर एक तेजस्वी बालकने जन्म लिया। बालकका नाम कुलशेखर रखा गया। ये भगवान्‌की कौस्तुभमणिके अवतार माने जाते हैं। राजाने कुलशेखरको विद्या, ज्ञान और भक्तिके वातावरणमें संवर्धित किया। कुछ ही दिनोंमें कुलशेखर तमिल और संस्कृत भाषामें पारंगत हो गये और इन दोनों प्राचीन भाषाओंके सभी धार्मिक ग्रन्थोंका उन्होंने आलोडन कर डाला। उन्होंने वेद-वेदान्तका अध्ययन किया और चौंसठ कलाओंका ज्ञान प्राप्त किया। यही नहीं, वे राजनीति, युद्धविद्या, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा नृत्यकलामें भी प्रवीण हो गये। जब राजाने देखा कि कुलशेखर सब प्रकारसे राज्यका भार उठानेमें समर्थ हो गया है, तब कुलशेखरको राज्य देकर वे स्वयं मोक्षमार्गमें लग गये। कुलशेखरने अपने देशमें रामराज्यकी पुनः स्थापना की। प्रत्येक गृहस्थको अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शिक्षा देनेका समुचित प्रबन्ध किया। उन्होंने व्यवसायों तथा उद्योगधन्धोंको सुव्यवस्थित रूप देकर प्रजाके दारिद्र्यको दूर किया। अपने राज्यको धन, ज्ञान और सन्तोषकी दृष्टिसे एक प्रकारसे स्वर्ग ही बना दिया। यद्यपि वे हाथमें राजदण्ड धारण करते थे, पर उनके हृदयने भगवान् विष्णुके चरण-कमलोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था। उनका शरीर यद्यपि सिंहासनपर बैठता था, पर हृदय भगवान् श्रीरामका सिंहासन बन गया था। राजा होनेपर भी उनकी विषयोंमें तनिक भी प्रीति नहीं थी। वे सदा यही सोचा करते 'वह दिन कब होगा, जब ये नेत्र भगवान्‌के त्रिभुवन-सुन्दर मंगलविग्रहका दर्शन पाकर कृतार्थ होंगे? मेरा मस्तक भगवान् श्रीरंगनाथके चरणोंके सामने कब झुकेगा? मेरा हृदय भगवान् पुण्डरीकाक्षके मुखारविन्दको देखकर कब द्रवित होगा, जिनकी इन्द्रादि देवता सदा स्तुति करते रहते हैं? ये नेत्र किस कामके हैं, यदि इन्हें भगवान् श्रीरंगनाथ और उनके भक्तोंके दर्शन नहीं प्राप्त होते?'

भक्तकी सच्ची पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। एक दिन रात्रिके समय भगवान् नारायण अपने दिव्य विग्रहमें भक्त कुलशेखरके सामने प्रकट हुए। कुलशेखर उनका दर्शन प्राप्तकर शरीरकी सुध-बुध भूल गये, उसी समयसे उनका एक प्रकारसे कायापलट ही हो गया। वे सदा भगवद्भावमें लीन रहने लगे। उनका सारा समय सत्संग, कीर्तन, भजन, ध्यान और भगवान्‌के अलौकिक चरित्रोंके श्रवणमें ही व्यतीत होता। उनके इष्टदेव श्रीराम थे और वे दास्यभावसे उनकी उपासना करते थे।

एक दिन वे बड़े प्रेमके साथ श्रीरामायणकी कथा सुन रहे थे। प्रसंग यह था कि भगवान् श्रीराम सीताजीकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्तकर स्वयं अकेले खर-दूषणकी विपुल सेनासे युद्ध करनेके लिये उनके सामने जा रहे हैं। पण्डितजी कह रहे थे—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धो भविष्यति॥

अर्थात् धर्मात्मा श्रीराम अकेले चौदह हजार राक्षसोंसे युद्ध करने जा रहे हैं, इस युद्धका परिणाम क्या होगा?

कुलशेखर कथा सुननेमें इतने तन्मय हो रहे थे कि उन्हें यह बात भूल गयी कि यहाँ रामायणकी कथा हो रही है। उन्होंने समझा कि 'भगवान् वास्तवमें खर-दूषणकी सेनाके साथ अकेले युद्ध करने जा रहे हैं।' यह बात उन्हें कैसे सह्य होती, वे तुरंत कथामेंसे उठ खड़े हुए। उन्होंने उसी समय शंख बजाकर अपनी सारी सेना एकत्र कर ली और सेनानायकको आज्ञा दी कि 'चलो, हमलोग श्रीरामकी सहायताके लिये राक्षसोंसे युद्ध करने चलें।' ज्यों ही वे वहाँसे जानेके लिये तैयार हुए, उन्होंने पण्डितजीके मुँहसे सुना कि 'श्रीरामने अकेले ही खर-दूषणसहित सारी राक्षससेनाका संहार कर दिया।' तब कुलशेखरको शान्ति मिली और उन्होंने सेनाको लौट जानेका आदेश दिया।

श्रीप्रियादासजी कुलशेखरके इस भक्तिभावका अपने दो कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सन्त साखि जानै कलिकाल में प्रगट प्रेम बड़ोई असन्त जाके भक्ति में अभाव है।
हुतो एक भूप राम रूप ततपर महा राम ही की लीला गुन सुनै करि भाव है॥
विप्र सों सुनावै सीता चोरी को न गावै हियो खरो भरि आवै वह जानत सुभाव है।
पर्‍यो द्विज दुखी निज सुवन पठाइ दियो जानै न सुनायौ भरमायौ कियो घाव है॥ १९०॥
मार-मार करि कर खड्ग निकासि लियौ दियौ घोरौ सागर मैं सो आवेस आयो है।
मारौं याहि काल दुष्ट रावन बिहाल करौं पांवन को देखौं सीता भाव दृग छायो है॥
जानकी रवन दोऊ दरशन दियो आनि बोले बिन प्रान कियौ नीच फल पायो है।
सुनि सुख भयौ गयौ शोक हदै दारुन जो रूप को निहारि नयो फेरिकै जिवायो है॥ १९१॥

भक्तिका मार्ग भी बाधाओंसे शून्य नहीं है। मन्त्रियों और दरबारियोंने जब यह देखा कि महाराज राजकाजको भुलाकर रात-दिन भक्तिरसमें डूबे रहते हैं और उनके महलोंमें चौबीसों घण्टे भक्तोंका जमाव रहता है, तब उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने सोचा—'कोई ऐसा उपाय रचना चाहिये, जिससे राजाका इन भक्तोंकी ओरसे मन फिर जाय।' परंतु यह कब सम्भव था? एक दिनकी बात है, राज्यके रत्नभण्डारसे एक बहुमूल्य हीरा गुम हो गया। दरबारियोंने कहा—'हो-न-हो, यह काम उन भक्तनामधारी धूर्तोंका ही है।' राजाने कहा—'ऐसा कभी हो नहीं सकता।' मैं इस बातको प्रमाणित कर सकता हूँ कि 'वैष्णव भक्त इस प्रकारका आचरण कभी नहीं कर सकते।' उन्होंने उसी समय अपने नौकरोंसे कहकर एक बर्तनमें बन्द कराकर एक विषधर सर्प मँगवाया और कहा—'जिस किसीको हमारे वैष्णव भक्तोंके प्रति सन्देह हो, वह इस बर्तनमें हाथ डाले, यदि उसका अभियोग सत्य होगा तो साँप उसे काट नहीं सकेगा।' उन्होंने यह भी कहा—'मेरी दृष्टिमें वैष्णव भक्त बिल्कुल निरपराध हैं। किन्तु यदि वे अपराधी हैं तो सबसे पहले इस बर्तनमें मैं हाथ डालता हूँ। यदि ये लोग दोषी नहीं हैं तो साँप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।' यों कहकर उन्होंने अपना हाथ झट उस बर्तनके अन्दर डाल दिया और लोगोंने आश्चर्यके साथ देखा कि साँप अपने स्थानसे हिला भी नहीं, वह मन्त्रमुग्धकी भाँति ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। दरबारीलोग इस बातपर बड़े लज्जित हुए और अन्तमें वह हीरा भी मिल गया। इधर कुलशेखर तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े और अपनी भक्तमण्डलीके साथ भजन-कीर्तन करते हुए भिन्न-भिन्न तीर्थोंमें घूमने लगे।

वे कई वर्षोंतक श्रीरंगक्षेत्रमें रहे। उन्होंने वहाँ रहकर 'मुकुन्दमाला' नामक संस्कृतका एक बहुत सुन्दर स्तोत्र-ग्रन्थ रचा, जिसका संस्कृत जाननेवाले अब भी बड़ा आदर करते हैं। इसके बाद ये तिरुपतिमें रहने

लगे और वहाँ रहकर इन्होंने बड़े सुन्दर भक्तिरससे भरे हुए पदोंकी रचना की।

इन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि कई उत्तरके तीर्थोंकी भी यात्रा की थी और श्रीकृष्ण तथा श्रीरामकी लीलाओंपर भी कई पद रचे थे।

श्रीलीलानुकरणजी

एक बार जगन्नाथधाममें नृसिंहलीला हुई, उसमें एक प्रेमी भक्तने नृसिंहका वेश धारणकर लीलाका अनुकरण किया और आवेशमें आकर उसने हिरण्यकशिपुको सचमुच ही मार डाला। कुछ लोग कहने लगे कि इसने द्वेषवश मारकर बदला चुकाया है तो कुछ लोग कहते थे कि इसने आवेशमें आकर मारा है। अन्तमें परीक्षा करनेके लिये लोगोंने कहा कि इन्हें रामलीलामें दशरथ बनाओ, तब पता लग जायगा। रामलीलाकी तैयारी हुई। इन्हें दशरथ बनाया गया। श्रीरामजीके वन चले जानेपर उनके वियोगमें व्याकुल होकर विलाप करते-करते इन्होंने अपना शरीर त्यागकर भावको पूरा कर दिया।

श्रीरतिवन्तीजी

श्रीरतिवन्तीजी परम भगवद्भक्त थीं। इन्हें भगवान् श्रीकृष्णका बालरूप अत्यन्त प्रिय था। ये प्रतिदिन बड़ी ही श्रद्धा और प्रेमसे यशोदानन्दनकी पूजा करतीं और हर समय उनके भोगकी सामग्री जुटानेमें ही लगी रहतीं। ये चाहे कोई भी काम करतीं, परंतु मन इनका हर समय नन्द-नन्दनके ध्यानमें ही निमग्न रहता था। श्रीकृष्ण-चरित्रकी कथा कहीं भी होती तो पूजाके अतिरिक्त सारा काम छोड़कर ये दौड़ती हुई चली जातीं। कथा अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसे ध्यानपूर्वक सुनतीं तथा अन्तमें सबके चले जानेपर ही वहाँसे उठती थीं।

एक दिनकी बात है, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये वे भोग-सामग्री तैयार कर रही थीं। अतः कथा सुनने ये नहीं जा सकीं। इन्होंने उस समय अपने पुत्रको कथा सुननेके लिये भेज दिया।

उस दिन ऊखल-बन्धन-लीलाका प्रकरण था। बच्चेने लौटकर अपनी मातासे सारी कथा संक्षेपमें इस प्रकार सुना दी—'व्रजबालाओंने श्रीकृष्णकी माखनचोरीकी शिकायत नन्दरानीसे पहले ही कर दी थी। एक दिन यशोदाने स्वयं अपनी आँखोंसे कन्हैयाको माखन चुराते और उसे ग्वालबालों तथा बन्दरोंमें वितरण करते देख लिया। इसपर मैया क्रोधित हो गयी और उसने सुकुमार कन्हैयाको पकड़कर ऊखलसे बाँध दिया।'

श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखलमें बाँधनेकी बात सुनते ही श्रीरतिवन्तीजी अधीर हो गयीं। वे दुःखसे घबरा उठीं और उन्होंने तुरंत अपने प्राण छोड़ दिये। नश्वर देह छोड़ते समय उनके मुँहसे इतना ही निकला था कि 'यशोदारानी-सरीखी निष्ठुर स्त्री जगत्में नहीं होगी। उसने कुसुम-सुकुमार कन्हैयाको ऊखलसे……।'

श्रीप्रियादासजीने श्रीलीलानुकरणजी और श्रीरतिवन्तीजीके इस भगवत्प्रेमका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

नीलाचल धाम तहाँ लीला अनुकर्न भयो नरसिंह रूप धरि साँचे मारि डार्‌यो है।
कोऊ कहैं द्वेष कोउ कहत आवेस तो पै करो दशरथ कियो भाव पूरो पार्‌यो है॥
हुती एक बाई कृष्णरूप सों लगाई मति कथा में न आई सुत सुनी कह्यो धार्‌यो है।
बाँधे जसुमति सुनि औरै भई गति करि दई साँची रति तन तज्यो मन वार्‌यो है॥ १९२॥

भक्तिसे भगवान्‌को वशमें करनेवाले भक्त

हौं कहा कहौं बनाइ बात सबही जग जानै।
करतैं दौना भयो स्याम सौरभ मन मानै॥

छपन भोग तैं पहिल खीच करमा कौ भावै।
सिलपिल्ले के कहत कुँअरि पै हरि चलि आवै॥
भक्तन हित सुत बिष दियो भूपनारि प्रभु राखि पति।
परसाद अवग्या जानि के पानि तज्यो एकै नृपति॥५०॥

श्रीनाभाजी कहते हैं कि जगन्नाथपुरीके एक राजाने अपने दाहिने हाथसे प्रसादका अपमान हुआ जानकर उसे त्याग दिया अर्थात् कटवा डाला। इस बातको मैं अपनी ओरसे बनाकर क्या कहूँ? इसे तो सारा संसार जानता है कि उस भक्त राजाके कटे हुए हाथसे दौनाका वृक्ष उत्पन्न हुआ, जिसके पुष्प एवं पत्रोंकी सुगन्ध श्यामसुन्दरको अत्यन्त प्रिय लगती है। श्रीजगन्नाथजीको छप्पन राजभोगसे पहले श्रीकर्माबाईकी खिचड़ी अति ही स्वादिष्ट लगती है, अतः अबतक नित्य उसका भोग लगता है। 'हे सिलपिल्ले प्रभो!'—ऐसा कहते ही दोनों कन्याओंके पास भगवान् चले आये। दो राजरानियोंने भक्तोंके लिये अपने-अपने पुत्रोंको विष दिया। प्रभुने उन रानियोंकी लज्जा रखी, उनके पुत्रोंको जीवित किया॥५०॥

इन भगवन्निष्ठ भक्तोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भगवत्प्रसादनिष्ठ राजा

श्रीजगन्नाथपुरीके राजाकी भगवत्प्रसादमें बड़ी ही निष्ठा थी, परंतु एक दिन राजा चौपड़ खेल रहा था, इसी बीच श्रीजगन्नाथजीके पण्डाजी प्रसाद लेकर आये। राजाके दाहिने हाथमें पासा था। अतः उसने बायें हाथसे प्रसादको छूकर उसे स्वीकार किया। इस प्रकार प्रसादका अपमान जानकर पण्डाजी रुष्ट हो गये। प्रसादको राजमहलमें न पहुँचाकर उसे वापस ले गये। चौपड़ खेलकर राजा उठे और अपने महलमें गये। वहाँ उन्होंने नयी बात सुनी कि मेरे अपराधके कारण अब मेरे पास प्रसाद कभी नहीं आयेगा। राजाने अपना अपराध स्वीकारकर अन्न-जल त्याग दिया। उसने मनमें विचारा कि जिस दाहिने हाथने प्रसादका अपमान किया है, उसे मैं अभी काट डालूँगा, यह मेरी सच्ची प्रतिज्ञा है। ब्राह्मणोंकी सम्मति लेना उचित समझकर राजाने उन्हें बुलाकर पूछा कि यदि कोई भगवान्‌के प्रसादका अपमान करे तो चाहे वह कोई अपना प्रिय अंग ही क्यों न हो, उसका त्याग करना उचित है या नहीं। ब्राह्मणोंने उत्तर दिया कि राजन्! अपराधीका तो सर्वथा त्याग ही उचित है।

राजाने अपने मनमें हाथ कटाना निश्चित कर लिया, परंतु मेरे हाथको अब कौन काटे? यह सोचकर मौन और अत्यन्त खिन्न हो गया। राजाको उदास देखकर मन्त्रीने उदासीका कारण पूछा। राजाने कहा—नित्य रातके समय एक प्रेत आता है और वह मुझे दिखायी भी देता है। कमरेकी खिड़कीमें हाथ डालकर वह बड़ा शोर करता है। उसीके भयसे मैं दुखी हूँ। मन्त्रीने कहा—आज मैं आपके पलँगके पास सोऊँगा और आप अपनेको दूसरी जगह छिपाकर रखिये, जब वह प्रेत झरोखेमें हाथ डालकर शोर मचायेगा, तभी मैं उसका हाथ काट दूँगा। सुनकर राजाने कहा—बहुत अच्छा! ऐसा ही करो। रात होनेपर मन्त्रीजीके पहरा देते समय राजाने अपने पलँगसे उठकर झरोखेमें हाथ डालकर शोर मचाया। मन्त्रीने उसे प्रेतका हाथ जानकर तलवारसे काट डाला।

राजाका हाथ कटा देखकर मन्त्रीजी अति लज्जित हुए और पछताते हुए कहने लगे कि मैं बड़ा मूर्ख हूँ, मैंने यह क्या कर डाला? राजाने कहा—तुम निर्दोष हो, मैं ही प्रेत था; क्योंकि मैंने प्रभुसे बिगाड़ किया था। राजाकी ऐसी प्रसादनिष्ठा देखकर अपने पण्डोंसे श्रीजगन्नाथजीने कहा कि अभी-अभी मेरा प्रसाद ले जाकर राजाको दो और उसके कटे हुए हाथको मेरे बागमें लगा दो। भगवान्‌के आज्ञानुसार पण्डे लोग प्रसादको लेकर दौड़े, उन्हें आते देखकर राजा आगे आकर मिले। दोनों हाथोंको फैलाकर प्रसाद लेते समय राजाका कटा हुआ हाथ पूरा निकल आया। जैसा था, वैसा ही हो गया। राजाने प्रसादको मस्तक और हृदयसे लगाया। भगवत्कृपाका अनुभव

करके बड़ा भारी सुख हुआ। पण्डे लोग राजाका कटा हुआ वह हाथ ले आये। उसे बागमें लगा दिया गया। उससे दौनाके वृक्ष हो गये। उसके पत्र-पुष्प नित्य ही जगन्नाथजीके श्रीअंगपर चढ़ते हैं। उनकी सुगन्ध भगवान्‌को बहुत प्रिय लगती है।

श्रीप्रियादासजी पुरीनरेशकी इस प्रसादनिष्ठाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

प्रसादकी अवज्ञा तै तज्यो नृप कर एक करिकै विवेक सुनौं जैसे बात भई है।
खेलै भूप चौपरि कौं आयौ प्रभु भुक्त शेष दाहिने मैं पासे बाएँ छुयौ मति गई है॥
लै गये रिसायकैं फिराय महा दुखपाय उठ्यो नरदेव गृह गयो सुनी नई है।
लियो अनसन हाथ तजौं याही छन तब सांचौ मेरो पन बोलि विप्र पूछि लई है॥ १९३॥
काटै हाथ कौन मेरो ? रह्यो गहि मौन यातैं पूछत सचिव कथा विथा सो विचारियै।
आवै एक प्रेत मो दिखाई नित देत निशि डारिकैं झरोखा कर शोर करै भारियै॥
सोऊँ ढिग आइ रहौं आपुकौं छिपाइ जब डारै पानि आनि तबही सुकाटि डारियै।
कही नृप भलै चौकी देत मैं घुमायो भूप डार्‍यो उठि आइ छेद न्यारो कियो वारियै॥ १९४॥
देखिकैं लजानौ कहा कियौं मैं अजानौ नृप कही प्रेत मानौं यही हरि सों बिगारियै।
कही जगन्नाथदेव लै प्रसाद जावौं उहाँ ल्यावो हाथ बोवो बाग सोई उर धारियै॥
चले तहाँ धाइ भूप आगे मिल्यो आइ हाथ निकस्यो लगाइ हियैं भयो सुख भारियै।
ल्याये कर फूल ताके भये फूल दौना के जु नितहीं चढ़त अंग गन्ध हरि प्यारियै॥ १९५॥

श्रीकर्माबाईजी

श्रीकर्माजी नामकी एक भगवद्भक्त देवी श्रीपुरुषोत्तमपुरीमें रहती थीं। इन्हें वात्सल्यभक्ति अत्यन्त प्रिय थी। ये प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रातःकाल स्नानादि किये बिना ही खिचड़ी तैयार करतीं और भगवान्‌को अर्पित करतीं। प्रेमके वशमें रहनेवाले श्रीजगन्नाथजी भी प्रतिदिन सुघर-सलोने बालकके वेशमें आकर श्रीकर्माजीकी गोदमें बैठकर खिचड़ी खा जाते। श्रीकर्माजी सदैव चिन्तित रहा करती थीं कि बच्चेके भोजनमें कभी भी विलम्ब न हो जाय। इसी कारण वे किसी भी विधि-विधानके पचड़ेमें न पड़कर अत्यन्त प्रेमसे सबेरे ही खिचड़ी तैयार कर लेतीं।

एक दिनकी बात है, श्रीकर्माजीके पास एक साधु आये। उन्होंने अपवित्रताके साथ खिचड़ी तैयार करके भगवान्‌को अर्पण करते देखा। घबराकर उन्होंने श्रीकर्माजीको पवित्रताके लिये स्नानादिकी विधियाँ बता दीं।

भक्तिमती श्रीकर्माजीने दूसरे दिन वैसा ही किया। पर इस प्रकार खिचड़ी तैयार करते उन्हें देर हो गयी। उस समय उनका हृदय रो उठा। मेरा प्यारा श्यामसुन्दर भूखसे छटपटा रहा होगा।

श्रीकर्माजीने दुखी मनसे श्यामसुन्दरको खिचड़ी खिलायी। इसी समय मन्दिरमें अनेकानेक घृतमय पक्वान्न निवेदित करनेके लिये पुजारीने प्रभुका आवाहन किया। प्रभु जूँठे मुँह ही वहाँ चले गये।

पुजारी चकित हो गया। उसने देखा उस दिन भगवान्‌के मुखारविन्दमें खिचड़ी लगी है। पुजारी भी भक्त था। उसका हृदय क्रन्दन करने लगा। उसने अत्यन्त कातर होकर प्रभुसे असली बात जाननेकी प्रार्थना की।

उत्तर मिला, 'नित्यप्रति प्रातःकाल मैं कर्माबाईके पास खिचड़ी खाने जाता हूँ। उनकी खिचड़ी मुझे बड़ी मधुर और प्रिय लगती है। पर आज एक साधुने जाकर उन्हें स्नानादिकी विधियाँ बता दीं; इसलिये खिचड़ी बननेमें देर हो गयी, जिससे मुझे क्षुधाका कष्ट तो हुआ ही, शीघ्रतामें जूँठे मुँह आ जाना पड़ा।'

भगवान्‌के आज्ञानुसार पुजारीने उस साधुको ढूँढ़कर प्रभुकी सारी बातें सुना दीं। साधु घबराया हुआ श्रीकर्माजीके पास जाकर बोला—'आप पूर्वकी ही तरह प्रतिदिन सबेरे ही खिचड़ी बनाकर प्रभुको निवेदन

कर दिया करें। आपके लिये किसी नियमकी आवश्यकता नहीं है।'

श्रीकर्माजी उसी तरह प्रतिदिन सबेरे भगवान्‌को खिचड़ी खिलाने लगीं।

श्रीकर्माजी परमात्माके पवित्र और आनन्दमय धाममें चली गयीं, पर उनके प्रेमकी गाथा आज भी विद्यमान है। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें आज भी प्रतिदिन प्रातःकाल खिचड़ीका भोग लगाया जाता है।

श्रीप्रियादासजी श्रीकर्माबाईकी इस प्रेममयी भक्तिका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

हुती एक बाई ताको 'करमा' सुनाम जानि बिना रीति भाँति भोग खिचरी लगावहीं।
जगन्नाथ देव आपु भोजन करत नीकैं जिते लगै भोग तामैं यह अति भावहीं॥
गयो तहाँ साधु मानि बड़ो अपराध करै भरै बहु स्वांस सदाचार लै सिखावहीं।
भई यों अबार देखैं खोलि कैं किवार जोपै जूठन लगी है मुख धोये बिनु आवहीं॥ १९६॥
पूछी प्रभु भयो कहा कहिये प्रगट खोलि बोलिहू न आवै हमें देखि नयी रीति है।
करमा सुनाम एक खिचरी खवावै मोहिं मैं हूँ नित पाऊँ जाइ जानि साँची प्रीति है॥
गयौ मेरो सन्त रीति भाँतिसों सिखाइ आयो मत मो अनन्त बिनु जाने यों अनीति है।
कही वही साधुसों जु साधि आवौ वही बात जाइकै सिखाई हिय आई बड़ी भीति है॥ १९७॥

श्रीसिलपिल्लेकी भक्त—दो कन्याएँ

ठाकुर श्रीसिलपिल्लेजीकी दो भक्त थीं—इनमें एक तो राजाकी कन्या थी और दूसरी एक जमींदारकी। एक दिन इनके घरमें श्रीगुरुजी महाराज पधारे और जब वे शालग्रामभगवान्‌की सेवा करने लगे, तब उसे देखकर ये दोनों उनके समीप जाकर बैठ गयीं। सेवादर्शन और प्रसाद ग्रहणकर इनके मनमें भी सेवा करनेकी उत्कण्ठा हुई। इन्होंने ललचाकर कहा कि हम भी सुकुमार श्यामसुन्दरकी पूजा किया करेंगी, हमें आप ठाकुरजीकी मूर्ति दे दीजिये। श्रीगुरुजीने इन्हें बच्चा, परंतु सच्चा प्रेमी जानकर दोनोंको एक-एक पत्थरका टुकड़ा दे दिया। जब इन्होंने ठाकुरजीका नाम पूछा तो कह दिया कि इनका नाम 'सिलपिल्ले' है और तुम अपना मन लगाकर नित्य इनकी सेवा किया करना। गुरुदेवके आज्ञानुसार दोनों प्रेमसे पूजा करने लगीं। सेवा करते-करते उनके हृदयमें बड़ा भारी अनुराग बढ़ गया।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी अपने एक कवित्तमें इस घटनाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

सिलपिल्ले भक्ता उभै बाई सोई कथा सुनौ एक नृपसुता एक सुता जिमींदार की।
आये गुरु घर देखि सेवा ढिंग बैठी जाइ कही ललचाइ पूजा कीजै सुकुमार की॥
दियो सिलाटूक लैकै नाम कहि दियो वही कीजिये लगाइ मन मति भव पार की।
करत करत अनुराग बढ़ि गयो भारी बड़ी ये विचित्र रीति यही सोभा सार की॥ १९८॥

जमींदारकन्याकी कथा

श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्य भावसे अपने इष्टदेवके पादपद्मोंमें हृदयकी आसक्तिको ही भक्ति कहते हैं। श्रद्धाका यह भाव मूर्तिके माध्यमसे भक्त अपने आराध्यतक पहुँचाता है और उस भक्तिसूत्रसे बँधे होनेके कारण भक्तके आवाहनपर भगवान् अपने वैकुण्ठलोकको छोड़कर उसतक पहुँच जाते हैं। यहाँ एक जमींदार-कन्याके प्रेमकी इसी दिव्यताका वर्णन है—

बहुत पहलेकी बात है, एक जमींदारके दो पुत्र और एक कन्या थी। एक बार जमींदारके यहाँ उनके श्रीगुरुजी महाराज आये। जमींदारने उनका बड़ा ही स्वागत-सत्कार किया। जब गुरुजी श्रीशालग्राम-भगवान्‌की सेवा करने लगे, तो जमींदारका पूरा परिवार वहाँ आकर बैठा। बाल-सुलभतावश जमींदारकी कन्याको शालग्रामभगवान्‌की सेवा देख बड़ा आनन्द आया और उसने श्रीगुरुजी महाराजसे ठाकुरजीकी एक

मूर्तिके लिये निवेदन किया कि मुझे भी सेवा करनेके लिये दे दीजिये।

पहले तो गुरुजीने मना किया, पर बालहठ देखकर एक पत्थरका टुकड़ा दे दिया। बालिकाने पूछा कि गुरुदेव! मैं अपने भगवान्‌को क्या कहकर पुकारूँगी तो उन्होंने हँसते हुए कहा—तुम इन्हें सिलपिल्ले भगवान् कहना। श्रीगुरुजी महाराजने सामान्य ढंगसे पूजाविधि भी बतला दी। अब वह जमींदार-कन्या नित्य बड़े ही प्रेम और भक्तिभावसे अपने सिलपिल्लेभगवान्‌की सेवा-पूजा करने लगी। धीरे-धीरे उसे इस कार्यमें इतनी रुचि हो गयी कि सिलपिल्लेभगवान्‌की पूजा करनेके अतिरिक्त उसका किसी अन्य कार्यमें मन ही न लगता। भगवान्‌को भी उसकी सेवा-पूजामें बहुत आनन्द आता; क्योंकि उन्हें तो केवल हृदयका शुद्ध भाव ही चाहिये। वे उस पत्थरके टुकड़ेकी की गयी पूजाको ही अपनी पूजा स्वीकार कर लेते थे।

कालान्तरमें जब जमींदारकी मृत्यु हो गयी तो उसके दोनों पुत्र अलग-अलग रहने लगे। जमींदारकी पुत्री भी अपने एक भाईके साथ रहने लगी। उन दोनों भाइयोंमें वैर-द्वेष इतना बढ़ा कि एक दिन छोटेवाले भाईने बड़े भाईके घरपर कुछ लोगोंको लेकर आक्रमण कर दिया और उसका सारा धन लूट लिया और तो और वे लोग अपनी बहनका ठाकुर बटुवा भी उठा ले गये, जिसमें वह सिलपिल्लेभगवान्‌को रखती थी। अब तो उसने सिलपिल्लेभगवान्‌के विरहमें अन्न-जलका त्याग कर दिया। यह बात जब गाँववालोंको पता चली तो उन लोगोंने जमींदारपुत्रीको समझाया कि झगड़ा भाइयोंका है, तुम्हारे लिये तो दोनों लोग एक-जैसे ही हैं। तुम जाकर अपने भाईसे अपना ठाकुर बटुवा माँग लो। बड़े-बुजुर्गोंके इस तरह समझानेपर वह उस गाँवमें गयी, जहाँ दूसरा भाई रहता था। उसने भाईसे अपने ठाकुर बटुवाकी माँग की और कहा कि मैं अपने सिलपिल्लेभगवान्‌की सेवा-पूजाके बिना अन्न-जल नहीं ग्रहण करूँगी और अपने प्राण त्याग दूँगी। यह सुनते ही भाईने कहा—तुम घरमें जाओ, वहाँ सभी ठाकुरजी एक ही स्थानपर विराजमान हैं, तुम अपने सिलपिल्लेभगवान्‌को पहचानकर ले जाओ। भाईके पास ही एक व्यक्ति और बैठा हुआ था, उसने व्यंग्य करते हुए कहा कि यदि तुम्हारा अपने सिलपिल्लेभगवान्‌से इतना ही प्रेम है तो अन्दर जानेकी क्या जरूरत है, उन्हें ही अपने पास बुला लो। अब तो उस जमींदारकन्याके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये; उसके प्रेम और भक्तिपर यह व्यंग्य था। उस समय उसके हृदयमें वे ही भाव उत्पन्न हुए, जो ग्राहग्रसित गजेन्द्र या दुःशासनद्वारा अपमानित हो रही द्रौपदीके हृदयमें उत्पन्न हुए थे। उसने प्रार्थना* की कि प्रभु मेरे प्रेमकी लाज जा रही है, उसकी रक्षा करो। घट-घटवासी भगवान् उस अनन्य भक्तासे भला कैसे दूर रह सकते थे, उसकी पुकार हुई नहीं कि वे आकर उसके हृदयसे लग गये।

यह अघटित घटना देखकर उस व्यक्तिके साथ-साथ भाई भी आश्चर्यचकित हो गया, उसने क्षमा माँगते हुए बहनके चरणोंमें प्रणिपात किया कि हमारे धन्य भाग्य हैं कि तुझ-जैसी भक्ता हमारी बहन है। मुझसे भूल हो गयी बहन, इतने दिन तू बड़े भाईके यहाँ रही, अब मेरे यहाँ रह। जमींदारकन्याने कहा—भाई! मैं दोनोंकी बहन हूँ, तो एकके यहाँ क्यों रहूँ? तू भी बड़े भाईके ही साथ रह। अब छोटे भाईमें साहस नहीं था कि वह बहनकी बातका प्रतिकार करता। उसने बड़े भाईसे भी क्षमा माँग ली और सब लोग साथ-साथ रहने लगे। इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी भक्तिका अद्भुत प्रभाव दिखाया।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाको अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

पाछिले कवित्त मांझ दुहुँन की एक रीति अब सुनौ न्यारी न्यारी नीके मन दीजियै।
जिमींदार सुता ताके भए उभै भाई रहै आपुस में बैर गांव मार्‌यो सब छीजियै॥

* सिलपिल्ले हमें तुम देत बड़ो सुख लाड़ लड़ाइ के पूजत प्यारे। कौन-सी चूक भई हमसौं प्रभु जो तुम ह्वै रहे आजु नियारे॥
दुष्टन को विश्वास बढ़े सोइ कीजिय नाथ जू मैं यों विचारे। 'कुँवरि हठीली' विनय सुनिकै करुना करिके प्रभु आनि पधारे॥

तामैं गई सेवा इन बड़ोई कलेश कियौ जियौ नाहिं जात खान पान कैसैं कीजियै।
रहे समुझाय याहि कछु न सुहाय तब कही जाय ल्यावौ तेरे दोऊ सम धीजियै॥ १९९॥
गई वाही गाँव जहाँ दूसरो जू भाई रहै बैठ्यौ हो अथाई मांझ कही वही बात है।
लेवो जू पिछानि तहाँ बैठे एकठौर प्रभु बोलि उठ्यौ कोऊ बोलि लीजै प्रीति गात है॥
भई आँखि राती लागी फाटिबेकौं छाती सो पुकारी सुर आरत सौं मानो तन पात है।
हिये आई लागे सब दुख दूर भागे कोऊ बड़े भाग जागे घर आई न समात है॥ २००॥

राजाकी कन्याकी कथा

बहुत पहलेकी बात है, एक महात्मा एक दिन एक राजाके यहाँ पधारे। दैवयोगसे उन्हें वहाँ कई दिन रहना पड़ गया। महात्माजीके पास कुछ शालग्रामजीकी मूर्तियाँ थीं। राजाकी एक अबोध बालिका प्रतिदिन महात्माजीके समीप बैठकर उनकी पूजा देखा करती थी। एक दिन कन्याने महात्माजीसे पूछा—'बाबाजी! आप किसकी पूजा करते हैं?' महात्माजीने कन्याको अबोध समझकर हँसी-हँसीमें उससे कह दिया—'हम सिलपिल्लेभगवान्‌की पूजा करते हैं।' कन्याने पूछा कि 'बाबाजी! सिलपिल्लेभगवान्‌की पूजा करनेसे क्या लाभ है?' महात्माजीने कहा, 'सिलपिल्लेभगवान्‌की पूजा करनेसे मनचाहा फल प्राप्त हो सकता है।' कन्याने कहा—'तो बाबाजी! मुझे भी एक सिलपिल्लेभगवान् दे दीजियेगा, मैं भी आपकी भाँति उनकी पूजा किया करूँगी।' महात्माजीने उसका सच्चा अनुराग देखकर उसे एक शालग्रामजीकी मूर्ति दे दी और पूजनका विधान भी बतला दिया। महात्माजी तो विदा हो गये। कन्या परमविश्वास तथा सच्ची लगनके साथ अपने 'सिलपिल्लेभगवान्' की पूजा करने लगी। वह अबोध बालिका अपने उन इष्टदेवके अनुराग-रंगमें ऐसी रँग गयी कि उनका क्षणभरका भी वियोग उसे असह्य होने लगा। वह कुछ भी खाती-पीती, अपने उन इष्टदेवका भोग लगाये बिना नहीं खाती-पीती। वयस्क हो जानेपर जब कन्याका विवाह हुआ, तब दुर्भाग्यसे उस बेचारीको ऐसे पतिदेव मिले, जो प्रकृत्या हरिविमुख थे। कन्या अपने 'सिलपिल्लेभगवान्' को ससुराल जाते समय साथ ही ले गयी थी। एक दिन उसके पतिदेवने पूजा करते समय उससे पूछा कि 'तू किसकी पूजा करती है?' उसने कहा, 'मैं सारी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेवाले अपने 'सिलपिल्लेभगवान्' की पूजा करती हूँ।' पतिदेवने कहा—'ढकोसले कर रही है?' यह कहकर उस मूर्तिको उठा लिया और बोले कि 'इसे नदीमें डाल दूँगा।' कन्याने बहुत अनुनय-विनयके साथ कहा—'स्वामिन्! ऐसा न कीजियेगा।' किंतु स्वामी तो स्वभावतः दुष्ट ठहरे; भला, वे कब मानने लगे। वह बेचारी साथ-ही-साथ रोती चली गयी, किंतु उन प्रकृत्या हरिविमुख पतिदेवने सचमुच उस मूर्तिको नदीमें फेंक दिया। कन्या उसी समयसे अपने सिलपिल्लेभगवान्‌के विरहमें दीवानी हो गयी। उसे अपने इष्टदेवके बिना सारा संसार शून्य जँचने लगा। उसका खाना-पीना-सोना सब भूल गया। लज्जा छोड़कर वह निरन्तर रटने लगी—'मेरे सिलपिल्ले भगवन्! मुझ दासीको छोड़कर कहाँ चले गये, शीघ्र दर्शन दो; नहीं तो दासीके प्राण जा रहे हैं। आपका वियोग असह्य है।'

एक दिन वह अपने उक्त भगवान्‌के विरहमें उसी नदीमें डूबनेपर तुल गयी। लोगोंने उसे बहुत कुछ समझाया, किंतु उसने एक न सुनी। वह पागल-सी बनी नदीके किनारे पहुँच गयी। उसने बड़े ऊँचे स्वरसे पुकारा—'मेरे प्राणप्यारे सिलपिल्ले भगवन्! शीघ्र बाहर आकर दर्शन दो, नहीं तो दासीका प्राणान्त होने जा रहा है।' इस करुण पुकारके साथ ही एक अद्भुत शब्द हुआ कि 'मैं आ रहा हूँ।' फिर उस कन्याके समक्ष वही शालग्रामजीकी मूर्ति उपस्थित हो गयी। जब वह मूर्तिको उठाकर हृदयसे लगाने लगी, तब उसी मूर्तिके अन्दरसे चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हो गये, जिनके दिव्य तेजसे अन्य दर्शकोंकी आँखें झप गयीं। इतनेमें एक प्रकाशमान गरुडध्वज विमान आया, भगवान् अपनी उस सच्ची भक्ताको उसीमें बिठलाकर वैकुण्ठ

धामको लिये चले गये। उसके वे हरिविमुख पतिदेव आँखें फाड़ते हुए रह गये। उस राजकन्याके सास और ससुर आदिने भी यह चमत्कार देखातो बड़े प्रभावित हुए। स राजकन्याने अपनी भक्तिसे सबको भक्त बना दिया। वे सभी भक्त भगवान्‌की सेवामें लग गये। वे सभी कहने लगे कि हम सबोंके भाग्य जग गये, जो ऐसी बहू घर आयी।

श्रीप्रियादासजी महाराज राजकन्याकी इस प्रीतिका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सुनौ नृप सुता बात भक्ति गात गात पगी भगी सब बिषै वृत्ति सेवा अनुरागी है।
व्याही ही विमुख घर आयो लैंन वहै बर खरी अरबरी कोऊ चित चिन्ता लागी है॥
करि दई संग भरी अपने ही रंग चली अली हूँ न कोई एक वही जासौं रागी है।
आयो ढिग पति बोलि कियो चाहै रति वाकी औरै भई गति मति आवौ विथा पागी है॥ २०१॥
कौन वह विथा ताकौं कीजिये जतन वेगि बड़ो उदवेग नेकु बोलि सुख दीजिये।
बोलिबों जौ चाहौ तौपै चाहौ हरिभक्ति हिये बिन हरिभक्ति मेरो अंग नहीं छीजिये॥
आयो रोष भारी अब मन मैं विचारी वा पिटारीमें जु कछु सोई लैकै न्यारो कीजिये।
करी वही बात मूसि जल मांझ डारि दई नई भई ज्वाला जियो जात नहीं खीजिये॥ २०२॥
तज्यो जल अन्न अब चाहत प्रसन्न कियो होत क्यों प्रसन्न जाको सरबस लियौ है।
पहुँचे भवन आय दई सो जताइ बात गात अति छीन देखि कहा हठ कियौ है॥
सासु समुझावै कछु हाथ सों खवावै याकौं बोलि हू न भावै तब धरकत हियौ है।
कहैं सोई करैं अब पांय तेरे परैं हम बोली जब वेई आवैं तौ ही जात जियौ है॥ २०३॥
आये वाही ठौर भौंर आई तनु भूमि गिर्‌यो ढर्‌यो जल नैन सुर आरत पुकारी है।
भक्तिबस श्याम जैसे कामबस कामी नर धाइ लागे छातीसों जु संग सो पिटारी है॥
देखि पति सासु आदि जगत विवाद मिट्यो बाद ही जनम गयो नेकु न सँभारी है।
किये सब भक्त हरि साधु सेवा मांझ पगे जगे कोऊ भाग घर बधू यों पधारी है॥ २०४॥

अपने पुत्रको विष देनेवाली दो भक्तिमती नारियाँ

(१)

एक राजा बड़ा भक्त था। उसके यहाँ बहुत-से साधु-सन्त आते रहते थे। राजा उनकी प्रेमसे सेवा करता था। एक बार एक महान् सन्त अपने साथियोंसमेत पधारे। राजाका सत्संगके कारण उनसे बड़ा प्रेम हो गया। वे सन्त राजाके यहाँसे नित्य ही चलनेके लिये तैयार होते, परंतु राजा एक-न-एक बात (उत्सव आदि) कहकर प्रार्थना करके उन्हें रोकता और कहता कि प्रभो! आज रुक जाइये, कल चले जाइयेगा। इस प्रकार उनको एक वर्ष और कुछ मास बीत गये। एक दिन उन सन्तोंने निश्चय कर लिया कि कल हम अवश्य ही चले जायँगे। राजाके रोकनेपर किसी भी प्रकारसे नहीं रुकेंगे। यह जानकर राजाकी आशा टूट गयी, वह इस प्रकार व्याकुल हुआ कि उसका शरीर छूटने लगा। रानीने राजासे पूछकर सब जान लिया कि राजा सन्तवियोगसे जीवित न रहेगा। तब उसने सन्तोंको रोकनेके लिये पुत्रको विष दे दिया; क्योंकि सन्त तो स्वतन्त्र हैं, इन्हें कैसे रोककर रखा जाय, इसका और कोई उपाय नहीं है। प्रात:काल होनेसे पहले ही रानी रो उठी, अन्य दासियाँ भी रोने लगीं, राजपुत्रके मरनेकी बात फैल गयी। राजमहलमें कोलाहल मच गया। सन्तने सुना तो शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और जाकर बालकको देखा। उसका शरीर विषके प्रभावसे नीला पड़ गया था, जो इस बातका साक्षी था कि बालकको विष दिया गया है। महात्माजीने रानीसे पूछा कि सत्य कहो, तुमने यह क्या किया? रानीने कहा—आप निश्चय ही चले जाना चाहते थे और हमारे नेत्रोंको आपके दर्शनोंकी

अभिलाषा है। आपको रोकनेके लिये ही यह उपाय किया गया है।

राजा और रानीकी ऐसी अद्भुत भक्तिको देखकर वे महात्मा जोरसे रोने लगे। उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया, उन्हें भक्तिकी इस विलक्षण रीतिसे भारी सुख हुआ। इसके बाद महात्माजीने भगवान्‌के गुणोंका वर्णन किया और उस बालकको जीवित कर दिया। उन्हें वह स्थान अत्यन्त प्रिय लगा। अपने साथियोंको जो जाना चाहते थे, उन्हें विदा कर दिया और जो प्रेमरसमें मग्न सन्त थे, वे उनके साथ ही रह गये। इस घटनाके बाद महात्माजीने कहा कि अब यदि हमें आप मारकर भगायेंगे तो भी हम यहाँसे न जायँगे।

श्रीप्रियादासजी भक्तिमयी रानीकी इस अलौकिक संत-निष्ठाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

भक्तन के हित सुत विष दियौ उभै बाई कथा सरसाई बात खोलिकै बताइयै।
भयो एक भूप ताके भक्तहूँ अनेक आवैं आयो भक्त भूप तासौं लगन लगाइयै॥
नितहीं चलत ए पै चलन न देत राजा बितयो बरष मास कहैं भोर जाइयै।
गई आस टूटि तन छूटिबे की रीति भई लई बात पूछि रानी सबै लै जनाइयै॥ २०५॥
दियो सुत विष रानी जानी नृप जीवै नाहिं सन्त हैं स्वतन्त्र सो इन्हैंहि कैसे राखियै।
भये बिन भोर बधू शोर करि रोय उठी भोय गई रावले में सुनि साधु भाखियै॥
खोलि डारि कटिपट भवन प्रवेश कियो लियो देखि बालक कौं नील तनु साखियै।
पूछ्यो भूप तियासौं जू साँचे कहि कियो कहा? कही तुम चल्यौ चाहौ नैन अभिलाखियै॥ २०६॥
छाती खोलि रोए किहूँ बोलिहूँ न आवै मुख सुख भयो भारी भक्ति रीति कछु न्यारियै।
जानीऊँ न जाति, जाति पाँति को विचारि कहा अहो रससागर सो सदा उर धारियै॥
हरि गुण गाय साखी सन्तनि बताय दियौ बालक जिवाय लागी ठौर वह प्यारियै।
संग के पठाय दिये रहे वे जे भींजे हिये बोले आप जाऊँ जौ न मारि कै विडारियै॥ २०७॥

(२)

महाराष्ट्रके राजा महीपतिरावजी परम भक्त थे। उनकी कन्या कह्लाड़के राजा रामरायके साथ ब्याही थी, लेकिन घरके सभी लोग महा अभक्त थे। भक्तिमय वातावरणमें पलनेवाली उस राजपुत्रीका मन घबड़ाने लगा। अन्तमें जब उसे कोई उपाय नहीं सूझा तो उसने अपनी एक दासीसे कह दिया कि इस नगरमें जब कभी भगवान्‌के प्यारे भक्त आयें तो मुझे बताना।

एक दिन दैवयोगसे उस नगरमें साधुओंकी (श्रीज्ञानदेवजीकी) जमात आयी। उनके आनेका समाचार दासीने उस राजपुत्रीको दिया। अब उस भक्तासे सन्त-अदर्शन कैसे सहन होता। उसने अपने पुत्रको विष दे दिया। वह मर गया, अब वह राजकन्या तथा दूसरे घरके लोग रोने तथा विलाप करने लगे। तब उस भक्ताने व्याकुल होकर उन लोगोंसे कहा कि अब इसके जीवित होनेका एक उपाय है, यदि वह किया जाय तो पुत्र अवश्य जीवित हो सकता है। रोते-रोते सबोंने कहा—जो भी उपाय बताओगी, उसे हम करेंगे। तब उस बाईने कहा कि सन्तोंको बुला लाइये। उन लोगोंने पूछा कि सन्त कैसे होते हैं? इसपर भक्ताने कहा कि यह दासी मेरे पिताके घरमें सन्तोंको देख चुकी है, कैसे होते हैं, कहाँ मिलेंगे आदि सब बातोंको यह बतायेगी। पूछनेपर दासीने कहा कि आज इस नगरमें कुछ सन्त पधारे हैं और अमुक स्थानपर ठहरे हैं।

वह दासी राजाको साथ लेकर चली और सन्तोंसे बोलना सिखा दिया और कहा कि उनको देखते ही पृथ्वीपर गिरकर साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करते हुए उनके चरणोंको पकड़ लीजियेगा। राजाने दासीके कथनानुसार ही कार्य किया। शोकवश राजाकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी, परंतु उस समय ऐसा लगा कि मानो ये

सन्तप्रेमवश रो रहे हैं। सहज विश्वासी उन सन्तोंने भी विश्वास किया कि ये लोग प्रेमसे रुदन कर रहे हैं। राजाने प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे घर पधारकर उसे पवित्र कीजिये। राजाकी विनती स्वीकारकर सन्तजन प्रसन्नतापूर्वक उसके साथ चले। दासीने आगे ही आकर भक्तारानीको साधुओंके शुभागमनकी सूचना दे दी। वह रानी पौरीमें आकर खड़ी हो गयी। सन्तोंको देखते ही वह उनके चरणोंमें गिर पड़ी और प्रेमवश गद्‌गद हो गयी। आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे बोली—आप लोग मेरे पिता-माताको जानते ही होंगे; क्योंकि वे बड़े सन्तसेवी हैं। आपलोगोंका दर्शन पाकर आज ऐसा मनमें आता है कि अपने प्राणोंको आपके श्रीचरणोंमें न्यौछावर कर दूँ।

उस भक्तारानीकी अति विशेष प्रीति देखकर सन्तजन अति प्रसन्न हो गये और बोले कि तुमने जो प्रतिज्ञा की है, वह पूरी होगी। राजमहलमें जाकर सन्तोंने मरे हुए बालकको देखकर जान लिया कि इसे निश्चय ही विष दिया गया है। उन्होंने भगवान्‌का चरणामृत उसके मुखमें डाला। वह तुरंत जीवित हो गया। इस विलक्षण चमत्कारको देखते ही राजा एवं उसके परिवारके सभी लोग जो भक्तिसे विमुख थे, सभीने सन्तोंके चरण पकड़ लिये और प्रार्थना की कि हमलोग आपकी शरणमें हैं। तब सन्तोंने उन सभीको दीक्षा देकर शिष्य बनाया। उन लोगोंने वैष्णव बनकर सन्तोंकी ऐसे प्रेमसे सेवा करना आरम्भ कर दिया, जिसे देखकर लोग प्रेमविभोर हो जाते थे।

श्रीप्रियादासजी रानीकी संतनिष्ठाकी इस घटनाका अपने कवित्तोंमें वर्णन करते हुए कहते हैं—

सुनौ चित लाई बात दूसरी सुहाई हिये जिये जग माहिं जौ लौं सन्त संग कीजियै।
भक्त नृप एक सुता ब्याही सो अभक्त महा जाके घर माँझ जन नाम नहीं लीजियै॥
पल्यौ साधु सीथ सौं शरीर दृग रूप पले जीभ चरणामृतके स्वाद ही सों भीजियै।
रह्यों कैसे जाय अकुलाय न बसाय कछु आवैं पुर प्यारे तब विष सुत दीजियै॥ २०८॥
आये पुर सन्त आइ दासी ने जनाइ कही सही कैसे जाइ सुत विष लैकै दियो है।
गये वाके प्रान रोय उठी किलकानि सब भूमि गिरे आनि टूक भयो जात हियो है॥
बोली अकुलाय एक जीबे कौ उपाय जोपै कियो जाय पिता मेरे कैयो बार कियो है।
कहै सोई करैं दृग भरैं ल्यावो सन्तनिकौ, कैसे होत सन्त? पूछ्यो चेरी नाम लियो है॥ २०९॥
चली लै लिवाइ चेरी बोलिबौ सिखाय दियो देखिकै धरनि परि पाँय गहि लीजियै।
कीनी वही रीति दृगधारा मानौ प्रीति सन्त करी यौं प्रतीति गृह पावन कौ कीजियै॥
चले सुख पाय दासी आगे ही जनाई जाय आय ठाढ़ी पौरि पाँय गहे मति भीजियै।
कही हरे बात मेरे जानौ पिता मात मैं तो अंग में न माति आज प्राण वारि दीजियै॥ २१०॥
रीझि गये सन्त प्रीति देखिकैं अनन्त कह्यो होयगी जु वही सो प्रतिज्ञा तैं जो करी है।
बालक निहारि जानी विष निरधार दियो दियो चरनामृत कौं प्रान संज्ञा धरी है॥
देखत विमुख जाय पाँय ततकाल लिये किये तब शिष्य साधु सेवा मति हरी है।
ऐसे भूप नारि पति राखी सब साखी जन रहै अभिलाखी जोपै देखौ याही घरी है॥ २११॥

सन्तवेशका आदर करनेवाले भक्त

रंगनाथ को सदन करन बहु बुद्धि बिचारी।
कपट धर्म रचि जैन द्रब्य हित देह बिसारी॥
हंस पकरने काज बधिक बानौं धरि आए।
तिलक दाम की सकुच जानि तिन आप बँधाए॥

सुत बध हरिजन देखि कै दै कन्या आदर दियो।
आसय अगाध दुहुँ भक्त को हरितोषन अतिसय कियो॥ ५१ ॥

मामा और भानजे—इन दोनों भक्तोंके अभिप्राय अत्यन्त ही गम्भीर थे। इन्होंने अपनी लोक-वेदसे विलक्षण भक्तिके द्वारा भगवान्‌को अत्यन्त प्रसन्न किया। इन्होंने श्रीरंगनाथजीका मन्दिर बनवानेके लिये धन प्राप्त करनेके अनेक उपाय सोचे; परंतु धन प्राप्ति न हुई, तब छल करके जैनी बन गये। धनहेतु अपने शरीरका भी त्याग किया।

मानसरोवरनिवासी हंस भक्तोंको पकड़नेके लिये बहेलिये लोग वैष्णव सन्तोंका वेष बनाकर आये। वे हंस-भक्त तिलक और कण्ठीका आदर करके संकोचवश जानबूझकर स्वयं बँध गये।

वेषधारी भगवद्भक्तद्वारा अपने लड़केकी हत्या हुई जानकर भी सदाव्रती भक्तने उस वैष्णव भक्तको अपनी कन्या ब्याहकर उसका अधिक आदर किया॥ ५१ ॥

श्रीप्रियादासजीने इन मामा-भानजेके इस दिव्य भावका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

आशय अगाध दोऊ भक्त मामा भानजे कौं दियौ प्रभु तोष ताकी बात चित धारियै।
घर ते निकसि चले बन कौं विवेक रूप मूरति अनूप बिन मन्दिर निहारियै॥
दक्षिण में रंगनाथ नाम अभिराम जाकौ ताकौ लै बनावै धाम काम सब टारियै।
धन के जतन फिरे भूमि पै न पायौ कहूँ, चहुँ दिशि हेरि देख्यो भयौ सुख भारियै॥ २१२॥
मन्दिर सरावगी कौ प्रतिमा सो पारस की आरस न कियो वेद न्यूनहूँ बतायो है।
पावैं प्रभु सुख हम नर्क हूँ गये तौ कहा? धरक न आई तब कान लै फुकायो है॥
ऐसी करी सेवा जासौ हरी मति केवरा ज्यों सेवरा समाज सबै नीके कै रिझायो है।
दियो सौंपि भार तब लैबै को विचार करैं हरैं कौन राह? भेद राजनि पैं पायो है॥ २१३॥
मामा रह्यो भीतर औ ऊपर सो भानजो हो कलस भँवरकली हाथ सौं फिरायो है।
जेवरी लै फाँसि दियो मूरति सो खैंचि लई और बार वह आप नीकैं चढ़ि आयो है॥
कियो हो जो द्वार तामें फूलि तन फँसि बैठ्यो अति सुख पाय तब बोलिकै सुनायो है।
काटि लेवो सीस ईस भेष की न निन्दा करैं भरैं अँकवारि मन कीजियो सवायो है॥ २१४॥
काटि लियो सीस ईस इच्छाकौ विचार कियो जियौ नहीं जाय तऊ चाह मति पागी है।
जो पै तन त्याग करौं कैसे आस सिन्धु तरौं ढरौं वाही ओर आयो नींव खुदै लागी है॥
भयो शोक भारी हमैं ह्वै गई अबारी काहू और नैं विचारी देखैं वही बड़भागी है।
भरि अँकवार मिले मन्दिर सँवारि झिले खिले सुख पाइ नैन जानै जोई रागी है॥ २१५॥

सन्तवेशनिष्ठ हंसोंकी कथा

एक राजा था, उसे कुष्ठ हो गया था। वैद्योंने कहा कि हंसोंको मारकर बनायी हुई औषधिसे ही आपके देहका कुष्ठ अच्छा हो सकता है। राजाके आज्ञानुसार चार बधिक हंसोंको लाने मानसरोवरपर गये, परंतु हंस इन्हें देखकर ही उड़ जाते थे। बधिकोंने देखा कि कोई साधु-सन्त जब उनकी ओर जाते हैं, तब वे नहीं डरते हैं। इस रहस्यको जानकर चारों बधिक वैष्णववेश बनाकर फिर मानसरोवरपर गये। हंसोंने इन्हें वैष्णववेशमें देखकर भी यह जान लिया कि ये बधिक ही हैं। वेष बनावटी है, फिर भी वेशनिष्ठासे अपनेको बँधा लिया। बधिक हंसोंको लेकर राजाके पास आये। हंसोंकी सन्तवेशनिष्ठा देखकर भगवान्‌ने वैद्यका स्वरूप धारण किया और उसी राजाके नगरमें जाकर यह घोषणा की कि मैं कुष्ठ आदि सभी असाध्य रोगोंकी सफल चिकित्सा करता हूँ। लोग इन्हें राजाके समीप ले आये। भगवान्‌ने कहा—आप इन पक्षियोंको छोड़ दें, मैं आपके शरीरको अभी-अभी

बिलकुल नीरोग किये देता हूँ। राजाने कहा—ये तो बड़ी कठिनतासे हमें मिले हैं, कुष्ठरोग ठीक हुए बिना हम इन्हें कैसे छोड़ दें? यह सुनकर वैद्यजीने अपनी झोलीसे औषधि निकाली और पिसवाकर राजाके शरीरपर मलवायी। राजाका कुष्ठ दूर हो गया। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने हंसोंको छोड़ दिया।

इस चरित्रको देखकर बधिकोंने अपने मनमें विचारा कि जिस वैष्णववेशका पक्षियोंने ऐसा विश्वास किया और उसीके फलस्वरूप उनके प्राण भी बच गये, ऐसे वेशको हम मनुष्य होकर अब कैसे छोड़ दें! इस प्रकार वे बधिक सच्चे सन्त बन गये, उन्होंने वेशका त्याग नहीं किया, उनकी मति भगवान्‌की भक्तिमें मग्न हो गयी।

श्रीप्रियादासजी महाराज हंसोंकी इस संतवेशनिष्ठाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कोढ़ी भयो राजा कियो जतन अनेक ऐपै एकहूँ न लागै कह्यो हंसनि मँगाइयै।
बधिक बुलाय कही वेग ही उपाय करौ जहाँ तहाँ ढूँढ़ि अहो इहाँ लगि ल्याइयै॥
कैसे करि ल्यावैं वै तो रहैं मानसर माँझ ल्यावोगे छुटोगे तब जनै चारि जाइयै।
देखत ही उड़ि जात जातिको पिछानि लेत साधु सौं न डरैं जानि भेष लै बनाइयै॥ २१६॥
गये जहाँ हंस सन्त बानो सो प्रशंस देखि जानिकै बँधाये राजा पास लैकै आये हैं।
मानि मतिसार प्रभु वैद को स्वरूप धारि पूछिकैं बाजार लोग भूप ढिग ल्याये हैं॥
काहेको मँगाये पच्छी? अच्छी हम करैं देह छोड़ि दीजै इन्हें कही नीठि करि पाये हैं।
औषधी पिसाये अंग अंगनि मलाये किये नीके सुख पाये कहि उनको छुटाये हैं॥ २१७॥
लेवो भूमि गाउँ बलि जाउँ या दयालता की भाल भाग ताकै जाकौं दरसन दीजियै।
पायो हम सब अब करौ हरि साधु सेवा मानुष जनम ताकी सफलता कीजियै॥
करी लै निदेस देस भक्ति विसतार भयो हंस हित सार जानि हिये धारि लीजियै।
बधिकनि जानी जासों खगनि प्रतीति कीनी ऐसो भेष छोड़िये न राख्यौ मति भीजियै॥ २१८॥

सदाव्रती महाजनकी कथा

सदाव्रती महाजन अपने सर्वस्वके द्वारा सन्त-सेवा करते थे, इनकी सेवाके प्रभावसे अनेक साधु-सन्त इनके घरपर आते रहते थे। एक बार एक सन्त आये, इनके यहाँ अत्यन्त सुख पाकर सदा इनके घरपर ही रहने लगे। सदाव्रतीजीके पुत्रसे उनका प्रेम हो गया। नित्य उसीके साथ खेला करते। एक दिन उस सन्तकी मति भ्रष्ट हो गयी। खेलते-खेलते दोनों गाँवके बाहर गये, वहाँ सन्तने महाजन भक्तके पुत्रको आभूषणोंके लोभमें आकर मार डाला और उसके शवको गाड़कर घरको आ गया।

घरमें पिता-माता बाट देख रहे थे कि बालक कहाँ जाकर फँस गया! जब बाट देखते-देखते चार पहर बीत गये, फिर भी लड़का घर न आया, तब भक्त सदाव्रतीने गाँवमें ढिंढोरा पिटवाया कि मेरे लड़केको किसने रोक रखा है, इस बातको जो कोई शीघ्र बता देगा, उसे उस लड़केके सभी आभूषण दे दिये जायँगे। यह घोषणा सुनकर घटना देखनेवाले एक संन्यासीने आकर कहा कि तुम्हारे पुत्रको इसी सन्तने मारकर धरतीमें गाड़ दिया है। यह कहकर भक्त महाजनको वह स्थान दिखा दिया, जहाँ लड़का गड़ा था। भक्त सदाव्रतीने कहा—इस संन्यासीको पकड़ लो, इसीने हमारे लड़केको मारा है।

तब घबड़ाकर संन्यासीने कहा—मैंने देखा था, इसलिये बता दिया। मुझे छुड़ा दीजिये, मैं बिलकुल झूठ नहीं बोल रहा हूँ। तब महाजन भक्तने कहा—यदि तुम इस संकटसे बचना चाहते हो तो साधुका नाम कदापि मत लो और इस गाँवको छोड़कर कहीं दूसरी जगहपर चले जाओ। संन्यासीने यह बात मान ली। वह वहाँसे चला गया। लड़केका अन्तिम संस्कार करके सदाव्रतीजी घर आये। उन्होंने देखा कि सन्तजी

कुछ उदास हो रहे हैं। सन्त हर समय इसी सोचमें रहते कि मैंने कैसा घृणित पाप कर डाला। मैंने अपने आश्रय दाताके साथ ही विश्वासघात किया और उन्हें असीम दुःखमें निमग्न कर दिया। मेरे जीवनको धिक्कार है! मैं तो महापातकी हूँ, मेरा प्रायश्चित्त हो ही क्या सकता है? अतिशय आत्मग्लानि एवं पश्चात्तापके कारण सन्त अत्यन्त संकोच करने लगे। उनके इस परिवर्तन एवं संकोचसे महाजन अपने दुःखको भुलाकर सन्तके संकोचको दूर करनेका उपाय सोच ही रहे थे कि उनके मनका भाव जानकर उनकी स्त्री बोल उठी कि इन्हें अपनी कन्या देकर आदरसहित घरमें रखिये।

सदाव्रतीजीने अपनी स्त्रीके कथनानुसार सन्तजीको बुलाकर उनसे प्रार्थना की कि आप कृपया मेरे हृदयका दुःख मिट जाय, केवल इसलिये मेरी पुत्रीसे ब्याह कीजिये और जबतक मेरा जीवन है, आप मेरे साथ रहकर प्रेमका निर्वाह कीजिये। ऐसा कहकर सन्तके साथ बेटीका विवाह कर दिया।

भक्त सदाव्रतीजीके पुत्रकी मृत्युकी बात सुनकर अथवा भगवदादेशसे एक दिन उनके श्रीगुरुदेवजी घरपर पधारे। इन्होंने ही महाजन भक्तको सन्त-सेवाकी महिमा बतायी थी और सेवा करनेकी आज्ञा दी थी। श्रीगुरुदेवने सदाव्रतीसे कुशल पूछते हुए कहा कि बालक कहाँ है? इन्होंने उत्तर दिया—अजी! वह तो भगवान्‌को प्राप्त हो गया। यह सुनकर गुरुदेवने कहा—प्रभुने तुम्हारी परीक्षा ली है, तुम्हारा पुत्र मरा नहीं, इसीसे प्रभुने मुझे तुम्हारे पास आनेकी आज्ञा दी है। जहाँ उसके शरीरका दाह-संस्कार हुआ है, चलकर वह स्थान हमें दिखाओ। सन्तशिरोमणि गुरुदेव वहाँ गये और उन्होंने भगवान्‌का ध्यान किया। उसी क्षण बालक जीवित होकर आ गया। इस प्रकार भगवान्‌ने सन्तवेशनिष्ठाके माध्यमसे भक्तकी परीक्षा लेकर उसकी कीर्तिका विस्तार किया।

श्रीप्रियादासजी सदाव्रतीजीकी इस सन्तनिष्ठाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

महाजन सुनो सदाव्रती ताको भक्तिपन मन विचार सेवा कीजै चितलायकै।
आवत अनेक साधु निपट अगाध मति साधि लेत जैसी आवै सुबुधि मिलायकै॥
सन्त सुख मानि रहि गयो घर माँझ सदा सुत सों सनेह नित खेलै संग जायकै।
इच्छा भगवान मुख्य गौन लोभ जानि मारि डार्‌यौ धूरि गाड़ि गृह आयो पछितायकै॥ २१९॥
देखै महतारी मग बेटा कहाँ पगि रह्यौ बीते चारि जाम तऊ धाम में न आयो है।
फेरी पुर डौंड़ी ताके संग संत आप लौड़ी कह्यौ यों पुकारि सुत कौंने बिरमायो है॥
बेगि दै बताय दीजै आभरन दिये लीजै कही सो संन्यासी एही मार्‌यौ मन लायो है।
दई लै दिखाय देह बोल्यो याको गहि लेहु याही ने हमारो पुत्र हत्यौ नीके पायौ है॥ २२०॥
बोल्यौ अकुलाय मैं तो दियौ है बताय मोंको देहु जु छुटाय नहीं झूठ कछु भाखियै।
लेवो मति नाम साधु जो उपाधि मेट्यो चाहौ जावौ उठि और कहूँ मानी छोरि नाखियै॥
आयकै विचार कियौ जानी सकुचायौ सन्त बोलि उठी तिया सुता दैकैं नीके राखियै।
पर्‌यो बधू पाँय तेरी लीजियै बलाय पुत्र शोक को मिटाय और खरी अभिलाखियै॥ २२१॥
बोलि लियो सन्त सुता कीजिये जू अंगीकार दुख सो अपार काहू विमुख कौं दीजियै।
बोल्यो मुरझाय मैं तो मार्‌यौ सुत हाय मोपै जियौ हू न जाय मेरो नाम नहीं लीजियै॥
देखौ साधुताई धरी सीस पै बुराई जहाँ राई हूँ न दोष कियो मेरु सम रीझियै।
दई बेटी ब्याहि कहि मेरो उर दाह मिटै कीजियै निवाह जग माँहिं जैलौं जीजियै॥ २२२॥
आये गुरु घर सुनि दीजै कौन सर बड़े सिद्ध सुखदाई साधु सेवा लै बताई है।
कह्यो सुत कहाँ? अजू पायो, कही कैसी भाँति? कैसे कै बखानैं जग मीच लपटाई है॥

प्रभु ने परीक्षा लई सोई हमैं आज्ञा दई चलियै दिखावौ जहाँ देह कौं जराई है।
गए वाही ठौर सिरमौर हरिध्यान कियो जियो चल्यो आयो दास कीरति बढ़ाई है॥ २२३॥

भगवान्‌द्वारा भक्तोंकी वाणीको सत्य करना

दारुमई तरवार सारमय रची भुवन की।
देवा हित सित केस प्रतिग्या राखी जन की॥
कमधुज के कपि चारु चिता पर काष्ठ जु ल्याए।
जैमल के जुध माहिं अस्व चढ़ि आपुन धाए॥
भैंस चौगुनी घृत सहित श्रीधर सँग सायक धरन।
चारौ जुग चत्रभुज सदा भक्त गिरा साँची करन॥ ५२॥

चतुर्भुज भगवान् चारों युगोंमें सदा ही अपने भक्तोंकी वाणीको सत्य करते हैं। १-श्रीभुवनसिंहजी चौहानकी लकड़ीकी तलवार भगवान्‌ने लोहेकी बना दी। २-श्रीदेवाजी पण्डाके लिये भगवान्‌ने अपने सिरके बाल सफेद करके अपने भक्तकी वाणीको सत्य किया। ३-मरनेपर तुम्हें कौन जलायेगा, भाईके ऐसा कहनेपर भक्त कामध्वजजीने कहा था कि मैं जिसका चाकर हूँ, वही जलायेगा। भक्तकी इस वाणीको सत्य करनेके लिये उसके मरनेपर श्रीहनुमान्‌जी आये और लकड़ी लाकर सुन्दर चिता बनायी, दाह-संस्कार किया। ४-भक्त जयमलजीकी ओरसे युद्धमें भगवान् स्वयं घोड़ेपर चढ़कर दौड़े और उन्होंने लड़कर शत्रुको हराया। ५-ग्वाल भक्तकी भैंसें खो गयीं, इन्होंने घर आकर मातासे कह दिया कि भैंसें मैंने एक ब्राह्मणको दे दी हैं, कुछ दिन बाद वह घीके समेत भैंसें लौटा जायगा। तब भगवान्‌ने चौगुनी भैंसें लाकर भक्तकी बातको सत्य कर दिया। ६-श्रीधर भक्तकी वाणीको सत्य करनेके लिये भगवान् श्रीराम उनकी रक्षा करते हुए उनके साथ घरतक गये। इस प्रकार प्रभु सदा भक्तोंके कथनको सत्य करते हैं॥ ५२॥

इन भक्तोंके पावन चरितका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीभुवनसिंहजीकी कथा

उदयपुरके महाराणाके एक दरबारी भुवनसिंह चौहान बड़े शूरवीर, साहसी और युद्ध-कलामें निष्णात थे। इसके साथ ही श्रीनाथजीके चरणोंमें भी उनका परम अनुराग था।

एक बार महाराणा शिकारके लिये गये। महाराणाके साथ सभी प्रमुख सामन्त थे। कई पशुओंका शिकार किया गया; पर भुवनसिंहद्वारा किसी जीवने प्राणोंसे हाथ नहीं धोया। अकस्मात् महाराणाको एक सुन्दर हिरणी दिखायी दी और उन्होंने उसके पीछे अपना घोड़ा लगा दिया; उस पर्वतीय प्रदेशमें हिरणी कहीं छिप गयी। महाराणा क्लान्त थे। उन्होंने अपने विश्वसनीय शूर भुवनसिंह चौहानको संकेत किया। अपने स्वामीका संकेत पाकर अपनी शूरवीरताका गर्व रखनेवाले खोजने लगे। वे उसे ढूँढ़नेमें सफल ही नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने अपनी बिजली-सी चमकती खड्गसे एक वृक्षके पीछे छिपी हुई उस निरीह हिरणीके पलक झपकते दो टुकड़े भी कर डाले। पर उसके नेत्रोंकी करुणासे भुवनसिंह चौहानका हृदय बिंध गया। उनके नेत्रोंके सामने वह मूक पशु अपने उदरस्थ शावकसहित तड़पकर शान्त हो गया।

भुवनसिंहका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—'अरे अभिमानी योद्धा! तूने एक गर्भवती हिरणीका वधकर कौन-सी शूरवीरता दिखायी! क्या तेरी यही भगवद्भक्ति है? जीवघाती चौहान! तुझे धिक्कार है!!'

आत्मग्लानिसे दग्ध होते हुए भुवनसिंह चौहान घर लौट आये। उन्होंने आठ-आठ आँसू रोकर भगवान्‌से

अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। उसी समय उन्होंने तलवारका त्याग कर दिया और काष्ठ (दार)-की तलवार म्यानमें डाल ली।

महाराणाको भुवनसिंहके हृदयकी बातका क्या पता? वे तो उनका और भी अधिक सम्मान करने लगे। शूरवीरताके लिये उन्हें पुरस्कृत किया गया; पर भक्त तो शूरवीरताका अभिमान छोड़ चुका था। एक ईर्ष्यालु सामन्तने उनके काठकी तलवार ग्रहण करनेके भेदका पता लगाकर महाराणासे चुगली की। दरबारका एक मुकुटमणि सरदार दारकी तलवार रखे, यह असम्भव था। राजाको विश्वास नहीं हुआ; परंतु बार-बार राणाके कानोंमें जब यही बात दुहरायी गयी तो वे भ्रमित हो गये। अन्तमें उन्होंने एक युक्ति निकाली, जिससे भुवनसिंहजीकी तलवार भी देख ली जाय और वे अपमानित भी न हों।

राणाने एक दिन वन-भोजका आयोजन किया और उसमें सभी दरबारियोंको आमन्त्रित किया। नाना प्रकारके मनोरंजक कार्यक्रमोंके बीच महाराणा सहसा बोले—'अच्छा, सभी सामन्त अपनी-अपनी तलवार दिखायें। देखें, किसकी तलवारमें अधिक चमक है?' ऐसा कहकर सबसे पहले महाराणाने अपनी तलवार निकाली। उसके बाद तो बारी-बारीसे सभी अपनी-अपनी तलवारें म्यानोंसे निकालते और रख देते। भुवनसिंह चौहान बड़े धर्म-संकटमें पड़े। सभीके नेत्र उन्हींकी ओर लगे थे। उन्होंने कहना चाहा—'मेरी तलवार तो दार (काठ)-की है', पर भगवत्कृपासे उनसे कहते यह बन पड़ा कि 'मेरी तलवार तो सार (असली लौह धातु)-की है' और जैसे ही विकम्पित हाथसे उन्होंने तलवार म्यानसे निकाली तो उनके सहित सबके नेत्र आश्चर्यसे फटे-से रह गये। वह तलवार सचमुच सारकी थी और वही सबसे अधिक चमक रही थी। लगता था, जैसे बिजली कौंध गयी हो। भगवान्‌ने अपने भक्तकी लाज रखी, उसके वचनको सत्य किया। अब राणासे नहीं रहा गया। वे रोषसे आग-बबूला हो गये और भरी सभामें उन्होंने भुवनसिंहजीको सारी घटना सुनानेके बाद उस चुगलखोर सामन्तका सिर उड़ा देनेकी घोषणा की।

भुवनसिंहने इस सारे घटनाचक्रमें श्रीनाथजीकी अहैतुकी कृपाका दर्शन किया और अपराधी सामन्तके लिये प्राणदानकी याचना करते हुए आर्द्रवाणीसे कहा—'राणाजी! वास्तवमें गर्भवती हिरणीका प्राण लेनेके पश्चात् मैंने दारकी तलवार ही धारण कर ली थी। यह तो भगवत्कृपा है कि आपको यह सारकी दृष्टिगोचर हुई।' उन्होंने फिर म्यानसे तलवार निकाली तो वह इस बार दारकी ही थी। सब लोग और भी चकित हुए। राणा उनकी भगवद्भक्ति और अहिंसाभावनासे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'सरदार भुवनसिंह! अब आपको दरबारमें आनेकी आवश्यकता नहीं। मैं नहीं चाहता कि आपकी भगवदाराधनामें विघ्न पड़े। आवश्यकता होनेपर मैं ही आपके पास आऊँगा, जिससे मेरा भी इस संसार-सागरसे उद्धार हो जायगा। आप तो भगवान् त्रिलोकीनाथके ही दरबारी होनेयोग्य हैं। आजसे आपकी जागीर दो लाखके स्थानपर चार लाख रुपये वार्षिक की जाती है। आप धन्य हैं।'

विनयावनत भुवनसिंहजीने निवेदन किया—'राणाजी! मुझे जागीर नहीं चाहिये। आपसे यही प्रार्थना है कि आप भी शिकारका व्यसन छोड़कर सभी भूत-प्राणियोंके प्रति दयाका भाव अपनायें।' राणाने उनकी सम्मति स्वीकार कर ली। जिसे अनन्त ब्रह्माण्डोंके अधिपतिकी कृपा प्राप्त हो गयी हो, उसे सांसारिक सम्पत्ति—जागीरसे क्या काम! भुवनसिंहजीकी भक्ति-भावना दिनोंदिन पुष्ट होती गयी। वे शेष जीवनमें भगवदाराधन करते हुए अन्तमें दिव्य भगवद्धामको प्राप्त हुए।

श्रीप्रियादासजी भगवान्‌की इस भक्तवत्सलताका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार करते हैं—

सुनौ कलिकाल बात और है पुराण ख्यात 'भुवन चौहान' जहाँ राना की दुहाई है।
पट्टा युग लाख खात सेवा अभिलाष साधु चल्यो सो सिकार नृप संग भीर धाई है॥

मृगी पाछे परे करे टूक हुती गाभिन यौं आइ गई दया कही काहे को लगाई है।
कहैं मोको भक्त क्रिया करौं मैं अभक्तन की दारु तरवार धरों यहै मन भाई है॥ २२४॥
और एक भाई तानै देखी तरवार दारु सक्यो न सँभार जाय राना कौं जनाई है।
नृप न प्रतीति करै करै यह सौंह नाना बाना प्रभु देखि तेज बात न चलाई है॥
ऐसे ही बरस एक कहत बितीत भयो कह्यो मोहिं मारि डारौ जो पै मैं बनाई है।
करी गोठ कुण्ड जाय पायकै प्रसाद बैठे प्रथम निकासि आप सबनि दिखाई है॥ २२५॥
क्रम सौं निहारि कही भुवन विचार कहा? कह्यौ चाहैं दार मुख निकसत सार है।
काढ़िकै दिखाई मानौ बिजुरी चमचमाई आई मन माँझ बोल्यौ याकौ मारो भार है॥
भक्त कर जोरि कै बचायौ अजू मारियै क्यौं? कही बात झूठ नहीं करी करतार है।
पट्टा दूना दून पावौ आवौ मत मुजरा कौं मैं ही घर आऊँ होय मेरो निस्तार है॥ २२६॥

श्रीदेवाजी पण्डाकी कथा

उदयपुरके समीप श्रीरूपचतुर्भुज स्वामीका मन्दिर है। देवाजी पण्डा उसमें पुजारी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु भगवान्‌की पूजा-अर्चना बड़ी श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक करते थे।

एक दिनकी बात है—उदयपुर-नरेश एक पहर रात बीतनेके बाद मन्दिरमें आये। शयनकी आरती हो चुकी थी। भगवान्‌को शयन कराकर देवाजीने भगवान्‌के गलेका पुष्पहार उतारकर अपने सिरपर रख लिया था और अन्तर्गृहके पट बन्द करके वे मन्दिरसे बाहर आ रहे थे—इसी समय महाराणा वहाँ पहुँचे। दरवाजेपर अकस्मात् महाराणाको देखकर देवाजी घबराकर मन्दिरमें घुस गये और उन्हें पहनानेके लिये भगवान्‌की माला ढूँढ़ने लगे। उस दिन दूसरी माला थी नहीं, अतएव महाराणा नाराज न हों, इसलिये देवाजीने मस्तकपर धारण किया हुआ पुष्पहार उतार लिया और बाहर निकलकर महाराणाके गलेमें पहना दिया। सोचने-विचारनेके लिये तो समय ही कहाँ था। देवाजीके सिरके सारे बाल सफेद हो गये थे और बाल थे लम्बे-लम्बे। दो-एक सफेद केश मालामें लगे महाराणाके गलेमें आ गये। राणाने बालोंको देखकर व्यंग्यसे कहा—'पुजारीजी! मालूम होता है, भगवान्‌के सारे केश सफेद हो गये हैं।' देवाजीको इसका उत्तर देनेके लिये और कुछ भी नहीं सूझा, उन्होंने जल्दी-जल्दीमें डरते हुए कह दिया—'हाँ सरकार! ठाकुरजीके सारे बाल सफेद हो गये हैं।' राणाको पुजारीके इस उत्तरपर हँसी आ गयी। साथ ही पुजारीके प्रति मनमें रोष भी आया। उन्होंने गम्भीर होकर कहा—'मैं कल सबेरे स्वयं आकर देखूँगा।' यों कहकर वे लौट गये।

देवाजीने उतावलीमें राणासे कह तो दिया, पर अब उनको बड़ी चिन्ता हो गयी। प्रातःकाल राणा आयेंगे और भगवान्‌के सफेद बाल न पाकर न जाने क्या करेंगे। देवाजीकी आँखोंसे नींद उड़ गयी, खाया तो कुछ था ही नहीं। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। देवाजीने कहा—'मेरे स्वामी! मेरे मुँहसे सहसा ऐसी बात निकल गयी! तुम तो नित्य नव किशोर हो। तुम्हारे सफेद केश कैसे? पर सबेरे महाराणा आकर जब तुम्हारे काले बाल देखेंगे, तब तुम्हारे इस सेवककी क्या स्थिति होगी?'

यों कहकर देवाजी फफक-फफककर रो पड़े। इसी प्रकार भगवान्‌को पुकारते और रोते-कलपते रात बीती। प्रातः देवाजीने नहा-धोकर काँपते-काँपते अन्तर्गृहके किंवाड़ खोले, उनका हृदय भयके मारे धक्-धक् कर रहा था। किंवाड़ खोलते ही देखा—कल्याणमय कृपा-कल्पतरु श्रीविग्रहके समस्त केश शुभ्र हो गये हैं। देवाके हृदयकी विचित्र दशा है—यह स्वप्न है कि साक्षात्? करुणा-वरुणालयकी इस अतुलनीय कृपा और दीनवत्सलताको देखकर प्रेमविह्वल और आनन्दोन्मत्त देवाकी बाह्य चेतना जाती रही। वे बेसुध होकर जमीनपर गिर पड़े।

बहुत देरके बाद देवाकी समाधि टूटी। उनके दोनों नेत्रोंसे आनन्द और प्रेमके शीतल आँसुओंकी वर्षा हो रही थी। इसी समय महाराणा परीक्षाके लिये पधारे। देवाजीको विकलतासे रोते देखकर उन्होंने समझा कि 'रात्रिको मुझसे कह तो दिया, पर अब भयके मारे रो रहा है।' इतनेमें ही उनकी दृष्टि भगवान्‌के श्रीविग्रहकी ओर गयी, देखते ही राणा आश्चर्य-सागरमें डूब गये—श्यामसुन्दरके समस्त केश सफेद चाँदीसे चमक रहे हैं। महाराणाको विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने समझा—'पुजारीने अपनी बात रखनेके लिये कहींसे सफेद बाल लाकर चिपका दिये हैं।' राणाके मनमें परीक्षा करनेकी आयी और उन्होंने अपने हाथसे चट भगवान्‌के सिरका एक बाल बलपूर्वक उखाड़ लिया। राणाने देखा—बाल उखाड़ते समय श्रीविग्रहको मानो दर्द हुआ और उनकी नाकपर सिकुड़न आ गयी। इतना ही नहीं, बाल उखड़ते ही सिरसे रक्तकी बूँद निकली और वह राणाके अंगरखेपर आ पड़ी। राणा यह देखते ही मूर्छित होकर जमीनपर गिर पड़े।

पूरा एक पहर बीतनेपर महाराणाको चेत हुआ। उन्होंने देवाजीके चरण पकड़कर कहा—'प्रभो! मैं अत्यन्त मूढ़, अविश्वासी और नीचबुद्धि हूँ। मैंने बड़ा अपराध किया है। भक्त क्षमाशील होते हैं—ऐसा मैंने सुना है। आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये—मेरी रक्षा कीजिये।' यों कहते-कहते महाराणा अपने आँसुओंसे देवाजीके चरण धोने लगे। देवाजीने महाराणाको उठाकर हृदयसे लगा लिया और गद्‌गद वाणीसे कहा—'यह सब मेरे प्रभुकी महिमा है। मैं अशिक्षित गँवार केवल पेटकी गुलामीमें लगा था। भगवान्‌की पूजाका तो नाम था। पर मेरे नाथ कितने दयालु हैं, जो मेरी मिथ्या पूजापर इतने प्रसन्न हो गये और मुझ नालायककी बात रखनेके लिये उन्होंने अपने नित्यकिशोर सुकुमार विग्रहपर श्वेत केशोंकी विचित्र रचना कर ली। मैं क्या क्षमा करूँ—मैं तो स्वयं अपराधी हूँ! राजन्! मैंने तो झूठ बोलकर आपका तथा भगवान्‌का भी अपराध किया था। पर वे ऐसे दीनवत्सल हैं कि अपराधीके अपराधपर ध्यान न देकर उसकी दीनतापर ही रीझ जाते हैं।' राणा तथा देवा दोनों ही भगवान्‌की कृपालुताका स्मरण करते हुए रो पड़े!

श्रीचतुर्भुजजीने राणाको आज्ञा की—तुम्हारे लिये यही दण्ड है कि जो भी राजगद्दीपर बैठे, वह दर्शनोंके लिये मेरे मन्दिरमें न आये। इस आज्ञाके अनुसार उनकी आन मानकर जो भी राजा उदयपुरकी राजगद्दीपर बैठते हैं, वे दर्शन करने मन्दिरमें नहीं आते हैं।

श्रीप्रियादासजी भगवान्‌की इस भक्तवत्सलताका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

दरसन आयो राना रूप चतुर्भुज जू कैं रहे प्रभु पौढ़ि हार सीस लपटाये हैं।
वेगि ही उतारि कर लैकै गरे डारि दियो देखि धौरौ बार कही धौरे आये? आये हैं॥
कहत तो कही गई सही नहीं जात अब महीपति डारै मारि हरिपद ध्याये हैं।
अहो हृषीकेश करौ मेरे लिये सेतकेस लेसहूँ न भक्ति कही किये देखो छाये हैं॥ २२७॥
मानि राजा त्रास दुखरासि सिंधु बूड्यौ हुतो सुनिकै मिठास बानी मानौं फेरि जियौ है।
देखे सेत बार जानी कृपा मो अपार करी भरी आँखैं नीर सेवा लेस मैं न कियौ है॥
बड़ेई दयाल सदा भक्त प्रतिपाल करैं मैं तो हौं अभक्त ऐपै सकुचायौ हियौ है।
झूठे सनबन्धहूँ तै नाम लाजै मेरोई जू तातैं सुख साजै यह दरसाय दियौ है॥ २२८॥
आयो भोर राना सेत बार सो निहारि रह्यो कह्यौ केस काहूके लै पंडाने लगाये हैं।
ऐंचि लियो एक तामैं खैंचिकै चढ़ाई नाक रुधिरकी धार नृप अंग छिरकाये हैं॥
गिर्‍यो भूमि मुरछा ह्वै तनकी न सुधि कछू जाग्यो जाम बीते अपराध कोटि गाये हैं।
यही अब दण्ड राज बैठे सो न आवै इहाँ अब लौं हूँ आनि मानि करैं जो सिखाये हैं॥ २२९॥

श्रीकामध्वजजी

बहुत पहलेकी बात है, राजस्थानके उदयपुर राज्यमें एक सेवक-परिवार रहता था। उस परिवारमें चार भाई थे। उनमेंसे तीन भाई तो उदयपुरके शासक राणाजीके यहाँ सेवा-कार्य करते थे, परंतु चौथे भाई श्रीकामध्वजजी भगवद्भक्त थे। वे वनमें रहकर भजन करते और समयपर घर आकर भोजन-प्रसाद पाकर फिर वनमें चले जाते। यही उनका नित्यका कार्य था। उनके तीनों भाई उनको 'कामके न काजके दुश्मन अनाजके' मानकर उनसे नाराज ही रहा करते थे। एक दिन तीनों भाइयोंने कामध्वजजीसे कहा—'भाई! यदि तुम थोड़ी देरके लिये राणाजीके दरबारमें चलकर हाजिरी लगा दिया करो तो हमें तुम्हारा भी वेतन मिल जाया करे, जिससे घरका खर्च भी ठीकसे चल सके।' इसपर श्रीकामध्वजजी बोले—'मैं जिसका सेवक हूँ, उसकी सेवा करता हूँ और उसीकी हाजिरी बजाता हूँ, दूसरेसे हमे क्या काम?' भाई लोग उनका उत्तर सुनकर बहुत नाराज हुए और बोले—'जब तुम मर जाओगे तो तुम्हें जलायेगा कौन?' श्रीकामध्वजजीने उत्तर दिया—'जिसके हम सेवक हैं, वही हमें जलायेगा।' भाइयोंने समझ लिया कि इनसे कुछ कहना-सुनना बेकार है, ये कुछ करेंगे नहीं। सो उन्हें उनके हालपर छोड़कर चले गये। इधर एक दिन भजन करते-करते श्रीकामध्वजजीका शरीर छूट गया।

भक्तका कार्य तो अब पूरा हो चुका था, आगे भगवान्की बारी थी; क्योंकि भक्तके कथनकी पूर्ति तो भगवान्को ही करनी होती है। कामध्वजजीका शव वनमें पड़ा हुआ था। बन्धु-बान्धवोंको न कोई खबर थी न ही वे खोज-खबर रखनेकी जरूरत ही समझते थे, परंतु दीनबन्धु भला अपने ऐसे अनन्य सेवकको कैसे भुला सकते थे! उन्होंने अपने उस सेवक (श्रीकामध्वजजी)-की दाहक्रियाका भार अपने सेवकश्रेष्ठ श्रीहनुमान्जीको सौंपा।

धन्य हो गये श्रीकामध्वजजी! उन्हें जो सौभाग्य मिला, वह तो ऋषि, मुनि, देव, मनुज—सबके लिये दुर्लभ था। स्वयं भक्तराज श्रीहनुमान्जी महाराजने उनके लिये चन्दनकी चिता तैयार की, उसपर श्रीकामध्वजजीका शरीर रखा और उसकी दाहक्रिया की। जिस वनमें श्रीकामध्वजजी रहते थे, वहाँ बहुत-से प्रेत भी रहते थे। श्रीकामध्वजजीकी चिताग्निसे निकले परम पवित्र धुएँके स्पर्श और आघ्राणसे वे लोग उस अपवित्र प्रेतयोनिसे मुक्त हो गये। दैवयोगसे उस प्रेतमण्डलीका एक सदस्य उस समय कहीं चला गया था, वापस लौटनेपर जब उसने अपने संगी-साथियोंको गायब देखा तो रोने लगा। वहीं एक सिद्ध सन्त रहते थे, उसने उनसे पूछा तो सारा वृत्तान्त मालूम हुआ। अब तो वह लगा पछताने कि हाय! मैं ही एक अभागा था, जो समयपर यहाँ नहीं था, अन्यथा मुझे भी इस कुत्सित पापयोनिसे मुक्ति मिल जाती। उसने उन सिद्ध सन्तसे प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे ऊपर कृपा करें, अभी इस पुण्यात्मा महापुरुषकी चितामें अग्नि अवशिष्ट है, आप थोड़ा तृण-काष्ठ आदि इसमें डाल दें तो इसमेंसे धुआँ निकलने लगेगा और उसके स्पर्श एवं आघ्राणसे मेरी भी मुक्ति सम्भव हो जायगी। सन्तने उसके दुःख और उसकी सच्ची भावनासे द्रवित हो उस चिताग्निमें तृण-काष्ठादि डाल दिये, जिससे उसमेंसे पुनः धूम उठने लगा और उसके स्पर्श एवं आघ्राणसे वह बचा हुआ प्रेत भी मुक्त होकर भगवद्धामको चला गया।

श्रीप्रियादासजी महाराज श्रीकामध्वजजीके इस चरितका वर्णन अपने कवित्तमें इस प्रकार करते हैं—

भये चारि भाई करैं चाकरी वै रानाजूकी तामैं एक भक्त करै बनमें बसेरो है।
आय कै प्रसाद पावै फेरि उठि जाय तहीं कहैं नेकु चलौ तौ महीना लीजै तेरो है॥
जाके हम चाकर हैं रहत हजूर सदा मरै तौ जरावै कौन? वही जाको चेरो है।
छूट्यो तन वन राम आज्ञा हनुमान आये कियो दाह धुआँ लगे प्रेत पार नेरो है॥ २३०॥

श्रीजयमलजी

भगवान् श्रीहरि अपने अनन्य भक्तोंका न केवल योग-क्षेम वहन करते हैं, अपितु अपने भक्तोंके मुखसे निकली वाणीको भी सत्य करते हैं; पुराणोंमें तो इसके अनेक प्रमाण प्राप्त होते ही हैं, ईसाकी सोलहवीं शताब्दीमें हुए राजा जयमलका जीवन-चरित भी इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

राजा जयमल राजस्थानकी मेड़ता रियासतके राजा थे, इनके परदादा राव जोधाजीने प्रसिद्ध जोधपुर नगर बसाया था। आप रसिकशिरोमणि सन्त श्रीहितहरिवंशजीके शिष्य और श्रीराधा-माधवजीके अनन्य भक्त थे। श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजामें उनका बड़ा भारी अनुराग था, उसमें उन्हें जरा भी व्यवधान स्वीकार नहीं था। यहाँतक कि उस समय कोई कितनी भी महत्त्वपूर्ण राजकीय सूचना क्यों न हो, वे उसे नहीं सुनते थे और सन्देश लेकर आनेवालेको मृत्युदण्ड दे दिया करते थे। उनकी पूजा-सेवाका समय भी थोड़ा नहीं था, मन्दिरमें नित्य पूरे दस घड़ीतक वे भगवान्‌की सेवा किया करते थे।

राजाका एक भाई था, परंतु वह राजासे ठीक विपरीत स्वभावका था। उसे भगवान्‌की सेवा-पूजासे कोई मतलब नहीं था, साथ ही वह राजा जयमलसे द्वेष भी करता था। यद्यपि वह मँडोवर-जैसे समृद्ध राज्यका राजा था, पर उसकी महत्त्वाकांक्षा राजा जयमलके भी राज्यको हस्तगत कर लेनेकी थी। उसे किसी प्रकार राजाके सेवा-पूजाके नियमकी जानकारी हुई तो उसने एक कुटिल योजना बनायी। उस दुष्टने सोचा कि जब राजा जयमल पूजा कर रहे हों, तभी मेड़तापर आक्रमण कर देना चाहिये; क्योंकि मृत्युदण्डके भयसे उन्हें कोई आक्रमणकी सूचना देने नहीं जायगा और आसानीसे राज्य हस्तगत हो जायगा। ऐसा सोचकर उसने मेड़तापर आक्रमण कर दिया। राज्यपर आये इस प्रकारके संकटको देखकर मन्त्रियोंने विचार-विमर्श करके राजमातासे निवेदन किया कि आप ही महाराजको सूचना देनेमें समर्थ हैं; क्योंकि आपके प्रति पूज्य भावसे राजा आपको कुछ नहीं कहेंगे और उनतक सूचना भी पहुँच जायगी, फिर वे जैसा आदेश देंगे, हम लोग वैसा ही करेंगे, दूसरे किसीको भेजनेपर महाराज उसकी बात भी न सुनेंगे और प्राणदण्ड भी दे देंगे।

राज्यपर आये संकटकी गम्भीरताको देखते हुए राजमाता मन्त्रियोंके परामर्शसे मन्दिरमें गयीं और भगवान्‌की सेवा-पूजामें रत राजा जयमलको उन्होंने आक्रमणकी सूचना दी। राजा जयमलने माताकी बात सुनकर सिर्फ इतना कह दिया कि 'भगवान् सब अच्छा ही करेंगे' और स्वयं नित्यकी ही भाँति सेवा-पूजामें लगे रहे। इतने बड़े संकटकी सूचना भी उनके मनको सेवा-पूजासे न विचलित कर सकी और न ही उन्हें उद्विग्न कर सकी।

अब मन्त्रियोंके समक्ष समस्या थी, वे किंकर्तव्यविमूढ़ थे; क्योंकि राजाकी ओरसे कोई स्पष्ट आदेश उन्हें नहीं प्राप्त हो सका था। आक्रमणकर्ता राजाका भाई ही था, ऐसेमें साम-दामसे भी कार्य हो सकता था। राजाका स्पष्ट आदेश होता तो दण्डनीति अर्थात् युद्धके लिये सेनाको कूच कराया जाता। इधर राजमन्त्रियोंके समक्ष यह समस्या थी, उधर राजमन्त्रियोंकी यह किंकर्तव्यविमूढ़ता भगवान्‌के लिये समस्या बन रही थी; क्योंकि राजाने कहा था कि 'भगवान् सब अच्छा ही करेंगे', ऐसेमें सारा उत्तरदायित्व भगवान्‌का ही हो जाता था। आखिर भक्तके राज्य और उसके वचनकी रक्षा भी तो उन्हींका दायित्व है।

शत्रुसेना निर्बाध रूपसे बढ़ी चली आ रही थी; जब सेना मेड़ताके एकदम निकट पहुँच गयी तो भगवान्‌से रहा न गया। उन्होंने झट सैनिकका वेश बनाया; एक हाथमें तलवार ली, दूसरेमें भाला धारण किया। पीठपर ढाल बाँधी और राजाकी घुड़सालमें जाकर राजाकी सवारीका अश्व खोल लाये, फिर उसपर सवार होकर अकेले ही युद्धभूमिकी ओर चल दिये। भगवान्‌के सवार होते ही अश्व सरपट दौड़ चला, मानो उसमें भगवान् श्रीहरिके शाश्वत वाहन गरुड़जीका आवेश हो गया हो। पहले तो अकेले एकमात्र सैनिकको आते देखकर

शत्रु राजाने सोचा कि सम्भवत: यह सन्धि-प्रस्ताव लेकर आ रहा होगा, परंतु थोड़ी ही देरमें उसका वह भ्रम दूर हो गया, जब सैनिक बने श्रीभगवान् तलवार चलाते हुए शत्रुसेनामें घुस गये। उस समय उनकी तलवार बिजलीकी भाँति कौंधकर शत्रुओंको सिरविहीन कर रही थी और भालेका एक ही प्रहार हाथियोंके गण्डस्थलको फाड़कर उन्हें धराशायी कर दे रहा था। प्रथम तो शत्रुसेनाने उस सैनिकको घेरनेका प्रयास किया, पर वायुवेगसे दौड़ते अश्व और विद्युत्‌की भाँति चमकती तलवारके पास आनेका उनका साहस न हुआ और थोड़ी ही देरमें मैदान खाली हो गया। भला, जिसके भ्रूसंचालनमात्रसे प्रलय होता हो, उसके लिये थोड़ी-सी सेनाका क्या अस्तित्व! अब युद्धक्षेत्रमें सिर्फ शत्रु राजा ही अकेला बच रहा, उसकी सेना भाग खड़ी हुई थी। शत्रु भी मेरे भक्तका भाई ही है, यह सोचकर भगवान्‌ने उसका वध करनेके स्थानपर उसे अपनी उसी भुवनमोहिनी छविके दर्शन कराये, जिसका कि दर्शनकर खर-दूषण और त्रिशिरा मोहित हो गये थे। उस छवि और तेजको देखते ही राजाके भाईका शत्रुभाव नष्ट हो गया और वह मूर्च्छित होकर वहीं रणभूमिमें गिर पड़ा। संकट समाप्त हुआ देखकर भगवान् रणभूमिसे वापस लौट आये और घोड़ेको पुनः घुड़सालमें बाँध दिया।

इधर जब राजाने भगवान्‌की सेवा-पूजा कर ली तो उन्हें माताद्वारा दी गयी आक्रमणकी सूचनाकी याद आयी, फिर तो वे राजाके कर्तव्यका ध्यानकर युद्धभूमिमें जानेको उद्यत हो गये। उन्होंने सईसको तुरंत घोड़ा तैयारकर लानेके लिये कहा। सईसने घुड़सालमें जाकर देखा तो घोड़ा पसीनेसे पूरी तरह लथपथ था, ऐसा लगता था, जैसे उसे बहुत दौड़ाया गया हो। सईसने तुरंत जाकर राजाको इस बातकी सूचना दी। राजाने घुड़सालमें जाकर देखा तो सचमुच घोड़ा पसीनेसे लथपथ था। फिलहाल युद्धभूमिमें तो जाना ही था, अतः राजा दूसरे घोड़ेपर सवार हुए और युद्धभूमिकी ओर चल दिये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि आक्रमणकारी राजाकी सारी सेना घायल पड़ी है, आगे जानेपर देखा कि आक्रमण करनेवाला भाई भी घायल पड़ा है। उसने राजा जयमलको देखते ही सिर झुका लिया और बोला—आपको जो दण्ड देना हो, मुझे स्वीकार है। राजा जयमलने कहा कि पहले यह तो बताओ कि तुम्हारी सेनाका विनाश किसने किया और तुम कैसे घायल हो गये? उसने कहा—तुम्हारी ओरसे मात्र एक साँवला-सा सिपाही घोड़ेपर बैठकर आया था, उसने ही मेरी सेनाका विनाश किया और उसकी दृष्टि पड़ते ही मैं घोड़ेसे गिर पड़ा और मूर्च्छित हो गया। राजा जयमलको अब सब समझते देर न लगी कि वह साँवला सिपाही कौन था? वे तो उनके आराध्यदेव श्यामसुन्दर ही थे। राजाने सोचा जब उन्होंने इस शत्रुको क्षमा कर दिया तो मुझे दण्ड देनेका क्या हक है? अतः उन्होंने भाईसे कुशल-प्रश्नकर उसे वापस घर भेज दिया। उधर भाईके मनमें भी पश्चात्ताप हुआ कि मैंने अपने सन्तप्रकृति भाईसे इस प्रकारका द्रोह किया। उसने बार-बार क्षमा माँगी और स्वयं भी भगवद्भक्त हो गया।

इधर राजा जयमलके मनमें बड़ा दुःख हुआ कि मेरे कारण भगवान्‌को इतना कष्ट उठाना पड़ा। मैंने मातासे जो यह कह दिया था कि—'भगवान् सब अच्छा ही करेंगे;' इसीलिये भगवान् मेरे राज्यकी रक्षाके लिये स्वयं युद्ध करने गये।

इस प्रकार करुणामय प्रभुने अपने भक्त राजा जयमलके वचनकी रक्षा की।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'मेरतै' प्रथम बास 'जैमल' नृपति ताकौं सेवा अनुराग नेकु खटकौं न भावहीं।
करै घरी दस तामैं कोऊ जो खबर देत लेत नहीं कान और ठौर मरवावहीं॥
हुतो एक भाई बैरी भेद यह पाइ लियो कियो आनि घेरौ माता जाइकै सुनावहीं।
'करैं हरि भली' प्रभु घोरा असवार भये मारी फौज सब कहैं लोग सचु पावहीं॥ २३१॥

देखैं हाँफैं घोरा अहो कौन असवार भयौ ? गयो आगे जबै देख्यो वही बैरी पर्‌यौ है।
बोल्यो सुखपाय अजू साँवरो सिपाही को है ? एकले ही फौज मारी मेरो मन हर्‌यौ है॥
तोही को दिखाई दई मेरे तरसत नैन बैनन सो जानी वही स्याम प्रभु ढर्‌यौ है।
पूछि कै पठाय दियौ वानै पन यहै लियौ कियौ इन दुःख 'करै भली' बुरो कर्‌यौ है॥ २३२॥

श्रीग्वालभक्तजी

बात पुरानी है, किसी गाँवमें एक ग्वालभक्त रहते थे। सन्त-सेवामें उनकी बड़ी प्रीति थी। घरमें जो भी उत्तम सामग्री बनती, उसे वे चुपचाप ले जाकर वनमें सन्तों-महात्माओंको निवेदित कर आते। ग्वालभक्तके पास बहुत-सी भैंसें थीं, दिनभर उन्हें चराना ही उनका नित्यकार्य था और उन्हींसे उनकी आजीविका चलती थी। घरमें उनकी माता और वे—कुल दो ही प्राणी थे।

एक बारकी बात है, उत्सवका दिन था। माँने घरमें अनेक प्रकारके स्वादिष्ट व्यंजन बनाये थे। रसोईसे आती भीनी-भीनी मधुर सुगन्ध ग्वालभक्तके अन्तःकरणको रससिक्त कर रही थी। वे सोच रहे थे कि माँ कब भोजन परोसें और मैं कब लेकर जाऊँ। जब उनसे रहा न गया तो माँसे बोले—'मैया! तू मेरे लिये पकवान अँगौछेमें बाँध दे, मैं वन में जाकर खा लूँगा, आखिर भैंसें भी भूखी होंगी, उन्हें भी तो चराना है।' भोली माँने अँगौछेमें ढेर सारे पकवान बाँध दिये, कुछ पकवान और भी ग्वालभक्तने माँकी नजरें बचाकर बाँध लिये और एक बड़ी-सी गठरी बना ली।

आज घरपर उत्सव होनेके कारण वन जानेमें विलम्ब हो गया था, बाहर द्वारपर बँधी भैंसें भी रँभा रही थीं। ग्वालभक्तजीने शीघ्रतापूर्वक भैंसोंको बन्धनमुक्त किया और सिरपर व्यंजनोंकी गठरी रख चल दिये वनकी ओर। वनमें पहुँचनेपर जब भैंसें चरनेमें मग्न हो गयीं तो आपने सिरपर गठरी उठायी और भैंसोंको छोड़कर चल दिये सन्तोंके आश्रमकी ओर। वहाँ पहुँचकर सन्तोंके चरणोंमें शीश रखकर विनय की कि प्रभो! घरमें उत्सव होने और अकेली बूढ़ी माँद्वारा ही व्यंजन बनानेके कारण देर हो गयी; कृपाकर क्षमा करें; क्योंकि बिना आप लोगोंके प्रसाद ग्रहण किये, मैं भी सीथ-प्रसादी नहीं पाऊँगा। ग्वालभक्तजीका ऐसा प्रेमभाव और ऐसी निष्ठा देखकर सन्तलोग भी गद्‌गद हो गये, भला हों भी क्यों न! इस भावके तो भगवान् भी भूखे रहते हैं।

सन्तोंकी पंगत बैठी; ***'सिय हरि नारायण गोविन्दे'*** का कीर्तन हुआ, बड़ी जय बोली गयी, फिर सबने धीरे-धीरे प्रसाद पाया। जब सब सन्तोंने प्रसाद पा लिया तो श्रीग्वालभक्तजीने सब पात्र धोये और स्वयं भी सीथ-प्रसादी पायी और तब पुनः वहाँ आये, जहाँ भैंसोंको चरनेके लिये छोड़ गये थे। वहाँ आकर देखा तो सभी भैंसें गायब! हुआ यह कि जब ये सन्तोंके पास चले गये थे, तो चोरोंने भैंसोंको बिना चरवाहेके चरते देखा और हाँक ले गये।

ग्वालभक्तजीको न तो भैंसोंकी चोरीका दुःख था, न ही सन्त-सेवा करनेका पछतावा। समस्या सिर्फ यह थी कि भैंसोंके बारेमें माँको क्या बतायेंगे ? पर उन्होंने उसका भी उपाय सोच लिया। रोजकी तरह शामको लौटकर आप घर आये तो माँने पूछा—भैंसें कहाँ हैं ? भक्तजीने सोचा कि सच्ची बात बता देंगे तो माँको बहुत दुःख होगा; जब-जब माँको भैंसोंकी याद आयेगी तब-तब वह मुझे डाँटें-फटकारेंगी, साथ ही सन्तोंको भी चार खरी-खोटी सुनायेंगी, इस तरह नित्यका क्लेश हो जायगा; अतः उन्होंने सच्ची बात छिपा ली और बोले—माँ! एक बेचारा गरीब ब्राह्मण भूखों मर रहा था, मैंने सब भैंसें उसे दे दी हैं। वह भैंसोंको चरायेगा और दूधसे घी बनाकर इकट्ठा कर लेगा तथा छाछ-मट्ठेसे अपना काम चलायेगा। कुछ दिनों बाद वह घी और भैंसोंको वापस कर जायगा। माँकी ब्राह्मणोंके प्रति विशेष भक्ति थी, अतः कुछ नहीं कहा और बेटेके इस कार्यको उचित ही माना।

धीरे-धीरे समय बीतता गया, भैंसोंकी बात भी आयी-गयी हो गयी। बीचमें कभी माँ पूछतीं भी तो

भक्तजी कह देते कि ब्राह्मण बेचारा गरीब है, जैसे ही उसकी आजीविकाकी कोई अन्य व्यवस्था हो जायगी, वह भैंसोंको वापस कर जायगा। भक्तजी यह बात केवल माँको समझानेके लिये ही नहीं कहते थे, बल्कि उनके मनमें यह दृढ़ विश्वास भी था कि सन्तोंकी सेवाके प्रतापसे मुझे भैंसें अवश्य वापस मिल जायँगी। अब उनके इस भावकी रक्षाका भार भगवान्‌पर था; क्योंकि सन्त तो भगवान्‌के प्रतिनिधि ही होते हैं।

कुछ दिन और बीत गये, दीवालीका त्यौहार आ गया। चारों ओर पटाखों, मिठाइयों और पकवानोंकी धूम थी, मस्तीका माहौल था। भगवान्‌की प्रेरणा! चोर भी उत्सवकी धुनमें उन्मत्त थे, उन्होंने भैंसोंका खूब शृंगार किया, उन्हें चाँदीकी हँसुलियाँ पहनायीं; सींग-पूँछ सब अलंकृत किये। उनकी प्रवृत्ति थी तामसी, अतः उनके लिये यही उत्सव था। रातभर आतिशबाजियाँ और पटाखे छूटते रहे, अचानक किसी बालकने भैंसोंके पास जाकर पटाखेकी एक लड़ी जला दी और वे चारों ओर धायँ-धायँ करके दगने लगे। भैंसोंके लिये यह एकदम नयी स्थिति थी। फिर क्या! वे सब रस्सी तोड़कर और खूँटे उखाड़कर भागीं। भक्तजीकी भैंसोंने कुछ दूर जानेके बाद भक्तजीके घरका रास्ता पकड़ा और उन्हींके पीछे चोरोंकी अन्य भैंसोंने भी अनुसरण किया। सुबह होते-होते सभी भैंसें आभूषणोंसे सजी-धजी भक्तजीके दरवाजेपर उपस्थित हो गयीं और रँभाने लगीं। भक्तजीकी माँने जब भैंसोंके रँभानेकी आवाज सुनी तो भक्तजीसे कहा—बेटा! ये तो अपनी भैंसोंकी आवाज है, जा-जाकर देख। भक्तजीने जब बाहर आकर देखा तो ठगे-से खड़े रह गये। उन्होंने माँको आवाज दी—माँ! देखो, अपनी भैंसें आ गयी हैं, बेचारे ब्राह्मणने भैंसोंको ड्योढ़ा-दूनाकर भेजा है और घी बेचकर आभूषण बनवा दिये हैं। माँने देखा तो आश्चर्यसे कहने लगीं—बेटा! जिसके पास खानेका भी इन्तजाम नहीं था, उसने भला आभूषण कैसे बनवा दिये! घी बेचनेसे इतना पैसा कैसे इकट्ठा हो सकता है? माँकी बात सुनकर भक्तजीने सारी सच्ची घटना सुना दी। माँने खुश होकर कहा—बेटा! यह सारा धन सन्तोंकी कृपासे मिला है, मुझे तो मेरी भैंसें मिल गयीं, यही बहुत है; तू इन आभूषणोंको बेचकर प्राप्त धनसे सन्त-सेवा कर दे।

इस प्रकार भगवान्‌ने सन्तोंकी कृपा और सच्ची सन्त-भक्तिका प्रभाव दरशाया।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भयौ एक ग्वाल साधु सेवा सो रसाल करै परै जोई हाथ लैकै सन्तन खवावहीं।
पायो पकवान वन मध्य गयो ख्वाइबे कौं आइबे की ढील चोर भैंस सो चुरावहीं॥
जानिकै छिपाई बात माता सौं बनाइ कही दई विप्र भूखो घृत संग फेरि आवहीं।
दिन हो दिवारी कौ सु उन्हि पहिरायौ हाँस आइ घर जाम लिये रांभकै सुनावहीं॥ २३३॥

श्रीश्रीधर स्वामीजी

श्रीमद्भागवतके टीकाकारोंमें श्रीश्रीधर स्वामीका नाम अग्रगण्य है। उनके गृहस्थाश्रमकी बात है, एक बार आप रास्तेमें चले आ रहे थे। ठगोंने आपसे पूछा—तुम्हारे साथ और भी कोई है क्या? आपने कहा—मेरे प्राणोंके आधार श्रीरघुनाथजी मेरे साथ हैं। ठगोंने साथ चलकर किसीको न देखकर यह समझ लिया कि इनके साथ कोई भी नहीं है। तब वे इन्हें मारने और लूटनेका उपाय करने लगे। इसी बीच ठगोंने देखा कि धनुष-बाण धारण किये हुए परम सुकुमार प्रभु श्रीधरजीके साथ-साथ चल रहे हैं, बीच-बीचमें भगवान् ठगोंको नहीं दिखायी देते, ठग जैसे ही मारनेका प्रयत्न करते, वैसे ही बाण तानकर डराते हुए भगवान् दिखायी पड़ते। ठगलोग साथ-साथ लगे चले ही आये। जब वे अपने घर आ पहुँचे, तब ठगोंको श्रीरघुनाथजी कहीं भी नहीं दिखायी पड़े। तब वे श्रीश्रीधरस्वामीजीसे पूछने लगे—साँवलेसे धनुष-बाणधारी जो आपके साथ थे, वे कहाँ हैं? श्रीधरस्वामीजी समझ गये कि रघुनाथजीने ही वनमें साथ रहकर कष्ट दूर किया है। प्रभुकी

कृपाका अनुभव करके आपने गृहस्थाश्रमका भार अपने सिरसे उतार फेंका और भजन करने लगे। चोरोंने भी रहस्य जानकर स्वामीजीकी शिष्यता स्वीकार की। श्रीधरस्वामीका वर्णन छप्पय ४५ में भी आया है।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

भागवत टीका करी 'श्रीधर' सुजानि लेहु गेह में रहत करैं जगत व्यवहार हैं।
चले जात मग ठग लगे कहैं कौन संग? संग रघुनाथ मेरो जीवन अधार हैं॥
जानी इन कोऊ नाहिं मारिबो उपाय करें धरे चाप बान आवैं वही सुकुमार हैं।
आये घर ल्याये पूछैं स्यामसों सरूप कहाँ? जानी वे तौ पार किये आपु डार्‍यो भार हैं॥ २३४॥

भगवान्‌का भक्तप्रेम

निहकिंचन इक दास तासु के हरिजन आए।
बिदित बटोही रूप भए हरि आपु लुटाए॥
साखि देन कौ स्याम खुरदहा प्रभुहि पधारे।
रामदास के सदन राय रनछोर सिधारे॥
आयुध छत तन अनुग के बलि बंधन अपु बपु धरैं।
भक्तनि सँग भगवान नित (ज्यों) गऊ बच्छ गोहन फिरैं॥ ५३॥

भगवान् सर्वदा अपने भक्तोंके साथ इस प्रकार घूमा करते हैं, जैसे बछड़ेके पीछे-पीछे गाय। (श्रीहरिपाल नामक) एक भगवान्‌के भक्त अति निष्किंचन थे, उनके यहाँ भक्तगण पधारे। घरमें सेवायोग्य कुछ भी नहीं था। स्वयं भगवान् लक्ष्मीजीको साथ ले यात्री बनकर आये और उस निष्किंचन भक्तके हाथोंसे लुटे। साक्षी देनेके लिये भगवान् वृन्दावनसे एक भक्तके साथ खुर्दहा ग्रामको पधारे। श्रीरणछोड़रायजी द्वारकासे श्रीरामदासजीके घर डाकौरको आये और अपने सेवक रामदासजीके ऊपर पड़ी हथियारोंकी चोटको अपने शरीरपर ले लिया। राजा बलिको बाँधनेवाले भगवान्‌ने अपने श्रीविग्रहको कानकी सोनेकी बालीसे भी हलका कर लिया। ये चरित्र सर्वविदित हैं॥ ५३॥

यहाँ इन भगवत्प्रेमी भक्तोंका चरित्र संक्षेपमें प्रस्तुत है—

निष्किंचन भक्त श्रीहरिपालजी

श्रीहरिपालजीका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था, आप श्रीभगवान्‌के अकिंचन भक्त थे। सन्त-सेवामें आपकी बड़ी प्रीति थी। प्रतिदिन आपके यहाँ साधुओंकी पंगत हुआ करती थी। धीरे-धीरे जब घरका सारा धन समाप्त हो गया, तब आप बाजारसे उधार ला-लाकर सन्तोंके भोजन-प्रसादकी व्यवस्था करने लगे। थोड़े दिनमें बाजारमें भी जब हजारों रुपयेका कर्ज हो गया तो वहाँसे भी उधार मिलना बन्द हो गया। पास-पड़ोसके लोग इसलिये उधार देनेसे कतराते थे कि ये दिनभर तो साधु-सेवा करते हैं, कुछ काम-धन्धा तो करते नहीं, फिर वापस कहाँसे करेंगे। सन्त-सेवाके लिये जब कहींसे भी धनकी व्यवस्था न हो सकी तो ये अत्यन्त दुखी रहने लगे। ये सदैव यही सोचते कि धनकी व्यवस्थाका क्या उपाय किया जाय, जिससे सन्त-सेवा निर्बाध होती रहे। इसी क्रममें ये एक बार किसी वैश्यके यहाँ चोरी करनेके उद्देश्यसे घुसे थे। आधी रातका समय था, अचानक खटपट होनेसे वैश्यकी पुत्रीकी नींद टूट गयी। उसने अपने पितासे कहा—'पिताजी! लगता है, घरमें कोई चोर घुसा है! वैश्यने कहा—चिन्ता न करो, हमारे गाँवमें न कोई चोर है, न कभी चोरी होती है। अगर कोई होगा भी तो हरिपाल ही होंगे, वे सन्त-सेवाके लिये ही कुछ ले जाने आये होंगे, इसलिये तू चुपचाप सो जा।'

पिता-पुत्रीकी इस वार्ताको जब श्रीहरिपालजीने सुना तो उन्हें इस बातकी बड़ी ग्लानि हुई कि वे एक भगवद्भक्तके यहाँ चोरी करने घुसे हुए हैं। उन्होंने सारा सामान तो वहाँ छोड़ ही दिया, साथ ही वह चादर भी छोड़ दी, जिसमें उन्होंने चोरीका सामान बाँधा था। इस घटनाके बाद उन्होंने चोरी करना भी छोड़ दिया; क्योंकि इसमें इस बातका भय था कि कहीं गलतीसे किसी भक्तके यहाँ न चोरी हो जाय और अपराध बन जाय। परंतु साधु-सेवाके लिये धनकी भी व्यवस्था करनी थी, अतः उन्होंने जंगलमें जाकर वेशभूषा (तिलक, माला, कण्ठी आदि)-से परीक्षाकर अभक्तोंको लूटना शुरू किया और उसी धनसे सन्त-सेवा करते।

एक दिन द्वारपर बड़ी-सी सन्त-मण्डली आ पहुँची। इन्होंने पत्नीसे कहा—देवि! आज हमारे बड़े भाग्य हैं, जो इतने सन्त घरपर आये हैं। तुम इनके लिये भोजनका कुछ उपाय करो। पत्नीने कहा—स्वामी! घरमें तो एक दाना नहीं है, मैं क्या इन्तजाम करूँ? हरिपालजीने कहा—कहीं पास-पड़ोससे ही कुछ माँग लाओ। पत्नी बोली—पास-पड़ोसवाले कोई कुछ नहीं देते, यहाँतक कि मुझे देखकर ही लोग द्वार बन्द कर लेते हैं। अब तो भगवान् ही कोई उपाय कर सकते हैं। मैं तो यही कहूँगी कि हम दोनों बैठकर भगवान्‌से ही प्रार्थना करें, वे ही हम लोगोंकी सुनेंगे।

पत्नीकी बात सुनकर भक्त हरिपाल कुछ क्षणके लिये उदास हो गये, फिर बोले ठीक है, तू जैसा कहती है, वैसा ही करूँगा। फिर क्या था, भक्त दम्पतीने अत्यन्त दीन भावसे भगवान्‌की शरण ली और बोले—प्रभो! बाहर सन्त-मण्डली खड़ी है, दीनानाथ! अब लाज तुम्हारे ही हाथ है।

इधर अपने निष्किंचन और सन्त-सेवी भक्त हरिपालको चिन्तित जान द्वारकानाथ भगवान् श्रीकृष्ण व्याकुल हो गये; भक्तकी चिन्ता ही भगवान्‌की चिन्ता होती है और उसका निवारण करना ही उनका कार्य। भगवान्‌ने तुरंत सेठका रूप धारण किया, मूल्यवान् वस्त्र-आभूषण धारण किये और चलनेको तैयार हुए तो रुक्मिणीजीने पूछा—प्रभो! आप अचानक कहाँ चल दिये और यह क्या भेष बना रखा है? भगवान्‌ने कहा—एक भक्तके घर जा रहा था, पर तुमने टोक दिया, अब कुशल नहीं दीखती। श्रीरुक्मिणीजी किंचित् रोष व्यक्त करते हुए बोलीं—आपको तो जहाँ जाना होता है, अकेले ही चल देते हैं, मुझे तो पूछतेतक नहीं और जब आज मैने पूछा तो आप कह रहे हैं कि टोक दिया। भगवान्‌ने मुसकराते हुए कहा—अच्छा, आज तुम भी चलो। बड़ा भारी भक्त है, अतः खूब सज-धज लो, देखो, मैंने भी खूब सुन्दर वस्त्र और मूल्यवान् आभूषण धारण कर लिये हैं। भगवान्‌का प्रोत्साहन पाकर श्रीरुक्मिणीजीने नखसे शिखतक मणिरत्नजटित आभूषणोंसे शृंगार किया और चलनेके लिये तैयार हो गयीं।

भगवान् श्रीद्वारकानाथ और श्रीरुक्मिणीजी—दोनों सेठ-सेठानी बने भक्त हरिपालके द्वारपर आये और उनसे कहा—भाई! हमें अमुक गाँव जाना है, मार्गमें जंगल पड़ता है और मेरे पास रत्न-आभूषण आदि मूल्यवान् वस्तुएँ हैं, सो हमें कोई पहुँचा दे तो उसे हम मजदूरी दे देंगे। भला अन्धा क्या चाहे—दो आँखें; हरिपालजीको तो मुँहमाँगी मुराद ही मिल गयी थी। उन्होंने कहा—मेरे दरवाजेपर सन्तजन बैठे हैं, इनके लिये व्यवस्था करनी है, सो आप अगर मजदूरीके पैसे पहले दे दीजिये तो मैं आपके साथ-साथ चला चलूँ। भगवान् तो तैयार बैठे ही थे, उन्होंने तुरंत रुपये दे दिये। हरिपालजीने रुपये देकर पत्नीसे कहा कि इन रुपयोंसे तुम सन्तोंको बालभोग कराओ, मैं इन्हें पहुँचाकर अभी आता हूँ।

अब श्रीहरिपालजी आगे-आगे और सेठ-सेठानी बने भगवान् तथा रुक्मिणीजी पीछे। हरिपालजी सोचते चले जा रहे थे कि सेठके पास माल तो बहुत है, परंतु भक्त है कि नहीं! क्योंकि भक्तोंको लूटना नहीं है। अतः ये बार-बार पीछे मुड़कर सेठ-सेठानीको देख लेते और वेशके आधारपर परीक्षा करते। इन्हें इन लोगोंके शरीरपर न

कोई तिलक दिखायी दे रहा था, न ही माला-कण्ठी। रास्तेमें चर्चा भी केवल धन-दौलत और व्यापार-वाणिज्यकी ही हो रही थी। हरिपालजीके मनमें यह बात दृढ़ हो गयी कि ये लोग अवैष्णव और पक्के दुनियादारी व्यक्ति ही हैं, अतः इन्हें लूटना अनुचित नहीं है। यह विचारकर जब निर्जन सुनसान जंगलमें पहुँचे तो सेठ-सेठानीके गर्दनपर भाला रख दिया और गरजकर बोले—जो भी तुम लोगोंके पास हो, उसे निकालकर रख दो, नहीं तो बे-मौत मारे जाओगे; तुम लोगोंको मालूम नहीं, मेरा नाम हरिपाल है।

भगवान्‌ने काँपते हाथों चुपचाप जल्दी-जल्दी सारे आभूषण उतार दिये, आखिर वे तो आये ही इसीलिये थे। इसके बाद उन्होंने रुक्मिणीजीको भी संकेत किया कि जल्दीसे तुम भी सारे आभूषण उतार दो, नहीं तो अनावश्यक विपत्तिमें पड़ जाओगी। रुक्मिणीजीको बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज प्रभु कैसी लीला कर रहे हैं! जिसके डरसे काल भी डरता हो, वे सर्वशक्तिमान् प्रभु इस मर्त्य मानवसे क्यों डर रहे हैं? फिर भी प्रभुकी इच्छा समझ उन्होंने सारे आभूषण उतार दिये, बस एक उँगलीमें एक छल्ला भर रह गया, जो जल्दीमें निकल नहीं रहा था। हरिपालजीने देखा कि सेठानीकी उँगलीमें अभी एक छल्ला है और उससे भी सन्त-सेवा हो सकती है, तो बड़ी निष्ठुरतापूर्वक उँगली मरोड़कर उसे भी निकाल ही लिया। अब तो रुक्मिणीजीको बहुत क्रोध आया कि इस दुष्टको इतने आभूषण दे दिये गये, फिर भी एक छल्लेके लिये इसने मेरी उँगली मरोड़ दी। वे शाप देनेको उद्यत हो गयीं। भगवान् उनके मनोभावको जान गये और कहीं श्रीरुक्मिणीजी शाप ही न दे दें—यह सोचकर तुरंत अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और भक्त हरिपालको अपने वक्षःस्थलसे चिपटा लिया, मानो प्रभुने इस प्रकार श्रीरुक्मिणीजीको यह बता दिया हो कि इसे शाप न दो, अन्यथा इसका शाप भी मैं अपने ही ऊपर ले लूँगा।

जब हरिपालजीको यह पता चला कि जिन सेठ-सेठानीको मैंने लूट लिया है, वे तो मेरे परमाराध्य ही हैं, तो उनकी दशा विचित्र हो गयी। वे बार-बार प्रभुके चरणोंमें गिरकर क्षमा-याचना करते हुए प्रायश्चित्त करने और सारा धन वापस करने लगे। तब भगवान्‌ने कहा—भैया! यह तो मैं तुम्हारे लिये ही लाया था, तुम्हारी सन्त-सेवासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम तो मेरे भक्तोंके मुकुटमणि 'भक्तराज' हो। तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो और यह सारा धन ले जाकर सन्तोंकी सेवा करो। श्रीहरिपालजीने कहा—प्रभो! यदि सन्तोंको इस बातका पता लग जायगा, तो वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे और मेरी जगहँसाई भी बहुत होगी? कि इसने तो भगवान्‌को ही लूट लिया। भगवान्‌ने कहा—डरो मत, यह सब मेरी ही इच्छासे हुआ है; अतः मैं किसीसे नहीं कहूँगा।

इस प्रकार वार्तालापकर और दर्शन देकर जब भगवान् जानेको उद्यत हुए तो हरिपालजीने कहा—प्रभो! यदि आपने सन्त-सेवासे सन्तुष्ट होकर मुझे दर्शन दिये हैं, तो इसकी प्रेरणा तो मुझे मेरी पत्नीने दी है, अतः कृपा करके उसे भी दर्शन दें। भगवान् भक्त हरिपालके भावको जानकर बहुत प्रसन्न हुए और घर चलकर दर्शन देनेकी स्वीकृति दे दी। फिर क्या था, हरिपालजी आनन्दसे नाच उठे। उन्होंने कन्धेपर एक ओर भगवान्‌को और एक ओर माता रुक्मिणीको बैठाया और घर लाकर सिंहासनपर बैठाकर उनकी सेवा-पूजा की। तत्पश्चात् सन्तोंका वृहद्भण्डारा हुआ। हरिपालजीकी पत्नी जब सन्तोंके लिये भोजन बनाने लगीं तो श्रीरुक्मिणीजीने भी साग्रह उसमें हाथ बँटाया, इसी प्रकार श्रीहरिपालजी जब परोसने लगे तो भगवान् भी उनके साथ-साथ जुट गये। सन्तोंने भक्त और भगवान्‌की जय-जयकार की और आनन्दपूर्वक भण्डारा सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार श्रीभगवान् अपने भक्तोंसे उसी प्रकार स्नेह करते हैं, जैसे गोमाता अपने बछड़ेसे करती हैं, जैसे पयपान करते समय वत्स स्तनोंपर प्रहार करता है तो भी गोमाता उसे दूध देती हैं, वैसे ही भक्तद्वारा दिये कष्टको न ध्यान रखकर भगवान् सिर्फ उसके भावको ही देखते हैं।

श्रीप्रियादासजी भक्त हरिपालकी इस सन्त-सेवा-निष्ठा और भगवान्‌की भक्तवत्सलताका इस प्रकार

वर्णन करते हैं—

भक्तनि के संग भगवान् ऐसे फिर्यो करैं जैसे बच्छ संग फिरै नेहवती गाइ है।
हरिपाल नाम विप्रधाम में जनम लियो कियो अनुराग साधु दई श्री लुटाइ है॥
केतिक हजार लै बजार के करज ख्वाए गरज न सरै कियो चोरी को उपाइ है।
विमुख को लेत हरिदास को न दुःख देत आये सन्त द्वार तिया संग बतराइ है॥ २३५॥
बैठे कृष्ण रुक्मिणी महल तहाँ शोच पर्यौ हर्यो मन साधु सेवा साहरूप कियो है।
पूछीं चले कहाँ? कही भक्त है हमारो एक मैं हूँ आऊँ? आओ, आये जहाँ पूछि लियो है॥
अजू मग चल्यौ जात बड़ो उतपात मधि कोऊ पहुँचावै देवौ लै रुपैया दियो है।
करो समाधान संत मैं लिवाइ जाऊँ इन्हें लाइ वन माँझ देखि बहुधन जियो है॥ २३६॥
देखैं जो निहार माला तिलक न सदाचार होयँगे भण्डार जो पै धन इतो लायो है।
लीजियै छिनाइ यह वारि कहै डारि देवौ दियौ सब डारि छला छिगुनीमें छायो है॥
अँगुरी मरोरि कही बड़ौ तूं कठोर अहो तोको कैसे छोड़ौं सन्त जेवैं मोको भायो है।
प्रगट दिखायो रूप सुन्दर अनूप वह मेरे भक्तभूप लैकैं छाती सों लगायो है॥ २३७॥

श्रीसाक्षीगोपालजीके भक्त

बहुत पहलेकी बात है, गौड़ देशमें दो ब्राह्मण निवास करते थे। इन दोनोंमें एक कुल और आयु दोनोंमें बड़ा था और दूसरा नयी अवस्थावाला साधारण कुलका था। दोनों तीर्थयात्रा करनेके लिये घरसे चले। अनेक तीर्थोंका दर्शन करते हुए दोनों वृन्दावनधाममें आये। दैवयोगसे बूढ़ा ब्राह्मण बीमार हो गया। तब उस युवकने बड़े प्रेमसे खूब सेवा की। स्वस्थ हो जानेपर उसने अति प्रसन्न होकर वृद्ध ब्राह्मण श्रीगोपालजीको साक्षी बनाकर उसे अपनी कन्या देनेकी प्रतिज्ञा की, तब उस युवकने भी स्वीकार कर लिया। दोनों वृन्दावनसे चले और घूमते-घामते घरको पहुँचे। तब उस युवकने वृद्धसे कहा कि अब आप अपनी प्रतिज्ञाका पालन कीजिये और अपनी लड़कीका विवाह मेरे साथ कर दीजिये। वृद्धने अपनी स्त्री तथा कुटुम्बवालोंसे पूछा, उनकी सम्मति न पाकर अपनी प्रतिज्ञासे टल गया।

युवकने पंचायत जोड़ी। पंचोंने पूछा कि कोई स्त्री या पुरुष तुम्हारा गवाह है? उसने कहा—इन्होंने श्रीगोपालजीको साक्षी बनाया था, अतः वे ही साक्षी हैं। तब सब पंच बोले—इस सभामें आज लिखा-पढ़ी करवा लो। यदि श्रीगोपालजी आकर साक्षी देंगे तो तुम्हारे साथ बेटीका विवाह कर दिया जायगा।

तब वह युवक वृन्दावन आया और वृन्दावनवासी श्रीगोपालजीसे बोला—आप मेरे साथ गाँवको चलिये और साक्षी दीजिये, ऐसी लिखा-पढ़ी मैंने करवा ली है। उत्तरकी प्रतीक्षामें वह गोपालजीके सामने बैठा रहा, बैठे-बैठे कई पहर बीत गये। उसने अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया। तब भगवान् श्यामसुन्दर बोले—'प्रतिमा चलती नहीं है।' तब उसने कहा—फिर बोलती क्यों है? यदि भावमें भरकर बोल सकती है तो चल भी सकती है। भावपूर्ण उत्तर सुनकर श्रीगोपालजी साथ चलनेको तैयार हो गये और बोले—मैं तुम्हारे साथ चलूँगा, पर नित्य दो सेर उत्तम भोग मुझे अर्पण किया करना, हम दोनों उसमेंसे आधा-आधा खा लिया करेंगे। दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे अपने पैरोंके नूपुरोंको बजाता चलूँगा। उनकी ध्वनि तुम्हारे कानोंमें पड़ती रहेगी, पीछे घूमकर मत देखना। जहाँ घूमकर मुझे देखोगे बस, मैं वहीं रह जाऊँगा।

अब आगे-आगे भक्त पीछे-पीछे भगवान् वृन्दावनसे चले, जैसे ही गाँवके निकट पहुँचे, वैसे उस भक्तके मनमें आया कि जरा चलते हुए ठाकुरकी शोभा देख लूँ। घूमकर देखते ही श्रीगोपालजी खड़े हो गये और मन्द-मन्द मुसकराने लगे। भक्तने कहा—क्यों थक गये क्या? अब तो बस थोड़ी दूर चलना है। भगवान्ने

कहा—मैंने तो पहले ही कह दिया था, अब मैं यहाँसे आगे न जाऊँगा। पंचोंको यहाँ ही बुलाकर ले आओ। वह युवक विप्र गाँवमें आया और सबसे बोला कि चलकर देखो, स्वयं श्रीगोपालजी साक्षी देने पधारे हैं। यह सुनते ही सब लोग आश्चर्यचकित रह गये। गाँवके सभी लोग दौड़कर आये। पंचोंके सामने श्रीगोपालजीने श्रीमुखसे बोलकर साक्षी दी। इस प्रकार दोनों भक्तोंकी तथा अन्योंकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो गयीं। फिर वह श्रीगोपालजीका श्रीविग्रह लौटकर वृन्दावन नहीं आया। राजाने श्रीगोपालजीके लिये प्रेमसे भोगरागका प्रबन्ध किया। अबतक वहीं (खुर्दहा) उड़ीसामें साक्षीगोपाल विराज रहे हैं।

अपने भक्तकी साक्षी देनेके लिये भगवान्‌के वृन्दावनसे उड़ीसा आनेकी इस घटनाका श्रीप्रियादासजी महाराज अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

गौड़ देश वासी उभै विप्र ताकी कथा सुनौ एक वैस वृद्ध जाति वृद्ध छोटो संग है।
और और ठौर फिरि आये फिरि आये बन तन भयो दुखी कीनी टहल अभंग है॥
रीझो बड़ो द्विज निज सुता तोको दई अहो रहो नहीं चाह मेरे लई बिनै रंग है।
साखी दै गोपाल अब बात प्रतिपाल करौ टरौ कुल ग्राम भाम पूछ्यो सो प्रसंग है॥ २३८॥
बोल्यौ छोटो विप्र छिप्र दीजियै कही जो बात तिया सुत कहैं अहो सुता याके जोग है।
द्विज कहै 'नाहीं कैसे करौं? मैं तो दैन कही' कही कहौ भूलि भयो विथाको प्रयोग है॥
भई सभा भारी पूछ्यो साखी नर नारी श्रीगोपाल बनवारी और कौन तुच्छ लोग है।
लेवोजू लिखाइ जोपै साखी भरैं आइ तो पै व्याहि बेटी दीजै लीजै करौ सुख भोग है॥ २३९॥
आयौ वृन्दावन वनवासी श्रीगोपालजू सों बोल्यौं चलौ साखी देवो लई है लिखायकै।
बीते कैयो याम तब बोले श्यामसुन्दरजू 'प्रतिमा न चलै' तो पै बोलै क्यों जू भायकै॥
लागे जब संग युग सेर भोग धरौ रंग आधे आध पावौं चलौं नूपुर बजायकै।
धुनि तेरे कान परै पाछैं जिनि दीठि करै करै रहौं वाही ठौर कही मैं सुनायकै॥ २४०॥
गये ढिग गाँव कही नेकु तौ चितॉव रहे चितए ते ठाढ़े दियो मृदु मुसकायकै।
ल्यावौ जू बुलाय कह्यो आय देखौ आये आप सुनतहिं चौंकि सब ग्राम आयो धायकै॥
बोलि कै सुनाई साष पूजी हिये अभिलाष लाख लाख भाँति रंग भर्‍यो उर भायकै।
आयो न सरूप फेरि विनै करि राख्यो घेरि भूप सुख ढेरि दियो अब लौं बजायकै॥ २४१॥

श्रीरामदासजी

भक्त रामदास द्वारकासे सात कोसकी दूरीपर डाकोर नामक गाँवमें रहते थे। 'रणछोड़' भगवान्‌के मन्दिरमें प्रति एकादशीको जागरण, कीर्तन आदि उत्सवका आयोजन होता था, उसमें वे नियमपूर्वक सम्मिलित होते थे और भगवान्‌के दर्शनसे अपने तन, मन और बुद्धिको पवित्र करते थे। भगवान् 'रणछोड़' ने एक बार उनके सामने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा—'तुम वृद्ध हो चले हो, तुम्हें सात कोस आने-जानेमें जो कष्ट होता है, वह मेरे लिये नितान्त असह्य है।' भक्त रामदास तो भगवान्‌की रूप-माधुरीसे छकनेमें इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें बाह्यज्ञान कुछ रहा ही नहीं, आने-जानेके प्रश्नने उनके मस्तिष्कको कुछ चिन्तित ही नहीं किया। भगवान्‌ने कृपापूर्वक उन्हें दर्शन दिया, इस बातको सोच-सोचकर वे प्रेम-विह्वल हो रहे थे। भगवान्‌के अन्तर्धान होते ही उनके वियोगमें प्राण छटपटा गये, अंग-अंग सिहरने लगा। अब तो उनका निश्चय और भी दृढ़ हो गया, वे समस्त सुखोंको तिलांजलि देकर दूने उत्साहसे जागरण-महोत्सवमें आने लगे। वे किसी भी मूल्यपर जागरणका आनन्द छोड़नेके लिये अपने-आपको समर्थ न पा सके।

भगवान्‌से भक्त रामदासका एकादशी-जागरणमें आना और न सहा गया, भक्तको सुख और आनन्द

देनेके लिये उन्होंने रामदाससे डाकोर चलनेका निश्चय प्रकट किया। भगवान् तो सच्ची निष्ठा और प्रेमके भूखे होते हैं। उन्होंने रामदासको गाड़ी लानेकी सम्मति दी और कहा—'मेरे विग्रहको अँकवारमें भर उसमें लिटा देना और यथाशीघ्र ही डाकोर पहुँचनेका प्रयत्न करना।' दूसरी एकादशीके जागरण-अवसरपर रामदास द्वारकामें गाड़ी ले गये, उनकी वृद्धावस्थासे किसीने उनपर सन्देह नहीं किया। द्वादशीकी रात आधी बीत चुकी थी। द्वारकावासी और मन्दिरके पुजारी तथा अन्य सेवक आदि नींदकी गहरी और मीठी लहरोंमें बह रहे थे। सारा-का-सारा वातावरण नीरव और शान्त था। रामदास अपने सौभाग्यपर फूले नहीं समाते थे, भगवान्के आतिथ्यका आनन्द सोच-सोचकर वे प्रतिक्षण कुछ और-से-और होते जा रहे थे। मन्दिरका पट अचानक खुल गया। वे मन्दिरमें पहुँच गये। थोड़े ही परिश्रमसे भगवान् उनकी गोदमें आ गये, भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक अपने चिन्मय मादक स्पर्शसे भक्तकी जन्म-जन्मकी तपस्या सफल कर दी। गाड़ी द्वारकासे बहुत दूर निकल गयी। रामदास झूम-झूमकर कीर्तन करते थे और भगवान् भक्तके संरक्षणमें सात कोसकी यात्रा पूरी कर रहे थे।

सबेरा होते ही लोगोंने रामदासका पीछा किया। भगवान् भास्करकी सुनहली किरणें पूर्वदिशाके अंचलमें विहार करनेवाली ही थीं कि रामदासने देखा कि कुछ लोग पीछा कर रहे हैं। उनके मस्तकपर पसीनेके कण बिखर गये, वे किसी अनहोनी और भीषण घटनासे रह-रहकर आशंकित हो उठते थे। कभी प्रभुका श्रीविग्रह प्रेमभरी दृष्टिसे देख लेते तो कभी गाड़ीको तेजीसे आगे बढ़ा देते। उन्हें पूरा-पूरा विश्वास था कि प्रभु जो कुछ भी करेंगे, उसीमें मेरा परम कल्याण है। पीछा करनेवाले थोड़ी ही दूर रह गये थे; पर भक्तने भगवान्को जगाना उचित नहीं समझा, उन्हें तो विश्वास था कि भगवान् गाड़ीपर लेटते ही सो गये। उन्होंने सोचा कि पीछा करनेवाले मुझसे भगवान्को छीन लेंगे और प्रभु नींदका सुख लेते द्वारका-मन्दिरमें प्रवेश करेंगे; इससे अधिक तो कुछ होगा नहीं। पर भगवान्की लीला-शक्ति तो जाग ही रही थी। भक्तभयहारी रासविहारीने कहा—'तुम मुझे सामनेकी बावलीमें छिपा दो और जब पीछा करनेवाले चले जायँ, तब गाड़ीमें रखकर डाकोर ले चलना।' रामदासने उनकी आज्ञाका पालन किया। पीछा करनेवाले पुजारी आदि आ पहुँचे, बिना कुछ पूछ-ताँछ किये ही उन्होंने रामदासको मारना आरम्भ किया। भगवान्की लीला-शक्तिने भक्त रामदासकी दृढ़ निष्ठा और धैर्य-परीक्षाकी महिमा प्रकट करनेके लिये दुष्टोंको अपनी मनमानी करने दी; पर उन्हें दण्डके ही माध्यमसे भक्तके शरीरका स्पर्श मिल चुका था, अतः उनका विवेक जाग उठा। गाड़ीमें भगवान्का श्रीविग्रह न पाकर उनके पश्चात्तापका पारावार उमड़ आया, उन्होंने महापापसे भी भीषण भक्तापराध कर डाला था। उन्होंने देखा कि बावलीका पानी किसीके खूनसे लाल हो गया है। सत्संगका प्रभाव तो मनपर था ही, भगवान्की लीला-शक्तिने अपना काम किया, वे प्रभुका विग्रह बावलीसे बाहर निकालकर अपने कियेपर पछताने लगे।

भगवान्ने दर्शन दिया, भक्त रामदास प्रभुके घायल शरीरको देखकर काँप उठे। मेरे कारण उन्हें इतना कष्ट सहना पड़ा! उनका हृदय हाहाकार कर उठा। भगवान्ने कहा—'मेरा भक्त मुझे मेरी आज्ञासे ले जा रहा है। तुमलोगोंने जो मेरे भक्तको मारा है, उस चोटको मैंने अपने शरीरपर ले लिया है, इसीसे मेरे शरीरसे खून बह रहा है। अब मैं तुम्हारे सम्पर्कमें नहीं रहना चाहता। मेरी दूसरी प्रतिमा, जो अमुक स्थानपर है, मन्दिरमें स्थापितकर भक्ति और प्रेमसे अपना अन्तःकरण पवित्र करो; इस महान् अपराधका यही प्रायश्चित्त है। अपनी आजीविकाके लिये मेरी इस मूर्तिके बाराबर सोना ले लो।' पुजारी लोग लोभवश राजी हो गये और बोले—'तौल दीजिये।' भगवान्ने रामदासको आज्ञा दी—'मेरे तौलके बराबर इन्हें सोना दे दो।' भक्त अपनी दरिद्रता और असमर्थतापर काँप उठे। उनकी स्त्रीके कानकी बाली पलड़ेमें रखी गयी, पलड़ा भारी हो गया, प्रतिमा उसकी तौलमें हलकी हो

गयी। पुजारी तथा अभक्त दुष्ट अपना-सा मुँह लेकर नौ-दो-ग्यारह हो गये। भगवान्ने भक्तकी इज्जत रख ली। भगवान् 'रणछोड़' उसी दिनसे 'आयुधछत' की उपाधिसे विभूषित हुए। अभीतक उनके घावपर पट्टी बाँधी जाती है। भक्तवर रामदासकी भक्तिकी महिमाका बखान तो भगवान् 'रणछोड़' की लीला-शक्ति ही कर सकती है। धन्य हैं भक्त रामदास!

भक्त रामदासके प्रति भगवान्के इस अद्भुत प्रेमका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

द्वारिका के ढिग ही डाकौर एक गाँव रहै रहैं रामदास भक्त भक्ति याको प्यारियै।
जागरन एकादशी करैं रनछोरजू के भयौ तन वृद्ध आज्ञा दई नहीं धारियै॥
बोले भरि भाय तेरौ आयबौ सह्यौ न जाय चलौं घर धाय तेरे ल्यावो गाड़ी भारियै।
खिरकी जु मन्दिर के पाछे तहाँ ठाढ़ी करौ भरौ अँकवारी मोकों बेग ही पधारियै॥ २४२॥
करी वाही भाँति आयौ जागरन गाड़ी चढ़ि जानी सब वृद्ध भयो थकी पाँव गति है।
द्वादशी की आधी रात लैकै चले मोद गात भूषण उतारि धरे जाकी साँची रति है॥
मन्दिर उघारि देखैं परो है उजारि तहाँ दौरे पाछे जानि देखि कही कौन मति है।
बापी पधराय हाँकि जाय सुखपाय रह्यो गह्यो चल्यो जात आनि मार्‍यौ घाव अति है॥ २४३॥
देखे चहुँ दिशि गाड़ी कहुँ पै न पाये हरि करि पछितावो कहैं भक्त कै लगाई है।
बोलि उठ्यो एक यहि ओर यह गयो हुतो जाय देखैं बावरी को लोहू लपटाई है॥
दास कों जु डारी चोट ओट लई अंग मैं ही नहीं मैं तो जाऊँ बिजै मूरति बताई है।
मेरी सम सोनो लेहु, कही जन तोलि देहु, मेरे कहाँ बोल्यो बारी तिया कै जताई है॥ २४४॥
लगे जब तौलिबे कों बारी पाछे डारि दई नई गति भई पल उठै नहीं बारी कौ।
तब तो खिसाने भये सबै उठि घर गये कैसैं सुख पावैं फिर्‍यो मत ही मुरारी कौ॥
घर ही विराजे आप कह्यौ भक्तिकौ प्रताप जाप करै जो पै फुरैं रूप लालप्यारी कौ।
बलि बन्ध नाम प्रभु बाँधे बलि भयो तब आयुधको छत सुनि आये चोट मारी कौ॥ २४५॥

भक्तके वश भगवान्

जसू स्वामि के बृषभ चोरि ब्रजबासी ल्याए।
तैसेई दिए स्याम बरष दिन खेत जुताए॥
नामा ज्यों नँददास मुई इक बच्छि जिवाई।
अंब अल्ह कों नए प्रसिध जग गाथा गाई॥
बारमुखी के मुकुट को (श्री) रंगनाथ को सिर नयो।
बच्छ हरन पाछें बिदित सुनो संत अचरज भयो॥ ५४॥

जैसे द्वापरयुगमें ब्रह्माने गोवत्स-हरण किया और सभी व्रजवासियोंने अपने घरोंमें गो-वत्स जैसे-के-तैसे देखे, उसी प्रकार कलियुगमें एक प्रसिद्ध एवं विचित्र आश्चर्य हुआ। उसे सन्तजन ध्यानपूर्वक सुनें—भक्त श्रीजसू स्वामीके बैलोंको व्रजवासी चोर चुरा लाये, तब श्यामसुन्दरने वैसे ही बैल उन्हें दिये। उनसे एक सालतक खेतोंकी जोताई हुई। श्रीनामदेवजीकी तरह श्रीनन्ददासजीने भी एक मरी हुई बछियाको जीवित किया। श्रीअल्हजीके लिये फलवान् आमके वृक्ष जिस प्रकार झुके—यह कथा संसारमें प्रसिद्ध है और अब भी गायी जाती है। एक भक्ता वेश्याके हाथसे मुकुट धारण करनेके लिये श्रीरंगनाथजीका सिर झुक गया॥ ५४॥

श्रीजसू स्वामी, श्रीनन्ददासजी आदि इन भक्तोंके पावन चरित इस प्रकार हैं—

श्रीजसू स्वामीजी

गंगा और यमुनाके बीचके देशमें श्रीजसू स्वामी नामके एक भक्त रहते थे। वे प्रेमपूर्वक सदा साधु-सेवा किया करते थे और उसके लिये खेती करके अन्न पैदा कर लिया करते थे। एक बार व्रजवासी चोरोंने इनके बैल चुरा लिये, परंतु इन्हें यह बात मालूम ही नहीं हुई; क्योंकि उसी प्रकारके बैल श्रीश्यामसुन्दरने दे दिये। ये बैल पहले बैलोंकी अपेक्षा बहुत ही अच्छी प्रकार हलमें जुतकर चलते थे; क्योंकि दिव्य थे, अतः स्वामीजीको बहुत ही प्यारे लगते थे। एक वर्ष बाद एक दिन वे ही व्रजवासी आश्रमके निकट होकर निकले और बैलोंको देखकर मन-ही-मन कहने लगे कि इन्हें यहाँ कौन ले आया? उन्होंने घर जाकर देखा तो बैल वहाँ बँधे थे। वे लोग फिर आश्रममें आये तो देखते हैं कि बैल यहाँ भी बँधे हैं! ऐसे दो-चार बार चक्कर लगानेपर भी वे लोग वास्तविकताका निर्णय न कर सके। अन्तमें हारकर उन्होंने स्वामीजीसे पूछा, तब उन्हें मालूम पड़ा कि हम भी ले गये और यहाँ भी वैसे ही बैल निरन्तर काम कर रहे हैं। चोरलोग घरसे उन बैलोंको ले आये। उनके आते ही आश्रमके बैल अन्तर्धान हो गये।

उन चोरोंने श्रीजसू स्वामीका यह बड़ा भारी प्रभाव देखा कि इन्हें वैसे ही बैल देकर प्रभुने चिन्तासे बचाया। उनके मनमें स्वामीजीके प्रति प्रेमभाव हो गया। जाकर उनके चरणोंमें पड़ गये। स्वामीजीने उनके हृदयकी शुद्ध अभिलाषा देखी तो द्रवित हो गये; क्योंकि ये सहज ही दयाके सागर थे। इन सबको मन्त्र देकर अपना शिष्य बना लिया। इन्होंने भी चोरी छोड़ दी और साधुओंके मार्गपर चलने लगे। साधु-सेवाके लिये अन्न पहुँचाने लगे। दूध और दही देकर साधुओंकी सेवा करने लगे और सुखपूर्वक सेवा करके कृतार्थ हो गये।

जसू स्वामीकी भक्ति और भगवान्‌की कृपाका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

जसू नाम स्वामी गंगा जमुनाके मध्य रहैं गहैं साधु सेवा ताको खेती उपजावहीं।
चोरी गये बैल ताकी इनकौं न सुधि कछू तैसे दिये श्याम हल जुतैं मनभावहीं॥
आये ब्रजवासी पैंठ वृषभ निहारि कही 'इन्हें कौन ल्यायो?' घर जाय देखि आवहीं।
ऐसे बार दोय चारि फिरेउ न ठीक होत पूछी पुनि ल्याये आये उन्हें पै न पावहीं॥ २४६॥
बड़ोई प्रभाव देख्यो तैसे प्रभु बैल दिये भयो हिये भाय जाय पांयनि में परे हैं।
निपट अधीन दीन भाषि अभिलाष जानि दया के निधान स्वामी शिष्य लैकै करे हैं॥
चोरी त्यागि दई अति शुद्ध बुद्धि भई नई रीति गहि लई साधुपन्थ अनुसरे हैं।
अन्न पहुँचावैं दूध दही दै लड़ावैं आवैं सन्त गुण गावैं वे अनन्त सुख भरे हैं॥ २४७॥

श्रीनन्ददासजी वैष्णवसेवी

बरेलीके निकट हवेली नामका एक गाँव है, उसमें भगवान्‌के भक्त श्रीनन्ददासजी नामके एक ब्राह्मण निवास करते थे। ये साधु-सेवाके बड़े प्रेमी थे। इसीसे एक उसी गाँवका ब्राह्मण इनसे बड़ा भारी द्वेष रखता था। उसने एक बार एक मरी हुई बछिया लाकर श्रीनन्ददासजीके खेतमें डाल दी और इन्हें गाली देने लगा। सर्वत्र यह प्रचार करने लगा कि नन्ददासजीने अपने खेतमें चरती हुई बछियाको मार डाला है, अबतक उसके खेतमें पड़ी है। श्रीनन्ददासजीके समीप रहने एवं आने-जानेवाले साधुओंसे भी लड़ने लगा कि तुम कैसे वैष्णव हो, गायके हत्यारेके यहाँ रहते-खाते हो, जो हिन्दू होगा, वह गायको कभी भी नहीं मारेगा। यह तो मुसलमानसे भी गया-बीता बड़ा ही अभागी है। श्रीनन्ददासजीको जब यह बात मालूम हुई तो संतोंको साथ लेकर अपने खेतपर गये और उन्होंने उस बछियाको जीवित कर दिया। यह देखकर उनसे द्वेष करनेवाले सभी उनके चरणोंमें आ पड़े। श्रीनन्ददासजीने शरणागतोंको भक्तिभाव देकर कृतार्थ किया। उन सभीकी बुद्धि साधु-सेवा और भगवद्भजनमें लग गयी।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजी महाराज अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

निकट बरेली गांव तामैं सो हबेली रहैं नन्ददास विप्र भक्त साधु सेवा रागी है।
करैं द्विज द्वेष तासों मुई एक बछिया लै डारि दई खेत माँझ गारी जक लागी है॥
हत्या कौ प्रसंग करैं सन्त जनहूं सों लरैं हिन्दू सो न मारै यह बड़ोई अभागी है।
खेत पर जाय वाहि लियो है जिवाय देखि द्वेषी परे पांय भक्ति भाय मति पागी है॥ २४८॥

श्रीअल्हजी

श्रीअल्हजी महाराज परम वैष्णव सन्त श्रीअनन्तानन्दजी महाराजके कृपापात्र शिष्य थे। तीर्थयात्रा और भगवद्भक्तिके प्रचारार्थ आप प्रायः देश-देशान्तरमें भ्रमण किया करते थे। एक बार विचरण करते हुए आप ऐसे राज्यमें पहुँच गये, जहाँका राजा महानास्तिक और भगवद्विमुख था। सन्तों और वैष्णवोंके प्रति उसके मनमें अकारण ही द्वेष था। यदि कोई सन्त भूले-भटके उसके राज्यमें चले जाते तो वह उन्हें गुलेलसे मारता। वह दुष्ट राजा सन्तोंके तिलकको लक्ष्य करके गुलेल चलाता था, जिससे कितने ही सन्तोंके सिर और नेत्र फूट गये थे। यथा राजा तथा प्रजा। राजासे पहले उसके नगरके लोग ही किसी सन्तको देखकर उसको भाँति-भाँतिसे तिरस्कृत करते, फिर भगा देते। जब श्रीअल्हजी उस राज्यमें जाने लगे तो बहुतसे लोगोंने उनसे उस राजाकी दुष्टताका वर्णन करके वहाँ जानेसे मना किया। सन्त श्रीअल्हजीने कहा—भाइयो! मैंने जीवनमें सन्त तो बहुत देखे हैं, परंतु नास्तिक कोई नहीं देखा। आज मेरे मनमें नास्तिकको देखनेका कौतूहल हो रहा है, अतः मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा। आप लोग किसी प्रकारकी चिन्ता न करें, मंगलमय भगवान् सब मंगल ही करेंगे।

यह कहकर श्रीअल्हजी उस राज्यमें चले गये और सुन्दर स्थान देखकर राजाके उद्यानमें ही जाकर रुक गये। उद्यानमें आमके वृक्ष थे और उनपर सुन्दर पके हुए फल सुशोभित हो रहे थे। श्रीअल्हजीने वहीं आसन लगाया और श्रीभगवान्‌की सेवा-पूजा करनेका निश्चय किया। एक माली दिखा तो भगवान्‌को भोग लगानेके लिये उससे आमके पके फल माँगे। प्रथम तो मालीने इन्हें बहुत फटकारा कि बिना अनुमतिके राजकीय उद्यानमें कैसे चले आये? पर इनका दृढ़ निश्चय देखकर कहा कि यदि बिना लाठी-डण्डा या पत्थर चलाये आम ले सको तो ले लो। वस्तुतः वह इस प्रकार कहकर इनका तिरस्कार ही कर रहा था, परंतु श्रीअल्हजीने उसके कथनको तनिक भी अन्यथा नहीं लिया, उन्होंने तो इस प्रकारके भूले-भटकोंको मार्ग दिखानेका व्रत ही ले रखा था।

श्रीअल्हजी महाराज सिद्ध सन्त थे और उन सर्वसमर्थके आराधक थे, जो जड़को चेतन और चेतनको जड़ करते हैं, उन्हीं परमात्मा श्रीरघुनाथजीका ध्यान करके श्रीअल्हजीने आम्रवृक्षोंसे कहा—हे तरुवरो! तुम तो परोपकारियोंमें श्रेष्ठ गिने जाते हो, तुम अपने पल्लव-शाखा, फल-फूल आदि देकर लोकोपकार करते हो। जो तुमपर लाठी-डण्डे या पत्थरसे प्रहार करते हैं, उन्हें भी तुम मधुर फल ही देते हो, अतः आज मैं तुमसे भिक्षा माँगता हूँ, मेरे ठाकुरजीके भोगके लिये मुझे फल प्रदान करो।

ऐसा कहकर श्रीअल्हजीने जैसे ही वृक्षोंकी ओर देखा उनकी डालियाँ स्वतः झुक आयीं, आपने आवश्यकतानुसार आम तोड़ लिये और उनसे श्रीठाकुरजीका भोग लगाया। इस अद्भुत घटनाको देखकर माली तो ठगा-सा रह गया, फिर थोड़ी देर बाद जब उसे ज्ञान हुआ तो वह भागा-भागा राजाके पास गया और वहाँ सारी घटनाका वर्णन किया। सुनते ही राजा भी भागा-भागा श्रीअल्हजीके पास आया, उसे विश्वास हो गया कि ये कोई महापुरुष—सिद्ध सन्त है, चरणोंमें गिरकर वह अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करने लगा। सन्तहृदय श्रीअल्हजी तो आये ही थे उसका उद्धार करने; उन्होंने कहा—राजन्! लोग व्यर्थ ही आपको नास्तिक कहते हैं, आप तो मुझे बड़े ही भक्त जान पड़ते हैं। राजाने कहा—प्रभो! मैं तो सचमुच बहुत पापी हूँ, यह तो आपके दर्शनका ही प्रभाव है कि मेरे-जैसे भगवद्विमुखके हृदयमें भक्तिका संचार

हो गया। कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये। श्रीअल्हजीने कहा—'राजन्! भक्तिभावका ही सावधान होकर आश्रय लीजिये।' श्रीअल्हजीने उस राजा और राज्यको अपने सदुपदेशोंसे परम धार्मिक बना दिया। इस प्रकार प्रभुकृपासे सन्तजन इस कलियुगमें भी अद्भुत कर्म करते हैं।

श्रीअल्हजीके इस चरितका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

चले जात अल्ह मग लाग बाग दीठि पर्‍यो करि अनुराग हरि सेवा बिसतारियै।
पकि रहे आम मांगे माली पास भोग लिये कह्यो लीजै कही झुकि आईं सब डारियै॥
चल्यौ दौरि राजा जहाँ जायकै सुनाई बात गात भई प्रीति आषुतट पांय धारियै।
आवत ही लोटि गयो मैं तो जू सनाथ भयो, देवो लै प्रसाद भक्ति भाव ही सँभारियै॥ २४९॥

श्रीवारमुखीजी

गणिका थीं श्रीवारमुखीजी। लोक और वेद—दोनोंसे गर्हित था उनका कर्म; परंतु प्रभुकी कृपा कब किसपर हो जाय, कब किसके किस जन्मका पुण्य उदय हो जाय—यह पता नहीं होता। श्रीवारमुखीजी भी यह नहीं जानती थीं कि 'आज मेरे किस सौभाग्यका उदय हुआ है! एक वेश्याके द्वारपर साधु! कहीं ऐसा न हो कि मेरा परिचय पाकर महात्मा लोग चले जायँ।' दक्षिण देशकी उस गणिकाने नगरसे लौटकर देखा कि उसके द्वारके सम्मुख पीपलके पेड़के नीचेके चबूतरेपर वैष्णव सन्तोंने आसन कर रखा है। धूनी जल रही है। छत्ता गाड़कर उसके नीचे ठाकुरजीका सिंहासन लगा दिया गया है। साधुओंमें कोई चन्दन घिस रहा है, कोई पार्षद (पूजापात्र) मल रहा है और कोई तिलक कर रहा है। वेश्याने सोचा कि 'मैं इनका आतिथ्य करनेयोग्य तो हूँ नहीं, मेरा अन्न भला साधु कैसे ग्रहण करेंगे!' वह भीतर गयी। एक चाँदीकी थालीमें जितनी स्वर्ण-मुद्राएँ आ सकीं, उसने लाकर ठाकुरजीके सामने थोड़ी दूरीपर रख दिया।

'मैया! तू कौन है?' एक साधुने पूछा। इतना द्रव्य श्रद्धासे अनजान स्त्रीका निवेदन करना कम आश्चर्यजनक नहीं था।

'आप और चाहे जो पूछें, परंतु मेरा परिचय न पूछें!' उसने मुख नीचा करके प्रार्थना की।

'साधुसे भयकी क्या बात है?' महात्माने आग्रह किया।

'मैं महानीच हूँ। मेरे पापोंका कोई हिसाब नहीं। सम्भवतः मुझे देखकर नरकके जीव भी घृणा करेंगे। पाप ही मेरा जीवन है। शरीरको बेचकर मेरी जीविका चलती है।' रोते हुए उसने कहा।

'ले जा अपना थाल! साधु वेश्याओंका धन नहीं लिया करते!' एक साधुने झिड़क दिया।

'महाराज! मेरी-जैसी महापापिनीसे नरक या नारकीय जीवतक घृणा कर सकते हैं, किंतु गंगा, गोदावरी आदि पुण्यतोया नदियाँ तो घृणा नहीं करतीं। मैं नित्य गोदामाताकी पवित्र धारामें डुबकी लगाती हूँ। उन्होंने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। सुना है कि साधु गंगा-गोदावरी आदि नदियोंसे भी अधिक पवित्र होते हैं। सन्त तो सुरसरिको भी पवित्र कर देते हैं। आप यदि मुझसे घृणा करेंगे तो फिर कौन पतितोंका उद्धार करेगा! मेरा दुर्भाग्य!' उसने अत्यन्त दुःखित होकर थाल उठा लिया।

'मैया! श्रीरंगनाथके लिये मुकुट बनवा दे,' मण्डलीमें जो सबसे वृद्ध थे, उन्होंने कहा। गणिकाकी भक्तिभरी वाणीने उन्हें द्रवित कर दिया था।

'जिसकी भेंट सन्त नहीं लेते, उसकी रंगनाथ तो क्या लेंगे! साधु तो भगवान्‌से भी अधिक दयालु होते हैं। वे तो उन सर्वेशसे भी अधिक पतितोंपर कृपा करते हैं। जिसका तिरस्कार साधुओंने ही कर दिया, उसके लिये भगवान्‌से क्या आशा रही।' वह रोती हुई जा रही थी।

'मैया! उपहार न लेना होता तो मुकुट बनानेका आदेश न देता! वृद्ध साधुने स्पष्ट समझाया। वह

द्रव्य साधुओंने स्वीकार कर लिया। तीन लाख रुपयोंसे वेश्याने एक सुन्दर रत्नजटित मुकुट बनवाया और उसे लेकर वह श्रीरंग पहुँची।'

'मैं अपवित्र हूँ, मेरा मन्दिरमें जाना उचित नहीं! आप मुकुट भगवान्‌को चढ़ा दें!' भला, श्रीरंगनाथके पुजारीजी यह वेश्याका आग्रह कैसे मान लें! उन्हें तो स्वप्नमें भगवान्‌ने स्पष्ट आदेश दिया था कि वे उसी वेश्याके हाथसे मुकुट धारण करेंगे। विवश होकर वह मुकुट लेकर गयी। दोनों हाथोंमें मुकुट उठाकर नृत्य करते हुए वह आगे बढ़ी। आज भगवान्‌के शृंगारमें मस्तकपर मुकुट नहीं था। सिंहासन ऊँचा था। मूर्तिके मस्तकतक वेश्याका हाथ पहुँच नहीं सकता था।

उसने मुकुट उठाया। सबने देखा कि श्रीरंगनाथके श्रीविग्रहने मस्तक झुका दिया है। वेश्याने मुकुट उठाकर रख दिया। मूर्ति पूर्ववत् हो गयी। मन्दिरके प्रांगणमें ही, भगवान्‌की इस असीम कृपाका अनुभव करके उनके दर्शन करते हुए ही उसने शरीर छोड़ दिया।

भगवान्‌की भक्तवत्सलताकी इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

वेश्याको प्रसंग सुनौ अति रसरंग भर्‍यो भर्‍यो घर धन अहो ऐपै कौन काम कौ।
चले मग जात जन ठौर स्वच्छ आई मन छाई भूमि आसन सो लोभ नहीं दाम कौ॥
निकसी झमकि द्वार हंससे निहारि सब कौन भाग जागे भेद नहीं मेरे नाम कौ।
मुहरनि पात्र भरि लै महन्त आगे धर्‍यो ढर्‍यो दृग नीर कही भोग करौ श्याम कौ॥ २५०॥
पूछी तुम कौन काके भौनमें जनम लियो? कियो सुनि मौन महाचिन्ता चित्त धरी है।
'खोलिकै निसंक कहौ संका जिनि मानौ मन' कही 'वारमुखी' ऐपै पांय आय परी है॥
भरो है भण्डार धन करो अंगीकार अजू करिये विचार जो पै तो पै यह मरी है।
एक है उपाय हाथ रंगनाथजू को अहो कीजिये मुकुट जामें जाति मति हरी है॥ २५१॥
विप्र हू न छूए जाको रंगनाथ कैसे लेत? देत हम हाथ तो कौ रहें इह कीजियै।
कियोई बनाय सब घर कौ लगाय धन बनि ठनि चली थार मधि धरि लीजियै॥
सन्त आज्ञा पाइकै निसंक गई मन्दिरमें फिरी यौं ससंक धिक् तिया धर्म भीजियै।
बोले आप याकों ल्याय आप पहिराय जाय, दियौ पहिराय नयौ सीस मति रीझियै॥ २५२॥

ब्राह्मण-दम्पतीका भगवद्विश्वास

बीच दिए रघुनाथ भक्त सँग ठगिया लागे।
निर्जन बन में जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे॥
बीच दियो सो कहाँ राम कहि नारि पुकारी।
आए सारँगपानि सोक सागर ते तारी॥
दुष्ट किए निर्जीव सब दास प्रान संग्या धरी।
और जुगन तें कमलनैन कलिजुग बहुत कृपा करी॥ ५५॥

सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें कमलनयन भगवान् श्रीरामने अपने भक्तोंपर विशेष कृपा की है, यह बात इस प्रकारके भक्त-चरित्रोंसे सिद्ध होती है जैसे कि एक ब्राह्मण-भक्त अपनी पत्नीके साथ ससुरालसे आ रहे थे। भक्त-दम्पतीके साथ ठग लग गये। इन्हें वनके मार्गसे ले

चलते समय ठगोंने उन्हें विश्वास दिलानेके लिये कहा कि हमारे-तुम्हारे बीचमें श्रीरघुनाथजी हैं, यदि कोई विश्वासघात करेगा तो वे रक्षा करेंगे। निर्जन वनमें जाकर उन दुष्टोंने भक्त ब्राह्मणको मार डाला। भक्ता ब्राह्मणीने रोते हुए पुकारा—'जिन श्रीरामको बीचमें रखा गया था, वे कहाँ हैं, वे ही श्रीराम! रक्षा करें।' भक्ताकी दीन-पुकार सुनते ही शार्ङ्गधनुषधारी श्रीराम आ गये और शोक-सागरमें डूबती हुई भक्ताको उन्होंने उबार लिया। उन्होंने सभी दुष्टोंको श्वासहीन—मृतक कर दिया और दासको जीवित कर लिया। इस प्रकारकी कृपा भगवान् इस कलियुगमें करते हैं॥ ५५॥

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

विप्र हरिभक्त करि गौनो चल्यो तिया संग जाके दूनौ रंग ताकी बात लै जनाइयै।
मग ठग मिले द्विज पूछैं अहो 'कहाँ जात?' जहाँ तुम जात यामैं मन न पत्याइयै॥
पन्थ को छुटाय चहैं वन में लिवाय जायं कहैं अति सूधो पैड़ो उर में न आइयै।
बोले 'बीच राम' तऊ हिये नेकु धकधकी कहै वह बाम 'श्याम नाम' कहाँ पाइयै॥ २५३॥
चले लागि संग अब रंग कै कुरंग करौ तिया पर रीझे भक्ति साँची इन जानी है।
गये वन मध्य ठग लोभ लगि मार्‌यो विप्र छिप्र लैकै चले वधू अति बिलखानी है॥
देखै फिरि फिरि पाछैं, कहैं 'कहा देखै? मार्‌यो' तब तो उचार्‌यो देखौं वाही बीच प्रानी है।
आये राम प्यारे सब दुष्ट मारि डारे साधु प्रान दै उबारे हित रीति यौं बखानी है॥ २५४॥

वेषनिष्ठ एक राजा

तिलक दाम धरि कोइ ताहि गुरु गोबिंद जानै।
षटदरसनी अभाव सर्बथा घट करि मानै॥
भाँड़ भक्त को भेष हाँसि हित भँड़ कुट ल्याए।
नरपति कै दृढ़ नेम ताहि ये पाँव धुवाए॥
भाँड़ भेष गाढ़ो गह्यो दरस परस उपजी भगति।
एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥ ५६॥

एक राजा परम भागवत था, उसकी कथा सुनते ही भगवान्‌में भक्ति होती है। वह ऐसा वेषनिष्ठ था कि जो कोई भी तिलक और कण्ठी धारण करता, उसे वह गुरुदेव और भगवान्‌के समान मानता था। कोई कैसा भी षट् दर्शनका ज्ञाता क्यों न हो, पर राजा उसे वैष्णव-भक्तसे छोटा ही मानता था। एक बार भाँड़ोंने हँसी करनेके लिये तिलक-कण्ठी पहनकर भक्तोंका-सा वेष बनाया। जमात लेकर राजाके यहाँ पहुँचे। राजाका यह पक्का नियम था कि वैष्णवोंका भगवान्‌के समान पूजन करना। उसीके अनुसार राजाने भाँड़ोंके चरण धोये। उन्होंने भी सहर्ष धुलवाया। राजाकी भक्तिका दर्शन और स्पर्श पाकर इन सबके हृदयमें भक्ति उत्पन्न हो गयी। भाँड़ोंने दृढ़तापूर्वक वैष्णव-वेषको धारण कर लिया, फिर कभी उसका त्याग नहीं किया। मनोरंजनमें भक्तके दर्शन-स्पर्शका यह फल प्राप्त हुआ॥ ५६॥

श्रीप्रियादासजीने राजाकी संतवेषनिष्ठाका इस प्रकार वर्णन किया है—

राजा भक्तराज डोम भाँड़ कौ न काज होय भोय गई याको धन हरीको न दीजियै।
आए भेष धारि लै पुजाय नाचैं दैकै तारि नृपति निहारि कही यों निहाल कीजियै॥
भोजन कराये भरि मुहरनि थार ल्याये आगे धरि विनय करी अजू यह लीजियै।
भई भक्ति रासि बोले आवै बास भावै नाहिं बाहिं गहि रहै कैसै चले मति भीजियै॥ २५५॥

अन्तर्निष्ठ नरपाल

हरि सुमिरन हरि ध्यान आन काहू न जनावै।
अलग न इहि बिधि रहै अंगना मरम न पावै॥
निद्रा बस सों भूप बदन तें नाम उचारयो।
रानी पति पर रीझि बहुत बसु तापर वारयो॥
रिषिराज सोचि कह्यो नारि सों आज भक्ति मेरी कजी।
अंतरनिष्ठ नृपाल इक परम धरम नाहिन धुजी॥ ५७॥

एक राजा अन्तर्निष्ठ (गुप्त भक्त) था। उसने हरि-भक्तिकी ध्वजा नहीं लगा रखी थी अर्थात् वह बाह्य चिह्न कण्ठी-तिलक आदिको नहीं धारण करता था। भगवान्‌का स्मरण और ध्यान निरन्तर करता था, पर किसीको जनाता न था। कोई नहीं जानता था कि राजा भक्त है। वह अपनी पत्नी-परिवार या कर्मचारियोंसे अलग नहीं रहता था, किंतु नामजप-ध्यान आदि इस प्रकार करता था कि उसकी स्त्री भी नहीं जान पाती थी। राजा भगवान्‌से अलग नहीं रहता था। लेकिन रानी राजाको अभक्त जानकर मन-ही-मन दुखी रहती थी। एक दिन शयन करते हुए राजाने मुखसे अचानक ही भगवान्‌के नामका उच्चारण किया। इससे राजाको परम भक्त मानकर रानी बहुत प्रसन्न हुई। बहुत-सा धन राजापर न्यौछावर कर दिया। राजाने रानीसे इस प्रसन्नताका कारण पूछा तो रानीने बताया—आपने सोते समय भगवान्‌का नाम लिया, इसीसे प्रसन्नता हुई। इसपर उस राजर्षिने शोक करते हुए अपनी रानीसे कहा—आज मेरी भक्ति प्रकट हो गयी, अतः लुट गयी। अब मैं जीवित नहीं रह सकता हूँ (राजाने विचारा कि भगवन्नाम ही हमारे प्राण और जीवन थे, वे जब मुखसे निकल गये, मेरी भक्ति प्रकट हो गयी तो अब रह ही क्या गया। यह सोचकर नामके वियोगमें उन्होंने प्राण त्याग दिये)। पतिरूपी भगवान्‌के महाविरहमें रानीने भी प्राण त्याग दिये॥ ५७॥

श्रीप्रियादासजी राजाकी इस गुप्त भक्तिका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तिया हरि भक्त कहै 'पति पै न भक्त पायों' रहै मुरझायो मन सोच बढ़यो भारी है।
मरम न जान्यो निशि सोवत पिछान्यो भाव विरह प्रभाव नाम निकस्यो बिहारी है॥
सुनत ही रानी प्रेम सागर समानी भोर सम्पति लुटाई मानो नृपति जियारी है।
देखि उत्साह भूप पूछ्यो सो निबाह कह्यो रह्यो तन ठौर नाम जीव यों विचारी है॥ २५६॥
देखि तन त्याग पति भई और गति याकी ऐसे रतिवान मैं न भेद कछु पायो है।
भयो दुःख भारी सुधि बुधि सब टारी तब नेकु न बिचारी भावराशि हिये छायो है॥
निशि दिन ध्यान तजे विरह प्रबल प्रान भक्ति रसखान रूप कापै जात गायो है।
जाके यह होय सोई जानैं रस भोय सब डारै मति खोय यामैं प्रगट दिखायो है॥ २५७॥

गुरुनिष्ठ शिष्य

अनुचर आग्या माँगि कह्यो कारज कों जैहौं।
आचारज इक बात तोहि आए तैं कहिहौं॥
स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयो।
गुरु की गिरा बिस्वास फेरि सब घर मैं ल्यायो॥

सिषपन साँचो करन कों (बिभु) सबै सुनत सोई कह्यो।
गुरु गदित बचन सिष सत्य अति दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो॥५८॥

श्रीगुरुदेवके द्वारा कहे हुए वाक्योंको एक शिष्यने पूर्ण सत्य माना और उनमें दृढ़ विश्वास किया। गुरुदेवकी आज्ञाको दृढ़तासे स्वीकारकर जीवनभर उसका पालन किया। एक बार शिष्यने गुरुदेवसे आज्ञा माँगी, कहा कि कार्यवश मैं दूसरे गाँवको जाऊँगा। श्रीगुरुजीने कहा—जाओ, एक बात तुमसे तब कहूँगा, जब लौटकर आओगे। शिष्य बाहर चला गया, श्रीगुरुदेव भगवान्‌के धामको चले गये। लौटकर शिष्य जब दर्शन करने आया। उस समय लोग अन्तिम संस्कार करनेके लिये गुरुदेवके शरीरको ले जा रहे थे। शिष्यको गुरुदेवजीकी वाणीमें विश्वास था। इसलिये शवको लौटाकर फिर घरमें ले आये। शिष्यने प्रार्थना की—प्रभो! आपने कहा था कि लौटकर आओगे तो एक बात कहूँगा। अब कृपा करके वही बात कहिये। अपने विश्वासी शिष्यकी बातको सत्य करनेके लिये गुरुदेव पुनः जीवित हो गये और सर्वसमर्थ गुरुदेवने सबके सामने शिष्यसे कहा कि सन्तोंकी मेरे समान ही सेवा किया करो। सबोंने सुना और शिष्यने इस आज्ञाका भलीभाँति पालन किया (गुरु महाराज एक वर्षतक रहकर शिष्यकी सन्त-सेवा देखते रहे, फिर शरीर त्यागकर भगवान्‌के धामको गये)॥५८॥

श्रीप्रियादासजी शिष्यकी श्रद्धाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बड़ो गुरुनिष्ठ कछु घटी साधु इष्ट जाने स्वामी सन्त पूज्य मानैं कैसे समझाइयै।
नितही विचारे पुनि टारे पै उचारे नाहिं चल्यो जब रामती कों कही फिरि आइयै॥
सपथ दिवाई न जराइबें को दियो तन ल्यायो यों फिराइ वहे बात जू जनाइयै।
साँचो भाव जानि प्रान आये सो बखान कियो 'करो भक्तसेवा' करी वर्षलौं दिखाइयै॥२५८॥

श्रीरैदासजी

सदाचार श्रुति सास्त्र बचन अबिरुद्ध उचार्‌यो।
नीर खीर बिबरन्न परम हंसनि उर धार्‌यो॥
भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई।
राजसिंहासन बैठि ग्याति परतीति दिखाई॥
बरनाश्रम अभिमान तजि पद रज बंदहिं जासु की।
संदेह ग्रंथि खंडन निपुन बानि बिमल रैदास की॥५९॥

सन्तशिरोमणि श्रीरैदासजीकी निर्मल वाणी सन्देहकी ग्रन्थियोंको खोलनेमें पूर्ण समर्थ है। श्रीरैदासजीने जो भी कहा है, वह सदाचार (स्मृति) वेद-शास्त्रोंके अनुकूल ही है। उन्होंने नीर-क्षीर अर्थात् सत् और असत्‌का विवरण करनेवाला परमहंसोंका भाव अपने हृदयमें धारण किया तथा सार-असारका निर्णय करनेवाली उनकी वाणीको परमहंसोंने अपने हृदयमें धारण किया। आपने अपने इसी मर्त्य शरीरसे भगवान्‌की कृपा और परम श्रेष्ठ गति प्राप्त की। राजसिंहासनपर बैठकर अपने शरीरमें सोनेका यज्ञोपवीत दिखाकर अपने पूर्वजन्मकी ब्राह्मण जातिका विश्वास लोगोंको दिलाया। महान् पुरुषोंने अपने ऊँचे वर्ण एवं आश्रमके अभिमानको छोड़कर जिनकी चरण-धूलिकी वन्दना की, उन श्रीरैदासजीकी वाणी शंकाओंको खण्डन करनेमें अति ही चतुर है॥५९॥

सन्त श्रीरैदासजीका संक्षेपमें परिचय इस प्रकार है—

(क) श्रीरैदासजीके जन्मकी कथा

आचार्य श्रीस्वामी रामानन्दजीका एक ब्रह्मचारी शिष्य था। वह नित्य आटेकी चुटकी ब्राह्मणोंके यहाँसे

माँगकर लाता था। उसीसे ठाकुरजीका भोग लगता था और साधु-सेवा होती थी। मार्गमें एक बनियेकी दूकान थी। वह बनिया प्राय: नित्य ही ब्रह्मचारीजीसे कहता था कि आप मेरा सीधा-सामान भी स्वीकार करो। इस प्रकार उसने दस-बीस बार कहा, परंतु नियमके विरुद्ध उस बनियेसे सामान लेना ब्रह्मचारीजीने स्वीकार नहीं किया। एक दिन बड़े जोरकी वर्षा हो रही थी, चुटकी माँगकर लाना सम्भव नहीं था। अत: उस बनियेसे ब्रह्मचारीजीने जो भी आवश्यक था सीधा-सामान ले लिया। जब श्रीआचार्यने ठाकुरजीको भोग लगाया तो उस दिन प्रभु भोग आरोगते हुए ध्यानमें नहीं आये। तब उन्होंने ब्रह्मचारीसे पूछा—कहो, आज भिक्षा कहाँ-कहाँसे लाये हो? उसने उत्तर दिया—एक बनियेसे। श्रीस्वामीजीने कहा—जाओ, पता लगाओ। पूछनेसे मालूम पड़ा कि बनियेने किसी निम्न वर्णकी प्रेरणासे अन्न दिया है। वस्तुत: काशीमें रघु नामक एक चर्मकार था। पूछनेपर किसी सज्जनने उससे कहा था कि तुम्हारी भिक्षा स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी स्वीकार कर लें तो निश्चय ही तुम्हें सन्तान-लाभ हो सकता है। अत: विश्वासपूर्वक पुत्रकी कामनासे उसने ही बनियाके माध्यमसे स्वामीजीके पासतक भिक्षा पहुँचायी थी। वस्तुस्थिति ज्ञात होनेपर अपने ब्रह्मचारी शिष्यको श्रीस्वामीजीने बड़ा भारी शाप दिया कि तूने मेरी बात नहीं मानी, निम्नवर्णकी भिक्षा ली, अत: जाकर उसी घरमें जन्म लो। वही दूसरे जन्ममें श्रीरैदास भक्त हुए।

माता अपने बालक रैदासको दूध पिलाना चाहती थी, पर बालक रैदास दूध पीनेकी कौन कहे, इन्हें माताका छूना भी अच्छा नहीं लगता था; क्योंकि गुरुदेवकी उत्तम सेवाके प्रतापसे इन्हें पूर्वजन्मकी सब बातें याद थीं। इसी समय श्रीस्वामीजीके लिये आकाशवाणी हुई कि आपके शापसे आपके शिष्यका जन्म रघु चमारके घरमें हुआ है और वह दूध नहीं पी रहा है, उसपर कृपा कीजिये। दयावश श्रीस्वामीजी शीघ्र ही स्वयं चलकर वहाँ आये। बालकके दूध न पीनेसे पिता-माता बड़े दुखी थे। स्वामीजीको देखते ही वे दौड़कर इनके चरणोंमें लिपट गये और प्रार्थना करने लगे कि कोई उपाय करके बालकको बचाइये। तब स्वामीजीने बालकको दीक्षा देकर शिष्य बनाया और दूध पीनेकी आज्ञा दी। बालकके सब पाप दूर हो गये और वह दूध पीने लगा। श्रीरैदासजी आचार्यको ईश्वरके समान जान-मानकर मनमें पछताने लगे कि मैं बिलकुल ही अज्ञानी और अपराधी था, पर स्वामीजीने मेरे अपराधोंको भुलाकर इतनी कृपा की कि स्वयं पधारे।

श्रीरैदासजीके जन्म-सम्बन्धी इस घटनाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

रामानन्द जू कौ शिष्य ब्रह्मचारी रहे एक गहे वृत्ति चूटकीकी कहे तासों बानियों।
करो अंगीकार सीधो कहि दस बीस बार बरषे प्रबल धार तामें वापि आनियों॥
भोगको लगावै प्रभु ध्यान नहिं आवै अरे कैसे करि ल्यावै जाइ पूछि नीच मानियों।
दियो शाप भारी बात सुनी न हमारी घटि कुलमें उतारी देह सोई याकों जानियों॥ २५९॥
माता दूध प्यावे याकों छुयोऊ न भावे सुधि आवे सब पाछिली सुसेवाको प्रताप है।
भई नभ बानी रामानन्द मन जानी बड़ो दण्ड दियो मानीं बेगि आये चल्यो आप है॥
दुखी पिता माता देखि धाय लपटाय पाय कीजिये उपाय कियो शिष्य गयो पाप है।
स्तन पान कियो जियो लियो उन ईस जानि निपट अजानि फेरि भूले भयो ताप है॥ २६०॥

(ख) रैदासजीका सन्तप्रेम और भगवान्से वार्तालाप

श्रीरैदासजी महान् सन्त थे, ये भगवान्के भक्तोंसे बड़ा प्रेम करते थे। सन्त-सेवामें धनका सदुपयोग करते थे। इनका यह आचरण पिताजीको अच्छा न लगा। अत: उन्होंने इन्हें अलग कर दिया और घरके पीछेकी जमीन रहनेके लिये दे दी। यद्यपि घरमें बहुत-सा धन-माल था, पर उसमेंसे पिताजीने अलग करते समय एक कण भी नहीं दिया। इससे रैदासजी और उनकी स्त्रीको बड़ा सुख हुआ; इन लोगोंको भगवान्पर

पूर्ण भरोसा था। रैदासजी जूतियोंको गाँठते थे, पक्का चमड़ा लाकर जूते बनाते थे। साधु-सन्तोंको पहनाते थे। अपनी इस सेवाको प्रकट न करके गुप्त ही रखते थे। आपने एक छप्पर डालकर उसमें भगवान्‌की सेवाके योग्य स्थान बनाया। उसीमें सन्तजन भी निवास करते थे। पर स्वयं आप खुलेमें ही रहते थे। मजदूरीसे प्राप्त धनको आप अतिथियोंमें बाँटकर खाते थे। ऐसी दैनिक जीवनचर्यासे आप रहते थे।

एक दिन स्वयं भगवान् भक्तका वेष बनाकर श्रीरैदासजीके यहाँ पधारे और श्रीरैदासजीको पारसमणि देते हुए कहा कि 'इसे सँभालकर रखना।' श्रीरैदासजीने कहा—मेरे धन तो श्रीरामजी हैं। इस पत्थरसे मेरा काम नहीं चलेगा। मैं धन-सम्पत्तिको नहीं चाहता हूँ। मैं तो यह चाहता हूँ कि सन्त-भगवन्तकी सेवामें अपना यह शरीर भी न्यौछावर कर दूँ। सन्त-भगवान्‌ने पारसका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखानेके लिये उसे लोहेकी राँपीसे छुवा दिया, वह सोनेकी हो गयी। फिर पारस देकर श्रीरैदासजीसे बोले कि आप कृपा करके इसे रख लो और आवश्यकता पड़नेपर इसे निकाल लेना। तब श्रीरैदासजीने कहा—यदि आप नहीं मानते हो तो इसे ठाकुरजीके छप्परमें रख दो, जब इच्छा हो, तब निकाल ले जाना।

साधुवेषधारी भगवान् श्यामसुन्दर तेरह मास बीत जानेके बाद फिर श्रीरैदासजीके यहाँ आये और बड़े प्रेमसे बोले—कहिये, रैदासजी! पारसका प्रयोग करके क्या सेवा की? श्रीरैदासजी बोले—जहाँ आप रख गये थे, वहाँ ही रखा होगा। आप उसे ले लीजिये। श्रीरैदासजीकी ऐसी बात सुनकर पारसको लेकर वे चले गये। अब इसके बाद भगवान्‌ने जो नयी लीला रची, उसे सुनिये—प्रातःकाल जब श्रीरैदासजी ठाकुर-सेवा करने जाते तो नित्य पाँच मुहरें वहाँ मिलतीं। बिच्छूकी तरह उन्हें चिमटेसे पकड़कर रैदासजी नित्य गंगामें डाल आते। अब तो रैदासजीको ठाकुरजीकी सेवासे भी भय लगने लगा। तब भगवान्‌ने स्वप्नमें श्रीरैदासजीसे कहा—तुम अपना हठ छोड़ दो और मैं जैसा चाहता हूँ, वैसा करो।

अन्तमें श्रीरैदासजीने भगवान्‌की बात (आज्ञा) मान ली। नित्य प्राप्त मुहरोंसे नयी जगह लेकर विशाल सन्त-निवास और भगवान्‌का भव्य मन्दिर बनवाया। उसमें दिन-रात सेवा और भजन-कीर्तनसे ऐसा लगता था कि श्रीभक्तिदेवी यहीं रम गयी हैं।

उसी समय उरप्रेरक रघुवंशविभूषणने ब्राह्मणोंके हृदयोंमें प्रेरणा की कि 'रैदासकी सेवाका विरोध करो, उसे बन्द करा दो।' तब बहुत-से ब्राह्मणोंने एकत्र होकर राजाके आगे भरी सभामें श्रीरैदासजीको गालियाँ देते हुए पुकार की, उनपर आरोप लगाया कि वे शूद्र होकर पूजा करते हैं। यह अन्याय है, इसे रोका जाय, अन्यथा आपका राज्य नष्ट हो जायगा। तब राजाने श्रीरैदासजीको बुलवाया तथा उनका चमत्कार देखकर न्याय किया और श्रीरैदासजीको सेवाका अधिकार प्रदान किया।

सन्त श्रीरैदासजीकी उपर्युक्त जीवनचर्याका श्रीप्रियादासजी अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बड़ेई रैदास हरि दासनि सों प्रीति करी पिता न सुहाई दई ठौर पिछवारहीं।
हुतो धन माल कन दियो हू न हाल तिया पति सुख जाल अहो किये जब न्यारहीं॥
गाठैं पगदासी कहूँ बात न प्रकासी ल्यावें खाल करैं जूती साधु सन्त को सँभारहीं।
डारी एक छानि कियो सेवाको सुस्थान रहें चौड़े आप जानि बाँटि पावें यहि धारहीं॥ २६१॥
सहे अति कष्ट अंग हिये सुख सील रंग आए हरि प्यारे लियो भक्त भेष धारि कै।
कियो बहुमान खान पान सो प्रसन्न ह्वै कै दीनों कह्यो पारस है राखियो सँभारि कै॥
मेरे धन राम कछु पाथर न सरै काम दाम मैं न चाहौं चाहौं डारौं तन वारि कै।
रांपी एक सोनो कियो दियो करि कृपा राखो राखो यहु छानि मांझ लैहो जु निकारि कै॥ २६२॥

आये फिरि श्याम मास तेरह बितीत भये प्रीति करि बोले कहो पारसकी रीति कौ।
वाही ठौर लीजै मेरो मन न पतीजै अब चाहो सोई कीजै मैं तो पावत हौं भीति कौ॥
लै कै उठि गये नये कौतुक सो सुनो पावैं सेवत मुहर पाँच नित ही प्रतीति कौ।
सेवा हू करत डर लाग्यो निसि कह्यो हरि छोड़ो अर आपनी औ राखो मेरी जीति कौ॥ २६३॥
मानि लई बात नई ठौर ले बनाय चाय सन्तनि बसाय हरि मन्दिर चिनायो है।
विविध वितान तान गनौं जो प्रमान होइ भोड़ गई भक्ति पुरी जग जस गायो है॥
दरसन आवैं लोग नाना विधि राग भोग रोग भयो विप्रनि कौं तन सब छायो है।
बड़ेई खिलारी वे रहे हैं छानि डारि करी घर पै अँटारी फेरि द्विजन सिखायो है॥ २६४॥
प्रीति रस रास सों रैदास हरि सेवत हैं घरमें दुराय लोक रंजनादि टारी है।
प्रेरि दिये हृदै जाय द्विजनि पुकारि करी भरी सभा नृप आगे कह्यो मुख गारी है॥
जनकौं बुलाय समझाय न्याय प्रभु सौंपि कीनों जग जस साधु लीला मनुहारी है।
जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल याते सन्तनि प्रभाव मनि कोठरी की तारी है॥ २६५॥

(ग) चित्तौड़की रानीद्वारा इनका शिष्य बनना

चित्तौड़ नगरमें झाली नामकी एक रानी रहती थी। किसी गुरुसे उसने कानमें मन्त्र नहीं लिया था। वह काशी आयी और श्रीरैदासजीके सुयशको सुनकर एवं दर्शनमात्रसे सद्गुरुबुद्धि आनेपर उनकी शिष्या हो गयी। उसके साथ बहुत-से ब्राह्मण थे, यह समाचार सुनते ही द्वेषवश उनके शरीरमें आग-सी लग गयी। वे सब लोगोंकी भीड़को लेकर राजाके पास गये और कहा—रैदासको दीक्षा देनेका अधिकार नहीं है, उन्होंने अनधिकार चेष्टा की है। आप न्याय करें। तब राजाने रैदासजीको बुलवाया और भगवान्‌की मूर्तिको सिंहासनपर विराजमान कराकर कहा—'बुलानेसे भगवान् जिसके पास चले जायँगे, वही उनकी सेवाका तथा उनके मन्त्रको देनेका अधिकारी समझा जायगा।' ब्राह्मणोंने सस्वर वेदपाठ करके भगवान्‌का आवाहन किया, किंतु भगवान् उनके पास नहीं गये। पश्चात् श्रीरैदासजीने ***'पतित पावन नाम आज प्रकट कीजै'*** यह पद गाया। तब भगवान् श्रीरैदासजीकी गोदीमें आकर विराजमान हो गये।

झाली रानीके बुलानेपर श्रीरैदासजी चित्तौड़को पधारे। रानीने बड़ा भारी स्वागत किया और बहुत-सा धन तथा वस्त्र न्यौछावर किये। साधुओंके विशाल भण्डारे हुए। यह सुनकर बहुत-से ब्राह्मण भी पधारे। उन्होंने भण्डारेमें भोजन करना स्वीकार नहीं किया, इसलिये इन्हें सीधा-सामान दिया गया। ब्राह्मणोंने रसोई की और जब भोजन करनेके लिये बैठे तो उन्हें पंक्तिमें दो-दो ब्राह्मणोंके बीचमें एक रैदास बैठे दिखायी पड़े। यह चमत्कार देखकर उनकी आँखें खुल गयीं। तब वे दीनवाणीसे अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना करने लगे। लाखों ब्राह्मण भी उनके शिष्य हो गये। श्रीरैदासजीने अपने शरीरकी त्वचाको चीरकर सोनेका यज्ञोपवीत सबको दिखाया। इससे सबको विश्वास हो गया कि 'ये दिव्य पुरुष हैं'।

रानी झालीके श्रीरैदासजीकी शिष्या बननेकी घटनाका वर्णन करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं—

बसत चित्तौर मांझ रानी एक झाली नाम नाम बिन कान खाली आनि शिष्य भई है।
संग हुते बिप्र सुनि छिप्र तन आगि लागि भागी मति नृप आगे भीर सब गई है॥
वैसेहि सिंहासन पै आनि कै विराजे प्रभु पढ़े वेद बानी पै न आये यह नई है।
पतित पावन नाम कीजिये प्रकट आजु गायो पद गोद आइ बैठे भक्ति लई है॥ २६६॥
गई घर झाली पुनि बोलिकै पठाये अहो जैसे प्रतिपाली अब तैसे प्रतिपारियै।
आपुहू पधारे उन बहु धन पट वारे विप्र सुनि पांव धारे सीधो दै निवारियै॥

करिकैं रसोई द्विज भोजन करन बैठे द्वै द्वै मधि एक यों रैदासको निहारियै।
देखि भई आखें दीन भाषैं सिख लाखैं भये स्वर्णको जनेऊ काढ्यो त्वचा कीनी न्यारियै॥ २६७॥

श्रीकबीरदासजी

भक्ति बिमुख जो धर्म सोइ अधरम करि गायो।
जोग जग्य ब्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥
हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाषी॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिंन भनी।
कबिर कानि राखी नहीं बरनाश्रम षटदरसनी॥ ६०॥

श्रीकबीरदासने भक्तिहीन षड्दर्शन एवं वर्णाश्रम धर्मको मान्यता नहीं दी। वे भक्तिसे विरुद्ध धर्मको अधर्म ही कहते थे। उन्होंने बिना भजनके योग, यज्ञ, व्रत और दान आदिको व्यर्थ सिद्ध किया। उन्होंने अपने बीजक—रमैनी, शबदी और साखियोंमें किसी मतविशेषका पक्षपात न करके सभीके कल्याणके लिये उपदेश दिया। हिन्दू-मुसलमान सभीके लिये उनके वाक्य प्रमाण हैं। वे ज्ञान एवं पराभक्तिकी आनन्दमयी अवस्थामें सर्वदा स्थित रहते थे। श्रीकबीरदासजीने किसीके प्रभावमें आकर मुँहदेखी बात नहीं कही। वे जगत्के प्रपंचोंसे सर्वथा दूर रहे॥ ६०॥

सन्त श्रीकबीरदासजीका जीवन-चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

उच्चश्रेणीके भक्तोंमें कबीरजीका नाम बहुत आदर और श्रद्धाके साथ लिया जाता है। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं, जगद्गुरु रामानन्द स्वामीके आशीर्वादसे ये काशीकी एक विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुए। लज्जाके मारे वह नवजात शिशुको लहरताराके तालके पास फेंक आयी। नीरू नामका एक जुलाहा उस बालकको अपने घर उठा लाया, उसीने उस बालकको पाला-पोसा। यही बालक 'कबीर' कहलाया। कुछ कबीरपन्थी महानुभावोंकी मान्यता है कि कबीरका आविर्भाव काशीके लहरतारा तालाबमें कमलके एक अति मनोहर पुष्पके ऊपर बालकरूपमें हुआ था। एक प्राचीन ग्रन्थमें लिखा है कि किसी महान् योगीके औरस और प्रतीचि नामक देवांगनाके गर्भसे भक्तराज प्रह्लाद ही कबीरके रूपमें संवत् १४५५ ज्येष्ठ शुक्ल १५ को प्रकट हुए थे। प्रतीचिने उन्हें कमलके पत्तेपर रखकर लहरतारा तालाबमें तैरा दिया था और नीरू-नीमा नामके जुलाहा-दम्पती जबतक आकर उस बालकको नहीं ले गये, तबतक प्रतीचि उनकी रक्षा करती रही। कुछ लोगोंका यह भी कथन है कि कबीर जन्मसे ही मुसलमान थे और सयाने होनेपर स्वामी रामानन्दके प्रभावमें आकर उन्होंने हिन्दूधर्मकी बातें जानीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन एक पहर रात रहते ही कबीर पंचगंगाघाटकी सीढ़ियोंपर जा पड़े। वहींसे रामानन्दजी स्नान करनेके लिये उतरा करते थे। रामानन्दजीका पैर कबीरके ऊपर पड़ गया। रामानन्दजी चट 'राम-राम' बोले उठे। कबीरने इसे ही श्रीगुरुमुखसे प्राप्त दीक्षामन्त्र मान लिया और स्वामी रामानन्दजीको अपना गुरु कहने लगे। स्वयं कबीरके शब्द हैं—

'हम कासी में प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताये।'

मुसलमान कबीरपन्थियोंकी मान्यता है कि कबीरने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकीसे दीक्षा ली थी। परंतु कबीरने शेख तकीका नाम उतने आदरसे नहीं लिया है, जितना स्वामी रामानन्दका। इसके सिवा कबीरने पीर पीताम्बरका नाम भी विशेष आदरसे लिया है। इन बातोंसे यही सिद्ध होता है कि कबीरने हिन्दू-मुसलमान भेदभाव मिटाकर हिन्दू-भक्तों तथा मुसलिम फकीरोंका सत्संग किया और उनसे जो कुछ भी तत्त्व प्राप्त हुआ, उसे हृदयंगम किया।

जनश्रुतिके अनुसार कबीरके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्रका नाम था कमाल और पुत्रीका कमाली। इनकी स्त्रीका नाम 'लोई' बतलाया जाता है। इस छोटे-से परिवारके पालनके लिये कबीरको अपने करघेपर कठिन परिश्रम करना पड़ता था। घरमें साधु-सन्तोंका जमघट रहता ही था। इसलिये कभी-कभी इन्हें फाकेमस्तीका मजा भी मिला करता था। कबीर 'पढ़े-लिखे' नहीं थे। स्वयं उन्हींके शब्द हैं—

'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

कबीरकी वाणीका संग्रह 'बीजक' के नामसे प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। भाषा खिचड़ी है—पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूरबी, व्रजभाषा आदि कई बोलियोंका पँचमेल है।

श्रीकबीरदासजी सिद्ध सन्त थे, इनके चमत्कारोंके अनेक प्रसंग आज भी जन-सामान्यमें प्रचलित हैं, परंतु इनका उद्देश्य सिद्धिका चमत्कार-प्रदर्शन नहीं, अपितु सन्त-भगवन्तकी महिमाका ख्यापन और भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार था।

कहते हैं कि एक बार प्रयागमें कुम्भके अवसरपर श्रीकबीरदासजी भी वहाँ गये थे तथा तत्कालीन यवन सुलतान भी मुसलमान फकीर शेख तकीको लेकर गया हुआ था। एक दिन वह श्रीत्रिवेणीजीके किनारे खड़ा था, श्रीकबीरदासजी भी स्नान करनेके लिये वहाँ आये थे। उसी समय एक मृत बालकका शव बहता चला आ रहा था। शेख तकीने सुलतानको दिखाकर कहा—हुजूर! देखिये, कैसा सुन्दर बालक है, दुनियाँसे चल बसा। सुलतानने श्रीकबीरदासजीकी ओर संकेत करते हुए शेख तकीसे कहा—ये साहबसे मिले हैं, चाहें तो जिन्दा कर सकते हैं। कबीरदासजीको लगा कि यह सुलतान अपनी सल्तनतके नशेमें मेरी भक्ति, प्रभुके प्रति श्रद्धा और विश्वासको चुनौती दे रहा है और एक मुसलमान फकीरके सम्मुख मेरी हँसी उड़ा रहा है, अतः उन्होंने उसको पुकारकर कहा—'ऐ बालक! तू कहाँ जा रहा है, आ मेरे पास।' इतना कहते ही वह बालक जीवित हो गया और लौटकर कबीरदासजीके पास आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। इस अद्भुत चमत्कारको देखकर बरबस ही सुलतानके मुखसे निकल पड़ा—कमाल है! इसपर श्रीकबीरदासजीने उस बालकका नाम ही कमाल रख दिया और उसे अपना पुत्र बना लिया। इसी प्रकारकी कथा कमालीके विषयमें भी प्रसिद्ध है, वह एक राजकन्या थी। छोटी अवस्थामें ही उसकी मृत्यु हो गयी थी। राजाने अपने कुलकी प्रथाके अनुसार उसे पृथ्वीमें समाधि दे दी। फिर उसे पता चला कि श्रीकबीरदासजी परम सिद्ध सन्त हैं और वे मरे हुएको भी जिन्दा कर देनेमें समर्थ हैं, तबतक कमालके जीवित हो जानेकी घटना सर्वविदित हो चुकी थी। अतः राजाने श्रीकबीरदासजीको बुलवाया। राजाकी प्रार्थनापर श्रीकबीरदासजीने यह कहकर पुकारा कि बेटी! तुम्हारे पिता बुला रहे हैं, जीवित होकर चली आ। परंतु वह नहीं जीवित हुई। तब श्रीकबीरजीने पुनः कहा कि अच्छा बेटी! तुम्हारे पिता कबीर बुला रहे हैं, जीवित होकर चली आ। इतना कहते ही वह समाधिमेंसे जीवित निकलकर बाहर आ गयी। राजा-रानी बहुत प्रसन्न हुए वे प्रेमपूर्वक उसे गोदमें लेकर घर ले जाने लगे। तब उस राजकन्याने कहा कि मैं जिस पिताके नामपर जीवित हुई हूँ, उन्हींके साथ जाऊँगी। राजा-रानीने भी उसे श्रीकबीरदासजीके ही चरणोंमें डाल दिया।

इनके सम्बन्धमें इसी प्रकारकी एक और कथा प्रसिद्ध है। एक बार बलख बुखाराके बादशाहका पुत्र मर गया। उसे किसीसे ज्ञात हुआ कि भारतमें अनेक बड़े-बड़े सिद्ध फकीर हैं, जो मृत व्यक्तिको भी जिन्दा कर देते हैं। अतः उसने अपने पुत्रको जीवित करानेके लिये अपने वजीरको किसी सन्तको लानेके लिये भारत भेजा। वह समय भक्तिकाल था, ऐसे अनेक सिद्ध सन्त थे, जो मुर्देको भी जिन्दा करनेमें सक्षम थे, परंतु मुसलिम राष्ट्रमें जानेको कोई तैयार नहीं हुआ। अन्तमें वजीर श्रीकबीरदासजीके पास आया और उनसे प्रार्थना की। कबीरदासजी तैयार हो गये। वजीर इन्हें बड़े आदरके साथ बलख बुखारा ले गया। वहाँ भी इनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ और इन्हें उस स्थानपर ले जाया गया, जहाँ शहजादेका शव रखा हुआ

था। बादशाह, वजीर और दरबारके दूसरे बड़े ओहदेदार भी वहाँ हाजिर थे। कबीरदासजीने शहजादेके शवको सम्बोधित करते हुए कहा—उठ, बादशाहके हुक्मसे; परंतु वह शव वैसे-का-वैसा ही पड़ा रहा। कबीरदासजीने फिर कहा—उठ, खुदाके हुक्मसे। फिर भी शव नहीं उठा तो कबीरने कहा—उठ, मेरे हुक्मसे। उनके इतना कहते ही वह बालक तुरंत जीवित होकर उठ बैठा। इस प्रकार श्रीकबीरदासजीने अनेक अद्भुत कर्म किये, जो उनके जैसे सिद्ध सन्तद्वारा ही सम्भव थे।

बुढ़ापेमें कबीरके लिये काशीमें रहना लोगोंने दूभर कर दिया था। यश और कीर्तिकी उनपर वृष्टि-सी होने लगी। कबीर इससे तंग आकर मगहर चले आये। ११९ वर्षकी अवस्थामें मगहरमें ही उन्होंने शरीर छोड़ा।

सन्त-शिरोमणि कबीरका नाम उनकी सरलता और साधुताके लिये संसारमें सदा अमर रहेगा। उनकी कुछ साखियोंकी बानगी लीजिये—

ऐसा कोई ना मिला, सत्त नाम का मीत। तन मन सौंपे मिरग ज्यौं, सुन बधिक का गीत॥
सुखके माथे सिल परै, जो नाम हृदय से जाय। बलिहारी वा दुःख की, (जो) पल पल नाम रटाय॥
तन थिर, मन थिर, बचन थिर, सुरत निरत थिर होय। कह कबीर इस पलक को, कलप न पावै कोय॥
माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि। फूली फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बारि॥
सोऔं तो सुपिने मिलै, जागौं तो मन माहिं। लोचन राता, सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय। हाँसी खेले पिउ मिलैं तो कौन दुहागिनि होय॥
चूड़ी पटकौं पलँग से, चोली लावौं आगि। जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि॥
सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त। और न कोई सुनि सकै, कै साईं, के चित्त॥
कबीर प्याला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय। रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय॥

कबीरदासजीसे सम्बन्धित कुछ घटनाएँ इस प्रकार हैं—

(क) श्रीरामानन्दजीका शिष्य बननेकी घटना

श्रीकबीरदासजीकी बुद्धि अत्यन्त गम्भीर थी और उनका हृदय प्रेमाभक्तिसे सर्वथा परिपूर्ण एवं अति सरस था। उन्होंने भक्तिभावको अपनाकर जाति-पाँतिमें विवाद समझकर उसे बिलकुल त्याग दिया था। इसी समय एक दिन आकाशवाणी हुई कि 'अपने शरीरमें तिलक रमाओ, आचार्य श्रीरामानन्दको अपना गुरु बनाओ, गलेमें तुलसीमाला धारण करो।' यह सुनकर कबीरदासने कहा कि मैं उनसे मन्त्र-दीक्षा कैसे लूँगा, वे मुझे म्लेच्छ मानकर मेरा मुख भी नहीं देखना चाहेंगे, पुनः आकाशवाणीने कहा—वे गंगा-स्नान करने जाते हैं, उस समय मार्गमें अपनेको उनके चरणोंमें डाल देना। नित्य प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें ध्यानमग्न-प्रेमावेशसे आप गंगा-स्नान करने जाते थे। श्रीकबीरदासजी गंगाघाटकी सीढ़ीपर लेट गये। यथासमय श्रीस्वामीजी पधारे। उनका श्रीचरण कबीरजीके सिरपर पड़ गया। सहसा उनके मुखसे निकला—राम! राम! कहो। श्रीकबीरदासजीने राम-नामको मन्त्र-दीक्षाके रूपमें ग्रहण कर लिया। इस प्रकार आप श्रीस्वामीजीके शिष्य बनकर घरको चले आये।

श्रीकबीरदासजीने वही किया जैसा कि आकाशवाणीने कहा था अर्थात् अपने शरीरपर रामानन्दीय (द्वादश) तिलक लगाया और गलेमें तुलसी-कण्ठी पहन ली। अपने लड़केका साधुवेष देखकर एवं उसे रात-दिन राम-नाम जपते देखकर माताने इसे बड़ा उत्पात माना और बड़ा हल्ला मचाने लगी कि मेरे लड़केको किसीने हिन्दू-बाबाजी बना दिया। धीरे-धीरे यह बात श्रीरामानन्दजीके पासतक पहुँच गयी, फिर किसीने आकर यह भी बताया कि जब कोई उससे पूछता है कि तुम किसके शिष्य बन गये हो? तब वह आपका ही नाम लेता है। यह सुनकर श्रीस्वामीजीने आज्ञा दी कि 'उसे पकड़कर मेरे पास ले आओ।' आज्ञानुसार लोग कबीरदासजीको बुला लाये। परदेके पीछे बैठकर श्रीस्वामीजीने पूछा—हमने तुमको कब शिष्य बनाया? तब श्रीकबीरदासजीने गंगाघाटकी

सब घटना स्मरण करायी और बोले—श्रीरामनाम ही महामन्त्र है। यह बात सभी शास्त्रोंमें लिखी है। वही प्रदानकर आपने मुझे शिष्य बनाया। यह सुनकर श्रीस्वामीजी अति प्रसन्न हुए और परदा खोलकर बाहर आये तथा कबीरदासजीको छातीसे लगाकर बोले—वत्स! तुम्हारा सिद्धान्त सत्य है। श्रीरामनामको ही हृदयमें धारण करो।

श्रीप्रियादासजी कबीरदासजीद्वारा श्रीरामानन्दजीको गुरु बनानेकी घटनाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

अति ही गम्भीर मति सरस कबीर हियो लियो भक्ति भाव जाति पाँति सब टारियै।
भई नभ बानी देह तिलक रमानी करौ करौ गुरु रामानन्द गरें माल धारियै॥
देखैं नहिं मुख मेरो मानिकै मलेछ मोंको 'जात न्हान गंगा कही मग तन डारियै'।
रजनी के शेष में आवेश सों चलत आप परै पग राम कहै मन्त्र सो विचारियै॥ २६८॥
कीनी वही बात माला तिलक बनाय गात मानि उतपात माता सोर कियो भारियै।
पहुँची पुकार रामानन्दजू कै पास आनि कही कोऊ पूछे तुम नाम लै उचारियै॥
ल्यावौ जू पकरि वाको कब हम शिष्य कियो? ल्याये करि परदा में पूछी कहि डारियै।
राम नाम मन्त्र यही लिखो सब तन्त्रनि में खोलि पट मिले सांचो मत उर धारियै॥ २६९॥

(ख) श्रीकबीरदासजीकी दिनचर्या और उनका भगवद्भाव

श्रीकबीरदासजी जीवन-निर्वाहके लिये ताने-बानेसे कपड़ा बुनते थे, किंतु उनके हृदयमें श्रीरामजीका नामरूप मँड़राया करता था। वे कपड़ा उतना ही बुनते थे, जितनेसे परिवारका खर्च चल जाय। एक बार बाजारमें कपड़ा बेचनेके लिये आप खड़े थे कि एक साधु आपके पास आकर बोला कि मुझे कपड़ा दीजिये, मेरे पास पहननेके लिये कुछ नहीं है। तब आप उसे आधा थान फाड़कर देने लगे। तो उसने कहा—इस आधे थानसे मेरा काम नहीं चलेगा। श्रीकबीरदासजीने कहा—यदि पूरा थान लेनेका निश्चय आपने अपने मनमें किया है तो लीजिये, यह पूरा थान ही लीजिये।

श्रीकबीरदासके घरपर उनकी स्त्री लोई, माता नीमा, पुत्र कमाल और पुत्री कमाली—ये सभी रास्ता देख रहे थे। घरमें भोजन-सामग्रीका अभाव था, अतः सभी भूखे थे। कपड़ा बेचकर मूल धनसे सूत और मुनाफेसे सामान खरीदकर आता था। उसीसे निर्वाह होता था। दूसरे दिनके लिये कुछ बचता ही न था। श्रीकबीरदासजीने विचार किया कि घरमें सभी भूखे होंगे। खाली हाथ चलकर क्या करूँ। वे बाजारमें ही इधर-उधर कहीं छिप गये। घरको क्या लेकर आते? पूरा थान-का-थान तो दान कर चुके थे। भगवान् घट-घट वासी हैं, श्रीकबीरदासके सच्चे भक्तिभावको जानकर और घरके लोगोंको दुखी देखकर वे व्यापारी केशव बनजारेका रूप धारणकर बैलोंके ऊपर बहुत-सा आवश्यक सामान लादकर लाये। सब सामान उन्होंने कबीरदासजीके घरमें रख दिया और कहा—यह सामान सुविधाके लिये है। इससे आरामसे निर्वाह करो।

तीन दिन बाद भी जब श्रीकबीरदासजी लौटकर घर नहीं आये, तब दो-चार आदमी गये और ढूँढ़कर उन्हें लिवा लाये। घर आकर कबीरदासजीने सब बात सुनी कि एक व्यापारी बहुत-सा सामान लाकर डाल गया, तो उन्होंने जान लिया कि मेरे कष्टको देखकर स्वयं भगवान्‌को कष्ट हुआ, तभी उन्होंने सामान पहुँचानेका कष्ट उठाया। विचारकर कि श्रीराम रघुवीरने मुझपर अत्यन्त कृपा की, आप परमानन्दमें मग्न हो गये। उसी समय भक्तोंकी भीड़को बुलाकर श्रीकबीरदासजीने सारा सामान लुटा दिया। ताना-बाना, कपड़ा बुनना सब आपने छोड़ दिया। हृदयमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। यह सुनकर ब्राह्मणोंका धैर्य छूट गया, वे क्रोधित होकर दौड़ते हुए कबीरदासजीके यहाँ आये और बोले—क्यों रे जुलाहे! तूने इतना धन पाया और हमलोगोंको नहीं बुलाया।

शूद्रोंको बुलाकर सब धन उन्हें दे दिया। या तो हमें भी धन दो, नहीं तो यहाँसे बाहर भाग जाओ।

श्रीकबीरदासजीने कहा—अब मेरे घरमें तो कुछ भी नहीं है, आपलोग घरमें घुसकर देख लीजिये। यदि आप नहीं मानते हैं तो यहीं बैठें, मैं मण्डीमें जाता हूँ, कुछ मिलेगा तो लाकर दे दूँगा। यह कहकर श्रीकबीरदासजीने बड़ी कठिनाईसे अपना पीछा छुड़ाया और मण्डीमें जाकर छिप गये। इस प्रकार उन्होंने संकटको टाला। इसी समय भगवान् श्रीकबीरदासजीका रूप धारण करके आये और बहुत-सा धन लाये। उन्होंने आदरपूर्वक ब्राह्मणोंको धन देकर उनका समाधान किया। वे लोग धन लेकर बड़े सुखी हुए। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने भक्तकी उज्ज्वल कीर्तिको सम्पूर्ण जगत्‌में प्रकाशित किया।

श्रीप्रियादासजीने कबीरदासजीकी आजीविका और भगवद्भक्तिका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

बीनै तानौ बानौ हिये राम मडरानौ कहि कैसें कै बखानौं वह रीति कछु न्यारियै।
उतनोई करैं जामैं तन निरवाह होय भोय गई ओरै बात भक्ति लागी प्यारियै॥
ठाढ़े मण्डी मांझ पट बेचन लै जन कोऊ आयो मोकों देहु देह मेरी है उघारियै।
लग्यौ देन आधो फारि आधे सों न काम होत दियो सब लियौ जोपैं यहै उर धारियै॥ २७०॥
तियासुत मात मग देखैं भूखे आवै कब? दबि रहे हाटनि में ल्यावैं कहा धाम कौं।
सांचो भक्तिभाव जानि निपट सुजान वे तौ कृपाके निधान गृह शोच पर्‍यो श्याम कौं॥
बालद लै धाये दिन तीन यों बिताये जब आये घर डारि दई दई हौं आराम कौं।
माता करै सोर कोऊ हाकिम मरोरि बाँधे डारो बिन जानै सुत लेत नहीं दाम कौं॥ २७१॥
गये जन दोय चार ढूंढ़ि कै लिवाय ल्याये आये घर सुनी बात जानी प्रभु पीर कौं।
रहे सुख पाय कृपा करी रघुराय दई छिन मैं लुटाय सब बोलि भक्त भीर कौं॥
दियो छोड़ि तानौ बानौ सुख सरसानौ हिये किये रोष धाये सुनि विप्र तजि धीर कौं।
क्यों रे तूं जुलाहे धन पाये न बुलाये हमें, शूद्रनिकों दियो जावौ कहैं यों कबीर कौं॥ २७२॥
क्यों जू उठि जाऊँ? कछु चोरी धन ल्याऊँ निज हरिगुन गाऊँ कोऊ राह मैं न मारी है।
उनिकौं लै मान कियो याहि मैं अमान भयौ दयौ जोपै जाय हमैं तौ ही तौ जियारी है॥
घरमें तौ नाहीं मण्डी जाहि तुम रहौ बैठे नीठिकै छुटायो पैड़ौ छिपे व्याधि टारी है।
आये प्रभु आप द्रव्य ल्याये समाधान कियो लियो सुख होय भक्त कीरति उजारी है॥ २७३॥

(ग) कबीरदासजीके जीवनके कुछ चमत्कार

ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करके भगवान्‌ने ब्राह्मणका रूप धारण किया और वहाँ पहुँचे, जहाँ श्रीकबीरदासजी छिपकर बैठे थे। भगवान्‌ने श्रीकबीरदासजीसे कहा—तू यहाँपर पड़ा हुआ, भूखों क्यों मरता है? श्रीकबीरदासजीके घरपर जा। जो भी कोई वहाँ जाता है, उसे वे ढाई सेर अन्न देते हैं, इसलिये अब तू देर मत कर, वहीं चला जा, जल्दीसे जा। श्रीकबीरदासजी घरको आये और सब समाचार देख-सुनकर प्रेमानन्दमें पूर्णरूपसे मग्न हो गये। भगवान्‌के द्वारा किये गये नये-नये कौतुकोंसे तथा वैभवकी वृद्धिसे परम अकिंचन भक्त श्रीकबीरदासजीका धैर्य कैसे रहे। बढ़ती हुई प्रतिष्ठाको घटानेके लिये श्रीकबीरदासने भी नये-नये कौतुकोंकी रचना प्रारम्भ कर दी। एक दिन आपने एक वेश्याको अपने साथमें ले लिया। उस समय ऐसा मालूम होता था कि भजन-भावको छोड़कर ये उसीके रंगमें रँग गये हैं। परंतु सच्ची बात तो यह थी कि मुझे कुमार्गी समझकर लोग मेरे पास न आयें, मेरे भजनमें बाधा न हो।

श्रीकबीरदासजीको एक वेश्याके साथ देखकर सन्तजन डर गये कि श्रीकबीरदासजी यदि मायासे मोहित

हो सकते हैं तो हम-सरीखे साधारण लोग कैसे बचेंगे और दुष्टोंके मनमें बड़ा भारी सुख हुआ। वे कहने लगे, हम तो कहते ही थे कि यह ढोंगी है, हमारी बात सच निकली। श्रीकबीरदासजीने जब सन्त और असन्तोंके ऐसे भाव जाने, तब वे वेश्याको साथ लिये हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ काशीके राजाकी सभा लगी हुई थी। राजाने शिष्य होते हुए भी इनका कुछ भी सम्मान नहीं किया। फिर भी ये वहाँ बैठ गये और मानसी भावसे श्रीजगन्नाथभगवान्‌का ध्यान करने लगे। थोड़ी देर बाद इन्होंने उठकर वहीं अपने पात्रसे जल गिरा दिया। यह देखकर राजाके मनमें कुछ चिन्ता हुई और उसने पूछा—आपने यह क्या किया, जल क्यों गिराया? श्रीकबीरदासजीने कहा—श्रीजगन्नाथपुरीमें श्रीजगन्नाथजीका रसोइया भोगका थाल मन्दिरमें लिये जा रहा था, उसका पैर जलनेवाला था, इसलिये आगको बुझाकर मैंने उसकी रक्षा की है। यह सुनकर सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ। राजाने इसकी जाँचके लिये आदमी भेजे। उन्होंने लौटकर समाचार दिया कि श्रीकबीरदासजीकी बात सत्य है—बिलकुल सत्य है।

राजाने मनमें अपना अपराध मानकर रानीसे कहा—श्रीकबीरदासजीकी वह बात तो सत्य निकली। राजसभामें कृपा करके पधारे, मैंने उनका अपमान किया, इसलिये मेरे मनमें बड़ा भारी दुःख है। इस अपराधसे बचनेके लिये मैं कौन-सा उपाय करूँ? रानीने कहा कि उन्हींकी शरणमें जानेसे काम बनेगा। तब राजाने घासका एक बड़ा भारी बोझ सिरपर रख लिया और गलेमें कुल्हाड़ी बाँध ली। इस प्रकार भावमें भीगा हुआ राजा रानीको साथमें लेकर श्रीकबीरदासजीकी शरणमें चला। राजा-रानीने लोक-लज्जाका सर्वथा परित्याग कर दिया था। दोनों बाजारसे होकर निकले। हमने बड़ा अनुचित कार्य किया है ऐसा सोच-सोचकर उनके शरीर क्षण-प्रतिक्षण क्षीण हो रहे थे। श्रीकबीरदासजीने दूरसे राजाको आते देखा तो अत्यन्त व्याकुल हो गये। वे उठकर राजाके पास आये और उन्होंने घासका बोझ उतरवा दिया, गलेसे कुल्हाड़ी खुलवा दी। राजा-रानीके भावसे श्रीकबीरदासजी अत्यन्त सन्तुष्ट हो गये। मैं तुम्हारे ऊपर रुष्ट नहीं हूँ, ऐसा कहते हुए उन्होंने उपदेश देकर उन्हें आनन्दित किया।

श्रीकबीरदासजीके इन चरित्रोंका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

ब्राह्मनकौ रूप धरि आये छिपि बैठे जहाँ काहे को मरत भौन जावौ जू कबीर के।
कोऊ जाय द्वार ताहिं देत हैं अढ़ाई सेर बेर जिनि लावौ चले जावौ यों बहीर के॥
आये घर माँझ देखि निपट मगन भये नये नये कौतुक ये कैसे रहैं धीर के।
बारमुखी लई संग मानौ वाही रंग रँगे जानौ यह बात करी डर अति भीर के॥ २७४॥
सन्त देखि डरे सुख भयोई असन्तनिके तब तौ विचार मन माँझ और आयो है।
बैठी नृपसभा जहाँ गये पै न मान कियौ कियौ एक चोज उठि जल ढरकायो है॥
राजा जिय शोच पर्‍यो कर्‍यो कहा? कह्यो तब जगन्नाथ पण्डा पाँव जरत बचायो है।
सुनि अचरज भरे नृपने पठाये नर ल्याये सुधि कही अजू साँच ही सुनायो है॥ २७५॥
कही राजा रानी सों जु बात वह साँची भई आँच लागी हिये अब कहो कहा कीजियै।
'चले ही बनत' चले सीस तृण बोझ भारी गरेसों कुल्हारी बाँधि तिया संग भीजियै॥
निकसे बाजार ह्वै कै डारि दई लोकलाज कियो मैं अकाज छिन छिन तन छीजियै।
दूर ते कबीर देखि ह्वै गये अधीर महा आये उठि आगे कह्यौ डारि मत रीझियै॥ २७६॥

(घ) कबीरदासजी और बादशाह सिकन्दर लोदी

श्रीकबीरदासजीकी बढ़ती हुई महिमाको देखकर ब्राह्मणोंके हृदयमें ईर्ष्या पैदा हो गयी। उस समय भारतका तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी काशी आया हुआ था। भक्तिविमुख ब्राह्मणोंने श्रीकबीरदासजीकी माताको भी अपने पक्षमें कर लिया और इकट्ठे होकर सिकन्दर लोदीके दरबारमें गये। सबोंने पुकार की कि इस कबीरदासने सारे गाँवको दुखी कर रखा है। मुसलमान होकर हिन्दू बाबाजी बन गया है, किसी धर्मको न मानकर ढोंग फैलाता

रहता है। बादशाहने तुरंत आज्ञा दे दी कि उसे अभी पकड़कर मेरे पास ले आओ, मैं उसे देखूँगा कि वह कैसा मक्कार है। बादशाहकी आज्ञा पाकर सिपाहीलोग श्रीकबीरदासजीको ले आये और बादशाहके सामने खड़ा कर दिया। तब किसी काजीने श्रीकबीरदासजीसे कहा—ये बादशाह सलामत हैं, इन्हें सलाम करो। इन्होंने उत्तर दिया कि हम श्रीरामके अतिरिक्त दूसरे किसीको सलाम करना जानते ही नहीं हैं।

श्रीकबीरदासजीकी बातें सुनकर बादशाहने इन्हें लोहेकी जंजीरोंसे बँधवाकर गंगाजीकी धारामें डुबा दिया। परंतु ये जीवित ही रहे, लोहेकी जंजीरें न जाने कहाँ गयीं! ये गंगाजीकी धारसे निकलकर तटपर खड़े हो गये। पश्चात् बादशाहकी आज्ञासे बहुत-सी लकड़ियोंमें इन्हें दबाकर आग लगा दी गयी। उस समय नया आश्चर्य हुआ, सभी लकड़ियाँ जलकर भस्म हो गयीं और इनका शरीर इस प्रकार चमकने लगा, जिसे देखकर तपे हुए सोनेकी चमक भी लज्जित हो जाय। जब यह उपाय भी व्यर्थ हो गया तो एक मतवाला हाथी लाकर उसे उनके ऊपर झपटाया गया। परंतु लाख प्रयत्न करनेपर भी हाथी श्रीकबीरदासजीके पास नहीं आया। बड़ी जोरसे चिंघाड़कर वह दूर भाग जाता था। इनके समीपमें हाथीके न आनेका कारण यह था कि स्वयं श्रीरामजी सिंहका रूप धारणकर श्रीकबीरदासजीके आगे बैठे थे।

बादशाह सिकन्दर लोदीने श्रीकबीरदासजीका ऐसा अद्भुत प्रभाव देखा तो वह सिंहासनसे कूदकर इनके चरणोंमें गिर पड़ा और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा कि 'अब आप कृपा करके ईश्वरके कोपसे मुझे बचा लीजिये।' श्रीकबीरदासजीने कहा—'अब कभी भी किसी साधु-सन्तके ऊपर ऐसा गजब न करना।' बादशाहने कहा—'प्रभो! गाँव, देश तथा अनेक सुख-सुविधाके सभी सामान जो-जो आप चाहें, वह सब मैं आपको दूँगा।' तब आपने उत्तर दिया—हम तो केवल श्रीरामजीको चाहते हैं और उन्हींको अष्ट-प्रहर जपते हैं। दूसरे किसी धनसे हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं है, इस प्रकार बादशाहसे सम्मानित होकर आप अपने घर आये।

श्रीकबीरदासजीकी विजयसे वे विरोधी ब्राह्मणलोग अत्यन्त लज्जित हुए। साधुओंसे शाप दिलाकर इन्हें परास्त करनेके विचारसे उन्होंने अपनेमेंसे चार ब्राह्मणोंके सुन्दर वैरागी साधुओंके-से वेष बनाये। उन चारोंको चारों दिशाओंमें भेज दिया। वे लोग दूर-दूरतक गाँवोंमें साधुओंके स्थानों और नामोंको पूछ-पूछकर सब जगह सबको न्यौता दे आये कि अमुक दिन श्रीकबीरदासजीके यहाँ भण्डारा है, वस्त्र और दक्षिणाका भी प्रबन्ध है, आप पधारें। भण्डारा सुनकर अगणित साधु-सन्त श्रीकबीरदासजीके यहाँ आये। तब आप घरसे अलग कहीं दूर जाकर छिप गये। अपने भक्तकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये भगवान् स्वयं श्रीकबीरदासजीका रूप धारण करके आ गये और भण्डारेका प्रबन्ध करने लगे। बड़ी-बड़ी पंगतें बैठ गयीं। अब कबीरदासजी भी आकर इन्हींमें मिल गये। भगवान्ने खिला-पिलाकर और दान-सम्मानसे सभी साधु-सन्तोंको तथा श्रीकबीरदासजीको भी अच्छी प्रकारसे प्रसन्न किया।

उक्त घटनाओंका वर्णन श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यौ अभाव द्विज आयौ बादशाह सो सिकन्दर सुनाँव है।
विमख समूह संग माता हूं मिलाय लई जाय कै पुकारे जू दुखायो सब गाँव है॥
ल्यावो रे पकर वाके देखौं मैं मकर कैसो अकर मिटाऊँ गाढ़े जकर तनाँव है।
आनि ठाढ़े किये काजी कहत सलाम करौ जानै न सलाम जानै राम गाढ़े पाँव है॥ २७७॥
बाँधिकै जंजीर गंगानीर मांझ बोरि दिये जिये तीर ठाढ़े कहैं जन्त्र मन्त्र आवहीं।
लकरीन मांझ डारि अगिनि प्रजारि दई नई मानो भई देह कंचन लजावहीं॥
विफल उपाय भये तऊ नहीं आय नये तब मतवारो हाथी आनि कै झुकावहीं।
आवत न ढिग औ चिघारि हारि भाजि जाय आप आगे सिंह रूप बैठे सो भगावहीं॥ २७८॥

देख्यो बादशाह भाव कूदि परे गहे पाँव देखि करामात मात भये सब लोग हैं।
प्रभु पै बचाय लीजै हमें न गजब कीजै दीजै जोई चाहौ गाँव देस नाना भोग हैं॥
चाहैं एक राम जाकौं जपै आठो याम और दामसों न काम जामैं भरे कोटि रोग हैं।
आये घर जीत साधु मिले करि प्रीति जिन्हैं हरिकी प्रतीति वेई गायबेके जोग हैं॥ २७९॥
होयके खिसाने द्विज निज चारि विप्रनके मूड़न मुड़ायो भेष सुन्दर बनाये हैं।
दूर-दूर गांवनिमें नांवनिकौ पूंछि पूंछि नाम लै कबीरजूकौं झूठै न्यौति आये हैं॥
आये सब साधु सुनि ए तौ दूरि गये किहूं चहूँ दिसि सन्तनके फिरैं हरि धाये हैं।
इनहींको रूपधरि न्यारी न्यारी ठौर बैठे ऐऊ मिलि गये नीके पोषिकै रिझाये हैं॥ २८०॥

(ङ) भगवान्का कबीरदासजीको दर्शन देना

श्रीकबीरदासजीको मोहित करनेके लिये स्वर्गलोकसे एक अप्सरा सुन्दर वेश-भूषा बनाकर आयी। लेकिन इनके हृदयमें दृढ़ भक्तिभावको देखकर वह वापस चली गयी; क्योंकि उसकी लाग नहीं लगी। श्रीकबीरदासजीके सम्मुख आकर भगवान्ने अपना चतुर्भुज रूप प्रकट कर दिया। उसका दर्शन करके इनके नेत्र सफल हो गये। ऐसे परम सौभाग्यशाली सन्त श्रीकबीरदासजी थे। भगवान्ने अपना करकमल इनके मस्तकपर रखकर कहा—तुम धन्य हो, तुम्हारी बुद्धि मेरे नाम-रूपादिमें पग गयी है। अपनी इच्छानुसार जबतक चाहो, इस मर्त्यलोकमें रहो और मेरे गुणोंका गान करो। उसके बाद अपने इस शरीरके सहित मेरे परमधाम वैकुण्ठमें चले आना। मगहरमें जाकर आपने भगवद्भक्तिका प्रताप दिखाया। भक्तिका प्रचार किया। अन्त समयमें आपने बहुत-से पुष्प मँगाये, उन्हें बिछाकर लेट गये और भगवान्से जा मिले।

इस घटनाका भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराजने इस प्रकार वर्णन किया है—

आई अपछरा छरिबे के लिए वेस किए हिये देखि गाढ़े फिरि गई नहीं लागी है।
चतुर्भुज रूप प्रभु आनिकै प्रगट कियौ लियो फल नैननि कौं बड़ौ बड़ भागी है॥
सीस धरैं हाथ तन साथ मेरे धाम आवौ गावौ गुण रहो जौलौं तेरी मति पागी है।
मगह में जाय भक्ति भावको दिखाय बहु फूलनि मँगाय पौढ़ि मिल्यौ हरि रागी है॥ २८१॥

श्रीपीपाजी

प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन को धायो।
सत्य कह्यो तिहिं सक्ति सुदृढ़ हरि सरन बतायो॥
(श्री) रामानँद पद पाइ भयो अति भक्ति की सीवाँ।
गुन असंख्य निर्मोल संत धरि राखत ग्रीवाँ॥
परसि प्रनाली सरस भइ सकल बिस्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग बासना नाहर कों उपदेस दियो॥ ६१॥

भक्तवर श्रीपीपाजी पहले भवानी देवीके भक्त थे। मुक्ति माँगनेके लिये आपने देवीका ध्यान किया, देवीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर सत्य बात कही कि 'मुक्ति देनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, वह शक्ति तो भगवान्में है। उनकी शरणमें जाना ही सुदृढ़ साधन है।' देवीजीके उपदेशानुसार आचार्य श्रीरामानन्दजीके चरणकमलोंका आश्रय पाकर श्रीपीपाजी अतिभक्तिकी अन्तिम सीमा हुए। गुरुकृपा एवं अतिभक्तिके प्रभावसे आपमें असंख्य-अमूल्य सद्गुण थे, उन्हें सन्तजन सदा गाते रहते हैं। भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरुदेवकी आपने ऐसी आराधना की कि उसका स्पर्श करके अर्थात् देख-सुन और समझ करके सम्पूर्ण वैष्णवोंकी आराधना-प्रणाली अत्यन्त

सरस हो गयी। आपने अपने प्रभावसे सम्पूर्ण संसारका कल्याण किया। इसका प्रमाण यह है कि आपने परम हिंसक सिंहको उपदेश देकर अहिंसक और विनीत बना दिया॥ ६१ ॥

श्रीपीपाजीसे सम्बन्धित कुछ विवरण इस प्रकार है—

(क) श्रीरामानन्दाचार्यजीका शिष्य बननेकी घटना

गागरौनगढ़ नामक एक विशाल किला एवं नगर है, वहाँ पीपा नामक एक राजा हुए। वे देवीके बड़े भक्त थे। एक बार उस नगरमें साधुओंकी जमात आयी। राजाने जमातका स्वागत करके कहा—देवीजीको चालीस मन अन्नका भोग लगता है, सभी लोग प्रसाद लेते हैं, आपलोग भी देवीजीका प्रसाद ग्रहण कीजिये। साधुओंने कहा—हमारे साथ श्रीठाकुरजी हैं, हम उन्हींको भोग लगाकर प्रसाद लेते हैं, दूसरे देवी-देवताओंका नहीं। तब राजाने उन्हें सीधा-सामान दिया। साधुओंने रसोई करके भगवान्‌का भोग लगाया और मन-ही-मन प्रार्थना की—'हे प्रभो! इस राजाकी बुद्धिको बदल दीजिये, इसे अपना भक्त बना लीजिये।' रातको जब राजा महलमें सोया तो उसने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा कि एक विकराल देहधारी प्रेतने मुझे पटक दिया है। मैं भयभीत होकर रोने लगा। जागते ही राजाने स्वप्नकी घटनापर विचार किया, तब उसे वैराग्य हो गया। अब राजाके सोचने-विचारनेकी रीति दूसरी हो गयी। उसे भगवान्‌की भक्ति विशेष प्रिय लगने लगी।

राजाने देवीसे मायासे मुक्ति एवं भगवत्प्राप्तिका मार्ग पूछा, तब देवीजीने सही बात कही कि 'काशीमें विराजमान श्रीस्वामी रामानन्दजीको अपना गुरु बनाओ और उनके बताये हुए मार्गपर चलकर भगवान्‌को प्राप्त करो।' देवीजीकी आज्ञा पाकर राजाने काशीको प्रस्थान किया। श्रीस्वामीजीके दर्शनोंकी इच्छासे राजाने जब श्रीमठमें प्रवेश करना चाहा तो द्वारपालोंने कहा कि आचार्यश्रीकी आज्ञाके बिना कोई भी भीतर नहीं जा सकता है। आप अपना परिचय दें। इन्होंने कहा—हम गागरौनगढ़के राजा हैं। जब स्वामीजीसे जाकर यह बात कही गयी। तब द्वारपालोंसे श्रीस्वामीजीने कहा कि हमलोग तो विरक्त हैं, राजाओंसे हमें क्या प्रयोजन? यह सुनकर पीपाजीने राजशाही वेषका त्याग करके फिर शरणागतिकी प्रार्थना कहला भेजी। देहासक्तिका निराकरण करनेके लिये श्रीस्वामीजीने आदेश दिया—'कुएँमें गिर पड़ो।' आज्ञा सुनते ही मनमें अत्यन्त प्रसन्न होकर पीपा कुएँमें गिरने चले। परंतु श्रीस्वामीजीके सेवकोंने पकड़ लिया। इनकी दृढ़ निष्ठा देखकर श्रीस्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें बुलाकर दर्शन दिया।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजीने भक्त पीपाको मन्त्र-दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और इनके ऊपर विशेष कृपा की। गुरुदेवके अनुग्रहसे श्रीपीपाजीने भगवद्भक्तिको दृढ़तापूर्वक अपने हृदयमें धारण किया। श्रीस्वामीजीने इन्हें आज्ञा दी कि अब तुम अपनी राजधानी गागरौनगढ़को जाओ और वहीं घरमें रहकर साधु-सन्तोंकी सेवा करो। एक वर्ष बीतनेपर जब हम तुम्हारी सेवाको सरस जानेंगे और यह देख लेंगे कि तुम सन्तोंकी सेवामें सुख मानते हो और तुम्हारी सेवासे सुखी होकर सन्त तुम्हारे यहाँसे विदा होते हैं, तब हम तुम्हारे घर आयेंगे, वहीं हमारा दर्शन करना। श्रीस्वामीजीकी ऐसी आज्ञा पाकर श्रीपीपाजी घरको लौट आये और बड़ी सुन्दर रीतिसे सन्तसेवा करने लगे। जब वर्ष पूरा होने लगा, तब आपने गुरुदेवभगवान्‌को एक पत्रमें लिखकर भेजा कि 'दासपर आप कृपा कीजिये, अपने वचनोंका पालन कीजिये।' पत्र पाकर श्रीस्वामीजी अपने प्रिय चालीस भक्तोंको साथ लेकर गागरौनगढ़को चले।

श्रीप्रियादासजीने श्रीपीपाजीके रामानन्दाचार्यजीका शिष्य बननेकी घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

गागरौन गढ़ बढ़ पीपा नाम राजा भयो लयो पन देवी सेवा रंग चढ्यो भारियै।
आये पुर साधु सीधो दियो जोई सोई लियो कियो मन माँझ प्रभु बुद्धि फेरि डारियै॥

सोयो निशिरोयो देखि सुपनो बेहाल अति प्रेत विकराल देह धरि कै पछारियै।
अब न सुहाय कछू वहू पायँ परि गई नई रीति भई वाहि भक्ति लागी प्यारियै॥ २८२॥
पूछ्यो हरि पायबे कौ मग जब देबी कही सही रामानन्द गुरु करि प्रभु पाइयै।
लोग जानैं बौरौ भयौ गयौ यह काशीपुरी फुरी मति अति आये जहाँ हरि गाइयै॥
द्वार मैं न जान देत आज्ञा ईश लेत कही राज सों न हेत सुनि सबही लुटाइयै।
कह्यौ कुवाँ गिरौ चले गिरन प्रसन्न हिये जिये सुख पायौ ल्याय दरस दिखाइयै॥ २८३॥
किये शिष्य कृपा करी धरी हरिभक्ति हृदै कही अब जावौ गृह सेवा साधु कीजियै।
बितये बरस जब सरस टहल जानि संत सुखमानि आवैं घर मधि लीजियै॥
आये आज्ञा पाय धाम कीन्ही अभिराम रीति प्रीतिकौ न पारावार चीठी लिखि दीजियै।
हूजिये कृपाल वही बात प्रतिपाल करौ चले जुग बीस जन संग मति रीझियै॥ २८४॥

(ख) पीपाजीकी रानी श्रीसीता सहचरीका श्रीरामानन्दजीकी शिष्या बनना

आचार्य श्रीरामानन्दजी महाराज कबीरदास, रैदास आदि अपने चालीस शिष्य-सेवकोंको साथ लेकर गागरौनगढ़के निकट पहुँचे। श्रीगुरुदेवके शुभागमनका समाचार पाते ही पीपाजी पालकी लेकर आये। आपने स्तुति करके गुरुदेवको तथा सभी साधुओंको अलग-अलग दण्डवत् प्रणाम किया। उत्साहपूर्वक बहुत-सा धन 'मुहरें' न्यौछावर करके, लुटा करके समस्त समाजको अपने राजभवनमें पधराया। श्रीस्वामीजीने पीपाजीकी भक्त-भगवन्तमें दृढ़ भक्ति तथा सेवाकी सुन्दर रीति देखकर उनसे कहा—तुम्हारी इच्छा हो तो घरपर रहकर सेवा करो अथवा विरक्त होकर भजन करो, दोनों ही तुम्हारे लिये समान हैं। श्रीगुरुदेवमें तथा उनकी आज्ञामें विश्वास करके उनके श्रीचरणोंमें पड़कर पीपाजीने प्रार्थना की कि अपने चरणोंमें ही रखिये।

श्रीपीपाजी जब घर छोड़कर श्रीस्वामीजीके साथ चलनेको तैयार हुए, तब उनकी सभी बीसों रानियाँ भी उनके साथ चलनेके लिये तैयार हो गयीं। तब श्रीपीपाजीने कहा—यदि तुम सबको मेरे साथ ही चलना है तो कमरीको फाड़कर उसकी अलफी पहन लो और मूल्यवान् वस्त्र तथा सभी गहने उतारकर फेंक दो। साधुवेष धारण करके चलो। ऐसा त्याग वे नहीं कर सकीं, सभी रोने लगीं। परंतु उनमेंसे जो सबसे छोटी रानी सीता सहचरीजी थीं, वे इसके लिये तैयार हो गयीं। उन्होंने अलफी गलेमें डाल ली, सभी आभूषण उतार दिये, तब राजाने दूसरी आज्ञा दी कि अधोवस्त्र मात्र रखो, इस अलफीको भी उतारकर फेंक दो। सुनते ही सीता सहचरी अलफी उतारकर फेंकने लगीं। यह देखकर श्रीस्वामीजीको दया आ गयी। उन्होंने श्रीपीपाजीको आज्ञा दी कि इनको साथमें ही रखो।

श्रीप्रियादासजी श्रीपीपाजीकी रानी श्रीसीता सहचरीजीके स्वामी श्रीरामानन्दजीकी शिष्या बनने और दोनोंके संन्यास ग्रहण करनेकी इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कबीर रैदास आदि दास सब संग लिये आये पुरपास पीपा पालकी लै आयौ है।
करी साष्टांग न्यारी न्यारी बिनै साधुनको धनको लुटाय सो समाज पधरायौ है॥
जैसी कीन्हीं सेवा बहु मेवा नाना राग भोग बानीके न जोग भाग कापै जात गायौ है।
जानी भक्ति रीति घर रहौ कै अतीत होहु करिकै प्रतीति गुरु पग लगि धायौ है॥ २८५॥
लागी संग रानी दस दोय कही मानी नहीं कष्टको बतावैं डरपावैं मन लावहीं।
कामरीन फारि मधि मेखला पहिरि लेवो देवो डारि आभरन जो पै नहीं भावहीं॥
काहू पै न होय दियो रोय भोय भक्ति आई छोटी नाम सीता गरें डारी न लजावहीं।
यहू दूर डारौ करौ तनकौ उघारौ कियौ दया रामानन्द हियौ पीपा न सुहावहीं॥ २८६॥

(ग) श्रीपीपाजी तथा उनकी रानीको श्रीकृष्णदर्शन होनेकी कथा

श्रीस्वामीजीके अधिक आग्रह करने और शपथ दिलानेपर श्रीपीपाजी सीता सहचरीको अपने साथ ले चलनेके लिये तैयार हो गये। राजाको रोकनेके लिये रानियोंने एक ब्राह्मणको बहुत-सा धन देकर उसे प्रेरित किया, उसने कहा—मैं राजाको कदापि न जाने दूँगा। श्रीपीपाजीके समझानेपर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा। ये भी रुकनेको नहीं तैयार हुए, तब उस ब्राह्मणने विष खा लिया और मर गया। तब श्रीस्वामीजीने उसे जीवित करके उसे और रानियोंको लौटा दिया। कालान्तरमें श्रीपीपाजी और श्रीसीता सहचरीजी सन्त-समाजके साथ आनन्ददायिनी श्रीद्वारकापुरी पहुँचे। कुछ दिनोंतक सभी लोग वहाँ रहे। जब श्रीस्वामीजी अपने शिष्य-सेवकोंको लेकर वहाँसे काशीपुरीको चले, तब श्रीपीपाजीने प्रार्थना करके कुछ दिन द्वारकामें रहनेकी आज्ञा माँगी और आज्ञा पाकर वहीं रह गये। रहते-रहते इन्हें भगवान्‌के दिव्य द्वारकापुरीके दर्शनोंकी ऐसी उत्कट उत्कण्ठा हुई कि आप समुद्रमें कूद पड़े। उसी क्षण श्रीकृष्णने अपने कुछ सेवकोंको इन्हें लिवा लानेके लिये भेजा, वे इन्हें सादर लिवा लाये। श्रीपीपाजीने दिव्य द्वारकाका दर्शन किया। भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रेमसे मिले और फिर सीता सहचरीसमेत श्रीपीपाजी सानन्द सात दिनतक वहाँ रहे। सात दिन बाद भगवान् श्रीकृष्णने इन लोगोंको इस दिव्य द्वारकासे उस द्वारकाको जानेकी आज्ञा दी। परंतु ये वहाँसे जाना नहीं चाहते थे। तब श्रीश्यामसुन्दरने बड़े प्रेमसे कहा—मेरे जिस रूपके दर्शन तुमने किये हैं, उसीमें मनको दिये हुए तथा उसी रूपमाधुरीका पान किये हुए, वहाँ जाकर भी उसे ही देखते रहोगे, अतः विरहव्यथा न व्यापेगी। यदि तुमलोग नहीं जाओगे तो संसारमें 'ऐसे भक्त डूब गये' यह जो कलंक लग गया है, कैसे मिटेगा? इसके पश्चात् भगवान्‌के द्वारा दी गयी शंख-चक्रकी छापको तथा भगवान्‌की आज्ञा आपने स्वीकार की।

भगवान् स्वयं भक्तवर श्रीपीपा और सीता सहचरीको पहुँचानेके लिये चले। समुद्रके बाहरतक पहुँचाकर आप लौट आये। सपत्नीक श्रीपीपाजी जब समुद्रसे निकलकर तटपर आये तो लोगोंने एक विचित्र बात देखी कि आप दोनोंके वस्त्र सूखे हैं, परंतु हृदय प्रेमसे सराबोर है। जिन लोगोंने समुद्रमें कूदते हुए इन्हें देखा था, उन्होंने पहचान लिया और सभी लोग आकर आप दोनोंके पैरोंमें लिपट गये। श्रीपीपाजीने भगवान्‌की दी हुई शंख-चक्रकी छाप लोगोंके शरीरपर लगायी। द्वारकामें आपके दर्शनोंके लिये नित्य भारी भीड़ होने लगी, तब सीता सहचरीजीने श्रीपीपाजीको समझाकर कहा कि 'अब यहाँसे कहीं अन्यत्र चलो, यहाँ भजनमें बाधा हो रही है।' दोनों द्वारकासे चल दिये। छठे मुकामपर पहुँचते ही इन्हें पठान मुसलमान मिल गये। उन्होंने सीता सहचरीको छीन लिया। उसी समय भगवान् दौड़कर आ गये और दुष्टोंको मारकर सीता सहचरीको ले आये। इस प्रकार इनकी रक्षा करके और दर्शन देकर प्रभुने इन्हें आनन्दित किया।

श्रीपीपाजी-दम्पतीको दिव्य द्वारका और भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी इस घटनाका श्रीप्रियादासजी महाराज अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

जोपै यापै कृपा करी दीजै काहू संग करि मेरे नहीं रंग यामैं कही बार बार है।
सौंह को दिवाय दई लई तब कर धरि चले ढरि विप्र एक छोड़ै न विचार है॥
खायौ विष ज्यायौ पुनि फेरिकै पठायौ सब आयौ यों समाज द्वारावती सुखसार है।
रहे कोऊ दिन आज्ञा माँगी इन रहिबे की कूदे सिन्धु माँझ चाह उपजी अपार है॥ २८७॥
आये आगे लैन आप दिये हैं पठाय जन देखि द्वारावती कृष्ण मिले बहु भाग्य कै।
महल महल माँझ चहल पहल लखी रहे दिन सात सुख सकै कौन गाय कै॥
आज्ञा दई जाइबे की जाइबौ न चाहैं दिये पिये वह रूप देखौ मोहीं को जु जाइ कै।
भक्त बूड़ि गयो यह बड़ोई कलंक भयौ मेटौ तम अंक संक गही अकुलाइ कै॥ २८८॥

चले पहुँचायबे को प्रीति के अधीन आप बिन जल मीन जैसे ऐसे फिरि आये हैं।
देखि नई बात गात सूखे पट भीजे हिये लिये पहिचानि आनि पग लपटाये हैं॥
दई लै कै छाप पाप जगत के दूर करौ ढरौ कहूँ और कहि सीता समझाये हैं।
छठेई मिलान बन मैं पठान भेंट भई लई छीनि तिया कियो चैन प्रभु धाये हैं॥ २८९॥

(घ) पीपाजीद्वारा हिंसक सिंहको अहिंसक वैष्णव बनाना

श्रीपीपाने श्रीसीता सहचरीसे कहा—देखो, यहाँ कैसे-कैसे संकट आते हैं, अतः अच्छा होगा कि अब भी तुम घरको चली जाओ। श्रीसीता सहचरीने उत्तर दिया—भगवन्! हरि ही भयको हरनेवाले हैं, रक्षक हैं, वे ही रक्षा करेंगे। इसके उपरान्त दोनों उसी मार्गसे चले, जिसमें एक सिंह रहता था। जो बहुतोंको मारकर खा चुका था, परंतु इनके दर्शनसे उसका अन्तःकरण पवित्र हो गया। वह विनीत भावसे इनके निकट बैठ गया। तब इन्होंने उसे शिष्य करके समझाया कि अब तुम वैष्णव हो गये, अतः किसीकी हिंसा न करना। इसके बाद वे दूसरे गाँवमें पहुँचे। वहाँ आपने शेषशायी भगवान्के दर्शन किये और दुकानदारके न देनेपर सूखे बाँसोंको हरा करके एक हरा बाँस भगवान्को अर्पण किया। वहाँसे चलकर आप परम प्रेमी भक्त श्रीचीधरजीके यहाँ पहुँचे।

श्रीप्रियादासजीने श्रीपीपाजीद्वारा सिंहको वैष्णव बना लेनेकी इस घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

अभू लगि जावो घर कैसे कैसे आवै डर बोली हरि जानियै न भाव पै न आयो है।
लेत हौं परिच्छा मैं तो जानौं तेरो सिच्छा ऐपै सुनि दृढ़ बात कान अति सुख पायो है॥
चले मग दूसरे सु तामें एक सिंह रहै आयो वास लेत शिष्य कियो समझायो है।
आये और गाँव सेषसाई प्रभु नांव रहै करे बाँस हरे ढरे चीधर सुहायो है॥ २९०॥

(ङ) श्रीचीधरदम्पतीकी सन्तनिष्ठा

भक्त चीधरजी और उनकी धर्मपत्नीने देखा कि परम भागवत श्रीपीपाजी अपनी स्त्रीसमेत पधारे हैं तो वे परम प्रसन्न हुए, परंतु घरमें खाने-पीनेका कुछ भी सामान नहीं था; क्योंकि इनकी वृत्ति अत्यन्त अपरिग्रही थी। श्रीचीधरजीकी स्त्रीने अपना एकमात्र वस्त्र दे दिया। श्रीचीधरजी उसे बेचकर सीधा-सामान ले आये और श्रीपीपाजीके सामने रखकर बोले—'महाराज! रसोई कीजिये और भगवान्का भोग लगाइये।' वस्त्र बिक जानेके कारण भगतिनका शरीर नग्न हो गया था, अतः श्रीचीधरने उन्हें कोठरीमें छिपा दिया। श्रीसीता सहचरीजीने रसोई तैयार कर दी, भगवान्का भोग लग गया। श्रीपीपाजीने श्रीचीधर भक्तसे कहा—भगतिनको बुला लाइये, आप और हम सब एक साथ ही बैठकर प्रसाद पायेंगे। श्रीचीधरजीने कहा—आपलोग प्रसाद पायें, उसे सीथ—प्रसाद प्रिय है। वह बादमें पा लेगी। तब श्रीपीपाजीने सीता सहचरीसे कहा—तुम भीतर जाकर उन्हें बुला लाओ और उन्हें भी साथ ही प्रसाद पवाओ। तब वे भीतर गयीं तो उन्होंने जाकर देखा कि वह नग्न बैठी हैं।

सीता सहचरीजीने जब भगतिनको नग्न देखा तो पूछा—कहिये, क्या बात है, आपका शरीर उघारा क्यों है? तब श्रीचीधरजीकी स्त्रीने कहा—हमलोगोंको सन्त-सेवा हृदयसे अत्यन्त प्रिय लगती है। अतः हमारा समय इसी प्रकार बीतता है। जब सन्त भगवान् पधारते हैं, तब उनका दर्शन-सत्संग एवं स्वागत करके हमें अपार सुख होता है। उस परमानन्दके सामने यह नश्वर शरीर ढका है अथवा उघारा है, इसकी क्या चर्चा की जाय? सीता सहचरीजीने जब ये बातें सुनीं, तो सब रहस्य उनकी समझमें आ गया। इसके उपरान्त सीता सहचरीजीने अपनी धोतीमेंसे आधी फाड़कर उन्हें दिया। उसे उन्होंने पहन लिया, तब उनका

हाथ पकड़कर उन्हें घरसे वहाँ लिवा लायीं। सबोंने एक साथ बैठकर प्रसाद पाया। सन्त-सेवाके प्रति निष्ठाकी इस अनोखी घटनाको सीता सहचरीने बादमें शयन करते समय पीपाजीको सुनाया।*

श्रीचीधरजी एवं उनकी पत्नीकी इस अद्भुत सन्त-सेवाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

दोऊ तिया पति देखैं आये भागवत ऐपै घर की कुगति रति साँची लै दिखाई है।
लहँगा उतारि बेचि दियौ ताकौ सीधौ लियौ करो अजू पाक बधू कोठीमें दुराई है॥
करी लै रसोई सोई भोग लगि बैठे कह्यो आवौ मिलि दोई कही पाछे सीथ भाई है।
वाहू को बुलावौ ल्यावौ आनिकै जिमावौ तब सीता गई ठौर जाइ नगन लखाई है॥ २९१॥
पूछैं कहौ बात ए उघारे क्यों हैं गात कही ऐसे ही बिहात साधु सेवा मन भाई है।
आवैं जब सन्त सुख होत है अनन्त तन ढँक्यो कै उघारौ कहा चरचा चलाई है॥
जानि गई रीति प्रीति देखी एक इनही में हमहूँ कहावैं ऐ पै छटा हूँ न पाई है।
दियौ पट आधौ फारि गहि कै निकारि लई भई सुखसैल पाछे पीपा सों सुनाई है॥ २९२॥

(च) श्रीसीता सहचरीजीकी सन्तसेवाका दृष्टान्त

सपत्नीक भक्त श्रीचीधरजीकी सन्त-सेवा-निष्ठासे प्रभावित होकर सीता सहचरीजीने अपने पतिदेवसे कहा—अब तो हमारा धर्म यह है कि हम अपना तन बेचकर भी सन्त-सेवा करें। ऐसा निश्चयकर वे दोनों वहाँ जाकर बैठे, जहाँ अनाजकी बड़ी मण्डी थी। श्रीसीता सहचरीकी अपार सुन्दरतासे आकृष्ट हो करके वे लोग एकत्र हो गये जो रूप निरखनेके लोभी थे। समीप आकर जब उन लोगोंने उनको देखा तो उनके नेत्रोंका रोग अर्थात् उनकी विषय-दृष्टि नष्ट हो गयी। लोगोंने श्रीसीता सहचरीजीसे पूछा कि आप कौन हैं? आपके साथ ये सज्जन आपके कौन हैं? इन्होंने उत्तर दिया—हम सन्त सेवाके लिये बिकनेको प्रस्तुत हैं, हमारे घर-द्वार कुछ भी नहीं है और हमारे साथमें यह हमारा सेवक है। यह सुनकर वे सब स्तब्ध खड़े-के-खड़े ही रह गये। फिर जिन लोगोंने उन्हें द्वारकामें देखा था, उन्होंने पहचानकर बताया—अरे! ये परमभक्त श्रीपीपाजी और ये उनकी धर्मपत्नी सीता सहचरीजी हैं। तब तो लोगोंने उनके आगे अन्न-वस्त्र और मुहरोंके ढेर लगा दिये। श्रीपीपाजीने वह सब सामान भक्त चीधरके यहाँ भेज दिया।

श्रीसीता सहचरीजीकी इस अद्भुत सन्त-सेवा-निष्ठाका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

करैं वेश्या कर्म अब धर्म है हमारो यही कही जाय बैठी जहाँ नाजनि की ढेरी है।
घिरि आये लोग जिन्हें नैननिकौ रोग लखि दूर भयो सोग नेकु नीके हू न हेरी है॥
कहैं तुम कौन? 'वारमुखी नहीं भौन संग भरुवा' सु गहैं मौन सुनि परी बेरी है।
करी अन्नरासि आगे मुहर रुपैया पागे पठै दई चीधर के तब ही निबेरी है॥ २९३॥

(छ) श्रीपीपाजीको स्वर्णमुहरोंकी प्राप्ति और उनका त्याग

श्रीचीधर भक्तसे आज्ञा माँगकर उनसे विदा लेकर सीता सहचरीसमेत श्रीपीपाजी टोंड़े ग्राम आये और गाँवसे बाहर कुटी बनाकर रहने लगे। एक दिन आप स्नान करनेके लिये गये थे तो वहाँ एकाएक आपको मुहरोंसे भरे हुए कई मटके दिखायी पड़े। उस मिले हुए धनको त्यागकर आप चले आये। रातमें सीता सहचरीजीसे आपने बताया कि उस सरोवरपर स्वर्णमुद्राओंसे भरे मटके मैं छोड़ आया हूँ। सुनकर उन्होंने कहा—अब आप उस तालाबपर स्नान करने मत जाइयेगा। संयोगवश चोरी करनेकी इच्छासे वहीं कहीं कुटीके पास छिपे हुए चोरोंने यह

* भक्तिभावका अतिरेक होनेके कारण भक्तमालमें कुछ ऐसी चमत्कारिक घटनाएँ मिलती हैं, जिनपर सामान्यजनोंको विश्वास करना कठिन है तथा आजके युगमें वे अनुकरणीय भी प्रतीत नहीं होती हैं।—सम्पादक

बात सुन ली। वे तुरंत उसी सरोवरपर गये और जाकर देखा तो उन पात्रोंमें साँप भरे हुए हैं। चोरोंने समझा कि वे हमें साँपोंसे कटवाकर मरवा डालनेके लिये ही ऐसी बातचीत आपसमें कर रहे थे। बदला लेनेकी भावनासे उन चोरोंने मुहरभरे सभी मटके उखाड़े और श्रीपीपाजीकी कुटीमें पटककर भाग गये। जब श्रीपीपाजीने गिना, तब मालूम पड़ा कि सात सौ बीस सोनेकी मुहरें हैं और एक-एक मुहर तौलमें पाँच-पाँच तोलेकी है।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आज्ञा माँगि टोंड़े आये कभूँ भूखे कभूँ घाये औचक ही दाम पाये गयो हो स्नान को।
मुहरनि भांड़ो भूमि गाड़ो देखि छांड़ि आयौ कही निसि तिया बोली जावौ सर आन को॥
चोर चाहैं चोरी करैं ढरे सुनि वाही ओर देखैं जो उघारि सांप डारैं हतैं प्रान को।
ऐसे आय परीं गनी सात सत बीस भईं तोलै पाँच बाँट करैं एक के प्रमान को॥ २९४॥

(ज) राजा सूर्यसेनमलका पीपाजीका शिष्य बनना

श्रीपीपाजी उस धनसे साधु-महात्माओंको निमन्त्रण देकर बड़े-बड़े विशाल भण्डारे करने लगे। असंख्य सन्त प्रसाद पाने लगे। इस प्रकार खिला-पिलाकर सम्पूर्ण धनको श्रीपीपाजीने तीन दिनमें समाप्त कर दिया। आपकी इस विशाल कीर्तिको टोंड़ेके राजा सूर्यसेनमलने सुना तो वह दर्शन करनेके लिये आया और दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुआ। फिर बड़ी नम्रतासे राजाने प्रार्थना की और कहा—आप मुझे शिष्य बना लीजिये। जैसी आज्ञा मुझे देंगे, मैं वही करूँगा। तब आपने आज्ञा दी कि यदि ऐसा है तो आप अपनी सब सम्पत्ति और रानियोंको यहाँ लाकर मुझको अर्पण कर दो। राजाने राज्य और रानियाँ उन्हें अर्पण कर दीं।

इस प्रकार श्रीपीपाजीने राजाकी परीक्षा लेकर उसको मन्त्र-दीक्षा दी। फिर सम्पत्ति और रानियोंको लौटाकर कहा कि सम्पूर्ण राज्य तथा ये रानियाँ आजसे अब हमारी हैं, इनमें अब ममता न रखना। मेरी आज्ञासे इनका पालन-पोषण करना। रानियोंको आज्ञा दी कि सन्तोंकी सेवा करना। इसके बाद राजाने बहुत अनुनय-विनय करके गुरुदेवको एक घोड़ा और सन्त-सेवार्थ बहुत-सा धन भेंट किया। आपने उसमेंसे कुछ धन रख लिया। शेष लौटा दिया। गुरुदेवके उपदेशानुसार राजाने अहंकारको त्याग दिया और सभी जीव-जन्तुओंको अपनेसे बड़ा मानने लगा। यह समाचार सुनकर राजाके भाई-बन्धु जल-भुन गये, परंतु महान् प्रतापी सीतापति श्रीपीपाजीसे वे कुछ भी कह न सके। इसी बीच एक व्यापारी बैलोंको खरीदनेके लिये टोंड़े गाँवको आया। राजाके भाइयोंने उसे बहकाया कि पीपा भगत बैलोंके बहुत बड़े व्यापारी हैं, उनके पास बहुत अच्छे-अच्छे बैल हैं, वहीं चले जाओ।

राजा सूर्यसेनके पीपाजीका शिष्य बननेकी इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

जोई आवै द्वार ताहि देत हैं अहार और बोलिकै अनंत संत भोजन करायो है।
बीते दिन तीन धन खाय प्याय छीन कियौ लियौ सुनि नाम नृप देखिबेको आयो है॥
देखिकै प्रसन्न भयौ, नयौ, देवौ दीक्षा मोहि, दीक्षा है अतीत करैं आप सो सुहायो है।
चाहो सोई करौं है कृपाल मोको ढरौ, अजू धरौ आनि संपति औ रानी जाइ ल्यायौ है॥ २९५॥
करिकै परीक्षा दई दीक्षा संग रानी दई भई ए हमारी करौ परदा न संतसों।
दीयौ धन घोरा कछू राख्यौ दै निहोरा भूप मान तन छोरा बड़ौ मान्यौ जीवजंतसों॥
सुनि जरि बरि गये भाई सेनसूरज के ऊरज प्रताप कहा कहैं सीता कंतसों।
आयो बनिजारौ मोल लियो चाहै खैलनिकौं दियो बहकाय कही पीपाजू अनंतसों॥ २९६॥

(झ) पीपाजीके जीवनकी विलक्षण घटनाएँ

लोगोंके बहकानेमें आकर वह व्यापारी श्रीपीपाजीके पास आया और थैली खोलकर रुपये इनके सामने

रखते हुए बोला—मैं बैल लेने आया हूँ, मुझे बैल दीजिये। श्रीपीपाजीने कहा—आपको जितने बैल चाहिये, उतने मिल जायँगे, परंतु आज अभी यहाँ नहीं हैं। गाँवमें चरनेके लिये भेज दिये गये हैं। कल दोपहरको आकर आप ले लीजियेगा। इसके बाद वह व्यापारी तो रुपये देकर चला गया। आपने सन्तोंको बुलवाकर भण्डारा महोत्सव कर दिया। उसीमें सब रुपये खर्च कर दिये। वह बनजारा निर्धारित समयपर आ गया और बोला—'मुझे बैल दीजिये। बैल कहाँ हैं?' उस समय पंगत हो रही थी, सैकड़ों सन्त बैठे प्रसाद पा रहे थे। श्रीपीपाजीने पंगतकी ओर हाथसे संकेत करके कहा—'यही सब मेरे बैल (धर्मस्वरूप सन्त) हैं, मैं इन्हींका व्यापार करता हूँ। इनमेंसे जितने आपको चाहिये, आप उतने ले जाइये।' उस व्यापारीने सन्तोंके दर्शन किये, उसके हृदयमें भक्तिका भाव भर गया। वह उसी समय बाजार गया और वस्त्र लाकर उसने सभी साधुओंको पहनाया।

एक दिन श्रीपीपाजी घोड़ेपर चढ़कर स्नान करनेके लिये सरोवरपर गये। घोड़ेको वहीं छोड़कर आप स्नान करने लगे। इतनेमें ही दुष्ट चोरोंने आकर घोड़ा पकड़ लिया और उसे छिपाकर बाँध दिया। आप जब स्नान करके आये तो घोड़ा ज्यों-का-त्यों वहींपर खड़ा मिला। मानो उसीको ले आये हों। घोड़ेपर चढ़कर आप अपने आश्रममें आ गये। जब चोरोंने यह चमत्कार देखा तो वे डर गये और घोड़ेको ले आये। तब वह घोड़ा नहीं दिखायी पड़ा। उन्होंने चोरी छोड़कर शिष्यता स्वीकार की।

इन घटनाओंका वर्णन भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

बोल्यो बनिजारो दाम खोलि खैला दीजियै जू, लीजियै जू आय गाँव चरन पठाये हैं।
गये उठि पाछे बोलि संतनि महोच्छौ कियौ आयौ वाही समैं कही लेहु मन भाये हैं॥
दरसन करि हिये भक्ति भाव भर्‌यौ आनि आनिकै बसन सब साधु पहिराये हैं।
और दिन न्हान गये घोड़ा चढ़ि छोड़ि दियौ लियौ बांध्यौ दुष्टननि आयौ मानौ ल्याये हैं॥ २९७॥

(ञ) श्रीपीपादम्पतीके सन्तनिष्ठाकी अद्भुत कथा

एक बार श्रीपीपाजी राजा सूर्यसेनमलके यहाँ एक झगड़ेका फैसला करनेके लिये गये थे। आपके चले जानेके बाद कुटीपर कुछ सन्तजन पधारे। संयोगवश उस दिन कुटीमें अन्न-धन कुछ भी नहीं था। सन्त-सेवाके लिये कहीं जाकर कुछ ले आऊँ, ऐसा विचारकर श्रीसीता सहचरीजी बाजारको गयीं। वहाँ इन्हें देखकर एक दुराचारी बनियेने बुलाकर पूछा—आपने सामानकी आवश्यकता बतायी। तब उसने सब सीधा-सामान देकर कहा—'आप रातको मेरे पास अवश्य आइये।' सन्त-सेवाकी अपरिहार्य आवश्यकताके कारण सीता सहचरीजी मौन ही रहीं और आवश्यक सामग्री लेकर कुटीपर आ गयीं। रसोई हुई और भोग लगाकर जब महात्मालोग भोजन कर रहे थे, उसी समय श्रीपीपाजी पधारे। उन्होंने पूछा कि सामान कहाँसे आया तो श्रीसीता सहचरीजीने सब बात बतला दी। उसे सुनकर श्रीपीपाजीने उसकी सन्त-सेवा-निष्ठाकी बड़ी प्रशंसा की। सायंकाल सीतासहचरीजीको साथ लेकर वे स्वयं उस बनियेके यहाँ पहुँचे। इनके दर्शन-चिन्तनसे एवं अन्नके सन्त-भगवन्तकी सेवामें लगनेसे उसकी बुद्धि शुद्ध हो चुकी थी, अतः मुखपर दृष्टि न पड़कर उस बनियेकी दृष्टि इनके चरणोंपर पड़ी। इनके सूखे श्रीचरणोंको देखकर उसने पूछा—माताजी! आप यहाँतक कैसे आयी हैं? इन्होंने उत्तर दिया—'स्वयं श्रीस्वामीजी अपने कन्धेपर बिठाकर लाये हैं।' फिर उसने पूछा—'वे कहाँ हैं?' आपने कहा—'तुम जाकर देखो, वे बाहर ही होंगे।' यह सुनकर वह सीता सहचरीजीके चरणोंमें गिर पड़ा और रोने लगा। फिर बाहर आकर श्रीपीपाजीके चरणोंको पकड़कर बोला—'आप कृपा करके हमारी रक्षा करो, आप तो जीवमात्रको सुख देनेवाले सन्त हैं।' श्रीपीपाजीने कहा—'आप अपने मनमें किसी प्रकारकी शंका एवं भय न करें। निःसंकोच एवं निडर होकर अपना काम करें। आपने हमलोगोंके साथ बड़ा भारी उपकार किया है। जिस धनके वास्ते सहोदर भाई भी परस्पर लड़ते और मरते-मारते हैं। वह धन आपने बिना रुक्का लिखाये ही सन्तोंकी

सेवाके लिये दे दिया।' वह बनिया लज्जा और ग्लानिके मारे दबा मरा जा रहा था। वह चाहता था कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ तो अच्छा है। श्रीपीपाजीने उसे इस प्रकार दुखी देखा तो उन्हें बड़ी दया आयी। उसे दीक्षा दी, वह भगवद्भक्ति पाकर कृतार्थ हुआ।

सन्तसेवाके प्रति पीपाजी-दम्पतीके इस दिव्यभाव और दुष्ट बनियेके हृदयपरिवर्तनकी इस घटनाका श्रीप्रियादासजी महाराजने अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

गये हे बुलाये आप पाछे घर संत आये अन्न कछू नाहिं कहूँ जाय करि ल्याइयै।
विषयी बनिक एक देखि कै बुलाइ लई दई सब सौंज कही सही निसि आइयै॥
भोजन करत माँझ पीपा जू पधारे पूछी वारे तन प्रान जब कहि कै सुनाइयै।
करि कैं सिंगार सीता चली झुकि मेह आयो कांधे पै चढ़ायौ बपु बनिया रिझाइयै॥ २९८॥
हाट पै उतारि दई द्वार आप बैठे रहे चहे सूके पग माता कैसे करि आई हौ।
स्वामीजू लिवाय ल्याये, कहाँ है? निहारौ जाय आय पांय पर्‍यो डर्‍यो राखौ सुखदाई हौ॥
मानौ जिनि संक काज कीजिये निसंक धन दियो बिन अंक जापै लरैं मरैं भाई हौ।
मर्‍यौ लाज भार चाहै धसौं भूमि फार दृग बहै नीरधार देखि दई दीक्षा पाई हौ॥ २९९॥

(ट) राजा सूर्यसेनमलको ज्ञान प्रदान करना

श्रीपीपाजीके सीता सहचरीको कन्धेपर चढ़ाकर बनियेके यहाँ पहुँचानेकी बात चलते-चलते राजा सूर्यसेनमलके कानोंमें पड़ी। राजाकी भरी सभामें भक्तिविमुख ब्राह्मणोंने श्रीपीपाजीकी निन्दा करते हुए कहा—'उनका यह आचरण धर्मशास्त्रके बिलकुल विरुद्ध है।' राजाके मनमें भी यही आया, इसलिये गुरुदेवके श्रीचरणोंमें भी उसकी प्रीति घट गयी। यह जानकर समर्थ श्रीपीपाजी उसे समझाने एवं उसके हृदयमें भक्ति सुस्थिर करने चले। राजद्वारपर पहुँचकर द्वारपालोंके द्वारा अपने आगमनकी सूचना भेजी। भीतरसे राजाने कहला भेजा कि इस समय पूजा कर रहे हैं। कुछ देर बाद आयेंगे।' यह सुनकर श्रीपीपाजीने कहा—'राजा बड़ा मूर्ख है, मोचीके घरपर बैठकर जूते गाँठ रहा है और कहता है कि मैं सेवा-पूजा कर रहा हूँ।' राजाने द्वारपालोंके मुखसे जब यह बात सुनी तो दौड़कर आया और चरणोंमें गिर पड़ा। वह आश्चर्यचकित था, वस्तुतः मनसे मोचीके घरपर पहुँच गया था।

उस राजाके महलमें एक अत्यन्त रूपवती, परंतु बन्ध्या रानी थी। उसमें राजाकी विशेष आसक्ति जानकर श्रीपीपाजीने कहा—'तुम शीघ्र उस रानीको मेरे पास ले आओ।' राजा महलकी ओर चला, परंतु उसे बड़ा शोक और संकोच हो रहा था कि मैं रानीको कैसे लाऊँ। चलते समय उसके पैर डगमगा रहे थे। रनिवासमें घुसते ही उसे भयंकर सिंह दिखायी पड़ा। उसे देखकर राजा डर गया और वहीं खड़ा हो गया। पीछे लौटनेमें बुराई और आगे जानेका साहस नहीं रहा। फिर वह सिंह गायब हो गया। राजा किसी प्रकार रानीके पास पहुँचा तो उसके पास अभीका जन्मा हुआ एक बालक दिखायी पड़ा। अब राजाकी समझमें आया कि गुरुदेव भगवान्‌में कितनी सामर्थ्य है। वहीं पृथ्वीपर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके राजाने स्तुति की—'हे प्रभो! हम आपकी मायाको नहीं जान सकते हैं। आपके सिंह एवं शिशु दोनों ही रूप वन्दनीय हैं।' राजाकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर निज स्वरूपसे श्रीपीपाजी वहीं प्रकट हो गये और फटकारते हुए बोले—कहो, वह पहलेवाला रंग कहाँ गया, जब तुमने लोकलज्जा और मोहका त्याग करके सारा राज्य और रानियाँ मुझे अर्पण की थीं और मेरे शिष्य हुए थे।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

चलत चलत बात नृपति श्रवन परी भरी सभा विप्र कहैं बड़ी विपरीति है।
भूप मन आई यह निपट घटाई होत भक्ति सरसाई नहीं जानै घटी प्रीति है॥

चले पीपा बोध दैन द्वार ही ते सुधि दई लई सुनि कही आवौं करौं सेवारीति है।
बड़ौ मूढ़ राजा मोजा गाँठै बैठ्यो मोची घर, सुनि दौरि आयो रहे ठाढ़े कौन नीति है॥ ३००॥
हुती घर माँझ बाँझ रानी एक रूपवती माँगी वही ल्यावौ बेगि चल्यौ सोच भारी है।
डग मग पाँव धरै, पीपा सिंह रूप करै ठाढ़ौ देखि डरै इत आवै आप ख्वारी है॥
जाय तौ बिलाय गयो तिया ढिग सुत नयौ नयौ भूमिपर कला जानी न तिहारी है।
प्रगट्यौ सरूप निज खीझिकै प्रसंग कह्यौ, कहाँ वह रंग? शिष्य भयौ लाज टारी है॥ ३०१॥

(ठ) दुराचारी भगवद्विमुखोंको सन्तभाव प्रदान करना

अब जब राजाका अन्तःकरण पवित्र हो गया, तब श्रीपीपाजीने उसे अनन्य भक्तिका उपदेश दिया। एक दिन एक साधुरूपधारी दुराचारी श्रीपीपाजीके पास आकर बोला—'आप अपनी स्त्रीको मुझे एक रातके लिये दे दें।' आपने कहा—'ले जाओ।' उसने सीता सहचरीजीसे कहा—'आप मेरे संग दौड़कर चलो।' आज्ञाके अनुसार ये उसके साथ दौड़ती हुई चलने लगीं। परंतु दौड़ते-दौड़ते सारी रात बीत गयी फिर भी उसका घर नहीं आया। प्रातःकाल हो गया। ये बैठ गयीं और बोलीं कि अब मैं आपके साथ एक पग भी नहीं चल सकती हूँ; क्योंकि मेरे स्वामीजीकी यह आज्ञा थी कि इनके साथ एक रात रहना। सो वह रात बीत गयी। उसने सोचा कि थक गयी हैं, अतः पालकी या गाड़ी ले आऊँ, उसमें बिठाकर ले चलूँ। वह गाँवमें गया तो घर-घरमें श्रीसीता सहचरीके दर्शन हुए। तब उसकी आँखें खुलीं। वहीं आकर बोला—'माताजी! चलो, आपको स्वामीजीके पास पहुँचा आयें।' आश्रममें आकर वह श्रीपीपाजीके और श्रीसीता सहचरीजीके पैरोंमें गिर पड़ा, उसके मनसे कामवासना दूर हो गयी और सन्त-भगवन्तकी भक्तिमें दृढ़भाव हो गया।

एक बार चार कामी-कुटिल दुष्टोंने सुन्दर माला-तिलक आदि धारण कर लिया और श्रीपीपाजीके निकट आकर बड़ी नम्रतासे बोले—'आप सच्चे सन्तसेवी हैं, आप अपनी स्त्री हमें दे दीजिये।' श्रीपीपाजीने उन्हें कामभावसे व्याकुल होकर प्रतीक्षा करते देखा तो कहा—'आपलोग कोठेमें जाइये।' जैसे ही ये लोग कोठेके द्वारपर गये, वैसे ही एक सिंहनी इन सबके ऊपर इन्हें फाड़ डालनेके लिये झपटी। परंतु उसने साधुवेष जानकर फाड़ा नहीं। वे चारों भयभीत होकर भागे और श्रीपीपाजीसे नाराज होकर बोले—'तुमने तो वहाँ हमलोगोंको मरवानेके लिये सिंहनी बैठा रखी है, तुम साधु नहीं दुष्ट मालूम पड़ते हो।' हँसकर आपने कहा—'आपलोग अपने हृदयकी कुत्सित भावनाओंको देखिये। अनधिकार भोग-भावना ही सिंहनी है। सद्भावसे पुनः जाकर देखिये।' उन लोगोंने फिर जाकर देखा तो सीता सहचरीजी विराजमान हैं। वे सब चरणोंमें पड़कर रोने एवं अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना करने लगे। श्रीपीपाजीकी बातको सत्य मानकर वे सब उनके शिष्य बन गये।

श्रीप्रियादासजीने उक्त घटनाओंका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कियौ उपदेश नृप हृदैमें प्रवेश कियौ लियौ वही पन आप आये निज धाम है।
बोल्यौ एक नाम साधु एक निसि देहु तिया, लेहु, कही भागौ, संग भागी सीता वाम है॥
प्रात भये चलैं नाहिं, रैन ही की आज्ञा प्रभु चल्यौ हारि आगे घर घर देखो ग्राम है।
आयौ वाही ठौर चलो माता पहुँचाय आवौं, आय गहे पाँव भाव भयौ गयौ काम है॥ ३०२॥
विषयी कुटिल चारि साधु भेष लियो धारि कीनी मनोहारि कही तिया निज दीजियै।
करिकै सिंगार सीता कोठे माँझ बैठीं जाय चाहैं मग आतुर ह्वै अजू जाहु लीजियै॥
गये जब द्वार उठी नाहरी सुफारिबे कौं फारै नहीं बानौ जानि आय अति खीजियै।
अपनौ विचारौ हियौ कियौ भोग भावनाकौ मानि साँच भये शिष्य प्रभु मति धीजियै॥ ३०३॥

(ड) ग्वालिनको शिष्य बनाना

श्रीपीपाजीके यहाँ विराजमान साधु-सन्तोंने एक दिन दही पानेकी इच्छा प्रकट की कि आज तो श्रीरघुनाथजीका दहीभोग आरोगनेका मन है। उसी समय एक ग्वालिन दही बेचती हुई उधर आयी। इससे यह जाना गया कि भगवान् अपने भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करते हैं। श्रीपीपाजीने दहीका मूल्य पूछा तो उस ग्वालिनने तीन आना बताया। परंतु उस समय श्रीपीपाजीके पास एक भी पैसा नहीं था। उन्होंने उससे कहा—तू दही दे दे, पैसे अभी नहीं हैं, आज जो भी कुछ भेंटमें आ जायगा, वही तुझको मिल जायगा। यदि कुछ न आया तो तुम्हारा दही ही भेंट समझा जायगा। ग्वालिनने स्वीकार कर लिया। दहीका भोग लगा, साधुओंने शक्कर मिलाकर भोग लगाया और बड़े प्रेमसे दही पिया। उसी समय श्रीपीपाजीका एक शिष्य आया और उसने एक मोतीमालाके समेत बहुत-सा धन भेंट किया। इन्होंने मोतीमाला और सम्पूर्ण धन ग्वालिनको दे दिया। वह उस धनको घर लायी, उसमेंसे कुछ थोड़ा अपने पास रखा, शेषको भक्त-भगवन्त-सेवामें खर्च करके श्रीपीपाजीकी शिष्या बन गयी। ऐसे ही अनेकविध चरित्र थे पीपाजीके।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

गूजरी को धन दियौ पियौ दही संतनि नै, ब्राह्मनकौ भक्त कियौ देवी दी निकारिकै।
तेली कों जिवायो, भैंस चोरनिपै फेरि ल्यायौ, गाड़ी भरि आयौ, तन पाँच ठौर जारिकै॥
कागद लै कोरो कर्‍यौ बनियांको सोक हर्‍यौ, भर्‍यौ घर त्यागि, डारी हत्या हूँ उतारिकै।
राजा कौ औसेर भई, सन्त कौ जु विभौ दई, लई चीठी मानि गये श्रीरंग उदारिकै॥ ३०४॥

(ढ) श्रीरंगदासको भक्तिका मर्म समझाना

एक बार श्रीपीपाजी श्रीअनन्तानन्दस्वामीके शिष्य श्रीरंगजीके यहाँ पहुँचे, उस समय वे भगवान्‌का मानसी पूजन कर रहे थे। श्रीपीपाजी उनकी पौरपर बैठे रहे। श्रीरंगजी मानसी-पूजामें भगवान्‌का शृंगार कर रहे थे। पहले मुकुट धारण कराकर तब फूलोंकी माला पहना रहे थे। वह किंचित् छोटी होनेसे मुकुटमें अटक रही थी। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि कैसे पहनाऊँ? श्रीपीपाजीका मानसी-सेवामें प्रवेश था, अतः बाहरसे ही कहा कि गाँठ खोलकर धारण करा दीजिये। श्रीरंगजीने ऐसा ही किया। फिर तुरंत ही विस्मित होकर आँख खोलकर इधर-उधर देखने लगे कि किसने इतनी गुप्त भावनाको प्रत्यक्ष देखकर मुझे उपाय बताया है। जब वहाँ कोई नहीं दिखायी पड़ा तो उत्सुकतावश बाहर आये। परम तेजोमय दिव्य भव्य, प्रसन्न मुख श्रीपीपाजीको देखकर श्रीरंगनाथजीने पूछा—आप कौन हैं, कृपा करके अपना नाम बताइये? श्रीपीपाजीने मुसकराकर कहा—सन्तोंसे इस प्रकार कुछ पूछनेकी विधि नहीं है। यह सुनकर श्रीरंगजी बड़े लज्जित हुए और समझ गये कि यह कोई परम ज्ञानवान् सिद्ध पुरुष हैं। अतः गीतोक्त विधिसे पुनः परिचय पूछा। जब श्रीपीपाजीने अपना नाम, ग्राम बताया तो सुनते ही वह इनके श्रीचरण-कमलोंमें लोट-पोट हो गये। इसके बाद वे हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रतापूर्वक बोले—प्रभो! मेरा मन तो यह था कि जब आप आयेंगे तो मैं गाजे-बाजेके साथ चलकर आपकी अगवानी करूँगा। परंतु आप तो बिना किसी पूर्व सूचनाके एकदम द्वारपर ही आ गये। आप कृपा करके बागमें पधारें, मैं आपकी अगवानी करने चलूँगा। श्रीपीपाजीने कहा—अरे भाई! अब तो हम घरपर आ ही गये, अब अगवानीकी क्या जरूरत रह गयी? उन्होंने कहा—फिर तो महाराज, मेरी अभिलाषा अपूर्ण ही रह जायगी। अन्तमें उनके प्रेमसे हारकर श्रीपीपाजी घरसे एक कोस दूर बागमें जाकर विराजे। श्रीरंगजी खूब बाजे बजवाते हुए, मुहरें लुटाते हुए, प्रेमोन्मत्त होकर नृत्यगान करते हुए पालकी लेकर इनको लिवाने चले। श्रीपीपाजीने कहा कि पालकीपर तो हमारे श्रीसद्गुरुदेव श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी चलते हैं, भला मैं पालकीपर कैसे चल सकता हूँ। यदि आपका ऐसा ही भाव है तो श्रीस्वामीजीकी छविको पालकीपर पधराकर ले चलें, मैं पैदल चलूँगा। ऐसा ही हुआ।

श्रीपीपाजी उनके प्रेमको देखकर एक महीनेतक उनके घर रहे। श्रीपीपाजीके सत्संगसे सम्पूर्ण गाँव श्रीरामरंगमें रँग गया। इसी प्रकार आपने दो स्त्रियोंको भक्तिका चेत कराया, ब्राह्मणकन्याका विवाह कराया, इत्यादि विविध चरित्रोंको प्रदर्शितकर पीपाजीने भक्तिका विस्तार किया। उनके उदात्त चरित्रका महान् विस्तार है।

उपर्युक्त घटनाओंका श्रीप्रियादासजी महाराजने अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रीरंगके चेत धर्‌यौ तिया हिय भाव भर्‌यौ ब्राह्मणको शोक हर्‌यौ राजा पै पुजाय कै।
चँदवा बुझाय दियौ तेली को लै बैल दियौ दियौ पुनि घर माँझ भयौ सुख आय कै॥
बड़ोई अकाल पर्‌यौ जीव दुख दूरि कर्‌यौ पर्‌यौ भूमि गर्भ धन पायौ दै लुटाय कै।
अति विसतार लियौ कियौ है विचार यह सुनै एक बार फेरि भूलै नहीं गाय कै॥ ३०५॥

श्रीधन्नाजी

घर आए हरिदास तिनहि गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लांगलहिं चलाए॥
आस पास कृषिकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रगट परतीति जु पाई॥
अचरज मानत जगत मैं कहुँ निपज्यौ कहुँवै बयो।
धन्य धना के भजन कों बिनहिं बीज अंकुर भयो॥ ६२॥

परम पुण्यवान्, प्रशंसनीय भक्त श्रीधन्नाजीकी भगवद्भागवत-सेवाकी हम सराहना करते हैं, जिनके खेतमें बिना बीज बोये ही अंकुर जमा। घरपर वैष्णवोंके आनेपर बोनेके लिये रखा हुआ बीजका गेहूँ उन्हें खिला दिये और माता-पिताके डरसे खेतमें खाली-खाली हल चला दिये। (परंतु सन्तसेवाके प्रतापसे बिना बोये भी खेतमें गेहूँ बढ़िया जमा, अतः) पास-पड़ोसके किसान इनके खेतकी बड़ाई करते थे। (जब श्रीधन्नाजीने जाकर देखा तो) साधुसेवाकी प्रीतिरीति एवं प्रतीतिको प्रत्यक्ष पाया। इस बातको सुनकर संसारके लोग आश्चर्य मानते हैं कि बोया कहीं अन्यत्र गया और उपजा कहीं अन्यत्र॥ ६२॥

श्रीधन्नाजीके पावन चरितका वर्णन इस प्रकार है—

श्रीधन्नाजीके बाल्यकालकी घटना है—एक बार एक वैष्णव ब्राह्मण (श्रीत्रिलोचनजी) इनके घर आये। वे श्रीठाकुरजीकी सेवा बड़ी सुन्दर विधिसे करते थे। सेवाके समय बालक धन्ना भी वहीं आ गया और बोला कि मुझे भी श्रीठाकुरजीकी सेवा दीजिये, मेरी भी श्रीठाकुरसेवामें बड़ी प्रीति है। पण्डितजीने एक गोल पत्थर देकर कहा कि खूब प्रेमसे सेवा करना। बालक धन्नाने पत्थरको ही श्रीठाकुरजी समझकर हृदयसे लगा लिया और प्रेमपूर्वक भगवान्‌की सेवा करने लगा। भगवान्‌के आगे भोगके लिये रोटी रखकर, परदा करके आँखें बन्द कर लिया। थोड़ी देर बाद परदा खोलकर देखा तो भगवान्‌ने एक टुकड़ा भी रोटी नहीं खायी थी। तब धन्नाको बड़ा भय हुआ।

श्रीधन्नाजी बारंबार भगवान्‌के पाँवोंमें पड़कर अनुनय-विनय करने लगे। इतनेपर भी जब भगवान् नहीं पाये तो ये भी अड़ गये कि आप नहीं खायेंगे तो मैं भी नहीं खाऊँगा। फिर भी नहीं पाये तो ये भी उस दिन भूखे-प्यासे रह गये। धन्नाजीके हृदयका भाव सच्चा था, अतः प्रभुने इनके द्वारा अर्पित रोटियाँ पायीं। भगवान्‌को रोटियाँ बहुत ही प्यारी लगीं। श्रीधन्नाजी नित्य-प्रति जंगलमें गायें चराने जाते थे। इनको वहीं छाक आती तो ये बड़े प्रेमसे भगवान्‌को भोग लगाते। भगवान् पा करके छोड़ देते थे, वही यह भी पाते

थे। प्रीतिकी रीति कुछ ऐसी ही विलक्षण होती है।

एक दिन भगवान्‌ने श्रीधन्नाजीसे कहा—देखो धन्ना! जो कोई जिसका खाता है, वह उसकी सेवा भी अच्छी तरह करता है। अत: मुझे भी कोई सेवा बताओ। श्रीधन्नाजीके मना करनेपर भी श्रीठाकुरजी इनकी गायें रोज चराने लगे। एक वर्ष बाद वे ब्राह्मण फिर इनके यहाँ आये, परंतु घरमें सेवा-पूजाकी प्रीति-रीति कहीं खोजनेपर भी नहीं पाये। पूछनेपर श्रीधन्नाजीने कहा कि भगवान् गैया चराने गये हैं। पण्डितजीको विश्वास नहीं हो रहा था, कारण कि सेवा-पूजा करते-करते जन्म बीत गया और आजतक दर्शन नहीं हुआ था। फिर पण्डितजीकी प्रार्थनापर श्रीधन्नाजीने उन्हें भी भगवान् श्यामसुन्दरका दर्शन करा दिया।

फिर घर आकर श्रीधन्नाजीपर कृपा करके श्रीभगवान्‌ने आज्ञा दी कि तुम श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजीके पास जाओ और उन्हें अपना गुरु बनाओ अर्थात् उनसे विधि-पूर्वक मन्त्रदीक्षा ले लो। श्रीधन्नाजी जाकर श्रीस्वामीजीके शिष्य हो गये। शिष्य होनेपर भगवान्‌ने उन्हें हृदयसे लगा लिया। फिर श्रीधन्नाजी घरके सब काम-काज करते हुए भगवदाराधन करते रहे।

श्रीप्रियादासजीने धन्नाजीके चरित्रोंका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

खेत की तो बात कही प्रगट कवित्त माँझ और एक सुनौ भई प्रथम जू रीति है।
आयौ साधु विप्रधाम सेवा अभिराम करै ढर्‍यौ ढिंग आय कही मोहूँ दीजै प्रीति है॥
पाथर लै दियो, अति सावधान कियौ, छाती महँ लाय जियो सेवै जैसी नेह नीति है।
रोटी धरि आगे आँखि मूँदि लियौ परदाकै छियौ नहिं टूक देखि भई बड़ी भीति है॥ ३०६॥
बार बार पाँव परै अरै भूख प्यास तजी धरै हिये साँचौ भाव पाई प्रभु प्यारियै।
छाक नित आवै नीकै भोगको लगावै जोई छोड़ै सोई पावैं प्रीति रीति कछु न्यारियै॥
जाकौ कोऊ खाय ताकी टहल बनाय करै ल्यावत चराय गाय हरि उर धारियै।
आयौ फिरि विप्र नेह खोजहूँ न पायौ कहूँ सरसायौ बातैं लै दिखायौ स्याम ज्यारियै॥ ३०७॥
द्विज लखि गायनिमें चायनि समात नाहिं भायनिकी चोट दृग लागी नीर झरी है।
जायकै भवन सीता रँवन प्रसन्न करैं बड़े भाग मानि प्रीति देखी जैसी करी है॥
धनाकौ दयाल ह्वै कै आज्ञा प्रभु दई ढरौ करौ गुरु रामानन्द भक्ति मति हरी है।
भए शिष्य जाय आप छातीसों लगाय लिये किये गृह काम सबै सुनी जैसी धरी है॥ ३०८॥

श्रीसेनजी

प्रभू दास के काज रूप नापित को कीनो।
छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो॥
तादृस ह्वै तिहिं काल भूप के तेल लगायो।
उलटि राव भयो सिष्य प्रगट परचो जब पायो॥
स्याम रहत सनमुख सदा ज्यों बच्छा हित धेन के।
बिदित बात जग जानिए हरि भए सहायक सेन के॥ ६३॥

यह बात सर्वप्रसिद्ध है, सारा संसार जानता है कि श्रीभगवान् परम भागवत श्रीसेनजीके सहायक हुए। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्त (सेनजी)-के लिये नाईका रूप बनाया और अत्यन्त शीघ्र बगलमें छुड़हरी लटकाये हाथमें दर्पण लिये ठीक सेनजीके समान ही रूप धारण करके जाकर राजाको तेलकी

मालिश की। जब राजाने यह रहस्य जाना तो वह उलटे श्रीसेनजीका ही शिष्य बन गया। जैसे नवीन ब्यायी हुई गाय हमेशा अपने बछड़ेके हितके लिये सामने ही रहती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीश्यामसुन्दरजी श्रीसेनजीके हितके लिये सदा उनके सन्मुख ही बने रहते थे॥ ६३॥

श्रीसेनजीसे सम्बन्धित कुछ विवरण इस प्रकार है—

पाँच-छः सौ साल पहलेकी बात है। बघेलखण्डका बान्धवगढ़ नगर अत्यन्त समृद्ध था। महाराज वीरसिंह वहाँके राजा थे। इसी नगरमें एक परम सन्तोषी, उदार, विनयशील व्यक्ति रहते थे; उनका नाम था सेन। राजपरिवारसे उनका नित्यका सम्पर्क था; भगवान्‌की कृपासे दिनभरकी मेहनत-मजदूरीसे जो कुछ भी मिल जाता था, उसीसे परिवारका भरण-पोषण और सन्त-सेवा करके वे निश्चिन्त हो जाते थे।

वे नित्य प्रातःकाल स्नान, ध्यान और भगवान्‌के स्मरणपूजन और भजनके बाद ही राजसेवाके लिये घरसे निकल पड़ते थे और दोपहरको लौट आते थे। जातिके नाई थे। राजाका बाल बनाना, तेल लगाकर स्नान कराना आदि ही उनका दैनिक काम था। एक दिन वे घरसे निकले ही थे कि उन्होंने देखा एक भक्तमण्डली मधुर-मधुर ध्वनिसे भगवान्‌के नामका संकीर्तन करती उन्हींके घरकी ओर चली आ रही है। सेनने प्रेमपूर्वक सन्तोंको घर लाकर उनकी यथाशक्ति सेवा-पूजा की और सत्संग किया।

उधर महाराज वीरसिंहको प्रतीक्षा करते-करते अधिक समय बीत गया। इतनेमें सेन नाईके रूपमें स्वयं लीलाविहारी राजमहलमें पहुँच गये। सदाकी भाँति उनके कंधेपर छुरे, कैंची तथा अन्य उपयोगी सामान तथा दर्पण आदिकी छोटी-सी पेटी लटक रही थी। उन्होंने राजाके सिरमें तेल लगाया, शरीरमें मालिश की, दर्पण दिखाया। उनके कोमल करस्पर्शसे राजाको आज जितना सुख मिला, उतना और पहले कभी अनुभवमें नहीं आया था। सेन नाई बने भगवान् राजाकी पूरी-पूरी परिचर्या और सेवा करके चले गये।

उधर जब भक्तमण्डली चली गयी तो थोड़ी देरके बाद भक्त सेनको स्मरण हुआ कि मुझे तो राजाकी सेवामें भी जाना है। उन्होंने आवश्यक सामान लिया और डरते-डरते राजपथपर पैर रखा। वे चिन्ताग्रस्त थे, राजाके बिगड़नेकी बात सोचकर वे डर रहे थे।

'कुछ भूल तो नहीं आये?' एक साधारण राजसैनिकने टोक दिया।

'नहीं तो, अभी तो राजमहल ही नहीं जा सका।' सेन आश्चर्यचकित थे।

'आपको कुछ हो तो नहीं गया है? मस्तिष्क ठीक-ठिकाने तो है न?'' भगवान्‌के भक्त कितने सीधे-सादे होते हैं, इसका पता तो आज ही चल सका।' सैनिक कहता गया। 'आज तो राजा आपकी सेवासे इतने अधिक प्रसन्न हैं कि इसकी चर्चा सारे नगरमें फैल रही है।' सैनिक आगे कुछ न बोल सका।

सेनको पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि मेरी प्रसन्नता और सन्तोषके लिये भगवान्‌को मेरी अनुपस्थितिमें नाईका रूप धारण करना पड़ा। वे अपने-आपको धिक्कारने लगे कि एक तुच्छ-सी सेवापूर्तिके लिये शोभानिकेतन श्रीराघवेन्द्रको बहुरूपिया बनना पड़ा। प्रभुको इतना कष्ट उठाना पड़ा! उन्होंने भगवान्‌के चरण-कमलका ध्यान किया, मन-ही-मन प्रभुसे क्षमा माँगी।

उनके राजमहलमें पहुँचते ही राजा वीरसिंह बड़े प्रेम और विनय तथा स्वागत-सत्कारसे मिले, भगवान्‌के साक्षात्कारका प्रभाव जो था। भक्त सेनने बड़े संकोचसे विलम्बके लिये क्षमा माँगी, सन्तोंके अचानक मिल जानेकी बात कही। दोनोंने एक दूसरेका जीभर आलिंगन किया। राजाने सेनके चरण पकड़ लिये। वीरसिंहने कहा—'राजपरिवार जन्म-जन्मतक आपका और आपके वंशजोंका आभार मानता रहेगा। भगवान्‌ने आपकी ही प्रसन्नताके लिये मंगलमय दर्शन देकर हमारे असंख्य पाप-तापोंका अन्त किया है।'

श्रीप्रियादासजीने श्रीसेनजीकी सन्तसेवानिष्ठा और भगवान्‌की कृपाका इस प्रकार वर्णन किया है—

'बांधौगढ़' बास हरि साधु सेवा आस लगी पगी मति अति प्रभु परचौ दिखायौ है।
करि नित्त नेम चल्यौ भूपकौ लगाऊँ तेल भयो मग मेल सन्त फिरि घर आयौ है॥
टहल बनाय करी नृपकी न संक करी धरी उर श्याम जाय भूपति रिझायौ है।
पाछे सेन गयौ पंथ पूछै हिये रंग छायौ भयौ अचरज राजा बचन सुनायौ है॥ ३०९॥
फेरि कैसे आये? सुनि अति ही लजाये कही सदन पधारे सन्त भई यों अबार है।
आवन न पायों वाही सेवा अरुझायौ राजा दौरि सिर नायौ देखि महिमा अपार है॥
भीजि गयौ हियौ दास भव दृढ़ लियौ पियौ भक्तिरस शिष्य ह्वै के जान्यो सोई सार है।
अब लौं हूं प्रीति सुत नाती वही रीति चलैं होय जौं प्रतीति प्रभु पावै निरधार है॥ ३१०॥

श्रीसुखानन्दजी

सुखसागर की छाप राग गौरी रुचि न्यारी।
पद रचना गुरु मंत्र मनों आगम अनुहारी॥
निसि दिन प्रेम प्रबाह द्रवत भूधर ज्यों निर्झर।
हरि गुन कथा अगाध भाल राजत लीला भर॥
संत कंज पोषन बिमल अति पियूष सरसी सरस।
भक्ति दान भय हरन भुज सुखानंद पारस परस॥ ६४॥

श्रीसुखानन्दजीकी भुजा आश्रितजनोंको भक्तिका दान देनेवाली और संसारका भय हरनेवाली थी और इनका स्पर्श लौहवत् विमुख, दुष्टजनोंको स्वर्णवत् साधु सदाचारी बनानेके लिये पारसमणिके समान था। ये अपने पदोंमें 'सुखसागर' की छाप लगाते थे। राग गौरीमें इनकी विलक्षण रुचि थी। इनके द्वारा रचे गये पद मानो गुरुमन्त्रतुल्य होते थे तथा इनकी रचना शास्त्रसम्मत होती थी। इनके हृदयमें निरन्तर प्रेमका प्रवाह उमड़ता रहता था और इनकी आँखोंसे ऐसा अविरल अश्रुपात होता रहता था, जैसे पहाड़से झरना झर रहा हो। भगवान्‌के अनन्त गुण, कथा तथा लीलासे परिपूर्ण इनका उन्नत ललाट अत्यन्त सुशोभित लगता था। ये सन्तसमुदायरूपी कमलवनका पोषण करनेके लिये सूर्य तथा अत्यन्त निर्मल, सरस अमृतके सरोवरके समान थे॥ ६४॥

श्रीसुखानन्दजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीसुखानन्दजीका जन्म उज्जैनके समीप किरीटपुर नामक स्थानपर श्रीजानकीनवमीके दिन हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीत्रिपुरारिभट्ट और माताका नाम श्रीगोहावरीबाई था। आपके बचपनका नाम चन्द्रहरि था। जन्मसे ही आप योगसिद्ध महात्मा थे और आपके नेत्र अर्धनिमीलित रहते थे। बचपनसे ही आपमें भक्तिके संस्कार प्रबल थे। आप प्रतिदिन माँकी अँगुली पकड़कर पासके मन्दिरमें भगवान्‌के दर्शन करने जाया करते और जब थोड़ा बड़े हो गये तो स्वयं अकेले ही जाकर दर्शन कर आते थे। यह आपका नित्य कृत्य था।

बचपनसे ही आपके जीवनमें अनेक चमत्कारी घटनाएँ घटीं। जब आप बालक थे और घुटनोंके बल चलते थे तो एक बार माँकी गोदसे उतरकर एक वृक्षके पीछे जाकर बैठ गये, थोड़ी देर बाद माता-पिताका जब उधर ध्यान गया तो देखा कि इनके सिरपर एक नाग फन फैलाये बैठा है। पिताके प्रार्थना करनेपर वह थोड़ी दूर जाकर अदृश्य हो गया। जब आप पढ़नेके लिये विद्यालय जाने लगे तो थोड़े ही समयमें आपने सम्पूर्ण श्रुति-शास्त्रोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया और अपने विद्यागुरुसे कहा कि मुझे उस अक्षरका ज्ञान कराइये जो अक्षरातीतकी प्राप्ति करानेवाला हो। उपर्युक्त घटनाओंसे आपके माता-पिता और गुरुका

पूर्ण विश्वास हो गया कि आप कोई अवतारी महापुरुष हैं, साधारण बालक नहीं।

एक दिन एक ज्योतिषीने आपके विषयमें आपके माता-पितासे बताया कि ये एक अलौकिक विभूति हैं, परंतु ध्यान रखियेगा कि अठारह सालतक ये दर्पण अथवा जलमें अपना मुख न देख सकें; अन्यथा ये विरक्त हो जायँगे। ज्योतिषीकी चेतावनी सुनकर माता-पिता इस विषयमें विशेष सावधान रहते थे। संयोगसे एक दिन श्रीत्रिपुरारिजी शिप्रानदीमें स्नान करने गये थे, इधर रंगराज दीक्षित नामक पण्डितका एक दूत आकर आपसे वार्षिक कर माँगने लगा। जब आपने पूछा कि यह किस बातका कर है, तो उसने बताया कि आपके पितामह पण्डित श्रीरंगराजजीसे शास्त्रार्थमें पराजित हो गये थे, तबसे वे उन्हें वार्षिक कर देते रहे, यह परम्परा अभी भी चल रही है। इसपर आपने कहा कि श्रीरंगराजजीसे कहियेगा कि मैं आजके चौथे दिन आपसे शास्त्रार्थ करने आऊँगा। निश्चित समयपर आप रंगराजजीके यहाँ शास्त्रार्थके लिये गये और उन्हें पराजित करके वार्षिक कर देनेवाले सभी पण्डितोंका संकट दूर किया। जब श्रीत्रिपुरारिजीने इस शुभ समाचारको सुना तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और इस उपलक्ष्यमें उन्होंने बड़ा भारी उत्सव आयोजित किया। संयोगकी बात उसी दिन चन्द्रहरिकी दृष्टि जब जलमें पड़ी तो उन्हें उसमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब दिखायी दे गया। फिर तो ये जगत्से उदासीन हो गये और रात्रिमें घर छोड़कर चल दिये। पिताने बहुत आग्रह किया, समझाया-बुझाया पर ये घर वापस नहीं आये। अन्तमें त्रिपुरारिजीने श्रीपंचोलीजी नामक एक परम विश्वासी व्यक्तिको इनके साथ कर दिया। एक रात स्वप्नमें आपको काशी जानेका दिव्यादेश प्राप्त हुआ। स्वप्नकी बात जब आपने श्रीपंचोलीजीसे बतायी तो उन्होंने श्रीरामानन्दजीकी चर्चा की। श्रीआचार्यचरणकी चर्चा सुनते ही आपका मन श्रीस्वामीजीके दर्शनके लिये आकुल-व्याकुल हो उठा और आप श्रीकाशीजीके लिये चल दिये। मार्गमें ही आपको श्रीरामभारती नामक एक संन्यासी मिले, इन्होंने आपको अधिकारी समझकर अष्टांग योगका ज्ञान दिया। अल्पकालमें ही आपने समस्त यौगिक क्रियाएँ सिद्ध कर लीं।

कुछ दिनों बाद आप श्रीरामभारतीजीके साथ स्वामी रामानन्दाचार्यजीके आश्रमपर गये और श्रीस्वामीजीकी शरण ली। श्रीस्वामीजीने आपका विधिपूर्वक पंच संस्कार करके श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा दी और चन्द्रहरिके स्थानपर 'सुखानन्द' नाम रख दिया। आप कुछ कालतक काशीमें ही रहकर श्रीआचार्यचरणकी सेवा करते रहे फिर उनके आदेशसे चित्रकूटमें रामशय्या नामक स्थानपर रहकर भजन-साधन करने लगे।

श्रीसुखानन्दजी महाराज एक सिद्ध सन्त थे, उनके चमत्कारोंकी अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं; परंतु उनके चमत्कार अपनी प्रसिद्धिके लिये नहीं, अपितु दूसरोंका कल्याण करनेके लिये हुआ करते थे। कहते हैं कि एक बार एक पापी-दुराचारी व्यक्तिके सिरपर आपने हाथ रख दिया था, जिससे उसके अन्त:करणकी मलिनता समाप्त हो गयी और वह भक्त हो गया।

एक बारकी बात है, आप एकान्त वनमें बैठकर भगवान्‌का ध्यान कर रहे थे, ध्यानमें आनन्दविभोर होकर आप गौरी रागमें एक भजन गाने लगे। आपकी अमृतमयी मधुर स्वरलहरी वन-प्रान्तको गुंजित करने लगी, जिसे सुनकर वनके समस्त मृग मुग्ध हो गये और आपके पास आकर खड़े हो गये। उसी समय एक राजकुमार शिकार खेलता हुआ वहाँ आ निकला और मृगोंको मारनेका उपक्रम करने लगा। आपने उसे रोका पर राजमदमें उसने परवाह न की; परिणामस्वरूप सभी मृग सिंह बनकर उस राजकुमारपर झपट पड़े। डरके मारे राजकुमारके हाथसे अस्त्र-शस्त्र छूटकर गिर पड़े और वह स्वयं भी मूर्च्छित हो गया, पुनः चैतन्य होनेपर उसने आपके चरणोंमें पड़कर क्षमा-याचना की और हिंसाप्रधान स्वभाव छोड़कर भक्त बन गया।

श्रीसुखानन्दजी महाराज भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार करनेके लिये सन्त-मण्डली लेकर देश-देशान्तरमें

प्राय: भ्रमण करते रहते थे। भ्रमण करते हुए एक बार आप एक गाँवमें पहुँचे और एक विशाल वट वृक्षके नीचे ठहर गये। आपका नियम था कि आप किसीसे कुछ याचना नहीं करते थे, भगवत्कृपासे सब व्यवस्था हो जाया करती थी, परंतु उस दिन भोजनका समय हो जानेपर भी गाँववालोंकी ओरसे कुछ भी सीधा-सामान नहीं आया। सन्तोंको भूखा जानकर आपने श्रीभगवान्‌का ध्यान किया और भगवन्नाम-संकीर्तन शुरू किया। आपके संग-संग सन्त-समाज भी आनन्दविभोर होकर कीर्तन करने लगा। कीर्तनकी यह ध्वनि जब गाँववालोंके कानमें पड़ी तो वे भी मन्त्र-मुग्ध हो गये और बरबस खिंचे चले आये। बहुत देरतक श्रीहरि-कीर्तन होता रहा, गाँववाले भी आनन्दमग्न थे, उन्हें ऐसे अनिर्वचनीय सुखकी कभी अनुभूति नहीं हुई थी। थोड़ी देर बाद जब उन्हें इस बातका ज्ञान हुआ कि सन्तोंने अभी प्रसाद नहीं पाया है, तो सभी बहुत लज्जित हुए और बात-की-बातमें खाद्य-सामग्रीका पहाड़-सा ढेर लग गया। पूरा गाँव भगवद्भक्तिके रंगमें रँग गया। ऐसा था आपका विराट् व्यक्तित्व और अद्भुत चरित।

कहते हैं कि जब आपके भगवद्धाम जानेका समय हुआ तो स्वयं श्रीहनुमान्‌जी प्रकट हुए और आप उन्हींमें लीन हो गये।

श्रीसुरसुरानन्दजी

एक समै पथ चलत बाक्य छल बरा सुपाए।
देखादेखी सिष्य तिनहुँ पाछै ते खाए॥
तिन पर स्वामी खिजे बमन करि बिन बिस्वासी।
तिन तैसे परतच्छ भूमि पर कीनी रासी॥
सुरसुरी सुवर पुनि उदगले पुहुप रेनु तुलसी हरी।
महिमा महाप्रसाद की सुरसुरानंद साँची करी॥ ६५॥

श्रीसुरसुरानन्दजीने भगवान्‌के महाप्रसादकी शास्त्रोक्त महिमाको सत्य करके दिखा दिया। एक बार मार्गमें चलते समय एक दुष्टके वाक्छलसे दही-बड़ा पा लिया। आपकी देखा-देखी शिष्योंने भी बादमें खूब पेटभर पाया। तब उन लोगोंपर श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी नाराज होकर बोले कि तुमलोगोंने प्रसादमें बिना विश्वासके ही स्वादबुद्धिसे दही-बड़ा खाया, अत: वमन करो। उन लोगोंने वमन करके जैसा-का-तैसा पृथ्वीपर प्रत्यक्ष बड़ोंका ढेर लगा दिया। इसके बाद परमसाधु श्रीसुरसुरीजीके पतिने वमन किया तो उनके उदरसे हरी तुलसी, फूल और रेणु निकली। प्रसादबुद्धिसे पानेसे उड़दका बड़ा *'पुहुप रेनु तुलसी हरी'* हो गया था॥ ६५॥

श्रीसुरसुरानन्दजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीसुरसुरानन्दजी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके शिष्य थे। आपका बचपनका नाम भायण कुमार था। आपका जन्म वैशाख कृष्ण नवमी, गुरुवारको लखनऊके समीप परखम नामक ग्राममें हुआ था। आपके पिताका नाम पण्डित सुरेश्वरजी शर्मा और माताका नाम श्रीमती देवीजी था। बचपनसे ही आपमें भक्तिके संस्कार विद्यमान थे। उपनयन-संस्कारके समय जब इनको गायत्री मन्त्रकी दीक्षा दी गयी, तो उनके मनमें इसके प्रति अद्भुत आकर्षण जग गया और उन्होंने उसी समय गायत्री पुरश्चरणका संकल्प ले लिया। माता भगवतीकी कृपासे आपका पुरश्चरण निर्विघ्न पूर्ण हो गया और उससे आपके हृदयमें ऐसा वैराग्यभाव जाग्रत् हुआ कि आपने घर छोड़कर काशीके लिये प्रस्थान कर दिया।

'श्रीरामानन्दाचार्यचरितामृत' में श्रीसुरसुरानन्दजीको देवर्षि नारदका अवतार कहा गया है। कहते हैं कि आपके सभी शुभ संस्कारोंके अवसरपर एक नारायण नामके ब्राह्मण आया करते थे, जो अपने-आपको इनका

मामा बताया करते थे। वे उत्सवमें सम्मिलित होनेके बाद कहाँसे आते और कहाँ जाते थे—यह किसीको ज्ञात नहीं होता था। काशी-प्रस्थानके समय भी उन्होंने ही आपको श्रीरामानन्दाचार्यजीकी शरणमें जानेकी प्रेरणा दी थी।

काशी पहुँचकर आपने स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजसे दीक्षाहेतु निवेदन किया और साथ ही अपने नारायण नामधारी तथा कथित मामाके विषयमें भी जानकारी चाही। श्रीस्वामीजीने कहा कि धैर्य रखो, समय आनेपर स्वयं ही सब रहस्योद्घाटन हो जायगा।

दूसरे दिन सत्संगके समय श्रीरामानन्दाचार्यजीने शंखध्वनि की, उस दिव्य ध्वनिके श्रवणरन्ध्रोंमें प्रवेश करते ही आप मूर्च्छित हो गये। उसी अवस्थामें आपको अव्यक्त वाणी सुनायी दी कि नारदरूपमें मायाके वशीभूत होकर तुम विवाह करना चाहते थे, परंतु मैंने तुम्हें विवाह नहीं करने दिया, जिससे क्षुभित होकर तुमने मुझे शाप दे दिया, जिसे चरितार्थ करनेके लिये मैंने श्रीरामावतार धारण किया। यद्यपि मेरे समझानेसे तुम्हारी विवाहकी इच्छा समाप्त हो गयी, पर संस्काररूपमें वह तुम्हारे मनमें बनी रही; अतः इस जन्ममें तुम्हारी यह इच्छा पूरी की जायगी।

अब आपको अपने स्वरूपका बोध हो चुका था, साथ ही नारायणकी कृपा एवं नारायण नामधारी अपने मामाके रहस्यका भी उद्घाटन हो चुका था। आपके गाँवमें ही सुरसरी नामकी मातृपितृहीना ब्राह्मण बालिका रहती थी। उसने मनसा अपने-आपको आपके ही चरणोंमें समर्पित कर रखा था। जब उसे आपके काशीगमनका समाचार मिला तो वह भी काशी आ गयी और उसने भी श्रीस्वामीजीके चरणोंमें प्रणिपात करके परमार्थकी भिक्षा माँगी। श्रीस्वामीजीने उसे 'सौभाग्यवती भव' का आशीर्वाद दिया। फिर आप दोनोंको दीक्षा दी तथा पूर्वस्वरूपका बोध कराया। तत्पश्चात् श्रीस्वामीजीने आप दोनोंको परिणय-सूत्रमें निबद्ध कराया और भजन करनेका आदेश दिया। आप दोनों श्रीआचार्यचरणकी आज्ञा और आशीर्वाद ले अपने गाँव चले आये और वैदिक विधिसे विवाहकर भगवदाराधन और भक्तिभावमें प्रवृत्त हो गये। सुरसरीजी परम सती पतिव्रता नारी थीं। पतिके भावको समझकर उन्होंने भी वैराग्यपूर्वक सांसारिकताको त्याग दिया और दोनों पति-पत्नीने भी गृहत्यागकर वनको प्रस्थान किया। कुछ ही दिनों बाद श्रीसुरसुरीजीका महाप्रयाण हो गया और श्रीसुरसुरानन्दजी पुनः आचार्यचरणोंकी सेवामें काशी आ गये।

जिस समय आप आचार्य-चरणोंकी सेवा करते हुए काशीवास कर रहे थे, उस समय दक्षिण भारतमें अलाउद्दीन खिलजीका सेनापति मलिक काफूर हिन्दुओंपर कहर बरपा रहा था। श्रीस्वामीजीकी आज्ञासे हिन्दू तीर्थोंकी रक्षाके लिये आपने दक्षिण भारतकी यात्रा की और अपने सिद्धिबलसे मलिक काफूरको स्वप्नमें पैगम्बर हजरत मोहम्मद साहबसे उपदेश दिलाया कि हिन्दू और मुसलमान दोनोंका खुदा एक ही है, अतः तुम उपद्रव बन्द करो और श्रीसुरसुरानन्दजी जो कहें, वही करो। अब मलिक काफूरकी नींद काफूर हो चुकी थी, वह नंगे पैर दौड़ता श्रीसुरसुरानन्दजीके पास गया और उनके चरणोंमें पड़कर अपने अपराधके लिये क्षमा माँगने लगा। आपने उसे क्षमाकर उपदेश दिया, जिससे वह बहुत ही प्रभावित हुआ और सारे अत्याचार बन्द कर दिये। इस प्रकार आपने दक्षिण भारतमें अमन-चैनकी स्थापना की।

जीवनके अन्तिम कालमें आप श्रीअयोध्याजी चले आये और यहीं श्रीसरयूपुलिनपर श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नका दर्शन करते हुए दिव्य धाम साकेतको प्रस्थान कर गये।

श्रीसुरसुरीजी

अति उदार दंपती त्यागि गृह बन को गवने।
अचरज भयो तहँ एक संत सुन जिन हो बिमने॥

बैठे हुते एकांत आय असुरनि दुख दीयो।
सुमिरे सारँगपानि रूप नरहरि को कीयो॥
सुरसुरानंद की घरनि को सत राख्यो नरसिंह जह्यो।
महासती सत ऊपमा (त्यों) सत्त सुरसुरी को रह्यो॥ ६६॥

महासतियों [जैसे श्रीअरुन्धतीजी, श्रीअनसूयाजी, श्रीलोपामुद्राजी, श्रीपार्वतीजी, श्रीसीताजी, श्रीसावित्रीजी आदि]-के सतीत्वके सदृश ही श्रीसुरसुरीजीका पातिव्रत्य भी प्रभुकृपासे अक्षुण्ण रहा। अत्यन्त उदार दम्पती श्रीसुरसुरानन्दजी एवं श्रीसुरसुरीजी वैराग्यपूर्वक गृहत्याग करके भगवद्भजनके लिये वनको प्रस्थान किये। वहाँ वनमें एक दिन ये दोनों एकान्तमें बैठे हुए भगवान्‌का भजन कर रहे थे, उसी समय दुष्ट म्लेच्छोंने श्रीसुरसुरीजीका अपहरण करनेके लिये अनेक प्रकारका उपद्रव किया। उस समय दम्पतीने श्रीशार्ङ्गपाणि भगवान् श्रीरामजीका स्मरण किया। भक्तके स्मरण करते ही श्रीरामजीने श्रीनृसिंहरूप धारणकर असुरोंको मार डाला और श्रीसुरसुरानन्दजीकी पत्नी श्रीसुरसुरीजीका पातिव्रत्य बचा लिया॥ ६६॥

श्रीसुरसुरीजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीसुरसुरीजी स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजीकी शिष्या और श्रीसुरसुरानन्दजीकी धर्मपत्नी थीं। ये परम भक्तिमती एवं सती नारी थीं। पतिके चरणोंमें इनका दृढ़ प्रेम था। पतिके बिना एक क्षण भी जीवन धारण करना इनके लिये असम्भव था।

एक बारकी बात है। अपने पतिके साथ ये वनमें तप कर रही थीं कि एक म्लेच्छकी दृष्टि इनपर पड़ गयी। वह इनके अनुपम सौन्दर्यको देखकर कामोन्मत्त हो उठा तथा रात-दिन इस अवसरकी ताकमें रहने लगा कि इनके पति कहीं चले जायँ।

एक दिन सुरसुरीके पति समिधा और पुष्प लेनेके लिये वनमें थोड़ी दूर निकल गये। म्लेच्छने अपने लिये सुअवसर देखा। वह दुष्ट प्रलाप करता हुआ सुरसुरीके पास चला आया।

म्लेच्छको दूरसे ही देखकर सुरसुरीजी घबरा गयीं। उस समय उनकी बड़ी विचित्र दशा थी। उनका हृदय काँप रहा था और आँखोंसे आँसू बह रहे थे। अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये वह दयानिधान भगवान्‌से मन-ही-मन कातर प्रार्थना करने लगीं।

म्लेच्छ निर्भीक होकर सुरसुरीके पास चला आया; पर सुरसुरीको देखते ही वह उलटकर सिरपर पाँव रखकर जोरसे भागा, पीछे मुड़कर भी नहीं देखा उसने। सुरसुरीके स्थानपर उसकी आँखोंने बैठी हुई सिंहिनीको देखा था! उसे अपने ही प्राणोंके लाले पड़े थे।

जिन्हें अपने धर्ममें पूरी निष्ठा तथा दृढ़ विश्वास है, समयपर भगवान् उनकी रक्षा करते ही हैं और भगवान्‌ने उनकी रक्षा की। ऐसी पतिव्रता और भगवद्भक्ता थीं सुरसुरीजी!

श्रीनरहरियानन्दजी

झर घर लकरी नाहिं सक्ति को सदन उदारैं।
सक्ति भक्त सों बोलि दिनहिं प्रति बरही डारैं॥
लगी परोसी हौंस भवानी भ्वै सो मारै।
बदले की बेगारि मूड़ वाके सिर डारै॥

भरत प्रसंग ज्यों कालिका लडू देखि तन में तई।
निपट नरहर्यानंदको करदाता दुरगा भई॥ ६७॥

एक बार वर्षाकी झड़ी लग जानेसे घरमें ईंधनके लिये सूखी लकड़ी न होनेसे श्रीठाकुरजीके लिये भोग बनने एवं सन्त-सेवामें बाधा देखकर श्रीनरहरियानन्दजीने समीपके श्रीदुर्गाजीके मन्दिरको ही उजाड़ना शुरू किया। तब श्रीदुर्गाजीने प्रकट होकर भक्तसे कहा कि मेरे मन्दिरको न उजाड़ें, मैं प्रतिदिन आपके यहाँ सूखी लकड़ीका एक बड़ा बोझ रख आया करूँगी। उसी दिनसे श्रीदुर्गाजी श्रीनरहरियानन्दजीके यहाँ लकड़ी पहुँचाने लगीं। यह देखकर आश्रमके पड़ोसमें रहनेवाले एक व्यक्तिको भी इच्छा हुई कि मैं भी इसी प्रकारसे दुर्गाजीसे लकड़ियाँ लूँ। वह भी श्रीनरहरियानन्दजीकी तरह भवानीजीका मन्दिर उजाड़ने लगा। तब भवानीने उसे पृथ्वीपर पटककर बहुत मार लगायी और अपने सिरकी बेगार [लकड़ी पहुँचाना] उसके सिरपर सौंपकर तब उसको छोड़ा। जैसे श्रीजड़भरतजी तथा श्रीलडूभक्तजीके प्रसंगमें भक्तकी भक्तिके तेजसे श्रीकालिकाजी तप्त हो गयी थीं, उसी प्रकार श्रीनरहरियानन्दजीके भक्तितेजसे तप्त होकर देवीने कर दिया॥ ६७॥

श्रीनरहरियानन्दजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

स्वामी श्रीनरहरियानन्दजी महाराज श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके शिष्य और गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके गुरु थे। आपका जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया संवत् १४९१ वि० को वृन्दावनके समीप एक ग्राममें हुआ था। आपकी माता अम्बिका देवी पतिपरायणा सद्गृहिणी और पिता श्रीमहेश्वरमिश्र भगवती विन्ध्यवासिनीके परम भक्त थे। भगवतीके ही कृपाप्रसादसे आपको श्रीनरहरियानन्द-जैसे पुत्रकी प्राप्ति हुई। बालक नरहरि जब तीन वर्षके हुए तब इनकी माताकी मृत्यु हो गयी। श्रीमहेश्वरजीने बड़े धैर्यसे उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया। यथा समय आपका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और भगवती विन्ध्यवासिनीके आदेशसे ही महेश्वरजीने बालक नरहरिको अन्य विद्यार्थियोंके साथ श्रीरामानन्दाचार्यजीके पास काशी भेज दिया और स्वयं तप करने बदरिकाश्रम चले गये। काशी पहुँचकर नरहरिने पहले स्वामीजीके प्रधान शिष्य श्रीअनन्तानन्दजीका दर्शन किया और दीक्षाके लिये प्रार्थना की। उसी समय श्रीस्वामीजीने अपना दिव्य शंख बजाया, जिसे सुनते ही नरहरिकी समाधि लग गयी। जब पुनः चैतन्य हुए तो स्वामीजीके चरणोंमें प्रणिपात किया। श्रीस्वामीजीने अनन्तानन्दजीसे कहा कि बालककी दिव्य दीक्षा हो चुकी है, अब इसे पंच संस्कारोंसे संस्कृतकर वैष्णवी दीक्षा प्रदान करो और उपासना-रहस्यका बोध कराओ। श्रीअनन्तानन्दजीने नरहरिको सविधि श्रीराम-मन्त्रका उपदेश दिया और उनका नरहर्यानन्द नाम रख दिया। उन्होंने आपको अपने पास रखकर समस्त वेद-शास्त्र, पुराणादिकोंका निगूढ़ तत्त्व समझाया और भगवद्भजनमें आपकी रुचि देखकर पंचगंगाघाटपर श्रीगंगाजीके किनारे एकान्तमें एक कोठरी दे दी। श्रीगुरुदेव भगवान्से आपको कृपाप्रसादरूपमें एक शालग्रामशिला प्राप्त हुई थी, जिसे आप 'विजयराघव भगवान्' कहते थे और उसकी सेवा-पूजा करते थे।

श्रीनरहरियानन्दजी महाराज भगवद्भक्तिका प्रचार-प्रसार करनेके लिये तीर्थाटन करते रहते थे। आपने चित्रकूट, श्रीजगन्नाथपुरी (उड़ीसा), गढ़खला (राजस्थान), प्रयाग आदि अनेक स्थानोंपर चातुर्मास्य व्रत किये और भगवद्भक्तिका प्रचार किया। एक बार आप तीर्थराज प्रयागमें अलोपीबागस्थित श्रीअलोपीदेवी मन्दिरमें चातुर्मास्य व्रत कर रहे थे। वहाँ आप भक्तोंके अनुरोधपर श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण और श्रीमद्भागवतकी कथा कहते और भगवान् श्रीराम एवं श्रीकृष्णका गुणगान करते। उनकी सात्त्विक भक्तिसे प्रभावित होकर स्वयं भगवती अलोपी देवी भी सात्त्विकभावापन्न हो गयीं और उन्होंने गाँवके मुखियाको स्वप्नमें आदेश दिया कि अब मैं वैष्णवी हो गयी हूँ, अतः अब मेरे स्थानपर पशुबलि नहीं दी जायगी। यदि कोई मेरे कथनके विरुद्ध मद्य-मांससे मुझे सन्तुष्ट करना चाहेगा, तो उसका सर्वनाश हो जायगा। तबसे वहाँ सात्त्विक पूजा होती है।

श्रीनरहरियानन्दजीकी मुख्य साधना-स्थली चित्रकूट रही, वहाँ आप नित्य श्रीकामतानाथजीकी परिक्रमा करते थे। कहते हैं कि वहाँ आपको भगवान् श्रीसीतारामजी, अत्रि-अनुसूयाजी, श्रीदत्तात्रेयजी और श्रीकामतानाथजीके दिव्य दर्शन भी हुए थे। यहींपर भगवान् शिवने आपको श्रीरामचरितमानसका रहस्य-बोध कराया और बालक 'रामबोला' को इसका उपदेश देनेका आदेश दिया। वही रामबोला आगे चलकर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके नामसे विश्वविख्यात हुए। आपकी 'श्रीअनन्ततत्त्वामृत' एवं 'श्रीनामप्रताप' नामक दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

श्रीपद्मनाभजी

नाम महानिधि मंत्र नाम ही सेवा पूजा।
जप तप तीरथ नाम नाम बिन और न दूजा॥
नाम प्रीति नाम बैर नाम कहि नामी बोलैं।
नाम अजामिल साखि नाम बंधन ते खोलैं॥
नाम अधिक रघुनाथ तें राम निकट हनुमत कह्यो।
कबिर कृपा ते परम तत्व पद्मनाभ परचो लह्यो॥ ६८॥

श्रीकबीरदासजीकी कृपासे श्रीपद्मनाभजीने परमतत्त्व श्रीनाम महाराजके माहात्म्यको भली प्रकारसे जाना। श्रीभगवन्नाम ही आपका परम धन था, श्रीनामको ही आप महामन्त्र मानते थे। श्रीनामकी ही आप सेवा-पूजा करते थे और नाम-जपको ही भगवान्‌की सेवा-पूजा समझते थे तथा नाम-जपको ही समस्त जप, तप, तीर्थादि साधन समझते थे। श्रीनामके अतिरिक्त अन्य साधन-साध्य कुछ भी नहीं जानते थे। वे नामानुरागियोंसे प्रीति करते थे तथा नामसे विमुखजनों एवं विरोधियोंसे वैर करते थे। इनका विश्वास था कि भगवान्‌का नाम चाहे प्रेमपूर्वक लिया जाय चाहे वैरपूर्वक—दोनों प्रकारसे ही नाम लेनेपर श्रीनाम महाराज उसका कल्याण ही करते हैं। ये श्रीनामको ही नामी अर्थात् परब्रह्म परमात्मा कहते थे। इनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीभगवन्नाम ही जीवको भव-बन्धनसे छुड़ानेवाला है। श्रीनाम महाराजके इस परत्वके साक्षी श्रीअजामिलजी हैं। श्रीरामनाम तो श्रीरामजीसे भी बड़ा है, यह बात श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामके सम्मुख ही कही है॥ ६८॥

श्रीपद्मनाभजीका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीपद्मनाभजी श्रीकबीरदासजीके शिष्य थे। गृहस्थाश्रममें आपको शास्त्रार्थ करने तथा दूसरे पण्डितोंको पराजित करनेका व्यसन था। बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित भी आपसे शास्त्रार्थ करनेमें घबड़ाते थे। आप जब कहीं शास्त्रार्थ करने जाते तो आपके साथ बैलगाड़ियोंमें भरकर आपकी पोथियाँ चलतीं और साथमें अनेक विद्वान् पण्डित चलते। ये जहाँ भी पहुँच जाते विजयश्री इनके चरण चूमती; अधिकांश पण्डित इनकी कीर्ति सुनकर ही बिना शास्त्रार्थ किये विजय-पत्र लिख देते थे तथा जो शास्त्रार्थ करते भी थे, उन्हें अविलम्ब ही हारकर विजय-पत्र लिखना पड़ता।

इस प्रकार देशके कोने-कोनेसे पण्डितोंद्वारा विजय-पत्र लिखवाते हुए श्रीपद्मनाभजी काशी आये। यहाँ भी इन्होंने पण्डितोंको शास्त्रार्थके लिये ललकारा कि या तो यहाँके विद्वान् मुझसे शास्त्रार्थ करें या विजय-पत्र लिखकर दें। काशीके पण्डित इनकी ख्याति सुन चुके थे, वे जानते थे कि इस समय इनका नक्षत्र बलवान् है; अतः केवल पाण्डित्यबलसे इन्हें पराजित करना असम्भव है। यदि ये कदाचित् हार सकते हैं तो सिद्धिबलसे ही हार सकते हैं। अतः सब पण्डितोंने जाकर भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना की। श्रीशिवजीने परामर्श दिया कि दिग्विजयी पण्डितको कबीरदासजीके पास भेजो। काशीके पण्डित भी कबीरदासजीके

सिद्धिबलसे परिचित थे ही, अतः सब लोगोंके मनपर श्रीशिवजीकी बात बैठ गयी। तत्पश्चात् सभी पण्डित मिलकर श्रीपद्मनाभजीके पास गये और बोले कि यदि आप हम लोगोंके गुरु श्रीकबीरदासजीको शास्त्रार्थमें पराजित कर दें तो हम सभी अपनी हार मान लें। श्रीपद्मनाभजीने कहा—यदि ऐसी बात है तो आप लोग उन्हें मेरे पास ले आइये। पण्डितोंने कहा—उनको शास्त्रार्थकी गर्ज नहीं है, आपको यदि शास्त्रार्थ करना हो तो उनके पास चलें। श्रीपद्मनाभजी तैयार हो गये। पण्डितोंने सारी बात जानकर श्रीकबीरदासजीसे बतायी। कबीरदासजीने कहा कि जब शिवजीकी आज्ञा है, तो वे ही मुझे सँभालेंगे और वे ही मेरे मुखसे बोलेंगे। इस प्रकार उन्होंने भी स्वीकृति दे दी।

समयपर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। दिग्विजयी पण्डित पद्मनाभने कबीरदासजीसे ही प्रश्न करनेका आग्रह किया। कबीरदासजीने कहा—पण्डितजी! मैंने तो ***'मसि कागद छूयो नहीं कलम गही नहिं हाथ'***, फिर भला मैं क्या जानूँ शास्त्र और क्या करूँ शास्त्रार्थ! फिर भी आप कह रहे हैं तो जिज्ञासावश पूछ रहा हूँ—

समुझि पढ़े कि पढ़ि समुझि, अहो कहो कविराय।
सुनि यह बात कबीर की, पण्डित गयो हेराय॥

श्रीकबीरदासजी सिद्ध सन्त थे, उनकी वाणी प्रासादिक थी, उसके कानमें पड़ते ही दिग्विजयी पण्डितके अन्तश्चक्षु खुल गये। उन्होंने बड़ी विनम्रतापूर्वक कहा—महाराज! मैंने न तो समझकर पढ़ा, न पढ़कर ही समझा, अब आपकी कृपासे समझा कि हमारा सब पढ़ना-लिखना व्यर्थ रहा। पढ़नेका जो वास्तविक तात्पर्य है, उसे तो मैंने समझा ही नहीं, केवल वाद-विवादमें उलझकर स्वयं संतप्त हुआ और दूसरेको संतप्त किया। अब तो दिग्विजयी पण्डित पद्मनाभजी पश्चात्ताप करने लगे। उन्होंने उसी क्षण निश्चय किया कि अब मैं कभी शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। साथ आये पण्डितोंको बैलगाड़ीपर लदी पुस्तकोंके साथ उन्होंने वापस कर दिया और स्वयं कबीरदासजीकी शरण ली। पद्मनाभजीमें पाण्डित्य और पात्रता तो थी ही; अहंकारकी भी निवृत्ति हो ही गयी थी; अतः कबीरदासजीने उन्हें श्रीराम-मन्त्रकी दीक्षा दे दी।

श्रीपद्मनाभजी का अब तो जीवन ही बदल गया था, निरन्तर नाम-जप करते और भगवान्‌की मानसी सेवा करते। कहते हैं कि एक दिन आप प्रभुकी मानसी सेवा कर रहे थे। भावावेशमें सभी व्यंजनोंके नाम ले-लेकर प्रभुको नैवेद्य लगा रहे थे। उसी समय एक सज्जन वहाँ आकर खड़े हो गये और उनके क्रिया-कलापोंको देखने लगे। उनके मनमें इस बातका बड़ा कौतूहल हो रहा था कि बाबाजी नाम तो छप्पन प्रकारके व्यंजनोंका ले रहे हैं और है कुछ भी नहीं! थोड़ी देर बाद उन्होंने आपको प्रणाम किया तो आपने उसी भावावेशमें उन्हें प्रसाद दे दिया। उन सज्जनको यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि प्रसादमें वे सारी वस्तुएँ हैं, जिनका श्रीपद्मनाभजीद्वारा नाम लिया जा रहा था।

एक बारकी बात है, काशीपुरीमें निवास करनेवाले एक सेठको असाध्य गलित कुष्ठ हो गया था। ऐसी स्थितिमें वह श्रीगंगाजीमें डूबकर मर जानेका संकल्प करके डूबनेको चला। उस समय उसके साथ लोगोंकी बहुत बड़ी भीड़ गंगातटपर एकत्रित हो गयी थी। संयोगवश श्रीपद्मनाभजी उधरसे ही जा निकले। भीड़ देखकर समीप जाकर पूछा। लोगोंने बताया। तब इन्होंने कहा कि उसे पकड़ो, डूबने मत दो और उसके शरीरसे बन्धन खोल दो तथा उससे कहो कि वह श्रीगंगाजलमें स्नान करे। स्नान करते समय तीन बार श्रीरामनाम कहनेमात्रसे ही उसका शरीर नवीन हो जायगा। उसने वैसा ही किया तो सचमुच उसका शरीर नवीन हो गया। फिर तो उसने जीवनपर्यन्त बुद्धिको स्थिर करके भगवान्‌की भक्ति की। इसके बाद श्रीपद्मनाभजीने श्रीगुरुदेव कबीरके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा तो उन्होंने कहा कि अहो! तुमने श्रीनाम महाराजकी यथार्थ महिमा नहीं जानी। तब तो तुच्छ रोगके लिये तीन बार भगवन्नाम उच्चारण कराया। अरे, यह कार्य तो नामके आभासमात्रसे हो सकता है।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका वर्णन अपने एक कवित्तमें इस प्रकार करते हैं—

काशीबासी साहु भयो कोढ़ी सो निबाह कैसे परि गये कृमि चल्यौ बूड़िबेको भीर है।
निकसे पदम आय पूछी ढिग जाय, कही गही देह खोलौ गुन न्हाय गंगा नीर है॥
रामनाम कहै बेर तीन मैं नवीन होत भयौई नवीन कियौ भक्ति मति धीर है।
गयौ गुरु पास तुम महिमा न जानी अहो नाम भास काम करै कही यौं कबीर है॥ ३११॥

श्रीतत्त्वाजी, श्रीजीवाजी

भक्ति सुधा जल समुद भए बेलावलि गाढ़ी।
पूरबजा ज्यों रीति प्रीति उतरोतर बाढ़ी॥
रघुकुल सदृस सुभाव सिष्ट गुन सदा धर्म रत।
सूर धीर ऊदार दयापर दच्छ अननि ब्रत॥
पदमखंड पदमा पधति प्रफुलित कर सबिता उदित।
तत्वाजीवा दछिन देस बंसोद्धर राजत बिदित॥ ६९॥

परम भक्त श्रीतत्त्वाजी एवं श्रीजीवाजी दक्षिण देशके निवासी थे। ये अपने वंशका उद्धार करनेवाले तथा जगत्-प्रसिद्ध सन्त हुए। इनका सुयश आज भी सन्त-समाजमें सुशोभित है। ये दोनों भक्तिरूपी अमृतमय जलके समुद्रके दो दृढ़ किनारे थे। पूर्वाचार्योंकी भाँति श्रीसन्त-भगवन्तके प्रति इनकी प्रीति-रीति भी दोपहरके बाद पूर्व दिशाकी ओर जानेवाली छायाकी तरह उत्तरोत्तर बढ़नेवाली थी। इनका स्वभाव रघुवंशियोंके समान था। ये सज्जनोंके गुणोंको धारण करते थे। सदैव धर्ममें लगे रहनेवाले तथा बड़े ही शूर, धीर, उदार, दयालु, प्रवीण तथा इष्टमें अनन्य निष्ठा रखनेवाले थे। ये श्रीसम्प्रदायरूपी कमलवनको प्रफुल्लित करनेके लिये वैष्णव जगत्में सूर्यरूप उदित हुए॥ ६९॥

श्रीतत्त्वाजी और श्रीजीवाजीका विशेष परिचय इस प्रकार है—

श्रीतत्त्वाजी और श्रीजीवाजी दोनों भाई-भाई थे, जातिके ब्राह्मण थे। इन दोनोंने साधु-सेवाका प्रण लिया था। परंतु मनमें एक बात सोच रखे थे कि जिस सन्तके चरणामृतसे सिंचन करनेसे सूखा वृक्ष हरा-भरा हो जायगा, उसीसे मन्त्रदीक्षा लेंगे। संयोगसे एक बार इनके यहाँ श्रीकबीरदासजी आये। इन लोगोंकी आशा पूर्ण हो गयी। दोनोंने श्रीकबीरदासजीके चरणोंमें पड़कर प्रणाम किया और दीक्षाके लिये प्रार्थना की। श्रीकबीरदासजीने बड़ी कठिनाईसे इन्हें भगवन्नामका उपदेश दिया, साथ ही अपने निवासस्थान काशीका पता बताया और कहा कि यदि कोई आवश्यक काम पड़े तो आकर हमें सूचित करना।

श्रीतत्त्वाजी-जीवाजीके श्रीकबीरदासजीसे दीक्षा लेनेके अनन्तर गाँवके ब्राह्मणोंने यही समझा कि इनकी तो जाति ही नष्ट हो गयी। फिर तो सबने सलाह करके इनको अपने खान-पानकी पंक्तिसे बहिष्कृत कर दिया और इनकी कन्याका अपने पुत्रसे विवाह करनेको कोई तैयार नहीं हुआ। तब इन्होंने सब बात कबीरदासजीसे कही। श्रीकबीरदासजीने सोच-विचारकर कहा कि तुम दोनों भाई आपसमें ही सगाईकी चर्चा कर लो। फिर तो घर आकर उन्होंने वैसा ही विचार व्यक्त किया। यह देख-सुनकर जाति-बिरादरीवालोंमें खलबली मच गयी।

श्रीतत्त्वा-जीवाजीने कहा कि हम तो ऐसा ही करेंगे। इन लोगोंको अपने निश्चयमें दृढ़ देखकर जाति-बिरादरीके सभी लोग कहने लगे कि आपलोग अपना हठ छोड़ दीजिये। हम आपको अपनी पंक्तिमें लेने तथा

पुत्र और पुत्रियोंका अपने कुल-गोत्रमें विवाह करने-करानेका वचन देते हैं। तब एक भाई पुनः श्रीकबीरदासजीसे पूछनेको काशी गया। श्रीकबीरदासजीने कहा कि यदि वे लोग झुक रहे हैं तो उन्हें भक्तिपथमें दृढ़ कीजिये फिर वे जैसे कहें, वैसा ही विवाह कीजिये। श्रीगुरुदेवके आज्ञानुसार सभी कुल-कुटुम्बियोंको भक्तिमें आरूढ़ करके इन्होंने अपनी कन्याएँ उन्हें दीं और उनकी कन्याओंसे अपने पुत्रोंका विवाह किया। उन लोगोंने भी प्रसन्न होकर इन्हें अपनी पंक्तिमें मिला लिया। ऐसी थी श्रीतत्त्वा-जीवाजीकी दृढ़ गुरुनिष्ठा एवं सन्तोंके प्रति सद्भाव!

श्रीप्रियादासजी श्रीजीवाजी और श्रीतत्त्वाजीकी इस गुरुनिष्ठाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

तत्वा जीवा भाई उभै विप्र साधु सेवा पन मन धरी बात ताते शिष्य नहीं भए हैं।
गाड़्यो एक ठूँठ द्वार होय अहो हरी डार संत चरणामृत को लैकै डारि दए हैं॥
जब ही हरित देखैं ताको गुरु करि लेखैं आये श्रीकबीर पूजी आस पाँव लए हैं।
नीठ नीठ नाम दियौ दियौ परिचाय धाम काम कोऊ होय जोपै आवौ कहि गए हैं॥ ३१२॥
काना कानी भई द्विज जानी जाति गई पाँति न्यारी करि दई कोऊ बेटी नहीं लेत है।
चल्यो एक काशी जहाँ बसत कबीर धीर जाय कही पीर जब पूछ्यो कौन हेत है॥
दोऊ तुम भाई करौ आपु में सगाई होय भक्ति सरसाई न घटाई चित चेत है।
आय वहै करी परी ज्ञाति खरभरी कहैं कहा उर धरी कछू मति हूँ अचेत है॥ ३१३॥
करैं यही बात हमैं और न सुहात आये सबै हा हा खात यह छाँड़ि हठ दीजियै।
पूछिबेकों फेरि गये करौ ब्याह जौ पै नये दण्डकरि नाना भाँति भक्ति दृढ़ कीजियै॥
तब दई सुता लई पांतिमें प्रसन्न ह्वै कै पांति हरि भक्तनिसों सदा मति भीजियै।
विमुख समूह देखि संमुख बड़ाई करैं धरैं हिय माँझ कहैं पन पर रीझियै॥ ३१४॥

श्रीमाधवदासजी

पहिले बेद बिभाग कथित पूरान अष्टदस।
भारत आदि भागवत मथित उद्धार्‌यो हरि जस॥
अब सोधे सब ग्रंथ अर्थ भाषा बिस्तार्‌यो।
लीला जै जै जैति गाय भव पार उतार्‌यो॥
जगनाथ इष्ट बैराग्य सिंव करुना रस भीज्यो हियो।
बिनै ब्यास मनो प्रगट ह्वै जग को हित माधो कियो॥ ७०॥

विनयकी मूर्ति भगवान् वेदव्यासजीने ही मानो श्रीमाधवदासजीके रूपमें प्रकट होकर जगत्का कल्याण किया। श्रीवेदव्यासजीने पहले [द्वापरमें] वेदका विभाजन किया तथा अठारह पुराणोंका गान किया। फिर महाभारतकी रचना की। चारों वेद, सत्रह पुराण एवं महाभारतका मन्थन करके नवनीतरूपमें श्रीहरिसुयश-प्रधान श्रीमद्भागवत नामक अठारहवें पुराणकी रचना की। अब श्रीमाधवदासजीके रूपमें प्रकट होकर पुनः आपने सब ग्रन्थोंके तात्पर्यको खोज-खोजकर उनका अर्थ बोलचालकी भाषामें विस्तारसे वर्णन किया। 'जै-जै' शब्दसंयुक्त भगवान्की लीलाका गानकर जगत्में प्रचुर-प्रचार करके असंख्य जीवोंको संसार-सागरसे पार किया। इनके इष्ट श्रीजगन्नाथभगवान् थे, ये वैराग्यकी सीमा थे, इनका हृदय करुणारससे सदा सराबोर रहता था॥ ७०॥

श्रीमाधवदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीमाधवदासजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। गृहस्थ-आश्रममें आपने अच्छी धन-सम्पत्ति कमायी। आप बड़े ही विद्वान् तथा धार्मिक भक्त थे। जब आपकी धर्मपत्नी स्वर्गलोकको सिधारीं, तब आपके हृदयमें संसारसे सहसा वैराग्य हो गया। संसारको निस्सार समझकर आपने घर छोड़ जगन्नाथपुरीका रास्ता पकड़ा। वहाँ पहुँचकर आप समुद्रके किनारे एकान्त स्थानमें पड़े रहे और अपनेको भगवद्ध्यानमें तल्लीन कर दिया। आप ऐसे ध्यानमग्न हुए कि आपको अन्न-जलकी भी सुध न रही। प्रेमकी यही दशा है। इस प्रकार जब बिना अन्न-जल आपको कई दिन बीत गये, तब दयालु जगन्नाथजीको आपका इस प्रकार भूखे रहना न सहा गया। तुरंत सुभद्राजीको आज्ञा दी कि आप स्वयं उत्तम-से-उत्तम भोग सुवर्ण-थालमें रखकर मेरे भक्त माधवके पास पहुँचा आओ। सुभद्राजी प्रभुकी आज्ञा पाकर सुवर्ण-थाल सजाकर माधवदासजीके पास पहुँचीं। आपने देखा कि माधव तो ध्यानमें ऐसा मग्न है कि उनके आनेका भी कुछ ध्यान नहीं करता। अपनी आँखें मूँदे प्रभुकी परम मनोहर मूर्तिका ध्यान कर रहा है, अतएव आप भी ध्यानमें विक्षेप करना उचित न समझ थाल रखकर चली आयीं। जब माधवदासजीका ध्यान समाप्त हुआ, तब वे सुवर्णका थाल देखकर भगवत्कृपाका अनुभव करते हुए आनन्दाश्रु बहाने लगे। भोग लगाया, प्रसाद पा थालको एक ओर रख दिया; फिर ध्यान-मग्न हो गये!

उधर जब भगवान्‌के पट खुले, तब पुजारियोंने सोनेका एक थाल न देख बड़ा शोर-गुल मचाया। पुरीभरमें तलाशी होने लगी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थाल माधवदासजीके पास पड़ा पाया गया। बस, फिर क्या था, माधवदासजीको चोर समझकर उनपर चाबुक पड़ने लगे। माधवदासजीने मुसकराते हुए सब चोटें सह लीं! रात्रिमें पुजारियोंको भयंकर स्वप्न दिखलायी दिया! भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा—'मैंने माधवकी चोट अपने ऊपर ले ली, अब तुम्हारा सत्यानाश कर दूँगा; नहीं तो चरणोंपर पड़कर अपने अपराध क्षमा करवा लो।' बेचारे पण्डा दौड़ते हुए माधवदासजीके पास पहुँचे और उनके चरणोंपर जा गिरे। माधवदासजीने तुरंत क्षमा प्रदानकर उन्हें निर्भय किया। भक्तोंकी दयालुता स्वाभाविक है!

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

माधौदास द्विज निज तिया तन त्याग कियौ लियौ इन जानि जग ऐसोई व्यौहार है।
सुत की बढ़नि जोग लिये चित चाहत हो भई यह औरै लै दिखाई करतार है॥
ताते तजि दियौ गेह वेई सब पालै देह करै अभिमान सोई जानिये गँवार है।
आए नीलगिरिधाम रहे गिरि सिन्धुतीर अति मतिधीर भूख प्यास न बिचार है॥ ३१५॥
भए दिन तीन ए तो भूख के अधीन नाहिं रहैं हरिलीन प्रभु शोच पर्‍यौ भारियै।
दियो सैन भोग आप लक्ष्मीजू लै पधारीं हाटक की थारी झन झन पाँव धारियै॥
बैठे हैं कुटी में पीठ दिये हिये रूप रँगे बीजुरी सी कौंधि गई नीके न निहारियै।
देखि सो प्रसाद बड़ौ मन अहलाद भयौ लयौ भाग मानि पात्र धर्‍योई विचारियै॥ ३१६॥
खोलैं जो किवार थार देखियै न सोच पर्‍यौ कर्‍यौ लै जतन ढूंढ़ि वाही ठौर पायौ है।
ल्याये बाँधि मारी बेंत धारी जगन्नाथ देव भेव जब जान्यौ पीठ चिह्न दरसायौ है॥
कही पुनि आप मैं ही दियौ जब लियौ याने माने अपराध पाँव गहि कै छिमायौ है।
भई यों प्रसिद्ध बात कीरति न मात कहूँ सुनि कै लजात साधु सील यह गायौ है॥ ३१७॥

अब माधवदासजीके प्रेमकी दशा ऐसी हो गयी कि जब कभी आप भगवद्दर्शनके लिये मन्दिरमें जाते, तब प्रभुकी मूर्तिको ही एकटक देखते रह जाते। दर्शन समाप्त होनेपर आप तल्लीन-अवस्थामें वहीं खड़े-खड़े पुजारियोंके देखते-देखते अदृश्य हो जाते। एक बार आप रात्रिमें मन्दिरमें ही रुके रहे। वहाँ जब रात्रिमें आपको जाड़ा लगने लगा तो स्वयं जगन्नाथजीने अपनी रजाई ओढ़ा दी।

एक बार माधवदासजीको अतिसारका रोग हो गया। आप समुद्रके किनारे दूर जा पड़े। वहाँ इतने दुर्बल हो गये कि उठ-बैठ नहीं सकते थे। ऐसी दशामें जगन्नाथजी स्वयं सेवक बनकर आपकी शुश्रूषा करने लगे। जब माधवदासजीको कुछ होश आया, तब उन्होंने तुरंत पहचान लिया कि हो-न-हो ये प्रभु ही हैं। यह समझ झट उनके चरण पकड़ लिये और विनीत भावसे कहने लगे—'नाथ! मुझ-जैसे अधमके लिये क्यों आपने इतना कष्ट उठाया? फिर प्रभो! आप तो सर्वशक्तिमान् हैं। अपनी शक्तिसे ही मेरे दुःख क्यों न हर लिये, वृथा इतना परिश्रम क्यों किया?' भगवान् कहने लगे—'माधव! मुझसे भक्तोंका कष्ट नहीं सहा जाता, उनकी सेवाके योग्य मैं अपने सिवा किसीको नहीं समझता। इसी कारण तुम्हारी सेवा मैंने स्वयं की। तुम जानते हो कि प्रारब्ध भोगनेसे ही नष्ट होता है—यह मेरा ही नियम है, इसे मैं क्यों तोड़ूँ? इसलिये केवल सेवा करके प्रारब्ध-भोग भक्तोंसे करवाता हूँ और इसकी सत्यता संसारको दिखलाता हूँ।' भगवान् यह कहकर अन्तर्धान हो गये। इधर माधवदासजीके भी सब दुःख दूर हो गये।

श्रीमाधवदासजीके प्रति भगवान् जगन्नाथस्वामीकी इन वात्सल्यभरी घटनाओंका श्रीप्रियादासजी महाराजने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

देखत सरूप सुधि तन की बिसरि जात रहि जात मन्दिर में जानै नहीं कोई है।
लग्यो सीत गात सुनो बात प्रभु काँपि उठे दई सकलात आनि प्रीति हिये भोई है॥
लागे जब बेग-बेग जाय परे सिन्धु तीर चाहैं जब नीर लिये ठाढ़े देह धोई है।
करिकै विचारि औ निहारि कही 'जानौं मैं तो देत हौ अपार दुख ईशता लै खोई है'॥ ३१८॥
कहा करौं अहो! मोपै रहो नहीं जात नेकु 'मेटौ विथा गात' मोकौं विथा वह भारी है।
रहै भोग शेष और तन में प्रवेश करै ताते नहीं दूर करौं ईशता लैं टारी है॥
वहू बात साँच याकी गाँस एक और सुनौ साधु को न हँसै कोऊ यह मैं विचारी है।
देखत ही देखत में पीड़ा सो बिलाय गई नई नई कथा कहि भक्ति विसतारी है॥ ३१९॥

श्रीमाधवदासजी भिक्षा माँगकर भोजन करते थे, एक दिन भिक्षाटन करते हुए ये एक गृहस्थके घरपर गये और भिक्षाके लिये आवाज लगायी तो घरकी मालकिनने खीझकर चूल्हा पोतनेका कपड़ा इनकी ओर फेंक दिया। इन्होंने उस कपड़ेको धोकर साफ किया, उसकी बत्तियाँ बनायीं और घीमें डुबोकर भगवान्के समक्ष दीपक जलाया। इससे उस महिलाका अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कीरति अभंग देखि भिक्षाकौ अरम्भ कियौ दियौ काहू बाई पोता खीझत चलायकै।
देबौ गुण लियौ नीके जल सों प्रछाल करि करी दिव्य बाती दई दिये में बरायकै॥
मन्दिर उँजारौ भयौ हियेको अन्ध्यारौ गयौ गये फेरि देखन कौं परी पाँय आयकै।
ऐसे हैं दयाल दुःख देत मैं निहाल करैं करैं लै जे सेवा ताकौ सकै कौन गायकै॥ ३२०॥

एक बार एक बड़े शास्त्री पण्डित शास्त्रार्थद्वारा दिग्विजय करते हुए माधवजीके पाण्डित्यकी चर्चा सुनकर शास्त्रार्थ करने जगन्नाथपुरी आये और माधवदासजीसे शास्त्रार्थ करनेका हठ करने लगे। भक्तोंको शास्त्रार्थ निरर्थक प्रतीत होता है। माधवदासजीने बहुत मना किया, पर पण्डित भला कैसे मानते? अन्तमें माधवदासजीने एक पत्रपर यह लिखकर हस्ताक्षर कर दिया, 'माधव हारा, पण्डितजी जीते।' पण्डितजी इस विजयपर फूले न समाये। तुरंत काशीको चल दिये। वहाँ पण्डितोंकी सभा करके वे अपनी विजयका वर्णन करने लगे और वह प्रमाणपत्र लोगोंको दिखाने लगे। पण्डितोंने देखा तो उसपर यह लिखा पाया, 'पण्डितजी हारे, माधव जीता।' अब तो पण्डितजी क्रोधके मारे आगबबूला हो गये। उलटे पैर जगन्नाथपुरी पहुँचे।

वहाँ माधवदासजीको जी खोलकर गालियाँ सुनायीं और कहा कि 'शास्त्रार्थमें जो हारे, वही काला मुँह करके गदहेपर चढ़ नगरभरमें घूमे।' माधवदासजीने बहुत समझाया, पर वे क्यों मानने लगे। अवकाश पाकर भगवान् माधवदासजीका रूप बना पण्डितजीसे शास्त्रार्थ करने पहुँचे और भरी सभामें उन्हें खूब छकाया। अन्तमें उनकी शर्तके अनुसार उनका मुँह काला करके गदहेपर चढ़ा, सौ-दो-सौ बालकोंको ले धूल उड़ाते नगरमें सैर की। माधवदासजीने जब यह हाल सुना, तब भागे और भगवान्‌के चरण पकड़कर उनसे पण्डितजीके अपराधोंकी क्षमा चाही। भगवान् तुरंत अन्तर्धान हो गये। माधवदासजीने पण्डितजीको गदहेसे उतारकर क्षमा माँगी, उनका रोष दूर किया। धन्य है, भक्तोंकी सहिष्णुता और दयालुता!

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

पण्डित प्रबल दिग बिजै करि आयौ आय वचन सुनायौ जू! विचार मोसों कीजियै।
दई लिखि हारि काशी जायकै निहारि पत्र भयो अति ख्वार लिखी जीति वाकी खीजियै॥
फेरि मिलि माधै जू कौं वैसे ही हरायौ एक खर कौ मँगायौ कही चढ़ौ तब धीजियै।
बोल्यौ जूती बाँधौ कान गयौ सुनि न्हान आन जगन्नाथ जीते लै चढ़ायौ वाको रीझियै॥ ३२१॥

एक बार माधवदासजी व्रजयात्राको जा रहे थे। मार्गमें एक बाई आपको भोजन कराने ले गयी। बाईने बड़े प्रेमसे आपको भोजन करवाया। इधर आपके साथ श्यामसुन्दरजी बगलमें बैठ भोजन करने लगे। बाई भगवान्‌का सुकुमार रूप देखकर रोने लगी और माधवजीसे पूछा, यह साँवला-सलोना किसका बालक आप बहका लाये हैं? इसके बिना इसकी माँ कैसे जीवित रहेगी? माधवदासजीने गर्दन फिराकर देखा तो श्यामसुन्दरजी भोजन कर रहे हैं। बस, आप सुध-बुध भूल गये और बाईजीकी प्रशंसा करके उनकी परिक्रमा करने लगे। उसके भक्तिभाव और सौभाग्यकी सराहना करके वहाँसे विदा हुए।

श्रीप्रियादासजीने भगवान् श्यामसुन्दरकी इस कौतुकी लीलाका एक पदमें इस प्रकार वर्णन किया है—

ब्रज ही की लीला सब गावैं नीलाचल माँझ मन भई चाह जाइ नैननि निहारियै।
चले वृन्दावन मग लग एक गाँव जहाँ बाई भक्त भोजन को ल्याई चाव भारियै॥
बैठे ये प्रसाद लेत, लेत दृग भरि अहो! कहौ कहा बात दुख हिये को उघारियै।
साँवरो कुँवर यह कौनको भुराय ल्याये? माय कैसे जीवै? सुनि मति लै बिसारियै॥ ३२२॥

श्रीमाधवदासजी वहाँसे आगे चले और एक दूसरे गाँवमें पहुँचे; जहाँपर एक वैश्य भक्त रहता था। परंतु संयोगकी बात, वह भक्त किसी औरके घर गया था। घरमें उसकी परम भागवती पत्नी थी। उसने आकर श्रीमाधवदासजीके चरणोंमें प्रणाम किया और प्रसाद पानेका अनुरोध किया। उस दिन उसके यहाँ एक महन्तजी आये हुए थे, उनका आसन मकानकी ऊपरी मंजिलपर था। भक्तपत्नीने ऊपर महन्तजीसे जाकर कहा कि एक सन्त और आ गये हैं। महन्तजीने कहा कि यहाँ तो किसीकी गुंजाइश नहीं है, तब तो वह घबड़ायी हुई नीचे आयी और श्रीमाधवदासजीसे बोली कि मैं सीधा-सामान दिये देती हूँ, आप कृपा करके रसोई बना लीजिये। इन्होंने कहा कि यदि तुम्हें कुछ खिलानेका ही आग्रह है तो जो भी बना-बनाया सामान हो, वही लाओ। तब उस भक्ताने इन्हें खूब अच्छी तरहसे औटाया हुआ दूध पिलाया। इस प्रकार उसकी अभिलाषा पूर्ण हुई। चलते समय इन्होंने कहा कि भक्तजी आयें तो कह देना कि 'जगन्नाथी माधवदासजी' आये थे।

भक्तपत्नीको अपना परिचय देकर श्रीमाधवदासजी वहाँसे उठकर चल दिये। इनके जानेके थोड़ी ही देर बाद वह महाजन भक्त घरपर आया, तब उसकी पत्नीने श्रीमाधवदासजीका नाम सुनाया। यह सुन्दर एवं शुभ समाचार सुनते ही महाजन भक्त दौड़ पड़े। उनके साथ ही वे महन्तजी भी दौड़े। दोनों ही जाकर श्रीमाधवदासजीके चरणोंमें लिपट गये। श्रीमाधवदासजी भी उनसे बड़े सुखपूर्वक मिले। श्रीमाधवदासजीने

भक्त-दम्पतीकी सन्तनिष्ठाकी बड़ी बड़ाई की। महन्तजीने अत्यन्त दीन होकर कहा कि मैंने आपका अनन्त अपराध किया है, वह कैसे दूर होगा? श्रीमाधवदासजीने कहा कि जबतक जीओ, तबतक सन्तोंकी सीथ-प्रसादी सेवन करो। अपराध छूटनेका यही अमोघ उपाय समझो। घर चलनेका आग्रह करनेपर श्रीमाधवदासजीने महाजन भक्तसे कहा कि लौटते समय पुनः मिलूँगा और श्रीवृन्दावन चले आये।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

चले और गाँव जहाँ महाजन भक्त रहै गहे मन माँझ आगे विनती हू करी है।
गये वाके घर वह गयौ काहू और घर भाय भरी तिया आनि पांयन में परी है॥
ऊपर महंत कही 'अजू एक संत आये' 'इहाँ तौ समाई नाहिं' आई अरबरी है।
कीजिये रसोई 'जोई सिद्ध सोई ल्यावो' दूध नीके कैं पिवायो नाम माधौ आस भरी है॥ ३२३॥
गये उठि पाछे भक्त आयौ सो सुनायौ नाम सुनि अभिराम दौरे संग ही महन्त है।
लिये जाय पाँय लपटाय सुख पाय मिले झिले घर माँझ तिया धन्य तोसों कन्त है॥
सन्त पति बोले मैं अनन्त अपराध किये जिये अब कही सेवो सीत मानि जन्त है।
आवत मिलाप होय यही राखौ बात गोय आये वृन्दावन जहाँ सदाई बसन्त है॥ ३२४॥

श्रीमाधवदासजी श्रीवृन्दावनकी शोभा देख-देखकर मनमें परमानन्दमें डूब गये। पुनः जब आप श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शनार्थ गये तो वहाँ आपको चने मिले। इन्होंने चनोंको ही ले जाकर श्रीयमुनाजीके पुलिनपर श्रीठाकुरजीको भोग लगाया और स्वयं भी चना-प्रसाद पाया। इधर जब स्वामी श्रीहरिदासजी श्रीबाँकेबिहारीजीके भोग आरोगनेकी भावना करने लगे तो ध्यानमें देखा कि श्रीठाकुरजी भोग नहीं आरोग रहे हैं। तब श्रीस्वामीजीने पूछा कि 'जै, जै' आज आप भोग क्यों नहीं आरोग रहे हैं? तब श्रीबिहारीजीने कहा कि आज मुझे पानेकी रुचि नहीं है, श्रीमाधवदासजीने चने खिला दिये हैं। श्रीस्वामीजीने पूछा—वे कहाँ हैं? तब श्रीबिहारीजीने उन्हें बताया कि वे इस समय श्रीयमुनाजीके किनारे हैं। तब श्रीस्वामीजीकी आज्ञासे शिष्य-सेवकगण श्रीमाधवदासजीको खोज लाये। पूछनेपर श्रीमाधवदासजीने कहा कि आपके ठाकुर ग्वारिया होंगे तो पचा लेंगे और यदि महली ठाकुर होंगे तो नहीं पचा पायेंगे।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजी महाराजने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

देखि देखि वृन्दावन मन में मगन भए गए श्रीबिहारीजू के चना तहाँ पाये हैं।
कहि रह्यो द्वारपाल नेकु में प्रसाद लाल यमुना रसाल तट भोग सो लगाये हैं॥
नाना विधि पाक धरैं स्वामी आप ध्यान करैं बोले हरि भावैं नाहिं वेई लै खवाये हैं।
पूछ्यो सो जनायौ ढूंढ़ि ल्यायौ आगे गायौ सब तुम तौ उदास हाँ सरस समझाये हैं॥ ३२५॥

श्रीमाधवदासजी व्रजके तीर्थोंका दर्शन करने गये। भाण्डीरवट नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँ 'खेमदास' नामके एक वैरागी रहते थे। वे रात्रिमें श्रीमाधवदासजीसे छिपाकर खीर खाने लगे तो इन्होंने उन्हें शिक्षा देनेके लिये चमत्कारपूर्वक खीरमें कीड़े दिखाये फिर उपदेश भी दिया। भगवान्‌की लीला-कथा सुननेके लिये हरियानेके एक गाँवमें जाकर कुछ दिन रहे। वहाँ एक सन्तके आश्रममें गोबर पाथनेकी सेवा करते थे। (परिचय हो जानेपर) पुनः ये श्रीजगन्नाथपुरीको लौट चले। मार्गमें इनकी जन्मभूमिका गाँव पड़ा। लोगोंके मुखसे अपनी माता एवं पुत्रका कुशल समाचार सुनकर घर आये। फिर माताकी उपदेशपरक वाणी (मेरा मधुवा भगवान्‌को छोड़कर घर नहीं आ सकता है) सुनकर वहाँसे तत्काल भूखे ही चल दिये। मार्गमें भगवान्‌ने एक महाजन भक्तको स्वप्न देकर (प्रसाद पवानेके लिये) श्रीमाधवदासजीसे मिलाया। आपने उसके यहाँ भोजन किया और फिर जगन्नाथपुरीको चल दिये। इस प्रकार माधवदासजीके अनेक चरित्र हैं।

श्रीमाधवदासजीसे सम्बन्धित इन घटनाओंका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

गये ब्रज देखिबे को भाण्डीर में खेम रहै निसिकौ दुराय खाय क्रिमि लै दिखाये हैं।
लीला सुनिबे को हरियाने गाँव रहे जाय गोबरहू पाथि पुनि नीलाचल आये हैं॥
घरहूँ को आये सुत सुखी सुनि माता बानी मारग में स्वप्न दैके बनिक मिलाये हैं।
याही विधि नाना भांति चरित अपार जानौ जिते कछु जाने तिते गानके सुनाये हैं॥ ३२६॥

श्रीमाधवदासजीका भगवान् श्रीकृष्णसे सख्यभाव था, अतः भगवान् उनसे विविध प्रकारके विनोदपूर्ण कौतुक किया करते थे। एक दिन जब आप भगवान्‌का दर्शन करने लगे तो देखा कि भगवान् कुछ उदास हैं! आपने पूछा—प्रभो! आज आप कुछ उदाससे प्रतीत हो रहे हैं, क्या बात है? श्रीठाकुरजीने कहा—माधवदासजी! क्या बतायें, साल बीता जा रहा है और पका कटहल खानेको नहीं मिला। राजाजीके बागमें कटहल खूब फले हैं और पके भी हैं, अगर आप सहयोग दें तो आज रातमें बागमें चलकर कटहल खाया जाय। आपने कहा—प्रभो! बचपनमें तो मुझे पेड़पर चढ़नेका अभ्यास था, पर अब तो मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मेरे हाथ-पाँव हिलते हैं, अतः पेड़पर चढ़नेमें तो मुश्किल होगी।

श्रीबलरामजी भी इस विनोदमें रस ले रहे थे, उन्होंने कहा—माधवदासजी! हम चढ़नेमें सहायता कर देंगे, आपको कोई कठिनाई नहीं होगी। बात तय हो गयी। श्रीकृष्ण, बलराम और माधवदासजी आधी रातमें चुपचाप राजाजीके बागमें घुस गये। श्रीबलरामजीने सहारा देकर माधवदासजीको पेड़पर चढ़ा दिया। माधवदासजीने बड़े और खूब पके देखकर कई कटहल नीचे गिराये। दोनों भाइयोंने खूब जी भरकर कटहल खाये। उधर फलोंके गिरनेकी आवाज सुनकर बागके माली जग गये और आवाजकी दिशामें लाठी लेकर दौड़े। उन्हें आता देखकर श्रीकृष्ण-बलराम तो बागकी चहारदीवारी लाँघकर भाग गये, पर बेचारे माधवदासजी रँगे हाथों पकड़ लिये गये। मालियोंने रात्रिके अँधेरेमें इन्हें पहचाना नहीं, अतः खूब मार लगायी और रातभर बाँधकर भी रखा। प्रातःकाल इन्हें बन्दी-अवस्थामें ही राजाके सम्मुख दरबारमें पेश किया गया। राजा इन्हें देखते ही पृथ्वीपर गिर पड़े और साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और मालियोंद्वारा किये अपराधके लिये क्षमा माँगी और मालियोंको दण्ड देना चाहा। इसपर श्रीमाधवदासजीने कहा—राजन्! मालियोंने अपने कर्तव्यका अच्छी प्रकारसे पालन किया है। इन्होंने कोई अपराध नहीं किया, अतः इन्हें दण्ड नहीं पुरस्कार देना चाहिये। राजाने आपके कथनानुसार मालियोंको बारह बीघे जमीनका पट्टा पुरस्कारस्वरूप दे दिया। तत्पश्चात् उनसे आधी रातमें बागमें आनेका कारण जानना चाहा। श्रीमाधवदासजीने उन्हें जब सारी बात बतायी तो राजा प्रेमविभोर हो गये। उन्होंने कहा—प्रभो! मेरे धन्य भाग्य हैं कि आप मेरे बागमें आये, अब यह बाग आपकी ही सेवामें प्रस्तुत है—यह कहकर राजाने ताम्रपत्रपर लिखकर बागको श्रीठाकुरजीके ही चरणोंमें समर्पित कर दिया।

माधवदासजीके ऐसे अनेक चरित्र हैं, जो विस्तार-भयसे यहाँ वर्णन नहीं किये जाते।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी

सीत लगत सकलात बिदित पुरुषोत्तम दीनी।
सौच गए हरि संग कृत्य सेवक की कीनी॥
जगन्नाथ पद प्रीति निरंतर करत खवासी।
भगवत धर्म प्रधान प्रसन नीलाचल बासी॥
उत्कल देस उड़िसा नगर बैनतेय सब कोउ कहैं।
(श्री) रघुनाथ गोसाईं गरुड़ ज्यों सिंह पौरि ठाढ़े रहैं॥ ७१॥

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी श्रीगरुड़जीकी तरह श्रीजगन्नाथभगवान्‌के सम्मुख सिंहपौरिपर खड़े रहते थे। यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि इन्हें ठण्डक लगनेपर श्रीजगन्नाथभगवान्‌ने अपनी रजाई ओढ़ायी थी। अतिसारके कारण बारम्बार दस्तका वेग लगनेपर स्वयं भगवान्‌ने सेवकका-सा कृत्य किया अर्थात् अपने श्रीकरकमलसे इनके शरीर एवं वस्त्रादिको धोया, सेवा-शुश्रूषा की। इनका श्रीजगन्नाथभगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें परम अनुराग था। ये निरन्तर भगवान्‌की सेवामें लगे रहते थे। ये वैष्णवधर्मको सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे अथवा भगवद्धर्म करने-करानेवालोंमें प्रधान थे। सर्वदा सुप्रसन्न मन रहते थे। श्रीनीलाचलधाममें निवास करते थे। उत्कल प्रान्तमें उड़ीसा नगरके रहनेवाले सब लोग इन्हें 'श्रीगरुड़जी' कहा करते थे॥ ७१॥

श्रीरघुनाथ गोस्वामीजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

बंगालमें तीसबीघाके पास पहले एक सप्तग्राम नामक महासमृद्धिशाली प्रसिद्ध नगर था। इस नगरमें हिरण्यदास और गोवर्द्धनदास—ये दो प्रसिद्ध धनी महाजन रहते थे। दोनों भाई-भाई ही थे। ये लोग गौड़के तत्कालीन अधिपति सैयद हुसैनशाहका ठेकेपर लगान वसूल किया करते थे और ऐसा करनेमें बारह लाख रुपया सरकारी लगान भर देनेके बाद आठ लाख रुपया इनके पास बच जाता था। आठ लाख वार्षिक आय कम नहीं होती और वह भी उन दिनों! खैर, कहनेका मतलब यह कि ऐसे सम्पन्न घरमें रघुनाथदासका जन्म हुआ था। हिरण्यदास सन्तानहीन थे और गोवर्द्धनदासके भी रघुनाथदासको छोड़कर और कोई सन्तान न थी। इस तरह दोनों भाइयोंकी आशाके स्थल एकमात्र यही थे।

बड़े लाड़-दुलारके साथ बालक रघुनाथदासका लालन-पालन हुआ। अच्छे-से-अच्छे विद्वान् पढ़ानेको रखे गये। बालक रघुनाथने बड़े चावसे संस्कृत पढ़ना आरम्भ कर दिया और थोड़े ही समयमें उसने संस्कृतमें पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर ली। यही नहीं, भाषाकी शिक्षाके साथ-साथ रघुनाथको उस संजीवनी बूटीका भी स्वाद मिल गया, जिसके संयोगसे विद्या वास्तविक विद्या बनती है। वह संजीवनी बूटी है—भगवान्‌की भक्ति। बात यह हुई कि अपने जिन कुलपुरोहित श्रीबलराम आचार्यके यहाँ बालक रघुनाथ विद्याभ्यासके लिये जाता था, उनके यहाँ उन दिनों श्रीचैतन्य महाप्रभुके परमप्रिय शिष्य श्रीहरिदासजी रहा करते थे। उनके सत्संगसे हरिभक्तिकी एक पतली-सी धार उसके हृदयमें भी बह निकली।

उन्हीं दिनों खबर मिली कि श्रीचैतन्यदेव शान्तिपुर श्रीअद्वैताचार्यके घर पधारे हुए हैं। ज्यों ही यह समाचार मिला, त्यों ही आसपासके भक्तोंके दिल खिल उठे। रघुनाथ तो खबर पाते ही दर्शनके लिये छटपटा उठा। उसने शान्तिपुर जानेके लिये पितासे आज्ञा माँगी। पिताके लिये यह एक अनावश्यक-सा प्रस्ताव था; पर जब उन्होंने देखा कि रघुनाथके चेहरेपर बेचैनी दौड़ रही है, तब उन्होंने उसे रोकना ठीक नहीं समझा और उसे एक राजकुमारकी भाँति बढ़िया पालकीमें बैठाकर, नौकर-चाकरोंके दलके साथ शान्तिपुर भेज दिया। शान्तिपुरमें रघुनाथदास सीधा श्रीअद्वैताचार्यके घर पहुँचा। जाकर भेंटकी वस्तुओंके सहित गौरके चरणोंमें लोट-पोट हो गया। गौर इसे देखते ही ताड़ गये कि इसका भविष्य क्या है। फिर भी उन्होंने 'अनासक्तभावसे घर-गृहस्थीमें रहते हुए भी भगवत्प्राप्ति की जा सकती है, आदि उपदेश देकर आशीर्वादसहित घरके लिये वापस किया। रघुनाथ घर वापस आ रहा था; पर उसे यह ऐसा कठिन मालूम पड़ रहा था, जैसा नदीमें प्रवाहके विपरीत तैरना।'

अस्तु, किसी तरह हृदयकी उथल-पुथलके साथ वह घर आया और माता, पिता तथा ताऊके चरणोंमें प्रणाम किया; पर उन्होंने देखा कि उसके चेहरेका रंग ही बदला हुआ है। घरवालोंको पछतावा हुआ कि इसे गौरांगके पास क्यों जाने दिया। खैर, जो हुआ सो हुआ; अब ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये—ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने लड़केपर चौकी-पहरा बैठा दिया। शायद विवाह हो जानेसे मेरे बेटेका चित्त

स्थिर हो जाय—इस खयालसे श्रीगोवर्द्धनदास मजूमदारने झटपट व्यवस्था करके एक अत्यन्त रूपवती बालिकाके साथ अपने पुत्रका विवाह कर दिया। परंतु पीछे उनका खयाल गलत साबित हुआ। वह बार-बार घरसे निकल भागनेका प्रयत्न करता और पहरेदार पकड़कर लौटा लाते।

उन दिनों उस देशमें गौरांगके बाद यदि किसी महापुरुषके नामकी धूम थी तो वह थी श्रीनित्यानन्दके नामकी। संन्यासी होकर अनेक देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करनेके बाद श्रीनित्यानन्दमहाराज श्रीगौरांगके शरणापन्न हुए थे और उन्हींकी आज्ञासे वे गौड़-प्रदेशमें हरिनामका प्रचार कर रहे थे। उन्होंने पानीहाटी ग्रामको हरिनामप्रचारका प्रधान केन्द्र बना रखा था। रघुनाथदासकी भी इच्छा यह आनन्द लूटनेकी हुई। पिताने भी रोक नहीं लगायी, पर रघुनाथदासपर निगाह रखनेवालोंको और अधिक सावधानीके साथ काम करनेका आदेश कर दिया। रघुनाथदास पानीहाटी गये, श्रीनित्यानन्दके दर्शनसे अपने नेत्रोंको सुख पहुँचाया और हरिनामसंकीर्तनकी ध्वनिसे अपने कर्णविवरोंको पावन किया। यही नहीं, श्रीनित्यानन्दकी दयासे इन्हें समवेत असंख्य वैष्णवजनोंको दही-चिउरेका महाप्रसाद चढ़ानेका भी सुअवसर प्राप्त हो गया। दूसरे दिन बहुत-सा दान-पुण्य करके श्रीनित्यानन्दजीसे आज्ञा लेकर घरको आ गये।

घर आ गये—पर शरीरसे, मनसे नहीं। इस कीर्तन-समारोहमें सम्मिलित होकर तो अब वे बिलकुल ही बेकाबू हो गये। इधर इन्होंने यह भी सुन रखा था कि गौड़ देशके सैकड़ों भक्त चातुर्मास्यभर श्रीचैतन्यचरणोंमें निवास करनेको नीलाचल जा रहे हैं; इस स्वर्णसंयोगको वे किसी तरह हाथसे जाने देना नहीं चाहते थे। एक दिन भगवत्प्रेरित महामायाने एक साथ सारे-के-सारे ड्योढ़ीदारोंको निद्रामें डाल दिया और सबेरा होते-न-होते रघुनाथ महलकी चहारदीवारीसे निकलकर नौ-दो-ग्यारह हो गये। इधर ज्यों ही मालूम हुआ कि रघुनाथ नहीं हैं तो सारे महलमें सनसनी फैल गयी। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—सभी दिशाओंको आदमी दौड़ पड़े; पर वहाँ मिलनेको अब रघुनाथकी छाँह भी नहीं थी। अनुमान किया गया कि कहीं पुरी न गया हो। उन्होंने पाँच घुड़सवारोंको पुरीके रास्तेपर दौड़ा दिया; पर वहाँ रघुनाथदास कहाँ थे? भगवान्ने उन्हें यह बुद्धि दी कि आम सड़क होकर जाना ठीक नहीं। इसलिये वे पगडण्डीके रास्तेसे गये और रात होते-होते प्राय: तीस मीलपर जा पहुँचे। इधर यात्रियोंका संग लेनेके बाद गोवर्द्धनदासके आदमियोंको जब शिवानन्दसे मालूम हुआ कि रघुनाथ उनके साथ नहीं आये, तब हताश होकर वे लौट आये। सारे महलमें कुहराम मच गया। हितू-मित्र—सभी आँसू बहाकर समवेदना प्रकट करते और समझाते कि सबका रक्षक एकमात्र ईश्वर है, इसलिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये; पर उन्हें ढाँढ़स नहीं बँधता।

एक राजकुमार, जो कभी एक पग भी बिना सवारीके न चलता था, वह आज बड़े-बड़े विकट बटोहियोंके भी कान काट गया। उत्कट वैरागी रघुनाथको प्रथम दिनकी यात्रा समाप्त करनेके बाद एक ग्वालेके घरमें बसेरा मिला और उसके दिये हुए थोड़े-से दूधपर बसर करके उन्होंने दूसरे दिन बिलकुल तड़के फिर कूच कर दिया और इस तरह लम्बी पैदल यात्रा करके करीब एक महीनेका रास्ता रघुनाथने कुल बारह दिनोंमें तै कर डाला और इन बारह दिनोंमें उन्होंने कुल तीन बार रसोई बनाकर अपने उदरकुण्डमें आहुति दी।

इस प्रकार प्रभुसेवित नीलाचलपुरीके दर्शन होते ही इन्होंने उसे नमस्कार किया और श्रीचरणोंकी ओर अग्रसर हुए। इनके हृदयमें न जाने क्या-क्या तरंगें उठ रही थीं। इसी प्रकार भावुकताके प्रवाहमें अलौकिक आनन्द-लाभ करते हुए ये निश्चित स्थानके निकट जा पहुँचे। दूरसे ही इन्होंने देखा कि भक्तजनोंसे घिरे हुए श्रीचैतन्य प्रमुख आसनपर विराजमान हैं। उस अलौकिक शोभायुक्त मूर्तिका दर्शन करते ही रघुनाथका रोम-रोम खिल उठा। हर्षातिरेकसे उन्हें तन-वदनकी भी सुधि न रही। रघुनाथदास श्रीचरणोंके निकट पहुँच गये। सबसे पहले मुकुन्ददत्तकी निगाह उनपर पड़ी। देखते ही उन्होंने कहा—'अच्छा, रघुनाथदास, आ गये?'

तुरंत ही गौरका भी ध्यान गया। वे प्रसन्नतासे खिल उठे। 'अच्छा, वत्स रघुनाथ! आ गये?' कहकर उनका स्वागत किया और उनके प्रणाम करने बाद झटसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन्हें उठाकर गले लगाया। पास बैठाकर उनके सिरपर हाथ फेरना शुरू किया। रघुनाथको ऐसा मालूम पड़ा, मानो उनकी रास्तेकी सारी थकावट हवा हो गयी। महाप्रभुकी करुणाशीलता देखकर उनकी आँखोंसे श्रद्धा और प्रेमके आँसू बरस पड़े। उन्हें भी गौरने निज करकमलोंसे ही पोंछा।

इसके अनन्तर चैतन्यदेवने स्वरूपदामोदरको अपने पास बुलाकर कहा कि 'देखो, मैं इस रघुनाथको तुम्हें सौंपता हूँ।' खान-पानसे लेकर साधन-भजनतक सारी व्यवस्थाका भार तुम्हारे ऊपर है, भला! बहुत अच्छा! कहकर स्वरूपने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और रघुनाथको अपनी कुटीमें ले गये। उनके समुद्र-स्नान करके वापस आनेपर उन्हें जगन्नाथजीका प्रसाद और महाप्रसाद लाकर दिया। रघुनाथने उसे बड़े प्रेमसे पाया। परंतु जब उन्होंने देखा कि यह तो रोजका सिलसिला है, तब उनके मनमें यह विचार हुआ कि रोज-रोज यह बढ़िया-बढ़िया माल खानेसे वैराग्य कैसे सधेगा? आखिर चार-पाँच दिनके बाद ही उन्होंने यह व्यवस्था बदल दी। 'मैं एक राजकुमारकी हैसियतका आदमी हूँ' इस प्रकारका रहा-सहा भाव भी भुलाकर वह साधारण भिक्षुककी भाँति जगन्नाथजीके सिंहद्वारपर खड़े होकर भिक्षावृत्ति करने लगे और बड़े आनन्दके साथ दिन व्यतीत करने लगे। जब लोगोंको मालूम हुआ कि ये बहुत बड़े घरके लड़के होकर भी इस अवस्थामें आ गये हैं, तब उन्हें अधिकाधिक परिमाणमें विविध प्रकारके पदार्थ देना आरम्भ कर दिया। आखिर घबराकर रघुनाथदासको यह क्रम भी त्याग देना पड़ा। अब वह चुपचाप एक अन्नक्षेत्रमें जाते और वहाँसे रूखी-सूखी भीख ले आते। रघुनाथकी गतिविधि क्या-से-क्या हो रही है, श्रीगौरांगदेवको पूरा पता लगता रहता। उनके दिन-दिन बढ़ते हुए वैराग्यको देखकर उन्हें बड़ा सुख मिलता। रघुनाथकी उत्कट जिज्ञासा देखकर श्रीमहाप्रभुने एक दिन उन्हें साधनसम्बन्धी कुछ उपदेश दिया। कहा कि मैं तुम्हें सब शास्त्रोंका सार यह बतलाता हूँ कि 'श्रीकृष्णके नामका स्मरण और कीर्तन ही संसारमें कल्याण-प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। पर इस साधनकी भी पात्रता प्राप्त करनेके साधन ये हैं कि निरन्तर साधुसंग करे, सांसारिक चर्चासे बचे, परनिन्दासे कोसों दूर रहे, स्वयं अमानी होकर दूसरोंका मान करे, किसीका दिल न दुखाये और दूसरेके दुखानेपर दुखी न हो, आत्मप्रतिष्ठाको विष्ठावत् समझे, सरल और सच्चरित्र होकर जीवन व्यतीत करे, आदि।'

रघुनाथदास इच्छा और अनिच्छासे जबतक राजकुमार थे। तबतक थे; अब वह वैरागी बन गये हैं, इसलिये उनका वैराग्य भी दिन-दिन बड़े वेगसे बढ़ता जाता है। पहले वे अन्नक्षेत्रमें जाकर भिक्षा ले आते थे; पर अब उन्होंने यह भी बन्द कर दिया। कारण, भण्डारीको जैसे ही इनके वंश आदिका परिचय मिला, उसने भिक्षामें विशेषता कर दी। इसलिये इन्हें इस व्यवस्थाको भी त्यागकर नयी व्यवस्था करनी पड़ी। इसमें पूर्ण स्वाधीनता थी। जगन्नाथजीमें दूकानोंपर भगवान्‌का प्रसाद भात-दाल आदि बिकता है। यह प्रसाद बिकनेसे बचते-बचते कई-कई दिनका हो जानेसे सड़ भी जाता है। सड़ जानेसे जब यह बिक्रीके कामका भी नहीं रहता, तब सड़कपर फेंक दिया जाता है, जिसे गौएँ आकर खा जाती हैं। रघुनाथदासको इस जीविकामें निर्द्वन्द्वता मालूम हुई। वे उसी फेंके हुए प्रसादमेंसे थोड़ा-सा बटोरकर ले आते और उसमें बहुत-सा जल डालकर उसे धोते और उसमेंसे कुछ साफ-से खानेलायक चावल निकाल लेते और नमक मिलाकर उसीसे अपने पेटकी ज्वाला शान्त करते। गौरांगदेवको इनकी इस प्रसादीका पता लगा तो वे एक दिन सायंकालको दबे पाँव रघुनाथके पास पहुँचे। ज्यों ही उन्होंने देखा कि रघुनाथ प्रसाद पा रहे हैं तो जरा और भी दुबक गये और इसी तरह खड़े रहे; एकाएक बन्दरकी तरह झपटकर छापा मारा। झटसे एक मुट्ठी भरके 'वाह बच्चू! मेरा निमन्त्रण बन्द करके अब अकेले-ही-अकेले यह सब माल उड़ाया करते हो?' कहते हुए मुखमें पहुँचाया। ध्यान जाते ही 'वाह प्रभो! यह क्या? इस पापसे

मेरा निस्तार कैसे होगा!' कहकर झटसे रघुनाथने दोनों हाथोंसे पतली उठा ली, जिससे महाप्रभु पुनः ऐसा न कर सकें। लज्जा और संकोचसे उनका चेहरा मुर्झा गया और नेत्रोंमें जल-बिन्दु झलक आये। महाप्रभु मुँहमें दिये हुए कौरको मुराते-मुराते रघुनाथकी ओर करुणाभरी दृष्टिसे निहारते पुनः हाथ मारनेको लपके और रघुनाथ 'हे प्रभो! अब तो क्षमा कीजिये' कहते हुए पतली लेकर भागे। तबतक यह सब हल्ला-गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी भी आ पहुँचे और यह देखकर कि श्रीगौर जबरदस्ती रघुनाथका उच्छिष्ट खानेका प्रयत्न कर रहे हैं, उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! दया करके यह सब मत कीजिये, इसमें दूसरेका जन्म-कर्म बिगड़ता है।'

चैतन्यदेवने मुखमें दिये हुए ग्रासको चबाते-चबाते ही कहा—'स्वरूप! तुमसे सच कहता हूँ, ऐसा सुस्वादु अन्न मैंने आजतक नहीं पाया।'

इसी प्रकार श्रीगौरांगदेवकी कृपादृष्टिसे प्रोत्साहित होते रहकर रघुनाथने वहीं पुरीमें रहकर सोलह वर्ष व्यतीत कर दिये। श्रीचैतन्य जब अहर्निश प्रेमोन्मादमें रहने लगे, तब उनकी देहरक्षाके लिये वे सदा उनके साथ ही रहने लगे। वे उनकी बड़ी श्रद्धाके साथ सेवा करते और उनके मुखसे निकले हुए वचनामृतका पान करते। आगे चलकर श्रीगौरका तिरोभाव हो गया, जिससे रघुनाथके शोकका पार न रहा; और प्रभुके बाद जब श्रीस्वरूप भी विदा हो गये, तब तो उनका पुरीवास ही छूट गया। वे वृन्दावन चले गये; इसके बाद वे वृन्दावनमें श्रीराधाकुण्डके किनारे डेरा डालकर कठोर साधनमें लग गये। वे केवल छाछ पीकर जीवन-यापन करते। रातको सिर्फ घण्टे-डेढ़ घण्टे सोते, शेष सारा समय भजनमें व्यतीत करते। प्रतिदिन एक लाख नाम-जपका उनका नियम था। श्रीचैतन्यचरितामृतकारका कहना है कि रघुनाथदासके गुण अनन्त थे, जिनका हिसाब कोई नहीं लगा सकता। उनके नियम क्या थे, पत्थरकी लीक थे। चार ही घड़ीमें उनका खाना, पीना, सोना आदि सब कुछ हो जाता था—शेष सारा समय साधनामें व्यतीत होता था। वैराग्यकी तो वे मूर्ति ही थे। जीभसे स्वाद लेना तो वे जानते ही नहीं थे। वस्त्र भी फटे-पुराने केवल लज्जा और शीतसे रक्षा करनेके लिये रखते थे। प्रभुकी आज्ञाको ही भगवदाज्ञा समझकर चलते थे।

एक बार ठण्डके दिनोंमें इन्हें बड़े जोरकी सर्दी लगी तो जगन्नाथ-भगवान्ने इन्हें अपनी रजाई ओढ़ायी थी। शौचके समय साथ जाकर सेवा करनेकी रीतिका प्रमाण तो वैसा ही समझना चाहिये जैसा कि सुखराशि श्रीप्रभुने श्रीमाधवदासजीके साथ किया था।

महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजीकी पूर्वनिर्दिष्ट आज्ञाके अनुसार श्रीरघुनाथदासजी श्रीजगन्नाथपुरीसे श्रीवृन्दावन चले आये और राधाकुण्डपर निवास किया। इन्होंने श्रीप्रिया-प्रियतमके प्रबल चिन्तनद्वारा अपने शरीरको भावरूप कर लिया था। एक दिन भगवान्की मानसीपूजा करते समय दूध-भातका भोग लगाया और स्वयं भी इन्होंने प्रभुके अनुरोधसे भावपूरित हृदयसे प्रसादी दूध-भात पा लिया। इससे हृदयमें प्रेम तो खूब उमड़ा, परंतु साथ ही उस दूध-भातका रस शरीरकी नाड़ियोंमें व्याप्त हो गया, जिससे ज्वर हो आया। नाड़ी देखकर वैद्यने स्पष्ट कह दिया कि इन्होंने दूध-भात पाया है।

श्रीरघुनाथदासजीपर भगवान् श्रीजगन्नाथस्वामीकी कृपाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

अति अनुराग घर सम्पति सों भर्‍यो पागि ताहू करि त्याग कियौ नीलाचल बास है।
धनको पठावै पिता ऐ पै नहीं भावै कछु देखिबो सुहावै महाप्रभुजी कौ पास है॥
मन्दिरके द्वार रूप सुन्दर निहार्‍यौ करैं लाग्यौ सीत गात सकलात दई दास है।
सौच संग जायबे की रीति को प्रमान वहै वैसे सब जानौ माधौदास सुखरास है॥ ३२७॥
महाप्रभु कृष्णचैतन्यजूकी आज्ञा पाइ आये वृन्दावन राधाकुण्ड बास कियो है।
रहनि कहनि रूप चहनि न कहि सकै थकै सुनि तन भाव रूप करि लियो है॥

मानसीमें पायो दूध भात सरसात हिये लिये रस नारी देखि वैद कहि दियो है।
कहाँ लौं प्रताप कहौं आप ही समझि लेहु देहु वही रीझि जासों आगे पाय जियो है॥ ३२८॥

इनका संस्कृत-भाषाका ज्ञान भी बहुत अच्छा था। वृन्दावनमें रहते समय इन्होंने संस्कृतमें कई ग्रन्थ भी बनाये थे। चैतन्यचरितामृतके लेखक श्रीकृष्णदास कविराजके ये दीक्षागुरु थे। अपने ग्रन्थके लिये बहुत कुछ मसाला उन्हें इन्हीं महापुरुषसे प्राप्त हुआ था। पचासी वर्षतक पूर्ण वैराग्यमय जीवन बिताकर भगवद्भजन करते हुए अन्तमें आप भगवच्चरणोंमें जा विराजे।

श्रीनित्यानन्दजी, श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी

गौड़ देस पाखंड मेटि कियो भजन परायन।
करुना सिंधु कृतग्य भए अगनित गति दायन॥
दसधा रस आक्रांति महत जन चरन उपासे।
नाम लेत निहपाप दुरित तिहि नर के नासे॥
अवतार बिदित पूरब मही उभै महँत देही धरी।
नित्यानंद कृष्न चैतन्य की भक्ति दसो दिसि बिस्तरी॥ ७२॥

श्रीनित्यानन्दजी तथा श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुजीकी भक्तिका प्रकाश दसों दिशाओंमें फैला। आप दोनों महानुभावोंने गौड़देशमें फैले हुए पाखण्ड (कुप्रथाओं एवं मुसलमानोंके आतंक)-को मिटाकर वहाँके लोगोंको भगवद्भजनमें प्रवृत्त किया। आप दोनों करुणाके समुद्र, कृतज्ञ तथा अगणित अगतिक जीवोंको गति देनेवाले हुए। (अर्थात् दुष्टोंको न मारकर उनकी दुष्टताका नाशकर उन्हें भक्त बनाया।) आप दोनों सदा ही प्रेमरस-विवश बने रहते थे। बड़े-बड़े महापुरुषोंने आपके श्रीचरणकमलोंकी उपासना की। आपका नाम लेते ही प्राणी निष्पाप हो जाते हैं, तत्काल उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। पूर्व देशकी भूमिमें श्रीबलराम और श्रीकृष्ण ही श्रीनित्यानन्दजी एवं श्रीकृष्णचैतन्य—इन दोनों महापुरुषोंके रूपमें प्रादुर्भूत हुए थे। इनके अवतारकी बात सर्वप्रसिद्ध है॥ ७२॥

श्रीनित्यानन्दजी एवं श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनित्यानन्दजी

भारतीय इतिहासके मध्यकालीन भक्ति-विकासमें निताई और निमाईका नाम बड़ी श्रद्धासे लिया जाता है। भगवद्भक्तिके प्रचारसे निताई और निमाईने केवल वंगदेशको ही नहीं, समस्त भारतको प्रभावित किया। नित्यानन्द मधुरातिमधुर भक्ति-सुधाका पान करके रात-दिन उन्मत्तकी तरह हरिनाम-ध्वनिसे असंख्य जीवोंका उद्धार करते रहते थे।

शस्यश्यामला वंगभूमिके वीरभूमि जनपदके एकचाका गाँवमें शाके १३९५ के माघमासमें श्रीनित्यानन्दका जन्म हुआ था। उनके पिता-माता हाँड़ाई पण्डित और पद्मावती बड़े धर्मनिष्ठ थे। दोनों विष्णुभक्त थे। एक बार पद्मावतीने स्वप्नमें एक महापुरुषको देखा। उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे गर्भसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा, जो पापियोंका उद्धार करेगा और नर-नारियोंको भक्तिका मार्ग दिखायेगा।' नित्यानन्दने महापुरुषके कथनकी सत्यता प्रमाणित कर दी। बचपनसे ही नित्यानन्दमें अलौकिक पुरुषके लक्षण प्रकट होने लगे। वे श्रीकृष्णकी बाल-लीलाका अनुकरण करते-करते उन्मत्त हो जाया करते थे। वे बाल्यावस्थासे ही संसारके प्रपंचोंके प्रति उदासीन रहने लगे।

कहते हैं कि एक बार आप श्रीरामलीलामें लक्ष्मणजीका अभिनय कर रहे थे, अभिनय करते-करते

आपको भावावेश हो आया। मेघनादके साथ युद्धका प्रसंग था। जैसे ही आपको शक्तिबाण लगा, आप बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। जो बालक हनुमान् बना था, वह अबोध था। वह लाने गया था संजीवनी बूटी, पर भूलकर अपने घर चला गया। जब बहुत देर होने लगी तो लोग इन्हें जगाने लगे, परंतु ये तो सचमुच मूर्च्छित थे, फिर जगें कैसे! लीला देखनेवालोंमें वैद्य-डॉक्टर आदि भी थे, उन्होंने नाड़ी-परीक्षण किया और लक्षण देखे तो चकित हो गये। नाड़ीकी गति मन्द हो गयी थी, जीवन बचनेके लक्षण भी कम होने लगे थे। लोगोंको जब चिकित्सकोंकी राय पता चली तो पूरे दर्शक-समाजमें खलबली मच गयी। किसीने इनके घर जाकर इनके माता-पिताको खबर दी। वे बेचारे भी रोते-बिलखते दौड़े आये और इनकी दशा देखकर माथा पीट-पीटकर विलाप करने लगे। इतनेमें जो बालक श्रीरामजीका अभिनय करते हुए अपनी गोदमें इनका सिर लेकर रुदन कर रहा था, उसे याद आया कि अभीतक हनुमान्जी संजीवनी लेकर क्यों नहीं आये? फिर तो तत्काल श्रीहनुमान्जीका अभिनय करनेवाले बालकको बुलवाया गया, वह संजीवनी लेकर आया और जैसे ही सुषेण बने बालकने इन्हें संजीवनी सुँघायी, ये तत्काल ही 'जय श्रीराम' कहते हुए चैतन्य हो गये। इस प्रकार लीलाभिनयमें भी इनको भावावेश हो जाता था, तो भगवन्नाम-संकीर्तनके समयके भावावेशकी बात ही क्या!

एक बार उनके घरपर एक संन्यासी आये। निताईके स्वभाव और उनकी प्रतिभापर आकृष्ट होकर उन्होंने उनको अपने साथ ले लिया, निताई इस घटनाके बाद फिर कभी घर नहीं लौटे। निताईने तीर्थाटन आरम्भ किया। अयोध्या, हस्तिनापुर होते हुए वे व्रज पहुँचे। इस तीर्थयात्रामें उनकी श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे भेंट हुई। दोनों प्रेमविह्वल होकर एक-दूसरेसे मिले। तदनन्तर निताई वृन्दावनमें एक पागलकी तरह भगवान् श्रीकृष्णके अन्वेषणमें घूमने लगे। बिना माँगे कोई कुछ दे देता तो खा लेते, नहीं तो भूखे ही रह जाते। महात्मा ईश्वरपुरीने उनसे एक बार कहा—'ठाकुर! यहाँ क्या देखते हो, तुम्हारे श्रीकृष्ण तो नवद्वीपमें शचीके घर पैदा हो गये हैं।' निताई नवद्वीपके लिये चल पड़े। नित्यानन्द नवद्वीप पहुँचकर नन्दन आचार्यके घर ठहर गये। निमाई पण्डित (श्रीचैतन्य)-ने अपने शिष्योंसहित निताईके दर्शन किये। उनके कानोंमें कुण्डल थे, शरीरपर पीताम्बर लहरा रहा था। उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी थीं, उनकी कान्ति अत्यन्त दिव्य थी। निमाई अपने-आपको अधिक समयतक सँभाल न सके। श्रीगौरचन्द्रने उनकी चरण-वन्दना की। नित्यानन्दने उनको अपने प्रेमालिंगनमें आबद्ध कर लिया। दोनोंने अद्भुत कम्प, अश्रुपात, गर्जन और हुंकारसे सारे वातावरणको प्रभावित कर दिया। चैतन्यने कहा—'बंगालमें भक्ति-भागीरथीके प्रवाहित होनेका समय आ गया है।' निताई और निमाईकी अलौकिक छविने नवद्वीपको मनोमुग्ध कर लिया।

माता शची निताईको अपने बड़े लड़केके समान मानती थीं। उनके जीवनकी अनेक अलौकिक घटनाएँ हैं। एक बार वे गौरके घर अवधूतवेषमें पहुँच गये। निताईके नयनोंसे अश्रु बह रहे थे, मधुर हरिनामका रसनासे उच्चारण हो रहा था। वे बाह्यज्ञानशून्य थे। गौरने माला पहनाकर उनका चरणामृत लिया। निताई चैतन्यके आदेशसे नवद्वीप और उसके आस-पासके स्थानोंमें हरिनामका प्रचार करने लगे। जगाई-मधाई-सरीखे पातकियोंके उद्धारमें उन्होंने महान् योग दिया।

जगाई-मधाई महान् क्रूरकर्मा, पापाचारकी पराकाष्ठा और साक्षात् पापरूप ही थे। कोई भी पातक, उपपातक या महापातक ऐसा नहीं था, जो इनके द्वारा किया न जाता रहा हो। यद्यपि इन्होंने ब्राह्मणवंशमें जन्म लिया था, पर कर्म इनके ऐसे थे कि राक्षस भी लज्जित हो जायँ। नाम तो इनके जगन्नाथ और माधव (भगवान्के पावन नाम) थे, परंतु कर्मसे ये हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ही थे। लूट, हत्या, मद्यपान और मांसाहार तथा परदाराभिगमन इनके नित्यकर्म थे। गौड़देशके शासककी ओरसे ये नदियाके कोतवाल बनाये गये थे। सदा डेरा-तम्बू लिये ये एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें दौरा किया करते थे। जिस मुहल्लेमें इनका डेरा पड़ जाता, उस

मुहल्लेके लोगोंके प्राण सूख जाते। ऐसे नर-पिशाचोंपर एक दिन श्रीनित्यानन्दजीकी दृष्टि पड़ी, वे श्रीहरिदासजीके साथ नवद्वीपमें श्रीहरिनाम-संकीर्तनका प्रचार-प्रसार करने आये थे। उनके लिये महाप्रभुकी आज्ञा थी कि पात्र-अपात्रका ध्यान दिये बिना सभीको भगवन्नामका समान भावसे उपदेश देना है।

नित्यानन्दजीने जिस समय जगाई-मधाईको देखा, उस समय वे दोनों मदिराके मदमें उन्मत्त होकर प्रलाप कर रहे थे। लोगोंके द्वारा इन्हें ज्ञात हुआ कि ये हैं तो ब्राह्मणकुमार ही, परंतु राजमदसे उन्मत्त हो ये चाण्डालोंसे भी पतित हो गये हैं। उनकी इस शोचनीय दशापर नित्यानन्दजीको बड़ी दया आयी। वे सोचने लगे कि जिन लोगोंने भगवन्नामका आश्रय ले रखा है, उनको उपदेश देनेसे अधिक आवश्यक ऐसे लोगोंको उपदेश देना है, जो भगवद्विमुख हैं, किसी प्रकार इन लोगोंका उद्धार होना चाहिये। हरिदासजीसे और महाप्रभुके पास पहुँचनेपर उनसे भी आपने अपनी इच्छा बतायी।

प्रभुने हँसते हुए कहा—जिन्हें आपके दर्शन हो चुके हैं और जिनके उद्धारकी बात आपके मनमें आ चुकी है, भला वे पापी कैसे रह सकते हैं? अर्थात् उनका तो उद्धार होना ही है।

महाप्रभुकी ओरसे नित्यानन्दजीको जगाई-मधाईके उद्धारका संकेत मिल गया था। एक रात वे जान-बूझकर उस रास्तेसे गये, जिधर वे दोनों मदिरा पीकर बैठे थे। निताई मधुर स्वरमें संकीर्तन करते जा रहे थे। मधाईने कई बार पूछा—कौन है? परंतु इन्होंने जानबूझकर उत्तर नहीं दिया। जब डाँटकर पूछा कि बोलता क्यों नहीं? तो इन्होंने विनोदपूर्ण लहजेमें कहा—'प्रभुके यहाँ संकीर्तनमें जा रहा हूँ,' हमारा नाम है 'अवधूत।'

अवधूत नाम सुनते ही मधाई चिढ़कर बोला—'क्यों बे बदमाश! मुझसे दिल्लगी करता है!' यह कहकर उस दुष्टने पासमें पड़े हुए एक घड़ेके टुकड़ेको उठाकर श्रीनित्यानन्दजीके सिरमें मारा। सिरसे रक्तकी धार बह चली, पर नित्यानन्दजीको इसपर भी क्रोध नहीं आया, वे तो अपने नामके अनुरूप आनन्दमग्न हुए भगवन्नामका गान और नृत्य कर रहे थे। उन्हें शाप देनेके स्थानपर वे करुणामूर्ति भगवान्से कातर स्वरमें प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! इन ब्राह्मणकुमारोंका उद्धार करो, मुझसे इनकी दुर्दशा देखी नहीं जाती।'

मधाई नित्यानन्दजीको इस प्रकार प्रेममग्न नृत्य करते देखकर और चिढ़ गया तथा पुनः प्रहार करनेको उद्यत हो गया, परंतु जगाईके समझाने-बुझानेपर शान्त हो गया। उधर महाप्रभुके घरपर कीर्तन प्रारम्भ होनेवाला था, भक्तोंकी मण्डली इकट्ठी हो गयी थी कि किसीने इस बातकी सूचना महाप्रभुको दे दी। तत्काल सम्पूर्ण भक्त-मण्डलीके साथ महाप्रभु वहाँ पहुँच गये। महाप्रभुने जब नित्यानन्दजीके सिरसे रक्त-प्रवाह होते देखा तो उनके क्रोधका पारावार न रहा। उस समय उनका करुणावरुणालयरूप प्रलयकारी रौद्र स्वरूपमें परिणत हो गया और वे 'चक्र-चक्र' कहकर सुदर्शन चक्रका आवाहन करने लगे। महाप्रभुको अत्यन्त क्रोधाभिभूत और सुदर्शन चक्रको आकाशसे उतरते देखकर श्रीनित्यानन्दजीने सुदर्शन चक्रसे आकाशमें ही स्थिर रहनेकी प्रार्थना की और महाप्रभुके चरणकमलोंमें सिर रखकर कहने लगे—प्रभो! आपका यह अवतार दुष्टोंके संहारके लिये नहीं अपितु उनके उद्धारके लिये हुआ है, आपकी दयाके मुख्य पात्र तो ये ही हैं, फिर प्रभो! जगाईने तो मेरी रक्षा की है, इसने मधाईको मुझपर दूसरी बार प्रहार करनेसे रोका है, अतः यह आपकी परम कृपाका अधिकारी है। 'जगाईने मेरे निताईकी रक्षा की है'—यह सुनते ही महाप्रभुका सारा क्रोध विलुप्त हो गया और उन्होंने तुरंत जगाईको हृदयसे लगा लिया। प्रभुका स्पर्श पाते ही जगाईके जन्म-जन्मान्तरके पाप क्षणमात्रमें नष्ट हो गये, उसका अन्तःकरण निर्मल हो गया और वह महाप्रभुके चरणोंमें पड़कर फूट-फूटकर रोने लगा।

जगाईको इस प्रकार प्रेममें अधीर होकर रुदन करते देखकर मधाईके भी हृदयमें पश्चात्तापकी ज्वाला जलने लगी, उसे भी अपने कुकृत्यपर लज्जा आने लगी। वह आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठ और आर्त वाणीसे

कहने लगा—'प्रभो! हम दोनों भाइयोंने मिलकर समानरूपसे पाप किये हैं, आपने एक भाईको ही अपनी चरण-शरण दी है; नाथ! हम दोनोंको अपनाइये, हम दोनोंकी रक्षा कीजिये।' यह कहते-कहते मधाई भी प्रभुके चरणोंमें अश्रुपात करते हुए लोटने लगा। परंतु मधाईके ऊपरसे महाप्रभुका रोष अभी गया नहीं था। वे गम्भीर स्वरमें बोले—'मधाई! तूने मेरा अपराध किया होता तो मैं तुझे क्षमा कर देता, पर तूने श्रीपादनित्यानन्दजीका अपराध किया है, अतः उन्हींसे क्षमा माँग। जब वे तुझे क्षमा कर देंगे, तभी तू मेरा अनुग्रहभाजन हो सकेगा, अन्यथा तेरा कल्याण सम्भव नहीं।' यह सुनकर मधाई श्रीपादनित्यानन्दजीके चरणोंमें जा पड़ा और आँसुओंसे उनके चरणोंका प्रक्षालन करने लगा। उसका यह पश्चात्ताप देखकर श्रीपाद करुणाविगलित हो उठे। उन्होंने महाप्रभुसे कहा—'प्रभो! मेरे हृदयमें इस मधाईके प्रति अणुमात्र भी रोष नहीं है, यदि मैंने जन्म-जन्मान्तरोंमें कोई भी सुकृत किया हो तो उसका पुण्य मैं इन दोनों भाइयोंको देता हूँ।'

इतना सुनते ही प्रभुने दौड़कर मधाईको अंकमें उठा लिया और कहने लगे—'मधाई! अब तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो गये हो, श्रीपादकी कृपासे तुम पापरहित हो गये हो। उन्होंने अपने सभी पुण्य प्रदानकर तुम्हें परम भागवत वैष्णव बना दिया है।'

ऐसे करुणाविग्रह और पतितोद्धारक थे श्रीपादनित्यानन्दजी, जिन्होंने अपने ऊपर प्रहार करनेवालेको भी न केवल क्षमा कर दिया; बल्कि अपने जन्म-जन्मान्तरका पुण्य भी दे दिया। तभी तो महाप्रभु चैतन्य भी उन्हें अपना बड़ा भाई मानते थे।

श्रीपादनित्यानन्दजी चैतन्य महाप्रभुके साथ नवद्वीपसे पुरी आये। फिर उनके आदेशसे गौड़देशमें हरिनामका प्रचार करनेके लिये चल पड़े। गौरांगके कहनेपर उन्होंने पुनः विवाहित जीवनमें प्रवेश किया। अम्बिकानगरके सूर्यदासकी कन्या वसुधा और जाह्नवीका उन्होंने पाणिग्रहण किया। वे खड़दहमें भगवती भागीरथीके तटपर निवास करने लगे। उनके वीरचन्द्र नामका एक पुत्र भी हुआ। एक दिन भगवान् श्यामसुन्दरके मन्दिरमें हरिका नाम लेते-लेते वे सदाके लिये अचेत हो गये। भगवान्ने अपने भक्तको अपना लिया।

श्रीनित्यानन्दजी श्रीबलरामजीके अवतार हैं। एक बार उनके मनमें यह चाह उत्पन्न हुई कि अब प्रेमोन्मत्तताका रसास्वादन करना चाहिये। अतः वे ही श्रीबलरामजी श्रीनित्यानन्द महाप्रभुजीके रूपमें प्रकट हुए। आपके अगाध हृदयमें सम्पूर्ण प्रेमराशि आकर परिपूर्ण रूपसे भर गयी, परंतु फिर भी आपको प्रेमतृष्णा बनी रहती थी। आपका प्रेम ऐसा बढ़ा कि उसका भार आपसे सँभालते नहीं बनता था। तब आपने उसे पार्षदों (शिष्यों)-में यथायोग्य स्थापित कर दिया। आपके प्रेमकी कथा कहते-कहते और सुनते-सुनते अनेकों जन प्रेम-मतवाले हो गये। अनेकों ग्रन्थ इसके साक्षी हैं।

श्रीनित्यानन्दजीकी इस प्रेमोन्मत्तताका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

आप बलदेव सदा वारुणी सों मत्त रहैं चहैं मन मानौ प्रेम मत्तताई चाखियै।
सोई नित्यानन्द प्रभु महंत की देह धरी भरी सब आनि तऊ पुनि अभिलाखियै॥
भयो बोझ भारी किहूँ जात न सँभारी तब ठौर ठौर पारषद माँझ धरि राखियै।
कहत-कहत और सुनत-सुनत जाके भये मतवारे बहु ग्रन्थ ताकी साखियै॥ ३२१॥

श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका प्राकट्य शक-संवत् १४०७ की फाल्गुन शुक्ला १५ को दिनके समय सिंहलग्नमें पश्चिमी बंगालके नवद्वीप नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम जगन्नाथमिश्र और माताका नाम शचीदेवी था। ये भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे। इन्हें लोग श्रीराधाका अवतार मानते हैं। बंगालके वैष्णव तो इन्हें साक्षात् पूर्णब्रह्म ही मानते हैं। इनके जीवनके अन्तिम छः वर्ष राधाभावमें ही बीते। उन दिनों इनके अन्दर महाभावके सारे लक्षण प्रकट हुए थे। जिस समय ये श्रीकृष्णके विरहमें उन्मत्त होकर

रोने और चीखने लगते थे, उस समय पत्थरका हृदय भी पिघल जाता था। इनके व्यक्तित्वका लोगोंपर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि श्रीवासुदेव सार्वभौम और प्रकाशानन्द सरस्वती-जैसे अद्वैतवेदान्ती भी इनके थोड़ी देरके संगसे श्रीकृष्णप्रेमी बन गये। यही नहीं, इनके विरोधी भी इनके भक्त बन गये और जगाई-मधाई-जैसे महान् दुराचारी भी सन्त बन गये। नौरोजी नामका डाकू इनके संकीर्तनकी ध्वनि सुनकर और इनका उपदेश सुनकर अपने दल-बलसहित भगवद्भक्त बन गया। नवद्वीपके काजीने कुछ लोगोंके भड़कानेमें आकर एक संकीर्तनकर्ताका ढोल फोड़ दिया, स्वप्नमें उसे नृसिंहभगवान्के क्रोधित स्वरूपके दर्शन हुए, जिससे घबराकर उसने चैतन्यमहाप्रभुसे क्षमा माँगी और संकीर्तनका विरोध करना छोड़ दिया। कई बड़े-बड़े संन्यासी भी इनके अनुयायी हो गये। यद्यपि इनका प्रधान उद्देश्य भगवद्भक्ति और भगवन्नामका प्रचार करना और जगत्में प्रेम और शान्तिका साम्राज्य स्थापित करना था, तथापि इन्होंने दूसरे धर्मों और दूसरे साधनोंकी कभी निन्दा नहीं की। इनके भक्ति-सिद्धान्तमें द्वैत और अद्वैतका बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। इन्होंने कलिमलग्रसित जीवोंके उद्धारके लिये भगवन्नामके जप और कीर्तनको ही मुख्य और सरल उपाय माना है। इनकी दक्षिण-यात्रामें गोदावरीके तटपर इनका इनके शिष्य राय रामानन्दके साथ बड़ा विलक्षण संवाद हुआ, जिसमें इन्होंने राधाभावको सबसे ऊँचा भाव बतलाया।

श्रीचैतन्य भगवन्नामके बड़े ही रसिक, अनुभवी और प्रेमी थे। इन्होंने बतलाया है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—'यह महामन्त्र सबसे अधिक लाभकारी और भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाला है। भगवन्नामका बिना श्रद्धाके उच्चारण करनेसे भी मनुष्य संसारके दु:खोंसे छूटकर भगवान्के परम धामका अधिकारी बन जाता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने हमें यह बताया है कि भक्तोंको भगवन्नामके उच्चारणके साथ दैवीसम्पत्तिका भी अर्जन करना चाहिये। दैवीसम्पत्तिके प्रधान लक्षण उन्होंने बताये हैं—दया, अहिंसा, मत्सरशून्यता, सत्य, समता, उदारता, मृदुता, शौच, अनासक्ति, परोपकार, समता, निष्कामता, चित्तकी स्थिरता, इन्द्रियदमन, युक्ताहारविहार, गम्भीरता, परदु:खकातरता, मैत्री, तेज, धैर्य इत्यादि। श्रीचैतन्यमहाप्रभु आचरणकी पवित्रतापर बहुत जोर देते थे। उन्होंने अपने संन्यासी शिष्योंके लिये यह नियम बना दिया था कि कोई स्त्रीसे बाततक न करे। एक बार इनके शिष्य छोटे हरिदासने माधवी नामकी एक वृद्धा स्त्रीसे बात कर ली थी, जो स्वयं महाप्रभुकी भक्त थी। केवल इस अपराधके लिये उन्होंने हरिदासका सदाके लिये परित्याग कर दिया, यद्यपि उनका चरित्र सर्वथा निर्दोष था।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु चौबीस वर्षकी अवस्थातक गृहस्थाश्रममें रहे। इनका नाम 'निमाई' पण्डित था, ये न्यायके बड़े पण्डित थे। इन्होंने न्यायशास्त्रपर एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा था, जिसे देखकर इनके एक मित्रकी आँखोंमें आँसू आ गये; क्योंकि उन्हें यह भय हुआ कि इनके ग्रन्थके प्रकाशमें आनेपर उनके ग्रन्थका आदर कम हो जायगा। इसपर श्रीचैतन्यने अपने ग्रन्थको गंगाजीमें बहा दिया। कैसा अपूर्व त्याग है! पहली पत्नी लक्ष्मीदेवीका देहान्त हो जानेके बाद इन्होंने दूसरा विवाह श्रीविष्णुप्रियाजीके साथ किया था। परंतु कहते हैं, इनका अपनी पत्नीके प्रति सदा पवित्र भाव रहा। चौबीस वर्षकी अवस्थामें इन्होंने केशव भारती नामक संन्यासी महात्मासे संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। इन्होंने संन्यास इसलिये नहीं लिया कि भगवत्प्राप्तिके लिये संन्यास लेना अनिवार्य है; इनका उद्देश्य काशी आदि तीर्थोंके संन्यासियोंको भक्तिमार्गमें लगाना था। बिना पूर्ण वैराग्य हुए ये किसीको संन्यासकी दीक्षा नहीं देते थे। इसीलिये इन्होंने पहली बार अपने शिष्य रघुनाथदासको संन्यास लेनेसे मना किया था।

इनके जीवनमें अनेक अलौकिक घटनाएँ हुईं, जो किसी मनुष्यके लिये सम्भव नहीं और जिनसे इनका

ईश्वरत्व प्रकट होता है। इन्होंने एक बार श्रीअद्वैतप्रभुको विश्वरूपका दर्शन कराया था तथा नित्यानन्दप्रभुको एक बार शंख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्गधनुष तथा मुरली लिये हुए षड्भुज नारायणके रूपमें, दूसरी बार दो हाथोंमें मुरली और दो हाथोंमें शंख-चक्र लिये हुए चतुर्भुजरूपमें और तीसरी बार द्विभुज श्रीकृष्णके रूपमें दर्शन दिया था। इनकी माता शचीदेवीने इनके अभिन्नहृदय श्रीनित्यानन्द प्रभु और इनको बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें देखा था। गोदावरीके तटपर राय रामानन्दके सामने ये रसराज (श्रीकृष्ण) और महाभाव (श्रीराधा)-के युगलरूपमें प्रकट हुए, जिसे देखकर राय रामानन्द अपने शरीरको नहीं सम्हाल सके और मूर्छित होकर गिर पड़े। अपने जीवनके शेष भागमें, जब ये नीलाचलमें रहते थे, एक बार ये बन्द कमरेमेंसे बाहर निकल आये थे। उस समय इनके शरीरके जोड़ खुल गये, जिससे इनके अवयव बहुत लम्बे हो गये। एक दिन इनके अवयव कछुएके अवयवोंकी भाँति सिकुड़ गये और ये मिट्टीके लोंदेके समान पृथ्वीपर पड़े रहे। इनके जीवनमें कई चमत्कार सामान्य रूपसे भी दृष्टिगोचर होते थे। उदाहरणत: श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है कि इन्होंने कई कोढ़ियों और अन्य असाध्य रोगोंसे पीड़ित रोगियोंको रोगमुक्त कर दिया। दक्षिणमें जब ये अपने भक्त नरहरि सरकार ठाकुरके गाँव श्रीखण्डमें पहुँचे, तब नित्यानन्दप्रभुको मधुकी आवश्यकता हुई। इन्होंने उस समय एक सरोवरके जलको शहदके रूपमें पलट दिया, जिससे आजतक वह तालाब मधुपुष्करिणीके नामसे विख्यात है।

इन घटनाओंका भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

गोपिन के अनुराग आगै आप हारे श्याम जान्यो यह लाल रंग कैसे आवै तन में।
ये तौ सब गौर तनी नख सिख बनी ठनी खुल्यौ यों सुरंग अंग अंग रँगे बन में॥
श्यामताई माँझ सों ललाई हूँ समाई जोही ताते मेरे जान फिरि आई यहै मन में।
'जसुमति सुत' सोई 'शची सुत' गौर भये नये नये नेह चोज नाचैं निज गन में॥ ३३०॥
आवै कभूँ प्रेम हेमपिण्डवत तन होत कभू संधि संधि छूटि अंग बढ़ि जात है।
और एक न्यारी रीति आँसू पिचकारी मानों उभै लालप्यारी भावसागर समात है॥
ईशता बखान करौ सो प्रमान याकों काह? जगन्नाथ क्षेत्र नेत्र निरखि साक्षात है।
चतुर्भुज षटभुज रूप लै दिखाय दियो, दियो जो अनूप हित बात पात पात है॥ ३३१॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही अत्यन्त सुन्दर, परम महान् श्रीगौरचन्द्रके रूपमें अवतरित हुए तथा संन्यास लेनेके उपरान्त 'श्रीकृष्णचैतन्य' इस नामसे जगत्में विख्यात हुए। श्रीमहाप्रभुजीके अवतारके पूर्व सम्पूर्ण गौड़देशके लोग भक्तिका लेशमात्र भी नहीं जानते थे, परंतु श्रीमहाप्रभुजीने 'हरिबोल, हरिबोल' की मंगलमय नामध्वनि सुनाकर सबको प्रेमसागरमें डुबा दिया। आपके एक-एक पार्षद वैष्णवशिरोमणि एवं जगत्के समस्त प्राणियोंका उद्धार करनेमें समर्थ हुए। करोड़ों-करोड़ों अजामिल भी जिनकी दुष्टतापर न्यौछावर हैं, ऐसे जगाई-मधाई सरीखे पापियोंको भी आपने प्रेममें मग्न कर दिया।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कृष्णचैतन्यनाम जगत प्रगट भयौ अति अभिराम लै महन्त देह करी है।
जितौ गौड़ देश भक्ति लेसहूँ न जानै कोई सोऊ प्रेमसागर में बोर्‌यो कहि 'हरी' है॥
भए सिरमौर एक एक जग तारिबे कों धारिबे कों कौन साखि पोथिन में धरी है।
कोटि कोटि अजामिल वारि डारै दुष्टता पै ऐसेहूँ मगन किये भक्ति भूमि भरी है॥ ३३२॥

श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तिम बारह वर्ष कृष्णविरहमें दिव्योन्मादकी स्थितिमें बीते। आप पुरीके गम्भीरा मन्दिरमें प्राय: भावावेशमें रोते-बिलखते रहते। अन्तमें शक संवत् १४५५ में आषाढ़मासमें एक दिन दिनके तीसरे पहरमें आप दौड़ते हुए सीधे श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें प्रवेश कर गये और महाप्रभु महाप्रभुमें ही लीन हो गये।

श्रीसूरदासजी

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्बाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिबि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
बिमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कबित सुनि कौन कबि जो नहिं सिर चालन करै॥ ७३ ॥

श्रीसूरदासजीकी कविताको सुनकर ऐसा कौन कवि है, जो आनन्दमें भरकर सिर नहीं हिलाने लगता हो। इनकी कवितामें सुन्दर सरस उक्तियाँ, मधुर व्यंग्यपूर्ण उपहास (सुभाषित, अनोखा भाव, रहस्य), अनूठे अनुप्रास और ललितवर्ण-मैत्री अत्यन्त प्रचुरताके साथ वर्तमान हैं। इनकी वाणीमें प्रेमका ओर-छोर निर्वाह देखा जाता है तथा कवितामें प्रयुक्त शब्दोंके सम्बन्धका पूर्णरूपेण निर्वाह पाया जाता है अर्थात् परस्पर मैत्रीयुक्त शब्दोंका प्रयोग किया गया है। पदोंमें अन्त्यानुप्रास बड़ा ही मनोरम है तथा प्रत्येक पदमें विलक्षण भावार्थ निहित है। दिव्यदृष्टि होनेसे इनके हृदयमें भगवान्‌की सम्पूर्ण लीलाएँ प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशित होती थीं, अतः इन्होंने भगवान्‌के जन्म, कर्म, गुण—इन सबका अपनी रसना (जिह्वा)-से बड़ा ही सरस वर्णन किया है। श्रीसूरदासजीद्वारा वर्णित भगवान्‌के जन्म, कर्म, रूप, गुणादिको प्रेमपूर्वक श्रवण करनेसे लोगोंकी बुद्धि निर्मल हो जाती है तथा निर्मल गुणोंसे युक्त हो जाती है अर्थात् उन्हें भी भगवान्‌की लीलाएँ भासने लगती हैं॥ ७३॥

श्रीसूरदासजीके विषयमें कुछ विवरण इस प्रकार है—

सूरदासको किसी विशेषण या उपाधिसे समलंकृत करनेमें उनकी परमोत्कृष्ट भगवद्भक्ति, अत्यन्त विशिष्ट कवित्व-शक्ति और मौलिक अलौकिकताकी उपेक्षाकी आशंका उठ खड़ी होती है; सूरदास पूर्ण भगवद्भक्त थे, अलौकिक कवि थे, महामानव थे। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके शब्दोंमें वे 'भक्तिके सागर' और श्रीगोसाईं विट्ठलनाथकी सम्मतिमें वे 'पुष्टिमार्गके जहाज' थे। उनका सूरसागर काव्यामृतका असीम सागर है। वे महात्यागी, अनुपम विरागी और परम प्रेमी भक्त थे। भगवान्‌की लीला ही उनकी अपार, अचल और अक्षुण्ण सम्पत्ति थी।

दिल्लीसे थोड़ी दूरपर सीही गाँवमें एक निर्धन ब्राह्मण* के घर संवत् १५३५ वि० में वैशाख शुक्ल पंचमीको धरतीपर एक दिव्य ज्योति बालक सूरदासके रूपमें उतरी, चारों ओर शुभ्र प्रकाश फैल गया; ऐसा लगता था कि कलिकालके प्रभावको कम करनेके लिये भगवती भागीरथीने अपना कायाकल्प किया है। समस्त गाँववाले और शिशुके माता-पिता आश्चर्यचकित हो गये। शिशुके नेत्र बन्द थे, घरमें 'सूर' ने जन्म लिया। अन्धे बालकके प्रति उनके पिता उदासीन रहने लगे, घरके और लोग भी उनकी उपेक्षा ही करते थे। धीरे-धीरे उनके अलौकिक और पवित्र संस्कार जाग उठे, घरके प्रति उनके मनमें वैराग्यका भाव उदय हो गया, उन्होंने गाँवके बाहर एकान्त स्थानमें रहना निश्चय किया। सूर घरसे निकल पड़े, गाँवसे थोड़ी दूरपर एक रमणीय सरोवरके किनारे पीपलवृक्षके तले उन्होंने अपना निवास स्थिर किया। वे लोगोंको शकुन बताते थे और विचित्रता तो यह थी कि उनकी बतायी बातें सही उतरती थीं।

* इन्हें कोई 'ब्रह्मभट्ट' बतलाते हैं, कोई 'सारस्वत'। इस सम्बन्धमें हमारा कोई आग्रह नहीं है। जनताके मनमें आदर तो श्रीसूरदासजीकी परम श्रेष्ठ भक्तिका है।

एक दिन एक जमींदारकी गाय खो गयी। सूरने उसका ठीक-ठीक पता बता दिया। जमींदार उनके चमत्कारसे बहुत प्रभावित हुआ, उसने उनके लिये एक झोपड़ी बनवा दी। सूरका यश दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा। सुदूर गाँवोंसे लोग उनके पास शकुन पूछनेके लिये अधिकाधिक संख्यामें आने लगे। उनकी मान-प्रतिष्ठा और वैभवमें नित्यप्रति वृद्धि होने लगी। सूरदासकी अवस्था इस समय अठारह सालकी थी। उन्होंने विचार किया कि जिस माया-मोहसे उपराम होनेके लिये मैंने घर छोड़ा, वह तो पीछा ही करता आ रहा है। भगवान्‌के भजनमें विघ्न होते देखकर सूरने उस स्थानको छोड़ दिया। उनको अपना यश तो बढ़ाना नहीं था, वे तो भगवान्‌के भजन और ध्यानमें रस लेते थे। वे मथुरा आये, उनका मन वहाँ नहीं लगा। उन्होंने गऊघाटपर रहनेका विचार किया। गऊघाट जानेके कुछ दिन पूर्व वे रेणुकाक्षेत्रमें भी रहे, रेणुका (रुनकता)-में उन्हें सन्तों और महात्माओंका सत्संग मिला; पर उस पवित्र स्थानमें उन्हें एकान्तका अभाव बहुत खटकता था। रुनकतासे तीन मील दूर पश्चिमकी ओर यमुनातटपर गऊघाटमें आकर वे काव्य और संगीतशास्त्रका अभ्यास करने लगे। सूरदासकी एक महात्माके रूपमें ख्याति चारों ओर फैलने लगी।

पुष्टिसम्प्रदायके आदि आचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपने निवास-स्थान अड़ैलसे व्रजयात्राके लिये संवत् १५६० वि०में निकल पड़े। उनकी गम्भीर विद्वत्ता, शास्त्रज्ञान और दिग्विजयकी कहानी उत्तर भारतके धार्मिक पुरुषोंके कानोंमें पड़ चुकी थी। महाप्रभुने विश्रामके लिये गऊघाटपर ही अस्थायी निवास घोषित किया। सूरदासने वल्लभाचार्यके दर्शनकी उत्कट इच्छा प्रकट की, आचार्य भी उनसे मिलना चाहते थे। पूर्वजन्मके शुद्ध तथा परम पवित्र संस्कारोंसे अनुप्राणित होकर सूरने आचार्यके दर्शनके लिये पैर आगे बढ़ा दिये, वे चल पड़े। उन्होंने दूरसे ही चरण-वन्दना की, हृदय चरण-धूलि-स्पर्शके लिये आकुल हो उठा। आचार्यने उन्हें आदरपूर्वक अपने पास बैठा लिया, उनके पवित्र संस्पर्शसे सूरके अंग-अंग भगवद्भक्तिकी रसामृतलहरीमें निमग्न हो गये। सूरने विनयके पद सुनाये, भक्तने भगवान्‌के सामने अपने-आपको पतितोंका नायक घोषितकर उनकी कृपा प्राप्त करना चाहा था—यही उस पदका अभिप्राय था। आचार्यने कहा, 'तुम सूर होकर इस तरह क्यों घिघियाते हो? भगवान्‌का यश सुनाओ, उनकी लीलाका वर्णन करो।' सूर आचार्यचरणके इस आदेशसे बहुत प्रोत्साहित हुए। उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा कि 'मैं भगवान्‌की लीलाका रहस्य नहीं जानता।' आचार्यने श्रीमद्भागवतकी स्वरचित सुबोधिनी टीका सुनायी, उन्हें भगवान्‌की लीलाका रस मिला, वे लीला-सम्बन्धी पद गाने लगे। आचार्यने उन्हें दीक्षा दी। वे तीन दिनोंतक गऊघाटपर रहकर गोकुल चले आये, सूरदास उनके साथ थे। गोकुलमें सूरदास नवनीतप्रियका नित्य दर्शन करके लीलाके सरस पद रचकर उन्हें सुनाने लगे। आचार्य वल्लभके भागवत-पारायणके अनुरूप ही सूरदास लीलाविषयक पद गाते थे। आचार्यके साथ सूरदासजी गोकुलसे गोवर्धन चले आये, उन्होंने श्रीनाथजीका पूजन किया और सदाके लिये उन्हींकी चरण-शरणमें जीवन बितानेका शुभ संकल्प कर लिया। श्रीनाथजीके प्रति उनकी अपूर्व भक्ति थी, आचार्यकी कृपासे वे प्रधान कीर्तनकार नियुक्त हुए।

गोवर्धन आनेपर सूरने अपना स्थायी निवास चन्द्रसरोवरके सन्निकट परासोलीमें स्थिर किया। वे वहाँसे प्रतिदिन श्रीनाथजीके मन्दिर जाते थे और नये-नये पद रचकर उन्हें बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे समर्पित करते थे। धीरे-धीरे व्रजके अन्य सिद्ध महात्मा और पुष्टिमार्गके भक्त कवि नन्ददास, कुम्भनदास, गोविन्ददास आदिसे उनका सम्पर्क बढ़ने लगा। भगवद्भक्तिकी कल्पलताकी शीतल छायामें बैठकर उन्होंने सूरसागर-जैसे विशाल ग्रन्थकी रचना कर डाली। आचार्य वल्लभके लीलाप्रवेशके बाद गोसाईं विट्ठलने अष्टछापकी स्थापना की। जिसमें वे प्रमुख कवि घोषित हुए। कभी-कभी परासोलीसे वे नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गोकुल भी जाया करते थे।

एक बार संगीत-सम्राट् तानसेन अकबरके सामने सूरदासका एक अत्यन्त सरस और भक्तिपूर्ण पद गा

रहे थे। बादशाह पदकी सरसतापर मुग्ध हो गये। उन्होंने सूरदाससे स्वयं मिलनेकी इच्छा प्रकट की। उस समय आवश्यक राजकार्यसे मथुरा भी जाना था। वे तानसेनके साथ सूरदाससे संवत् १६२३ वि० में मिले। उनकी सहृदयता और अनुनय-विनयसे प्रसन्न होकर सूरदासने पद गाया, जिसका अभिप्राय यह था कि 'हे मन! तुम माधवसे प्रीति करो।' अकबरने परीक्षा ली, उन्होंने अपना यश गानेको कहा। सूर तो राधा-चरण-चारण-चक्रवर्ती श्रीकृष्णके गायक थे, वे गाने लगे—

नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर। नंदनंदन अछत कैसें आनिए उर और॥

अकबर उनकी निःस्पृहतापर मौन हो गये। भक्त सूरके मनमें सिवा श्रीकृष्णके दूसरा रह ही किस तरह पाता। उनका जीवन तो रासेश्वर, लीलाधाम श्रीनिकुंजनायकके प्रेममार्गपर नीलाम हो चुका था।

सूरदास एक बार नवनीतप्रियके मन्दिर गोकुल गये, वे उनके श्रृंगारका ज्यों-का-त्यों वर्णन कर दिया करते थे। गोसाईं विट्ठलनाथके पुत्र गिरधरजीने गोकुलनाथके कहनेसे उस दिन सूरदासकी परीक्षा ली। उन्होंने भगवान्‌का अद्भुत श्रृंगार किया, वस्त्रके स्थानपर मोतियोंकी मालाएँ पहनायीं। सूरने श्रृंगारका अपने दिव्य चक्षुसे देखकर वर्णन किया। वे गाने लगे—

देखे री हरि नंगम नंगा।
जलसुत भूषन अंग बिराजत, बसन हीन छबि उठत तरंगा॥
अंग अंग प्रति अमित माधुरी, निरखि लजित रति कोटि अनंगा।
किलकत दधिसुत मुख ले मन भरि, सूर हँसत ब्रज जुवतिन संगा॥

भक्तकी परीक्षा पूरी हो गयी, भगवान्‌ने अन्धे महाकविकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखी, वे भक्तके हृदय-कमलपर नाचने लगे, महागायककी संगीत-माधुरीसे रासरसोन्मत्त नन्दनन्दन प्रमत्त हो उठे, कितना मधुर वर्णन था उनके स्वरूपका!

सूरदासजी त्यागी, विरक्त और प्रेमी भक्त थे। श्रीवल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंके पूर्ण ज्ञाता थे। उनकी मानसिक भगवत्सेवा सिद्ध थी। वे महाभागवत थे। उन्होंने अपने उपास्य श्रीराधारानी और श्रीकृष्णके यश-वर्णनको ही श्रेय-मार्ग समझा। गोपी-प्रेमकी ध्वजा हिन्दी काव्य-साहित्यमें फहरानेमें वे अग्रगण्य स्वीकार किये जाते हैं।

उन्होंने पचासी सालकी अवस्थामें गोलोक प्राप्त किया। एक दिन अन्तिम समय निकट जानकर सूरदास श्रीनाथजीकी केवल मंगला-आरतीमें गये। वे नित्य श्रीनाथजीकी प्रत्येक झाँकीमें जाते थे। गोसाईं विट्ठलनाथ श्रृंगार-झाँकीमें उन्हें अनुपस्थित देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने श्यामसुन्दरकी ओर देखा, प्रभुने अपने परम भक्तका पद नहीं सुना था, सूरदासजी उन्हें नित्य पद सुनाया करते थे। कुम्भनदास, गोविन्ददास आदि चिन्तित हो उठे। गोसाईंजीने करुण स्वरसे कहा—'आज पुष्टिमार्गका जहाज जानेवाला है। जिसको जो कुछ लेना हो, वह ले ले।' उन्होंने भक्तमण्डलीको परासोली भेज दिया और राजभोग समर्पितकर वे कुम्भनदास, गोविन्ददास और चतुर्भुजदास आदिके साथ स्वयं गये। इधर सूरकी दशा विचित्र थी, परासोली आकर उन्होंने श्रीनाथजीकी ध्वजाको नमस्कार किया। उसीकी ओर मुख करके चबूतरेपर लेटकर सोचने लगे कि यह काया पूर्णरूपसे हरिकी सेवामें नहीं प्रयुक्त हो सकी। वे अपने दैन्य और विवशताका स्मरण करने लगे। समस्त लौकिक चिन्ताओंसे मन हटाकर उन्होंने श्रीनाथजी और गोसाईंजीका ध्यान किया। गोसाईंजी आ पहुँचे, आते ही उन्होंने सूरदासका कर अपने हाथमें ले लिया। महाकविने उनकी चरण-वन्दना की। सूरने कहा कि 'मैं तो आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था।' वे पद गाने लगे—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥

चलि चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

अन्त समयमें उनका ध्यान युगलस्वरूप श्रीराधामनमोहनमें लगा हुआ था। श्रीविट्ठलनाथके यह पूछनेपर कि 'चित्तवृत्ति कहाँ है?' उन्होंने कहा कि 'मैं राधारानीकी वन्दना करता हूँ, जिनसे नन्दनन्दन प्रेम करते हैं।'

चतुर्भुजदासने कहा कि 'आपने असंख्य पदोंकी रचना की, पर श्रीमहाप्रभुका यश आपने नहीं वर्णन किया?' सूरकी गुरु-निष्ठा बोल उठी कि 'मैं तो उन्हें साक्षात् भगवान्‌का रूप समझता हूँ, गुरु और भगवान्‌में तनिक भी अन्तर नहीं है। मैंने तो आदिसे अन्ततक उन्हींका यश गाया है।' उनकी रसनाने गुरु-स्तवन किया।

भरोसो दृढ़ इन चरननि केरो।
श्रीबल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माझ अँधेरो॥
साधन नाहिं और या कलि में जासों होय निबेरो।
'सूर' कहा कहै द्विबिधि आँधरो बिना मोल को चेरो॥

चतुर्भुजदासकी विशेष प्रार्थनापर उन्होंने उपस्थित भगवदीयोंको पुष्टिमार्गके मुख्य सिद्धान्त संक्षेपमें सुनाये! उन्होंने कहा कि 'गोपीजनोंके भावसे भावित भगवान्‌के भजनसे पुष्टिमार्गके रसका अनुभव होता है। इस मार्गमें केवल प्रेमकी ही मर्यादा है।' सूरदासने श्रीराधाकृष्णकी रसमयी छविका ध्यान किया और वे सदाके लिये ध्यानस्थ हो गये।

श्रीपरमानन्ददासजी

पौगँड बाल कैसोर गोपलीला सब गाई।
अचरज कहा यह बात हुतौ पहिलौ जु सखाई॥
नैननि नीर प्रबाह रहत रोमांच रैन दिन।
गदगद गिरा उदार स्याम सोभा भीज्यो तन॥
सारंग छाप ताकी भई श्रवन सुनत आबेस देत।
ब्रजबधू रीति कलिजुग बिषे परमानँद भयो प्रेम केत॥ ७४॥

द्वापरयुगकी श्रीकृष्णानुरागिणी व्रजगोपियोंकी तरह इस कलियुगमें भी श्रीपरमानन्ददासजी प्रेमकी ध्वजा हुए। इन्होंने श्रीकृष्णकी पौगण्डावस्था, बाल्यावस्था एवं कैशोरावस्था आदिकी समस्त लीलाओंका पदोंमें गान किया। इस बातका आश्चर्य ही क्या है? ये पहले (द्वापरयुग)-के श्रीकृष्णके तोक (सखा) ही तो हैं। इनके नेत्रोंसे रात-दिन प्रेमाश्रुओंका प्रवाह चलता रहता था और इनके शरीरमें सदा रोमांच बना रहता था। इनकी उदार वाणी सदैव प्रेमके कारण गद्‌गद बनी रहती थी, ये बड़े उदार थे तथा इनका भाव-तन उदार श्रीश्यामसुन्दरकी शोभासे सराबोर रहता था। सारंग रागमें विशेष पद रचना करनेके कारण इनकी 'सारंग' छाप पड़ गयी थी। इनके द्वारा रचे हुए पदोंको कानोंसे सुनते ही प्रेमावेश आ जाता है॥ ७४॥

श्रीपरमानन्ददासजीका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीपरमानन्ददासजी भगवान्‌की लीलाके मर्मज्ञ, अनुभवी कवि और कीर्तनकार थे। वे अष्टछापके प्रमुख कवियोंमेंसे एक थे। उन्होंने आजीवन भगवान्‌की लीला गायी। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीकी उनपर बड़ी कृपा रहती थी। वे उनका बड़ा सम्मान करते थे। उनका पद-संग्रह 'परमानन्दसागर' के नामसे विख्यात है, उनकी रचनाएँ अत्यन्त सरस और भावपूर्ण हैं। लीलागायक कवियोंमें उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

परमानन्ददासजीका जन्म सं० १५५० वि० में मार्गशीर्ष शुक्ल ७ को हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण

थे, कन्नौजके रहनेवाले थे। जिस दिन वे पैदा हुए, उसी दिन एक धनी व्यक्तिने उनके पिताको बहुत-सा धन दिया। दानके फलस्वरूप घरमें परमानन्द छा गया, पिताने बालकका नाम परमानन्द रखा। उनकी बाल्यावस्था सुखपूर्वक व्यतीत हुई, बचपनसे ही उनके स्वभावमें त्याग और उदारताका बाहुल्य था। उनके पिता साधारण श्रेणीके व्यक्ति थे, दान आदिसे ही जीविका चलाते थे। एक समय कन्नौजमें अकाल पड़ा। हाकिमने दण्डरूपमें उनके पिताका सारा धन छीन लिया। वे कंगाल हो गये। परमानन्द पूर्णरूपसे युवा हो चुके थे। अभीतक उनका विवाह नहीं हुआ था। पिताको सदा उनके विवाहकी चिन्ता बनी रहती थी और परमानन्द उनसे कहा करते थे कि 'आप मेरे विवाहकी चिन्ता न करें, मुझे विवाह ही नहीं करना है। जो कुछ आय हो, उससे परिवारवालोंका पालन करें, साधु-सेवा और अतिथि-सत्कार करें।' पर पिताको तो द्रव्योपार्जनकी धुन सवार थी, वे घरसे निकल पड़े। देश-विदेशमें घूमने लगे। इधर परमानन्द भगवान्‌के गुण-कीर्तन, लीला-गान और साधु-समागममें अपने दिन बिताने लगे। वे युवावस्थामें ही अच्छे कवि और कीर्तनकारके रूपमें प्रसिद्ध हो गये। लोग उन्हें परमानन्द स्वामी कहने लगे। छब्बीस सालकी अवस्थातक वे कन्नौजमें रहे, उसके बाद वे प्रयाग चले आये। स्वामी परमानन्दकी कुटीमें अनेकानेक साधु-सन्त सत्संगके लिये आने लगे। उनकी विरक्ति बढ़ती गयी और काव्य तथा संगीतमें वे पूर्णरूपसे निपुण हो गये।

स्वामी परमानन्द एकादशीकी रात्रिको जागरण करते थे, भगवान्‌की लीलाओंका कीर्तन करते थे। प्रयागमें भगवती कालिन्दीके दूसरे तटपर दिग्विजयी महाप्रभु वल्लभाचार्यका अड़ैलमें निवास-स्थान था। महाप्रभुका जलघरिया कपूर परमानन्द स्वामीके जागरण-उत्सवमें सम्मिलित हुआ करता था। एक दिन एकादशीकी रातको स्वामी परमानन्द कीर्तन कर रहे थे। कपूर चल पड़ा; यमुनामें नाव नहीं थी, वह तैरकर इस पार आ गया। परमानन्द स्वामीने देखा कि उसकी गोदमें एक श्यामवर्णका शिशु बैठा है; उसके सिरपर मयूरपिच्छका मुकुट है, नयन कमलके समान प्रफुल्लित हैं, अधरोंपर अमृतकी ज्योत्स्ना लहरा रही है, गलेमें वनमाला है, पीताम्बरमें उसका शरीर अत्यन्त मनमोहक-सा लग रहा है। परमानन्दके दिव्य संस्कार जाग उठे; उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि भक्तकी माधुर्यमयी गोदमें भगवान् श्यामसुन्दर ही उनका कीर्तन सुन रहे हैं। उत्सव समाप्त हो गया। स्वप्नमें उन्हें श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनकी प्रेरणा मिली। वे दूसरे दिन उनसे मिलनेके लिये चल पड़े। मिलनेपर आचार्यप्रवरने उनसे भगवान्‌का यश वर्णन करनेको कहा। परमानन्दजीने विरहका पद गाया—

जिय की साध जु जियहिं रही री।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाए बिलपत कुंज अहीरी॥
इक दिन सो जु सखी यहि मारग बेचन जात दही री।
प्रीति के लिएँ दान मिस मोहन मेरी बाँह गही री॥
बिनु देखैं छिनु जात कलप सम बिरहा अनल दही री।
परमानँद स्वामी बिनु दरसन नैनन नदी बही री॥

उन्होंने आचार्यको बाललीलाके अनेक पद सुनाये। आचार्यने उन्हें ब्रह्म-सम्बन्ध दिया। परमानन्द स्वामीसे दास बन गये।

सं० १५८२ वि०में वे महाप्रभुजीके साथ व्रज गये। उन्होंने इस यात्रामें आचार्यको अपने पूर्व निवासस्थान कन्नौजमें ठहराया था। आचार्य उनके मुखसे ***'हरि तेरी लीला की सुधि आवै।'*** पद सुनकर तीन दिनोंतक मूर्च्छित रहे।

वे आचार्यप्रवरके साथ सर्वप्रथम गोकुल आये। कुछ दिन रहकर वे उन्हींके साथ वहाँसे गोवर्धन चले आये। वे सदाके लिये गोवर्धनमें ही रह गये। सुरभी-कुण्डपर श्यामतमाल वृक्षके नीचे उन्होंने अपना स्थायी

निवास स्थिर किया। वे नित्य श्रीनाथजीका दर्शन करने जाते थे। कभी-कभी नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गोकुल भी जाया करते थे।

सं० १६०२ वि० में गोसाईं विट्ठलनाथजीने उनको 'अष्टछाप'में सम्मिलित कर लिया। वे उच्चकोटिके कवि और भक्त थे। भगवान्‌के लीला-गानमें उन्हें बड़ा रस मिलता था। एक बार विट्ठलनाथजीके साथ जन्माष्टमीको वे गोकुल आये। नवनीतप्रियके सामने उन्होंने पद-गान किया; वे पद गाते-गाते सुध-बुध भूल गये। ताल-स्वरका उन्हें कुछ भी पता नहीं रहा। उसी अवस्थामें वे गोवर्धन लाये गये। मूर्च्छा समाप्त होनेपर अपनी कुटीमें आये, उन्होंने बोलना छोड़ दिया। गोसाईंजीने उनके शरीरपर हाथ फेरा। परमानन्ददासने नयनोंमें प्रेमाश्रु भरकर कहा कि 'प्रेमपात्र तो केवल नन्द-नन्दन हैं। भक्त तो सुख और दुःख दोनोंमें उन्हींकी कृपाके सहारे जीते रहते हैं।'

सं० १६४१ वि० में भाद्रपद कृष्ण नवमीको उन्होंने गोलोक प्राप्त किया। वे उस समय सुरभी-कुण्डपर ही थे। मध्याह्नका समय था। गोसाईं विट्ठलनाथ उनके अन्तसमयमें उपस्थित थे। परमानन्दका मन युगलस्वरूपकी माधुरीमें संलग्न था। उन्होंने गोसाईंजीके सामने निवेदन किया—

राधे बैठी तिलक सँवारति।
मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नंद सुवनको रूप बिचारति॥
दर्पन हाथ सिंगार बनावति, बासर जुग सम टारति।
अंतर प्रीति स्यामसुंदर सों हरि सँग केलि सँभारति॥
बासर गत रजनी ब्रज आवत मिलत गोबर्धन प्यारी।
'परमानँद' स्वामी के संग मुदित भई ब्रजनारी॥

इस प्रकार श्रीराधाकृष्णकी रूप-सुधाका चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी गोलोक-यात्रा सम्पन्न की।

श्रीकेशवभट्टजी

कस्मीरी की छाप पाप तापनि जग मंडन।
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आन धर्म बिटप बिहंडन॥
मथुरा मध्य मलेछ बाद करि बरबट जीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भयभीते॥
बिदित बात संसार सब संत साखि नाहिन दुरी।
केसौभट नर मुकुट मनि जिन की प्रभुता बिस्तरी॥ ७५॥

श्रीकेशवभट्टजी मनुष्योंमें मुकुटमणि हुए, जिनकी महामहिमा सारे संसारमें फैल गयी। आपके नामके साथ 'काश्मीरी' यह विशेषण अतिप्रसिद्ध हो गया था। आप पापों एवं पापरूप लोगोंको ताप देनेवाले तथा जगत्‌के आभूषणस्वरूप थे। आप परम सुदृढ़ श्रीहरिभक्तिरूपी कुठारसे पाखण्डधर्मरूपी वृक्षोंका समूलोच्छेद करनेवाले हुए। आपने मथुरापुरीमें यवनोंके बढ़ते हुए आतंकको देखकर उनसे वाद-विवादकर उन परम उद्दण्ड यवनोंको बलपूर्वक हराया। अनेकों अजेय काजी आपकी सिद्धिका चमत्कार देखकर एकदम भयभीत हो गये। आपका उपर्युक्त सुयश सारे संसारमें प्रसिद्ध है, सब सन्त इसके साक्षी हैं॥ ७५॥

श्रीकेशवभट्टजीके विषयमें संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

आपका जन्म काश्मीरी ब्राह्मणकुलमें बारहवीं शताब्दीके लगभग हुआ माना जाता है। कुछ इतिहास-वेत्ताओंका कथन है कि काशीमें श्रीरामानन्दजी और नदियामें श्रीचैतन्यदेवजीसे आपका सत्संग हुआ था।

व्याख्या करि दई नई औगुन सुगुन मई आए निजधाम भोर मिले समुझाइयै।
सरस्वती ध्यान कियौ आई तत्काल बाल बाल पै हरायो सब जग जितवाइयै॥ ३३५॥
बोली सरस्वती मेरे ईस भगवान वे तौ मान मेरौ कितौ सन्मुख बतराइयै।
भयौ दरसन तुम्हैं मन परसत होत सुनि सुख सोत बानी आए प्रभु पाइयै॥
बिनै बहु करी करी कृपा आप बोले अजू भक्तिफल लीजै काहू भूलि न हराइयै।
हिये धरि लई भीर भार छोड़ि दई पुनि नई यह भई सुनि दुष्ट मरवाइयै॥ ३३६॥

आपके समयमें दिल्लीका बादशाह अलाउद्दीन खिलजी था, उसके उग्र स्वभावसे हिन्दू प्रजा ऊब उठी थी। उसने घोषणा की कि सारे हिन्दू-मन्दिर तोड़ दिये जायँ। उस समय मथुराके सूबेदारके आदेशानुसार एक फ़कीरने लाल दरवाजेपर एक यन्त्र टाँगा, जिसके प्रभावसे जो भी हिन्दू उस दरवाजेसे निकलता, वह मुसलमान बन जाता और दूसरे लोग जबरन उसे अपने धर्ममें शामिल कर लेते। इस महान् विपत्तिसे बचनेके लिये सभी व्रजवासी श्रीभट्टजीके पास पहुँचे। श्रीआचार्यदेव स्वयं शिष्यसमूहको साथ ले उस स्थानपर गये और यन्त्रको तोड़कर धर्मकी रक्षा की।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आपु काश्मीर सुनी बसत विश्रान्त तीर तुरक समूह द्वार जन्त्र इक धारियै।
सहज सुभाय कोऊ निकसत आय ताको पकरत जाय ताके सुन्नत निहारियै॥
संग लै हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा अरे वही ठौर बोले नीच पट टारियै।
क्रोध भरि झारे आय सूबा पै पुकारे वे तौ देखि सबै हारे मारे जल बोरि डारियै॥ ३३७॥

श्रीश्रीभट्टजी

मधुर भाव संमिलित ललित लीला सुबलित छबि।
निरखत हरषत हृदै-प्रेम बरषत सुकलित कबि॥
भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित॥
आनंद कंद श्रीनंदसुत श्रीबृषभानुसुता भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन॥ ७६॥

महा अजय संसाररिपुको जीतनेमें महावीर श्रीभट्टजीने अपार उज्ज्वल शृंगाररस पारावार प्रकट किया। आप अपनी सरस रचनाओंके द्वारा रसकी वर्षा करके रसिक महानुभावोंके मनको आनन्द प्रदान करनेके लिये मानो मेघके समान (विश्व-व्योममें) प्रकट हुए। आपके पदोंमें माधुर्यभावमयी तथा भक्तोंको सुख देनेवाली ललित लीलाओंसे सुष्ठु प्रकारेण संयुक्त श्रीप्रिया-प्रियतमकी मनोहारिणी छविका साक्षात् दर्शन होता है, जिसे देखते ही रसिकजनोंका हृदय हर्षित हो उठता है तथा हृदयमें प्रेमकी वर्षा-सी होने लगती है। आप ऐसे जगद्विदित कवि हुए। जीवोंको संसार-बन्धनसे मुक्त करनेके लिये अथवा संसार-सागरसे पार करनेके लिये आप अत्यन्त उदारतापूर्वक सबको अविचल अनपायिनी भक्ति प्रदान करते थे। आपका सुयशरूपी चन्द्रमा अपने अभ्युदयसे आज भी जीवोंके हृदयमें स्थित अज्ञानरूपी अन्धकार, विपरीत ज्ञान एवं अनादिकालसे भवाटवीमें भटकनेसे संजात श्रमको दूर कर रहा है। आप सदा-सर्वदा आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीके भजनमें निमग्न रहा करते थे॥ ७६॥

श्रीश्रीभट्टजीके विषयमें कुछ विवरण इस प्रकार है—

विक्रमीय संवत्‌की सोलहवीं सदीके पूर्व वृन्दावनकी पवित्र भूमि मधुर भक्तिसे पूर्ण आप्लावित थी। इसी समय व्रजभाषाके महान् रसिक कवि श्रीभट्टने श्रीराधा-कृष्णकी उपासनाद्वारा समाजको सरस और नवीन भक्ति-चेतनासे समलंकृतकर सगुण लीलाका प्रचार किया। श्रीभट्ट व्रज और मथुराकी ही सीमामें रहनेको परम सुख और आनन्दका साधन मानते थे। व्रजकी लताएँ, कुंज, सरिता, हरीतिमा और मोहिनी छविको वे प्राणोंसे भी प्रिय मानते थे। वे केशव काश्मीरीके अन्तरंग शिष्य थे। कहते हैं कि यवनोंके आतंकके कारण सनातन धर्ममें शिथिलता आ जानेसे देशकी तत्कालीन दुरवस्था देखकर श्रीकेशव कश्मीरीजी आजीवन भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरुके ऐश्वर्य-प्रकाश एवं सिद्धान्त-सम्पादनमें ही लगे रहे। इसके लिये आपने अनेक ग्रन्थोंकी रचना एवं कई बार सम्पूर्ण भारतका भ्रमण किया। फलस्वरूप वैष्णवताका तो खूब प्रचार-प्रसार हुआ, परंतु व्रजरसके यथेष्ट वर्णनकी आपकी लालसा शेष ही रह गयी। यद्यपि आपने अपने ग्रन्थोंमें प्रसंग आनेपर यत्र-तत्र-सर्वत्र इस रसकी बड़ी मधुर विवेचना की है, परंतु स्वतन्त्रतया इस विषयपर कोई प्रतिपादक ग्रन्थ न लिख सके। इसका एक कारण यह भी था कि आपको यह अन्देशा था कि यदि व्रज-प्रेमका वर्णन करनेमें मैं आत्मविभोर हो गया तो फिर उस प्रेम-प्रवाहसे बाहर निकलना मुश्किल हो जायगा। ऐसेमें सनातन धर्मके प्रचारका कार्य रुक जायेगा, अतः आपने स्वयं इस सम्बन्धमें कुछ न लिखकर अपने अन्तरंग शिष्य श्रीभट्टजीको प्रेरणाकर इस रसका प्रकाश कराया। वर्णन आया है कि श्रीश्रीभट्टजी जब अत्यन्त तन्मय होकर व्रजलीलाका वर्णन करने लगे तो उस प्रवाहमें आपने श्रीयुगलकिशोरकी कुंजक्रीड़ाके सौ शतक रच डाले और सबको ले जाकर श्रीगुरुदेवजीके करकमलोंमें अर्पित कर दिया। श्रीकेशव कश्मीरीजीने जब उन पदोंको देखा तो विचार किया कि इन्होंने तो प्रेमावेशमें शृंगाररसकी परम गोपनीयसे भी गोपनीय लीलाओंको एकदम प्रकट कर दिया है। भला, इस कराल कलिकालमें इस रसके ऐसे अधिकारी कहाँ हैं, जो यथावत् इसको समझ सकें। अतः आपने सबका सब श्रीयमुनाजीको भेंट कर दिया और कहा कि श्रीयमुनाजी जो कृपा करके प्रसादरूपमें दें, वही प्रकाशित किया जाय। श्रीयमुनाजीने सौ पदोंको छोड़कर शेष सबको स्वयंमें आत्मसात् कर लिया। वे ही सौ पद 'श्रीयुगलशतक' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

एक बार वे भगवती कलिन्दनन्दिनीके परम पवित्र तटपर विचरण कर रहे थे, उन्होंने नीरव और नितान्त शान्त निकुंजोंकी ओर दृष्टि डाली, भगवान्‌की लीला-माधुरीका रस नयनोंमें उमड़ आया। आकाशमें काली घटाएँ छा गयीं, यमुनाकी लहरोंका यौवन चंचल हो उठा, वंशीवटपर नित्य रास करनेवाले राधारमणकी वंशीस्वर-लहरीने उनकी चित्तवृत्तिपर पूरा-पूरा अधिकार कर लिया। वे नन्दनन्दन और श्रीराधारानीकी रसमयी छविपर सर्वस्व समर्पण करनेके लिये विकल हो उठे। सरस्वतीने उनके कण्ठदेशमें करवट ली। ***'सरस समीरकी मन्द-मन्द गति'*** उनकी दिव्य संगीत-सुधासे आलोडित हो उठी।

भगवान्‌से विरह-दुःख अब और न सहा गया, उनकी इच्छापूर्तिके लिये वे श्रीरासेश्वरीजीके सहित प्रकट हो गये। श्रीभट्टने देखा कि कुंजमें कदम्बके नीचे कोटि-कन्दर्प-लावण्य-युक्त रास-विहारी अपनी प्रियतमा राधारानीके स्कन्धदेशपर कोमल कर-स्पर्शका सौन्दर्य बिखेर रहे हैं; यमुनाकी स्वच्छ धाराएँ उनके चरण चूमनेके लिये कूलकी मर्यादा तोड़ देना चाहती हैं, पर बालुकाकी सेनाएँ उन्हें विवश कर देती हैं कि वे आगे न बढ़ें। श्रीभट्टने अपना जीवन सफल माना, उन्होंने भगवान्‌की दिव्य और कृपामयी झाँकीको काव्यरूप देकर अपने सौभाग्यकी सराहना की। रोम-रोम पुलकित हो उठा, मल्हाररागका भाग्य जाग उठा—

स्यामा स्याम कुंज तर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें घिरि आई जल सेना॥

'बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद' की कान्तिमयी इच्छा-पूर्ति ही उनकी अतुल सम्पत्ति थी। भगवान्‌का

रस-रूप ही भवबन्धनसे निवृत्त होनेका कल्याणमय विधान था। श्रीभट्टके पदोंमें भगवान्‌के रसरूपका चिन्तन अधिकतासे हो सका है। उनकी रसोपासना और भक्ति-पद्धतिसे प्रभावित होकर अन्य रसोपासकों और कवियोंने श्रीराधाकृष्णकी निकुंज-लीला-माधुरीके स्तवन और गानसे भक्तिसाहित्यकी श्रीवृद्धिमें जो योग दिया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। श्रीभट्ट रस-साहित्यके मर्मज्ञ और भक्त कवि थे।

श्रीहरिव्यासदेवजी

खेचरि नर की सिष्य निपट अचरज यह आवै।
बिदित बात संसार संत मुख कीरति गावै॥
बैरागिन के बृंद रहत सँग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनो सोभित बैदेही॥
श्रीभट्ट चरन रज परस तें सकल सृष्टि जाकों नई।
हरि ब्यास तेज हरि भजन बल देबी कों दीच्छा दई॥ ७७॥

श्रीहरिव्यासजीने भगवद्भजनके तेज और बलसे देवीको भी मन्त्रोपदेश दिया था। अपनी दिव्यगतिसे आकाशमें विचरण करनेवाली देवी मनुष्यकी शिष्या बनीं, यह सुनकर नितान्त ही आश्चर्य होता है, किंतु यह सत्य है, सारे संसारमें यह बात प्रसिद्ध है एवं सन्तजन श्रीमुखसे श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीकी इस कीर्तिका गान करते हैं। परम स्नेही श्रीसर्वेश्वरभगवान्‌का डोला एवं संसारसे वैराग्यपूर्वक भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरण-कमलोंमें अनुराग करनेवाले विरक्त महात्माओंका समूह सदा ही आपके साथ बना रहता था। विरक्तोंके बीचमें आपकी ऐसी शोभा होती थी, जैसे नौ योगेश्वरोंके बीच श्रीविदेहराज जनक शोभा पाते थे। अपने सद्‌गुरुदेव श्रीभट्टदेवाचार्यजीके श्रीचरणकमलरजके स्पर्शके प्रतापसे श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीके सम्मुख समस्त सृष्टिके लोग सिर झुकाते थे॥ ७७॥

श्रीहरिव्यासदेवजीके विषयमें विवरण इस प्रकार है—

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें परम वैष्णव आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी बहुत ऊँचे सन्त हो गये हैं। आपका जन्म गौड़ ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपने श्रीभट्टजीसे दीक्षा ली थी। पहली बार जब आप दीक्षाके लिये श्रीगुरुचरणोंमें गये, उस समय श्रीभट्टजी गोवर्धनमें वास कर रहे थे और युगलसरकार श्रीप्रिया-प्रीतमको गोदमें बिठाकर लाड़ लड़ा रहे थे। श्रीभट्टजीने पूछा—'हरिव्यास! हमारे अंगमें कौन विराजते हैं?' हरिव्यासजी बोले, 'महाराज! कोई नहीं।' इसपर श्रीभट्टजीने कहा—'अभी तुम शिष्य होनेयोग्य नहीं हो, अभी बारह वर्षतक श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा करो।' गुरु-आज्ञा प्राप्तकर आपने बारह वर्षतक परिक्रमा की। तत्पश्चात् फिर गुरुसमीप आये। गुरुदेवने फिर वही प्रश्न किया और इसपर उन्होंने वही पुराना उत्तर दिया। पुनः बारह वर्ष श्रीगोवर्धनकी परिक्रमा करनेकी आज्ञा हुई। आज्ञा शिरोधार्यकर श्रीहरिव्यासदेवने पुनः बारह वर्षतक परिक्रमा की। तदुपरान्त गुरु-आश्रममें आये और आचार्यकी गोदमें प्रिया-प्रियतमको देखकर कृतकृत्य हो चरणोंमें लोट गये। अब इन्हें योग्य जान आचार्यने दीक्षा दी।

गुरुदेव श्रीभट्टजीके आज्ञानुसार आपने 'युगलशतक' पर संस्कृतमें भाष्य लिखा। स्वामीजीने संस्कृतमें कई मूलग्रन्थ भी लिखे। इनमें 'प्रसन्नभाष्य' मुख्य है। 'दशश्लोकी' के अन्यान्य भाष्योंसे इसमें विशेषता यह है कि वेदके तत्त्वनिरूपणके अतिरिक्त उपासनापर काफी जोर दिया गया है। व्रजभाषामें 'युगल-शतक' नामक पुस्तकमें आपके सौ दोहे और सौ गेय 'पद' संगृहीत हैं, जो मिठासमें अपना जोड़ नहीं रखते। ऊपर दोहेमें जो बात संक्षेपमें कही है, वही नीचे 'पद' में विस्तारसे कही गयी है। इस सम्प्रदायमें 'युगलशतक' पहली ही हिन्दी-

रचना है, शायद इसीसे इसे आदिवाणी कहते हैं और ये ही सर्वप्रथम उत्तरभारतीय सम्प्रदायाचार्य हैं। इनसे पहलेके सभी आचार्य शायद दाक्षिणात्य थे। स्वामीजी इस सम्प्रदायमें उस शाखाके प्रवर्तक हैं, जिसे 'रसिकसम्प्रदाय' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके शृंगारी रूपकी उपासना ही इनका सर्वस्व है। श्रीहरिव्यासदेवजीका इतना प्रभाव हुआ कि श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायकी इस शाखाके सन्तोंको तबसे लोग 'हरिव्यासी' ही कहने लगे। वैष्णवोंके चारों सम्प्रदायोंमें इस सम्प्रदायके सन्त अब भी 'हरिव्यासी' ही कहलाते हैं।

एक बार श्रीहरिव्यासदेवजी साथमें संतोंकी जमात लिये हुए विचरते-विचरते 'चटथावल' नामक ग्राममें पहुँचे। वहाँ एक बागमें जल-थलका सब सुपास देखकर आप बड़े प्रसन्न हुए और उस बागमें ही उतरकर स्नान, भजन, पूजन आदि नित्यकृत्य करके रसोई करनेका विचार किया। उस बागमें ही एक देवीका मन्दिर था। उसी समय किसीने देवीकी प्रसन्नताके लिये एक बकरेको लाकर देवीके सम्मुख वध किया। यह वीभत्स दृश्य देखकर किसीने जलतक नहीं पिया। सब संत भूखे ही रह गये। दिन बीता, रात्रि आ गयी। उपवासपूर्वक श्रीहरिस्मरणसे भक्तिका तेज तो बढ़ा, पर भागवतापराधके कारण देवी-प्रतिमाका तेज नष्ट हो गया, अतः देवी भक्तके तेजसे एकदम अभिभूत हो गयीं। उन्होंने घबड़ाकर तुरंत नवीन देह धारणकर आकर आपका एवं सब संतोंका दर्शन किया और अत्यन्त नम्रतापूर्वक बोलीं—आपलोग रसोई बनाइये। भूखे क्यों बैठे हैं? आपने उत्तर दिया—अब रसोई कौन करे? पहले करनेका विचार तो था, परंतु यहाँकी स्थिति देखकर मनकी और ही दशा हो गयी। देवीने कहा—जिसके निमित्तसे आपलोगोंको ऐसी खिन्नता प्राप्त हुई, वह देवी मैं ही हूँ। आज मैंने भक्तिका तेज देखा, अतः अब कृपा करके मुझे भी भक्तिका दान दीजिये और अपनी शिष्या बना लीजिये।

देवीकी प्रार्थना सुनकर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीने उन्हें शिष्या बनाया। मन्त्रोपदेश श्रवण करनेके उपरान्त देवीजी अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक नगरको दौड़ी गयीं और वहाँ जाकर जो उस नगरका प्रमुख था, उसको खाटसमेत भूमिपर पटक दिया। तत्पश्चात् उसकी छातीपर चढ़कर सूक्ष्मरूपसे उसकी जिह्वापर बैठकर उसके ही मुखसे कहने लगीं कि मैं तो श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीकी शिष्या हो गयी हूँ। तुमलोग भी शीघ्र उनका शिष्यत्व ग्रहण करो। यदि तुमलोग उनका शिष्यत्व नहीं स्वीकार करोगे तो मैं अभी-अभी सबको मार डालूँगी। देवीका उग्र आदेश सुनकर वे परम हिंसक भी डरकर सब-के-सब आकर आपके शिष्य हो गये। एक दिन एक चाण्डाल आपकी शरणमें आया और सद्गतिके लिये प्रार्थना की। आपने उसे भी भक्तिरसका अधिकारी बनाया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

चटथावल गाँव बाग देखि अनुराग भयौ लयौ नित्त नेम करि चाहैं पाक कीजियै।
देवीको स्थान काहू बकरा लै मार्यौ आनि देखत गलानि इहाँ पानी नहिं पीजियै॥
भूख निसि भई भक्ति तेज मिड़ गई नई देह धरि लई आय लखि मति भीजियै।
'करौ जू रसोई' 'कौन करै कछु और भई' 'सोई मोकों दीजै दान शिष्य करि लीजियै'॥ ३३८॥
करी देवी शिष्य सुनि नगरको सटकी यों पटकी लै खाट जाकी बड़ौ सरदार है।
चढ़ी मुख बोलै हौं तो भई हरिव्यासदासी जौ न दास होहु तौ पै अभी डारौं मार है॥
आये सब भृत्य भए मानौ नए तन लए गए दुःख पाप ताप किए भव पार है।
कोऊ दिन रहे नाना भोग सुख लहे एक श्रद्धाकै स्वपच आयो पायौ भक्तिसार है॥ ३३९॥

श्रीदिवाकरजी

उपदेसे नृपसिंह रहत नित आग्याकारी।
पक्व बृच्छ ज्यों नाय संत पोषक उपकारी॥

बानी भोलाराम सुहृद सबहिन पर छाया।
भक्त चरन रज जाचि बिसद राघौ गुन गाया॥
करमचंद कस्यप सदन बहुरि आय मनो बपु धस्यो।
अग्यान ध्वांत अंतहि करन द्वितिय दिवाकर अवतस्यो॥ ७८॥

जीवोंके हृदयके अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये श्रीदिवाकर भक्तजी मानो दूसरे सूर्यके समान हुए। आपने बड़े-बड़े रजोगुणी, क्रूर प्रकृतिके राजा-महाराजाओंको उपदेश देकर भक्ति-पथपर आरूढ़ किया। वे सब सदा-सर्वदा आपकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर रहते थे। जिस प्रकार परिपक्व फलोंके भारसे वृक्ष नम्र हो जाते हैं, उसी प्रकार आप अपने सद्‌गुणोंके कारण अत्यन्त विनयशील थे। बड़े ही सद्भावपूर्वक भगवत्प्रसादान्न एवं उपदेशामृतसे सन्तोंका पालन-पोषण करते थे तथा प्राणिमात्रके उपकारमें तत्पर रहते थे। आप बात-बातमें 'भोलाराम' इस प्रकारका उच्चारण करते थे। सबके शुभचिन्तक तथा सबपर कृपा रखते थे। भक्तोंकी चरणरजको ही अपना सर्वस्व समझकर उसीकी कामना-याचना करते थे। आपने आजीवन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके परमोज्ज्वल गुणोंका गान किया। आपके पिता श्रीकर्मचन्दजी मानो साक्षात् प्रजापति श्रीकश्यपजी थे, उनके घर मानो साक्षात् सूर्यभगवान् ही पुनः भक्त श्रीदिवाकरजीके रूपमें प्रकट हुए॥ ७८॥

श्रीदिवाकरजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीदिवाकरजीका जन्म राजस्थानके देवासा ग्राममें हुआ था। उनके पिता श्रीकर्मचन्द वैश्य परम भगवद्भक्त थे। श्रीदिवाकरजीकी पितामही भी बड़ी उदारहृदया और साधु-सेवी थीं। इस प्रकार श्रीदिवाकरजीमें भक्तिके संस्कार उनके रक्तमें ही विद्यमान थे। श्रीसीतारामजी आपके इष्ट और श्रीअग्रदेवाचार्यजी आपके गुरु थे। आपके जन्मके बाद ही आपके पिता श्रीकर्मचन्दजीने गृहस्थाश्रमका परित्यागकर श्रीअनन्तानन्दाचार्यजीसे विरक्त दीक्षा ले ली थी और अपना सारा जीवन भगवत्-भागवत सेवामें ही बिताया। आपके यहाँ सन्तोंका आगमन प्रायः बना ही रहता था। श्रीदिवाकरजीमें श्रीसन्त-सेवाके प्रति बड़ी निष्ठा है। धीरे-धीरे आपके यहाँ सन्त-सेवाका कार्य तो बढ़ता गया, पर वाणिज्य-व्यापारकी तरफ प्रवृत्ति घटती गयी; फलस्वरूप अर्थाभाव हो गया। फिर भी दिवाकरजीकी उदारता और साधु-सेवामें कोई कमी नहीं आती थी। जब भी कभी घरमें सीधा-सामग्रीका अभाव होता, आप अपनी गुदड़ी किसी वणिक्‌के यहाँ गिरवी रखकर सामान लाते और जब पैसोंकी व्यवस्था हो जाती, तो उसे छुड़ा लाते। एक बार आपके घरपर बीस सन्तोंकी एक मण्डली आ गयी। घरपर कुछ सीधा-सामान था नहीं, अतः आपने अपनी गुदड़ी एक वणिक्‌के यहाँ गिरवी रख दी और उससे खाद्य सामग्री लाकर सन्तोंका सत्कार किया। संयोगकी बात, इस बार पैसोंकी व्यवस्था न हो सकी और आप गुदड़ी छुड़ा न पाये। धीरे-धीरे समय बीतता गया, शीत ऋतु आ गयी, फिर कड़ाकेकी सर्दी पड़ने लगी। एक दिन आप सर्दीसे काँपते हुए वणिक्‌के यहाँ गये और उससे निवेदन किया कि मुझे शीत ऋतु भरके लिये गुदड़ी वापस कर दो, जैसे ही पैसेकी व्यवस्था होगी, मैं आपका कर्ज चुका दूँगा; परंतु गुदड़ी वापस करनेकी कौन कहे, वणिक्‌ने पैसेके बिना इनसे सीधे मुँह बात भी नहीं की। भगवदिच्छा समझ आप वापस लौट आये। रातमें ठण्डके मारे नींद नहीं आ रही थी, तो आप थर-थर काँपते हुए बैठे-बैठे भगवन्नाम-संकीर्तन करने लगे। भगवान्‌से भक्तका यह क्लेश देखा न गया। वे स्वयं एक रजाई लेकर आये और चुपचाप इन्हें ओढ़ा दिया। दूसरे दिन वणिक्‌ने जब इन्हें नयी रजाई ओढ़े देखा तो क्रोधमें भरकर बोला कि मेरे पैसे तो दिये नहीं और अपने लिये नयी रजाई बनवा ली। ऐसा कहकर उस निर्दयी वणिक्‌ने इनकी रजाई छीन ली। रातमें ये फिर थर-थर काँपते भगवन्नाम-संकीर्तन करने लगे, ठण्डके कारण नींद तो आ नहीं रही थी। भगवान् फिर आये और एक नयी रजाई ओढ़ाकर चले गये। अगले दिन वणिक्‌ने इनके पास फिर नयी रजाई देखी तो वह

आश्चर्यचकित हो गया। उसने जब 'रजाई कहाँसे आयी?' पूछा तो आपने सब सच-सच बता दिया। भगवत्कृपाका यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर वणिक् बहुत लज्जित हुआ और चरणोंमें गिरकर बार-बार क्षमा माँगी तथा उनकी गुदड़ी और रजाई लाकर वापस कर गया। धीरे-धीरे यह चर्चा पूरे गाँवमें फैल गयी। फिर क्या! गाँववालोंने इनका खूब सम्मान किया और सभी लोग इनके शिष्य बन गये।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी

राग भोग नित बिबिध रहत परिचर्या तत्पर।
सय्या भूषन बसन रचित रचना अपने कर॥
वह गोकुल वह नंदसदन दीछित को सोहै।
प्रगट बिभव जहँ घोष देखि सुरपति मन मोहै॥
बल्लभ सुत बल भजन के कलिजुग में द्वापर कियो।
बिठलनाथ ब्रजराज ज्यों लाल लड़ाय कै सुख लियो॥ ७९॥

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीने व्रजेश्वर श्रीनन्दबाबाकी ही तरह श्रीबालकृष्णभगवान्‌को वात्सल्य भावसे अत्यन्त लाड़-प्यार करके परम सुख प्राप्त किया। आप नित्य प्रति श्रीठाकुरजीकी सेवामें अनेक प्रकारके सामयिक पदोंका गायन एवं उत्तमोत्तम नैवेद्य समर्पणपूर्वक अष्टयाम सेवामें ही तल्लीन रहते थे। आप अपने हाथसे ही श्रीठाकुरजीका वस्त्राभूषणोंसे शृंगार करते थे एवं शयनके लिये शय्या सजाते थे अर्थात् समस्त सेवा स्वयं ही करते थे। द्वापर युगमें श्रीगोकुल एवं श्रीनन्दबाबाके महलकी जो शोभा थी, वह शोभा दाक्षिणात्य दीक्षितब्राह्मण श्रीविट्ठलनाथजीके समयमें भी श्रीगोकुल एवं उनके भवनकी थी। जिस प्रकार द्वापरयुगमें श्रीगोकुलके गोपोंका ऐश्वर्य देखकर देवराज इन्द्र मोहित हो जाते थे, उसी प्रकारका वैभव श्रीविट्ठलनाथजीके समयमें भी श्रीगोकुलमें था। सारांश यह है कि श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजीने भगवद्भजनके बलसे कलियुगमें भी द्वापर कर दिया था॥ ७९॥

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीकी महिमाका बखान असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वे श्रीवल्लभाचार्य महाराजके पुष्टि-सिद्धान्तोंके भाष्यकार थे। उनकी कीर्तिसुधाके अपार पारावारमें अष्टछापके महाकवि सूरदास, कुम्भनदास आदिने राजरानी भक्तिका अभिषेक करके भागवत धर्मकी जो विजयिनी पताका फहरायी, वह अनन्तकालतक व्रजक्षेत्रमें लहराकर स्वर्गको पृथ्वीपर उतर आनेके लिये चुनौती देती रहेगी। श्रीविट्ठलनाथके जीवनकालमें भक्ति रसमयी हो उठी, श्रीकृष्ण-प्रेमसे सर्वथा सराबोर हो उठी। उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्यकी प्रेमलक्षणा भक्तिकी आयु दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ा दी। अष्टछापके कवियोंने उनके प्रति जो अगाध श्रद्धाभक्ति अपनी रचनाओंमें प्रकट की है, वह उनकी परमोत्कृष्ट भगवदीयताकी परिचायिका है। श्रीविट्ठलनाथ महाप्रभु वल्लभके शुद्धाद्वैतदर्शनके भक्तिप्रतीक थे।

श्रीगोसाईं विट्ठलनाथ महाप्रभु वल्लभके द्वितीय पुत्र थे। उनके प्रकट होनेपर केवल तैलंगकुल ही नहीं पवित्र हुआ, अपितु समस्त भारतदेश पवित्र और कृतार्थ हो गया। उनका जन्म संवत् १५७२ वि० में काशीके निकट चरणाट (चुनार)-में हुआ। उनके पिता श्रीवल्लभ नवजात शिशुको अपने पूर्व निवासस्थान अड़ैल ले आये और वहाँ उन्होंने उनके आवश्यक संस्कार कराये। भाग्यशाली विट्ठलके प्राकट्यपर महाकवि सूरने मंगलगीत गाया था। गोकुलमें नन्दमहोत्सव मनाया गया था। कलियुगके जीवोंके उद्धार और सन्तोंके प्रतिपालनके लिये ही उनका जन्म हुआ था। संवत् १५८० वि० में अड़ैलमें उनका यज्ञोपवीत हुआ। अपने पिताकी तरह वे भी गृहस्थ थे; उन्होंने दो विवाह किये थे, पहली पत्नीका नाम रुक्मिणी और दूसरीका पद्मावती

था। उनके जीवनका अधिकांश गोवर्धन और गोकुलमें व्यतीत हुआ। अपने पिताद्वारा निर्धारित भगवान्‌की आठ झाँकियोंके अनुरूप विधिवत् सेवा करके भक्तिरसामृतका आस्वादन करनेको ही उन्होंने श्रेयमार्ग स्वीकार किया।

संवत् १५८७ वि० में श्रीवल्लभके गोलोक-प्रयाणके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी उत्तराधिकारी हुए। थोड़े ही समयके बाद उनका भी लीलाप्रवेश हो गया। गोपीनाथजीकी विधवाने अपने पुत्र श्रीपुरुषोत्तमका पक्ष लिया। कृष्णदास अधिकारीने भी उन्हींका साथ देकर श्रीविट्ठलनाथका ड्योढ़ी-दर्शन बन्द कर दिया। वे श्रीनाथजीके विरहमें सहिष्णुतापूर्वक अपने दिन बिताने लगे। वे परासोली चले गये और वहींसे श्रीनाथजीके मन्दिरके झरोखेकी ओर देखा करते थे। उनकी पताकाको नित्य नमस्कार कर लिया करते थे। परासोलीमें रहते समय उन्होंने श्रीनाथजीके वियोगमें जो रचना की, वह 'विज्ञप्ति' नामसे प्रसिद्ध है। जब उनके पुत्र गिरिधरजीने मथुराके हाकिमसे शिकायत करके कृष्णदास अधिकारीको कैद करवा दिया, तब गोसाईंजीने अन्न-जलका त्याग कर दिया। कृष्णदासके मुक्त होनेपर ही उन्होंने भोजन किया। इस सहानुभूतिका कृष्णदासपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गोसाईंजीसे क्षमा माँगी और उनके उत्तराधिकारको मान्यता दी।

श्रीविट्ठलनाथजीने पुष्टिमार्गके विकास और प्रगतिमें बड़ा योग दिया। उन्होंने श्रीकृष्णकी भक्तिप्राप्तिमें अपनी कलाकारिता, काव्यमर्मज्ञता, संगीतनिपुणता और चित्रकारिताका सदुपयोग करके असंख्य जीवोंको भवसागरके पार उतार दिया। भगवद्भक्ति तो उनकी सहज सिद्ध सम्पत्ति थी। महाकवि सूर, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्ददास, कृष्णदासकी कविताको अष्टछापकी पवित्र गद्दीपर प्रतिष्ठितकर उन्होंने भक्तिका रसराजत्व सिद्ध किया। अष्टछाप उनकी कीर्तिकी अमर लता है। बादशाह अकबर और उनके सभासदस्य मानसिंह, बीरबल आदि उनका बड़ा सम्मान करते थे। राजा आसकरण, महारानी दुर्गावती तथा अन्य भगवदीय जीवोंने उनके यशकी गंगामें अपना परलोक बना लिया। अकबरने गोकुल और गोवर्धनकी भूमि उन्हें निःशुल्क दे दी थी। श्रीगोसाईं विट्ठलनाथने गुजरातकी भी यात्रा की थी, उस क्षेत्रमें भागवत-धर्मका प्रचार किया था। उनके २५२ वैष्णव शिष्य बहुत ही प्रसिद्ध हैं। वास्तवमें वे मंगलरूप निधान थे। नन्ददास आदि काव्य-महारथियोंने एक स्वरसे उनकी चरणधूलिकी अलौकिकताका बखान किया है।

संवत् १६४२ वि० में गोवर्धनकी एक कन्दरामें प्रवेशकर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

गोसाईं विट्ठलनाथका जीवन-चरित्र भगवान् श्रीकृष्णके लीला-सौन्दर्यका दर्शन-बोध है। उनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्यपूर्ण पुत्रभाव और श्रीश्रीजीके प्रति पुत्रवधूभाव था। भगवान् और श्रीश्रीजी भी उनके भावकी रक्षा करते हुए वैसी ही लीला करते थे।

एक बार आप अपने बालरूप ठाकुरजीकी सेवा कर रहे थे, अचानक ठाकुरजीको एक बन्दर दिखायी दे गया और वे डरकर आपकी गोदमें छिप गये। यह देखकर आपको बड़ी शंका हुई कि एक छोटे-से बन्दरको देखकर जब ये डर गये तो त्रेतायुगमें पर्वताकार वानर-भालुओंको साथ लेकर इन्होंने रावण-कुम्भ-कर्णादि भयंकर राक्षसोंसे युद्ध कैसे किया होगा? आपके सन्देहको देखकर ठाकुरजीने आपको स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा—गुसाईंजी! आप तो मुझे अपना छोटा-सा पुत्र मानते हैं, सो छोटा बालक तो बन्दरको देखकर डर जाता ही है और वह उस समय यदि अपने माता या पिताके पास होता है तो उनकी गोदमें छिप जाता है, बालककी इस क्रियासे उन्हें आनन्द भी आता है, अतः उसी आनन्दकी अनुभूति करानेके लिये मैं आपकी गोदमें छिप गया था। रही त्रेतायुगकी बात तो उस समय ऋषि-मुनियोंने मुझे साक्षात् ईश्वर समझा था, मेरा वह रूप असुर-संहारक था, अतः मैंने उस समय वैसी लीला की थी। ठाकुरजीकी इस कृपापर आप गद्‌गद हो गये।

श्रीश्रीजीकी भी आपपर इसी प्रकारकी कृपा थी। एक बार आपके घर एक चूड़ी पहनानेवाली आयी। आपके सात पुत्र और सात पुत्रवधुएँ थीं, अतः आपने कहा कि सभी वधुओंको चूड़ी पहना दो और पैसे मुझसे ले लेना। आपका श्रीठाकुरजीमें पुत्रभाव था, अतः श्रीश्रीजी भी अपने आपको आपकी पुत्रवधू ही मानती थीं।

इसलिये जब आपकी सातों पुत्रवधुओंने चूड़ी पहन ली तो श्रीराधिकाजीने चूड़ी पहननेके लिये चुड़िहारिनके सामने अपने कर-कमल बढ़ा दिये। सौन्दर्यके सारे उपमान मिलकर भी जिन हाथोंकी उपमा नहीं दे सकते, उन्हें अपने सम्मुख देख चुड़िहारिन तो सहसा भाव-विभोर हो उठी। कुछ देर बाद जब होश आया तो जैसे-तैसे चूड़ी पहना पायी। इसके बाद जब चुड़िहारिन आपसे पैसे माँगने आयी तो विचित्र स्थिति हो गयी। चुड़िहारिन कहती कि मैंने आठ पुत्रवधुओंको चूड़ी पहनायी है और आप कहते मेरे तो सात ही पुत्र हैं, आठ पुत्रवधुएँ कहाँसे आयीं, अन्ततः थोड़े-से पैसोंके लिये क्या विवाद करना सोचकर आपने आठके पैसे दे दिये। रातमें श्रीश्रीजीने स्वप्नमें कहा—'क्या आप मुझे अपनी पुत्रवधू नहीं मानते हैं? मैंने भी तो चूड़ी पहनी थी, फिर आप आठका पैसा क्यों नहीं दे रहे थे? आपने ही तो कहा था कि सब पुत्रवधुओंको चूड़ी पहना दो, इसीलिये मैंने भी चूड़ी पहन ली।' श्रीश्रीजीके वचनोंको सुनकर आप आनन्दविभोर हो गये। इसी प्रकार आपके विविध चरित्र हैं, जिनमें श्रीठाकुरजी तथा श्रीश्रीजीने आपके वात्सल्यभावको स्वीकार किया है।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके कृपापात्र श्रीत्रिपुरदासजी थे। इनका चरित्र संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीत्रिपुरदासजी

भक्त श्रीत्रिपुरदासजी गुसाँई श्रीविट्ठलनाथजीके कृपापात्र सद्गृहस्थ सन्त थे। आप ब्रजमण्डलान्तर्गत शेरगढ़के निवासी थे। आपका जन्म कायस्थवंशमें हुआ था और आपके पिता शेरगढ़ रियासतके यवन राजाके राजमन्त्री थे। इतना सब होते हुए भी आपकी प्रवृत्ति विषय-भोगोंकी ओर न होकर प्रभु-भक्तिकी ओर ही थी। एक बार आप अपने पिताजीके साथ आगरासे आ रहे थे। मार्गमें श्रीगोवर्धनजीमें रुककर आपने श्रीश्रीनाथजीका दर्शन किया। श्रीठाकुरजीका दर्शन करके आप ऐसे आनन्दमग्न हुए कि आपने वहीं रुकनेका मन बना लिया। पिताजीने बार-बार समझाया, परंतु इन्होंने घर जानेसे इनकार कर दिया। अन्तमें वे अकेले ही घरके लिये चल दिये और आप श्रीठाकुरजीकी मधुर झाँकीके दर्शनके लिये वहीं रुके रहे। परंतु दुर्भाग्यवश कुछ दुष्टोंने आपके पिताजीको रास्तेमें ही मार डाला। यद्यपि यह अत्यन्त दुःखद समाचार था, आपको हार्दिक कष्ट तो हुआ, परंतु आपने इसमें भी भगवान्‌का मंगलमय विधान ही माना। अब आप गृह-परिवार आदिके बन्धनोंसे मुक्त होकर केवल श्रीनाथजीका दर्शन करते और उसीमें आनन्दमग्न रहते। एक दिन जब आप प्रेममयी दशामें आनन्दमग्न थे तो गुसाँई श्रीविट्ठलनाथजी महाराजकी आपपर दृष्टि पड़ी। आपको अधिकारी जीव जानकर उन्होंने परिचय पूछा। आपने आचार्यश्रीके चरणोंमें प्रणिपातकर साष्टांग प्रणाम किया और अत्यन्त दीनतापूर्वक कहा—'प्रभो! मैं मातृ-पितृहीन सर्वथा अनाथ बालक हूँ, अपनी चरण-शरणमें लेकर मुझे सनाथ करें।' आचार्यश्री आपकी प्रभु-भक्ति और विनम्रता देखकर बहुत प्रसन्न हुए और आपको विधिपूर्वक दीक्षा देकर ब्रह्मसम्बन्धकी प्रतिष्ठा की। कुछ दिनतक आप श्रीश्रीनाथजीकी सेवामें श्रीगोवर्धनजीमें रहे, तत्पश्चात् श्रीगुसाँईजीकी आज्ञा मानकर आप पुनः घर आ गये और भक्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए घरपर ही निवास करने लगे। यवनराजको जब आपके गृह-आगमनकी जानकारी हुई तो कुछ कृतज्ञतावश और कुछ आपकी योग्यतासे प्रभावित हो, उसने आपको बुलाकर राजमन्त्री बना दिया।

श्रीत्रिपुरदासजी राजमन्त्री बन तो गये, पर जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके स्वामीका सेवक रहा हो, उससे किसी तुच्छ यवन राजाकी चाकरी भला कैसे हो सकती थी; फिर प्रभु भी भला अपने सेवकको अन्य किसीकी सेवामें कैसे देख सकते थे! अन्यायी यवनराजकी चाटुकारिता आपसे हो नहीं सकी, अतः उसने द्वेषवश आपका सर्वस्व अपहरण कर लिया और मंत्रिपदसे हटा दिया। इस प्रकार आपको लौकिक बन्धनोंसे पुनः मुक्ति मिल गयी।

आपकी श्रीआचार्य महाप्रभु तथा श्रीश्रीनाथजीके चरणामृतप्रसादमें बड़ी ही निष्ठा थी, बिना चरणामृतप्रसाद लिये आप अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे। संयोगकी बात, एक दिन जब आप भोजन करने गये तो रसोइयेने कहा कि आज चरणामृतप्रसाद एकदम समाप्त हो गया है, यह सुनते ही आप यह कहते

हुए वापस चले गये कि बिना चरणामृतप्रसाद ग्रहण किये तो मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगा नहीं; तुमलोग श्रीठाकुरजीका भोग लगाकर प्रसाद पा लेना। भक्त भूखा रहे तो भगवान्‌को भला भोग कैसे प्रिय लग सकता है! श्रीत्रिपुरदासजीकी नियमनिष्ठा, चरणामृतप्रसादके प्रति प्रेम देखकर भगवान् स्वयं एक दस वर्षके बालक बन गये और तीन थैलियाँ लेकर रसोइयेके पास आये और बोले—'भण्डारीजी! ये तीन थैलियाँ श्रीत्रिपुरदासजीने भिजवायी हैं, इनमें एकमें श्रीश्रीनाथजीका महाप्रसाद, दूसरीमें उनका चरणामृतप्रसाद और तीसरी थैलीमें आचार्यश्रीका चरणामृतप्रसाद है।' रसोइयेने थैलियाँ ले लीं और बालरूप भगवान् चलते बने।

श्रीठाकुरजीका भोग लग जानेपर रसोइयेने श्रीत्रिपुरदासजीको बुलानेके लिये भेजा परंतु वे न आये, कई बार बुलानेपर आये तो खिन्न भावसे कहने लगे कि मैंने तो पहले ही कह दिया था कि बिना चरणामृतप्रसाद ग्रहण किये मैं एक कण भी मुखमें नहीं रखूँगा, फिर आप लोग क्यों बार-बार बुला रहे हैं? यह सुनकर आश्चर्यचकित होते हुए रसोइयेने कहा—'आप ही ने तो एक बालकके हाथ तीन थैलियोंमें चरणामृतप्रसाद और महाप्रसाद भेजा था, फिर ऐसी बात क्यों कह रहे हैं?' अब आश्चर्यचकित होनेकी बारी त्रिपुरदासजीकी थी, उन्होंने कहा—मैंने तो किसीसे चरणामृतप्रसाद नहीं भेजा था, कौन लाया? कहाँ है वह बालक? रसोइयेने कहा—'वह तो थैलियाँ देकर तुरंत चला गया था।' अब आपको यह समझते देर न लगी कि करुणाविग्रह श्रीश्रीनाथजीने ही मेरे लिये यह कष्ट किया। प्रभुकी कृपा विचारकर वे गद्‌गद हो गये और उनकी आँखें अश्रुपूरित हो उठीं।

श्रीत्रिपुरदासजीने ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि मैं प्रतिवर्ष शीतकालमें ठाकुर श्रीश्रीनाथजीके लिये दगला (अंगरखा) भेजा करूँगा। तदनुसार ये अत्यन्त ही बहुमूल्य वस्त्रका दगला सिलवाते थे, फिर उसमें सुनहले गोटे लगवाते थे और बड़े प्रेमसे भेजते थे। यही कारण है कि इनका भेजा हुआ दगला ठाकुर श्रीनाथजीको अत्यन्त प्रिय लगता था और गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी भी उसे बड़े प्रेमसे श्रीठाकुरजीको धारण करवाते थे। कुछ कालोपरान्त इनका ऐसा समय आया कि राजाने इनका सर्वस्व अपहरण कर लिया। ये एक-एक आने और एक-एक दानेको मोहताज हो गये। इसी बीच शरद् ऋतु आ गयी। तब इन्हें श्रीठाकुरजीके लिये दगला भेजनेकी याद आयी, परंतु धनका सर्वथा अभाव होनेसे श्रीठाकुरजीकी सेवासे वंचित होने तथा प्रतिज्ञा-भंग होनेके दुःखसे इनकी आँखोंमें आँसू छलछला आये। एकाएक पीतलकी एक दावात इनकी नजरमें आयी, फिर तो मानो डूबतेको तिनकेका सहारा मिल गया हो। इन्होंने मनमें निश्चय किया कि इसीको बेचकर श्रीठाकुरजीकी सेवा करूँगा।

श्रीत्रिपुरदासजीने उस दावातको बाजारमें बेचा, उससे उन्हें एक रुपया मिला। उस रुपयेसे इन्होंने केवल मोटे कपड़ेका एक थान खरीदा। फिर उस कपड़ेको लाल रंगमें रँगा। परंतु फिर भी इनका साहस नहीं हुआ कि ऐसे साधारण वस्त्रको लेकर हम कैसे श्रीगोसाईंजीके पास जायँ, अतः उसे घरमें ही रख लिया। सोचा था कि श्रीगिरिराजजीकी ओरसे कोई आयेगा तो उसके द्वारा भेजवा दूँगा। इसी बीच श्रीगोसाईंजीका कोई सेवक अपने गाँवमें आया हुआ सहज ही दीख गया। फिर तो इन्होंने वह वस्त्र उस सेवकको देकर कहा—'आप इसे भण्डारीजीको दे देना। यद्यपि यह वस्त्र श्रीगुसाईंजीके किसी दास-दासीके भी पहननेयोग्य नहीं है तो भी मुझ दीनकी यह तुच्छ भेंट आप ले जाइये, परंतु एक बातका ध्यान रखियेगा, मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि इस वस्त्रका समाचार श्रीगुसाईंजीको मत सुनाइयेगा'।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

कायथ त्रिपुरदास भक्ति सुख राशि भर्‌यो कर्‌यो ऐसो पन सीत दगला पठाइयै।
निपट अमोलपट हिये हित जटि आवै तातें अति भावै नाथ अंग पहिराइयै॥
आयो कोऊ काल नरपति नैं बिहाल कियौ भयौ ईश ख्याल नेकु घर मैं न खाइयै।
वही ऋतु आई सुधि आई आँखि पानी भरि आई एक द्वाति दीठि आई बेचि ल्याइयै॥ ३४०॥

बेचिकै बजार यों रुपैया एक पायौ ताकौ ल्यायौ लोटौ थान मात्र रंग लाल गाइयै।
भीज्यो अनुराग पुनि नैन जल धार भीज्यो भीज्यो दीनताई धरि राख्यो और आइयै॥
कोऊ प्रभु जन आय सहज दिखाई दई भई मन दियो लै 'भँडारी पकराइयै'।
काहू दास दासी के न काम कौ पै जाउ लै कै विनती हमारी जू गुसाईं न सुनाइयै॥ ३४१॥

उस सेवकने श्रीत्रिपुरदासजीके वस्त्रको लाकर भण्डारीके हाथमें दे दिया और उस भण्डारीने उस वस्त्रको बिछाकर उसके ऊपर श्रीठाकुरजीके शृंगारके और बढ़िया वस्त्र रख दिये। परंतु परम-सनेही ठाकुर श्रीश्रीनाथजीसे भक्तके इस प्रेमोपहारकी उपेक्षा सही नहीं गयी, वे व्याकुल होकर बोले—मुझे बड़े जोरसे ठण्डक लग रही है, शीघ्र इसको दूर करनेका कोई उपाय करो। तब श्रीगुसाईंजीने बहुतसे सुन्दर-सुन्दर वस्त्र श्रीअंगपर ओढ़ाये। परंतु ठण्ड नहीं गयी। तब श्रीगुसाईंजीने अँगीठी जलायी। फिर भी ठण्ड दूर नहीं हुई। तब आपके ध्यानमें आया कि किसी भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये प्रभु यह लीला कर रहे हैं, अतः तुरंत ही सेवकको बुलाकर पूछा कि इस वर्ष किस-किसकी पोशाकें आयी हैं? बही खोलकर सेवकने सबका नाम सुनाया, परंतु एक त्रिपुरदासजीका नाम नहीं लिया।

गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीने कहा कि मैंने भक्त त्रिपुरदासका नाम तो सुना नहीं, क्या इस वर्ष इनके यहाँसे पोशाक नहीं आयी है? सेवकने कहा—उनका सब धन नष्ट हो गया है, अतः उनके यहाँसे मोटे कपड़ेका एक थान आया है, मैंने उसे और पोशाकोंके नीचे बिछा रखा है। श्रीगुसाईंजी श्रीठाकुरजीके मनकी जान गये कि प्रेम-प्रवीण प्रभु तो भक्तोंके भावको देखकर उनके प्रेमोपहारको सहर्ष स्वीकार करते हैं, आज्ञा दी कि उस कपड़ेको शीघ्र लाओ। सेवक अनमना-सा होकर उस कपड़ेको ले आया। तुरंत ही श्रीठाकुरजीके दर्जीको बुलाकर उस कपड़ेको नाप-साधकर कटवाकर अँगरखा सिलाया गया। श्रीगुसाईंजीने तुरंत उस अँगरखेको श्रीठाकुरजीके श्रीअंगमें धारण कराया, तब श्रीठाकुरजीने बड़े भावमें भरकर कहा कि अब हमारा जाड़ा दूर हो गया।

श्रीप्रियादासजी श्रीत्रिपुरदासजीके प्रति श्रीठाकुरजीके इस भावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

दियौ लै भंडारी कर राखे धरि पट वापै निपट सनेही नाथ बोले अकुलायकै।
भये हैं जड़ाये कोऊ बेग ही उपाय करौ बिबिध उढ़ाये अंग वसन सुहायकै॥
आज्ञा पुनि दई यों अँगीठी बारि दई फेर वही भई सुनि रहे अति ही लजायकै।
सेवक बुलाय कही कौनकी कबाय आई सबैकी सुनाई एक वही ली बचायकै॥ ३४२॥
सुनी न त्रिपुरदास, बोल्यो धन नास भयौ मोटो एक थान आयौ राख्यौ है बिछायकै।
ल्यावो बेगि याही छिन मनकी प्रवीन जानि ल्यायो दुखमानि ब्योंति लई सो सिवायकै॥
अंग पहिराई सुखदाई कापै गाई जाति कही तब बात जाड़ौ गयौ भरि भायकै।
नेह सरसाई लै दिखाई उर आई सबै ऐसी रसिकाई हृदै राखी है बसायकै॥ ३४३॥

गोस्वामी श्रीविट्ठलेशसुतजी

श्रीगिरधर जू सरससील गोबिंद जु साथहि।
बालकृष्ण जसबीर धीर श्रीगोकुलनाथहि॥
श्रीरघुनाथ जु महाराज श्रीजदुनाथहि भजि।
श्रीघनस्याम जु पगे प्रभू अनुरागी सुधि सजि॥

ए सात प्रगट बिभु भजन जग तारन तस जस गाइये।
श्रीबिट्ठलेस सुत सुहृद श्रीगोबरधन धर ध्याइये ॥ ८० ॥

गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीके पुत्रोंको सर्वभूतसुहृद् साक्षात् श्रीगोवर्धनधारी श्रीकृष्ण जानकर उनका ध्यान करना चाहिये। उनके नाम हैं—१-श्रीगिरिधरजी, जो बड़े रसिक एवं अत्यन्त सुन्दर शील स्वभाववाले थे। २-श्रीगोविन्दजीका स्वभाव भी वैसा ही था। ३- श्रीबालकृष्णजी महायशस्वी हुए। ४-श्रीगोकुलदासजी बड़े धीर महापुरुष हुए। ५-श्रीरघुनाथजी महाराज एवं ६-श्रीयदुनाथजी महाराज अपने समगुणोंसे भजनेयोग्य हुए। इनका भजन करना चाहिये। ७-श्रीघनश्यामजी सदा-सर्वदा प्रभुप्रेममें पगे रहते थे, बड़े अनुरागी थे, हृदयमें हमेशा प्रभुकी स्मृति सँजोये रहते थे। ये सातों प्रत्यक्ष ही भगवद्विभूति थे, भगवद्भजनमें परम प्रवीण एवं समर्थ थे तथा श्रीकृष्णकी ही भाँति ये भी संसारका उद्धार करनेवाले थे। इनका यशोगान करना चाहिये॥ ८० ॥

गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीके पुत्रों (विट्ठलेशसुत)-का विशेष वर्णन इस प्रकार है—

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीके सात पुत्र (विट्ठलेशसुत)

गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीका श्रीठाकुरजीके प्रति वही भाव था, जो नन्दरायजी और यशोदारानीका बालकृष्णके प्रति था। श्रीठाकुरजीने भी इनके वात्सल्यभावको स्वीकार किया था और उनके साथ छोटे बालक-जैसी ही लीला किया करते थे। वे कभी दूध पीनेमें आना कानी करते, कभी सोनेमें तो कभी बन्दरसे डरकर उनकी गोदमें छिप जाते। श्रीगुसाँईजी उनकी इस लीलासे आनन्दविभोर हो जाया करते थे। उनके वात्सल्यभावपर रीझकर एक बार श्रीठाकुरजी प्रकट हुए और उनसे वर माँगनेको कहा। तब आपने यह वर माँगा कि आपने द्वापरमें श्रीनन्दरायजीको जैसी बाललीलाका सुख दिया एवं उनका आपमें जैसा वात्सल्य-स्नेह था, वैसा ही सुख एवं वैसा ही स्नेह आप कृपा करके हमको भी प्रदान करें। तब श्रीठाकुरजीने कहा—पिताके रूपमें तो मुझे आप पितृसुख दे देंगे, पर बिना माताके मेरी बाललीलाका पूर्ण विकास कैसे होगा? अत: पहले आप मेरे रिक्त मातृपदकी पूर्ति करें, फिर आपको परम प्रभावशाली सात पुत्रोंकी प्राप्ति होगी। उन सभी पुत्रोंमें पाँच-पाँच वर्षतक मेरा आवेश रहेगा। इस प्रकार आपको दीर्घकालतक मेरा वात्सल्य-सुख प्राप्त होता रहेगा। कालान्तरमें प्रभुकृपासे आपको सात पुत्रोंकी प्राप्ति हुई और आप दीर्घकालतक वात्सल्यरससिन्धुमें अवगाहन करते रहे। आपने अपने सातों पुत्रोंके लिये सात गद्दियोंकी स्थापना की, जिससे वैष्णव धर्म और भगवद्भक्तिका खूब प्रचार-प्रसार हुआ। लीलासंवरणकालमें आपने अपने सभी पुत्रोंको श्रीठाकुरजीका एक-एक सेवा-विग्रह प्रदान किया था, जिनकी आज भी परम्परागत रूपसे सेवा-पूजा हो रही है। इसका विवरण इस प्रकार है—(१) श्रीगिरिधरजीको ठाकुर श्रीमथुरेशजी, जो इस समय यतिपुरामें विराजमान हैं; (२) श्रीगोविन्दरायजीको ठाकुर श्रीश्रीनाथजी, जो वर्तमानमें श्रीनाथद्वारा (राजस्थान)-में विराजते हैं; (३) श्रीबालकृष्णजीको श्रीद्वारिकाधीश भगवान्, जो कांकरौलीमें विराज रहे हैं; (४) श्रीगोकुलनाथजीको श्रीगोकुलनाथजी, जो श्रीगोकुलधाममें विराजमान हैं; (५) श्रीरघुनाथजीको श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, जो वर्तमानमें श्रीकामवनमें विराज रहे हैं; (६) श्रीयदुनाथजीको श्रीबालकृष्णभगवान्, जो इस समय सूरतमें विराज रहे हैं तथा (७) श्रीघनश्यामजीको ठाकुर श्रीमदनमोहनजी, जो इस समय श्रीकामवनमें विराज रहे हैं।

इस प्रकार श्रीविट्ठलनाथजीके पुत्रोंद्वारा वैष्णवधर्म और भगवद्भक्तिका विपुल प्रचार-प्रसार हुआ।

श्रीकृष्णदासजी

श्रीबल्लभ गुरु दत्त भजन सागर गुन आगर।
कबित नोख निर्दोष नाथ सेवा में नागर॥
बानी बंदित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत।
ब्रज रज अति आराध्य वहै धारी सर्बसु चित॥
सान्निध्य सदा हरि दास बर गौर स्याम दृढ़ ब्रत लियो।
गिरिधरन रीझि कृष्णदास कों नाम माझ साझो दियो॥ ८१॥

श्रीगोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर श्रीकृष्णदासको अपने नाममें हिस्सा दिया। श्रीकृष्णदासजी श्रीगुरु वल्लभाचार्यजीके द्वारा दिये गये भजन-भावके समुद्र एवं समस्त शुभ गुणोंकी खानि थे। आपके द्वारा रची गयी कविताएँ बड़ी ही अनोखी एवं काव्यदोषसे रहित होती थीं। आप ठाकुर श्रीश्रीनाथजीकी सेवामें बड़े चतुर थे। श्रीगिरिधर गोपालजीके मंगलमय सुयशसे विभूषित आपकी वाणीकी विद्वान् जन भी सराहना करते थे। आप श्रीव्रजकी रज (धूल)-को अपना परम आराध्य मानते थे। चित्तमें उसीको सर्वस्व मानकर शरीरमें एवं सिर-माथेपर धारण करते थे तथा चित्तमें चिन्तन भी करते थे। आप सदा-सर्वदा श्रीहरिदासवर्य श्रीगोवर्धनजीके समीप बने रहते थे एवं सदा बड़े-बड़े सन्तोंके सान्निध्यमें रहते थे। आपने श्रीराधा-माधव-युगलकी सेवाका दृढ़ व्रत ले रखा था॥ ८१॥

श्रीकृष्णदासजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकृष्णदासजीका जन्म सं० १५५३ वि० में गुजरातप्रदेशके अहमदाबाद जनपदमें चलोतर नामक गाँवमें हुआ था। वे कुनबी कायस्थ थे। पाँच वर्षकी अवस्थासे ही वे भगवान्‌के लीला-कीर्तन, भजन तथा उत्सवोंमें सम्मिलित होने लगे थे। बाल्यावस्थासे ही बड़े सत्यनिष्ठ और निडर थे। जब वे बारह सालके थे, उनके गाँवमें एक बनजारा आया, उसने माल बेचकर बहुत-सा रुपया जमा किया था। कृष्णदासके पिता गाँवके प्रमुख थे, उन्होंने रातमें उसका रुपया लुटवाकर हड़प लिया। कृष्णदासके सीधे-सादे हृदयपर इस घटनाने बड़ा प्रभाव डाला, उन्होंने अपने पिताके विरुद्ध बनजारेद्वारा न्यायालयमें अभियोग चलाया और उनके साक्ष्यके फलस्वरूप बनजारेको पैसा-पैसा मिल गया। वे घरसे निकाल बाहर किये गये, तीर्थयात्राके लिये चल पड़े।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अड़ैलसे व्रज जा रहे थे। उन्होंने गऊघाटपर अभी दो ही चार दिन पहले सूरको ब्रह्मसम्बन्ध दिया था। महाप्रभुजीने मथुराके विश्रामघाटपर युवक कृष्णदासको देखा, देखते ही समझ लिया कि बालक बड़ा संस्कारी है; उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उनको दीक्षितकर ब्रह्मसम्बन्ध दिया। आचार्यसे मन्त्र प्राप्त करते ही उन्हें सम्पूर्ण भगवल्लीलाका स्मरण हो आया। आचार्यने उनको श्रीनाथजीके मन्दिरका अधिकारी नियुक्त किया। उनकी देख-रेखमें श्रीनाथजीकी सेवा राजसी ठाटसे होने लगी। दूर-दूरतक उनकी प्रसिद्धि फैल गयी। वे श्रीनाथजीकी सेवा करते थे और सरस पदोंकी रचना करके भक्तिपूर्वक समर्पित करते थे। उनके पद अधिकांश शृंगार-भावना-प्रधान हैं, भक्ति और शृंगारमिश्रित प्रेम-लीला, रासलीलाके सम्बन्धमें उन्होंने अनेकानेक पद लिखे। 'युगल-मान-चरित्र' की रचना-माधुरी और विशिष्ट कवित्व-शक्तिसे प्रभावित होकर श्रीविट्ठलनाथने उनको अष्टछापमें गौरवपूर्ण स्थानसे सम्मानित किया। वे आजीवन अविवाहित रहे।

पुष्टिमार्गके भक्तों और महाप्रभुके शिष्योंमें उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्वीकार

किया जाता है। वे बहुत बड़े भगवदीय थे।

श्रीकृष्णदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्यजीके शिष्य थे। महाप्रभुने ठाकुर श्रीश्रीनाथजीकी सेवाका सम्पूर्ण भार इन्हें सौंपा था। एक बार आप श्रीठाकुरजीके सेवा-कार्यके लिये दिल्ली गये हुए थे। वहाँ बाजारमें कड़ाहीसे निकलती हुई गरमागरम जलेबियोंको देखकर आपने मानसी-सेवामें ही उन जलेबियोंका श्रीश्रीनाथजीको भोग लगाया, भाववश्य भगवान्ने उसे स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप जब मन्दिरमें भोग उसारा गया तो विविध भोग सामग्रियोंमें जलेबीका थाल और हाथमें जलेबी प्रत्यक्ष मौजूद पायी गयी। ऐसे ही एक बार आप आगरा गये थे। वहाँ आप एक वेश्याका अत्यन्त मधुर राग-स्वरसे गायन सुनकर प्रेमके वशीभूत हो गये और उससे बोले—क्या तू हमारे चन्द्रमुख श्रीलालजीके यहाँ चलकर गाना सुना सकती है? वेश्याने इन्हें गुणग्राहक तथा प्रेमी देखकर इनके साथ चलनेकी स्वीकृति दे दी। फिर तो ये भी लोक-लाजको सर्वथा दूरकर उसे साथ लेकर चल दिये।

श्रीकृष्णदासजी उस वेश्याको अपने संग श्रीश्रीनाथजीके मन्दिरमें लिवा लाये और बोले—'आजतक तुमने संसारी लोगोंको रिझाया है, अब हमारे श्रीलालजीको रिझाओ। देखो, ये कैसे रिझवार हैं।' वेश्या श्रीश्रीनाथजीका दर्शन करते ही प्रेममतवाली हो गयी और स्वर साधकर उसने आलाप किया। श्रीकृष्णदासजीने पूछा—क्या तुमने मेरे लालजीको अच्छी प्रकार देखा? उसने कहा—हाँ, मैंने देखा, दर्शनमात्रसे ही हृदयको अत्यन्त अच्छे लग रहे हैं। वेश्याने अपने नृत्य, गान, तान, भावभरी मुसकान और नेत्रोंकी चितवनसे श्रीनाथजीको एकदम रिझा लिया। उसने एकदम तदाकार होकर नृत्य-गान किया। प्रेमाधिक्यके कारण उसका शरीर छूट गया। श्रीठाकुरजीने उसके जीवात्माको अंगीकार कर लिया। वेश्याने अपने हृदयमें प्रेमभाव भर रखा था और भगवान् भी प्रेमके भूखे हैं, अतः उसकी जाति-पाँति या कर्मपर दृष्टि न देकर उसके हृदयके प्रेमको ही अपने हृदयमें धारणकर अपना लिया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकृष्णदासजीसे सम्बन्धित इन दो घटनाओंका इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रेम रसरास कृष्णदास जू प्रकाश कियौ लियौ नाथ मानि सो प्रमान जग गाइयै।
दिल्लीके बजारमें जलेबी सो निहारि नैन भोग लै लगाई लगी विद्यमान पाइयै॥
राग सुनि भक्तिनी को भए अनुरागबस ससिमुख लाल जूको जाइ कै सुनाइयै।
देखि रिझवार रीझि निकट बुलाइ लई, लई संग चले जग लाजको बहाइयै॥ ३४४॥
नीके अन्हवाय पट आभरन पहिराय सौधौ हू लगाय हरि मन्दिर में ल्याये हैं।
देखि भई मतवारी कीनी लै अलापचारी कह्यौ 'लाल देखे?' बोली देखेमें ही भाये हैं॥
नृत्य, गान, तान, भावभरि मुसक्यान, दृगरूप लपटान, नाथ निपट रिझाये हैं।
ह्वै कै तदाकार, तन छूट्यौ अंगीकार करी धरी उर प्रीति मन सबके भिजाये हैं॥ ३४५॥

एक बार श्रीकृष्णदासजी श्रीसूरदासजीसे मिलने आये। पद-रचनाके प्रसंगमें श्रीसूरदासजीने विनोदमें कहा कि आप तो कविता करनेमें बड़े प्रवीण हैं, अतः कोई ऐसा पद बनाकर गाइये, जिसमें मेरे पदोंकी छाया न हो। श्रीकृष्णदासजीने पाँच-सात पद गाये। श्रीसूरदासजी उन पदोंको सुनकर मुसकराने लगे तथा पूछनेपर बताया कि आपके इस पदमें हमारे इस पदकी छाया है। श्रीकृष्णदासजी बड़े संकुचित हुए। श्रीसूरदासजीने कहा कि अच्छा, कोई बात नहीं है, कल प्रातःकाल कोई नया पद बनाकर आकर मुझे सुनाना। निवास-स्थानपर आकर श्रीकृष्णदासजीको भारी सोच हुआ; क्योंकि कोई भी भाव श्रीसूरदासजीसे अछूता नहीं मिल रहा था। श्रीकृष्णदासजीकी सोचका निवारण करनेके लिये प्रभुने स्वयं एक अत्यन्त

कृष्णदासकी नर्तकीपर कृपा [पृ० ५२३]

भक्त सदनपर प्रभुकृपा [पृ० ५७४]

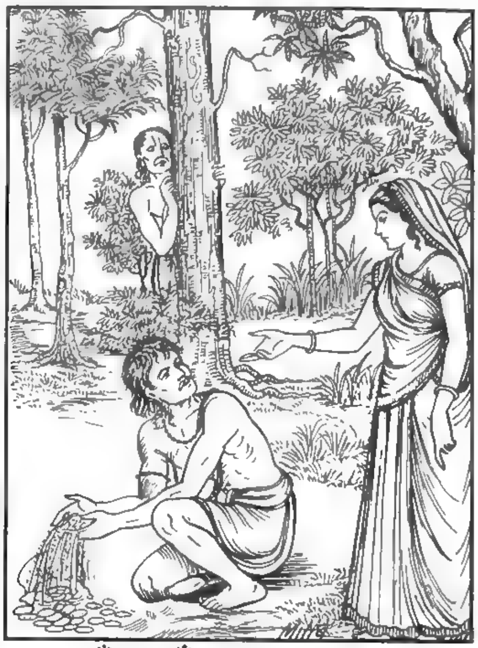
राँका-बाँका [पृ० ५८५]

रसिकमुरारीका हाथीको उपदेश [पृ० ५७१]

पृथ्वीराज और पयहारीजी [पृ० ६७३]

सत्यवादी भक्त घाटम [पृ० ६०५]

नरसीके साँवलशाह [पृ० ६४७]

भक्त अंगद और उनकी बहन [पृ० ६६१]

भक्तिमती मीरा [पृ० ६७०]

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी [पृ० ७१५]

भगवान् नृसिंहकी रत्नावतीपर कृपा [पृ० ७३६]

तुलसीदासके पहरेदार [पृ० ७०२]

भक्त गदाधरभट्ट [पृ० ७१९]

भक्त कूबाजी [पृ० ७५६]

भक्तिमती करमैतीबाई [पृ० ७७५]

भक्त प्रेमनिधिपर प्रभुकृपा [पृ० ७८६]

सुन्दर पद बनाकर श्रीकृष्णदासजीकी शय्यापर रख दिया। जब चिन्तामें निमग्न श्रीकृष्णदासजी शय्यापर पौढ़ने गये तो सिरहाने श्रीप्रभुके करकमलसे लिखा हुआ पद पाया। फिर क्या था, प्रातःकाल होते ही श्रीकृष्णदासजी पुनः श्रीसूरदासजीके पास आये और उस पदको सुनाया। सुनकर श्रीसूरदासजी बड़े सुखी हुए, साथ ही यह जानकर कि यह पद श्रीकृष्णदासरचित नहीं हो सकता है, इसे तो श्रीश्रीनाथजीने बनाया है, श्रीसूरदासजीने इसे श्रीठाकुरजीका पक्षपात बताया। श्रीठाकुरजीके इस पक्षपातपर श्रीसूरदासजी रूठ गये। उन्होंने मन्दिरमें कीर्तनकी सेवा बन्द कर दी, तब श्रीठाकुरजीने उन्हें मनाया। फिर तो भक्त और भगवान्‌के हृदयमें परस्पर प्रेमरंग छा गया।

श्रीठाकुरजीकी इस लीला और भक्तवत्सलताका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

आए सूर सागर सो कही बड़े नागर हौ कौऊ पद गावो मेरी छाया न मिलाइयै।
गाए पाँच सात सुनि जानि मुसकात कही भले जू प्रभात आनि करिकैं सुनाइयै॥
पर्‌यो सोच भारी गिरिधारी उर धारी बात सुन्दर बनाय सेज धर्‌यो यों लखाइयै।
आयके सुनायौ सुख पायौ पच्छपात लै बतायौ हूँ मनायौ रंग छायौ अभू गाइयै॥ ३४६॥

अन्त समयमें श्रीकृष्णदासजी फिसलकर कुएँमें गिर गये और उसीमें इनका शरीर छूट गया। यद्यपि भजनके प्रतापसे आपको तत्काल दिव्यदेहकी प्राप्ति हो गयी, परंतु लोगोंके मनमें अकाल मृत्युकी आशंका थी। इस आशंकासे रसिकजनोंके मनमें दुःख हुआ। सुजानशिरोमणि श्रीश्रीनाथजीने भक्तोंके हार्दिक दुःखको जानकर उसे दूर करनेके लिये तथा लोगोंकी आशंकाका निवारण करनेके लिये श्रीकृष्णदासजीका परम सुखदायी ग्वालस्वरूप लोगोंको प्रत्यक्ष दिखला दिया। श्रीगोवर्धनजीकी तलहटीमें कुछ व्रजवासियोंको देखकर दिव्यदेहधारी श्रीकृष्णदासजीने कहा कि आगे श्रीबलदाऊजी गये हैं, उन्हींके साथ पीछे-पीछे मैं भी जा रहा हूँ, आपलोग श्रीगुसाईं विट्ठलनाथजीसे मेरा प्रणाम कह देना। तदुपरान्त श्रीकृष्णदासजीने पृथ्वीमें गड़े हुए धनका पता बताया, जो इन्होंने पूर्व शरीरसे सुरक्षार्थ पृथ्वीमें गाड़ रखा था। व्रजवासियोंने आकर श्रीकृष्णदासजीका वृत्तान्त गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीसे निवेदन किया, पुनः निर्दिष्ट स्थान खोदा गया तो वहाँ धन भी मिला। इससे सबको विश्वास हो गया कि निश्चय ही इन व्रजवासियोंको श्रीकृष्णदासजी मिले थे तथा दूसरी बात यह कि श्रीकृष्णदासजीकी अधोगति नहीं हुई, वे भगवान्‌की नित्यलीलामें सम्मिलित हो गये।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कुवाँ में खिसिल देह छूटि गई नई भई भई यों असंका कछु औरे उर आई है।
रसिकन मन दुख जानि सो सुजान नाथ दियो दरसाय तन ग्वाल सुखदाई है॥
गोबर्धन तीर कही 'आगे बलबीर गये श्रीगुसाईं धीरसों प्रनाम' यों जनाई है।
धनहू बतायो खोदि पायो बिसवास आयो हिये सुख छायो संक पंक लै बहाई है॥ ३४७॥

श्रीवर्धमानजी तथा श्रीगंगलजी

श्रीभागवत बखानि अमृतमै नदी बहाई।
अमल करी सब अवनि ताप हारक सुखदाई॥
भक्तन सों अनुराग दीन सों परम दयाकर।
भजन जसोदानंद संत संघट के आगर॥

भीषमभट अंगज उदार कलिजुग दाता सुगति के।
बर्द्धमान गंगल गँभिर उभै थंभ हरि भगति के॥ ८२॥

श्रीवर्धमानजी तथा श्रीगंगलजी—ये दोनों भाई भक्तिरूपी सेतुके दो सुदृढ़ स्तम्भ थे। इन्होंने श्रीमद्भागवतमहापुराणकी कथा कहकर मानो पृथ्वीपर कथासुधाकी नदी बहा दी तथा अपने दर्शन-स्पर्श-सदुपदेश-समागमादिसे सम्पूर्ण पृथ्वीको पापरहित कर दिया। आप दोनों प्राणियोंके तीनों तापोंको दूर करनेवाले तथा उन्हें परम सुख देनेवाले हुए। आप दोनों भक्तोंसे अत्यन्त प्रेम एवं दीनोंपर दया करनेवाले थे, श्रीयशोदानन्दन श्रीकृष्णकी उपासना करते थे, सन्त-समूहमें अग्रगण्य तथा सेवामें बड़े चतुर थे। आप दोनों श्रीभीष्मभट्टजीके पुत्र थे, स्वभावसे बड़े उदार थे तथा इस कराल कलिकालमें भी प्राणियोंको उत्तम गति अर्थात् भगवत्पद प्रदान करनेवाले थे॥ ८२॥

श्रीवर्धमानजी तथा श्रीगंगलजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

परम विरक्त अकिंचन सन्त श्रीवर्धमानजी तथा श्रीगंगलजी श्रीभीष्मभट्टजीके पुत्र और श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य श्रीकेशवाचार्यजीके कृपापात्र शिष्य थे। बचपनसे ही आप दोनों भाई संसारसे उदासीन और भगवद्भजनपरायण थे। वैष्णवी दीक्षा लेनेके बाद आप दोनों भाई प्रायः सन्तोंकी मण्डली लेकर विचरण किया करते थे और भगवद्विमुख जीवोंका उद्धार करनेके लिये उन्हें भजनोन्मुख करते रहते थे।

एक बार आप लोग विचरण करते-करते एक ऐसे क्षेत्रमें पहुँच गये, जहाँ भगवद्विमुख नास्तिकों और पाखण्डियोंका बाहुल्य था। वे लोग इन वैष्णवजनोंका अनेक प्रकारसे उपहास करने और अपने किसी तथाकथित गुरुको सिद्ध बताने लगे। अपने गुरुकी झूठी महिमाका ख्यापन करते हुए इन लोगोंके प्रति अशिष्ट बर्ताव करने लगे। उन दुष्टोंने यहाँतक कह दिया कि हमारे गुरुके तेजके सामने तुम लोग ठहर नहीं सकते हो इत्यादि कहकर उन्होंने इनका अनेक प्रकारसे अपमान किया। इतना दुर्व्यवहार करनेपर भी आप लोग क्षमाशील ही बने रहे और उन लोगोंको कुछ न कहकर केवल भगवन्नाम-स्मरण ही करते रहे। आप लोगोंकी साधुता और उन लोगोंकी दुष्टता देखकर भक्तवत्सल भगवान्से अपने भक्तोंका तिरस्कार न सहा गया, फिर तो उन सबको सबक सिखानेके लिये प्रभुने ऐसी लीला रची कि कुवाक्य बोलनेवालोंके वस्त्र मल-मूत्रसे बिगड़ गये। तब तो वे भगवद्विमुख लोग बहुत ही लज्जित हुए और भागकर अपने तथाकथित गुरुके पास पहुँचे। उसने मारण प्रयोग किया, परंतु उस मूर्खको यह ज्ञात नहीं था कि भगवान् श्रीहरिके भक्तोंकी रक्षामें अस्त्रराज सुदर्शन चक्र स्वयं नियुक्त रहते हैं, उनपर क्षुद्र आभिचारिक क्रिया-कलापोंका क्या प्रभाव! फलतः प्रयोग करने और करानेवाले स्वयं मारे गये। फिर तो उन भगवद्विमुखोंने 'त्राहि माम्' की पुकार लगाते हुए श्रीगंगलजीकी शरण ली। सन्तहृदय श्रीगंगलजी महाराज क्रोधसे परे थे, उन क्षमामूर्तिने उन सबको न केवल अभयदान दिया, बल्कि मरे हुओंको भगवत्कृपासे प्राणदान भी दिया। इस घटनासे आपका सुयश सर्वत्र फैल गया और उस भगवद्विमुखक्षेत्रके लोग भी इनके शिष्य बनकर वैष्णव जीवन जीने लगे।

इसी प्रकार श्रीवर्धमानजी भी सिद्ध सन्त थे। एक बारकी बात है, किसी गाँवमें वे श्रीमद्भागवत-महापुराणकी कथा कह रहे थे। श्रोता समाजमें एक अन्धी वृद्धा माता भी प्रतिदिन आकर कथा सुना करती थीं। एक बार कथामें विश्राम होनेपर वे आपके पास आयीं और बोलीं—महाराज! आप-जैसे महाभागवत सन्त कृपा करके हमारे ग्राममें पधारे। समस्त ग्रामवासी आपका दर्शनकर तथा सदुपदेशोंका श्रवणकर कृतार्थ हो गये। मुझे भी आपकी कथा सुनकर परम आनन्द प्राप्त हुआ; परंतु मैं अभागिन नेत्रहीन होनेके कारण आपके दर्शनोंका लाभ न प्राप्त कर सकी, इस बातका मुझे बड़ा दुःख है। सन्तहृदय आपश्रीको वृद्धा माताकी

व्याकुलतापर बड़ी दया आयी और आपने भगवत्स्मरण करते हुए भगवच्चरणामृत उन वृद्धा माताके नेत्रोंमें डाल दिया। उस अकालमृत्युहारी और सर्वरोगनाशक अमृतोपम चरणामृतके नेत्रोंमें पड़ते ही वृद्धाके नेत्र तत्काल ज्योतिष्मान् हो उठे। चारों ओर सन्त-भगवन्तकी जय-जयकार होने लगी। इसी प्रकार आप दोनों भाइयोंके अनेक पावन चरित्र हैं।

श्रीक्षेम गुसाईंजी

रघुनंदन को दास प्रगट भूमंडल जानै।
सर्बस सीताराम और कछु उर नहिं आनै॥
धनुष बान सों प्रीति स्वामि के आयुध प्यारे।
निकट निरंतर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे॥
सूरबीर हनुमत सदृस परम उपासक प्रेम भर।
रामदास परताप तें खेम गुसाईं खेमकर॥८३॥

श्रीगुरु रामदासजीके प्रतापसे, कृपाप्रसादसे श्रीक्षेम गुसाईंजी सचमुच प्राणियोंका क्षेम अर्थात् कल्याण करनेवाले हुए। आप श्रीराघवेन्द्रसरकारके अनन्य भक्त थे, यह बात सारे संसारमें विख्यात थी, सब लोग जानते थे। आपके सर्वस्व श्रीसीतारामजी थे। अपने इष्टको छोड़कर और कुछ भी हृदयमें नहीं लाते थे। आपको अपने आराध्यदेव श्रीरामजीके आयुध बड़े प्यारे लगते थे, अतः श्रीरामजीकी ही तरह श्रीरामजीके आयुध धनुष-बाणसे भी अत्यन्त प्रीति करते थे। आप भावनामें निरन्तर अपने प्रभु श्रीसीतारामजीके सन्निकट बने रहते थे, कभी भी एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होते थे। आप श्रीहनुमान्‌जीके समान शूर-वीर, अनन्य उपासक एवं परम प्रेमसे परिपूर्ण थे॥ ८३॥

श्रीक्षेम गुसाईंजीके सम्बन्धमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीक्षेमदासजी श्रीगुरु रामदासजीके शिष्य थे, आपकी प्रभु श्रीसीतारामजीमें अनन्य भक्ति थी। एक बार आपको श्रीरामदर्शनकी प्रबल लालसा जगी, आप प्रभु-वियोगमें रात-दिन आँसू बहाते रहते। यहाँतक कि अन्न-जल भी छूट गया। यह देखकर श्रीहनुमान्‌जीको इनपर बड़ी दया आयी। उन्होंने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीसे इन्हें दर्शन देनेकी प्रार्थना की। श्रीहनुमान्‌जीकी प्रार्थना और आपके प्रेमसे द्रवीभूत श्रीराघवेन्द्रसरकारने प्रकट होकर आपको दर्शन दिये और वरदान माँगनेको कहा। आपने प्रभुसे उनकी अनन्य भक्ति माँगी और सेवा करनेके लिये उनके आयुधद्वय धनुष-बाण माँगे। भगवान् श्रीराम वरदानस्वरूप इन्हें अपने धनुष-बाण देकर अन्तर्धान हो गये। उसी दिनसे आप प्रभुके धनुष-बाणकी आरती-पूजा करते और उनका दर्शन करके अपने आराध्यके दर्शनका सुख पाते थे। एक बार चोर उन धनुष-बाणोंको चुरा ले गये। अब तो आपने उनके विरहमें अन्न-जलका ही परित्याग कर दिया। लोगोंने बहुत समझाया कि वैसे ही दूसरे धनुष-बाण बनवा दिये जायेंगे, आप भोजन कीजिये; परंतु आप तो उन आयुधोंको साक्षात् अपने इष्टदेव प्रभु श्रीरामजीका ही प्रतीक समझते थे तो भला दूसरे धनुष-बाणसे उनकी क्या समता! फलतः आपने किसीकी एक न सुनी और अन्न-जल ग्रहण करना स्वीकार न किया। आपके इस अनन्य अनुरागको देखकर भगवान्‌के परम दिव्य चिन्मय आयुध (धनुष-बाण) अपने-आप आकर इनके हृदयसे लग गये और इन्हें आश्वासन दिया कि अब कोई चोरीके भावसे यदि हमें स्पर्श करेगा तो हम पहाड़की तरह भारी हो जायँगे। तब इन्होंने

प्रसन्नतापूर्वक उनकी पूजाकर अन्न-जल ग्रहण किया।

एक बार आपके एक शिष्यने उन धनुष-बाणोंको चुराना चाहा, परंतु लाख कोशिश करनेपर भी वह उन्हें उठा नहीं सका। तब वह अपनी करनीपर बहुत लज्जित हुआ और प्रातःकाल आपके चरणोंमें प्रणामकर अपने हृदयकी दुर्भावना और धनुषका चमत्कार सब इनसे निवेदन किया और क्षमा माँगी। आपने कहा कि तुम चोरीकी नीयतसे उन्हें उठाना चाहते थे, इसीलिये वे नहीं उठे, अब जाकर सद्भावपूर्वक उठाओ तो वे फूलकी भाँति उठ जायँगे। आपके कहनेपर शिष्यने सद्भावपूर्वक धनुषका स्पर्श किया और सचमुच वह फूलकी ही भाँति उठ गाया।

श्रीक्षेमगुसाईंजी महाराजकी श्रीसीतारामजीमें अनन्य निष्ठा थी; किसी अन्य देवी-देवताकी सेवा-पूजा क्या, उससे कोई सहायता लेना भी इन्हें स्वीकार नहीं था। आप प्रायः कहा करते थे—

बनै तो रघुबर ते बनै कै बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे में धूर॥

एक बार श्रीहनुमान्‌जीने इनकी अनन्यताकी परीक्षा लेनेके लिये एक अवधूतका वेश धारण किया और भैरवकी एक सुवर्ण प्रतिमा लेकर इनके पास आये और बोले—महाराजजी! आप इस प्रतिमाको रख लीजिये, जब आपको धनकी आवश्यकता हो तो इसके हाथ-पैर काट लीजियेगा और उन्हें विक्रय करने धनकी प्राप्ति कर लीजियेगा, इसके हाथ-पैर पुनः अपने-आप उत्पन्न हो जायेंगे। यह कहकर उन अवधूतवेशधारी श्रीहनुमान्‌जीने उस प्रतिमाका आपको चमत्कार भी दिखलाया। सोनेका वहाँ ढेर लग गया। अवधूतने कहा—आप इसे रख लीजिये। इसपर आपने मना करते हुए कहा कि मुझे सोना या धनकी आवश्यकता होगी तो मैं अपने राघवेन्द्रसरकारसे माँग लूँगा, किसी यक्ष या भैरवमूर्तिसे मैं सुवर्णकी आशा क्यों करूँ? अवधूतने कहा—रख लीजिये, आपकी कुटीमें किसी कोनेमें पड़ी रहेगी; आपने कहा—'जब मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, तो मैं ऐसी व्यर्थकी वस्तुओंका क्यों संग्रह करूँ?' अवधूतने कहा—'इस मूर्तिसे प्राप्त धनसे आप सन्त-सेवा कर सकते हैं, आखिर सन्त-सेवाके लिये भी तो धनकी आवश्यकता होती ही है?' इस प्रकार अवधूतद्वारा बार-बार तर्क करने और मूर्ति रखनेका आग्रह करनेसे आप उद्विग्न हो उठे और एक डण्डा लेकर यह कहते हुए मारने दौड़े कि तू कौन कपटी है, जो मुझे मेरी निष्ठासे डिगाना चाहता है? भाग जा यहाँसे, नहीं तो मारकर कचूमर निकाल दूँगा। आपकी इस प्रकारकी अनन्यता, अकिंचनता देखकर श्रीहनुमान्‌जी परम प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रकट होकर दर्शन दिया तथा इनकी अनन्य भक्तिकी सराहना करते हुए वर माँगनेको कहा। आपने कहा—'मैं जब-जब आपका स्मरण करूँ, आप प्रकट होकर मुझे दर्शन देनेकी कृपा करें।' हनुमान्‌जी 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

एक बार कुछ पाखण्डी लोग संन्यासीका वेष धारणकर आपके पास आये और आपसे धनकी माँग करने लगे। आपने कहा कि मैं तो अकिंचन साधु हूँ, मेरी कुटीमें आपकी आवश्यकताका जो कुछ हो, वह आप ले लीजिये, परंतु वे लोग हठपूर्वक इनको मारनेका उपक्रम करने लगे। यह देख इन्होंने श्रीहनुमान्‌जीका स्मरण किया। फिर क्या था! इनमें हनुमान्‌जीका आवेश आ गया और इन्होंने अकेले ही सबको मार भगाया।

श्रीविट्ठलदासजी

तिलक दाम सों प्रीति गुनहिं गुन अंतर धार्‌यो।
भक्तन को उत्कर्ष जनम भरि रसन उचार्‌यो॥

सरल हृदै संतोष जहाँ तहँ पर उपकारी।
उत्सव में सुत दान कियौ क्रम दुसकर भारी॥
हरि गोबिंद जै जै गुबिंद गिरा सदा आनंददा।
बिठलदास माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा॥ ८४॥

श्रीविट्ठलदासजी मथुराके चतुर्वेदी ब्राह्मणोंमें सिरमौर हुए। आप स्वयं सर्वथा अभिमानशून्य रहते हुए दूसरोंको सम्मान देते थे। वैष्णवताके प्रतीक ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, श्रीतुलसीकी कण्ठी-माला आदिसे आप अत्यन्त प्रेम करते थे तथा सबमें गुण-ही-गुण देखते थे एवं सबके अवगुणोंपर दृष्टिपात न करके सबके गुणोंको हृदयमें धारण करते थे। आपने जीवनभर भक्तोंकी ही महिमाका जिह्वासे गान किया। आप परम सरल हृदय तथा सन्तोषी थे एवं सदा-सर्वत्र परोपकारमें रत रहा करते थे। आपने भगवान्‌के उत्सवमें पुत्रदानरूपी अत्यन्त महान् कर्म किया, जो औरोंके लिये असम्भव है। आपकी जिह्वासे सदा-सर्वदा ***'हरि गोबिंद जै जै गुबिंद'*** का उच्चारण होता रहता था, जिसे सुनकर सबको परमानन्द प्राप्त होता था॥ ८४॥

श्रीविट्ठलदासजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

मथुरापुरीके चतुर्वेदी ब्राह्मणोंमें दो ब्राह्मण भाई उदयपुरके राणाके पुरोहित थे। एक बार धनके बँटवारेको लेकर दोनों भाई आपसमें लड़कर मर गये। उन्हींमेंसे एकके पुत्र श्रीविट्ठलदासजी थे। ये बचपनसे ही भगवान्‌को हृदयमें बसाये हुए थे। एक दिन सभामें राणा साहबने कहा—पिताके मरनेके बाद वह ब्राह्मण-कुमार कभी भी सभामें नहीं आता है, उसे शीघ्र बुला लाओ। राजकर्मचारियोंने आकर श्रीविट्ठलदासजीसे कहा कि चलो, राणा साहब तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण कर देंगे। तब उन्होंने कहा कि भगवत्कृपासे मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं, अतः अब तो मैं एकमात्र भगवद्भजनको छोड़कर और कहीं आना-जाना नहीं चाहता। कर्मचारियोंने इनका सन्देश राजाको सुनाया। राजाने इन्हें पुनः यह कहकर बुलवाया और प्रार्थना की कि आज रात्रिमें भगवन्नाम-संकीर्तनपूर्वक जागरण हमारे ही यहाँ हो।

श्रीविट्ठलदासजी साधुओंको साथ लेकर राणा साहबके यहाँ पहुँचे। इनके प्रेमकी परीक्षा करनेके लिये राणाने कुछ दुष्टोंके बहकावेमें आकर जागरणके लिये महलकी तीसरी मंजिलकी छतपर बिछौना बिछवाया। सभी लोग प्रेमपूर्वक कीर्तन तथा नृत्य करने लगे। नाचते-गाते श्रीविट्ठलदासजीको प्रेमावेश आया तो ये बेसुध होकर नृत्य करते हुए छतपरसे गिरकर नीचे पृथ्वीपर आ पड़े। यह देखकर राणाका मुँह एकदम उदास हो गया, वह दुष्टोंको गारी देने लगा कि इनके कहनेसे ही मैंने ऐसा किया और फलस्वरूप इतना महान् अनर्थ हो गया। साधुलोग श्रीविट्ठलदासजीको गोदमें उठाकर घर ले आये। राणाने अपने अपराधके प्रायश्चित्त तथा इनकी वृद्ध माताकी जीविकाके निमित्त इनकी माताको बहुत-सा द्रव्य भेंटमें दिया। तीन दिनतक इनका शरीर मूर्च्छित पड़ा रहा। तीन दिन बाद जब वैष्णवोंने आपको जगाया तो शरीरकी सुधि हुई, आप उठकर बैठ गये। भगवत्कृपासे किसी अंगमें चोट नहीं आयी थी। मूर्च्छा तो प्रेमजन्य थी।

मूर्च्छा दूर होनेपर जब श्रीविट्ठलदासजी उठे तो माताने सब हाल कह सुनाया। उसे सुनकर इन्हें असह्य दुःख हुआ, ये रात्रिमें घरसे निकल पड़े। घूमते-फिरते छठीकरा गाँवमें आकर श्रीगरुड़ गोविन्द भगवान्‌की सेवा-पूजा करने लगे और फिर वहीं रहने लगे।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भाई उभैं माथुर सुराना के पुरोहित हे, लरि मरे आपस में जियो एक जाम है।
ताको सुत विट्ठल सुदास सुखरासि हिये लिए बैस थोरी भयौ बड़ौ सेवै स्याम है॥
बोल्यो नृप सभा मध्य 'आवत न विप्र सुत छिप्र लैके आवौ' कही कह्यौ पूजै काम है।
फेरिकै बुलायौ 'करौ जागरन याही ठौर', काहू समझायौ 'गावै नाचै प्रेमधाम है'॥ ३४८॥
गए संग साधुनि लै बिनै रंग रँगे सब राना उठि आदर दै नीके पधराये हैं।
किये जा बिछौना तीनि छत्तनिके ऊपर लै नाचि गाय आये प्रेम गिरे नीचे आये हैं॥
राजा मुख भयो सेत दुष्टनि को गारी देत सन्त भरि अंक लेत घर मधि ल्याये हैं।
भूप बहु भेंट करी देह वाही भाँति परी पाछे सुधि भई दिन तीसरे जगाये हैं॥ ३४९॥
उठे जब मायने जनाय सब बात कही सही नहीं जात निसि निकसे बिचारिकै।
आये यों छठीकरा में गरुड़ गोविन्दसेवा करत मगन हिये रहत निहारिकै॥
राजाके जे लोग सु तो ढूंढ़ि करि रहे बैठि तिया मात आई करै रुदन पुकारिकै।
किये लै उपाय रही कितौ हा हा खाय ये तौ रहे मँडराय तब बसी मन हारिकै॥ ३५०॥

छठीकरा (गरुड़ गोविन्द)-निवासकालमें एक बार इनका शरीर दुखी हो गया। इनके शारीरिक कष्टको देखकर भगवान् श्रीगरुड़ गोविन्दजीने स्वप्नमें आदेश दिया कि तुम मथुरा चले जाओ। भगवान्‌ने तीन दिन लगातार इस प्रकारका स्वप्नादेश दिया। तब ये माता और पत्नीको लेकर मथुरा चले आये, जहाँपर इनकी जाति-बिरादरीके लोग रहते थे। परंतु इन्होंने देखा तो वहाँ कुछ और ही रंग छा रहा था। हाँ, एक बढ़ई अवश्य ऐसा था, जो सदा साधु-संगकी अभिलाषा करता था। उसकी सज्जनताको देखकर ये उसीके घर रहने लगे। उन दिनों इनकी पत्नी गर्भवती थी और धनके अभावमें अत्यन्त शोकमग्न रहा करती थी। दैवयोगसे इन्हें एक दिन घरमें मिट्टी खोदते समय पृथ्वीमें गड़ा हुआ धन एवं श्रीठाकुरजीकी एक प्रतिमा मिली। श्रीविट्ठलदासजीने खातीको बुलाकर कहा—देखो, तुम्हारे घरमें पृथ्वीमें गड़ा हुआ यह धन और श्रीठाकुरजीकी प्रतिमा मुझे मिली है, इसे ग्रहण करो। परंतु उस बढ़ईने इनके चरणोंमें माथा टेककर प्रणाम करके कहा—इस धनसे आप ही श्रीठाकुरजीकी सेवा करिये। हम तो आपके दर्शन और सत्संगसे ही परम सुखी हैं।

श्रीप्रियादासजी महाराजने श्रीविट्ठलदासजीके प्रति बढ़ईके दिव्य भावका इस प्रकार वर्णन किया है—

देख्यो जब कष्ट तन प्रभू जू स्वपन दियौ 'जावौ मधुपुरी' ऐसै तीन बार भाषियै।
आये जहाँ जाति पाँति छाये कछु औरै रंग देख्यो एक खाती साधु संग अभिलाखियै॥
तिया रहै गर्भवती सती मति सोचरती खोदि भूमि पाई प्रतिमा सुधन राखियै।
खातीको बुलाय कही, 'लही, यहु लेहु तुम' उन पाँय परि कह्यौ रूप मुख चाखियै॥ ३५१॥

अब श्रीविट्ठलदासजी सदा भगवान्‌की सेवा-पूजामें लगे रहते थे। धीरे-धीरे जब आपकी भक्ति चारों ओर फैल गयी तो बहुत-से लोग प्रेमपूर्वक आकर आपके शिष्य बन गये। आपके यहाँ रसिकजनों तथा गुणी गायकजनोंका बहुत बड़ा समाज एकत्रित होता था। एक बार ऐसे ही समाजके अवसरपर गुणीजनोंने बधाईके विविध पद गाये। सब लोग आनन्दसे झूम रहे थे। इस बीच वहाँ रूप-गुण-धनसे जटित एक नटी आयी और भगवान्‌के सामने नृत्य-गान करने लगी। जब वह विविध मूर्च्छनाओंके साथ कटीली तानसे

सबके हृदयमें प्रेमकी चटपटी-सी उत्पन्न करती हुई गाने लगी तो उसके कौशलपर रीझकर श्रीविट्ठलदासजीने प्रेमसे व्याकुल होकर अपने पुत्रको ही भगवान्‌के ऊपर न्यौछावर करके उस नटीको दे दिया।

श्रीविट्ठलदाससुत श्रीरंगीरायजी

श्रीविट्ठलदासजीके पुत्रका नाम श्रीरंगीराय था। श्रीराणासाहबकी एक पुत्री उनकी शिष्या थी। जब उसने सुना कि हमारे गुरुदेवजीको उनके पिताने न्यौछावरमें किसी नटिनीको दे दिया तो उसे बड़ा दुःख हुआ, उसने एकदम अन्न-जलका परित्याग कर दिया। राणासुताने उस नटिनीको संदेश कहलाया कि जितना धन चाहो उतना हमसे ले लो, परंतु मेरे श्रीगुरुदेवजीको मुझे वापस कर दो। उस नटिनीने उत्तरमें कहा कि द्रव्यकी मुझे किंचिन्मात्र भी चाहना नहीं है, हाँ मैं रीझकर तो अपना तन-मन तथा सर्वस्व दे सकती हूँ। तब राणाकी पुत्रीने श्रीविट्ठलदासजीसे पुनः समाज करानेकी प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना मानकर श्रीविट्ठलदासजीने दुबारा समाज किया। उसमें राणाकी पुत्रीने स्वयं भी नृत्य किया। उसके नृत्यपर रीझकर औरकी तो बात ही क्या, स्वयं वह नटिनी भी न्यौछावरमें उसे बहुत-सा द्रव्य देने लगी, परंतु उसने नहीं लिया।

वह नटिनी श्रीरंगीरायजीका सुन्दर शृंगार करके, उन्हें एक डोलेमें बिठाकर सभामें लायी और उन्हें श्रीठाकुरजीके द्वारपर ले जाकर न्यौछावर करके राणासुताको भेंट किया। जब राणासुताने उन्हें लेनेके लिये हाथ बढ़ाया तो उन्होंने कहा कि मैं तो मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रके न्यौछावर हो चुका हूँ, अतः तुम मुझे मत लो। परंतु प्रेमार्त उनकी शिष्या राणासुताने उन्हें ले ही लिया। इस प्रकार राणाकी पुत्रीका अभीष्ट सिद्ध तो हो गया, लेकिन दूसरे ही क्षण श्रीरंगीरायजीने अपना तन त्याग दिया। ऐसे श्रीरंगीरायजीको एवं उनकी-सी निष्ठाको कोई कहाँ पा सकता है।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

करैं सेवा पूजा और काम नहिं दूजा जब फैलि गई भक्ति भये शिष्य बहु भायकै।
बड़ोई समाज होत मानों सिंधु सोत आये बिबिध बधाये गुनी जन उठै गायकै॥
आई एक नटी गुण रूप धन जटी वह गावै तान कटी चटपटी सी लगायकै।
दिये पट भूषन लै भूख न मिटत किहूँ चहूँ दिसि हेरि पुत्र दियो अकुलायकै॥ ३५२॥
'रंगीराय' नाम ताकी सिष्या एक राना सुता भयो दुःख भारी नेकु जलहूँ न पीजियै।
कहि कै पठाई वासों चाहौ सोई धन लीजै मेरो प्रभु रूप मेरे नैननि कूँ दीजियै॥
द्रव्य तौ न चाहौं रीझि चाहौं तन मन दियौ फेरिकै समाज कियौ विनती कौ कीजियै।
जिते गुनी जन तिनै दियो अनगन दाम पाछे नृत्य कर्‍यौ आप देत सो न लीजियै॥ ३५३॥
ल्याई एक डोलामें बैठाय रंगीराय जू कौ सुन्दर सिंगार कही बार तेरी आइयै।
कियौ नृत्य भारी जो विभूति सो तौ वारि लिये भरि अंकवारी भेंट किये द्वार गाइयै॥
'मोहन न्यौछावर मैं भयौ मोहि लेहु मति' लियौ उन शिष्य तन तज्यौ कहा पाइयै।
कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक विचित्रन कौ जो पै लाल मित्र कियौ चाहौ हिये ल्याइयै॥ ३५४॥

श्रीहरिराम हठीलेजी

उग्र तेज ऊदार सुघर सुथराई सींवा।
प्रेम पुंज रस रासि सदा गदगद सुर ग्रीवा॥

भक्तन को अपराध करै ताको फल गायो।
हिरनकसिपु प्रहलाद परम दृष्टांत दिखायो॥
सस्फुट बकता जगत में राज सभा निधरक हियो।
हरिराम हठीले भजन बल राना को उत्तर दियो॥ ८५॥

श्रीहरिराम हठीलेजीने भजनके बलसे चित्तौड़के राणाके साथ निर्भय होकर उत्तर-प्रत्युत्तर किया। आप परम तेजस्वी, उदार, सुन्दर एवं स्वच्छता-पवित्रताकी सीमा थे। आप प्रेम-निधान तथा भक्तिरसकी राशि थे। प्रेमावेशके कारण आप सदा गद्गद वाणी बोलते थे। भक्तोंका अपराध करनेपर, उसका क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, यह बात आपने जोर देकर कही है और इसकी पुष्टिमें आपने हिरण्यकशिपु और श्रीप्रह्लादजीका ज्वलन्त दृष्टान्त दिया है। आप संसारमें बड़े स्पष्ट वक्ता थे। आपने राजसभामें भी निर्भय होकर राणाको उत्तर दिया॥ ८५॥

श्रीहरिराम हठीलेजीकी राणासे संवादकी घटना इस प्रकार है—

एक संन्यासी थे, उनका राणा साहबके साथ बड़ा स्नेह था। वे उनके साथ सदा चौपड़ खेला करते थे। उन्होंने राणा साहबका बल पाकर एक वैष्णव सन्तकी भूमि छिनवा ली थी। सन्तने राणाके पास जाकर पुकार की, परंतु वह चूँकि संन्यासीके वशमें था, अतः उसने सन्तको फटकारकर भगा दिया। सन्तकी सच्ची बातको भी झूठी करके अनसुनी कर दी। तब वे सन्त श्रीहरिरामजी हठीलेके पास आये और अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। श्रीहरिरामजीने उन वैष्णव सन्तको अपना भाई जानकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया, उन्हें बहुत प्रकारसे आश्वासन दिया और उनको साथ लेकर आगे-आगे राणाके पास चले। दोनों महानुभाव राणाके यहाँ गये और उससे वार्तालाप करनेकी प्रतीक्षामें बहुत देरतक बैठे रहे, परंतु उस विमुखने इसपर किंचित् ध्यान नहीं दिया कि मेरे यहाँ सन्त-महात्मा आये हैं। तब श्रीहरिरामजीने स्वयं वार्ता चलायी और राजाको समझाया कि वह सन्तकी भूमि संन्यासीसे दिलवा दें, परंतु जब उसने इनकी बातोंपर ध्यान नहीं दिया तो इन्होंने निर्भय होकर राणाको खूब फटकारा और अन्तमें उसे लोक-परलोकका भय दिखाकर सन्तकी भूमि पुनः वापस करवा दी।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

राना सों सनेह सदा चौपर कौं खेल्यौ करै ऐसो सो संन्यासी भूमि सन्तकी छिनाई है।
जायकै पुकार्‌यौ साधु झिरकि बिडार्‌यो पर्‌यौ विमुखके बस बात साँची लै झुठाई है॥
आये हरिराम जू पै सबही जताई रीति प्रीति करि बोले चल्यौ आगे आवै भाई है।
गये बैठे आयौ जन मनमें न ल्यायौ नृप तब समुझायो झार्‌यौ फेरि भू दिवाई है॥ ३५५॥

श्रीकमलाकरभट्टजी

पंडित कला प्रबीन अधिक आदर दें आरज।
संप्रदाय सिर छत्र द्वितिय मनों मध्वाचारज॥
जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि जानै।
परिपाटी ध्वजबिजै सदृस भागवत बखानै॥
श्रुति स्मृती संमत पुरान तप्त मुद्राधारी भुजा।
कमलाकर भट जगत में तत्वबाद रोपी धुजा॥ ८६॥

पण्डित श्रीकमलाकरभट्टजीने संसारमें तत्त्ववादकी ध्वजा फहरायी। आप शास्त्रार्थ, खण्डन-मण्डन एवं शंका-समाधानादिकी कलाओंमें बड़े चतुर थे। श्रेष्ठ पुरुष आपका बड़ा आदर करते थे। आप 'माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय' के सिरमौर थे। आपको देखकर ऐसा लगता था, मानो आप ब्रह्म-सम्प्रदाय-प्रवर्तकाचार्य श्रीमन्मध्वाचार्यजीकी ही प्रतिमूर्ति हों। आप भगवान्‌के सभी अवतारोंको पूर्णावतार ही जानते एवं मानते थे। श्रीमद्भागवतकी 'विजयध्वजी' टीकाकी पद्धतिसे श्रीमद्भागवतकी व्याख्या करते थे। आपके वचन श्रुति-स्मृति-पुराणसम्मत होते थे। आप अपनी भुजाओंपर तप्त मुद्राओंको धारण किये हुए थे॥ ८६॥

श्रीकमलाकरभट्टजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

पण्डित श्रीकमलाकरजी भट्ट माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायके सिरमौर सन्त थे। आप अगाध पाण्डित्यसम्पन्न होते हुए भी अत्यन्त विनम्र और साधुस्वभावके थे। एक बार आप एकान्तमें बैठकर भगवल्लीलाओंका चिन्तन कर रहे थे, उसी समय एक शाक्तने आकर आपको शास्त्रार्थकी चुनौती दी। प्रथम तो आपने उसे यों ही टाल देना चाहा, परंतु जब वह जिद्द कर बैठा तो आप भी शास्त्रार्थके लिये तैयार हो गये। उसने विविध युक्तियोंसे अपने मतकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन किया, परंतु आपने अनायास ही उसके समस्त सिद्धान्तोंका ऐसा खण्डन किया कि उसकी वाणी मौन हो गयी। तब उसने उस दिनका शास्त्रार्थ स्थगित कर दिया और अगले दिन पुनः शास्त्रार्थ करनेके लिये कहकर घर चला गया। घर आकर उसने अपनी इष्टदेवीका ध्यान किया। देवीने साक्षात् प्रकट होकर उसे दर्शन दिया। तब उसने उपालम्भपूर्वक देवीसे पूछा कि आपने कल शास्त्रार्थमें मेरी सहायता क्यों नहीं की, मुझे अवमानित होना पड़ा? यह सुनकर देवीने कहा—'श्रीकमलाकरजी भट्ट भगवान्‌के परम भक्त हैं, भगवान्‌के भक्तोंपर मायाका प्रभाव नहीं चलता। भला भगवान्‌के सम्मुख मेरी क्या सत्ता? वे तो मेरे भी स्वामी हैं।' भक्त, भक्ति और भगवान्‌की यह महिमा सुनकर उस शाक्तकी आँखें खुल गयीं और उसने श्रीकमलाकरजी भट्टका शिष्यत्व स्वीकारकर उनसे वैष्णवी दीक्षा ले ली।

श्रीनारायणभट्टजी

गोप्य स्थल मथुरा मँडल जिते बाराह बखाने।
(ते) किए नरायन प्रगट प्रसिध पृथ्वी में जाने॥
भक्ति सुधा को सिंधु सदा सतसंग समाजन।
परम रसग्य अनन्य कृष्न लीला को भाजन॥
ग्यान समारत पच्छ को नाहि न कोउ खंडन बियो।
ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियो॥ ८७॥

श्रीव्रजभूमिकी उपासना करनेवाला श्रीनारायणभट्टजी-सरीखा भक्त भगवान्‌ने बहुत परिश्रम करके एक ही बनाया। श्रीवाराहपुराणमें मथुरामण्डल (चौरासी कोस)-के जितने तीर्थोंका वर्णन किया गया है, कालके प्रभावसे वे सभी तीर्थ लुप्तप्राय हो गये थे। श्रीनारायणभट्टजीने उन सभी तीर्थोंको प्रकट और प्रसिद्ध किया, यह बात सर्वप्रसिद्ध है और सारी पृथ्वीके लोग जानते हैं। आप भक्तिरसामृतके समुद्र थे तथा सदा ही सन्तोंके समाजमें विराजमान होकर सत्संग किया करते थे। आप परम रसज्ञ, अनन्य निष्ठावान् तथा श्रीकृष्णलीलामृतको धारण करनेके लिये उत्तम पात्र एवं नित्यलीलाके पात्र थे। शुष्कज्ञान तथा कोरे कर्मकाण्डका खण्डन करके भक्तिकी स्थापना करनेवाला आपके समान दूसरा कोई नहीं हुआ॥ ८७॥

श्रीनारायणभट्टजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनारायणभट्टजीका जन्म दक्षिण भारतके मदुरानगरमें वैशाख शु० १४, सं० १५८८ वि० को हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीभास्करभट्ट और माताका नाम यशोमति था। यथासमय उपनयन-संस्कार होनेके बाद आपने अपने पितृव्य श्रीशंकरभट्टजीसे वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना प्रारम्भ किया और बारह वर्षकी अवस्थामें ही उसे पूर्ण कर लिया। भगवान् श्रीराधा-माधव और ब्रज-वृन्दावनके प्रति अनुरागपूर्ण भक्तिभाव आपमें बचपनसे ही था।

एक दिन आप श्रीगोदावरीजीमें स्नान करके स्तोत्रपाठ करते हुए युगलसरकारका ध्यान कर रहे थे। उसी समय प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवजीने प्रकट होकर आपको दर्शन दिया और उपासना-रहस्योपदेशके साथ-साथ यह आदेश दिया कि तुम शीघ्र ही ब्रज जाकर मेरी लीलास्थलियोंका प्रकाश करो। यह कहकर श्रीभगवान्ने आपको अपना 'लाडिलेय' नामक बालस्वरूपवाला श्रीविग्रह प्रदान किया और कहा कि इसकी सेवा-पूजासे तुमको व्रजलीलाके रहस्योंका बोध हो जायगा। इस अलौकिक घटनाके उपरान्त आप व्रजमें निवास करने और लुप्त तीर्थोंका प्राकट्य करनेके लिये घरसे चल दिये और ढाई वर्षतक तीर्थाटन करके वि० सं० १६०२ में आप व्रज पहुँचे। श्रीव्रजधाम पहुँचनेपर सर्वप्रथम आप श्रीगोवर्धनके समीपस्थ श्रीराधा-कुण्ड गये, जहाँ चैतन्यमतानुयायी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीने इन्हें अपने सम्प्रदायमें आत्मसात् किया। इस प्रकार श्रीनारायणभट्टजीने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजीसे सम्प्रदायके सिद्धान्तों एवं उपासना-रहस्यका अध्ययन किया। तदुपरान्त आपने भगवान्की आज्ञाका स्मरणकर व्रजके लुप्त तीर्थोंका उद्धार करनेका निश्चय किया। सर्वप्रथम आपने श्रीराधाकुण्ड और श्यामकुण्डको प्रकट करानेकी योजना बनायी; परंतु उस समय कोई आपकी बातका विश्वास ही नहीं कर रहा था। तब आपने एक स्थानपर दस हाथकी गहराईतक धरतीका उत्खनन कराया तो वहाँ दहीसे भरे एक मृण्मय पात्रकी प्राप्ति हुई और टूटी सीढ़ियाँ भी दिखीं; जिससे लोगोंको आपकी बातका विश्वास हो गया। फिर तो आप सम्पूर्ण व्रजमण्डलमें घूम-घूमकर तीर्थोंको प्रकटित कराने लगे। व्रजवासी भी इसमें आपको पूर्ण सहयोग देते थे। उस समय अकबर दिल्लीका बादशाह था, वह भी आपके कार्योंसे अत्यन्त प्रभावित हुआ, अतः उसने अपने कोषाध्यक्ष राजा टोडरमलको आपकी सेवामें भेजा। श्रीटोडरमलजीके द्वारा सेवाकी प्रार्थना करनेपर आपने कहा कि यदि आपका विशेष प्रेम है तो मैंने जिन-जिन तीर्थोंको प्रकट किया है, उनका स्वरूपानुरूप आप निर्माण करा दीजिये। टोडरमलजीने सहर्ष आज्ञा स्वीकार की और तीर्थोंका सुन्दर ढंगसे निर्माण करा दिया। आपने श्रीबरसाने ग्राममें 'श्रीश्रीजी' और ऊँचे गाँवमें 'श्रीरेवतीरमण बलभद्रजी' के विग्रहोंका प्राकट्य किया था। इन विग्रहोंकी सेवा-पूजा आप स्वयं किया करते थे। आपने बारह वर्षतक श्रीराधाकुण्डपर तथा शेष जीवन ऊँचेगाँवमें निवास करते हुए व्यतीत किया और श्रीवामन-जयन्तीको गोलोक प्रस्थान कर गये।

आपके द्वारा किये गये कतिपय महत्त्वपूर्ण कार्योंका विवरण इस प्रकार है—

(१) मथुरा-मण्डलके गोप्य तीर्थोंका उद्धार, (२) व्रजके वन-उपवन, तीर्थों, देवी-देवताओंकी महिमा तथा भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिके प्रचारार्थ महान् ग्रन्थोंका प्रणयन, (३) रासलीला-अनुकरणका सर्वप्रथम प्राकट्य, रास-प्रचार तथा रास-मण्डलोंका निर्माण, (४) वन-यात्रा तथा व्रज-यात्राका प्रारम्भ, (५) श्रीरेवतीरमण बलदेव और लाडलीस्वरूपकी प्रतिष्ठा और (६) कीर्तनपद्धतिमें 'समाज' का आयोजन।

आपने अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन भी किया, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) ब्रजदीपिका, (२) ब्रजभक्तिविलास, (३) ब्रजप्रदीपिका, (४) ब्रजोत्सवचन्द्रिका, (५)

ब्रजमहोदधि, (६) ब्रजोत्सवाह्लादिनी, (७) बृहत्ब्रजगुणोत्सव, (८) ब्रजप्रकाश, (९) भक्तभूषणसन्दर्भ, (१०) भक्तिविवेक, (११) भक्तिरसतरंगिणी, (१२) साधनदीपिका, (१३) रसिकाह्लादिनी टीका, (१४) प्रेमांकुर नाटक, (१५) लाडिलेयाष्टक, (१६) धर्मप्रवर्तिनी, (१७) सिद्धान्तचूडामणि, (१८) नीतिश्लोकानि, (१९) ब्रजरत्नदीपिका, (२०) भक्तिरहस्य, (२१) राधाविनोदकाव्यस्य टीका।

एक बार आप मथुरामें विराजमान थे। माघका महीना था, बहुतसे लोग तीर्थराजप्रयागमें श्रीत्रिवेणीस्नानको जा रहे थे। आपने उन लोगोंसे कहा कि चलो, मैं दिखाऊँ, श्रीत्रिवेणीजी तो व्रजमें ही हैं। फिर आप सब लोग अन्यत्र कहाँ जा रहे हैं? तब लोगोंने आश्चर्यचकित होकर पूछा कि 'व्रजमें त्रिवेणी कहाँ है?' आपने कहा—'ऊँचे गाँवमें।' फिर आप सबको साथ लिवा लाये एवं भूमि खोदकर श्रीत्रिवेणीजीके तीन स्रोत सबको प्रत्यक्ष दिखा दिये।

श्रीप्रियादासजीने इन घटनाओंका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भट्ट श्रीनारायन जू भये व्रजपारायन जायँ जाही ग्राम तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिकै सुनावैं इहां अमुकौ स्वरूप है जू लीला कुण्ड धाम स्याम प्रगट दिखाये हैं॥
ठौर ठौर रासकै विलास लै प्रकास किये जिये यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।
मथुराते कही चलौ बेनी पूछै बेनी कहाँ ऊँचे गाँव आप खोदि स्रोत लै लखाये हैं॥ ३५६॥

श्रीब्रजबल्लभभट्टजी

नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरषावत।
अब लीला ललितादि बलित दंपतिहि रिझावत॥
अति उदार निस्तार सुजस ब्रज मंडल राजत।
महा महोत्सव करत बहुत सबही सुख साजत॥
श्रीनारायन भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किए।
ब्रजबल्लभ बल्लभ परम दुर्लभ सुख नैननि दिए॥ ८८॥

श्रीब्रजबल्लभजी सभीको अत्यन्त प्यारे थे, क्योंकि आपने सभीके नेत्रोंको रासलीलाका परम दुर्लभ सुख प्रदान किया। आप नृत्य-गानादि गुणोंमें बड़े प्रवीण थे। रासलीलामें आप अपने कौशलसे रसकी वर्षा करते थे और श्रीललितादि सखियोंके सहित दम्पती श्रीयुगलकिशोरको रिझाया करते थे। आप स्वभावसे बड़े उदार तथा प्राणियोंका भवसे निस्तार करनेवाले थे। आपका सुयश सम्पूर्ण व्रजमण्डलमें व्याप्त तथा शोभायमान है। आप बहुत-से महोत्सव करते थे, जिसमें सभीको परम सुख मिलता था। आपने श्रीस्वामी नारायणभट्टजीको अपने प्रेमरससे वशमें कर लिया था॥ ८८॥

श्रीब्रजबल्लभभट्टजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त श्रीब्रजबल्लभजी भट्ट श्रीनारायणभट्टजीके समकालीन सन्त थे। आपने श्रीनारायणभट्टजीके रास-प्रचार-कार्यमें अपूर्व सहयोग किया। एक बार आप रासलीलाके प्रसंगमें श्रीललिता सखीका स्वरूप धारणकर श्रीप्रिया-प्रियतमको रिझानेके लिये राधा-माधव युगलसरकारके गुणोंका गान करते हुए रसमय नृत्य कर रहे थे, अचानक आपके पेटमें असह्य पीड़ा होने लगी, रंगमें भंग हो गया। आप रासमण्डलसे श्रृंगारघरमें चले आये और 'हा कृष्ण', 'हा कृष्ण' पुकारते हुए पीड़ासे व्याकुल होकर लेट

गये। आपको अपने पेट-दर्दसे अधिक पीड़ा इस बातसे थी कि मैं श्रीप्रिया-प्रियतमकी यथोचित सेवा नहीं कर सका। सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान्‌ने उनके अन्तर्मनकी बात जान ली और तत्काल आपका वेष धारणकर रासमण्डलमें विराजमान श्रीराधा-कृष्णस्वरूपके आगे पूर्ववत् नृत्य करने लगे। उस समय रासमण्डलमें ऐसा आनन्द छाया कि सभी लोग चित्रलिखितसे हो गये, सबका शरीर पुलकायमान हो गया तथा सबके नेत्र प्रेमाश्रुओंसे छलछला उठे। उधर एक सेवक श्रीब्रजबल्लभजीको दवा देकर रासमण्डलमें आया तो देखा कि वे यहाँ नृत्य कर रहे हैं। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ, वह पुनः शृंगारघरमें आया तो देखा श्रीब्रजबल्लभजी पीड़ासे कराह रहे हैं और 'हा कृष्ण', 'हा कृष्ण' पुकार रहे हैं। यहाँसे जब वह पुनः रासमण्डलमें गया तो देखा कि वहाँ तो ब्रजबल्लभजी प्रेमोल्लासमें आनन्दमग्न हो नृत्य कर रहे हैं। दोनों जगह वह आपको देखकर आश्चर्यचकित हो गया, सहसा तो उसे अपनी आँखोंपर विश्वास ही नहीं हो रहा था, फिर वह शृंगारघरमें आया और आपसे रासमण्डलमें हो रहे अद्भुत नृत्यका समाचार बताया। आपने किसी प्रकार पीड़ाको दबाकर धैर्य धारण किया और रासमण्डलमें आये और वहाँका दृश्य देखा तो आपकी भी आँखें फटीकी फटी रह गयीं; परंतु इस रहस्यको समझनेमें आपको देर न लगी कि स्वयं प्रभु ही मेरा रूप धारणकर नृत्य कर रहे हैं। प्रभुकी इस कृपावत्सलताको देख आप आनन्दाधिक्यमें मूर्च्छित हो गये। दूसरे दिन जब चैतन्य हुए तो आपने इस रहस्यका उद्घाटन किया।

श्रीरूपसनातनजी

गौड़ देस बंगाल हुते सबही अधिकारी।
हय गय भवन भँडार बिभव भूभुज उनहारी॥
यह सुख अनित बिचारि बास बृंदाबन कीन्हो।
जथा लाभ संतोष कुंज करवा मन दीन्हो॥
ब्रज भूमि रहस राधाकृषन भक्त तोष उद्धार कियो।
संसार स्वाद सुख बांत ज्यों (दुहुँ) रूप सनातन तजि दियो॥ ८९॥

श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजी—इन दोनों भाइयोंने संसार-स्वादके सब सुखोंका वमन (उलटी)-की भाँति परित्याग कर दिया। आप दोनों भाई पहले बंगाल-प्रान्तस्थ गौड़देशके शासकके यहाँ उच्चाधिकारी थे। आपके पास राजाओंके समान घोड़े-हाथी, महल-मकान, कोष-खजाना, भोग-ऐश्वर्यादि थे। परंतु इस संसारके सुखको अनित्य विचारकर आप दोनोंने सब कुछ छोड़कर श्रीवृन्दावनमें दृढ़वास किया। भगवदिच्छासे शरीर-निर्वाहके लिये सहजमें जो कुछ भी मिल जाता, उसीमें संतोष करते थे। राज्यैश्वर्यसे मन हटाकर परम वैराग्यपूर्ण जीवन बिताते थे। आप दोनोंने श्रीव्रजभूमिके रहस्यों तथा श्रीराधाकृष्णके रहस्य-तत्त्वोंको प्रकटकर भक्तोंको परम संतोष प्रदान किया तथा जगत्‌के जीवोंका उद्धार किया॥ ८९॥

श्रीरूप-सनातनके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

चार सौ वर्षसे अधिक बीत चुके, बंगालके सिंहासनपर हुसैनशाह नामक एक मुसलमान शासक अधिष्ठित था, उसके उच्चपदस्थ कर्मचारी प्रायः हिन्दू ही थे। बादशाहके उच्चपदाधिकारियोंमें रूप और सनातन नामके दक्षिणके दो ब्राह्मण-बन्धु मन्त्रीके पदपर प्रतिष्ठित थे। मुसलिम शासकके सान्निध्य तथा राजसी परिवेशके प्रभावसे इनका रहन-सहन भी मुसलमान रईसों-जैसा हो गया था। बादशाहने भी इनके

मुसलिम नाम रख दिये थे। राज्यमें ये 'दबिर खास' और 'शाकिर मल्लिक' के नामसे प्रसिद्ध थे। सनातनका असली नाम 'अमर' और रूपका नाम 'सन्तोष' था। हुसैनशाह इन्हें अपना दाहिना हाथ समझता था। वेष-भूषासे ये पूरे मुसलमान प्रतीत होते थे। इतना सब होनेपर भी इनका हृदय हिन्दू-भावोंसे भरा था। श्रीराम और श्रीकृष्णके प्रति इनका अनुराग था। ब्राह्मण-साधुओंमें इनकी भक्ति थी। रामकेलि ग्राममें इनके घरपर ब्राह्मण-साधुओंका प्रायः मेला-सा लगा रहता था। अनेक विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण इनके द्वारा हुआ करता था। इनके छोटे भाई 'अनूप' घर रहा करते थे और ये दोनों अधिकांश समय बादशाहके पास गौड़में रहते थे।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका नाम सुनकर उनके प्रति स्वाभाविक ही इनकी श्रद्धा हो गयी और उस श्रद्धाने क्रमशः बढ़कर एक प्रकारकी विरह-वेदनाका-सा रूप धारण कर लिया। दोनों भाई श्रीचैतन्यके दर्शनके लिये बड़े उत्कण्ठित हो गये। दबिर खास और शाकिर मल्लिककी तीव्र दर्शनाभिलाषाने श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मनको खींच लिया। महाप्रभुसे अब नहीं रहा गया और वे वृन्दावन जानेके बहाने गंगाजीके किनारे-किनारे चलकर गौड़के समीप जा पहुँचे। जब महाप्रभु गौड़के समीप पहुँचे, तब उनके हजारों भक्तोंके दलकी तुमुल हरिध्वनिसे सारा नगर गूँज उठा। दोनों भाइयोंके हृदय आनन्दसे गद्गद और रोम पुलकायमान हो गये, परंतु उन्हें मनमें यह भय भी बना रहा कि कहीं स्वेच्छाचारी मुसलमान बादशाह महाप्रभुके दलको कोई कष्ट न पहुँचा दे। वे चाहते थे कि महाप्रभु यहाँसे शीघ्र ही चले जायँ तो ठीक है। परंतु उनका दर्शन करनेके लिये दोनोंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही थी। इसलिये बाहर-के-बाहर उन्हें लौटाना भी नहीं चाहते थे। महाप्रभु गौड़में आ पहुँचे। वे दर्शन दिये बिना कब लौटनेवाले थे, वे तो आये ही थे दोनों भाइयोंको संसार-कूपसे खींचकर बाहर निकालनेके लिये! रातको दोनों भाई महाप्रभुके दरबारमें पहुँचे। प्रभु अपने प्रियतम परमात्माके प्रेममें समाधिस्थ थे। श्रीनित्यानन्दजीने चेष्टा करके उनकी समाधि भंग करवाकर दोनों भाइयोंका परिचय कराया। दोनों मुँहमें तिनके दबाकर और गलेमें कपड़ा डालकर महाप्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'प्रभो! आपने पतित और दीनोंका परित्राण करनेके लिये ही पृथ्वीपर पदार्पण किया है, हम-जैसे दयनीय पतित आपको और कहाँ मिलेंगे? आपने जगाई-मधाईका उद्धार किया, परंतु वे तो अज्ञानसे पाप करते थे। उद्धार तो सबसे पहले हमारा होना चाहिये; क्योंकि हमने तो जान-बूझकर पाप किये हैं, वास्तविक पतित तो हमीं हैं नाथ! अब आपके सिवा हमें और कहीं ठौर नहीं है।'

महाप्रभु उनकी निष्कपट दीनताको देखकर मुग्ध हो गये, दयासे उनका हृदय द्रवित हो गया। वे बोले—'उठो, दीनताको दूर करो; तुम्हारी इस दीनताको देखकर मेरा हृदय फटा जा रहा है, तुम मुझे बड़े प्रिय हो। मैं यहाँ तुम्हीं दोनों भाइयोंसे मिलने आया हूँ। तुम निश्चिन्त रहो। शीघ्र ही तुमपर श्रीकृष्णकी कृपा होगी। आजसे तुम्हारा नाम 'सनातन' और 'रूप' हुआ।' महाप्रभुके वचन सुनकर सनातन और रूपका हृदय आनन्दसे भर गया और वे कृतज्ञतापूर्ण दृष्टिसे महाप्रभुके मुख-कमलकी ओर एकटकी लगाकर देखने लगे। उनके जीवन-स्रोतकी दिशा सहसा बदल गयी!

इसके बाद महाप्रभुने सनातनके परामर्शसे इतने लोगोंको साथ लेकर वृन्दावन जानेका विचार छोड़ दिया और वापस नीलाचल (पुरी)-की ओर लौट गये।

इधर रूप-सनातनकी दशा कुछ और ही हो गयी। वैराग्य उमड़ पड़ा। राज्य-वैभव और मन्त्रित्वसे मन हट गया। एक क्षण भी राजकाजमें रहना उनके लिये नरक-यन्त्रणाके समान दुःखदायी हो गया। सनातनकी अनुमतिसे रूप तो छुट्टी लेकर अपने घर रामकेलि चले गये। सनातन बीमारीका बहाना करके

डेरेपर ही रहने लगे। रूपने दो गुप्तचर महाप्रभुके समीप नीलाचल भेज दिये और उन्हें ताकीद कर दी कि महाप्रभुके वृन्दावनकी ओर प्रयाण करते ही शीघ्र लौटकर मुझे सूचना देना। इस बीचमें धन-सम्पत्तिको लुटाकर रूप वृन्दावन जानेके तैयारी करने लगे। इनके छोटे भाईका नाम अनुपम था, वह पहलेसे ही बड़ा श्रद्धालु था। उसने भी भाईके साथ ही घर छोड़नेकी तैयारी कर ली। रूप-सनातनके कोई संतान नहीं थी; अनुपमके 'जीव' नामक एक पुत्र था, उसे थोड़ा-सा धन सौंपकर शेष सारा धन गरीबोंको लुटा दिया गया। इतनेमें समाचार मिला कि सनातनको बादशाहने कैद कर लिया है। जानी हुई-सी बात थी। रूप और अनुपमने शीघ्र ही चले जानेका विचार किया और अनुचरोंके नीलाचलसे लौटते ही महाप्रभुके वृन्दावन-गमनकी बात सुनकर दोनों भाई वृन्दावनको चल दिये। जाते समय एक पत्र सनातनको इस आशयका लिख गये कि 'हमलोग दोनों वृन्दावन जा रहे हैं। किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाकर आप भी शीघ्र आइये, आवश्यक व्ययके लिये दस हजार रुपये मोदीके यहाँ रख दिये गये हैं।'

सदा अमीरी ठाटमें रहनेवाले रूप और अनूपकी आज कुछ विचित्र ही अवस्था है। उन्होंने सारे वस्त्र और आभूषण उतारकर फेंक दिये हैं, तनपर एक-एक फटी गुदड़ी है और कमरमें एक-एक कौपीन है। भूख-प्यास और नींदकी कुछ भी परवा नहीं है, पासमें एक कौड़ी नहीं है। वे सहर्ष कष्ट सहन करते हुए पैदल चले जा रहे हैं। अपने-आप जो कुछ खानेको मिल जाता है, उसीसे उदरपूर्ति करके रातको चाहे जहाँ पड़ रहते हैं; परंतु उनके मनमें कोई दुःख नहीं है। चलते-चलते दोनों भाई प्रयाग पहुँचे। वहाँ जाते ही अनायास पता लग गया कि महाप्रभु यहींपर हैं। दोनों भाई दाँतों-तले तिनका दबाकर जगत्‌के बड़े-से-बड़े दीन और कंगालकी तरह काँपते-रोते और पड़ते-उठते महाप्रभुके चरणोंमें जाकर गिर पड़े और दोनों ही प्रेमके आवेशमें मतवाले-से हो गये। कुछ समयके बाद धीरज धरकर बोले—'हे दीनदयामय! हे पतितपावन! हे नाथ! हम-जैसे पतितोंको तुम्हारे अतिरिक्त और कौन आश्रय देगा?'

महाप्रभुने इससे पूर्व सिर्फ एक दिन रातके समय रूपको देखा था, परंतु अब उसे देखते ही तुरंत पहचानकर महाप्रभु हँसकर बोले—

'उठो, उठो, रूप! दीनता छोड़ दो, तुमलोगोंपर श्रीकृष्णकी अपार कृपा है। तभी तो उन्होंने तुमलोगोंको विषय-कूपसे निकाल लिया है।'

रूपने कहा—'प्रभो! सुना है कि सनातनको बादशाहने कैद कर लिया है।' प्रभु बोले—'घबराओ मत! सनातन कैदसे छूट गया है और मेरे समीप आ रहा है!' रूप और अनुपम उस दिन महाप्रभुके पास ही रहे और वहीं प्रसाद लिया।

महाप्रभुने कई दिनोंतक उन्हें प्रयागमें अपने पास रखा। रूपके द्वारा प्रभुको बहुत बड़ा कार्य करवाना था, वृन्दावनकी दिव्य प्रेमलीलाको पुनर्जीवन देना था। इसलिये रूपको एकान्तमें रखकर लगातार कई दिनोंतक महाप्रभुने उसको भक्तिका यथार्थ रहस्य भलीभाँति समझाकर अन्तमें कहा—'रूप! मैं काशी जाता हूँ। तुम वृन्दावन जाओ, मेरी आज्ञाका पालन करो, जीवोंका कल्याण करो, अपने सुखकी आशा छोड़कर वृन्दावन जाओ और इसके बाद यदि इच्छा हो तो मुझसे नीलाचलमें मिलना।' यों कहकर प्रभु वहाँसे चल दिये। बड़े कष्टसे धैर्य धारणकर प्रभुके आज्ञानुसार रूप अपने छोटे भाई अनुपमके साथ वृन्दावनको चले!

रूप और अनुपमको वृन्दावन भेजकर महाप्रभु काशी चले गये और वहाँ श्रीचन्द्रशेखरके मकानमें ठहरे। इधर सनातनने गौड़के कारागारमें रूपका पत्र पाकर शीघ्र ही वहाँसे निकलकर महाप्रभुके समीप जानेका विचार कर लिया तथा मौकेसे द्वाररक्षकको दस हजार मुहरें देकर वे कारागारसे निकल पड़े और उसीकी

सहायतासे रातोंरात गंगाके उस पार चले गये। ईशान नामक एक नौकर इनके साथ था। उसने छिपाकर आठ मुहरें अपने पास रख ली थीं। पातड़ा ग्राममें भौमिकोंने मुहरोंके लोभसे सनातनका बड़ा आदर किया। उनके मनमें पाप था, वे रातको सनातन और ईशानको मारकर मुहरें छीनना चाहते थे। सनातनने मनमें सोचा कि ये लोग मेरा इतना सम्मान क्यों करते हैं, इनको लुभानेकी मेरे पास तो कोई वस्तु नहीं है। उनके मनमें सन्देह हुआ और उन्होंने ईशानसे पूछा—'मालूम होता है तुम्हारे पास कुछ धन है।' ईशानने एक मुहर छिपाकर कहा—'हाँ, सात मुहरें हैं।' सनातनने कहा—'भाई! इस पापको अपने पास क्यों रखा? यदि तुम इस समय न बताते तो रातको ये भौमिक बिना मारे न छोड़ते।' उससे सातों मुहरें लेकर सनातनने भौमिकोंको दे दीं, शेष एक मुहरका और पता लगनेपर सनातनने वह मुहर ईशानको देकर उसे वापस देश लौटा दिया, सारा बखेड़ा निपटा। सुखपूर्वक सनातन अकेले ही चलने लगे। सन्ध्याके समय हाजीपुर नामक स्थानमें पहुँचे और एक जगह बैठकर बड़े ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णके पावन नामका कीर्तन करने लगे। उन्हें सच्ची शान्ति और विश्रान्ति इसीमें मिलती थी। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है।

सनातनके बहनोई श्रीकान्त बहुत दिनोंसे हाजीपुरमें थे। वे गौड़ बादशाहके लिये घोड़े खरीदने आये थे। सन्ध्याका समय था, श्रीकान्त एक तरफ बैठे आराम कर रहे थे। उनके कानोंमें हरिनामकी मीठी आवाज गयी, पहचाना हुआ-सा स्वर था, श्रीकान्त उठकर सनातनके पास आये और देखते ही अवाक् रह गये। उन्होंने देखा, सनातनका शरीर जीर्ण हो गया है, वे फटी हुई मैली-सी धोती पहने हुए हैं, दाढ़ी बढ़ रही है, मुखपर वैराग्यकी छाया पड़ी हुई है और जोर-जोरसे मतवालेकी भाँति हरिनामका उच्चारण कर रहे हैं। श्रीकान्तने सनातनको पुकारकर सचेत किया और उनके पास बैठकर इस हालतका कारण पूछा। सनातनने संक्षेपमें सारी कहानी सुना दी। श्रीकान्तने कहा—'ऐसा ठीक नहीं, घर लौट चलिये।' सनातनने कहा—'घर ही तो जा रहा हूँ। अबतक घर भूला हुआ था, पराये घरको घर माने हुए था; अब पता लग गया है, इसीलिये तो दौड़ता हूँ। आँखें खुलनेपर स्वप्नके महलोंमें कौन रहता है?' श्रीकान्तने समझानेकी बड़ी चेष्टा की, परंतु समझे हुएको भूला हुआ क्या समझायेगा! जहाँ वैराग्यका सागर उमड़ा हो, वहाँ विषयरूपी कूड़ेको कहाँ स्थान मिल सकता है? श्रीकान्तकी बातें सनातनके जाग्रत् हृदयको स्पर्श नहीं कर सकीं, ऊपर-ही-ऊपर उड़ गयीं। श्रीकान्तने समझा कि अब ये नहीं मानेंगे। अतएव सनातनके घर लौटनेकी आशा छोड़कर उन्होंने उनके राह-खर्चके लिये कुछ देना चाहा। सनातनने कुछ भी नहीं लिया। गहरा जाड़ा पड़ रहा था, श्रीकान्तने एक बढ़िया दुशाला देना चाहा, सनातनने उसे भी नहीं लिया। श्रीकान्त रोने लगे, उनका रोना देखकर सनातनका मन पिघला। भक्त बड़े कोमल-हृदय होते हैं, उनसे दूसरेका दुःख नहीं देखा जाता। अतएव श्रीकान्तके मनको शान्त और सुखी करनेके लिये उन्होंने उनसे एक भूटानी कम्बल ले लिया और देखते-ही-देखते वहाँसे चल पड़े। श्रीकान्त चुपचाप खड़े रोते रह गये।

महाप्रभु जिस राहसे, जिस गाँवसे और जिस नगरसे जाते थे, सभी जगह अपना एक निशान छोड़ जाते थे—वह था हरिनामकी तुमुल और मत्त-ध्वनि। अतएव सनातनको खोज करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। वे प्रेममें झूमते हुए हरिनामपरायण लोगोंको महाप्रभुका मार्ग-चिह्न समझकर काशी जा पहुँचे और वहाँ जाकर इसी प्रकार सीधे चन्द्रशेखरके मकानके समीप पहुँच गये। खोज प्रत्यक्ष थी। लाखों नर-नारी मिलकर हरिध्वनि कर रहे थे। सनातनका मन प्रफुल्लित और शरीर पुलकित हो गया। वे धीरे-धीरे जाकर चन्द्रशेखरके दरवाजेपर बैठ गये। महाप्रभु घरके भीतर हैं और सनातन बाहर बैठे हुए प्रभुके श्रीचरणोंका ध्यान कर रहे हैं। अन्दर जानेका साहस नहीं होता। अपने पापोंको स्मरण करके मनमें सोचते हैं कि 'क्या

मुझपर भी प्रभुकी कृपा होगी? मुझ-सरीखे घोर नारकी जीवकी ओर क्या प्रभु निहारेंगे?' सनातनके मनमें कहींपर भी कपट या दम्भकी गन्धतक नहीं है। सरल और शुद्ध हृदयसे पापोंकी स्मृतिके अनुतापसे दग्ध होते हुए सनातन आज प्रभुकी शरण चाहते हैं।

सर्वज्ञ महाप्रभुने घरके अन्दर बैठे हुए ही इस बातको जान लिया कि बाहर सनातन बैठे हैं। अतएव उन्होंने चन्द्रशेखरसे कहा कि 'दरवाजेपर जो वैष्णव बैठा है, उसे अन्दर बुला लाओ।' आज्ञानुसार चन्द्रशेखर बाहर गया और वहाँ किसी वैष्णवको न देखकर वापस लौटकर बोला कि 'बाहर तो कोई वैष्णव नहीं है।' महाप्रभुने कहा—'क्या दरवाजेपर कोई नहीं बैठा है?' चन्द्रशेखरने कहा—'दरवाजेपर एक फकीर-सा तो बैठा है।' महाप्रभुने कहा—'जाओ! उसीको बुला लाओ।' सनातनके कपड़े-लत्ते वैष्णवके-से नहीं थे; परंतु उसका अन्तर तो विष्णुमय था। अन्तरको पहचानना अन्तर्यामीका ही काम है।

चन्द्रशेखर यह सुनकर आश्चर्य करने लगा। सोचने लगा कि आज प्रभु इस फकीरको क्यों बुला रहे हैं। परंतु महाप्रभुके सामने कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ और उसने बाहर जाकर सनातनसे कहा—'आप कौन हैं? आपको प्रभु बुला रहे हैं!' 'प्रभु बुला रहे हैं!' इन शब्दोंने बिजलीका-सा काम किया। सनातनके हृदयमें हर्ष, आशा, चिन्ता, भय, भक्ति और लज्जा आदि अनेक भावोंकी तरंगें उठने लगीं। उन्होंने कहा—'हैं! क्या प्रभु बुलाते हैं? क्या सचमुच ही मुझे बुलाते हैं? आप भूल तो नहीं रहे हैं? भला, प्रभु मुझे क्यों बुलाने लगे। वे और किसीको बुलाते होंगे!' चन्द्रशेखरने कहा—'प्रभु आपको ही बुलाते हैं, आप अन्दर पधारिये!'

सनातनके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ा, परंतु अपनी स्वाभाविक दीनतासे वे दाँतों-तले तिनका दबाकर अपराधीकी भाँति चुपचाप अन्दर जाकर प्रभुके चरणोंमें लकुटकी तरह गिर पड़े। दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगी। सनातन बोले—'प्रभो! मैं पामर हूँ; मैंने आजीवन कामादि षड्विकारोंकी सेवा की है, विषय-भोगको ही सुख माना है, दिन-रात नीचोंके साथ नीच कर्म करनेमें रत रहा हूँ। इस मनुष्य-जन्मको मैंने व्यर्थ ही खो दिया; मुझ-सरीखा पापी, अधम, नीच और कुटिल और कौन होगा। प्रभो! आज आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अपनी स्वाभाविक दयालुताकी तरफ खयाल करके मुझे चरणोंमें स्थान दो। इस अधमको इन चरणोंके सिवा और कहाँ आश्रय मिलेगा।'

प्रभु सनातनके इन शब्दोंको नहीं सुन सके, उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया। सनातनको जबरदस्ती उठाकर प्रभुने अपनी छातीसे लिपटा लिया। सनातनके नेत्रोंकी अश्रुधारा मानो मन्दाकिनीकी धारा बनकर महाप्रभुके सशरीर चरणोंको धोने लगी और महाप्रभुके नेत्रोंकी प्रेमाश्रुधारा सनातनके मस्तकको सिंचनकर उसे सहसा पापमुक्त करने लगी।

सनातन कहने लगे—'प्रभो! मुझे आप क्यों स्पर्श करते हैं? मेरा यह कलुषित कलेवर आपके स्पर्श-योग्य नहीं है। इस घृणित और दूषित देहको आप स्पर्श न कीजिये।' प्रभुने कहा—'सनातन! दीनताका त्याग करो।

तुम्हारी दीनता देखकर मेरा कलेजा फटा जाता है; जब श्रीकृष्ण कृपा करते हैं, तब भले-बुरेका विचार नहीं करते। श्रीकृष्ण तुम्हारे सम्मुख हुए हैं; तुमपर श्रीकृष्णकी इतनी कृपा है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। तभी तो उन्होंने तुम्हें विषयकूपसे निकाल लिया है। तुम्हारा शरीर निष्पाप है; क्योंकि तुम्हारी बुद्धि श्रीकृष्ण-भक्तिमें लगी हुई है। मैं तो अपनेको पवित्र करनेके लिये ही तुम्हें स्पर्श करता हूँ।'

यों कहकर महाप्रभुने सनातनके भाग्यकी बड़ी ही प्रशंसा की और कहा कि श्रीकृष्ण-प्रेम होनेपर

वास्तवमें ऐसी ही दीनता हुआ करती है। इसके बाद महाप्रभुने सनातनसे उसकी कारामुक्तिके सम्बन्धमें पूछा। सनातनने संक्षेपसे सारी कथा सुना दी।

महाप्रभुने चन्द्रशेखरसे कहा कि 'सनातनका मस्तक मुण्डनकर और इसे स्नान करवाकर नये कपड़े पहना दो। स्नान कर चुकनेपर जब तपन मिश्र नामक एक भक्त सनातनको नयी धोती देने लगे, तब सनातनने कहा—'यदि आप मुझे वस्त्र देना चाहते हैं तो कोई फटा-पुराना कपड़ा दे दीजिये, मुझे नये कपड़ेसे क्या प्रयोजन है।' सनातनका आग्रह देखकर मिश्रने एक पुरानी धोती दे दी और सनातनने फाड़कर उसके दो कौपीन बना लिये। सनातनके इस वैराग्यको देखकर महाप्रभु मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए, परंतु श्रीकान्तकी दी हुई कम्बल सनातनके कन्धेपर इस समय भी पड़ी हुई थी। महाप्रभुने दो-चार बार उसकी ओर देखा; तब सनातनने समझा कि मैंने अबतक यह सुन्दर कम्बल अपने पास रख छोड़ा है, मेरी विषयवासना दूर नहीं हुई है, इसीसे प्रभु बार-बार इसकी ओर ताककर मुझे सावधान कर रहे हैं। सनातनने गंगा-तटपर जाकर वह कम्बल एक गरीबको दे दिया, बदलेमें उससे फटी गुदड़ी लेकर उसे ओढ़ लिया। जब महाप्रभुने सनातनको गुदड़ी ओढ़े देखा, तब वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि 'सनातन! श्रीकृष्णने तुम्हारे विषय-रोगको आज समूल नष्ट कर दिया; भला, उत्तम वैद्य रोगका जरा-सा अंश भी शेष क्यों रहने देता है?'

महाप्रभुने सनातनको लगातार दो महीनेतक भक्ति-तत्त्वकी परमोत्तम शिक्षा देकर उनसे वृन्दावन जानेको कहा और वहाँ रूप-अनुपमके साथ मिलकर श्रीकृष्णका कार्य-सम्पादन करनेके लिये आदेश दिया।

महाप्रभु तो नीलाचल चले गये और उनकी आज्ञा पाकर सनातन वृन्दावन आये। वृन्दावन आनेपर पता लगा कि उनके भाई रूप और अनुपम दूसरे मार्गसे काशी होते हुए देश चले गये हैं। सनातन वनमें एक पेड़के तले रहने लगे। प्रतिदिन जंगलसे लकड़ियाँ लाकर बाजारमें बेचते और उसीसे अपना निर्वाह करते; जो कुछ बच रहता, सो दीन-दुःखियोंको बाँट देते! एक दिन जो बंगालके हर्ता-कर्ता थे, आज वे ही हरिप्रेमकी मादकताके प्रभावसे ऐसे दीन बन गये!

कुछ समयतक वृन्दावनमें निवास करके सनातन महाप्रभुसे मिलनेके लिये नीलाचलकी ओर चले। रास्तेमें उन्हें एक चर्मरोग (कुष्ठ) हो गया। कविराज गोस्वामीने लिखा है कि झारखण्डके दूषित जलपानसे उनको यह रोग हो गया था। जो कुछ भी हो, सनातन रोगाक्रान्त होकर नीलाचल पहुँचे और अपनेको दीन, हीन और पतित मानकर श्रीहरिदासजीके यहाँ ठहर गये। श्रीहरिदासजीके यहाँ महाप्रभु रोज जाया करते। उन्होंने जाकर सनातनको देखा, सनातन दूरसे ही चरणोंमें प्रणाम करने लगे। महाप्रभुने दौड़कर उन्हें छातीसे लगाना चाहा; पर सनातन पीछे हट गये और बोले कि 'प्रभो! आप मुझे स्पर्श न करें, मैं अत्यन्त नीच तो हूँ ही, तिसपर मुझे कोढ़ हो गया है। इसलिये क्षमा करें।' महाप्रभुने कहा—'सनातन! तुम्हारा शरीर मेरे लिये बड़ा ही पवित्र है, तुम श्रीकृष्णके भक्त हो; तुमसे जो घृणा करेगा, वही अस्पृश्य है।' यों कहकर महाप्रभुने सनातनको जबरदस्ती छातीसे लिपटा लिया, सनातनके कोढ़का मवाद महाप्रभुके सारे शरीरमें लग गया। महाप्रभुने सनातनसे कहा कि 'तुम्हारे दोनों भाई यहाँ आकर दस महीने रहे थे; इसके बाद रूप तो वापस वृन्दावन लौट गये हैं और अनुपमको यहीं श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो गयी है।' छोटे भाईका मरण सुनकर सनातनको खेद हुआ। प्रभुने आश्वासन देकर सनातनसे कहा कि 'तुम यहीं हरिदासजीके पास रहो; तुम दोनोंका ही श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम है, तुमलोगोंपर शीघ्र ही श्रीकृष्ण कृपा करेंगे।' यों कहकर महाप्रभु चले गये और इसी प्रकार रोज-रोज वहाँ आकर सनातनको आलिंगन करने लगे। सनातनके मनमें इससे बड़ा क्षोभ होता था।

भगवान् मंगलमय परम पिता हैं, वे तो अपनी संतानपर नित्य दयामय हैं; उनसे कुछ भी माँगना उनकी दयालुतापर अविश्वास करना है। सनातनने कुष्ठकी भयानक पीड़ा सहर्ष सहन की; परंतु किसी समय भी उनके मनमें यह संकल्प नहीं उठा कि मैं प्रभुसे अपने रोगकी निवृत्तिके लिये कुछ प्रार्थना करूँ। इन्हीं सब बातोंको दिखलानेके लिये समर्थ होनेपर भी प्रभुने केवल दर्शनमात्रसे सनातनके रोगका नाश नहीं किया। जब जगत् सनातनके अतुलनीय निष्कपट, निष्काम प्रेम और उनकी अनुकरणीय दीनतासे परिचित हो गया, बस, उसी समय सनातन रोगमुक्त हो गये। तदनन्तर महाप्रभुने सनातनको वृन्दावन जाकर जीवोंका उद्धार करनेकी अनुमति दी। महाप्रभुको छोड़कर जानेमें सनातनको असीम कष्ट था; परंतु उनकी आज्ञाका उल्लंघन करना सनातनको उससे भी अधिक कष्टकर प्रतीत हुआ। सनातन वृन्दावन चले गये। रूप भी पहुँच गये। दोनोंने मिलकर वृन्दावनके उद्धारका कार्य किया।

सनातनने 'बृहद्भागवतामृत', 'हरिभक्तिविलास', 'लीलास्तव', 'स्मरणीय टीका', 'दिग्दर्शनी टीका' और श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धपर 'वैष्णवतोषिणी' नामक टीका बनायी। रूपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'मधुरामाहात्म्य', 'पदावली', 'हंसदूत', 'उद्धवसन्देश', 'अष्टादशकच्छन्दः', 'स्तवमाला', 'उत्कलिकावली', 'प्रेमेन्दुसागर', 'नाटकचन्द्रिका', 'लघुभागवततोषिणी', 'विदग्धमाधव', 'ललितमाधव', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'दानकेलिभानिका' और 'गोविन्दविरुदावली' आदि अनेक अनुपम ग्रन्थोंकी रचना की। 'विदग्धमाधव' की रचना वि० संवत् १५८२ में हुई थी। इन सब ग्रन्थोंमें भक्त, भक्ति और श्रीकृष्णतत्त्व आदिका बड़ा विशद वर्णन है!

दोनों भाई वहाँ वृक्षोंके नीचे सोते रहते—भीख माँगकर रूखी-सूखी खाते, फटी लँगोटी पहनते, गुदड़ी और करवा साथ रखते। आठ पहरमें केवल चार घड़ी सोते और शेष सब समय श्रीकृष्णका नाम-जप-संकीर्तन और शास्त्रोंका प्रणयन करते।

श्रीरूप और सनातन दोनों श्रीवृन्दावनमें ही गोलोकवासी हुए। एक समय जो विद्या, पद, ऐश्वर्य और मानमें मत्त थे, वे ही भगवत्कृपासे अत्यन्त विलक्षण निरभिमानी, निर्लोभी, वैराग्यवान् और परम प्रेमिक बन गये।

श्रीप्रियादासजी श्रीरूपसनातनजीके विषयमें कहते हैं—

गोस्वामी श्रीनाभाजी श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजीके वैराग्यका वर्णन करनेमें ऐसे प्रेममग्न हो गये कि छप्पयके पाँच चरण वैराग्य-वर्णनमें ही पूरे हो गये। केवल एक चरण शेष रह गया, तब श्रीनाभाजीका मन अत्यन्त संतप्त हो उठा कि मैंने इनके प्रेमपक्षका तो कुछ वर्णन ही नहीं किया। फिर तो एक तुक शेष रह गयी थी, उसीमें करोड़ों कवित्तोंका अर्थ भर दिया। श्रीनाभाजीने इस स्थलपर कविताका सच्चा स्वरूप दिखलाया है। इस एक तुकमें श्रीनाभाजीने श्रीरूप-सनातनजीकी श्रीराधा-कृष्णरसकी आचार्यता वर्णन की है। अहो! जिनकी कृपादृष्टिसे जनसाधारण भी प्रेम-पोथी पढ़े, पढ़ते हैं एवं पढ़ेंगे, उनके लिये यह कहना कि 'ये दोनों महानुभाव बड़े अनुरागी थे' क्या कोई बड़ाई है? अर्थात् नहीं। भाव यह कि ये तो सहज ही प्रेमरूप थे—

कहत बैराग गये पागि नाभा स्वामी जू वै गई यों निबर तुक पाँच लागी आँचि है।
रही एक माँझ धर्‌यो कोटिक कवित्त अर्थ याही ठौर लै दिखायो कविताकौ साँचि है॥
राधाकृष्ण रसकी आचारजता कही यामें सोई जीवनाथभट्ट छप्पै बानी नाँचि है।
बड़े अनुरागी ये तौ कहिबो बड़ाई कहा अहो जिन कृपा दृष्टि प्रेम पोथी बाँचि है॥ ३५७॥

कालके कुचक्रसे व्रजमण्डलके तीर्थ प्रायः लुप्त-गुप्त हो गये थे। अतः उन दिनों उन्हें और श्रीव्रजभूमि एवं श्रीवृन्दावनके स्वरूप एवं रहस्यको कोई जानता नहीं था। परंतु श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने

श्रीव्रज-वृन्दावनके सम्बन्धमें जैसा कुछ कहा है, श्रीरूप-सनातनजीने वैसा ही प्रकट करके दिखा दिया। आपकी उपासनाकी रीति भी श्रीमद्भागवतके ही अनुसार थी। आपने रससार शृंगार रसकी उपासना अपनायी थी, जो कि रसिक महानुभावोंको परम सुखदायिनी है। श्रीगौरांग महाप्रभुका आदेश पाकर आपने कुछ दिनतक श्रीगोपीश्वर महादेवके निकट निवास किया और श्रीमहाप्रभुकी कृपासे सब प्रकारकी भक्ति पाकर बहुत-से भक्ति-ग्रन्थोंकी रचना की। ग्रन्थोंमें वर्णित आपकी एक-एक बातमें मन, बुद्धि जब निमग्न होते हैं तो वह सुख मिलता है कि फिर शरीर पुलकायमान हो जाता है और आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी-सी लग जाती है—

वृन्दावन व्रज भूमि जानत न कोऊ प्राय दई दरसाय जैसी शुक मुख गाई है।
रीति हूँ उपासनाकी भागवत अनुसार लियो रससार सो रसिक सुखदाई है॥
आज्ञा प्रभु पाय पुनि 'गोपीस्वर' लगे आय किये ग्रन्थ पाय भक्ति भाँति सब पाई है।
एक एक बात में समात मन बुद्धि जब पुलकित गात दृग झरी सी लगाई है॥ ३५८॥

एक समय श्रीरूपगोस्वामीजी श्रीनन्दग्राममें कदम्ब टेरपर भजन कर रहे थे। उसी समय बड़े भाई श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावनसे आपके पास आये। उस समय श्रीरूपजीके मनमें यह विचार आया कि आज मैं परम सुखदायी खीरका भोग श्रीठाकुरजीको लगाकर वह प्रसाद अपने अग्रजको पवाऊँ। आपके मनमें किंचिन्मात्र ही यह विचार आया था कि तत्काल मानो भक्तोंको सुख देनेवाली लाडिली श्रीप्रियाजू एक बालिकाके रूपमें खीरका सब सामान ले आयीं। उसी सामानसे तुरंत रसोई करके श्रीठाकुरजीको भोग लगाया गया और जब वह प्रसाद लेकर श्रीसनातनजीने पाया तो उन्हें अत्यन्त प्रिय लगा तथा प्रेमका नशा-सा छा गया; तब उन्होंने पूछा कि यह खीर कैसे बनी है? इसमें तो अलौकिक स्वाद है, तब श्रीरूपजीने सब बात बतायी। सुनकर श्रीसनातनजीने कहा—अब पुनः ऐसी इच्छा मत करना। मेरी इस बातको हृदयमें दृढ़तापूर्वक धारण कर लो। तुम तो अपनी वैराग्यकी चालसे ही चलो। इतना कहते-कहते श्रीसनातनजीकी एवं उनका आदेश सुनकर श्रीरूप गोस्वामीजीकी आँखोंमें प्रेमाश्रु छलछला आये—

रहे नन्दगाँव रूप आये श्रीसनातन जू महासुख रूप भोग खीर कौ लगाइयै।
नेकु मन आई सुखदाई प्रिया लाडिली जू मानो कोऊ बालकी सुसौंज सब ल्याइयै॥
करिकै रसोई सोई लै प्रसाद पायो भायौ अमलसो आयौ चढ़ि पूछी सो जताइयै।
फेरि जिनि ऐसी करौ यही दृढ़ हिये धरौ ढरौ निज चाल कहि आँखैं भरि आइयै॥ ३५९॥

एक बार वैष्णव समाजमें श्रीरूप गोस्वामीजीके श्रीमुखसे श्रीराधा-कृष्णके रूप-गुणका गान हो रहा था। जिसे कानोंसे सुनकर सभामें उपस्थित सभी लोगोंके प्राण व्याकुल हो गये, सबको मूर्च्छा-सी आ गयी। परंतु आप (श्रीरूपजी) बड़े ही धैर्यवान् थे। अतः यद्यपि भावावेशमें शरीरकी सुधि नहीं थी तो भी खड़े ही रहे और खड़े-खड़े रूप-गुणगान करते रहे। उस समय आपने प्रेमकी ऐसी रहस्यमय स्थितिका दर्शन कराया, जो बड़े-बड़े भावज्ञोंकी बुद्धिमें नहीं आ सकती है। (वह यह कि उसी समय) श्रीकर्णपूर गोस्वामीजीने आपके पीछे आकर अच्छी प्रकारसे देखा कि आप बिलकुल अच्छेसे, स्वस्थसे जान पड़ते हैं, किसी प्रकारकी आकुलता नहीं है। परंतु वह तनिक आपके समीप आये और आपकी श्वास उनके शरीरको लगी, तब वे आपके प्रेमको जान पाये। श्वासका स्पर्श होते ही उन्हें ऐसा लगा मानो अग्निकी लपट लग गयी हो तथा उनके शरीरपर अंगार छू जाने-जैसा चिह्न भी हो गया अर्थात् फफोले पड़ गये। प्रेमकी यह नवीन रीति भला किससे गायी जा सकती है—

रूप गुण गान होत कान सुनि सभा सब अति अकुलान प्रान मूरछा सी आई है।
बड़े आप धीर रहे ठाढ़े न शरीर सुधि बुधि मैं न आवै ऐसी बात लै दिखाई है॥
श्रीगुसाईं कर्णपूर पाछे आये देखे आछे नेकु ढिंग भये स्वास लग्यौ तब पाई है।
मानौ आगि आँचि लागी ऐसो तन चिह्न भयौ नयौ यह प्रेमरीति कापै जात गाई है॥ ३६०॥

एक दिन रात्रिके समय ठाकुर श्रीगोविन्दचन्द्रजीने आपको स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा कि मैं खिरक (गोमटीला)-के भूगर्भमें निवास करता हूँ। एक गैया नित्यप्रति सुबह-शाम तथा रात्रिको भी अपनी दूधकी धारासे मेरा अभिषेक करती है और हमारा पोषण करती है। आप वहाँ जाकर देखिये, तब स्वयं जान जायँगे। श्रीठाकुरजीके संकेतानुसार श्रीरूप गोस्वामीजीने श्रीगोविन्दचन्द्र भगवान्‌का स्वरूप प्रकट किया। श्रीठाकुर गोविन्ददेवजीकी अत्यन्त ही अनुपम छबि है। चतुर रसिकजन रसिकेन्द्रचूड़ामणि श्रीराधागोविन्द एवं परम रसिक श्रीरूपजीका निरन्तर हृदयमें ध्यान करते हैं—

श्रीगोविन्दचन्द आय निसि कौ स्वपन दियौ दियौ कहि भेद सब जासों पहिचानियै।
रहौ मैं खिरक माँझ पोषैं निसिभोर साँझ सींचै दूधधार गाय जाय देखि जानियै॥
प्रगट लै कियो रूप अति ही अनूप छबि कबि कैसे कहै थकि रहै लखि मानियै।
कहाँ लौं बखानौं भरै सागर न गागर मैं नागर रसिक हिये निसि दिन आनियै॥ ३६१॥

एक बार श्रीसनातनजी नन्दगाँवमें पावन सरोवरपर रह रहे थे। भजनमें मन लग जानेसे तीन दिन न तो गाँवमें मधुकरी आदि माँगने गये और न तो संयोगसे गाँवका ही कोई सरोवरकी ओर आया। चौथे दिन एक श्यामवर्णका बालक (स्वयं ठाकुर श्रीमदनमोहनजी) दूध लेकर आया और उसने प्रार्थनापूर्वक इन्हें दूध पिलाया। बालककी रूप-माधुरीसे आकृष्ट होकर इन्होंने पूछा—तुम कहाँ रहते हो? तब बालकने अपने घरका पता बताया तथा कहा कि हम चार भाई श्रीहरदेवजी गोवर्धनमें, श्रीबलदेवजी बलदेव ग्राममें, श्रीकेशवदेवजी मथुरामें, श्रीगोविन्ददेवजी वृन्दावनमें हैं, साथ ही पिताजी (श्रीनन्दजी)-का भी परिचय दिया। बालकके चले जानेपर श्रीसनातनजीका मन पुनः बालकके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हुआ, अतः सरोवरसे उठकर नन्दगाँव गये और उन्होंने घर-घर पूछा, परंतु कहीं भी बालकरूपधारी श्रीहरिको नहीं पाया। चारों ओर खोज-खोजकर हार गये। इनकी आँखोंमें आँसू भर आये, तब आपने निश्चय किया कि यदि अबकी बार वह बालक आयेगा तो उसे जाने नहीं दूँगा। श्रीसनातनजीको बालकके सिरपर बँधी लाल पगिया बहुत ही अच्छी लग रही थी। आप रात-दिन उसी लालपागवाले साँवरे किशोरका ध्यान करने लगे—

रहैं श्रीसनातन जू नन्दगांव पावन पै आव न दिवस तीन दूध लै कै प्यारियै।
साँवरो किशोर, आप पूछे किहिं ओर रहो? कहे चारि भाई पिता रीतिहूँ उचारियै॥
गये ग्राम, बूझी घर हरि पै न पाये कहूँ चहूँ दिसि हेरि हेरि नैन भरि डारियै।
अब कै जो आवै फेर जान नहिं पावै सीस लाल पाग भावै निसिदिन उर धारियै॥ ३६२॥

श्रीरूप गोस्वामीजीने 'चाटु पुष्पांजलि' नामक स्तोत्रमें श्रीराधिकाजीकी वेणीकी नागिनसे उपमा दी है। इस प्रसंगको जब श्रीसनातनजीने पढ़ा तथा श्रीराधिकाजीका स्वरूप नेत्रोंसे देखा तो उन्हें यह उपमा नहीं जँची। उन्होंने सोचा कि जान पड़ता है भाईने भावपद्धतिसे हटकर केवल काव्यपद्धतिका अनुसरण करते हुए ऐसा लिखा है। परंतु एक दिन आप श्रीराधाकुण्डके किनारे बैठे भजन कर रहे थे। इतनेमें क्या देखा कि एक वृक्षकी डालपर झूला पड़ा हुआ है, उसपर बैठी एक गौरवर्णकी किशोरी प्रफुल्लितमना झूल रही है और सखियाँ उमंगमें भरी झुला रही हैं। उस किशोरीकी पीठपर आपको लपलपाती हुई

नागिन-सी दिखायी पड़ी। आप तुरंत ही नागिनसे किशोरीकी रक्षा करनेके लिये दौड़ पड़े। परंतु समीप पहुँचनेपर देखा कि वह नागिन नहीं है, वस्तुतस्तु उसकी वेणी है। इतनेमें ही वह झूलेका दृश्य भी अन्तर्धान हो गया। फिर तो आप समझ गये कि यह तो साक्षात् किशोरी श्रीराधिकाजी सखियोंके साथ झूला झूल रही थीं और हमारे भ्रमका निवारण करनेके लिये यह लीला की थी। फिर तो आप अपने छोटे भाई श्रीरूपजीके पास आये और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी परिक्रमा की। बड़े भाईको अपनी परिक्रमा करते देखकर श्रीरूपजीने भयभीत होकर इनके चरण पकड़ लिये। श्रीसनातनजीने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। दोनों ही भाई प्रेमरससारमें पगे रहते थे। आप दोनोंके चरित्र अपार हैं। आपका सुयश संसारमें जगमगा रहा है—

कही ब्याली रूप बेनी निरखि सरूप नैन जानी श्रीसनातन जू काव्य अनुसारियै।
राधासर तीर द्रुम डार गहि झूलैं फूलैं देखत लफलफात गति मति वारियै॥
आये यों अनुज पास फिरे आसपास देखि भयो अति त्रास गहे पाउँ उर धारियै।
चरित अपार उभै भाई हित सार पगे जगे जग माहिं मति मनमैं उचारियै॥ ३६३॥

श्रीहितहरिवंशजी गोस्वामी

राधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँ की करत खवासी॥
सर्बसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अननि उतकट ब्रत धारी॥
ब्यास सुवन पथ अनुसरै सोइ भलें पहिचानिहै।
(श्री) हरिबंस गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै॥ ९०॥

श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजीकी भजनकी रीतिको कोई एक विरला (श्रीदामोदरदासजी 'सेवकजी') ही जान सकेगा। आपकी उपासना-पद्धतिमें श्रीराधाजीकी प्रधानता है। आप उन्हींके श्रीचरणोंकी हृदयमें अत्यन्त सुदृढ़ भावसे उपासना करते थे और कुंजक्रीड़ामें दम्पती श्रीश्यामाश्यामकी सखीरूपसे सेवा करते थे। आपके सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध है कि आप श्रीमहाप्रसादको सर्वस्व करके मानते थे। अपनी अनन्य निष्ठाके कारण आप सचमुच महाप्रसादके उत्तम अधिकारी थे। आपने श्रीश्यामाश्यामके सेवारूपी उत्कट व्रतको धारण किया था। अतः स्मृतिशास्त्रोक्त विधि-निषेधोंकी अपेक्षा नहीं रखते थे। श्रीव्यासमिश्रजीके पुत्र श्रीहितहरिवंश गोस्वामीद्वारा प्रवर्तित पथका जो अनुसरण करेंगे, वे ही अच्छी तरहसे आपके सिद्धान्तोंको जान सकेंगे॥ ९०॥

श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासमिश्रजी और माताका श्रीतारादेवी था। व्यासमिश्रजी नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे, इसलिये ये सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे इनका लालन-पालन भी बड़े लाड़-चावसे हुआ था। ये बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे।

'राधा' सुनते ही ये बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगते थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही इन्होंने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधा-सुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

श्रीप्रियादासजीने श्रीहितहरिवंशजीकी इस राधाभक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—

हित जू की रीति कोऊ लाखनि मैं एक जानै राधा ही प्रधान मानै पाछे कृष्ण ध्याइयै।
निपट विकट भाव होत न सुभाव ऐसो उन ही की कृपा दृष्टि नेकु क्यों हूँ पाइयै॥
विधि औ निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये जिये निजदास निसिदिन वहै गाइयै।
सुखद चरित्र सब रसिक विचित्र नीके जानत प्रसिद्ध कहा कहिकै सुनाइयै॥ ३६४॥

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन ये अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ इन्होंने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधा-मोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृंगार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन और श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृंगार करके मुग्ध होकर युगलछविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें राधाजीको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण स्मृति नष्ट हो जानेसे शृंगार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृंगारको सुधारा। परंतु तुरंत ही अपने-आप वह शृंगार भी बदलने लगा। तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा—हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रखा; इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फल-दलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रखे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रखा है। इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये। लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रखा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्यामसुन्दरके मंजुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल करकमलोंसे सम्हाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे। श्रीहरिवंशजी जिन भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अंगसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरंगीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरंगीलालजीकी

पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे। इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे विमुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुंजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया।

आठ वर्षकी अवस्थामें आपका उपनयनसंस्कार हुआ और सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरंगीलालजीकी सेवा भी आपने अपने पुत्रोंको सौंप दी।

देववनसे आप चिड़यावल आये। यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे। आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ कि तुम्हारी जो दोनों पुत्रियाँ (श्रीकृष्णदासी और मनोहरी) हैं, उनका हितहरिवंशजीसे विवाह कर दो और दहेजरूपमें मुझे दे देना। यदि वे विवाहके लिये न मानें तो उन्हें मेरी आज्ञा बता देना तब वे प्रस्तुत हो जायँगे। आत्मदेवजीने ऐसा ही किया और उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको हरिवंशजी वृन्दावन ले आये।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आये घर त्यागि राग बाढ्यौ प्रिया प्रियतमसों विप्र बड़भाग हरि आज्ञा दई जानियै।
तेरी उभै सुता ब्याह देवौ लेवौ नाम मेरो इनकौ जो बंस सो प्रसंस जग मानियै॥
ताही द्वार सेवा विसतार निज भक्तनकी अगतिन गति सो प्रसिद्ध पहिचानियै।
मानि प्रिय बात गहगह्यौ सुख लह्यौ सब कह्यौ कैसे जात यह मत मन आनियै॥ ३६५॥

वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुंज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्यस्थलोंको प्रकट किया। तदनन्तर आप सेवाकुंजके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

श्रीराधावल्लभजीकी आज्ञासे श्रीहितहरिवंशजीने श्रीश्यामाश्याम युगल-सरकारकी निकुंजलीलाका क्रिया और काव्यद्वारा प्रचार-प्रसार किया।

श्रीप्रियादासजी श्रीराधावल्लभ प्रभुद्वारा दी गयी हितहरिवंशजीको आज्ञाका वर्णन अपने कवित्तमें इस प्रकार करते हैं—

राधिका वल्लभलाल आज्ञा सो रसाल दई सेवा मो प्रकास औ विलास कुंज धामकौ।
सोई विसतार सुखसार दृग रूप पियौ दियौ रसिकनि जिन लियौ पच्छ बामकौ॥
निसि दिन गान रस माधुरी कौ पान उर अन्तर सिहान एक काम स्यामास्यामकौ।
गुन सो अनूप कहि कैसे कै सरूप कहै लहै मन मोद जैसे और नहीं नामकौ॥ ३६६॥

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेमका सम्बन्ध था और ओरछेके राजपुरोहित एवं गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावन-महिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके प्रसिद्ध भक्त स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये रखना चाहिये और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी शिक्षा श्रीहितहरिवंश प्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे बहुत सुन्दर मिलती है। श्रीहितहरिवंशजी

एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे। इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे। नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दुखी होकर कहा—'प्रभो! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है।''''''यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ है।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था, परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी बात कहते हो। तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंश प्रभुजीने उनको अपने पास आनेतकसे रोक दिया। आखिर जब नाहरमलजीने दुखी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है। प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है। ऐसा विरोधी भाव मनमें नहीं लाना चाहिये। प्रभु-सेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अन्न-जल ग्रहण करो।' यों कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया।

श्रीहितहरिवंशजी महाराज राधावल्लभ-सम्प्रदायके मेरुदण्ड हैं, इन्हें श्रीकृष्णकी वंशीका अवतार माना जाता है। अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०९ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुंजलीलामें प्रवेश किया।

श्रीस्वामी हरिदासजी

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंजबिहारी।
अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी॥
गान कला गंधर्ब स्याम स्यामा कों तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं॥
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जास की।
आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की॥ ९१॥

श्रीस्वामी हरिदासजी श्रीआशुधीरजीके सुयशको जगमें प्रकाशित करनेवाले हुए। आप वैष्णव समाजमें 'श्रीरसिकजी' इस नामसे विख्यात थे। आपका श्रीकुंजविहारिणी-विहारी श्रीश्यामाश्याम प्रियाप्रियतम-युगलके नामके प्रति बड़ा नेम-प्रेम था। आप निरन्तर प्रेमपूर्वक श्रीयुगलनामका जप किया करते थे तथा नित्य श्रीप्रिया-प्रियतमकी केलि-विलास-लीलाका दर्शन करते रहते थे। आप सखी-सुखके परम अधिकारी थे तथा संगीत विद्यामें ऐसे निपुण थे कि आपके समक्ष गन्धर्व भी एक कलामात्र प्रतीत होते थे। अपने रसमय संगीतसे आप श्रीश्यामाश्यामको सदा रिझाते थे। आप अपने परमाराध्य श्रीश्यामाश्यामको परमोत्तम भोग अर्पित करते थे और सन्तसे अवशिष्ट भोग-प्रसादद्वारा मयूर, बन्दर एवं मछलियोंका भी पोषण करते थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके दर्शनोंकी आशामें कुंजद्वारपर खड़े रहते थे॥ ९१॥

स्वामी श्रीहरिदासजी महाराजके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

लगभग पाँच सौ साल पहलेकी बात है, वृन्दावनसे आधे कोसकी दूरीपर राजपुर गाँवमें सं० १५३७

वि० के लगभग स्वामी हरिदासजीका जन्म हुआ। उनके पिताका नाम गंगाधर और माताका चित्रादेवी था। वे ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थासे ही उन्हें भगवान्‌की लीलाके अनुकरणके प्रति प्रेम था और वे खेलमें भी विहारीजीकी सेवायुक्त क्रीड़ामें ही तत्पर रहते थे। माता-पिता भगवान्‌के सीधे-सादे भक्त थे, हरिदासके चरित्र-विकासपर उनके सम्पर्क एवं संग तथा शिक्षा-दीक्षा और रीति-नीतिका विशेष प्रभाव पड़ा। हरिदासका मन घर-गृहस्थीमें बहुत ही कम लगता था, वे उपवनोंमें, सर-सरिताके तटपर और एकान्त स्थानोंमें विचरण किया करते थे। एक दिन अवसर पाकर पचीस वर्षकी अवस्थामें एक विरक्त वैष्णवकी तरह वे घरसे अचानक निकल पड़े। वे घरसे सीधे वृन्दावन आये, अपने उपास्यदेवता विहारीजीके दर्शन किये और उन्हींके शरणागत होकर निधिवनमें रहने लगे। आशुधीरजी उनके दीक्षा-गुरु थे। धीरे-धीरे उनके त्याग, निस्पृहता, रसोपासना और संगीतदक्षताकी प्रसिद्धि चारों ओर भक्त, सन्त तथा संगीतज्ञ-मण्डलीमें व्याप्त हो गयी और उनके शिष्योंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

भावावेशमें सदा उनकी सहज समाधि-सी लगी रहती थी। प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-कृष्णके सौन्दर्य और माधुर्यके महासागरमें वे रात-दिन डूबे रहते थे। उनका वही अचल धन था। उन्होंने बड़ी सरलतासे भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा—'हरि! तुम जिस तरह हमें रखना चाहते हो, उसी तरह रहनेमें हमें सन्तोष है।' उनका पूर्ण विश्वास था कि सब कुछ विहारी-विहारिनिजीकी कृपासे ही होता है। हरिदास निम्बार्क-सम्प्रदायके सन्त आशुधीरजीके शिष्य थे। स्वामी हरिदासजीकी उपासना सखीभावकी थी और भक्ति शृंगारमूलक रासेश्वरकी सौन्दर्य-निष्ठाकी प्रतीक थी। उनके सिद्धान्तसे भोक्ता केवल भगवान् हैं और समस्त चराचर उनका भोग्य है। उनकी कुटीके सामने दर्शनके लिये बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंकी भीड़ लगी रहती थी, पर उन्होंने कभी किसीकी मुँहदेखी नहीं की। करका करवा ही उनका एकमात्र सामान था।

एक बार एक भक्तने स्वामीजीको अत्यन्त मूल्यवान् इत्र भेंट किया। वे भगवती यमुनाकी रेतीमें बैठे हुए थे। वसन्त-ऋतुका यौवन अपनी पराकाष्ठापर था। वृन्दावनके मन्दिरोंमें धमारकी धूम थी। रसिक हरिदासका मन डोल उठा। उनके प्राणप्रिय रासविहारी और उनकी रासेश्वरी श्रीराधारानीकी कृपादृष्टिकी मनोरम दिव्यता उनके नयनोंमें समा गयी, वृन्दावनकी चिन्मयताकी आरसीमें अपने उपास्यकी झाँकी करके वे ध्यानस्थ हो गये। उन्हें तनिक भी बाह्य ज्ञान नहीं था, वे मानस-जगत्‌की सीमामें भगवदीय कान्तिका दर्शन करने लगे। भगवान् राधारमण रंगोत्सवमें प्रमत्त होकर राधारानीके अंग-अंगको करमें कनक-पिचकारी लेकर सराबोर कर रहे थे। ललिता, विशाखा आदि रासेश्वरीकी ओरसे नन्दनन्दनपर गुलाल और अबीर फेंक रही थीं, यमुना-जल रंगसे लाल हो चला था, बालुकाओंमें गुलाल और बुक्केके कण चमक रहे थे। भगवान् होली खेल रहे थे। हरिदासके प्राणोंमें रंगीन चेतनाएँ लहराने लगीं। नन्दनन्दनके हाथकी पिचकारी छूट ही तो गयी, हरिदासके तन-मन भगवान्‌के रंगमें शीतल हो गये, उनका अन्तर्देश गहगहे रंगमें सराबोर था। भगवान्‌ने भक्तको ललकारा। हरिदासने भगवान्‌के पीताम्बरपर इत्रकी शीशी उड़ेल दी। इत्रकी शीशी जिसने भेंट की थी, वह तो उनके इस चरित्रसे आश्चर्यचकित हो गया। जिस वस्तुको उसने इतने प्रेमसे प्रदान किया था, उसे उन्होंने रेतीमें छिड़ककर अपार आनन्दका अनुभव किया। रसिक हरिदासकी आँखें खुलीं, उन्होंने उस व्यक्तिकी मानसिक वेदनाकी बात जान ली और शिष्योंके साथ श्रीबिहारीजीके दर्शनके लिये भेजा। उस व्यक्तिने विहारीजीका वस्त्र इत्रसे सराबोर देखा और देखा, पूरा मन्दिर विलक्षण सुगन्धसे परिपूर्ण था। वह बहुत लज्जित हुआ; पर भगवान्‌ने उसकी परम प्यारी भेंट स्वीकार कर ली, यह सोचकर उसने अपने सौभाग्यकी सराहना की।

एक बार एक धनी तथा कुलीन व्यक्तिने हरिदाससे दीक्षित होनेकी इच्छा प्रकट की और उन्हें पारस भेंटस्वरूप दिया। हरिदासने पारसको पत्थर कहकर यमुनाजीमें फेंक दिया और उसे शिष्य बना लिया।

श्रीप्रियादासजी महाराज इन घटनाओंका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

स्वामी हरिदास रसरासको बखान सकै रसिकता छाप जोई जाप मधि पाइयै।
ल्यायौ कोऊ चोवा वाकौ अति मन भोवा वामै, डार्‍यौ लै पुलिन यह खोवा हिये आइयै॥
जानिकै सुजान कही लै दिखावौ लाल प्यारे, नैसुकु उघारे पट सुगंध बुड़ाइयै।
पारस पषान करि जल डरवाय दियौ कियौ तब शिष्य ऐसे नाना विधि गाइयै॥ ३६७॥

अपने दरबारी गायक भक्तवर तानसेनसे एक बार सम्राट् अकबरने पूछा था—'क्या तुमसे बढ़कर भी कोई गानेवाले व्यक्ति हैं?' तानसेनने विनम्रतापूर्वक स्वामी हरिदासजीका नाम लिया। अकबरने उन्हें राजसभामें आमन्त्रित करना चाहा; पर तानसेनने निवेदन किया कि वे कहीं आते-जाते नहीं। निधिवन जानेका निश्चय हुआ। हरिदासजी तानसेनके संगीतगुरु थे, उनके सामने जानेमें तानसेनके लिये कुछ भी अड़चन नहीं थी। रही अकबरकी बात, सो उन्होंने वेष बदलकर एक साधारण नागरिकके रूपमें उनका दर्शन किया। तानसेनने जान-बूझकर एक गीत गलत रागमें गाया। स्वामी हरिदासने उसे परिमार्जित और शुद्ध करके कोकिलकण्ठसे जब अलाप भरना आरम्भ किया, तब सम्राट् अकबरने संगीतकी दिव्यताका अनुभव किया। तानसेनने कहा—'स्वामीजी सम्राटोंके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्णके गायक हैं।'

स्वामी हरिदासजी निम्बार्क-सम्प्रदायके अन्तर्गत 'टट्टी-संस्थान'* के संस्थापक थे। संवत् १६३२ वि० तक वे निधिवनमें विद्यमान थे। वृन्दावनकी नित्य नवीन भगवल्लीलामयी चिन्मयताके सौन्दर्यमें उनकी रसोपासनाने विशेष अभिवृद्धि की।

श्रीहरिराम व्यासजी

काहू के आराध्य मच्छ कछ नरहरि सूकर।
बामन फरसाधरन सेतबंधन जु सैल कर॥
एकन के यह रीति नेम नवधा सों लाएँ।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युत गोत्री जु लड़ाएँ॥
नै गुन तोरि नूपुर गुह्यो महत सभा मधि रास कें।
उतकर्ष तिलक अरु दाम को भक्त इष्ट अति ब्यास कें॥ ९२॥

श्रीहरिराम व्यासजी (श्रीयुगलकिशोरजीको इष्ट और) भक्तोंको अपना परम इष्ट मानते थे। इन्होंने ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक तथा तुलसी कण्ठी-मालाकी बड़ी महिमा गायी है। कोई-कोई तो श्रीमत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वाराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि अवतारोंकी आराधना करते हैं। एक समुदाय ऐसा है जो नवधा भक्तिमें निष्ठा रखता है। परंतु श्रीसुमोखन शुक्लजीके पुत्र श्रीहरिराम व्यासजीने तो वैष्णवोंको ही प्रेमपूर्वक दुलराया। आपने रासलीलाके समय महत्पुरुषोंकी सभामें श्रीप्रियाजीके पाँवका नूपुर गूथा था॥ ९२॥

श्रीहरिराम व्यासजीके विषयमें कुछ विवरण इस प्रकार है—

श्रीहरिराम व्यासजी ओरछानरेश महाराज मधुकरशाहजीके राजगुरु थे। सम्प्रदाय-ग्रन्थोंमें आपको

* इनके सम्प्रदायको 'सखी सम्प्रदाय' एवं 'हरिदासी सम्प्रदाय' के नामसे भी जाना जाता है।

विशाखा सखीका अवतार माना जाता है। आपका जन्म ओरछामें मार्गशीर्ष कृष्ण ५, सं० १५६७ वि० को हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीसुमोखनजी शुक्ल और माताका नाम पद्मावती देवी था। आप वेदशास्त्रपुराणादिके पारंगत विद्वान् थे और आपको श्रीसरस्वतीजीकी सिद्धि थी। आप शास्त्रार्थमें दिग्विजय करते हुए काशी आये और वहाँके पण्डितोंसे शास्त्रार्थ किया। आपके अलौकिक पाण्डित्यके समक्ष उन सबको पराजयका मुँह देखना पड़ा। अन्तमें सभी पण्डित भगवान् विश्वनाथजीकी शरणमें गये और उनसे काशीपुरीकी मर्यादाकी रक्षा करनेकी प्रार्थना की। ब्राह्मणोंकी प्रार्थना स्वीकारकर भगवान् विश्वनाथ साधुका वेष धारणकर सायंकाल श्रीव्यासजीके पास गये और बोले—'मैंने आपकी विद्वत्ताके विषयमें बहुत सुना है, अतः अपनी एक जिज्ञासाका समाधान करानेके लिये आपके पास आया हूँ, आप कृपा करके उसका समाधान कर दें तो बहुत अच्छा होगा।' आपने जिज्ञासा व्यक्त करनेको कहा। अनुमति मिलनेपर साधुवेशधारी श्रीविश्वनाथजीने पूछा—'विद्याका फल क्या है?' आपने उत्तर दिया—'विवेककी प्राप्ति।' शिवजीने पुनः प्रश्न किया—'क्या आपने विद्या पढ़कर विवेक प्राप्त कर लिया है? क्या विद्याका फल शास्त्रार्थ करके साधु-ब्राह्मणोंको हराना, उन्हें अपमानित करना ही है? आप तो भगवान् श्रीकृष्णकी प्रिय सखी श्रीविशाखाजीके अवतार हैं, आपको तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका भजन करके अपना जीवन सफल करना चाहिये, आप इन व्यर्थके विवादोंमें क्यों फँसे हैं?'

साधुवेशधारी भगवान् विश्वनाथजीके इस प्रबोधनसे आपके ज्ञान-चक्षु खुल गये और आप दिग्विजयका विचार त्यागकर तत्काल घर लौट आये और वैष्णवी दीक्षा लेनेका विचार करने लगे, परंतु यह समझमें नहीं आ रहा था कि गुरु किसे बनायें। भगवत्कृपासे इसी बीच श्रीवृन्दावनसे श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीके कृपापात्र श्रीनवलदासजी महाराज विचरण करते हुए ओरछा आये और आपके अतिथि हुए। उनसे श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीके बारे सुनकर आप बहुत प्रभावित हुए और मन-ही-मन उन्हें ही गुरु बनानेका निश्चय कर लिया। अब आपका मन घरपर न लगता और श्रीवृन्दावनके कुंजोंके दर्शनकी लालसा दिनोंदिन बढ़ती गयी। एक दिन आपने घर-द्वार सब कुछ छोड़कर श्रीवृन्दावनधामकी राह ली और श्रीनवलदासजीके पास पहुँच गये तथा उनके माध्यमसे श्रीहितहरिवंश महाप्रभुके चरणोंमें जा पहुँचे। आपको अधिकारी जानकर महाप्रभुने सम्प्रदायकी दीक्षा दी और श्रीयुगलकिशोरकी उपासनाका रहस्य समझाया।

आपके वृन्दावन चले आनेपर आपके घर-परिवारके लोग आपको वापस बुलाने आ गये और किसी भी प्रकार पीछा ही नहीं छोड़ रहे थे। परिवारीजनोंके साथ विचार-विमर्शमें उस दिन बहुत समय बीत गया, अतः आप सन्तोंकी सीथ-प्रसादी भी न पा सके थे। आपकी भगवत्प्रसादमें अनन्य निष्ठा थी, प्रसाद न पानेके कारण आपको बहुत ही पश्चात्ताप हो रहा था। सहसा आपने देखा कि झाड़ू लगानेवाली महिला अपनी टोकरीमें सन्तोंकी सीथ-प्रसादी लिये हुए जा रही है, आप उसके पास गये और बोले—'माताजी! आज मैं सन्तोंकी सीथ-प्रसादी नहीं पा सका, अगर आप कहें तो थोड़ा-सा सीथ-प्रसादी मैं आपकी टोकरीसे ले लूँ।' वह अपनी हीनताका विचारकर संकुचित होती हुई बोली—'महाराज! आप इतने बड़े महापुरुष होकर यह कैसी बात कह रहे हैं, फिर भी यदि आपकी ऐसी ही इच्छा हो तो ले लीजिये।' फिर तो आपने सब कुटुम्बियोंके समक्ष ही उस महिलाकी टोकरीसे एक पकौड़ी निकाल ली और भगवत्प्रसाद एवं सन्तोंकी सीथ-प्रसादीकी महिमाका स्मरण करते हुए उसे पा लिया। फिर तो इनके परिवारीजन भी नाक-भौं सिकोड़ते हुए यह कहने लगे कि ये तो सबका छुआ खा लेते हैं, अतः अब ये हम लोगोंकी पंक्तिमें बैठनेलायक नहीं रह गये, इस प्रकार किसी तरह उस समय भगवत्प्रसादकी कृपासे आप परिवारजनोंके चंगुलसे छूट सके।

जब परिवारके लोग आपको वापस घर लानेमें सफल नहीं हुए तो स्वयं ओरछानरेश महाराज मधुकरशाहजी इन्हें लिवाने आये। महाराज सीधे आपके गुरु श्रीहितहरिवंश महाप्रभुसे मिले और उनसे निवेदन किया कि हमारे गुरुदेव श्रीव्यासजी यदि यहाँ रहते हैं तो केवल आत्मश्रेयका सम्पादन करेंगे और यदि ओरछामें विराजते हैं तो इनके साथ-साथ सम्पूर्ण देशवासियोंका कल्याण होगा; अतः आप कृपा करके इन्हें आज्ञा दीजिये कि ये वहीं चलकर स्वयं भक्ति-साधन करते हुए अपने सदुपदेशोंसे लोकका भी कल्याण करें। श्रीहरिवंशजीने महाराजके निवेदनपर हामी भर ली। जब इस बातका ज्ञान श्रीव्यासजी महाराजको हुआ तो वे श्रीधामवृन्दावनके वियोगमें व्याकुल हो गये और वहाँके सभी वृक्षों और लताओंसे लिपट-लिपटकर करुण विलाप करने लगे। आपकी इस प्रेम-विह्वलताका ज्ञान होनेपर श्रीहितमहाप्रभुजी बड़े प्रसन्न हुए और आपको बुलवाकर आशीर्वाद दिया कि 'तुम अविचल श्रीवृन्दावनवास करोगे।' श्रीमधुकरशाहजी महाराज भी इनकी वृन्दावन-निष्ठा देखकर दोनों महापुरुषोंका चरण वन्दनकर ओरछा वापस लौट आये। जब आपके पत्नी-पुत्रोंको यह विश्वास हो गया कि अब आप ओरछा नहीं आयेंगे, तो वे लोग स्वयं ही वृन्दावन आ गये और श्रीहितहरिवंश महाप्रभुकी आज्ञासे वहीं रहकर सन्त-भगवन्तकी सेवा करने लगे। यहाँतक कि आपकी धर्मपत्नीने तो अपने आभूषणतक बेचकर सन्तसेवामें लगा दिये। आपके तीन पुत्रोंमें सबसे छोटे श्रीकिशोरदासजी श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजके कृपापात्र थे। आपकी पुत्री भी परम भगवद्भक्ता थी, विवाह होनेके बावजूद भी उन्होंने श्रीवृन्दावनधाममें वास करने और भगवत्सेवा करनेको लौकिक सुखोंसे श्रेयस्कर माना और आजीवन इसी व्रतमें सन्नद्ध रहीं।

आपका श्रीवृन्दावनधामके प्रति अनन्यप्रेम था, अतः आपने स्वयं तो आजीवन वृन्दावनवास किया ही, दूसरोंको भी श्रीवृन्दावनवासकी प्रेरणा की। एक बारकी बात है, एक सन्त तीर्थयात्रा करते हुए श्रीधाम वृन्दावन आये और आपके पास ठहरे। उन सन्त भगवान्‌की कीर्तन-शैली ऐसी अद्भुत थी कि मानो आनन्दकी रस- धारा बरस रही हो, उस रसधारमें सिक्त होकर आपका मन उस आनन्दको छोड़नेके लिये तैयार नहीं था। आपकी इच्छा थी कि ऐसे सन्तको तो श्रीधाम वृन्दावनमें ही वास करते हुए अपने गायनसे श्रीठाकुरजीकी सेवाकर अपना जीवन सफल करना चाहिये, अतः आपने उन्हें आग्रहपूर्वक रोक लिया, परंतु तीर्थ-पर्यटनकी इच्छासे निकले सन्त महानुभाव अधिक समयतक रुकनेके लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने अपना ठाकुर बटुआ माँगा और चलनेके लिये प्रतिबद्ध हो गये। जब आपको लगा कि ये सन्त महोदय रुक सकेंगे नहीं, चले ही जायँगे तो आपने उनके ठाकुर बटुएसे श्रीठाकुरजीको तो निकाल लिया और कुंजसे एक चिड़िया पकड़कर उसमें रख दिया और उन्हें दे दिया। उन्होंने आगे जाकर स्नान आदिसे निवृत्त होकर श्रीठाकुरजीकी सेवा करनेके लिये जैसे ही ठाकुर बटुआ खोला, वैसे ही उसमें बन्द चिड़िया फुर्रसे श्रीवृन्दावनकी ओर उड़ चली। सन्तजीने यह कौतुक देखा तो उन्हें लगा कि श्रीठाकुरजी वृन्दावनसे नहीं जाना चाहते, इसीलिये वे चिड़िया बनकर पुनः वृन्दावन लौट गये। अब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि मैंने इतने बड़े सन्त महापुरुषका आग्रह नहीं माना, जरूर मुझसे भगवदपराध हो गया, अतः मुझे भी वृन्दावन लौट चलना चाहिये। यह सोचकर वे पुनः आपके पास लौट आये। आपने भी उन्हें हृदयसे स्वीकार कर लिया। जब सन्त महानुभावने वृन्दावनवासका संकल्प ले लिया तो आपने उनको रोकनेके लिये किये गये इस प्रयासको उनसे बता दिया। इस प्रकार आपकी वृन्दावनके प्रति अनन्य निष्ठाके दर्शन होते हैं। आप कहा करते थे—

किशोरी तेरे चरनन की रज पाऊँ।
बैठि रहौं कुंजन के कोने स्याम राधिका गाऊँ॥

या रज शिव सनकादिकलोचन सो रज सीस चढ़ाऊँ।
व्यास स्वामिनि की छवि निरखत विमल विमल जस गाऊँ॥

एकबार आप श्रीठाकुरजीका शृंगार कर रहे थे। श्रीठाकुरजीके सिरपर पाग बाँध रहे थे, परंतु वह अत्यन्त चिकनी होनेके कारण सिरसे बार-बार फिसल-फिसल जाती थी। जब कई बार बाँधनेपर भी ठीकसे नहीं बँधी तो आपने झुँझलाकर कहा—अजी देखो, या तो मुझसे अच्छी तरहसे पाग बँधा लीजिये या फिर मेरा बाँधना आपको पसन्द नहीं हो तो स्वयं ही बढ़िया-से-बढ़िया बाँध लीजिये। यह कहकर आप शृंगार छोड़कर कुंजोंमें जाकर कीर्तन करने लगे। तब श्रीठाकुरजीने ही पाग बाँध ली। किसीने आपसे आकर कहा कि आज तो आपने श्रीठाकुरजीको बढ़िया पाग बाँधी है। यह सुनकर आपको श्रीठाकुरजीकी याद आयी तो तुरंत ही आकर देखा। सचमुच बहुत बढ़िया पाग बँधी थी। तब मुसकराकर बोले—'अहो! जब आप स्वयं इतनी बढ़िया पाग बाँधना जानते हैं तो मेरे द्वारा बाँधी पाग आपको कैसे पसन्द आ सकती है'।

श्रीप्रियादासजी महाराजने ठाकुरजीकी इस लीलाका वर्णन अपने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि गयौ हियौ पागि होय न्यारो तासौं खीझियै।
राजा लैन आयौ ऐपै जायबौ न भायौ श्रीकिशोर उरझायो मन सेवा मति भीजियै॥
चीरा जरकसी सीस चिकनो खिसिल जाय, लेहु जू बँधाय, नहीं आप बाँधि लीजियै।
गये उठि कुंज, सुधि आई सुखपुंज, आये देख्यौ बँध्यो मंजु, कही कैसे मोपै रीझियै॥ ३६८॥

एक बार श्रीव्यासजी सन्तोंके आग्रहपर उनके साथ ही प्रसाद पाने बैठे। आपकी पत्नी परोस रही थीं। दूध परोसते समय उन्होंने मलाई अपने पतिके कटोरेमें गिरा दी। इससे श्रीव्यासजी बड़े ही नाराज हुए। आप समझ गये कि यह मुझमें पतिबुद्धि करके मेरा पोषण कर रही है। फिर तो श्रीव्यासजीने पत्नीको सेवासे अलग कर दिया। इससे वे बहुत उदास एवं खिन्न हो गयीं। तीन दिन बिना खाये-पीये व्यतीत हो गये। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। सब सन्तोंने श्रीव्यासजीको समझाया, तब आपने पत्नीके लिये यह दण्ड निश्चित किया कि यदि वह अपने समस्त आभूषण बेचकर सन्तोंका भण्डारा कर दे, तब तो सेवामें आ सकती है अन्यथा नहीं। पत्नीने ऐसा ही किया, तब उन्हें पुनः सेवा प्राप्त हो गयी।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सन्त सुख दैन बैठे संग ही प्रसाद लैन परोसति तिया सब भाँतिन प्रवीन है।
दूध बरताई लै मलाई छिटकाई निज खीझि उठे जानि पति पोषति नवीन है॥
सेवा सों छुटाय दई अति अनमनी भई गई भूख बीते दिन तीन तन छीन है।
सब समझावैं तब दण्ड को मनावैं अंग आभरन बेंचि साधु जेंवैं यों अधीन है॥ ३६९॥

जब आपकी पुत्री रत्नाबाईका विवाह हुआ, उस समय घरवालों (पत्नी-पुत्रों)-ने बड़े उत्साहके साथ सब कार्य किया। बारातियोंके स्वागतार्थ अनेकानेक प्रकारके पक्वान्न बने थे। सुन्दर सामान देखकर श्रीहरिराम व्यासजीकी बुद्धि विकल हो गयी कि इसे कैसे वैष्णवोंको पवाया जाय। फिर तो इन्होंने भावनामें ही उन वस्तुओंका भगवान्‌को अच्छी तरह भोग लगाया और अपने किसी अन्तरंग अनुचरद्वारा सन्तोंको बुलवाया। जब सन्त आ गये तो इन्होंने उन्हें सामानोंकी पोटली बँधवा दी और कहा कि अपनी-अपनी कुंजोंमें जाकर पाओ। इस प्रकार सन्तोंको सामान देकर कुंजोंमें भेजा। आपने श्रीठाकुरजीको वंशी धारण करायी, एक ब्राह्मणको भक्तिमें दृढ़ किया। एक सन्तके सम्पुटमें श्रीठाकुरजीकी जगह चिड़िया बन्द करके दे दी, फिर आनेपर सुखपूर्वक उन्हें श्रीवृन्दावनमें बसाया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीव्यासजीके इस सन्त-प्रेमका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

सुता कौ विवाह भयौ बड़ौ उत्साह कियौ नाना पकवान सब नीके बनि आये हैं।
भक्तनि की सुधि करी खरी अरबरी मति भावना करत भोग सुखद लगाये हैं॥
आय गये साधु सो बुलाय कही पावैं जाय पोटनि बधाय चाय कुंजनि पठाये हैं।
बंसी पहिराई द्विज भक्ति लै दृढ़ाई सन्त संपुट मैं चिरैया दै हित सों बसाये हैं॥ ३७०॥

एक बार शरत्पूर्णिमाकी प्रकाशमयी रात्रिके समय श्रीप्रियाप्रियतमने रास रचाया। नृत्यके प्रसंगमें जब श्रीप्रियाजीने भावावेशमें आकर गति ली तो रासमण्डलमें मानो बिजली-सी चमक गयी तथा रासमण्डलमें परम शोभा छा गयी। तबतक श्रीप्रियाजीके पाँवका नूपुर टूट गया, उसके घुँघरू बिखर गये। यह देखकर रसिकोंका मन बेचैन हो गया, परंतु उसी क्षण श्रीव्यासजीने नूपुरको पुनः पूर्ववत् पोहकर बड़ी सावधानीपूर्वक श्रीप्रियाजीके श्रीचरणोंमें बाँध दिया, जिससे कि नृत्यमें कोई भी व्यवधान नहीं आने पाया। श्रीव्यासजीका यह कार्य सबके मनको अत्यन्त भाया।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सरद उज्यारी रास रच्यौ पिया प्यारी तामें रंग बढ़्यौ भारी कैसे कहिकै सुनाइयै।
प्रिया अति गति लई बीजुरीसी कौंधि गई चकचौंधी भई छबि मण्डलमें छाइयै॥
नूपुर सो टूटि छूटि पर्‍यौ अरबर्‍यौ मन तोरिकै जनेऊ कर्‍यौ वाही भाँति भाइयै।
सकल समाज मैं यौं कह्यौ आज काम आयौ ढोयो हौं जनम ताकी बात जिय आइयै॥ ३७१॥

'भक्त ही श्रीव्यासजीके परम इष्ट हैं'—यह सुनकर एक महन्त श्रीव्यासजीके इस भावकी परीक्षा लेने आये। उनके संग सन्तोंकी बहुत बड़ी जमात थी। महन्तजीने आते ही भूखका संकेत किया, वे श्रीव्यासजीको सुना-सुनाकर अपने भूखे होनेकी बात कहने लगे, उसे सुनकर श्रीव्यासजीने कहा—'आपलोग तनिक धैर्य धारण करें, श्रीठाकुरजीको भोग जा चुका है, अभी-अभी प्रसादी थाल आता है, फिर पूर्ण होकर पाइये।' यह सुनकर महन्तजीने मनमें सोचा कि मालूम पड़ता है कि हृदयसे तो श्रीभगवान्‌को ही परम इष्ट मानते हैं, परंतु ऊपरसे कहते हैं कि सन्त ही हमारे परम इष्ट हैं। उन्होंने मनमें श्रीव्यासजीके भावपर शंका की। इतनेमें भगवत्प्रसाद आ गया। श्रीव्यासजीने बड़े ही भावपूर्वक उनको प्रसाद परोसा। परंतु श्रीमहन्तजी दो-चार ग्रास ही प्रसाद पाकर ऐसे उठ गये, मानो उनके पेटमें पीड़ा हो गयी हो। तब श्रीव्यासजीने उनकी पत्तल समेट ली और बोले—'अहो! सन्त कितने कृपालु होते हैं। आपने कृपा करके मेरे लिये सीथ—प्रसादी छोड़ दी है। अच्छा अब आप और पाइये, हम आपके लिये अभी-अभी अमनिया ही मँगवाते हैं।' यह सुनकर श्रीव्यासजीके भावको सच्चा जानकर श्रीमहन्तजी आपके चरणोंमें पड़ गये। उनकी आँखोंसे आँसुओंका प्रवाह बह चला।

श्रीव्यासजीकी इस सन्त-भगवन्त-निष्ठाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

गायो भक्त इष्ट अति सुनिकै महन्त एक लैन कौं परिच्छा आयो संग संत भीर है।
भूख को जतावैं बानी व्यासको सुनावैं सुनि कही भोग आवैं इहाँ मानें हरि धीर है॥
तब न प्रमान करी सङ्क धरी लै प्रसाद ग्रास दोय चार उठे मानो भई पीर है।
पातर समेटि लई सीत करि मोकों दई पावौ तुम और पाँव लिये दृग नीर है॥ ३७२॥

श्रीव्यासजीके तीन पुत्र थे। इन्होंने अपने पुत्रोंमें अपनी सम्पत्तिका बँटवारा नितान्त ही नवीन ढंगसे

किया। एक हिस्सेमें तो श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजाको रखा, दूसरे हिस्सेमें धन इत्यादि और तीसरे हिस्सेमें श्याम-बंदनी और छापको रखा। आपने तीनों पुत्रोंको छूट दे दी कि वे स्वेच्छानुसार जो चाहें, ले लें। तब ज्येष्ठ पुत्र श्रीरासदासने धन लिया, मँझले पुत्र श्रीविलासदासने श्रीठाकुर युगलकिशोरजीकी सेवा ली और तीसरे पुत्र श्रीकिशोरदासजीने श्याम-बंदनी और छाप ली एवं तुरंत ही उन्होंने ललाटपर तिलक कर लिया तथा गलेमें माला धारण कर ली। श्रीव्यासजीके अनुरोधपर श्रीस्वामी हरिदासजीने श्रीकिशोरदासजीको छाप दी, अपना शिष्य बनाया। एक दिन श्रीस्वामीजीके आदेशसे श्रीकिशोरदासजी कुछ रात रहते ही श्रीयमुनाजीसे जल लेने गये तो वहाँ उन्होंने श्रीयमुनापुलिनपर श्रीप्रियाप्रियतमका दिव्य रास देखा। भावकी उमंगमें श्रीकिशोरदासजीने उसी समय स्वरचित एक पद गाया। जिसे ललिता आदि सखियोंने तत्काल सीख लिया और फिर जब भावनामें श्रीस्वामी हरिदासजी रास-क्रीड़ाका ध्यान कर रहे थे तो रासमें वही पद श्रीललिता आदि सखियोंको गाते हुए सुना, जिसे सुनकर श्रीस्वामी हरिदासजीका मन हर गया।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

भये सुत तीन बाँट निपट नवीन कियौ एक ओर सेवा एक ओर धन धर्‍यौ है।
तीसरी जु ठौर स्याम बंदनी और छाप धरी करी ऐसी रीति देखि बड़ौ सोच पर्‍यौ है॥
एकने रुपैया लिये एकने किशोर जू कों श्रीकिशोरदास भाल तिलक लै कर्‍यौ है।
छापे दिये स्वामी हरिदास निसि रास कीनौ वही रास ललितादि गायो मन हर्‍यौ है॥ ३७३॥

श्रीजीवगोस्वामीजी

बेला भजन सुपक्व कषाय न कबहूँ लागी।
बृंदाबन दृढ़ बास जुगल चरननि अनुरागी॥
पोथी लेखन पान अघट अच्छर चित दीनो।
सदग्रंथनि को सार सबै हस्तामल कीनो॥
संदेह ग्रंथि छेदन समर्थ (रस) रास उपासक परम धिर।
(श्री) रूप सनातन भक्ति जल जीव गुसाईं सर गँभिर॥ ९३॥

श्रीरूपगोस्वामीजी एवं श्रीसनातनगोस्वामीजीके भक्तिरूपी जलको धारण करनेके लिये श्रीजीवगोस्वामीजी गम्भीर सरोवरके समान हुए। दृढ़ नियमपूर्वक भजन-साधन ही इस सरोवरका सुदृढ़ तट है। इसमें कभी भी मायिक विकाररूप काई नहीं लगी। आपने अखण्ड वृन्दावनवास किया। श्रीप्रियाप्रियतमयुगलके श्रीचरण-कमलोंमें आपका परमानुराग था। ग्रन्थ लिखनेमें आप प्रत्येक पत्रोंपर न्यूनाधिक्य दोषरहित समान अक्षर लिखते थे। समस्त सद्ग्रन्थोंके सार-सिद्धान्तका आपको सम्यक् बोध था। जिज्ञासुजनोंकी सन्देहरूपी गाँठोंको खोलनेमें आप परम समर्थ थे। रामरस अर्थात् परमोज्वल शृंगाररसके आप उपासक थे तथा परम शान्त, दान्त एवं विवेकवान् थे॥ ९३॥

श्रीजीवगोस्वामीजीके विषयमें कुछ विवरण इस प्रकार है—

चार सौ साल पहलेकी बात है, बंगालके महामहिम शासक हुसेनशाहके प्रधान अधिकारी दबिर और शाकिर (सनातन और रूप)-की श्रद्धा और भक्तिसे प्रसन्न होकर श्रीचैतन्य महाप्रभुने रामकेलि ग्रामकी यात्रा की। गंगातटपर तारोंभरी रातमें चन्दनवनकी वायुसे सम्पन्न नीरव उपवनमें कदम्बके झुरमुटमें जिस समय

रूप और सनातनको महाप्रभु चैतन्य हरिनाम-ध्वनिसे कृतार्थ कर रहे थे, उसी समय उनके छोटे भाई अनूप अथवा वल्लभके पुत्र जीव गोस्वामीने उनके दर्शन किये और उनके चरणारविन्द-मकरन्दकी अमृतवारुणीसे प्रमत्त होकर अपने-आपको पूर्णरूपसे समर्पित कर दिया। उनकी अवस्था अल्प थी, पर भक्ति-माधुरीने उनके जीवनको बदल दिया।

वृन्दावनसे अनूप नीलाचल आये, वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। पिताकी मृत्युने जीव गोस्वामीके हृदयको बड़ा आघात पहुँचाया। वे आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी राजधानी—वृन्दावनमें आनेके लिये विकल हो उठे। एक रातको उन्होंने स्वप्नमें श्रीचैतन्य और नित्यानन्द महाप्रभुके दर्शन किये, वे नवद्वीप चले आये। नित्यानन्दने उनको काशी तपनमिश्रके आश्रममें शास्त्र-अध्ययनके लिये भेजा। जीव गोस्वामीने मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त, न्याय आदिकी शिक्षा पायी। वे शास्त्रमें पूर्णरूपसे निष्णात होकर परम विरक्त सनातन और रूपके पास वृन्दावन चले आये। जीवनके शेष पैंसठ वर्ष उन्होंने वृन्दावनमें ही बिताये। श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा तत्त्वविचारमें उन्होंने अपने पाण्डित्यका सदुपयोग किया। रूपने उनको मन्त्र दिया और समस्त शास्त्र पढ़ाये।.....जीव गोस्वामी पूर्ण विरक्त हो उठे। वे भगवती कालिन्दीके परम पवित्र तटपर निवास करने लगे। वे भगवान्‌की उपासना माधुर्य-भावसे करते थे। उनके चरित्र और लीलाको परम तत्त्वका सार समझते थे। रूप गोस्वामीकी महती कृपासे वे धीरे-धीरे न्याय, दर्शन और व्याकरणमें पूर्ण पारंगत हो गये। उन्होंने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया। उन्होंने वृन्दावननिवासकालमें श्रीरूपगोस्वामिकृत भक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणिकी टीकाएँ, क्रमसन्दर्भ नामक भागवतकी टीका, भक्तिसिद्धान्त, उपदेशामृत, षट्सन्दर्भ, गोपालचम्पू, गोविन्दविरुदावली, हरिनामामृत-व्याकरण आदि भक्ति-सम्प्रदायके ग्रन्थोंकी रचना की। श्रीजीव गोस्वामीके ये सभी ग्रन्थ 'अचिन्त्यभेदाभेद' मतके अनुसार लिखे गये हैं, जो कि जीवकी कठिन हृदय-ग्रन्थियोंको दृढ़तापूर्वक छेदन करनेमें समर्थ हैं।

एक बार वल्लभभट्ट नामक एक दिग्विजयी पण्डितने श्रीरूपगोस्वामीकी किसी कृतिमें दोष निकाला और घोषणा कर दी कि रूपने जयपत्र लिख दिया। जीवके लिये यह बात असह्य हो गयी, उन्होंने शास्त्रार्थमें वल्लभको पराजित किया। रूपको जब यह बात विदित हुई, तब उन्होंने जीवको अपने पाससे अलग कर दिया। वे सात-आठ दिनतक एक निर्जन स्थानमें पड़े रहे। सनातनने रूपसे पूछा कि 'जीवके प्रति वैष्णवका कैसा व्यवहार होना चाहिये?' रूपने कहा—'दयापूर्ण!' सनातनने कहा—'तुम जीव गोस्वामीके प्रति इतना कठोर व्यवहार क्यों करते हो?' रूपके हृदयपर बड़े भाईके कथनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवको बुलाकर गले लगाया और अपने पास रख लिया। रूप और सनातनके बाद जीव ही वृन्दावनके वैष्णवोंके सिरमौर घोषित किये गये।

आपकी सेवामें चारों ओरसे अपार धन आता, परंतु आप उस धनको श्रीयमुनाजीमें फेंक देते थे। शिष्य-सेवकोंने कई बार अनुरोध किया कि धनको श्रीयमुनाजीमें न फेंककर उससे साधुसेवा की जाय तो उसका अच्छा सदुपयोग होगा। आपने कहा—मैं किसी भी शिष्य अथवा सेवकमें साधुसेवा करनेकी योग्यता नहीं देखता हूँ। एक शिष्यने कहा—मैं अच्छी प्रकारसे साधुसेवा करूँगा। उसने कहनेको तो कह दिया, परंतु एक बार उसने एक साधुके आनेपर झुँझलाकर क्रोधपूर्वक जोरसे कटु वचन बोल दिया; तब श्रीजीवगोस्वामीजीने उसे समझाया तथा सन्तोंकी महिमाका बखान किया। फिर आपने समस्त शिष्य-सेवकोंको शिक्षा दी कि तुम सब लोग सुबहसे लेकर शामतक मधुर बोला करो। आपके अपार चरित्र हैं। आपकी भक्ति-भावनाका पार नहीं है। आपने परम वैराग्यको धारण किया था, उसका ओर-छोर वर्णन कोई नहीं कर सकता है।

इस घटनाका वर्णन भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

किये नाना ग्रन्थ हृदै ग्रन्थि दृढ़ छेदि डारैं डारैं धन यमुनामें आवै चहुँ ओर ते।
कही दास 'साधु सेवा कीजै' कहैं 'पात्रता न' करौ नीके, करी बोल्यो कटु कोप जोर ते॥
तब समझायौ सन्त गौरव बढ़ायौ यह सबकों सिखायौ बोलैं मीठो निसि भोर ते।
चरित अपार भाव भक्ति कौ न पारावार कियोऊ बैराग सार कहै कौन छोर ते॥ ३७४॥

जीव गोस्वामीने भक्तिको रस माना है। वे रसोपासक और विरक्त महात्मा थे। भक्तिसे ही भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार होता है। जीव गोस्वामीकी मान्यता थी कि भजनानन्द स्वरूपानन्दसे विशिष्ट है। भजनानन्दसे भगवान्‌की भक्ति मिलती है, स्वरूपानन्द ब्रह्मत्वका परिचायक है। उन्होंने भक्तिको ज्ञानसे श्रेष्ठ स्वीकार किया है। भक्ति भगवान्‌की ओर ले जाती है, ज्ञान ब्रह्मानुभूति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतको उन्होंने सर्वश्रेष्ठ भक्ति-शास्त्र माना है।

आश्विन शुक्ल तृतीयाको शाके १५४० में पचासी सालकी अवस्थामें उन्होंने देह-त्याग किया। वे महान् दार्शनिक पण्डित और भक्तियोगके पूर्ण मर्मज्ञ थे। महात्मा, योगी, विरक्त, भक्त—सबके सहज समन्वय थे।

श्रीराधारमणके भक्त

सर्बस राधारमन भट्ट गोपाल उजागर।
हृषीकेस भगवान बिपुल बीठल रस सागर॥
थानेस्वरि जग (नाथ) लोकनाथ महमुनि मधु श्रीरँग।
कृष्नदास पंडित्त उभै अधिकारी हरि अँग॥
घमँडी जुगलकिसोर भृत (भू) गर्भ जीव दृढ़ ब्रत लियो।
बृंदाबन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियो॥ ९४॥

श्रीधाम श्रीवृन्दावनकी माधुरीका इन महाभागवतोंने मिलकर अर्थात् परस्पर सत्संगद्वारा खूब आस्वादन किया। इनके नाम ये हैं—परम विख्यात श्रीगोपालभट्टजी, जिनके सर्वस्व ठाकुर श्रीराधारमणजी थे। श्रीहृषीकेशजी, श्रीअलिभगवान्‌जी, माधुर्यरससागर श्रीविट्ठलविपुलजी, श्रीजगन्नाथजी थानेश्वरी, श्रीलोकनाथगोस्वामीजी, महामुनि श्रीमधुगोस्वामीजी, श्रीरंगजी, ब्रह्मचारी श्रीकृष्णदासजी और पण्डित श्रीकृष्णदासजी—ये दोनों श्रीहरिरसके अधिकारी एवं भगवान्‌के परमप्रिय थे, श्रीयुगलकिशोरजीके सेवक श्रीउद्धवघमण्डदेवाचार्यजी, श्रीभूगर्भगोस्वामीजी, श्रीजीवगोस्वामीजी—इन महानुभावोंने श्रीश्रीधामवासका दृढ़ व्रत ले रखा था॥ ९४॥

श्रीराधारमणजीके इन भक्तोंका चरित्र संक्षेपमें इस प्रकार वर्णित है—

श्रीगोपालभट्टजी

श्रीगोपालभट्टजीका जन्म श्रीरंगम् क्षेत्रस्थ बेलगुंड ग्राममें माघ कृष्ण ३ सं० १५५७ वि० को हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीवेंकटभट्ट और माताका नाम श्रीसदाम्बाजी था। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीजी आपके चाचा थे, जो श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रिय पार्षद और अपने समयके उद्‌भट विद्वान् थे। आपने न्याय, वेदान्त, व्याकरण, साहित्य आदिकी शिक्षा इन्हींसे प्राप्त की। श्रीचैतन्य महाप्रभुने दक्षिण भारतकी यात्रा करते समय चातुर्मास्य आपके यहाँ ही बिताया था, उस समय आप मात्र एकादश वर्षके थे, अतः आपको महाप्रभुकी

गोदमें बैठकर व्रजलीलाके निगूढ़तम रहस्योंका उस अल्प अवस्थामें ही श्रवण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। चातुर्मास्यकी समाप्तिके बाद जब महाप्रभु पुनः तीर्थाटनपर जाने लगे तो आपने भी साथ चलनेका आग्रह किया। इसपर महाप्रभुजीने आपको समझाते हुए कहा कि अभी तुम्हारा कार्य माता-पिताकी सेवा करना है, समयपर प्रभुकी सेवा भी तुम्हें प्राप्त हो जायगी। माता-पिताकी सेवा पूरी करके तुम श्रीधाम वृन्दावन चले जाना, वहाँ तुम्हें रूप-सनातन मिलेंगे। उनसे तुम्हें प्रभु-सेवा प्राप्त हो जायगी। आपने महाप्रभुजीके आदेशका अक्षरशः पालन किया। जब माता-पिताका परमधामगमन हो गया तो आपने श्रीब्रज-वृन्दावनकी राह पकड़ी और वहाँ पहुँचकर श्रीरूप-सनातनके दर्शन किये तथा उनकी सन्निधिमें रहते हुए अनेक भक्ति-ग्रन्थोंका अध्ययन, व्रजके तीर्थोंका उद्धार, वैष्णव-ग्रन्थोंका प्रणयन और भक्तिका प्रचार किया। रूप-सनातनके द्वारा आपके वृन्दावन-आगमनकी सूचना जब महाप्रभुको मिली तो वे बहुत प्रसन्न हुए और एक वैष्णवके हाथ आशीर्वादरूपमें श्रीजगन्नाथभगवान्‌की प्रसादी तुलसी-माला, अपना वहिर्वास तथा योगपट्ट आपके लिये भेजा।

आप एक बार श्रीमुक्तिनाथजीकी यात्रापर गये थे तो गण्डकीनदीसे एक शालग्रामशिला लाये और उसीकी सेवा करते थे। एक बार एक भगवद्भक्त सेठ वृन्दावन आये और उन्होंने क्षेत्रस्थ सभी ठाकुरजीके लिये वस्त्र-आभूषण दिया। इसी क्रमसे वे आपके भी पास आये और श्रीठाकुरजीके लिये वस्त्र-आभूषण देने लगे। आपने सोचा कि हमारे श्रीठाकुरजी तो शालग्रामभगवान् ही हैं, उनको हम कैसे वस्त्राभूषण धारण करायें? आपने अपनी विवशता सेठको बतायी तो वह भी बहुत दुखी हुआ और अनमने भावसे जाने लगा। भक्तवांछाकल्पतरु श्रीभगवान्‌से अपने भक्तकी पीड़ा और विवशता न देखी गयी। जब आप सेठको तुलसीदल प्रसादके रूपमें देनेके लिये श्रीठाकुरजीके पास आये तो देखा कि प्रभु मोरमुकुट और वंशी धारण किये हुए हैं। यह आश्चर्य देख आप भगवत्कृपासे गद्‌गद हो उठे और उन भगवद्भक्त सेठको श्रीविग्रहका दर्शन कराते हुए कहा कि प्रभु आपके भावको स्वीकारकर शालग्रामसे श्रीकृष्णरूपमें आ गये हैं, अब आप इन्हें वस्त्राभूषण समर्पित कर दें। सेठजी भी प्रभुकी अहैतुकी कृपासे धन्य हो गये और आपका गुणगान करते चले गये।

इसी प्रकार आपपर प्रभुकी कृपाका एक अन्य उदाहरण है। एक बार आपने एक बहुत बड़े महोत्सवका आयोजन किया, जिसके कारण आपपर कुछ कर्ज भी हो गया। धनके अभावमें आप यथासमय कर्ज चुका न सके, तब दुकानदारने निश्चय किया कि मैं कल प्रात:काल ही इनके घरपर पहुँचकर चाहे जैसे हो अपना कर्ज वसूल करूँगा। भगवान्‌ने सोचा कि प्रात:काल तो आप मेरी सेवा-पूजामें मग्न रहते हैं, अगर यह दुकानदार प्रात:काल पहुँच जायगा तो मेरे भक्तके आनन्दमें विघ्न आ जायगा। यह सोचकर उन्होंने आपका रूप धारण किया और प्रात:काल बहुत जल्दी ही जाकर दुकानदारको सारे कर्जका भुगतान कर आये। संयोगसे उसी दिन किसी भक्तने आपको प्रचुर धनराशि भेंट की, अत: आपने सोचा कि जाकर पहले दुकानदारका कर्ज उतार आऊँ। यह सोचकर जब आप दुकानदारके पास जाकर उसे कर्जके रुपये देने लगे तो वह आश्चर्यचकित होकर कहने लगा— 'पण्डितजी! यह आप क्या कर रहे हैं? आप तो बहुत सबेरे ही आकर हिसाब चुकता कर गये हैं, फिर दुबारा क्यों देने आये हैं?' पहले तो उसकी बात सुनकर आपको आश्चर्य हुआ, फिर समझ गये कि यह मेरे आराध्य श्रीराधारमणजीकी ही कृपा है, वे ही मेरा वेश धारण करके इसे पैसे दे गये हैं। मन-ही-मन प्रभुकी कृपाका विचार करते हुए आप गद्‌गद-हृदयसे वापस लौट आये।

श्रीगोपालभट्टजीको सम्प्रदायमें गुणमंजरी सखीका अवतार माना जाता है, जिनके जिम्मे श्रीप्रिया-प्रियतमको जल पिलाने तथा चँवर डुलानेकी सेवा है। श्रीगोपालभट्टजी अपने परमाराध्य श्रीराधारमणलालजीको अत्यन्त अनुरागमें पगकर अनेक प्रकारके राग-भोग सेवामें प्रस्तुत करते थे। भक्तिके प्रभावसे आप जगद्विख्यात हुए। आपके अनुपम प्रेममय अनेकों चरित्र हैं। आपने आजीवन श्रीवृन्दावनकी अगाध माधुरीका रसास्वादन किया तथा जिसने आपकी सीथ—प्रसादी पायी, वह भी दिव्य जीवन पाकर रसस्वरूप हो गया। आप जीवमात्रके गुणको ही ग्रहण करते थे, अवगुणोंको ध्यानमें नहीं लाते थे। आप बड़े ही करुणाधाम, धर्मके सेतु (पुल) तथा भक्तराज थे।

श्रीप्रियादासजीने श्रीगोपालभट्टजीके वृन्दावन और कृष्ण-प्रेमका इस प्रकार निरूपण किया है—

श्रीगोपालभट्टजू के हिये वै रसाल बसे लसे यों प्रगट राधारवन सरूप हैं।
नाना भोग राग करैं अति अनुराग पगे जगे जग माहिं हित कौतुक अनूप हैं॥
वृन्दावन माधुरी अगाधकौ सवाद लियौ जियौ जिन पायौ सीथ भये रस रूप हैं।
गुन ही को लेत जीव अवगुनको त्यागि देत करुनानिकेत धर्मसेत भक्तभूप हैं॥ ३७५॥

श्रीगोपालभट्टने अनेक नवीन ग्रन्थोंका प्रणयन किया, अनेक ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखीं। आषाढ़ शुक्ल ५, शक सं० १५०७ में आप नित्यलीलालीन हो गये।

श्रीअलिभगवान्

भक्तमालके आधारपर श्रीअलिभगवान्का काल सं० १६५० के आस-पास प्रतीत होता है। आप प्रारम्भमें भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकारके अनन्य भक्त थे, परंतु बादमें युगलकिशोरने आपके मनको ऐसा मोहा कि आप सदा-सदाके लिये श्रीधामवृन्दावनमें बस गये और आजीवन श्रीप्रिया-प्रियतमकी सेवामें संलग्न रहे। आपके आराध्य-परिवर्तनकी कथा भी बहुत अद्भुत है। एक बारकी बात है, आप श्रीरामलीला देख रहे थे, उसमें जब श्रीराम-वनवास और रामवनगमनके करुण प्रसंग आये तो आपका धैर्य छूट गया और आप 'हा राम! हा रघुनाथ!' कहते हुए विलाप करने लगे। अनेक लोगोंने समझानेका प्रयास किया, परंतु किसी प्रकारसे आपको शान्ति ही नहीं मिलती थी। इसी अवस्थामें आपके कई दिन बीत गये, शरीर जर्जर हो गया। भगवत्कृपासे इनकी एक सन्तसे भेंट हो गयी, उन्होंने इनकी स्थिति देखकर ही इनकी मनःस्थिति समझ ली। आपने भी उचित पात्र समझकर उनसे अपनी सारी मनोव्यथा कह सुनायी। सन्तने पूछा—'आप कभी श्रीवृन्दावन गये हैं?' आपके 'नहीं' कहनेपर वे आपको लेकर श्रीधामवृन्दावन आये और भगवान् श्रीकृष्णके श्रीरासलीलानुकरणका दर्शन कराया। भगवान् श्रीकृष्णने भी अधिकारी जानकर आपको लीलास्वरूपमें ही अपनी दिव्य झाँकीका दर्शन कराया। भगवान्का साक्षात्कार होते ही आपका विरह दूर हो गया और मनमें एक नयी उमंग आ गयी। आपने निश्चय कर लिया कि अब मैं इन्हीं रासबिहारी भगवान्की सेवा करता हुआ यहीं वृन्दावनमें ही रहूँगा; परंतु दूसरे ही क्षण आपको ध्यान आया कि श्रीगुरुदेवजीने तो मुझे श्रीसीतारामजीकी सेवा सौंपी है; ऐसेमें उनकी सेवा छोड़कर श्रीरासबिहारीजीकी सेवा करनेसे कहीं भगवदपराध न बन जाय! अन्तमें आपने निश्चय किया कि अब मैं श्रीसीतारामजीकी ही श्रीरासबिहारी-विहारिणीके रूपमें सेवा करूँगा। इस प्रकार श्रीरासबिहारीजीकी सेवामें रहते हुए भी आपकी श्रीसीतारामजीके प्रति अनन्यता बनी रही।'

श्रीप्रियादासजीने इष्ट-परिवर्तनकी इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

अलि भगवान् राम सेवा सावधान मन वृन्दावन आये कछु और रीति भई है।
देखे रास मण्डलमें बिहरत रसरास बाढ़ी छबि प्यास दृग सुधि बुधि गई है॥
नाम धरि रास औ बिहारी सेवा प्यारी लागी खगी हिय माँझ गुरु सुनी बात नई है।
बिपिन पधारे आप जाय पग धारे सीस 'ईस मेरे तुम' सुख पायो कहि दई है॥ ३७६॥

श्रीविट्ठलविपुलदेव

श्रीविट्ठलविपुलदेवजीका जन्म मार्गशीर्ष शु० ५, सं० १५३२ वि० को हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीगुरुजनजी और माताका नाम कौशल्या देवी था। महात्मा विट्ठलविपुलदेव बड़े भगवद्भक्त और रसिक थे। उनके नेत्र, कान और अधर आदि भगवान्‌की रूप-रस-माधुरीसे सदा संप्लावित रहते थे। वे रसिकराज स्वामी हरिदासजीके शिष्य थे, समकालीन थे। उनकी अनन्य गुरुनिष्ठा थी। स्वामीजीके वे विशेष कृपापात्र थे।

विट्ठलविपुलदेव हरिदासजीके ममेरे भाई थे। उनसे अवस्थामें कई वर्ष बड़े थे। वे कभी-कभी हरिदासजीके साथ उनकी बाल्यावस्थाके समय भगवल्लीलानुकरणमें सम्मिलित हो जाया करते थे, उनके संस्कार पहलेसे ही पवित्र और शुद्ध थे। तीस वर्षकी अवस्थामें विट्ठलविपुलदेव वृन्दावन गये, उन्हें कुंज-कुंजमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलामाधुरीकी सरस अनुभूति होने लगी। साथ-ही-साथ स्वामी हरिदासके सम्पर्क और सत्संगका भी उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। अपने गुरु आशुधीरजी महाराजकी आज्ञासे हरिदासजीने उन्हें दीक्षित कर लिया। वे उनकी कृपासे वृन्दावनके मुख्य रसिकोंमें गिने जाने लगे। वे परमोत्कृष्ट त्यागी और सुदृढ़ रसोपासक थे।

दीक्षित होनेके बाद उन्होंने वृन्दावनको ही अपना स्थायी निवासस्थान चुना। सं० १६३१ में स्वामी हरिदासके नित्यधाम पधारनेपर सन्तों और महन्तोंने उन्हें उनकी गद्दी सौंपी, बड़े आग्रह और अनुनय-विनयके बाद उन्होंने उत्तराधिकारी होना स्वीकार किया। गुरुविरहके दुःखसे कातर होकर उन्होंने आँखोंमें पट्टी बाँध ली थी। जिन नेत्रोंने रसिकराजेश्वर हरिदासके दिव्य अंगोंका माधुर्य-पान किया था, उनसे संसारका दर्शन करना उनके लिये सर्वथा असह्य था।

वे बड़े भावुक और सहृदय थे। एक बार वृन्दावनकी सन्त-मण्डलीने रासलीलाका आयोजन किया। सर्वसम्मतिसे महात्मा विट्ठलविपुलदेवको बुलानेका निश्चय किया गया। रसिकप्रवर व्यासजीके विशेष आग्रहपर वे रास-दर्शनके लिये उपस्थित हुए। उनके नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, शरीर वशमें नहीं था, रास आरम्भ हुआ। प्रिया-प्रियतमकी अद्भुत पदनूपुरध्वनिपर उनका मन नाच उठा। दिव्य-दर्शनके लिये उनके हृदयमें तीव्र लालसा जाग उठी। विलम्ब असह्य हो गया। भगवान्‌से भक्तकी विरह-पीड़ा न सही गयी। उनकी आह्लादिनी शक्ति रसमयी रासस्थित श्रीरासेश्वरीने कहा—'मेरे दर्शन करो! मैं राधा हूँ।' नित्यकेलिके साहचर्य-रसके स्मरणमात्रने भावावेशमें उन्हें दर्शनके लिये विवश किया। उन्होंने पट्टी हटा दी। नेत्रोंने रासरसिक-शेखर नन्दनन्दन और राधारानीका रूप देखा। वे खुले तो खुले ही रह गये, पट्टी अपने स्थानपर पड़ी रह गयी। विट्ठलविपुलदेवने रासस्थ भगवान् और उनकी भगवत्ता-स्वरूपा साक्षात् राधारानीके दर्शन किये। उनके अधरोंपर स्फुरण था—'हे रासेश्वरी! तुम करुणा करके मुझे अपनी नित्यलीलामें स्थान दो। अब मेरे प्राण संसारमें नहीं रहना चाहते हैं।' बस वे नित्यलीलामें सदाके लिये सम्मिलित हो गये। उनकी रसोपासनाने पूर्ण सिद्धि अपनायी। वे भगवान्‌के रासरसके सच्चे अधिकारी थे, रसिक सन्त और विरक्त महात्मा थे। भगवान्‌ने उन्हें अपना लिया, कितना बड़ा सौभाग्य था उनका!

श्रीप्रियादासजीने विट्ठलविपुलदेवजीके नित्यलीलाप्रवेशकी घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

स्वामी हरिदास जू के दास दास बीठल हैं गुरुसे वियोग दाह उपज्यो अपार है।
रासके समाजमें विराज सब भक्तराज बोलिकै पठाये आये आज्ञा बड़ो भार है॥
युगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद गान तान कान सुनि रही न सँभार है।
मिलि गये वाही ठौर पायौ भावतन और कहे रससागर जो ताको यों विचार है॥ ३७७॥

श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी

श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी महाराज श्रीगौरांग महाप्रभुके शिष्य थे। आप बड़े ही सन्तसेवी महात्मा थे और सन्तोंको भगवान्‌का ही प्रतिरूप मानते थे। एक बार आपके मनमें श्रीजगन्नाथपुरी जाकर महाप्रभु श्रीजगन्नाथजीके दर्शनकी अभिलाषा हुई, परंतु फिर मनमें आया कि मेरे घरपर न रहनेसे सन्तोंका ठीकसे सत्कार न हो पायेगा; अतः सन्तसेवा छोड़कर भगवान्‌का दर्शन करने जाना उचित नहीं। भगवान्‌का दर्शन करनेसे मेरा व्यक्तिगत कल्याण तो होगा, परंतु यहाँ सन्तोंको कष्ट होगा—ऐसा सोचकर आपने पुरी जानेका कार्यक्रम स्थगित कर दिया। तब आपके एक शिष्यने सलाह दी—'महाराज! आप तीन दिनके लिये श्रीजगन्नाथपुरीकी यात्रापर चलिये, उतने दिनतक अन्य लोग यहाँ काम सँभाले रहेंगे।' शिष्यकी बात आपको ठीक लगी और आपने पुनः चलनेका मन बना लिया। भगवान् जगन्नाथजीने आपका अपने प्रति प्रगाढ़ प्रेम और सन्तोंके प्रति अनन्य निष्ठा एवं सेवा-भावना देखी तो गद्‌गद हो गये तथा लगातार तीन दिनोंतक उन्होंने घरपर ही आपको दर्शन दिया। सन्तसेवाके इस तरहके प्रताप और भगवत्कृपाको देखकर आपने पुनः यात्रा स्थगित कर दी और सन्तसेवामें ही लगे रहे।

श्रीप्रियादासजी श्रीथानेश्वरीजीपर श्रीजगन्नाथस्वामीकी कृपाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

महाप्रभु पारषद थानेश्वरी जगन्नाथ नाथकौ प्रकाश घर दिना तीन देख्यो है।
भए शिष्य जान आप नाम कृष्णदास धर्‌यौ, कृष्णजू कहत सबै आदर विसेख्यो है॥
सेवा 'मनमोहनजू' कूपमें जनाइ दई, बाहर निकासि करी लाड़ उर लेख्यो है।
सुत रघुनाथजूकों स्वप्नमें श्लोकदान दयाके निधान पुत्र दियो प्रेम पेख्यो है॥ ३७८॥

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि जो मुझे जिस भावसे भजता है, मैं भी उसका उसी भावसे भजन करता हूँ। महाभारतमें एक उदाहरण आता है कि भीष्म पितामह शरशय्यापर पड़े हुए भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते थे और इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी ध्यानावस्थामें अपने भक्त भीष्मका ध्यान करते थे। भगवान्‌का वैसा ही भाव श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजीके प्रति भी था। एक बार श्रीथानेश्वरीजी महाराजने अपने आराध्य श्रीठाकुर मनमोहनजीका वसन्त शृंगार किया, उस समय प्रभुकी अद्भुत सौन्दर्यमयी छविका अवलोकनकर आप भाव-विभोर हो गये और आपकी ध्यान-समाधि लग गयी। उस अवस्थामें भी आप प्रभुकी उसी मनमोहनी छविका दर्शन कर रहे थे। आपकी इस तन्मयताको देखकर भगवान् भी मुग्ध हो गये और आपकी भावदशाका दर्शन करनेमें तन्मय हो गये। उस समय भगवान् कीट-भृंग न्यायसे थानेश्वरीजीका दर्शन करते हुए थानेश्वरीजीके ही स्वरूप हो गये। यहाँतक कि उसी समय थानेश्वरीजीका एक शिष्य उनका दर्शन करने आया तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि गुरुदेव ही आज भगवद्विग्रहके स्थानपर विराजमान हैं, वस्तुतः भगवान्‌की तन्मयताके कारण उनके विग्रहका स्वरूप थानेश्वरीजीका ही स्वरूप हो गया था। धन्य हैं ऐसे भक्त और धन्य है भगवान्‌की भक्तवत्सलता!

श्रीलोकनाथजी

बंगालके जैसोर जिलेमें तालखड़ी नामका एक छोटा-सा मामूली गाँव है। लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व

इस गाँवमें एक बहुत ही सम्भ्रान्त कुलके पद्मनाभ चक्रवर्ती नामक ब्राह्मण रहते थे। इनकी पत्नीका नाम था सीतादेवी। इस धर्मप्राण ब्राह्मण-दम्पतीका एकमात्र पुत्र था लोकनाथ। घरमें वैष्णव-उपासना परम्परासे चली आ रही थी। स्वयं पद्मनाभ चक्रवर्ती श्रीअद्वैतप्रभुके शिष्य थे और सदा उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे। इन सब कारणोंसे लोकनाथको बहुत ही दिव्य संस्कार प्राप्त हुए।

प्रेमावतार महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका नाम और यश बंगालके कोने-कोनेमें शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी तरह बढ़ रहा था। लोकनाथके कानोंतक भी यह बात पहुँची और वे उनके दर्शनोंके लिये तड़फड़ाने लगे। उनका मन किसी भी वस्तुमें नहीं लगता। माता-पिताको भय था कि महाप्रभुके संगमें पड़ जानेपर यह लड़का बेहाथ हो जायगा, अतः उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि वह घरमें ही रहे, किंतु लोकनाथ नहीं रुके एवं एक दिन रात्रिमें चुपचाप चल पड़े।

रातभर लोकनाथ चलते रहे। दूसरे दिन सन्ध्यासमय वे नवद्वीप पहुँचे। नवद्वीप पहुँचनेपर देखा कि महाप्रभु एक उच्च आसनपर विराजमान हैं और श्रीवासादि भक्तोंकी टोली उन्हें चारों ओरसे घेरे हुए है। लोकनाथकी वाणी मूक थी। दृष्टि गड़ी सो गड़ ही गयी। एकटक महाप्रभुकी ओर देखते ही रह गये। आँगनमें प्रतिमाकी तरह खड़े इस सुकुमार बालकपर महाप्रभुकी दृष्टि गयी। वे दौड़े—दोनों बाँहें फैलाये और लोकनाथको उन्होंने अपनी भुजाओंके पाशमें बाँध लिया। भावावेशसे वे प्रभुके वक्षःस्थलपर मूर्छित हो गये। लोकनाथको कुछ पता नहीं। चेतना आनेपर लोकनाथ अब पहलेके लोकनाथ नहीं रहे। उनके रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी मधुर ध्वनि आ रही थी। उनका अंग-अंग हरि-हरि पुकार रहा था। प्राण-प्राणसे प्रभुकी प्रीति छलक रही थी।

लगातार पाँच दिनोंतक वे इस अपूर्व पागलपनमें रहे। छठे दिन महाप्रभुने लोकनाथको वृन्दावन जानेका आदेश दिया। वे कहने लगे—'भाई! वृक्षोंके नीचे जहाँ स्थान पाओ, वहीं पड़ रहो। आसपाससे मधुकरी माँग लाओ और ओढ़नेके लिये चिथड़ोंकी गुदड़ी बना लो। श्रीयमुनाजीका जल भरपेट पीओ। सम्मानको कराल विष समझो एवं नीचोंके द्वारा अपमानको अमृत। श्रीराधा-माधवका भजन करो। किंतु मित्र! वृन्दावनको मत छोड़ना।'

महाप्रभुकी आज्ञाको लोकनाथ टाल नहीं सके और रोते-रोते उनसे विदा हुए। इनके साथ गदाधर पण्डितके शिष्य भूगर्भ भी तैयार हो गये।

श्रीलोकनाथजी श्रीमहाप्रभु कृष्णचैतन्यजीके एक पार्षद थे, इनकी श्रीराधाकृष्णके प्रति अहर्निश एकरस प्रीति थी। रसरूप श्रीमद्भागवत-महापुराणका गान, कीर्तन, पारायण इनको प्राणके समान प्रिय था। ये इसमें अत्यन्त सुख मानते थे और कहा करते थे कि जो कोई भी श्रीमद्भागवतका गान करते हैं, वे मेरे मित्र हैं। इस रसभावनामें प्रवीण श्रीलोकनाथजी एक बार मार्गमें जाते हुए एक महानुभावको श्रीमद्भागवतका पाठ करते हुए देखकर उनके चरणोंपर पड़ गये।

श्रीप्रियादासजीने श्रीलोकनाथजीके इस भागवत-प्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

महाप्रभु कृष्ण चैतन्यजूके पारषद लोकनाथ नाम अभिराम सब रीति है।
राधाकृष्ण लीला सौं रंगीनमें नवीन मन जैसे जल मीन तैसें निसि दिन प्रीति है॥
भागवत गान रसखान सो तौ प्राण तुल्य अति सुख मान कहैं गावैं जोइ मीति है।
रसिक प्रवीन मग चलत चरण लागि कृपा कै जनाय दई जैसी नेह नीति है॥ ३७९॥

वृन्दावनकी दशा उन दिनों विचित्र थी। घने जंगलों एवं भूमिशायी अस्त-व्यस्त खँडहरोंके सिवा वहाँ

कुछ भी नहीं था। वृन्दावनके निवासी भी उस पावन भूमिके महत्त्वको भुला बैठे थे। उन्हें वहाँ न तो चीरघाट मिला न वंशीवट; न निधिवन, भाण्डीर-वन, न श्याम और राधाकुण्ड ही। क्या करें, कहाँ जायँ, पता लगायें तो कैसे? अन्ततोगत्वा निराश हो सर्वतोभावसे वे श्रीराधारानीकी शरण होकर **'*गोविन्द-गोविन्द हरे मुरारे, राधाकृष्ण, गोपीकृष्ण, श्रीकृष्ण प्यारे*'** का कीर्तन करने लगे। सहसा एक दिन उन्हें चीरघाटका पता लग गया। ये वहाँ अत्यन्त प्रेमावेशका जीवन बिताने लगे। लोगोंमें इनकी प्रसिद्धि भी हुई, लोगोंने इनके लिये कुटिया भी बनानी चाही। परंतु इनके लिये तो निश्चय किया हुआ था कि रहना किसी पेड़के नीचे ही। यदृच्छासे जो कुछ मिल जाता, उसीसे पेटभर यमुनाका जल पीकर मस्त रहते।

कुछ दिनों पश्चात् लोकनाथने महाप्रभुके संन्यासकी बात सुनी। साथमें यह भी सुना कि वे दक्षिण भारतमें तीर्थयात्राके लिये गये हैं। ये अत्यन्त उत्कण्ठावश इनसे मिलने दक्षिण भारत पहुँचे तो वहाँ पता चला कि वे वृन्दावनके लिये चल पड़े। ये वृन्दावन पहुँचे तो पुनः पता चला कि वे वृन्दावनसे पुरीके लिये चल पड़े। लोकनाथका हृदय बैठ गया। परंतु स्वप्नमें श्रीमहाप्रभुने इन्हें समझाया कि 'तुम निराश मत होओ, मैं अब राहका भिखारी हूँ। तुम मुझे इस वेषमें देखकर बहुत दु:ख पाते, इसीलिये मैं तुमसे नहीं मिला।'

अब लोकनाथ और भूगर्भने चीरघाटपर अपना डेरा जमा लिया और अन्तकालतक वे वहीं बने रहे। रात-दिन कृष्ण-कृष्णकी रट लगाये रहते और रातको बस एक-दो घण्टे सो लेते। न कभी किसीसे मिलते न बात करते। लोकनाथने अपने शेष जीवनके दिन वृन्दावनमें भगवान्‌के भजनका आश्रय लेकर एक आदर्श प्रेमी एवं आदर्श विरहीके रूपमें व्यतीत किये।

'श्रीचैतन्य-चरितामृत'के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराज अपने ग्रन्थके प्रणयनके पूर्व लोकनाथ गोस्वामीके चरणोंमें आशीर्वाद लेने आये। लोकनाथने उसके लिये सहर्ष हाँ भरी, परंतु अपनी एक शर्त रखी—वह यह कि इस ग्रन्थमें उनकी कहीं भी न तो चर्चा आये, न उनसे महाप्रभुके सम्बन्धकी ही बात लिखी जाय।

इतनी मूक और निरीह उपासना थी लोकनाथगोस्वामीकी!

श्रीमधुगोस्वामीजी

मधुगोस्वामीका जन्म बंगदेशमें हुआ था। बचपनमें भी खेल खेलते समय उन्हें भगवान्‌की लीलाका सरस स्मरण हो जाया करता था। उनके नयन श्यामसुन्दरकी अभिराम और मोहिनी झाँकी देखनेके लिये विकल हो उठते थे। यौवनके प्रथम कक्षमें चरण रखते ही भगवान् और उनके व्रजका विरह वे बहुत दिनोंतक नहीं सह सके। वृन्दावनके लिये चल पड़े। मधुगोस्वामी वृन्दावन पहुँच गये। यहाँ आनेपर इनके मनमें यह चाह बढ़ी कि इन नेत्रोंसे श्रीश्यामसुन्दरके त्रिभुवनमोहनस्वरूपको देखना चाहिये तथा यह देखना चाहिये कि भगवान्‌का वह अचिन्त्यानन्त सौन्दर्यस्वरूप कैसा है? इसी लालसासे ये श्रीवृन्दावनके वन-वन, वृक्ष-लता-कुंजोंमें भगवान्‌को ढूँढ़ते-फिरते। दर्शनकी चटपटीमें इनकी भूख-प्यास मिट गयी। ऐसे बेसुध हुए कि इन्हें छाया-धूपका भी किंचित् भान नहीं रहा। इन्होंने श्यामवर्णवाली कालिन्दीके जलमें खड़े होकर नियम लिया कि 'जबतक वंशीवट-तटपर नित्य रास करनेवाले प्राणदेवता मदनमोहन दर्शन नहीं देंगे, तबतक अन्न-जल कुछ भी नहीं ग्रहण करूँगा।' वृन्दावनके कुंज झूम उठे, उनमें मस्ती छा गयी। नागरिकों, सन्तों और भक्तोंने मस्तकपर उनकी चरण-धूलि चढ़ायी। विहारीजीका सिंहासन हिल उठा, वंशीवटकी पवित्र रेतीमें राधारमणने मधुगोस्वामीको दर्शन दिये। सामने श्यामसुन्दर खड़े हैं। मयूरपिच्छका मुकुट लोक-लोकान्तरका वैभव समेटकर उनके पीताम्बरपर जो ऐश्वर्य बिखेर रहा था, ब्रह्माकी लेखनी उसकी कल्पना भी नहीं कर

पाती। उनके श्याम-अंगका प्रतिबिम्ब यमुनाने अपने अंकमें भर लिया। समीर मन्द-मन्द गतिसे प्रवाहित होकर सलोनी और कोमल लताओंकी नमनशीलतासे उनके चरण-स्पर्श करने लगा। प्रभु वंशी बजा रहे हैं। मधु गोस्वामी निहाल हो गये, भक्तने अपनेको उनके सुरमुनिदुर्लभ पदपंकजपर निछावर कर दिया। व्रज मधु गोस्वामीकी जयध्वनिसे धन्य हो उठा।

एक बार ये वंशीवटके निकट श्रीयमुनातटपर (पीठ देकर) बैठे हुए थे। उस समय श्रीयमुनाजीमें बाढ़ आयी हुई थी, वे ऊपर चढ़ रही थीं। उनका तीव्रवेग बड़े वेगसे करारोंको काट-काटकर गिरा रहा था। उस समय इन्हें श्रीवंशीवटके समीप अनूप रूपसिन्धु श्रीठाकुरजीके दर्शन हुए। इन्होंने दौड़कर श्रीठाकुरजीको गोदमें भर लिया। आज भी वे शिरमौर श्रीठाकुरजी श्रीगोपीनाथजीके रूपमें जयपुरमें विराजमान हैं। बड़भागी जन आज भी उनका दर्शनकर कृतार्थ होते हैं।

श्रीप्रियादासजीने श्रीमधुगोस्वामीजीके वृन्दावन-प्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रीमधुगोसाईं आये वृन्दावन चाह बढ़ी देखैं इन नैननिसों कैसोधौं सरूप है।
ढूँढ़त फिरत बन बन कुंज लता द्रुम मिटी भूख प्यास नहीं जानै छाँह धूप है॥
जमुना चढ़त काट करत करारे जहाँ बंसीबट तट डीठ परो सो अनूप है।
अंक भरि लिये दौर अजहूँ लौं सिरमौर चाहै भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है॥ ३८०॥

श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी

श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी श्रीसनातनगोस्वामीपादजीके शिष्य थे। श्रीसनातनगोस्वामीजीने ठाकुर श्रीमदनमोहनजीको नवनिर्मित मन्दिरमें पधराकर उनकी सेवाका भार इन्हींको सौंप दिया और कहा कि भली प्रकारसे श्रीठाकुरजीकी सेवा करना। श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारी भी गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर बड़ी कुशलतापूर्वक श्रीठाकुरजीकी सेवा करते। आगे चलकर यही अधिकारी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीके नामसे प्रसिद्ध हुए। आपने श्रीनारायणभट्टजीकी भक्तिपर रीझकर उनको अपना शिष्य बनाया। आप जब श्रीठाकुरजीका परम सुन्दर शृंगार करके स्वयं छबिका दर्शन करते तो शरीरकी सुधि-बुधि भूल जाती। आपकी बुद्धि भावसागरमें डूब जाती। आप अत्यन्त भावसे श्रीठाकुरजीको उत्तम राग-भोग अर्पण करते। इनके सेवित ठाकुर श्रीमदनमोहनजी वर्तमानमें करौली राजस्थानमें विराजमान हैं।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजीके भक्ति-भावका इस प्रकार वर्णन किया है—

गुसाईं श्रीसनातनजू मदनमोहन रूप, माथे पधराये कही सेवा नीके कीजियै।
जानौ कृष्णदास ब्रह्मचारी अधिकारी भये, भट्ट श्रीनारायणजू शिष्य किये रीझियै॥
करिकै सिंगार चारु आप ही निहारि रहै, गहे नहीं चेत भाव माँझ मति भीजियै।
कहाँ लौं बखान करौं राग भोग रीति भाँति, अब लौ विराजमान देखि देखि जीजियै॥ ३८१॥

श्रीकृष्णदास पण्डित

पण्डित श्रीकृष्णदासजी महाराज बड़े ही सन्तसेवी महात्मा थे, आप ठाकुर श्रीगोविन्दचन्द्रजीको अपना आराध्य और उपास्य मानते थे। साथ ही भगवद्भक्तोंमें भी आपकी बड़ी प्रीति थी।

श्रीप्रियादासजीने इनके इस भगवत्सेवानुरागका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रीगोविन्दचन्द रूपरासि रसरासि दास, कृष्णदास पण्डित ये दूसरे यों जानिलै।
सेवा अनुराग अङ्ग अङ्ग मति पागि रही पाग रही मति जो पै तो पै यह मानिलै॥
प्रीति हरिदासनसों विविध प्रसाद देत हिये लाय लेत देखि पद्धति प्रमानिलै।
सहजकी रीतिमें प्रतीतसों बिनीत करै ढरैं वाही ओर मन अनुभव आनिलै॥ ३८२॥

आप श्रीठाकुरजीको श्लोक सुनानेकी सेवा करते थे, इसके लिये आप नित्य प्रति सौ नवीन श्लोकोंकी रचना करते और उन्हें प्रभुको सुनाते थे। एक दिन जब आप श्रीठाकुरजीको श्लोक सुना रहे थे, उसी समय कोई सन्त आपसे मिलने आ गये। आप सन्तसेवाको गरीयसी मानकर भगवान्‌को श्लोक सुनाना छोड़ उनसे मिलने चले गये। वार्तालापके क्रममें देर होने लगी, इधर भगवान्‌का भी धैर्य जवाब दे गया, उन्होंने आपको सचेत करनेके लिये भीतरसे एक थाल बाहर फेंका। थालकी झनझनाहटसे आपका वार्तालापका क्रम टूटा और आप पुनः श्रीठाकुरजीको श्लोक सुनाने गये तो वे उलाहना देते हुए बोले—'पण्डितजी! आप तो मेरी उपेक्षा करके दूसरोंसे मिलने चल देते हैं।' आपने कहा—'प्रभो! आपकी उपेक्षा तो की जा सकती है, क्या किसी सन्तकी उपेक्षा आपको सह्य होगी?' ठाकुरजी इनकी सन्तनिष्ठा देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'अच्छा, पण्डितजी! अब श्लोक सुनाओ।' आप भी प्रभुकी श्रवणोत्कण्ठा विचारकर गद्‌गद हो गये और प्रतिदिन सौ श्लोक सुनानेका नियम दृढ़ कर लिया।

श्रीभूगर्भगोसाईंजी

श्रीभूगर्भगोसाईंजी श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके कृपापात्र शिष्य श्रीगदाधर पण्डितजीके शिष्य थे। आप श्रीलोकनाथ गोस्वामीजीके साथ वृन्दावन आये थे और फिर वृन्दावनमें ही रह गये, वृन्दावनसे बाहर कहीं नहीं गये। ये संसारसे परम विरक्त एवं भगवान्‌की रूपमाधुरीमें अत्यन्त अनुरक्त थे। रसिक भक्तजनोंके साथ मिलकर आप उसी रूपमाधुरीका आस्वादन करते रहते। भगवान्‌का मानसी चिन्तन, मानसी अर्चन-वन्दन ही आपके जीवनका आधार था। भगवान्‌की मानसी मूर्तिको निरन्तर निहारा करते थे। आपके मनकी वृत्ति सदा उसी युगलस्वरूपके चिन्तनमें लगी रहती थी।

श्रीप्रियादासजीने श्रीभूगर्भगोसाईंजीकी युगलसरकारकी इस भक्तिका इस प्रकार वर्णन किया है—

गुसाईं भूगर्भ वृन्दावन दृढ़ बास कियो लियो सुख बैठि कुंज गोविन्द अनूप हैं।
बड़ेई विरक्त अनुरक्त रूप माधुरी में ताही कौ सवाद लेत मिले भक्तभूप हैं॥
मानसी विचार ही अहार सो निहारि रहैं गहैं मन वृत्ति वेई युगल सरूप हैं।
बुद्धिके प्रमान उनमानि मैं बखान कर्‌यौ भर्‌यौ बहु रंग जाहि जानैं रसरूप हैं॥ ३८३॥

श्रीगोवर्धनजी महाराजकी नित्यप्रति परिक्रमा करना आपकी दैनिकचर्याका अंग था। एक दिन आप प्रेममें बेसुध हुए परिक्रमा कर रहे थे कि एक शिलासे आपका पैर टकरा गया। ठोकर जोरकी लगी थी, अतः 'हा कृष्ण' कहकर बैठ गये। पैरसे रक्तकी धारा बहने लगी थी, पीड़ा अधिक होनेसे चलना दूभर हो गया था। आपको अपने शारीरिक कष्टसे अधिक इस बातकी मानसिक पीड़ा थी कि श्रीगोवर्धन महाराजकी परिक्रमा तो हो नहीं सकी, अब कुटीतक नहीं पहुँच सकूँगा तो वहाँ प्रतिष्ठित श्रीठाकुरजीकी भी सेवा-पूजा नहीं हो सकेगी। किसी प्रकार 'हा कृष्ण-हा कृष्ण' करते दिन कटा, शाम होनेको आयी, अब आपको और क्लेश होने लगा कि ठाकुरजीकी सायं पूजा-आरती कैसे होगी? भक्तवत्सल भगवान्‌से अपने भक्तका कष्ट न देखा गया, वे एक बलिष्ठ शरीरवाले साधुके रूपमें आपके पास आये और आपके मना करनेके बावजूद आपको कन्धेपर बिठाकर कुटीतक छोड़ गये। जब आपने उन्हें धन्यवाद देना चाहा तो वे अन्तर्धान हो चुके थे। अब आपको यह समझनेमें देर न लगी कि मेरे आराध्य श्रीठाकुरजी ही साधुके वेशमें मुझे कन्धेपर बैठाकर यहाँतक लाये थे। अब तो आपके दुःखका पारावार न रहा। आप यह सोच-सोचकर रोने लगे कि मुझसे तो श्रीठाकुरजीकी सेवा हो न सकी, उल्टे मैंने ही उनसे सेवा करा ली। उनकी इस व्याकुलताको देखकर श्रीठाकुरजीने उनसे स्वप्नमें कहा—'गुसाईंजी! भक्तोंका दुःख मुझसे देखा नहीं

जाता। जबतक मैं उनका दु:ख दूरकर उन्हें सुखी नहीं कर देता, तबतक मेरे मनको विश्राम नहीं मिलता, अतः आप व्यर्थ संकुचित न हों।' भगवान्‌की इस प्रकारकी अमृतमयी वाणी सुनकर और उनकी भक्तवत्सलता देखकर आप गद्गद हो उठे। ऐसे भगवत्कृपापात्र थे श्रीभूगर्भगोसाईंजी!

श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी

श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी महाराज श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायानुयायी वैष्णव सन्त थे। आप श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी महाराजके द्वादश प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। श्रीवृन्दावनधाम आपकी साधना-स्थली थी। आप श्रीप्रिया-प्रियतमजीकी मानसीसेवा करते थे और सदा उनके ही ध्यानमें मग्न रहते थे।

अपनी मानसी सेवामें प्रिया-प्रियतमके स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी कहते हैं—

मन मन्दिर में राधा मोहन।
नित्य किसोर किसोरी दोऊ करत विहार निरन्तर निसि दिन।
दिव्य धाम व्रज मण्डल सगरौ झगरौ नहिं पैठत तहँ नैकुन।
ता मधि राजत परम मनोहर सूक्षिम ते सूक्षिम वृन्दावन।
नव निकुंज नव लता भवन में अष्ट कमल दल मृदुल सिंहासन।
प्रमुदित राजत जुगल चन्द तहँ सेवत ललितादिक ललना गन।
सेवा सौंज सँवारि लिये कर अरपित करि निज निज तन मन धन।
हृषीकेश निरखत अति हरषत निवछावर बलि जाऊँ छिनहि छिन॥

श्रीरंगजी

श्रीरंगजी महाराज सिद्ध वैष्णव सन्त थे, आपकी सन्तसेवामें बड़ी निष्ठा थी। आपके यहाँ प्रायः सन्तोंका सत्संग चलता ही रहता। एक बार आपने सन्तोंका एक विशाल भण्डारा किया। सन्तोंकी पंक्ति प्रसाद पाने बैठ गयी और प्रसाद परोसा जाने लगा; इतनेमें जितने सन्त प्रसाद पाने बैठे थे, उसके दूने और आ गये। परोसनेवाले, रसोइया आदि घबरा गये कि इतने लोगोंको खिलानेभरका सामान तो है नहीं, फिर व्यवस्था कहाँसे होगी? एक सन्त महोदयने रंगजी महाराजको सलाह दी कि जितने सन्त निमन्त्रित हैं, उन्हें तो पूरा पवाया जाय और जो अभी-अभी बिना निमन्त्रणके ही आ गये हैं, उनमें थोड़ा-थोड़ा प्रसाद सबको वितरित करा दिया जाय। श्रीरंगजी महाराजने कहा—'आप लोग धैर्य रखिये, भगवत्कृपासे किंचिन्मात्र भी कमी नहीं होगी; आप लोग सबको बैठाकर पवाइये।' रसोइयेने आपकी आज्ञाके अनुसार सबको बैठाकर प्रसाद वितरण किया, आश्चर्य! उतना ही प्रसाद आये हुए समस्त सन्तजनोंकी पूर्णताके लिये पर्याप्त था। होता भी क्यों न! जिन प्रभुने द्रौपदीकी बटलोईके एक सागके पत्तेसे समस्त ब्रह्माण्डको तृप्त कर दिया था, उसके भक्तकी प्रतिष्ठा भला कैसे जा सकती थी!

श्रीघमण्डीजी

श्रीयुगलकिशोर श्यामाश्यामके अनन्य भक्त परम वैष्णव सन्त श्रीघमण्डीजी महाराजका जन्म राजस्थानके जयपुर राज्यान्तर्गत टोड़ाभीमके सन्निकट दूबरदू नामक ग्राममें हुआ था। छोटी अवस्थामें ही आपने निम्बार्क-सम्प्रदायके आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजीसे शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर ली और भगवद्भजनमें लग गये। श्रीगुरुदेवजीने आपका नाम श्रीउद्धवदेवजी रखा। आप अपने परमाराध्य श्रीयुगलकिशोरजीपर गर्व करते थे और पाखण्डियों तथा भगवद्विमुखोंको कुछ भी नहीं गिनते थे, अतः वे लोग आपको घमण्डीजी कहने लगे और सन्त-समाजमें आपकी 'श्रीउद्धवघमण्डदेवाचार्यजी' के नामसे प्रतिष्ठा हो गयी। आपके जीवनका

अधिकांश समय व्रजमें ही बीता, वहीं करहला ग्राममें रहते हुए आप श्रीराधामाधवजीकी भक्तिपूर्ण सेवा किया करते थे। कहते हैं कि आपकी भक्तिसे प्रसन्न होकर श्रीप्रियाप्रियतम युगलकिशोरने आपको दर्शन दिये साथ ही श्रीठाकुरजीने अपना मुकुट और श्रीराधाजीने अपनी चन्द्रिका भी इन्हें दी। श्रीराधाजीने आपसे कहा कि व्रजवासी ब्राह्मण बालकोंको मेरा और मेरी सखियोंका प्रतिरूप बनाकर रासलीलाका अनुकरण कराओ। तबसे लेकर आजतक उस ग्राममें और व्रजके अन्य क्षेत्रोंमें भी रासलीलानुकरणकी परम्परा चली आ रही है। करहला ग्राममें श्रीठाकुरजीके मुकुट और श्रीराधाजीकी चन्द्रिकाके आज भी दर्शन होते हैं, जो श्रीघमण्डीजी महाराजपर उनके आराध्यदेवकी कृपाके साक्षात् प्रतीक हैं।

श्रीरसिकमुरारिजी

तन मन धन परिवार सहित सेवत संतन कहँ।
दिब्य भोग आरती अधिक हरि हू ते हिय महँ॥
श्रीबृंदाबनचंद स्याम स्यामा रँग भीने।
मगन प्रेम पीयूष पयधि परचै बहु दीने॥
(श्री) हरिप्रिय स्यामानंद बर भजन भूमि उद्धार कियो।
(श्री) रसिक मुरारि उदार अति मत्त गजहि उपदेस दियो॥ ९५॥

श्रीरसिकमुरारिजी परमोदार सन्त थे। इन्होंने मतवाले हाथीको भी श्रीकृष्णनामका उपदेश दिया। ये (शिष्य परिकर एवं) सपरिवार तन, मन, धनसे सन्तोंकी सेवा करते थे। सन्तोंको दिव्य भोग अर्पित करते, विधिपूर्वक पूजा-आरती करते। कहाँतक कहा जाय, ये अपने हृदयमें श्रीहरिसे भी अधिक श्रीहरिभक्तोंको मानते थे। श्रीवृन्दावनचन्द श्रीश्यामा-श्यामके प्रेमरंगमें रँगे रहते थे तथा सर्वदा प्रेमामृतसिन्धुमें डूबे रहते थे। इन्होंने बहुत-से चमत्कार दिखाये हैं। श्रीभगवान्के परम प्यारे, श्रीसद्गुरुदेववर्य श्रीश्यामानन्दजीकी सन्तसेवाकी साधनभूत भूमिको यवन नवाबके चंगुलसे मुक्तकर आपने अपनी अद्भुत भक्ति-शक्तिका परिचय दिया॥ ९५॥

श्रीरसिकमुरारिजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीरसिकमुरारिजीका जन्म उड़ीसा मल्लभूमिमें रोहिणीनगरमें शक सं० १५१२ में कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको प्रातःकालकी मंगल वेलामें हुआ था। आपके पिता श्रीअच्युतपटनायक जमींदार होते हुए भी बड़े भगवद्भक्त थे तथा माता भवानीदेवी पतिव्रता सद्गृहिणी थीं। आपका नामकरण करते समय पण्डितोंने ज्योतिष-गणनाके आधारपर आपका नाम 'रसिक' रखा और महापुरुषके लक्षण बताये, परंतु आपके पिताजी आपका नाम 'मुरारि' रखना चाहते थे; अतः दोनों नाम मिलाकर आपका नाम 'रसिकमुरारि' रखा गया। अन्नप्राशनके अवसरपर प्रवृत्ति-परीक्षण हेतु रखे गये द्रव्योंपर जब हाथ रखना हुआ तो आपने ग्रन्थरत्न श्रीमद्भागवतपर अपना हाथ रखा। उसी समय उपस्थित जनों और कुटुम्बियोंको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यह बालक परम भागवत और महान् भगवद्भक्त होगा। बाल्यकालसे ही आपका सन्तोंके प्रति सहज आकर्षण था। उनकी 'जय जगदीश' की ध्वनि सुनते ही आप-अपने नन्हें-नन्हें हाथोंमें जो कुछ मिलता भरकर लाते और भिक्षा देते। बड़े होनेपर भी अध्ययनकालमें आप पढ़ाईके साथ-साथ बच्चोंको लेकर नगर-कीर्तन करते। एक बार आपके यहाँ श्रीमद्भागवतका सप्ताह पाठ चल रहा था, जब उसमें गोपीगीतका प्रसंग

आया तो आप मूर्च्छित हो गये। श्रीमद्भागवत-ग्रन्थपर आपका विशेष अनुराग था, अतः आपने पिताकी अनुमति लेकर पं० श्रीजगन्नाथाचार्यजीसे श्रीधरीटीकासहित श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया। आप श्रीगैरांग महाप्रभुसे विशेष प्रभावित थे, अतः चाहते थे कि किसी गौरांग पार्षदसे मुझे दीक्षा प्राप्त हो जाय। कहते हैं कि आपकी इस अदम्य उत्कण्ठा और भक्ति-भावको देखकर भगवान् श्रीकृष्णने स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा कि तुम धारेन्दा चले जाओ, वहाँ तुम्हें मेरे भक्त श्रीश्यामानन्दजी मिलेंगे, तुम उनका आश्रय ग्रहण करो, इससे तुम्हारे सभी मनोरथ पूर्ण हो जायँगे। प्रभुकी आज्ञानुसार आपने श्रीश्यामानन्दजीके दर्शन किये और उनसे श्रीयुगल-मन्त्रकी दीक्षा प्राप्त की। उन्हींसे आपको व्रजतत्त्व और सम्प्रदाय-रहस्यका ज्ञान हुआ। श्रीगुरुदेवजीके साथ आपने व्रजके तीर्थोंकी यात्राकर उनके तात्त्विक दर्शन किये। तत्पश्चात् उन्हींके साथ आप उत्कलदेश चले गये, वहाँ अनेक विमुखोंको भक्त बनाया और अन्तिम समयतक भगवान् श्रीजगन्नाथजीकी सेवामें रत रहे।

श्रीरसिकमुरारिजी बड़े समारोहपूर्वक सन्त-सेवा करते थे। आपकी सेवाकी पद्धति कुछ विलक्षण ही थी, वह यह कि सन्तोंके चरणोदकसे भरे हुए मटके घरपर धरे रहते थे। आप उसीको प्रणाम करते, उसीकी पूजा करते और उसीका हृदयमें ध्यान धरते थे। आपके यहाँ जो भी सन्त-वैष्णव आते, उन्हें अपार सुख देते थे। आप बड़े समारोहसे श्रीगुरु-उत्सव मनाया करते थे। उसमें पूरे दिन कथा-कीर्तन-सत्संग, भोज-भण्डारे होते रहते थे, जिससे सब लोग बहुत सुख पाते थे। यह उत्सव बारह दिन तक लगातार चलता रहता था। बारहों दिनतक भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी, जो देखनेमें अत्यन्त ही प्रिय लगती थी।

श्रीप्रियादासजी महाराजने श्रीरसिकमुरारिजीकी इस सन्तसेवाका इस प्रकार वर्णन किया है—

रसिकमुरारि साधुसेवा बिसतार कियौ पावै कौन पार रीति भाँति कछु न्यारियै।
सन्त चरणामृत के माट गृह भरे रहै ताहीकौ प्रनाम पूजा करि उर धारियै॥
आवैं हरिदास तिन्हैं देत सुखराशि जीभ एक न प्रकाशि सकै थकै सो विचारियै।
करैं गुरु उत्सव लै दिनमान सबैं कोऊ द्वादस दिवस जन घटा लागी प्यारियै॥ ३८४॥

एक दिन श्रीरसिकमुरारिजीके यहाँ भण्डारेमें बहुतसे सन्त प्रसाद पा रहे थे। आपने एक शिष्यका सन्तोंके प्रति हृदयका भाव जाननेके लिये उसे आज्ञा देकर भेजा कि जाकर सन्तोंका चरणामृत अच्छी प्रकारसे ले आओ। उसने लाकर कहा कि सब साधुओंका चरणामृत ले आया। श्रीरसिकमुरारिजीने चरणामृत पानकर कहा कि 'क्या कारण है कि चरणामृतमें पहले-जैसा स्वाद नहीं आया।' आपने निश्चय करके जान लिया कि यह किसी सन्तका चरणामृत लेनेसे छोड़ आया है, अतः जोर देकर पूछा कि 'सही बताओ तुमने किसी सन्तको छोड़ा तो नहीं है?' तब शिष्यने कहा कि 'एक कोढ़ी सन्त थे, मैंने उन्हींका चरणामृत नहीं लिया।' आपने कहा—'जाओ, उनका चरणामृत भी ले आओ। तब शिष्य उनका भी चरणामृत ले आया।' उसे आपने स्वयं पान किया और दूसरोंको भी दिया। आपको वह चरणामृत पीनेसे अपार सुख मिला। आपके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह चले।

श्रीप्रियादासजीने श्रीरसिकमुरारिजीकी इस सन्तचरणामृतनिष्ठाका इस प्रकार वर्णन किया है—

सन्त चरणामृतको ल्यावो जाय नीकी भाँति जीकी भाँति जानिबेको दास लै पठायौ है।
आनिकै बखान कियौ लियौ सब साधुनकौ पान कर बोले 'सो सवाद नहिं आयौ है'॥
जिते सभाजन कही चाखौ देहु मन, कोऊ महिमा न जानैं कन जानी छोड़ि आयौ है।
पूछी, कही 'कोढ़ी एक रह्यौ,' आनो, ल्यायो, पीयो, दियो सुख पाय नैन नीर ढरकायौ है॥ ३८५॥

एक बार भक्तराज श्रीरसिकमुरारिजी राजाओंके समाजमें विराजमान होकर ज्ञानोपदेश कर रहे थे। सभी लोग बड़े ही मनोयोगपूर्वक आपका उपदेश श्रवण कर रहे थे; वहीं पासमें ही एक स्थलपर सब सन्त बैठे भोजन कर रहे थे। उन्हीं सन्तोंमें एक सन्त अपने अतिरिक्त अपने सोंटेका भी दूसरा परसा माँग रहे थे। परंतु रसोइया उन्हें सोंटेका परसा नहीं दे रहा था। परसा न देनेपर वह सन्त शोरगुल मचा रहे थे। अन्ततोगत्वा उन सन्तने अपनी परसी-परसाई पत्तल उठायी और गोस्वामी श्रीरसिकमुरारिजीके ऊपर डाल दी और बहुतेरी गालियाँ भी दीं। प्रवचन करते समय मुँह खुला होनेके कारण एक लड्डू गोस्वामीजीके मुखमें चला गया। श्रीरसिकमुरारिजी शान्तिपूर्वक गालियाँ सुनते रहे। फिर उन्होंने अवसर देखकर कहा—'अहो! मैं सन्तोंकी सीथ—प्रसादीसे विमुख था तो सन्तने स्वयं कृपा करके लाकर मेरे मुखमें ही डाल दिया।' तत्पश्चात् आपने उस सेवकको, यह कहकर कि तुम्हारा सन्त-सेवामें भाव नहीं है, सेवासे अलग कर दिया और सोंटेका परसा दिलाया।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

नृपति समाज मैं विराजमान भक्तराज कहैं वे विवेक कोऊ कहनि प्रभाव है।
तहाँ एक ठौर साधु भोजन करत रौर देवौ दूजी सोंटा संग कैसे आवै भाव है॥
पातरि उठाय श्रीगुसाईं पर डारि दई दई गारी सुनि आप बोले देख्यौ दाव है।
सीथ सों विमुख मैं तो आनि मुखमध्य दियौ कियौ दास दूर सन्तसेवामें न चाव है॥ ३८६॥

एक दिनकी बात है। श्रीरसिकमुरारिजीके बागमें सन्तोंकी जमात टिकी हुई थी। आप सन्तोंका दर्शन करने चले। उस समय एक सन्त हुक्का पी रहे थे। उन्होंने आपको आते हुए देखा तो सकुचाकर हुक्काको कहीं छिपा दिया। अपने आनेसे सन्तोंको संकोच हुआ जानकर इसके प्रायश्चित्तके लिये आपने उन साधुका सम्मान करना चाहा। फिर तो उसी क्षण चक्कर खाकर पेट पकड़कर बैठ गये और बोले—'मेरे पेटमें बड़े जोरका दर्द हो रहा है, देखो तो किसी संतके पास हुक्का रखा है क्या?' आपके एक सेवकने सन्तोंकी जमातमें जाकर सबको सुनाकर पूछा कि 'किसीके पास हुक्का-तम्बाकू है', यह सुनकर हुक्का पीनेवाले सन्तको बड़ा उल्लास हुआ और उन्होंने तत्काल ही हुक्का लाकर सामने कर दिया। आपने झूठ-मूठकी लम्बी श्वास खींचकर हुक्का पीनेका स्वाँग किया और तुरंत स्वस्थ हो गये। इस प्रकार आपने झूठे स्वाँगसे सन्तकी शंका और दुःखको दूर कर दिया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

बागमें समाज सन्त चले आप देखिबेको देखत दुरायो जन हुक्का सोच पर्‍यौ है।
बड़ौ अपराध मानि साधु सनमान चाहैं, घूमितन बैठि कही देखौ कहूँ धर्‍यौ है॥
जायकै सुनाई दास काहूके तमाखू पास सुनिकै हुलास बढ्यौ आगे आनि कर्‍यौ है।
झूठे ही उसाँस भरि साँचे प्रेम पाय लिये किये मन भाये ऐसे संका दुःख हर्‍यौ है॥ ३८७॥

श्रीरसिकमुरारिजीके गुरुदेव 'धारेन्दा' नामक स्थानमें रहते थे। उनके स्थानसे सम्बन्धित कुछ जमीन बानपुर नामक ग्राममें थी। वहाँ खेती होती थी। जो अन्न उत्पन्न होता, वह साधुसेवा निमित्त धारेन्दा स्थानपर आता। उन्हीं दिनों बानपुरमें एक नया नवाब आया। वह बड़ा ही दुष्ट था। उसने आकर साधुओंको बहुत अवाच्य वचन कहा और उस ग्रामकी समस्त भूमि अपहरण कर ली। श्रीश्यामानन्दजीने विचार किया कि सन्तसेवाकी इस जमीनको कैसे छुड़ाया जाय? फिर विचारकर उन्होंने श्रीरसिकमुरारिजीको पत्र लिख दिया कि तुम जिस स्थितिमें हो, उसी स्थितिमें यहाँ चले आओ। श्रीरसिकमुरारिजी उस समय भोजन कर रहे थे। पत्र पाते ही बिना आचमन किये ही हाथ जोड़े हुए चले आये। श्रीरसिकमुरारिजीने हाथ और मुँह जूठा होनेसे पीछेसे ही गुरुजीको साष्टांग

दण्डवत् प्रणाम किया। पुनः निवेदन किया कि मैं भोजन कर रहा था, उसी समय आपका पत्र मिला, अतः बिना आचमन किये, ज्यों-का-त्यों चला आया। इनकी यह गुरुभक्ति देखकर श्रीश्यामानन्दजीका हृदय प्रेमसे भीग गया।

श्रीरसिकमुरारिजीकी गुरुभक्तिकी इस घटनाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

उपजत अन्न गाँव आवै साधुसेवा ठांव नयो नृपदुष्ट आय काँव काँव कियो है।
ग्रामसो जबत कर्‍यौ कर्‍यौ लै विचार आप स्यामानन्दजू मुरारि पत्र लिखि दियो है॥
जाही भाँति होहु ताही भाँति उठि आवौ इहाँ आये हाथ बाँधि करि अँचैहू न लियो है।
पाछे साष्टांग करी करी लै निवेदन सो भोजनमें कही चले आये भीज्यो हियो है॥ ३८८॥

श्रीगुरुदेव श्रीश्यामानन्दजीकी आज्ञा पाकर श्रीरसिकमुरारिजीने आचमन किया। तत्पश्चात् श्रीश्यामानन्दजीने इन्हें उसी स्थानपर भेजा, जहाँ दुष्टोंमें शिरोमणि नवाब रहता था। आप वहाँ गये। वहाँपर आपके शिष्यगण मिले, जो नवाबके यहाँ मुन्शी, मुनीम आदि थे। उन सबोंने आपको नवाबकी बात सुनायी कि वह बड़ा नीच है, अतः आप तो यहाँसे प्रातःकाल ही चले जायँ। हम सब उसको समझा-बुझाकर काम करा लेंगे। श्रीरसिकमुरारिजी बोले—'चिन्ता मत करो। हृदयमें निश्चिन्तताको धारण करो।' तीन दिनतक नवाबके कर्मचारी लोग अपने गुरुदेव श्रीरसिकमुरारिजीकी ही सेवामें रहे। तीसरे दिन नवाबका ध्यान इस ओर गया तो उन लोगोंको दरबारमें बुलवाया और पूछा कि तीन दिनतक कहाँ रहे?

जब नवाबने कर्मचारियोंके मुखसे यह सुना कि उनके गुरुवर्य आये हैं तो कहा कि उन्हें मेरे घर लिवा लाओ, मैं उनकी करामात देखूँगा। नवाबने जब यह बात सुनायी तो कर्मचारियोंने आकर श्रीरसिकमुरारिजीसे प्रार्थना की कि अब भी आप यहाँसे चले जाइये। आपने कहा कि चलो, जरा उसको देखें तो क्या कहता-करता है। उसकी कितनी सामर्थ्य है? यह कहकर आप नवाबके द्वारा भेजी हुई पालकीपर बैठकर चले। मार्गमें आये तो देखा कि चारों ओर मतवाले हाथीकी धूम छायी हुई है। हाथीके डरसे कहार इनकी पालकी छोड़कर भाग गये। परंतु आप किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। बल्कि शास्त्रोंमें जैसी वाणी बोलनेको कहा गया है, हाथीसे आप वैसी ही परमरसमयी वाणी बोले—'हे गज! हरे कृष्ण हरे कृष्ण कहो, अपने तामसी शरीरके तमोगुणी स्वभावको छोड़ो।' आपके ये वचन सुनते ही हाथीके हृदयमें प्रेम-भाव भर गया। उसने आपके श्रीचरणोंमें अपने शरीरको झुकाकर प्रणाम किया।

श्रीरसिकमुरारिजीका मंगलमय दर्शन करके और अमृतमय वचनोंको श्रवण करके हाथीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। तब आपने कृपा करके उसे धैर्य बँधाया और भक्ति-भाव प्रदान दिया। उसके कानमें श्रीकृष्णनाम सुनाया, गलेमें तुलसीकी माला पहिनायी और उसका नाम गोपालदास रखा। इस प्रकार ऐसे मतवाले हाथीको शिष्य बनानेसे श्रीरसिकमुरारिजीका महान् प्रभाव प्रकटित हुआ, जिसे देखकर दुष्टशिरोमणि नवाब दौड़कर उसी स्थानपर आया और आपके श्रीचरणोंमें लिपट गया। जो जमीन जब्त की थी, वह तो लौटा ही दी और भी कितने नवीन गाँव एवं हाथी भेंटमें दिया। पुनः हाथ जोड़कर बोला कि आज मेरे किसी बड़े भाग्यका उदय हुआ, जो आपका दर्शन हुआ।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आज्ञा पाइ अँचयो लै दै पठाए वाही ठौर दुष्ट सिर मौर जहाँ तहाँ आप आये हैं।
मिले मुतसद्दी शिष्य आइकै सुनाई बात 'जावो उठि प्रात' यह नीच जैसे गाये हैं॥
हमहीं पठावैं, काम करि समझावैं सब मनमें न आवै जानी नेह डरपाये हैं।
चिन्ता जिनि करौ हिये धरौ निहचिंतताई भूप सुधि आई दिना तीन कहाँ छाये हैं॥ ३८९॥

सुनि आये गुरुवर कही ल्यावो मेरे घर देखौं करामात बात यह लै सुनाई है।
कह्यौ आनि अभूं जावौ चलौ उनमान देखै, चले सुख मानि आयौ हाथी धूम छाई है॥
छोड़िकै कहार भाजि गये न निहारि सके आप रससार बानी बोले जैसी गाई है।
बोलौ हरे कृष्ण कृष्ण छाड़ौ गज तम तन सुनि गयौ हिये भाव देह सो नवाई है॥ ३९०॥
बहै दृग नीर देखि ह्वै गयौ अधीर आप कृपा करि धीर कियौ दियौ भक्ति भाव है।
कान में सुनायौ नाम नाम दै 'गुपालदास' माल पहिराई गरें प्रगट्यौ प्रभाव है॥
दुष्ट सिरमौर भूप लखि लहि ठौर आयौ पाँय लपटायौ भयौ हिये अति चाव है।
निपट अधीन गाँव केतिक नवीन दिये लिये करजोरि मेरौ फल्यौ भागदाव है॥ ३९१॥

श्रीरसिकमुरारिजीकी कृपासे वह गजराज गोपालदास भक्तराज हो गया। वह खूब सन्तसेवा करता था। सन्त समाजको देखकर प्रणाम करता था। वह हाथी बनजारोंके यहाँसे बोरे-के-बोरे चावल-दाल आदि लाकर सन्तोंकी जमातमें पटक देता था। एक बार सभी बनजारोंने मिलकर गजराज गोपालदासजीके गुरुदेव श्रीरसिकमुरारिजीके स्थानपर आकर पुकार की कि 'आपके शिष्य गजगोपालदास हमलोगोंका सब माल-मत्ता उठा लाते हैं।' गजगोपालदासजीका नियम था कि जब कभी स्थानमें कोई विशेष महोत्सव, भोज-भण्डारा होता तो जब सन्तोंकी पंक्ति भोजन करके उठ जाती, तब वे आते और सन्तोंकी सीथ—प्रसादी पाते। एक दिन ऐसे ही समयपर आये तो श्रीरसिकमुरारिजीने समझाया कि बलात्कारपूर्वक बनजारोंका सामान मत उठा लाया करो। यह काम निन्द्य है। तबसे गजगोपालदासजीने वह काम छोड़ दिया। सन्तोंसे उनका ऐसा प्रेम बढ़ा कि उनके संग सन्तोंका समूह चलता था। इससे गजगोपालदासजीकी बड़ी ख्याति फैली।

इनका चमत्कार सुनकर बंगालके नवाब शाहशुजाको चाह हुई कि ऐसे हाथीको हम अपने पास रखें। अतः पकड़वानेके लिये उसने बहुतसे आदमी नियुक्त किये, परंतु यह किसीके भी हाथ नहीं आये, तब सूबेदारने यह घोषणा की कि जो भी हाथीको पकड़कर लायेगा, उसे बहुत पुरस्कार दिया जायगा। यह सुनकर उस सन्तवेषनिष्ठ हाथीको एक साधुवेषधारी, जो नाममात्रका साधु था, पकड़ लाया। श्रीगजगोपालदासजीका नियम था कि बिना सन्तोंकी सीथ—प्रसादी लिये जल भी नहीं पीते थे। सूबेदारके यहाँ सन्तोंकी सीथ—प्रसादी न मिलनेसे तीन-चार दिनतक इन्होंने कुछ भी खाया-पिया नहीं। तब सूबेदारके कहनेसे नौकर-चाकर इन्हें जल पिलानेके लिये श्रीगंगाजीकी धारामें ले गये। श्रीगंगाजीका दर्शन करके इन्होंने बीच धारामें प्रवेश करके अपना शरीर छोड़ दिया।

श्रीप्रियादासजी गजगोपालदासजीकी इस सन्तनिष्ठाका अपने कवित्तोंमें वर्णन करते हुए कहते हैं—

भयौ गजराज भक्तराज साधुसेवा साज सन्तनि समाज देखि करत प्रनाम है।
आनि डारै गोनि बनजारनि की बारन सों आयेई पुकारन वे जहाँ गुरुधाम है॥
आवत महोच्छौ मध्य पावत प्रसाद सीथ बोले आप हाथी सौं यौं निन्द्य वह काम है।
छोड़ि दई रीति तब भक्तनसौं प्रीति बढ़ी संगही समूह फिरै फैलि गयौ नाम है॥ ३९२॥
सन्त सत पाँच सात संग जित जात तित लोग उठि धावै ल्यावै सीधे बहु भीर है।
चहूँ दिसि परी हई सूबा सुनि चाह भई हाथ पै न आवत सो आनै कोऊ धीर है॥
साधु एक गयौ गहि लयौ भेष दास तन मन में प्रसाद नेम पीवै नहिं नीर है।
बीते दिन तीन चार जल लै पिवावैं धार गंगा जू निहारि मधि तज्यौ यों सरीर है॥ ३९३॥

भवसागरसे पार करानेवाले भगवद्भक्त

सोझा सींव अधार धीर हरिनाभ त्रिलोचन।
आसाधर द्योराजनीर सधना दुखमोचन॥
कासीस्वर अवधूत कृष्न किंकर कटहरिया।
सोभू ऊदाराम, नाम डूँगर ब्रतधरिया॥
पदम पदारथ रामदास बिमलानंद अमृत स्रए।
भव प्रबाह निस्तार हित अवलंबन ये जन भए॥ ९६॥

आवागमनरूप संसारके प्रवाहमें पड़े हुए जीवोंके उद्धारके लिये ये भगवद्भक्त अवलम्बस्वरूप हुए। श्रीसोझाजी, श्रीसींवाजी, धैर्यवान् श्रीअधारजी, श्रीहरिनाभजी, श्रीत्रिलोचनजी, श्रीआसाधरजी, श्रीद्यौराजनीरजी, श्रीसदनजी—ये सब भक्त जीवोंको संसार-दुःखसे छुड़ानेवाले हुए। अवधूत काशीश्वरजी, श्रीकृष्णकिंकरजी, श्रीकटहरियाजी, श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी, श्रीऊदारामजी, श्रीडूँगरजी—ये श्रीहरिनामका व्रत धारण करनेवाले हुए। श्रीपद्मजी, श्रीपदारथजी, श्रीरामदासजी, श्रीविमलानन्दजी—ये भक्त श्रीहरिभक्तिरसामृतकी वर्षा करनेवाले हुए॥ ९६॥

इनमेंसे कतिपय भक्तोंके विषयमें विवरण इस प्रकार है—

सदन कसाई

प्राचीन समयमें सदन नामक कसाई जातिके एक भक्त हो गये हैं। यद्यपि ये जातिसे कसाई थे, फिर भी इनका हृदय दयासे पूर्ण था। आजीविकाके लिये और कोई उपाय न होनेसे दूसरोंके यहाँसे मांस लाकर बेचा करते थे, स्वयं अपने हाथसे पशु-वध नहीं करते थे। इस काममें भी इनका मन लगता नहीं था, पर मन मारकर जाति-व्यवसाय होनेसे करते थे। सदनका मन तो श्रीहरिके चरणोंमें रम गया था। रात-दिन वे केवल 'हरि-हरि' करते रहते थे।

भगवान् अपने भक्तसे दूर नहीं रहा करते। सदनके घरमें वे शालग्रामरूपसे विराजमान थे। सदनको इसका पता नहीं था। वे तो शालग्रामको पत्थरका एक बाट समझते थे और उससे मांस तौला करते थे। एक दिन एक साधु सदनकी दूकानके सामनेसे जा रहे थे। दृष्टि पड़ते ही वे शालग्रामजीको पहचान गये। मांस-विक्रेता कसाईके यहाँ अपवित्र स्थलमें शालग्रामजीको देखकर साधुको बड़ा क्लेश हुआ। सदनसे माँगकर वे शालग्रामको ले गये। सदनने भी प्रसन्नतापूर्वक साधुको अपना वह चमकीला बाट दे दिया।

साधु बाबा कुटियापर पहुँचे। उन्होंने विधिपूर्वक शालग्रामजीकी पूजा की; परंतु भगवान्‌को उससे प्रसन्नता न हुई। रातमें उन साधुको स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा—'तुम मुझे यहाँ क्यों ले आये? मुझे तो अपने भक्त सदनके घरमें ही बड़ा सुख मिलता था। जब वह मांस तौलनेके लिये मुझे उठाता था, तब उसके शीतल स्पर्शसे मुझे अत्यन्त आनन्द मिलता था। मुझे सदनके बिना एक क्षण कल नहीं पड़ती।'

साधु महाराज जगे। उन्होंने शालग्रामजीको उठाया और सदनके घर जाकर उसे दे आये। साथ ही उसको भगवत्कृपाका महत्त्व भी बता आये। सदनको जब पता लगा कि उनका यह बटखरा तो भगवान् शालग्राम हैं, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अपने व्यवसायसे घृणा हो गयी। वे शालग्रामजीको लेकर पुरुषोत्तमक्षेत्र श्रीजगन्नाथपुरीको चल पड़े।

श्रीप्रियादासजीने सदनके प्रति भगवान्‌की इस भक्तवत्सलताका इस प्रकार वर्णन किया है—

सदना कसाई ताकी नीकी कस आई जैसे बारा बानी सोनेकी कसौटी कस आई है।
जीवको न बध करैं ऐपै कुलाचार ढरैं बेंचैं मांस लाय प्रीति हरिसों लगाई है॥
गंडकीकौ सुत बिन जाने तासों तोल्यौ करैं भरै दृग साधु आनि पूजे पै न भाई है।
कही निसि सुपने मैं वाही ठौर मोकों देवौ सुनौ गुनगान रीझौं हियेकी सचाई है॥ ३९४॥
लै कै आयो साधु मैं तो बड़ो अपराध कियौ कियौ अभिषेक सेवा करी पै न भाई है।
ये तौ प्रभु रीझे तोपै जोई चाहौ सोई करौ गरो भरि आयौ सुनि मति बिसराई है॥
वे ई हरि उर धारि डारि दियो कुलाचार चले जगन्नाथ देव चाह उपजाई है।
मिल्यौ एक संग संग जात वे सुगात सब तब आप दूर दूर रहैं जानि पाई है॥ ३९५॥

मार्गमें सन्ध्या-समय सदनजी एक गाँवमें एक गृहस्थके घर ठहरे। उस घरमें स्त्री-पुरुष दो ही व्यक्ति थे। स्त्रीका आचरण अच्छा नहीं था। वह अपने घर ठहरे हुए इस स्वस्थ, सुन्दर, सबल पुरुषपर मोहित हो गयी। आधी रातके समय सदनजीके पास आकर वह अनेक प्रकारकी अशिष्ट चेष्टाएँ करने लगी। यह देख वे हाथ जोड़कर बोले—'तुम तो मेरी माता हो! अपने बच्चेकी परीक्षा मत लो, माँ! मुझे तुम आशीर्वाद दो।'

उस स्त्रीने समझा कि मेरे पतिके भयसे ही यह मेरी बात नहीं मानता। वह गयी और तलवार लेकर सोते हुए अपने पतिका सिर उसने काट दिया और कहने लगी—'प्यारे! अब डरो मत। मैंने अपने पतिका सिर काट डाला है। अब तुम मुझे स्वीकार करो।'

सदन भयसे काँप उठे। स्त्रीने अनुनय-विनय करके जब देख लिया कि उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं हो सकती, तब द्वारपर आकर छाती पीट-पीटकर रोने लगी। लोग उसका रुदन सुनकर एकत्र हो गये। उसने कहा—'इस यात्रीने मेरे पतिको मार डाला है और यह मेरे साथ बलात्कार करना चाहता था।' लोगोंने सदनको खूब भला-बुरा कहा, कुछने मारा भी; पर सदनने कोई सफाई नहीं दी। मामला न्यायाधीशके पास गया। सदन तो अपने प्रभुकी लीला देख रहे थे, अतः अपराध न करनेपर भी अपराध स्वीकार कर लिया। न्यायाधीशकी आज्ञासे उनके दोनों हाथ काट लिये गये।

सदनके हाथ कट गये, रुधिरकी धारा चलने लगी; उन्होंने इसे अपने प्रभुकी कृपा ही माना। उनके मनमें भगवान्‌के प्रति तनिक भी रोष नहीं आया। भगवान्‌के सच्चे भक्त इस प्रकार निरपराध कष्ट पानेपर भी अपने स्वामीकी दया ही मानते हैं। भगवन्नामका कीर्तन करते हुए सदन जगन्नाथपुरीको चल पड़े। उधर पुरीमें प्रभुने पुजारीको स्वप्नमें आदेश दिया—'मेरा भक्त सदन मेरे पास आ रहा है। उसके हाथ कट गये हैं। पालकी लेकर जाओ और उसे आदरपूर्वक ले आओ।' पुजारी पालकी लिवाकर गये और आग्रहपूर्वक सदनको उसमें बैठाकर ले आये। सदनने जैसे ही श्रीजगन्नाथजीको दण्डवत् करके कीर्तनके लिये भुजाएँ उठायीं, उनके दोनों हाथ पूर्ववत् ठीक हो गये।

श्रीप्रियादासजीने इन घटनाओंका अपने दो कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आयौ मग गाँव भिक्षा लेन इक ठाँव गयौ नयो रूप देखि कोऊ तिया रीझि परी है।
बैठो याही ठौर करो भोजन निहोरि कह्यौ रह्यौ निसि सोय आई मेरी मति हरी है॥
लेवो मोको संग गरौ काटौ तौ न होय रंग बूझी और काटी पति ग्रीव पै न डरी है।
कही अब पागो मोसों नातो कौन तोसों मोसों सोर करि उठी इन मार्‌यो भीर करी है॥ ३९६॥

हाकिम पकरि पूछै कहैं हँसि मार्यो हम, डार्यौ सोच भारी कही हाथ काटि डारियै।
कट्यो कर चले हरिरंग माँझ झिले मानी जानी कछु चूक मेरी यहै उर धारियै॥
जगन्नाथदेव आगे पालकी पठाई लेन, सधनासो भक्त कहाँ? चढ़ैं न विचारियै।
चढ़ि आये प्रभु पास सुपनोसो मिट्यौ त्रास बोले दै कसौटी हूँ पै भक्ति विसतारियै॥ ३९७॥

प्रभुकी कृपासे हाथ ठीक तो हुए, पर मनमें शंका बनी ही रही कि वे क्यों काटे गये? रातमें स्वप्नमें भगवान्ने सदनजीको बताया—'तुम पूर्वजन्ममें काशीमें सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण थे। एक दिन एक गाय कसाईके घेरेसे भागी जा रही थी। उसने तुम्हें पुकारा। तुमने कसाईको जानते हुए भी गायके गलेमें दोनों हाथ डालकर उसे भागनेसे रोक लिया। वही गाय वह स्त्री थी और कसाई उसका पति था। पूर्वजन्मका बदला लेनेके लिये उसने उसका गला काटा। तुमने भयातुरा गायको दोनों हाथोंसे पकड़कर कसाईको सौंपा था, इस पापसे तुम्हारे हाथ काटे गये। इस दण्डसे तुम्हारे पापका नाश हो गया।'

सदनने भगवान्‌की असीम कृपाका परिचय पाया। वे भगवत्प्रेममें विह्वल हो गये। बहुत कालतक नाम-कीर्तन, गुण-गान तथा भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन रहते हुए उन्होंने पुरुषोत्तमक्षेत्रमें निवास किया और अन्तमें श्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें देह त्यागकर वे परम-धाम पधारे।

गुसाईं श्रीकाशीश्वरजी

गोस्वामी श्रीकाशीश्वरजी श्रीचैतन्य महाप्रभुके गुरु श्रीईश्वरपुरीजीके शिष्य थे। पहले आप अवधूत संन्यासी थे। उस समय आप प्रायः विचरण किया करते थे। एक बार मार्गमें आपको एक भूत मिला, वह आपको डराने लगा तो आपने पूछा कि आखिर मुझसे क्या चाहते हो? भूतने कहा—'मैं तुम्हें मारकर भूत बनाना चाहता हूँ।' आपने पूछा—'ऐसा क्यों?' भूतने कहा—'इसलिये कि तुम श्रीहरिसे विमुख हो।' यह सुनकर आपने मन-ही-मन भगवान् श्रीहरिकी शरण ली। मनमें शरणागतिका संकल्प करते ही भूत पलायन कर गया।

गुसाईं श्रीकाशीश्वरजीको श्रीनीलाचल (श्रीजगन्नाथपुरी)-का वास अच्छा लगता था, अतः अनुरागपूर्वक वहीं बस गये। कालान्तरमें महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजीके आदेशानुसार आप श्रीवृन्दावन चले आये। श्रीवृन्दावनका दर्शन करके आपके हृदयकी अभिलाषा पूरी हो गयी। यहाँ आपको रसिकेन्द्रचूड़ामणि श्रीराधा गोविन्दचन्द्रजीकी सेवाका अधिकार प्राप्त हुआ।

श्रीप्रियादासजीने गुसाईं काशीश्वरजीकी भाव-दशाका वर्णन इस प्रकार किया है—

श्रीगुसाईं काशीश्वर आगे अवधूत बर करि प्रीति नीलाचल रहे लाग्यो नीको है।
महाप्रभु कृष्ण चैतन्यजूकी आज्ञा पाय आये वृन्दावन देखि भायौ भयौ हीको है॥
सेवा अधिकार पायौ रसिक गोविन्दचन्द चाहत मुखारविन्द जीवनि जो जीको है।
नित ही लड़ावैं भाव सागर बढ़ावैं कौन पारावार पावैं सुनै लागै जग फीको है॥ ३९८॥

परमधामगमनके समय आपके श्रीगुरुदेव श्रीईश्वरपुरीजी महाराजने आपको आज्ञा दी कि तुम श्रीगौरांगकी सेवामें जाकर रहो। आपका तो श्रीगौरांग महाप्रभुसे पहलेसे ही अनुराग भाव था, अतः सहर्ष श्रीजगन्नाथपुरी आकर श्रीगौरांग महाप्रभुकी सेवा और सन्निधि प्राप्त की। श्रीमहाप्रभु आपको गुरुभाई मानकर अपनी सेवा देने में संकोच करते थे, पर गुरु-आज्ञा और आपके प्रेम-भावको देखकर सेवा देना स्वीकार कर लिया। आप शरीरसे बड़े ही हृष्ट-पुष्ट थे। श्रीमहाप्रभुजी जब श्रीजगन्नाथस्वामीके सम्मुख प्रेम-विभोर होकर नृत्य करते तो उनके दर्शनार्थ जनसमुदाय उमड़ पड़ता था, उस समय आप ही भीड़को सँभालते थे।

कालान्तरमें आप महाप्रभुके आज्ञानुसार श्रीधाम वृन्दावन चले आये और श्रीगोविन्ददेवजीकी सेवा करते हुए अपने जीवनको धन्य कर दिया।

श्रीसोझाजी

श्रीसोझाजी दम्पती भगवद्भक्त गृहस्थ थे। धीरे-धीरे जगत्की असारता, सांसारिक सुखोंकी असत्यता और श्रीहरिभजनकी सत्यताका सम्यक् बोध हो जानेपर आपके मनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। आपने अपनी धर्मपत्नीके समक्ष अपने गृहत्यागका प्रस्ताव रखा तो उस साध्वीने न केवल सहर्ष प्रस्तावका समर्थन किया, बल्कि स्वयं भी साथ चलनेको तैयार हो गयीं। इसपर आपने कहा कि यदि तुम्हारे हृदयसे समस्त सांसारिक आसक्तियाँ समाप्त हो गयी हों तो तुम भी अवश्य चल सकती हो। अन्ततोगत्वा अर्धरात्रिके समय आप दोनोंने घर-द्वार, बन्धु-बान्धव, कुटुम्ब-परिवार—सबकी ममताका त्याग कर दिया और घर छोड़कर चल दिये। आपकी तो प्रभुकृपापर अनन्य निष्ठा थी, इसलिये साथ कुछ नहीं लिया, परंतु आपकी पत्नी अपने दस माहके शिशुके प्रति वात्सल्यभावको न त्याग सकी और उसको भी अपनी गोदमें लेते आयी। रातभर पैदल चलनेके उपरान्त प्रातःकालके उजालेमें आपने जब पत्नीकी गोदमें शिशुको देखा तो बहुत नाराज हुए और बोले—'अभी तुम्हारे मनमें संसारके प्रति बहुत राग है, यदि तुम मेरे साथ चलना चाहती हो तो इस शिशुको यहीं छोड़ दो।' पत्नीने बड़े ही करुण स्वरमें कहा—'नाथ! यहाँ इसका लालन-पालन कौन करेगा?' आपने पृथ्वीपर रेंगते हुए जीव-जन्तुओंको दिखाकर कहा—'जो इनका पालन करता है, वही इस बालकका भी पालन करेगा।' आपकी आज्ञाका पालन करते हुए आपकी पत्नीने बालकको वहीं छोड़ दिया और दोनों लोग आगे बढ़ गये। उधर परिवारके लोगोंने आप दोनोंकी खोज की तो आप लोग तो मिले नहीं, पर आपका बालक उन लोगोंको मिल गया, जिसे आगे चलकर उस देशके राजाने संतानहीन होनेके कारण गोद ले लिया और वह आगे चलकर राजा बना। इधर आप लोगोंको चलते-चलते पूरा दिन बीत गया, परंतु कहींसे भोजन तो क्या, अन्नका एक दाना भी नसीब नहीं हुआ। आपने सोचा कि हम लोग तो अब प्रभुके ही आश्रित हैं, ऐसेमें प्रभु हमें अपने प्रसादसे क्यों वंचित कर रहे हैं; मेरे पास तो कुछ है नहीं, लगता है कि मेरी पत्नीके पास कुछ धन है, इसीलिये हम प्रभुकृपासे वंचित हो रहे हैं। आपने पत्नीसे पूछा तो उन्होंने सोनेकी एक मुहर दिखाते हुए कहा कि बस यही एक मुहर मेरे पास है। आपने कहा—'जब घर त्याग दिया, धन-सम्पत्ति त्याग दी, तो इस एक बाधाको क्यों अपने साथ लगाये हो, इसे भी फेंको तभी प्रभुकी कृपाका प्रसाद मिल सकेगा।' पत्नीने तुरंत मुहर फेंक दी और आप लोग आगे बढ़ गये। इन दम्पतीकी वार्ता और इस घटनाको देख रहे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन लोगोंने मान लिया कि ये लोग सच्चे और सिद्ध सन्त हैं, अतः इनके नगरमें पहुँचनेसे पहले ही इनकी कीर्ति वहाँ फैल गयी। फिर तो लोगोंने इनकी खूब आवभगत की और आदर-सत्कार किया। कुछ दिनतक उस नगरमें निवास करनेके बाद आप लोग श्रीद्वारकापुरीकी यात्रापर चल दिये। कहते हैं कि मार्गमें कुछ दुष्टोंने इनकी पत्नीका हरण कर लिया। इसपर अपने धर्मकी रक्षाके लिये पतिव्रता पत्नीने भगवान्‌को पुकारा। अपने अनन्य भक्तके कष्टको भगवान् अनदेखा कैसे कर सकते थे! उन्होंने तुरंत हनुमान्‌जीको आदेश दिया और हनुमान्‌जीने प्रकट होकर उन दुष्टोंको यथोचित दण्ड दिया और आपकी पत्नीको आपके पास वापस लाये, साथ ही भगवान्‌ने आकाशवाणीसे उनकी पवित्रता भी प्रमाणित कर दी।'

बारह वर्ष बाद अचानक एक दिन आपकी पत्नीको अपने उस दुधमुँहे शिशुकी याद आयी, जिसे वे आपके कहनेपर रास्तेमें ही छोड़कर चली आयी थीं। उन्होंने इस बातको आपसे कहा। प्रभुकृपासे आप

तो सब जानते ही थे, फिर भी पत्नीको भगवत्कृपाके दर्शन करानेके लिये उन्हें लेकर अपने देश वापस लौटे। वहाँ वे एक बागमें रुके और मालीसे पूछा—'यहाँका राजा कौन है?' मालीने बताया—'यहाँके राजाको कोई संतान नहीं थी; अतः उन्होंने भक्त सोझाजीके पुत्रको गोद ले लिया था, जिसे उसके माता-पिता जंगलमें छोड़ गये थे, अब वही लड़का यहाँका राजा है।' सोझाजीकी पत्नी इस भगवत्कृपासे गद्गद हो गयीं, उन्हें विश्वास हो गया कि जो अनन्य भावसे प्रभुकी शरणमें जाते हैं, उनके योग-क्षेमका वहन स्वयं श्रीभगवान् करते हैं।

श्रीसींवाजी

श्रीसींवाजी भगवद्भक्त सद्गृहस्थ थे। आपकी सन्तसेवामें बड़ी निष्ठा थी। आपके दरवाजेपर सन्त-मण्डली प्रायः आती रहती थी, इससे समाजमें आपका सम्मान भी बहुत था। आपकी यह प्रतिष्ठा अनेक लोगोंकी ईर्ष्याका कारण बनी। उन लोगोंने राजासे आपकी शिकायत कर दी। अविवेकी राजाने भी बिना कोई विचार किये आपको कारागारमें डाल दिया। आपकी सन्त प्रकृति थी, अतः आपके लिये सुख-दुःख, मान-अपमान सब समान ही थे; परंतु आपको इस बातका विशेष क्लेश था कि अब मेरी सन्तसेवा छूट गयी है। एक दिन एक सन्तमण्डली आपके घरपर आयी, जब आपको इस बातका पता चला तो आपको बहुत दुःख हुआ। आपने भगवान्से प्रार्थना की कि 'प्रभो! यदि मेरे पंख होते तो मैं उड़कर सन्तोंके पास चला जाता और उनकी सेवा करता, पर क्या करूँ, यहाँ तो मैं लाचार हूँ।' सर्वसमर्थ प्रभुसे अपने भक्तकी सच्ची तड़पन और उसकी मानसिक पीड़ा देखी न गयी। उसी समय चमत्कार हुआ और आपकी हथकड़ी-बेड़ी टूटकर जमीनपर गिर पड़ी, जेलके फाटक भी अपने-आप खुल गये। आप सन्तोंके पास पहुँच गये और भावपूर्वक उनकी सेवा की। उधर राजकर्मचारियोंने देखा कि जेलका फाटक खुला है और इनके कमरेमें हथकड़ी-बेड़ी टूटी हुई जमीनपर पड़ी है तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्होंने इस बातकी खबर राजाको दी। अविवेकी राजाको इस घटनामें भगवत्कृपाके दर्शन होनेके स्थानपर जेलसे भागनेका अपराध ही दृष्टिगोचर हुआ और उसने पुनः आपको पकड़कर लानेका आदेश दिया। आप कहीं भागे तो थे नहीं, घर जाकर सन्तसेवा ही कर रहे थे। राजाके सिपाही वहाँ पहुँचकर आपको फिरसे हथकड़ी-बेड़ीमें जकड़ने लगे, परंतु प्रभुकृपासे आपके शरीरका स्पर्श होते ही वे हथकड़ियाँ भी टूटकर जमीनपर गिर पड़ीं। जब राजाको इस बातकी सूचना दी गयी तो उस मूर्खने कहा कि यह कोई जादूगर है, जो इन्द्रजाल कर रहा है, अतः इसे पकड़कर प्राणदण्ड दे दो। राजाकी आज्ञाके अनुसार जल्लादोंने आपको तलवारके घाट उतारना चाहा, परंतु ***'सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'*** भला, उसको कौन मार सकता है, जिसकी रक्षा स्वयं भगवान् कर रहे हों। जल्लादोंके उठे हाथ उठेके उठे रह गये, मानो वे जीवित प्राणी न होकर चित्रलिखित हों। राजाको जब यह वृत्तान्त सुनाया गया तो भगवत्कृपासे उसके ज्ञानचक्षु खुल गये। वह नंगे पैर भागकर आया और आपके चरणोंमें गिरकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा। आपके मनमें कोई विकार भाव तो था ही नहीं, अतः तुरंत ही क्षमा कर दिया। अब राजाको उन ईर्ष्यालु व्यक्तियोंका ध्यान आया, जिनकी शिकायतपर राजाने आपको कारागारमें निरुद्ध कराया था। उसने उन लोगोंको तुरंत प्राणदण्ड दे देनेका आदेश दिया। यह देखकर आपका मन बड़ा दुखी हुआ और हृदय अपार करुणासे भर गया। आपने राजासे कहकर तुरंत उन सबको भी मुक्त करा दिया। इस प्रकार श्रीसींवाजी गृहस्थमें रहते हुए भी आदर्श सन्त थे।

श्रीअधारजी

श्रीअधारजी बड़े उच्च कोटिके सन्त थे। भगवान् श्रीहरिके नाममें आपकी बड़ी निष्ठा थी। आपने श्रीहरि नामको ही अपना अधार बना लिया और उसीके बलपर असंख्य जनोंको भवसागरसे पार किया। श्रीहरि नामको आधार बना लेनेके कारण आपका नाम श्रीअधारजी पड़ गया।

श्रीहरिनाभजी

श्रीहरिनाभजी भगवत्कृपाप्राप्त सन्त थे। आपका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था और आपकी सन्त-सेवामें बड़ी ही निष्ठा थी। आपके यहाँ प्राय: सन्तोंकी मण्डली आया करती थी और आप अत्यन्त निष्ठाके साथ उनकी सेवा किया करते थे। एक बार संन्यासियोंकी एक बड़ी मण्डली आपके गाँवमें आयी। गाँववालोंने उन्हें आपके यहाँ भेज दिया। संयोगसे उस दिन आपके यहाँ तनिक भी सीधा नहीं था और न ही घरमें रुपया-पैसा या आभूषण ही था, जिसे देकर दूकानसे सौदा आ सकता। ऐसेमें आपके समक्ष धर्मसंकटकी स्थिति आ गयी, सन्त-सेवामें आपकी निष्ठा ऐसी थी कि उन्हें अपने दरवाजेसे निराश जाने नहीं दे सकते थे। ऐसेमें आपने अपनी विवाहयोग्य कन्याको एक सगोत्री ब्राह्मणके यहाँ छोड़ दिया कि पैसेकी व्यवस्था होनेपर छुड़ा लेंगे। इस प्रकार पैसोंकी व्यवस्था करके आप सीधा-सामान लाये और सन्त-सेवा की। कुछ समय बाद जब आपके पास पैसे इकट्ठे हो गये तो आपने ब्राह्मणके पैसे लौटा दिये, परंतु फिर भी वह कन्याको वापस करनेमें आनाकानी करता रहा। आपकी सन्त-सेवाके प्रति निष्ठा और ब्राह्मणकी कुटिलताने सन्तोंके परम आराध्य भगवान् श्रीहरिको उद्वेलित कर दिया। वे स्वयं चुपचाप कन्याको आपके यहाँ पहुँचा आये। अब वह ब्राह्मण आपसे झगड़ा-तकरार करने लगा। इसपर भगवान्ने रात्रिमें स्वप्नमें उससे कहा कि कन्याको मैंने उसके पिताके घर पहुँचाया है, यदि तुम इसके लिये तकरार करोगे तो मैं तुम्हारा सर्वनाश कर दूँगा। अब ब्राह्मणको अपनी गलती और आपपर भगवत्कृपाका बोध हुआ। वह दूसरे दिन प्रात:काल ही आकर आपके चरणोंमें गिरकर प्रार्थना करने लगा। आपके मनमें उसके प्रति तनिक भी क्रोध नहीं था, अत: उसे क्षमा तो कर ही दिया साथ ही उसे भी सन्त-सेवी बना दिया। उसने सन्त-सेवाका व्रत तो लिया ही साथ ही आपकी पुत्रीको अपनी पुत्री मानकर उसके विवाहमें पूर्ण सहयोग दिया।

इस प्रकार श्रीहरिनाभजी अद्भुत सन्त-सेवी गृहस्थ साधु थे।

श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी

श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी महाराजका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। आपके पिताका नाम श्रीकृष्णदत्त और माताका नाम श्रीराधादेवी था। श्रीकृष्णदत्त एवं राधादेवीको जब दीर्घकालतक संतानकी प्राप्ति नहीं हुई तो एक सन्तकी प्रेरणासे दोनों निम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिदेव व्यासजीके पास गये। उन्होंने आपलोगोंको गो-सेवा करनेकी आज्ञा दी। अब आप लोग गायोंको चराते, उनकी सार-सँभाल करते और हर प्रकारकी सेवा करते। इस प्रकार सेवा करते-करते गोपाष्टमीका दिन आया। आप दोनों लोग गोशालामें गये, वहाँ देखा तो चारों ओर प्रकाश फैला था और उस प्रकाशपुंजके मध्यमें एक सुन्दर शिशु लेटा था। उसे देखते ही दम्पतीका वात्सल्यभाव जाग्रत् हो गया और राधादेवीने उसे अपनी गोदमें उठा लिया। इस प्रकार स्वयं प्रकट होनेके कारण शिशुका नाम स्वभूराम पड़ा। आठ वर्षकी अवस्थामें बालक स्वभूरामको उनके माता-पिता श्रीहरिदेव व्यासजीके पास ले गये और उसका यज्ञोपवीत कराकर वैष्णव दीक्षा दिलायी, तत्पश्चात् सब लोग पुन: घर आ गये। श्रीस्वभूरामजी घर आ तो गये, पर उनका मन घरमें न लगता। एक दिन उन्होंने अपने माता-पितासे संन्यास लेनेकी बात कही और उनसे आज्ञा एवं आशीर्वाद माँगा। इसपर आपके माता-

पिता वात्सल्यस्नेहवश बिलखने लगे और रोते हुए बोले—'बेटा! हम वृद्धोंके तुम्हीं एकमात्र प्राणाधार हो, यदि तुम भी वैराग्य-धारण कर लोगे तो हम लोग किसके आधारपर जीवन धारण करेंगे?' माता-पिताकी इस परेशानीको देखकर आपने कहा कि यदि मेरे दो भाई और हो जायँ तो क्या आप लोग मुझे विरक्त हो जानेकी आज्ञा दे देंगे? यह सुनकर माता-पिता हँस पड़े; क्योंकि तबतक उनकी पर्याप्त अवस्था हो चुकी थी। परंतु आपकी वाणी सत्य सिद्ध हुई। कुछ दिनों बाद भगवत्कृपासे सन्तदास और माधवदास नामक दो भाइयोंका जन्म हुआ। उनके कुछ बड़े हो जानेपर आपने पुनः माता-पितासे संन्यासकी अनुमति माँगी और मौन स्वीकृति प्राप्तकर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीकी शरणमें चले गये। आपने श्रीगुरुदेवजीसे विरक्त दीक्षा ली और भजन-साधन करने लगे।

एक बारकी बात है, श्रीयमुनाजीकी बाढ़से आपके आश्रम-ग्राम बुड़ियाके डूब जानेकी आशंका हो गयी। सभी गाँववाले बचावके लिये गाँवके चारों ओर ऊँची दीवाल बनाने लगे, परंतु जब उससे भी बाढ़ रोकनेमें सफलता न मिली तो 'त्राहि माम् त्राहि माम्' करते आपके पास आये। आपने मनमें विचार किया कि श्रीयमुना महारानी तो स्वामिनीजी हैं, मेरे आराध्यकी प्राणप्रिया हैं, यदि वे कृपाकर पधार रही हैं तो यह तो हर्षका विषय है, ऐसेमें भला उनके मार्गमें अवरोध खड़ा करना कहाँ उचित है—ऐसा सोचकर आपने फावड़ा उठाया और श्रीयमुनाजीसे गाँवतक मार्ग बना दिया। सब लोग उनके इस क्रियाकलापको आश्चर्यभावसे देखते रहे,-परंतु यमुनामैया उनके दिव्य भावको जान गयीं और एक पतली-सी धाराके रूपमें आश्रमतक आकर फिर वापस चली गयीं। आपके इस अलौकिक प्रभावसे आज भी बुड़िया ग्राममें आपका सुयश गाया जाता है।

आपका एक ब्राह्मण शिष्य था, सम्पत्ति तो उसके पास बहुत थी, पर संतान कोई न थी। एक-एक करके उसने तीन विवाह किये, पर संतानकी प्राप्ति न हुई। गाँववाले उसे निपूता कहते। एक दिन वह आपके पास आया और आपसे अपना दुःख निवेदन किया। आपने कहा चिन्ता न करो, तुम्हारी तीसरी पत्नीसे तुम्हें एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी, जो बड़ा ही भक्त और सन्त-सेवी होगा। यथासमय ब्राह्मणके घर पुत्रका जन्म हुआ। इसके बाद तो उसकी सन्तसेवामें और निष्ठा बढ़ गयी। कालान्तरमें उस ब्राह्मणकी मृत्यु हो गयी और उसके कुछ ही दिनों बाद पुत्रको भी एक विषधरने डँस लिया। रोती-बिलखती बालककी माँ उस मृतप्राय बालकको लेकर आपके पास आयी। आपने श्रीभगवान्‌का चरणामृत उस बालकके मुखमें डाल दिया। बालक तत्काल वैसे ही उठ बैठा, जैसे कोई नींदसे जगकर उठ बैठे। यही बालक आगे चलकर श्रीकन्हरदेवाचार्य नामसे प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार आपने अनेक अलौकिक कार्य किये और वैष्णव धर्मकी ध्वजा फहरायी।

श्रीऊदारामजी

श्रीऊदारामजीका जन्म वैश्यकुलमें हुआ था। आप परम भगवद्भक्त और सन्तसेवी थे। आपकी पत्नी भी परम भागवती और पतिपरायणा थीं। एक पुत्रके जन्मके बाद आप दम्पतीने निश्चय किया कि अब पितृ-ऋणसे उऋण होनेके लिये संतान हो गयी है, अतः शेष समय भगवद्भजन और सन्तसेवामें ही बिताना चाहिये। यह निश्चयकर पति-पत्नी भगवद्भजन और साधु-सेवामें रत हो गये। भगवान्‌ने इनकी सन्तसेवाको प्रकाशित करनेके लिये इनकी परीक्षा लेनेका विचार किया। वे एक सन्तका स्वरूप धारणकर आपके पास आये और बोले—'मेरी पत्नी बीमार है, अतः सेवा करनेके लिये कुछ दिनके लिये अपनी पत्नी मुझे दे दो, जैसे ही मेरी पत्नी स्वस्थ हो जायगी, मैं वापस कर दूँगा।' आपने स्वीकार कर लिया। सन्तरूप भगवान्‌ने कहा—

अब आप इन्हें मेरे आश्रमतक छोड़ आयें। इसके लिये भी आप तैयार हो गये और पत्नीको लेकर सन्तके आश्रमपर पहुँच गये। तबतक रातका अँधेरा हो गया था, अतः सन्तके आग्रहपर आप भी वहीं रुक गये। प्रातः आँख खुलनेपर देखा कि दोनों पति-पत्नी आश्रममें नहीं, बल्कि अपने घरमें हैं। तब आपको विश्वास हो गया कि सन्तरूपमें स्वयं श्रीभगवान् ही हमें सन्तसेवाका फल देने आये थे। अब आपकी सन्तसेवामें और निष्ठा बढ़ गयी, परंतु इनके पत्नीको सन्तके यहाँ भेजनेके कार्यके कारण सन्त-महिमा और वास्तविकताको न जाननेवाले परिवारीजन और जाति-बिरादरीके लोग आपसे नाराज हो गये। प्रथम तो उन लोगोंने आपको सन्तसेवा और वैष्णवोंसे नाता तोड़नेके लिये कहा, परंतु जब आप न माने तो राजाके पास झूठी शिकायत कर दी कि ऊदारामके पास बहुत धन है, परंतु यह राज्यकर नहीं देता। अविवेकी राजाने भी बिना कोई विचार किये सिपाहियोंको श्रीऊदारामजीको गिरफ्तारकर लानेके लिये भेज दिया, परंतु सिपाही जब आपके घरके पास पहुँचे तो सबके सब अन्धे हो गये। यह समाचार जब राजाको पता चला तो उसे अपनी भूल ज्ञात हुई। उसने तत्काल आकर आपके चरणोंमें प्रणिपात किया और आपके उपदेशोंसे प्रभावित होकर भगवद्भजन और साधु-सेवाका व्रत ले लिया। इसी प्रकार आपके चरित्रसे प्रेरणा लेकर अनेक भगवद्विमुख जन वैष्णव बन गये।

श्रीडूँगरजी

भक्त श्रीडूँगरजी जातिसे पटेल क्षत्रिय थे। सन्तसेवामें आपकी बड़ी ही निष्ठा थी, परंतु आपके पिताको यह सब व्यर्थ लगता था। अतः आप पितासे छिपाकर सन्तोंको खिलाने-पिलानेमें धन खर्च कर दिया करते थे। इस प्रकार आपने जब बहुत-सा धन व्यय कर दिया तो यह बात आपके पिताजीको भी मालूम हुई और क्रुद्ध होकर उन्होंने आपको घरसे निकाल दिया। यद्यपि अब आपके पास अर्थाभाव हो गया था, फिर भी आपकी सन्तसेवा बदस्तूर जारी रही। यहाँतक कि आपने अपनी पत्नीके आभूषणतक बेचकर उससे सन्तोंकी सेवा कर दी। इससे आपकी प्रसिद्धि तो चारों ओर फैल गयी, परंतु घरमें अन्नका एक दाना न रहा। एक दिन सन्तोंकी एक बड़ी मण्डली आपके द्वारपर आ गयी, घरमें अन्नका एक भी दाना न होनेसे आपके सामने बड़ा धर्मसंकट आ पड़ा। आर्थिक स्थिति ठीक न होने और आमदनीका कोई स्रोत न होनेसे कोई आपको उधार भी देनेको तैयार नहीं था। घरमें ऐसी कोई कीमती वस्तु भी नहीं थी, जिसे बेंचकर या गिरवी रखकर उधार प्राप्त हो जाता। अन्तमें सब तरफसे निराश होकर आप दोनों भक्तदम्पतीने भगवान्से ही पुकार लगायी।

ऐसे अकिंचन भक्त और सन्तसेवीकी प्रार्थना भला भगवान् कैसे अनसुनी करते, प्रभुकृपासे तुरंत ही अन्नकी वर्षा होने लगी। आपकी पत्नीने तुरंत आटा तैयार किया, रसोई बनी और सन्तोंने प्रसाद पाया। उधर अन्न-वर्षाकी चर्चा क्षणभरमें पूरे गाँवमें व्याप्त हो गयी। जब यह समाचार आपके पिताको ज्ञात हुआ तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और वे भी धन-सम्पदाका मोह छोड़कर सन्तसेवामें रत हो गये।

भगवत्कृपा और सन्त-निष्ठासे आपके जीवनमें अनेक चमत्कार हुए। एक बार आप श्रीद्वारिकापुरीजीकी यात्रापर जा रहे थे, मार्गमें एक अघोरी मिला, जो आपको मारकर खा जाना चाहता था। ऐसी विषम परिस्थितिमें भगवान्ने प्रकट होकर आपकी प्राण-रक्षा की और अघोरीको उचित दण्ड दिया।

आप वैष्णवधर्मके प्रचार-प्रसारके लिये प्रायः यात्राएँ किया करते थे। एक बार आप कहीं जा रहे थे, मार्गमें देखा कि एक गर्भवती स्त्री अपने मृत पतिके साथ सती होने जा रही है, यह देखकर आपको बड़ी दया आयी और आपने भगवच्चरणामृतकी कुछ बूँदें उस मृत व्यक्तिके मुखमें डाल दीं; फिर क्या था,

वह व्यक्ति उठ खड़ा हुआ। चारों ओर आपकी जय-जयकार होने लगी। आपने वहाँ एकत्र लोगोंको भगवद्भक्तिका उपदेश दिया। इस प्रकार आपने अपने अनेक चमत्कारपूर्ण कार्योंसे बहुतसे लोगोंको भगवद्भक्तिपूर्ण जीवन जीनेकी प्रेरणा दी।

श्रीपदारथजी

श्रीपदारथजी महाराज बड़े ही उच्चकोटि के गृहस्थ सन्त थे। श्रीहरिभक्तिको आप समस्त पदार्थोंका सार और सन्तोंको भगवान्‌का प्रतिनिधि मानते थे। सन्तोंमें ही नहीं, अपितु सन्तवेषमें भी आपकी बड़ी निष्ठा थी। एक बार एक ठग किसी सन्तसेवी वणिक्के यहाँ सन्तवेषमें रहने लगा, थोड़े ही दिनमें वह वणिक्-परिवारका विश्वासपात्र बन गया। एक दिन मौका पाकर वह वणिक्का सारा माल-मत्ता लेकर चम्पत हो गया। वणिक्-पत्नीके जब देखा कि तिजोरी खुली है और सारी धन-सम्पत्ति गायब है, तो वह चीख-चीखकर रोने-चिल्लाने लगी। उसका रोना-चिल्लाना सुनकर राजकर्मचारियोंने ठगका पीछा किया। जब ठगको अपने बचनेका कोई उपाय न सूझा तो वह आपके ही घरमें घुस आया। उसे राजकर्मचारियोंके भयसे भयभीत देखकर आपको कुछ दालमें तो काला लगा, पर सन्तवेषके प्रति निष्ठा होनेके कारण उसे अपने घरमें छिपा लिया और राजकर्मचारियोंके वापस चले जानेके बाद उससे सारी घटना सच-सच बतानेको कहा। समस्त वस्तुस्थितिसे अवगत होनेपर आपने वणिक्का सारा धन उसके घर भिजवा दिया और ठगको भगवान्‌का चरणामृत एवं प्रसाद दिया, जिससे उसकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। इस प्रकार आपने अनेक कुमार्ग-गामियोंको भगवद्भक्ति-पथका पथिक बना दिया।

श्रीविमलानन्दजी

श्रीविमलानन्दजी महाराज बड़े ही सिद्ध महापुरुष थे। नामके अनुरूप ही आपका हृदय बड़ा ही निर्मल था और आपके सम्पर्कमें आनेवाले प्राणी भी मनकी दुर्वासनाओंसे मुक्त हो जाया करते थे। आपके विषयमें यह कथा बहुत ही प्रसिद्ध है—

किसी नगरमें एक वणिक् रहता था, उसकी युवा कन्या अतीव लावण्यमयी थी। एक दिन वहाँके राजाकी दृष्टि उस कन्यापर पड़ी। वह राजा स्वभावसे ही विषयी और लम्पट था, अतः उसने उस कन्याको पकड़ लानेके लिये अपने कर्मचारियों को भेज दिया। बेचारा वणिक् क्या करता! राजहठ और सत्तामदके समक्ष उसका वश ही क्या था! फिर भी किसी-न-किसी प्रकार धर्मरक्षा तो करनी ही थी। निदान, निरुपाय होकर वह आपकी शरणमें आया और सारी घटना बताकर रक्षा करनेकी प्रार्थना की। आपने उसे सान्त्वना दी और रक्षाका आश्वासन दे दिया। उधर जब राजाके कर्मचारी वणिक्के घरके पास पहुँचे तो सब-के-सब अन्धे हो गये, किसी प्रकार गिरते-पड़ते राजाके पास पहुँचे और सारी घटना सुनायी, परंतु वासनाके अन्धे अविवेकी राजाको कर्मचारियोंकी बातोंसे ज्ञान न हुआ और वह स्वयं वणिक्के यहाँके लिये चला। जब वह वणिक्के घरके पास पहुँचा तो उस दुष्टकी भी वही दुर्गति हुई। नेत्रोंकी ज्योतिके जानेपर उसकी आँखोंपर चढ़ा वासनाका परदा भी हट गया और अपनी भूलका बोध हुआ। जब उसे ज्ञात हुआ कि श्रीविमलानन्दजी महाराजने इस वणिक्की रक्षाका आश्वासन दे रखा है तो उसे सन्तकी शक्तिका भान हुआ और वह सीधा आकर आपके चरणोंमें गिर पड़ा तथा अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। आपने कृपा करके न केवल उसे क्षमा कर दिया, अपितु अपने उपदेशोंसे उसके जीवनकी दिशा भगवान् और भगवद्भक्तिकी ओर कर दी। इस प्रकार आपने बहुतसे भगवद्विमुखोंका कल्याण किया।

सच्चे सन्त

जतीराम रावल्य स्याम खोजी सँतसीहा।
दल्हा पद्म मनोरत्थ राँक द्यौगू जप जीहा॥
जाड़ा चाचा गुरू सवाई चाँदा नापा।
पुरुषोत्तम सों साच चतुर कीता मन कौ जिहि मेट्यो आपा॥
मति सुंदर धीधांगश्रम संसार नाच नाहिन नचे।
करुना छाया भक्ति फल ए कलिजुग पादप रचे॥ ९७॥

श्रीभगवान्‌ने इन भक्तोंको वृक्षरूप रचा। इन सन्तरूपी वृक्षोंमें इनकी करुणा ही छाया है और इनकी भक्ति ही फल है। इनके ये नाम हैं—श्रीजतीरामजी, श्रीरावल्यजी, श्रीस्यामजी, श्रीखोजीजी, सन्त श्रीसीहाजी, श्रीदल्हाजी, श्रीपद्मजी, श्रीमनोरथजी, श्रीराँका-बाँकाजी, श्रीद्यौगूजी, जो जिह्वासे निरन्तर भगवन्नाम जप किया करते थे। श्रीजाड़ाजी, श्रीचाचा गुरुजी, श्रीसवाईजी, श्रीचाँदाजी, श्रीनापाजी, भगवान् पुरुषोत्तमके सच्चे भक्त श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीचतुरजी, श्रीकीताजी, जिन्होंने अपने मनका अहं सर्वथा मिटा डाला था—इन सभी भक्तोंकी बुद्धि बड़ी सुन्दर थी। ये संसाररूपी रंगमंचपर श्रमरूपी ध्रीङ्-ध्राङ् आदि मृदंगके तालपर नहीं नचे॥ ९७॥

इनमेंसे कतिपय भक्तोंके पावन चरित इस प्रकार वर्णित हैं—

श्रीखोजीजी

श्रीखोजीजी मारवाड़-राज्यान्तर्गत पालड़ी गाँवके निवासी थे। आप जन्मजात वैराग्यवान् और भगवदनुरागी होनेके कारण बचपनसे ही गृहकार्यमें उदासीन और भगवद्भजन तथा साधुसंगमें रमे रहते थे। इससे आपके भाइयोंकी आपसे नहीं पटती थी और वे लोग आपको निकम्मा ही मानते थे। एक बार आपके गाँवमें एक सन्तमण्डली आयी हुई थी, आप रात-दिन सन्तों की सन्निधिमें रहकर कथावार्ता और सत्संगमें लगे रहते थे। थोड़े समयके लिये भी आपका घर जाना न होता था। इसी बीच दुर्भाग्यसे एक दिन अचानक आपके पिताका स्वर्गवास हो गया। जब सारे और्ध्वदैहिक कार्य सम्पन्न हो गये तो भाइयोंने आपसे कहा कि पिताजीके अस्थिकलशको गंगाजीमें प्रवाहित कर आओ, जिससे तुम भी पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाओ। घरसे गंगाजी बहुत दूर थीं, इसीलिये भाइयोंने जान-बूझकर आपके जिम्मे यह कठिन कार्य लगाया था। इसपर आपने कहा—वैष्णवजन भगवन्नामका जहाँ उच्चारण करते हैं, वहाँ गंगाजीसहित सारे तीर्थ स्वयं प्रकट हो जाते हैं। भाइयोंने सोचा कि गृहकार्यसे उदासीन रहनेवाले ये पिताके अस्थिकलशको भी आलस्य-वश गंगाजी नहीं ले जा रहे हैं तो जबर्दस्ती भेजा। आपने सन्तोंको साथ लिया और भगवन्नामकीर्तन करते हुए अस्थिकलश लेकर गंगाजीको चल दिये। मार्गमें आपको स्वर्णकलश लिये कुछ दिव्य नारियाँ दिखायी दीं। जब आप उनके समीपसे गुजरने लगे तो वे पूछने लगीं—'भक्तवर! आप कहाँ जा रहे हैं?' आपने कहा—'मैं पिताजीके अस्थिकलशको श्रीगंगाजीमें प्रवाहित करने जा रहा हूँ।' उन दिव्य नारियोंने कहा—'हम गंगा-यमुना आदि नादियाँ ही हैं, हम आपके ही निमित्त जल भरकर ले आयी हैं। आप अपने पिताजीके अस्थिकलशका यहीं विसर्जन कर दीजिये और स्वयं स्नानकर घर चले जाइये।' आपने ऐसा ही किया और भाइयोंकी प्रतीतिके लिये एक कलश जल भी लेते गये।

श्रीखोजीजीका गुरुप्रदत्त नाम श्रीचतुरदास था, गुरुके मनके भावकी खोज करनेके कारण श्रीगुरुदेवजीने

इन्हें 'श्रीखोजीजी' की उपाधि प्रदान की। इस सम्बन्धमें कथा है कि एक बार आपके श्रीगुरुदेव लघुशंका करने गये, आप उनके हाथ-पैरकी शुद्धिके लिये जल लिये खड़े थे। श्रीगुरुदेव जब आपके पास आये तो हँसने लगे। आपने बड़ी विनम्रतासे पूछा—'गुरुदेव! आपके हँसनेका क्या कारण है, सेवकसे कोई भूल हो गयी है क्या?' इसपर गुरुदेव बोले—'अरे! तू कैसा शिष्य है, जो गुरुके मनकी बात नहीं जान सकता! जा, जब मेरे मनकी बात जान लेना तभी मेरे पास आना।'

श्रीगुरुदेवकी आज्ञाके अनुसार आप गुरु-चरणोंका स्पर्शकर वहाँसे चल दिये। आपने बहुत-से सन्तों-महात्माओंसे गुरुदेवके मनकी बात पूछी पर कोई भी उत्तर देनेमें सक्षम न हुआ। अन्तमें एक दिन आपकी भेंट श्रीकबीरदासजीसे हो गयी, उनके समक्ष भी आपने बड़ी ही विनम्रतापूर्वक यही प्रश्न रखा। श्रीकबीरदासजी महाराज तो सिद्ध सन्त थे, उन्होंने तुरंत ही आपके श्रीगुरुदेवके मनकी बात जान ली और आपको बताया कि आपके गुरुदेव जब लघुशंका कर रहे थे तो उस मूत्र-प्रवाहमें एक पीपलका फल भी आ गया था, उसे बहते देखकर आपके गुरुदेवको मनुष्य-जीवनकी असारताका ध्यान आ गया। उन्होंने सोचा कि जबतक यह फल पीपलके पेड़में लगा था तो इसका अस्तित्व था, जब यह उस महाविटपसे पृथक् हो गया तो मूत्र-प्रवाहमें बह रहा है। यही स्थिति मनुष्यकी भी है, जबतक वह परमपिता परमात्मासे जुड़ा है, तबतक कितना सुखी रहता है; जब वह उससे पृथक् होकर संसारमें आ जाता है, तो इसी प्रकार मूत्र-प्रवाहमें बहता है, फिर भी अज्ञान और अहंकारवश अपनेको श्रेष्ठ समझता है—यही सोचकर उन्हें हँसी आ गयी।

श्रीकबीरदासजीसे इस प्रकार रहस्य-बोध प्राप्तकर आप पुनः श्रीगुरुदेवके पास आये और उनसे उपर्युक्त सारी बात बतायी। श्रीगुरुदेवजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'तुमने मेरे मनके भावको खोज लिया, अतः आजसे तुम्हारा नाम 'खोजी' प्रसिद्ध होगा।'

श्रीखोजीजीके श्रीगुरुदेव भगवच्चिन्तनमें परम प्रवीण थे। उन्होंने अपने शरीरका अन्तिम समय जानकर अपनी मुक्तिके प्रमाणके लिये एक घण्टा बाँध दिया और सभी शिष्य-सेवकोंसे कह दिया कि हम जब श्रीप्रभुकी प्राप्ति कर लेंगे तो यह घण्टा अपने-आप बज उठेगा। यही मेरी मुक्तिका प्रमाण जानना। परंतु आश्चर्य यह हुआ कि उन्होंने शरीरका त्याग तो कर दिया, परंतु घण्टा नहीं बजा। तब शिष्य-सेवकोंको बड़ी चिन्ता हुई। श्रीगुरुदेवजीके शरीर-त्यागके समय श्रीखोजीजी स्थानपर नहीं थे। ये बादमें आये जब इनको समस्त वृत्तान्त विदित हुआ तो जहाँ श्रीगुरुजीने लेटकर शरीर छोड़ा था, श्रीखोजीजीने भी वहीं पौढ़कर ऊपर देखा तो इन्हें एक पका हुआ आम दिखायी पड़ा। इन्होंने उस आमको तोड़कर उसके दो टुकड़े कर दिये। उसमेंसे एक छोटा-सा जन्तु (कीड़ा) निकला और वह जन्तु सबके देखते-देखते अदृश्य हो गया, घण्टा अपने-आप बज उठा।

हुआ यूँ कि श्रीखोजीजीके गुरुदेव तो प्रथम ही प्रभुको प्राप्त कर चुके थे, यह सर्व प्रसिद्ध है। परंतु बादमें शरीर-त्यागके समय अच्छा पका हुआ फल देखकर, भगवान्‌के भोगयोग्य विचारकर उनके मनमें यह नवीन अभिलाषा उत्पन्न हुई कि इसका तो भगवान्‌को भोग लगना चाहिये। भक्तकी उस इच्छाको भक्तवश्य भगवान्‌ने सफल किया।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी इस घटनाका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार करते हैं—

खोजीजू के गुरु हरि भावना प्रवीन महा देह अन्त समैं बाँधि घण्टासो प्रमानियै।
पावैं प्रभु जब तब बाजि उठै जानौ यही पाये पै न बाजो बड़ी चिन्ता मन आनियै॥

तन त्याग बेर नहीं हुते फेरि पाछे आये वाही ठौर पौढ़ि देख्यौ आँब पक्यौ मानियै।
तोरि ताके टूक किये छोटौ एक जन्तु मध्य गयौ सो बिलाय बाजि उठो जग जानियै॥ ३९९॥
शिष्यकी तौ योग्यताई नीके मन आई अजू गुरुकी प्रबल ऐपै नेकु घट क्यों भई।
सुनौ याकी बात मन बात वति गति कही सही लै दिखाई और कथा अति रसमई॥
ये तौ प्रभु पाय चुके प्रथम प्रसिद्ध पाछे आछो फल देखि हरि जोग उपजी नई।
इच्छा सो सफल श्याम भक्तवश करी वही रही पूर पच्छ सब बिथा उरकी गई॥ ४००॥

इस प्रकार श्रीखोजीजीमें सन्तनिष्ठा और गुरुभक्तिका अपूर्व संगम परिलक्षित होता है। आपने अपना सारा जीवन सन्त-भगवत्सेवामें बिताया।

श्रीराँका-बाँकाजी

पण्ढरपुरमें लक्ष्मीदत्त नामके एक ऋग्वेदी ब्राह्मण रहते थे। ये सन्तोंकी बड़े प्रेमसे सेवा किया करते थे। एक बार इनके यहाँ साक्षात् नारायण सन्तरूपसे पधारे और आशीर्वाद दे गये कि तुम्हारे यहाँ एक परम विरक्त भगवद्भक्त पुत्र होगा। इसके अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया गुरुवार संवत् १३४७ वि० को धनलग्नमें इनकी पत्नी रूपादेवीने पुत्र प्राप्त किया। यही इनके पुत्र महाभागवत राँकाजी हुए। पण्ढरपुरमें ही वैशाख कृष्ण सप्तमी बुधवार संवत् १३५१ वि० को कर्कलग्नमें श्रीहरिदेव ब्राह्मणके घर एक कन्याने जन्म लिया। इसी कन्याका विवाह समय आनेपर राँकाजीसे हो गया। राँकाजीकी इन्हीं पतिव्रता भक्तिमती पत्नीका नाम उनके प्रखर वैराग्यके कारण 'बाँका' हुआ। राँकाजीका भी 'राँका' नाम उनकी अत्यन्त कंगाली रंकताके कारण ही पड़ा था।

राँकाजी रंक तो थे ही, फिर जगत्‌की दृष्टि उनकी ओर क्यों जाती। इस कंगालीको पति-पत्नी दोनोंने भगवान्‌की कृपाके रूपमें बड़े हर्षसे सिर चढ़ाया था; क्योंकि दयामय प्रभु अपने प्यारे भक्तोंको अनर्थोंकी जड़ धनसे दूर ही रखते हैं। दोनों जंगलसे चुनकर रोज सूखी लकड़ियाँ ले आते और उन्हें बेचकर जो कुछ मिल जाता, उसीसे भगवान्‌की पूजा करके प्रभुके प्रसादसे जीवन-निर्वाह करते थे। उनके मनमें कभी किसी सुख-आराम या भोगकी कल्पना ही नहीं जागती थी।

श्रीराँकाजी-जैसा भगवान्‌का भक्त इस प्रकार दरिद्रताके कष्ट भोगे, यह देखकर नामदेवजीको बड़ा विचार होता था। राँकाजी किसीका दिया कुछ लेते भी नहीं थे। नामदेवजीने श्रीपाण्डुरंगसे प्रार्थना की राँकाजीकी दरिद्रता दूर करनेके लिये। भगवान्‌ने कहा—'नामदेव! राँका तो मेरा हृदय ही है। वह तनिक भी इच्छा करे तो उसे क्या धनका अभाव रह सकता है? परंतु धनके दोषोंको जानकर वह उससे दूर ही रहना चाहता है। देनेपर भी वह कुछ लेगा नहीं। तुम देखना ही चाहो तो कल प्रातःकाल वनके रास्तेमें छिपकर देखना।'

दूसरे दिन भगवान्‌ने सोनेकी मुहरोंसे भरी थैली जंगलके मार्गमें डाल दी। कुछ मुहरें बाहर बिखेर दीं और छिप गये अपने भक्तका चरित देखने। राँकाजी नित्यकी भाँति भगवन्नामका कीर्तन करते चले आ रहे थे। उनकी पत्नी कुछ पीछे थीं। मार्गमें मुहरोंकी थैली देखकर पहले तो आगे जाने लगे, पर फिर कुछ सोचकर वहीं ठहर गये और हाथोंमें धूल लेकर थैली तथा मुहरोंको ढकने लगे। इतनेमें उनकी पत्नी समीप आ गयीं। उन्होंने पूछा—'आप यहाँ क्या ढँक रहे हैं?' राँकाजीने उत्तर नहीं दिया। दुबारा पूछनेपर बोले—'यहाँ सोनेकी मुहरोंसे भरी थैली पड़ी है। मैंने सोचा कि तुम पीछे आ रही हो, कहीं सोना देखकर तुम्हारे मनमें लोभ न आ जाय, इसलिये इसे धूलसे ढके देता हूँ। धनका लोभ मनमें आ जाय तो फिर भगवान्‌का

भजन नहीं होता।' पत्नी यह बात सुनकर हँस पड़ी और बोली—'स्वामी! सोना भी तो मिट्टी ही है। आप धूलसे धूलको क्यों ढँक रहे हैं?' राँकाजी झट उठ खड़े हुए। पत्नीकी बात सुनकर प्रसन्न होकर बोले—'तुम धन्य हो! तुम्हारा ही वैराग्य बाँका है। मेरी बुद्धिमें तो सोने और मिट्टीमें भेद भरा है। तुम मुझसे बहुत आगे बढ़ गयी हो।'

नामदेवजी राँका-बाँकाका यह वैराग्य देखकर भगवान्से बोले—'प्रभो! जिसपर आपकी कृपादृष्टि होती है, उसे तो आपके सिवा त्रिभुवनका राज्य भी नहीं सुहाता। जिसे अमृतका स्वाद मिल गया, वह भला, सड़े गुड़की ओर क्यों देखने लगा? ये दम्पती धन्य हैं।'

भगवान् श्रीनामदेवजीसे बोले—देखो, हमारी बात सत्य हुई। ये दोनों धनके प्रति कितने निस्पृह हैं।

श्रीप्रियादासजीने राँका-बाँका-दम्पतीकी निःस्पृहताका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

राँका पति बाँका तिया बसै पुर पंढरमें उरमें न चाह नेकु रीति कछु न्यारियै।
लकरीन बीनि करि जीविका नवीन करैं धरैं हरि रूप हिये ताही सों जियारियै॥
विनती करत नामदेव कृष्णदेव जू सों कीजै दुःख दूर कही मेरी मति हारियै।
चलो लै दिखाऊँ तब तेरे मन भाऊँ रहे बन छिपि दोऊ थैली मग माँझ डारियै॥ ४०१॥
आये दोऊ तिया पति पाछे बधू आगे स्वामी औचक ही मग माँझ सम्पति निहारियै।
जानी यों जुबति जाति कभूँ मन चलि जात याते बेगि संभ्रम सों धूरि वापै डारियै॥
पूछी अजू कहा कियौ भूमिमें निहुरि तुम कही वही बात बोली धनहूँ विचारियै।
कहैं मोसों राँका ऐपै बाँका आज देखी तुही सुनि प्रभु बोले बात साँची है हमारियै॥ ४०२॥

भगवान्की जीत हुई, श्रीनामदेवजी हार गये। फिर भगवान्ने एक और बात कही कि 'यदि तुम्हारे मनमें विशेष परिताप है कि श्रीराँका-बाँकाजीकी सहायता करनी ही चाहिये तो चलो, इनके लिये लकड़ी बटोरें।'

भगवान्ने उस दिन राँका-बाँकाके लिये जंगलकी सारी सूखी लकड़ियाँ गट्ठे बाँध-बाँधकर एकत्र कर दीं। दम्पतीने देखा कि वनमें तो कहीं आज लकड़ियाँ ही नहीं दीखतीं। गट्ठे बाँधकर रखी लकड़ियाँ उन्होंने किसी दूसरेकी समझीं। दूसरेकी वस्तुकी ओर आँख उठाना तो पाप है। दोनों खाली हाथ लौट आये। राँकाजीने कहा—'देखो, सोनेको देखनेका ही यह फल है कि आज उपवास करना पड़ा। उसे छू लेते तो पता नहीं कितना कष्ट मिलता।' अपने भक्तकी यह निष्ठा देखकर भगवान् प्रकट हो गये। दम्पती उन सर्वेश्वरके दर्शन करके उनके चरणोंमें गिर पड़े।

श्रीराँका-बाँकाजी श्रीठाकुरजीको घर लिवा लाये। भगवान्के संग श्रीनामदेवजीको देखकर श्रीराँकाजीने झुँझलाकर कहा—'अरे मूड़फोरा! श्रीप्रभुको इस प्रकार वन-वन भटकाया जाता है?' भगवान्ने राँकाजीसे कुछ माँगनेका अनुरोध किया। तब वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे कि 'मुझे आपकी कृपाके सिवा और कुछ नहीं चाहिये।' तब श्रीनामदेवजीने हाथ-जोड़कर इनसे कहा कि 'अच्छा और कुछ नहीं तो प्रभुका रुख रखते हुए प्रभुका एक प्रसादी वस्त्र ही शरीरपर धारण कर लीजिये।' यद्यपि इतनेसे भी श्रीराँका-बाँकाजीको लगा कि मेरे सिरपर भारी बोझ पड़ गया, परंतु उन्होंने भक्त और भगवान्की रुचि रखनेके लिये वस्त्रमात्र स्वीकार कर लिया।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

नामदेव हारे हरिदेव कही और बात जो पै दाह गात चलो लकरी सकेरियै।
आयै दोऊ बीनिबेको देखी इक ठौरी ढेरी द्वै हूँ मिली पावैं तऊ हाथ नाहिं छेरियै॥

तब तौ प्रगट श्याम ल्याये यों लिवाय घर देखि मूँड़ फोरौ कह्यौ ऐसे प्रभु फेरियै।
विनती करत करजोरि अंग पट धारौ भारौ बोझ पर्‍यौ लियौ चीरमात्र हेरियै॥ ४०३॥

१०१ वर्ष इस पृथ्वीपर रहकर राँकाजी वैशाख शुक्ल पूर्णिमा संवत् १४५२ वि० को अपनी पत्नी बाँकाजीके साथ परम धाम चले गये।

श्रीयतीरामजी

श्रीयतीरामजी महाराज श्रीरामानन्दी वैष्णव सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके द्वादश प्रधान शिष्योंमेंसे एक श्रीसुखानन्दाचार्यजीके शिष्य थे। प्रारम्भमें आपकी वैष्णव धर्ममें निष्ठा नहीं थी और आप प्रायः वैष्णवोंसे वाद-विवाद किया करते थे। एक बार आप स्वामी श्रीसुखानन्दजी महाराजसे वाद-विवादमें उलझ गये, पर स्वामीजीकी वैष्णव शक्तिके समक्ष आपका युक्तिवाद असफल हो गया। आप श्रीसुखानन्दजीकी भक्तिसे इतने प्रभावित हुए कि उनके शिष्य ही बन गये। फिर तो आप श्रीभगवान्‌के नाम-गुणगानमें मग्न रहा करते थे, सदा भाव-जगत्‌में रहनेके कारण सामान्यजनोंको आप उन्मत्तकी तरह प्रतीत होते थे।

एक बारकी बात है, किसी बादशाहकी सवारी कहीं जा रही थी; साथमें बड़ा लाव-लश्कर भी था। उन लोगोंको किसी एक ऐसे आदमीकी आवश्यकता थी, जो सामानके एक बड़े गट्ठरको सिरपर लादकर चले। आप अपनी मस्तीमें घूमते हुए उधर जा निकले। फिर क्या था, बादशाहके यवन सिपाहियोंने इन्हें ही पकड़कर इनके सिरपर गट्ठर रखवा दिया। कुछ तो इनकी भावावस्था और कुछ गट्ठर भी भारी था, अतः एक जगह आप लड़खड़ा गये और गट्ठर गिर पड़ा। अब तो वे दुष्ट सिपाही इन्हें मारने लगे। आप तो क्रोध-शोक आदि विकारोंसे मुक्त थे, परंतु अपने भक्तकी ऐसी अवमानना और सिपाहियोंकी दुष्टता सर्वशक्तिमान् भगवान्‌से न सही गयी। अचानक असंख्य गिरगिट वहाँ प्रकट हो गये और यवन सिपाहियोंको काटने लगे। वे जिधर भी भागते उधर ही गिरगिट प्रकट होकर उन्हें काटने लगते। पूरी सेनामें अल्लाह-तोबा मच गया। सिपाहियोंकी यह दुर्दशा देखकर बादशाह समझ गया कि यह हिन्दू फकीर सिद्ध महापुरुष है। फिर तो वह रथसे उतरकर तुरंत आपके चरणोंमें गिर पड़ा और क्षमा माँगने लगा। इसपर आपने कहा—भाई! मैं आपसे नाराज ही कहाँ हूँ, जो क्षमा कर दूँ! जो आपपर नाराज है और दण्ड दे रहा है, उससे क्षमा माँगो। बादशाहने एक थालमें बहुत-सी अशर्फियाँ भरकर आपके चरणोंमें रख दीं और बोला—'आप अपने रामकी सेवाके लिये यह मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार कर लें और मुझे उनके कोपसे बचायें।' सन्तहृदय आपको बादशाहकी विनतीपर दया आ गयी। आप बोले—'भाई! मुझ अकिंचनको इन अशर्फियोंसे क्या काम? यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो सच्चे मनसे प्रतिज्ञा करो कि अब मैं कभी किसी साधु-महात्माको नहीं सताऊँगा।' बादशाहने कसम खायी कि आजसे मैं या मेरे कर्मचारी किसी साधु-महात्माको कष्ट नहीं पहुँचायेंगे। तब जाकर सब लोग संकटसे मुक्त हुए।

इस प्रकार आपने न केवल बादशाहको सच्चे मार्गपर चलाया, साथ ही साधु-महात्माओंको भी यवनोंके अत्याचारोंसे मुक्ति दिला दी।

श्रीरामरावलजी

श्रीरामरावलजी महाराज भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त थे। आप सदा एकान्त स्थानमें बैठे भगवच्चिन्तनमें मग्न रहा करते थे। आपका समाजमें सम्मान भी बहुत था। यह देखकर एक ऐंद्रजालिक (जादूगर)-को आपसे ईर्ष्या हो गयी, वह आपको भगानेके लिये नाना प्रकारके उपद्रव करने लगा। वह

कभी सर्प बन जाता तो कभी व्याघ्र। कभी-कभी मायासे इनके चारों ओर अग्निकी लपटें उत्पन्न कर देता। इस प्रकार उस ऐंद्रजालिकने आपको भयभीत करने और भगानेके बहुत प्रयास किये, परंतु भला माया जिसकी दासी है, उसके भक्तको क्षुद्र बाजीगरकी ये कपट चालें क्या भयभीत कर पातीं। अन्तमें उसे इस बातका भान हो गया कि ये पहुँचे सन्त और सिद्ध महापुरुष हैं, अतः इनके शरणागत होकर शिष्य हो गया। इसी प्रकार आपने भगवत्पथसे भटके अनेक प्राणियोंको अपने आचरणसे सही राह दिखायी।

श्रीसीहाजी

भक्त श्रीसीहाजी बड़े ही नामनिष्ठ सन्त थे और सदा नाम-संकीर्तन करते रहते थे। आपका संकीर्तन इतना रसमय होता था कि स्वयं भगवान् भी विभिन्न वेश बनाकर उसमें आनन्द लेने पहुँच जाया करते थे। आप स्वयं तो कीर्तन करते ही थे, गाँवके बालकोंको भी बुलाकर कीर्तन कराते थे। बालकोंको कीर्तनके अन्तमें आप प्रसाद दिया करते थे, अतः वे भी खुशी-खुशी पर्याप्त संख्यामें आ जाया करते थे। एक बार ऐसा संयोग बना कि तीन दिनतक आपके पास बाँटनेके लिये प्रसाद ही न रहा। बालक प्रतिदिन आते और कीर्तन करके बिना प्रसाद पाये ही चले जाते। इससे आपको बड़ी चिन्ता हुई, साथ ही दुःख भी हुआ। आपको इस प्रकार चिन्तित देख चौथे दिन भगवान् स्वयं बालक बनकर आये और सबको उनकी इच्छानुसार इच्छाभर लड्डू वितरित किये फिर रात्रिमें आपसे स्वप्नमें कहा कि अब आपको चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रसाद न रहनेपर मैं स्वयं वेश बदलकर प्रसाद बाँटा करूँगा, आप बस कीर्तन कराइये। अब भगवान् प्रतिदिन वेश बदलकर आपके कीर्तनमें सम्मिलित होने लगे। एक दिन वे एक सेठ-पुत्रका रूप धारण करके आये और कीर्तनमें सम्मिलित हो गये। संयोगसे वह सेठ भी उस दिन कीर्तनमें आ गया, जिसके पुत्रका रूप धारणकर भगवान् आये थे। सेठने अपने पुत्रके रूपमें भगवान्‌को देखा तो चकित रह गये; क्योंकि वे तो अपने पुत्रको घरपर छोड़कर आये थे, वे जल्दीसे अपने घर गये तो वहाँ पुत्रको बैठे देखा। सेठजीने सोचा मेरी आँखोंको धोखा हुआ होगा और वे फिरसे कीर्तनमें आ गये, परंतु यहाँ आनेपर फिर उन्हें अपने पुत्रके रूपमें भगवान् दिखायी दिये। सेठजी चकित! अब वे एक बार घर जाते और फिर वापस कीर्तनमें आते और दोनों जगह अपने पुत्रको देखते। अन्तमें हारकर उन्होंने यह बात श्रीसीहाजीसे कही। इसपर आपने कहा—'सेठजी! आप घर जाकर अपने पुत्रको यहीं लेते आइये।' जब सेठजी घरसे अपने पुत्रको लेकर आये तो भगवान् अन्तर्धान हो गये। यह देखकर आप समझ गये कि सेठके पुत्रके रूपमें स्वयं श्रीभगवान् ही पधारे थे। इस प्रकार आपका संकीर्तन अत्यन्त दिव्य हुआ करता था।

श्रीदलहासिंहजी

राजस्थानमें एक ग्राम है, खीचीबाड़ा। श्रीदलहासिंहजी वहींके निवासी थे। जातिसे यद्यपि आप क्षत्रिय थे, फिर भी आपकी वृत्ति अहिंसक थी और आपने सन्तसेवाका व्रत ले लिया था। आपके यहाँ नित्य प्रति सन्तोंकी टोलियाँ आती रहतीं। खूब भजन-कीर्तन और सत्संग होता। सन्तोंके प्रसादकी भी व्यवस्था होती। इस प्रकार सन्तसेवीके रूपमें आपकी दूर-दूरतक ख्याति फैल गयी, परंतु इससे आपकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। आपका पूरा समय सत्संग और सन्तसेवामें ही चला जाता था, अतः कोई अर्थोपार्जन भी न हो पाता। इस प्रकार आपके घरकी स्थिति ऐसी हो गयी कि पेट पालना भी मुश्किल हो गया। इसी बीच एक रिश्तेदारीसे भात भरनेका निमन्त्रण आ गया और सन्तोंका आना-जाना तो लगा ही रहता था। अब तो आप बड़े ही धर्मसंकटमें फँस गये। सन्तसेवा किये बिना आप रह नहीं सकते थे और भात भरना भी सामाजिक जिम्मेदारी थी। अब तो आपका दिनका चैन और

रातकी नींद गायब हो गयी। आपकी ऐसी स्थिति देखकर नरसीका भात भरनेवाले भक्तवत्सल भगवान्‌को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने स्वप्नमें आपसे कहा कि तुम्हारे घरके पासमें ही एक टीला है, उसमें अथाह सम्पत्ति भरी पड़ी है, उसे खोद लो और खूब सन्त-सेवा करो तथा भात भरो। फिर तो भगवान्‌का संकेत समझकर आपने वैसा ही किया। टीलेमेंसे अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई, जिससे आपने जीवनभर सन्तसेवा की। सच है '**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥**'

श्रीपद्मजी

श्रीपद्मजी भगवान् विष्णुके अनन्य भक्त थे। आपके पास भगवान् विष्णुकी एक स्वर्ण-प्रतिमा थी, जिसकी वे आराधना करते थे। भक्तके लिये भगवान्‌की प्रतिमा उसका प्राणधन—उसके इष्टदेवका साक्षात् साकार विग्रह होती है, जबकि चोरके लिये वही प्रतिमा मात्र सुवर्णखण्ड ही होती है, जिसे वह विक्रय करके कुछ धन प्राप्त कर लेता है। एक बारकी बात है, आप सुवर्ण-प्रतिमाको एकान्तमें रख उसकी सेवा-पूजा कर रहे थे; सहसा एक चोरकी कुदृष्टि उसपर पड़ गयी। उसने सुनसान एकान्त स्थान देखकर वह सुवर्ण-प्रतिमा और उसपर चढ़े आभूषण भी छीन लिये और भाग चला। अब तो आपके प्राण विकल हो उठे, अत्यन्त आर्त होकर आप भगवान्‌को पुकारने लगे। भक्तवत्सल भगवान्‌से भक्तका यह दुःख देखा न गया। उन्होंने कुछ ऐसी लीला की कि उस चोरका जूता उसके पैरसे निकलकर उसके सिरपर पड़ने लगा। इस संकटसे बचनेके लिये वह इधर-उधर बहुत दौड़ा, पर जिधर जाता, उधर ही उसपर जूता पड़ता। अन्तमें वह गिरता-पड़ता आपके पास आया और प्रतिमा तथा सभी आभूषण वापसकर चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगी। आप तो परम करुणामय सन्त थे, आपके हृदयमें क्रोधका लेशमात्र भी नहीं था। मूर्ति पाते ही आप ऐसे प्रसन्न हो गये, मानों मृतशरीरमें पुनः प्राण प्रविष्ट हो जायँ। अतः आपने उस दुष्ट चोरको तुरंत ही क्षमा कर दिया। आपके क्षमा करते ही चोरपर जूते पड़ने अपने-आप बन्द हो गये। ऐसे परम कारुणिक और सन्तहृदय भक्त थे श्रीपद्मजी!

जिस प्रकार पद्म जलमें खिला होता है, पर उसका पत्ता जलके सम्पर्कमें होनेपर भी उससे अप्रभावित रहता है, वैसे ही श्रीपद्मजी भी इस संसारमें रहते हुए भी, इससे अलग—अप्रभावित थे।

श्रीमनोरथजी

श्रीमनोरथजी जातिके ब्राह्मण थे और बड़े ही सन्तसेवी गृहस्थ भक्त थे। आपके एक कन्या थी। सयानी होनेपर आपने उसका विवाह एक भक्त ब्राह्मणसे तय किया, परंतु उसके गरीब होनेसे कन्याकी माता और उसका मामा वहाँ विवाह नहीं करना चाहते थे। वे दोनों उसका एक धनी ब्राह्मणसे विवाह करना चाहते थे, परंतु वह अभक्त था, इसलिये आपको पसन्द नहीं था। उधर वह अभक्त ब्राह्मण अभक्त होनेके साथ-साथ दुष्ट और लम्पट भी था, उसने ठीक विवाहके दिन बलपूर्वक कन्याका अपहरण कर लिया। इससे आपको बहुत दुःख हुआ कि मेरी कन्या ऐसे अभक्त और भगवद्विमुख दुष्ट व्यक्तिके साथ कैसे गुजारा करेगी? यह सोचकर आप अपने आराध्यदेवकी मूर्तिके पास जाकर बिलख-बिलखकर रोने लगे। भक्तवत्सल भगवान्‌से अपने भक्तका यह दुःख न देखा गया। उन्होंने तुरंत उस अभक्तके घरसे कन्याको लाकर आपके सम्मुख उपस्थित कर दिया। आपने तुरंत उस कन्याका भक्त ब्राह्मणके साथ विवाह कर दिया। इस अद्भुत चमत्कारको देखकर सब लोग बहुत प्रभावित हुए। आपके विपक्षी भी आपके शरणागत हो गये और भक्त-भगवत्सेवामें लग गये।

श्रीद्यौगूजी

श्रीद्यौगूजी बड़े ही सन्तसेवी गृहस्थ भक्त थे। आप सन्तसेवाके लिये विविध प्रकारके उद्योग करके बड़े परिश्रमसे धनोपार्जन करते थे, अतः लोग आपको उद्योगीजी कहते थे। जनसाधारणमें वही नाम बिगड़कर द्यौगूजी हो गया। आप बड़े ही सरल स्वभावके व्यक्ति थे। गृहस्थ होते हुए भी सांसारिकतासे दूर, केवल भगवद्भजन और सन्तसेवासे ही प्रयोजन रखते थे। कहते हैं कि आपके पिताका अकस्मात् बिना किसी बीमारीके शरीर शान्त हो गया था, तो आप उनके शवको श्रीठाकुरजीके सामने रखकर पूछने लगे कि 'बिना किसी आधि-व्याधिके मेरे पिता क्यों मरे?' पूछते-पूछते तीन पहर बीत गये, पर कोई उत्तर न मिला। इतनेमें एक सन्तमण्डली आ गयी। आप सन्तोंके स्वागत-सत्कारमें जुट गये। जब आप उन्हें सीधा-सामान देने लगे तो सन्तोंने कहा—'आपके मनमें पिता-मरणका महान् दुःख है, अतः हम आपका सीधा-सामान नहीं लेंगे।' आपने कहा—'ऐसी बात नहीं है, मेरे मनमें पिताजीके मरनेका किंचित् भी दुःख नहीं है, मैं तो पिताजीके शवको भगवान्‌के पास रखकर केवल यह पूछ रहा था कि मेरे पिताजी बिना किसी रोगके क्यों मरे? परंतु यदि इस कारण आप लोग सीधा-सामान नहीं ले रहे हैं तो कहिये तो मैं पिताजीके शवको अभी जला दूँ। चाहे मेरा पूरा परिवार मर जाय तो भी मुझे कोई कष्ट नहीं है, पर यदि आप सन्तलोग मेरे द्वारसे भूखे चले जायेंगे तो मुझे महान् कष्ट होगा।' आपकी इस प्रकारकी अनन्य सन्त-निष्ठा देखकर भगवत्कृपासे आपके पिता जीवित हो उठे। सर्वत्र भक्त और भगवान्‌की जय-जयकार गूँज उठी। भगवद्भक्ति और सन्तनिष्ठाके इस अद्भुत चमत्कारको देखकर पूरा गाँव धन्य-धन्य कह उठा और साथ ही सबने भगवद्भक्ति और सन्तसेवाका व्रत ले लिया। इस प्रकार अद्भुत सन्तनिष्ठाके प्रतीक थे श्रीद्यौगूजी।

श्रीचाचागुरु

श्रीचाचागुरुका वास्तविक नाम 'क्षेमदास' था। आप सभी सन्तोंको चाचागुरु कहते थे, अतः आपका नाम श्रीचाचागुरु हो गया। आप बड़े ही सन्तसेवी सद्‌गृहस्थ थे। आपके भक्तिभाव और सरल स्वभावके कारण आपके गाँववासियोंकी आपपर बड़ी श्रद्धा थी। जब आपके यहाँ सन्त लोग आते तो आपके गाँववाले भी उनके लिये यथाशक्ति सीधा-सामान दे जाते थे और सम्यक् रूपसे सन्तसेवा होती थी। इस प्रकार यह क्रम बहुत दिनोंतक चलता रहा, परंतु जब आपके यहाँ रोज ही सन्तमण्डली आने लगी तो गाँववाले भी परेशान होकर कहने लगे कि अब तो आपके यहाँ रोज ही सन्तमण्डली आती है, हम बाल-बच्चेवाले लोग हैं, कहाँतक सहयोग करें। गाँववालोंकी इस प्रकारकी बात सुनकर आपको बड़ी निराशा हुई; क्योंकि आपके भी घरमें कुछ शेष नहीं बचा था। आपको चिन्तामें देखकर भगवान्‌की दिव्य वाणी हुई कि तुम्हारे पास जो धरोहरके रूपमें दूसरेका रजतपात्र रखा है, उसीको बेचकर सन्तसेवा करो, कोई समस्या आयेगी तो मैं सँभाल लूँगा। अब क्या था, अब तो आपको सन्तसेवाका उपाय मिल गया। आपने तुरंत उस रजतपात्रको बेच दिया, जिससे पर्याप्त धनकी प्राप्ति हो गयी और उससे आप सन्तसेवा करने लगे।

कुछ दिन बाद जिसने अपना रजतपात्र इनके यहाँ धरोहरके रूपमें रखा था, उसे पता चल गया कि इन्होंने मेरा पात्र बेचकर सन्तोंको खिला दिया है, तो वह इनसे पात्र माँगने आया। आपको तो भगवद्वाणीपर विश्वास था ही, अतः सीधे 'बेच दिया' कहनेकी बजाय बातको टाल-मटोल कर दिया। जब कई बार ऐसा हुआ तो उसने पंचायत जोड़ी। उधर आपके यहाँ सन्तोंकी एक बड़ी जमात आ गयी थी, अतः आप सन्तसेवामें ही व्यस्त रहे और पंचायतमें जा ही न सके। पंचायतमें न जानेके कारण आपपर आरोप सिद्ध हो सकता था, परंतु भगवान्‌ने जैसा कि दिव्यवाणीद्वारा पहले ही कह दिया था, अतः वे आपके वेशमें स्वयं

पंचायतमें हाजिर हो गये और पंचोंके पूछनेपर बोले कि 'इनका पात्र तो ज्यों-का-त्यों मन्दिरमें रखा हुआ है, ये व्यर्थ ही स्वयं भी परेशान हो रहे हैं और आप लोगोंको भी परेशान कर रहे हैं, आप लोग चाहें तो चलकर देख लें।'

पंचायतमें वह वैश्य भी बैठा था, जिसके हाथ आपने उस रजतपात्रको बेचा था। उसने पंचोंसे कहा कि ये असत्य बोल रहे हैं, पात्र तो इन्होंने हमारे हाथ बेच दिया है। आपने भी अपनी बातपर बल देते हुए कहा कि पात्र मन्दिरमें अमुक स्थानपर रखा है, तुम स्वयं जाकर देख लो। पंचोंके कहनेपर वैश्य मन्दिरमें गया तो पात्र सचमुच निर्दिष्ट स्थानपर रखा मिला। अब तो वह घबड़ा गया कि झूठा साबित होनेपर मुझे पंचायत सजा दे देगी, अतः उसने पात्रको अन्यत्र छुपा दिया और पंचायतमें आकर बोला कि पात्र वहाँ नहीं है। इसपर आपका वेश धारण किये हुए भगवान्ने पंचोंसे अनुरोध किया कि आप लोग स्वयं मेरे साथ चलकर देख लें, मैं आप लोगोंको पात्र दिखा दूँगा। पंचोंने बात मान ली और आपके साथ मन्दिर गये। वहाँ पहुँचनेपर तो सबकी आँखें खुलीकी खुली रह गयीं! पूरे मन्दिरमें चारों ओर रजतपात्र रखे थे, सब-के-सब एक-जैसे। वैश्यने जहाँ पात्र छुपाकर रखा था, वहाँ देखा तो पात्र नदारद था। इस प्रकार चमत्कार देखकर सब लोग श्रीचाचागुरुजी और उनकी भगवद्भक्तिकी प्रशंसा करने लगे। जिसका रजतपात्र धरोहरके रूपमें रखा था, उसने भी इस चमत्कारको देखकर अपना धरोहर रखा पात्र भगवान्को ही अर्पित कर दिया। इधर आप जब सन्तसेवासे निवृत्त हुए तो आपका ध्यान पंचायतकी ओर गया। अब तो आप बहुत घबड़ाये कि पंचायतने मेरे ऊपर अवश्य दण्ड रख दिया होगा, साथ ही मुझपर दूसरेका रजतपात्र बेच देनेका आरोप भी सिद्ध हो जायेगा। अभी आप यह सोच ही रहे थे कि आस-पासके लोग आकर आपसे पंचायतके सारे विवरण और मन्दिरमें घटित आश्चर्यजनक घटनाको बताकर आपकी भक्तिकी प्रशंसा करने लगे। अब तो आप भी आश्चर्यचकित हो गये, फिर प्रभुकी कृपा समझ उनकी लीलाका स्मरणकर प्रेम-मग्न हो गये।

श्रीसवाईसिंहजी

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे प्रत्येक वर्णके स्वाभाविक कर्मका वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! शूरवीरता, तेज, धैर्य, चातुर्य और युद्धसे पलायन न करना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। ऐसे ही गुणधर्मवाले क्षत्रिय राजपूत थे श्रीसवाईसिंहजी। आप बड़े ही सन्तसेवी और परोपकारी स्वभावके थे। एक बार एक भक्त-दम्पती वन-मार्गसे कहीं जा रहे थे, उनके पास धन-सम्पत्ति देखकर लुटेरोंने उन्हें लूट लिया। उन भक्त-दम्पतीने पासके गाँवमें जाकर गुहार लगायी। यद्यपि गाँवके अन्य लोगोंको तो लुटेरोंका नाम सुनते ही साँप सूँघ गया, परंतु सवाईसिंहजीसे भक्तोंका यह कष्ट न देखा गया। उन्होंने तुरंत अपने अस्त्र-शस्त्र लिये और घोड़ेपर सवार होकर अकेले ही लुटेरोंके पीछे सरपट दौड़ चले। डाकू संख्यामें तेरह थे, इन्हें अकेले ही आते देखकर उन सबने इन्हें घेर लिया। इन्होंने भी ललकारकर कहा कि धन-सम्पत्ति छोड़कर भाग जाओ, नहीं तो प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा; सन्तोंको दुःख देनेवाला कभी सुखी नहीं रह सकता। अब तो वे आपपर चारों ओरसे प्रहार करने लगे। कहाँ एक और कहाँ तेरह, आपके प्राण संकटमें पड़ गये, परंतु तभी भगवत्कृपाका चमत्कार हुआ। लुटेरोंके अस्त्र-शस्त्र इनके शरीरका स्पर्श करते ही खण्ड-खण्ड हो गये, ऐसा लगता था मानो वे हाड़-मांसके शरीरसे नहीं बल्कि पत्थरके पुतलेसे टकरा रहे हों। उधर इनकी तलवार जिधर घूम जाती, उधर मानों बिजली-

सी कौंध जाती। लुटेरोंको यह देखकर लगा कि हमने किसी भक्तको लूट लिया है, इसीलिये हमपर भगवान्‌का ही कोप हो गया है, साधारण मनुष्यके वशका ऐसा अद्भुत पराक्रम करना सम्भव नहीं है। तब वे लोग आपसे रक्षाकी प्रार्थना करते हुए शरणागत हो गये। उन लुटेरोंने न केवल सारा धन वापस कर दिया, बल्कि लूट-डकैतीका काम भी छोड़ दिया और सभी भगवद्भक्त हो गये।

श्रीचाँदाजी

श्रीचाँदाजीका स्थितिकाल विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दी प्राप्त होता है, आप भगवान्‌के परम अनुरागी और वीर प्रकृतिके सन्त थे। उस समय देशमें यवनोंका राज्य था। वे लोग हिन्दुओंको पददलित करनेके लिये उनके आस्थाके केन्द्र मठ-मन्दिरोंको नष्ट कर देते थे। एक बार यवनसेना मठ-मन्दिरोंको ध्वस्त करती हुई बढ़ रही थी, उसने चन्द्रसेनपर आक्रमण कर दिया। तब आपने धर्मरक्षार्थ बहुत-से वीरोंको एकत्र किया और बड़ी वीरताके साथ यवनोंसे युद्ध किया। आपके प्रबल प्रहारोंसे यवनसेनाके पैर उखड़ गये और वह परास्त होकर तितर-बितर हो गयी। इसके बाद आपने जोधपुरके गढ़में प्रवेशकर उसे सुरक्षित किया। वैशाख कृ० १०, सं० १६२१ वि० की बात है, रामपोलसे निकलते हुए आपको यवनसेनाने घेर लिया और चारों ओरसे अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहार होने लगे। आपने अपने इष्टदेवका स्मरणकर ऐसा युद्ध किया कि एक भी यवन जीवित न बचा।

इस प्रकार श्रीचाँदाजी शास्त्र और शस्त्र दोनोंसे धर्मरक्षा करनेवाले वीरव्रती भक्त थे।

श्रीनापाजी

श्रीनापाजी बड़े ही सन्तसेवी भगवद्भक्त गृहस्थ थे। आपका जन्म खोसाके निकट एक ग्राममें हुआ था और आप जातिसे माली थे। आपके यहाँ सदैव सन्तोंकी मण्डलियाँ आती ही रहती थीं और कथा-कीर्तन एवं सत्संग होता रहता था। आपके आस-पासके लोगोंको इससे बड़ा आश्चर्य होता कि इनके पास कहाँसे इतना धन आता है। कुछ ईर्ष्यालु लोगोंने आपकी राजासे शिकायत कर दी कि महाराज! नापाजीके पास बहुत धन है, परंतु वे राजकर नहीं देते हैं। अविवेकी राजाने आपको कारागारमें डाल दिया। उधर आपके घरपर एक दिन सन्तोंकी एक मण्डली आ पहुँची, अब आपकी पत्नीको बड़ी चिन्ता हुई कि घरमें न तो रुपया-पैसा है, न भोजन-सामग्री; सन्तोंका स्वागत-सत्कार और उनकी भोजन-व्यवस्था कैसे की जाय? आपकी पत्नीने एक विश्वस्त व्यक्तिके माध्यमसे यह सूचना आपतक भिजवायी। आपने उत्तर दिया कि घरमें लोटा-थाली जो कुछ भी हो, सब बेचकर सन्त-सेवा कर दो। पत्नीने ऐसा ही किया, पर लोटा-थाली बेचनेसे भला कितने दिनतक सन्तसेवा और गृहस्थी चल सकती थी। घरमें फिरसे फाँके होने लगे। इसी बीच पत्नीके मायकेवाले भी आ गये, अब उस बेचारीके समक्ष एक और धर्मसंकट खड़ा हो गया। कहींसे कोई सहायताकी आशा नहीं थी, निदान सब तरफसे निराश होकर उसने अशरण-शरण भगवान्‌की शरण ली और आर्त भावसे लज्जा-रक्षाकी प्रार्थना की। भक्तिमती पत्नीकी यह करुण टेर भगवान्‌तक पहुँचनेमें देर न लगी। उन्होंने तुरंत आपका रूप बनाया और बर्तन तथा भोज्य-सामग्री आदि लाकर घरमें रख दिया। इधर राजाके गुप्तचरोंने राजाको खबर दी कि नापाजीके घरकी तो यह हालत है कि उनकी पत्नीने घरके बर्तन आदि बेचकर सन्तसेवा कर दी। यह सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और तुरंत ही आपको कारागारसे छुड़वा दिया। जब आप घर आये तो घरको धन-धान्यसे सम्पन्न देख बड़े ही आश्चर्यचकित हुए। आपने पत्नीसे पूछा कि 'यह सब सामान कहाँसे आया?' अब आश्चर्यचकित होनेकी बारी पत्नीकी थी। उसने कहा—'यह आप कैसी बात कर रहे हैं? अरे! आप ही तो कल सायंकालको सारा सामान लाये थे।' आप

कुछ नहीं बोले और मन-ही-मन प्रभुकी कृपाका स्मरणकर गद्गद हो गये।

श्रीनापाजी गृहस्थ थे, आजीविकाके लिये आप खेती करते थे। आपका ज्यादातर समय सन्तसेवामें ही बीतता था, अतः खेत सूखने लगे। एक दिन आप रातमें खेतोंकी सिंचाई कर रहे थे, परंतु रातभर परिश्रम करनेके बावजूद खेत सूखा-का-सूखा ही रह गया। सारा-का-सारा पानी बह गया था। दूसरे दिन जब आपने खेतकी दशा देखी तो बहुत दुखी हुए। आप-जैसे भक्तका दुःख भगवान्‌को भी बर्दाश्त नहीं हुआ और वे आपके पुत्रका रूप धारणकर आये और बोले—'पिताजी! आपको अब रात्रिमें खेतोंकी सिंचाई करनेकी आवश्यकता नहीं है, अब आप निश्चिन्त रहिये और मैं दिनमें ही खेतोंकी सिंचाई और खेतीका काम कर दिया करूँगा। आप प्रसन्नतापूर्वक सन्तसेवा कीजिये।' पुत्रकी इस कर्तव्यनिष्ठा और सन्तसेवाके प्रति आदर-भाव देखकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई और आप निश्चिन्त होकर सन्तसेवा करने लगे।

एक दिन आपने देखा कि पुत्र घरपर सो रहा है, आपने सोचा थका होगा, इसलिये आराम कर रहा है और यही सोचकर स्वयं खेतपर चले गये। वहाँ देखा तो पुत्र खेतोंकी सिंचाई कर रहा था, आपको बड़ा आश्चर्य हुआ। चुपचाप घर लौट आये और यहाँ देखा तो पुत्र सो रहा था। अब तो आप समझ गये कि मेरे पुत्रका वेश धारणकर स्वयं परमपिता परमात्मा ही मेरे खेतोंकी देखभाल कर रहे हैं। अब तो आप तुरंत ही वापस अपने खेतोंपर पहुँचे और पुत्ररूपधारी भगवान्‌का हाथ पकड़कर कहने लगे—'प्रभो! मैं आपको पहचान गया, आप मेरे पुत्र नहीं स्वयं श्रीभगवान् हैं।' पुत्ररूपधारी भगवान्‌ने कहा—'अरे पिताजी! आप यह क्या कह रहे हैं? मैं तो आपका पुत्र ही हूँ।' परंतु जब आप नहीं माने तो विवश होकर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। आपने कहा—'प्रभो! आपको यह सब करनेकी क्या जरूरत थी?' प्रभुने कहा—'नापाजी! आप नित्यप्रति हमारी और हमारे भक्तोंकी सेवा करते हैं, यदि हमने थोड़ी-सी आपकी सहायता कर ही दी तो क्या हो गया? अरे! मैं तो आपद्वारा की गयी सेवाका ब्याज भी नहीं चुका पाया हूँ।' भक्तवत्सल प्रभुकी बातें सुनकर आपके प्रेमाश्रु छलछला आये और हृदय परमानन्दसे गद्गद हो उठा।

ऐसे भक्त और सन्तसेवी थे श्रीनापाजी! इतना ही नहीं; बड़े उदार, दानी और परोपकारी भी थे आप। एक दिन आपके द्वारपर एक अतिथि आये। आपने पत्नीसे कहा कि अतिथिके लिये कुछ भोजनकी व्यवस्था करो। पत्नीने कहा—'स्वामी! मात्र एक रोटी है, जो मैंने बालकके लिये रखी है, हमें और आपको तो उपवास करना ही है, ऐसेमें मैं अतिथिके लिये क्या व्यवस्था करूँ? घरमें अन्नका एक दाना भी नहीं है, न ही पासमें पैसे ही हैं।' आपने कहा—देवि! बालककी रोटीमेंसे ही आधी रोटी अतिथिको भी दे दो, इससे बालकके भी प्राण बचे रहेंगे और अतिथि भी द्वारसे भूखा नहीं जायगा। ऐसे परोपकारी सन्त थे श्रीनापाजी!

श्रीकीताजी

श्रीकीताजी महाराजका जन्म जंगलमें आखेट करनेवाली जातिमें हुआ था, परंतु पूर्वजन्मके संस्कारवश आपकी चित्तवृत्ति अनिमेषरूपसे भगवत्स्वरूपमें लगी रहती थी। आप सर्वदा भगवान् श्रीरामकी कीर्तिका गान किया करते थे। साथ ही आपकी सन्तसेवामें बड़ी प्रीति थी, यहाँतक कि आप सन्तसेवाके लिये भगवद्भक्तिसे विमुख जनोंको जंगलमें लूट भी लिया करते थे और उससे सन्तसेवा करते थे। एक बारकी बात है, आपके यहाँ एक सन्तमण्डली आ गयी, परंतु आपके पास धनकी कोई स्थायी व्यवस्था तो थी नहीं, अतः आपने अपनी एक युवती कन्याको ही राजाके यहाँ गिरवी रख दिया और उस प्राप्त धनसे सन्तसेवा की। आपको आशा थी कि बादमें धन प्राप्त होनेपर कन्याको छुड़ा लूँगा। उधर जब राजाकी दृष्टि कन्यापर पड़ी तो उसके मनमें कुत्सित भाव आ गया। कन्याको भी राजाकी दुर्वृत्तिका पता चला तो उसने अपने पिताके पास

सन्देश भेजा। बेचारे कीताजी क्या करते! राजसत्तासे टकरानेसे समस्याका हल नहीं होना था, अन्तमें उन्होंने प्रभुकी शरण ली। उधर कन्याने भी अपनी लज्जा-रक्षाके लिये प्रभुसे प्रार्थना की। भक्तकी लज्जा भगवान्‌की लज्जा होती है, जिस भक्तने उनके प्रतिनिधिस्वरूप सन्तोंकी सेवाके लिये अपनी लज्जा दाँवपर रख दी हो, उसकी लज्जाका रक्षण तो उन परम प्रभुको करना ही होता है और उन्होंने किया भी। राजा जब आपकी कन्याकी ओर कुत्सित भावसे आगे बढ़ा तो उसको कन्याके स्थानपर सिंहिनी दिखायी दी। अब तो उसे प्राणके लाले पड़ गये और काममद उड़न छू हो गया। कीताजी भक्त हैं, यह बात तो उसे मालूम ही थी, उसे लगा कि भक्त कीताजीका अपमान करनेके कारण ही उसपर ऐसा भगवान्‌का कोप हो गया है। उसने मन-ही-मन कन्याको प्रणाम किया। भावदृष्टि बदलते ही सिंहिनी पुनः कन्याके रूपमें दिखायी देने लगी। राजाकी आँखें खुल गयीं, उन्होंने कीताजीके पास जाकर क्षमा-प्रार्थना की। कीताजी सन्तहृदय थे, उन्होंने राजाको क्षमा कर दिया।

श्रीकीताजी भगवत्कृपाप्राप्त भक्त थे। एक बार सन्तसेवाके लिये आपको एक घोड़ेकी आवश्यकता थी, पासमें ही फौजकी छावनी थी। आप वहाँ गये तो पहरेदारने पूछा—'कौन है?' आपने कहा—'मैं चोर हूँ। मेरा नाम कीता है और मैं घोड़ा चुराने आया हूँ।' आपकी इस साफगोईसे पहरेदारने समझा कोई फौजका अफसर है, विनोद कर रहा है, अतः कुछ नहीं बोला। आप एक बढ़िया घोड़ेको लेकर चले आये। दूसरे दिन छावनीमें घोड़ेकी चोरीकी बातसे हड़कम्प मच गया। पहरेदारने कीताजीका नाम बताया और रातकी सारी घटना बतायी। तुरंत ही कीताजीके यहाँ दबिश दी गयी तो एक वैसा ही घोड़ा उनके यहाँ बँधा मिला, परंतु आश्चर्यकी बात यह थी कि उस घोड़ेका रंग सफेद था, जबकि छावनीसे चोरी हुए घोड़ेका रंग लाल था। इस बावत जब कीताजीसे पूछताछ हुई तो उन्होंने सारी बात सच-सच बता दी। घोड़ेके रंग बदलनेके बारेमें कहा कि ऐसा तो प्रभुकी इच्छासे ही हुआ है, यह मेरी मानवीय सामर्थ्यकी बात नहीं है। आपकी साफगोई, भगवद्भक्ति और सन्तनिष्ठासे फौजका सरदार बहुत प्रभावित हुआ और सन्तसेवाके निमित्त बहुत-सा द्रव्य भेंट किया, साथ ही अपने बहुतसे सैनिकोंके साथ आपका शिष्य बन गया।

श्रीकीताजी निष्ठावान् और सच्चे आज्ञाकारी साधकोंको ही शिष्य बनाते थे। एक बार एक साधक भक्तने १२ वर्षतक आपकी सेवा की, परंतु आपने उसको तब भी दीक्षा नहीं दी, फिर अपने इष्टदेव प्रभु श्रीरामजीके स्वप्नमें आदेश देनेपर उसे दीक्षा देनेका निर्णय लिया, इसपर भी आपने उसकी बड़ी कठिन परीक्षा ली। शीत ऋतुमें उससे कोरे घड़ेमें जल मँगवाया। जब वह साधक जल लेकर आया तो उन्होंने उसके सिरपर रखे घड़ेको डण्डेके प्रहारसे फोड़ दिया, जिससे उसका सारा शरीर भीग गया। तत्पश्चात् आपने पुनः उससे दूसरा घड़ा भरकर लानेको कहा। इस प्रकार आपने सात घड़े उसके सिरपर फोड़ दिये। अन्तमें जब वह आठवाँ घड़ा भरकर ले आया तो आपने उसको धैर्य और गुरु-आज्ञाके प्रति निष्ठाकी परीक्षामें उत्तीर्ण मानकर उसे दीक्षा दे दी।

परोपकारी भक्त

लछिमन लफरा लडू संत जोधपुर त्यागी।
सूरज कुंभनदास बिमानी खेम बिरागी॥
भावन बिरही भरत नफर हरिकेस लटेरा।
हरिदास अजोध्या चक्रपानि (दियो) सरजू तट डेरा॥

तिलोक पुखरदी बिज्जुली उद्धव बनचर बंसके।
पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलिजुग्ग के॥ ९८॥

ये भक्तजन इस कलियुगमें भी बड़े ही परोपकारी तथा आश्रितजनोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये कामधेनुके समान हुए। इनके नाम ये हैं—श्रीलक्ष्मणजी, श्रीलफराजी, श्रीलड्डूजी, जोधपुरके त्यागी श्रीसन्तजी, श्रीसूरजजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीविमानीजी, श्रीखेम वैरागीजी, श्रीभावनजी, श्रीविरही भरतजी, श्रीनफरजी, श्रीहरिकेशजी लटेरा, श्रीहरिदासजी, श्रीअयोध्या-सरयू-तटवासी श्रीचक्रपाणिजी, श्रीतिलोक सुनारजी, श्रीपुखरदीजी, श्रीबिज्जुलीजी, वनचर (श्रीहनुमान्)-वंशमें उत्पन्न श्रीउद्धवजी॥ ९८॥

इन परोपकारी भक्तोंमेंसे कुछ भक्तोंके चरित्र इस प्रकार हैं—

श्रीलड्डूजी

श्रीलड्डूजी महाराज बड़े ही परोपकारी एवं भगवद्भक्त वैष्णव सन्त थे। दूसरेके दुःखोंको दूर करना आपका सहज स्वभाव था। आपके समयमें बंगाल प्रान्तके एक गाँवमें प्रायः भगवद्विमुख नास्तिक लोग ही रहते थे। वहाँके लोग सन्त-भगवन्तको कुछ जानते ही नहीं थे, मानना तो दूर रहा। इन्हें हिंसा करनेमें लेशमात्रका भी पाप-भय नहीं था; यहाँतक कि पशुबलि क्या, मानवबलि देनेमें भी उनको हिचक नहीं होती थी। एक बार सन्तोंकी एक टोली उस गाँवमें जा पहुँची। वे लोग तीन दिनतक वहाँ भूखे पड़े रहे, किसीने उन्हें भोजन-प्रसादके लिये नहीं पूछा। उन सन्तोंने जब वहाँके लोगोंकी रहनी-सहनी श्रीलड्डूजीसे बतायी तो आपने उन्हें वैष्णवताका उपदेश देनेका निश्चय किया।

कहते हैं कि जिस समय आप उन विमुखोंके देश पहुँचे, उस समय वहाँके राजाने देवीको बलि देनेके लिये किसी मनुष्यको पकड़ लानेके लिये अपने कर्मचारियोंको भेजा था। राजकर्मचारी एक गरीब ब्राह्मणके बालकको पकड़कर ले जा रहे थे। उसके माता-पिता करुण क्रन्दन कर रहे थे। उसी समय आप वहाँ पहुँच गये। दीन ब्राह्मण-दम्पती आपकी शरणमें आये और पुत्रकी रक्षा करनेकी प्रार्थना की। ब्राह्मणकी करुण प्रार्थना, ब्राह्मणीके क्रन्दन और बालककी दीनता देखकर आपका सन्त हृदय द्रवित हो उठा। आपने ब्राह्मण बालकको मुक्त करा दिया और उसकी जगहपर स्वयं बलिदान होनेके लिये तैयार हो गये। राजकर्मचारी आपको पकड़कर देवीके सम्मुख ले गये। देवी वैष्णव भक्तको बलिके लिये लाया देखकर अत्यन्त कुपित हुईं और उन राजकर्मचारियोंका ही वध कर डाला।

इस घटनाका भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

लड्डू नाम भक्त जाय निकसे विमुख देश लेसहूँ न सन्तभाव जानै पाप पागे हैं।
देवी कों प्रसन्न करैं मानुस को मारि धरैं लै गये पकरि तहाँ मारिबे कों लागे हैं॥
प्रतिमाको फारि बिकरारि रूपधारि आई लै कै तरवार मूंड काटे भीजे बागे हैं।
आगे नृत्य करै, दृग भरै साधु पाँव धरै ऐसे रखवारे जानि जन अनुरागे हैं॥ ४०४॥

श्रीसन्तजी

भक्त श्रीसन्तजीका साधु-सेवामें बड़ा प्रेम था। इन्होंने गाँव-गाँवसे भिक्षा लाकर सन्त-सेवा करनेका नियम ले रखा था। एक बार ये किसी गाँवमें भिक्षा लेने गये थे। इसी बीच घरपर सन्तोंकी जमात आ गयी। सन्तोंने इनकी पत्नीसे पूछा कि 'सन्तजी कहाँ हैं?' तो पत्नीने प्रमादपूर्वक कहा कि 'वे चूल्हेमें गये।' पत्नीकी वाणी सुनकर सन्त जान गये कि इसका साधु-सन्तोंमें भाव नहीं है, अतः वहाँसे चल

दिये। संयोगसे मार्गमें श्रीसन्तजी मिल गये। सन्तोंने पूछा—'आप कहाँ रहे?' उस समय सन्तजीके हृदयमें साक्षात् भगवान् ही बैठकर बोले—'हमारी पत्नीने जो कहा है, वह सत्य कहा है। सचमुच मेरे मनमें चूल्हेकी आँचका ही ध्यान हो रहा था।' फिर श्रीसन्तजी सन्तोंको पुनः घर लौटा लाये और भगवत्प्रसाद पवाकर उन्हें आनन्दमें मगन कर दिया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

सदा साधुसेवा अनुराग रंग पागि रह्यौ गह्यौ नेम भिक्षा व्रत गाँव गाँव जाय कै।
आये घर संत पूछैं तिया सों यों संत कहाँ? 'संत चूल्हे माँझ' कही ऐसे अलसाय कै॥
बानी सुनि जानी, चले मग सुखदानी मिले कही कित हुते? सो बखानी उर आय कै।
बोली वह साँच, वही आँच ही कौ ध्यान मेरे आनिगृह फेरि किये मगन जिंवाय कै॥ ४०५॥

श्रीतिलोकजी सुनार

श्रीतिलोकभक्तजी पूर्व देशके रहनेवाले थे और जातिके सोनार थे। इन्होंने हृदयमें भक्तिसार—सन्त-सेवाका व्रत धारण कर रखा था। एक बार वहाँके राजाकी लड़कीका विवाह था। उसने इन्हें एक जोड़ा पायजेब बनानेके लिये सोना दिया, परंतु इनके यहाँ तो नित्यप्रति अनेकों सन्त-महात्मा आया करते थे, उनकी सेवासे इन्हें किंचिन्मात्र भी अवकाश नहीं मिलता था, अतः आभूषण नहीं बना पाये। जब विवाहके दो दिन ही रह गये और आभूषण बनकर नहीं आया तो राजाको क्रोध हुआ और सिपाहियोंको आदेश दिया कि तिलोक सुनारको पकड़ लाओ। सिपाहियोंने तुरंत ही इन्हें पकड़कर लाकर राजाके सम्मुख कर दिया। राजाने इन्हें डाँटकर कहा कि 'तुम बड़े धूर्त हो। समयपर आभूषण बनाकर लानेको कहकर भी नहीं लाये।' इन्होंने कहा—'महाराज! अब थोड़ा काम शेष रह गया है, अभी आपकी पुत्रीके विवाहके दो दिन शेष हैं। यदि मैं ठीक समयपर न लाऊँ तो आप मुझे मरवा डालना'।

राजाकी कन्याके विवाहका दिन भी आ गया, परंतु इन्होंने आभूषण बनानेके लिये जो सोना आया था, उसे हाथसे स्पर्श भी नहीं किया। फिर इन्होंने सोचा कि समयपर आभूषण न मिलनेसे अब राजा मुझे जरूर मार डालेगा, अतः डरके मारे जंगलमें जाकर छिप गये। यथासमय राजाके चार-पाँच कर्मचारी आभूषण लेनेके लिये श्रीतिलोकजीके घर आये। भक्तके ऊपर संकट आया जानकर भगवान्ने श्रीतिलोक भक्तका रूप धारणकर अपने संकल्पमात्रसे आभूषण बनाया और उसे लेकर राजाके पास पहुँचे। वहाँ जाकर राजाको पायजेबका जोड़ा दिया। राजाने उसे हाथमें ले लिया। आभूषणको देखते ही राजाके नेत्र ऐसे लुभाये कि देखनेसे तृप्त ही नहीं होते थे। राजा श्रीतिलोकजीपर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उनकी पहलेकी सब भूल-चूक माफ कर दी और उन्हें बहुत-सा धन पुरस्कारमें दिया। श्रीतिलोकरूपधारी भगवान् मुरारी इस प्रकार धन लेकर श्रीतिलोक भक्तके घर आकर विराजमान हुए।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

पूरबमें ओकसो तिलोक हो सुनार जाति पायो भक्तिसार साधुसेवा उर धारियै।
भूपके विवाह सुता जोरौ एक जेहरिकौ गढ़िबेकौ दियौ कह्यौ नीके कै सँवारियै॥
आवत अनन्त सन्त औसर न पावै किहूँ रहे दिन दोय भूप रोष यों सँभारियै।
ल्यावो रे पकरि, ल्याये, छाड़िये मकर, कही नेकु रह्यो काम आवै नातो मारि डारियै॥ ४०६॥
आयो वही दिन कर छुयौ हूँ न इन नृप करै प्रान बिन बन माँझ छिप्यौ जायकै।
आये नर चारि पाँच जानी प्रभु आँच गढ़ि लियौ सो दिखायौ साँच चले भक्तभायकै॥

भूपको सलाम कियो जेहरिकौ जोरौ दियौ लियो कर देखि नैन छोड़ैं न अघायकै।
भई रीझि भारी सब चूक मेटि डारी धन पायो लै मुरारी ऐसे बैठे घर आयकै॥ ४०७॥

श्रीतिलोकरूपधारी भगवान्‌ने दूसरे दिन प्रातःकाल ही महान् उत्सव किया। उसमें अत्यन्त रसमय, परम स्वादिष्ट अनेकों प्रकारके व्यंजन बने थे। साधु-ब्राह्मणोंने खूब पाया। फिर भगवान् एक सन्तका स्वरूप धारणकर झोलीभर सीथ—प्रसाद लिये हुए वहाँ गये, जहाँ श्रीतिलोक भक्त छिपे बैठे थे। श्रीतिलोकजीको प्रसाद देकर सन्त-रूपधारी भगवान्‌ने कहा—'श्रीतिलोक भक्तके घर गया था। उन्होंने ही खूब प्रसाद पवाया और झोली भी भर दी।' श्रीतिलोक भक्तने पूछा—कौन तिलोक? भगवान्‌ने कहा—'जिसके समान त्रैलोक्यमें दूसरा कोई नहीं है।' फिर भगवान्‌ने पूरा विवरण बताया। सन्तरूपधारी भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीतिलोकजीके मनको शान्ति मिली। फिर भगवत्प्रेममें मग्न श्रीतिलोकजी रात्रिके समय घर आये। घरपर साधु-सन्तोंकी चहल-पहल तथा घरको धन-धान्यसे भरा हुआ देखकर श्रीतिलोकजीका श्रीप्रभुके श्रीचरणोंकी ओर और भी अधिक झुकाव हो गया। वे समझ गये कि श्रीप्रभुने मेरे ऊपर महान् कृपा की है, निश्चय ही मेरे किसी महान् भाग्यका उदय हुआ है।

श्रीप्रियादासजी श्रीतिलोकजीपर भगवान्‌की इस कृपाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

भोरही महोछौ कियौ, जोई माँगे सोई दियौ नाना पकवान रसखान स्वाद लागे हैं।
सन्तकौ सरूप धरि लै प्रसाद गोद 'भरि गये तहां' पावै जू तिलोक गृह पागे हैं॥
कौनसो तिलोक? अरे दूसरो तिलोक मैं न बैन सुनि चैन भयो आये निसि रागे हैं।
चहल पहल धन भर्‍यौ घर देखि ढर्‍यौ प्रभुपद कंज जानौ मेरे भाग जागे हैं॥ ४०८॥

श्रीलक्ष्मणजी

परम सन्तसेवी श्रीलक्ष्मणजी सन्तोंके रहनेके लिये निवास-स्थान बनवा रहे थे, छतका पटाव हो गया था, परंतु वह अभी परिपक्व नहीं हुआ था कि छतकी आधारभूता एक बल्ली टूट गयी। लोगोंको बड़ी चिन्ता हुई कि अब तो छत गिर जायगी अथवा नीचेको धँस जायगी। अब तो इसे फिरसे बनवाना पड़ेगा आदि। श्रीलक्ष्मणजीने सबको समझाया कि आप लोग चिन्ता नहीं करें, श्रीहरिकृपासे कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। सचमुच प्रातःकाल जब सबने देखा तो बल्लीमें टूटनेका निशान भी नहीं था, छत ज्यों-की-त्यों दुरुस्त थी। सब लोग भगवान्‌की इस प्रत्यक्ष कृपापर आश्चर्य करने लगे। ऐसे अनन्य निष्ठावान् और सन्तसेवी भक्त थे श्रीलक्ष्मणजी!

श्रीलफराजी (श्रीलफरा गोपालदेवाचार्यजी)

आप निम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य श्रीस्वामी हरिव्यासदेवाचार्यजीके कृपापात्र थे। आपका वास्तविक नाम तो श्रीगोपालदेवजी था, किंतु एक बार आपकी अत्यन्त लापरवाही देखकर श्रीगुरुदेवजीने 'लफरा' कहा था तो आगे चलकर वही नाम ही पड़ गया। वह प्रसंग इस प्रकार है—आप स्वभावसे बड़े विरक्त एवं अलमस्त थे। एक बार श्रीगुरुदेवजीने आपको एक आश्रमकी देख-रेखका भार सौंपा। यद्यपि इस कार्यमें आपकी अभिरुचि बिल्कुल नहीं थी फिर भी श्रीगुरुदेवजीसे संकोचवश आप इनकार नहीं कर सके। अतः कुछ दिनतक तो आपने जैसे-तैसे आश्रमका कार्य सँभाला, फिर दसदिनके लिये तीर्थयात्राका बहाना बनाकर श्रीगुरुदेवजीसे आज्ञा लेकर आप आश्रमसे निकले तो फिर लौटकर आश्रमपर गये ही नहीं। श्रीगुरुजीने कुछ दिनतक तो इनकी प्रतीक्षा की, परंतु ये जब नहीं आये तो उन्होंने प्रसंग चलनेपर इन्हें 'लफरा' कहा। वही नाम पड़ गया।

एक बार ये घूमते-फिरते एक सन्तके स्थानमें पहुँचे। वे सन्तजी सन्तोंकी खूब सेवा करते थे। परंतु उस दिन वे बड़े उदास थे। श्रीलफराजीने उदासीका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि यहाँका राजा एक दुष्ट यवन है, वह आश्रमको हड़पना चाहता है, इसलिये मैं बहुत चिन्तित हूँ। श्रीलफराजीने उन सन्तजीसे कहा कि आप आश्रमवासी सभी सन्तोंको लेकर कहीं अन्यत्र चले जाइये, मैं अकेले उस दुष्टको देख लूँगा। आपकी बात मानकर वे सन्त आश्रम छोड़कर कहीं चले गये। आप अकेले वहाँ रह गये। उसी दिन यवनराजने आश्रमके सभी सन्तोंको गिरफ्तार करनेके लिये सिपाहियोंको भेजा। आश्रममें और कोई तो मिला नहीं, सिपाहियोंने श्रीलफराजीको ही पकड़कर नजरबन्दकर कारागारमें डाल दिया। उसी रात यवनराजको स्वप्नमें मुहम्मदसाहबने आदेश दिया कि 'तुम शीघ्रातिशीघ्र भक्तराज श्रीलफराजीको कारागारसे मुक्त कर दो अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा।' फिर क्या था, प्रातःकाल होते ही वह दुष्ट यवनराज नंगे पाँव दौड़ा हुआ आपके पास गया और चरणोंमें पड़कर अपराधके लिये बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। श्रीलफराजीने क्षमा प्रदान करते हुए उसे साधु-सेवाका उपदेश दिया। आपके उपदेशसे प्रभावित होकर यवनराजने बहुत-सी जमीन साधुसेवा-निमित्त आश्रमको प्रदान की।

श्रीकुम्भनदासजी

श्रीकुम्भनदास परम भगवद्भक्त, आदर्श गृहस्थ और महान् विरक्त थे। वे निःस्पृह, त्यागी और महासन्तोषी व्यक्ति थे। उनके चरित्रकी विशिष्ट अलौकिकता यह है कि भगवान् साक्षात् प्रकट होकर उनके साथ सखाभावकी क्रीड़ाएँ करते थे।

कुम्भनदासका जन्म गोवर्धनके सन्निकट जमुनावतो ग्राममें संवत् १५२५ वि० में चैत्र कृष्ण एकादशीको हुआ था। वे गोरवा क्षत्रिय थे। उनके पिता एक साधारण श्रेणीके व्यक्ति थे। खेती करके जीविका चलाते थे। कुम्भनदासने भी पैतृक वृत्तिमें ही आस्था रखी और किसानीका जीवन ही उन्हें अच्छा लगा। परासोलीमें विशेषरूपसे खेतीका कार्य चलता था। उन्हें पैसेका अभाव आजीवन खटकता रहा, पर उन्होंने किसीके सामने हाथ नहीं पसारा। भगवद्भक्ति ही उनकी सम्पत्ति थी। उनका कुटुम्ब बहुत बड़ा था, खेतीकी आयसे ही उसका पालन करते थे।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी उनके दीक्षा-गुरु थे। संवत् १५५० वि० में आचार्यकी गोवर्धन-यात्राके समय उन्होंने ब्रह्मसम्बन्ध लिया था। उनके दीक्षा-कालके पन्द्रह साल पूर्व श्रीनाथजीकी मूर्ति प्रकट हुई थी, आचार्यकी आज्ञासे वे श्रीनाथजीकी सेवा करने लगे। नित्य नये पद गाकर सुनाने लगे। पुष्टि-सम्प्रदायमें सम्मिलित होनेपर उन्हें कीर्तनकी ही सेवा दी गयी थी। कुम्भनदास भगवत्कृपाको ही सर्वोपरि मानते थे, बड़े-से-बड़े घरेलू संकटमें भी वे अपने आस्था-पथसे कभी विचलित नहीं हुए।

श्रीनाथजीके शृंगारसम्बन्धी पदोंकी रचनामें उनकी विशेष अभिरुचि थी। एक बार श्रीवल्लभाचार्यजीने उनके युगललीलासम्बन्धी पदसे प्रसन्न होकर कहा था कि 'तुम्हें तो निकुंजलीलाके रसकी अनुभूति हो गयी।' कुम्भनदास महाप्रभुकी कृपासे गद्‌गद होकर बोले उठे कि 'मुझे तो इसी रसकी नितान्त आवश्यकता है।'

महाप्रभु वल्लभाचार्यके लीला-प्रवेशके बाद कुम्भनदास गोसाईं विट्ठलनाथके संरक्षणमें रहकर भगवान्‌का लीला-गान करने लगे। विट्ठलनाथजी महाराजकी उनपर बड़ी कृपा थी। वे मन-ही-मन उनके निर्लोभ-जीवनकी सराहना किया करते थे। संवत् १६०२ वि० में अष्टछापके कवियोंमें उनकी गणना हुई। बड़े-बड़े राजा-महाराजा आदि कुम्भनदासका दर्शन करनेमें अपना सौभाग्य मानते थे। वृन्दावनके बड़े-बड़े रसिक और सन्त-महात्मा उनके सत्संगकी उत्कट इच्छा किया करते थे। उन्होंने भगवद्भक्तिका यश सदा

अक्षुण्ण रखा, आर्थिक संकट और दीनतासे उसे कभी कलंकित नहीं होने दिया।

एक बार श्रीविट्ठलनाथ उन्हें अपनी द्वारिका-यात्रामें साथ ले जाना चाहते थे; उनका विचार था कि वैष्णवोंकी भेंटसे उनकी आर्थिक परिस्थिति सुधर जायगी। कुम्भनदास श्रीनाथजीका वियोग एक पलके लिये भी नहीं सह सकते थे; पर उन्होंने गोसाईंजीकी आज्ञाका विरोध नहीं किया। वे गोसाईंजीके साथ अप्सराकुण्डतक ही गये थे कि श्रीनाथजीके सौन्दर्य-स्मरणसे उनके अंग-अंग सिहर उठे, भगवान्की मधुर-मधुर मन्द मुसकानकी ज्योत्स्ना विरह-अन्धकारमें थिरक उठी, माधुर्यसम्राट् नन्दनन्दनकी विरह-वेदनासे उनका हृदय घायल हो चला। उन्होंने श्रीनाथजीके वियोगमें एक पद गाया—

केते दिन जु गए बिनु देखैं।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन, कछुक उठति मुख रेखैं॥
वह सोभा, वह कांति बदन की, कोटिक चंद बिसेखैं।
वह चितवन, वह हास मनोहर, वह नटवर बपु भेखैं॥
स्याम सुँदर सँग मिलि खेलन की आवति हिये अपेखैं।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु जीवन जनम अलेखैं॥

श्रीगोसाईंजीके हृदयपर उनके इस विरह-गीतका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे नहीं चाहते थे कि कुम्भनदास पलभरके लिये भी श्रीनाथजीसे अलग रहें। कुम्भनदासको उन्होंने लौटा दिया। श्रीनाथजीका दर्शन करके कुम्भनदास स्वस्थ हुए।

एक बार अकबरकी राजसभामें एक गायकने उनका पद गाया, बादशाहने उस पदसे आकृष्ट होकर कुम्भनदासको फतेहपुर सीकरी बुलाया। पहले तो कुम्भनदास जाना नहीं चाहते थे, पर सैनिक और दूतोंका विशेष आग्रह देखकर वे पैदल ही गये। श्रीनाथजीके सभासदस्यको अकबरका ऐश्वर्य दो कौड़ीका लगा। कुम्भनदासकी पगड़ी फटी हुई थी, तनिया मैली थी; वे आत्मग्लानिमें डूब रहे थे कि किस पापके फलस्वरूप उन्हें इनके सामने उपस्थित होना पड़ा। बादशाहने उनकी बड़ी आवभगत की। पर कुम्भनदासको तो ऐसा लगा कि किसीने उनको नरकमें ला खड़ा कर दिया है। वे सोचने लगे कि राजसभासे तो कहीं उत्तम व्रज है, जिसमें स्वयं श्रीनाथजी खेलते रहते हैं, अनेक क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। अकबरने पद गानेकी प्रार्थना की। कुम्भनदास तो भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-माधुर्यके कवि थे, उन्होंने पद-गान किया—

भगत को कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैयाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम॥
जाको मुख देखैं दुख लागै, ताको करनो पड़्यो प्रनाम।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

बादशाह सहृदय थे, उन्होंने आदरपूर्वक उनको घर भेज दिया। संवत् १६२० वि० में महाराज मानसिंह व्रज आये थे। उन्होंने वृन्दावनके दर्शनके बाद गोवर्धनकी यात्रा की। श्रीनाथजीके दर्शन किये। उस समय मृदंग और वीणाके साथ कुम्भनदासजी कीर्तन कर रहे थे। राजा मानसिंह उनकी पद-गान-शैलीसे बहुत प्रभावित हुए। वे उनसे मिलने जमुनावतो गये। कुम्भनदासकी दीन-हीन दशा देखकर वे चकित हो उठे। कुम्भनदास भगवान्के रूप-चिन्तनमें ध्यानस्थ थे। आँख खुलनेपर उन्होंने भतीजीसे आसन और दर्पण माँगे, उत्तर मिला कि 'आसन (घास) पड़िया खा गयी, दर्पण (पानी) भी पी गयी।' आशय यह था कि पानीमें मुख देखकर वे तिलक करते थे। महाराजा मानसिंहको उनकी निर्धनताका पता लग गया। उन्होंने सोनेका

दर्पण देना चाहा, भगवान्‌के भक्तने अस्वीकार कर दिया; मोहरोंकी थैली देनी चाही, विश्वपतिके सेवकने उसकी उपेक्षा कर दी। चलते समय मानसिंहने जमुनावतो गाँव कुम्भनदासके नाम करना चाहा; पर उन्होंने कहा कि 'मेरा काम तो करीलके पेड़ और बेरके वृक्षसे ही चल जाता है।' राजा मानसिंहने उनकी निःस्पृहता और त्यागकी सराहना की, उन्होंने कहा कि 'मायाके भक्त तो मैंने बहुतसे देखे हैं, पर वास्तविक भगवद्भक्त तो आप ही हैं।'

वृद्धावस्थामें भी कुम्भनदास नित्य जमुनावतोसे श्रीनाथजीके दर्शनके लिये गोवर्धन आया करते थे। एक दिन संकर्षणकुण्डपर आन्योरके निकट वे ठहर गये। अष्टछापके प्रसिद्ध कवि चतुर्भुजदासजी, उनके छोटे पुत्र, साथ थे। उन्होंने चतुर्भुजदाससे कहा कि 'अब घर चलकर क्या करना है। कुछ समय बाद शरीर ही छूटनेवाला है।' गोसाईं विट्ठलनाथजी उनके देहावसानके समय उपस्थित थे। गोसाईंजीने पूछा कि 'इस समय मन किस लीलामें लगा है?' कुम्भनदासने कहा, ***'लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै'*** और इसके अनन्तर युगल-स्वरूपकी छविके ध्यानमें पद गाया—

रसिकनी रस में रहत गड़ी।
कनक बेलि बृषभानुनंदिनी स्याम तमाल चढ़ी॥
बिहरत श्रीगिरिधरन लाल सँग, कोने पाठ पढ़ी।
'कुँभनदास' प्रभु गोबरधनधर रति रस केलि बढ़ी॥

• उन्होंने शरीर छोड़ दिया। गोसाईंजीने करुणस्वरसे श्रद्धांजलि अर्पित की कि ऐसे भगवदीय अन्तर्धान हो गये। अब पृथ्वीपर सच्चे भगवद्भक्तोंका तिरोधान होने लगा है। वास्तवमें कुम्भनदासजी निःस्पृहताके प्रतीक थे, त्याग और तपस्याके आदर्श थे, परम भगवदीय और सीधे-सादे गृहस्थ थे। संवत् १६३९ वि० तक वे एक सौ तेरह सालकी उम्रपर्यन्त जीवित रहे।

श्रीखेमदासजी

प्राणिमात्रका क्षेम-कुशल चाहते हुए श्रीखेमदासजी बड़े भावसे सन्तसेवा करते थे। एकबार सन्तोंके आनेपर एक वैश्यके यहाँसे सीधा-सामान लेकर आ रहे थे तो मार्गमें एक ब्राह्मणने व्यंग्य किया—'माला पहन लिये, तिलक लगा लिये, बस, बाबाजी बन गये। कुछ करना न धरना, फोकटका माल खाते हैं और मटरगश्ती करते हैं। अरे, सच्चे साधु तो ये बैल हैं। इन्हें जो दो, जितना दो, उतना ही खाते हैं और खूब हल खींचते हैं, भार ढोते हैं।' श्रीखेमदासजीने मुसकराकर कहा—'तुम ठीक कहते हो। देखो, तुम्हारा एक बैल चोरी चला गया है, यदि मैं उसके बदले तुम्हारे हलमें चलूँ तब तो तुम मुझे सच्चा साधु मानोगे।' उसने कहा—'हाँ, यदि आप भी बैलका-सा परोपकार करें तो मैं मान लूँगा कि आप भी सच्चे सन्त हैं।' श्रीखेमदासजी सन्तोंकी व्यवस्था करके उस ब्राह्मणके हलमें जुतकर बैलके साथ हल खींचने लगे। भगवान्‌से भक्तका यह महाश्रम देखा नहीं गया। तुरंत प्रभु-प्रेरणासे उस ब्राह्मणका चोरी गया बैल वहाँ आकर खड़ा हो गया। ब्राह्मण प्रसन्न होकर उस बैलको पकड़ने गया तो उसने उसे सींगपर उठाकर दूर फेंक दिया और श्रीखेमदासजीके पास जाकर इनका चरण चाटने लगा। यह देखकर ब्राह्मण समझ गया कि श्रीखेमदासजी सच्चे साधु हैं। वह इनके चरणोंमें पड़कर बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। श्रीखेमदासजीने ब्राह्मणको क्षमा-दान देते हुए सन्त-सेवाका उपदेश दिया। ब्राह्मण भी भक्त हो गया।

श्रीहरिदासजी

श्रीहरिदासजी श्रीअयोध्याधाममें निवास करते थे। आप भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त थे। 'यथा लाभ

सन्तोष' की वृत्तिको अपनाये हुए श्रीहरि-इच्छासे जो कुछ भी अपने-आप सहज रूपसे प्राप्त हो जाता, उसीसे सन्त-सेवा करते थे। एकबार सन्तोंकी बहुत बड़ी जमात इनके स्थानपर आयी। कुटीमें एक छटाँक भी सीधा-सामान नहीं था। ये बड़े चिन्तित हुए। तब इनकी चिन्ता दूर करनेके लिये प्रभुने अपने श्रीचरणकमलसे पाँच मुहरें प्रकट कर दीं। घबड़ाये हुए जब आप प्रभुके समक्ष चिन्ता-निवारणार्थ प्रार्थना करने गये तो देखा वहाँ मुहरें पड़ी थीं। प्रभुकी ऐसी कृपा देख आप बड़े प्रसन्न हुए। उन्हीं मुहरोंसे उन्होंने खूब सन्तोंकी सेवा की। उसी दिनसे नित्यप्रति पाँच मुहरें प्रकट होने लगीं। परंतु ये नित्य उन मुहरोंको लेनेमें डरते थे। इन्हें भय लगता कि कहीं मेरी धनमें आसक्ति न हो जाय, मेरे भजनमें कोई बाधा न पड़ जाय। तब रात्रिमें भगवान्‌ने स्वप्नमें आदेश दिया कि 'डरो मत। यह द्रव्य मैं सन्त-सेवाके निमित्त दे रहा हूँ। इससे खूब सन्तोंकी सेवा करो, कोई बाधा नहीं होगी।' तब ये उन मुहरोंको लेने लगे। ये मुहरोंको रोजकी रोज खर्च कर देते। कलके लिये एक पैसा भी नहीं रखते। ये अपने उपदेशमें श्रीअवध और सरयूका बहुत माहात्म्य वर्णन करते थे।

श्रीउद्धवजी

अनन्य श्रीरामभक्त श्रीउद्धवजी स्वयं श्रीहरि और हरिजन—दोनोंकी सेवामें सदा तत्पर रहते ही थे, दूसरोंको भी यही उपदेश देते थे। इनके उपदेशसे प्रभावित होकर एक राजाने सन्तसेवाका व्रत लिया था। वेषमात्रमें उसकी अपार निष्ठा हो गयी थी। एक दुष्टने राजाकी इस निष्ठाका अनुचित लाभ उठाना चाहा। वह साधुका वेष धारणकर राजाके यहाँ आया। राजाने सम्मानपूर्वक उसे महलमें वास दिया। परंतु वह एक दिन मौका देखकर रात्रिके समय राजमहलकी एक युवतीको ले भागा। इससे राजाको बड़ा रोष हुआ। उसने श्रीउद्धवजीको उपालम्भ दिया कि आपके कहनेसे मैंने सन्त-सेवा प्रारम्भ की थी और देखिये ये वेषधारी ऐसे-ऐसे घृणित कार्य करते हैं। श्रीउद्धवजीने राजाको धैर्य बँधाया। निष्ठापर दृढ़ रहनेके लिये जोर दिया और उस युवतीका आकर्षण प्रयोग किया। श्रीहरि-कृपासे वह युवती आकाश-मार्गसे राजमहलमें आ गयी। तब तो राजाकी सन्तसेवामें और भी दृढ़ निष्ठा हो गयी तथा श्रीउद्धवजीके प्रति भी उसकी श्रद्धा बढ़ गयी।

अभिलाषा पूर्ण करनेवाले भक्त

सोम भीम सोमनाथ बिको बिसाखा लमध्याना।
महदा मुकुँद गनेस त्रिबिक्रम रघु जग जाना॥
बालमीक बृधब्यास जगन झाँझू बिठल अचारज।
हरिभू लाला हरिदास बाहुबल राघव आरज॥
लाखो छीतर उद्धव कपुर घाटम घूरी कियो प्रकास।
अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिंतामनि चतुरदास॥ ९९॥

ये भगवद्दास अपने भजन-साधनमें बड़े ही चतुर थे तथा दूसरोंकी अधिकाधिक अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये चिन्तामणिके समान थे। इनके नाम ये हैं—श्रीसोमजी, श्रीभीमजी, श्रीसोमनाथजी, श्रीबिकोजी, श्रीविशाखाजी, श्रीलमध्यानजी, श्रीमहदाजी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीगणेशजी, श्रीत्रिविक्रमजी, श्रीरघुजी, श्रीबालमीकजी, श्रीवृद्धव्यासजी, श्रीजगनजी, श्रीझाँझूजी, श्रीबीठल आचार्यजी, श्रीहरिभूजी, श्रीलालाजी, श्रीहरिदासजी, श्रीबाहुबलजी, आर्य श्रीराघवजी, श्रीलाखाजी, श्रीछीतरजी, श्रीउद्धवजी, श्रीकपूरजी, श्रीघाटमजी, श्रीघूरीजी—

ये सभी भक्त जगत्‌में प्रसिद्ध हुए और इन सभीने अपने सुयशसे जगत्‌को प्रकाशित किया॥ ९९ ॥

इनमेंसे कतिपय भक्तोंका भगवत्प्रेममय चरित्र इस प्रकार है—

श्रीसोमजी

आप बड़े ही समृद्धिशाली सन्त थे। आपके यहाँ सन्त-सेवा, कथा-कीर्तन-सत्संगकी धूम मची रहती थी। आपके उत्कर्षको देखकर आपका ही एक गुरुभाई आपसे अत्यन्त द्वेष करता था। उसने आपका अनिष्ट करनेके लिये छल-बल तो बहुत किया, परंतु सफल नहीं हो सका। तब अन्ततोगत्वा उसने आपके श्रीगोपालजीको चुराकर गहरे जलाशयमें फेंक दिया। परंतु श्रीगोपालजी स्वयं जलाशयसे निकलकर सिंहासनपर आ विराजे। उसने फिर फेंका तो श्रीगोपालजी फिर आ गये। श्रीसोमजीको इसका कुछ भी रहस्य मालूम नहीं था। उसने पुनः तीसरी बार भी श्रीगोपालजीको चुराकर फेंकनेका निश्चय किया तो श्रीगोपालजीने स्वप्नमें भय दिया कि मैंने दो बारको तो तुम्हारा अपराध क्षमा कर दिया है, परंतु यदि तीसरी बार फिर वही कुकृत्य करोगे तो मैं क्षमा नहीं कर सकता। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीसोमजीकी शरण ग्रहण करो अन्यथा सर्वनाश हो जायगा। यह सुनकर वह गुरुभाई बहुत घबराया और तत्काल श्रीसोमजीके पास आकर अपनी समस्त काली करतूति कह सुनायी तथा क्षमा-याचना की। श्रीसोमजीने तो उसका कोई अपराध न तो जाना ही था, न माना ही था, फिर भी उसकी प्रार्थनापर उसे क्षमादान देते हुए सन्त-भगवन्त-सेवाका आदेश दिया।

श्रीभीमजी

ये श्रीरामजीकी उपासना करते थे। जूनागढ़के पास निवास-स्थान था। ***'राम ते अधिक राम कर दासा'***की भव्य भावनासे भावित होकर आप अत्यन्त अनुरागपूर्वक सन्तोंकी सेवा करते थे। एकबार इनकी सेवा-निष्ठाकी परीक्षाके लिये स्वयं भगवान् पाँच सन्तोंका वेष धारणकर इनके यहाँ पधारे। इन्होंने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। फिर हाथ जोड़कर पूछा कि 'मैं आप लोगोंका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' सन्तोंमेंसे एकने तो इनकी पत्नी माँगी, दो-ने दोनों पुत्रियोंको तथा अन्य दो-ने दोनों पुत्रोंको माँगा। इन्होंने सहर्ष सन्तोंको पत्नी, पुत्री तथा पुत्र प्रदान कर दिये। सन्तोंके चले जानेपर इनको तो बड़ा सन्तोष हुआ कि मेरे पूरे कुटुम्बको सन्तोंने स्वीकार कर लिया, परंतु पड़ोसियोंने इन्हें बहुत उल्टा-सीधा सुनाया। श्रीभीमजी शान्त चित्तसे सबकी व्यंग्य-बौछार सहते रहे। सन्तोंके प्रति इनके मनमें किंचित् भी दुर्भाव नहीं हुआ। परीक्षामें प्रथम श्रेणीसे उत्तीर्ण हुए। प्रातःकाल सबके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब सब लोगोंने श्रीभीमजीकी पत्नी तथा पुत्रोंको घरपर पूर्ववत् पाया। मानो कोई कहीं गया ही नहीं था। तब सबने आपकी महिमा जानी। चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगी। इस प्रसंगको सुनकर एक दुष्टने साधु वेष धारणकर इनकी पत्नीको माँग लिया। परंतु इनकी पत्नीको लेकर ज्यों ही वह अपने घरमें घुसा तो उसके घरमें सर्प-ही-सर्प भर गये। उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि श्रीभीमजीकी पत्नीके शरीरसे सर्प निकलकर मेरे घरमें भर रहे हैं। फिर तो वह उलटे पाँव श्रीभीमजीके पास लौट आया और उनकी पत्नी उनको सौंपते हुए पुनः-पुनः क्षमा-याचना की।

श्रीध्यानदासजी

आप सदा भगवद्ध्यानमें मग्न रहते थे। वाणीसे कभी भी असद्वाक्य नहीं बोलते थे। अतः इनके मुखसे जो भी वचन निकल जाता, वह सत्य होकर रहता। एक दिन एक वणिक् दम्पती इनकी शरणमें आये। वे रोकर अपना दुःखड़ा सुनाने लगे कि 'महाराज! न जाने किस पापसे मेरी सन्तान जन्मते ही मर जाती है। इससे हम लोग बहुत दुखी रहते हैं। ऐसी कृपा कीजिये जिसमें हम लोग इस दुःखसे मुक्त हो जायँ।'

श्रीध्यानदासजीने उपदेश दिया—'***कबहूँ असत न भाषिये, सेइअ अतिथि सप्रेम। इहाँ उहाँ लेहिं सकल सुख, सत सङ्गति करि प्रेम॥***' आपका उपदेश मानकर वणिक् दम्पती तदनुकूल आचरणपरायण हो गये। फलस्वरूप थोड़े ही दिनोंमें घरमें नाती-पोतोंका छगन-मगन छा गया।

श्रीमुकुन्दजी

ये श्रीप्रबोधानन्दजीके शिष्यके शिष्य थे। आपने बड़ा बढ़िया आश्रम बनवाया था। खूब सन्त-सेवा करते थे। एक बार एक सन्तने इनसे कहा—'मुकुन्द! तुम अपना आश्रम हमें दे दो और अपने लिये दूसरा आश्रम बनवा लेना।' इन्होंने सहर्ष वह आश्रम सन्तको दे दिया और स्वयं जंगलकी राह ली। वनपथमें एक राजाका घोड़ा सहसा मर गया था, जिससे उसे अत्यन्त दुःख था। इन्होंने कृपा करके राजाका घोड़ा जीवित कर दिया। इनकी महिमा जानकर राजाने इनके लिये पहलेसे बढ़िया आश्रम बनवा दिया और साथ ही सन्त-सेवाका प्रबन्ध भी कर दिया।

श्रीवृद्धव्यासजी

इनकी सद्गुरु एवं सन्तोंमें बड़ी निष्ठा थी। घरमें एक ब्याहयोग्य कन्या थी। उसके विवाहके लिये इन्होंने सामग्री एकत्र की थी। इसी बीच इन्हें पता चला कि श्रीगुरुदेवजीके यहाँ उत्सव मनाया जा रहा है, तो इन्होंने वह सब सामग्री श्रीगुरुदेवजीको अर्पित कर दी। इन्होंने यह परवाह नहीं की कि कन्याका विवाह कैसे होगा? भगवान्ने एक वैश्यको प्रेरणा की। वह विवाहका सब सामान इनके घर दे गया। कन्याका विवाह यथासमय सानन्द सम्पन्न हो गया।

श्रीजगनजी

आप बड़े गौ-सन्तसेवी थे। एक बार आपकी एक गायको चोर चुरा ले गये। गायोंकी सेवामें रहनेवाला आपका शिष्य बहुत दुखी हुआ कि अब श्रीठाकुरजीको दूधका भोग कैसे लगेगा? यही तो एक दूध देनेवाली गाय थी, वह भी चोरी चली गयी। फिर वह अपने गुरुदेव श्रीजगनजीपर नाराज होने लगा कि एक सन्त तो श्रीनामदेवजी थे, जिन्होंने मरी हुई गायको जीवित कर दिया था और एक आप हैं, जिन्होंने जीवितको भी गवाँ दिया। श्रीजगनजीने मुसकराकर कहा—'तुम मुझसे लड़ाई क्यों कर रहे हो? पहले गौशालामें जाकर तो देखो।' शिष्यने गौशालामें जाकर देखा तो गाय अपने स्थानपर बँधी मिली। श्रीगुरुदेवकी यह महिमा देखकर उसकी श्रद्धा श्रीगुरुचरणोंमें और भी अधिक हो गयी।

श्रीझाँझूदासजी

पयोहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजके प्रमुख शिष्योंमें एक संगीत-प्रवीण हेमानन्दजी महाराज थे। श्रीभक्तमालमें जिनका स्मरण श्रीनाभाजीने छ० ३९ में 'हेम' ऐसा संक्षिप्त नाम लिखकर किया है। इन्हींके कृपापात्र श्रीझाँझूदासजी थे। आपका जन्म चतुर्दश शताब्दीके उत्तरकालमें उमाड़ा नामक ग्राममें पण्डित चोखारामजीके घरमें हुआ था। आप खाण्डल विप्र जातिके बुढ़ाडरा गोत्रके थे। बाल्यकालसे ही झाँझूदासजीकी निष्ठा भगवद्भजनकी ओर विशेष रूपसे थी। पिताजीने विद्याध्ययन कराया, पर आप तो भगवान्के भजनमें ही तल्लीन रहा करते थे। आपने गुरु श्रीहेमानन्दजीसे उपदेश लेकर जयपुरसे पश्चिमकी ओर अरण्य प्रदेशमें एक तालाबके किनारे आश्रम बनाकर भगवान्का आराधन करना प्रारम्भ कर दिया। ईश्वरकी प्रेरणा बड़ी प्रबल होती है, झाँझूदासजीकी साधना दिनों-दिन बढ़ने लगी। भक्तिकी अन्तः प्रेरणासे भक्त-हृदयमें ईश्वर-दर्शनकी लालसा प्रबल रूपसे जाग उठी। अपने इष्टदेवके दिव्य स्वरूपके अवलोकनार्थ झाँझूदासजीने श्रीअयोध्यापुरीकी ओर प्रस्थान कर दिया। भगवान्का गुणानुवाद करते हुए वे भगवान् श्रीरामकी

क्रीडास्थली श्रीसरयूनदीके तटपर पहुँच गये। वहाँ जाकर बड़ी तल्लीनतासे भगवद्भजनमें संलग्न हो गये। जब भक्तकी आत्मा आकुल होकर भगवान्‌को पुकारती है, तब उन्हें दौड़कर आना ही पड़ता है। श्रीझाँझूदासजीको भक्ति-साधना करते कुछ काल व्यतीत हो गया।

एक बार रामघाटके ऊपर जब ये प्रबल साधनामें तल्लीन होकर दर्शनके लिये अत्यन्त व्याकुल हो गये, तब वहाँ प्रेम-सुधासागर भगवान् श्रीराघवेन्द्रने श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणजीसहित आपको दर्शन दिया। सन्तका हृदय उस मनमोहक दिव्य झाँकीसे परम आह्लादित हो उठा और ये तनकी सुधि-बुधि भूलकर कनकदण्डवत् भूमिपर गिर पड़े। तदनन्तर सावधान होनेपर भगवान्‌से गद्‌गद-कण्ठ होकर नित्य सेवाकी याचना करने लगे। प्रभुने सहज भावसे कहा—'कलियुगमें मेरा प्रकट होना ही दुःसाध्य है, परंतु तुम्हारी दृढ़ एवं अनन्य भक्तिको देखकर मुझे दर्शन देना पड़ा। नित्य सेवाके लिये तुमको सरयूमें विग्रह-रूपकी प्राप्ति होगी, उसे ले जाना और उसे स्थापितकर उसकी सेवा करना। श्रीझाँझूदासजीने अब प्रभुके दिव्यस्वरूपको बार-बार देखनेकी प्रार्थना की, तब प्रभुने कहा—'तुम्हारे उत्सवोंमें मैं नीलकण्ठ पक्षीके रूपमें आऊँगा। उसे मेरा ही स्वरूप समझना।'

इसके अनन्तर वह अलौकिक आभा अदृश्य हो गयी। श्रीझाँझूदासजी उस स्वरूपका चिन्तन करते हुए श्रीसरयूमें स्नान करने गये। वहाँ स्नान करते समय आपको श्रीराम, लक्ष्मण एवं श्रीजानकीके श्रीविग्रह सिंहासनासीन प्राप्त हुए। भगवान्‌की इस असीम अनुकम्पासे भक्तके हृदयमें परम प्रसन्नता हुई। श्रीझाँझूदासजीने सिंहासनको शिरोधार्य करके अपने स्थानकी ओर प्रस्थान किया। भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र होती है। संसारका प्रत्येक कार्य ईश्वरके इंगितमात्रसे होता रहता है। भक्त झाँझूदास जब अयोध्यापुरी गये थे, तब अपने स्थानपर एक सूखी डाली रोपकर यह निश्चय करके गये थे कि यदि यात्रासे लौटनेपर यह हरी मिलेगी, तब मैं अपनी यात्राको सफल समझूँगा और लीला-उत्सव मनाऊँगा। लौटनेपर वह सूखी डाली हरी लहलहाती हुई आपको वृक्षके रूपमें मिली। तब आपने बड़ी प्रसन्नतासे वहीं श्रीविग्रहकी स्थापनाकर विजयदशमीको लीला-उत्सव मनाया। इस उत्सवमें प्रातःकाल अपने पूर्वसंकेतानुसार भगवान् नीलकण्ठरूपमें दर्शन देनेके लिये आये। इस उत्सवको आप प्रतिवर्ष मनाते रहे। फिर वहाँ हरसौली नामक ग्राम बस गया, जो जयपुरसे पश्चिम ३२ मील फुलेरा तहसीलमें है।

श्रीझाँझूदासजीने अन्ततक वहीं रहकर भजन किया और अपने प्रभावसे लोगोंमें भक्तिका प्रचार-प्रसार करते रहे। वि० सं० १५४२ में आप साकेतधाम पधारे। आज भी विजयदशमीको उनके वंशधरोंके द्वारा उत्सव मनाया जाता है और उत्सवमें प्रातःकालके समय जागरणके स्थानपर भगवत्स्वरूप नीलकण्ठके दर्शन होते हैं। दर्शन पाकर ही जागरण-उत्सवकी समाप्ति होती है। इस प्रकार प्रतिवर्ष यह मेला अब भी लगता है और इनके द्वारा रचित भक्ति-उत्सव-सम्बन्धी पद गाये जाते हैं। आगे चलकर आपकी परम्परामें श्रीसियासखीजी एवं श्रीरूपसरसजी नामक प्रसिद्ध भक्त कवि हुए।

श्रीबाहुबलजी

आप श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवजीके प्रमुख शिष्योंमेंसे थे। आपका बाहुबल नाम पड़नेका कारण यह कहा जाता है कि एक बार एक राजापर उसके शत्रुओंने चढ़ाई कर दी। राजाने प्रथम तो शत्रुओंका डटकर मुकाबला किया, परंतु जब देखा कि शत्रु-सैन्य अति प्रबल है तो वह राजमहल छोड़कर, भागकर श्रीबाहुबलजीकी शरणमें चला गया। श्रीबाहुबलजीने भयभीत राजाको अभय प्रदान करते हुए अपने हाथके संकेतमात्रसे ही शत्रुदलको स्तम्भित कर दिया। विपक्षी दल इस प्रकारका चमत्कार देखकर

श्रीबाहुबलजीके चरणोंके पड़कर क्षमा माँगकर अपने स्थानको लौट गया। सन्त-कृपासे राजाका बाल भी बाँका नहीं हुआ। इससे प्रजासहित उसकी श्रीबाहुबलजीमें तथा सन्तमात्रमें अत्यन्त श्रद्धा हो गयी। बाहुके संकेतसे सेनाको जड़ीभूत करनेसे ही इसका नाम बाहुबल पड़ गया।

श्रीकपूरजी

आप बड़े दयालु हृदय सन्त थे। एक बार आपने एक सन्तके पाँवमें बिवाई फटी देखी तो उनसे पूछा—'महाराज! आप जूता क्यों नहीं पहनते?' सन्तने कहा—'मैंने एक दृढ़ नियम ले रखा है कि एक हजार सन्तोंको भोजन कराकर, तब पाँवमें जूता पहनूँगा। इसी फिराकमें मैं बहुत दिनोंसे घूम रहा हूँ। परंतु न तो हमारे पास इतना धन हुआ कि एक हजार सन्तोंको भोजन करा सकूँ और न मैंने जूता पहना। श्रीकपूरजीको दया आयी। उन्होंने अपने घरकी बहुत-सी सम्पत्ति बेचकर अकेले ही एक हजार सन्तोंके भोजनकी व्यवस्था कर दी। सन्तका नियम पूर्ण हुआ। उसी दिनसे वे अपने पाँवमें पदत्राण धारण करने लगे।

श्रीघाटमजी

श्रीघाटमजी जातिके मीणा थे। जयपुर-राज्यान्तर्गत खेड़ी ग्रामके निवासी थे। चोरी, डाका, लूट-पाट इनका पुश्तैनी पेशा था। एक बार ये जंगलमें किसीको लूटनेकी तलाशमें घूम रहे थे। संयोगसे एक महात्माका दर्शन हुआ। इन्होंने सहज भावसे प्रणाम किया तो सन्तने समीप आकर उपदेश दिया—'बेटा! यह चोरी-डाका अत्यन्त निन्द्य काम है। इसे तुम छोड़ दो। इससे लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।' इन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! यह तो हमारी जीविका है और वह भी आजसे नहीं मेरी कई पीढ़ियोंसे चली आ रही है, अतः यह तो हमसे छूट नहीं सकती।' हमारे पिताजीने भी कहा है—'बेटा! अपना पेशा छोड़ना नहीं। अतः आप और कुछ उपदेश दें, वह हम सहर्ष माननेके लिये तैयार हैं।' सन्तने कहा—'अच्छा, तो हमारी चार बातें यदि तुम मानोगे तो तुम्हारा अवश्य कल्याण हो जायगा। १-सत्य बोलना, २-साधु-सेवा करना, ३-भगवान्‌को अर्पण करके प्रसाद पाना, ४-भगवान्‌की आरतीका दर्शन करना।' श्रीघाटमजीने चारों बातें मान लीं। अब तो ये लूट-मारकर धन लाते तो प्रथम सन्तोंकी सेवा करते, फिर बचे-खुचे धनसे परिवारका पालन करते।

एकदिन सन्तोंकी जमात घरपर आयी। इन्होंने तुरंत उठकर सन्तोंको दण्डवत् प्रणाम किया, सबका आसन लगवाया। फिर घरमें सीधा-सामान लेने गये तो पता चला कि घरमें एक छटाँक भी अन्न नहीं है। इन्होंने गाँववालोंसे माँगा, परंतु किसीने नहीं दिया। तब चोरीका निश्चय किया। गाँवके बाहर लोगोंके खलिहान थे। ये गये और एककी राशिमेंसे पर्याप्त गेहूँ बाँधकर उठा लाये। सन्त-सेवा तो हो गयी, पर एक भय मनमें बना रहा कि यदि प्रातःकाल कोई पद-चिन्होंके आधारपर पता लगाना चाहेगा तो मेरी चोरी पकड़ जायगी। लेकिन भगवान्‌की इच्छासे थोड़ी ही देरमें बड़े जोरका आँधी-पानी आया। निशानका नामोनिशान नहीं रह गया। ये निश्चिन्त हो गये। सन्त-सेवामें और अधिक भाव हो गया।

ऐसे ही एक बार इनके श्रीगुरुदेवजीके यहाँ कोई उत्सव था। सुनकर इनका मन बहुत प्रसन्न हुआ। जीमें आया कि श्रीगुरुदेवजीकी सेवामें पहुँचना चाहिये। परंतु समस्या यह थी कि इनके पास पैसेके नामपर एक छदाम भी गाँठमें नहीं था। अतः इन्होंने पुनः चोरीका विचार किया। ये फौजी सिपाहीका भेष बनाकर एक राजाके अस्तबलमें घुसे। पहरेदारोंने टोका भी कि तुम कौन हो? तो इन्होंने गुरुकी बात यादकर सत्य ही कहा कि 'मैं चोर हूँ।' परंतु इनकी वेषभूषाको देखकर पहरेदारोंने इन्हें कोई फौजका सरदार समझा। इन्होंने निर्भय होकर अस्तबलमें प्रवेश किया और राजाकी सवारीका एक बढ़िया घोड़ा खोला और उसपर

आरूढ़ होकर सेनापतिकी भाँति बड़े शानसे बाहर निकले। किसीने कुछ भी नहीं कहा। कुछ दूर जानेपर इन्हें एक मन्दिरमें भगवान्‌की मंगला आरती होती दिखायी पड़ी। ये घोड़ेको एक पेड़से बाँधकर आरतीका दर्शन करने लगे। उधर जब सबेरा हुआ तो पता चला कि घोड़ा चोरी चला गया। अब पहरेदारोंको मालूम हुआ कि वह सचमुच चोर ही था। घोड़ेका पता लगानेके लिये घुड़सवार चारों दिशाओंमें दौड़े। पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँच गये, जहाँ घोड़ा बँधा था। देखनेपर मालूम हुआ कि घोड़ा तो वही है, परंतु रंग बदल गया है, श्यामसे श्वेत हो गया है। इतनेमें आरतीका दर्शन, स्तुति, दण्डवत्प्रणाम करके तथा चरणामृत लेकर श्रीघाटमजी बाहर आये। पूछनेपर पुनः इन्होंने सब बात सही-सही कह दी कि घोड़ा वही है और चुरानेवाला चोर मैं वही हूँ; परंतु श्रीहरिकृपासे घोड़ेका रंग वह नहीं रहा। भगवान्‌ने मेरी रक्षा करनेके लिये अभी-अभी घोड़ेका रंग बदल दिया है। यह देख-सुनकर राजाके घुड़सवार दंग रह गये। वे श्रीघाटमजीको भी साथ लेकर राजाके पास आये। श्रीघाटमजीकी सत्यवादिता और हरिकृपासे घोड़ेके रंगमें परिवर्तनसे राजा बड़ा प्रभावित हुआ। उसने श्रीघाटमजीके चरणोंमें पड़कर प्रणाम किया और श्रीगुरुसेवा एवं जीविकाके निमित्त बहुत-सा द्रव्य एवं भूमि भेंट की। श्रीघाटमजीकी श्रीगुरुवचनोंमें और अधिक आस्था हो गयी। ये सहर्ष श्रीगुरु-उत्सवमें सम्मिलित हुए और इन्होंने सदा-सर्वदाके लिये चोरी-डाका छोड़ दिया।

एक बार श्रीघाटमजीके मनमें इस बातकी बड़ी ग्लानि हुई कि मुझे इतने दिन श्रीगुरुदेवजीके बताये पथपर चलते हो गया, परंतु भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए, उस समय इन्होंने अत्यन्त आर्त होकर यह पद गाया—***'पहले तो मैं यूँ ही खाता अब तो न्हाकर खावाँ छाँ। गलमें माला, माथे तीलक थारे निमित लगावा छाँ॥ म्हाने तो एता करि दीना थाने कीना काईं। घाटमदास जाति कौ मीना तारोगे की नाईं।'*** इनके इस प्रेमभरे उपालम्भको सुनकर तत्काल भगवान् प्रकट हो गये। श्रीघाटमजी भगवान्‌का दर्शनकर निहाल हो गये। सत्संगके प्रभावसे श्रीघाटमजीके जीवनमें कैसा परिवर्तन हुआ, एक पदमें इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। यथा—

प्रथम यह विचारै आजु कहँ घात मारैं। अब यह उर धारैं साधुजन कब पधारैं॥
प्रथम वन फिराते लूटिकै माल खाते। अब जनन्ह कहँ बुलाते छीनिकै जूँठ खाते॥
तब फिरत नृप सिपाही हथकड़ी को पिन्हाऊँ। अब फिरत जन घनेरे पादरज सिर चढ़ाऊँ॥
कसि विविध गति दुरंगी तब रहे दुष्ट संगी। अब सुमति यों उमंगी ह्वै गये साधु संगी॥

श्रीघाटमजीका उपदेश—

जे नर रसना नाम उचारैं।
केतिक बात आपु तरिबेकी कोटि पतित निस्तारैं।
काम क्रोध मद लोभ तजैं अरु जीव दशा प्रतिपालैं।
बसुधा पर तीरथ हैं जेतिक तिनहूँके घट टालैं॥
मीना जाति जदपि कुल नीचो सतगुरु शब्द विचारैं।
घाटमदास रामको परिचै तीनहुँ लोक उधारैं॥

भक्तोंके पालक महन्त

देवानंद नरहर्‌यानंद मुकुंद महीपति संतराम तंमोरी।
खेम श्रीरंग नंद बिष्नु बीदा बाजू सुत जोरी॥

छीतम द्वारकादास माधव मांडन रूपा दामोदर।
भल नरहरि भगवान बाल कान्हर केसौ सोहैं धर॥
दास प्रयाग लोहंग गुपाल नागू सुत गृह भक्त भीर।
भक्तपाल दिग्गज भगत ए थानाइत सूर धीर॥ १००॥

ये स्थानाधिपति (महन्त) सन्त भक्तोंका पालन-पोषण करनेवाले, बड़े शूर, धीर तथा दिग्गज भक्त हुए। इनके नाम ये हैं—श्रीदेवानन्दजी, श्रीनरहरियानन्दजी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीमहीपतिजी, श्रीसन्तरामजी तमोली, श्रीखेमजी, श्रीरंगजी, श्रीनन्दजी, श्रीविष्णुजी, श्रीबीदाजी, श्रीबाजूजी तथा श्रीबाजूजीके दोनों पुत्र, श्रीछीतमजी, श्रीद्वारकादासजी, श्रीमाधवजी, श्रीमांडनजी, श्रीरूपाजी, श्रीदामोदरजी, परम साधु श्रीनरहरिजी, श्रीभगवानजी, श्रीबालजी, श्रीकान्हरजी, श्रीकेशवजी, श्रीप्रयागदासजी, श्रीलोहंगजी, श्रीगोपालजी, श्रीनागूजी एवं इनके पुत्र। ये भक्त अपने स्थानपर बड़े सुशोभित हुए। इनके यहाँ भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी॥ १००॥

इनमेंसे कुछ सन्तोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीदेवानन्दजी

श्रीदेवानन्दजी बड़े ही सन्तसेवी सद्गृहस्थ थे। आपके पास कोई स्थायी जगह-जमीन नहीं थी। अत: आकाशवृत्तिपर ही सन्त-सेवा आधारित थी। फलस्वरूप कभी तो खूब घुटती थी और कभी फाकेमस्ती भी होती। एक बार सन्तोंकी एक जमात आपके स्थानपर पधारी। धनके अभावमें आप एक वणिक्के यहाँ उधार सीधा-सामान लेने गये। वणिकने टका-सा जवाब दिया—'महाराज! नौ नगद न तेरह उधार। हमारे यहाँ उधारका खाता ही नहीं है।' तब ये श्रीठाकुरजीकी पूजाका पात्र वणिक्के यहाँ गिरवी रखकर सीधा-सामान लाये और सन्तसेवा की। श्रीदेवानन्दजीके मनमें इस बातका बड़ा क्षोभ था कि श्रीठाकुरजीकी सेवाका एक पार्षद कम हो गया। परंतु जब वे पूजामें गये तो सभी पार्षद वर्तमान पाये। जो पात्र वणिक्के यहाँ गिरवी रख आये थे, वह भी मौजूद मिला। तब तो श्रीप्रभुकृपा विचारकर बड़े हर्षित हुए। कुछ दिन बाद जब पैसा हाथमें आया तो उस वणिक्से जाकर बोले कि—'अपना पैसा ले लो और मेरे श्रीठाकुरजीकी सेवाका पात्र दे दो।' उस वणिक्ने सारा घर छान डाला, परंतु उसे पात्र नहीं मिला। तब तो वह घबड़ाया हुआ इनके चरणोंमें पड़कर बोला—'महाराज! पात्र तो मिल नहीं रहा है, उसके बदलेमें कुछ सीधा-सामान ले जाइये।' श्रीदेवानन्दजीने कहा—'भैया! वह तो श्रीठाकुरजीकी सेवाका पार्षद था, भला वह कहीं धनके बदलेमें मिल सकता है? इसके बदले तो अब तुमको ही पात्र बनना होगा।' वणिक्ने पूछा—'महाराज! मैं पात्र कैसे बन सकता हूँ?' आपने कहा—'आजसे तुम भी श्रीरामकी भक्ति करो और सन्तोंकी सेवा करो, तब पात्र बन सकते हो, अन्यथा दण्डके भागी बनोगे। वणिक् राजी हो गया। तब श्रीदेवानन्दजीने अपने स्थानसे वह पात्र ले जाकर उस वणिक्को दिखलाया कि देखो, वह पात्र यह है। श्रीठाकुरजी अपने पार्षदोंको अपनेसे पृथक् नहीं करते। इसी प्रकार यदि तुम भी पात्र बन जाओगे तो श्रीठाकुरजी तुम्हें भी सदा समीप रखेंगे। वणिक् भक्तिका यह चमत्कार देखकर तुरंत श्रीदेवानन्दजीका शिष्य हो गया।'

श्रीखेमजी

श्रीखेमजी जातिके वैश्य एवं जैन-मतावलम्बी थे। एक बार इन्होंने मन्दिरमें भगवान्की झाँकी देखी। वह झाँकी इनके हृदयमें गड़ गयी। बस, विवश होकर इन्हें वैष्णव होना पड़ा। अब तो रात-दिन ये भगवान्की सेवा-पूजा, कथा-वार्तामें ही अपना सारा समय बिताने लगे। सन्तोंको बुला-बुलाकर सेवा करते और कथा-

कीर्तन करवाते। इनकी यह रहनी इनकी जातिवालोंको अच्छी नहीं लगी। अतः सबने मिलकर पंचायत की और सौगन्ध दिलायी कि तुम यह सब सेवा-पूजा, कथा-कीर्तन छोड़कर अपने पुराने धर्मपर आरूढ़ हो जाओ। इन्होंने दो टूक जवाब दिया कि 'मैं अपने प्राण, धन, धामको छोड़ सकता हूँ, करोड़ों दण्ड और अपमान सहर्ष सह सकता हूँ, परंतु श्रीहरि और हरिजनोंको नहीं छोड़ सकता।' जब ये किसी भी प्रकार माननेको राजी नहीं हुए तो जैनियोंने राजासे जाकर इनकी शिकायत की। राजाने इनको कारागारमें बन्द कर दिया। इसी बीच घरपर सन्त पधारे। श्रीखेमजीकी पत्नीके द्वारा सब समाचार सुनकर सन्तोंको बड़ा दुःख हुआ। सभी सन्त भगवान्‌के सामने अनशन करके बैठ गये कि जबतक भक्तजी नहीं आयेंगे, तबतक हम लोग अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे। उधर श्रीखेमजीको भी सन्तोंके आगमन तथा अनशनका पता चला तो मनमें बहुत ही दुखी हुए। भला, जहाँ इतने सन्त-भक्त दुखी होंगे, वहाँ भगवान् कैसे सुखी रह सकते हैं? अतः प्रभुने अपनी लीलाका विस्तार किया। श्रीखेमजीकी हथकड़ी-बेड़ी अपने-आप टूट गयीं, कारागारके ताले टूट गये, फाटक खुल गये, पहरेदार सो गये। श्रीखेमजी सन्त-दर्शनके लिये अत्यन्त आतुर हो दौड़ पड़े, आकर सन्तोंके चरणोंमें लोट-पोट हो गये। सब सन्तोंने प्रसाद पाया। भक्तिका यह चमत्कार देखकर सभी विरोधी नतमस्तक हो गये। सबने श्रीखेमजीके चरणोंमें पड़कर क्षमा-याचना की और स्वयं भी सन्त-सेवाका व्रत लिया।

श्रीरूपाजी (श्रीरूपरसिकदेवाचार्यजी)

आप दक्षिण देशके रहनेवाले थे। जातिके ब्राह्मण थे तथा परिवार-पोषणके लिये खेती करते थे। सन्तसेवामें आपकी बड़ी निष्ठा थी। बहुत कालतक आपके यहाँ सन्तसेवा सुचारुरूपसे चलती रही। एक साल वर्षाके अभावमें खेतीमें अन्नकी उपज कुछ भी नहीं हुई। ऐसी स्थितिमें परिवारका ही भरण-पोषण कठिन हो जाता। फिर अतिथि-अभ्यागत, साधु-महात्माओंकी सेवा तो बहुत दूरकी बात! परंतु श्रीरूपाजी धैर्यपूर्वक परिवार-पोषणके साथ-साथ सन्तसेवा भी करते रहे। धीरे-धीरे घरके सभी बर्तन-आभूषण बिक गये। जरूरत पड़नेपर मकान भी बेच दिया। अन्तमें तो खेत भी बेच दिया, परंतु सन्तसेवापर आँच नहीं आने दी। लेकिन इतनेपर भी अकालका अन्त नहीं हुआ। फलस्वरूप घरमें उपवासकी स्थिति आ गयी। बाल-बच्चे भूखे मरने लगे। श्रीरूपाजी अन्नकी तलाशमें कहीं जा रहे थे। मार्गमें सन्त मिल गये तो उन्हें अनुनय-विनयकर घर लिवा लाये। ये तो सन्तोंके आनेसे बड़े प्रसन्न हो रहे थे, परंतु इनकी पत्नी घबड़ायी कि इतने सन्तोंका सत्कार कैसे होगा? इन्होंने पत्नीसे कहा कि 'यदि कोई आभूषण शेष हो तो दो, उसे बेचकर सन्तोंकी सेवामें लगा दूँ।' इन सन्तोंके आशीर्वादसे ही दुःखोंकी निवृत्ति होगी। पत्नीने झल्लाकर कहा—'यदि कोई आभूषण होता तो बच्चे क्यों भूखके कारण मारे-मारे फिरते?' श्रीरूपाजीने बड़े विश्वासपूर्वक कहा कि 'यदि तुमने कुछ छिपाया न होता तो विश्वम्भर भगवान् हमें कदापि भूखे नहीं रखते। उन्होंने निश्चय ही अबतक कोई-न-कोई उपाय कर दिया होता।' यह सुनकर पत्नी कुछ लज्जित-सी हुई और उसने अपनी नथ लाकर पतिको दी। श्रीरूपाजीने उसे ही बेचकर आज सन्तोंकी सेवा की। सन्तोंके पीछे सबने सीथप्रसादी पायी। उसी रातको भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा कि 'घरमें अमुक जगह अपार सम्पत्ति गड़ी पड़ी है, उसे खोदकर आनन्दपूर्वक सन्तसेवा करो।' श्रीरूपाजीने वह स्थान खोदा तो सचमुच इन्हें अपार धन प्राप्त हुआ। फिर तो बड़े आनन्दसे दिन बीतने लगे। सन्तोंके श्रीमुखसे श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीकी महिमा सुनकर आपने निश्चय किया कि मैं इन्हींसे मन्त्रदीक्षा लूँगा। अपने निश्चयके अनुसार आप अपने देशसे श्रीमथुरा-वृन्दावनके लिये चल पड़े। परंतु संयोगकी बात, जब आप मथुरा पहुँचे तो पता चला कि

श्रीहरिव्यासजी तो नित्य-निकुंजमें प्रवेश कर गये। इस दुःखद समाचारसे आपको मर्मान्तक पीड़ा हुई। आप मथुराके विश्रामघाटपर प्राण-त्यागका संकल्पकर जा बैठे। अन्तमें निष्ठाकी विजय हुई। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीने नित्यधामसे प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया। मन्त्रोपदेश देकर श्रीमहावाणीजीके अनुशीलनका आदेश दिया। श्रीगुरुदेवकी यह अलौकिक कृपा देखकर आप आनन्द-विभोर हो गये। तत्पश्चात् श्रीगुरुके आदेशानुसार आप आजीवन श्रीमहावाणीजीके मनन-चिन्तनमें रत रहते हुए इष्टाराधन करते रहे। श्रीरूपरसिकजीने आराधनसम्बन्धी बहुतसे ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी रचना बड़ी ही सरस है। यथा—

नैना प्रकृति गही यह न्यारी।
जाचत जे लै श्याम सरूपहिं बन-बन बिकल महारी॥
अटके नेक न रहे लालची सीख दये सब हारी।
रूपरसिक दरसै मनमोहन तबही होय सुखारी॥

भगवद्भजनपरायण सन्त

केसव पुनि हरिनाथ भीम खेता गोबिंद ब्रह्मचारी।
बालकृष्ण बड़ भरथ अच्युत अपया ब्रतधारी॥
पंडा गोपीनाथ मुकुँद गजपती महाजस।
गुननिधि जसगोपाल देइ भक्तनि को सरबस॥
श्रीअंग सदा सानिधि रहैं (कृत) पुन्य पुंज भल भाग भर।
बद्रिनाथ उड़ीसे द्वारका सेवक सब हरि भजन पर॥ १०१॥

श्रीबदरिकाश्रम, उड़ीसा (श्रीजगन्नाथपुरी), श्रीद्वारिकापुरी—इन भगवद्धामोंमें भगवान् श्रीनरनारायण, श्रीजगन्नाथभगवान् और श्रीभगवान् (द्वारकाधीश)-के सभी सेवक बड़े ही भगवद्भजनपरायण हुए। इनके नाम ये हैं—श्रीकेशवजी, श्रीहरिनाथजी, श्रीभीमजी, श्रीखेताजी, ब्रह्मचारी श्रीगोविन्दजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीबड़भरतजी, श्रीअच्युतजी, श्रीअपयाजी, पण्डा श्रीगोपीनाथजी, श्रीमुकुन्दजी, महायशस्वी श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी (पुरीनरेश), श्रीगुणनिधिजी और श्रीजसगोपालजी। ये सभी भक्त सन्त-भगवन्त-सेवाका व्रत धारण करनेवाले, परम यशस्वी तथा भक्तोंको अपना सर्वस्व समर्पण करनेवाले हुए। ये सदा भगवान्‌के श्रीअंगके समीप रहते थे। इन्होंने पूर्वजन्ममें महान् सुकृत किया था। ये बड़े सौभाग्यशाली थे॥ १०१॥

इनमेंसे कुछ सन्तोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीरुद्रप्रतापजी गजपति

पुरीनरेश श्रीरुद्रप्रतापजी परम भागवत राजा हुए। श्रीजगन्नाथभगवान्‌में इनकी परम निष्ठा थी। भगवान्‌की सेवाकी समस्त व्यवस्था इनके ही द्वारा होती थी। इनकी भक्तिकी सराहना करते हुए सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी कहते हैं कि—*जगन्नाथे एकराजा किंतु भक्तोत्तम॥* (चै० च०) अर्थात् श्रीरुद्रप्रतापजी यद्यपि राजा हैं, परंतु श्रीजगन्नाथभगवान्‌के सेवक हैं और भक्तोंमें श्रेष्ठ भक्त हैं। राजा रुद्रप्रतापजीकी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि मैं श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दर्शन करूँ। इसके निमित्त उन्होंने सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजीसे सिफारिश की कि मुझे जैसे हो तैसे श्रीमहाप्रभुजीका दर्शन करा दीजिये। श्रीसार्वभौमजीने श्रीमहाप्रभुजीसे निवेदन भी किया। परंतु श्रीमहाप्रभुजीने दो टूक जवाब दे दिया कि

संन्यासीको रजोगुणी राजा-महाराजाओंसे मिलना उचित नहीं है। श्रीसार्वभौमजीने राजाको जब यह प्रभु-वचन सुनाया तो प्रथम तो राजाके मनमें बड़ा खेद हुआ कि मैं श्रीमहाप्रभुजीके दर्शनका अधिकारी नहीं हूँ। तत्पश्चात् उन्होंने प्रण किया कि 'यदि श्रीमहाप्रभुजीका मुझे दर्शन नहीं होगा तो मैं इस शरीरको ही त्याग दूँगा।' इनके इस दृढ़ निश्चयको देखकर श्रीसार्वभौमजीने धैर्य बँधाया कि आप जैसे निष्ठावान्के ऊपर श्रीमहाप्रभुजी अवश्य अनुग्रह करेंगे।

कुछ दिन बाद राजाने पुनः श्रीरायरामानन्दजीसे श्रीप्रभुका दर्शन करानेकी प्रार्थना की। अधिकारी जानकर श्रीरायरामानन्दजीने भी श्रीमहाप्रभुजीसे राजाकी प्रीतिकी सराहना करते हुए दर्शन देनेका अनुरोध किया। तब श्रीमहाप्रभुजीने कहा—'राय! तुम श्रीकृष्णके प्रधान भक्त हो। तुम्हारेमें राजाकी इतनी प्रीति है, इसी गुणसे श्रीकृष्ण उसे अवश्य अंगीकार करेंगे।' श्रीरायरामानन्दजीके इस सन्देशसे राजाको कुछ आश्वासन मिला। फिर राजाने श्रीमहाप्रभुजीके समस्त परिकरोंसे प्रार्थना की कि वे जैसे हो तैसे मुझे श्रीमहाप्रभुजीके दर्शन करायें। सब परिकर मिलकर श्रीमहाप्रभुजीके पास गये। परंतु बोलनेका साहस किसीको नहीं हुआ। तब श्रीमन्नित्यानन्द महाप्रभुजीने साहस करके श्रीमहाप्रभुजीसे निवेदन किया कि 'यदि आप राजा रुद्रप्रतापके ऊपर कृपा नहीं करेंगे तो वे राज-पाट छोड़कर संन्यासी हो जायँगे और देह भी त्याग देंगे।' परंतु तब भी श्रीमहाप्रभुजीने कुछ अनुकूल उत्तर नहीं दिया। तब श्रीनित्यानन्दजीने प्रार्थना की कि 'आप अपना एक कटिवस्त्र भी कृपा करके राजाको प्रदान कर दें तो वह उसे पाकर आपके चरण-दर्शनकी आशा रखते हुए प्राण-धारण कर सकेंगे।' कृपामयकी कृपा हो गयी। राजाको श्रीप्रभुका अमूल्य कटिवस्त्र प्राप्त हो गया। उस वस्त्रको पाकर राजाका मन प्रसन्न हो गया और वे उस वस्त्रकी प्रभुके समान पूजा करने लगे।

कुछ दिन बाद राजाने पुनः श्रीरायरामानन्दजीसे श्रीप्रभुदर्शन करानेकी प्रार्थना की। रायरामानन्दजीने सुअवसर देखकर श्रीप्रभुके समक्ष राजाकी वार्ता चलायी। परंतु श्रीप्रभु अब भी राजासे मिलनेको राजी नहीं हुए। रायरामानन्दजीका विशेष आग्रह देखकर श्रीमहाप्रभुने कहा—'यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो मुझे रुद्रप्रतापके लड़केको लाकर मिला दो। पुत्र पिताकी आत्मा ही होता है, अतः पुत्रके मिलनेसे मानो उसका अपना मिलन हो जायगा।' रायरामानन्दजीने ऐसा ही किया। राजाके पुत्रको देखते ही श्रीमहाप्रभुजीको श्रीकृष्णकी स्मृति हो आयी। उन्होंने राजपुत्रका गाढ़ालिंगन किया। श्रीमहाप्रभुजीका आलिंगन पाते ही राजकुमारको प्रेमावेश हो गया। शरीरमें एक साथ प्रेमके सात्त्विक भाव-अनुभावादिकोंका संचार हो गया और वह 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर नाचने लगा। उसकी आँखोंसे अविरल अश्रु-प्रवाह चलने लगा। श्रीमहाप्रभुजीने राजपुत्रसे नित्य मिलनेके लिये आनेको कहा। फिर रायरामानन्दजी राजपुत्रको लेकर राजाके पास आये। राजाने अपने पुत्रका आलिंगन किया तो स्वयं भी उसी प्रेमदशाको प्राप्त हो गये। मानो इन्होंने साक्षात् श्रीमहाप्रभुजीका आलिंगन किया हो। अब राजाको विश्वास हो गया कि मुझे अवश्य श्रीमहाप्रभुजीके दर्शन होंगे।

रथयात्राका समय था। श्रीमहाप्रभुजी अपने परिकरोंसहित श्रीजगन्नाथभगवान्की रथयात्राका दर्शन करनेके लिये वहाँ उपस्थित थे। पुरीनरेश महाराज रुद्रप्रतापजी स्वर्ण मार्जनी लेकर भगवान्के सामनेका रास्ता बुहार रहे थे एवं चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव कर रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी राजाकी यह सेवा देखकर बहुत सुखी हुए। इसी सेवाके कारण राजाको श्रीमहाप्रभुजीकी कृपा प्राप्त हो गयी। श्रीजगन्नाथ भगवान्का रथ चला। प्रेमपुरुषोत्तम श्रीगौरांग महाप्रभुजी अपने परिकरोंसहित रथके आगे कीर्तन करते हुए चल रहे थे। श्रीमहाप्रभुजीका प्रेमोन्मत्त होकर उद्दाम नृत्यपूर्वक संकीर्तन करना सबके मनको आकर्षित कर रहा था। राजा

रुद्रप्रतापजी उस समयका श्रीप्रभुका प्रेमावेश देखकर विस्मित हो रहे थे। इतनेमें श्रीमहाप्रभुजी नृत्य करते-करते प्रेमावेशमें पछाड़ खाकर राजा रुद्रप्रतापके आगे गिरने लगे। प्रभुको गिरता हुआ देखकर राजाने उन्हें अतिशीघ्र अपनी बलिष्ठ भुजाओंसे पकड़ लिया। राजाका स्पर्श होते ही प्रभु सावधान हो गये और कहने लगे—'छिः! छिः! मुझे तो रजोगुणीका स्पर्श हो गया। धिक्कार है मुझको।' प्रभुके वचन सुनकर राजा भयभीत हो गये। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजीने इन्हें समझाया कि 'आप चिन्ता न करें, यह तो श्रीप्रभुने अपने भक्तोंको शिक्षा देनेके लिये कहा है। आपपर तो श्रीप्रभुकी शीघ्र कृपा होनेवाली है।'

बलगण्डि नामक स्थानपर पहुँचकर श्रीजगन्नाथभगवान्‌का रथ रुका। वहाँ भगवान्‌को बहुत व्यंजनोंका भोग लगता है। भक्तलोग भगवान्‌को भोग लगाने लगे। भोगके समय वहाँ बहुत भीड़ हो गयी, अतः श्रीमहाप्रभुजी अपनी मण्डलीके सहित पासके बगीचेमें चले गये। सभी भक्त वृक्षके नीचे विश्राम करने लगे। श्रीमहाप्रभुजी भी एक एकान्त स्थलपर प्रेमावेशमें नेत्र बन्द किये हुए शयन कर रहे थे। इतनेमें राजा रुद्रप्रतापजी श्रीसार्वभौमजीकी बतायी हुई विधिके अनुसार राजवेष छोड़कर, वैष्णववेष धारणकर अर्थात् गलेमें तुलसीकी माला, ललाटपर तिलक, बाहुओंमें शंख-चक्रादि चिह्न, कटिमें साधारण वस्त्र धारण किये हुए वहाँ आये और श्रीप्रभुके चरण दबाने लगे। चरण-सेवा करते समय राजा रासपंचाध्यायीके 'गोपीगीत' के श्लोकोंका सुमधुर स्वरसे गान करने लगे। जब राजाने—**'तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्। श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥'**—यह श्लोक गाया तो उसे सुनकर श्रीमहाप्रभुजी बड़े सुखी हुए और प्रेमावेशमें उठकर राजाका आलिंगन कर लिया और बोले—'तुमने मुझे बहुत अमूल्य रत्न दिये हैं। मेरे पास और देनेको नहीं है, इसलिये मैं तुम्हें आलिंगन ही देता हूँ।' फिर श्रीप्रभुने उसी प्रेमावेशमें पूछा—'मेरा परमहित करनेवाले तुम कौन हो?' राजाने कहा—'प्रभो! मैं आपके दासोंका एक क्षुद्र दास हूँ। आप मुझे अपने दासोंका दास कर लीजिये।' तब श्रीमहाप्रभुजीने राजाको अपना ऐश्वर्य दिखलाया और कहा कि इसे कहीं प्रकट नहीं करना। राजा रुद्रप्रतापके सौभाग्यको देखकर समस्त भक्त आनन्दित मन होकर प्रशंसा करने लगे। राजा प्रभुको दण्डवत् करके बाहर चले आये और हाथ-जोड़कर उन्होंने सभी भक्तोंको भी प्रणाम किया।

श्रीप्रियादासजीने गौरांग महाप्रभुके प्रति राजा श्रीरुद्रप्रतापजीके इस भावका इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रीप्रतापरुद्र गजपति कै बखान कियौ लियौ भक्तिभाव महाप्रभु पै न देखहीं।
किये हूँ उपाय कोटि ओटि लै संन्यास लियौ हियौ अकुलायौ अहो किहूँ मोकों पेखहीं॥
जगन्नाथ रथ आगे नृत्य करैं मत्त भये नीलाचल नृप पाँय पर्‌यो भाग लेखहीं।
छाती सों लगायौ प्रेमसागर बुड़ायौ भयौ अति मन भायौ दुख देत ये निमेखहीं॥ ४०९॥

श्रीहरिनाथजी

ये दक्षिण देशके रहनेवाले थे। घर धन-सम्पत्तिसे भरा-पूरा था। भगवत्-भागवत-परिचर्या ही इनकी प्रमुख साधना थी। एक बार स्वप्नमें भगवान् श्रीनरनारायणने इनको आदेश दिया कि सब कुछ छोड़कर मेरी सेवामें आ जाओ। इन्होंने भगवदादेश शिरोधार्यकर दूसरे दिन प्रातःकाल ही सर्वस्व त्यागकर श्रीबदरिकाश्रमके लिये प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान्‌की सेवामें लग गये। इनकी सेवासे रीझकर भगवान्‌ने इन्हें निज अंग-सेवामें रख लिया।

श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजी

ये बड़े उदारमना, परोपकारी सन्त थे। एक बार एक भक्तको सभी मन्दिरोंमें दर्शन करते हुए तथा आँसू बहाते हुए देखकर इन्होंने दुःखका कारण पूछा तो उसने बताया कि 'मैं घरसे भगवत्सेवा एवं सन्त-सेवाके निमित्त बीस स्वर्ण-मुद्राएँ लेकर चला था। रास्तेमें एक जगह विश्राम कर रहा था। वहीं मेरी सभी मुहरें किसीने चुरा लीं। मेरे मनका मनोरथ नहीं पूर्ण हो सका। इस बातका मुझे बड़ा दुःख है।' इन्होंने कहा—'तुम शोक मत करो, जितना धन चाहो, मुझसे लेकर अपना मनोरथ पूर्ण कर लो।' भक्तका हृदय प्रसन्नतासे खिल उठा। उसने श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजीसे द्रव्य लेकर अपने मनके अनुसार भगवान्‌को भेंट चढ़ाया और सन्तोंका भोज-भण्डारा किया। उसी रात भगवान्‌ने श्रीगोविन्दजीको स्वप्नमें बताया कि 'भक्तकी मुहरें अमुकने चुरायी हैं।' तब इन्होंने चोरको एकान्तमें बुलाया और विविध प्रकारसे उपदेश दिया। चोरने सब मुहरें लाकर वापस कर दीं और स्वयं भी चोरी छोड़कर भक्त बन गया।

भक्त कविगण

बिद्यापति ब्रह्मदास बहोरन चतुरबिहारी।
गोबिंद गंगा रामलाल बरसानियाँ मंगलकारी॥
प्रियदयाल परसराम भक्त भाई खाटी को।
नंदसुवन की छाप कबित केसव को नीको॥
आसकरन पूरन नृपति भीषम जन दयाल गुन नहिन पार।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत मैं ये कविजन अतिसय उदार॥ १०२॥

श्रीहरिके सुन्दर यशका जगत्‌में प्रचार करनेवाले ये कविजन अत्यन्त उदार हुए। इनके नाम ये हैं—श्रीविद्यापतिजी, श्रीब्रह्मदासजी, श्रीबहोरनजी, श्रीचतुर कवि श्रीविहारीजी, श्रीगोविन्दस्वामीजी, श्रीगंगारामजी, जगत्‌का कल्याण करनेवाले बरसाना-निवासी श्रीरामलालजी, श्रीप्रियदयालजी, श्रीपरशुरामजी, श्रीभक्त भाईजी, श्रीखाटीकजी, श्रीकेशवाचार्यजी, जो अपनी कवितामें 'नन्दसुवन' की छाप लगाते थे तथा जिनकी कविता बड़ी ही अच्छी होती थी। श्रीआशकरनजी, राजा पूर्णजी, श्रीभीष्मजी, श्रीजनदयालजी—इन सुकवियोंके सद्‌गुणोंका पार नहीं है॥ १०२॥

इनमेंसे कतिपय भक्त सुकवियोंका परिचय संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीगोविन्दस्वामीजी

श्रीगोविन्ददासजीका जन्म व्रजके निकट आँतरी ग्राममें सं० १५६२ वि०में हुआ था। वे ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थासे ही उनमें वैराग्य और भक्तिके अंकुर प्रस्फुटित हो रहे थे। कुछ दिनोंतक गृहस्थाश्रमका उपभोग करनेपर उन्होंने घर छोड़ दिया, वैराग्य ले लिया। महावनमें जाकर भगवान्‌के भजन और कीर्तनमें समयका सदुपयोग करने लगे। महावनके टीलेपर बैठकर शास्त्रोक्त विधिसे कीर्तन करते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक फैल गयी। वे गानविद्याके आचार्य थे। काव्य एवं संगीतका पूर्ण रूपसे उन्हें ज्ञान था। गोसाईं विट्ठलनाथजी उनकी भक्ति-निष्ठा और संगीत-माधुरीसे परिचित थे। यद्यपि दोनोंका साक्षात्कार नहीं हुआ था, तो भी दोनों एक-दूसरेकी ओर आकृष्ट थे। गोविन्दस्वामीने श्रीविट्ठलनाथजीसे सं० १५९२ वि० में गोकुल आकर ब्रह्मसम्बन्ध ले लिया। उनके परम कृपापात्र और भक्त हो गये। गोसाईंजीने कर्म और भक्तिका तात्त्विक

विवेचन किया। उनकी कृपासे वे गोविन्दस्वामीसे गोविन्ददास हो गये। उन्होंने गोवर्धनको ही अपना स्थायी निवास स्थिर किया। गोवर्धनके निकट कदम्ब वृक्षोंकी एक मनोरम वाटिकामें वे रहने लगे। वह स्थान 'गोविन्ददासकी कदमखण्डी' नामसे प्रसिद्ध है। वे सरस पदोंकी रचना करके श्रीनाथजीकी सेवा करते थे। व्रजके प्रति उनका दृढ़ अनुराग और प्रगाढ़ आसक्ति थी। उन्होंने व्रजकी महिमाका बड़े सुन्दर ढंगसे बखान किया है। वे कहते हैं—'वैकुण्ठ जाकर क्या होगा, न तो वहाँ कलिन्दगिरिनन्दिनीतटको चूमनेवाली सलोनी लतिकाओंकी शीतल और मनोरम छाया है, न भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर वंशीध्वनिकी रसालता है; न तो वहाँ नन्द-यशोदा हैं और न उनके चिदानन्दघनमूर्ति श्यामसुन्दर हैं; न तो वहाँ व्रजरज है, न प्रेमोन्मत्त राधारानीके चरणारविन्द-मकरन्दका रसास्वादन है।'

गोविन्ददास स्वरचित पदोंको श्रीनाथजीके सम्मुख गाया करते थे। भक्तिपक्षमें उन्होंने दैन्य-भाव कभी नहीं स्वीकार किया। जिनके मित्र अखिल लोकपति साक्षात् नन्दनन्दन हों, दैन्य भला उनका स्पर्श ही किस तरह कर सकता है। गोविन्ददासका तो स्वाभिमान भगवान्की सख्य-निधिमें संरक्षित और पूर्ण सुरक्षित था। गोसाईं विट्ठलनाथने उन्हें कवीश्वरकी संज्ञासे समलंकृतकर अष्टछापमें सम्मिलित किया था। संगीत-सम्राट् तानसेन उनकी संगीत-माधुरीका आस्वादन करनेके लिये कभी-कभी उनसे मिलने आया करते थे।

एक समय आँतरी ग्रामसे कुछ परिचित व्यक्ति उनसे मिलने आये, वे यशोदाघाटपर स्नान कर रहे थे। उन्होंने गाँववालोंको पहचान लिया; पर वे नहीं जान सके कि गोविन्दस्वामी वे ही हैं। उन्होंने गोविन्ददाससे पूछा कि 'गोविन्दस्वामी कहाँ हैं?' गोविन्ददासने कहा—'वे तो मरकर गोविन्ददास हो गये।' आपका तात्पर्य था कि अब मुझमें स्वामीभाव नहीं रहा, मैं तो अब श्रीनाथजीका सेवकमात्र हूँ। गाँववालोंने उनके चरणका स्पर्श किया, उनके पवित्र दर्शनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की।

एक दिन गोविन्ददास यशोदाघाटपर बैठकर बड़े प्रेमसे भैरव राग गा रहे थे। प्रातःकालके शीतल शान्त वातावरणमें चराचर जीव तन्मय होकर भगवान्की कीर्तिमाधुरीका पान कर रहे थे। बहुतसे यात्री एकत्र हो गये। भक्त भगवान्को रिझानेमें निमग्न थे। वे गा रहे थे—

आओ मेरे गोविन्द, गोकुल चंदा।
भइ बड़ि बार खेलत जमुना तट, बदन दिखाय देहु आनंदा॥
गायन कीं आवन की बिरियाँ, दिन मनि किरन होति अति मंदा।
आप तात मात छतियाँ लगे, 'गोबिंद' प्रभु ब्रज जन सुख कंदा॥

भक्तके हृदयके वात्सल्यने भैरव रागका माधुर्य बढ़ा दिया। श्रोताओंमें बादशाह अकबर भी प्रच्छन्न वेषमें उपस्थित थे। उनके मुखसे अनायास 'वाह-वाह' की ध्वनि निकल पड़ी। गोविन्ददास पश्चात्ताप करने लगे और उन्होंने उसी दिनसे श्रीनाथजीके सामने भैरव राग गाना छोड़ दिया! शब्दसे उन्होंने अकबरको पहचान लिया था। उन्हें लगा कि जिस रागका आस्वादन किसी सामान्य मनुष्यने कर लिया, वह तो उच्छिष्ट हो गया। अब उस रागका भोग मैं अपने इष्ट देवताको कैसे लगाऊँ? उनके हृदयमें अपने प्राणेश्वर प्रेमदेवता व्रजचन्द्रके लिये कितनी पवित्र निष्ठा थी!

गोविन्ददासजीकी भक्ति सख्य-भावकी थी, वल्लभ-सम्प्रदायमें उन्हें श्रीदामा सखाका अवतार माना जाता है। श्रीनाथजी साक्षात् प्रकट होकर उनके साथ खेला करते थे, बाल-लीलाएँ किया करते थे। गोविन्ददास सिद्ध महात्मा और उच्च कोटिके भक्त थे। एक बार रासेश्वर नन्दनन्दन उनके साथ खेल रहे थे, कौतुकवश गोविन्ददासने श्रीनाथजीको कंकड़ मारा। गोसाईं विट्ठलनाथजीसे पुजारीने शिकायत की,

गोविन्ददासने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया कि आपके लालाने तो तीन कंकड़ मारे थे। श्रीविट्ठलने उनके सौभाग्यकी सराहना की।

भक्तोंकी लीलाएँ बड़ी विचित्र होती हैं। उनको समझनेके लिये प्रेमपूर्ण हृदय चाहिये। एक बार गोविन्ददासजी श्रीनाथजीके साथ गुल्ली खेल रहे थे, राजभोगका समय हो रहा था, भगवान् बिना दाँव दिये ही मन्दिरमें चले गये। गोविन्ददासने पीछा किया, श्रीनाथजीको गुल्ली मारी। प्रेमराज्यमें रमण करनेवाले सखाकी भावना मुखिया और पुजारियोंकी समझमें न आयी, उन्होंने उनको तिरस्कारपूर्वक मन्दिरसे बाहर निकाल दिया। गोविन्ददास रास्तेपर बैठ गये; उन्होंने सोचा कि श्रीनाथजी इसी मार्गसे जायँगे, बदला लेनेमें सुविधा होगी। उधर भगवान्के सामने राजभोग रखा गया। मित्र रूठकर चले गये, विश्वपतिके दरवाजेसे अपमानित होकर गये थे। भोगकी थाली पड़ी रह गयी, भोग अस्वीकार हो गया। सखा भूखे हों, रूठे हों और भगवान् भोग स्वीकार करें? असम्भव बात थी। मन्दिरमें हाहाकार मच गया, व्रजके रँगीले ठाकुर रूठ गये, उन्हें तो उनके सखा ही मना पायेंगे। विट्ठलनाथजीने गोविन्ददासकी बड़ी मनौती की, वे उनके साथ मन्दिर आ गये। भगवान्ने राजभोग स्वीकार किया, गोविन्ददासने भोजन किया, मित्रता भगवान्के पवित्र यशसे धन्य हो गयी।

श्रीप्रियादासजी महाराज भगवान्की इस लीलाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

गोवर्धन नाथ साथ खेलैं सदा झेलैं रंग अंग सख्य भाव हिये गोविन्द सुनाम है।
स्वामी करि ख्यात ताकी बात सुनि लीजे नीके सुने सरसात नैन रति अभिराम है॥
खेलत हो लाल संग गयौ लौट दाव लैकै मारी खैंचि गिल्ली देखि मन्दिर मैं स्याम है।
मानि अपराध साधु धक्का दै निकारि दियौ मति सो अगाध कैसे जाने वह बाम है॥ ४१०॥
बैठ्यौ कुण्ड तीर जाय निकसैगो आय बन दिये हैं लगाय ताको फल भुगताइयै।
लाल हिय सोच पर्‍यौ, कैसे भर्‍यौ जात वह अर्‍यौ मग माँझ भोग धर्‍यौ पै न खाइयै॥
कही श्रीगुसाईंजी कौं, मोकों ये न भाई कछू चाहौ जो खवावौ तोपै वाकों जा मनाइयै।
वाको हुतो दांव मोपै, सो तौ भाव जान्यो नहीं कही मोसों बातैंसो कुमारै बेगि ल्याइयै॥ ४११॥
बन बन खेले बिन बनत न मोकौं नेकु भनत जु गारी अनगनत लगावैगो।
सुधि बुधि मेरी गई भई बड़ी चिन्ता मोहिं ल्याइये जू ढूँढ़ि कहूँ चैन ढिंग आवैगो॥
भोग जे लगाये मैं तो तनक न पाये रिस वाकी जब जाये तव मोहूँ कछु भावैगो।
चले उठि धाये नीठ नीठकै मनाय ल्याये मन्दिरमें खाय मिल कही गरे लावैगो॥ ४१२॥

एक दिन गोविन्दसखा शौचके लिये बाहर जंगलमें गये हुए थे। प्रेममें झूमते हुए श्रीकृष्ण भी वहाँ आ गये। वे गोविन्दको मंदारके फलोंसे मारने लगे। इन्होंने भी जब श्रीकृष्णको देखा तो उठकर उन्हीं फलोंसे उनको भी मारा। इस प्रकार श्रीकृष्ण और गोविन्दसखाके बीच अपार कौतुक हुए। उधर जब बहुत देर हो गयी और ये घर नहीं गये, तब इनकी माता भी वहाँ आयीं। उन्हें देखकर श्रीठाकुरजी गोविन्दकी ओटमें छिप गये, इसी बहानेसे गोविन्दकी मारसे बच गये। गोविन्दको देखकर मैयाने कहा—'अरे ओट पाई (उपद्रवी)! तूने इतनी देर कहाँ लगायी?' गोविन्द बिना कुछ बोले मैयाके संग चल पड़े। फिर थोड़ी देर बाद विचार आया कि मैं तो शौच करने बैठा था, परंतु शुद्धि तो की नहीं, तो तुरंत इन्होंने नियमानुसार शरीरकी शुद्धिरूप सदाचार किया। श्रीगोविन्दसखाका श्रीठाकुरजीमें प्रगाढ़ प्रेम था। अतः श्रीठाकुरजीके साथ खेलते समय ये प्रायः लौकिक सदाचार करना भूल ही जाया करते थे।

श्रीप्रियादासजी महाराज इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

गये हे बहिरभूमि तहाँ कृष्ण आये झूमि करी बड़ी धूम आक बोड़िन सौं मारि कै।
इनहूँ निहारि उठि मारि दई वाहीं सों जु कौतुक अपार सख्य भाव रससारि कै॥
माता मग चाहै, बड़ी बेर भई आई तहाँ कहाँ बार लाई ओट पाई उरधारि कै।
आयौ यों विचार अनुसार सदाचार कियौ लियो प्रेम गाढ़ कभूं करत सँभारिकै॥ ४१३॥

एक बार पुजारी श्रीनाथजीके लिये राजभोगकी थाली ले जा रहा था; गोविन्ददासने कहा कि पहले मुझे खिला दो, फिर मन्दिरमें ले जाना। यह सुनकर पुजारीको बड़ा क्रोध हुआ। उसने यह बात गोसाईंजीसे कही। गोसाईंजीके पूछनेपर गोविन्ददासने सख्यभावके आवेशमें कहा कि 'आपके लाला खा-पीकर मुझसे पहले ही गाय चराने निकल जाते हैं, मुझे बादमें भोजन मिलता है, इसलिये मैं बादमें जाता हूँ तो मुझे इन्हें ढूँढ़ना पड़ता है।' इनका सख्यभाव देखकर गोसाईंजीने यह व्यवस्था कर दी कि राजभोगके साथ-ही-साथ गोविन्ददासको भी खिला दिया जाय।

गोविन्ददासके इस सख्यभावका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आवत हो भोग महासुन्दर समुन्दिर कौ रह्यौ मग बैठि, कही, आगे मोहिं दीजियै।
भयौ कोप भार, थार डारि, जा पुकार करीं, भरी न अनीति जात सेवा यह लीजियै॥
बोलिकै सुनाई, अहो कहा मन आई ? तब बोलिकै बताई अजू बात कान कीजियै।
पहिले जु खाय बनमांझ उठि जाय, पाछे पाऊँ कहाँ धाय सुनि मति रस भीजियै॥ ४१४॥

भगवान्‌को जो जिस भावसे चाहते हैं, वे उसी भावसे उनके वशमें हो जाते हैं। एक समय गोविन्ददासको श्रीनाथजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया। वे श्यामढाकपर बैठकर वंशी बजा रहे थे। इधर मन्दिरमें उत्थापनका समय हो गया था। गोसाईंजी स्नान करके मन्दिरमें पहुँच गये थे। श्रीनाथजी उतावलीमें वृक्षसे कूद पड़े, उनका बागा वृक्षमें उलझकर फट गया। श्रीनाथजीका पट खुलनेपर गोसाईं विट्ठलनाथने देखा कि उनका बागा फटा हुआ है। बादमें गोविन्ददासने रहस्योद्‌घाटन किया, गोसाईंजीको साथ ले जाकर वृक्षपर लटका हुआ चीर दिखलाया। गोविन्ददासका सखाभाव सर्वतः सिद्ध था।

कभी-कभी कीर्तन-गानके समय श्रीनाथजी स्वयं उपस्थित रहते थे, एक बार इन्हें श्रीनाथजीने राधारानीसहित प्रत्यक्ष दर्शन दिये। श्रीनाथजी स्वयं पद गा रहे थे और श्रीराधाजी ताल दे रही थीं। गोविन्ददासने श्रीगोसाईंजीसे इस घटनाका स्पष्ट वर्णन किया।

श्रीनाथजी उनसे प्रकटरूपसे बात करते थे, पर देखनेवालोंकी समझमें कुछ भी नहीं आता था। एक समय शृंगार-दर्शनमें श्रीनाथजीकी पाग ठीकरूपसे नहीं बाँधी गयी थी, गोविन्ददासने कहा—'प्रभो! जरा अपनी पाग सँभाल लीजिये।' श्रीठाकुरजीने कहा—'गोविन्द! तू बहुत अच्छी पाग बाँधता है, आज तू ही मेरी पाग सँभाल दे।' तब गोविन्ददासजीने मन्दिरमें प्रवेश करके उनकी पाग ठीक की। इसपर मन्दिरके भितरियाने गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीसे शिकायत की कि महाराज! गोविन्ददासने मन्दिरमें प्रविष्ट होकर श्रीनाथजीको छू लिया। इसपर श्रीगोसाईंजीने हँसते हुए कहा—'अरे! श्रीनाथजी तो गोविन्दके साथ नित्य खेलते ही रहते हैं। उनके छूनेसे वे अपवित्र थोड़े ही हो जाते हैं।' भक्तोंके चरित्रकी विलक्षणताका पता भगवान्‌के भक्तोंको ही लगता है। प्रेमराज्यमें कुल, जाति, गुण, सौन्दर्य, ज्ञान आदिका महत्त्व नहीं होता, वहाँ तो प्रियतमको रिझानेके लिये सिर्फ प्रेमकी ही आवश्यकता होती है। श्रीगोविन्ददासजी अपने एक पदमें कहते हैं—

प्रीतम प्रीति ही ते पैये।
जदपि रूप गुण सील सुघरता इन बातन न रिझैये॥
सत कुल जनम करम सब लच्छन वेद पुरान पढ़ैये।
गोविन्द प्रभु गुन रूप सुधा बिनु रसना कहाँ नचैये॥

भगवान्‌को वर्ण-जातिसे भी अधिक भाव प्रिय होता है। वे भाव-भक्तिपर अधिक रीझते हैं। कहते हैं कि कान्हा नामका एक भंगी-बालक था। उसका श्रीनाथजीके प्रति सख्यभाव था। वह नित्यप्रति श्रीनाथजीके मन्दिरके सामने झाड़ू लगाने आता था।

श्रीनाथजी जैसे गोविन्ददासजीके साथ खेलते थे, वैसे ही कान्हाके साथ भी विविध क्रीड़ाएँ करते थे। एक दिन श्रीनाथजी और श्रीगोविन्ददासजी कान्हाके साथ खेल रहे थे। खेलमें कान्हा हार गया तो श्रीनाथजीने उसे घोड़ा बनाया और उसकी पीठपर चढ़े। जब खेल खत्म हो गया और श्रीनाथजी मन्दिरमें जाने लगे तो श्रीगोविन्ददासजीने कहा—'जै, जै, श्रीगुसाईंजी तो मन्दिरमें बड़ा आचार-विचार करते हैं और आप अब भंगीको छूकर मन्दिरमें प्रवेश करेंगे, राजभोग आरोगेंगे, इस प्रकार आप मर्यादा मिटाकर भ्रष्टाचार फैलायेंगे। यह उचित नहीं है। मुझसे तो यह अनीति सही नहीं जा सकती। मैं तो श्रीगुसाईंजीसे इसकी शिकायत करूँगा।' श्रीठाकुरजीने कहा—'भैया! ऐसा नहीं करना। मुझे जी-भरकर अपने सखाओंके साथ खेलने दो। मैं तुम्हारी हा-हा खाता हूँ' परंतु श्रीगोविन्ददासजीने एक नहीं मानी। इनका कहना था कि 'आप पहले समीपस्थ गोविन्दकुण्डमें स्नान करके तब मन्दिरमें प्रवेश करिये।' श्रीठाकुरजीने कहा—'भैया! ठण्डके दिन हैं, स्नान करनेका मन नहीं हो रहा हैं। मैं ऐसे आचार-विचारसे बाज आया।' तब श्रीगोविन्ददासजीने कहा—'अच्छा, स्नान नहीं करना चाहते हैं तो कम-से-कम कुण्डपर चलकर मन्त्र पढ़कर मार्जन तो कर लीजिये।' श्रीठाकुरजीने श्रीगोविन्ददासजीका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। कुण्डपर आकर मार्जन-आचमन करने लगे। तबतक औचक ही गोविन्दने धक्का देकर श्रीनाथजीको कुण्डमें गिरा दिया। संग-संग अपनेको भी गिरा दिया। श्रीनाथजीको तैरनेका अभ्यास कुछ कम था। अतः वह कुण्डमें गोता खाने लगे। तब श्रीगोविन्ददासजीने ही बाँह पकड़कर उन्हें निकाला भी। तत्पश्चात् ताली बजाते हुए गोविन्द अपने घरको भाग गये और श्रीनाथजी भीगे वस्त्र मन्दिरमें आकर विराजे। जब श्रीगुसाईंजी सेवामें गये और श्रीठाकुरजीको भीगे वस्त्र पाये तो पूछे—जै-जै, यह वस्त्र कैसे भीगे हैं? श्रीनाथजीने मुँह बिचकाकर कहा—'गोविन्दने धक्का देकर मुझे कुण्डमें गिरा दिया था, अतः मेरे सभी वस्त्र भीग गये।' श्रीगुसाईंजीने तुरंत गोविन्ददासजीको बुलाया और बड़ी फटकार लगायी कि कहीं ऐसा खेल खेला जाता है, जिसमें जान जोखम उपस्थित हो, रार-तकरार बढ़े।

श्रीगोविन्ददासजीने हँसकर कहा—'गुसाईंजी! आपके श्रीलालजीने (श्रीठाकुरजीने) भंगीके बेटेको घोड़ा बनाकर उसपर सवारी की थी। हमने कहा कि 'स्नान करके मन्दिरमें चलो, परंतु ये नहीं माने, तब मैं जैसे-तैसे इन्हें स्नान कराकर मन्दिरमें ले आया। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो आपका सब आचार-विचार समाप्त हो जाता। यह सुनकर श्रीगुसाईंजीका हृदय भर आया और कहने लगे कि धन्य है गोविन्द सखा, जिनके साथ खेले बिना श्रीठाकुरजीका मन ही नहीं मानता।'

गोविन्दस्वामीने गोवर्धनमें एक कन्दराके निकट संवत् १६४२ वि० में लीला-प्रवेश किया। उन्होंने आजीवन श्रीराधा-कृष्णकी शृंगार-लीलाके पद गाये, भगवान्‌को अपनी संगीत और काव्य-कलासे रिझाया।

श्रीविद्यापतिजी

महाकवि विद्यापति भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानीके रूप-लावण्य और भक्तिरससे ओत-प्रोत शृंगारमाधुर्यके कुशल मर्मज्ञ और गायक थे। वे बंगालके प्रसिद्ध वैष्णव कवि चण्डीदासके समकालीन थे। दोनों एक-दूसरेके कविता-प्रेम और श्रीकृष्ण-भक्तिसे प्रभावित थे और परम पवित्र भगवती भागीरथीके तटपर दोनोंका एक समय मिलन भी हुआ था।

मैथिलकोकिल विद्यापतिने विक्रमकी पन्द्रहवीं सदीमें विसपी ग्राममें जन्म लिया था। उनका परिवार बिहारके तत्कालीन शासक 'हिन्दूपति' महाराज शिवसिंहके पूर्वजोंका कृपापात्र था और विद्यापतिने तो शिवसिंह और उनकी पटरानी महारानी लक्ष्मी (लखिमा)-के आश्रयमें मिथिलाको अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति-सुधासे वृन्दावन बना दिया। बिहार ही नहीं, उत्तरापथकी गली-गलीमें, उपवन और सरोवर-तटोंपर काव्यरसिक उनकी पदावलीका रसास्वादन करके प्रमत्त हो उठे। अभिनव कृष्ण महाप्रभु चैतन्यदेव और उनकी भक्तमण्डलीके लिये तो कविकण्ठहार विद्यापतिके पद श्रीराधाकृष्णकी मधुर भक्तिके उद्दीपन ही बन गये। महाप्रभु उनके विरह और प्रेमसम्बन्धी पदोंको सुनते जाते थे और साथ-ही-साथ नयनोंसे अनवरत अश्रुकी धारा बहाते थे।

विद्यापति प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। श्रीमद्भागवतमें उनकी बड़ी श्रद्धा थी, उन्होंने पाठके लिये स्वयं अपने हाथसे उसकी एक प्रतिलिपि की थी। भगवती गंगा और श्रीदुर्गामें भी उनकी बड़ी भक्ति थी। उन्होंने 'गङ्गावाक्यावली' और 'दुर्गाभक्तितरङ्गिणी' की रचना की है। उन्होंने हिमाचलनन्दिनी भगवती पार्वतीका अपने पदोंमें कहीं-कहीं सादर स्मरण किया है। शिव और पार्वतीमें उनकी अटल निष्ठा थी। उन्होंने एक स्थलपर कहा है—

'हिमगिरि कुँवरि चरन हिरदय धरि कबि विद्यापति भाखे।'

भगवान् शिवकी स्तुतिमें उन्होंने बहुत-से पद लिखे हैं, बिहारमें इन 'नचारियों' को लोग बड़े उत्साहसे गाया करते हैं। ऐसा कहा जाता है कि विद्यापतिकी शिव-भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् भोलेनाथने अपना 'उगना' नाम रखकर सेवकके वेषमें उनको धन्य किया था। वह प्रसंग इस प्रकार है—एक बार श्रीविद्यापतिजीके मनमें एक सुयोग्य सेवककी अभिलाषा हुई। बस, उसी क्षण एक गौरवर्ण व्यक्ति इनके पास आया और अपनेको नौकर रख लेनेकी प्रार्थना करने लगा। उसके सुन्दर स्वरूप और मधुर वचनोंने इनके मनको आकृष्ट कर लिया। अतः इन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। उसका नाम उगना था। उगना इनकी समस्त सेवाएँ करता। एक दिन ये उगनाको साथ लिये कहीं जा रहे थे। मार्गमें इन्हें प्यास लगी। तब उगनाको जल लानेको कहा। उगना थोड़ी ही दूर जाकर वृक्षोंके झुरमुटमेंसे लोटा भर लाया। इन्होंने जलपान किया। तो गंगाजलका-सा स्वाद आया। चकित हो गये कि यहाँ गंगाजल कहाँ? पूछा तो उगनाने कहा—'यहीं पाससे ही लाया हूँ।' उगनाके उत्तरसे उन्हें संतोष नहीं हुआ। श्रीविद्यापतिने नेत्र बन्दकर किंचित् ध्यान किया। जब नेत्र खोला तो इन्हें उगनाकी जगह भगवान् शिवके दर्शन हुए। ये भगवान् शिवके चरणोंमें लोट-पोट हो गये। श्रीशिवजीकी जटाओंसे गंगाकी धारा बह रही थी। श्रीविद्यापतिजी समझ गये कि सचमुच वह जल किसी अन्य कूप-बावलीका न होकर साक्षात् गंगाजीका ही था। श्रीशिवजीने कहा—'विद्यापतिजी! मुझे आपके साथ रहनेमें बड़ा सुख मिलता है, अतः मैं ही उगनारूपसे आपकी सेवामें रह रहा था। अभी भी मैं आपके ही साथ रहना चाहता हूँ, परंतु देखना यह रहस्य किसीसे प्रकट न करना।' इतना कहकर भगवान् शिवजी पुनः उगनारूपमें हो गये,

परंतु अब श्रीविद्यापतिजी और उगनामें पहले-जैसा स्वामी-सेवकका भाव नहीं रहा। अब तो यह निर्णय करना कठिन हो गया कि कौन स्वामी है और कौन सेवक? सेवकके साथ इस प्रकारका बर्ताव श्रीविद्यापतिजीकी पत्नीको अच्छा नहीं लगता। अतः वह उगनासे चिढ़ने लगीं। एक दिन तो किसी कार्यमें किंचित् देर हो जानेपर वे उगनाको जलती हुई लकड़ी लेकर मारने दौड़ीं। यह देखकर श्रीविद्यापतिजीसे रहा नहीं गया। वे बोल ही पड़े—'अरे अधमे! तू मेरे इष्टदेव देवदेव महादेवको मारने दौड़ रही है।' पत्नी तो जहाँकी तहाँ रुक गयी; परंतु उगना अन्तर्धान हो गया। विद्यापतिजीको उगनाका वियोग व्याप गया। उस समय इन्होंने यह पद गाया—

उगना रे मोर कतए गेला।
कते गेला सिवकी दहु भेला।
भांग नहिं बटुआ रूसि वैसलाह।
जोहि हेरि आनदेल हँसि उठिलाह॥
जे मोर कहता उगना उ देस।
ताहि देब ओकर कंगना बेस।
नन्दन बनमें भेंटल महेस॥
गौरि मन हरषित मेटल कलेस।
विद्यापति भन उगना सो काज।
नहिं हितकर मोर त्रिभुवन राज॥

यह कहना सरल नहीं है कि विद्यापति शैव थे या वैष्णव; पर उनकी सरस पदावलीसे उनकी श्रीकृष्ण और श्रीराधाके प्रति भक्ति और दृढ़ आस्था प्रकट होती है। उन्होंने भक्तिभावसे सने प्रेम, विरह, मिलन, अभिसार और मानसम्बन्धी अनेक सरस पदोंकी रचना करके अपनी श्रीकृष्णभक्तिकी उज्ज्वल पताका फहरायी है। श्रीकृष्ण ही उनके आराध्य देव थे। उनके पदोंमें भक्तिसुलभ सरलता और माधुर्यका सुन्दर समन्वय मिलता है। शृंगार और भक्तिका इतना मधुर समावेश अन्यत्र कठिनतासे हुआ है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महाकवि गीतगोविन्दकार श्रीजयदेवका पूर्णरूपसे अनुगमन करके अपने 'अभिनव जयदेव' नामकी सत्यता चरितार्थ की। कविशेखर विद्यापतिने अपने उपास्यका निम्नलिखित पदमें जो ध्यान किया है, उससे उनके रँगीले हृदयकी रसीली भक्तिका पता चलता है—

नन्दक नँदन कदम्बक तरु तरे धिरे-धीरे मुरली बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव॥
सामरी तोरा लगि अनुखने बिकल मुरारि।
जमुना के तीरे उपवन उदबेगल फिरि-फिरि ततहि निहारि॥
गोरस बिके अबइते जाइते जनि-जनि पुछ बनमारि।
तो हे मतिमान सुमति मधुसूदन बचन सुनहु किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति बंदहु नंदकिसोरा॥

विद्यापति रसिक भक्त, महाकवि और प्रेमी थे। उनको गये पाँच सौ सालसे अधिक समय हो गया; तो भी श्रीकृष्णभक्तिकी सरसताकी साहित्य-जगत्‌में महिमा मैथिलकोकिलकी काव्यवाणीमें प्रकट होकर उत्तरोत्तर सम्मानित होती जा रही है।

श्रीब्रह्मदासजी

श्रीब्रह्मदासजी श्रीराधा-कृष्ण युगलसरकारके अनन्य भक्त थे। आप अपनी कवितामें सदैव श्रीकृष्ण-लीलाका ही गान करते थे। जन-समाजमें आपकी कविताका बड़ा आदर था। आपका परमोत्कर्ष एक प्राकृत कविसे सहा नहीं गया। उसने आकर आपसे व्यर्थका विवाद ठाना कि यदि काव्यकी कसौटीपर कसा जाय तो मेरी कविता किसी भी दृष्टिसे आपकी कवितासे हीन नहीं है। यदि कोई त्रुटि मेरी कवितामें हो तो आप ही बतलायें। श्रीब्रह्मदासजीने कहा—काव्यकी दृष्टिसे कविता मेरी श्रेष्ठ है या आपकी, यह तो मैं नहीं कह सकता, परंतु इतना मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि मेरी कविताका वर्ण्य-विषय आपकी कवितासे अनन्तगुणा श्रेष्ठ है; क्योंकि मैंने अपनी कवितामें सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णकी शाश्वत लीलाओंका गान किया है और तुम्हारी कवितामें मरणधर्मा, क्षणभंगुर संसारी लोगोंका यश गाया गया है। शाश्वत पुरुषके गुणगानसे मेरी कविता भी शाश्वत है और नाशवान् लोगोंके गुणगानसे तुम्हारी कविता भी नाशवान् है। यदि तुम्हें इस बातका विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लो। तुम और हम दोनों अपनी-अपनी रचनाएँ कागजपर लिखकर अग्निमें डाल दें। जिसकी रचना शाश्वत होगी, वह नहीं जलेगी; जिसकी नाशवान् होगी, वह भस्मसात् हो जायगी। प्राकृत कवि आपके इस कथनपर सहमत हो गया। उसे विश्वास था कि अग्निमें डालनेपर तो मेरी भी कविताएँ जल जायँगी और इनकी भी। भला, कहीं अग्निमें कागज बिना जले रह सकता है? फिर तो दोनों एक-से माने जायेंगे। निश्चय होनेपर दोनों दिव्य-प्राकृत कवियोंने अपनी-अपनी रचनाएँ अग्निदेवताको समर्पित कीं। हजारों लोगोंने देखा कि उस प्राकृत कविकी रचनाएँ तो अग्निकी लपटमें स्वाहा हो गयीं और ब्रह्मदासजीकी रचनाओंपर आँच भी नहीं आयी, वे तो ज्यों-की-त्यों बनी रहीं, बल्कि और भी अधिक चमक उठीं। यह चमत्कार देखकर वह प्राकृत कवि हार मान गया और श्रीब्रह्मदासजीके शरणागत होकर स्वयं भी श्रीकृष्ण-लीला-गुणका ही गान करने लगा।

श्रीकेशवाचार्यजी

आपके पिताका नाम श्रीमोहनमिश्र एवं माताका नाम भागवती देवी था। ये सनाढ्य ब्राह्मण परम भागवत, विष्णुस्वामी-सम्प्रदायानुयायी गोपाचल (ग्वालियर)-के निकट एक ग्रामके निवासी थे। घरमें विराजमान श्रीठाकुरजीकी सेवामें ऐसे तल्लीन रहते थे कि इन्हें संसारी सुख-दुःखोंका भान ही नहीं होता था। यद्यपि घर ऋद्धि-सिद्धियोंसे भरा था, फिर भी दम्पती प्रेमधनके धनी थे। सेवारत दम्पतीको पचास-पचपन वर्षकी आयु व्यतीत करनेके पश्चात् भगवत्प्रेरणासे संतानकी अभिलाषा हुई। फलस्वरूप महर्षि कश्यपकी आज्ञानुसार माता अदितिने जैसे पयोव्रत करके पुत्ररूपमें श्रीवामनभगवान्‌को पाया, उसी प्रकार इन ब्राह्मण-दम्पतीने भी सविधि पयोव्रतका अनुष्ठान किया। व्रतकी समाप्ति होनेपर स्वप्नमें भगवान्‌ने स्वयं पुत्ररूपसे प्रकट होनेका संकेत किया।

पयोव्रतके दूसरे ही वर्ष कार्तिक सुदी द्वादशीको श्रीमोहनमिश्रके घर पुत्रका जन्म हुआ। श्रीकश्यपजीने श्रीमद्भागवतमें पयोव्रतको **'व्रतं केशवतोषणम्'** कहा है। पयोव्रतसे ही संतुष्ट होकर स्वयं केशवभगवान् श्रीभागवतीदेवीकी कोखसे प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः बालकका नाम केशव ही रखा गया। बालक केशव अपनी अलौकिक बाल-लीलाओंसे माता-पिताको आनन्दित करने लगा। एक दिन श्रीमिश्रजीने भगवान्‌का भोग लगाकर ध्यान करते हुए कहा—**'वासुदेवप्रसादान्नं सर्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः।'** अर्थात् हे वैष्णवो! भगवत्-प्रसाद ग्रहण कीजिये। आँख खुली तो देखा कि बालक केशव प्रसादरसका स्वाद ले रहा है। बालकके यथासमय यथाविधि अन्नप्राशन, मुण्डन, उपवीत आदि संस्कार सानन्द सम्पन्न हुए। श्रीकेशवने अपने विद्वान्

पितासे ही समस्त वेद, शास्त्र, पुराणेतिहासादिका अध्ययन किया। तत्पश्चात् ***'साधन साध्य सत्रह पुराण फलरूपी श्रीभागवत'*** विचारकर श्रीकेशवजीने अपनी अनिच्छा प्रकट की। पिता श्रीमोहनमिश्रजी बालकके संसारसे वैराग्य एवं श्रीप्रभुचरणोंमें अनुरागसे हृदयसे तो परम सन्तुष्ट थे। फिर भी पुत्रकी दृढ़ताकी परीक्षाके लिये उन्होंने कहा—'बेटा केशव! तीनों ऋणोंसे मुक्त हुए बिना बचपनमें ही वैराग्य उचित नहीं है।' तब श्रीकेशवजीने '**कौमार आचरेत् प्राज्ञः धर्मान् भागवतानिह।**' अर्थात् कुमारावस्थासे ही वैष्णव धर्मोंका आचरण करना चाहिये—इस प्रह्लाद-वाक्यका और '**देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥**' अर्थात् भगवान्की शरणमें जानेवाला किसीका भी ऋणी नहीं रह जाता है। श्रीभागवतजीमें आये नवयोगीश्वरोंमेंसे श्रीकरभाजनजीके इस वाक्यका प्रमाण देकर पिताको निरुत्तर कर दिया। अविचल प्रेम देखकर पिता-माताने पुत्रको आज्ञाके साथ भगवत्प्राप्तिका आशीर्वाद प्रदान किया।

ये पिता-माताको प्रणामकर श्रीवृन्दावनके लिये चल पड़े। मार्गमें ये विचार कर ही रहे थे कि मुझ साधनहीनको भगवान् कैसे मिलेंगे? इतनेमें ही एक यात्रीने दूसरेको पुकारकर कहा कि 'तुम शीघ्र जाओ, तुम्हें तुम्हारा मित्र बुला रहा है।' इस भगवत् प्रेरित वाक्यसे इन्हें विश्वास हो गया कि मुझे अवश्य श्रीप्रभु मिलेंगे और शीघ्र मिलेंगे। फिर तो मनमें श्रीप्रभु-मिलन-सम्बन्धी अनेक मनोरथ उठने लगे। श्रीवृन्दावन पहुँचनेपर इनका ऐसा प्रेम उमड़ा कि प्रभु-दर्शनके बिना इनका एक-एक क्षण युगके समान बीतने लगा। आँखोंसे अविरल अश्रु-प्रवाह होने लगा। अहर्निश प्यारेके विरहमें बेचैन रहनेसे खान-पान एकदम छूट गया। शरीर-अस्थिपंजरमात्र शेष रह गया। दर्शनकी लालसासे प्राण देहमें अटक रहे थे। क्षण-क्षणमें मूर्च्छा आने लगी। उधर भक्तका विरह भगवान्को भी असह्य होने लगा। तब श्रीप्रभुकी प्रेरणासे गहवर-निवासी श्रीज्ञानदेवजीने आकर इन्हें मूर्च्छासे सचेत किया और मन्त्र-दीक्षा देकर श्रीनिकुंजबिहारी प्रिया-प्रियतमका दर्शन कराया। फिर साम्प्रदायिक रहस्य एवं परम्परा बताकर श्रीगोवर्धनकी तलहटीमें निवास करके भजन करनेकी आज्ञा दी और आशीर्वाद दिया कि श्रीहरिदेवजी तुमपर प्रसन्न होकर प्रकट होंगे, जिससे जीवोंका कल्याण होगा तथा श्रीहरिदेवजीके साथ तुम्हारे भी सुयशका विस्तार होगा।

श्रीगुरुदेवजीकी आज्ञा शिरोधार्यकर श्रीकेशवाचार्यजीने श्रीगोवर्धनजीका आश्रय लिया। श्रीगिरिराज गोवर्धनजीमें आपका ऐसा अनुराग हुआ कि आपने स्वरचित 'गोवर्धनशतक' में लिखा है कि '**गोवर्धनात्किञ्चिदहं न जाने।**' अर्थात् श्रीगोवर्धनजीसे परे हम और किसीको नहीं जानते हैं। इस निष्ठाके फलस्वरूप श्रीश्यामसुन्दर नित्य निकट रहते, लीला दिखाते और रसमय वार्तालाप करते। एक दिन भगवान्ने कहा कि 'मेरा एक श्रीविग्रह विछुआ कुण्डके निकट खेतकी मेड़में है, उसे प्रकट करो।' इन्होंने हाथ-जोड़कर कहा—'प्रभो! उस विग्रहके साथ श्रीजी नहीं हैं। मेरी युगल उपासना है तथा मैं निष्किंचन हूँ। कभी शाक-पात और कभी व्रजवासियोंके घरसे प्राप्त चुटकीमात्र चूनसे ही निर्वाह कर लेता हूँ। अतः आप ऐसा कीजिये जिसमें मेरे हृदयका भाव भी सुरक्षित रहे और आपकी सेवामें अपराध न हो।' तब श्रीप्रभुने समाधान करते हुए कहा कि केशव! मैं तुमसे आज उस गुप्त रहस्यको प्रकट करता हूँ, जिसे आजतक कोई नहीं जानता है। एक बार मैं श्रीजीके दर्शनोंको गया, परंतु दर्शन नहीं हुआ। तब मैंने इन्द्रके यज्ञको भंग कराया और श्रीगोवर्धनकी पूजा करवायी। इसपर इन्द्रने कुपित होकर वर्षा की। उससे व्रजकी रक्षाके लिये मैंने श्रीगोवर्धनको धारण किया। उस समय समस्त व्रजवासियोंके सहित श्रीजी भी वहाँ आ गयीं। इसी विग्रहसे सात दिनतक मैं श्रीजीका दर्शन करता रहा तथा उनके कृपाकटाक्षबलसे श्रीगोवर्धनको उठाये रहा। अतः मेरे इस श्रीहरिदेव श्रीविग्रहको श्रीजीसे रहित न मानकर श्रीजीके प्रेमसे ओत-

प्रोत समझो। हमारा यह श्रीविग्रह परम दयामय, शरणागतरक्षक एवं इष्टप्रपूरक है। तुम मेरे इस विग्रहको प्रकटकर सेवा करो। मेरे निमित्त किसीसे कुछ याचना मत करना। मेरी प्रेरणासे स्वयं कोई कुछ अर्पण कर दे तो उसे स्वीकार कर लिया करना।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर श्रीकेशवाचार्यजीने लोगोंको एकत्रित करके विछुवा कुण्डपर वह स्थान बताया, जहाँ श्रीविग्रह था। खोदनेपर परम सुन्दर मूर्ति दिखायी पड़ी। उसे देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोगोंके मनमें लालच हुआ कि इस विग्रहको मैं अपने घर ले जाऊँ। एकने कहा कि इस विग्रहको 'मैं अपने घर ले जाकर सेवा करूँगा।' तो दूसरेने कहा—'वाह! तुम कैसे ले जाओगे? यह तो मेरे खेतकी मेड़पर प्रकट हुए हैं अतः इन्हें मैं ले जाऊँगा।' तीसरेने कहा—'मैं जमींदार हूँ। इस नाते भूमिगर्भसे प्राप्त वस्तुपर मेरा पूर्ण अधिकार है। अतः मैं ले जाऊँगा।' जब इस प्रकार परस्पर विवाद होने लगा तब श्रीकेशवाचार्यजी दूर हट गये। किसी विचारवान् व्यक्तिने लोगोंको समझाते हुए कहा कि 'जिस सन्तने तुम्हें बुलाकर भेद बताया, उससे पूछकर ही कोई कार्य करो। अन्यथा तन-धन और यशकी हानि होगी।' यह सुनकर उसे फटकारते हुए लोगोंने कहा कि 'तुझको किसने पंच बनाया है? अपना भला चाहो तो चुप रहो।' वह बेचारा चुप हो गया। इतनेमें आकाशवाणी हुई कि 'अकेले ही इस श्रीविग्रहको जो कोई उठा ले जाय, वही सेवाका अधिकारी होगा।' लोग उठाने लगे, पर श्रीविग्रह टससे मस न हुआ। तब सबने श्रीकेशवाचार्यजीसे उठानेकी प्रार्थना की। प्रेममग्न श्रीआचार्यजीने जैसे ही स्पर्श किया कि भगवान् छातीसे आ लगे। निर्णय हो गया कि भगवान् तो इन्हींके लिये प्रकट हुए हैं। हम लोगोंका मोह व्यर्थ है। श्रीकेशवाचार्यजी श्रीहरिदेवजीको अपनी पर्णकुटीमें ले आये और पधराकर सात्त्विक भावसे सेवा करने लगे। व्रजवासी लोग बड़ी श्रद्धासे दर्शन करने आते। भक्तकी महिमा बढ़ानेके लिये एक दिन श्रीहरिदेवजीने खीर भोग आरोगनेकी इच्छा प्रकट की। तब श्रीकेशवाचार्यजीने प्रार्थना की कि 'प्रभो! मेरे पास तो खीरकी सामग्रीका अभाव है और मैं याचना किसीसे कर नहीं सकता।' तब श्रीहरिदेवजीने राजा भगवानदासको स्वप्न दिया। स्वप्नादेश पाकर राजा आये और दर्शनकर अत्यन्त प्रभावित हुए। फिर तो उन्होंने श्रीहरिदेवजीका विशाल मन्दिर बनवाया और सेवाके निमित्त कई गाँव अर्पण कर दिये। अब दिन-प्रतिदिन श्रीहरिदेवजी और श्रीकेशवाचार्यजीका सुयश बढ़ने लगा। अनेकों लोग आकर आपके शिष्य हो गये।

एक दिन श्रीहरिदेवजीने श्रीकेशवाचार्यजीसे कहा कि 'मैं तुम्हें एक आज्ञा प्रदान करता हूँ। उसे तुम बिना उत्तर दिये स्वीकार कर लेना। देखो, एक ब्राह्मणने श्रीजगन्नाथरूपसे मेरी सेवा करके संतानकी कामना की और प्रथम संतान मुझे ही अर्पण करनेकी प्रतिज्ञा की। मेरी आज्ञासे प्रथम उसके एक कन्या हुई, उसे अब वह मुझे ही अर्पण कर रहा है। मैंने उसे स्वप्न देकर आज्ञा दी है कि गोवर्धनमें श्रीकेशवाचार्यजीके रूपमें मैं ही विद्यमान हूँ, अतः अपनी कन्या श्रीकेशवाचार्यजीको ही अर्पण कर दो। अब वह आकर तुम्हें कन्यादान करेगा। उसे तुम स्वीकार कर लेना। इससे मुझे प्रसन्नता होगी।' श्रीकेशवाचार्यजीने कहा, 'प्रभो! वैसे तो पत्नी-परिग्रह एक बन्धन ही है, परंतु आपकी प्रसन्नताके लिये तो मैं कोटि-कोटि बन्धन स्वीकार कर सकता हूँ। आज यदि शेखीमें आकर मैं आपकी आज्ञाका उल्लंघन करूँ तो कल ही आपकी माया मुझे अपने पथसे गिरा सकती है।' भगवदादेशसे ब्राह्मणने आकर अपनी कन्या शुभ मुहूर्तमें प्रदान की। उसे श्रीआचार्यने स्वीकार किया। परम भगवद्भक्ता पत्नी पाकर श्रीकेशवाचार्यजीने परम संतोषका अनुभव किया। कुछ समय पश्चात् आपके श्रीपरशुराम एवं श्रीबालमुकुन्द नामके दो पुत्र हुए, जिनके साथ श्रीहरिदेवजी खेलते थे और सेवा तथा भोगमें उनसे इच्छित वस्तु लानेको कहते थे। कुछ दिन बाद आप अपने पुत्रों

एवं शिष्य-प्रशिष्योंको श्रीहरिदेवजीकी सेवा सौंपकर, उन्हें ज्ञान-भक्तिका उपदेश देकर, श्रीगोवर्धनवासकी आज्ञा देकर स्वयं महाभावमें मग्न हो गये। कभी-कभी श्रीराधा-राधा रटते हुए मूर्च्छित हो जाते, कभी श्रीमद्भागवतके श्लोकोंको गाकर रोते, कभी विरहके पदोंका स्वयं उद्‌गार होता और शरीर स्तब्ध हो जाता। कभी राधाकुण्ड, कभी नारदकुण्ड, कभी उद्धवकुण्ड, कभी गोविन्दकुण्ड, कभी पूछरी आदि सात कोसके स्थलोंमें विचरते रहते। मूक, बधिर एवं उन्मत्तकी तरह दीखते। व्रजरजमें लोट-लोटकर परमानन्दका अनुभव करते। मान-अपमानमें समान रहते हुए निरन्तर श्रीहरि-चिन्तनमें तल्लीन रहते। इस प्रकार आपने अपनी पवित्रचर्यासे अनेक जीवोंका उद्धार किया एवं भक्तिका पथ प्रशस्त किया।

श्रीपूर्णसिंहजी

श्रीपूर्णसिंहजी परम सदाचारी, वीर एवं महान् भगवद्भक्त थे। श्रीठाकुरजी आपके इष्टदेव थे। ये आमेर-नरेश श्रीपृथ्वीराजजीके पुत्र थे। उनकी माताका नाम पदारथ देवी था (ये गांवड़ी गणेशर, जिला सीकर तँवराटीकी थीं)। पिताके आज्ञानुसार श्रीपूर्णसिंहजी कार्तिक सुदी ११ वि० संवत् १५८४ में आमेरकी गद्दीपर बैठे। आप छः साल दो माह तेईस दिन गद्दीपर रहे। अमरसरके शासक रायमल जो शेखाजीके पुत्र थे, इनपर हुमायूँ बादशाहके भाई हिन्दालने जब हमला किया तब नृपति पूर्णसिंहजी उनकी सहायता करने गये। प्रसिद्ध दुर्ग शिखरगढ़ जो कि त्रिवेणी अमरसरके समीप है, वहाँपर इन्होंने हिन्दालकी विशाल सेनासे भयंकर संग्राम किया। असंख्यों विधर्मियोंका संहारकर माघ सुदी ५ संवत् १५९० वि० में धर्मयुद्ध करते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए। वीरभक्तोंके इतिहासमें आपकी कीर्ति अमर है। सूजा (सूरजमल) आपके ही सुपुत्र थे। कविहृदय, परम भागवत श्रीपूर्णसिंहजी नित्य नूतन पद रचकर अपने श्रीठाकुरजीको सुनाते। श्रीठाकुरजीको भी इनके पदोंको सुननेमें बड़ा सुख मिलता। यदि कभी किसी कार्यविशेषकी व्यस्ततामें श्रीपूर्णसिंहजी पद नहीं सुना पाते तो श्रीठाकुरजी स्वप्नमें इनसे पद सुनानेका अनुरोध करते। दो-एक बार इस प्रकारका प्रसंग प्राप्त होनेपर इन्होंने पद सुनानेका दृढ़ नियम बना लिया था। बहुत समयतक नियम अक्षुण्ण रूपसे चलता रहा। परंतु एक बार किसी राज्यकार्यवश इन्हें पद सुनानेका ध्यान नहीं रहा। जब कार्यसे फुरसत मिली तो श्रीठाकुरजीका दर्शन करने मन्दिरमें गये। परंतु वहाँ इन्हें श्रीठाकुरजीका श्रीविग्रह ही नहीं दिखायी पड़ा। पुजारीसे पूछा—श्रीठाकुरजीकी प्रतिमा कहाँ गयी? पुजारीने कहा—'प्रतिमा तो सिंहासनपर ही विराजमान है।' श्रीपूर्णसिंहजीकी समझमें नहीं आ रहा था कि आखिर मुझे क्यों नहीं दर्शन हो रहा है! बहुत विचार करनेके बाद याद आया कि मैंने श्रीठाकुरजीको आज पद नहीं सुनाया। फिर तत्काल पद सुनाने लगे तो श्रीठाकुरजी भी मन्द-मन्द मुसकराते हुए इन्हें दर्शन देने लगे।

श्रीमथुरामण्डलके भक्त

रघुनाथ गोपीनाथ रामभद्र दासूस्वामी।
गुँजामालि चित उतम बिठल मरहठ निहकामी॥
जदुनंदन रघुनाथ रामानँद गोबिंद मुरली सोती।
हरिदास मिश्र भगवान मुकुँद केसव दंडौती॥
चतुर्भुज चरित बिष्णुदास बेनी पद मो सिर धरौ।
जे बसे बसत मथुरा मँडल (ते) दयादृष्टि मो पर करौ॥ १०३॥

जो भक्तजन पहले श्रीमथुरामण्डल (चौरासी कोस)-में निवास करते थे एवं जो अब वर्तमानमें निवास कर रहे हैं, वे मेरे ऊपर दयाकी दृष्टि रखें। उनमेंसे कुछके नाम ये हैं—श्रीरघुनाथजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीरामभद्रजी, श्रीदासूस्वामीजी, श्रीगुंजामालीजी, श्रीचितउत्तमजी, श्रीबीठलजी, परम निष्काम श्रीमरहठजी, श्रीयदुनन्दनजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीरामानन्दजी, श्रीगोविन्दजी, श्रीमुरली श्रोत्रियजी, श्रीहरिदासमिश्रजी, श्रीभगवान्‌जी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीदण्डौती केशवजी, श्रीचतुर्भुजजी, श्रीचरित्रजी, श्रीविष्णुदासजी, श्रीबेणीजी आदि। श्रीनाभाजी इन भक्तोंसे प्रार्थना करते हैं कि हे भक्तजनो! आपलोग अपना पद-कमल मेरे सिरपर रख दें॥ १०३॥

इनमेंसे कतिपय भक्तोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीगुंजामालीजी और उनकी पुत्रवधू

श्रीगुंजामालीजी नामके एक सन्त हो गये हैं, ये गुंजाकी माला प्रभुको पहनाते तथा स्वयं पहनते थे। अतः इनका गुंजामाली नाम ही पड़ गया। ये पहले लाहौरमें निवास करते थे। इनकी पुत्रवधू विधवा हो गयी थी। एक दिन उसे बुलाकर इन्होंने कहा—'देखो, यह तुम्हारे पतिका घर है और धन-माल है, इसे लो तथा श्रीगोपालजीको लो। अब तो श्रीगोपालजी ही तुम्हारे पति हैं।' परंतु इनकी पुत्रवधू तो बार-बार यही माँगती कि हमें श्रीप्रभुकी सेवा ही प्रदान कीजिये।

श्रीगुंजामालीजीने पुत्रवधूकी निष्ठा देखकर उसे श्रीगोपालजीकी सेवा प्रदान की और घर तथा धन अपनी पत्नीको दिया एवं स्वयं आकर श्रीवृन्दावनमें रहने लगे।

जहाँपर श्रीगुंजामालीजीकी पुत्रवधूके श्रीठाकुरजी श्रीगोपालजी विराजते, वहाँ पास-पड़ोसके और लोगोंके बालक खेलते। वे परस्पर एक-दूसरेपर ईंट, धूल, मिट्टी आदि डालते। ठाकुरजी भी बालकोंके साथ खेलते थे। एक दिन बालकोंने श्रीठाकुरजीपर भी धूल डाल दी। तब वह बालकोंपर बहुत नाराज हुई और उसने उन्हें वहाँसे भगा दिया। इसके बाद उसने श्रीठाकुरजीके लिये भोग रखा। परंतु श्रीठाकुरजीने भोग नहीं आरोगा। जब इसने पूछा कि 'जै जै, आप भोग क्यों नहीं आरोग रहे हैं' तब श्रीठाकुरजीने कहा—'जब बालक आयेंगे, तभी मुझे प्रसन्नता होगी और भोग आरोगूँगा।' तब उसने प्रणयकोप करके कहा—'अभी खा लो, प्रातःकाल खूब अच्छी तरह आपके ऊपर धूल डाल दूँगी और उन बालकोंसे भी डलवा दूँगी।' इतनेपर भी जब नहीं पाये तो जैसे-तैसे उन बालकोंको बुला लायी, तब श्रीठाकुरजी प्रसन्न हुए और भोग पाये।

श्रीप्रियादासजीने गुंजामालीजीकी पुत्रवधूके इस श्रीकृष्ण-प्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

कही नाभा स्वामी आप गायौं मैं प्रताप सन्त बसे व्रज बसैं सो तौ महिमा अपार है।
भये गुंजामाली गुंजाहार धारि नाम पर्‍यौ कर्‍यौ बास लाहौर मैं आगे सुनौ सार है॥
सुत बधू विधवा सों बोलिकै सुनायौ लेहु धन पति गेह श्रीगोपाल भरतार है।
देवौ प्रभु सेवा माँगै नारि बार-बार यहै डारै सब वारि यापै गनै जगछार है॥ ४१५॥
दई सेवा वाहि और घर धन तिया दियो लियौ व्रजवास वाकी प्रीति सुनि लीजियै।
ठाकुर विराजैं तहाँ खेलैं सुत औरनिके डारैं ईंटा खोहा पर्‍यौ प्रभु पर खीझियै॥
दिये वे विडारि धर्‍यौ भोग पै न खात हरि पूछी कही वेई आवैं तब ही तौ जीजियै।
कह्यौ रिस भरि धूरि नीकी भोर डारै भरि खावौ अब हा हा करी पायौ ल्याई रीझियै॥ ४१६॥

श्रीकेशवजी दण्डौती

व्रजमण्डलके भक्तजनोंमें श्रीकेशवजी दण्डौतीका नाम अग्रगण्य है। आप हमेशा श्रीगोवर्धनजीकी दण्डवती परिक्रमा करते रहते थे, अतः आपके नामके साथ दण्डवतीकी छाप लग गयी थी। एक बार आप

श्रीगोवर्धनजीकी दण्डवती परिक्रमा लगा रहे थे। रात्रि हो गयी थी। आप अपनी मस्तीमें भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन करते हुए परिक्रमा कर रहे थे। उसी समय श्रीठाकुरजी एक हट्टे-कट्टे साधुके रूपमें आकर इनसे बोले—'मैं भी आपके साथ कीर्तन करते हुए परिक्रमा करूँगा।' श्रीकेशवजीने स्वीकृति दे दी। परंतु जब ये दण्डवत् करने लगे तो साधुरूपधारी भगवान्‌ने इन्हें आगे सरका दिया। यह देखकर श्रीकेशवजी नाराज हुए और बोले—'तू कौन है? कहाँसे आया है? तू मेरी परिक्रमा खण्डित कर रहा है। तेरी बुद्धिमें अधर्म समाया हुआ है।' साधुरूपधारी भगवान् बोले—'अधर्म तो आप स्वयं करते हैं और उल्टे दोष मुझे लगाते हैं? अरे! आपको मालूम है कि पृथ्वीको भूधर (विष्णु)-की पत्नी कहते हैं और आप रात्रिके समय परस्त्रीका आलिंगन करते हैं, यह कितना बड़ा अधर्म है?' श्रीकेशवजीने कहा—'पृथ्वी हमारी माता है। अतः उनकी गोदमें विचरनेसे हमें कोई दोष नहीं है।' यह मुँहतोड़ उत्तर सुनकर साधुरूपधारी भगवान् मुसकराने लगे और प्रसन्न होकर उन्होंने निजस्वरूपका दर्शन कराया।

श्रीचतुर्भुजदासजी

श्रीचतुर्भुजदासजीका जीवनचरित्र आजीवन चमत्कारों और अलौकिक घटनाओंसे सम्पन्न स्वीकार किया जाता है। उनका जन्म सं० १५७५ वि० में जमुनावतो ग्राममें हुआ था। वे पुष्टिमार्गके महान् भगवद्भक्त महात्मा कुम्भनदासजीके सबसे छोटे पुत्र थे। कुम्भनदासजीने बाल्यावस्थासे ही उनके लिये भक्तोंका सम्पर्क सुलभ कर दिया था। वे उनके साथ श्रीनाथजीके मन्दिरमें दर्शन करने भी जाया करते थे। पारिवारिक वातावरणका उनके चरित्र-विकासपर बड़ा प्रभाव पड़ा था। कुम्भनदासके सत्प्रयत्नसे गोसाईं विट्ठलनाथजीने चतुर्भुजदासको जन्मके इकतालीस दिनोंके बाद ही ब्रह्म-सम्बन्ध दे दिया था। वे बाल्यावस्थासे ही पिताकी देखा-देखी पद-रचना करने लगे थे, घरपर अनासक्तिपूर्वक रहकर खेती-बारीका भी काम सँभालते थे। श्रीनाथजीकी सेवामें उनका मन बहुत लगता था। बाल्यावस्थासे ही भगवान्‌की अन्तरंग लीलाओंकी उन्हें अनुभूति होने लगी थी, उन्हींके अनुरूप वे पद-रचना किया करते थे। उनकी काव्य और संगीतकी निपुणतासे प्रसन्न होकर श्रीविट्ठलनाथजीने उनको अष्टछापमें सम्मिलित कर लिया था। वृद्ध पिताके साथ अष्टछापके कवियोंमें एक प्रमुख स्थान प्राप्त करना उनकी दृढ़ भगवद्भक्ति, कवित्वशक्ति और विरक्तिका परिचायक है।

ब्रह्म-सम्बन्धसे गौरवान्वित होनेके बाद वे अपने पिताके साथ जमुनावतोमें ही रहा करते थे। नित्य उनके साथ श्रीनाथजीकी सेवा और कीर्तन तथा दर्शनके लिये गोवर्धन आया करते थे। कभी-कभी गोकुलमें नवनीतप्रियके दर्शनके लिये भी जाते थे, पर श्रीनाथजीका विरह उनके लिये असह्य हो जाया करता था।

श्रीनाथजीमें उनकी भक्ति सखाभावकी थी। भगवान् उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर साथमें खेला करते थे। श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें आपको श्रीनाथजीके नित्य सखा 'विशाल' का अवतार माना जाता है। भक्तोंकी इच्छापूर्तिके लिये ही भगवान् अभिव्यक्त होते हैं। श्रीविट्ठलनाथजी महाराजकी कृपासे चतुर्भुजदासको प्रकट और अप्रकट लीलाका अनुभव होने लगा। एक समय श्रीगोसाईंजी भगवान्‌का शृंगार कर रहे थे, दर्पण दिखला रहे थे, चतुर्भुजदासजी रूप-माधुरीका आस्वादन कर रहे थे। उनके अधरोंकी भारती मुसकरा उठी—

'सुभग सिंगार निरखि मोहन कौ ले दर्पन कर पियहि दिखावैं॥'

भक्तकी वाणीका कण्ठ पूर्णरूपसे खुल चुका था, उनका मन भगवान्‌के पदारविन्द-मकरन्दके मदसे उन्मत्त था, उनके नयनोंने विश्वासपूर्वक सौन्दर्यका चित्र उरेहा—

माई री आज और, काल और, छिन छिन प्रति और और॥

भगवान्‌के नित्य-सौन्दर्यमें अभिवृद्धिकी रेखाएँ चमक उठीं। भगवान्‌का सौन्दर्य तो क्षण-क्षणमें

नवीनतासे अलंकृत होता रहता है। यही तो उसका वैचित्र्य है। लीला-दर्शन करनेवालेको भगवान् सदा नये-नये ही लगते हैं।

एक समय गोसाईं विट्ठलनाथ गोकुलमें थे। गोसाईंजीके पुत्रोंने परासोलीमें रासलीलाकी योजना की। उस समय श्रीगोकुलनाथजीने चतुर्भुजदाससे पद गानेका अनुरोध किया। चतुर्भुजदास तो रससम्राट् श्रीनाथजीके सामने गाया करते थे। भक्त अपने भगवान्के विरहमें ही लीन थे। श्रीनाथजीने चतुर्भुजदासपर कृपा की। श्रीगोकुलनाथने उनसे गानेके लिये फिर कहा और विश्वास दिलाया कि आपके पदको भगवान् प्रकटरूपसे सुनेंगे। चतुर्भुजदासने पद गाना आरम्भ किया।

भक्त गाये और भगवान् प्रत्यक्ष न सुनें, यह कैसे हो सकता है। उनकी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्त जहाँ गाते हैं, वहाँ मैं उपस्थित रहता हूँ। भगवान् प्रकट हो गये, पर उनके दर्शन केवल चतुर्भुजदास और श्रीगोकुलनाथको ही हो सके। गोकुलनाथजीको विश्वास हो गया कि भगवान् भक्तोंके हाथमें किस तरह नाचा करते हैं। चतुर्भुजदासने गाया—

'अदभुत नट वेष धरें जमुना तट।
स्यामसुँदर गुननिधान॥
गिरिबरधरन रास रँग नाचे।'

रात बढ़ती गयी, देखनेवालोंके नयनोंपर अतृप्तिकी वारुणी चढ़ती गयी।

भक्तकी प्रसन्नता और संतोषके लिये भगवान् अपना विधान बदल दिया करते हैं। एक समय श्रीविट्ठलनाथजीने विदेश-यात्रा की, उनके पुत्र श्रीगिरिधरजीने श्रीनाथजीको मथुरामें अपने निवास-स्थानपर पधराया। चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके विरहमें सुध-बुध भूलकर गोवर्धनपर एकान्त स्थानमें हिलग और विरहके पद गाया करते थे। श्रीनाथजी सन्ध्या-समय नित्य उन्हें दर्शन दिया करते थे। एक दिन वे पूर्णरूपसे विरहविदग्ध होकर गा रहे थे—

'श्रीगोबर्धनवासी साँवरे लाल, तुम बिन रह्यौ न जाय हो।'

भगवान् भक्तकी मनोदशासे स्वयं व्याकुल हो उठे। उन्होंने तुरंत प्रकट होकर दर्शन दिया। उन्होंने गिरिधरजीको गोवर्धन पधरानेकी प्रेरणा दी। चतुर्दशीको एक पहर रात शेष रहनेपर कहा कि 'आज राजभोग गोवर्धनपर होगा।' भगवान्की लीला सर्वथा विचित्र है। नरसिंहचतुर्दशीको वे गोवर्धन लाये गये। राजभोगमें विलम्ब हो गया, राजभोग और शयन-भोग साथ-ही-साथ दोनों उनकी सेवामें रखे गये। नरसिंहचतुर्दशीको वे उसी दिनसे दो राजभोगकी सेवासे पूजित होते हैं।

उनका देहावसान संवत् १६४२ वि० में रुद्रकुण्डपर एक इमलीके वृक्षके नीचे हुआ था। वे शृंगारमिश्रित भक्तिप्रधान कवि, रसिक और महान् भगवद्भक्त थे।

श्रीबेनीजी

श्रीबेनीजी भगवान्के अनन्य भक्त थे, उन्हें उनके अतिरिक्त दूसरी गति नहीं थी। ऐसे भक्तोंके लिये श्रीतुलसीदासजीने दोहावलीमें लिखा है—***बनै तो रघुबर ते बनै, कै बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे में धूर॥*** श्रीबेनीजीने अपने जीवनमें इस भावको चरितार्थ करके दिखा दिया। एक बार इन्हें कोई असाध्य रोग हो गया। लोगोंने औषधि-उपचार करने-करानेको बहुत कहा, लेकिन इन्होंने एक नहीं सुनी। ये तो भगवान्के भरोसे बैठे रहे। अन्ततोगत्वा स्वयं भगवान् ही वैद्य बनकर आये और इनका उपचार किया। इनका रोग तो भगवान्के दर्शन-स्पर्शसे ही दूर हो गया।

कलियुगकी भक्त नारियाँ

सीता झाली सुमति सोभा प्रभुता उमा भटियानी।
गंगा गौरी कुँवरि उबीठा गोपाली गनेसदे रानी॥
कला लखा कृतगढ़ौ मानमति सुचि सतिभामा।
जमुना कोली रामा मृगा देवा दे भक्तन बिश्रामा॥
जुगजेवा कीकी कमला देवकी हीरा हरिचेरी पोषे भगत।
कलिजुग जुबती जन भक्तराज महिमा सब जानै जगत॥ १०४॥

इस कलियुगमें भी ये युवतीजन (माताएँ) भक्तराज हुईं। इनकी महिमा सारा संसार जानता है। इनके नाम ये हैं—श्रीसीतासहचरीजी, श्रीझालीजी, श्रीसुमतिजी, श्रीशोभाजी, श्रीप्रभुताजी, श्रीउमा भटियानीजी, श्रीगंगाजी, श्रीगौरीजी, श्रीकुँवरिजी, श्रीउबीठाजी, श्रीगोपालीजी, रानी श्रीगणेशदेईजी, श्रीकलाजी, श्रीलखाजी, श्रीकृतगढ़ौजी, श्रीमानमतीजी, परम साध्वी श्रीसत्यभामाजी, श्रीयमुनाजी, श्रीकोलीजी, श्रीरामाजी, श्रीमृगाजी, श्रीदेवाजी, दोनों जेवाजी, श्रीकीकीजी, श्रीकमलाजी, श्रीदेवकीजी, श्रीहीराजी, श्रीहरिचेरीजी। ये सब भक्ताएँ भक्तोंको विश्राम देनेवाली तथा सब प्रकारसे उनका पालन-पोषण करनेवाली हुईं॥ १०४॥

इनमेंसे कतिपय भक्त नारियोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

रानी श्रीगणेशदेईजी

काशीवाले महाराज श्रीअनिरुद्धसिंहजी (करैया-दतिया) महान् धर्मात्मा थे। इनकी रानीका नाम विजयकुँवरि था। ये भी भगवद्भक्ता एवं पतिव्रता थीं। निरन्तर धर्माचरण-परोपकारके फलस्वरूप वि० संवत् १५६९ में इनके यहाँ एक पुत्रीका जन्म हुआ। जिसका बाल्यकालमें कमला, फिर गणेशदेई नाम प्रसिद्ध हुआ। इनपर माता-पिताका अपार वात्सल्य था। माताने पुत्रीको श्रीविश्वनाथभगवान्‌की उपासनाका उपदेश दिया। भोरी-भारी कन्याके सहज-प्रेमपर भगवान् विश्वनाथ रीझ गये और उन्होंने कृपा करके श्रीरामभक्तिका श्रेष्ठ वरदान दिया। वि० संवत् १५९६ में ओरछानरेश महाराजा मधुकरशाहके साथ आपका विवाह हुआ। ओरछानरेश महाराज मधुकरशाहजी अनन्य श्रीकृष्णभक्त थे और उनकी रानी श्रीगणेशदेईजी श्रीरामजीकी अनन्य उपासिका थीं। एक बार श्रावणके महीनेमें झूलनके उत्सवपर श्रीमधुकरशाहजी तो वृन्दावन आये और रानी श्रीगणेशदेईजीने अयोध्याकी यात्रा की। उत्सव समाप्त होनेपर महाराज श्रीमधुकरशाहजी तो ओरछा चले गये, परंतु श्रीगणेशदेईजी अयोध्यासे नहीं लौटीं। महाराज मधुकरशाहजीने दो-चार बार पत्र भी लिखा कि मैं श्रीवृन्दावनसे आ गया, अब तुम भी अयोध्यासे चली आओ। परंतु श्रीगणेशदेईजीका श्रीअवधमें ऐसा मन रमा कि उनका ओरछा जानेका मन ही नहीं करता था। अन्तमें श्रीमधुकरशाहजीने खिसियाकर पत्र लिखा कि 'बार-बार बुलानेपर भी नहीं आती हो, लगता है कि अबकी बार श्रीरामजीको लेकर ही लौटोगी।' राजाकी यह बात महारानी गणेशदेईको लग गयी। इन्होंने प्रेमावेशमें राजाको पत्र लिख दिया कि 'सचमुच अब तो मैं श्रीप्रभुको लेकर ही ओरछाको आऊँगी, अन्यथा यहीं शरीर छोड़ दूँगी।'

इसके बाद महारानी श्रीगणेशदेईजीने मनमें विचार किया कि राजा हमारे प्रेमका उपहास कर रहे हैं। अरे, हमारे समान तो श्रीराजारामकी न जाने कितनी दासियाँ हैं। यदि सबकी सब आग्रह करें तो श्रीराम श्रीअयोध्याका सुख छोड़कर दासियोंके साथ कहाँ-कहाँ जायँगे। फिर धाम छोड़नेका हठ कौन करेगा?

कहा गया है—*जो सेवक साहिबहिं संकोची। निज हित चहै तासु मति पोची॥* उधर बिना प्रभुको लिये मैं ओरछामें पाँव नहीं रख सकती; क्योंकि तब तो राजा मेरा और मेरे प्रभुका और भी अधिक उपहास करेंगे। यह सब सोचकर रानी प्रेमके कारण अत्यन्त विकल हो गयीं। इन्हें प्रभुका वियोग व्याप गया। जब विरह असह्य होने लगा तो रानी तन-त्यागका संकल्पकर श्रीसरयूजीमें कूद गयीं। परंतु यह क्या? अगाध जलराशिमें कूदते ही श्रीरघुनाथजी इनकी गोदमें आ गये और रानीको श्रीसरयूजीके प्रवाहसे बाहर निकाल लाये और बोले—चिन्ता मत करो, मैं तुम्हारे साथ सहर्ष ओरछा चलनेके लिये तैयार हूँ। श्रीप्रभुका दर्शनकर एवं कृपामय वचनोंको सुनकर रानी परमानन्दसिन्धुमें मग्न हो गयीं।

रानीने उस दिन श्रीअयोध्यामें बड़ा-भारी उत्सव मनाया और तुरंत महाराज मधुकरशाहको पत्र लिखा कि मैं प्रभुको लेकर आ रही हूँ, आप प्रभुके स्वागतकी तैयारी करें। पत्र पढ़ते ही राजाको महान् हर्ष हुआ। उन्होंने तुरंत राजारामके स्वरूपानुरूप विशाल मन्दिर बनवानेका हुक्म दे दिया और स्वयं श्रीरामजीके स्वागतार्थ बहुत बड़े लाव-लश्करको साथ लेकर श्रीअयोध्या आये। शुभ मुहूर्त पुष्य नक्षत्रमें प्रस्थानकी तैयारी हुई। प्रस्थानकालमें राजाने साधु-ब्राह्मणोंका दान-मानसे बहुत बड़ा सत्कार किया और सबकी आज्ञा एवं आशीर्वाद लेकर महाराजोचित साज-समाजके साथ बड़े समारोहपूर्वक ओरछाके लिये प्रस्थान किया। राजा-रानीने यात्राका नियम यह बना रखा था कि केवल पुष्य नक्षत्रमें चलते थे। इसके बाद विश्राम करते थे। महीनेभर एक जगह पड़ाव पड़ा रहता। महाराजोपचार विधिसे अनेकानेक उत्सव होते रहते। जब पुनः पुष्य नक्षत्रयुक्त शुभमुहूर्त आता तब प्रस्थान करते। इस प्रकार विविध उत्सव सुख-समारोहपूर्वक पुष्य नक्षत्रमें ही यात्रा करते हुए श्रीराजाराम ओरछा आये। यहाँ आनेपर राजा-रानीने बहुत बड़ा उत्सव मनाया। संयोगकी बात ओरछा आनेतक मन्दिर बनकर तैयार नहीं हो पाया था, शिखर बनना शेष था। अतः श्रीराजाराम भगवान्‌को रानीके महलमें ही विराजमान कराया गया। दर्शनार्थियोंका समुदाय उमड़ पड़ा प्रभु-दर्शनके लिये। सबने भगवान् श्रीराजारामका साक्षात् दर्शनकर अपनेको धन्य माना।

भगवान् श्रीराजारामका वह श्रीविग्रह खड़े रूपमें था। अतः महारानी श्रीगणेशदेईजी भी खड़े-खड़े ही प्रभुकी सेवा करती थीं। समस्त सेवा-कार्य अपने ही हाथसे करनेके कारण रानीको लगभग चार-चार घण्टेतक सेवामें खड़े रहना पड़ता था। रानीका सुकुमार शरीर इतना श्रम सहनेलायक नहीं था। अतः करुणावरुणालय श्रीप्रभुने एक दिन रानीसे कहा कि 'आज मेरे पाँव दुःख रहे हैं।' रानीने विकल होकर पूछा—'प्रभो! क्या कारण है?' तब भगवान्‌ने कहा—'इसलिये कि तुम बहुत देरतक खड़ी-खड़ी मेरी सेवा करती हो तो तुम्हारे पाँव दुःखने लगते हैं तो मेरे भी दुःखने लगते हैं। अतः तुम बैठकर मेरी सेवा किया करो। तुम्हारा कष्ट मुझसे सहा नहीं जाता है।' रानीने हाथ जोड़कर कहा कि 'प्रभो! हमें तो दो-चार घण्टे सेवामें खड़े रहना पड़ता है और आप तो परम सुकुमार होकर भी चौबीसों घण्टे खड़े ही रहते हैं। मैं आपसे भी अधिक सुकुमार थोड़े ही हूँ, जो चार घण्टे भी खड़ी नहीं रह सकती। आप खड़े रहें और मैं बैठकर सेवा-पूजा करूँ यह उचित नहीं है।' श्रीरामजीने कहा—'तो क्या मैं बैठ जाऊँ?' रानीने कहा—'हाँ, यदि आप बैठ जायँ तो मैं भी बैठकर सेवा-पूजा कर सकती हूँ।' भगवान्‌ने कहा कि 'अच्छा मैं तुम्हारे कहनेसे बैठ तो जाता हूँ, परंतु अब यहाँसे उठूँगा नहीं। यहीं अचल होकर रहूँगा।' रानीने स्वीकार कर लिया। फिर तो रानीके देखते-देखते श्रीराजारामजी वीरासनसे वहीं बैठ गये। जो दर्शनार्थी कल खड़े भगवान्‌का दर्शन कर गये थे, वे आज उन्हें बैठे देखकर बड़े चकित हुए और उन्हें यह विश्वास हो गया कि भगवान् मूर्ति नहीं बल्कि साक्षात् स्वरूप हैं। भला कहीं किसीने मूर्तिको बैठते देखा है। इस लीलासे भगवान्‌ने उन लोगोंका

सन्देह दूर कर दिया, जो इस बातपर अविश्वास करते थे कि रानीको श्रीराजाराम साक्षात् मिले हैं। मन्दिर तैयार होनेपर राजाने श्रीराजारामजीको मन्दिरमें विराजमान करवानेका प्रस्ताव रानीके सामने रखा तो रानीने श्रीराजारामजीकी अविचलताकी बात बतायी। तब राजा मधुकरशाहजीने श्रीराजारामपर प्रेमभरा व्यंग्य किया कि 'यदि घर घुसल्लू ही बनकर रहना था तो मन्दिर क्यों बनवाये?' रानीने यह बात श्रीराजारामको सुनायी तो उन्होंने कहा कि 'मैं तो आपके प्रेमवश आया हूँ, मुझे आपकी सेवा प्रिय है। अतः राजा कुछ भी कहें हम तो महलमें ही रहेंगे। उनसे कह दो कि वे मन्दिरमें किसी और मूर्तिको पधरा लें। तब राजाने उस नवनिर्मित मन्दिरमें चतुर्भुजभगवान्‌की प्रतिष्ठा की। आज भी मन्दिरमें चतुर्भुजभगवान् एवं महलमें श्रीराजारामका दर्शन होता है। महली चौखटपर आज भी यह दोहा अंकित है—***मधुकरशा महाराजकी रानी कुंवरि गणेश। अवधपुरीसे ओरछे लाईं अवध नरेश॥*** श्रीराजारामजीके प्रभावसे ओरछा तीर्थ बन गया। निर्जला एकादशी सं० १६४२ वि० गुरुवारको रानी श्रीगणेशदेईजी इस नश्वर शरीरको त्यागकर श्रीरामजीके चरणोंमें लीन हो गयीं।'

रानी गणेशदेईकी सन्तोंमें बड़ी निष्ठा थी। इनके यहाँ बहुतसे सन्त आते और ये उनकी अनेक प्रकारसे सेवा करते। खान-पानका सुख देखकर एक साधु बहुत दिन इनके यहाँ रह गया। एक दिन महलमें नितान्त अकेली देखकर उसने रानी गणेशदेईजीसे पूछा कि 'बताओ धन (मुहरों-जवाहरातों)-की थैलियाँ कहाँ हैं?' इन्होंने कहा कि यदि मेरे पास धनकी थैलियाँ हों तो बताऊँ। जब हैं ही नहीं तो क्या बताऊँ? तब उस साधु-वेषधारीने श्रीगणेशदेई रानीकी जाँघमें छुरी मार दी। खूनकी धारा बह चली। रक्तका प्रवाह देखकर वह तुरंत भाग गया। रानीको सोच हुआ कि कहीं राजा इस घटनाको जान जायँगे तो साधु-सेवा बन्द कर देंगे, अतः घावपर कसकर पट्टी बाँध ली और पौढ़ रहीं। उन्होंने किसीसे भी यह बात नहीं कही। जब राजा मधुकरशाहजी इनके पास आये तो इन्होंने कहा कि 'मेरे पास मत आइये। इस समय मुझे मासिक धर्म हुआ है।' तीन दिन बीतनेपर भी रानीको शय्यापर ही पड़ी देखकर राजा समीप जाकर बोले—हे प्रवीणे! तुम मुझसे व्यथाका सब रहस्य खोलकर कहो। तब भी रानीने दो-चार बार इस प्रसंगको टरकाया, परंतु इससे राजाका विचार और भी दृढ़ हो गया कि अवश्य ही इन्हें कोई नयी व्यथा है। अतः बारम्बार बतानेका आग्रह किया। तब रानीने कहा कि 'मैं बता तो दूँ, परंतु आप जानकर मनमें सन्तोंके प्रति सन्देह नहीं करना।' इसके बाद रानीने सब बात बता दी। तब रानीकी अपार सन्त-निष्ठा देखकर राजा बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने पति-पत्नी भावकी लज्जा और संकोचको छोड़कर, भक्तिका प्रभाव विचारकर अपनी रानी गणेशदेईकी परिक्रमा की और पृथ्वीपर पड़कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।

श्रीप्रियादासजीने रानी गणेशदेईकी इस सन्त-निष्ठाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

मधुकर शाह भूप भयो देश ओड़छे कौ रानी सो गनेसदेई काम बाँको कियो है।
आवैं बहु सन्त सेवा करत अनन्त भांति रह्यौ एक साधु खान पान सुख लियो है॥
निपट अकेली देखि बोल्यौ धन थैली कहाँ? होय तौ बताऊँ सब तुम जानौ हियौ है।
मारी जांघ छुरी लखि लोहू बेगि भागि गयौ भयौ सोच जानै जिनि राजा बंद दियौ है॥ ४१७॥
बांधि नीकी भांति पौढ़ि रही कही काहू सों न आयो ढिग राजा मति आवौ तिया धर्म है।
बीते दिन तीन जानी बेदन नबीन कछु कहिये प्रबीन मोसों खोलि सब मर्म है॥
टारी बार दोय चारि नृप के विचार पर्‌यौ कर्‌यौ समाधान जिन आनौ जिय भर्म है।
फिर्‌यौ आस पास भूमि पर तन रासकरी भक्तिकौ प्रभाव छांड़ि तिया पति सर्म है॥ ४१८॥

श्रीझालीरानीजी

झालीरानी चित्तौड़गढ़की रानी और श्रीरैदासजीकी शिष्या थीं। सन्तोंमें इनकी बड़ी निष्ठा थी। एक बार इनके यहाँ सन्तोंकी एक जमात आयी। जमातमें इनके एक गुरुभाई भी आये हुए थे। इनके मनमें दर्शनोंकी बड़ी अभिलाषा थी। परंतु राणा साहबने दर्शनार्थ जानेकी अनुमति तो नहीं ही दी, उल्टे द्वार-द्वारपर पहरा लगा दिया कि रानी महलसे बाहर निकलने न पायें और कोई साधु महलके भीतर न आने पायें। यदि कोई आया-गया तो पहरेदारोंको शूलीपर चढ़ा दिया जायगा। इस सख्त हुक्मसे सभी पहरेदार अत्यन्त चौकन्ने होकर पहरा दे रहे थे। इधर रानीके मनमें दर्शनकी चटपटी लगी। अतः यह सन्तोंके श्रीचरण-कमलोंका स्मरण करती हुई सन्तोंके दर्शनके लिये प्रेमावेशमें अकेली महलसे निकल पड़ी। भगवदिच्छा एवं सन्तोंकी कृपासे कोई भी पहरेदार रानीको जाते हुए देख नहीं सका। रानीने बड़े सुखसे सन्तोंका दर्शन किया और खूब भोग-भण्डारा, भेंट-पूजासे सन्तोंका सम्मान किया। उधर राजाको पता चला कि रानी तो महलसे निकलकर सन्तोंकी जमातमें चली गयीं तो उन्हें पहरेदारोंपर बहुत क्रोध आया। आकर उनको बहुत डाँट लगायी और बोले—'अच्छा, जो हुआ सो हुआ, अब खबरदार, रानी महलमें घुसने नहीं पायें। यदि अबकी असावधानी हुई तो किसीके भी प्राण नहीं बचेंगे।' राणा साहब पहरेदारोंको सावधानकर स्वयं भी बड़ी सतर्कतापूर्वक देखभाल करने लगे। परंतु रानी तो जैसे गयी थीं, वैसे ही पुनः महलमें आ भी गयीं और कोई देख नहीं पाया। जब राणा साहबको रानीके महलमें पहुँचनेका समाचार मिला तो उनकी आँखें खुल गयीं कि यह तो प्रत्यक्ष भक्तिका चमत्कार है। फिर तो रानीके साथ राणा साहब भी भगवत्-भागवत-सेवामें जुट गये।

श्रीशोभाजी

सन्त-सेवापरायणा श्रीशोभाजी अपने देवर-देवरानीके साथ रहती हुई निरन्तर भजन-साधनामें लगी रहती थीं। इनका देवर तो इनकी भक्ति-भावनासे सन्तुष्ट था, परंतु देवरानी कुढ़ा करती थी। एक बार देवरने एक जोड़ा सोनेका कंकण बनवाया और शोभाजीको ही रखनेके लिये देकर स्वयं परदेश चला गया। इनकी देवरानीको भला यह कब सहन होने लगा। वह शोभाको तो कुछ नहीं कह सकी, परंतु अवसर पाकर शोभाके पास रखा हुआ कंकण उसने चुरा लिया और पृथ्वीमें गाड़ दिया। श्रीशोभाजी तो सदा सन्त-सेवा और सत्संगमें पगी रहती थीं, कंकणकी ओरसे उनका ध्यान ही हट गया था, अतः कंकण चोरीकी उन्हें जानकारी ही नहीं थी। जब देवर परदेशसे आया और कंकण मांगा, तब ये कंकण लेने गयीं, परंतु देखा तो कंकण नदारद था। इससे शोभाजीको बड़ा संकोच हुआ। इन्होंने देवरसे सही-सही बात कह दी कि मैंने तो अमुक स्थानपर रखा था, परंतु बीचमें मुझे उसे सँभालनेका ध्यान नहीं रहा, आज देखा तो कंकण वहाँ नहीं मिला। देवर चुप लगा गया। परंतु देवरानी कब चुप बैठनेवाली थी। वह तो अपने पतिका कान भरने लगी कि रोज साधुओंको बुला-बुलाकर हलवा-पूरी खिलाती हैं। एक जाते हैं तो दो साधु आते हैं। उनकी सेवामें खूब पैसा खर्च होता है। आप निश्चय मानिये इन्होंने कंकण बेचकर साधुओंको खिला दिया है। देवरानीका यह झूठा आरोप सुनकर श्रीशोभाजीको बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने भगवान्से प्रार्थना की कि 'प्रभो! यह झूठा कलंक आप दूर करो।' प्रभुकृपासे शोभाजी जब सोकर उठीं तो कंकणको खाटपर पाया। इन्होंने तुरंत देवरको बुलाकर कंकण देकर सन्तोषकी साँस ली। जब यह बात इनकी देवरानीको मालूम हुई तो उसने भी पृथ्वी खोदकर देखा तो कंकण वहींपर गड़ा मिला। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस कंकणको भी लाकर अपने पतिको दे दिया और अपने कपटकी बात सुनाते हुए श्रीशोभाजीसे क्षमा-प्रार्थना की। उसी

समय एक चमत्कार और हुआ, वह यह कि जब इनकी देवरानीने पहला कंकण लाकर दिया तो भगवद्दत्त कंकण अदृश्य हो गया। तब तो देवर-देवरानी दोनों ही इनके चरणोंमें नतमस्तक हो गये और उपदेश लेकर स्वयं भी सन्त-सेवामें लग गये।

श्रीप्रभुताजी

यह भक्तवर श्रीरैदासजीकी धर्मपत्नी थीं। श्रीरैदासजीकी तरह इनकी भी सन्तोंके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। एक दिन घरपर सन्त आये, परंतु घरमें एक मुट्ठी अन्न भी नहीं था। श्रीरैदासजीको बड़ा शोच हुआ। पतिको शोचग्रस्त जानकर श्रीप्रभुताजीने धैर्य बँधाया और तुरंत अपनी सासके पास जाकर बोलीं कि 'मुझे कहीं बाहर जाना है, थोड़ी देरके लिये आप अपना हमेल (गलेमें पहननेका एक आभूषण) हमें दे दीजिये। मैं अभी लाकर वापस कर दूँगी।' सास इनकी बातमें आ गयी और अपना हमेल दे दिया। इन्होंने वह हमेल श्रीरैदासजीको देकर कहा कि 'शीघ्र इसे बेचकर सन्तोंकी सेवा कीजिये।' श्रीरैदासजीने ऐसा ही किया। उधर जब बहुत देर होनेपर भी हमेल लौटकर नहीं आया तो प्रभुताजीकी सासको खलबली पड़ी। उसने पूछताछ करवायी तो पता चला कि हमेल तो बिककर सन्त-सेवामें लग गया। तब तो वह बहुत ही नाराज हुई और उसने श्रीप्रभुताजीको कोठेमें बन्द कर दिया। बिना अन्न-जलके प्रभुताजी रातभर कोठेमें बन्द रहीं। प्रातःकाल भगवान् श्रीरैदासजीका रूप धरकर हमेल ले आये। जब सासको हमेल मिल गया तब उसने श्रीप्रभुताजीको छोड़ा। घर आकर श्रीप्रभुताजीने पतिसे पूछा कि हमेल कैसे छुड़ा लाये? पैसा इतनी जल्दी कहाँ मिला? श्रीरैदासजीने कहा कि 'हमें न तो कहींसे पैसा ही मिला, न हमने हमेल ही छुड़ाया, न दिया। कैसी बात कर रही हो? तब श्रीप्रभुताजी समझ गयीं कि मेरे पतिके रूपमें साक्षात् परमात्माने ही हमेल छुड़ाकर हमें बन्धनसे मुक्त किया।' उस दिनसे श्रीरैदासजी और उनकी पत्नीकी सन्त-सेवामें और भी निष्ठा हो गयी।

श्रीउमा भटियानीजी

श्रीउमा भटियानीजी जैसलमेरके राजाकी कन्या और जोधपुरके राव मालदेवकी रानी थीं। १५९३ सम्वत्‌में आपका विवाह हुआ। आपमें बचपनसे हरिभक्तिके दिव्य संस्कार थे। पति-भवनमें पहुँचकर निरन्तर 'भगवत्स्मरण ही करना है।' इस निश्चयके साथ विवाहके पश्चात् पहले-पहल जब पति-दर्शनार्थ उनके भवनमें गयीं, तो इन्हें वहाँ एक मनचली दासी दिखलायी पड़ी। इससे आप अपने पतिसे रूठ गयीं और उन्हें प्रणाम करके चली आयीं। आपने निश्चय किया कि अपने पिताके घर रहकर ही हरि-भजनमें जीवन बिताऊँगी। आपकी भक्तिसे प्रभावित होकर राव मालदेवके मनमें आया कि किसी प्रकार रानी उमा भटियानीजी जोधपुर आकर रहें और सुखपूर्वक यहाँ ही रहकर भगवद्भजन करें। संवत् १६०४ में आसवदासजी चारणको राजाने मनानेके लिये भेजा। आपके भजनमें बाधा न होगी, ऐसा पूरा आश्वासन प्राप्तकर आप पालकीमें बैठकर जोधपुर चलीं। मार्गमें विश्रामस्थलपर किसी चारणने यह दोहा कहा—*'मान रखे तो पीव तज, पीव चहे तज मान। दो-दो गयन्द न बँधहीं एकहि कम्बू ठान॥'* यह सुनकर आप उसी स्थानपर रह गयीं। पिता एवं पति दोनोंकी ओरसे आपको सद्भाव प्राप्त रहा। एकान्तमें भजनके अतिरिक्त किसीसे आपने व्यवहार नहीं रखा। संवत् १६१९ में राजा मालदेवके मरनेपर लौकिक, वैदिक प्रथाके अनुसार आप सती हो गयीं। इतिहासमें आपके पवित्र जीवन एवं भगवत्प्रेमकी महती प्रशंसा है। आपकी सन्तोंके प्रति अगाध श्रद्धा थी। विविध प्रकारके व्यंजन बनातीं, भगवान्‌को भोग लगातीं और सन्तोंको भी खिलाती थीं। एक बार एक सन्तने आकर इनसे कहा कि 'मेरे श्रीगुरुजीका उत्सव है, उसमें दो हजार रुपयोंकी

आवश्यकता है। यदि आपसे हो सके तो उसकी व्यवस्था कर दीजिये। श्रीउमा भटियानीजीने तुरंत अपने समस्त आभूषण बेचकर सन्तको दो हजार रुपये दे दिये। उसी रात ऐसा चमत्कार हुआ कि इन्होंने अपने जितने गहने बेचे थे, वे सब आकाशसे इनके आँगनमें बरस गये। इन्होंने पहचाना तो अपने ही गहने थे। इस प्रसंगसे इनकी सन्त-सेवामें और अधिक निष्ठा हो गयी तथा सर्वत्र इनकी उदारताकी चर्चा होने लगी। इस बातको एक ढोंगीने सुना तो वह भी सन्तका वेष बनाकर इनके यहाँ आया और आभूषण माँगने लगा। इन्होंने उसे भी सहर्ष अपने सभी आभूषण दे दिये, परंतु वह ढोंगी जब इनके आभूषण लेकर नगरसे बाहर भागने लगा तो अन्धा हो गया। फिर वह नगरकी ओर लौटा तो आँखोंकी ज्योति पूर्ववत् ठीक हो गयी। तब उसने नगरमें रहनेका भी निश्चय किया। परंतु नगरमें भी जब वह रातको सो रहा था तो स्वप्नमें भगवान्ने भय दिया कि 'क्यों रे मूढ़! अभी भी तेरा अज्ञान दूर नहीं हुआ। शीघ्र उस भागवतीके आभूषणोंको लौटाओ, अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। तुमको मालूम होना चाहिये कि भक्तका धन तो भक्तोंकी ही सेवामें लगेगा।' तब तो वह ढोंगी डरकर इनके सभी आभूषण लौटा गया और चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगी। श्रीउमा भटियानीजीने उसे सन्त-सेवाका उपदेश दिया।

श्रीगौराबाईजी

भगवत्कथा-कीर्तन-श्रवण एवं भक्तोंकी सेवा यही आपकी दिनचर्या थी। सेवाकी ख्यातिके कारण दूर-दूरके बड़े-बड़े सन्त-महात्मा आते ही रहते थे। उनके दर्शन एवं कीर्तनसे आप परमानन्दमें विभोर रहतीं। एक बार आपके यहाँ कई सिद्ध सन्त एक साथ पधारे। श्रीगौराबाईने बड़े प्रेमभावसे उनकी सेवा की। उस दिन सत्संगमें उन सन्तोंने श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका वर्णन करते हुए कहा कि—जो प्रभु अमलात्मा योगीन्द्र मुनीन्द्रोंके ध्यानमें सहसा नहीं आते, उन्होंने प्रेमपरवश होकर यशोदाका स्तनपान किया और उन्हें अपनी मधुर बाललीलाओंसे परमसुख प्रदान किया। इस कथाको श्रवणकर श्रीगौराबाईने कहा—'धन्य हैं श्रीयशोदाजी, जिनका स्तन-पान करके श्यामसुन्दरको तुष्टि-पुष्टि प्राप्त हुई।' सन्तोंने कहा—धन्यवादके योग्य प्रेम है, आज भी यदि किसीको प्रेम हो तो प्रभु बालक बनकर उसका पय:पान कर सकते हैं। वात्सल्य-रसमयी श्रीगौराजीके मनमें भगवान्को स्तन-पान करानेकी बलवती इच्छा जाग्रत् हो उठी। इनके परम प्रेमको देखकर रातमें स्वयं भगवान् बालरूप धारणकर श्रीगौराबाईका स्तन-पान करने लगे। पय:पानसे सन्तुष्ट होकर बालगोविन्द किलकारी मारने लगे। भगवान्को स्तन-पान कराकर गौराबाई प्रेममग्न हो गयीं। कुछ देर बाद बालमुकुन्द भगवान्ने उन्हें अचेत देखकर रुदन आरम्भ कर दिया। श्रीगौरादेवी उन्हें गोदमें लेकर चुप करानेकी इच्छासे उठीं। बालकके रुदनसे सन्त लोग जग गये। घटनाका विवरण सन्तोंसे कहना चाहती थीं। तभी उनकी गोदसे शिशु श्यामसुन्दर अन्तर्धान हो गये, बाईके स्तनोंसे अब भी दूध टपक रहा था। विरहसे व्यथित भक्ताको सन्तोंने धैर्य दिलाया और भाग्यकी प्रशंसा करके कहा—'तुम्हारा सच्चा प्रेम देखकर प्रभुने तुम्हारी अभिलाषा पूरी कर दी।' बाईजीके प्रभावसे अनेकोंने भगवत्प्रेम प्राप्त किया।

श्रीकलाबाईजी

श्रीकलाबाईजीकी श्रीगुरुगोविन्दके चरणोंमें अपार श्रद्धा थी। एक बार आपको समाचार मिला कि गुरुदेव पधार रहे हैं। आपके मनमें परम सुख हुआ। गुरु-दर्शन-सत्संगके अनेक भावमय चित्र मनमें उभरने लगे। उससे प्रेमके सात्त्विक भावोंका शरीरमें उदय हो गया। कब आयें, कब दर्शन हों, इस सोच-विचारमें पड़ी हुई श्रीबाईजीको समाचार मिला कि—'गुरुदेव तो जमातके साथ इस गाँवकी ओर न आकर आगेके गाँवमें पहुँच गये।' यह सुनते ही श्रीकलाबाईजीको आवेश आ गया। स्तन-पान करते हुए शिशुको पालनेमें

छोड़कर गुरुदर्शनार्थ दौड़ीं। पाँच कोसकी दौड़ लगानेपर श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए। उनके चरणोंमें प्रणामकर दर्शन-सत्संगकर इन्हें परम सन्तोष हुआ। तबतक रात हो गयी। वहाँसे घरको वापस लौटना असम्भव जानकर आप रातको वहाँ ही रह गयीं। रातको सहसा आपके मनमें शिशुका स्मरण आया। उसे क्षुधित अनुमानकर वात्सल्यवश स्तनोंसे दुग्धकी धार बहने लगी। आपका हृदय व्याकुल हो उठा। कुछ तन्द्रा-सी आनेके बाद जब आप सचेत हुईं तो आपने देखा कि एक बालक साथ ही लेटा हुआ स्तन-पान कर रहा है। उठकर उजालेमें देखकर पहचाना तो वह अपना वही पुत्र था, जिसे वे पालनेमें छोड़ आयीं थी। इस चमत्कारको देखकर सभी लोगोंके मनमें श्रीकलाबाईके प्रति अपार श्रद्धा एवं गुरुगोविन्दकी भक्तिमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया।

श्रीजीवाबाईजी

श्रीजीवाबाईजी भगवान् श्रीकृष्णकी अनन्य भक्त थीं। आपका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। अनन्य प्रेमके प्रभावसे सभी लोग आपको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। सम्पर्कमें आनेवाली सभी नारियोंको आप भगवान्‌की भक्तिकी शिक्षा दिया करती थीं। इससे नारी-जगत्‌में आप विशेष सम्माननीया थीं। एक बार इनके पुत्रको शीतला निकलीं। लोगोंने शीतला देवीकी मान्यता-पूजाका आग्रह किया। पतिदेवने भी विशेष जोर दिया। पर आपने किसीकी एक न मानी। अपने इष्टदेव श्यामसुन्दरका ही स्मरण करती रहीं। पतिदेवने क्रोधित होकर कहा कि—'कहना नहीं मान रही हो, यदि बालक मर गया तो तुझे भी मैं जीवित ही जला दूँगा।' श्रीजीवाजीने कुछ भी उत्तर न दिया, क्योंकि उन्हें भगवान्‌में अटूट विश्वास था। वे जीवन-मरणके मोहमें नहीं थीं। बालककी दशा बिगड़ती गयी और अन्तमें उसका प्राणान्त हो गया। पतिने तरह-तरहकी खरी-खोटी सुनायी। श्रीजीवाजीने बिना किसी विषादके श्मशानमें जाकर चिता तैयार की और मृत बालकको गोदमें लेकर जलनेके लिये चितापर बैठ गयीं। ऐसा करनेसे सभी लोगोंने और स्वयं पतिदेवने भी मना किया, परंतु अपने पतिदेवके प्रथम वाक्यको सत्य करनेका निश्चय करके जीवित ही जलना चाहा। ऐसी आपकी दृढ़ताको देखकर प्रभु प्रसन्न हो गये और गोदका बालक जीवित हो गया। यह देख-सुनकर सभीको भगवद्भक्तिकी महिमाका ज्ञान हुआ। सबने इसे प्राप्त करनेकी इच्छा की। अनन्यनिष्ठ भक्तका योग-क्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं—यह सत्य हो गया।

श्रीजेवासीजी

जेवासी श्रीलाखा भक्तकी धर्मपत्नी थीं। आप सर्वदा अपने पतिदेवकी रुचिके अनुसार ही सन्तोंकी खूब सेवा करती थीं। जब श्रीलाखाजीने जगन्नाथजीकी यात्रा की, उस समय आपने घरपर रहकर श्रीलाखाजीसे भी अच्छी सन्त-सेवा की। इनके सद्भावसे एक दिन कई महान् सिद्ध सन्तोंने दर्शन देकर आशीर्वाद दिया और कहा—'श्रीलाखाजीको आज भगवान्‌ने पालकीपर बैठाकर शीघ्र अपने पास बुलाया है।' यह सुन्दर समाचार जेवासीजीको सुनाकर वे सन्त अन्तर्धान हो गये।

श्रीकीकीजी

आप जाड़ामेरुकी पुत्री एवं लाखा चारणकी पत्नी थीं। सं० १६०० में अकाल पड़नेपर आपने पूर्वजोंकी सम्पत्तिमेंसे खूब धन बाँटा। भगवत्कृपासे धनकी विशेष वृद्धि हुई। आपके भक्तिके प्रभावको देखकर सभी लोग भक्तिनिष्ठ हो गये। इनके पुत्र श्रीनरहरिदासजी चारण हुए। माताके प्रभावसे ये भी भक्त हुए और इन्होंने वि० सं० १७८७ में 'अवतारचरित' नामक ग्रन्थकी रचना की।

श्रीगंगाबाईजी

श्रीगंगाबाई श्रीगुरुदेवको ही गोविन्दका स्वरूप मानती थीं। विवाहके पूर्व ही इन्होंने गुरुदेवसे दीक्षा लेकर भजन-पाठमें अपना मन लगाया। समयपर पिता-माताने आपका विवाह कर दिया। गौनेके समय इनके पतिदेव इन्हें लेने आये। ये अपने गुरुदेवको प्रणाम करने गयीं। तब गुरुदेवने आशीर्वाद दिया कि—'तेरो पति अस्सी वर्षतक जीवित एवं स्वस्थ रहे।' ये घरसे विदा होकर अपने पतिके साथ चलीं। वनमार्गमें इन्हें ठग मिले, उन्होंने इनके पतिको मारकर सब धन-आभूषण छीन लिये। तब आपने अपने गुरुदेवका ध्यान करके प्रार्थना की—'प्रभो! आपका आशीर्वाद मिथ्या नहीं हो सकता है, फिर यह सब कैसे हुआ?' इनकी सच्ची गुरुवाक्य-निष्ठासे प्रभु झट वहीं प्रकट हो गये और उन्होंने इनके पतिदेवको जीवितकर दुष्टोंको दण्ड दिया। इससे इनके पति भी परम भक्त हो गये और दम्पतीने आजन्म भगवद्भजन किया।

श्रीहरिके सम्मत भक्त

नरबाहन बाहन बरीस जापू जैमल बीदावत।
जयंत धारा रुपा अनभई ऊदारावत॥
गंभीरा अर्जुन्न जनार्दन गोबिंद जीता।
दामोदर साँपिले गदा ईस्वर हेमबिदीता॥
मयानंद महिमा अनँत गुढिले तुलसीदास।
हरि के संमत जे भगत ते दासनि के दास॥ १०५॥

श्रीनरवाहनजी, श्रीवाहन वरीसजी, श्रीजापूजी, श्रीजयमलजी, श्रीबीदावतजी, श्रीजयन्तजी, श्रीधाराजी, श्रीरूपाजी, श्रीअनुभवीजी, श्रीऊदारावतजी, श्रीअर्जुनजी (गम्भीरे), श्रीजनार्दनजी, श्रीगोविन्दजी, श्रीजीताजी, साँपले ग्रामवासी श्रीदामोदरजी, श्रीगदाजी, श्रीईश्वरजी, श्रीहेमबिदीताजी, श्रीमयानन्दजी और गुढ़ीले ग्रामवासी श्रीतुलसीदासजी। इन सभी सन्तोंकी महिमा अनन्त है। जो भक्त सदा भगवान्‌के मतसे सहमत हैं, मैं उनके दासोंका दास हूँ॥ १०५॥

इनमेंसे हरिके सम्मत कुछ भक्तोंका चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीनरवाहनजी

महाप्रभु श्रीहितहरिवंश गोस्वामीसे दीक्षा लेनेसे पूर्व श्रीनरवाहनजी डाकुओंके सरदार थे। ये यमुना-तटपर स्थित भैगाँवके निवासी थे। वहाँ इनकी गढ़ीके अवशेष अब भी विद्यमान हैं। लोदीवंशका शासन सं० १५८३ में समाप्त हो जानेके बाद दिल्लीके आस-पास कुछ समयतक अराजकताकी स्थिति रही थी। इस कालमें नरवाहनने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी और सम्पूर्ण ब्रजमण्डलपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। आसपासके नरेश तो इनसे डरने ही लगे थे, ये दिल्लीके शासकोंकी आज्ञाका भी उल्लंघन करने लगे थे।

वृन्दावन उस समय एक घना जंगल था। श्रीचैतन्य महाप्रभुके कृपापात्र कुछ बंगाली सन्त यहाँ बसनेकी चेष्टा कर रहे थे, किन्तु डाकुओंके आतंकसे यहाँ जम नहीं पा रहे थे। इसी कालमें सं० १५९१ में श्रीहित-हरिवंश गोस्वामी श्रीराधावल्लभजीके विग्रह एवं अपने परिवार-परिकरसहित वृन्दावन पधारे और ब्रजवासियोंसे भूमि लेकर श्रीवृन्दावनमें निवास करने लगे। उनकी कीर्ति सुनकर एक दिन ये उनसे मिलने

आये। श्रीहिताचार्य उस समय अपने शिष्य नवलदासजीके साथ भगवच्चर्चा कर रहे थे। नरवाहनजी एक तरफ बैठकर उसे सुनते रहे और अपलक नेत्रोंसे महाप्रभुजीके दर्शन करते रहे। उस समय इनको ऐसा लग रहा था कि वे किसी घोर निद्रासे धीरे-धीरे जाग रहे हैं और उनके चारों ओर एक अद्भुत प्रकाश फैलता जा रहा है, जो अत्यन्त सुहावना और शान्तिदायक है। इनके हृदयमें निर्वेदका भाव उठने लगा और इनको अपने पिछले हिंसापूर्ण कृत्योंपर पश्चात्ताप होने लगा। इनकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो गयी और इन्होंने अपना मस्तक महाप्रभुके चरणोंमें रख दिया। श्रीहिताचार्यने इनकी ओर करुणार्द्र दृष्टिसे देखा और इनके मस्तकपर हाथ रखा।

नरवाहनजी और अधिक भाव-विह्वल हो उठे। इन्होंने श्रीहिताचार्यसे अपनी शरणमें लेनेकी प्रार्थना की। महाप्रभुने इनको दीक्षा दे दी और भविष्य में सम्पूर्ण क्रूर-कर्मोंको छोड़कर वैष्णवजनोचित आचरण करनेकी आज्ञा दी। इसके बाद इनको उपासनाका स्वरूप बताया और गुरु, इष्टधामकी महिमा समझायी। नरवाहनजीने अपनी गढ़ीमें वापस पहुँचकर वहाँका सम्पूर्ण वातावरण बदल दिया और सेवामें अपना सारा समय लगाने लगे। लूट-पाट बन्द कर देनेसे अब इनके तथा इनके आश्रित कर्मचारियोंकी जीविकाका साधन खेतीमात्र रह गया था या वह चुंगी रह गयी थी, जो इनके कर्मचारी यमुनाजीमें गुजरनेवाली मालवाहक नौकाओंसे लेते थे। इनके आचरण-परिवर्तनकी सूचना चारों ओर फैल गयी थी। दबदबा समाप्त हो जानेके कारण इनके कर्मचारियोंको चुंगी वसूलनेमें भी कठिनाई पड़ने लगी।

कुछ ही दिन बाद, एक जैन व्यापारी कई नावोंमें बहुमूल्य सामान लादे हुए यमुनाजीमें दिल्लीसे आगराकी ओर यात्रा कर रहा था। व्यापारीने कई बजरों (बड़ी नावों)-में अपने साथ बन्दूकोंसे सुसज्जित सैनिक तैनात कर रखे थे और वह किसीको चुंगी देनेको तैयार नहीं था। नरवाहनजीके कर्मचारियोंको ऐसे लड़ाकू व्यापारीके आनेकी पूर्व सूचना मिल चुकी थी और उन्होंने भी अपने सैनिक बुला लिये थे। चुंगी माँगनेपर व्यापारीने बन्दूकोंसे लड़ाई छेड़ दी। इधरसे भी बन्दूकें चलने लगीं और उसके सशस्त्र बजरे डुबा दिये गये। नरवाहनजीके सैनिकोंने नावोंका माल लूट लिया और व्यापारीको बन्दी बना लिया। इस युद्धमें दोनों ओरके अनेक सैनिक मारे गये और यमुनाजीका जल रक्त-रंजित हो गया।

इनके अनुगतोंने बन्दी व्यापारी एवं उसके तीन लाख मुद्राके सामानको ले जाकर नरवाहनजीके सामने प्रस्तुत किया। युद्धका वृत्तान्त सुनकर नरवाहनका मन खिन्न हो उठा और उनको उस व्यापारीपर क्रोध आ गया। ब्रजवासियोंकी हत्या करनेके कारण इन्होंने व्यापारीकी भर्त्सना की और आज्ञा दी कि उसको हथकड़ी-बेड़ीमें जकड़कर कारागारमें डाल दिया जाय और जबतक वह इतना ही धन घरसे न मँगा दे तबतक उसको छोड़ा न जाय।

नरवाहनजीकी एक दासी उस समय वहीं उपस्थित थी। व्यापारी तरुण और सुन्दर था। उसको देखकर दासीके मनमें करुणा आ गयी। वह उसकी मुक्तिका उपाय सोचने लगी। व्यापारीको कारागारमें बन्द हुए कई महीने हो गये, किन्तु वह अपने घरसे धन न मँगा सका। नरवाहनजीके कर्मचारियोंने कुछ ही दिनों में उसे फाँसीपर लटकानेकी योजना बना रखी थी और इनके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दासीको जब इसकी सूचना मिली तो वह घबड़ा उठी और एक दिन अर्द्धरात्रिके समय कारागारके द्वारपर जाकर उसने सोते हुए व्यापारीको जगाया। दासीने उससे कहा कि तुझको शीघ्र ही फाँसीपर लटकाया जायगा। व्यापारी घबड़ाकर दासीसे अपनी जीवन-रक्षाका उपाय बतानेकी प्रार्थना करने लगा। दासीने कहा 'तेरे बचनेका एक मन्त्र मैं तुझको बताती हूँ। मैं तुझको यह कण्ठी माला दे रही हूँ। इसे तू अपने गलेमें बाँध ले और

'श्रीराधावल्लभ-श्रीहरिवंश' नामकी प्रात:काल ब्राह्म वेलामें धुन लगा देना। इस नामको सुनकर नरवाहनजी स्वयं दौड़े हुए तेरे पास आ जायेंगे। तू उनसे यह कहना मैं श्रीहरिवंशजीका शिष्य हूँ, तब वे अपने हाथसे तेरी हथकड़ी खोल देंगे और तुझे तेरा सम्पूर्ण धन वापस देकर तुझे आदरपूर्वक विदा कर देंगे।'

दासीके जानेके कुछ देर बाद ही व्यापारीने पूरी शक्तिसे 'श्रीराधावल्लभ-श्रीहरिवंश' नामकी धुन लगा दी। नरवाहनजी उस समय नित्य दैनिक कर्मोंको कर रहे थे। वे श्रीहरिवंश नाम सुनते ही दौड़े हुए कारागार चले आये और व्यापारीसे यह सुनकर कि वह श्रीहरिवंशजीका शिष्य है, उससे क्षमा माँगने लगे। प्रात: होते ही इन्होंने व्यापारीको स्नान कराकर उसको नवीन वस्त्र पहनाया तथा उसका पूरा धन वापस दे दिया। चलते समय इन्होंने व्यापारीको दण्डवत्-प्रणाम करके उसकी रक्षाके लिये अपने सेवक उसके साथ कर दिये।

व्यापारीके मनपर नरवाहनजीके व्यवहारका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वह भैगाँवसे सीधा श्रीवृन्दावन आया। यहाँ उसने श्रीहरिवंशजी महाराजके दर्शन किये और अपना सारा द्रव्य उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया। उसने अत्यन्त दीनतापूर्वक महाप्रभुजीसे प्रार्थना की कि आपका मंगलमय नाम कपटपूर्वक लेनेसे ही मेरी प्राण-रक्षा हो गयी। अब आप मुझे दीक्षा देकर मेरे इस नये जन्मको कृतार्थ कर दीजिये। महाप्रभुजीने उसका आग्रह देखकर उसको दीक्षा तो दे दी, किंतु उसका धन स्वीकार नहीं किया तथा व्यापारीको श्रीहरि-हरिजनकी सेवा करनेका आदेश देकर विदा कर दिया। उसके जानेके कई दिन बाद नरवाहनजी महाप्रभुजीसे मिले तो महाप्रभुजीने उन्हें अपने हृदयसे लगा लिया और उनको किसी भी परिस्थितिमें हिंसाका मार्ग न अपनानेकी शिक्षा दी। नरवाहनजीकी अद्भुत गुरुनिष्ठासे प्रसन्न होकर श्रीहिताचार्यने अपने दो पदोंमें उनके नामकी छाप दे दी! ये दोनों पद हित चौरासीमें संकलित हैं।

श्रीप्रियादासजीने श्रीनरवाहनजीकी इस गुरुनिष्ठाका वर्णन अपने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

रहैं भौगांव नांव, नरबाहन साधुसेवी, लूटि लई नाव जाकी, बंदीखानै दियौ है।
लौंडी आवै दैंन कछू खायबे को, आई दया, अति अकुलाई, लै उपाय यह कियौ है॥
बोलौ 'राधाबल्लभ' औ लेवौ 'हरिवंश' नाम, पूछै 'शिष्य' नाम कहौ, पूछी नाम लियौ है।
दई मंगवाय वस्तु राखियो दुराय बात आय दास भयौ कही रीझि पद दियौ है॥ ४१९॥

इन पदोंके अतिरिक्त नरवाहनजीकी स्वयंकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

हित चौरासीमें उक्त दोनों पद ११ और १२ संख्याके हैं। उन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

(१)

मंजुल कल कुंजदेस राधाहरि विसद वेस,
राका नभ कुमुद बन्धु 'सरद' जामिनी।
साँवल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक संग,
नीरद मनि नील मध्य लसत दामिनी॥
अरुण पीत नवदुकूल अनुपम अनुरागमूल
सौरभ जुत सीत अनिल मन्द गामिनी।
किसलय दल रचित सैन बोलत पिय चाटु बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी॥
मोहन मन मथत मार परसत कुच नीबीहार,
वेपथ युत नेति-नेति वदत भामिनी।

'नरवाहन' प्रभु सुकेलि बहुविधि भरभरत झेलि
सौरभ रस रूप नदी जगत पावनी॥

(२)

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नंदिनी।
निर्तत जुवती समूह राग रंग अति कुतूह,
बाजत रसमूल मुरलिका अनंदिनी॥
बंसी वट निकट जहाँ, परम रमन भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय बहैं, वायुमन्दिनी।
जाती ईसद विकास कानन अतिसय सुवास।
राका निसि सरद मास विमल चंदिनी।
'नरवाहन' प्रभु निहारि लोचन भरि घोस नारि,
नख सिख सौन्दर्य काम दुख निकंदिनी॥
बिलसहु भुज ग्रीवमेलि, भामिनि सुख सिन्धु झेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी॥

श्रीनरवाहनजी अपना धाम, धन और परिवार अपने गुरु हरिवंशचन्द्रकी कृपाका फल मानते थे। गुरु-चरणोंमें इनकी अनन्य आस्था थी। इस कारणसे इनका यश संसारमें फैल गया था। गुरुदेव भी इनकी गुरु-भक्तिके नये-नये चरित्र देखकर रीझ गये और अपने चौरासी पदोंमेंसे दो पदोंमें इनके नामकी छाप लगा दी। इनके साथ ही उन्होंने नरवाहनजीको निकुंजधामका सम्पूर्ण वैभव भी दरसा दिया। चाचा वृन्दावनदास कहते हैं कि नरवाहनजीके हृदयमें गुरुभक्ति इस प्रकारसे झलकती थी जिस प्रकार काँचकी शीशीमें लाल रंग झलकता है—

श्री हरिवंश प्रसाद धाम धन अरु परिवारा।
फल्यौ भक्ति विश्वास सुजस पूरित संसारा॥
श्री गुरु भये कृपाल देखि तिहिं चरित नवीने।
चौरासी पद माँहि जुगल पद ताकौ दीने॥
यह रीझ रावरी अति भई दरसाई वैभव धाम धुरु।
ज्यौं सीसी झलकि मजीठ रँग नरवाहन उर भक्ति गुरु॥

नरवाहनकी प्रशस्ति निम्नलिखित शब्दोंमें की गयी है—

श्री नरवाहन नर श्रेष्ठ भयौ व्रज मंडल माहीं।
नंद घाट भैगाम तरनिजा निकट रहाहीं॥
सर्वसु श्री हरिवंश नाम राधावर गाइन।
जग में जिनकी ख्याति इष्ट-गुरु-धर्म पराइन॥
रसिकन सुभट उदार मति सुनि हित नाम विवश हियौ॥
बनिक चरन गहि काटि बन्ध बहुत विनै करि धन दियौ॥

नरवाहनजीके सम्बन्धमें ध्रुवदासजीने अपनी 'भक्त नामावली' में कहा है—

कहा कहों नहि कहि सकौं नरवाहन कौ भाग।
श्री मुख जाकौ नाम धरयौ निज वाणी अनुराग॥

श्रीजापूजी

ये परम प्रेमी भगवद्भक्त थे। नित्य ही सन्त-भगवन्त-सेवा एवं उत्सवोंकी धूम आपके यहाँ मची रहती थी। अपना सर्वस्व व्यय करनेके बाद आप सन्त-सेवाके निमित्त राहजनी करने लगे। बड़े-बड़े धनी-मानियोंको लूटते थे। गरीबोंको कभी भी नहीं सताते थे। लूटकर लाये धनको अपने उपयोगमें नहीं लेते थे। एक बार एक सुनारको आपने लूटा और आकर भण्डारा किया। सुनारने आपके घरपर आकर झगड़ा किया। झगड़ा बढ़ते देखकर सिपाहियोंने दोनोंको पकड़कर राजाके सामने उपस्थित किया। राजाने दोनोंको कारागारमें डाल दिया। श्रीजापूजीको अपनी चिन्ता न थी, पर सन्त-सेवासे वंचित होनेसे चिन्तित हुए। रातको राजासे स्वप्नमें भगवान्ने कहा कि—तूने मेरे भक्तको कैदखानेमें बन्द कर रखा है। उसे शीघ्र छोड़ दे, नहीं तो तेरा कल्याण नहीं होगा। सबेरा होते ही राजाने श्रीजापूजीको कारागारसे मुक्त कर दिया और आपको निरपराध समझा। सुनारको अपराधी समझकर उसको नहीं छोड़ा। श्रीजापूजीने सुनारके बिना अकेले कैदसे मुक्त होना स्वीकार नहीं किया। दूसरी रातको भगवान्ने पुनः स्वप्न दिया और कहा कि—'जैसा भक्त कहते हैं, वैसा ही करो।' राजाने दोनोंको छोड़ दिया। आपने सच्ची घटना बता दी और साधु-सेवाकी महिमा बतायी। इससे राजा और सुनार दोनोंके हृदयमें भगवद्भक्ति एवं सन्त-सेवाकी निष्ठा दृढ़ हुई। भगवान् जापूजीकी सेवासे सन्तुष्ट हो गये और भूगर्भमें गड़े धनको बताकर उससे ही सन्त-सेवा करनेका आदेश दिया। जीवनपर्यन्त आपने भगवन्नाम-जप और सेवाके व्रतको निभाया। उससे प्रभावित होकर अनेक लोगोंने भी भक्तिव्रत ग्रहण किया।

श्रीरूपाजी

श्रीरूपाजीका पूरा नाम श्रीरूपरसिकदेवाचार्यजी था। आप बड़े ही सन्तसेवी थे। आपका चरित छप्पय १०० में भी वर्णित है।

श्रीअर्जुनजी

आप सन्त-सेवानिष्ठ भक्त थे। एक बार आपने सन्त-सेवाके निमित्त एक भैंस खरीदी। उसके दूध-दही और घीसे सन्त-सेवा होने लगी। कुछ दिनोंके बाद अच्छी भैंस देखकर उसे चोर लोग चुरा ले गये। सन्त-सेवामें बाधासे आपके मनमें दुःख हुआ। आप भगवान्से ही रूठ गये कि आपने ही भैंस चोरी जाने दी, आपने मुझे जगाया नहीं, भैंसकी रक्षा नहीं की। भगवान्की सेवा किये बिना ही जाकर जंगलमें बैठ गये। आपके प्रणयरोषसे प्रभावित होकर प्यारे प्रभु प्रसन्न हो गये। आपका रूप धारणकर चोरोंके पास गये, उन्हें भयभीत करके भैंस ले आये। गाँवके किसी परिचित आदमीने इन्हें जंगलमें बैठे देखकर कहा—कहिये, जी! भैंस कहाँ मिली? इन्होंने कहा कि—क्या भैंस मिल गयी? उसने कहा—घरपर बँधी है। घरपर आकर आपने लोगोंसे पूछा—इसे कौन कहाँसे ले आया? लोगोंने कहा—कुछ देर पहले आप ही तो लाये। अब अनजानकी तरह पूछ रहे हो। यह सुनकर आपने समझ लिया कि यह लीला लीलाविहारीकी है। प्रभुको प्रणामकर सेवा की। सन्त-सेवासे सन्तुष्ट होकर श्रीठाकुरजी एक-न-एक लीला इन्हें दिखाया ही करते।

श्रीदामोदरजी

किशनगढ़ (राजस्थान)-से कुछ दूर पूर्व दिशामें काचरिया नामक ग्राममें पं० श्रीकेशवानन्दजी नामके ब्राह्मण रहते थे। इनके यहाँ श्रीयुगलकिशोरकी उपासना थी। इन्हींकी कृपासे पण्डितजीको

दामोदर नामक पुत्र प्राप्त हुआ। पूर्व संस्कारोंके प्रभावसे कुमारावस्थामें ही इन्हें वैष्णव धर्माचरणमें निष्ठा हो गयी और आप भजन-पाठमें लग गये। पिता-माताने एक सुशील कन्याके साथ विवाह कर दिया। इससे इनकी उपासनामें बाधा न हुई। पत्नी भी पतिव्रता एवं भक्ता थी। एक बार आप पुष्करराजको गये। वहाँ आपको श्रीहरिव्यासदेवजीके दर्शन मिले। आपने उनकी शरण ग्रहणकर उनसे मन्त्रोपदेश एवं उपासनाकी विधि प्राप्त की। गुरु-आज्ञासे आप घर आये। आपको एक पुत्र और एक कन्या हुई। यथासमय आपने उसका विवाह कर दिया। कुछ समय बाद पत्नीका स्वर्गवास हो गया। इससे आपका वैराग्य और भी दृढ़ हो गया। साँपला ग्राममें आपकी लड़की ब्याही थी, वहाँके भक्तोंकी प्रार्थना मानकर आपने वहीं आकर पर्णकुटीमें निवास किया और भजन-सत्संगसे लोगोंको सुखी किया। प्रतिमास आप द्वारकापुरीको दर्शनार्थ जाया करते थे। उस समय आपके वियोगसे दुखी भक्तोंने चाहा कि यहीं द्वारकानाथजी आकर विराजें तो अच्छा है। यह बात आपके मनमें भी बैठ गयी। आपने दोनों हाथोंमें तुलसीके गमले लेकर अनशन व्रत धारणकर द्वारकाकी यात्रा की। स्नान दर्शनकर आपने अपनी प्रार्थना सुनायी। योगमायाके द्वारा भगवान्ने इन्हें साँपला भेज दिया। मनोरथ अपूर्ण देखकर आपका चित्त बेचैन हो गया। हरिकी प्रेरणासे श्रीनारदजीने आकर कहा कि—धैर्य धारण करो, कुछ दिन बाद लाखा बंजाराकी बालद आयेगी। बैलकी पीठसे गिरे बोरेसे आपको श्रीविग्रह मिलेगा। आप प्रतीक्षामें रहे। मार्गशीर्ष कृष्ण ९ सं० १४७४ के दिन आयी बालदके पीठसे आपके सामने बोरा गिरा। आपने दौड़कर बोरा पकड़ा और उसमेंसे श्रीयुगलकिशोरजी, श्रीबलरामजीकी प्रतिमाएँ प्राप्त कीं। इस घटनासे ग्रामवासी एवं बंजारे सभी अति प्रभावित हुए। प्रतिमाएँ पर्णशालामें पधरायी गयीं। पश्चात् लाखा बंजारेने एक भव्य मन्दिर बनवाया और सबोंकी ओरसे सेवा-पूजाका विशेष प्रबन्ध हुआ। आपने बड़े लाड़-चावके साथ सेवा की। प्रतिवर्ष भाद्र शुक्ल एकादशीको जलयात्राका उत्सव होता है। श्रीदामोदरजीकी भक्तिके प्रभावसे जीवोंका कल्याण हुआ।

श्रीमयानन्दजी

आनन्दमय श्रीमयानन्दजी गुरु-गोविन्दके समान ही सन्तोंका भी सत्कार किया करते थे। अपनेको भक्तोंका दासानुदास कहते थे। एक बार आपको एक बहुत बढ़िया बारीक चादर ओढ़े देखकर एक साधुने व्यंग्य करते हुए कहा कि—सेवकका यह धर्म नहीं है कि स्वामीको उघारा रहने दे और स्वयं चादर ओढ़े। यह सुनकर आपने कहा कि यह चादर तो भगवान्ने हमें ही ओढ़नेको कहा है। इसपर उसने कहा—यदि ऐसा है तो आपको तो भगवान् दूसरी भी दे देंगे, यह चादर हमें दे दीजिये। श्रीमयानन्दने उसकी आज्ञा मानकर प्रसन्नतासे अपने शरीरपरसे चादर उतारकर उसे ओढ़ा दिया। उसी समय आकाशसे एक चादर आयी और मयानन्दजीके शरीरसे पूर्ववत् लिपट गयी और उस परिहासकारीके शरीरसे चादर उड़ गयी। श्रीमयानन्दने पुनः उसे चादर दी तो फिर वही हुआ। इनके शरीरपर चादरका अभाव नहीं हुआ और उसके शरीरपर चादर रह नहीं सकी। ऐसा चमत्कार देखकर वह इनके चरणोंमें पड़ गया और अपने व्यंग्य—परिहासके लिये क्षमा प्रार्थना करने लगा।

सन्तसेवाको भगवत्सेवासे बढ़कर माननेवाले भक्त

यहै बचन परमान दास गाँवरी जटियाने भाऊ।
बूँदी बनियां राम मँडौते मोहनबारी दाऊ॥

माडौठी जगदीसदास लछिमन चटुथावल भारी।
सुनपथ में भगवान सबै सलखान गुपाल उधारी॥
जोबनेर गोपाल के भक्त इष्टता निरबही।
श्रीमुख पूजा संत की आपुन तें अधिकी कही॥ १०६॥

भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे अपने भक्तोंकी पूजाको अपनी पूजासे श्रेष्ठ कहा है। इसी वचनको प्रमाण मानकर इन भक्तोंने सन्तोंकी सेवाको भगवान्‌की सेवासे बढ़कर माना और किया। गाँवरी ग्रामके श्रीदासजी, जटियानेके श्रीभाऊजी, बूँदीके रामदासजी, मण्डौतेके श्रीमोहन बारीजी और श्रीदाऊजी, माडौठीके श्रीजगदीशदासजी, चटुथावलके श्रीलक्ष्मणजी, सुनपथके श्रीभगवान नामक भक्तने सन्तोंकी सेवा की। श्रीगोपालजीने सम्पूर्ण सलखान गाँवका उद्धार सन्त-सेवाके प्रतापसे किया। जोबनेरके श्रीगोपालजी भक्तने भक्तोंमें इष्टभावका सदा निर्वाह किया॥ १०६॥

इनमेंसे कतिपय सन्तसेवी भक्तोंका चरित इस प्रकार है—

श्रीदासजी

आप सन्तोंकी सेवाको भगवान्‌की सेवासे बढ़कर मानते थे। एक बार आपके यहाँ कई सन्त आये। सन्ध्या-आरती हुई। रात्रि-भोजनके बाद आप सन्तोंकी चरण-सेवामें लग गये। मन्दिरमें श्रीठाकुरजीको शयन कराना भूल गये। प्रात:काल मंगलाके समय आप मन्दिरमें जाने लगे तो मन्दिरके किवाड़ भीतरसे बन्द मिले। प्रयत्न करनेपर भी किवाड़ नहीं खुले। तब आप बड़े असमंजसमें पड़ गये। इतनेमें आकाशवाणी हुई—'अब किवाड़ नहीं खुलेंगे, मेरी सेवा रहने दो, अब सन्तोंकी ही सेवा करो। मैं रातभर सिंहासनपर खड़ा रहा हूँ, तुमने मुझे शयन नहीं कराया।' यह सुनकर दासजीने सरलभावसे निवेदन किया—प्रभो! सन्त-सेवामें लगे रहनेके कारण यदि आपकी सेवामें चूक हुई तो आपके नाराज होनेका भय मुझे बिलकुल नहीं है। आपकी सेवामें लगा रहूँ और सन्त-सेवामें भूल-चूक हो जाय, तब मुझे आपकी नाराजगीका भारी भय है। यह सुनते ही प्रभु प्रसन्न हो गये। किवाड़ खुल गये। 'हम तुमपर बहुत प्रसन्न हैं, इस भावसे सन्त-सेवा करनेवाले मुझे अपने वशमें कर लेते हैं' ऐसा कहकर भगवान्‌ने प्रत्यक्ष होकर दर्शन दिया। दासजी चरणोंमें लिपट गये। प्रभुने उठाकर छातीसे लगा लिया।

बूँदी बनिया

श्रीरामदासजी बूँदी नगरके निवासी थे। जातिके बनिया थे। अत: वर्ण-धर्मानुसार व्यापार करते हुए भगवद्भक्तिकी साधना करते थे। अपनी पीठपर नमक-मिर्च-गुड़ आदिकी गठरी लादकर गाँवोंमें फेरी लगाते थे। कुछ नगद पैसे और कुछ अनाज भी मिलता था। एक दिन फेरीमें सामान बिक गया और बदलेमें अनाज ही विशेष मिला। उसकी गठरी सिरपर रखकर घरको चले। वजन अधिक था, अत: भारसे पीड़ित थे, पर ढो रहे थे। एक किसानका रूप रखकर भगवान् आये और बोले—'भगतजी! आपका दु:ख मुझसे देखा नहीं जा रहा है। हमें भार वहन करनेका भारी अभ्यास है, हमें भी बूँदी जाना है। आपकी गठरी मैं पहुँचा दूँगा।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने भक्तके सिरका भार अपने ऊपर लिया और तीव्र गतिसे आगे बढ़े। थोड़ी ही देरमें वे इनकी आँखोंसे ओझल हो गये। तब ये सोचने लगे—'मैं इसे पहचानता नहीं हूँ और यह भी शायद मेरा घर न जानता होगा। अच्छा, जाने दो राम करै सो होय।' राम-कीर्तन करते हुए चले। मनमें आया कि आज थका हूँ, घर पहुँचते ही यदि गरम जल मिल जाय, तो झट स्नानकर सेवा-पूजा कर लूँ

और आज कढ़ी-फुलकाका भोग लगे तो अच्छा है। इधर किसान रूपधारी भगवान्ने इनके घर आकर गठरी पटक दी और पुकारकर कह दिया कि—'भगतजी आ रहे हैं। नहानेके लिये पानी गरम कर लो और भोगके लिये कढ़ी-फुलका बना लो। उन्होंने कह दिया है।' कुछ देर बाद श्रीरामदासजी घर आये तो देखा कि अनाजकी गठरी पड़ी है। स्त्रीने कहा—'जल गरम हो चुका है, झट स्नान कर लो। कढ़ी भी तैयार है, सेवा करोगे तबतक फुलके भी तैयार हो जायेंगे।' श्रीरामदासजीने कहा—'तुमने मेरे मनकी बात कैसे जान ली?' उसने कहा—'उस गठरी लानेवालेने कहा था। मुझे क्या पता तुम्हारे मनकी बातका।' अब तो श्रीरामदासजी समझ गये कि आज रामजीने भक्तवात्सल्यवश बड़ा कष्ट सहा। ध्यान किया तो प्रभुने प्रसन्न होकर कहा—'तुम नित्य सन्त-सेवाके लिये इतना श्रम करते हो, मैंने तुम्हारी थोड़ी-सी सहायता कर दी, तो क्या बिगड़ गया।' आपने स्त्रीसे पूछा—'तूने उस गठरी लानेवालेको देखा था क्या?' उसने कहा—'मैं तो भीतर थी, उसके शब्द अवश्य ही अति मधुर थे।' आपने कहा—वे साक्षात् भगवान् ही थे। तभी तो उन्होंने मेरे मनकी बात जान ली। वे सन्त-सेवासे अति सन्तुष्ट होते हैं। अब यदि प्रेमसे सन्त-सेवा करेगी तो प्रभु पुनः दर्शन देंगे। स्त्री पछता रही थी, मैं दर्शन नहीं कर पायी। भक्तजी पछताते थे कि मैंने प्रभुके सिरपर बोझ रखा था। यह अनुचित किया। यह घटना हृदयमें घर कर गयी। तबसे आप सदा भजन-ध्यानमें ही तत्पर रहने लगे।'

श्रीरामदासजी सन्तोंकी सेवा उनकी रुचिके अनुसार ही करते थे। एक दिन आपके यहाँ कई सन्त पधारे। आपने उनसे पूछा—'महाराज! आप लोग मेरे भगवान्का प्रसाद पायेंगे या अलग बनाकर भोग लगाकर पायेंगे?' सन्तोंने कहा—'हम तो आपके भगवान्का ही प्रसाद लेंगे।' भक्तपत्नीने रसोई बनायी, उस दिन ज्वारकी रोटियोंका भोग लगा। दो सन्तोंने देखकर कहा कि—'हम तो ज्वारकी रोटी नहीं खायेंगे।' आपने पत्नीसे पूछा—'तूने ज्वारकी रोटी क्यों बनायी?' उसने कहा—नवीन अन्न प्रभुको प्रिय समझकर मैंने ज्वारकी रोटी बनायी। दूसरे कभी भगवान्ने ज्वारकी रोटी खानेसे इनकार नहीं किया था, अतः मैंने ज्वारकी रोटी बनायी।' इसपर आपने कहा—'भगवान्का भोग अनन्त स्थानोंमें लगता है, केवल यहीं भोग लगता है, ऐसी बात नहीं। वे तो अपनी रुचिका भोग कहीं-न-कहीं लगा ही लेते हैं, किंतु ये सन्त तो कृपा करके यहीं आज प्रसाद लेंगे, कहीं अन्यत्र नहीं जायेंगे। अतः सन्तोंसे पूछकर उनकी रुचिके अनुसार ही उन्हें भोग लगाकर पवाया करो।' ऐसा कहकर आपने तुरंत गेहूँकी रोटियाँ बनवायीं और सन्तोंको भोजन करवाया।

श्रीरामदासजीके यहाँ अनेक साधु-सन्तोंके भोजन नित्य होते। अतः कुछ दुष्टोंने इसे सह न सकनेके कारण राजासे शिकायत की कि 'इस बनियाके पास अपार सम्पत्ति है, व्यर्थ ही उसे लुटाता है, आपको कर भी नहीं देता है। सबको ठगता है। अतः इसकी सम्पत्तिको आप छीनकर राजकोषमें जमा कर लें।' राजाने उनकी बात मानकर सिपाही भेजे। बुलाकर कहा—'तुम हमारा कर दो, अन्यथा तुम्हारी सम्पत्ति जब्त कर ली जायगी।' भगतजीने कहा—'मेरे पास धनका संग्रह नहीं है, जो कुछ कमाता हूँ, उसे सन्त-सेवामें लगा देता हूँ। आप मेरे घरकी तलाशी ले लें। जो भी सोना-चाँदी हो, वह आप ले लें।' किसीने राजाको उकसाते हुए कहा—*'नीबू बनिया आम ये दाबे ते रस देयँ।'* राजाने इन्हें कारागारमें बन्द कर दिया और घरका सम्पूर्ण अन्न-धन छीननेका विचार किया। श्रीरामदासजीके मनमें चिन्ता हुई। सेवामें बाधा जानकर आपने श्रीलक्ष्मणलालका स्मरण किया। श्रीलक्ष्मणजीने प्रकट होकर इन्हें बन्धनसे मुक्त कर दिया। स्वयं कारागारमें रामदासका रूप धारणकर बँध गये। पुनः इनके घरपर सन्त-सेवाकी धूम देखकर लोगोंने राजासे फिर चुगली की। राजाने कहा—हमने तो उसे कारागारमें बन्द करवा दिया है, फिर वह घरपर कैसे सन्तसेवा

कर रहा है? राजाने सिपाहियोंसे कारागारमें जाकर देखनेको कहा तो वहाँ रामदास बन्द थे, पुनः शिकायत करनेवालोंके साथ जाकर उनके घरपर देखा, तो दोनों जगहोंपर रामदास है। यह सुनकर राजाने दोनोंको दरबारमें हाजिर करनेका हुक्म दिया। दरबारमें आते-आते श्रीलक्ष्मणजी अन्तर्धान हो गये। रहस्य जानकर राजा आपके चरणोंमें पड़ गया। अपराध क्षमाके लिये विनती करने लगा। आजीवन आपने सन्त-सेवा-व्रत निभाया। आपसे प्रेरणा प्राप्तकर राजा-प्रजा सभीने भक्त-भगवन्त-सेवाका नियम लिया।

भक्तवर श्रीलक्ष्मणजी

आप बड़े सद्भावसे साधुओंकी सेवा करते थे। बिना किसी रोक-टोकके आपके यहाँ सन्तोंका दिन-रात आवागमन रहता था। आपकी इस उदारताको देखकर एक दुष्टने भी सन्तवेष धारण कर लिया और कई दिनतक आपके यहाँ रहा। आप उसकी भी सेवा करते रहे; क्योंकि आप वेषनिष्ठ सन्त थे। एक दिन मौका पाकर वह भगवान्के मन्दिरमें घुस गया। भगवान्के आभूषण-पार्षदोंको लेकर भाग चला। यह देखकर भगवान्ने एक सिपाहीका रूप धारणकर उसे जा पकड़ा और उसे श्रीलक्ष्मण भक्तके पास लाये और बोले—'देखो, यह तुम्हारे मन्दिरका सामान चुराकर ले जा रहा है।' आपने कहा—इन सन्तको सामानकी आवश्यकता होगी। इसलिये ले जा रहे हैं। मेरे पास जो कुछ है, इन्हींका है। इन्हें ले जाने दो। इसमें न तो चोरी है और न इन्हें दण्ड ही दिया जा सकता है। अब वे सिपाही भगवान् क्या करते? वह सामान लेकर चला तो भगवान् भी साथ-साथ चले। फिर उसके आगे-आगे चलने लगे, इसके बाद अन्तर्धान हो गये। इधर-उधर बहुत निगाह दौड़ानेपर भी नहीं दीखे। इस तरह कभी प्रकट कभी अप्रकट होते देखकर उसे भय हुआ। उसने मनमें अनुमान कर लिया कि भक्तोंके हितकारीकी यह लीला है। मैं भक्तकी चोरी करके दु:ख पाऊँगा। श्रीलक्ष्मणजीकी सहज सरलताका स्मरण करता हुआ वापस लौट आया। उसने सब सामान देकर हृदयके दुष्ट भावको खोलकर रख दिया और चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगने लगा। भक्तके प्रतापसे वह सच्चा सन्त बन गया।

श्रीगोपालजी

जोबनेर ग्रामवासी भक्त श्रीगोपालजीने भगवान्से बढ़कर भक्तोंको इष्ट माननेकी, सेवा करनेकी प्रतिज्ञा की थी और उसका पालन किया। आपके कुलमें एक सज्जन (काकाजी) विरक्त-वैष्णव हो गये थे। उन्होंने सन्तोंके मुखसे इनकी निष्ठाकी प्रशंसा सुनी कि 'भक्तोंको इष्टदेव मानते हैं।' तब काकाजी श्रीगोपाल भक्तकी परीक्षा लेनेके विचारसे उनके द्वारपर आये। इन्हें आया देखकर श्रीगोपाल भक्तजीने झट आकर सप्रेम साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया कि 'भगवन्! अपने निज घरमें पधारिये।' उन्होंने (परीक्षाकी दृष्टिसे) उत्तर दिया कि 'मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं स्त्रीका मुख न देखूँगा।' तुम्हारे घरके भीतर जाकर मैं अपनी इस प्रतिज्ञाको कैसे छोड़ दूँ? तब श्रीगोपालजीने कहा—'आप अपनी प्रतिज्ञा न छोड़िये।' सभी स्त्रियाँ एक ओर अलग छिप जायेंगी। आपके सामने नहीं आयेंगी। ऐसा कहकर घर जाकर उन्होंने सब स्त्रियोंको छिपा दिया। तब इनको घर ले गये। इसी बीच सन्त-दर्शनके भावसे या कौतुकवश एक स्त्रीने झाँककर देखा, स्त्रीके झाँकते ही उन्होंने गोपाल भक्तके गालपर एक तमाचा मारा। श्रीगोपालजीके मनमें जरा-सा भी कष्ट नहीं हुआ।

वे हाथ जोड़कर बोले—'महाराजजी! आपने एक कपोलको तमाचा प्रसाद दिया, वह तो कृतार्थ हो गया। दूसरा आपके कृपाप्रसादसे वंचित रह गया। अतः उसे रोष हो रहा है, कृपा करके इस कपोलपर भी तमाचा मारकर इसे भी कृतार्थ कर दीजिये।' प्रियवाणी सुनकर उस वैष्णवके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वह श्रीगोपालजीके चरणोंमें लिपट गया और बोला—'आपकी सन्तनिष्ठा अलौकिक है। मैंने आकर आपकी

परीक्षा ली।' आज मुझे आपसे बहुत बड़ी यह शिक्षा मिली कि 'भक्तको अति सहनशील होना चाहिये तथा वैष्णवोंको भगवान्से भी बढ़कर मानना चाहिये।'

श्रीप्रियादासजीने इस सन्तनिष्ठाका इस प्रकार वर्णन किया है—

'जोबनेर' बास सो 'गोपाल' भक्त-इष्ट ताकों कियो निर्बाह, बात मोको लागी प्यारियै।
भयौ हौ बिरक्त कोऊ कुलमें, प्रसंग सुन्यौ, आयौ यौ परीक्षा लैन, द्वार पै बिचारियै॥
आय पर्‌यौ पाँय, 'पाँय धारौ निज मन्दिर मैं', 'सुन्दरि न देखौं, मुख पन, कैसे टारियै'।
'चलो' जिन टारौ तिया रहैंगी किनारौ, करि, चले, सब छिपी, नैकु देखी, याकै मारियै॥ ४२०॥
एक पै तमाचो दियौ, दूसरे ने रोस कियौ, 'देवौ या कपोल पै' यों बानी कही प्यारी है।
सुनि, आँसू, भरि आये, जाय लपटाये पाँय, कैसे कही जाय यह रीति कछु न्यारी है॥
'भक्त इष्ट' सुन्यौ, मेरे बड़ौ अचरज भयो, लई मैं परीक्षा, भई सिक्षा मोको भारी है।
बोल्यौ अकुलाय, 'अजू पैयै कहाँ भाय, ऐपै साधू सुख पाय कहैं, यही मेरी ज्यारी हैं'॥ ४२१॥

श्रीलाखाजी

मुरधरखंड निवास भूप सब आग्याकारी।
राम नाम बिस्वास भक्त पद रज ब्रतधारी॥
जगन्नाथ के द्वार डँडौतनि प्रभु पै धायो।
दई दास की दादि हुँडी करि फेरि पठायो॥
सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरो।
परमहंस बंसनि मैं भयो बिभागी बानरो॥ १०७॥

भक्तवर श्रीलाखाजी मारवाड़के अन्तर्गत मुरधरखण्डके निवासी थे। भजनका ऐसा प्रभाव था कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके आज्ञाकारी थे। आपका श्रीरामनाममें अविचल विश्वास था तथा भगवद्भक्तोंकी श्रीचरण-रजको सिरपर धारण करनेका दृढ़ नियम था। श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करने घरसे दण्डवत्-यात्रा करते हुए आप उनके द्वारपर पहुँचे। भगवान्ने अपने दासकी सहायता की तथा इनकी इस भक्तिकी प्रशंसा की और कन्याके विवाहके लिये हुण्डी कराकर भेजा। जैसे गन्दा नाला श्रीगंगाजीकी धारामें मिलकर गंगारूप हो जाता है और उसका नाम बदल जाता है, उसी प्रकार वानरवंश (राजदरबारमें नाच-गाकर आजीविका चलानेवाली एक जाति)-में उत्पन्न होकर भी श्रीलाखाजी परमहंसोंके वंशकी कमनीय कीर्ति, पावन पुण्य ज्ञान, साधन-भजन एवं भक्ति-भावमें हिस्सेदार हुए॥ १०७॥

भक्तश्रेष्ठ श्रीलाखाजीका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीलाखाजी मारवाड़के वानरवंशी थे, इनकी जातिके लोग राज दरबारमें नृत्य-गानकर आजीविका चलाते हैं। ये नित्य साधुओंकी सेवा करते थे। जब सन्त-सेवा ये कर रहे थे, उसी समय बड़ा भारी अकाल पड़ा, लोग भूखों मरने लगे। तब कण्ठीमाला और तिलक धारण करके बहुतसे (नास्तिक-आस्तिक) लोग आपके यहाँ आने लगे। इन सबका भरण-पोषण कहाँसे, कैसे और कहाँतक करें? अन्ततोगत्वा बहुत सोच-विचारकर इन्होंने यह निश्चय किया कि इस स्थानको छोड़कर कहीं अन्यत्र चलकर रहें। इनके इस निश्चयको जानकर भगवान्ने इनसे स्वप्नमें कहा—लाखाजी! ध्यान देकर

सुनो—अन्यत्र जानेका विचार न करो। हमने एक उपाय कर दिया है, तदनुसार तुम्हारे पास एक गाड़ीभर गेहूँ आयेंगे और एक भैंस आयेगी। जब गाड़ीभर गेहूँ आ जाय, तब उन्हें कोठीमें भर देना और उसके ऊपरके मुखको बन्द कर देना। उसमेंसे निकालनेके लिये नीचेका मुँह खोल देना। उससे आवश्यकतानुसार अधिक-से-अधिक गेहूँ निकलेंगे। उन्हें पीसकर रोटियाँ बनवाना और भैंसके दूधको जमा करके मथ लेना। जो घी निकले उससे रोटियोंको चुपड़ देना और छाँछके साथ सबको भोजन कराते रहना। इतना सुननेके बाद श्रीलाखाजीकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने स्वप्नमें प्राप्त भगवान्‌की आज्ञा अपनी धर्मपत्नीको सुनायी और कहा कि यह तो हमारे मनकी भावती बात हो गयी। स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रातःकाल होते ही गेहूँभरी गाड़ी और भैंस आ गयी। इन्होंने भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उसी रीतिसे साधु-सन्तोंकी सेवा की और अनेक प्रकारसे उन्हें प्रसन्न किया।

श्रीप्रियादासजी लाखाजीकी भक्ति और भगवान्‌की इस लीलाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

'लाखा' नाम भक्त, वाकौ 'बानरौ' बखान कियौ, कहै जग डोम जासों मेरो सिरमौर है।
करै साधुसेवा बहु पाक डारि मेवा, सन्त जेंवत अनन्त सुख पावै कौर कौर है॥
ऐसे में अकाल पर्‌यौ, आवै धरि माल जाल, कैसे प्रतिपाल करैं, ताकी और ठौर है।
प्रभूजू स्वपन दियौ 'कियौ मैं जतन एक गाड़ी भरि गेहूँ भैंसि आवै करौ गौर है'॥ ४२२॥
'गेहूँ कोठी डारि मुँह मूँदि नीचे देवो खोलि' निकसै अतोल पीस रोटी लै बनाइयै।
दूध जितौ होय सो जमायकै बिलोय लीजै, दीजै यों चुपरि संग छाँछ दै जिमाइयै॥
खुलि गई आखैं, भाखैं, तिया सों जु आज्ञा दई, भई मन भाई, अजू हरि गुन गाइयै।
भोर भये गाड़ी भैंसि आई, वही रीति करी, करी साधुसेवा नाना भाँतिन रिझाइयै॥ ४२३॥

गेहूँभरी गाड़ी और भैंस श्रीलाखाजीके घर कैसे आयी, उसका वर्णन इस प्रकार है—श्रीलाखाजीके निवास-स्थानसे कुछ दूरपर एक गाँवमें सभा हुई और उसमें यह निश्चय हुआ कि अपने परिवारका अपना जो एक भाई धनहीन हो गया है, उसके लिये चन्दा किया जाय और धनका संग्रह करके उसकी सहायता की जाय। इस प्रस्तावके पास हो जानेके बाद एक सज्जन व्यक्तिने उठकर सभामें कहा कि हमलोगोंने स्वार्थके भारको तो चुका दिया, परंतु इससे पारलौकिक लाभ सम्भव नहीं है। परमार्थके लिये सन्तसेवी श्रीलाखाजीकी कुछ सेवा-सहायता कीजिये, जिससे हमलोग भवसागरको पार कर सकें। यह सुनकर सब लाज-संकोचसे दब गये और उन्होंने उगाही करके पचास मन गेहूँ एकत्र किये। ग्रामसभाके प्रधानने दूध देती हुई अपनी (बीस सेर दूध देनेवाली) एक भैंस गेहूँभरी गाड़ीके साथ भेज दी।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आई कौन रीति, वाकी प्रीतिहूँ बखान कीजै, लीजै उर धारि सार भक्ति निराधार है।
रहै ढिग गाँव, तहाँ सभा एक ठाँव भई, टूटि गयो भाई सो उगाही कौ विचार है॥
बोलि उठ्‌यौ कोऊ 'यौं व्यौहारको तौ भार चुक्यौ, लीजियै सँभारि 'लाखा' संत भवपार है।
लाज दबि तिन दिए गेहूँ लै पचास मन, दई निज भैंसि संग सब सरदार है॥ ४२४॥

श्रीलाखाजी अपने निवास-स्थान मारवाड़ देशसे चले। इन्होंने हृदयमें प्रतिज्ञा की कि मैं साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करते हुए लगभग सात सौ कोस दूर श्रीजगन्नाथपुरीको जाऊँगा और श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करूँगा। अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार आप साष्टांग दण्डवत् करते हुए श्रीजगन्नाथधामके समीप पहुँचे।

प्रेम-पारखी प्रभुने इन्हें लिवा लानेके लिये पण्डोंके हाथ पालकी भेजी, पर लाखाजीने हाथ जोड़कर उनसे कहा—महाराज! मैं भला पालकीपर चढ़कर कैसे चल सकता हूँ, यह सेवापराध है। मैं साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करता हुआ ही जाकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करूँगा—मेरी यही प्रतिज्ञा है। उसका पालन करूँगा। पण्डे लोग बोले—भगवान्ने बड़े प्रेम-भावपूर्वक आज्ञा दी है, अतः उसका पालन कीजिये। जब श्रीलाखाजी नहीं माने, तब पण्डोंने पुनः कहा कि प्रभुने आज्ञा दी है कि आप मेरे लिये जो भक्तोंके नामकी सुमिरनी बनाकर लाये हैं, शीघ्र आकर अब मुझे पहनाइये। यह सुनकर श्रीलाखाजीने पूर्ण विश्वास कर लिया कि सचमुच पालकीपर चढ़कर जानेकी आज्ञा दी है। श्रीलाखाजी भगवान्के अनुपम भक्तवात्सल्यको स्मरण करके प्रभुकी प्रसन्नताके लिये पालकीपर चढ़ते हुए बोले—अब मैं जान गया कि श्रीजगन्नाथजी मेरे लिये पालकी भेजकर मेरी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें पहुँचकर प्रभुकी मनोहर झाँकीका दर्शनकर श्रीलाखाजीने अपने तन-मन और प्राणोंको श्रीचरणोंमें न्यौछावर कर दिया।

भगवान् जगन्नाथजीकी इस भक्तवत्सलता और लाखाजीकी प्रतिज्ञाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार किया है—

मारवार देस तें चल्यौ ई साष्टांग किये, हिये 'जगन्नाथ देव याही पन जाइयै'।
नेह भरि, भारी देह वारि फेरि डारी, कैसे करै तनधारी, नेकु श्रम मुरझाइयै॥
पहुँच्यौ निकट जाय, पालकी पठाइ दई, कहैं 'लाखा भक्त कौन? बेगि दै बताइयै'।
काहू कहि दियौ, जाय कर गहि लियौ, 'अजू! चलौ प्रभु पास, इहि छिनही बुलाइयै'॥ ४२५॥
'कैसे चढ़ौं पालकी मैं? पन प्रतिपाल कीजै दीजै मोकों दान, यही भाँति जा निहारियै'।
बोले प्रभु कही भाय सुमिरनी बनाय ल्याये, अब पहिराय मोहिं सुनि उर धारियै॥
चढ़े 'चढ़ि बढ़ि कियौ चाहै, यह जानी मैं तो, पढ़ि पढ़ि पोथी प्रेम मोपै बिसतारियै'।
जाय कै निहारे, तन मन प्रान वारे, जगन्नाथजू के प्यारे नेकु ढिग तें न टारियै॥ ४२६॥

श्रीलाखाजीकी एक कन्या गंगाबाई थी, वह विवाहके योग्य हो गयी थी, परंतु आप उसका विवाह नहीं करते थे। आप अपने मनमें सोचते थे कि मेरे पास जो भी धन है अथवा आता है, वह सब भगवान् और भक्तोंका है, उन्हींकी सेवाके लिये है। उसे कन्याके विवाहमें कैसे लगाऊँ? श्रीजगन्नाथजीने श्रीलाखाजीसे कहा कि तुम अपनी लड़कीका विवाह करनेके लिये मुझसे धन ले लो और उसका विवाह कर दो। परंतु श्रीलाखाजीके मनमें यह बात ठीक नहीं जँची। पुरीमें कुछ दिन निवास करनेके उपरान्त आप अपने घरके लिये चल दिये। प्रभुसे विदा माँगने इस संकोचसे नहीं गये कि प्रभु कुछ देंगे। चलते समय आपको भगवान्का विरह व्याप गया। व्याकुलतावश आँखोंसे आँसुओंका प्रवाह चलने लगा। उसी क्षण श्रीजगन्नाथजीने अपने एक भक्त राजाको स्वप्नमें धन देनेकी आज्ञा दी। उसने रास्तेमें चौकीदार बैठा दिये और श्रीलाखाजीके आनेपर उनसे प्रार्थना करते हुए कहा कि 'स्वप्नमें मुझे आदेश हुआ है। अतः अब आप अधिक हठ न कीजिये, धन ले लीजिये।' ऐसा कहकर उसने हुण्डी लिख दी। श्रीलाखाजीने उसे ले लिया।

इस प्रकार श्रीलाखाजी एक हजार रुपयेकी हुण्डी लेकर अपने घरको आये, उन्होंने उनमेंसे एक सौ रुपये केवल कन्याके ब्याहमें लगाये और शेष धनसे सन्तोंको निमन्त्रण देकर उन्हें भोजन कराया। उनका अनेक प्रकारसे सत्कार किया।

श्रीप्रियादासजी श्रीलाखाजीकी इस सन्तनिष्ठाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बेटी एक क्वांरी ब्याहि देत न विचारी मन धन हरि साधुनि कौ कैसे कै लगाइयै।
'कीजै याकौ काज' कही जगन्नाथ देवजू ने 'लीजै मोपै द्रव्य' उर नेकहूँ न आइयै॥
विदा पै न भये चले दृग भरि लये, गये आगे नृप भक्त मग चौकी अटकाइयै।
दियौ है सुपन प्रभु जिनि हठ करौ अजू हुंडी लिख दई नई बिनै कें जताइयै॥ ४२७॥
हुण्डी सो हजार की, यों लै कै गृहद्वार आये, तामैं तें लगायौ सौक बेटी ब्याह कियौ है।
और सब सन्तनि बुलाय कें खवाय दिये, लिये पग दास सुखरासि पन लियो है॥
ऐसें ही बहुत दाम वाही के निमित्त लै लै सन्त भुगताये अति हरषित हियौ है।
चरित अपार कछु मति अनुसार कह्यौं लह्यौ जिन स्वाद सो तौ पाय निधि जियौ है॥ ४२८॥

श्रीनरसीजी

महा समारत लोग भक्ति लौलेस न जानैं।
माला मुद्रा देखि तासु की निंदा ठानैं॥
ऐसे कुल उतपन्न भयौ भागवत सिरोमनि।
ऊसर तें सर कियो षंड दोषहि खोयो जिनि॥
बहुत ठौर परचो दियो रस रीति भक्ति हिरदै धरी।
जगत बिदित नरसी भगत (जिन) गुज्जर धर पावन करी॥ १०८॥

श्रीनरसीजी सम्पूर्ण संसारमें प्रसिद्ध भक्त हुए, जिन्होंने गुजरात प्रान्तको पावन किया। उस समय गुजरातके निवासी महास्मार्त थे, भक्ति-भजनको बिलकुल नहीं जानते-मानते थे। छाप और कण्ठी-तिलकधारी किसी वैष्णवको देखकर उसकी बड़ी निन्दा करते थे। ऐसे देश-कुल एवं वायुमण्डलमें उत्पन्न होकर भी श्रीनरसीजी वैष्णवभक्तशिरोमणि हुए। ऊसरके समान उस देशको सुन्दर हरा-भरा, भक्तिरससे परिपूर्ण सरोवर बना दिया। देशके दोषोंको नष्ट कर दिया। आपने अनेक स्थानोंपर भक्तिपूर्ण चमत्कार दिखलाये। जिसमें रसकी रीतियोंका सम्पूर्ण रूपसे संगम होता है, ऐसी माधुर्य-रसमयी भक्तिको आपने हृदयमें धारण किया॥ १०८॥

श्रीनरसीजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

(क) नरसीका गृहत्याग

भक्तवर श्रीनरसीजी गुजरात प्रान्तके जूनागढ़ नगरके निवासी थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें आपके पिता-माताका स्वर्गवास हो गया था। घरमें एक भाई वंशीधर और भाभी थी, वे अति ही क्रोधी स्वभावकी थीं। किसी दिन आप इधर-उधर घूम-फिरकर आये और भाभीसे पीनेके लिये जल माँगा। वे मन-ही-मन जल भुन गयीं और बोलीं—'तुम बड़ी भारी कमाई करके आये हो न? इसीलिये तुम्हें जल पिलाये बिना कैसे काम बनेगा? अपने-आप जल लाकर पियो।' भाभीने जब इस प्रकारका जवाब दिया तो घोर अपमानका अनुभव करके श्रीनरसीजी बिना जल पिये ही घरसे निकल चले और जंगलमें जाकर एक शिवजीके मन्दिरपर पड़ गये। मानो आपने शिवकी शरणमें जाकर अपना दुःख निवेदन किया और स्थिरचित्तसे आपने शिवका ध्यान किया।

श्रीप्रियादासजीने नरसीजीके गृहत्यागकी घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

'जूनागढ़' वास, पिता माता तन नास भयौ, रहे एक भाई और भौजाई रिसभरी है।
डोलत फिरत आय, बोलत 'पियावौ नीर,' भाभी पैं न जानी पीर, बोली जरीबरी है॥
'आवत कमाए, जल प्याये बिन सरै कैसे? पियौ,' यों जवाब दियौ देह थरथरी है।
निकसे बिचारि 'कहूँ दीजै तन डारि,' मानौ शिवपै पुकार करी, रहे चित्त धरी है॥ ४२९॥

(ख) भगवान् शंकरद्वारा नरसीको कृष्णभक्तिका वरदान

श्रीशंकरजीके मन्दिरपर बिना कुछ खाये-पीये पड़े-पड़े सात दिन बीत गये। तब श्रीशिवजीने विचार किया कि यदि कोई आदमी किसी क्षुद्र या गरीबके द्वारपर जाकर पड़ जाता है, तो वह भी उसकी खबर लेता है, दुःख-दर्दकी पूछताछ करता है। फिर मैं तो देवाधिदेव महादेव हूँ। मुझे इसकी खबर लेनी चाहिये। ऐसा विचारकर भगवान् शंकरजीने प्रथम तो श्रीनरसीजीकी भूख-प्यासको सर्वथा दूर कर दिया। उसके बाद साक्षात् प्रकट होकर दर्शन देकर बोले—'वत्स! वर माँग लो।' श्रीनरसीजीने कहा—'प्रभो! मैं वर माँगना नहीं जानता हूँ। फिर भी यदि आप देना चाहते हैं तो सोच-समझकर वह वस्तु दीजिये, जो आपको सबसे अधिक प्यारी है।' यह सुनकर श्रीशंकरजी सोच-विचारमें पड़ गये कि जो मेरी प्रिय वस्तु है, उसका रहस्य तो मैं अपनी प्राणप्रिया श्रीपार्वतीजीसे भी कहनेमें डरता हूँ और वेद नेति-नेति कहकर उसका वर्णन करते हैं।

अब यदि कदाचित् इसे अपनी प्रिय वस्तु नहीं देता हूँ तो मेरा 'वर माँगो' यह बोलना झूठा पड़ जायगा। ऐसा विचारकर श्रीशंकरजीने उन्हें अपना-सा श्रीकृष्ण-प्रेम प्रदान किया और श्रीनरसीजीको सुन्दर सखी स्वरूप प्रदानकर स्वयं भी त्रिलोचना सखीरूप धारणकर साथ-साथ नित्य श्रीवृन्दावनधाममें आये। वहाँ दिव्य बहुमूल्यवान् अनेक प्रकारकी मणियोंसे जड़े हुए रासमण्डलपर अगणित व्रजगोपियोंके मध्य श्रीराधाश्यामसुन्दरका दिव्य-दर्शन शिवजीने श्रीनरसीजीको कराया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीनरसीजीपर भगवान् शंकरकी इस कृपाका वर्णन इस प्रकार किया है—

बीते दिन सात, शिवधामतें न जात बार, 'परै काहू तुच्छ द्वार, सोई सुधि लेत है'।
इतनी विचारि, भूख प्यास, दई टारि, लियौ प्रगट सरूप धारि, भयौ हिये हेतु है॥
बोले 'बर माँग,' 'अजू-मांगिबौ न जानत हौं, तुम्हें जोई प्यारौ सोई देवो चितचेत है'।
पर्यो सोच भारी, 'मेरी प्रान प्यारी नारी,' तासों कहत डरत, बेद कहैं 'नेति नेति' है॥ ४३०॥
'दियौं मैं वृकासुर को वर, डर भयौ तहाँ, वैसे डर कोटि कोटि यापै वारि डारे हैं'।
बालक न होय यह पालक है लोकनि कौ, मन कौ विचार कहा दीजै प्रान प्यारे हैं॥
जोपै नहीं देत मेरौ बोलिबो अचेत होत, 'दियौ निज हेत तन आलिन के धारे हैं'।
ल्याये वृन्दावन रास मण्डल, जटित मनि, प्रिया अनगन बीच लालजू निहारे हैं॥ ४३१॥

(ग) नरसीका शिवसहचरी बनकर रासमण्डलका दर्शन करना

श्रीनरसीजीने देखा कि स्वर्णमय रासमण्डल रंग-बिरंगे हीरोंसे जड़ा हुआ है, व्रजगोपियोंके मध्य प्रिया-प्रियतम दोनों विचित्र गतियोंमें नृत्य कर रहे हैं। गान-तानकी अद्भुत ध्वनि छायी हुई है। लालजी ताली बजाकर ताल लगा रहे हैं और नृत्य एवं रागकी सुन्दर गति ले रहे हैं। ग्रीवा (गर्दन)-का झुकना और हिलना, अँगुलियोंको मोड़कर मुद्राएँ बनाना अत्यन्त मनमोहक था। श्रीमुखसे निकलता हुआ गायनका मधुर स्वर सुनकर कानोंको तृप्ति होती थी। मृदंग और मुँहचंग आदि बाजे गायनके साथ-साथ बज रहे थे। नृत्य करते हुए प्रिया-प्रियतमके प्रत्येक अंगमें शोभाकी जो लहरें उठ रही थीं, वे मानो परिकर-प्रेमियोंको नवीन प्रेम-जीवन प्रदान कर रही थीं।

श्रीप्रियादासजीने रासमण्डलकी इस शोभाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

हीरनि खचित रासमंडल, नचत दोऊ रचित अपार नृत्य गान तान न्यारियै।
रूप उजियारी, चन्द चांदनी न सम, तारी देत कर-तारी, लाल गति लेत प्यारियै॥
ग्रीवा की ढुरनि, कर आंगुरी मुरनि, मुख मधुर सुरनि सुनि श्रवन तपारियै।
बजत मृदंग मुंहचंग संग, अंग अंग उठति तरंग रंग छबि जीकी ज्योरियै॥ ४३२॥

(घ) श्रीकृष्णद्वारा नरसीको भक्तिका उपदेश तथा नरसीका गृहस्थाश्रममें प्रवेश

श्रीशंकरजीने श्रीनरसीअलीको मसाल दिखलानेकी सेवा प्रदान की। यह प्रिया-प्रियतमकी शोभा-सुन्दरताको देखकर निहाल हो गयी। इसी बीच नन्दलालजीकी दृष्टि इनके ऊपर पड़ी तो आपने जान लिया कि यह तो कोई नयी सखी आज रासमें आयी है। श्रीठाकुरजीने अनुमान करके जान लिया कि यह शिवजीकी रंगीली सहचरी है। श्रीशंकरजीने मीठी मुसकान और नेत्रोंके संकेतसे जनाया कि ये मेरे साथ आयी हैं, आप कृपया अपने परिकरोंमें सम्मिलित कर लें। रास-विलासका दर्शन कराकर श्रीशिवजी चाहते थे कि अब मैं यहाँसे इन्हें ले जाऊँ, परंतु श्रीनरसी अलीजी चाहती थीं कि मैं अपने प्राणोंको न्यौछावर कर दूँ। तब श्रीठाकुरजीने कुछ समीप आकर श्रीनरसीजीको समझाया कि तुम यहाँसे जाओ और मेरे इस विहारीरूपका सर्वदा ध्यान करते रहना। जब जहाँ तुम मेरा स्मरण करोगी, तब तहाँ ही प्रकट होकर मैं तुम्हें दर्शन दूँगा। साथ ही भगवान्‌ने कीर्तन करनेके लिये करताल प्रदान किया। श्रीरासविहारीजीकी आज्ञा मानकर आँख बन्द करनेपर श्रीनरसीजी अपने ग्रामको वापस लौट आये और अलग निवास बनाकर भजन करने लगे। परंतु पुन: रास विहार-लीलाके दर्शन करनेकी चटपटी इनके मनमें लगी ही रहती थी।

कुछ दिन बाद एक ब्राह्मणकी पुत्री माणिकगौरीसे आपका व्याह हो गया। उससे दो पुत्रियाँ (कुँवरबाई, रतनबाई) और एक पुत्र (शामलदास) हुआ। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी आपने संसारमें श्रीहरिभक्तिका खूब प्रचार-प्रसार किया। बहुतसे सन्त-महात्मा आपके यहाँ नित्य ही आते-जाते रहते थे। उनकी सद्भावपूर्वक सेवा करके आप उन्हें अपार सुख प्रदान करते थे। नित्य हरिनाम-लीलाओंका संकीर्तन करते हुए आप भक्त-भगवन्तको प्रसन्न करते थे। श्रीठाकुरजीको पधराकर उनकी नित्य-नियमसे वैष्णवविधिके अनुसार सेवा करते थे। श्रीनरसीजीके ऐसे पवित्र आचरणोंसे इनकी महिमा बढ़ी, इससे जितने विप्रजातिके लोग थे, उन्होंने अपने मनमें बड़ा द्वेष माना और क्रोधवश अनेक प्रकारके उपद्रव करके श्रीनरसीजीके भजनमें बाधा करने लगे। क्योंकि नरसीका भजन-कीर्तन उन्हें उपद्रव-सा प्रतीत हो रहा था। वे अपने मनमें जरा भी विचार नहीं करते थे कि नरसीजी भक्त हैं। इधर परम विवेकी श्रीनरसीजी श्रीश्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीके सागरमें निरन्तर डूबे रहते थे।

श्रीप्रियादासजीने नरसीजीके इस श्रीकृष्ण-प्रेमका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

दई लै मसाल हाथ, निरखि निहाल भई, लाल डीठि परी कोऊ नई यह आई है।
शिव सहचरी रँगभरी अटकरी, बात मृदु-मुसकात नैन कोर में जताई है॥
चाहै यहि टारौं वह चाहै प्रान वारौं, तब श्याम ढिग आय कही नीके समुझाई है।
'जावौ यहै ध्यान करौ, करौ सुधि, आऊँ जहाँ,' आए निज ठौर, चटपटी सी लगाई है॥ ४३३॥
कीनी ठौर न्यारी, विप्रसुता भई नारी, एक सुत उभै बारी, जग भक्ति बिसतारी है।
आवै बहु सन्त, सुख देत हैं अनन्त, गुन गावत रिझावत और सेवा बिधि धारी है॥
जिती द्विजजात दुख भयौ अति गात, मान्यौ बड़ौ उतपात, दोष करै न बिचारी है।
एतौ रूप सागर मैं नागर मगन महा, सकैं कहा करि चहूँ ओर गिरधारी है॥ ४३४॥

(ङ) नरसीद्वारा श्रीसाँवलशाहके नाम हुण्डी लिखना

एक बारकी बात है, तीर्थयात्रा करते हुए कुछ साधु-सन्त जूनागढ़ पहुँचे और बाजारमें जाकर पूछने लगे कि यहाँ कोई ऐसा महाजन है क्या? जो हमें हुण्डी लिख दे? क्योंकि मार्गमें लुटेरोंका भय है, हमको द्वारका जाना है। जो लोग श्रीनरसीजीसे द्वेष करते थे, उन्होंने उनसे कहा कि यहाँके सबसे बड़े प्रसिद्ध महाजन नरसीजी हैं, उन्हींकी हुण्डी चलती है। ऐसा कहकर उन दुष्टोंने साथ जाकर नरसीजीका घर बतला दिया। इन साधु-सन्तोंने वैसा ही किया। श्रीनरसीजीने सन्तोंको छातीसे लगा लिया और विनती करते हुए बोले—'मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आपलोगोंने आकर दर्शन दिया। आपलोग आज्ञा दें। मेरा सर्वस्व आपपर न्यौछावर है।'

श्रीद्वारकाकी यात्रा करनेवाले साधुओंने गिनकर सात सौ रुपयोंका ढेर श्रीनरसीजीके आगे लगा दिया तथा उनके चरणोंमें प्रणाम करके बार-बार प्रार्थना करने लगे कि 'हमें सात सौ रुपयोंकी हुण्डी लिख दीजिये, हमें द्वारका जाना है।' आप समझ गये कि इन्हें किसीने बहका दिया है और उसमें प्रेरणा श्रीद्वारकानाथजीकी है। इस बहाने भगवान्ने सन्त-सेवाके निमित्त रुपये मेरे पास भेजे हैं। यह विचारकर श्रीनरसीजीने उन सन्तोंकी इच्छाकी पूर्ति की और हुण्डी लिख दी तथा कहा कि 'हमारे महाजन श्रीसाँवलशाहजी बड़े उदार हैं। उन्हींके हाथमें आप हुण्डी दीजियेगा और उनसे हुण्डीके रुपये लेकर निःशंक होकर कार्य कीजियेगा।' हुण्डी लेकर सन्त-महात्मा द्वारकापुरी पहुँचे और वहाँके बाजारमें साँवलशाहकी कोठी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये और भूख-प्याससे अत्यन्त व्याकुल हो गये, परंतु साँवलशाहकी कोठीका पता नहीं चला। तब ये लोग नगरसे बाहर निकल आये। आशा टूट गयी, अतः अपार दुःख-सागरमें डूब गये।

सन्तोंको व्यथित देखकर श्रीनरसीजीकी हुण्डी चुकानेके लिये श्रीद्वारकाधीशभगवान् सेठका रूप धारणकर कन्धेपर रुपयोंसे भरी थैली रखकर सन्तोंके निकट पधारे और बोले—'श्रीनरसीजीकी हुण्डी किसके पास है?

जिसके पास हो वह आकर अपने रुपये गिनकर ले ले।' सन्तोंने कहा—'अजी सेठजी! हमलोग आपको बाजारमें ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गये, पर आप नहीं मिले।' साँवलशाह बोले—आपको रुपये देनेमें इतना विलम्ब हुआ। अतः हमें भी लज्जा लग रही है। विलम्बका कारण यह है कि मैं बाजारमें नहीं मिलता हूँ। मेरा निवास एकान्तमें है और इस बातको कोई-कोई भगवान्के भक्त ही जानते हैं। ये लीजिये, अपने रुपये और उनसे अपना कार्य कीजिये। यह कहकर भगवान्ने हुण्डी लेकर रुपये दे दिये और उसके उत्तरमें चिट्ठी लिखी कि मेरे पास रुपयोंकी कमी नहीं है, आप बार-बार हुण्डी लिखकर भेजा करें। सन्तजन द्वारकापुरीका दर्शन करके लौटे और श्रीनरसीजीको साँवलशाहकी चिट्ठी दी। उसे पाकर श्रीनरसीजी प्रेमानन्दमें डूब गये और उन्होंने सन्तोंको गलेसे लगा दिया।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

तीरथ करत साधु आये पुर, पूछै कोऊ हुंडी लिखि देय हमैं? द्वारिका सिधारिबे।
जे वे रहे दूषि, कही जात ही भगावैं भूषि, नरसी बिदित साह आगे दाम डारिबे॥
चरण पकरि गिरि जावौ जौ लिखावौ अहो कहौ बार बार सुनि बिनती न टारिबे।
दियौ लै बताय घर, जाय वही रीति करी, भरी अँकवार मेरे भाग, कहा वारिबे?॥ ४३५॥
सात सै रुपैया गिनि ढेरी करि दई आगे, लागे पग, देवौ लिखि, कही बार बार है।
जानी बहकाये प्रभु दाम दै पठाये, लिखी किये मन भाये, साह सांवल उदार है॥

वाही हाथ दीजियै, लै कीजिये निशंक काज, गये जदुराजधानी पूछ्यो सों बजार है।
ढूँढ़ फिरि हारे भूख प्यास मीड़ डारे, पुर तजि भये न्यारे दुख सागर अपार है॥ ४३६॥
साहकौ सरूप करि, आये कांधे थैली धरि, 'कौन पास हुण्डी? दाम लीजिये गनाय कै'।
बोलि उठे ढूँढ़ि हारे! भलेजू निहारे आजु, कही 'लाज हमें देत, मैं हूँ पाये आय कै'॥
मेरौ है इकोसौ बास, जानै कोउ हरिदास, लेवो सुखरासि, करो चीठी दीजै जाय कै।
धरे है रुपया ढेर, लिख्यो करौ बेर बेर, फेरि आय पाती दई, लई गरे लाय कै॥ ४३७॥

(च) नरसीके भक्तिभावका विलक्षण प्रभाव

श्रीनरसीजीने सन्त-महात्माओंसे कहा कि आपलोग यह बतलाइये कि साँवलशाहजी आपको मिले या नहीं? उन सन्तोंने कहा—हाँ, मिले और बड़े प्रेमसे मिले। श्रीनरसीजीने साँवलशाहके नाम हुण्डी लिख दी थी और उसके जो रुपये थे, उनसे आपने सन्तोंका भण्डारा कर दिया। सन्तोंके प्रति श्रीनरसीका ऐसा सद्भाव था। अतः श्रीद्वारकाधीशने उनके सभी कार्यों-मनोरथोंको पूरा किया।

श्रीनरसीजीकी लड़की ससुरालमें थी, उसके लड़का हुआ था। लोक-रीतिके अनुसार इन्हें छूछक देना चाहिये, पर इनके पास कुछ न था, अतः न दे सके। लड़कीकी सास नित्य ही गालियाँ बकती। सासके वचन जब असह्य हो गये, तब उस लड़कीने अपने पिताको कहला भेजा कि 'मेरी सास ताने मारती है, गाली देती है, इससे मेरी छाती जलती रहती है। यदि आपके पास कुछ देनेके लिये हो तो आप आकर दे जाइये।'

लड़कीका सन्देशा पाकर श्रीनरसीजी एक टूटी-सी बैलगाड़ीमें दो बूढ़े बैलोंको जोतकर जहाँ पुत्री ब्याही थी, उस नगरके किनारे पहुँच गये। इनके आगमनका समाचार एक ब्राह्मण (कोकल्या पुरोहित)-ने जाकर इनकी कन्यासे कह दिया। पिताजीका आगमन सुनते ही वह आयी, परंतु जब उसने देखा कि गाड़ीमें छूछकका कुछ भी सामान नहीं है, तो उसका मुख उदास हो गया। उसने कहा—'पिताजी! यदि आपके पास देनेके लिये एक पैसा या एक वस्तु न थी तो फिर न आते, वही ठीक था।' श्रीनरसीजीने कहा—बेटी! तुम अपने मनमें चिन्ता न करो। जाकर अपनी साससे कह दो कि जिन-जिन चीजोंकी जितनी-जितनी जरूरत हो, उन सबको एक कागजमें लिख दें। उसने अपनी सासको समझाकर कहा तो वह बहुत रिसमें भरकर बोली—मैं समझ गयी, तेरे पिता यहाँ आकर हँसी कर रहे हैं। अन्तमें खिसियाई सासने गाँवके सभी स्त्री-पुरुषों-बालकोंके नाम लिखवा दिये कि इन सभीको कपड़े एवं गहने चाहिये।

श्रीनरसीजीकी लड़की आवश्यक वस्तुओंका चिट्ठा लेकर आयी तो आपने उसे देखकर लौटा दिया और कहा कि इसे फिरसे दिखा लाओ। इसमें यदि किसीका नाम या कोई वस्तु लिखनेसे रह गयी हो तो उसे फिर लिखवा लाओ। इस बातसे क्रुद्ध होकर उसने दो पत्थर और लिखवा दिये। श्रीनरसीजीको अपमानित करनेके लिये उन्हें टूटी-फूटी पुरानी पौर रहनेके लिये बतला दी। भक्तशिरोमणि श्रीनरसीजी जाकर उसीमें ठहरे और उस निवास-स्थानको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। सासने खौलता हुआ जल इनके स्नान करनेके लिये भेजा। इसी बीच वर्षा हुई जिससे जल शीतल हो गया और श्रीनरसीजीने सुखपूर्वक स्नान किया। इसके बाद पौरकी कोठरीको झाड़ू-बुहारू देकर उसे साफकर उसके द्वारपर आपने एक परदा लगा दिया। सामानके चिट्ठेको वहीं रखकर तानपूरा बजाकर श्रीहरिनाम-संकीर्तन करने लगे। भगवत्कृपासे अगणित पोशाकें-वस्त्राभूषण आकर कोठरीमें भर गये।

श्रीनरसीजीने गाँवभरके आबाल-वृद्ध सभी नर-नारियोंको सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र-आभूषण पहनाये, उससे सब लोग शोभायमान हो रहे थे। श्रीनरसीजीकी उदारता, कीर्तिका यत्र-तत्र-सर्वत्र सभी लोग गान कर रहे थे।

बड़ा भारी आश्चर्य तो यह हुआ कि उस चिट्ठेमें लिखी सोने-चाँदीकी दो शिलाएँ भी आयीं और समधी-समधिनके लिये विशेष भेंटके रूपमें प्रदान की गयीं। संयोगवश एक स्त्रीका नाम (भानीबाई) सूचीमें लिखनेसे रह गया था। उसे पहनावा नहीं मिला। उसने दूसरेसे लेना स्वीकार नहीं किया और कहा कि जिसने सब स्त्री-पुरुषोंको वस्त्राभूषण पहनाये हैं, मैं भी उसीके हाथसे लूँगी। श्रीनरसीजीकी कन्याने अपने पितासे प्रार्थना की कि इसे भी पहनावा दीजिये, जिससे कि मेरी लज्जा रह जाय। श्रीनरसीजीने प्रभुसे प्रार्थना की तो भगवान् फिर आये। वस्त्रादि देकर उसकी कामना पूर्ण की। अपने पिताजीके प्रभावको देखकर उनकी पुत्री अपने अंगमें फूली नहीं समाती थी। अपने पति, सास, ससुर आदिको भुलाकर वह अपने पिताके साथ अपने घरको चली आयी।

नरसीजीकी भक्तिके इस प्रभावका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

'देखि आये साह ?' दौरि मिले उत्साह अंग, वेऊ रँग बोरे सन्त, संगकौ प्रभाव है।
हुण्डी लिखि दई, दाम लिये सो खवाय दिये, किये प्रभु पूरे काम, संतनि सों भाव है॥
सुता ससुरारि, भयौ छूछक विचारि, सासु देत बहु गारि, जाको निपट अभाव है।
पिता सों पठाई कहि, छाती लै जराई इन, जोपै कछु दियौ जाय, आवो यह दाव है॥ ४३८॥
चले गाड़ी टूटीसी उभय बूढ़े बैल जोरि, पहुँचे नगर छोर, द्विज कही जाय कै।
सुनत ही आई देखि मुँह पियराई, फिरी 'दाम नहीं एक तुम कियौ कहा आय कै ?'॥
'चिन्ता जिनि करौ, जाय सासु ढिग ढरौ, लिखि कागद में धरौ अति उत्तम अघाय कै'।
कही समुझाय, सुनि निपट रिसाय उठी, कियौ परिहास, लिख्यौ गाँव खुनसाय कै॥ ४३९॥
कागद लै आई देखि दूसरें फिराई पुनि भूलै पै न पाई जात 'पाथर' लिखाये हैं।
रहिबे कौं दई ठौर, फूटी ढही पौरि जाके बैठे सिरमौर आय बहु सुख पाये हैं॥
जल दै पठायौ भली भाँति कै औटायौ, भई बरषा, सिरायो, यों समोयकै अन्हाये हैं।
कोठरी सँवारि, आगे परदा सो दियो डारि, लै बजाई तार बेस अगनित आये हैं॥ ४४०॥
गाँव पहिरायो, छवि छायौ, जस गायो, अहो हाटक रजत, उभै पाथर हू आये हैं।
रहि गई एक भूले लिखत अनेक जहाँ, 'लेंहौं ताही पास जापै सब मिलि पाये हैं'॥
बिनती करत बेटी दीजियै जू लाज रहै, दियौ मँगवाय, हरि फेरिकै बुलाये हैं।
अंग न समात सुता तात कौ निरखि रंग संग चली आई पति आदि बिसराये हैं॥ ४४१॥

(छ) नरसीद्वारा दो गायिकाओंको भगवत्प्रेमकी महिमा बताना

श्रीनरसीजीके कुँवरसेना और रतनसेना नामकी दो पुत्रियाँ थीं। वे दोनों भगवद्भक्तिमें मग्न होकर अपने घरमें ही रहीं। एक तो विवाहके बाद छूछकका प्रभाव देखकर पति आदिको त्यागकर घर चली आयी और दूसरीने तो विवाह ही नहीं किया। किसी दिन गा-बजाकर जीविका चलानेवाली दो स्त्रियाँ जूनागढ़ शहरमें आयीं और यत्र-तत्र उन्होंने लोगोंको अपना कलात्मक गान सुनाया। वे सारे नगरमें घूमीं, परंतु उन्हें धनकी प्राप्ति नहीं हुई। उन्हें निराश देखकर किसीने श्रीनरसीजीका नाम-पता बतला दिया। वे दोनों श्रीनरसीजीके द्वारपर आकर गाने लगीं। तब आपने उन्हें समझाकर कहा कि यहाँ तुम्हें थोड़ा भी धन नहीं मिलेगा। इससे तुम्हारा मन दु:खित होगा। यदि कदाचित् तुम्हें भगवत्प्रेम प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो सिर मुड़वाकर विरक्त-शिक्षा-दीक्षा लेकर भगवदाराधन करो, इनकी शिक्षा मानकर दोनों नरसीजीके यहाँ ही रहने लगीं और भजन-कीर्तन-सत्संगके प्रभावसे उन्हें भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, दोनों उसका रसास्वादन करने लगीं।

श्रीप्रियादासजीने नरसी भक्तके इस भगवत्प्रेमदानरूपी कृत्यका इस प्रकार वर्णन किया है—

सुता हुती दोय, भोय भक्ति, रही घरही में एक पति त्याग, एक पतिहू न कियौ है।
पुर मैं फिरत उभै गाइन सुचाइन सौं, धन सौ न भेंट, काहू नाम कहि दियौ है॥
आईं लगीं गायबे कों, कही समझाय, 'अहो पायबे को नाहीं कछु पावै, दु:ख हियौ है'।
चाहौ हरि भक्ति, तौ मुंडायकै लड़ाय लीजै, कीजै बार दूर, रहीं, प्रेमरस पियौ है॥ ४४२॥

(ज) नरसीके भगवन्नाम-संकीर्तनका प्रभाव

श्रीनरसीजीकी दोनों पुत्रियाँ और दोनों गायिकाएँ मिलकर एक साथ रहने लगीं। प्रेमभक्तिके रंगमें रँगकर चारों साथ-साथ हरिनाम-गुण-संकीर्तन करतीं और भावोंको बता-बताकर नृत्य करतीं। इससे सबको बड़ा आनन्द आता। परंतु इस नृत्य-गानको देखकर 'सालंग' नामके राजमन्त्री, जो श्रीनरसीजीके मामा भी लगते थे, उन्होंने राजासे इनकी निन्दा करते हुए कहा कि 'बड़ा अनुचित, धर्मके विपरीत काम हो रहा है, मेरा भानजा नरसी स्त्रियोंको एकत्रकर उनके साथ नाचता है।' राजासे उचित कार्यवाहीका आदेश लेकर सालंगने बड़े-बड़े पण्डितों और दण्डधारी संन्यासियोंकी सभा बुलायी और लोभ देकर उनसे कहा कि आपलोग नरसीजीसे शास्त्रार्थ करके उसका भण्डाफोड़ कीजिये, शास्त्रविरुद्ध अधर्मी सिद्ध करके हम उसे अपने राज्यसे बाहर निकाल देंगे। राजाकी आज्ञासे चार सिपाही आये और नरसीजीसे बोले—आप राजदरबारमें चलिये, राजा साहबने आपको बुलाया है, वहाँ पण्डितोंकी सभामें आपसे कुछ शास्त्र-विचार करना है।

यह सुनकर श्रीनरसीजी उन चारों लड़कियोंको साथ ले भगवत्प्रेममें मग्न हो श्रीहरिनाम-संकीर्तन करते नाचते-गाते हुए राजदरबारमें पहुँचे। राजसभामें उपस्थित पण्डितोंने आपसे पूछा कि 'आप इन तरुणी स्त्रियोंके साथ नाचते-गाते हैं, उन्हें साथ लिये फिरते हैं। यह भजन-साधनकी कौन-सी रीति है?' श्रीनरसीजीने कहा—आपलोगोंने वेदशास्त्र पढ़े हैं, परंतु पढ़-लिखकर भी आप भगवद्भक्तिकी गन्धसे दूर हैं। आपलोगोंको मालूम होना चाहिये कि भजन-सत्संगमें स्त्री-पुरुषोंका एकत्र होना कदापि निन्दनीय नहीं है।

श्रीनरसीजीके सच्चे उत्तरसे विरोधी पण्डित मौन हो गये। इसी बीच सभामें उपस्थित एक भक्त ब्राह्मणने कहा—राजन्! जब ये अपनी बेटीके यहाँ छूछक देने गये थे। उस समय मैंने अपनी आँखोंसे इनका प्रभाव देखा था। ऐसा कहकर उसने उमंगमें भरकर छूछककी कथा विस्तारपूर्वक वर्णन की। इसे सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ और नरसीजीके चरणोंमें गिर पड़ा और प्रार्थना करता हुआ बोला—'आप अपने घरको जाइये और सुखपूर्वक रहिये। आपने सर्वेश्वर प्रभुको अपने वशमें कर रखा है, उन्हींके भक्ति-भावमें सर्वदा निमग्न रहिये।'

भक्तश्रेष्ठ श्रीनरसीजी भगवान्‌के मन्दिरमें श्रीविग्रहके समक्ष जब सुन्दर 'केदारा' राग बड़े उत्साहके साथ गाते थे तो उस समय भगवान्‌के कण्ठकी फूल-माला अपने-आप टूटकर रसिकशेखरके वक्षस्थलपर आ जाती थी। आशीर्वाद-प्रसादरूप मालाको अपने हृदयमें धारणकर श्रीनरसीजी कृतार्थ होते थे और उनसे द्वेष करनेवाले भगवद्विमुख अपने स्वभाववश दु:ख पाते थे।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इन घटनाओंका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

मिलीं उभै सुता, रंग झिली संग गायन वै चायनि सौं नृत्य करै, भायनि बताय कै।
'सालंग' है नाम मामा मंडलीक मन्त्री रहै कहै 'बिपरीत बड़ी' राजा सों सुनाय कै॥
बड़े बड़े दंडी और पंडित समाज कियौ, करो वाकी भंडौ, देश दीजिए छुटाय कै।
आये चार चोबदार चलौ जू बिचार कीजै, भयौ दरबार हमैं दिये हैं पठाय कै॥ ४४३॥

चारौं तुम जावो टरि, भयौ हमैं राजा डर, सकै कहा करि? अजू चलैं संग संगहीं।
नाचत बजावत ये चलीं ढिग गावत सुभावत मगन जानी भीजि गई रंगहीं॥
आये वाही भाँति, सभा प्रभा हत भई, तऊ बोले कहा रीति यह जुवती प्रसंगहीं।
कही 'भक्ति गंध दूरि, पढ़ें पोथी, परी धूरि श्रीशुक सराही तिया माथुरनि भंगहीं'॥ ४४४॥
बोलि उठ्यो बिप्र एक 'छूछक प्रसंग देख्यौ', कह्यौ रसरंग भर्‌यौ ढर्‌यौ नृप पाँय में।
कही 'जू बिराजौ, गाजौ नित सुख साजौ जाय, किये हरि राय बस, भीजे रहौ भाय में'॥
धारौ उर और सिरमौर प्रभु मन्दिर में सुन्दर केदारौ राग गावैं भरे चाय में।
स्याम कंठ माल टूटि आवत रसाल हियें देखि दुख पावैं परे बिमुख सुभाय में॥ ४४५॥

(झ) नरसीद्वारा भगवान‍्को केदारा राग सुनानेकी कथा

द्वेषी दुष्टोंने जाकर राजाको सिखाया-पढ़ाया कि नरसीकी भक्तिका जो प्रभाव चारों ओर फैला है, उसमें सच्चाई कुछ भी नहीं है। नरसी कच्चे डोरेमें फूलोंकी माला पुहवाकर भगवान‍्को पहनाता है, वह अपने-आप फूलोंके भारसे टूट जाती है और प्रचार यह किया जाता है कि केदारा रागपर रीझकर भगवान् देते हैं। राजाकी माता भगवद्भक्ता थीं, उन्हें भगवद्भक्तोंमें विश्वास था। इसलिये उन्होंने अपने पुत्र राजासे कहा—'तुम इन विमुखोंकी बातोंको बिलकुल न सुनो और न ध्यान दो।' परंतु अहंकारी राजाने माताजीकी बात नहीं मानी; एक दिन राजा उस मन्दिरमें गया, जहाँ श्रीनरसीजी केदारा राग गाकर माला-प्रसाद प्राप्त करते थे। उसने बहुत मजबूत रेशम मँगवायी और बटवाकर उसका डोरा बनवाया। फिर उसमें फूलोंको गुँथवाकर माला बनवायी। उसे भगवान‍्को धारण करवाकर कहा कि अब केदारा राग गाइये, सब मालूम पड़ जायगा। श्रीनरसीजीने नित्य-नियमके अनुसार स्वरोंको साधा केदारा रागको छोड़कर दूसरे-दूसरे राग गाये, परंतु माला टूटकर नहीं गिरी।

श्रीनरसीजीके लगातार गानेपर भी माला नहीं टूटी, तब शिकायत करनेवाले विमुख लोग मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। इधर श्रीनरसीजी नयी-नयी भावभरी उक्तियोंके द्वारा उलाहना देते हुए श्रीप्रभुके सामने कहने लगे—आप निश्चिन्त होकर अपने गलेमें माला धारण किये रहिये और भक्तको मार खाने दीजिये, मरता है तो मरने दीजिये।

वस्तुतः बात यह भी थी कि श्रीनरसीजी जिस नगरमें रहते थे, उसमें धरणीधर नामक एक साहूकार था। नरसीजी उसके पास केदारा राग गिरवी रख आये थे। उसने दो ब्याह किये थे। उन दो स्त्रियोंमें बड़ीवाली भगवद्भक्ता थी। उसने आपसे बार-बार प्रार्थना की कि मुझे भी श्यामसुन्दरके दर्शन करा दीजिये। श्रीनरसीजीने कहा—'बहुत अच्छा ऐसा ही होगा।' श्रीनरसीजीकी इस बातको सत्य करनेके लिये भगवान् स्वयं श्रीनरसीजीका रूप धारणकर उस साहूकारके घर गिरवी रखे हुए केदारा रागको छुड़ानेके लिये गये। उसके द्वारपर जाकर आपने पुकारा—'किवाड़ खोलो।' साहूकारकी भक्ता स्त्रीने उठकर किवाड़ खोले और उसने श्रीनरसीरूपी भगवान‍्का दर्शन किया। साहूकार चद्दरसे मुँह ढककर सो रहा था। उसकी स्त्रीने कहा—'श्रीनरसीजी पधारे हैं, रुपये ले लो और कागज दे दो।' उसने कहा—तुम्हीं रुपये लेकर उस कागजको वापस कर दो। उस भक्ता स्त्रीने रुपये ले लिये और कागज लौटा दिया।

इस प्रकार भगवान‍्ने गिरवी रखे हुए 'केदारा' रागको रुपये देकर छुड़ाया और रुपयोंकी रसीद तथा गिरवी-पत्र लाकर श्रीनरसीजीकी गोदीमें डाल दिया। उसे देखकर ये अत्यन्त प्रसन्न होकर उमंगपूर्वक केदारा राग गा उठे। उसे सुनकर श्रीश्यामसुन्दर अपने सिंहासनसे उठे। नूपुरोंकी झन्न-झन्न ध्वनि करते हुए श्रीप्रभुने

श्रीनरसीजीको पुष्पहार पहना दिया। उपस्थित सभी भक्तलोग भक्त और भगवान्‌की जय-जयकार करने लगे। इस प्रत्यक्ष चमत्कारको देखकर राजा इनके श्रीचरणोंमें लिपट गया और उसने अपने हृदयमें भगवद्भक्तिके भावको दृढ़तासे धारण किया। इससे द्वेषी दुष्ट बहुत लज्जित हुए।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

नृपति सिखायौ जाय, वृथा जस छायौ, काचे सूत में पुहायौ हार, टूटै ख्याति करी है।
माता हरिभक्त भूप कही जिनि करौ कान, तऊ बानि राजस की माया मति हरी है॥
गयै ढिग मन्दिर के सुन्दर मँगाय पाट ताकौ बटवाय करि माला गुहि धरी है।
प्रभु पहिराय कहौ 'गाय अब जानि परै' भरैं सुर, राग और गायौ पै न परी है॥ ४४६॥
विमुख प्रसन्न भये, तब तौ उराहने दै नये-नये चोज हरि सनसुख भाखिये।
'जानै ग्वाल बाल एक माल गहि रहे हिये, जिये लाग्यौ यही रूप, कहौ लाख लाखिये'॥
नारायण बड़े महा, अहा मेरे भाग लिख्यौ, करै कौन दूर छबि पूर अभिलाखिये।
म्हारौ कहा जाय आय परसै कलंक तुम्है, राखिये निसंक हार, भक्त मारि नाखिये॥ ४४७॥
रहै तहाँ साह, किये उभै लै विवाह जामें तिया एक भक्त कहै 'हरिकौ दिखाइयै'।
नरसी कही ही 'भलै', सोई प्रभु बानी लई, सांच करि दई, गए राग छुटवाइयै॥
बोले, पट खोलि दिये, किये दरसन तानैं, ताने पट सोवै वह कही 'देवौ भाजिये'।
लिये दाम, काम कियौ, कागद गहाय दियौ दियौ कछु खाइबेको पायौ लै भिजाइयै॥ ४४८॥
गहने धर्‌यौ हो राग केदारौ, सो साह घर, धरि रूप नरसी कौ, जाय कै छुटायौ है।
कागद लै डारयौ गोद मोद भरि गाय उठे, आय झन्न झन्न स्याम हार पहिरायौ है॥
भयौ 'जै जैकार', नृप पाय लपटाय गयौ, गह्यौ हिये भाव सो प्रभाव दरसायौ है।
बिमुख खिसाने भये गये उठि नये नाहिं, बिन हरिकृपा भक्तिपंथ जात पायौ है॥ ४४९॥

(ञ) भगवान् श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीद्वारा नरसीके पुत्रका विवाह सम्पन्न कराना

एक ब्राह्मणने अपनी कन्याकी सगाई करनेके लिये अपने पुरोहितको भेजा। उसने बहुत-से ब्राह्मण बालक देखे, परंतु उसे कोई पसन्द नहीं आया। इसी बीच किसीने उसे बताया कि नरसीजीके भी एक सुन्दर बालक है, उसे भी देख लो। उसे देखते ही पुरोहितजी उसपर रीझ गये। तुरंत ही उन्होंने झोलीसे अक्षत निकालकर तिलक कर दिया। श्रीनरसीजीने कहा—लड़कीके पिताजी तो धनी-मानी एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। इसलिये मैं उनसे विवाह करनेयोग्य नहीं हूँ। उस पुरोहितने कहा—अजी श्रीभक्तजी! आप कैसी बात करते हैं, आप तो सब प्रकारसे योग्य हैं और श्रेष्ठ हैं। मैंने समझ-बूझकर तिलक करके मदनमेहताजीकी कन्यासे सम्बन्ध पक्का कर दिया। परंतु जब ब्राह्मणने अपने यजमान (कन्याके पिता)-से यह बात बतायी तो सुनते ही उसने माथा ठोककर कहा—अरे! वह तो तालकूटा निर्धन ब्राह्मण है, तुमने मेरी पुत्रीको कुएँमें डुबा दिया। शीघ्र जाओ और तिलकको लौटा लाओ। मुझे उस लड़केके साथ अपनी कन्याका विवाह नहीं करना है। यह सुनकर पुरोहितको महान् कष्ट हुआ।

पुरोहितजीने अपने यजमानसे कहा—पहले आप मेरे इस दाहिने हाथके अँगूठेको काटकर फेंक दीजिये, उसके पश्चात् आप यह कहिये कि 'तिलकको लौटा लाओ।' आप जरा सोचिये तो जब मैंने सोच-विचारकर तिलक कर दिया, फिर अब कैसे कहूँगा कि वापस कर दो। लड़कीके माता-पिता आदि सभी अत्यन्त दुःखमें भरकर बोले—हम समझ गये, इस लड़कीके भाग्य ही ऐसे हैं। अब तो लड़कीको सुखी करनेका यही एक

उपाय है कि जब वे बारात लेकर विवाह करने आयेंगे, तब हम उन्हें बहुत-सा धन दहेजमें दे देंगे। कुछ दिन बाद जब लगन-पत्रिका भेजनेका समय आया, तब पुरोहितजीने लिखकर उसे लाकर श्रीनरसीजीको दे दिया। आपने उसे देखा भी नहीं और उसे एक ओर डाल दिया। दैनिक नियमानुसार करताल बजाकर कीर्तन करने लगे। विवाह (माघ शुक्ल पंचमी)-के केवल चार दिन शेष रह गये। तब भी श्रीनरसीजीको उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं थी। तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीरुक्मिणीजीके समेत पधारे। प्रेमसे विभोर होकर आप दौड़कर श्रीभगवान्से मिले और श्रीचरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया।

श्रीप्रियादासजी नरसीजीके प्रति भगवान्के इस भक्तवात्सल्यका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

करन सगाई आयो, पायौ बर भायो नहीं, घर-घर फिरयो, द्विज नरसी बतायौ है।
आय, सुख पाय, पूछ्यौ, सुत सो दिखाय दियौ कियौ लै तिलक मन देखत चुरायौ है॥
अजू हम लायक न, तुम सब लायक हौ सायक सो छूट्यौ जाय नाम लै सुनायौ है।
सुनत ही, माथो फोरि, कहै तालकूटा वह, बाल बोरि आये, जावो फेरि, दुख छायौ है॥ ४५०॥
काटिकै अँगूठा डारौं, तब सो उचारौ बात, मन मैं बिचारौ, कियौ तिलक बनाय कै।
जाने सुता भाग ऐसे रहे सोच पागि सब आवैं जब व्याहिबे कौ धन दै अघाय कै॥
लगन हूँ लिखि दियौ, दियौ, द्विज आनि लियौ, डारि राख्यौ कहूँ, गावैं ताल ए बजाय कै।
रहे दिन चार, पै बिचार नहीं नेकु मन, आये कृष्ण रुक्मिनी जू झूमि मिले धाय कै॥ ४५१॥

श्रीरुक्मिणीजीके समेत भगवान् श्रीकृष्णके आते ही विवाहोत्सवकी चहल-पहल आरम्भ हो गयी। जहाँ-तहाँ विविध प्रकारके व्यंजन बनने लगे। महिलाएँ मंगल गान करने लगीं। घोड़ीपर वरको चढ़ाकर नगरमें भ्रमण कराया गया। उसके बाद ज्यौनार हुई, जिसमें असंख्य मनुष्योंने आकर खूब अच्छी तरहसे भोजन किया। 'सामान घट जाय, नरसीकी हँसी हो जाय'—इस विचारसे ब्राह्मण लोग भोजन करके पारसके नामपर गठरियोंको बाँधकर ले जाने लगे। परंतु सभी वस्तुएँ भण्डारमें इतनी भरी थीं कि उनमें समाती नहीं थीं। इसके बाद मुक्तामणि-रत्नजटित हाथी, घोड़ा, ऊँट, रथ और पालकी आदि वाहनोंसे युक्त श्रीनरसीजीकी बारातने सज-धजकर प्रस्थान किया।

जब बारात चल पड़ी, तब श्रीठाकुरजीने श्रीनरसीका हाथ पकड़कर कहा कि 'आप बारातके साथ चलो, मैं गुप्त रूपसे सब प्रकारसे देखभाल करता हुआ चलूँगा।' श्रीनरसीजीने कहा—'प्रभो! तुम जानो और तुम्हारा काम जाने, जो चाहो, सो करो। मुझे तो आनन्द इसमें है कि आपके इस सुन्दर स्वरूपको हृदयमें धारण कर लूँ और कमर कसकर हाथमें करताल लेकर आपके गुणानुवाद गाऊँ।' तब भगवान्ने विचारा कि इनसे कुछ होनेवाला नहीं है। अतः सम्पूर्ण कार्यभार अपने ऊपर ले लिया। बारात चढ़कर समधीके गाँव पहुँच गयी। चारों ओर यत्र-तत्र-सर्वत्र बाराती लोग शिविर लगाकर ठहर गये।

इसी बीच जिसने सगाई की थी, वह पुरोहित बारात देखकर आ गया। वह अपने मनमें फूला नहीं समा रहा था। प्रेमविह्वल होकर वह यजमानसे बोला—आपके पास जितनी राशि है, उससे बारातके घोड़ोंकी घासका भी पूरा नहीं पड़नेका है। जा करके देखिये, नगरके चारों ओर बारात-ही-बारात भरी हुई है।

बारातका विचित्र विवरण पाकर बेटीका बाप भी बारात देखने गया। देखकर उसका सब अभिमान दूर हो गया। उसने पुरोहितका आश्रय लिया और बार-बार प्रार्थना की कि आप कृपा करके मेरी लज्जा रख लीजिये, मैं आपकी शरणमें हूँ। पुरोहितने उससे कहा—'आप सद्भावपूर्वक श्रीनरसीजीके श्रीचरणोंको पकड़ लीजिये' और 'मुझ पर दया कीजिये'—ऐसी उनसे प्रार्थना कीजिये तो सब काम बन जायगा। दूसरा

कोई मार्ग नहीं है। यह सुनकर आँखोंमें आँसू भरकर श्रीनरसीजीके चरण-कमलोंमें पड़कर कन्याके पिताने प्रार्थना की—'प्रभो! मुझपर कृपा कीजिये।' श्रीनरसीजी छाती-से-छाती लगाकर मिले और श्रीश्यामसुन्दरके मुखचन्द्रका दर्शन कराया और कहा—'आप अपना भार इन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो जाइये।' (भगवान् श्रीकृष्णने कन्यापक्षका सारा कार्यभार श्रीबलरामजीको सौंप दिया।) बड़े समारोहके साथ श्रीनरसीजीके पुत्रका विवाह हुआ। घराती-बाराती सभी भक्तिभावमें विभोर हो गये।

प्रियादासजीने नरसीजीकी भक्ति और भगवान्‌के भक्तवात्सल्यका इस प्रकार वर्णन किया है—

ठौर ठौर पकवान होत, तिया गान करैं, घुरत निसान, कान सुनिये न बात है।
चित्र मुख किये लै विचित्र पट्टरानी आय, घोरी रंग बोरी पे चढ़ायौ सुत, रात है॥
करी सो ज्योंनार, तामें मानस अपार आये द्विजनि विचारि पोट बाँधी, पै न मात है।
मणिमय ही साज बाज गज रथ ऊँट कोर झमकैं किशोर आज सजी यों बरात है॥ ४५२॥
नरसी सों कहैं गहैं हाथ 'तुम साथ चलौ, अन्तरिक्ष मैं हूँ चलौं, इती बात मानियै'।
कही अजू? 'जानौ तुम, मैं तो हिये आनौं यहै लहै सुख मन मेरौ फेंट ताल आनियै'॥
आपही विचारि सब भार सों उठाय लियौ, दियो डेरा पुरी समधी की पहिचानिये।
मानस पठायौ 'दिन आयौ पै न आये', अहो? देखैं छबि छाये नर पूछें जू बखानियै॥ ४५३॥
'नरसी बरात, मत जानौ यह नरसी की, नरसी न पावै ऐसी समझ अपार है'।
आय कै सुनाई, सुधि बुधि बिसराई, कहौं 'करत हँसाई, बात भाखौ निरधार है'॥
गयौ जो सगाई करि दर बर आयौ द्विज निज अङ्ग मात कैसे रंग विसतार है।
कही 'एक घास धनरासि सों न पूजै किहूँ, चहूँ दिसि पूरि रही देखौ भक्ति सार है'॥ ४५४॥
चले अचरज मानि, देखि अभिमान गयौ, लयौ पाछौ ब्राह्मण को 'हमैं राखि लीजिये'।
जाइ गहि पाँय रहौ भाय भरि 'दया करौ', गए दृग भरै पाँव परै 'कृपा कीजिये'॥
मिले भरि अंक, लै दिखायौ सो मयंक मुख, 'हूजिये निसंक इन्हैं भार सुता दीजिये'।
व्याह करि आये, भक्तिभाव लपटाये सब गाये गुण जाने जेते, सुनि सुनि जीजिये॥ ४५५॥

श्रीयशोधरजी

सुत कलत्र संमत्त सबै गोबिंद परायन।
सेवत हरि हरिदास द्रवत मुख राम रसायन॥
सीतापति को सुजस प्रथम ही गवन बखान्यो।
द्वै सुत दीजै मोहि कबित सबही जग जान्यो॥
गिरा गदित लीला मधुर संतनि आनँद दायनी।
दिवदास बंस जसुधर सदन भई भक्ति अनपायनी॥ १०९॥

श्रीदिवदासजीके वंशमें उत्पन्न श्रीयशोधरजीके घरमें अनपायनी भक्ति प्रकट हुई। आपके स्त्री-पुत्र आदि सभी लोग आपके मतसे सहमत थे। सभी भगवत्परायण थे। आप भगवान्‌की एवं उनके भक्तोंकी सद्भावसे सेवा करते थे। आपके श्रीमुखसे निरन्तर श्रीरामनामरसामृतकी धारा बहा करती थी। श्रीविश्वामित्रजीने अयोध्यापुरीमें आकर श्रीदशरथजीसे कहा—हे राजन्! यज्ञरक्षाके लिये आप अपने दोनों पुत्र श्रीराम और

श्रीलक्ष्मणको दे दीजिये। श्रीदशरथजीने दे दिया, तब श्रीरामलक्ष्मणने श्रीविश्वामित्रजीके साथ गमन किया। सीतापति श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रथम वनगमनका आपने अति सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है। [गान करते हुए आप प्रेमावेशमें विभोर हो गये। वियोग सहन नहीं हुआ। 'मैं भी साथ चलूँगा'—ऐसा कहकर रोने-पुकारने लगे। प्रभुने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि—'तुम यहीं रहो, मुनिके यज्ञको सम्पन्न कराकर हम अभी आते हैं।' परंतु वियोग न सह सकनेके कारण आपने अपने प्राणोंको प्रभुपर निछावर कर दिया।] इस आशयके आपके पद लोकमें अति प्रसिद्ध हुए। आपकी वाणीसे गायी गयी श्रीरामजीकी मधुर लीलाएँ सन्तोंको परमानन्द देनेवाली हुईं॥ १०९॥

श्रीयशोधरजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीयशोधरजी दिवोदासके वंशमें उत्पन्न हुए थे। आप श्रीरामके प्रथम वन-गमनका अति प्रेमसे गान करते थे, वह सुखद एवं सर्वप्रसिद्ध था। भक्त-भगवन्तकी सेवामें आपकी दृढ़ निष्ठा थी। आप साधुओंको अपना सर्वस्व समर्पण करनेके लिये तैयार रहते थे। इनकी दृढ़ प्रतिज्ञाको देखकर एक दिन भगवान्ने परीक्षा लेनेका विचार किया और एक साधुका वेष धारणकर पधारे। आपने यथोचित सेवा की। उसके बाद साधुवेषधारी भगवान् बोले—'यशोधरजी! मेरे मनमें एक अभिलाषा है, परंतु कहनेमें संकोच होता है।' आपने कहा—'प्रभो! बिना किसी भय और संकोचके आप मुझ दासपर कृपा करके अपने मनकी बात कहिये।' इस प्रकार बहुत अनुनय करनेपर बोले—'मेरा मन विवाह करनेका है।' आपने कहा—'प्रभो! बहुत अच्छी बात है, मेरे यहाँ चार दिन ठहरिये। मैं आपके स्वरूपानुरूप कन्यासे आपका विवाह कर दूँगा।' यह सुन वे बोले—'मैं दूसरी कन्यासे नहीं, आपकी कन्यासे विवाह करना चाहता हूँ।' इसपर प्रसन्न होकर उन्होंने कहा—'भगवन्! तब तो आपकी महती कृपा है, इससे मुझे अत्यन्त ही सुख-सन्तोष होगा।' यशोधरजीने उसी क्षण अपनी स्त्री और पुत्रीको बुलाकर पूछा। दोनोंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इनके परिवारमें वैमत्य था ही नहीं। विवाहकी सभी विधियोंको सम्पन्न करनेकी तैयारियाँ होने लगी। शुभ कार्यमें बिलम्ब नहीं करना चाहिये। कल ही शुभलग्न है। इन्हें पूर्ण रूपमें तैयार देखकर वे सन्त भगवान् बोले—'मैं ऐसे विवाह नहीं करूँगा। दहेजमें एक लाख रुपये लूँगा।' श्रीयशोधरजीने कहा—'महाराज! मेरे परिवारके सभी सदस्योंका मूल्यांकन कीजिये। जो कई लाखका है। वह आपको अर्पित होकर आपकी सदा सेवा करेगा।' उन्होंने कहा—तो सारे परिवारको बुलाकर पूछो। सभीको बुलाकर पूछा गया। सभीने स्वीकार कर लिया। इन सबकी ऐसी दृढ़ निष्ठा देखकर प्रभुने अपनेको प्रकट कर दिया। दर्शन करके सभी कृतार्थ हो गये।

एक बार भक्तवर श्रीयशोधरजी एक गाँवसे सन्त-सेवा निमित्त कुछ अन्न-धन लेकर अपने घरको आ रहे थे। रास्तेमें इन्हें देखकर डाकुओंने लूटना चाहा। पीछा करते हुए जब एकान्त जंगलमें पहुँचे। तब उन्होंने घात लगायी। इतनेमें उन्हें साँवरे-गोरे दो किशोर धनुष-बाण लेकर संधान किये हुए श्रीयशोधरजीके साथ दिखायी पड़े, अतः लूट न सके। ये कौन हैं—यह जाननेकी इच्छासे वे इनके घरपर आये और पूछने लगे कि वे दोनों किशोर कहाँ हैं, कौन हैं, उन्हें देखनेकी इच्छा है। उनके द्वारा कहे गये लक्षणोंसे आप समझ गये कि, स्वयं श्रीराम-लक्ष्मणजीने आकर मेरी रक्षा की। उन्हें भी समझाया कि वे कोई साधारण सिपाही या राजकुमार न थे। अब उन डाकुओंके मनमें युगल स्वरूपकी स्मृति सुदृढ़ हो गयी। उन्होंने श्रीयशोधरजीसे उपदेश लेकर चोरी-डाका छोड़ दिया। सन्मार्गको अपनाया भगवद्भक्त हो गये।

श्रीनन्ददासजी

लीलापद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुर पयध लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संबलित भक्त पद रेनु उपासी॥
चंद्रहास अग्रज सुहृद परम प्रेम पथ मैं पगे।
(श्री) नंददास आनंदनिधि रसिक सु प्रभु हित रगमगे॥ ११०॥

भक्त महाकवि श्रीनन्ददासजी आनन्दसिन्धु-रसिकशेखर सुन्दर अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेममें पगे एवं रँगे थे। श्रीराधाकृष्णकी लीलाके पदोंकी रचनामें तथा प्रेमरसकी रीतियुक्त जो ग्रन्थ, उनकी रचनामें बड़े ही (नागर) चतुर थे। आपकी उक्तियाँ अत्यन्त सरस एवं युक्तियुक्त अर्थात् तर्कसंगत हैं। भगवद्भक्तिके सभी रसोंका गान करनेमें आप परम उजागर (प्रसिद्ध) थे। आप रामपुर ग्रामके निवासी थे, परंतु आपका पावन सुयश समुद्रपर्यन्त फैला हुआ था। उत्तम कुलीन ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर उनके साथ रहते हुए, उनके समेत भगवद्भक्तोंकी श्रीचरण-रजके उपासक थे। आपके बड़े भ्राता श्रीचन्द्रहासजी भी बड़े सरल-सरस हृदयवाले थे और अनन्य प्रेमके रसमें पगे हुए थे॥ ११०॥

श्रीनन्ददासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनन्ददास भक्तिरसके पूर्ण मर्मज्ञ और ज्ञानी थे। उनका जन्म वि० संवत् १५७० में हुआ था। गोसाईं विट्ठलनाथजीने उन्हें अष्टछापमें गौरवपूर्ण स्थान दिया था। उनके पिताका नाम जीवाराम और चाचाका आत्माराम था; वे शुक्ल ब्राह्मण थे, रामपुर ग्रामके निवासी थे। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी उनके गुरुभाई थे; नन्ददास उनको बड़ी प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे। वे युवक होनेपर उन्हींके साथ काशीमें रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। एक बार काशीसे एक वैष्णव-समाज भगवान् रणछोरके दर्शनके लिये द्वारका जा रहा था, नन्ददासने तुलसीदासजीसे आज्ञा माँगी; उन्होंने पहले तो जानेकी मनाही कर दी, पर बादमें नन्ददासने उनको पर्याप्त अनुनय-विनयसे प्रसन्न कर लिया। मथुरामें उन्होंने वैष्णव-समाजका साथ छोड़ दिया। वे वहाँसे द्वारकाके लिये स्वयं आगे बढ़े। दैवयोगसे वे रास्ता भूल गये। कुरुक्षेत्रके सन्निकट सीहनन्द नामक गाँवमें आ पहुँचे और वहाँसे किसी कारणवश पुनः श्रीवृन्दावनको लौट पड़े। नन्ददास भगवती कालिन्दीके तटपर पहुँच गये। यमुनादर्शनसे उनका लौकिक माया-मोहका बन्धन टूट गया। उन्होंने उस पार वृन्दावनके बड़े-बड़े मन्दिर देखे, अपने जन्म-जन्मके सखाका प्रेम-निकुंज देखा। प्रियतमकी मुसकान यमुनातटकी धवल और परमोज्ज्वल बालुकामें बिखर रही थी, उन्हें व्रजदेवता प्रेमालिंगनके लिये बुला रहे थे। उधर वैष्णव-समाजसे गोसाईं विट्ठलनाथने पूछा कि 'ब्राह्मण देवता कहाँ रह गये?' लोग आश्चर्यचकित हो उठे। नन्ददासको अपने शिष्य भेजकर उन्होंने बुलाया, वे गोसाईंजीके परम पवित्र दर्शनसे धन्य हो उठे। गोसाईंजीने उनको नवनीत-प्रियका दर्शन कराया, नन्ददासजीको दीक्षित किया; उन्हें देहानुसन्धान नहीं रह गया। चेत होनेपर नन्ददासकी काव्य-वाणीने भगवान्‌की लीलारसानुभूतिका मांगलिक गान गाया। वे भागवत हो उठे, उनके हृदयमें शुद्ध भगवत्प्रेमकी भागीरथी बहने लगी। श्रीगोसाईं विट्ठलनाथने उन्हें गले लगाया। नन्ददासने गुरु-चरणकी वन्दना की, स्तुति की। उनकी भारतीके स्वरमय सरस कण्ठने

गुरुकृपाके माधुर्यसे उपस्थित वैष्णव-मण्डलीको कृतार्थ कर दिया, वे गाने लगे—

श्रीबिट्ठल मंगल रूप निधान।
कोटि अमृत सम हँस मृदु बोलन, सब के जीवन प्रान॥
करुनासिंधु उदार कल्पतरु देत अभय पद दान।
सरन आये की लाज चहूँ दिसि बाजे प्रकट निसान॥
तुमरे चरन कमल के मकरँद मन मधुकर लपटान।
'नंददास' प्रभु द्वारे रटत है, रुचत नहीं कछु आन॥

उन्होंने गोसाईंजीके चरणकमलके स्थायी आश्रयके लिये उत्कट इच्छा प्रकट की। श्रीवल्लभनन्दनका दास कहलानेमें उन्होंने परम गौरव अनुभव किया। नन्ददासने उनके चरणकमलोंपर सर्वस्व निछावर कर दिया। उनका मन भगवान् श्रीकृष्णमें पूर्ण आसक्त हो गया। उन्होंने गोवर्धनमें श्रीनाथजीका दर्शन किया। वे भगवान्‌की किशोर-लीलाके सम्बन्धमें पद-रचना करने लगे। श्रीकृष्णलीलाका प्राणधन रासरस ही उनकी काव्य-साधनाका मुख्य विषय हो गया। वे कभी गोवर्धन और कभी गोकुलमें रहते थे।

नन्ददास उच्च कोटिके कवि थे। उन्होंने सम्पूर्ण भागवतको भाषाका रूप दिया। कथावाचकों और ब्राह्मणोंने गोसाईं विट्ठलनाथसे कहा कि 'हमलोगोंकी जीविका चली जायगी।' गुरुके आदेशसे महाकवि नन्ददासने केवल व्रजलीला-सम्बन्धी पदोंके और प्रधान रूपसे रास-रसके वर्णनको बचा रखा, शेष भाषाभागवतको यमुनाजीमें बहा दिया। नन्ददास ऐसे निःस्पृह और रसिक श्रीकृष्णभक्तका गौरव इस घटनासे बढ़ गया।

नन्ददासकी सूरदाससे बड़ी घनिष्ठता थी। महाकवि सूरने उनके बोधके लिये अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' की रचना की थी। एक दिन महात्मा सूरने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि 'अभी तुममें वैराग्यका अभाव है।' अतः महाकवि सूरकी आज्ञासे वे घर चले आये। कमला नामक कन्यासे उन्होंने विवाह कर लिया। अपने ग्रामका नाम श्यामपुर रखा, श्यामसर नामक एक तालाब बनवाया। वे आनन्दसे घरपर रहकर भगवान्‌की रसमयी लीलापर काव्य लिखने लगे। पर उनका मन तो श्रीनाथजीके चरणोंपर न्योछावर हो चुका था, कुछ दिनोंके बाद वे गोवर्धन चले आये। वे स्थायीरूपसे मानसी गंगापर रहने लगे तथा शेष जीवन श्रीनाथजीकी सेवामें समर्पित कर दिया।

भगवान् श्रीकृष्णका यश-चिन्तन ही उनके काव्यका प्राण था। वे कहा करते थे कि 'जिस कवितामें हरिके यशका रस न मिले, उसे सुनना ही नहीं चाहिये।' भगवान् श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीके वर्णनमें उन्होंने जिस योग्यताका परिचय दिया, वह अपने ढंगकी एक ही वस्तु है। नन्ददासने गोपी-प्रेमका अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्श अपने काव्यमें निरूपित किया है। व्रज-काव्य-साहित्यमें रासरसका पारावार ही उनकी लेखनीसे उमड़ उठा। नित्य नवीन रासरस, नित्य गोपी और नित्य श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यमें ही वे रात-दिन सराबोर रहते थे। रसिकोंके संगमें रहकर हरि-लीला गाते रहनेको ही वे जीवनका परमानन्द समझते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी—

रूप प्रेम आनंद रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि॥

नन्ददासजीने संवत् १६४० वि० में गोलोक प्राप्त किया। वे उस समय मानसी गंगापर रहते थे। एक बार अकबरकी राजसभामें तानसेन नन्ददासका प्रसिद्ध पद ***'देखो देखौ री नागर नट निरतत कालिन्दी तट'*** गा रहे थे। उसका अन्तिम चरण था—***'नन्ददास तहँ गावै निपट निकट।'*** बादशाह आश्चर्यमें पड़

गये कि नन्ददास किस तरह *'निपट निकट'* थे। वे बीरबलके साथ उनसे मिलनेके लिये मानसी गंगापर गये। अकबरने नन्ददाससे अपनी शंकाका समाधान चाहा, नन्ददासके प्राण प्रेमविह्वल हो गये, उनकी कामनाने उनको अनुप्राणित किया।

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोरमुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की॥

उनके नेत्र सदाके लिये बन्द हो गये। गोसाईं विट्ठलनाथने उनके सौभागयपूर्ण लीला-प्रवेशकी सराहना की। नन्ददास महारसिक प्रेमी भक्त थे। बीरबलने बादशाहको समझाया कि प्रेम गोप्य है, अनधिकारीके सामने उसका वर्णन नहीं किया जा सकता—यही सोचकर नन्ददासजीने अपने प्राण त्याग दिये।

श्रीजनगोपालजी

भक्ति तेज अति भाल संत मंडल को मंडन।
बुधि प्रबेस भागवत ग्रंथ संसय को खंडन॥
नरहड़ ग्राम निवास देस बागड़ निस्तार्‌यो।
नवधा भजन प्रबोध अननि दासन ब्रत धार्‌यो॥
भक्त कृपा बांछी सदा पद रज राधालाल की।
संसार सकल ब्यापक भई जकरी जन गोपाल की॥ १११॥

भक्तश्रेष्ठ श्रीजनगोपालजीके जकरी (पन्द्रह मात्राके) छन्द सारे संसारमें व्यापक हुए। भगवद्भक्तिके प्रतापसे आपका ललाट अत्यन्त देदीप्यमान था। आप सन्तोंकी सभाके भूषण थे। आपकी प्रखर बुद्धिमें श्रीभागवतजीका प्रवेश था एवं श्रीभागवतजीमें आपकी बुद्धि प्रविष्ट हो गयी थी। सर्वदा आप उसका अनुशीलन करते रहते थे। श्रीभागवतके एवं अन्य भक्तिग्रन्थोंके सम्बन्धमें किये गये सभी सन्देहोंका, कुतर्कोंका खण्डन कर देते थे। आप नरहड़ ग्रामके निवासी थे। आपने सम्पूर्ण बागड़ प्रान्तका उद्धार किया। आप श्रीभागवतमें कही गयी नवधा भक्तिके अनुसार भजन करते थे। इसका सम्यक् प्रकारसे आपको अनुभव था। अनन्य भावसे भगवान् एवं भक्तोंके दास्यव्रतको आप दृढ़तापूर्वक निभाते थे। भगवद्भक्तोंकी एवं श्रीराधानन्दलालकी श्रीचरण-रजको प्राप्त करनेकी आपने सदा इच्छा की [आप श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजके शिष्य थे]॥ १११॥

श्रीजनगोपालजीके विषयमें विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

श्रीभक्तमाल सर्वेश्वरके अनुसार श्रीजनगोपालजी श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजके शिष्य थे। आप वनमें निवास न कर नरहड़ नामक ग्राममें निवास करते थे, जिससे संसारी लोगोंको भक्तिमार्गपर लगाया जा सके। आप सन्तोंकी जमात लेकर भक्ति-प्रचारार्थ प्रायः भ्रमण करते रहते थे। एक बार जमातके साथ आप एक गाँवमें पहुँचे। सन्त-भगवन्तकी इच्छा हुई कि खीर-भोग आरोगेंगे। आपने एक भक्तको आज्ञा दी—'दूध लाओ।' उसने कहा—'महाराज! दूध तो आपकी कृपासे घरमें बहुत है, पर मैया थोड़ा भी नहीं देगी। यदि मौका लग गया तो मैं अवश्य ही लाऊँगा।' वह घर आया, माँ कहीं अन्यत्र गयी थी। उसने सब दूध लाकर सन्तोंकी सेवामें अर्पण कर दिया। उसकी माँने जब देखा तो अपने लड़केकी करतूत समझ गयी और जहाँ सन्तोंकी जमात टिकी थी, वहाँ पहुँचकर उससे लड़ने लगी कि—'सारे दूधको तू कैसे ले आया?'

श्रीजनगोपालजीने बड़ी शान्तिसे उसे समझाया और कहा—'घर जाकर देखो, फिर आकर यहाँ कुछ कहो।' वह अपने घरको गयी। जाकर देखा तो उसे बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। दूध ज्योंका त्यों भरा रखा है। जो पात्र अभी खाली थे, वे भरे रखे हैं। उसे सन्त-सेवामें विश्वास हो गया। गाँवके लोगोंने इस घटनासे प्रभावित होकर भक्तिपथका अनुसरण किया। जमातको रोककर कई दिनतक लोगोंने खीर-भोगकी सेवा की। इस प्रकार श्रीजनगोपालजी सन्त-सेवा और भक्ति-प्रचार करते रहते थे।

श्रीमाधवदासजी

प्रसिध प्रेम की बात गढ़ागढ़ परचो दीयो।
ऊँचे तें भयो पात स्याम साँचौ पन कीयो॥
सुत नाती पुनि सदृस चलत ऊही परिपाटी।
भक्तनि सों अति प्रेम नेम नहिं किहुँ अँग घाटी॥
नृत्य करत नहिं तन सँभार सम सर जनकन की सकति।
माधव दृढ़ महि ऊपरै प्रचुर करी लोटा भगति॥ ११२॥

दृढ़व्रती श्रीमाधवदासजीने पृथ्वीपर लोटनेकी भक्तिका सुदृढ़ एवं प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। आपके प्रेमकी बात अतिप्रसिद्ध है। आपने गढ़ागढ़में अपने प्रभुप्रेमका परिचय दिया। नृत्य-कीर्तन करते हुए प्रेमावेशमें आकर आप तिमंजिलेकी ऊँची छतसे गिर पड़े। भगवान् श्रीश्यामसुन्दरने अपने प्रणको सत्य करते हुए आपके प्राणोंकी और शरीरकी रक्षा की। आपके परिवारी—बेटा-नाती भी आपके समान भगवद्भक्त हुए और आपके द्वारा चलायी हुई भक्तिकी परिपाटीपर ही चलते रहे। आपका भक्तोंसे अत्यन्त प्रेम-नेम था। भक्तिके सभी अंगोंका आप पालन करते। कहीं भी कभी भी कमी नहीं आने देते थे। कीर्तन और नृत्य करते समय आपको अपने शरीरकी सुधि-बुधि नहीं रहती थी। आपकी तुलना केवल विदेहवंशी जनकोंसे ही हो सकती है॥ ११२॥

श्रीमाधवदासजीके विषयमें संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

प्रेमी भक्त श्रीमाधवदासजी 'गढ़ागढ़' निवासी थे और बड़े भारी भगवदनुरागी थे। हरिनाम-संकीर्तनके समय नृत्य करते-करते इन्हें अपने शरीरकी सुधि नहीं रहती थी और भूमिपर लोटने लगते थे। गढ़ागढ़का राजा अभक्त था, वह ऐसे आचरणों (सच्ची भक्ति)-को ढोंग समझता था। इसलिये उसने श्रीमाधवदासजीकी भक्तिकी परीक्षा लेनेकी सोची। श्रीहरिनाम-संकीर्तनका आयोजन कराकर इन्हें आमन्त्रित किया और तीसरी मंजिलकी छतपर मण्डप बनवाया। आप पैरोंमें नूपुर बाँधकर नृत्य-कीर्तन करने लगे। लोगोंने विलक्षण प्रेमके प्रभावको देखा। कुछ देर बाद प्रेमका ऐसा आवेश आया कि आप पृथ्वीपर लोटने लगे। आपने अपने भक्ति-भावको सत्य करके दिखलाया। छतपर मुड़गेली नहीं थी। अतः आप लोटते-लोटते तिमंजिलेसे नीचे गिर गये। वहाँ कड़ाहमें घी खौल रहा था। उसमें गिरनेपर भी आप जीवित रहे। तापका किंचित् अनुभव भी नहीं हुआ। यह देखकर राजाको बड़ा भारी डर लगा और उसे हरिभक्तोंमें विश्वास हो गया तथा हृदयमें भक्तिभाव व्याप्त हो गया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका वर्णन अपने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

गढ़ागढ़ पुर नाम 'माधौ' बढ़ि प्रेम, भूमि लौटैं, जब नृत्य करैं भूलैं सुधि अंग की।
भूपति बिमुख, झूठ जानिकै परीक्षा लई, आनि तीन छाति पर देखी गति रंग की॥

नूपुरनि बाँधि, नाचि, साँच सो दिखाय दियौ गिर्‌यौ हू कराह मध्य, जियौ, मति पंग की।
बड़ौ त्रास भयौ नृप, दास बिसवास बढ़्यौ, बढ़्यौ उर भाव रीति न्यारी या प्रसंग की॥ ४५६॥

श्रीअंगदजी

नग अमोल इक ताहि सबै भूपति मिलि जाचैं।
साम दाम बहु करैं दास नाहिन मत काचैं॥
एक समै संकट में ले वै पानी महि डार्‌यो।
प्रभू तिहारी वस्तु बदन ते बचन उचार्‌यो॥
पाँच दोय सत कोस ते हरि हीरा लै उर धर्‌यो।
अभिलाष भक्त अंगद्द को पुरुषोत्तम पूरन कर्‌यो॥ ११३॥

भक्तवर श्रीअंगदजीकी अभिलाषाको भगवान् श्रीजगन्नाथजीने पूर्ण किया। आपके पास अमूल्य हीरा था, उसे सभी राजाओंने मिलकर माँगा और हीरा हड़पनेके सभी हथकण्डे साम, दाम, भय और भेद आदि उपाय किये, परंतु भक्त अंगद अपने विचारके कच्चे नहीं पक्के थे। उन्होंने हीरा नहीं दिया। एक बार राजाने उन्हें संकटमें डालकर उनसे हीरा लेना चाहा, तब उन्होंने हीरेको यह कहकर जलमें डाल दिया कि 'हे प्रभो! यह हीरा आपकी वस्तु है, इसे स्वीकार कीजिये।' पुरुषोत्तम प्रभुने सात सौ कोससे अपना लम्बा हाथ फैलाकर उसे ले लिया और श्रीअंगमें धारण कर लिया। इस प्रकार भक्तके मनोरथको प्रभुने पूर्ण किया॥ ११३॥

भक्तवर अंगदजीके विषयमें कुछ विवरण इस प्रकार है—

(क) अंगदजीका अपनी स्त्रीकी भक्तिसे प्रभावित हो भक्त बनना तथा उन्हें अमूल्य नग (हीरे)-की प्राप्ति

रायसेनगढ़के राजा सिलाहदीसिंह थे। उनके चाचा अंगदसिंहजी पहले भगवद्‌विमुख थे, पर उनकी स्त्री भगवद्भक्ता थी। एक बार उनके श्रीगुरुदेव घरपर आये और भक्ता शिष्याकी प्रार्थनापर वे सुखपूर्वक सुखस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कहने लगे। इसी बीच अंगदजी आ गये और फटकारते हुए श्रीगुरुजीसे बोले—'स्त्री जातिके साथ यहाँ क्या कर रहे हो?' इतना सुनते ही श्रीगुरुदेव वहाँसे उठकर चले गये। श्रीअंगदजीकी स्त्रीने अपने गुरुदेवके अपमानसे दुःखित होकर अन्न-जलका परित्याग कर दिया। श्रीअंगदसिंहजी तो संसारी सुखोंके वशीभूत थे। अतः स्त्रीको मनाते-मनाते इन्होंने उसके पाँव पकड़ लिये और कहा—'अब जो कुछ भी तुम कहो, मैं वही करूँगा। उस समय मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। अतः अनुचित शब्द मुँहसे निकल गये।' पतिदेवके दैन्यको देखकर उस भक्ताका हृदय दयासे भर गया। उसने कहा—'अब आप मेरे चरणोंको छोड़कर मेरे गुरुदेवके चरणोंमें जाकर पड़िये और उन्हें प्रसन्नकर उनको अपना गुरु बनाइये।'

स्त्रीकी यह बात सुनकर अंगदजी श्रीगुरुजीके पास गये और बड़े प्रेमके साथ उन्हें घर लिवा लाये। दीनभावसे विनतीकर उनके शिष्य बन गये। उन्हें सादर भोजन कराकर उनका उच्छिष्ट प्रसाद लिया। अब श्रीअंगदजीके हृदयमें भक्त-भगवान् और श्रीगुरुदेवमें एक नवीन प्रीति प्रकट हो गयी। अपने भतीजे राजा सिलाहदीसिंहजीके आदेशानुसार एक बार आपने एक शत्रु राजाके ऊपर चढ़ायी की और विजय प्राप्त कर ली। राजभवनकी लूटमें

आपको राजाकी टोपी मिल गयी, जिसमें सौ नग जड़े हुए थे, उनमेंसे एक नग सबसे मूल्यवान् था। टोपीके निन्यानबे नगोंको बेच-बेचकर आपने सन्त-भगवन्तकी सेवा कर दी और एक नग जो सबसे बड़ा और कीमती था, उसे आपने अपनी पगड़ीकी लपेटमें रख लिया और मनमें निश्चय किया कि इसे मैं श्रीजगन्नाथजीको अर्पण करूँगा।

श्रीप्रियादासजीने श्रीअंगदसिंहजीकी इस सेवाका वर्णन इस प्रकार किया है—

'रायसेन' गढ़ वास नृप सो 'सिलाहदी' जू, ताको यह काका रहे, 'अंगद' बिमुख है।
ताकी नारी प्यारी, प्रभु साधु सेवा धारी उर, आये गुरु घर, कहैं कृष्ण कथा सुख है॥
बैठे भौन कौन? देखि कैसे मौन रह्यौ जात? बोल्यो तिया जात, कहा करौ नर रुख है?।
सुनि उठि गये, वधू अन्न जल त्यागि दये, लये पाँय जाय विषैबस भयौ दुख है॥ ४५७॥
मुख न दिखावै याहि देख्यौ ही सुहावै, कही 'भावै सोई करौ, नेकु बदन दिखाइयै'।
मैं हूं जल त्यागि दियौ, अन्न जात कापै लियौ, 'जीवौ जब नीकौ तब आपु कछु खाइयै'॥
बोली 'मोसों बोलौ जिन, छांड़ौ तन याही छिन, पन सांचौ होतौ जौ पै सुनत समाइयै'।
'कहौ अब कीजै जोई, मेरी मति गई खोई', भोई उर दया बात कहि समझाइयै॥ ४५८॥
'वेई गुरु करौ जाय, पांयन मैं परौ,' गयौ, चायनि लिवाय ल्यायौ, भयौ शिष्य, दीन है।
धारौ उर माल, भाल तिलक बनाय कियौ लियो सीत, प्रीति कोऊ उपजी नवीन है॥
चढ़ी फौज संग, चढ़्यौ बैरी पुर, मारि बढ़्यौ, कढ़्यौ, टोपी लैकै हीरा सत, एक पीन है।
डारे सब बेचि, पागपेच मध्य राख्यौ मुख्य, भाष्यौ 'सों अमोल करौ जगन्नाथ लीन है'॥ ४५९॥

(ख) हीरेकी प्राप्तिके लिये भक्त अंगदको विष देना, किंतु विषका निष्प्रभावी होना

फौजी सिपाहियोंमें कानाफूसी होते-होते सौ नगोंसे जड़ी हुई उस टोपीकी बात राजा सिलाहदीसिंहने सुन ली। राजाने लोगोंसे कहा कि 'चाचाजी! आप यदि उस हीरेको दे दें तो निन्यानबे हीरे हम माफ कर देंगे।' लोगोंने आकर इन्हें खूब समझाया-बुझाया। अनेक युक्तियाँ कीं, परंतु इन्होंने किसीकी भी नहीं मानी। तब श्रीअंगदसिंहजीकी एक बहन, जो इनके यहाँ रसोई बनाया करती थी, राजाने उसके पैर छूकर एवं लोभ-लालच देकर भेद नीतिसे उससे कहा कि तुम अंगदसिंहको विष देकर मार डालो, फिर मैं तुम्हें बहुत-सा धन-धरती दूँगा। उसने राजाकी बात मान ली, विष घोलकर भोजनमें मिला दिया और भगवान्का भोग भी लगा दिया। फिर बुलाकर कहा कि आओ, भोजन कर लो। थाली परोसकर उनके सामने रख दी।

श्रीअंगदसिंहकी बहनकी एक लड़की थी। ये जब भोजन करते थे तो श्रीराधाजीकी सखी मानकर उसे भी साथ बैठा लेते थे। अपनी लड़कीको बचानेके लिये उसने उसे कहीं किसीके घर छिपा दिया था। ये उसके बिना भोजन नहीं कर रहे थे, अपनी लड़कीमें अपने भाईका ऐसा अपार प्रेम देखकर उसके मनमें भ्रातृ-प्रेम उमड़ आया। भाईकी मृत्युसे डरकर रोने लगी। गलेसे लगकर रोते-रोते उसने सब बात कह दी। अब तुम इसे मत खाओ—ऐसा कहकर वह विषमिले भोजनकी थालीको लेकर जाने लगी। यह देखकर श्रीअंगदजीने कहा—'तूने विषमिले सामानका भगवान्को भोग लगा दिया और अब हमें खानेसे रोकती है।' ऐसा कहकर उन्होंने उसे ढकेलकर बाहर निकाल दिया और भगवदिच्छा बलवती मानकर पुनः किवाड़ बन्दकर सब प्रसाद पाकर लेट गये। आपके ऊपर विषका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। प्रसाद-प्रेमसे आपके मुखपर नयी चमक आ गयी, परंतु आपके मनमें इस बातका असह्य कष्ट बना हुआ था कि विषमिश्रित पदार्थ भगवान्को भोग लगाया गया।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

काना कानी भई नृप बात सुनि लई, 'कही हीरा वह देव, तौ पै और माफ किये हैं'।
आय समुझावैं, बहु जुगति बनावै, याके मन मैं न आवैं, जाय, सबैं कहि दिये हैं॥
अंगद बहिन लागै वाकी भूवा पागै, तासौं 'देवौ विष, मारौ' फिर तू ही, पग छिये हैं।
करत रसोई घोरि गरल मिलायो, पाक, भोगहूँ लगायौ, 'अजू आवो' बोलि लिये हैं॥ ४६०॥
वाकी एक सुता, संग लैकै बैठें जेंवन कों, आई सो छिपाय कही जेंवौ कहूँ गई है।
जेंवत न, बोधि हारी तब सो बिचारी प्रीति, भीति, रोय मिली गरें, रीति कहि दई है॥
प्रभु लै जिंवाये राँड़ भाँड़ कै निकासि द्वार, दै करि किवार, सब पायौ ओप नई है।
वह दुख हियें रह्यौ कह्यौ कैसे जात काहू ? बात सुनी नृपहूँ नै, जैसी भाँति भई है॥ ४६१॥

(ग) जगन्नाथजीद्वारा प्रत्यक्ष हाथ बढ़ाकर हीरेको प्राप्त करना

श्रीअंगदसिंहजीने सोच-विचारकर हीरा भगवान्‌को धारण करानेकी इच्छासे श्रीजगन्नाथपुरीकी ओर प्रस्थान किया। समाचार पाते ही खीझकर राजाने सिपाहियोंको भेजा, उन्होंने आकर इन्हें सब ओरसे घेर लिया। राजपुरुषोंने कहा—'आप हीरा यहीं मेरे सामने रख दीजिये, अन्यथा युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाइये।' यह सुनकर श्रीअंगदजीने कहा—'आपलोग थोड़ा ठहरिये, मैं इस कुण्डमें स्नान करके अभी हीरा दिये देता हूँ।' आपके मनमें तो भगवत्प्रेम ओत-प्रोत था। अतः उन्हें न देकर यह कहते हुए हीरा जलमें डाल दिया कि 'प्रभो! यह आपकी वस्तु है, कृपया आप इसे स्वीकार कीजिये।' प्रेमभरी भक्तकी यह वाणी श्रीजगन्नाथजीको अति प्यारी लगी। आजानुबाहु प्रभुने सात सौ कोस लम्बा हाथ बढ़ाकर उसे ले लिया और अत्यन्त सुख पाकर उसे अपने वक्षःस्थलपर धारण कर लिया।

श्रीप्रियादासजीने अंगदसिंहके इस भगवत्प्रेमका वर्णन अपने कवित्तमें इस प्रकार किया है—

चले नीलाचल, हीरा जाय पहिराय आवैं, आय घेरि लीने नृप नरनि, खिसाय कै।
कही डारि देवौ, कै लराई सनमुख लेवौ बस न हमारौ, भूप आज्ञा आये धाय कै॥
बोले 'नेकु रहौ, मैं अन्हाय पकराय देत, हेत मन और जल डार्‍यौ लै, दिखाय कै'।
बस्तु है तिहारी प्रभु, लीजियै, उचारी यह, बानी लागी प्यारी, उर धारी सुख पाय कै॥ ४६२॥

(घ) अंगदजीके भक्तिभावसे राजाका भी भक्त बन जाना

श्रीअंगदजी उस हीरेको कुण्डमें फेंककर (दुःखित मन) अपने घर आ गये। उधर राजपुरुष लोग जलमें कूद पड़े और हीरेको ढूँढ़ने लगे। महान् प्रयत्न करनेपर भी जब वह हीरा उन्हें न मिला तो वे लोग व्याकुल हो गये। समाचार पाकर राजा भी वहीं आ गया। उसने कुण्डका सब पानी बाहर निकलवाया। फिर भी जब हीरा न मिला तो कीचमें ढुँढ़वाया। कीचमें भी न मिलनेपर राजा दुःखसागरमें डूब गया। इधर श्रीजगन्नाथजीने अपने पण्डोंको आज्ञा दी कि तुम जाकर अंगदसिंहजीसे कह दो कि तुम्हारा हीरा प्रभुको मिल गया है और उन्होंने धारण कर लिया है। इस मंगलमय समाचारको पण्डोंने आकर सुनाया तो इन्हें इतना आनन्द हुआ कि अपने शरीरकी सुधि-बुधि न रही। श्रीअंगदसिंहजीने पुरीमें जाकर देखा तो वही हीरा भगवान्‌के हृदयपर जगमगा रहा है।

श्रीअंगदजीके इस भक्तिके चमत्कारको देख-सुनकर राजाके हृदयमें महान् दुःख था। उसने अन्न खाना छोड़ दिया तथा ब्राह्मणोंको उन्हें लिवा लानेके लिये श्रीजगन्नाथपुरीको भेजा और उनसे कहा कि जैसे भी हो, किसी-न-किसी प्रकारसे उन्हें आपलोग लिवा लाओ। यदि वे मेरे नगरमें आयें तो मैं अपने बड़े भाग्य मानूँगा। ब्राह्मणोंने राजाके कथनानुसार पुरीमें जाकर श्रीअंगदजीसे राजाके दुःखको सुनाया और प्रार्थना की

कि 'अब आप वहीं पधारो।' ये किसी भी तरहसे जब आनेको तैयार न हुए, तब ब्राह्मण लोग धरना देकर पड़ गये। तब श्रीअंगदजीको दया आ गयी और राजाके दुःखको दूर करनेके लिये आप चल दिये। जब आप नगरके समीप आये तो राजाने सुना। तत्काल दौड़कर आया और इनके चरणोंमें लिपट गया। आपने उसे छातीसे लगा लिया। आँखोंसे आँसू बहने लगे। राजाने अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणोंमें समर्पित कर दिया। इस प्रकार नव-जीवन प्राप्तकर जीवनपर्यन्त राजाने हरिभक्तिमय आचरण किया।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

ऐतौ घर आये, वे तो जलमधि कूदि छाये, अति अकुलाये, नेक खोज हूँ न पायौ है।
राजा चलि आयौ, सब नीर कढ़वायौ, कीच देखि मुरझायौ, दुःख सागर अन्हायौ है॥
जगन्नाथ देव आज्ञा दई, 'वाहि सुधि देवौ' आयकै सुनाई नर तन बिसरायौ है।
गयौ, जाय देख्यौ उर पर जगमग रह्यौ लह्यौ सुख नैनन कौ, कापै जात गायौ है॥ ४६३॥
राजा हिय ताप भयौ, दयौ अन्न त्यागि, कह्यौ आवै जोपै भाग मेरे ब्राह्मन पठाये हैं।
धरनौ दै रहे कहे नृप के वचन सब, तब ह्वै दयाल आप पुर ढिग आये हैं॥
भूप सुनि आगे आय पाँय लपटाय गयौ लयौ उर लाय दृग नीर लै भिजाये हैं।
राजा सरबसु दियौ जियौ हरिभक्ति कियौ हियौ सरसायौ गुन जाने जिते गाये हैं॥ ४६४॥

श्रीचतुर्भुजजी

भक्तागमन सुनत सनमुख जोजन इक जाई।
सदन आनि सतकार सदृस गोबिंद बड़ाई॥
पाद प्रछालन सुहथ राय रानी मन सांचैं।
धूप दीप नैबेद्य बहुरि तिन आगें नाचैं॥
यह रीति करौलीधीस की तन मन धन आगें धरै।
चत्रभुज्ज नृपति की भगति कौं कौन भूप सरवरि करै॥ ११४॥

कौन ऐसा राजा है, जो करौलीनरेश श्रीचतुर्भुजजीकी सन्त-सेवाकी बराबरी कर सके। आप ऐसे निष्ठावान् सन्तसेवी थे कि भगवद्भक्तका आगमन सुनकर उसकी अगवानी करनेके लिये चार कोसतक जाते थे और अति आदरके साथ उन्हें अपने महलमें लाकर भगवान्के समान भक्तका आदर-सत्कार करते थे। अपनी रानीके समेत राजा अपने हाथोंसे भक्तोंके श्रीचरणोंका प्रक्षालन करके चरणामृत लेते। चन्दन, फूलमाला, धूप, दीप एवं नैवेद्य आदि सभी उपचारोंसे पूजन करते। उसके बाद उन्हें सिंहासनपर बैठाकर उनके सामने नृत्य-कीर्तन करते। राजाकी रीति थी कि अपना तन-मन और धन सर्वस्व उन्हें समर्पित करते। सन्तोंका आदर करनेवाला ऐसा कोई भक्त-राजा नहीं, जिससे इनकी तुलना की जाय॥ ११४॥

श्रीचतुर्भुजजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीचतुर्भुजजी करौलीके राजा थे, अपने-अपने नगरके चारों ओर चार-चार कोसपर चौकियाँ बना दी थीं, वहाँ राजपुरुषोंको नियुक्तकर आज्ञा दी कि जब कोई भगवद्भक्त आयें तो उनको वहीं ठहराकर उनका स्वागत-सत्कार करो, फिर शीघ्र मुझे सूचित करो। सूचना पाकर राजा स्वयं जाते और बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपने महलमें लिवाकर ले आते। माला-तिलकधारीमात्र कोई भी भक्त द्वारपर आ जाते तो उनको

भी सच्चा भक्त मानकर उनकी सेवा-पूजा करते थे। एक राजाने करौलीधीशकी यह अद्भुत भक्ति एवं भक्तोंकी सेवाकी सुन्दर कथा सुनी तो उसने अपनी सभामें कहा कि यदि पात्र और अपात्रका विचार ही नहीं है तो ऐसा दान-सत्कार प्रशंसनीय नहीं है। उस राजाने इस प्रकार बात-ही-बातमें श्रीचतुर्भुजजीकी महिमाको उड़ा दिया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीचतुर्भुजजीकी सन्तनिष्ठा और इस घटनाको इस प्रकार वर्णित किया है—

पुर ढिग चारौ ओर चौकी राखी जोजन पै जो जन ही आवै तिन्है ल्यावत लिवायकै।
मालाधारीदास मानि, आवै कोऊ द्वार जो पै, करै वही रीति सो सुनाई छप्पय गायकै॥
सुनी एक भूप भक्त निपट अनूप कथा, सबकों भंडार खोलि देत, बोल्यौ धायकै।
पात्र औ अपात्र यों विचारही जौ नाहीं, तौ पै कहा ऐसी बात? दई नेकु मैं उड़ायकै॥ ४६५॥

(क) चतुर्भुजजीकी भक्तनिष्ठाकी परीक्षा

राजा श्रीचतुर्भुजजीके आलोचक राजाके दरबारमें एक भक्तराज ब्राह्मणदेव थे। वे श्रीमद्भागवतजीकी कथा कहा करते थे। उन्होंने राजासे कहा—'राजन्! करौलीधीशके सम्बन्धमें आप ऐसा न सोचिये कि वे पात्र-अपात्रका विवेक नहीं रखते। भक्तके हृदयमें प्रवेश करके उसके आशयको समझनेमें कौन समर्थ हो सकता है।' जब ब्राह्मणदेवने यह बात कही, तो उस राजाने श्रीचतुर्भुज राजाकी परीक्षा लेनेके लिये भक्ति-भावसे हीन एक भाटको भेजा। उसको माला-तिलक वस्त्र आदि देकर कहा कि करौलीधीशके द्वारपर जाकर अपनेको भगवान्‌का भक्त बतलाना। राजाज्ञासे भाट श्रीचतुर्भुजजीके यहाँ गया, परंतु वहाँ भक्तवेष-भूषा धारण करना, अपनेको भक्त कहना भूल गया और राजवंशकी महिमाका वर्णन करने लगा। सब लोगोंने उसे भाट समझकर यथोचित व्यवहार किया। अब वह भीतर कैसे जाने पाता?

एक मास बाद उसे स्मरण हुआ कि मुझे साधुवेष धारणकर राजा चतुर्भुजजीकी परीक्षा लेनेको कहा गया है। फिर क्या था उसने माला-तिलक धारणकर राजद्वारपर जाकर कहा कि—'राजासे कह दो कि एक कोई भगवद्भक्त आये हैं।' द्वारपालोंने कहा—'महात्मन्! आप निःशंक-निस्संकोच भीतर राजमहलमें जाइये, आपके लिये रोक नहीं है। यह सुनकर वह भाट भीतर चला गया। श्रीचतुर्भुजजीने भक्तवेष देखकर उसका अपनी रीतिके अनुसार खूब स्वागत-सत्कार किया। राजाने भक्तिचर्चा छेड़कर अच्छी प्रकारसे समझ लिया कि इनमें भक्तिकी किंचित् गन्ध भी नहीं है और किसीने मेरी परीक्षा लेने भेजा है। फिर राजाने अपनी वेषनिष्ठासे उस भाटके लिये भण्डार खोल दिया और प्रार्थना की कि आप इच्छानुसार धन ले लीजिये, सर्वस्व आपका ही है। उस भाटने मनमाना सोना-चाँदी आदि बहुत-सा धन बाँध लिया। तब चलते समय राजाने उसे कीमती गोटेसे जड़ी हुई तथा सुन्दर जड़तारी वस्त्रमें लिपटी हुई एक कौड़ी डिब्बेमें रखकर उसे भेंट करके प्रणाम किया'।

वह भाट करौलीसे लौटकर अपने राजाके पास आया और उसने भरी राजसभामें सब समाचार सुनाकर जो धन लाया था, उसे दिखाया। बादमें डिब्बा भी दिया। राजाने डिब्बा खोला और जड़ाऊ कपड़ेमें लिपटी एक कानी कौड़ी देखी। रातमें पण्डितजीके पास आकर सब बात बताकर कौड़ी देनेका रहस्य पूछा। पण्डितजीने झट अनुमान करके बताया कि 'भक्त राजा चतुर्भुजजीके मनका भाव यह है कि इस भाटका ऊपरी साधुवेष जरीके समान अति मूल्यवान् और आदरणीय है, परंतु भीतर कानी कौड़ीके समान तुच्छ परीक्षाका भाव है।'

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भागवत गावै, भक्त भूप एक बिप्र तहाँ बोलिकैं सुनावै 'ऐसी मन जिन ल्याइयै'।
पावै आसै कौन हृदय भौन में प्रवेस करि? भरि अनुराग कहा उर मधि आइयै?॥
करी लै परीक्षा भाट बिमुख पठाय दियौ, 'दियौ भाल तिलक द्वार दास यों सुनाइयै'।
गयौ, गयौ भूलि, फूलि कुल विस्तार कियौ लियौ पहिचानि अब जान कैसे पाइयै॥ ४६६॥
बीते दिन बीस तीस, आई वह सीख सुधि, कही 'हरिदास' कोऊ आयौ, यों सुनाइयै।
बोले जू निसंक जावौ, गावौ गुन गोबिन्दके, आये घर मध्य, भूप करी जैसी भाइयै॥
भक्तिके प्रसंग कौ न रंग कहूँ नेकु जान्यौ, जान्यौ उनमान सों परीक्षा मँगवाइयै।
दियौ लै भंडार खोलि, लियौ मन मान्यौ, दई संपुटमें कौड़ी डारि, जरी लपटाइयै॥ ४६७॥
आयौ वही राजा पास, सभामें प्रकाश कियौ, लियौ धन दियौ, पाछे सोई लै दिखायौ है।
खोलि कै लपेटा मध्य सम्पुट निहारि कौड़ी, समुझि बिचारै हारै मन में न आयौ है॥
बड़ौ भागवत विप्र पंडित प्रबीन महा, निसि रस लीन जानि आयकै बतायौ है।
कर्‍यौ उनमान, भक्त मानिबौ प्रमान जरी मूँदिकैं पठाई, ताहि गुण समझायौ है॥ ४६८॥

(ख) राजाका मैना पक्षीद्वारा चतुर्भुजजीकी भक्तिके प्रभावको जानना

भक्त पण्डितजीके श्रीमुखसे जरीलिपटी कौड़ीके रहस्यको जानकर राजाने कहा—'महाराजजी! आपने अति उत्तम बात कही, परंतु मेरी इच्छा है कि आप स्वयं करौली जायँ और श्रीचतुर्भुजजीकी भक्तिका वास्तविक तत्त्व लेकर आयें।' पण्डितजी करौली गये। उनका शुभागमन सुनते ही दौड़कर राजा चतुर्भुजजी उनके पैरोंमें लिपट गये। महलोंमें ले जाकर प्रेमभावमें भरकर नित्य उनकी सेवा-पूजा करने लगे। कथा-वार्ता होती तो दोनों ही प्रेमानन्द-सागरमें डूब जाते। पण्डितजी वहाँसे चलना चाहते, परंतु राजा अनुनय-विनय करके रोक लेता और नित्य नये प्रेम-प्रसंग उपस्थितकर उन्हें सुख प्रदान करता। अन्तमें जब पण्डितजी विदा होने लगे तो दोनोंको वियोगका असह्य दुःख हुआ। राजाने अपना खजाना खोलकर यथेच्छ धन लेनेकी प्रार्थना की, परंतु पण्डितजीने कुछ भी नहीं लिया और कहा कि मुझे तो आपकी प्रीति-प्रतीतिने रिझा लिया है। उसके सामने धन क्या चीज है? राजाने कहा—'महाराजजी! कुछ तो स्वीकारकर हमें कृतार्थ कीजिये।' राजाके विशेष आग्रहपर पण्डितजीने कहा कि 'आपके राजभवनमें जो तोता और मैना हैं, इनमेंसे एक मुझे दे दीजिये।' ये दोनों पक्षी राजाको अत्यन्त प्रिय थे। अतः उनके वियोग भयसे राजा व्यथित हुए। अन्तमें उन्होंने मैनाको पण्डितजीके साथ भेज दिया।

करौलीसे चलकर पण्डितजी उस मैनाको लिये हुए उस राजाके दरबारमें आये। वह तो राजदरबार था। वहाँ सभी प्रकारके संसारी लोग आते-जाते थे। लोग बहस करनेमें व्यस्त थे। उन बातोंको सुनकर फटकारती हुई मैना बोल उठी—'अरे माटीके धोधाओ! कृष्ण कहो, कृष्ण कहो।' तब राजाने पण्डितजीसे पूछा कि 'बताइये महाराज! राजा चतुर्भुजजीका भक्ति-भाव कैसा है?' पण्डितजीने कहा—'राजन्! इस मैनासे आप ही वहाँका रहस्य समझ लें। उस समाजमें रहनेवाले इस पक्षीको भी भगवान् प्राणोंसे प्रिय हैं। मैं करोड़ों जीभोंको पाकर उनसे श्रीचतुर्भुजजीकी महिमाका वर्णन करूँ तो भी उसका पार नहीं पा सकता हूँ।' करौलीनरेशकी भक्तिका रहस्य पाकर वह राजा श्रीचतुर्भुजजीके पास आया और उनके श्रीचरणोंमें सिर रखकर उसने उन्हें प्रणाम किया, फिर उस मैनाको वापस करते हुए बोला—भक्तराज! इस भक्त मैनाको आप ही अपने महलोंमें रखिये, इसके तन-मनमें भगवान् श्यामसुन्दर रमे हैं।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

राजा रीझि पाँव गहे, कहे 'जू बचन नीके ऐपै नेकु आप जाय तत्त्व याकौ ल्याइयै'।
आये, दौरि पाँव लपटाय भूप भाय भरे, परे प्रेमसागर में, चरचा चलाइयै॥
चलिबे न देत, सुख देत चले लोलमन, खोलिकै भंडार दियौ लियौ न रिझाइयै।
उभै सुवा सारौ कही एक कर धारौ मेरे दई अकुलाय लई मानौ निधि पाइयै॥ ४६९॥
आयौ राजसभा, बहुबातनि अखारौ जहाँ, बोलि उठी सारौ 'कृष्ण कहौ' झारि डारे हैं।
पूछैं नृप 'कहौ,' 'अहौ! लहौ सब याही सों जू, पच्छी वा समाज रहै हरि प्रानप्यारे हैं'॥
कोटि कोटि रसना बखानौं पै न पाऊँ पार, सार सुनि भक्ति, आय सीस पाँव धारे हैं।
'राखौ यह खग पगि रह्यौ तन मन श्याम,' अति अभिराम रीति मिले औ पधारे हैं॥ ४७०॥

श्रीचतुर्भुजजीकी भक्ति-भावनाका अनुचित लाभ उठानेके उद्देश्यसे एक डाकू साधु-वेष धारणकर उनके पास आया। उन्होंने उसे भी महलमें निवास दिया। एक दिन राजाकी अनुपस्थितिमें उस डाकूने रानीके गलेमें एक कीमती हार देखकर उसे लेना चाहा। फिर तो जब रानी शयन कर रही थीं तब उसने उनके गलेपर अपनी कटार चलायी, परंतु आश्चर्य! उसे ऐसा लगा, मानो रानीका गला वज्र हो गया हो और उसकी कटार मोम हो गयी हो। उसने बहुत प्रयत्न किया गला काटनेका, परंतु असफल रहा। तबतक रानी जग गयी। काँपते हुए, वह ठग रानीके चरणोंमें गिर पड़ा। किंतु रानीके मनमें किंचित् भी क्रोधका भाव नहीं हुआ। वे बड़ी शान्तिपूर्वक बोलीं—'महाराज! इसमें डरनेकी क्या बात है? अरे, कभी-कभी बड़ोंसे भी भूल हो जाया करती है।' रानीके इस सद्भावसे डाकूका हृदय एकदम परिवर्तित हो गया और उसी दिनसे वह अपने अकृत्यकर्मका परित्यागकर सच्चा साधु हो गया।

भक्तिमती श्रीमीराजी

सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
दुष्टनि दोष बिचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल संृखला तजि मीराँ गिरिधर भजी॥ ११५॥

भक्तिमती श्रीमीराबाईने इस कराल कलिकालमें गोपियोंके समान श्रीकृष्णप्रेमको अपनेमें प्रकट करके उसका दूसरोंको भी दर्शन करा दिया। स्वच्छन्द और निडर होकर रसिकशेखर श्रीराधाश्यामसुन्दरके सुयशको गाया। दुष्टों (राणा)-ने इस प्रकारकी भक्तिको अनुचित माना और सोच-विचारकर इनकी मृत्युका उपाय किया। इन्हें पीनेके लिये विष दिया, उसे ये अमृतकी तरह पी गयीं। भगवान्की कृपासे आपका बाल भी बाँका नहीं हुआ। भक्तिका डंका बजाकर आपने बिना किसी लोक-लज्जा और संकोचके कुल-मर्यादाके बेड़ी-बन्धनोंको त्यागकर श्रीगिरिधर गोपालजीका भजन किया॥ ११५॥

भक्तिमती श्रीमीराबाईके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

(क) कृष्णप्रेमकी अनन्यता

भक्तिमती श्रीमीराबाईकी जन्मभूमि मेड़ता नगर (जोधपुर)-में थी। बाल्यकालसे आप श्रीगिरिधारी-

लालजीकी भक्त हो गयी थीं। उसके बाद चित्तौड़के राणा साँगाके सुपुत्र श्रीभोजराजजीसे आपकी सगाई हुई। विवाहके समय आपके पिताजीने नयी-नयी सुन्दर मूल्यवान् वस्तुएँ एकत्र कीं। परंतु श्रीमीराबाईका मन तो प्रेमरंगरँगीले श्यामसुन्दरमें डूब चुका था। जिस समय श्रीभोजराजजीके साथ भाँवरें पड़ रही थीं, उस समय भी आपका मन साँवरे श्रीकृष्णके सुन्दर स्वरूपमें फँसा हुआ था। विवाहके पश्चात् जब विदा होकर ससुराल जानेका समय आया तो उस समय इन्हें प्रेमके आवेशमें मूर्च्छा-सी आ गयी। इनकी ऐसी विह्वल दशाको देखकर पिताजी कहने लगे कि 'बेटी! मनमें किसी प्रकारका दुःख न मानो, जो वस्त्र एवं आभूषण तुम्हें प्रिय हों, ले लो।' उस समय आपके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे, आपने पिताजीको उत्तर दिया कि 'इस धन-दौलतसे मुझे क्या काम? आपलोग यदि हमें इच्छित वस्तु देकर सब प्रकारसे सन्तुष्ट करना चाहते हैं तो श्रीगिरिधारीलालजीको मुझे दे दीजिये। इसके अतिरिक्त और सब धन-माल-सामान उठाकर रख लीजिये।' पिता-माताको बेटी मीरा बहुत प्यारी थी। अतः मीराजीकी माताने रोते-रोते श्रीमीराजीको अपने गलेसे लगा लिया और कहा कि 'श्रीगिरिधारीलालजीको तुम अपने साथ ले जाओ, खूब प्रेमसे इनकी सेवा-पूजा करो।' श्रीमीराजीने अपनी पालकीमें अपने सामने श्रीगिरिधरलालको पधरा लिया और उनके नेत्रोंसे नेत्र मिलाती हुई चलीं। अपने प्राणपति श्रीठाकुरको पाकर आनन्दमग्न श्रीमीराजी अपने मनमें फूली नहीं समाती थीं। इस प्रकार वे राणा भोजराजके भवनोंमें पहुँच गयीं। सासने इन्हें पालकीसे उतारा। रुचिपूर्वक वर-दुलहिनकी गाँठ जोड़ी गयी और उन्हें देवीके मन्दिरमें लाया गया।

देवीजीके मन्दिरमें पहुँचकर सासने देवी-पूजाकी तैयारी की। पहले उसने वरसे देवीका पूजन करवाया। उसके बाद मीराजीसे कहा—'वधू! अब देवीकी पूजा करो।' श्रीमीराजीने कहा—'हमारा यह मस्तक तो श्रीगिरिधारीलालजीके हाथ बिक चुका है, अब यह किसी दूसरे देवी-देवताके लिये नहीं झुक सकता है। मेरे मनमें एक उन्हींको देखनेकी—प्रणाम करनेकी अभिलाषा है।' यह सुनकर सासने कहा—'कुलपूज्या देवीजी हैं, इनकी पूजा करनेसे नारियोंका सौभाग्य बढ़ता है। इसलिये तुम हठ न करो, श्रीदेवीजीके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम करो।' श्रीमीराजीने सासके हठ करनेपर बार-बार यही कहा कि आप इसे निश्चय करके मान लो कि 'मैंने सुकुमार भगवान् श्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। अब अन्यका पूजन या प्रणाम मुझसे नहीं होगा।'

श्रीप्रियादासजीने मीराके श्रीकृष्णप्रेमकी इस अनन्यताका वर्णन इस प्रकार किया है—

'मेरतौ' जनम भूमि, झूमि हित नैन लगे, पगे गिरिधारी लाल, पिता ही के धाम में।
राना कै सगाई भई, करी व्याह सामा नई, गई मति बूड़ि, वा रँगीले घनश्याम में॥
भाँवरैं परत मन साँवरे सरूप माँझ, ताँवरैं सी आवैं, चलिबे कौ पति ग्राम में।
पूछैं पिता माता 'पट आभरन लीजियै जू' लोचन भरत नीर कहा काम दाम में॥ ४७१॥
'देवौ गिरिधारीलाल, जौ निहाल कियौ चाहौ, और धन माल सब राखियै उठाय कै'।
बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़यौ भारी, रोय मिली महतारी, कही 'लीजियै लड़ाय कै'॥
डोला पधराय, दृग दृग सो लगाय चलीं, सुख न समाय चाय, प्रानपति पाय कै।
पहुँचीं भवन सासु देवी पै गवन कियौ तिया अरु बर गँठजोरौ कर्यौ भाय कै॥ ४७२॥
देवी के पुजायबे कौं, कियौ लै उपाय सासु, वर पै पुजाइ, पुनि बधू पूजि भाखियै।
बोली 'जू बिकायौ माथौ लाल गिरिधारी हाथ और को न नवै, एक वही अभिलाखियै'॥

'बढ़त सुहाग याके पूजे ताते पूजा करौ करौ जिन हठ सीस पायनि पै राखियै'।
कही बार बार 'तुम यही निरधार जानौ वही सुकुमार जापै वारि फेरि नाखियै'॥ ४७३॥

(ख) मीराद्वारा विषपान

श्रीमीराजीका दो टूक उत्तर सुनकर उनकी सास मन-ही-मन जल-भुन गयी। अपने पतिके पास जाकर उसने कहा—'यह बहू तो मेरे किसी कामकी नहीं है। अभी मेरा कहा न मानकर, उलटा जवाब देकर मेरा अपमान किया तो आगे चलकर मुझे क्या मानेगी?' यह कहकर वह लोहारकी धौंकनीकी तरह जोर-जोरसे लम्बी साँसें लेकर सिसकने लगी। उसकी बातोंको सुनकर राणाजीको भारी क्रोध आया और उसने अपने मनमें बहूको मार डालनेका निश्चय किया। श्रीमीराको रहनेके लिये अब उसने अलग एक कोठरी दे दी। एकान्त स्थान देखकर इन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वहाँ वे अपने श्रीगिरिधरलालको दिन-रात लाड़-लड़ाती रहतीं तथा सेवा-पूजा करते हुए उन्हींके गुणोंका गान करती रहतीं। जिन्हें श्यामसुन्दरसे मिलनेकी तीव्र उत्कण्ठा होती है, उन्हें सन्तोंका सत्संग ही अच्छा लगता है। श्रीमीराजी भी सदा साधुओंका संग करतीं।

श्रीमीराजीको सन्तोंका संग करते देखकर किसी दिन उनकी ननद, जिसका नाम ऊदाबाई था, उसने आकर कहा—'भाभी! तुम समझती क्यों नहीं हो, साधुओंसे प्रेम करनेमें कुलको बड़ा भारी कलंक लगता है। राणाजी देशके राजा हैं, तुम्हारे इस स्वच्छन्द आचरणसे उन्हें लज्जित होना पड़ रहा है और तुम्हारे पितृकुलकी जो रीति है, वह भी नष्ट हो रही है, इसलिये मेरी बात मान लो। साधुओंका संग करना शीघ्र ही छोड़ दो।' श्रीमीराजीने उत्तरमें कहा—'मेरे प्राण सदा साधुओंके साथ लगे रहते हैं। इसलिये उनके संगमें मुझे अपार सुख प्राप्त होता है। मेरे आचरणोंसे जिसे दुःख होता हो, उसे मुझसे बिलकुल अलग रखो।' इनकी यह बात सुनकर राणाने (दयाराम पण्डाके हाथ) एक कटोरा विष भगवच्चरणामृत कहकर भेज दिया। श्रीमीराजीने प्रसन्नतापूर्वक पी लिया। पी लेनेके बाद इनके अंगमें एक विशेष प्रकारकी कान्ति दिखलायी पड़ने लगी।

श्रीप्रियादासजीने मीराजीकी भगवच्चरणामृतनिष्ठाका इस प्रकार वर्णन किया है—

तब तौ खिसानी भई, अति जरि बरि गई, गई पति पास 'यह बधू नहीं काम की'।
अबही जबाब दियौ, कियौ अपमान मेरौ, आगे क्यों प्रमान करै? भरै स्वास चाम की॥
राना सुनि कोप कर्यौ, धर्यौ हिये मारिबोई, दई ठौर न्यारी, देखि रीझी मति बाम की।
लालनि लड़ावै गुन गाय कै मल्हावै, साधु संगही सुहावै, जिन्हैं लागी चाह स्याम की॥ ४७४॥
आय कै ननँद कहै 'गहै किन चेत भाभी! साधुनि सों हेत में कलंक लागै भारियै'।
राना देसपति लाजै, बाप कुल रीति, जात, मानि लीजै बात बेगि सङ्ग निरवारियै॥
'लागे प्रान साथ संत, पावत अनन्त सुख, जाको दुख होय, ताको नीके करि टारियै'।
सुनिकै, कटोरा भरि गरल पठाय दियौ, लियौ करि पान रंग चढ़्यो यों निहारियै॥ ४७५॥

(ग) मीराजीका कृष्णप्रेम

श्रीमीराजी जब विष पीकर भी नहीं मरीं और उन्होंने साधु-संगको नहीं छोड़ा, तब राणाने अपने गुप्तचर लगा दिये। उनसे कह दिया कि 'जब मीराके पास कोई साधु आकर बैठा हो, तभी तुमलोग मुझे सूचना देना। मैं उसी समय उसे मार डालूँगा। यह मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है।' श्रीमीराजीके भवनमें तो श्रीगिरिधरलालजी नित्य ही विराजते थे। ये उन्हींके साथ हँसती-बोलती और खेलती रहती थीं। एक दिन हँसने-बोलनेकी प्रिय ध्वनि गुप्तचरोंके कानोंमें पड़ी। उन्होंने झट राणाको खबर कर

दी। सुनते ही राणा अत्यन्त अधीर हो गये। तलवार लेकर जल्दी-जल्दी दौड़े आये और द्वारपर उन्होंने पुकारकर कहा—'किवाड़ खोलो।' श्रीमीराजीने किवाड़ खोल दिये। राणाको कोई साधु नहीं दिखलायी पड़ा। वहाँ अकेली वे ही थीं।

राणाने फटकारते हुए उनसे पूछा—जिसके प्रेमरंगमें तू रँगी है, जिसके साथ हँस-बोलकर अनेक प्रकारसे रमण कर रही थी, वह मनुष्य कहाँ गया, मुझे जल्दी बता? श्रीमीराने श्रीठाकुरजीकी ओर संकेत करके कहा—वह मेरे प्राणनाथ पुरुषोत्तम तुम्हारे सामने ही तो विराज रहे हैं। वे तुमसे लज्जा नहीं करते हैं, अब तुम भी आँखें खोलकर देख लो। क्या ही सुन्दर साज-शृंगारसे सजे हैं। राणा खिसिया गये, किंकर्तव्यविमूढ होकर ऐसे स्तब्ध हो गये, मानो दीवालपर कोई चित्र बना हो। थोड़ी देर बाद वहाँसे वापस लौट आये। क्षणभरके लिये उनके मनमें आया कि 'मीराके साथ ठाकुरजी ही लीला कर रहे थे।' फिर भी राणाके मनमें सद्भाव उत्पन्न नहीं हुआ।

श्रीप्रियादासजीने मीराके इस श्रीकृष्णप्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

गरल पठायौ, सो तौ सीस लै चढ़ायौ, संग त्याग विष भारी ताकी झार न सँभारी है।
राना ने लगायौ चर, बैठे साधु ढिग ढर, तबही खबर कर, मारौं यहै धारी है॥
राजैं गिरिधारीलाल, तिनहीं सों रङ्ग जाल, बोलत हँसत ख्याल, कानपरी प्यारी है।
जायकै सुनाई, भई अति चपलाई आयौ लिये तरवार, दै किवार, खोल न्यारी है॥ ४७६॥
'जाके संग रंग भींजि, करत प्रसंग नाना, कहा वह नर गयौ, बेगि दै बताइयै'।
'आगे ही बिराजै, कछू तोसो कही लाजै, अभूं देखि सुख साजै, आँखैं खोलि दरसाइयै'॥
भयोई खिसानौ राना, लिख्यौ चित्र भीत मानो, उलटि पयानौ कियौ, नेकु मन आइयै।
देख्यौ हूँ प्रभाव ऐपै भाव में न भिद्यौ जाइ, बिना हरिकृपा कहौ कैसे करि पाइयै॥ ४७७॥

(घ) मीराजीके सतीत्वकी परीक्षा

एक बार एक कामी नीच मनुष्य साधुका-सा वेष धारणकर श्रीमीराजीके पास आया और बोला—'तुम्हारे ठाकुर श्रीगिरिधारीलालजीने स्वयं मुझे आज्ञा दी है कि मीराके साथ अंग-संग करो। इसलिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ, तुम मेरे साथ अंग-संग करो।' ऐसी बात जब उसने कही तो श्रीमीराजीने उत्तर दिया कि 'आज्ञा स्वीकार है, परंतु प्रथम आप भोजन कीजिये। फिर आपकी यथोचित सेवा होगी।' उसने भोजन किया। पश्चात् श्रीमीराजीने सन्तोंके बीचमें शय्या बिछाकर उस विषयी पुरुषको बुलाकर कहा—'मेरे ठाकुरजीने जैसी आज्ञा आपको दी है, वैसा ही कीजिये।' वह बड़े भारी संकोचमें पड़ गया और उसका मुख सफेद हो गया। श्रीमीराजीकी भक्तिके प्रतापसे उसकी विषय-वासना सर्वथा दूर हो गयी। वह तत्काल पैरोंमें गिर गया और रोता हुआ बोला—'अब आप मुझे भक्तिका दान दीजिये।'

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका वर्णन अपने एक कवित्तमें इस प्रकार किया है—

विषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ, कियौ यों प्रसंग 'मोसो अंग संग कीजियै'।
आज्ञा मोंको दई आप लाल गिरिधारी, 'अहो सीस धरि, लई, करि भोजन हूँ लीजियै'॥
संतनि समाज में बिछाय सेज बोलि लियौ, 'संक अब कौन की निसंक रस भीजियै'।
सेत मुख भयौ, विषैभाव सब गयौ, नयौ पाँयन पै आय, 'मोकौ भक्तिदान दीजियै'॥ ४७८॥

(ङ) मीराजीका रणछोड़में विलीन होना

श्रीमीराजीके विलक्षण रूप-सौन्दर्यकी प्रशंसा सुनकर अकबर बादशाहका हृदय आकृष्ट हो गया। इनका

दर्शन करनेकी इच्छासे वह तानसेनको साथ लेकर आया। श्रीगिरिधरगोपालजीकी छवि एवं मीराजीके भक्ति-भूषित सहज-सरस सौन्दर्यको देखकर बादशाह निहाल हो गया। तानसेनने एक सुन्दर पद गाया और बादशाहने एक मणिमाला श्रीठाकुरजीके चरणोंमें अर्पण की।

एक बार श्रीमीराबाईजी श्रीवृन्दावनधाम आयीं उस समय वृन्दावनमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अन्तरंग लीला सहचर श्रीजीवगोस्वामीजी नामक एक महान् सन्त रहते थे। मीराजी जब उनके दर्शनहेतु गयीं तो उन्होंने कहलवाया कि वे स्त्रीका मुख नहीं देखते। इसपर मीराबाईने कहा कि हम तो अभीतक यही समझते थे कि वृन्दावनमें एक ही पुरुष है—वृन्दावनविहारी हमारे गिरिधर गोपाल परंतु आज नयी बात सुनते हैं। जब श्रीजीवगोस्वामीने इनका कथन सुना तो उन्हें इनकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति समझते देर न लगी। तब उन्होंने इनके साथ सादर भगवच्चर्चा की। श्रीजीवगोस्वामीजीसे मिलकर उनसे सत्संगकर मीराजी बहुत सन्तुष्ट हुईं। उनके स्त्री-मुख न देखनेके प्रणको आपने छुड़ा दिया। श्रीवृन्दावनकी सभी कुंजें प्रिया-प्रियतम श्रीराधा-माधवके विहारसुख-समूहसे निरन्तर भरी हुई हैं। श्रीमीराजीने उनका दर्शन किया। फिर उन्हें अपने हृदयमें स्थापित करके अपने देशको लौट आयीं। वहाँ रहते हुए आपने श्रीवृन्दावनकी अनुभूत निकुंज-लीलाका अपने पदोंद्वारा गान किया।

राणाकी द्वेष-बुद्धि देखकर श्रीमीराजी द्वारकामें जाकर बस गयीं। वहाँ रहते हुए श्रीगिरिधर-गोपालजीकी भक्ति करतीं। उधर राणाजीको श्रीमीराजीकी भक्तिके स्वरूपका ज्ञान हुआ तो उन्हें बड़ा भारी मानसिक पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने बहुतसे ब्राह्मणोंको द्वारका भेजा और उनसे कहा कि 'जैसे भी बने आपलोग श्रीमीराबाईको ले आइये। वे आकर मुझे प्राणदान देकर जीवित करें।' ब्राह्मणोंने द्वारका जाकर राणाजीकी विनती सुनायी। परंतु वे द्वारकासे वापस लौटनेको तैयार न हुईं। तब ब्राह्मण अन्न-जल त्यागकर श्रीमीराजीके द्वारपर धरना देकर पड़ गये। ब्राह्मणोंके हठको देखकर इन्होंने कहा—'अच्छा तो मैं श्रीरणछोड़लालजीसे विदा हो आऊँ।' ऐसा कहकर वे मन्दिरमें गयीं। भगवान्के सन्मुख विनती करते हुए इन्होंने निम्न पद गाया—

साजन सुध ज्यूँ जाणो त्यूँ लीजे।
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजे॥
दिवस न भूख रैण नहीं निंदरा यूँ तन पल पल छीजे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन मत दीजे॥

पद-कीर्तन एवं नृत्य करते-करते श्रीमीराजी श्रीरणछोड़जीमें लीन हो गयीं। इसके बाद फिर किसीने उनका दर्शन नहीं पाया।

श्रीप्रियादासजीने मीराके श्रीरणछोड़जीमें विलीन हो जानेकी इस घटनाको इस प्रकार वर्णित किया है—

रूप की निकाई भूप 'अकबर भाई हिये लिये संग तानसेन देखिबेको आयो है'।
निरखि निहाल भयो छवि गिरिधारीलाल पद सुखजाल एक, तब ही चढ़ायो है॥
वृन्दावन आइ, जीव गुसाँई जूसों मिलि झिली, तिया मुख देखिबेको पन लै छुटायो है।
देख कुंज कुंज लाल प्यारी सुखपुंज भरी धरी उर माँझ, आय देस, बन गायो है॥ ४७९॥
राना की मलीन मति, देखि, बसीं द्वारावति, रति गिरिधारीलाल नित ही लड़ाइयै।
लागी चटपटी भूप भक्ति कौ सरूप जानि, अति दुख मानि, बिप्र श्रेणी लै पठाइयै॥
वेगि लै कै आवौ मोकों प्रान दै जिवावौ अहो गये द्वार धरनौ दै बिनती सुनाइयै।
सुनि विदा होन गई राय रणछोर जू पै छाँड़ो राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै॥ ४८०॥

श्रीपृथ्वीराजजी

(श्री) कृष्णदास उपदेस परम तत्त्व परचो पायो।
निरगुन सगुन निरूप तिमिर अग्यान नसायो॥
काछ बाच निकलंक मनौ गांगेय जुधिष्ठिर।
हरि पूजा प्रहलाद धर्मध्वज धारी जग पर॥
पृथीराज परचो प्रगट (तन) संख चक्र मंडित कियो।
आँबेर अछित कूरम्म को द्वारकानाथ दरसन दियो॥ ११६॥

पयोहारी श्रीकृष्णदासजीके उपदेशोंसे आमेरके कूर्मवंशी (कछवाहा क्षत्रिय) राजा पृथ्वीराजको परम तत्त्वका बोध प्राप्त हुआ। उन्होंने निर्गुण-सगुण ब्रह्मका निरूपणकर राजाके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर दिया। वे राजा गंगाजीके पुत्र भीष्म पितामहकी तरह जितेन्द्रिय एवं धर्मराज युधिष्ठिरकी तरह सत्यवादी थे। भगवत्पूजा-निष्ठामें प्रह्लादके समान थे। वैष्णवधर्मकी पताकाको ऊँची करके फहरानेवाले एवं संसारसे परे अर्थात् जगत्के प्रपंचोंसे दूर थे। सर्वश्रेष्ठ थे। आपकी भगवद्भक्ति और गुरुभक्तिका यह परिचय सभीको प्राप्त हुआ कि आमेरमें ही रहते हुए आपका शरीर द्वारकाकी शंख, चक्रकी छापसे सुशोभित हो गया और श्रीद्वारकाधीशके दर्शनोंका परम लाभ प्राप्त हुआ॥ ११६॥

श्रीपृथ्वीराजजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीपृथ्वीराजजी सूर्यवंशमें श्रीरामजीके वंशधर हैं। आप कूरम-कछवाहा क्षत्रिय कहलाते हैं। आप आमेरनरेश श्रीचन्द्रसेनके सुपुत्र थे। इनकी माता भागवती देवी चौहान वंशकी कन्या थीं। पृथ्वीराज सबसे बड़े पुत्र थे, अतः पिताके बाद फाल्गुन बदी ५ संवत् १५५९ को आमेरकी गद्दीपर बैठे। ये पहले नाथ सम्प्रदायके चतुरनाथजीके शिष्य थे। इनकी बड़ी रानी बीकानेरके राव लूणकरणजीकी पुत्री थीं। इनका नाम अपूर्वदेवी था। फिर यही बालाबाईके नामसे प्रसिद्ध हुईं। आपके दिव्य प्रभावसे ही आमेर राज्यमें वैष्णवताका प्रचार हुआ। श्रीपृथ्वीराजके भक्तिभावसे प्रभावित होकर मेवाड़ चित्तौड़गढ़के महाराणा मोकलने अपनी कन्याका विवाह इनके साथ कर दिया। भक्तसे सम्बन्ध स्थापितकर बार-बार दर्शन-सत्संगकर महाराणा कृतकृत्य हुए। श्रीपृथ्वीराजजी भावुक भक्त होनेके साथ-साथ महान् पराक्रमी वीर योद्धा थे। मेवाड़के महाराणा सांगाका जब बाबरसे खानवा (भरतपुर)-का प्रसिद्ध युद्ध हुआ, उसमें ये अपनी सेनाके साथ सांगाके सहायक थे। वहाँ आपने बड़ा पराक्रम दिखाया। सांगाके मूर्च्छित होनेपर आप उन्हें बसवा ले लाये और वहाँ उनकी चिकित्सा करायी। श्रीबालाबाईके साथ आपका विवाह वि० संवत् १५६४ में हुआ। इनके ९ रानियाँ और १९ पुत्र थे। श्रीपृथ्वीराजजीके एक पुत्रका नाम भारमल था। ये आशकरणके बाद गद्दीपर बैठे। श्रीभारमलके पुत्रोंमें भगवन्तदासजी बड़े थे, जो भारमलजीके बाद राजगद्दीपर बैठे। श्रीभगवानदासजी भारमलजीके छोटे पुत्र थे। इन्हें ससम्मान अकबरने मनसबदारी दी थी। ये लवाणके जागीरदार थे। अकबरसे श्रीभगवानदासको बाँके राजाका खिताब मिला था। इसकी कथा इस प्रकार है—

एक बार जब आगरेका किला बन रहा था, तब वहीं आपका शिविर लगा था। राजमन्त्रियोंने आपसे कहा कि आप अपना शिविर हटा लीजिये। किलेकी नींव खुदेगी। आपने उनके आग्रह करनेपर भी शिविर नहीं हटाया और कहा कि किला बाँका रहे—यही ठीक है। इस वीरोचित स्वभावका अकबरने आदर किया।

किलेकी दीवार सीधी नहीं बन सकी। बादशाहने इन्हें बाँके राजाका खिताब दिया। तभीसे श्रीभगवानदासजीके वंशज बाँकावत कहे जाते हैं। श्रीपृथ्वीराजका एक पद द्रष्टव्य—

ऐसे ही व्यौहार लागौ जग रहावैं। प्रगट पुरुष ताको कोई ध्यावैं॥
अलख अभेद गति काहु नहीं जानी। कूकस करम लगि रीझ्यौं है प्रानी॥
संसार असार तेरी दुसह माया। यही डर पृथ्वीराज राम शरण आया॥

(जयपुरका इतिहास)

आमेरनरेश महाराज श्रीपृथ्वीराजजीकी पत्नी बालाबाई जब अपने पिताके घर थीं, तभीसे इन्होंने श्रीकृष्णदासजी पयहारीसे वैष्णव मन्त्रकी दीक्षा ले रखी थी। कालान्तरमें इनका विवाह श्रीपृथ्वीराजजीसे हुआ। रानी बालाबाईके अनुरोधसे ही श्रीकृष्णदासजीने वहाँ आकर अपने प्रभावसे पृथ्वीराजको शिष्य बनाया। वर्णन आया है कि जब श्रीकृष्णदासजी राजा-रानीको भक्तिमें खूब दृढ़ करके वहाँसे जाने लगे, तो रानी बालाबाईने अनुनय-विनय करके महाराजको रोक लिया और राजमहलमें उनकी धूनी लगवायी। मन-वचन-कर्मसे अत्यन्त सेवा करके उन्हें सन्तुष्टकर रानीने यह वचन भरवा लिया कि जबतक मैं न कहूँ तबतक आप मेरे यहाँसे न जायँ। भक्तप्रेम-परवश श्रीपयहारीजी बहुत दिनोंतक वहाँ बने रहे। एक दिन संसारके अन्य प्राणियोंको भी अपने दर्शन-स्पर्श एवं समागमादिसे कृतार्थ करनेका विचारकर श्रीपयहारीजीने एक लीला की। एक दिन नित्यकी भाँति आप नृसिंहभगवान्‌के जगमोहनमें बैठकर भगवद् गुणगान कर रहे थे। राजा-रानी श्रवण कर रहे थे। सत्संगकी समाप्तिपर आपने सहज भावसे कहा कि—'अब मैं जा रहा हूँ।' रानीने समझा कि धूनीपर जानेको कह रहे हैं। अतः कह दिया—'पधारो, महाराज!' बस इतना सुनना था कि आप तुरंत वहाँसे चले और द्वारसे निकलकर अन्तर्धान हो गये। रानी सशंकित हुई कि महाराज चले तो नहीं गये। धूनीपर न मिले, तब इधर-उधर बहुत खोज करायी, कहीं कुछ पता न चला, तब राजा-रानीको बड़ा दुःख हुआ। श्रीगुरुजीके वियोगमें दोनोंने अन्न-जलका परित्याग कर दिया तब इनके दुःखकी निवृत्तिके लिये श्रीपयहारीजीने इन्हें स्वप्नमें दर्शन देकर आदेश दिया कि—'मेरे चरणके चिह्न जो जगमोहनकी सीढ़ी आदिपर बन गये हैं, इनका दर्शन करो, उन्हींका पादोदक लो और उन्हींके अर्चन-वन्दनमें सुख-सन्तोष मानकर अन्न-जल ग्रहणकर भगवद्भजन करो।' राजा-रानीने ऐसा ही किया। आमेरके पुराने राजमहलोंमें अब भी श्रीपयहारीजीकी धूनीके तथा चरण-चिह्नोंके दर्शन होते हैं। श्रीनृसिंहभगवान्, शालग्राम, धूनी और श्रीचरणचिह्नोंसे आमेरमें तीर्थत्व है। इनके दर्शन-पूजनसे लोगोंके मनोरथ पूर्ण होते हैं।

एक बार राजा पृथ्वीराजजी रानी बालाबाईको घरपर ही छोड़कर अपने दल-बलसहित श्रीनरनारायण भगवान्‌का दर्शन करने बदरिकाश्रम गये। इधर रानीको भी भगवान्‌के दर्शनोंकी प्रबल उत्कण्ठा हुई। गुरुदेवकी कृपासे उन्हें सिद्धि प्राप्त थी, उसीके बलसे संकल्प करते ही ये राजासे कुछ पहले ही पहुँचकर श्रीनरनारायणका दर्शन कर रही थीं। इतनेमें राजा भी वहाँ पहुँचे। आगे रानी खड़ी थीं, अतः राजाको दर्शनमें अवरोध हो रहा था। तब राजाने कई बार कहा कि —'बाईजी! तनिक सामनेसे हट जाओ, मुझे भी दर्शन कर लेने दो।' जब रानी कुछ बगल हटीं, तो राजाकी किंचित् दृष्टि रानीकी ओर गयी, तो उन्हें देखकर सन्देह हुआ कि यह तो रानी साहिबा मालूम पड़ती हैं। असम्भव जानकर ध्यानपूर्वक देखे बिना ही भगवद्दर्शन-प्रार्थनामें मग्न हो गये। कुछ दिनोंके बाद जब घरको आये, तो रानीने राजाको प्रणामकर निवेदन किया कि 'आप श्रीनरनारायणके समक्ष मुझे 'बाई' (जिसका अर्थ पुत्री या बहन होता है, उस) शब्दसे सम्बोधित कर चुके हैं, अतः अब मैं आपकी बाई ही हूँ और भविष्यमें सदा इसी भावका दृढ़तापूर्वक निर्वाह

हो। अब आप मुझे 'बाई' शब्दसे ही सम्बोधित किया करें। भक्तराज राजाने रानीकी दिव्य गमनशक्तिका परिचय पाया और हार्दिक सद्भावकी प्रशंसाकर सहर्ष उसे स्वीकार किया। अब इन दोनोंको भगवद्भजनमें पहलेकी अपेक्षा अधिक आनन्दकी अनुभूति होने लगी।'

आमेरनरेश श्रीपृथ्वीराजजी स्वामी श्रीकृष्णदासजी महाराज पयोहारीजीके शिष्य थे। एक बार उनकी आज्ञासे वे उनके साथ द्वारकाजीकी यात्राके लिये तैयार हुए। राजाके दीवानने जब यह बात सुनी तो उसे दुःख हुआ। वह रातको एकान्तमें श्रीपयोहारीजी महाराजके पास गया और उसने चुपकेसे कानमें कहा—'महाराजजी! इस समय राजा तन-मन और धनसे साधुओंकी सेवामें लगे हुए हैं, आमेर नगरकी जनतामें भक्तिकी सुन्दर भावना व्याप्त है। राजाके चले जानेसे साधुसेवामें तथा भक्ति-प्रचारमें बाधा होगी। अतः मेरे विचारसे तो आप राजाको साथ न ले जायँ, सो ही ठीक है।' श्रीपयोहारीजीने कहा—'तुम जाओ, मैं राजाको साथ नहीं ले जाऊँगा।' मन्त्रीकी बातको स्वामीजीने राजासे नहीं बताया। प्रातःकाल राजा पृथ्वीराज हाथ जोड़कर श्रीस्वामीजीके सामने खड़े हो गये। तब आपने आज्ञा दी कि 'तुम मेरे साथ न चलकर यहीं आमेरमें ही रहो और साधुसेवा करो।'

राजाने श्रीपयोहारीजीसे प्रार्थना की कि 'प्रभो! मैं श्रीद्वारकानाथजीके दर्शन, श्रीगोमती-संगममें स्नान एवं भुजाओंमें शंख-चक्रकी छाप धारण करूँ, इसीलिये आप अपने मनमें मुझे भी साथ ले चलनेकी इच्छा कीजिये।' श्रीस्वामीजीने कहा—राजन्! तुम अपने मनमें तनिक भी चिन्ता न करो। दर्शन, स्नान और छाप—ये तीनों लाभ तुम्हें घर बैठे ही मिलेंगे। राजाने कहा—आपने जो आज्ञा दी, उसे मैंने सिरपर धारण कर लिया। इसके बाद श्रीपयोहारीजीने प्रस्थान किया। कहते हैं कि राजाकी भक्तिको देखकर आपने अपनी योगसिद्धिसे आधी रातके समय राजमहलमें प्रकट हो राजाको वहीं श्रीद्वारकाधीशजीके दर्शन करा दिये। राजाने प्रदक्षिणा करके साष्टांग दण्डवत् की। भगवान्ने कहा—मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो—'यह गोमती-संगम है, तुम इसमें स्नान कर लो।' प्रभुकी बात सुनकर राजाने बड़े प्रेमसे स्नान किया, परंतु गोता लगाकर जब बाहर आये तो वहाँ भगवान् नहीं दिखलायी पड़े। शंख-चक्रकी छाप राजाके शरीरमें लगी थी। इधर सोकर उठनेमें राजाको विलम्ब हुआ जानकर रानी उन्हें जगाने आयी। उन्होंने देखा कि राजाका शरीर भीगा हुआ है। कैसे भीगा है, पूछनेपर राजाने कहा—'अभी मैंने श्रीगोमतीजीमें स्नान किया है, तुम भी मेरे शरीर एवं वस्त्रोंमें लगे जलका स्पर्श कर लो और श्रीद्वारकानाथजीको हृदयमें धारण कर लो।' रानीने ऐसा ही करके अपनेको बड़भागिनी माना।

श्रीप्रियादासजीने इस अलौकिक घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

पृथ्वीराज राजा चल्यौ द्वारिका श्रीस्वामी संग, अति रस रंग भर्‌यौ आज्ञा प्रभु पाई है।
सुनिकै दीवान दुख मानि, निसि कान लग्यौ, कही पग्यो साधुसेवा भक्ति घर छाई है॥
देखियै निहारि कै विचार कीजै, इच्छा जोई 'लीजै नहीं साथ जावो, बात लै दुराई है'।
आयौ भोर भूप हाथ जोरि करि ठाढ़ौ रह्यौ कह्यौ, 'रहौ देश' सो निदेस न सुहाई है॥ ४८१॥
'द्वारावतीनाथ देखि गोमती स्नान करौं, धरौं भुज छाप,' आप मन अभिलाखियै।
'चिन्ता जिनि कीजै तीनौं बात इहाँ लीजे अजू, दीजै जोई आज्ञा सोई सिर धरि राखियै'॥
आये पहुँचाय दूर, नैन जल पूरि बहै, दहै उर भारी 'कहा संग रस चाखियै?'।
बीते दिन दोय, निसि रहे हुते सोइ, भोइ गई भक्ति गिरा आय बानी मधु भाखियै॥ ४८२॥

'अहो पृथ्वीराज' कही, स्वामी ही सी बानी लही, आयौ उठि दौरि वाही ठौर प्रभु देखे हैं।
घूम्यौ कह्यौ कान धरौ, गोमती स्नान करौ, सुनि कै अन्हायौ, पुनि वे न कहुँ पेखे हैं॥
शंख चक्र आदि छाप तन सब व्याप गयी, भई यों अबार रानी आय अवरेखे हैं।
बोले 'रह्यौ नीरमें सरीर, लै सनाथ कीजै, लीजै नाथ हियै', निज भाग करि लेखे हैं॥ ४८३॥

सबेरा होते ही आमेर नगरमें, उसके बाद सम्पूर्ण राज्यमें भक्तिके चमत्कारका शोर मच गया। बहुतसे लोगोंने आकर राजाका दर्शन किया, समाचार पाकर दूर-दूरतकके अनेक बड़े-बड़े सन्त और महन्त दौड़-दौड़कर आये और उन सभीने राजाके शरीरपर शंख-चक्रकी छापके दर्शन करके अत्यन्त सुख पाया। नाना प्रकारकी बहुत-सी वस्तुएँ भेंटमें आने लगीं। सभी लोग राजाके प्रेमकी महिमाको गाते तो उसे सुनकर राजा लज्जित होते। वे अपने मनमें यही सोचते कि 'यह सब भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा है।' लोगोंने भी समझ लिया कि राजापर गुरुगोविन्दकी महती कृपा है। इसके बाद राजाने जहाँपर दर्शन हुआ था, वहीं एक सुन्दर एवं विशाल मन्दिरका निर्माण कराया। वे सदा-सर्वदा सेवा-पूजा, भजनमें ही लगे रहते।

श्रीप्रियादासजीने राजा पृथ्वीराजपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपाका इस प्रकार वर्णन किया है—

भयौ जब भोर, 'पुर बड़ौ भक्ति सोर पर्‌यौ, कर्‌यौ आनि दरसन भई भीर भारी है'।
आये बहु सन्त, औ महन्त बड़े-बड़े धाये, अति सुख पाये देह रचना निहारी है॥
नाना भेंट आवै, हित महिमा सुनावै, राजा सुनत लजावै, जानी कृपा बनवारी है।
मंदिर करायौ, प्रभु रूप पधरायौ, सब जग जस गायौ, कथा मोकौ लागी प्यारी है॥ ४८४॥

नेत्रोंसे हीन एक ब्राह्मण श्रीवैद्यनाथजीके द्वारपर नष्ट हुई नेत्र-ज्योतिको प्राप्त करनेके लिये धरना देकर पड़ गया। पड़े-पड़े उसको कई महीने व्यतीत हो गये। श्रीशंकरजीने उसे दो-चार बार स्वप्नमें आज्ञा दी कि 'हठ छोड़ दो, घरको जाओ, ये नेत्र अब फिरसे तुम्हें नहीं मिलेंगे।' परंतु उस ब्राह्मणने अपना हठ नहीं छोड़ा, द्वारपर पड़ा ही रहा। उसके इस सच्चे हठयोगको देखकर भगवान् शिवने दयासे द्रवित होकर आज्ञा दी कि 'तुम आमेरनरेश पृथ्वीराजके अँगोछेसे अपने नेत्रोंको पोंछो तो तुम्हें नेत्र-ज्योति प्राप्त हो जायगी।' उस अन्धे ब्राह्मणने आकर राजा पृथ्वीराजसे यह बात कही, तो वे ब्राह्मणकी महिमाको विचारकर डर गये कि 'ऐसा करना अनुचित है।' परंतु ब्राह्मणके आग्रह एवं लोगोंके समझानेपर राजाने एक नवीन वस्त्र मँगवाकर उसे अपने शरीरसे छुवाकर ब्राह्मणको दे दिया। आँखोंमें लगाते ही उसे नेत्र-ज्योति प्राप्त हो गयी।

श्रीपृथ्वीराजजीकी भक्तिके प्रभावको व्यक्त करनेवाली इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने इस प्रकार वर्णन किया है—

विप्र दृगहीन सो अनाथ, बैजनाथ द्वार पर्‌यौ, चख चाहै मास केतिक बिहाने हैं।
आज्ञा बार दोय चार भई 'ये न फेरि होहिं' याको हठसार देखि, शिव पिघलाने हैं॥
'पृथ्वीराज' अंग के अँगोछा सों अँगोछौ जाय, आयकै सुनाई द्विज गौरव डेराने हैं।
नयौ मँगवाय तन छ्वाय दियौ छ्वायौ नैन खुले चैन भयो जन लखि सरसाने हैं॥ ४८५॥

पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराजने कृपा करके इन्हें स्वपूजित श्रीनृसिंहरूप शालग्रामभगवान्‌को दिया और साथ ही यह आशीर्वाद दिया कि—*'जबतक नृसिंह देहरी में। तबतक राज हथेरी में॥'* अर्थात् जबतक भगवान् तुम्हारे इस महलमें स्थित मन्दिरकी देहरीके भीतर विराजेंगे, तबतक राज्य तुम्हारे वंशकी परम्परामें ही रहेगा। तबसे पूजा-आरती भीतर ही होती। उन्हें बाहर नहीं लाया जाता। आरतीके बाद

सिंहासनसे सम्पुट उठाकर देहरीके भीतरसे ही पुजारी लोग उपस्थित भक्तोंको दर्शन करा देते। जबतक श्रीठाकुरजी देहरीके भीतर रहे। तबतक यद्यपि देशमें मुसलमानों एवं अँगरेजोंका बड़ा भारी आतंक रहा, लेकिन इनके राज्यपर आँच नहीं आयी। परंतु दैव-दुर्योगसे एक बार किसीका लोभ आया। उसने स्वर्णसम्पुटसहित श्रीठाकुरजीको चुरा लिया। यद्यपि खोज होनेपर श्रीठाकुरजी मिल गये और पुनः अपने महल-मन्दिरमें विराजे। परंतु देहरीसे बाहर तो हो ही गये। फलस्वरूप देशके स्वतन्त्र होनेके बाद नयी शासन-व्यवस्थामें जब सभी राज्योंका विलय भारतमें हुआ, तब इसका भी अलग अस्तित्व समाप्त हो गया। पृथ्वीराजके वंशजोंके हाथसे राज्य निकल गया। श्रीपयहारीजीका वाक्य सत्य हो गया।

श्रीपृथ्वीराजजी ऐसे क्षमाशील थे कि एक बार एक मन्त्रीने छल करके इनके राजकोषसे बहुत-सा धन चुरा लिया। परंतु इन्होंने उसे क्षमा ही कर दिया। यद्यपि अन्य सभी लोगोंने बहुत प्रयत्न किया कि इस मन्त्रीको दण्डित किया जाय; क्योंकि इसने धनकी हानि की है। आपने यह कहकर सबका समाधान किया कि इन मन्त्री महोदयके द्वारा राज्यको लाभ भी बहुत हुआ। अतः यह सामान्य हानि हर हालतमें क्षम्य ही है। राजाकी इस क्षमाशीलताका मन्त्रीके ऊपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उसने अपना अपराध स्वीकारकर सब धन लौटा दिया और वह अपने समस्त दुर्गुणोंका परित्यागकर भक्तिपंथमें आरूढ़ हो गया, ऐसे आपके अनेक उदार चरित्र हैं, जिनके द्वारा प्राणियोंको सत्प्रेरणाएँ मिलती हैं।

भक्त राजागण

लघु मथुरा मेड़ता भक्त अति जैमल पोषे।
टोड़े भजन निधान रामचँद हरिजन तोषे॥
अभैराम एक रसहिं नेम नीवां के भारी।
करमसि सुरतान भगवान बीर भूपति ब्रतधारी॥
ईस्वर अखैराज रायमल्ल (कन्हर) मधुकर नृप सरबसु दियो।
भक्तनि को आदर अधिक राजबंस में इन कियो॥ ११७॥

राजाओंके वंशमें इन राजाओंने भगवान्‌के भक्तोंकी बहुत अधिक सेवा की। श्रीजयमलजीकी साधुसेवा एवं सन्त-सम्मेलनोंके विशाल आयोजनोंसे उनकी राजधानी मेड़ता दूसरी मथुराके समान जान पड़ने लगी। टोंडे ग्राममें भजनपरायण भक्त श्रीरामचन्द्रजीने भक्तोंकी उत्तम सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट किया। श्रीअभयरामजीने जीवनभर एक समान महती सन्तसेवा की। श्रीनीवांजीका सन्तसेवाका सुदृढ़ व्रत था। श्रीकरमसीलजी, श्रीसुरतानजी, श्रीभगवानजी और श्रीवीरमजी—इन चारों राजाओंने सन्तसेवाके अटल नियमको निभाया। श्रीईश्वरजी, श्रीअक्षयराजजी, श्रीरायमलजी, श्रीकन्हरजी एवं श्रीमधुकरजी—इन सभी राजाओंने भक्तोंकी सेवामें अपना सर्वस्व समर्पित किया॥ ११७॥

इनमेंसे कतिपय भगवद्भक्त राजाओंका चरित इस प्रकार है—

श्रीजयमलजी

मारवाड़नरेश राव दूदाजीके तीन पुत्र थे—रायमलजी, वीरमजी और रत्नसिंहजी। रायमलजीके पुत्र थे राजा जयमल और रत्नसिंहजीकी पुत्री थीं मीराँबाई। इस प्रकार जयमलजी और मीराँजी भाई-बहन थे। श्रीजयमलजीकी उदारता तथा सन्तसेवा-निष्ठाका एक प्रसंग भक्तदाम-गुणचित्रणीमें इस प्रकार

वर्णित है—एक बार सन्तोंकी जमात इनके यहाँ टिकी थी। उन्हीं दिनों उन सन्तोंमेंसे एक सन्तके श्रीगुरुदेव वहीं पासके गाँवमें आये हुए थे। सन्तके मनमें अपने श्रीगुरुदेवजीके दर्शनकी प्रबल इच्छा हुई। परंतु दैवयोगसे पाँवमें अत्यन्त पीड़ा होनेसे वे चलनेमें सर्वथा असमर्थ थे। इधर गुरुदर्शनकी इच्छा भी अत्यन्त बलवती थी, अतः सन्तने श्रीजयमलजीसे कहा कि मेरे गुरुदेव अमुक गाँवमें ठहरे हुए हैं, मेरे पाँवमें पीड़ा हो रही है, अतः आप यदि अपना घोड़ा दे दें, तो उसपर सवार होकर मैं श्रीगुरुदेवजीका दर्शन कर आऊँ। श्रीजयमलजीने तुरंत अपना घोड़ा सन्तको दे दिया। वे बड़े ही प्रसन्न मनसे अश्वारूढ़ होकर श्रीगुरुदेवका दर्शन करने गये। दर्शन करके जब लौटने लगे, तब श्रीगुरुदेवकी दृष्टि उस घोड़ेपर पड़ी। घोड़ेका रंग-रूप, चाल-ढाल देखकर उनका मन ललचाया। घोड़ेको लेनेके लिये सुजान शिष्यने गुरुदेवजीके मनकी बात जानकर सहर्ष उन्हें वह घोड़ा समर्पित कर दिया। यहाँ श्रीजयमलजीसे आकर सब बात सच-सच कह दी। सन्तकी गुरुनिष्ठा देखकर ये बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'आपको अथवा आपके गुरुजीको यदि और घोड़े चाहिये तो और ले जाइये। हमारा तो सर्वस्व सन्तोंका ही है, श्रीजयमलजीकी सन्तसेवा-निष्ठाको देखकर वे सन्त बहुत प्रसन्न हुए। आशीर्वाद देते हुए उन्होंने इनके भक्ति-भावकी प्रशंसा की।'

राजा श्रीजयमलजी मेंड़ता (जोधपुर)-में रहते थे। श्रीभक्तिदेवीके सुन्दर स्वरूपको वे जानते थे। आपका अपने ठाकुरजीके प्रति बड़ा अनुराग था। श्रीठाकुरजीका मन्दिर नीचे मंजिलमें है, ऐसा मानकर आपने गर्मीके लिये छतके ऊपर हवादार सुन्दर कमरा बनवाया।

श्रीठाकुरजीके उस शयनागारमें जानेके लिये राजा श्रीजयमलजीने एक लकड़ीकी सीढ़ी बनवायी। उसके द्वारा उसमें जाकर आप स्वयं पुष्पादिकोंसे शय्याकी रचना करते एवं शयन भोग, जल आदि सभी वस्तुएँ यथास्थान रखकर नीचे उतर आते और सीढ़ीको वहाँसे हटाकर अलग रख देते, जिससे कोई दूसरा वहाँ जा न सके। कमरेसे थोड़ी दूर अलग बैठकर मन-ही-मन आप ध्यान करते कि लालजी शय्यापर सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। भगवत्सेवाके इस रहस्यको आपकी रानी भी नहीं जानती थी। एक बार रातमें उसने सीढ़ी लगायी और थोड़ा-सा परदा हटाकर झाँककर देखा तो उसे एक सुन्दर सुकुमार किशोर बालक शयन करता हुआ दिखलायी पड़ा। रानी पुनः चुप-चाप उतर आयीं और निसेनीको यथास्थान रखकर महलमें चली गयीं। प्रातःकाल आकर रानीने अपने पतिदेवको सब बात सुनायी और कहा कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। राजा श्रीजयमलजीने उसे डाँट-फटकारकर डरा दिया कि फिर कभी ऐसा नहीं करना और मन-ही-मन यह जानकर प्रसन्न हुए कि इसके बड़े भाग्य हैं, जो इसे श्रीलालजीके दर्शन हो गये।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

मेरतें बसत भूप, भक्ति को सरूप जानै, जैमल अनूप जाकी कथा कहि आये हैं।
करी साधुसेवा रीति प्रीति की प्रतीति भई नई एक सुनौ हरि कैसे कै लड़ाये हैं॥
नीचे मानि मन्दिर सो सुन्दर बिचारी बात, छात पर बँगलाके चित्र लै बनाये हैं।
बिबिध बिछौना सेज राजत उढ़ौना पानदान धरि सोना जरी परदा सिवाये हैं॥ ४८६ ॥
ताकी दारु सीढ़ी, करि रचना, उतारि धरें, भरें दूरि चौकी, आप भाव स्वच्छताई है।
मानसी बिचारें 'लाल सेज पग धारें, पान खात लै, उगार डारें, पौढ़े सुखदाई है'॥
तिया हू न भेद जानें, सो निसेनी धरी वानै, देखे को किशोर सोयौ फिरी भोर आई है।
पति को सुनाई, भई अति मन भाई वाकौ खीझि डरपाई जानी भाग अधिकाई है॥ ४८७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी

टोंड़े राजवंशमें उत्पन्न श्रीरामचन्द्रजी बड़े ही सन्तसेवी थे। इन्होंने सन्तसेवामें अपना सर्वस्व लगा दिया। घरमें अन्नके नामपर एक दाना और द्रव्यके नामपर एक आना भी नहीं रहा। तब कुछ दिनोंतक आपने इधर-उधरसे कर्ज लेकर सन्तसेवा की। लेकिन इस तरह कबतक सेवा होती? कुछ दिनोंके बाद बाजारके हजारों रुपये कर्ज हो गये। अब लोगोंने उधार देना बन्द कर दिया। तब इन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि अब कैसे सन्तसेवा होगी और कर्जेको कैसे चुकाया जायगा? आप इसी चिन्तामें निमग्न थे कि रात्रिमें भगवान्ने स्वप्न दिया कि तुम्हारे पुराने मकानमें अमुक स्थलपर बहुत बड़ी धनराशि गड़ी है, उसे निकालकर बाजारका ऋण चुकाओ और सन्तोंकी सेवा करो। श्रीरामचन्द्रजीने ऐसा ही किया।

श्रीरायमलजी

श्रीरायमलजी जोधपुरनरेश श्रीराव मालदेवके पुत्र हैं। ये सिवाणाके जागीरदार थे। इनका भगवत्प्रेम अनुपम था। श्रीकल्याणदासजी आपके पुत्र थे, जो बड़े ही वीर और बड़े भक्त थे। परम सन्तसेवी राजा रायमलसे एक दिन इनकी भोली-भाली पत्नीने पूछा—'आप सन्तोंकी सेवा क्यों करते हैं?' इसपर रायमलजीने बताया कि—'सन्तोंकी सेवासे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान्का दर्शन करना हो तो सबसे सुगम उपाय सन्तसेवा ही है।' सरलहृदया पत्नी पतिकी बात मानकर भगवद्दर्शनकी अभिलाषासे सन्तसेवा करने लगी। इसके प्रभावसे आकृष्ट होकर भगवान्ने उस महाभागवतीको चतुर्भुजरूप धारणकर दर्शन दिया। श्रीप्रभुका दर्शन पाकर रानी कृत-कृत्य हो गयी। जब दर्शन देकर प्रभु जाने लगे तो रानीने दौड़कर भगवान्का हाथ पकड़ लिया और अत्यन्त दीन होकर बोलीं—'प्रभो! मैंने तो पतिदेवके उपदेशसे आपका दर्शन पाया है, अतः आपने जैसे कृपाकर मुझे दर्शन दिया है, उसी प्रकार मेरे पतिदेवको भी दर्शन दीजिये।' भगवान् हँस पड़े और बोले—'अच्छा शीघ्र जाकर अपने पतिको भी लिवा लाओ।' परम साध्वी पत्नीने शीघ्र अपने पतिको बुलाकर भगवान्का दर्शन कराया।

श्रीमधुकरशाहजी

ओरछानरेश महाराज श्रीमधुकरशाहजी बड़े ही शूरवीर तथा धर्मनिष्ठ राजा हुए। इन्होंने अपनी वीरतासे युद्ध करके अकबर बादशाहके कई किलोंपर विजय प्राप्त कर ली थी। तब अकबरने इनसे सम्मानपूर्वक सन्धि कर ली। एक बार अकबरने इनको आगरे बुलाया। उस अवसरपर सभी देशोंके राजा-महाराजा भी बुलाये गये। उस समय दरबारमें कई क्षत्रिय महाराज, जो वैष्णव थे, तिलक लगाकर जाते थे। श्रीमधुकरशाहजी तो परम वैष्णव थे। ये तो द्वादशतिलक लगाकर दरबारमें आते थे। एक दिन अकबरने कहा—'कलसे हमारे दरबारमें कोई तिलक लगाकर न आये; क्योंकि तिलक हमें अच्छा नहीं लगता है। अगर कल कोई तिलक लगाकर आयेगा तो उसके मस्तकको गर्म लोहेसे दाग दिया जायगा।'

बादशाहके आदेशपर दूसरे दिन कोई भी राजा दरबारमें तिलक लगाकर नहीं आया परंतु श्रीमधुकरशाहजी उस दिन रोजकी अपेक्षा और भी बड़ा एवं अधिक चमकीला तिलक लगाकर दरबारमें उपस्थित हुए।

अकबर बादशाहने देखा कि आज सभी राजा लोग बिना तिलक लगाये ही आये हैं। केवल एक मधुकरशाहजी ही तिलक लगाकर आये हैं। आज्ञा भंग हुई देखकर अकबरको क्रोध आ गया। उसने कड़ककर कहा—'मधुकरशाह! आप मुझे नहीं जानते हैं कि मैं कौन हूँ? मैंने आप सभीको कल आज्ञा दी थी कि कोई तिलक लगाकर मत आना। फिर आप तिलक लगाकर क्यों आये? तुमने मेरा हुक्म तोड़ा

है, इसलिये तुम बागी हो। अब तुमको इसका दण्ड भोगना पड़ेगा।' यह सुनकर श्रीमधुकरशाहजीने बड़ी निर्भीकतासे वीरतापूर्वक उत्तर दिया कि—'मैं जानता हूँ, आप बादशाह हैं। कल आपका हुक्म भी मैंने सुना था। लेकिन आपकी बादशाहीसे बढ़कर मैं अपने इष्टदेव परमात्माकी बादशाहीको मानता हूँ। उस परमात्माका चरणचिह्न स्वरूप यह तिलक है। नित्य मस्तकपर धारण करनेके लिये मुझे गुरुदेवकी आज्ञा है। उस आज्ञासे बढ़कर मैं आपकी आज्ञाको नहीं मानता। मैं प्राणोंसे बढ़कर धर्मको मानता हूँ।'

श्रीमधुकरशाहने निर्भीकतापूर्वक ललकारा—'आये, देखूँ, कौन मेरे सामने तिलक मिटाने और मस्तक दागने आता है। मैं आज दिखा दूँगा कि आज भी श्रीरामके वंशज क्षत्रियोंमें क्या ताकत है।' इस वीरवाणीको सुनकर क्षत्रियोंका खून खौलने लगा। सभीके दिलमें हिन्दूधर्मका जोश जाग उठा। धन्य-धन्यकी आवाजें आने लगीं। कोई-कोई कहने लगे—एक ओर मधुकरशाह, एक ओर बादशाह। देखो, दोनोंमें आज क्या निर्णय होता है।

अकबर बादशाह बड़ा ही बुद्धिमान् था। जब उसने देखा कि सभी क्षत्रिय राजा भड़क उठे हैं। यदि ये सभी बागी बन गये, तो मेरी बादशाहतको नष्ट करनेपर तुल जायँगे। मैंने तिलक न लगानेकी बात कहकर सभीके दिलोंपर ठेस पहुँचायी है—यह सोचकर लज्जित होकर बादशाहने पैंतरा बदलते हुए 'वाह-वाह' कहा—

सन्नाटा सभाका तोड़, गूँजा शब्द वाह वाह। बोला बादशाह वाह, मधुकर शाह वाह॥
आपने ही नित्यनेम अपना निभाया है। जानपर खेल आज, तिलक लगाया है॥
मुझको नहीं है चिढ़ तिलक लगाने से। परीक्षा ली थी, हुक्मके बहाने से॥
तिलक विहीन सभी, राजा महाराज हैं। निकले टिकैत सच्चे, एक आप आज हैं॥
बलिहारी आपकी, अनोखी आन बानपर। खुश हो गया हूँ मैं, सचाई और शानपर॥
मनमें जरा भी मेरे, नहीं छल छन्द है। सच कहता हूँ, मुझे तिलक पसन्द है॥
आपके ही नामसे, लगाया अब जायगा। मधुकरशाही यह, टीका कहलायगा॥

इस प्रकार अकबरके दरबारमें महाराजा मधुकरशाहकी जयध्वनिसे आकाश गूँज उठा। दूसरे दिनसे सभी राजा तिलक लगाकर दरबारमें आने लगे। वैष्णवोंके ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलकका दरबारमें दबदबा हो गया।

आपकी भक्तिके चमत्कारसे भगवान्‌के मन्दिरका द्वार फिर गया। वह प्रसंग इस प्रकार है—

ओरछेमें एक व्यासोंका मुहल्ला है, उसमें एक प्राचीन मन्दिर है, जो आज भी विद्यमान है। उस मन्दिरमें आप स्वयं कीर्तन करने जाते थे। भगवान्‌के आगे भक्तोंके बीचमें पैरोंमें नूपुर बाँधकर नृत्य करते थे। पदगान करते हुए आप बेसुध हो जाया करते थे। एक दिन भक्तराज राजाके सामने ऐसा आवश्यक राज्य-कार्य आ गया, जिसके सुलझानेमें लग जानेसे अवकाश न मिला, अतः समयपर मन्दिरमें न पहुँच सके। भगवान्‌की शयन आरती हो गयी। रात अधिक बीत गयी थी, फिर भी श्रीमधुकरशाहजी अपना नित्य नियम पूर्ण करनेके लिये गये और मन्दिरके पीछे जाकर कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। अत्यधिक बिलम्ब हो जानेके कारण सभी दर्शनार्थी अपने-अपने घर जा चुके थे। गिने-चुने कुछ लोग रह गये थे, जिनका महाराजके प्रेमपूर्ण नृत्य-कीर्तनके दर्शन-श्रवणका नियम था। रात्रिके सन्नाटेमें प्रमुख प्रेमी भक्तोंके बीच ऐसा कीर्तन जमा कि सभी प्रेमविभोर हो गये। सभीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह चले। उसी समय प्रेमविवश भगवान् भी सहसा प्रकट होकर राजा साहबके साथ नृत्य करने लगे। उस आनन्दका वर्णन कौन कर सकता है? देवताओंने स्वर्णपुष्प तथा दिव्य सुगन्धित पुष्प बरसाये एवं अपने वाद्य बजाये। राजाको दर्शन देकर प्रभुने कृतार्थ किया। उसी समय मन्दिरका द्वार घूम गया। कहते हैं कि उनमेंसे कुछ स्वर्णपुष्प आज भी सुरक्षित हैं, जब नया राजा

गद्दीपर बैठता है, तब उन फूलोंके दर्शन कराये जाते हैं।

श्रीमधुकरशाहजीकी सन्तवेषनिष्ठाका वर्णन करते हुए श्रीभक्तमालजीके टीकाकार श्रीप्रियादासजी एक प्रसंगका वर्णन करते हैं। एक बार मधुकरशाहके द्वेषी भाई-बन्धुओंने एक गधेको वैष्णव वेष धारण कराया और मधुकरशाहके सामने ले आये। वेशनिष्ठ राजाने उस गर्दभका वैष्णव वेशके कारण आदर-सत्कार किया और कहा—

अब लौं दुइ-दुइ पादके देखे संत अनन्त। चारि चरण के आजु ही देखे सन्त लसन्त॥
मेरे प्रभु समरत्थ हैं सकैं रूप सब धारि। खर नाहीं वैष्णव खरे प्रभु तुम लेहु उधारि॥
मच्छ कच्छ शूकर बने भक्तन हित भगवान। मधुकर हित गर्दभ बने धनि धनि कृपा निधान॥

श्रीमधुकरशाहजी गर्दभको वैष्णवरूप धारण किये हुए देखकर बड़े खुश हुए और बोले—'अहो! श्रीयुगलकिशोरजीकी हमारे ऊपर बड़ी कृपा है, जो कि मेरे राज्यमें गधे भी वैष्णव बनकर कण्ठी-माला और तिलक धारण करने लगे हैं। अब तो निश्चय ही कोई मनुष्य बिना कण्ठीमाला-तिलकके नहीं रह सकता है। अब यदि कोई कण्ठी-तिलकविहीन देखनेमें आये, तो उसे गधेसे भी निकृष्ट समझना चाहिये।' राजाकी इस वेषनिष्ठाको देख-सुनकर इनके विरोधी भी वैष्णव बन गये और इनके गुरुदेव श्रीहरिरामव्यासजीने यह पद गाया—

भगत बिन किन अपमान सह्यौ।
कहा कहा न असाधुन कीन्हों, रहि बल धरम रह्यौ॥
अधम राज पद माते लै शिविका जड़ भरत नह्यौ।
निगड़ बँधे वसुदेव देवकी, सुत पटकत दुख दुसह सह्यौ॥
हरि ममता प्रह्लाद विषाद न, जान्यौ दुख सहदेव दह्यौ।
पट लूटत द्रोपदी न मटकी, हरिकी शरन चह्यौ॥
मत्त सभा कौरवनि विदुर सों, कहा कहा न कह्यौ।
शरणागत आरत जगपति की, आपुन चक्र गह्यौ॥
हा हरि नाथ पुकारत आरत, कौन नहीं निबह्यौ।
व्यास वचन सुनि मधुकर साहै, भक्त भक्तिपन सदा लह्यौ॥

श्रीप्रियादासजीने राजा मधुकरशाहकी इस सन्तवेश-निष्ठाका वर्णन इस प्रकार किया है—

मधुकरसाह, नाम कियौ लै सफल जातें, भेष गुनसार गहै, तजत असार है।
'ओड़छे' कौ भूप, भक्त भूप, सुखरूप भयौ, लयौ पनभारी जाके और न विचार है॥
कंठी धरि आवै कोय, धोय पग, पीवै सदा, भाई दूखि, खर गर डार्‌यौ मालभार है।
पाँव परछाल, कही 'आज जू निहाल किये', हिये द्रये दुष्ट पाँव गहे दृगधार है॥ ४८८॥

श्रीखेमालरत्नजी राठौर

रैना पर गुन राम भजन भागवत उजागर।
प्रेमी प्रेम किसोर उदर राजा रतनाकर॥
हरिदासन के दास दसा ऊँची ध्वजधारी।
निर्भय अननि उदार रसिक जस रसना भारी॥

दसधा संपति संत बल सदा रहत प्रफुलित बदन।
खेमाल रतन राठौर के अटल भक्ति आई सदन॥ ११८॥

श्रीखेमालरत्नजी राठौरवंशीय क्षत्रिय थे, आपके घरमें भक्तिने अचल होकर निवास किया। आपके सुपुत्र श्रीरामरयनजी श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त थे और श्रीरामजीके भजनमें सदा तत्पर रहते थे। आप परम प्रसिद्ध भगवान्‌के भक्त थे। श्रीखेमालजीके पौत्र श्रीरामरयनजीके पुत्र श्रीकिशोरसिंहजी भगवत्प्रेमियोंसे प्रेम करनेवाले थे। समुद्रके समान गम्भीर हृदयवाले, सद्गुण-रत्नोंके निधान थे। ये सभी भगवद्दासोंके दास थे। प्रेमकी उच्चदशाको प्राप्त इन्होंने उसकी ध्वजाको सर्वदा ऊँचा रखा। ये निर्भय, अनन्य, परम उदार और रसिक थे। रसिक श्रीश्यामसुन्दरके विशाल सुयशको आप जिह्वासे सदा गाते रहते थे। दशधा भक्तिको ही आप अपनी परम सम्पत्ति मानते थे। सन्तोंका बल आपमें था। ये सदा प्रेमविभोर, अतः प्रसन्नमुख रहते थे॥ ११८॥

श्रीखेमालरत्नजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

ऐतिहासिक विशेषज्ञोंके अनुसार जोधपुरके शासक राव सूजाके पुत्र ऊदाने वि० संवत् १५३९ में जैतारणपर आक्रमण किया और सींधालोंको परास्तकर नया राज्य स्थापित किया। इनके वंशज 'ऊदावत राठौड़' कहलाये। परम प्रतापी राव ऊदाके पुत्र खीवकरण (खेमकरण) ही खेमाल नामसे प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म भाद्रशुक्ल ११ संवत् १५३७ वि० में हुआ। ये भगवद्भक्त होनेके साथ-साथ अपने कालके महत्त्वपूर्ण वीरोंमेंसे एक थे। धर्मरक्षार्थ इन्होंने कई संग्राम किये। जोधपुरके मालदेवके समयमें जैताजी, कूपाजी और पंचायणको साथ लेकर शेरशाहकी विशाल सेनासे श्रीखेमालजीने इतिहास-प्रसिद्ध संग्राम लड़ा। तभीसे वीरोंमें आपको बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ। पुनः शेरशाहसे मालदेवका प्रसिद्ध युद्ध गिर्रीमें हुआ, जिसमें धोखेके कारण मालदेव वापस लौट आये, पर श्रीखेमालजी प्रमुख सरदारोंको साथ लेकर संग्राममें डट गये। अपने दस हजार सैनिकोंके साथ शेरशाहकी अस्सी हजार सेनापर भीषण प्रहार किया। यह युद्ध वि० संवत् १६०० में हुआ। इनके प्रचण्ड आक्रमणसे शेरशाहकी फौजके छक्के छूट गये। विजय शेरशाहकी अवश्य हुई, पर उसके थोड़ेसे सैनिक ही बचे। प्रायः सभी क्षत्रिय वीरगतिको प्राप्त हुए। शेरशाहने इस विजयको धिक्कारा और कहा कि खुदाका शुक्र है जो जान बची, वर्ना मुट्ठीभर बाजरेके लोभमें दिल्लीकी सल्तनत खो देता।

श्रीनाभाजीने श्रीखेमाल (खींवकरण) और उनके पुत्र रावरतनसिंहजी दोनोंका चरित्र एक साथ एक छप्पयमें लिखा है, पर ये दो भक्त हैं। श्रीराव रतन राठौरका जन्म १५७७ वि० संवत् भादौं सुदी ५ को हुआ। ये जैतारणके तीसरे राजा थे। संवत् १६०० में २३ वर्षकी आयुमें आप जैतारणकी गद्दीपर बैठे। पिता-पितामहकी तरह ये भी महान् भक्त एवं वीर थे। इनमें स्वाधीनता, कर्तव्यपरायणता, अपार साहस, उज्ज्वल चरित्र और धर्मपरायणता आदि गुण कूट-कूटकर भरे थे। आपने रणस्थलमें कभी अधर्म युद्ध नहीं किया। वीर एवं भगवद्भक्तका चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो, उसका सर्वदा सम्मान किया। ये जैसे महान् वीर थे, वैसे ही उदार दाता भी थे। देहरिया, गेहावास, लाखावासणी (जैतारण परगनेके) गाँव चारण भक्तोंको दानमें दिया। आपकी वीरताके अनेक उदाहरण इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। वि० संवत् १६१० में राव मालदेवने मेड़तेके राजा जयमलपर चढ़ाई की। राव रतनसिंहजी उस युद्धमें मालदेवकी ओरसे लड़ रहे थे। आपने अपने सामन्त देईदासके साथ जयमलजीकी सेनापर भयंकर प्रहार किया। देईदास जब जयमलजीपर बर्छी छोड़ने लगा, तब राव रतनसिंहने कहा—'राव ऊबरौ।' फिर देईदासने बर्छी नहीं चलायी। इस युद्धमें जयमलकी सेना हार गयी थी।

जैतारणमें ही इनका अन्तिम युद्ध अकबरकी सेनाके साथ हुआ। उसी युद्धमें महान् पराक्रम प्रदर्शितकर संवत् १६१४ चैत बदी १० को राव रतनसिंहजी प्रशंसित वीरगतिको प्राप्त हुए। इस युद्धका वर्णन कविवर दूदो विलासने 'राठौर रतनसिंह री बेली' नामक काव्यमें किया। इसमें ६३ छन्द हैं।

दल असंख्य दिल्ली तणौ, गिणया ऊदा गोत।
रगतां सींची रतन-सी जैतारण रण जोत॥

धर्मविरोधी यवन सेनाका अपने खाँड़ोंसे संहार करनेवाले राव रतनसिंहने अपनी कीर्तिको अचल कर दिया। इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्रेमी राव रतनसिंहजीने उज्ज्वल आदर्श प्रकट किया। इस क्षेत्रकी जनता इन्हें देवतुल्य मानकर समाधिपर श्रद्धा-सुमन चढ़ाती है। अब नया स्मारक भी बन गया है। जैतारणमें एक सिद्ध सन्त श्रीगूदड़बाबा थे। राव रतनसिंहजी उनसे प्रभावित थे। उनके परम भक्त थे। वहीं श्रीगोपालजीका मन्दिर है, इनके वंशज उसे अपना गुरुद्वारा मानते हैं। इन्हीं राव रतनसिंहजीके पुत्र श्रीरामरयनजी थे। आपने रामट ग्राममें अपनी गद्दी स्थापित की। इनके पुत्र श्रीकिशोरसिंहजी हुए।

राजा श्रीरामरयनजी

अजर धर्म आचर्‌यो लोक हित मनो नीलकँठ।
निंदक जग अनिराय कहा (महिमा) जानैगो भूसठ॥
बिदित गँधर्बी ब्याह कियो दुसवंत प्रमानै।
भरत पुत्र भागवत स्वमुख सुकदेव बखानै॥
और भूप कोउ छ्वै सकै दृष्टि जाय नाहिन धरी।
कलिजुग भक्ति करारी कमान रामैरन कैं रिजु करी॥ ११९॥

इस कलियुगमें भक्तिका और धर्मका पालन बहुत कठिन है, परंतु श्रीरामरयनजीने इस कठिन कार्यको बड़ी सरलताके साथ सम्पन्न किया। इन्होंने वैष्णवधर्मका इस विधिसे पालन किया कि उसमें कभी जीर्णता नहीं आयी, वह सदा नवीन बना रहा। श्रीशंकरजीके समान आप सभी लोगोंका कल्याण करनेवाले थे। परनिन्दक, दुष्ट वे भला आपकी महामहिमाको कैसे जान सकते हैं! जैसे राजा दुष्यन्तने शकुन्तलासे विवाह किया और उनसे महान् प्रतापी पुत्र श्रीभरतजी परम भागवत हुए, जिनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने किया है, उसी प्रकार आपने गान्धर्व विधिसे अपनी कन्याका विवाह रासबिहारी श्रीकृष्णके साथ किया। आपने जैसी भक्तिका आचरण किया, दूसरे राजा लोग उसे मनमें ला भी नहीं सकते, आचरण करना तो बहुत दूर रहा। इस ओर दृष्टि करके वे लोग देख भी नहीं सकते॥ ११९॥

श्रीप्रियादासजी श्रीरामरयनजीके जीवनमें घटी एक घटनाका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

पूनौ मैं प्रकाश भयौ सरद समाज रास विविध विलास नृत्य राग रंग भारी है।
बैठे रस भीजे दोऊ, बोल्यो राम राजा रीझि, भेंट कहा कीजै विप्र कही जोई प्यारी है॥
प्यार को विचारै न निहारै कहूँ नैकु छटा, सुता रूपघटा अनुरूप सेवा ज्यारी है।
रही सभा सोचि, आय जायके लिवाय ल्यायै, वेष सों दिवाये फेरे सम्पत लै वारी है॥ ४८९॥

कवित्तमें बताया गया है कि एक बार शरत्पूर्णिमाकी रातको जिसमें चन्द्रमाकी चाँदनी छिटकी हुई थी, उसमें रासलीलाका भव्य आयोजन हुआ। राजा श्रीरामरयनजी एवं उनकी रानी दोनों रासका दर्शन कर रहे

थे। नृत्य-गानको पूर्णकर प्रेमरसमें सराबोर युगलकिशोर सिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय राजा रामरयनजीने प्रेम-विभोर होकर अपने मन्त्रियोंसे पूछा कि 'ठाकुरजीको क्या भेंट करना चाहिये?' भक्त ब्राह्मण मन्त्रीने कहा—'राजन्! जो वस्तु आपको सर्वाधिक प्रिय हो, वही प्रभुको अर्पण करना चाहिये।' यह सुनकर राजाने अपने मनमें सोचा—विचारा और निश्चय किया कि 'घनी घटाके समान जिसमें सौन्दर्य छाया है, वही अपनी प्रिय कन्या श्रीठाकुरजीको भेंटमें देनेयोग्य है।' तत्पश्चात् आप महलमें गये और वस्त्राभूषणोंसे विभूषित अपनी कन्याको लिवा लाये और उसे रासबिहारी श्रीकृष्णको अर्पण कर दिया। पश्चात् विधि-विधानके अनुसार भाँवरें पड़ीं, विवाह हुआ, बहुत-सी सम्पत्ति दहेजमें दी तथा न्यौछावर की।

श्रीरामरयनजीकी रानी

आरज को उपदेस सुतौ उर नीकें धार्‌यो।
नवधा दसधा प्रीति आन धर्म सबै बिसार्‌यो॥
अच्युत कुल अनुराग प्रगट पुरुषारथ जान्यो।
सारासार बिबेक बात तीनों मन मान्यो॥
दासत्व अनन्य उदारता संतन मुख राजा कही।
हरि गुरु हरिदासन्नि सों राम घरनि साँची रही॥ १२०॥

राजा रामरयनजीकी धर्मपत्नी श्रीहरि, गुरुदेव एवं सन्तोंके प्रति सदा सच्ची रही। इन्होंने इनसे कभी छल-कपट नहीं रखा। अपने पतिदेवके उपदेशोंको तो उन्होंने अच्छी प्रकारसे हृदयमें धारण किया। नवधा-दशधा भक्तिके आचरणमें ही इन्हें प्रीति थी। दूसरे लौकिक धर्मोंको बिलकुल भुला दिया। वैष्णवोंसे प्रेम करना ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ जाना। सत्‌को ग्रहण और असत्‌को त्याग कर देनेका विवेक आपमें था। दासत्व, अनन्यता और उदारता—ये तीनों बातें आपके मनमें बसी हुई थीं। इसकी प्रशंसा सन्तजन तथा स्वयं राजा रामरयनजी अपने मुखसे करते थे॥ १२०॥

श्रीप्रियादासजीने श्रीरामरयनजीकी रानीके सन्तप्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

आये मधुपुरी राजाराम अभिराम दोऊ, दाम पै न राख्यौ, साधू विप्र भुगताये हैं।
ऐसे ये उदार राह खरच सँभार नाहिं, चलबो बिचार भयौ चूरा दीठ आये हैं॥
मुद्रा सत पाँच मोल खोलि तिया आगे धरे दीजै बेचि गये नाभा कर पहिराये हैं।
पति को बुलाइ कही नीके देखि रीझे भीजे काढ़ि कै करज पुर आये दै पठाये हैं॥ ४९०॥

कवित्तमें बताया गया है कि एक बार राजा रामरयनजी तथा उनकी रानी दोनों श्रीमथुराजी आये। साधु-ब्राह्मणोंकी सेवा करते हुए कुछ दिन वहीं रहे। जो धन आप साथमें लाये थे, वह सम्पूर्ण धन साधु-ब्राह्मणोंकी सेवामें समाप्त हो गया, घर वापस जानेके लिये मार्गव्यय भी नहीं बचा। जब वापस लौटनेका विचार हुआ तो उस समय राहखर्चका प्रश्न उपस्थित हुआ। रानीके हाथोंमें जड़ाऊँ कंकण थे, उन्हींपर राजाकी दृष्टि पड़ी। रानीने हाथोंके कंकण उतारकर राजाके आगे रख दिये और कहा कि 'इन्हें बेंच दीजिये।' श्रीरामरयनजी उन्हें बेचने बाजारको गये। संयोगवश गोस्वामी श्रीनाभाजी इन्हें मार्गमें मिल गये। इन्होंने प्रसन्न होकर दण्डवत् करते हुए (भेंटस्वरूप या सखी भाव होनेसे) दोनों कंकण उनके हाथोंमें पहना दिये। रानीने महाराजको बुलाकर कहा—'आपने यह बहुत ही अच्छा किया।' रानीकी निष्ठा देखकर राजा उसपर प्रेमविभोर हो गये। इसके पश्चात् किसीसे कर्ज लेकर आप अपने नगरको वापस आये और उसको धन भेजकर कर्ज चुकता किया।

श्रीकिशोरसिंहजी

पायनि नूपुर बाँधि नृत्य नगधर हित नाच्यो।
राम कलस मन रली सीस तातें नहिं बाँच्यो॥
बानी बिमल उदार भक्ति महिमा बिस्तारी।
प्रेम पुंज सुठि सील बिनय संतनि रुचिकारी॥
सृष्टि सराहै राम सुव लघु बैस लछन आरज लिया।
अभिलाष उभै खेमाल का ते किसोर पूरा किया॥ १२१ ॥

श्रीखेमालरत्नजीके दो मनोरथोंको श्रीकिशोरसिंहजीने पूर्ण किया। पैरोंमें नूपुर बाँधकर आप श्रीगिरिधरलालजीके सामने नित्य नृत्य करते थे और दूसरे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवाके निमित्त अत्यन्त आनन्दपूर्वक घड़ा भरकर मधुर जल लाते थे। इस सेवासे आपका सिर कभी वंचित नहीं हुआ। आपकी वाणी निर्मल और उदार थी। उससे आपने भक्तिकी महिमाका विस्तार किया। आप श्रीरामकृष्णके प्रेमकी राशि, सुन्दर स्वभाव, विनयशील एवं भक्तोंको प्रिय लगनेवाले थे। सारा संसार बड़ाई करते हुए कहता था कि छोटी अवस्थामें ही श्रीरामरयनके पुत्र श्रीकिशोरसिंहजीने महत्पुरुषोंके लक्षणोंको धारण कर लिया॥ १२१ ॥

श्रीकिशोरसिंहजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकिशोरसिंहजी श्रीखेमालरत्नजीके पौत्र और श्रीरामरयनजीके पुत्र थे। शरीर त्यागते समय श्रीखेमाल-रत्नजीकी आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा बह रही थी। कारण किसीकी समझमें नहीं आ रहा था। श्रीरामरयनजीने पूछा—'आपको क्या कष्ट है, आप स्पष्ट कह दीजिये।' श्रीखेमालरत्नजीने कहा—'मैंने अपने मनमें सेवाके दो मनोरथ किये थे, वे पूरे नहीं हुए। इसी बातका दुःख है।' वे कौनसे मनोरथ हैं, यह पूछनेपर आपने कहा कि दोमेंसे एक तो यह कि मैं भगवान् श्रीसीतारामजीके लिये अपने सिरपर रखकर जलभरा कलश नहीं लाया। दूसरा यह कि पैरोंमें घुँघरू बाँधकर कभी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके आगे मैंने नृत्य नहीं किया।

श्रीखेमालरत्नजीकी इस बातको सुनकर उनके मन्त्री, परिवारी—पुत्र आदि राजापनेके अहंकार एवं लोकलाजके कारण चुप रह गये। परंतु उसी समय आपके पौत्र परम हरिभक्त श्रीकिशोरसिंहजी बोल उठे—'आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं इन दोनों सेवाओंको नित्य करूँगा। जबतक मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे, तबतक नित्य-नियमको निभाऊँगा।' अपने पौत्रकी ऐसी प्रेममयी प्रतिज्ञा सुनकर श्रीखेमालरत्नजीके मनमें अपार सुख हुआ। उन्होंने उठकर श्रीकिशोरसिंहको छातीसे लगा लिया और फिर सुखपूर्वक अपने शरीरका त्याग किया। श्रीकिशोरसिंहने जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उन्होंने जीवनभर निर्वाह किया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

खेमाल तन त्याग समै अश्रु पात आँखिन ते बात सुत पूछैं अजू नीकें खोलि दीजिये।
कीजै पुण्य दान बहु, सम्पत्ति अमान भरी, धरीं हियें दोई सोई कहा सुनि लीजिये॥
बिबिध बड़ाई में समाई मति भई पै न नितही विचार अब मन पर खीजिये।
नीर भरि घट सीस धरिकै न ल्यायौ और नूपुर न बाँधि नृत्य कियौ नाहिं छीजियै॥ ४९१ ॥
रहे चुपचाप सबै जानी काम आप ही कौ, बोल्यौ यों किशोर नाती आज्ञा मोकों दीजियै।
यही नित करौं नहीं टरौं जोलौं जीवै तन मन में हुलास उठि, छाती लाय जीजियै॥

बहु सुख पाये, पाये वैसे ही निवाहे पन, गाये गुन लाल प्यारी अति मति भीजियै।
भक्ति बिसतार कियौ वैस लघु भीज्यौ, हियौ दियौ सनमान संत सभा सब रीझियै॥ ४९२॥

श्रीहरीदासजी

हरीदास हरिभक्त भक्ति मंदिर को कलसो।
भजन भाव परिपक्व हृदय भागीरथि जल सो॥
त्रिधा भाँति अति अननि राम की रीति निबाही।
हरि गुरु हरि बल भाँति तिनहि सेवा दृढ़ साही॥
पुरन इंदु प्रमुदित उदधि त्यों दास देखि बाढ़ै रली।
खेमाल रतन राठौर के सुफल बेलि मीठी फली॥ १२२॥

श्रीखेमालरत्न राठौरजीके वंशमें वैष्णव सुपुत्र उत्पन्न हुए। श्रीहरीदास भगवान्‌के एवं भगवद्भक्तोंके भक्त थे। भक्ति एवं भक्तरूपी मन्दिरके कलश थे। भजन-भावमें आप सुदृढ़ निष्ठावाले भक्त थे तथा आपका हृदय भागीरथी गंगाके समान पवित्र एवं निर्मल था। मन-वचन एवं कर्मसे आप अनन्य भक्त थे। श्रीरामरयनजीकी उपासना रीतिका ही आपने भी अनुसरण किया। इन्हें भगवत्तुल्य अपने श्रीगुरुदेवका बल भगवद्‌बलके समान ही था। इन दोनोंकी सेवा आपने राजोपचारोंसे की। जैसे शरद् ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाको देखकर समुद्र ऊँची लहरें लेकर बढ़ने लगता है, उसी प्रकार भगवद्भक्तोंको देखकर श्रीहरीदासजीके हृदयमें आनन्दसमुद्र उमड़ने लगता था॥ १२२॥

श्रीहरीदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीहरिदासजी बड़े सन्तसेवी थे, इनके यहाँ सन्त आते ही रहते थे। एक दिन ये घरपर नहीं थे। सन्तोंकी जमात आयी। सबका यथोचित सत्कार किया गया। जब सन्त विदा होकर चले गये, तब ये घरपर आये। सन्तोंका दर्शन न होनेसे इनके मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ और तुरंत व्याकुल होकर सन्तोंके दर्शनके लिये घरसे निकल पड़े। इतस्ततः सन्तोंको खोजते हुए, जिस किसीसे सन्तोंका पता पूछते जंगलकी ओर जा निकले। बावलेसे इधर-उधर घूम रहे थे, मानो इनका सर्वस्व लुट गया हो। इनकी यह निष्ठा देखकर स्वयं भगवान् सन्तवेष धारणकर इनके सम्मुख आ गये और बोले—'भक्तजी! क्या ढूँढ़ रहे हैं?' इन्होंने सन्तवेषधारी भगवान्‌के चरणोंमें पड़कर प्रणाम किया और बोले—'महाराज! सन्तोंको ढूँढ़ रहा हूँ। क्या आप बता सकते हैं—अन्य सन्त कहाँ गये? सन्तवेषधारी भगवान्‌ने हँसकर कहा—'सब मुझमें ही समझो। अतः मेरा ही दर्शन करके सबका दर्शन समझ लो।' श्रीहरिदासजीने कहा—'यह कैसे हो सकता है? क्या आप अकेले उन सभी सन्तोंके बराबर हरिगुणगान कर सकते हैं? क्या आप अकेले उन सबके बराबर प्रसाद पा सकते हैं?' सन्त भगवान्‌ने हँसकर कहा—'तुम चिन्ता मत करो, मैं अकेले ही सबके बराबर भगवद् गुणगान भी कर सकता हूँ और प्रसाद भी पा सकता हूँ।' इन्होंने कहा—अच्छा, आप पहले मुझे कुछ हरिगुणगान सुनाइये। सन्त भगवान्‌ने भावावेशमें ऐसा श्रीहरियश सुनाया, मानो हजार मुख और दो हजार जिह्वासे शेषजी ही हरिगुण गा रहे हैं। तब तो इन्हें विश्वास हो गया कि ये निश्चय ही कोई समर्थ सन्त हैं। फिर तो ये प्रेमवश उन सन्त भगवान्‌को अपने कन्धेपर बैठाकर ले आये और षोडशोपचार पूजा-स्तुति की। तदुपरान्त अनेक प्रकारका प्रचुर भोजन बनवाया। जब सन्तजी भोजन करने लगे तो ये पुनः प्रेमवश बोले—'महाराज! जैसे आपने हरिगुणगानमें अनेक सन्तोंकी सामर्थ्य अपनेमें दिखायी, वैसे ही प्रसाद पानेमें

भी आपको अपना ऐश्वर्य प्रकट करना होगा।' सन्त भगवान्ने कहा—'तुम तनिक भी चिन्ता मत करो, जो भी सामान बना हो सब मुझे परोसते जाओ, मैं अकेले ही अनन्त सन्तोंका भोजन करनेमें समर्थ हूँ। फिर तो श्रीहरिदासजीने बड़े चाव-भावसे इन्हें भोजन कराया। सन्त भगवान् सब भोजन अकेले ही साफ कर गये। तब श्रीहरिदासजी जान गये कि यह तो भक्तवत्सल भगवान् ही मेरे मनोरथको पूर्ण करनेके लिये सन्तवेषमें पधारे हैं। फिर तो उन्होंने भगवान्की बड़ी स्तुति-प्रार्थना की। भगवान् इन्हें स्वस्वरूपका दर्शन कराकर अन्तर्धान हो गये।

श्रीचतुर्भुजजी कीर्तननिष्ठ

गायो भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायो।
राधा बल्लभ भजन अननिता गर्ब बढ़ायो॥
मुरलीधर की छाप कबित अति ही निर्दूषन।
भक्तनि की अँघ्रि रेनु वहै धारी सिर भूषन॥
सतसंग महा आनंद मैं प्रेम रहत भीज्यो हियो।
(श्री) हरिबंस चरन बल चतुरभुज गोंड देस तीरथ कियो॥ १२३॥

गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभुके श्रीचरणोंके प्रतापसे श्रीचतुर्भुजदासजीने गोंड़वाना प्रान्तको तीर्थके समान पवित्र बना दिया। आपने भक्ति-प्रतापका गान किया। उसके द्वारा सभी लोगोंमें दास्य-भाव दृढ़ किया। ठाकुर श्रीराधावल्लभजीके भजनकी शिक्षा देकर आपने अनन्य भक्तोंके परिवारको तथा अनन्यताके गौरवको बढ़ाया। आपकी कविता काव्य-दोषोंसे सर्वथा रहित है, उसमें आप 'मुरलीधर' की छाप लगाते थे। हरिभक्तोंके श्रीचरणोंकी रजको भूषणके समान मानकर उसे अपने सिरपर धारण करते थे। संत-संगमें तथा भगवत्प्रेमके परमानन्दमें सदा आपका हृदय सराबोर रहता था॥ १२३॥

श्रीचतुर्भुजजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीचतुर्भुजजी गोंड़वानेके निवासी थे। इनका जन्म ब्राह्मण कुलमें हुआ था। ये श्रीहितहरिवंश महाप्रभुके शिष्य श्रीवनचन्द्राचार्यजीके शिष्य थे, अतः इन्होंने श्रीहितहरिवंश महाप्रभुको परम गुरु माना है। गोंड़वाना देशमें उस समय भक्ति-भावका नाममात्र आचरण भी कहीं नहीं दिखलायी पड़ता था। वहाँके लोग ऐसे हिंसावादी थे कि मनुष्योंको मारकर अपने इष्टदेवको बलि चढ़ाते थे। श्रीचतुर्भुजजीने वहाँ जाकर देवताके कानमें श्रीकृष्ण-मन्त्र सुना दिया। देवताने वैष्णवी-दीक्षा स्वीकार कर ली और गाँवके लोगोंको स्वप्नमें आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग शीघ्र ही श्रीस्वामी चतुर्भुजदासजीके शिष्य बनकर भक्त-भगवान्की सेवा करो, उनके दास बनो। नहीं तो सबका अनिष्ट हो जायगा।' यह सुनकर प्रातःकाल होते ही गाँवके सभी लोग इनके पास दौड़कर आये। इन्होंने कण्ठी-तिलक देकर सबको दीक्षा प्रदान की।

श्रीप्रियादासजी महाराजने इस घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

गोंड़वाने देश, भक्ति लेसहूँ न देखै, कहूँ, मानुस कों मारि इष्टदेव कों चढ़ायौ है।
तहाँ जाय देवता के मन्त्र लै सुनायौ कान लियौ उन मानि, गाँव सुपन सुनायौ है॥
'स्वामी चतुर्भुजजूके बेगि तुम दास होहु नातौ होय नास सब' गाँव भज्यौ आयौ है।
ऐसे शिष्य किये, माला कण्ठी पाय जिये, पाँव, लिये मन दिये, औ अनन्त सुख पायौ है॥ ४९३॥

श्रीचतुर्भुजजी अनेक प्रकारके व्यंजन-पक्वान्न भगवान्को भोग लगाते और बड़े प्रेमपूर्वक सन्तोंको पवाते,

सब प्रकारसे उन्हें प्रसन्न करते। श्रीमद्भागवतकी कथाओंका गान करते और लोगोंमें भक्ति-भावनाका प्रचार-प्रसार करते। एक बार एक चोर किसीका धन लेकर भागा। मालिक भी उसे पकड़नेके लिये उसके पीछे दौड़ा। उसे कहीं छिपनेका स्थान नहीं मिला। वह श्रीचतुर्भुजजीकी कथाके श्रोताओंमें घुस गया और वहीं छिपकर बैठ गया। भीड़में वह धनी उसे देख नहीं पाया। इसी बीच पुराणकी कथामें उस चोरने सुना कि 'मन्त्रकी दीक्षा लेनेसे जीवका दूसरा जन्म हो जाता है।' इस शिक्षाको सुनकर वह श्रीचतुर्भुजजीका शिष्य हो गया। भीड़ कम होनेपर धनीने उसे पकड़ लिया और शोर किया कि 'यह तो चोर है।' हाकिमके यहाँ उसे पकड़कर ले गया। पूछनेपर उसने कहा कि—'मैंने तो इस जन्ममें किसीका कुछ नहीं चुराया है।' परीक्षाके लिये उसके हाथमें कच्चे सूतका धागा लपेटकर एवं घी लगाकर पीपलका पत्ता रखकर लोहेका फार तपाकर रख दिया गया। उस समय उसने सभीके सामने उच्च स्वरसे कहा—यदि सचमुच गुरुदेव तथा गुरुग्रन्थके कथनानुसार दीक्षोपरान्त दूसरा जन्म हो जाता है तो यह तप्त लोहा मुझे नहीं जला सके। उसे दृढ़ विश्वास था, अतः भगवान्ने उसकी रक्षा की। उसके हाथ नहीं जले।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भोग लै लगावैं नाना, संतनि लड़ावै, कथा भागवत गावै, भाव भक्ति बिसतारियै।
भज्यौ धन लैके कोऊ, धनी पाछे पर्‍यौ सोऊ, आनिकै दबायौ, बैठि रह्यौ न निहारियै॥
निकसी पुरान बात करै नयौ गात दिक्षा शिक्षा सुनि शिष्य भयो, गह्यौ यों पुकारियै।
कहै 'या जनम मैं न लियौं कछू' दियौ फारो हाथ लै उबार्‍यौ प्रभु रीति लागी प्यारियै॥ ४९४॥

जब अग्नि-परीक्षामें वह सच्चा ईमानदार प्रमाणित हो गया, तब राजाने उस धनीको झूठा माना कि साधुओंको इसने झूठा कलंक लगाया—यह सोचकर उसने अपने सिपाहियोंसे कहा कि 'इसको अभी फाँसीपर चढ़ा दो।' आज्ञाको पाते ही वे लोग उसे पकड़कर ले चले। वह पहलेका चोर जो साधु बन गया था, इसकी फाँसीको कैसे सह सकता था? उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वह बोला कि 'मैंने इसका धन लिया है। यह झूठ नहीं बोलता है।' राजाने कहा—सन्तजी! आप सच्चे प्रमाणित होकर पुनः अब झूठे क्यों बन रहे हैं? उसने कहा—'श्रीस्वामी चतुर्भुजजी महाराजकी महिमा अनन्त है और उन्हींकी कृपासे मैं चोर होकर भी ईमानदार प्रमाणित हुआ।' ऐसा कहकर उसने शिक्षा-दीक्षा एवं पुनर्जन्मकी बात सुनायी। राजाने सब प्रसंग सुनकर उस धनीको भी छोड़ दिया और श्रीस्वामीजीके पास आकर उनसे उपदेश ग्रहण किया और उनका शिष्य बन गया।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

राजा झूँठ मानि कह्यौ 'करो बिन प्रान याकौं, साधु ये विराजमान लै कलंक दियौ है'।
चले ठौर मारिबेकों, धारिबेकों सकै कैसे, नैन भरि आये नीर बोल्यौ धन लियौ है॥
कहै नृप साँचो ह्वैके झूठो जिन हुजै संत, महिमा अनन्त कही 'स्वामी ऐसौ कियौ है'।
भूप सुनि आयौ उपदेश मन भायौ, शिष्य भयौ नयौ तन पायौ भीजि गयौ हियौ है॥ ४९५॥

एक बार सन्तोंकी एक मण्डली तीर्थाटन करती हुई जा रही थी। रास्तेमें उन्हें एक चनेका पका हुआ खेत मिल गया। सन्त लोग चने तोड़-तोड़कर खाने लगे। खेतके रखवालोंके मुख उदास हो गये। उन लोगोंने शोर मचाते हुए कहा—'आपलोग फसलको न उजाड़िये, यह श्रीस्वामी चतुर्भुजजीका खेत है।' यह सुनकर सन्तोंने कहा—'तब तो हमारा काम बन गया, यह तो हमारा ही खेत है।' किसीने जाकर स्वामीजीसे कह दिया कि 'सन्त लोग खेतको अपना मानकर तोड़-तोड़कर खा रहे हैं।' यह सुनते ही आप मिष्टान्न-प्रसाद लेकर खेतपर

आये और बड़े प्रसन्न होकर बोले—'सन्तोंने मुझे आज अपना मान लिया, इससे मुझे बहुत बड़ा सुख मिला।' इसके पश्चात् अनुनय-विनय करके सभी सन्तोंको आप अपने घर लिवा लाये और विविध प्रकारके व्यंजन-प्रसाद पवाकर उनकी सेवा की।

श्रीप्रियादासजीने श्रीचतुर्भुजजीके इस सन्त-प्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

पकि रह्यौ खेत, सन्त आयकर तोरि लेत, जिते रखबारे मुख सेत सोर कियौ है।
कह्यौ स्वामी नाम, सुन्यौ कही 'बड़ौ काम भयौ, यह तौ हमारौ', सोई आप सुनि लियौ है॥
लै कै मिष्ठान्न आय, सुमुख बखान कीनौ, लीनौ, अपनाय आज भीज्यौ, मेरौ हियौ है।
लै गये लिवाय नाना भोजन कराय भक्ति चरचा चलाय, चाय हित रस पियौ है॥ ४९६॥

गोंड़वाने देशमें एक भूतोंका बाग था। वहाँ अनेकों भूत-प्रेत निवास करते थे। उनसे वहाँके लोग बहुत संत्रस्त थे। यदि कोई भूल-भटककर उधर चला आता, तो प्रेत उसे नचा-नचाकर मार डालते थे। प्रेतोंके डरसे लोग उधर खेती-बारी भी ठीकसे नहीं कर पाते थे। यदि कोई साहस करके कुछ खेती-बारी करना चाहता, तो प्रेत किसान और उसके बैलोंको मार डालते। उनकी खेती भी नष्ट कर डालते। ऐसे ही अनेक उपद्रव करते। जब लोग इन्हें बलि देते तब कुछ शान्त रहते। संयोगवश एक बार श्रीचतुर्भुजजी सन्तोंकी जमात लिये उधर ही जा पहुँचे। सन्तोंको किसी एकान्त उपयुक्त स्थानकी खोज थी। जहाँ जल-थल, फल-फूलका सुपास हो, जिससे कि वहाँ रुककर श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजा, भजन-साधन कर सकें। किसी दुष्टने उसी भूत बागका संकेत करते हुए कहा कि 'वह बहुत ही बढ़िया स्थल है। धूनी-पानीकी सुविधा है, सब प्रकारका सुख-सुपास है। आगन्तुक सन्त वहीं ठहरते हैं।' सन्तोंने उसकी बात सत्य मानकर, उसी बागमें जाकर झाड़ू-बुहारू लगाकर आसन लगाया। स्नान-ध्यान किया। श्रीठाकुरजीकी विधिपूर्वक पूजा-आरती की। शंख, घण्टा, घड़ियाल बजे। स्तुति, कीर्तन, दण्डवत्प्रणामके बाद चरणामृत-प्रसादका वितरण हुआ। संयोगकी बात, उस समय और सब प्रेत तो कहीं अन्यत्र गये हुए थे, केवल तीस प्रेत उपस्थित थे। उन सबने आरती-पूजाका दर्शन और नाम-संकीर्तनका श्रवण किया, जिससे उनके समस्त पाप नष्ट हो गये और उनका उद्धार हो गया। वे सब दिव्य रूप धारणकर भगवद्धामको चले गये। इसके बाद वे प्रेत आये, जो कहीं बाहर गये हुए थे। उनके साथ यमराजके दूत थे। जो उन्हें विविध प्रकारकी यातना दे रहे थे। अपने साथी प्रेतोंको पापमुक्त होकर भगवद्धाम गये जानकर ये प्रेत बड़े जोरोंसे हाहाकर करने लगे। तब श्रीचतुर्भुजजीने पूछा—'तुम लोग कौन हो और इतने दुखी होकर इतना शोर क्यों कर रहे हो? वे बोले—'हम सब प्रेत हैं, अपने कुकर्मोंके फलस्वरूप हमें प्रेतयोनि मिली है और हमें यमराजने रहनेके लिये यह बाग दिया है। आपने एक तो हमारी जगहपर दखल कर लिया और दूसरे हमारे बहुतसे साथियोंको पापमुक्त-कर उनका उद्धार कर दिया। हम बाहर गये थे, अतः रह गये। इसी शोकसे हम रो रहे हैं। हम भी आपके दरश-परशसे पापमुक्त होकर प्रेतयोनिसे उद्धार चाहते हैं। परंतु ये यमराजके दूत लोग हमें आपके पास आने नहीं देते हैं। अब आप ही हम लोगोंपर दया करके हमारा उद्धार करिये।'

श्रीचतुर्भुजजीने पूछा—'तुम लोगोंके उद्धारके लिये हम क्या करें? तुम्हारा जैसे भी उद्धार हो, हम वह करनेके लिये तैयार हैं।' तब प्रेतोंने कहा—'महाराज! एक गड्ढा खुदवाकर उसमें सभी सन्तोंका तथा अपना चरणामृत भरवा दीजिये। उसीका पान करनेसे हम सबका उद्धार हो जायगा।' श्रीचतुर्भुजदासजीने ऐसा ही किया। रातमें प्रेतोंने सन्त-चरणामृतका पान किया। सभी दिव्य देह धारणकर भगवद्धामको चले गये। प्रेतोंके मुक्त हो जानेपर यमदूत भागकर यमराजके पास पहुँचे और उन्होंने सब वृत्तान्त उनसे कह

सुनाया। यमराजने हँसकर कहा—'तुम लोग ऐसे अभागे हो कि प्रेत तो भक्तोंका दर्शनकर, चरणामृत पानकर तर गये, परंतु तुम लोग जैसेके तैसे रह गये।' जिस समय यमराज और यमदूतोंकी यह वार्ता हो रही थी, उसी समय यमराजके दूसरे दूत उसी गाँवके एक ब्राह्मणको बाँधकर ले गये थे। वह ब्राह्मण एक ओर खड़ा हुआ सभी बातें ध्यानपूर्वक सुन रहा था। साथ ही उसके मनमें ग्लानि हो रही थी कि मेरा सारा जीवन यों ही व्यर्थ चला गया। श्रीहरि और श्रीहरिदासोंकी कुछ सेवा भी मुझसे नहीं बनी। अब निश्चय ही नरकका कष्ट मुझे सहना पड़ेगा और प्रेत-पिशाचादि योनियोंमें भटकना पड़ेगा। इतनेमें यमराजने यमदूतोंको समझा-बुझाकर जब उस ब्राह्मणपर दृष्टि डाली तो एकदम जोरसे चिल्ला पड़े—'अरे! तुम लोग इस ब्राह्मणको क्यों बाँध लाये? अभी तो इसकी आयु शेष है। इसे वापस इसके शरीरमें पहुँचाओ और इसी नामवाले अमुक व्यक्तिको बाँधकर लाओ।' 'जल्दी करो, कहीं ऐसा न हो कि लोग इसके शरीरको जला दें। फिर मुश्किल पड़ जायगी।' यमदूत तत्काल उस ब्राह्मणको ले गये। लोग उस ब्राह्मणके शवको श्मशानमें ले जाकर चितापर रखकर आग लगाने ही वाले थे कि इतनेमें वह उठकर बैठ गया और बोला—'अरे भाई! अभी मैं मरा नहीं हूँ, मुझे मत जलाओ।' लोगोंने उसे चितासे उतारा और अत्यन्त कौतूहलपूर्वक उससे पूछने लगे—'पण्डितजी! आप तो मर गये थे, फिर जी कैसे गये?' ब्राह्मणने सब बात बतायी। उसके जीवित होनेका समाचार सुनकर भारी भीड़ एकत्र हो गयी। पुनः उसने यमपुरीका आँखों देखा हाल विस्तारपूर्वक सुनाया। भूत बागके सभी प्रेतोंका उद्धार, सन्त-चरणोदककी महिमा और यम-यमदूतोंका संवाद सुनकर सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये। लोगोंने कहा—'पण्डितजी! घर चलिये।' इन्होंने कहा कि 'अब मैं घर न जाकर पहले श्रीचतुर्भुजजी महाराजका सेवक बनूँगा और शेष जीवन भजन-साधनमें लगाऊँगा।' उस प्रसंगको सुनकर राजा-प्रजा सभी लोगोंने श्रीचतुर्भुजजीकी शिष्यता स्वीकार की, तिलक-कण्ठी धारणकर भजन-साधन और सन्त-सेवा करने लगे। इस प्रकार आपने गोंड़वानेको तीर्थ बना दिया।

श्रीचतुर्भुजजीके सम्बन्धमें 'रसिकअनन्य-भक्तमाल' में कथा आयी है कि ये गोंडवाने देशके अन्तर्गत गढ़ा ग्राममें निवास करते थे। इनके एक परम घनिष्ट मित्र थे, जिनका नाम था श्रीदामोदरदासजी, जो श्रीसेवकजीके नामसे प्रसिद्ध हुए। दोनों ही महानुभाव ब्राह्मण-कुलमें उत्पन्न हुए थे। दोनोंका सन्त-सेवामें बड़ा भाव था। भगवत्कृपासे दोनोंके मनमें संसारसे वैराग्य हो गया। दोनोंने निश्चय किया कि किसी सद्गुरुकी शरण ग्रहणकर एकान्तिक भावसे भगवान्‌का भजन करना चाहिये। इन्हीं दिनों गढ़ा ग्राममें श्रीवृन्दावनके कई रसिक सन्त पधारे। दोनोंने सन्तोंकी भावपूर्ण सेवा की। खूब सत्संग हुआ। सन्तोंने श्रीवृन्दावनकी निकुंज-लीलाका गान किया। उसे सुनकर ये दोनों बहुत प्रभावित हुए। इन दोनोंने सन्तोंसे किसी सिद्ध सद्गुरुका पता पूछा। तब उन्होंने श्रीहितहरिवंशजी महाप्रभुकी महिमाका गान किया। उसे सुनकर दोनों महानुभावोंने निश्चय किया कि हम श्रीहिताचार्य महाप्रभुसे ही दीक्षा लेंगे।' परंतु भगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है। ये लोग अभी श्रीवृन्दावन जाकर दीक्षा लेनेका विचार कर ही रहे थे कि इधर श्रीमहाप्रभुजी नित्य-निकुंजमें प्रवेश कर गये। यह सुनकर इनके मनमें महान् वियोग व्याप्त हो गया। दोनों ही **'किं करोमि, क्व गच्छामि'** क्या करें! कहाँ जायँ!! की स्थितिमें पहुँच गये। फिर सन्तोंसे पता चला कि श्रीहिताचार्यकी गद्दीपर उनके पुत्र श्रीवनचन्द्रजी महाराज विराजमान होकर आश्रितजनोंको हितधर्मका उपदेश करते हैं। तब श्रीचतुर्भुजजीने श्रीसेवकजीसे कहा कि चलो, श्रीवनचन्द्राचार्यकी ही शरण ग्रहण करें; क्योंकि अपने शरीर नाशवान् हैं। श्रीसेवकजीने दृढ़तापूर्वक कहा कि—'हम तो श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीको ही गुरु बनायेंगे, नहीं तो इस शरीरको ही छोड़ देंगे।' श्रीचतुर्भुजजीने अपने निश्चयके अनुसार श्रीवृन्दावन आकर श्रीवनचन्द्राचार्यजीसे

मन्त्र-दीक्षा ग्रहण की। इधर अन्नजलका परित्यागकर श्रीसेवकजी महाप्रभुके नामकी रट लगाने लगे। इनकी बलवती निष्ठा एवं दृढ़ लगनको देखकर श्रीमहाप्रभुजीने स्वप्नमें निजमन्त्रका उपदेश दिया एवं कृपा करके दिव्य वृन्दावन, श्रीयमुनाजी, निकुंज महल एवं सखी परिकरोंके सहित श्रीप्रिया-प्रियतमजीका दर्शन कराया। श्रीसेवकजी कृतार्थ हो गये। श्रीचतुर्भुजजी श्रीवृन्दावनसे लौटकर जब गढ़ा पहुँचे, तो दोनोंने अपने-अपने मन्त्रोंको मिलाया। मन्त्र एक ही हैं, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। श्रीचतुर्भुजजीका श्रीहित महाप्रभुमें परमानुराग था, कारण कि वे परम गुरु थे। इसलिये मूल छप्पयमें श्रीनाभाजीने लिखा कि—'**श्रीहरिबंस चरन बल चतुर्भुज।**'

श्रीकृष्णदासजी चालक

सक्र कोप सुठि चरित प्रसिध पुनि पंचाध्याई।
कृष्न रुक्मिनी केलि रुचिर भोजन बिधि गाई॥
गिरिराज धरन की छाप गिरा जलधर ज्यों गाजै।
संत सिखंडी खंड हृदै आनँद के काजै॥
जाड़ा हरन जग जाड़ता कृष्नदास देही धरी।
चालक कि चरचरी चहूँ दिसि उदधि अंत लौं अनुसरी॥ १२४॥

श्रीकृष्णदासजी चालकके चर्चरी छन्द (गीत) समुद्रके उस पारतक फैले। समस्त पृथ्वीभरके निवासियोंने सप्रेम गाकर आनन्द प्राप्त किया। अपनी पूजा भंग हुई जानकर इन्द्रने जो व्रजपर कोप किया, उसके कारण जो श्रीकृष्णचन्द्रकी 'गोवर्धनधारणलीला' हुई, आपने इस 'गोवर्धनधारणलीला', प्रसिद्ध रासपंचाध्यायी, श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-प्रणय एवं श्रीभोजनविधि आदिपर अनेक सुन्दर काव्य लिखे। आप अपनी रचनाओंमें 'गिरिराजधरन' की छाप लगाते थे। मेघगर्जनके समान आपकी वाणी मधुर एवं गम्भीर थी। जगत्के अर्थात् सभी प्राणियोंके जड़तारूप जाड़ेको हरनेके लिये आपने सूर्यके समान भक्तितेजोमय शरीर धारण किया॥ १२४॥

श्रीकृष्णदासजी चालकके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकृष्णदासजी भगवान् श्रीकृष्णके भक्त थे। उन्होंने उनकी लीलाओंपर आधारित अनेक काव्योंकी रचना की थी। उनके द्वारा रचित चर्चरी (फाग) गीत बड़े ही सरस और मधुर होते थे। आप अपनी रचनाओंमें 'गिरिराजधरन' की छाप लगाते थे। एक भाटने श्रीकृष्णदासजी चालककी चर्चरियोंसे इनकी छाप हटाकर अपनी छाप लगा दी और एक राजाके दरबारमें आकर उन्हें सुनाया। लोगोंने खूब वाह-वाह की। इनामोंके ढेर लग गये। राजाने भी बहुत-सा इनाम दिया। परंतु इसने एक तो भक्तकी कविता चुराई, दूसरे उनकी छाप हटाकर अपनी छाप लगायी। यह भगवदपराध भगवान्ने सहा नहीं गया। उसी दिनसे उस भाटके सिरमें भयंकर पीड़ा होने लगी। पीड़ाके कारण वह छटपटाता रहता और उसे सारी रात नींद नहीं आ पाती थी। उधर राजाको भगवान्ने स्वप्न दिया कि मेरे भक्तकी वाणी जगत्के प्राणियोंका अज्ञानान्धकार दूर करनेवाली है, भाटने उसे चुराकर तुच्छ धन और वाह-वाहीके लिये तुम्हारे दरबारमें सुनाया। यह अच्छा नहीं किया। इस अपराधसे भाट तो मरेगा ही, तुम भी सुखी नहीं रहोगे। अगर कुशल चाहो तो उसे समझाओ और डाँटो-फटकारो, चालककी चर्चरियोंको गाकर जितना धन कमाया है, वह सब कृष्णदासजीको दिलवाओ।

प्रात:काल होते ही राजाने स्वप्नकी बातका स्मरणकर भाटको बुलवाया और फटकारते हुए कहा—'अरे मूर्ख! तूने छलपूर्वक भक्त कृष्णदासजी चालककी कविताओंको अपनी बताकर दरबारमें सुनाया और इनाम प्राप्त किया है।' 'अब तुम वह सम्पूर्ण धन उन्हें ही अर्पण करो और अपराध क्षमा कराओ, अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं है।' अब उस भाटको अपने सिरदर्द और रात-दिन की बेचैनीका रहस्य मालूम पड़ गया। उसने तुरंत जाकर श्रीकृष्णदासजीके चरण पकड़े, क्षमा-याचना की और सारा धन उन्हें भेंट कर दिया। तब वह शारीरिक एवं मानसिक वेदनाओंसे मुक्त हुआ तथा राजदण्ड और यमदण्डसे छुटकारा पाया। उसने पुनः ऐसा अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा की। साधु-सज्जनोंके प्रति दीन बनकर उनके सत्संगमें जाने लगा। यह भक्तवाणीका चमत्कार है।

श्रीसन्तदासजी

गोपीनाथ पद राग भोग छप्पन भुंजाए।
पृथु पद्धति अनुसार देव दंपति दुलराए॥
भगवत भक्त समान ठौर द्वै को बल गायो।
कबित सूर सों मिलत भेद कछु जात न पायो॥
जन्म कर्म लीला जुगति रहसि भक्ति भेदी मरम।
बिमलानंद प्रबोध बँस संतदास सीवाँ धरम॥ १२५॥

श्रीविमलानन्दजी प्रबोधके कुलमें श्रीसंतदासजी वैष्णवधर्मकी सीमा हुए। भगवान् श्रीगोपीनाथजीके चरणोंमें आपका अत्यन्त अनुराग था। आप उन्हें नित्य छप्पन प्रकारके व्यंजन बनाकर भोग लगाते थे। श्रीपृथुजीकी पूजा-पद्धतिके अनुसार आप प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्णकी सेवा करते थे, लाड़ लड़ाते थे। भक्त और भगवान् दोनोंको समान मानकर आपने उनका सुयश वर्णन किया और इन्हींका बल रखते थे। आपकी कविताएँ श्रीसूरदासजीसे मिलती-जुलती हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है। भगवान्‌के जन्म, कर्म और उनकी लीलाओंका आपने बड़ी चतुरताके साथ वर्णन किया है। आप अनन्य भक्तिके गुप्त रहस्य एवं भेदोंको अच्छी प्रकारसे जानते थे॥ १२५॥

श्रीसन्तदासजीके भक्तिका माहात्म्य बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं—

बसत 'निवाई' ग्राम, स्याम सों लगाई मति, ऐसी मन आई, भोग छप्पन लगाये हैं।
बात की सचाई यह जग में दिखाई, सेवैं जगन्नाथ देव आप रुचि सौं जिमाये हैं॥
राजा कों सुपन दियौ नाम लै प्रगट कियौ, 'सन्त ही के गृह मैं तो जेवों यों रिझाये हैं'।
भक्तिके अधीन, सब जानत प्रवीण, जन ऐसे हैं, रंगीन, लाल ठौर ठौर गाये हैं॥ ४९७॥

कवित्तका भाव यह है—परमभक्त श्रीसन्तदासजी 'निवाई' ग्राममें निवास करते थे। इन्होंने भगवान् श्यामसुन्दरके चरणोंमें बुद्धि लगा रखी थी। एक दिन आपके मनमें ऐसा आया कि मैं अपने श्रीठाकुरजीको छप्पन भोग लगाऊँ तो आपने धनका अभाव होनेपर भी जैसे-तैसे (घरका सामान बेचकर) व्यवस्था करके श्रीठाकुरजीको छप्पन भोग लगाया। श्रीठाकुरजीने भी आपकी सच्ची प्रीतिको संसारमें प्रकट करके दिखा दिया। आप ऐसी प्रेमपूर्वक श्रीठाकुरजीकी सेवा करते थे कि स्वयं श्रीजगन्नाथ भगवान्‌ने आपके यहाँ अत्यन्त रुचिपूर्वक भोग आरोगा और पुरीनरेशको स्वप्नमें बताया कि आजकल मैं सन्तजीके यहाँ ही भोग आरोगता

हैं। इनके प्रेमने मुझे रिझा लिया है। इस प्रकार श्रीजगन्नाथभगवान्‌ने श्रीसन्तजीका नाम लेकर उन्हें संसारमें प्रकट कर दिया। ऐसा करके भगवान्‌ने दिखा दिया कि मैं भक्तोंकी भक्तिके अधीन हूँ।

श्रीसन्तदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीसन्तदासजी निबाई ग्राममें निवास करते थे। यह ग्राम जयपुरसे टोंक मार्गमें पड़ता है। अब भी वहाँ ठाकुर श्रीगोपीनाथजी महाराज विराजमान हैं। समय-समयपर उत्सव होते हैं, अनेक भावुक भक्त दर्शनार्थ आते हैं। श्रीसन्तदासजीके वंशधर आज भी श्रीगोपीनाथजीकी सेवा करते हैं। वहाँ आपकी वाणी भी प्राप्त है। मूल छप्पयमें '**बिमलानंद प्रबोधवंश**' शब्द आया है। इन्हीं श्रीविमलानन्दजीका स्मरण छ० ९६ में किया गया है—'**बिमलानंद अमृत श्रए।**' इन्हींके वंशमें श्रीसन्तदासजी हुए।

एक बार सन्तजी श्रीजगन्नाथभगवान्‌का दर्शन करने गये। वहाँ इन्होंने श्रीजगन्नाथभगवान्‌के छप्पन-भोगका दर्शन किया तो इनके मनमें भी विचार आया कि मैं भी अपने श्रीठाकुर गोपीनाथजीको छप्पन-भोग लगाऊँ। फिर मनमें विचार आया कि अच्छा तो यह होता कि श्रीजगन्नाथजी भी उस दिन वहीं आरोगते। यह निश्चयकर इन्होंने श्रीजगन्नाथजीको भी निमन्त्रण दे दिया। फिर घर आकर भक्तराजने खूब धूम-धामसे छप्पन-भोगकी तैयारी की। निश्चित समयपर श्रीजगन्नाथजी भी पधारे और बड़े प्रेमपूर्वक भोग आरोगा। वैसे श्रीजगन्नाथजीको नित्य ही छप्पन-भोग लगता है, परंतु आज सन्तजीके यहाँ जो स्वाद आया, वह स्वाद उन्हें कभी नहीं मिला था। अतः आप भोग आरोगकर पुनः पुरी न जाकर सन्तजीके यहाँ ही रह गये। तब सन्तजीने दूसरे दिन भी जैसे-तैसे छप्पन-भोगकी तैयारी की। क्योंकि वे जानते थे कि श्रीजगन्नाथजी तो छप्पन-भोग ही आरोगते हैं। उस दिन भी श्रीजगन्नाथजी नहीं गये। भोग पाकर फिर वहीं रह गये। तब तीसरे दिन फिर सन्तजीने घरका सामान बेच-बेचकर छप्पन-भोगकी व्यवस्था की। उस दिन भी श्रीजगन्नाथभगवान्‌ने जानेका नाम नहीं लिया। तब तो सन्तजीने भगवान्‌से हाथ-जोड़कर कहा कि 'प्रभो! मैं तो गरीब हूँ। मेरे पास इतनी सामर्थ्य नहीं है, जो मैं नित्य आपको छप्पन-भोग लगाऊँ। तीन दिन तो जैसे-तैसे भोग लगा, अब आगे गुंजाइश नहीं है।' तब भगवान्‌ने कहा—'भक्तराजजी! आपके प्रेमको देखकर मेरी जानेकी इच्छा ही नहीं करती है। आप घबड़ाइये नहीं, मैं सब इन्तजाम किये देता हूँ। इसके बाद भगवान्‌ने पुरीनरेशको स्वप्नमें निर्देश किया कि आजकल मैं निबाई ग्राममें सन्तजीके यहाँ हूँ। आप यहाँपर नित्य छप्पन-भोगकी व्यवस्था करिये। फिर तो राजाने वहाँ भी सदाके लिये छप्पन-भोगकी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार श्रीसन्तजीकी सच्ची भावनापर रीझकर भगवान्‌ने हमेशाके लिये छप्पन-भोगका इन्तजाम कर दिया।'

श्रीसूरदास मदनमोहनजी

गान काव्य गुन रासि सुहृद सहचरि अवतारी।
राधाकृष्न उपास्य रहसि सुख के अधिकारी॥
नवरस मुख्य सिंगार बिबिधि भाँतिनि करि गायो।
बदन उच्चरित बेर सहस पायनि ह्वै धायो॥
अँगीकार की अवधि यह ज्यों आख्या भ्राता जमल।
(श्री) मदनमोहन सुरदास की नाम सृंखला जुरि अटल॥ १२६॥

श्रीसूरदास मदनमोहनजी गानविद्याके और काव्य-शास्त्रके परम विशेषज्ञ थे। आपका हृदय अति ही

सरल एवं सरस था। सभीके प्रति हितकी भावना थी। ये श्रीराधाकृष्णजीकी सखीके अवतार थे। उनके एकान्त निकुंज-विहारके दर्शन एवं अनुभव-सुखके अधिकारी थे। नवरसोंमें मुख्य जो शृंगार रस है, उसे आपने अनेक प्रकारसे गाया। आपके लीला-पद मुखसे निकलते समय ही हजारों पैरवाले होकर इतस्ततः दौड़ने लग जाते थे अर्थात् सब ओर दूर-दूरतक फैल जाते थे। भगवान्‌ने सब प्रकारसे आपको अपना भक्त मानकर अंगीकार कर लिया। जिस प्रकार अश्विनीकुमारोंका परस्परका सम्बन्ध अच्छेद्य है, उसी प्रकार भक्त श्रीसूरदास और भगवान् श्रीमदनमोहनके नामका सम्बन्ध अकाट्य जुड़ गया। यह परस्पर अंगीकारकी सीमा है॥ १२६॥

श्रीसूरदास मदनमोहनजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीसूरदास मदनमोहनजीका जन्म सं० १५६० वि० माना जाता है, आप जातिसे ब्राह्मण और गौड़ीय सम्प्रदायके नैष्ठिक ब्राह्मण थे। हिन्दी साहित्येतिहासकी भक्ति काव्यधारामें वल्लभ-सम्प्रदायान्तर्गत जो स्थान श्रीसूरदासजीका है, वही स्थान चैतन्य-सम्प्रदायमें श्रीसूरदास मदनमोहनजीका है। आप श्रीसनातन गोस्वामीजीके शिष्य थे और श्रीमदनमोहनजी आपके आराध्य थे। आपका वास्तविक नाम सूरध्वज और गुरुप्रदत्त नाम 'सूरदास' था। आप प्रारम्भमें अपनी काव्य रचनाओंमें 'सूरदास' नामकी ही छाप लगाया करते थे, परंतु एक घटना ऐसी घटी कि उसके कारण आप अपनी रचनाओंमें अपने आराध्यका भी नाम देने लगे। हुआ यूँ कि एक बार आप भगवान्‌की रहस्य-लीलाओंका चिन्तन कर रहे थे तथा उसे गीतपदमें प्रस्तुत करनेका प्रयास भी करते जा रहे थे। संयोगकी बात, पद पूरा नहीं बन पाया था और आपको निद्राने आ घेरा। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें जब आप पुनः उठकर पद-रचनामें तत्पर हुए तो देखा कि पद पूरा हो गया है और अन्तमें 'सूरदास मदनमोहन' की छाप लगी है। आपने इसे भगवत्प्रसाद माना और तबसे अपनी रचनाओंमें आप 'सूरदास मदनमोहन' की छाप लगाने लगे और उसी नामसे विख्यात हो गये। आपके पद संगीतकी विविध राग-रागिनियों तथा ताल-लयमें निबद्ध हैं, जिनमें मधुर रसकी काव्यात्मक व्यंजना हुई है। सम्प्रति आपके २२५ पद प्राप्त होते हैं, इनका रचनाकाल सं० १५९० से सं० १६०० वि० के मध्यका है। आपके पद ब्रज-वृन्दावनमें बड़े ही लोकप्रिय हैं और वहाँके मन्दिरोंमें गाये जाते हैं। यद्यपि आप गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित थे, परंतु आपके पदोंमें किसी भी प्रकारका साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं अवलोकित होता, वस्तुतः आपके पद मानसी भावनामें लीन होकर गाये गये हैं, अतः उनमें दिव्य भावोल्लासकी अभिव्यंजना हुई है।

आपके जीवनका प्रारम्भिक समय हरदोई जिलेके संडीला नामक स्थानपर बीता, जहाँ आप तत्कालीन भारत-सम्राट् अकबर बादशाहद्वारा कर-वसूलीके लिये नियुक्त किये गये थे, परंतु गोलोकनाथके चाकरको भला किसी तुच्छ बादशाहकी गुलामी कितने दिन बर्दाश्त होती और आपने सब कुछ छोड़-छाड़कर ब्रज-वृन्दावनकी राह ली और शेष जीवन वृन्दावनमें ही बिताया। वृन्दावनमें पुराने मदनमोहनजीके मन्दिरके निकट श्रीसनातन गोस्वामीके समाधिस्थलके मार्गके एक कोनेमें आज भी आपकी समाधि विद्यमान है।

एक बार आपने संडीलेके बाजारमें बहुत अच्छा गुड़ देखकर दाम बढ़ाकर उसे खरीद लिया। आपने विचारा कि इस गुड़से बने मालपुवे श्रीमदनगोपाललालजी पावेंगे। इस प्रकार प्रेमके आवेशमें आकर आपने बैलगाड़ियों, छकड़ोंमें गुड़ भरवाकर श्रीवृन्दावनधामको भेज दिया। यहाँ आकर वह गुड़ बीस गुना अधिक दामोंका पड़ा। गुड़की गाड़ियाँ रात हो जानेपर पहुँचीं। श्रीठाकुरजी शयन कर रहे थे। गुड़ भण्डारमें रख दिया गया। श्रीमदनमोहनलालजीने पुजारी एवं भण्डारियोंको स्वप्न दिया कि 'इसी गुड़के मालपुवे बनाकर

अभी भोग लगाओ।' यह प्रेमोपहार भी इसी योग्य था। उसी समय मालपुवे बने। श्रीठाकुरजीने जागकर फिर मालपुवा भोग आरोगा।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

सूरदास नाम नैन कंज अभिराम फूले, झूले रंग पीके नीके जीके और ज्याये हैं।
भये सो अमीन यों सँडीलेके नवीन रीति प्रीति गुड़ देखि दाम बीस गुने लाये हैं॥
कही पूवा पावैं आप मदनगोपाल लाल परे प्रेम ख्याल लादि छकरा पठाये हैं।
आये निसि भये स्याम कियौ आज्ञा जोग लैके अबही लगावौ भोग जागे फिरि पाये हैं॥ ४९८॥

श्रीसूरदास मदनमोहनजीने एक पद बनाया, जिसमें अपनी भक्तिके गुह्यरूपको प्रकट करके दिखा दिया। उस पदका अन्तिम तुक है—*'सन्तन की पानही को रक्षक कहाऊँ मैं।'* आपको गाते सुनकर किसी सन्तने इनकी परीक्षा लेनी चाही। एक दिन श्रीमदनमोहनजीके द्वारपर उसे श्रीसूरदासजी मिल गये। उसने अपने जूते उतारकर इनसे कहा—'जरा, आप इन्हें देखना, मैं दर्शन करके अभी आ जाऊँगा।' यह कहकर वह मन्दिरमें जाकर संकीर्तनमें बैठ गया। इधर मन्दिरके भीतर विराजमान श्रीगोसाईंजी एवं पुजारीजीने सेवक भेजकर इन्हें कई बार बुलाया। तब आपने सूचना भेजी कि 'आज मेरे इष्टदेवने मुझे एक बहुत बड़ी प्यारी सेवा सौंपी है और मैं सन्त-चरण-कमलका ध्यान कर रहा हूँ।' यह सुनकर सभीने एवं परीक्षक सन्तने भी आकर देखा तो आपकी करनी कथनीके अनुसार थी, सभी इस निष्ठापर न्यौछावर हो गये।

श्रीप्रियादासजीने श्रीसूरदास मदनमोहनजीके इस सन्तप्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

पद लै बनायौ, भक्तिरूप दरसायौ, दूर सन्तनि की पानही को रक्षक कहाऊँ मैं।
काहू सीखि लियो साधु लियौ चाहै परचैकों आये द्वार मन्दिरकै खोलि कही आऊँ मैं॥
रह्यौ बैठि जाय जूती हाथ में उठाय लीनी, कीनी, पूरी आस मेरी निसि दिन गाऊँ मैं।
भीतर बुलाये श्रीगुसाईं बार दोय चार, सेवा सौंपी सार कह्यौं जनपग ध्याऊँ मैं॥ ४९९॥

श्रीसूरदासजीने तहसील वसूलसे प्राप्त बादशाह अकबरकी सारी सम्पत्ति साधु-सन्तोंको खिला-पिलाकर बराबर कर दी। बादशाहकी आज्ञासे वित्त विभागके अधिकारीगण दिल्लीसे खजाना लेनेके लिये संडीलेको आये और बोले कि 'आप राजाज्ञाको मानिये, खजाना भेजिये।' आपने स्वीकारकर सन्दूकोंमें कंकड़-पत्थर भर दिये। साथ ही सन्दूकोंमें एक-एक पत्र रख दिया, जिसमें लिख दिया कि 'संडीलेकी कुल आय तेरह लाख हुई। उसे सब साधुओंने मिल-जुलकर गटक लिया। इसीसे अब हम चुपचाप श्रीवृन्दावन जा रहे हैं।' सन्दूकें दिल्ली पहुँचीं और बादशाहके सामने खोली गयीं तो उनमें रुपयोंके स्थानपर कंकड़-पत्थर भरे मिले, एक पर्चा मिला। जिसे पढ़कर बादशाह श्रीसूरदासजीकी भक्तिपर रीझ गया तथा वह भी प्रेममें डूब गया, परंतु वित्तमन्त्री टोडरमलने पुनः सिपाहियोंको आज्ञा देते हुए कहा कि 'सूरदासने सरकारी धनको नष्ट कर दिया है, इसलिये उसे जाकर पकड़ लाओ।' अभक्त मन्त्रीने इन्हें पकड़ मँगवाया। लोगोंने इन्हें बादशाहके सामने हाजिर करना चाहा तो उसने कहा कि 'इन्हें मुझसे दूर ही रखो।' किंतु टोडरमलने इन्हें दुष्ट दस्तमखाँ नामक जेलरके हवाले कर दिया। उसने इन्हें कारागारमें बन्दकर असह्य कष्ट देना शुरू कर दिया। कुछ दिन बाद आपने यह दोहा लिखकर अकबरके पास भेजा—

एक तम तो अँधियारो करै ये तो दसतम आह।
दस्तम से रक्षा करो दिनमणि अकबर शाह॥

इसे पढ़ते ही बादशाह प्रसन्न हो गया और कारागारसे उन्हें मुक्त कराकर कहा—आप जाकर

श्रीवृन्दावनवास करो। मैंने आपके ऊपर तेरह लाख रुपये न्यौछावर कर दिये। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि 'अकबर' शब्दका अर्थ है—'मायाके आवरणसे मुक्त—परमात्मा।'

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

पृथवीपति संपति लै साधुनि खवाइ दई, भई नहीं संक यों निसंक रंग पागे हैं।
आये सो खजानौ लैन मानौ यह बात अहो पाथर लै भरे आप आधी निसि भागे हैं॥
रुक्का लिखि डारे, दाम 'गटके ये संतनि नै, याते हम सटके हैं' चले जब जागे हैं।
पहुँचे हुजूर, भूप खोलिकै सन्दूक देखैं, पेखैं आंक कागद में रीझि अनुरागे हैं॥ ५००॥
लैनकों पठाये, कही निपट रिझायें हमें, मन में न ल्याये, लिखी 'वन तन डार्‌यौ है'।
'टोंडर' दिवान कह्यौ 'धनकों विरान कियौ ल्यावौ रे पकरि' मूढ़ फेरिकै संभार्‌यौ है॥
लै गये हुजूर, नृप बोल्यौ 'होंसों दूर राखौ,' ऐसो महाक्रूर सौंपि दुष्ट कष्ट धार्‌यौ है।
दोहा लिखि दीनौ 'अकबर' देखि रीझि लीनौ जावौ वाही ठौर तौपै दर्व सब वार्‌यौ है॥ ५०१॥

श्रीसूरदासजी मदनमोहन दिल्लीसे श्रीवृन्दावनको आ गये। उनका मन निकुंज-लीला-माधुरीमें मग्न हो गया। ऐसी प्रेमावस्थामें आपने जो भी पद बनाये, वे भगवत्स्वरूपके रसकी राशि हुए। आपके हृदयमें युगलकिशोर प्रिया-प्रियतमके नित्य-विहारका दिव्य-प्रकाश छाया रहता था। इस विषयमें श्रीप्रियादासजी कहते हैं—

आये वृन्दावन, मन माधुरी में भीजि रह्यौ कह्यौ जोई पद, सुन्यौ रूप रस रास है।
जा दिन प्रगट भयौ, गयौ शत जोजन पै, जन पै सुनत भेद बाढ़ी जग प्यास है॥
'सूरध्वज' द्विज निज महल टहल पाय चहल पहल हिये जुगल प्रकास है।
मदनमोहन जू हैं इष्ट इष्ट महाप्रभु अचरज कहा कृपा दृष्टि अनायास है॥ ५०२॥

श्रीकात्यायनीजी

मारग जात अकेल गान रसना जु उचारै।
ताल मृदंगी बृच्छ रीझि अंबर तहँ गारै॥
गोप नारि अनुसारि गिरा गदगद आबेसी।
जग प्रपंच ते दूरि अजा परसैं नहिं लेसी॥
भगवान रीति अनुराग की संत साखि मेली सही।
कात्यायनि के प्रेम की बात जात कापै कही॥ १२७॥

गौड़देशके राजाकी कन्या तथा व्रजगोपीकी अवताररूपा भक्तिमती श्रीकात्यायनीजीके श्रीकृष्णप्रेमका वर्णन यथार्थ रूपसे कोई कवि कैसे कर सकता है! प्रेमानन्दमें मग्न रहनेके कारण आपकी ऐसी विचित्र दशा हो गयी थी कि मार्गमें अकेले चलती हुई भी श्रीकृष्णके लीलापदोंका गान करती थीं। उस समय आप वृक्षोंको देखकर (पत्तोंकी खड़खड़ाहट सुनकर) अनुभव करतीं कि ये ताल-मृदंग आदि वाद्योंके बजानेवाले प्रेमी लोग हैं। उनके ऊपर रीझकर पुरस्काररूपमें उन्हें न्यौछावर देने लगतीं और अपने वस्त्राभूषण अपने शरीरसे उतारकर वृक्षोंको पहना देतीं। व्रजगोपियोंकी पद्धतिसे भगवान्‌का स्मरण-भजन करतीं। प्रेमावेशमें आपकी वाणी गद्‌गद रहती। जगत्‌के प्रपंचोंसे आप सर्वदा दूर ही रहतीं। माया आपको थोड़ा भी स्पर्श

नहीं कर पाती थी। आपकी श्रीकृष्णप्रेमकी रीतिको संतोंने सही माना, वे उसके साक्षी रहे और उसकी बारम्बार सराहना करते थे। भगवान् श्यामसुन्दर इनके प्रेमवश दर्शन देकर इन्हें कृतार्थ करते थे तथा इनके साथ विविध विनोद करते थे॥ १२७॥

श्रीकात्यायनीजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकात्यायनीजी गौड़देशके राजाकी कन्या और ब्रजगोपीका अवतार थीं। इनमें विलक्षण प्रेम था। प्रेमावेशमें आकर ये महलोंसे बाहर भाग जातीं और एकान्त वन, उपवनमें जाकर श्रीकृष्णके विरहमें लीलापदोंका गान करने लगतीं। उस समय वृक्षोंकी हलचलको, पत्तोंकी खड़खड़ाहटको देखकर अनुभव करतीं कि ये भक्तजन मेरे गायनके साथ ताल-मृदंग बजा रहे हैं। वस्तुतः ताल-मृदंग बजानेवाले आकाशचारी थे। उनकी ध्वनिसे आपको आनन्द विशेष आता, तब आपको वे-लता वृक्ष गोपीरूप दीखते और आप कहतीं कि वाह! आपने बहुत अच्छा मदृंग-ताल बजाया। कृपया यह पुरस्कार स्वीकार कीजिये। ऐसा कहकर शरीरके वस्त्र-आभूषणोंको उन्हें पहना देतीं थी। इन्हें यह सुधि नहीं रहती कि मैं वस्त्रहीन हो जाऊँगी। इनके ऐसा करते ही दिव्य सहचरियाँ इन्हें वस्त्रादि पहना देती थीं। राजाकी कन्या थीं, अतः इनके प्रेमको देखकर सज्जनोंकी सम्मतिसे राजा इन्हें रोकते नहीं थे। जब जहाँ भी भागकर जातीं, इन्हें जाने दिया जाता। साथमें सामग्री और शिविरोंके साथ दास-दासी इनके पीछे लगे रहते, इनकी सार-सँभाल करते। जंगलमें कई-कई दिनोंतक मूर्च्छित रहतीं। इस प्रकार ये अपनेको श्रीवृन्दावनमें ही मानकर यमुनाजी एवं गिरिराजजीकी वन्दनाके एवं विरहके तथा मिलनके पदोंको गाया करतीं। भगवान् श्यामसुन्दर इनके प्रेमवश इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करते तथा विविध विनोद करते।

श्रीकृष्णप्रेमदीवानी कात्यायनीको परिवारवालोंने पहले पागल जाना या भूत-प्रेतका आवेश समझा, अतः घरके भीतर बन्द करके सांकल लगा दी। तो भी आपको जब प्रेमावेश आया तो बाहर निकल गयीं। उन्हें बन्द नहीं रखा जा सका। इसे भी लोगोंने भूत-प्रेतोंका प्रभाव समझा। कभी-कभी अपने-आप इनकी इच्छासे साँकल खुल जाती और कभी-कभी साँकल बन्द रहते हुए भी ये बाहर विचरती-रोती-गाती अपने प्यारेको ढूँढ़ती दिखायी पड़तीं। लोग इनके इस दिव्य प्रभावको समझनेमें असमर्थ रहे। एक बार एक तान्त्रिकने भूत भगानेके विचारसे लौहशलाकाको अग्निमें तपाकर लाल करके इन्हें दागनेका प्रयत्न किया। परंतु वह अत्यन्त गर्म लौहशलाका इनके शरीरका स्पर्श होते ही एकदम शीतल हो गयी। तान्त्रिकके शरीरमें दाह उत्पन्न हो गया। इन प्रत्यक्ष चमत्कारोंको देखकर भावुक सज्जनोंने सबको समझाया कि यह न तो पागलपन है और न भूत-प्रेतावेश है। ये सब प्रेमाभक्तिके अष्ट सात्त्विक भाव हैं। हमारे-तुम्हारे परम सौभाग्य हैं, जो इनका दर्शन एवं सम्पर्क हमें प्राप्त है। इनकी सेवा करो। तभीसे माता-पिता आदि सभीका इनमें सद्भाव हो गया। इस अलौकिक बालिकाके ऊपर श्रीकृष्णकी पूर्ण कृपा है—ऐसा जानकर बहुतसे लोग दर्शन करके कृतार्थ होते थे। पिता-माता इनकी किसी भी क्रियामें हस्तक्षेप नहीं करते। कभी-कभी ये भोजनादि विपुल सामग्रीको लुटा देतीं, गौओं, मोर-बन्दरोंको खिला देतीं, तो भी वे लोग सन्तुष्ट ही रहते। एक बार ये अकेले ही कृष्ण-कीर्तन करती वनमें विचर रही थीं। इनके प्रभावको न जाननेवालोंने इनके सौन्दर्यको देखकर इन्हें कुदृष्टिसे देखा तो तत्क्षण अन्धे हो गये। कुछ लोग स्पर्श करनेकी इच्छासे इनकी ओर बढ़े, तबतक कात्यायनीजीका शरीर अग्निकी प्रचण्ड ज्वाला-सा लगा, तब वे अपनी गलतीपर पश्चात्ताप करते हुए इनके चरणोंकी शरणमें आये। क्षमा-प्रार्थनाकर सदाके लिये साधुवृत्ति अपनायी। इस प्रकार अनेक विमुख जन हरि-सम्मुख हुए। भक्तोंके हृदयमें आपके प्रभावने भक्तिको अत्यन्त सुदृढ़ कर दिया। प्रेममग्न होकर आपको नृत्य-गानमें कभी थकावट

नहीं आती थी। अत: श्रीनाभाजीने लिखा कि इनके प्रेमका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता है।

श्रीमुरारिदासजी

बिदित बिलौंदा गाँव देस मुरधर सब जानै।
महा महौछे मध्य संत परिषद परवानै॥
पगनि घूँघुरु बाँधि राम को चरित दिखायो।
देसी सारँगपानि हंस ता संग पठायो॥
उपमा और न जगत में पृथा बिना नाहिन बियो।
कृष्न बिरह कुंती सरीर त्यों मुरारि तन त्यागियो॥ १२८॥

श्रीमुरारिदासजी मारवाड़ प्रान्तके प्रसिद्ध ग्राम 'बिलौंदा' में विराजते थे। प्रतिवर्ष आप एक सुन्दर महोत्सव किया करते थे। एक बार महा-महोत्सवमें सन्तसभाके बीच आपको भक्त-भगवत्‌का पार्षद प्रमाणित किया गया। हरिनाम-लीला-संकीर्तनके प्रसंगमें आपने पैरोंमें घुँघरू बाँधकर भगवान् श्रीरामके चरित्रको दिखाया। गान और भाव-प्रदर्शनकी विलक्षणतासे दर्शकोंको प्रत्यक्ष लीलाका-सा अनुभव हुआ। फिर आपने शास्त्रीय संगीत-पद्धतिसे 'देसी सारंग' रागको गाते हुए सारंगधनुर्धर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनगमनका दृश्य प्रस्तुत किया और विरह-व्यथासे व्याकुल होकर अपने प्राण-पखेरूको भगवान्‌के साथ भेज दिया। श्रीकृष्णके वियोगमें जैसे श्रीकुन्तीजीने अपने शरीरको त्यागा था, उसी प्रकार श्रीमुरारिदासजीने श्रीरामके विरहमें शरीरका परित्याग किया। श्रीकुन्तीजीके अतिरिक्त इनके शरीर-त्यागमें दूसरे किसीकी उपमा नहीं दी जा सकती है॥ १२८॥

श्रीमुरारिदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीमुरारीदासजीका जन्म छत्तीसगढ़के विलौदाँ नामक ग्रामके एक अकिंचन ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। बाल्यावस्थामें ही माताने इनके हृदयमें गीतोंके माध्यमसे कृष्ण-भक्तिका बीज-वपन किया था। मुरारीदासने माँके कण्ठसे निकले गीत सुनकर कण्ठस्थ कर लिये और वे उन्हें गाया करते थे। गाँवके लोग मुरारीसे गीत सुनकर प्रसन्न होते, आग्रह करके उनसे गीत सुनते। गाँवकी स्त्रियाँ भी इनसे प्रसन्न रहतीं। इन्होंने सुन्दर रूप एवं मधुर स्वर पाया था।

अकस्मात् मुरारीके माता-पिता दोनोंका निधन हो गया। अनाथ मुरारीके मनमें गाँव छोड़ देनेकी बात आती। ये प्राय: गाँवके मन्दिरमें जाकर वहाँ घण्टों बैठे रहते थे, कारण कि वहीं इन्हें शान्ति मिलती थी। परंतु स्वयं मुरारीका चित्त उचट गया था। गाँवकी उदार स्त्रियाँ कभी-कभी अपने घरसे कुछ भोजन लाकर इनको खिला जाती थीं।

एक बार लगातार तीन दिनतक इनको कुछ भी खानेको न मिला। न किसीने इनसे पूछा, न ये स्वयं किसीके यहाँ गये। भूख-प्याससे प्राण व्याकुल थे, फिर भी इनके मनमें यह बात नहीं आयी कि किसीके यहाँसे कुछ माँगकर खा लें। आधी रात बीत चुकी थी। चारों ओर सन्नाटा था, परंतु मुरारीके हृदयकी वही दशा थी, जो पानी सूखनेपर मछलियोंकी होती है। इनको विश्वास हो गया कि मेरी यह आखिरी रात है। मन बहलानेके लिये गीत गुनगुनाने लगे, किंतु बीचमें ही बेहोश होकर गिर पड़े। कुछ देर बाद इन्हें अनुभव हुआ कि उस जीर्ण-शीर्ण मन्दिरसे सुन्दर वस्त्राभरणोंसे सुसज्जित कोई देवी निकली। उसके एक हाथमें

नाना व्यंजनोंसे भरा थाल और दूसरे हाथमें शीतल जलसे भरी झारी थी। उसने मुरारिके सिरको गोदमें रखकर कहा, 'बेटा! जिसकी कोई भी सुध लेनेवाला नहीं होता, उसकी सुध मैं लेती हूँ। उठो, भोजन करो।' मुरारि समझ नहीं पा रहा था कि यह सब क्या हो रहा है? देवीने अपने हाथोंसे इन्हें भोजन कराया। खिला-पिलाकर प्यारसे इनके सिरको सहलाया। मुरारि देवीमाताकी गोदमें सिर रखकर बेखबर सो गया।

दूसरे दिन जब उसकी नींद खुली तो रातकी घटनाका स्मरणकर विक्षिप्त-सा हो गया। जब कुछ होश हुआ तो उसे एक सनक सूझी। जो भी मिल जाता, उसीके चरणोंमें गिरता और 'माँ-माँ' पुकारता। धीरे-धीरे यह बात वहाँके राजाके कानोंतक पहुँची। उसने इन्हें पकड़ मँगाया और इनके इस आचरणपर इन्हें राज्य-निर्वासनका दण्ड दिया। छत्तीसगढ़को अन्तिम नमस्कारकर ये चल पड़े। रमते हुए वृन्दावन पहुँचे। इष्टदेवके धाममें पहुँचकर इन्हें अपार आनन्द हुआ। इधर अपने कृत्यपर छत्तीसगढ़-नरेशको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे मुरारिको छत्तीसगढ़ वापस लाने वृन्दावन गये। वृन्दावनमें इनका पता नहीं चल सका। वहाँके निवासियोंको मुरारि नामके इस नवागतका पता नहीं था। एक दिन किसीने बताया कि एक पागल अलमस्त होकर यमुनाके किनारे घूमा करता है। नरेशने समझा यही मुरारिदास होंगे। राजाने जाकर दण्डवत् प्रणाम किया और अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगते हुए इनसे छत्तीसगढ़ चलनेकी प्रार्थना की। मुरारिदास अपने प्रियतमके धाममें अनुरक्त हो गये थे, भला क्यों वापस जाते? राजाने पालकी मँगायी और बलात् मुरारिदासको उसपर बैठाया। मुरारिदास जा रहे थे, किंतु उनके मनमें वृन्दावन छूटनेकी असह्य पीड़ा थी।

छत्तीसगढ़ पहुँचकर राजाने बहुत बड़ा उत्सव-समारोह किया। मुरारिदासके लौटनेपर मानो छत्तीसगढ़में नवीन प्राण, नई चेतना आ गयी थी। इसके बाद राजाकी सारी दिनचर्या साधु-महात्माओंकी सेवामें ही व्यतीत होने लगी।

श्रीमुरारिदासजी राजाके गुरु थे और भगवद्भक्तोंके दासानुदास थे। एक बार आप स्नान करके वापस आ रहे थे, उसी समय एक निम्न जातिके भक्तकी आवाज आपके कानमें पड़ी। वे भगवत्सेवा करके पुकार रहे थे—'जो भगवान्के चरणामृतको लेनेका पात्र हो, वह आकर ले ले।' इस शब्दको सुनते ही आप उसके घरमें पहुँच गये। इन्हें देखकर वह डर गया और थर-थर काँपने लगा। आपने कहा—'लाइये, हमें चरणामृत दीजिये, मैं इसे पानकर अपने जीवनको धारण करूँ।' उन्होंने कहा—'हम तो नीच हैं, अति ही तुच्छ हैं, 'चरणामृत लो' ऐसा जो मैंने पुकारकर कहा, यह भूल की। ऐसी मेरी योग्यता नहीं है, जो मैं आपको चरणामृत दूँ।' परंतु श्रीमुरारिदासजी साधुतामें बड़े भारी प्रवीण थे। अतः इन्होंने अत्यन्त हठ करके चरणामृत ले ही लिया। आपने अपने मनमें विचारा कि 'श्यामसुन्दरको तो भक्ति ही प्रिय है, प्रेमाभक्तिके प्रवाहमें जाति-पाँतिके अहंकार-दोष बह जाते हैं।' उसके यहाँ चरणामृत लेनेकी इनकी बात गाँवभरमें फैल गयी। भक्तद्वेषी-विमुख लोग इनकी निन्दा करने लगे और राजाके पास जाकर उनके भी कान भर दिये। यह बात उन्हें भी अच्छी नहीं लगी। एक दिन श्रीमुरारिदासजी राजाके प्रेम-भावको देखनेके लिये उनके पास आये तो उनके व्यवहार एवं उनकी चेष्टासे आपने यह अनुमान कर लिया कि राजामें मेरे प्रति जो प्रेमभाव पहले था, वह जाता रहा।

लोगोंका असद्भाव देखकर श्रीमुरारिदासजी अपना सब सामान वहीं छोड़कर अन्यत्र चले गये। जब राजाने यह बात सुनी तो वह दुःखमें डूब गया। राजाके नगरमें प्रति वर्ष एक सन्तोंका सम्मेलन होता था। उसमें बड़े-बड़े अच्छे सन्त-महात्मा पधारते थे। कथा-कीर्तनकी धूम मचती थी। परंतु अब श्रीमुरारिदासजीके चले जानेके बाद किसी साधु-महात्माकी छाया भी वहाँ नहीं दिखलायी पड़ती थी। राजाने इसे भारी उत्पात

माना और जहाँ श्रीमुरारिदासजी विराजते थे, वहाँ उन्हें लिवानेके लिये पहुँचा। राजाने पृथ्वीपर पड़कर कई बार साष्टांग दण्डवत् की। उसके नेत्रोंसे अश्रुपात हो रहा था। श्रीमुरारिदासजी राजाको सन्त-भगवन्तसे विमुख मानकर उसका मुख भी नहीं देख रहे थे।

राजा हाथ जोड़े खड़ा था। उसकी बुद्धि दीनतामें डूबी हुई थी। उसने कहा—'आप मुझे मेरे अपराधके अनुरूप करोड़ों दण्ड दीजिये। वे मुझे स्वीकार हैं, परंतु मेरी ओर देखिये, मुझे दर्शन दीजिये और आशीर्वाद दीजिये। मुझ दीन-हीनको शरणमें रखिये।' ऐसी दीनवाणीको सुनकर श्रीमुरारिदासजी प्रसन्न हो गये और राजाके साथ आप पुनः उसी गाँवको लौट आये। आपका नाम सुनते ही अनेक सन्तजन आपसे मिलनेके लिये दौड़कर आये। विशाल सन्त-समाज एकत्र हुआ और बड़ा भारी उत्सव हुआ।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रीमुरारिदास रहे राजगुरु, भक्त-दास, आवत स्नान किये कान धुनि कीजियै।
जाति कौ चमार करै सेवा सो उचारि कहै 'प्रभु चरणामृत कौ पात्र जोई लीजियै'॥
गये घरमाँझ वाके, देखि डर काँपि उठ्यौ, 'ल्यावौ देवौ हमैं, अहो पान करि जीजियै'।
कही 'मैं तो न्यूनतुच्छ, बोले हमहूँतें स्वच्छ जानै कोऊ नाहिं तुम्हैं मेरी मति भीजियै'॥ ५०३॥
बहै दृग नीर, कहै मेरे बड़ी पीर भई, तुम मति धीर, नहीं मेरी जोग्यताई है।
लियौ ई निपट हठ, बड़े पटु साधुता में, स्यामै प्यारी भक्ति, जाति पाँति लै बहाई है॥
फैलि गई गाँव, वाकौ नाँव लै चबाव करैं भरैं नृप कान सुनि वाहू न सुहाई है।
आयौ प्रभु देखिबेकों, गयौ वह रंग उड़ि, जान्यौ सो प्रसंग सुन्यौ वहै बात छाई है॥ ५०४॥
गये सब त्यागि, प्रभु सेवा ही सों राग जिन्हैं नृप दुख पागि, गयौ, सुनी यह बात है।
होत हो समाज, सदा भूपके बरस माँझ, दरस न काहू होत, मान्यौ उतपात है॥
चलेई लिवायबे कौं जहाँ श्रीमुरारिदास, करी साष्टांग रास नैन अश्रुपात है।
मुखहूँ न देखे वाको बिमुख कै लेखे, अहो पेखे लोग कहैं यह गुरु शिष्य ख्यात है॥ ५०५॥
ठाढ़ौ हाथ जोरि, मति दीनता मैं बोरि, 'कीजै दण्ड मौपै कोरि यों निहारि मुख भाखियै'।
घटती न मेरी, आप कृपा ही की घटती है, बढ़ती सी करी तातें न्यूनताई राखियै॥
सुनिकै प्रसन्न भये कहे लै प्रसंग नये, बालमीक आदि दै दै नाना बिधि साखियै।
आये निज गाम, नाम सुनि सब साधु धाये भयौई समाज वैसो देखि अभिलाखियै॥ ५०६॥

उस महोत्सवमें बहुतसे नृत्य-कीर्तन-कला-प्रवीण लोग आये। नृत्य-गान एवं नाम-संकीर्तनकी मंगलमयी मधुर ध्वनि चारों ओर छा गयी। परंतु सन्त-समाजके मनमें श्रीमुरारिदासजी महाराजकी नृत्य-संकीर्तन-कलाको देखनेकी विशेष उत्कण्ठा हुई। सन्तोंकी हार्दिक अभिलाषाको आप समझ गये, क्योंकि भावके प्रवीण-पारखी थे। सुन्दर नूपुरोंको अपने पैरोंमें बाँधा और सात-स्वर, तीन ग्रामों (सप्तक-मन्द, मध्य, तीव्र)-में तन्मय होकर नृत्य-कीर्तन करने लगे। आपने प्रेमके भावावेशमें आकर श्रीरामजीके वनगमनका चरित्र गाया। उस समय विरह सहन न होनेके कारण आपके प्राण भी प्रभुके साथ ही चले गये। आपका शरीर चित्रके समान स्तब्ध रह गया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीमुरारिजीके इस सच्चे प्रेमका वर्णन इस प्रकार किया है—

आये बहु गुनी जन नृत्य गान छाई धुनि ऐपै संत सभा मन स्वामी गुण देखिये।
जानिकै प्रबीन उठे, नूपुर नवीन बाँधि सप्तस्वर, तीन ग्राम, लीन भये पेखिये॥

गायौ रघुनाथजू कौ बनकौ गमन समै ता सँग गमन प्रान चित्र सम लेखिये।
भयौ दुख रासि 'कहाँ पैये श्रीमुरारिदास', गए रामपास, ऐसौ हिये अवरेखिये॥ ५०७॥

ऐसा भी कहा जाता है कि मुरारिदास जब अपने गाँववाले टूटे मन्दिरकी सीढ़ियोंपर ही दिन-रात व्यतीत करते थे। वहाँ दर्शनार्थियोंकी भीड़ लगी रहती थी।

एक दिन प्रात:काल लोगोंने देखा कि मुरारिदासका कन्था और करवा मन्दिरकी सीढ़ियोंपर पड़े हुए हैं, परंतु वे स्वयं वहाँ नहीं हैं। लोगोंने बहुत ढूँढ़ा, परंतु कहीं पता नहीं चला। उन्होंने सोचा, ये अपने प्यारेके धाम चले गये। इसके बाद इनका कहीं सन्धान नहीं मिला, न छत्तीसगढ़में, न वृन्दावनमें।

भक्तमालसुमेरु गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

त्रेता काव्य निबंध करी सतकोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरैं ब्रह्महत्यादि पलायन॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रटत अह निसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥ १२९॥

कराल कलिकालके कपटी प्राणियोंका उद्धार करनेके लिये आदिकवि महर्षि वाल्मीकिने गोस्वामी श्रीतुलसीदासके रूपमें अवतार लिया। आदिकविने त्रेतायुगमें श्रीरामायण नामक प्रबन्ध महाकाव्य लिखा। जिसकी (श्लोक अथवा रामायण) संख्या सौ करोड़ है। इसके एक-एक अक्षरके उच्चारणमात्रसे ब्रह्महत्या आदि महापापपरायण प्राणी भी मुक्त हो जाते हैं। अब इस कलियुगमें भी उन्हीं श्रीवाल्मीकिजीने भगवद्भक्तोंको सुख प्रदान करनेके लिये पुन: शरीर धारणकर भगवान् श्रीरामजीकी लीलाओंका विशेष विस्तार किया, श्रीरामचरितमानस आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। ये गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीसीतारामके पदपद्मके प्रेमपरागका पानकर सर्वदा उन्मत्त रहते थे और नियम-निष्ठाओंका पालन दृढ़तासे करते थे। दिन-रात श्रीरामनामको रटते थे। इस अपार संसार-सागरको पार करनेके लिये आपने श्रीरामचरितमानसरूप सुन्दर-सुगम नौकाका निर्माण किया॥ १२९॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

(क) श्रीतुलसीदासजीका बाल्यकाल और उनके द्वारा गृहस्थका परित्याग

प्रयागके पास चित्रकूट जिलेमें राजापुर नामक एक ग्राम है, वहाँ आत्माराम दूबे नामके एक प्रतिष्ठित सरयूपारीण ब्राह्मण रहते थे। उनकी धर्मपत्नीका नाम हुलसी था। संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमीके दिन अभुक्त मूल नक्षत्रमें इन्हीं भाग्यवान् दम्पतीके यहाँ बारह महीनेतक गर्भमें रहनेके पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजीका जन्म हुआ। जन्मके दूसरे दिन इनकी माता असार-संसारसे चल बसीं। दासी चुनियाँने बड़े प्रेमसे बालकका पालन-पोषण किया। जब तुलसीदास लगभग साढ़े पाँच वर्षके हुए, चुनियाँका भी देहान्त हो गया, अब तो बालक अनाथ हो गया। वह द्वार-द्वार भटकने लगा। इसपर जगज्जननी पार्वतीजीको उस होनहार बालकपर दया आयी। वे ब्राह्मणीका वेष धारणकर प्रतिदिन उसके पास जातीं और उसे अपने हाथों भोजन करा आतीं।

इधर भगवान् शंकरजीकी प्रेरणासे रामशैलपर रहनेवाले श्रीअनन्तानन्दजीके प्रिय शिष्य श्रीनरहर्यानन्दजीने इस बालकको ढूँढ़ निकाला और उसका नाम 'रामबोला' रखा। उसे वे अयोध्या ले गये और वहाँ संवत् १५६१ माघ शुक्ला पंचमी शुक्रवारको उसका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। बिना सिखाये ही बालक रामबोलाने गायत्री-मन्त्रका उच्चारण किया। इसके बाद नरहरि स्वामीने वैष्णवोंके पाँच संस्कार करके रामबोलाको राममन्त्रकी दीक्षा दी और अयोध्यामें ही रहकर उन्हें विद्याध्ययन कराने लगे। वहाँसे कुछ दिन बाद गुरु-शिष्य दोनों शूकरक्षेत्र (सोरों) पहुँचे। वहाँ श्रीनरहरिजीने तुलसीदासको श्रीरामचरित सुनाया। कुछ दिन बाद वे काशी चले आये। काशीमें शेषसनातनजीके पास रहकर तुलसीदासजीने पन्द्रह वर्षतक वेद-वेदांगका अध्ययन किया। तत्पश्चात् अपने विद्यागुरुसे आज्ञा लेकर वे अपनी जन्मभूमिको लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने विधिपूर्वक अपने पिता आदिका श्राद्ध किया और वहीं रहकर लोगोंको भगवान् रामकी कथा सुनाने लगे।

संवत् १५८३ ज्येष्ठ शुक्ला १३ गुरुवारको भारद्वाजगोत्रकी एक सुन्दरी कन्याके साथ उनका विवाह हुआ और वे सुखपूर्वक अपनी नवविवाहिता वधूके साथ रहने लगे। एक बार उनकी स्त्री अपने भाईके साथ मायके चली गयी। पीछे-पीछे तुलसीदासजी भी वहाँ जा पहुँचे। उनकी पत्नीने इसपर उन्हें बहुत धिक्कारा और कहा कि 'मेरे इस हाड़-मांसके शरीरमें जितनी तुम्हारी आसक्ति है, उससे आधी भी यदि भगवान्‌में होती तो तुम्हारा बेड़ा पार हो गया होता।'

तुलसीदासजीको ये शब्द लग गये। वे एक क्षण भी नहीं रुके, तुरंत वहाँसे चल दिये।

वहाँसे चलकर तुलसीदासजी प्रयाग आये। वहाँ उन्होंने गृहस्थवेशका परित्यागकर साधुवेश ग्रहण किया। फिर तीर्थाटन करते हुए काशी पहुँचे।

श्रीप्रियादासजीने गोस्वामीजीके गृहत्यागका इस प्रकार वर्णन किया है—

तियो सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई, भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।
बधू अति लाज भई रिस सों निकसि गई, प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं॥
सुनी जब बात मानो ह्वै गयौ प्रभात, वह पाछे पछितात तजि काशीपुरी धाए हैं।
कियौ तहाँ वास प्रभु सेवा लैं प्रकास कींनौं, लीनौं दृढ़ भाव नैन रूपके तिसाए हैं॥ ५०८॥

(ख) काशीमें श्रीहनुमान्‌जीसे भेंट

काशीमें तुलसीदासजी रामकथा कहने लगे। वहाँ उन्हें एक दिन एक प्रेत मिला, जिसने उन्हें हनुमान्‌जीका पता बतलाया। हनुमान्‌जीसे मिलकर तुलसीदासजीने उनसे श्रीरघुनाथजीका दर्शन करानेकी प्रार्थना की। हनुमान्‌जीने कहा, 'तुम्हें चित्रकूटमें रघुनाथजीके दर्शन होंगे।' इसपर तुलसीदासजी चित्रकूटकी ओर चल पड़े। चित्रकूट पहुँचकर रामघाटपर उन्होंने अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले थे। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ोंपर सवार होकर धनुष-बाण लिये जा रहे हैं। तुलसीदासजी उन्हें देखकर मुग्ध हो गये, परंतु उन्हें पहचान न सके। पीछेसे हनुमान्‌जीने आकर उन्हें सारा भेद बताया तो वे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। हनुमान्‌जीने उन्हें सान्त्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

श्रीप्रियादासजीने इन घटनाओंका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

सौच चल शेष पाय, भूत हू विशेष कोऊ, बोल्यौ सुख मानि हनुमान् जू बताए हैं।
रामायन कथा सो रसायन है काननि को, आवत प्रथम पाछे जात घृना छाए हैं॥

जाय पहिचानि संग चले उर आनि आए वन मधि जानि धाय पाँय लपटाए हैं।
करैं तिरस्कार कही सकौगे न टारि, मैं तो जाने रससार रूप धर्‌यौ जैसे गाए हैं॥ ५०९॥
'माँगि लीजै वर' कही 'दीजै राम भूप रूप, अति ही अनूप, नित नैन अभिलाखियै'।
कियौ लै संकेत, वाही दिन ही सौं लाग्यौ हेत, आई सोई समैं चेत कब छबि चाखियै॥
आए रघुनाथ, साथ लछिमन, चढ़े घोरे, पट रङ्ग बोरे हरे कैसे मन राखियै।
पाछे हनुमान आये बोले 'देखे प्रान प्यारे, नेकु न निहारे मैं तो भले फेरि भाखियै'॥ ५१०॥

(ग) चित्रकूटमें भगवान् श्रीरामके दर्शन और काशीमें श्रीशंकरजीसे वरप्राप्ति

संवत् १६०७ की मौनी अमावस्या बुधवारको उनके सामने भगवान् श्रीराम पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालकरूपमें तुलसीदासजीसे कहा—बाबा! हमें चन्दन दो। हनुमान्‌जीने सोचा, वे इस बार भी धोखा न खा जायँ, इसलिये उन्होंने तोतेका रूप धारण करके यह दोहा कहा—

चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसें तिलक देत रघुबीर॥

तुलसीदासजी उस अद्भुत छबिको निहारकर शरीरकी सुधि भूल गये। भगवान्‌ने अपने हाथसे चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदासजीके मस्तकपर लगाया और अन्तर्धान हो गये।

संवत् १६२८ में ये हनुमान्‌जीकी आज्ञासे अयोध्याकी ओर चल पड़े। उन दिनों प्रयागमें माघमेला था। वहाँ कुछ दिन वे ठहर गये। पर्वके छः दिन बाद एक वटवृक्षके नीचे उन्हें भरद्वाज और याज्ञवल्क्यमुनिके दर्शन हुए। वहाँ उस समय वही कथा हो रही थी, जो उन्होंने सूकरक्षेत्रमें अपने गुरुसे सुनी थी। वहाँसे ये काशी चले आये और वहाँ प्रह्लादघाटपर एक ब्राह्मणके घर निवास किया। वहाँ उनके अन्दर कवित्वशक्तिका स्फुरण हुआ और वे संस्कृतमें पद्य-रचना करने लगे, परंतु दिनमें वे जितने पद्य रचते, रात्रिमें वे सब लुप्त हो जाते। यह घटना रोज घटती। आठवें दिन तुलसीदासजीको स्वप्न हुआ। भगवान् शंकरने उन्हें आदेश दिया कि 'तुम अयोध्यामें जाकर रहो और हिन्दीमें काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वादसे तुम्हारी कविता सामवेदके समान फलवती होगी।' तुलसीदासजी उनकी आज्ञा शिरोधार्यकर काशीसे अयोध्या चले आये।

संवत् १६३१ का प्रारम्भ हुआ। उस साल रामनवमीके दिन प्रायः वैसा ही योग था, जैसा त्रेतायुगमें रामजन्मके दिन था। उस दिन प्रातःकाल श्रीतुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसकी रचना प्रारम्भ की। दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिनमें ग्रन्थकी समाप्ति हुई। संवत् १६३३ के मार्गशीर्ष शुक्लपक्षमें रामविवाहके दिन सातों काण्ड पूर्ण हो गये। इसके बाद भगवान्‌की आज्ञासे तुलसीदासजी काशी चले आये। वहाँ उन्होंने भगवान् विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णाको श्रीरामचरितमानस सुनाया। रातको पुस्तक श्रीविश्वनाथजीके मन्दिरमें रख दी गयी। सबेरे जब पट खोला गया तो उसपर लिखा हुआ पाया गया—**'सत्यं शिवं सुन्दरम्।'** और नीचे भगवान् शंकरकी सही थी। उस समय उपस्थित लोगोंने **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** की आवाज भी कानोंसे सुनी।

(घ) भगवन्नामनिष्ठाकी एक घटना

एक बार एक ब्राह्मण (विप्रचन्द) हत्या करके फिर उसके प्रायश्चित्तस्वरूप बहुतसे तीर्थोंमें घूमता-फिरता काशी आया। वह मुखसे पुकारकर कहता था—'राम-राम! मैं हत्यारा हूँ, मुझे भिक्षा दीजिये।' गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने उसके मुखसे अति सुन्दर भगवन्नाम सुनकर उसे अपने निवास-स्थानमें बुला लिया और उसे अपनी पंक्तिमें बैठाकर भगवत्प्रसाद पवाया, उसे शुद्ध कर लिया। काशीके ब्राह्मणोंने जब यह बात सुनी

तो उन्होंने एक सभा की और उसमें श्रीतुलसीदासजीको बुलवाया। सभी पण्डितोंने आपसे पूछा कि प्रायश्चित्त पूरा हुए बिना इस हत्यारेका पाप कैसे दूर हो गया? श्रीगोसाईंजीने कहा—'आपको कैसे विश्वास होगा, सो कहिये।' इसपर पण्डितोंने कहा—'इसके हाथसे यदि श्रीशंकरजीका नाँदिया खा ले तो हमलोग इसे अपनी जाति-पंगतिमें ले लेंगे।' इस बातको आपने स्वीकार कर लिया और उसे एक थालमें सजाकर प्रसाद दिया। सब लोग काशीमें ज्ञानवापीके निकट नन्दीश्वरके पास पहुँचे, जहाँकी शर्त रखी थी। श्रीगोसाईंजीने कहा—हे नन्दीश्वर! यदि यह ब्राह्मण राम-नामके प्रतापसे शुद्ध हो गया है तो आप इसके हाथसे प्रसाद स्वीकार करके नाम-महिमाको प्रमाणित कीजिये। ऐसी प्रार्थना सुनकर नन्दीश्वरने प्रसन्न होकर प्रसाद खा लिया। सभी लोगोंने रामचन्द्रजीकी एवं श्रीरामनामकी जय-जयकार की और तुलसीदासकी नामनिष्ठापर बलिहार हो गये।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

हत्या करि विप्र एक, तीरथ करत आयौ, कहै मुख 'राम' भिक्षा डारियै हत्यारे कौं।
सुनि अभिराम नाम धाम में बुलाय लियौ दियौ लै प्रसाद कियौ सुद्ध गायौ प्यारे कौं॥
भई द्विज सभा कहि बोलि कै पठाये आप 'कैसे गयौ पाप, सङ्ग लैके जेये न्यारे कौं।
पोथी तुम बाँचौ, हिये भाव नहीं साँचौ अजू ताते मति काँचौ, दूर करै न अन्ध्यारे कौं'॥ ५११॥
देखी पोथी बाँच, नाम महिमा हूँ कही साँच, ऐपै हत्या करै कैसैं तरै कहि दीजियै।
'आवै जौ प्रतीति कहौ', कही याके हाथ जेंवैं शिवजू कौ बैल तब पङ्गति में लीजियै'॥
थार मैं प्रसाद दियौ चले जहाँ पन कियौ, बोले 'आप नाम कै प्रसाद मति भीजियै'।
जैसे तुम जानो तैसी कैसी कै बखानों अहो, सुनिके प्रसन्न पायो, जै जै धुनि रीझियै॥ ५१२॥

(ङ) श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा तुलसीदासजीकी कुटियापर पहरा देना

काशीके पण्डितोंको गोस्वामीजीसे ईर्ष्या हो गयी थी। वे दल बाँधकर तुलसीदासजीकी निन्दा करने लगे और उनके द्वारा रचित श्रीरामचरितमानसको भी नष्ट कर देनेका प्रयत्न करने लगे। उन्होंने पुस्तक चुरानेके लिये दो चोर भेजे। चोरोंने जाकर देखा कि तुलसीदासजीकी कुटीके आसपास दो वीर धनुष-बाण लिये पहरा दे रहे हैं। वे बड़े ही सुन्दर श्याम और गौर वर्णके थे। उनके दर्शनसे चोरोंकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। उन्होंने उसी समयसे चोरी करना छोड़ दिया और भजनमें लग गये।

इस घटनाका श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आये निशि चोर, चोरी करन हरन धन, देखे श्याम घन, हाथ चाप सर लिये हैं।
जब जब आवैं बान सांधि डरपावैं, एतौ अति मड़रावै, ऐपै बली दूरि किये हैं॥
भोर आय पूछैं 'अजू! साँवरो किशोर कौन' सुन करि मौन रहे, आँसू डारि दिये हैं।
दई सो लुटाय, जानी चौकी राम राय दई, लई उन दिक्षा शिक्षा, शुद्ध भये हिये हैं॥ ५१३॥

इधर पण्डितोंने और कोई उपाय न देख श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीको उस पुस्तकको देखनेकी प्रेरणा की। श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उसपर यह सम्मति लिख दी—

आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता॥

'इस काशीरूपी आनन्दवनमें तुलसीदास चलता-फिरता तुलसीका पौधा है। उसकी कवितारूपी मंजरी बड़ी ही सुन्दर है, जिसपर श्रीरामरूपी भँवरा सदा मँडराया करता है।'

पण्डितोंको इसपर भी सन्तोष नहीं हुआ। तब पुस्तककी परीक्षाका एक उपाय और सोचा गया। भगवान् विश्वनाथके सामने सबसे ऊपर वेद, उनके नीचे शास्त्र, शास्त्रोंके नीचे पुराण और सबके नीचे रामचरितमानस रख दिया गया। मन्दिर बन्द कर दिया गया। प्रात:काल जब मन्दिर खोला गया तो लोगोंने देखा कि श्रीरामचरितमानस वेदोंके ऊपर रखा हुआ है। अब तो पण्डित लोग बड़े लज्जित हुए। उन्होंने तुलसीदासजीसे क्षमा माँगी और भक्तिसे उनका चरणोदक लिया।

(च) रामभक्तिके प्रभावसे एक स्त्रीके पतिको जीवनदान देनेकी घटना

एक बार एक ब्राह्मणका देहान्त हो गया था। उसकी पत्नी उसके साथ सती होनेके लिये जा रही थी। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी अपनी कुटीके द्वारपर बैठे हुए भजन कर रहे थे। उस स्त्रीने इन्हें दूरसे ही देखा तो फिर समीप आकर उसने इनके श्रीचरणोंमें सप्रेम प्रणाम किया। आपने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा कि 'सौभाग्यवती होओ।' उसने कहा—'महाराजजी! मेरे पतिका स्वर्गवास हो गया है और मैं सती होनेके लिये श्मशानघाटपर जा रही हूँ। तब इस आशीर्वादका क्या अर्थ होगा?' गोसाईंजीने कहा—'अब तो मेरे मुखसे आशीर्वाद निकल चुका है, तुम और तुम्हारे घरके सभी लोग यदि भगवान् श्रीरामका भजन करें तो मैं तुम्हारे मृत पतिको जीवित कर दूँ।' उस स्त्रीने अपने सभी कुटुम्बियोंको बुलाकर कहा कि यदि आपलोग सभी सच्चे हृदयसे श्रीराम-भक्ति करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करें तो यह मेरा मृत पति जीवित हो जायगा। सभीने सादर स्वीकार कर लिया और श्रीरामनामका संकीर्तन करने लगे। तब गोसाईंजीने उसके मृत पतिको सुन्दर भक्तिमय जीवनदान दिया। इससे प्रभावित होकर उसके परिवारके लोग भगवद्भक्त हो गये।

श्रीप्रियादासजीने इस अलौकिक घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कियौ विप्र तन त्याग, तिया चली सङ्ग लागि, दूरही ते देखि, कियौ चरन प्रनाम है।
बोले यों 'सुहागवती', मर्‍यो पति होऊँ सती, 'अब तो निकसि गई ज्याऊँ सेवौ राम है'॥
बोलिकै कुटुम्ब कही 'जौ पै भक्ति करौ सही,' गही तब बात जीव दियो अभिराम है।
भये सब साधु व्याधि मेटी लै विमुखताकी जाकी वास रहै तौ न सूझै श्याम धाम है॥ ५१४॥

(छ) दिल्लीके बादशाहके साथ घटी घटना तथा श्रीनाभाजीसे भेंट

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी महिमा सुनकर दिल्लीके बादशाहने अपने सेनापतियोंको काशी भेजा। उन्होंने आकर काशीके सूबेदारसे कहा कि गोस्वामीजीने मरे हुए ब्राह्मणको जीवित कर दिया है, यह सुनकर बादशाह उनके दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें आदर और सुख-सुविधापूर्वक ले जाया जायगा। तब सूबेदारने आकर गोस्वामीजीसे बहुत अनुनय-विनय की, आपने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और काशीसे दिल्लीकी ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर बादशाहके पास गये। उसने आपका बड़ा भारी स्वागत-सत्कार किया। ऊँचे सिंहासनपर बैठाकर बड़ी मधुरवाणीसे बादशाहने कहा—'आपकी करामातका सुयश सारे संसारमें फैला हुआ है, मुझे भी कुछ चमत्कार दिखलाइये।' गोस्वामीजीने कहा—ये सब बातें झूठी हैं, चमत्कार दिखाना हमें नहीं आता है। हम तो केवल श्रीरामजीको जानते-मानते हैं, उन्हींका भजन करते हैं। श्रीतुलसीदासजीके उत्तरको सुनकर बादशाहने कहा—'तो अपने रामको ही दिखलाओ। मैं देखूँ कि तुम्हारे राम कैसे हैं?' यह कहकर उसने इन्हें कारागारमें बन्द कर दिया। तब आपने अपने हृदयमें हनुमान्‌जीका ध्यान करते हुए उनसे प्रार्थना की—'प्रभो! आप दयासागर हैं, मुझ दासपर कृपा कीजिये।' प्रार्थना करते ही उसी समय करोड़ों नये-नये आकार-प्रकारके, रंग-रूपवाले वानर प्रकट हो गये। नगरभरमें सर्वत्र लोगोंके शरीरोंको नोचने-खरोचने लगे, बेगमोंके वस्त्रोंको भी चीरने-फाड़ने लगे। यह उपद्रव देखकर बादशाहकी आँखें खुलीं, वह

श्रीतुलसीदासजीके पास आया और पैरोंमें गिरकर बोला—'अब तो आप हमें प्राण-दान दीजिये, आपके बचानेसे ही हमलोग बचेंगे। नहीं तो नहीं।' श्रीगोसाईंजीने कहा—'पहले आप थोड़ी-सी करामात और देख लीजिये।' आपकी बात सुनकर बादशाह अति ही लज्जित हुआ। पछताते हुए अपराधको क्षमा करनेकी प्रार्थना करने लगा। तब वानरोंका उपद्रव शान्त हुआ। आपने रक्षा की और कहा कि 'अब तुम्हारा यह किला भगवान् श्रीरामका हो गया। तुम इसे बिलकुल छोड़ दो।' यह सुनकर बादशाहने उस किलेको छोड़ दिया। दूसरा नया किला (नयी दिल्ली) बनाकर उसमें रहने लगा। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने दिल्लीसे प्रस्थान किया। पुनः वृन्दावनमें आकर आप श्रीनाभाजीसे मिले और बहुत प्रसन्न हुए।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाको अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णित किया है—

दिल्लीपति पातसाह अहदी पठाये लैन ताकौ, सो सुनायौ सूबै बिप्र ज्यायौ जानियै।
देखिबे कों चाहे नीकै सुख सों निबाहे, आय कही हहु बिनैं गही चले मन आनियै॥
पहुँचे नृपति पास, आदर प्रकाश कियौ, दियौ उच्च आसन लै, बोल्यो मृदु बानियै।
'दीजै करामात जग ख्यात सब मात किये', कही 'झूठ बात एक राम पहिचानियै'॥ ५१५॥
देखैं राम कैसौ, कहि कैद किये किये हिये 'हूजिये कृपाल हनुमानजू दयाल हो'।
ताही समै फैलि गए, कोटि-कोटि कपि नये, लोचैं तन खोचैं चीर भयौ यों बिहाल हो॥
फोरैं कोट, मारैं चोट, किये डारैं लोट पोट, लीजैं कौन ओट जाय मान्यौ प्रलय काल हो।
भई तब आँखैं, दुखसागर कौं चाखैं, अब वेई हमें राखैं, भाखैं, वारौं धन माल हो॥ ५१६॥
आय पाँय लिये तुम दिये हम प्रान पावैं, आप समझावैं 'करामात नेकु लीजियै'।
लाज दबि गयौ नृप, तब राखि लयौ, कह्यौ 'भयौ घर रामजू कौ बेगि छोड़ि दीजियै'॥
सुनि तजि दयो और कर्‌यौ लैकै कोट नयौ, अबहूँ न रहे कोऊ वामै तन छीजियै।
काशी जाय, वृन्दावन आय मिले नाभाजूसों सुन्यौ हो कबित्त निज रीझि मति भीजियै॥ ५१७॥

(ज) इष्टदेव श्रीरामके प्रति अनन्य निष्ठा

गोस्वामीजीने श्रीवृन्दावनमें श्रीमदनगोपाल श्रीकृष्णका दर्शन करके प्रार्थना की—'प्रभो! आपकी यह छबि अवर्णनीय है, परंतु सच्ची बात तो यह है कि भगवान् श्रीराम मेरे सच्चे इष्टदेव हैं।' उस समय आपकी दृष्टि प्रेममें पगी हुई थी। भक्तकी भावना-प्रार्थनाको स्वीकारकर श्रीकृष्णजीने श्रीरामरूप धारण करके दर्शन दिया। अपने मनके अनुरूप अपने इष्टदेवकी शोभा-सुन्दरता जब आपने देखी तो आपको अत्यन्त ही प्रिय लगी। किसी दिन श्रीकृष्णके अनन्य उपासकोंने कहा—'भगवान् श्रीकृष्ण सोलह कलाओंसे पूर्ण प्रशंसनीय हैं और श्रीरामचन्द्रजी अंशावतार हैं', यह सुनकर आपने उत्तर दिया कि अबतक तो मैं उन्हें श्रीदशरथजीका पुत्र, परम सुन्दर, उपमारहित जानकर उनसे प्रेम करता था, परंतु आज आपके द्वारा मालूम हुआ कि उनमें ईश्वरता भी है। अब उनमें मेरी प्रीति करोड़ों गुनी अधिक हो गयी है।

श्रीप्रियादासजीने तुलसीदासजीकी अपने इष्टके प्रति अनन्यताका वर्णन इस प्रकार किया है—

मदनगोपाल जू कौ दरसन करि कही, सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है।
वैसे ही सरूप कियौ, दियौ लै दिखाइ रूप, मन अनुरूप छवि देखि नीकी लागी है॥
काहू कही कृष्ण अवतारी जू प्रसंस महा, राम अंश, सुनि बोले 'मति अनुरागी है'।
दशरथ सुत जानौं, सुन्दर अनूप मानौं, ईशता बताई रति कोटि गुनी जागी है॥ ५१८॥

तुलसीदासजी अब असीघाटपर रहने लगे। रातको एक दिन कलियुग मूर्तरूप धारणकर उनके पास आया

और उन्हें त्रास देने लगा। गोस्वामीजीने हनुमान्‌जीका ध्यान किया। हनुमान्‌जीने उन्हें विनयके पद रचनेको कहा; इसपर गोस्वामीजीने विनय-पत्रिका लिखी और भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर दी। श्रीरामने उसपर अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदासजीको निर्भय कर दिया।

संवत् १६८० श्रावण कृष्ण तृतीया शनिवारको असीघाटपर गोस्वामीजीने राम-राम कहते हुए अपना शरीर परित्याग किया।

श्रीमानदासजी

करुना बीर सिंगार आदि उज्वल रस गायो।
पर उपकारक धीर कबित कबिजन मन भायो॥
कोसलेस पद कमल अननि दासत ब्रत लीनो।
जानकि जीवन सुजस रहत निसि दिन रँग भीनो॥
रामायन नाटक की रहसि उक्ति भाषा धरी।
गोप्य केलि रघुनाथ की, मानदास परगट करी॥ १३०॥

श्रीमानदासजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी गुप्त-प्रकट लीलाओंका काव्यद्वारा गान करके भक्तोंको सुनाया। श्रीरामचरित्र-वर्णनप्रसंगमें आपने अपने काव्योंमें करुण, वीर, शृंगार आदि रसोंका भी समावेश किया। आपकी कविताएँ कविजनोंको अत्यन्त प्रिय लगती थीं। आप महान् परोपकारी, धैर्यवान् एवं शीलवान् थे। कौसलेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके श्रीचरणकमलोंकी अनन्य भावसे सेवा करनेका आपका दृढ़ व्रत था। श्रीजानकी-जीवन प्रभुके सुयशके वर्णन, अध्ययन एवं मननके रंगमें आप दिन-रात रँगे-पगे रहते थे। श्रीरामायण और हनुमन्नाटकादि ग्रन्थोंकी गूढ़ उक्तियोंका आपने सरस भाषामें विवेचन किया॥ १३०॥

श्रीमानदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

परमरसिक श्रीमानदासजी एक बार अपने आराध्य श्रीमद् राघवेन्द्र आनन्दकन्द कोसलचन्द्र भगवान् श्रीरामका ध्यान कर रहे थे। उसी समय श्रीरघुनाथजीने इन्हें अपने त्रिभुवनमोहन-मदनमोहन-स्वमनमोहन रूपका दर्शन कराते हुए अपनी गोपनीय लीलाओंके गानका आदेश दिया। प्रभुकृपासे इनके निर्मल हृदयमें भगवान्‌की परम गोपनीय लीलाओंकी स्फूर्ति होने लगी। तब इन्होंने उन लीलाओंको भाषाके पदोंमें गाकर लोकमें प्रसिद्ध किया। एक बार एक गरीब ब्राह्मणने आपसे अपनी कन्याके ब्याहके लिये धनकी याचना की, तो आपने श्रीठाकुरजीके चाँदीके पार्षद बेचकर ब्राह्मणको धन दिया। आप ऐसे ब्रह्मण्य एवं परोपकारी थे।

एक बार आपके यहाँ सन्तोंका विशाल भण्डारा था। नीचे जगह भर जानेसे छतके ऊपर पंक्ति बैठी। ये सन्तोंको प्रसाद परोस रहे थे। सहसा इन्हें प्रेमावेश आ गया। शरीरकी सुधि नहीं रही, छतसे नीचे गिर गये। सन्त-समाजमें हाहाकार मच गया। परंतु भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तको अपनी गोदमें ही थाम लिया, इससे उन्हें तनिक भी चोट नहीं आयी। प्रभुकृपाका यह चमत्कार देखकर सब लोग इनके आराध्य श्रीराम और इनकी जय-जयकार करने लगे।

मान मन्दिर में विराजैं मानिनी श्री रिस भरी।
श्रीपति मनावैं खायँ हा-हा पै न मानति रस भरी॥
यहि ध्यान रसवश विकल अविकल मानिनी रुख अनुसरैं।
रीझि दम्पति मानदासहिं मान दै संज्ञा करैं॥

श्रीगिरिधरजी

अर्थ धर्म काम मोच्छ भक्ति अनपायनि दाता।
हस्तामल श्रुति ग्यान सबहि सास्त्रन को ग्याता॥
परिचर्या ब्रजराज कुँवर के मन कों कर्षै।
दरसन परम पुनीत सभा तन अमृत वर्षै॥
बिठ्ठलेस नंदन सुभाव जग कोऊ नहिं ता समान।
बल्लभजू के बंस में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान॥ १३१॥

श्रीवल्लभाचार्यजीके वंशमें श्रीगिरिधरलालजी महाराज कल्पवृक्षके समान शोभायमान लगते थे। आप शरणागत भक्तोंको अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष और अचल श्रीहरिभक्तिके दाता थे। आपको वेद-शास्त्रोंका सम्पूर्ण ज्ञान हाथमें आँवलेकी तरह प्रत्यक्ष था। आप सभी शास्त्रोंके ज्ञाता थे। आपकी पूजा-पद्धति व्रजराज कुँवर भगवान् श्रीकृष्णके मनको आकृष्ट करनेवाली थी। आपके दिव्य दर्शनसे लोग पवित्र हो जाते थे। भक्तोंकी सभामें विराजमान होकर जब आप श्रीकृष्ण-कथाको कहते थे, तब ऐसा लगता था कि मानो प्रेमामृतकी वर्षा हो रही है। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी महाराजके सुपुत्र श्रीगिरिधरलालजी महाराजके समान सरस-शीतल एवं कोमल स्वभाववाला संसारमें कोई नहीं हो सकता है॥ १३१॥

श्रीगिरिधरजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीगिरिधरलालजी वल्लभ-सम्प्रदायानुयायी थे, आपका एक शिष्य था। यह जातिका वैश्य था, उसके पास अपार सम्पत्ति थी। वह बहुत गुरु-गोविन्दकी सेवा करता था। परंतु समयके फेरसे उसका सारा धन नष्ट हो गया और कुछ दिन बाद उसका गोलोकवास हो गया। उसके एक पुत्र था, उसके हृदयमें भी भक्तिके संस्कार थे। परंतु धनका सर्वथा अभाव होनेसे वह अपने पिताकी भाँति श्रीगुरु-गोविन्दकी वित्तजा सेवा नहीं कर पाता था। इस बातका उसे हार्दिक दुःख था। एक दिन उसने श्रीगिरिधरलालजीके पास आकर अपना दुःख निवेदन करते हुए प्रार्थना की—प्रभो! आपकी कृपासे मेरे पिताके पास तो अपार धन था, इससे वे सन्त-भगवन्तकी बहुत सेवा करते थे, परंतु मैं तो ऐसा अभागा निकला कि मुझे पेट-भर खानेको भी नहीं मिलता। आप तो साक्षात् कल्पवृक्ष हैं, जिसके पाससे कोई भी निराश नहीं जाता है, अतः आप मुझपर भी ऐसी ही कृपा करें, जिससे मैं भी अपने पिताकी कीर्तिको अक्षुण्ण रखते हुए सन्त-भगवान्‌की सेवा करूँ। निरन्तर मेरे हृदयको दारिद्र्य दग्ध करता रहता है। परमदयामय श्रीगिरिधरलालजी उस वैश्यपुत्रकी दीनता देखकर द्रवीभूत हो गये और उसे भी श्रीश्रीनाथजीके भजनका उपदेश देते हुए विश्वास दिलाकर बोले कि प्रभुकृपासे बहुत शीघ्र तुम्हारी दरिद्रता दूर हो जायगी। सचमुच थोड़े ही दिनोंमें वह श्रीहरि-गुरुकृपासे धनधान्यसे सम्पन्न हो गया। कृपाके इस प्रत्यक्ष चमत्कारसे चमत्कृत होकर वह वैश्य बड़ी उदारतापूर्वक गुरु-गोविन्दकी सेवा करने लगा। इस सेवाके प्रतापसे उसके मनमें भगवान्‌के दर्शनोंकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई।

एक दिन उसने श्रीगिरिधरलालजीसे अपने मनका भाव कह सुनाया और भगवत्-साक्षात्कारका उपाय पूछा। आपने सहज भावसे कहा—***'प्रीतम प्रीति ही ते पैये।'*** प्रभु तो प्रेमसे ही मिलते हैं, अतः प्रेमपूर्वक भगवान्‌की सेवा करो। उनके नाम-गुणोंका संकीर्तन करो। उसने पूछा—प्रभो! प्रेमके क्या लक्षण हैं? आपने कहा—जब भगवान्‌के नाम, रूपका स्मरण होते ही आँखोंसे अश्रुपात तथा शरीरमें रोमांच होने लगे, वाणी गद्‌गद हो जाय, कण्ठ अवरुद्ध हो जाय, तो उसे प्रेमकी दशा समझनी

चाहिये। ऐसी दशापर रीझकर ही भगवान् भक्तोंको दर्शन देते हैं। वह वैश्य बहुत दिनतक सेवा-पूजा-संकीर्तन करता रहा, परंतु कभी भी उसकी आँखोंमें न तो आँसू आये और न शरीरमें रोमांच ही हुआ और न कोई प्रेमके अन्य लक्षण ही दिखायी पड़े। तब तो वह बहुत उदास होकर एक दिन श्रीगिरिधरलालजीके पास आया और अति दीन होकर पुनः अपनी मनोव्यथा सुनायी। उसकी सरलता-निष्कपटता तथा दीनतापर रीझकर श्रीगिरिधरलालजीने उसे छातीसे लगा लिया और उनकी आँखोंसे झर-झर अश्रुपात होने लगा। उनके इस प्रेमका प्रभाव उस वैश्यपर भी पड़ा, उसके भी नेत्र सजल हो गये, शरीर पुलकायमान हो गया। उसी समय श्रीठाकुरजीने साक्षात् प्रकट होकर गुरु-शिष्य—दोनोंको दर्शन दिया। परंतु वह वैश्य अभी अच्छी तरह भर-आँख दर्शन नहीं कर पाया था कि ठाकुरजी अन्तर्धान हो गये। तब तो वह बहुत व्याकुल होकर आर्तनाद करने लगा। उसकी करुणा आपसे देखी नहीं गयी। आपने पुनः दर्शन देनेकी प्रार्थना भगवान्‌से की, तो प्रभुने कहा—इस वैश्यके द्वारा एक महदपराध होता है, इसलिये यह पुनः पूर्ण रूपसे मेरा दर्शन नहीं प्राप्त कर सकता है। श्रीगिरिधरजीने कहा—जै-जै प्रभो! वह कौन-सा महापराध है? हो सकता है कि यह अल्पज्ञ जीव अनजानमें उसे करता हो और जान लेनेपर न करे। श्रीनाथप्रभुने कहा—इसकी पत्नीका वैष्णव-सेवामें बड़ा भाव है, परंतु यह उसे डाँटता-फटकारता रहता है, उसे वैष्णव-सेवा नहीं करने देता है, यही इसका महापराध है। यह सुनकर वैश्यने तत्काल प्रतिज्ञा की कि अब मैं कभी भी ऐसी भूल नहीं करूँगा। मैं नहीं जानता था कि सन्तोंकी इतनी महिमा है और प्रभु सन्तोंपर इतना प्यार करते हैं। अब तो हम स्वयं सन्तोंकी सेवा करेंगे और पत्नीको भी बेरोक-टोक सन्त-सेवा करने देंगे। जब वैश्यने इस प्रकार प्रतिज्ञा की, तब भगवान्‌ने पुनः प्रकट होकर दर्शन दिया। श्रीगिरिधरलालजीकी कृपासे वैश्यको सहजमें भगवद्दर्शन हो गये।

श्रीगोसाईं गोकुलनाथजी

उदधि सदा अच्छोभ सहज सुंदर मितभाषी।
गुरुबर्तन गिरिराज भलप्पन सब जग साखी॥
बिट्ठलेस की भक्ति भयो बेला दृढ़ ताकै।
भगवत तेज प्रताप नमित नरबर पद जाकै॥
निर्विलीक आसय उदार, भजन पुंज गिरिधरन रति।
(श्री) बल्लभजू के वंश में गुननिधि 'गोकुलनाथ' अति॥ १३२॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके वंशमें (अर्थात् श्रीवल्लभाचार्यजीके पौत्र एवं श्रीविट्ठलनाथजीके चतुर्थ पुत्र) श्रीगोकुलनाथजी सद्‌गुणोंके निधान थे। वे क्षुभित न होनेवाले समुद्रके समान अविचल, गम्भीर तथा सहज सुन्दर थे। सर्वदा मधुर, सत्य एवं आवश्यकतानुसार बोलनेवाले थे। आपका विशाल, सुन्दर एवं दिव्य शरीर श्रीगिरिराज गोवर्धनके समान दर्शनीय था। सारा संसार आपके भलेपनका साक्षी है। आप अपने पिता श्रीविट्ठलनाथजीके भक्ति-समुद्रकी सीमा बाँधनेवाले सुदृढ़ किनारेके समान थे। आप भगवद्विभूति थे, बड़े तेजस्वी एवं प्रतापी थे। अतः बड़े-बड़े राजा-महाराजा, श्रेष्ठ व्यक्ति आपके श्रीचरणोंमें अपना सिर झुकाकर सादर नमस्कार करते थे। आपका हृदय परम पवित्र था। आप निर्विकार मन-बुद्धिवाले, परम उदार और भजन-भावकी राशि थे। श्रीगोवर्धननाथजीसे बड़ा स्नेह करते थे॥ १३२॥

श्रीगोसाईं गोकुलनाथजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके चतुर्थ पुत्र श्रीगोकुलनाथजी अत्यन्त प्रभावशाली और प्रतिभाशाली धर्माचार्य थे। आपने अनेक विद्वानोंसे शास्त्रार्थकर पुष्टिमार्गके प्रभावको व्यापक बनाया।

आपके जीवनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना 'मालातिलक प्रसंग' है। कहा जाता है कि बादशाह जहाँगीरके राज्यमें चिद्रूप नामक संन्यासीके प्रभावमें आकर एक राजकीय आदेश निकला कि कोई ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक (वैष्णवी तिलक) न करे और न तुलसीकी माला गले में पहने। गोकुलनाथजीकी प्रेरणासे वैष्णवोंने इस आदेशका प्रबल विरोध किया, सत्याग्रह किया और स्वयं गोकुलनाथजी अत्यन्त वृद्ध होनेपर भी बादशाह जहाँगीरसे मिलनेके लिये कश्मीर गये। उनसे प्रभावित होकर वैष्णवोंकी माला और तिलक धारण करनेकी पुनः राजकीय अनुमति मिली।

श्रीगोकुलनाथजी संस्कृतके विद्वान् होनेके साथ ही ब्रजभाषाके भी उत्कृष्ट लेखक थे। आपके द्वारा लिखित 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता' 'निज वार्ता', 'घरूवार्ता', 'बैठक चरित्र', 'वचनामृत' आदिके द्वारा पुष्टिमार्गके विचार और आचारको जन-जनतक पहुँचानेमें अद्भुत सफलता मिली है। श्रीगोकुलनाथजीने जनमानसमें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों और जीवन-प्रणालीको स्थापित करनेमें अपूर्व योगदान किया।

९९ वर्ष २ माह १७ दिन भूतलपर विराजकर संवत् १६९७ फाल्गुन कृष्ण नवमीके दिन आप भगवल्लीलामें प्रविष्ट हो गये। आपका वियोग न सह पानेके कारण आपके ७८ सेवकोंने भी शरीर छोड़ दिया। आप अत्यन्त लोकप्रिय एवं त्यागी धर्माचार्य थे।

श्रीगोकुलनाथजी सिद्ध महात्मा थे। उन्होंने प्राणिमात्रके कल्याण, गो और धर्मरक्षाके लिये अपनी सिद्धियोंका प्रयोग किया। कहते हैं कि—एक बार दिल्लीका तत्कालीन बादशाह मथुराको आया और औरंगाबादमें उसका पड़ाव पड़ा। उसने लोगोंसे पूछा कि आजकल यहाँ करामाती हिन्दू फकीर कौन है? लोगोंने श्रीगोकुलनाथजीका नाम बताया और इनकी प्रशंसा भी की। बादशाहने एक मन्त्रीको भेजकर प्रार्थना की कि आकर दर्शन दीजिये। आप पालकीमें विराजमान होकर अपने परिकरसहित पधारे। बादशाहने एक चबूतरा बनवाया था। उसमें हड्डियोंको भरवाकर ऊपरसे लीप-पोतकर उसपर कम्बल-बाघम्बर आदि बिछवा दिये। इनके पहुँचनेपर स्वागत करके इन्हें उसीपर बैठनेको कहा, आपने अपने जलपात्रसे लेकर जल छिड़क दिया और बैठ गये। बादशाहने पूछा—'आप जिस वेदिकापर बैठे हैं, उसके भीतर क्या है?' आपने उत्तर दिया—'गुलाबके फूल।' बादशाहने प्रार्थना करके श्रीगोसाईंजीको दूसरे तख्तपर बैठाया और चबूतरेको खोदवाया तो चारों ओर ताजे गुलाबके फूलोंकी सुगन्ध फैल गयी। फूलोंको देखकर बादशाह आपके चरणोंमें झुक गया। सेवाके लिये प्रार्थना करने लगा और गोसाईंजीकी आज्ञासे गोचर-भूमिकी व्यवस्था की। व्रजके तीर्थोंमें, वनोंमें शिकार न करनेकी पुरानी राजाज्ञाको दृढ़तासे लागू किया।

एक बारकी बात है, एक ब्राह्मण अपनी कन्याके साथ कहीं जा रहा था। दुष्ट यवनोंने उससे कन्या छीन ली। ब्राह्मण रोता हुआ श्रीगोकुलनाथजीके पास आया। समाचार सुनकर आपको दया आयी। आपने एक कायस्थ शिष्यको जो उस यवन सरदारके यहाँ मुंशी था, कहा कि उससे कह-सुनकर विप्र कन्याको वापस करा दो। उसने कहा—महाराज! ये यवन बड़े अत्याचारी हैं, मेरे कहनेसे नहीं मानेंगे। तब आपने श्रीश्रीनाथजीसे प्रार्थना की। उसे स्वप्न हुआ, पर उसने ध्यान नहीं दिया तो श्रीनाथजी आधी रातको गये और सोते हुए यवन सरदारके मुखपर पैरसे एक ठोकर मारकर कहा—'क्यों रे! तूने मेरी बात नहीं मानी।'

वह घबड़ाकर उठा। अत्यन्त भयभीत होकर प्रातः उसने अपने दरबारियोंसे सलाह की और पूछा कि मेरा भय कैसे दूर हो? तब उस कायस्थ शिष्यने कहा—'आप श्रीगोकुलनाथजी गोस्वामीके पास चलिये। वे आपका भय दूर कर देंगे।' यवन सरदार गोसाईंजीके पास आया और अपनी विनती सुनायी और कहा—'मै आपकी हर आज्ञा मानूँगा।' गोसाईंजीने ब्राह्मण-कन्या वापस करायी और उसके मनमें व्याप्त भयको आशीर्वादमात्रसे दूर कर दिया। यवनने ब्राह्मण-कन्याको बहुतसे आभूषण दिये। पुनः ऐसा अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा की। गोकुलनाथजीका ऐसा अद्भुत प्रताप था।

एकबार एक धनवान् व्यक्ति आपका शिष्य होनेके लिये आया। वह आपके लिये लाखों रुपयेकी भेंट लाया था। आपने उससे पूछा कि क्या तुम्हारा कहीं किसी वस्तुपर ऐसा स्नेह है कि जिसके मिले बिना तुम्हारा तन-मन व्याकुल हो जाता हो। उसने कहा—अजी! मेरा कहीं किसी भी वस्तुमें तनिक भी स्नेह नहीं है। तब आपने कहा कि यदि ऐसा है, तब तो हम तुम्हें कदापि दीक्षा नहीं दे सकते। तुम किसी और गुरुको खोजो। भक्तिमार्गमें तो प्रेम ही प्रधान है। जीवका जो प्रेम संसारमें होता है, दीक्षा-शिक्षाके द्वारा उसीको पलटकर भगवान्‌में लगा दिया जाता है। जब तुम्हारे हृदयमें कहीं प्रेम है ही नहीं तो तुम भगवान्‌के प्रेममें कैसे सराबोर हो सकते हो? इस प्रकारका कोरा जवाब सुनकर उसके मनमें बड़ा दुःख हुआ।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस प्रसंगका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आयौ कोऊ शिष्य होन ल्यायौ भेट लाखन की, भाखन की चातुरी पै मेरी मति रीझिये।
कहूँ है सनेह तेरो जाके मिले बिना देह व्याकुलता होय जोपै, तोपै दीक्षा दीजिये॥
बोल्यौ 'अजू मेरौ काहू बस्तु सों न हेतु नेकु,' नेति नेति कही हम, गुरु ढूँढ़ि लीजिये।
प्रेम ही की बात इहाँ करेही पलटि जात, गयौ दुख गात, कहो कैसे रंग भीजिये॥ ५१९॥

कान्हा नामका एक भंगी था। उसने श्रीश्यामसुन्दरके प्रेमरसमें अपने मनको एकदम मिला दिया था। कान्हाको दूरसे खड़े होकर टकटकी लगाकर श्रीनाथजीका दर्शन करते हुए देखकर मन्दिरके अधिकारी, पुजारी आदि कर्मचारियोंने श्रीगोकुलनाथजीसे कहकर श्रीठाकुरजीको उसकी दृष्टिसे बचानेके लिये मन्दिरके द्वारके सामने दीवाल उठवा दी, जिससे अब न तो कान्हा श्रीश्रीनाथजीको देख सके, न श्रीश्रीनाथजी कान्हाको देख सकें। तब रात्रिमें श्रीश्रीनाथजीने स्वप्नमें कान्हासे कहा कि इस नयी दीवालकी ओट मुझे बहुत कष्ट दे रही है। अतः तुम श्रीगोकुलनाथजीसे शीघ्र कहो कि बहुत जल्दी इस दीवालको हटवा दें, जिससे कि मैं विलछू कुण्डकी शोभाका दर्शन कर सकूँ। तुम्हें दर्शन न होनेसे जो कष्ट है, उसका हमें ख्याल है।

इसी प्रकार प्रेम-प्रवीण श्रीनाथजी तीन दिनतक लगातार स्वप्नमें कान्हाको आज्ञा देते रहे। तब कान्हा हिम्मत करके श्रीगोसाईंजीके द्वारपर गया और द्वारपालसे बोला—आप श्रीगोसाईंजीसे मेरी प्रार्थना सुनाइये कि कान्हा आपसे कुछ बात करना चाहता है। यह सुनकर द्वारपालने नाराज होकर कहा—अरे! तू गोसाईंजीसे बात करेगा? इतनेमें किसीने श्रीगोसाईंजीसे कहा कि कान्हा आपसे कुछ कहना चाहता है तो आपने कहा—'उसे शीघ्र बुलाओ'। आनेपर श्रीगोसाईंजीने कहा—अहो! कहो, तुम क्या कहना चाहते हो? तब कान्हाने वही बात कही, जो श्रीश्रीनाथजीने इससे कही थी। सुनकर श्रीगोकुलनाथजी बड़े हर्षित हुए कि अहो! श्रीश्रीनाथजीने मुझे अपना मानकर मुझसे कहनेको कहा है। फिर तो आप कान्हासे बड़े प्रेमसे मिले और बोले—यदि श्रीश्यामसुन्दरने मेरा नाम लेकर कहा है तो अब उनकी बात नहीं टलेगी। गुसाईंजीने तुरंत दीवाल गिरवा दी और कान्हाको उनका अनन्य सखा जानकर एक पारस (भोजन) देनेकी आज्ञा दी।

श्रीप्रियादासजीने भगवान्‌की इस प्रेमपरवशताका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कान्हा हो हलालखोर, घोरि दियौ मन लैकै स्याम रससागर में नागर रसाल है।
निसि को सुपन मांझ, निपुन श्रीनाथजू नै, आज्ञा दई, भीत नई भई ओट साल है॥
गोकुल के नाथजू सों बेगि दै जताइ दीजै कीजै याहि दूर छबि पूर देखौ ख्याल है।
भोर जो विचारै, नाहिं धीरजकों धारै, 'उहाँ जाऊँ कोऊ मारै पैडें पर्‍यो यह लाल है'॥ ५२०॥
ऐसे दिन तीन आज्ञा देते वे प्रवीन नाथ, हाथ कहा, मेरे बिन गये नहीं सरैगौ।
गए द्वार द्वारपाल बोले, 'जू बिचार एक दीजैं सुधि कान', सुनि खीझे 'बात करैगौ'॥
काहू ने सुनाय दई, लीजियै बुलाय अहो कहौ, और 'दूर करौ करे', दूरि ढरैगौ।
जाय वही कही, लही आपनी पिछानि, मिले, सुन्यौ मेरौ नाम स्याम कह्यो, नहीं टरैगौ॥ ५२१॥

श्रीबनवारीदासजी

बात कबित बड़ चतुर चोख चौकस अति जानै।
सारासार बिबेक परम हंसनि परवानै॥
सदाचार संतोष भूत सब कों हितकारी।
आरज गुन तन अमित भक्ति दशधा ब्रतधारी॥
दरसन पुनीत आसय उदार आलाप रुचिर सुख धाम को।
रसिक रँगीलो भजन पुँज सुठि बनवारी स्याम को॥ १३३॥

श्रीबनवारीदासजी भगवान् श्यामसुन्दरके बड़े अनुरागी, रसिक एवं सुन्दर भजनानन्दी सन्त थे। भगवत्सम्बन्धी कथा-वार्ता एवं काव्य-रचनामें परम चतुर थे। साधन-भजनमें सर्वदा सावधान रहते थे। सार-पदार्थको ग्रहण करने तथा असारको त्यागनेमें आप परमहंसोंके समान थे। आप श्रेष्ठ सदाचारी और सन्तोषी थे तथा प्राणिमात्रके हितकारी थे। आपमें सभी श्रेष्ठ गुण विद्यमान थे। प्रेमाभक्तिके आचरणकी आपने प्रतिज्ञा ले रखी थी। आपका दर्शन परमपवित्र और उद्देश्य उदार था। आपका वार्तालाप परम मनोहर एवं सुखदायक था॥ १३३॥

श्रीबनवारीदासजीके विषयमें संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीबनवारीदासजी खण्डेलवाल ब्राह्मण थे, आपका जन्म राजस्थानमें हुआ था। एक बार आप तीर्थयात्रा करते हुए मथुरा आये। वहाँ नारद टीलेपर आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजीके दर्शन हुए। उनसे प्रभावित होकर आपने विरक्त-दीक्षा ग्रहण की। गुरुदेवके आज्ञानुसार आप श्रीयुगलकिशोरकी सेवामें अनुरक्त हो गये और आजीवन व्रजमें निवासकर दशधाभक्तिका आस्वादन करते रहे।

एक बार एक सत्संगी आपके पास आया, वह आपकी परीक्षा लेना चाहता था, अतः पूछा कि मेरी मृत्यु कब है? आप समझ गये कि यह मेरी परीक्षा ले रहा है, अतः ध्यानसे देखकर बोले—तुम्हारे गुरुदेवने जो बताया है, वह सत्य है। तुम्हारी आयु अब केवल एक मासकी है, अतः अब अपने कल्याणके लिये यत्न करो। यह सुनकर उसने समझ लिया कि ये सिद्ध सन्त हैं, अतः इनके चरणोंकी शरण ग्रहण कर ली।

आप श्रीमहावाणीजीका नित्य प्रेमपूर्वक गायन किया करते थे, जिसे सुनकर लोग परम विभोर हो जाया करते थे। आपकी वाणी देशकालके अनुरूप, युक्तियुक्त, हितकारिणी और प्यारी होती थी। आपके पद कृष्ण-

भक्तिरससे भीने तो होते ही थे, साथ ही समस्त काव्यगुणोंसे युक्त भी होते थे। आपके पदोंमें 'बनवारी श्याम' की छाप मिलती है, जिनमें युगलकिशोर श्रीराधामाधवकी विभिन्न लीलाओंका वर्णन है। एक पद द्रष्टव्य है—

बसी उर जोरी जुगल अनूप।
स्यामा-स्याम सहज रस सागर उलझत सुभग सुरूप॥
राजत गौर किशोर स्याम दोउ दामिनि घन दुति देत।
चितवत हरत सकल चित कलमष करत छिनै अनुरूप॥
श्रीहरिव्यास चरणरज रंजित मंजित करि मन नैन।
बसि वृन्दावन वंशीवट ढिंग ढरि कालिन्दी कूल॥
यह 'बनवारी स्याम' सुखद अति भाग सुभाग बन्यौ।
अनत चलन चित चहत न कबहूँ चाहत हौं भल भूप॥

श्रीनारायणमिश्रजी

नाम नरायन मिश्र बंस नवला जु उजागर।
भक्तन की अति भीर भक्ति दसधा को आगर॥
आगम निगम पुरान सार सास्त्रनि सब देखे।
सुरगुरु सुक सनकादि ब्यास, नारद जु बिसेषे॥
सुधा बोध मुख सुरधुनी जस बितान जग में तन्यो।
भागवत भली बिधि कथन को धनि जननी एकै जन्यो॥ १३४॥

नवल-वंशमें जन्म लेकर श्रीनारायणमिश्रजीने अपनी सुन्दर कीर्तिसे उसे प्रसिद्ध किया। आप भक्तसेवी थे, अतः आपके यहाँ भक्तोंकी बड़ी भारी भीड़ लगी रहती थी। दस प्रकारकी भक्तिके आप निधान थे। आपने वेद-शास्त्र-पुराण तथा अन्य धर्मशास्त्रोंके रहस्यको प्राप्त कर लिया था। इसलिये आप बृहस्पति, शुकदेव, सनकादि ऋषि, व्यास और नारदके समान थे। आपके श्रीमुखसे श्रोताजनोंको ज्ञान देनेवाली, परम मधुर, अमृत-सरीखी वाणी श्रीगंगाजीके समान निकलती थी। आपका सुयश-वितान सारे संसारमें फैला हुआ था। श्रीनारायणदासजी मिश्रकी माताको धन्यवाद है, जिन्होंने श्रीमद्भागवतके परम श्रेष्ठ वक्ताको जन्म दिया॥ १३४॥

श्रीनारायणमिश्रजीके विषयमें कुछ विवरण इस प्रकार है—

सर्वेश्वर पत्रिकाके भक्तमालांकके अनुसार कुछ लोग इन्हें सनाढ्य कुलका बताते हुए ब्रजके किसी सीमावर्ती नगरको आपकी जन्मभूमि मानते हैं। इनके वंशज कई शताब्दियोंसे श्रीवृन्दावनमें निवास करते हैं। कुछ सज्जनोंका निश्चय है कि ये राजस्थानके पाटण ग्रामनिवासी श्रीनवलकिशोरजीके पुत्र हैं। श्रीमद्भागवतका कथा-प्रवचन इनके कुलकी सम्पत्ति है। श्रीनारायणमिश्रजीने केशव काश्मीरीजीकी सन्निधिमें रहकर वेद-वेदांग, वेदान्त और पुराणोंका अध्ययन किया। तत्पश्चात् श्रीभट्टदेवाचार्यजीसे विरक्त दीक्षा ली। फिर आपने ब्रजमें ही निवास किया। आप श्रीभागवतके अद्वितीय वक्ता थे।

श्रीनारायणमिश्रजीने मथुरामें वास करते हुए एक बार उत्तराखण्डकी यात्राका विचार किया। प्रथम आप हरिद्वार पहुँचे तो वहाँ स्वामी श्रीनृसिंहारण्यजी मिले। उनके साथ सत्संगकर उनकी आज्ञासे बदरिकाश्रमको गये, वहाँ नर-नारायण भगवान्‌का दर्शन हुआ। उसके पश्चात् वहीं श्रीशुकदेवजीके दर्शन हुए। इनसे

श्रीनारायणमिश्रने सरहस्य श्रीमद्भागवतको प्राप्त किया। फिर वहाँसे आप काशीजीको आये। वहाँ सुखराशि श्रीनृसिंहारण्यजीके पुनः दर्शन हुए। उनके सत्संगसे भगवत्-भागवततत्त्वके परम सुखका लाभकर आप पुनः श्रीमथुराजीको आ गये। जिस समय आप श्रीमद्भागवतकी कथा कहते थे, उस समय बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् आपके श्रीमुखकी ओर एक-टक देखते ही रहते थे। जैसे मन्त्रद्वारा कीलित सर्प फणको इधर-उधर नहीं हिलाता है, उसी तरह विद्वान् लोग आपकी प्रवचन-कलासे स्तब्ध-प्रेममग्न हो जाते थे। इस विशेषताका कारण यह है कि दूसरे लोगोंके पास भागवत अनेक विद्वानोंके पास होकर आयी, पर इनके पास तो सीधे श्रीशुकमुखसे आयी। यही कारण है कि वे श्रीभागवतके अद्वितीय वक्ता थे।

आपके यहाँ भक्तोंकी सदा भीड़ रहती थी; क्योंकि आप सन्त-सेवा करते थे। भगवत्प्रसादसे उन्हें तृप्त करते थे। दूसरे मधुर भगवत्कथाके श्रवणका उत्तम लाभ था।

श्रीनारायणमिश्रजीके पुत्रकी साली उनके पासमें ही रहती थी। उसकी बुद्धि काली अर्थात् तामसी थी। उसने अपनी बहनको बहकाया कि तेरा श्वसुर घरके धनको मुड़िया-वैरागियोंको खिलाये देता है। यह तो सर्वस्व लुटाकर मर जायगा। तुम्हारे हाथ कुछ न लगेगा। धनके बिना दुःख पावोगी, रोवोगी; अतः इसको विष देकर मार डालो और धनको बचा लो। वधूके बहकानेसे पुत्रकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। दोनों बहनोंने विषमिश्रित भोजन बनाकर मिश्रजीको खिला दिया। पर भगवदर्पित अन्न खानेसे इनका कुछ न बिगड़ा। पुनः दूसरी बार अधिक मात्रामें विष मिलाया। इस बार भी इनपर कुछ असर न देखकर दोनों बहिनों तथा पुत्रने समझा कि विष प्रभावहीन है। परीक्षार्थ किंचित् जिह्वापर स्पर्श कराते ही सभी मूर्च्छित हो गये। वमन आदि कराकर किसी तरह प्राण बचे। दोनों बहनें अब इनके मारनेका नया उपाय सोचने लगीं। पुत्रको अपने पिताकी महिमा और भक्तिका बोध हो चुका था। अतः स्त्रीके प्रस्तावको सुनते ही उसने उसकी लात-घूँसोंसे खूब पिटाई की और पिताके पास जाकर उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणामकर उसने सारी अपनी तथा स्त्रीकी कुटिलता सुना दी और क्षमा-प्रार्थना की। दयालु श्रीनारायणमिश्रजीने उन तीनोंको उपदेश दिया, जिससे उनकी बुद्धि शुद्ध हो गयी। सभी सन्त-भगवन्तकी सेवा करने लगे।

श्रीराघवदासजी

काम क्रोध मद मोह लोभ की लहर न लागी।
सूरज ज्यों जल ग्रहै बहुरि ताही ज्यों त्यागी॥
सुंदर सील सुभाव सदा संतन सेवा ब्रत।
(गुरु) धर्म निकष निर्बह्यो, बिस्व में बिदित बड़ो भृत॥
अल्ह राम रावल कृपा आदि अंत धुकती धरी।
कलिकाल कठिन जग जीति यों राघौ की पूरी परी॥ १३५॥

श्रीराघवदासजीने महाभयंकर कलियुगको जीतकर इस संसारमें भक्त-भगवन्तकी भक्तिके प्रणको निभाया। काम, क्रोध, मद, मोह और लोभकी लहरें इनको नहीं छू सकीं। जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे जलको खींचते हैं और फिर समयपर उसे विश्व-कल्याणके लिये बरसाते हैं, उसी प्रकार आप भी अतिथि-साधु-सेवाके निमित्त अन्न-धन आदिका संग्रह करके फिर उसे सेवामें लगा देते थे। आपका स्वभाव और आचरण अति उत्तम था। सर्वदा सन्तोंकी सेवा करनेका दृढ़ नियम आपने अपनाया था। गुरु-सेवारूप

धर्मकी कसौटीपर आप खरे उतरे। इसीसे आप सारे संसारमें महान् गुरुसेवी-गुरुभक्त प्रसिद्ध हुए। श्रीअल्हजी एवं श्रीरामरावलजीकी कृपासे आदिसे अन्ततक जीवनभर भक्त-भगवन्तमें आपने अपने मनको लगाये रखा तथा उनके प्रति नम्र रहे। इस प्रकार श्रीराघवदासजीकी निष्ठाका जीवनभर निर्वाह हुआ॥ १३५॥

श्रीराघवदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीराघवदासजी श्रीरामभक्त सन्त थे। आपने जगत्के जीवोंको भक्तिका उपदेश देकर उन्हें गुरु-गोविन्दके चरणाश्रित किया। यत्र-तत्र विचरते हुए जहाँ भी जाते वहाँ लोगोंके द्वारा सन्तोंकी सेवा करवाते। एक बार अकेले ही विचरते हुए पर्वतीय प्रदेशमें पहुँच गये। राजा-प्रजा सभीको आपने अपने उपदेशोंसे प्रभावित कर उनके मनमें सेवा-पूजाके भावको दृढ़ किया। आपके दर्शनार्थ अच्छे-अच्छे घरोंकी स्त्रियाँ आतीं और दर्शन एवं सत्संगसे कृतार्थ होतीं। यह देखकर एक कुटिल क्षत्रियकुमारके मनमें सन्देह एवं रोष हुआ। वह हथियार बाँधे हुए इनके पास पहुँचा और इनसे बोला—'स्वामीजी! आप इस प्रकार स्त्रियोंको एकत्र करते हैं, उनसे बोलते-चालते हैं तो क्या आपके मनमें विकार नहीं उत्पन्न होता है? साधु-सन्तको तो स्त्री-प्रसंगसे बहुत दूर रहना चाहिये।' श्रीराघवदासजीने कहा—'मेरे लिये पुरुष और स्त्रियाँ बराबर हैं, सबमें श्रीरामराघव रमते हैं। मेरा मन सर्वथा पवित्र है, फिर उसमें विकारोंकी कोई सम्भावना कैसे हो सकती है?' क्षत्रियकुमारने कहा—'देखिये, इस बोतलमें मदिरा है, क्या आप इसे दूधके समान मान सकते हैं। यदि अभेद दृष्टि है, तो इसे दूध ही मानिये।' श्रीराघवदासजीने श्रीरामजीका स्मरण करके कहा—'मदिरा भी मेरे लिये दूध ही है। मैं भेद नहीं मानता।' इतना कहते ही बोतल दूधसे भर गयी। परिचय पाकर क्षत्रियकुमारको पूर्ण विश्वास हो गया कि ये मुझ दुष्ट नास्तिकको भी सज्जन और आस्तिक बना सकते हैं। क्षमा-प्रार्थना करता हुआ वह आपके श्रीचरणोंमें पड़ गया। तब आपने शिक्षा-दीक्षा देकर उसे कृतार्थ किया। धाम-गमनका समय जानकर आपने दो दिनका उत्सव किया। सन्तोंके बीच कीर्तन करते हुए शरीर त्यागकर भगवद्धामको चले गये।

श्रीबावनजी

अच्युत कुल सों दोष सुपनेहूँ उर नहिं आनै।
तिलक दाम अनुराग सबनि गुरुजन करि मानै॥
सदन माहिं बैराग्य बिदेहिन की सी भाँती।
राम चरन मकरन्द रहति मनसा मदमाती॥
जोगानन्द उजागर बंस करि निसि दिन हरि गुन गावनो।
हरिदास भलप्पन भजन बल बावन ज्यों बढ्यो बावनो॥ १३६॥

भगवद्भक्तोंकी साधुता तथा अपने भजनके बलसे श्रीहरिदासजी (वामनजी) भी बावनभगवान्की तरह बहुत छोटेसे बहुत बड़े हो गये। आप वैष्णवोंके किसी भी छोटे-बड़े दोषोंको स्वप्नमें भी अपने मनमें नहीं लाते, उनपर ध्यान नहीं देते थे। तिलक-माला (कण्ठी) आदि भक्तोंके चिह्नोंमें आपका परम अनुराग था तथा सभी वैष्णव वेष धारण करनेवालोंको आप अपना गुरु करके मानते। श्रीजनकराजाकी तरह आप भी गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए परम वैराग्यवान् थे। श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलके परागको पानकर आपका मनरूपी भौंरा सदा उन्मत्त रहता था। आप श्रीयोगानन्दजीके वंशकी कीर्तिको उज्ज्वल करके दिन-रात भगवद्गुणोंको गाते रहते थे॥ १३६॥

श्रीबावनजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

'भक्तदामगुणचित्रणी' के अनुसार श्रीबावनजीका नाम हरिदास था और 'बावन' यह आपका उपनाम था। आपने ५२ ग्रामोंका एक मण्डल बना लिया था। उसमें भ्रमण करके आप भक्तिका प्रचार-प्रसार किया करते थे। आप ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए। आपका सन्त-सेवा व्रत था। गाँवोंसे सीधा-सामान लाते और सन्त-सेवा करते। आपके मण्डलके लोगोंमें सन्तोंके प्रति बड़ा सद्‌भाव था। श्रीहरिदासजीका सन्त-समाजमें बड़ा सम्मान था। एक बार इनके यहाँ एक वेषधारी आ गया, जो स्वभावसे सन्त नहीं था। आपके यहाँ कई दिनतक रहा। आपने उसकी भी सेवा की। एक दिन अवसर पाकर उसने छल किया। इनकी पत्नीके पास सन्त-सेवार्थ एक सौ रुपये रखे थे। उसने आकर कहा कि हरिदासजीने रुपये मँगाये हैं। इस प्रकार एक सौ रुपया लेकर वह चम्पत हो गया। बादमें जब भेद खुला तो पत्नी रोने-धोने-खीझने तथा कहने लगी। देखो, साधुओंमें कैसे-कैसे ठग घुसे हुए हैं। अब आप इनकी सेवा बन्द कर दीजिये, मेरी बात मानिये। यह सुनकर श्रीहरिदासजीने कहा—सन्त-सेवाको जल और मुझे मछली समझो। मैं सन्त-सेवाके बिना जीवित नहीं रह सकता हूँ, तू व्यर्थमें क्यों रो रही है? धन जिसका था, वह ले गया। उसे तू अपने बापके घरसे नहीं लायी थी। सन्तोंको दोष मत दे, उन्हें चोर या ठग भी मत कह। वे जो कुछ भी करते हैं, ठीक ही करते हैं। रुपयोंको दूना करनेके लिये ले गये हैं। स्त्रीको इनकी बातोंपर विश्वास न हुआ। दूसरे दिन इनकी वाणीको सत्य करनेके लिये स्वयं श्रीरामजी सन्तका वेष धारण करके आये और बोले—ये दो सौ रुपया लीजिये। पहले जब मैं गृहस्थ था, तब मुझसे एक आदमी दो सौ रुपया उधार ले गया था। अब जब मैं विरक्त हो गया हूँ। तब वह रुपये वापस कर गया। अब ये मेरे कामके नहीं हैं। आप इन्हें सन्त-सेवामें लगा दीजिये। इतना कहकर रुपया देकर घरसे बाहर निकलते ही प्रभु अन्तर्धान हो गये। ढूँढ़नेसे भी नहीं मिले। श्रीहरिदासजीने अपनी पत्नीसे कहा—'तुमने सन्तका प्रेम देखा।' यह सुनकर पत्नी प्रेम-विभोर हो गयी। श्रीहरिदासजीने उन रुपयोंसे भण्डारा कर दिया। सभी सन्तोंका खूब सत्कार किया।

एक सन्तको वायुरोग हो गया, वे आकर हरिदासजीके यहाँ पड़ गये। ये उनकी खूब सेवा-शुश्रूषा करने लगे। कुछ दिनोंके बाद सन्तजी स्वस्थ हो गये। एक दिन सन्तने कहा—मेरे लिये दलिया बना दो। श्रीहरिदासकी पत्नीने दलिया बना दिया। सन्तने थोड़ा-सा खाकर कहा—'यह दलिया मुझे अच्छा नहीं लग रहा है, अब मेरे लिये चनेकी दाल और गेहूँकी रोटी बनाओ।' स्त्रीने मना कर दिया तो सन्त कुपित हो गये। तब वह फटकारती हुई बोली—'जो दूँ, उसे चुपचाप खा लो, बातें मत बनाओ। तुम कौन-सी कमाई करके लाते हो।' इस प्रकार दोनोंमें कुछ कहा-सुनी हो गयी। तब सन्तने पाँच-सात चाँटे लगा दिये। श्रीहरिदासके आनेपर रो-रोकर उसने अपना दुःख सुनाया और कहा—'इस साधुको घरसे अभी भगा दो।' श्रीहरिदासजीने कहा—'ऐसा कभी नहीं हो सकता है। सन्त मेरे माता-पिता हैं। लात-घूँसा और चाँटे मारकर यदि धर्माचरणकी शिक्षा देते हैं तो अति उत्तम है।' यह सुनकर पत्नी रूठ गयी। उसने सन्तसे बोलना-चालना बन्द कर दिया। यह देखकर पाँच-सात दिन बाद सन्त चुपचाप वहाँसे चले गये। उसी समय भगवदिच्छासे हरिदासके पुत्रकी मृत्यु हो गयी। पत्नी बिलख-बिलखकर रोने लगी। हरिदासजीने उसे समझाया कि—'तूने सन्तका अपमान किया, इसीसे तुझको यह दण्ड मिला है। अब सन्तोंमें सदा सद्‌भाव रखना, तभी आनन्द-मंगल होगा।' पत्नीने कहा—'यदि सन्त-सेवामें कुछ चमत्कार है तो आप इस पुत्रको जीवित कर दीजिये। मेरा नहीं तो आपका तो सन्तोंमें पूरा सद्‌भाव है।' भगवत्कृपासे बालक जीवित हो गया। इस चमत्कारसे प्रभावित होकर स्त्री भी प्रेमसे सन्त-सेवा करने लगी। इस प्रकार श्रीहरिदासजी सन्तोंमें दोष नहीं देखते थे।

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी

ज्यों चंदन को पवन नीब पुनि चंदन करई।
बहुत काल तम निबिड़ उदय दीपक ज्यों हरई॥
श्रीभट पुनि हरिब्यास संत मारग अनुसरई।
कथा कीरतन नेम रसन हरि गुन उच्चरई॥
गोबिंद भक्ति गद रोग गति तिलक दाम सद बैद हद।
जंगली देश के लोग सब (श्रीपरसुराम) किए पारषद॥ १३७॥

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीने जंगली असभ्य जनोंको हरिभक्तिका उत्तम उपदेश देकर उन्हें भगवत्पार्षदोंके तुल्य पवित्र एवं पूज्य बना दिया। जिस प्रकार चन्दन वृक्षका स्पर्श करके बहनेवाले वायुका स्पर्श पाकर नीम भी चन्दनके समान हो जाता है तथा जिस प्रकार दीपक पुराने एवं घने अन्धकारको दूर कर देता है, उसी तरह आप भी हरिभक्ति-विमुख लोगोंको अपने सम्पर्कसे पवित्रकर उनके अज्ञानको दूर कर देते थे। आप श्रीभट्टजी तथा श्रीहरिव्यासदेवाचार्य आदि सन्तोंके मार्गपर चले। नित्य नियमपूर्वक आप अपनी जिह्वासे भगवत्कथा एवं कीर्तन करते रहते थे। जिस प्रकार कोई उत्तम वैद्य मधुर अनुपानके साथ रस-रसायनद्वारा असाध्य रोगीको रोग-मुक्त कर देता है, उसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीने भी तिलक-कण्ठीके समेत हरिभक्तिका उपदेश देकर संसारी जीवोंको जगत्के पाप-ताप आदि रोगोंसे मुक्त किया॥ १३७॥

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीपरशुरामदेवजीका जन्म जयपुर राज्यमें सोलहवीं सदीमें हुआ था। वे परमरसिक महात्मा हरिव्यासदेवजीके शिष्य थे। परशुरामदेव अच्छे कवि और रसोपासक थे। भगवान्‌की कथा-सुधाके रसास्वादनमें उन्हें अमित आनन्द मिलता था। दूसरोंको कथामृतपान करानेके लिये वे सदा प्रस्तुत रहते थे। वे तिलक लगाने, माला फेरने और भगवद्‌गुणानुवाद करनेको बड़ा महत्त्व देते थे। वे कहा करते थे कि जहाँ धर्मकी खेती होती है, भगवान्‌के भक्तजन रहते हैं, वहीं साधु और सन्त अपने रहनेका स्थान बना लेते हैं। जिस तालाबमें पानी नहीं होता, उसके किनारे हंस नहीं रहा करते। जिस मनुष्यमें भगवान्‌का प्रेम नहीं होता, उसके पास भक्तजन भूलकर भी नहीं जाते।

परशुरामदेवका व्यक्तित्व बहुत ऊँचा था। उनमें अलौकिक तेज था। उनका जीवन पूर्णरूपसे तपोमय था। विधर्मीतक उनके दर्शनसे प्रभावित हो जाया करते थे। अजमेरके निकट सलेमशाह नामका एक फकीर रहता था। वह हिन्दुओं तथा अन्य मतावलम्बियोंको हेय दृष्टिसे देखता था। साधु-सन्तोंपर अत्याचार करनेमें उसे तनिक भी संकोच नहीं होता था। लोग उससे डरते थे कि कहीं अपनी सिद्धियोंसे वह उन्हें हानि न पहुँचा दे। महात्मा हरिव्यासजीकी आज्ञासे परशुरामदेवने उसके दम्भ और पाखण्डका अन्त किया। जनताका उसके आतंकसे परित्राण करके भगवद्भक्तिकी महिमाका विस्तार किया। सलेमाबादमें उन्होंने राधा-माधवके मन्दिरका निर्माण करवाया और शहरका नाम परशुरामपुर रखा।

परशुरामदेवजी उच्चकोटिके रसिक थे, बड़े ठाट-बाटसे रहते थे। देखनेवालोंको भ्रम हो जाया करता था कि वे विरक्त हैं या गृहस्थ। एक बार एक ब्राह्मणने इनकी त्यागवृत्तिकी परीक्षा ली। उसने इनसे माया-त्यागकी बात चलायी। सन्तों और भक्तोंका चरित्रवैचित्र्य दूसरोंके उपकारके लिये होता है। परशुरामदेवने

अपनी सारी वस्तुएँ त्याग दीं, केवल कौपीन धारणकर वे उसके साथ नागेश्वर पहाड़की गुफामें चले गये। थोड़ी ही देरमें एक बनजारा आया, उसने अपनी सम्पत्ति इनके चरणोंमें चढ़ा दी। ब्राह्मण परशुरामदेवकी इस सिद्धि और प्रभावसे चकित हो उठा। उसने चरण पकड़कर क्षमा माँगी और उनकी आज्ञामें प्राणतक निछावर करनेको तैयार हो गया।

श्रीप्रियादासजीने अपने एक कवित्तमें इस घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

राजसी महन्त देखि, गयौ कोऊ अन्त लैन, बोल्यौ 'जू अनन्त हरि सगे, माया टारियै।
चले सङ्ग वाके, त्यागि, पहिरि कुपीन अंग, बैठे गिरि कन्दरा में लागी ठौर प्यारियै॥
तहाँ बनिजारौ आय सम्पति चढ़ाय दई, दई और पालकी हूँ, महिमा निहारियै।
जाय लपटायौ पाँय, 'भाव मैं न जान्यौं कछू आन्यौं उरमाँझ, आवै प्राण वारि डारियै॥ ५२२॥

परशुरामदेवने भगवान्‌की रसमयी भक्तिसे अनेक जीवोंका कल्याण किया। एक बार एक अद्वैतवादी वेदान्ती संन्यासीके शिष्यने उनसे दीक्षा लेकर भक्तिमार्गका अवलम्बन लिया। संन्यासीने उसके सिरपर एक घड़ा जल भरकर उनके सामने भेजा, जिसका आशय यह था कि मैंने इसके हृदयको अद्वैत-जलसे परिपूर्ण कर दिया था। इसे नये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं थी। परशुरामदेवने घड़ेमें मीठा डाल दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि अभी भक्ति-माधुरीकी उसमें कमी थी। संन्यासी उनकी ओर आकृष्ट हो गया और उनमें उसकी श्रद्धा हो गयी।

उन्होंने 'परशुरामसागर' नामक एक ग्रन्थका निर्माण किया। इस ग्रन्थमें बाईस सौ दोहे, छप्पय, छन्द और अनेक पद हैं। इस सरस ग्रन्थमें भक्ति, ज्ञान, गुरुनिष्ठा और प्रेमकी महिमाका बखान विशेषरूपसे किया गया है।

श्रीगदाधरभट्टजी

सज्जन सुहृद सुसील बचन आरज प्रतिपालय।
निर्मत्सर निहकाम कृपा करुना को आलय॥
अननि भजन दृढ़ करन धर्‌यो बपु भक्तनि काजै।
परम धरम को सेतु बिदित बृन्दाबन गाजै॥
भागवत सुधा बरषै बदन काहू को नाहिन दुखद।
गुन निकर गदाधर भट्ट अति सब ही को लागै सुखद॥ १३८॥

श्रीगदाधरभट्टजी समस्त सद्‌गुणोंके समूह तथा सभीको सुख देनेवाले थे। आप स्वभावसे सज्जन, सबके मित्र, सदाचारी और पूर्वाचार्योंके वचनोंका पालन करनेवाले थे। आप ईर्ष्या, कामना आदि दुर्गुणोंसे रहित, कृपा और करुणाके निधान थे। लोगोंमें अनन्यभावपूर्वक भजन-साधनको दृढ़ करनेके लिये आपने शरीर धारण किया था। आप परम धर्मके पुष्ट सेतु थे। श्रीवृन्दावनधाममें सर्वदा विराजते थे। श्रीमद्भागवतकी कथा-सुधा आपके श्रीमुखसे बरसती रहती थी। आप किसी भी प्राणीके लिये दुःखद नहीं थे॥ १३८॥

श्रीगदाधरभट्टजीके विषयमें संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) अपने इष्टके धाम 'श्रीवृन्दावन' के प्रति निष्ठाका एक दृष्टान्त

श्रीगदाधरभट्टजी आन्ध्रप्रदेशके वैल्लनाटीय तैलंग ब्राह्मण थे। श्रीजीवगोस्वामीजीकी प्रेरणासे वे

वृन्दावनमें आकर श्रीरघुनाथभट्टजीके अनुगत शिष्य हो गये थे। श्रीगदाधरभट्टजी जब अपनी जन्मभूमि घरमें ही रहते थे, उस समय उन्होंने *'सखी हौं स्याम रंग रँगी'* यह पद बनाया। श्रीजीवगोस्वामीजीने श्रीवृन्दावनमें किसीको गाते हुए उक्त पदको सुना तो उनका मन विभोर हो गया। उन्होंने शीघ्र ही एक पत्र लिखकर दो सन्तोंको श्रीगदाधरभट्टजीके पास भेजा। पत्रमें लिखा था कि—'बिना (रँगनेके स्थान)-के आपके ऊपर रंग कैसे चढ़ गया, मुझे यह सोच-विचारकर अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है।' प्रेमसे ओत-प्रोत पत्रको लेकर दोनों सन्त श्रीभट्टजीके गाँवमें पहुँचे। उस समय परमरसिक सन्त श्रीभट्टजी गाँवके बाहर एक कुएँपर बैठे दातौन कर रहे थे। सन्तोंने श्रीभट्टजीसे ही पूछा—'यहाँ श्रीगदाधरभट्टजी कहाँ निवास करते हैं?' उत्तरमें श्रीभट्टजीने उन दोनों सन्तोंसे पूछा—'आप लोग किस स्थानमें रहते हैं?' सन्तोंने उत्तर दिया—'श्रीवृन्दावनधाममें।' यह सुनते ही श्रीभट्टजी मूर्छित होकर कुएँसे नीचे भूमिपर गिर पड़े। उस समय ऐसा लग रहा था कि मानो इनके प्राणोंने भगवत्प्राप्ति कर ली।

श्रीगदाधरभट्टजीकी मूर्च्छा देखकर पत्र लेकर आनेवाले साधुओंसे किसी ग्रामवासीने बताया कि 'श्रीगदाधरभट्टजी ये ही हैं।' आश्चर्य करते हुए प्रेमके साथ तब उन साधुओंने श्रीभट्टजीके कानमें कहा कि 'हम आपके लिये श्रीवृन्दावनसे श्रीजीवगोस्वामीजीका पत्र लाये हैं।' यह सुनकर इनकी मूर्च्छा दूर हो गयी और उठकर बैठ गये। साधुओंने पत्र दिया, आपने उसे लेकर सिरसे लगाया और पढ़कर उसी क्षण उन साधुओंके साथ चल दिये और शीघ्र ही श्रीवृन्दावन आकर सर्वप्रथम श्रीजीवगोस्वामीजीसे मिले। मिलन-सुखसे आँखोंमें आनन्दके आँसू भर गये। शरीरकी सुधि-बुधि भूल गये। तत्पश्चात् धैर्य धारणकर वही *'सखी हौं स्याम रंग रँगी'* पद गाया। श्रीवृन्दावनमें निवास करते हुए आपने श्रीजीवगोस्वामीसे अनेक भक्तिशास्त्रोंका अध्ययन और सन्तोंके साथ सत्संग किया। श्रीकृष्णकी कथाओंके रसकी उमंग आपके अंग-अंगमें भर गयी। भावमें विभोर होकर आप नित्य श्रीमद्भागवतकी कथा कहने लगे।

श्रीप्रियादासजीने श्रीगदाधरभट्टजी और श्रीजीवगोस्वामीके मिलनकी घटनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

'स्याम रङ्ग रँगी, पद सुनिकै, 'गुसांई जीव' पत्र दै पठाये उभै साधु वेगि धाये हैं'।
'रैनी बिन रंग कैसे चढ्यौ' अति सोच बढ्यौ, कागद में प्रेम मढ्यौ तहाँ लैके आये हैं॥
पुर ढिग कूप, तहाँ बैठे रस रूप, लगे पूछिबे कौ तिनहीं सों नाम ले बताये हैं।
रहौ कौन ठौर, सिरमौर वृन्दावन धाम नाम सुनि मुरछा है गिरे प्रान पाये हैं॥ ५२३॥
काहू कही 'भट्ट श्रीगदाधर जू एई जानौ' मानौ उही पाती चाह फैरिकै जिवाये हैं।
दियो पत्र, हाथ लियो, सीस सौं लगाय, चाय, बाँचत ही चले, वेगि वृन्दावन आये हैं॥
मिले श्रीगुसाईं जू सों आँखैं भरि आईं नीर, सुधि न शरीर धरि धीर वही गाये हैं।
पढ़े सब ग्रन्थ, संग नाना कृष्णकथा रंग, रसकी उमंग अंग अंग भाव छाये हैं॥ ५२४॥

(ख) श्रीमद्भागवतकथाके मध्य घटी एक विलक्षण घटना

मथुरा-वृन्दावनके मध्यमें बसे धौरहरा गाँवका निवासी कल्याणसिंह नामक एक पवित्र हृदयवाला राजस्थानी राजपूत वृन्दावनमें श्रीगदाधरभट्टजीकी कथामें आने लगा। कथाका ऐसा विचित्र रंग उसपर चढ़ा कि उसने अपनी स्त्रीसे हँसना-बोलना बिलकुल छोड़ दिया। इससे उसकी स्त्री बड़े दुःखमें पड़ गयी। उसने निश्चय किया कि मैं ऐसी कोई नयी युक्ति करूँ, जिससे हमारे पतिका मन कथा और कथावाचकसे हट जाय। इसी बीच एक गर्भवती तरुणी स्त्री गाँवमें भीख माँगती दिखायी पड़ी।

कल्याणसिंहकी स्त्रीने युवती भिखारिनको बुलाकर बीस रुपये दिये और समझाया कि तुम वृन्दावन चली जाओ और जिस समय श्रीगदाधरभट्टजीकी कथा हो, उसी समय सबके सामने कहना—'महाराज! जैसे आपने मुझपर कृपा की और मुझे गर्भवती किया, उसी प्रकार अब मेरी सुधि लीजिये।' उस भिखारिनने स्वीकार कर लिया, तब उसने अपनी एक दासी उसके साथ कर दी। धनके लोभवश भिखारिनका चित्त दूषित हो गया था। उसने कथामें जाकर सबको सुनाकर श्रीभट्टजीसे कहा कि 'अब मेरा प्रबन्ध कीजिये।' उसकी इन बातोंको सुनकर श्रीगदाधरभट्टजीने कहा—'आओ-आओ, बैठो। मैं तो नित्य मनमें तुम्हारा स्मरण करता था, परंतु तुम जाने कहाँ चली गयी थी।' श्रोताओंने जब ये बातें सुनीं तो उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ और वे कहने लगे कि यह स्त्री झूठ कह रही है, इसे मारो, दूर भगा दो। यह सुनकर उसके प्राणोंकी रक्षाके लिये श्रीभट्टजीने कहा—यह सत्य कहती है। यह सुनकर श्रोताओंको बड़ा दुःख हुआ।

श्रोताओंमें श्रीराधिकाबल्लभदासजी नामक एक सन्त बैठे थे, वे बड़े बुद्धिमान् थे, उन्हें भी भिखारिन और भट्टजीका संवाद सुनकर महान् दुःख हुआ। उन्होंने उस भिखारिनको एकान्तमें बुलाकर उसे समझाया और डराया कि जो सच्ची बात है, उसे बता दो, तब तो तुम्हें छोड़ दिया जायगा। नहीं तो अभी तुझे मार डाला जायगा। यह सुनकर वह डर गयी और उसने सब रहस्य खोल दिया, जिसे सुनकर श्रोताओंकी जान-में-जान आयी। कल्याणसिंहजीने जब अपनी स्त्रीकी यह करतूत सुनी तो उन्हें बड़ा क्रोध आया और म्यानसे तलवार निकालकर उसे मारनेके लिये चले। तब श्रीभट्टजीने उन्हें रोक लिया और समझाते हुए कहा—'इन स्त्रियोंने हमारे ऊपर बड़ी दया की है, उन्होंने अहंकार एवं प्रभुतारूपी पिशाचिनीसे बचाया है।' सन्त श्रीभट्टजीके स्वभावको देखकर कि अपराधीके प्रति कितनी दया है, दोनों स्त्रियाँ भक्त बन गयीं।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

नाम हो कल्यानसिंह जात रजपूत पूत, बैठ्यौ आय, कथा सो अभूत रंग लाग्यो है।
निपट निकट वास 'धौरहा' प्रवास गांव हास परिहास तज्यो, तिया दुःख पाग्यो है॥
जानी भट्ट संग सों अनंग वास दूर भई, करौ लैकै नई आनि हिये काम जाग्यो है।
माँगत फिरत हुती जुवती औ गर्भवती, कही लै रुपैया बीस नैकु कहो राग्यो है॥ ५२५॥
गदाधर भट्ट जू की कथा में प्रकाश कहो, 'अहौ कृपा करी अब मेरी सुधि लीजियै'।
दई लौंड़ी संग, लोभ रंग चित्त भंग किये दिये लै बताय, बोली 'मेरौ काम कीजियै'॥
बोले आप 'बैठिये जू जाप नित करौं हिये, पाप नहीं मेरौ गई दर्शन दीजियै।
श्रोता दुख पाय, भाखैं झूठी याहि मारि नाखैं साँची कहि राखें, सुनि तन मन छीजियै॥ ५२६॥
फाटि जाय भूमि तौ समाय जायँ श्रोता कहैं, बहै दृग नीर ह्वै अधीर सुधि गई है।
राधिकाबल्लभदास प्रकट प्रकाश भास, भयौ दुःख रास, सुनि सो बुलाय लई है॥
'साँच कहि दीजै नहीं अभी जीव लीजै', डरि, सबै कहि दीयौ, सुख लियौ संज्ञा भई है।
काढ़ि तरवार तिया मारिबे कल्यान गयो, दयौ परबोध 'हमें करी दया नई है'॥ ५२७॥

(ग) कथाके श्रोता एक महन्तजी और श्रीगदाधरभट्टजीका प्रेमाह्लाद

श्रीगदाधरभट्टजीकी कथाकी प्रशंसा सुनकर व्रजभूमिसे बाहर किसी स्थानके एक महन्तजी भी कथा सुनने आये। लोगोंने उन्हें सम्मानपूर्वक आगे बैठाया। कथा होने लगी तो महन्तजीने देखा कि कथा सुनकर सभी सन्तोंके नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं। अब महन्तजी सोचने लगे कि मेरी आँखोंमें आँसू क्यों नहीं आते? वे शोक-समुद्रमें मग्न हो गये। सोचते-सोचते उन्हें एक उपाय सूझा। दूसरे दिन जब ये कथा सुनने आये

तो पिसी लाल मिर्च छिपाकर लाये और कथा सुनते हुए उन्होंने अपनी आँखोंमें मिर्च लगा ली। इस बातको किसी सन्तने जान लिया और कथाके समाप्त होनेपर श्रीगदाधरभट्टजीको बता दिया। जब सभी श्रोता चले गये, तब श्रीभट्टजी महन्तजीको छातीसे लगाकर मिले और रोते हुए पुकारकर बोले—मेरे मनमें यदि ऐसी रोनेकी तीव्र इच्छा प्रकट हो जाती तो मेरा जन्म सफल हो जाता। इस प्रकार कहते-कहते आपके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। उससे महन्तजी भीग गये और उनके हृदयमें भी प्रेम प्रकट हो गया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

रहै काहू देस में महन्त, आये कथा माँझ, आगै लै बैठाये देखैं सबै साधु भीजे हैं।
'मेरे अश्रु पात क्यों न होत, सोच सोत परे करे लै उपाय दै लगाय मिर्च खीजे हैं॥
सन्त एक जानिकै जताय दई भट्टजू कौ, गए उठि सब जब मिलि अति रीझे हैं।
'ऐसी चाह होय मेरे' रोयकै पुकारि कही, चली जलधार नैन प्रेम आय धीजे हैं॥ ५२८॥

(घ) चोर भगवद्भक्त बन गया

एक बार श्रीगदाधरभट्टजीके आश्रममें (माँट गाँवका) एक चोर घुस आया और उसने बहुत-सी सम्पत्ति-सामान बटोरकर एक गठरी बाँध ली, परंतु जब वह गठरी उठाने लगा तो अधिक भारी होनेके कारण उसे उठा न सका। श्रीभट्टजी देख रहे थे, वे उसके पास आये और उन्होंने गठरी उठवा दी। चोरको आश्चर्य हुआ। उसने आपका नाम पूछा। तब आपने बता दिया। नाम सुनकर उसके मनमें इनके प्रति बड़ा प्रेम हुआ और वह बोला—'मुझसे बड़ी भारी भूल हुई, मैं नहीं जानता था कि यह आपका घर है।' सिरसे गठरी उतारकर वह क्षमा-प्रार्थना करने लगा। तब आपने कहा—'आप इस गठरीको ले जाओ। मेरे पास तो सबेरा होते ही इससे दसगुनी सम्पत्ति और आ जायगी। तुम्हारी तो यही जीविका है।' उसने श्रीभट्टजीके चरण पकड़ लिये और शिष्यता स्वीकार कर ली। चोरी करना छोड़ दिया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आयौ एक चोर, घर सम्पति बटोरि, गाँठि बाँधी, लै मरोरि किहूँ उठै, नाहिं भारी है।
आयकै उठाय दई, देखी इन रीति नई, पूछ्यौ नाम, प्रीति भई, भूलो मैं बिचारी है॥
बोले आप लै पधारौ, होत ही सवारौ आवै और दसगुनी मेरे तेरी यह ज्यारी है।
प्राननि कौं आगे धरौ आनि कै उपाय करौ, रहे समझाय भयौ शिष्य चोरी टारी है॥ ५२९॥

(ङ) श्रीगदाधरभट्टजीका भगवद्भाव

श्रीगदाधरभट्टजी श्रीमद्भागवतके मर्मज्ञ विद्वान् थे, अतः सेवा-भक्तिका प्रभाव जैसा भागवतमें कहा गया है, उसे भलीभाँति जानते थे। इसलिये भक्त-भगवन्तकी सेवा-टहल नित्य आप अपने हाथोंसे ही करते थे। एक दिन आप मन्दिरमें चौका लगा रहे थे। उसी समय कोई धनी-मानी आपका शिष्य बहुत-सी भेंट लेकर दर्शन करने आया। श्रीभट्टजीके एक शिष्यने दूरसे देखकर आपसे कहा—'महाराजजी! आप शीघ्र हाथ धोकर अपने आसनपर बैठ जाइये। भक्त भेंट लेकर आ रहा है।' यह सुनकर आप उसके ऊपर नाराज हो गये। पुनः समझाया कि 'भगवत्-सेवामें ही हमें रुचि है, अतः सेवाको त्यागकर भेंट लेनेके लिये गद्दीपर नहीं बैठ सकते हैं।'

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रभु की टहल निज करनि करत आप, भक्ति कौ प्रताप जानें भागवत गाई है।
देत हुते चौका, कोऊ शिष्य बहु भेंट ल्यायौ, दूर ही ते देखि दास आयौ सो जनाई है॥

धोवौ हाथ बैठौ आप, सुनिकै रिसाय उठे, सेवा ही में चाय वाकौ खीझि समझाई है।
हिये हित रासि जग आस कों विनास कियौ, पियौ प्रेम रस ताकी बात लै दिखाई है॥ ५३०॥

चारण भक्त

चौमुख चौरा चंड जगत ईस्वर गुन जाने।
करमानँद अरु कोल्ह अल्ह अच्छर परवाने॥
माधौ मथुरा मध्य साधु जीवानँद सींवा।
दुदा नरायनदास नाम माँड़न नतग्रीवा॥
चौरासी रूपक चतुर, बरनत, बानी जुवा।
चरन शरन चारन भगत हरि गायक एता हुआ॥ १३९॥

भगवान्‌के चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करनेवाले और उन्हींके गुणोंको गानेवाले ये तेरह चारण (गवैया) भक्त हुए। श्रीचौमुखजी, श्रीचौराजी, श्रीचण्डजी, जगत्‌में भगवद्‌गुण गानेवाले श्रीईश्वरदासजी, श्रीकरमानन्दजी, श्रीकोल्हजी, प्रामाणिक काव्य रचनेवाले श्रीअल्हजी, मथुरामें रहनेवाले श्रीमाधवजी, सरल-सन्त श्रीजीवानन्दजी, श्रीसींवाजी, श्रीदूदाजी, श्रीनारायणदासजी और नम्र स्वभाववाले श्रीमाण्डनजी। ये सभी चारण भक्त चौरासी प्रकारसे (अथवा चौरासी लाख योनियोंके) रूपकोंकी रचनामें तथा अनेक प्रकारसे अलग-अलग हरिगुणगानमें परम चतुर हुए॥ १३९॥

इन चारण भक्तोंमेंसे कुछ भक्तोंके चरित इस प्रकार हैं—

श्रीचौमुखजी

श्रीचौमुखजी बड़े ही भगवद्भक्त संत थे। इनका दूसरा नाम चौमौ था। एक बार श्रीचौमुखजी अपने नगरसे बैलोंके रथपर सवार होकर दर्शनार्थ द्वारकापुरीको जा रहे थे। चलते-चलते रास्तेमें जंगलके मध्य एक बैल मर गया। अब समस्या हो गयी कि एक बैलसे रथ कैसे चले! आप मनमें बहुत चिन्तित हुए, तब उसी क्षण एक बैल आपके रथके पास आकर खड़ा हो गया। आप उसे रथमें जोतकर सानन्द द्वारका आये। यहाँ आते ही वह बैल अन्तर्धान हो गया। तब इन्हें बड़ा दुःख हुआ। भगवान् स्वयं बैल बनकर रथमें जुते—यह सोच-सोचकर भगवान्‌की वत्सलतापर आप न्यौछावर होते थे, प्रभुकी कृपाका ध्यानकर आपकी आँखें सजल हो रही थीं। आपको इस प्रकार चिन्तित देखकर भगवान्‌ने स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा कि यदि मैं अपने भक्तपर इतना वात्सल्य न करूँ तो फिर मेरा भजन कौन करे!

श्रीराघवदासजीकृत भक्तमालमें लिखा है कि आप एक दिन प्रभुकी स्तुति कर रहे थे। आपके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। आपको अपने शरीरकी सुधि न थी। उसी समय राजाका नौकर आपको बुलाने आया। किंतु भगवान्‌की स्तुति छोड़कर आप उसके साथ नहीं आये। इससे राजा रुष्ट हो गया। आप स्तुति-पूजा समाप्त करके राजसभामें गये तो राजाने इन्हें फटकारकर सभाके बाहर निकाल दिया। यह प्रभुको अच्छा नहीं लगा। उन्होंने रातको स्वप्नमें राजासे कहा—चौमुखकी भक्तिसे हम प्रसन्न हैं, वह हमें बहुत प्रिय लगता है। तुम आज प्रातःकाल उसे अपने दरबारमें बुला लेना और सत्कार करना। नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। भगवान्‌के आज्ञानुसार राजाने श्रीचौमुखजीको बुलाकर क्षमा-प्रार्थना करके उनका सत्कार किया और इच्छानुसार भजन-पूजनके बाद दरबारमें दर्शन देनेकी प्रार्थना की।

श्रीचण्डजी

इनका पूरा नाम चूड़ाजी भी था। ये इसी छप्पयमें आये श्रीमाधवदासजीके पिता थे। ये मेड़ताके ठाकुर श्रीचारभुजाजीके अनन्य भक्त थे। इनकी भक्तिके प्रभावसे ही इन्हें माधवदास-सरीखे भक्त पुत्रकी प्राप्ति हुई।

श्रीईश्वरदासजी

ये रोहड़िया शाखाके चारण थे। इनका जन्म जोधपुर राज्यमें भाद्रेस गाँवमें वि० सं० १५९५ में हुआ था। आपके जन्मके सम्बन्धमें यह दोहा प्रसिद्ध है—***'पन्द्रह सौ पंचानबे जनम्या ईसरदास। चारण वर्ण चकार में उस दिन भयौ उजास॥'***

आपके पिताका नाम सूजा और माताका नाम अमरबाई था। आपकी धर्मपत्नीका नाम देवलबाई था, जिनकी असामयिक मृत्यु हो गयी। आपके गुरु श्रीपीताम्बरजी भट्ट थे। जामनगरमें पेथा भाई अबसूराकी पुत्री राजबाईके साथ आपका दूसरा ब्याह हुआ। पहले ईश्वरदासजी राजाओंको प्रसन्न करनेके लिये उनकी कीर्तिका गान किया करते थे। जामनगरमें जाकर वहाँके राजाको भी आपने कविताएँ सुनायीं। उत्तम कविता थी, अतः राजा बहुत प्रसन्न हुआ। परंतु श्रीपीताम्बरजी भट्ट इनकी कविता सुनकर बहुत उदास हुए। उन्होंने प्रशंसा भी नहीं की, अतः ईश्वरदासजीके मनमें भट्टजीके प्रति द्वेष उत्पन्न हुआ और ये बदला लेने (मारने)-की इच्छासे रातमें पीताम्बरभट्टके यहाँ गये और छिपकर बैठ गये। भट्टजी अपनी पत्नीसे वार्तालाप कर रहे थे। उसे ईश्वरदासजी सुन रहे थे। उनकी पत्नीने पूछा कि आप उदास क्यों हैं? उन्होंने कहा—'आज एक चारण दरबारमें आया, उसकी सुन्दर कविता सुनकर मेरा मन खिन्न हो गया।' स्त्रीने फिर पूछा कि सुन्दर कविता सुनकर तो आपको प्रसन्न होना चाहिये, फिर आप खिन्न क्यों हो गये? तब भट्टजीने कहा कि इतनी विशिष्ट काव्य रचनेकी प्रतिभा पाकर उसने राजाके गुण गाकर उसे प्रसन्न किया और धन-मान पाकर फूल गया। क्या अच्छा होता कि यदि वह अपनी कविताके द्वारा ईश्वरकी कीर्तिको गाकर उन्हें प्रसन्न करता तो उसे जीवन-जन्मका परम लाभ मिल जाता। इतना सुनते ही हथियार फेंककर ईश्वरदास प्रकट हो गये और भट्टजीके चरणोंमें गिर गये, रोने लगे और अपनी दुष्ट भावनाको प्रकटकर बारम्बार क्षमा-याचना करने लगे।* उसी समय भट्टजीको गुरु मानकर उनके शिष्य बन गये और प्रतिज्ञा की कि 'अब मैं केवल ईश्वरके गुणोंका ही गान किया करूँगा, किसी अन्यका नहीं।' तभीसे आप भक्त हो गये। इस प्रतिज्ञासे राजसभाओंमें भी आपका विशेष आदर हुआ। सर्वत्र आप हरियशका गानकर दूसरोंको तथा अपनेको भी कृतार्थ करते थे। ये लगभग बीस वर्षकी आयुमें सं० १६१५ में जामनगर पहुँचे। वहाँके रावल जामने संचणो आदि कई गाँव इन्हें भेंटमें दिये। लगभग छः वर्ष जामनगरमें निवास करनेके बाद पुनः अपने गाँव भाद्रेसमें आ गये। वहीं रमणीय नदीके तटपर एकान्तमें कुटी बनाकर भजन करने लगे। ये भजनानन्दी, प्रतापी सिद्ध सन्त हुए।

एकबार ये द्वारकाधीशका दर्शन करनेके लिये चले। साथमें आपके चाचा आसवदास (आशानन्दजी) भी थे। चलते-चलते एक जगह जंगलमें सुन्दर सरोवर देखकर वहीं स्नान और भजन-पूजन हुआ। उसके बाद आपने अग्नि चेतायी और उसके ऊपर पात्रमें पानी चढ़ा दिया। चाचा आशानन्दजीने कहा—यहाँ दाल, चावल आदि कुछ भी सामान नहीं है, फिर भी आपने व्यर्थ ही आगपर पानी चढ़ा दिया। श्रीईश्वरदासजीने उत्तर दिया—***'ईश भरोसे ऊकले आँधन ईसरदास। ऊकलतामें ऊरसी रख वन्दा विश्वास॥'*** अर्थात् ईश्वरके भरोसे पानी खौल रहा है, ईश्वरदासको विश्वास है कि खौलते हुए जलमें प्रभु (दाल, चावल आदि) कुछ डालेंगे। आपका विश्वास फलीभूत हुआ, उसी समय एक बंजारेके वेषमें आकर प्रभुने सब सामान

* यह कथा महर्षि वसिष्ठ एवं विश्वामित्रसे सम्बन्धित एक प्रसंगसे मिलती-जुलती तथा उसीके समान प्रेरक भी है।

दिया। भोजन बना और भोग लगा तब पुनः एक सन्तके रूपमें भगवान्‌ने आकर साथ-साथ भोजन किया। जब आप द्वारकापुरीमें श्रीद्वारकाधीशजीका दर्शन करने गये तो उस समय परदा पड़ा हुआ था। आप दर्शनोंके लिये लालायित थे, अतः बोले—*'कह ईसर रे ईसरा खोल पड़ाद्दा यार। मैं आया तुझ कारने दिखला दे दिद्दार॥'* सख्य रसावेशकी प्रिय भाषा सुनकर बिना पुजारीके खोले ही परदा खुल गया। चकितचित्त पुजारियोंने बाहर आकर देखा तो जान लिया कि भक्तवर ईश्वरदासके लिये ही अनवसरमें स्वयं प्रभुने परदा खोल दिया।

एक बार आप दर्शनार्थ द्वारकापुरी गये। प्रेमोन्मत्त होकर आपने विविध छन्दोंको गाकर प्रभुकी स्तुति की। भगवान्‌की अद्भुत छबि देखकर इनके मनमें साक्षात् प्रभुके दर्शनोंकी तीव्र उत्कण्ठा जगी। नहीं रहा गया तब आप समुद्रमें कूद पड़े। पर थलकी तरह जलमें इतस्ततः रोते-गाते घूमते रहे। न तो आप डूबे न किसी जीव-जन्तुने ही पकड़ा और न दर्शन ही हुए। तब भगवत्प्रेरणासे आप बाहर निकल आये और श्रीद्वारकाधीशके द्वारपर अनशन व्रत लेकर बैठ गये। तीसरे दिन आपको आकाशवाणी सुनायी पड़ी। प्रभुने कहा—हम तो तुम्हारे प्रेमके अधीन हैं, अतः तुम कष्ट न सहकर घरको जाओ और सन्त-सेवाके निमित्त तुमने जो धनका संग्रह किया है, उसे सन्त-सेवामें लगा दो। उसके बाद घरपर ही मैं तुम्हें दर्शन दूँगा। प्रातःकाल मैं तुम्हें अपनी प्रसादी-माला दिलाऊँगा। आज्ञा पाकर आपने अनशन त्यागकर प्रसाद लिया। प्रातःकाल भगवान्‌ने पण्डाजीको आज्ञा दी, तब पण्डाजीने माला-प्रसादी ईश्वरदासको प्रदान की। इसके बाद आप घर आये और बड़े प्रेमसे आपने महोत्सव आरम्भ किया। संग्रहीत धनके अतिरिक्त और भी बहुत-सा धन लगाकर आपने सन्त-सेवा की। विदाई करते समय आपके साथमें प्रत्यक्ष प्रभु सन्तोंका सत्कार कर रहे थे। ये बीच-बीचमें प्रभु-दर्शनसे विभोर होकर सुध-बुध खो बैठते। तब भगवान् इन्हें सचेत करके कर्तव्यका निर्देश देते। इसके बाद प्रभुछवि इनके नैनोंमें, मनमें बस गयी। उसीमें मग्न रहते।

अमरेलीमें भक्त कर्णदासजी रहते थे। उनके पिताजी भी हरिभक्त थे। उनसे आपकी प्रगाढ़ मैत्री थी। परस्पर सत्संग करके दोनों परमानन्दका अनुभव करते थे। एकबार आप अमरेलीको जा रहे थे। मार्गमें साँगा गौड़ राजपूतके यहाँ आप ठहरे। आपने भोजन-विश्राम किया। साँगाने एक कम्बल भेंट किया। उसकी कोर बनाना बाकी था, अतः आपने कहा कि मैं अमरेलीसे जब लौटूँगा। तब इसे ले लूँगा। ऐसा कहकर आप अमरेली चले गये। वहाँपर कर्णदासको महान् विषधर सर्पने डस लिया। उसकी मृत्युसे सभीको बड़ा कष्ट हुआ। लोगोंके करुण-क्रन्दनसे आपका कोमल-हृदय पसीज गया। तब आपने प्रभुसे विनती करके कर्णदासजीको जीवित कर दिया। कुछ दिन वहाँ भजन-कीर्तन एवं सत्संगसे लोगोंको कृतार्थकर श्रीईश्वरदासजी लौटे और साँगा राजपूतके यहाँ गये। साँगाकी माताने इनका स्वागत-सत्कार किया। पश्चात् भोजन परोसा, तब आपने पूछा कि साँगा कहाँ है? माताने कहा—आप भोजन कीजिये, वह यहाँ नहीं है। आपने कहा—'कम्बल देना पड़ेगा, इस भयसे मेरे पास नहीं आ रहा है क्या?' माताने कहा—ऐसा नहीं, आप भोजन कर लें तब उसका पता बताऊँगी। आपने कहा—जबतक वह नहीं आयेगा, तबतक मैं प्रसाद नहीं पाऊँगा। अब मातासे नहीं रहा गया, वह रोने लगी। लोगोंने बताया कि वह अपने गोवंशको चराने गया था। नदी पार करते समय भयंकर बाढ़ आयी और सभी पशुओंके सहित साँगा डूबकर बह गया। महीनों पहलेकी बात है। साँगा भक्तके प्रेममें आकर श्रीईश्वरदासने कहा—अरे! ऐसा तो नहीं होना चाहिये। मुझे कम्बल दिये बिना कहाँ चला गया, फिर तो आपने भगवान्‌की विनती की एवं अनेक भावपूर्ण छन्द पढ़े। प्रभु-कृपासे साँगा अपने सम्पूर्ण गोवंशके साथ नदीसे निकलकर आ गया। ईश्वरदासके चरणोंमें उसने

दण्डवत्प्रणाम किया। साथ-साथ भोजनकर इन्हें कम्बल भेंट किया। इस ईश्वर-लीलासे वहाँकी सारी जनतापर इनका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। आपके उपदेशसे अनन्त जीवोंका कल्याण हुआ। लोगोंने इन्हें साक्षात् ईश्वरके समान माना। मृतकको जीवित करनेवाले सिद्ध-सन्त अनेक हुए। पर इतने दिनों बाद उन-उन जीवात्माओंको जाने कहाँ-कहाँसे वापस बुला लेना—यह ईश्वरके अतिरिक्त किसकी सामर्थ्य है। तभीसे उक्ति प्रसिद्ध हुई—***'ईसरा सो परमेसरा'*** अर्थात् जो ईश्वर हैं, वही ईश्वरदास हैं।

नाम-महिमाका वर्णन करते हुए आप लिखते हैं—

नाम समो बड़ क्वौ नहीं, जप तप तीरथ जोग।
नामे पातक छूटिया, नामे नाशै रोग॥

'हरिरस' नामक ग्रन्थ आपकी प्रमुख रचना है। अब भी भाद्रेस गाँवमें आपकी भजन-कुटी और चरण-पादुकाएँ हैं। वहाँ दीपमालिकाके दिन प्रतिवर्ष मेला लगता है। लोग वहाँ दीपदान और हरिरसका पाठ करते हैं। वहाँ पीलु (जाल)-के वृक्षपर भावुक भक्तोंको दीपकका दर्शन होता है। आपके कृपारूप प्रसादसे वहाँके लोगोंके मनोरथ पूर्ण होते हैं। लगभग ८० वर्षकी आयुमें आपने वैकुण्ठधामगमन किया। घोड़ेपर चढ़कर समुद्रमें घुस गये। उनके सम्बन्धमें यह दोहा प्रसिद्ध है—

ईश्वर घोड़ा रेलिया भवसागर रै माहि। तारण वालो तारसी साईं पकड़ी बांहि॥

हरिरसके आदिमें आपने जामनगरनिवासी अपने गुरु श्रीपीताम्बरभट्टकी वन्दना की है—

लागू हूँ पहली खुलै पीताम्बर गुरु पाय। भेद महारस भागवत प्रामू जास पसाय॥
जाल टलै मन क्रम गलै निरमल भावे देह। भाग हुवै तो भागवत सांभल जे श्रवणेह॥

ग्रन्थके अन्तमें दोहासंख्या और फलस्तुति इस प्रकार है—

ईश्वर ओ हरिरस कियो दुहाँ तीन सौ साठ। महापापी पावै मुकुत जो कीजै नित पाठ॥

श्रीकरमानन्दजी

श्रीकरमानन्दजी चारणकुलमें उत्पन्न एक श्रेष्ठ भक्त थे, वे अपने मधुर गायनसे प्रभुकी सेवा करते थे। आपका गायन इतना भावपूर्ण होता था कि उसे सुनकर पाषाण-हृदय भी पिघल जाता था। आप गृहस्थ भक्त थे, परंतु गृहस्थी आपको बहुत दिनतक रास न आयी और एक दिन आप सब कुछ छोड़कर तीर्थाटन-हेतु निकल पड़े; निःस्पृह निष्किंचन। साधन-सामग्रीके नामपर आपके पास हाथमें एक छड़ी थी और गलेमें लटकता ठाकुर बटुआ। आप जहाँ-कहीं भी विश्राम करनेके लिये रुकते, वहाँ छड़ीको पृथ्वीमें गाड़ देते और ठाकुर बटुआको उसपर लटका देते। इससे आपके आराध्य श्रीठाकुरजीको झूला झूलनेका सुख मिल जाता और आपकी भी उनको झूला झुलानेके भावकी पूर्ति हो जाती।

एक दिन आप प्रातःकाल सेवा-पूजा करके श्रीठाकुरजीको गलेमें लटकाकर चल दिये। उस समय भगवन्नाम-रूपमें मनके लगे रहनेसे छड़ीको भूल गये। वस्तुतः भगवान्ने ही भक्त-भावका रसास्वादन करनेके लिये यह लीला की थी। जब अगले विश्राम-स्थलपर रुके तो बिना छड़ीके अब श्रीठाकुरजीको कहाँ और कैसे पधरायें? छड़ीमें झुलानेका अभ्यास-नियम था। दूसरा कोई विकल्प नहीं सूझा। तब आपको प्रेमाधिक्यके कारण श्रीठाकुरजीपर प्रणय-रोष हुआ। आपने कहा—हम तो जीव हैं, हमसे तो भूल होती ही रहेगी। जब हम भूल गये थे तो आपको छड़ीकी याद दिलाना था। कभी दाल-शाकमें रामरस-मिर्च कम-ज्यादा हो जाता है तो आप बता देते हैं, खीर या कढ़ी पानेकी इच्छा होती है तो कह देते हैं, उसी तरह यदि छड़ीकी याद दिला देते तो आपका क्या बिगड़ जाता? अब वह मुकाम यहाँसे चार कोस दूर है, जाने वहाँ छड़ी

है कि कोई ले गया। पीछे लौटकर जायँ तो यहाँ सेवा-भोग आदिमें बाधा होगी। इतना कहकर श्रीकरमानन्दजी क्या करें और किंकर्तव्यविमूढ़की स्थितिमें फँसकर चिन्तित एवं उदास हो गये। श्रीठाकुरजीने इन शब्दोंको सुननेके लिये ही यह लीला की थी। अपनी सेवासे सम्बन्धित चिन्ता एवं तत्सुख-सुखित्वके भावसे श्रीठाकुरजी रीझ गये। श्रीकरमानन्दजी इसलिये खीझे कि सदाकी भाँति आज मुझे चैतन्य नहीं किया।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक प्रभु श्रीकरमानन्दजीकी डाँट-फटकारसे प्रभावित हो गये और रीझ गये। जिनकी इच्छामात्रसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन होता है, उनके लिये चार कोससे छड़ी मँगा लेना यह कौन बड़ी बात है? प्रभुकी इच्छाशक्ति योगमायाने छड़ी लाकर दी। ऐसा लगा कि भगवान् हाथ बढ़ाकर छड़ी उखाड़ लाये। छड़ी देखकर श्रीकरमानन्दजी प्रेम-विह्वल हो गये और बोले, प्रभो! क्षमा कीजिये। मैंने आपको कठोर शब्द कहे। *'रहत न आरत के चित चेतू।' 'आरत काह न करै कुकरमू॥'* भगवान्ने कहा—जब हम और तुम दो ही हैं, तब यदि कुछ कहने-सुनने, लड़ने-झगड़नेकी इच्छा होगी तो कहाँ जायेंगे? आपसमें ही सब लीलाएँ होंगी। मैं तुम्हारे ऊपर अति प्रसन्न हूँ और तुम्हारे प्रेमके अधीन हूँ। तुम्हारा रोष मेरे सुखके लिये था।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

करमानन्द चारण की बानी की उचारन में, दारुन जो हियौ होय, सोऊ पिघलाइयै।
दियौ गृह त्यागि हरि सेवा अनुराग भरे, बटुवा सुग्रीव हाथ छरी पधराइयै॥
काहू ठौर जाय गाड़ि वहीं पधराये वापै ल्याये, उर प्रभु भूलि आये कहाँ पाइयै।
फेरि चाह भई दई स्याम को जताय बात, लई मँगवाय, देखि मति लै भिजाइयै॥ ५३१॥

श्रीकोल्हजी, श्रीअल्हजी

श्रीकोल्हजी और श्रीअल्हजी दोनों भाई-भाई थे। इन दोनोंमें बड़े भाई श्रीकोल्हजी संसारके विषयोंसे उदासीन थे। वाणीसे अपनी कवितामें भगवान्के ही रूप और गुणोंका सर्वदा गान करते और भक्ति-भावनाको हृदयमें धारण करते थे, जबकि श्रीअल्हजी राजसी भोगोंको भोगते थे। राजाओंके गुणोंका गान करते थे, कभी-कभी भगवान्के भी गुणोंका गान कर लेते थे, परंतु अपने बड़े भाईके आज्ञाकारी थे।

एक दिन बड़े भाई श्रीकोल्हजीने अल्हजीसे कहा—चलो, श्रीद्वारकापुरी और श्रीद्वारकाधीशके दर्शन कर आयें। श्रीअल्हजी तो अपने बड़े भाईके सर्वथा आज्ञाकारी थे ही, अतः आज्ञा पाते ही उनके साथ चल दिये और श्रीद्वारकापुरी पहुँचे। जब मन्दिरमें दर्शन करने गये तो वहाँ एक विलक्षण घटना घटी। श्रीकोल्हजीने भगवान्को अपने बनाये हुए अनेक छन्द गाकर सुनाये। इसके बाद श्रीअल्हजीने भी सकुचाते हुए दो-चार छन्द सुनाये। इनके पदोंको सुनकर श्रीद्वारकाधीशने प्रसन्न होकर हुँकारी भरी और पण्डाजीको आज्ञा दी कि अल्हजीको मेरी प्रसादी-माला पहनाओ। आज्ञा पाकर पण्डाजी माला लेकर आये और जैसे ही इन्हें पहनाने लगे, इन्होंने कहा—ये मेरे बड़े भ्राता हैं, इन्हें ही माला पहनाइये, मैं इस योग्य नहीं हूँ।

श्रीअल्हजीके कहनेसे भी पुजारीजीने श्रीकोल्हजीको माला नहीं पहनायी और कहा—यह माला तो प्रभुने आपके लिये दी है न कि आपके बड़े भाईके लिये। ऐसा कहकर पुजारीजीने अल्हजीको माला पहना दी। इससे श्रीकोल्हजीने अपना बड़ा भारी अपमान समझा। अहंवश और ग्लानिके मारे समुद्रमें कूद पड़े। जलके भीतर घुसते ही इन्हें दिव्य भूमि मिल गयी। अब ये आनन्दमग्न होकर आगे चले, परंतु माला न मिलनेवाली अनीति इन्हें भूल नहीं रही थी। कुछ दूर और आगे बढ़नेपर इन्हें भगवान्के पार्षद मिले, जो कि अगवानी करनेके लिये आये थे। उनसे मिलकर आपको सुख-शान्ति मिली। फिर आपने जब द्वारकाधीश

श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन किये, तब परमानन्दकी प्राप्ति हुई। अपमानका दुःख भूल गया। इसके बाद जब कोल्हजी प्रसाद पानेके लिये बैठे, तब भगवान्‌की आज्ञासे सेवकोंने इनके सामने दो पत्तल परोसे। आपने पूछा—यह दूसरा पत्तल किसके लिये है? भगवान्‌ने उत्तर दिया—तुम्हारे छोटे भाईके लिये। वह हमें और तुम्हें भी अत्यन्त प्रिय है।

दूसरा पत्तल छोटे भाईके लिये है, यह सुनते ही अमृतमय भोजनप्रसाद विषतुल्य अप्रिय हो गया। अपमानका दुःख जो भूल गया था, वह फिर ज्यों-का-त्यों हो गया। यह देखकर भगवान्‌ने श्रीअल्हजीके पूर्वजन्मकी कथा सुनायी और कहा—यह तुम्हारा छोटा भाई पूर्वजन्ममें बड़े भारी राजाका पुत्र था। वहाँ इसे वैराग्य हो गया। घर छोड़कर वनमें चला गया। वहाँ इसने मुझमें मन-बुद्धि लगाकर खूब मेरा भजन किया। इसी बीच एक राजा वनमें आया। उसके साथ अनेक प्रकारके भोग-विलासकी सामग्री थी, जिसे देखकर इस राजकुमारके मनमें विषय भोगनेकी वासना उत्पन्न हो गयी। इसलिये हमने इसे संसारी सुखोंको भोगनेके लिये मनुष्यका शरीर दिया ताकि यह भोगोंको भोगकर उनकी असारता समझकर वासनासे मुक्त हो जाय। फिर भगवान्‌ने कोल्हजीसे कहा—तुम्हारे वियोगमें तुम्हारे छोटे भाईने अन्न-जल त्याग दिया है। तुम्हारे वियोगमें वह अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता है। इसलिये अब तुम शीघ्र जाकर उसकी खबर लो, यह कहकर भगवान्‌ने कोल्हजीके हाथमें प्रसाद दिया। शंख-चक्रके चिह्न लेकर आप घरको आ गये। अपमानका दुःख स्वप्नमें हुए दुःखके समान बिलकुल भूल गया। मनमें उसके प्रति अपार प्रेम हो गया। इधर छोटे भाई श्रीअल्हजीने जब सुना कि मेरे बड़े भ्राता कोल्हजी दिव्य द्वारकाका दर्शन करके आ रहे हैं तो उनके स्वागतके लिये चले। भाईको देखकर भूमिपर पड़कर प्रणाम किया। श्रीकोल्हजीने अल्हजीको भगवत्प्रसाद दिया तथा पूर्वजन्मका इतिहास भगवान्‌ने जो कुछ कहा था, वह सब कह सुनाया। उसी समय श्रीअल्हजी गृहकी आसक्तिको सर्वथा त्यागकर वृन्दावनमें रहने लगे। दोनों भाइयोंकी बुद्धि भक्त-भगवन्तके प्रेममें सराबोर हो गयी।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकोल्हजी और श्रीअल्हजीके इस प्रसंगका इस प्रकार वर्णन किया है—

कोल्ह अल्ह भाई दोऊ, कथा सुखदाई सुनौ, पहिलौ विरक्त मद मांस नहीं खात है।
हरि ही के रूप गुण वाणी में उचार करै, धरै भक्ति भाव हिये, ताकी यह बात है॥
दूसरौ अनुज, जानौ खाय सब उन मानौं, नृप ही कों गावै प्रभु कभूं गाय जात है।
बड़े के अधीन रहै, सोई करै जोई कहै, ईश करि चहै, आप दीनता मैं मात है॥ ५३२॥
बड़े आय कही चलौ द्वारिका निहारैं सही, मिथ्या जग भोग, यामें आयु ही बिहात है।
आज्ञा के अधीन चल्यौ, आये पुर, लीन भये, नये चोज मन्दिर मैं सुनौ कान बात है॥
कोल्ह नै सुनाये सब जे जे नाना छन्द गाये, पाछे अल्ह दोय चार कहे सकुचात है।
भर्‌यो ही हुङ्कारौ, प्रभु कही माला गरें डारौ, ल्याए पहिरावैं, कह्यो 'मेरौ बड़ौ भ्रात है'॥ ५३३॥
दयौ पै न याहि दयौ बड़ौ अपमान भयौ, गयौ बूड़ौं सागर मैं दुख कौ न पार है।
बूड़त ही आगे भूमि पाई, चल्यो झूमि प्रीति सो अनीति भूलै नाहिं मानो तरवार है॥
सौंही आये लैन हरिजन, मन चैन झिल्यो, मिल्यौ कृष्ण जाय पायो अति सुखसार है।
बैठे जब भोजन कों दई उभै पातर लै दूसरी जू कैसी कही वही भाई प्यार है॥ ५३४॥
सबै विष भयौ, दुख गयौ सोई हुयौ नयौ, दयौ परबोध वाकी बात सुनि लीजियै।
तेरो छोटो भाई मेरो भक्त सुखदाई, ताकी कथा लै जताई जामें आपही सों धीजियै॥

प्रथम जनम मांझ बड़ौ राज पुत्र भयौ, गयौ गृह त्यागि सदा, मोसों मति भीजियै।
आयौ वन कोऊ भूप सङ्ग राग रंग रूप, देखि चाह भई, देह दई भोग कीजियै॥ ५३५॥
तेरेई बियोग अन्न जल सब त्यागि दियौ जियौ नहीं जात वापै बेगि सुधि लीजियै।
हाथ पै प्रसाद दीनों, आय घर चीन्ह लीनों, सुपनौ सौ गयौ बीति, प्रीति वासों कीजियै॥
द्वारिका कौ संग सुनि आवत ही आगै चल्यौ मिल्यौ भूमि पर दृग भरि वहै दीजियै।
कही सब बात स्याम धाम तज्यौ ताही छिन कर्‌यौ बन बास दोऊ अति मति भीजियै॥ ५३६॥

श्रीनारायणदासजी

श्रीनारायणदासजी भक्तवर श्रीअल्हजीके पौत्र थे। इनसे बड़े और दूसरे भाई थे, ये सबसे छोटे थे। बड़े भाई लोग अन्न-धनका उत्पादन करनेवाले थे और ये श्रीनारायणदासजी कुछ भी कमाते नहीं थे। केवल खर्च-ही-खर्च करते थे। एक दिन इनकी भाभीने इन्हें ठण्डा भोजन दिया। इससे इन्हें महान् दुःख हुआ। इन्होंने अपनी भाभीसे कहा कि 'मुझे ताजा भोजन बनाकर दो।' इसपर वह क्रोध करके बोली—'तू अल्ह बाबा है क्या? जो मैं तुझे गर्म भोजन बना-बनाकर खिलाऊँ। जा, द्वारकाको चला जा और श्रीद्वारकाधीशजीको कविता सुनाकर उनसे हुँकारी भरवा, तब मैं तेरा बहुत आदर किया करूँगी और ताजा भोजन बना-बनाकर खिलाऊँगी।' इस प्रकार उसने परिहास किया। श्रीनारायणदासजीको यह बात लग गयी। इन्होंने उसी क्षण घर छोड़ दिया और श्रीद्वारकाधीशभगवान्‌में उसी प्रकारका अनुराग किया, जैसा कि श्रीअल्हजी करते थे। इनपर भी भगवान् प्रसन्न हो गये; क्योंकि वे तो भक्त-प्रेमके वशमें रहते हैं।

श्रीप्रियादासजीने श्रीनारायणदासजीका यह चरित अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णित किया है—
अल्ह ही के वंश मैं प्रसंस याहि जानि लेव, बड़ौ और भाई छोटौ श्रीनारायणदास है।
दीरघ कमाऊ लघु उपज्यो उड़ाऊ, भाभी दियौ सीरौ भोजन लै भयौ दुख रास है॥
'देवौ मोकों तातौ करि' बोली वह क्रोध भरि यहूँ जा हुङ्कारौ भरवावै कियो हास है।
गयौ गृह त्यागि हरि पागि कर्‌यौ वैसे ही जू, भक्ति बस स्याम कह्यौ प्रकट प्रकास है॥ ५३७॥

श्रीपृथ्वीराजजी

सवया गीत सलोक, बेलि दोहा गुन नवरस।
पिंगल काव्य प्रमान बिबिध बिधि गायो हरिजस॥
पर दुख बिदुख, सलाध्य बचन रचना जु बिचारै।
अर्थ बित्त निर्मोल सबै सारँग उर धारै॥
रुक्मिनी लता बरनन अनुप बागीस बदन कल्यान सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुन पृथीराज कबिराज हुव॥ १४०॥

श्रीकल्यानसिंहजीके सुपुत्र श्रीपृथ्वीराजजी संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओंमें काव्य रचनेमें बड़े निपुण हुए। आपके द्वारा रचित सवैया, गीत, श्लोक, वेलि, दोहा आदि विविध छन्दोंमें काव्योचित गुण, साहित्यके नौ रस पाये जाते हैं। आपने छन्दशास्त्रके सभी नियमोंका पालन करते हुए अनेक प्रकारसे हरियशका वर्णन किया। आप दूसरेको दुखी देखकर उसे सुखी करनेका उपाय करते थे। आपकी वचन-रचना विद्वानोंके द्वारा प्रशंसनीय है। आप काव्यके अर्थरूपी धनको अमूल्य मानकर उसे अपने हृदयमें उसी प्रकार धारण करते थे, जैसे भ्रमर

मकरन्दको। 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' नामक आपका काव्य अनुपम है। उसके पढ़नेसे ऐसा लगता है कि आपके कण्ठमें सरस्वतीका वास था॥ १४०॥

श्रीपृथ्वीराजजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

राजस्थानके कृष्ण-भक्त रचनाकारोंमें बीकानेर राजवंशके राठौर पृथ्वीराजका अप्रतिम स्थान है। ये राव कल्याणमलके पुत्र और अकबरके दरबारके प्रसिद्ध नौ रत्नोंमें एक थे। इनका जन्म वि० सं० १६०६ की मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदाको हुआ था। ऐतिहासिक विवरणोंसे इनके द्वारा तीन विवाह करनेका उल्लेख मिलता है। पहली पत्नी जैसलमेरके रावल हरराजकी पुत्री लालांदे थी। लालांदेके निधनके बाद इन्होंने उनकी बहन चांपादेसे विवाह किया। इनके वंशज 'पृथ्वीराजोत बीका' कहलाते हैं।

उच्चकोटिके कवि होनेके साथ-साथ ये श्रीकृष्णके अनन्य भक्त तथा प्रसिद्ध योद्धा भी थे। वि० सं० १६३८ में काबुलमें तथा वि० सं० १६५३ में अहमदनगरके युद्धोंमें इनके द्वारा प्रदर्शित अद्भुत पराक्रमके कारण मुगल सम्राट्द्वारा इन्हें गागरोनगढ़का दुर्ग पुरस्कारस्वरूप प्रदान किया गया था। पृथ्वीराजके व्यक्तित्वकी सर्वाधिक उल्लेख्य विशेषता यह है कि अकबरके कृपापात्र तथा विश्वस्त सेनानायक होते हुए भी इन्होंने देशकी स्वाधीनताके लिये संघर्षरत कर्तव्यनिष्ठ वीरोंके कृत्योंकी मुक्त कण्ठसे सराहना की। शौर्य और स्वाभिमानके अग्रदूत महाराणा प्रतापद्वारा अकबरसे समझौता करनेके लिये पत्र लिखनेका समाचार पाकर मातृभूमिकी स्वतन्त्रताके हितैषी इस देशभक्तका हृदय तिलमिला उठा। इन्होंने महाराणा प्रतापको तत्काल कतिपय दोहे लिखकर भिजवाये। इन दोहोंने महाराणा प्रतापके सुप्त स्वाभिमानको जाग्रत्कर जातीय गौरव तथा राष्ट्रके सम्मानकी रक्षा की। दोहे इस प्रकार हैं—

पातल जो 'पतसाह' बोले मुख हूँतां बयण।
मिहर पछम दिस माँह, उगै कासम राव उत॥
पहकूं मूँछा पाण के, पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥

अर्थात् हे प्रताप! यदि तुम अपने मुँहसे अकबरको 'बादशाह' कह दोगे तो मैं समझूँगा कि सूर्य पश्चिममें उगने लगा है। हे एकलिंग*के दीवान! दो बातोंमेंसे एक बात बताओ कि मैं अपने मूँछोंपर ताव दूँ या आत्महत्या कर लूँ।

बहुमुखी प्रतिभाके धनी पृथ्वीराज महान् भक्त, दार्शनिक और उच्चकोटिके कवि थे। समसामयिक भक्तों और कवियोंने इनकी प्रशस्तिमें अनेक पद, दोहे और कवित्त लिखे हैं। कर्नल टॉड और तेस्सीतोरी-जैसे विदेशी विद्वानोंने भी इनके अपूर्व शौर्य तथा भक्तिभावनाकी प्रशंसा की है।

अपने समयके प्रसिद्ध चारण दुरसा आढाने पृथ्वीराजरचित 'वेलि' को पाँचवाँ वेद बतलाया है—

रुकमणी गुण लखन रूप गुण रचवण, वेलि तास कुण करइ बखाण।
पाचमउ वेद भाखियऊ पीथल, पुणियउ डगणीसमउ पुराण॥

'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ हैं—'गंगाजी रा दूहा' और प्रकीर्णक गीत। किंतु 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' ही इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है। इसको डिंगल साहित्यकी अनुपम रचना कहना अतिशयोक्ति न होगी। मध्यकालीन भक्ति-साहित्यमें यह विशिष्ट स्थान रखती है।

---

* मेवाड़में एकलिंग भगवान् (शिवजी)-का एक अतिप्राचीन मन्दिर है, इन्हें मेवाड़का प्रधान अधिपति माना जाता है तथा मेवाड़के सभी शासक सदैव स्वयंको इनका दीवान मानकर ही राज-काज करते थे।

कुछ विद्वानोंकी मान्यता है कि व्रजभाषामें जो माधुर्य और अलंकरण शक्ति है, वह अन्य भाषाओंमें नहीं दिखायी देती। परंतु पृथ्वीराज राठौरकी 'वेलि' ने आलोचकोंके इस भ्रमको तोड़ते हुए सिद्ध कर दिखाया है कि डिंगल भाषामें वीररसके साथ शृंगार और भक्तिकी श्रेष्ठ साहित्य-सर्जनाकी अद्भुत शक्ति विद्यमान है।

'वेलि' तीन सौ पद्योंमें निर्मित वर्णनप्रधान, शृंगाररसात्मक रचना है, जिसमें श्रीकृष्णद्वारा रुक्मिणीका हरण और दोनोंके परिणय-सूत्रमें बँधनेकी घटनाका प्रभावपूर्ण भाषा-शैलीमें चित्रण हुआ है। इस भक्ति-ग्रन्थमें भावपक्ष और कलापक्ष अपने चरम उत्कर्षपर है। विषयानुकूल वर्णन, नादसौन्दर्य, दृश्य-मूर्तिमन्तता, शब्द-चयन, अलंकारोंकी अद्भुत छटा आदि विशेषताएँ 'वेलि' में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। इस कृतिकी लोकप्रियताका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि संस्कृत, पिंगल तथा डिंगल भाषामें 'वेलि' की असंख्य टीकाएँ लिखी गयी हैं। इन टीकाकारोंमें जैन-धर्मावलम्बियोंकी संख्या सबसे अधिक है।

आकर्षक भाषा-शैली, सरस-वर्णन, अवसर एवं प्रसंगानुरूप शब्दोंका सटीक प्रयोग, भावोंकी गहराई आदि विशेषताओंने इस भक्ति-रचनाको अनुपम बना दिया है। भाव और भाषाके समायोजनके कारण वर्णित प्रसंग मूर्तिमन्त हो उठे हैं। उदाहरणके लिये रुक्मिणीकी यौवनावस्थाके रूप-सौन्दर्यका शब्दचित्र देखिये—

दल फूलि विमल वण, नयन कमल-दल, कोकिल-कंठ सुहाइ सर।
पांपणि-पंख सँवारि नवी परि, भ्रूंहारे भ्रमिया भ्रमर॥
आगलि पित मात रमंती आँगणि, काम विराम छिपाइन काज।
लाजवंती-अंगि एह लाज विधि, लाज करंती आवई लाज॥

भक्त कविने श्रीकृष्ण और शिशुपालकी सेनाओंके मध्य हुए युद्धका अत्यन्त चित्रोपम वर्णन किया है। भालेरूपी सूर्य-किरण युद्धमें सन्तप्त होकर चमचमाने लगे, बाण बन्द हो गये। शरीर-शरीरपर तलवारोंकी धारें चमक रही हैं, जिन्हें देखकर ऐसा लगता है, मानो शिखर-शिखरपर बिजलियाँ चमक रही हैं।

समर-क्षेत्रका एक शब्द-चित्र द्रष्टव्य है—

कलकलिया कुंत किरण कलि ऊकलि, वरजित विसिख विवरजित बाउ।
धड़ि धड़ि धड़कि धार धारुजल, सिहरि सिहरि समवड़ सिलाउ॥
जिणि दीध जनम जगि मुखि दे जीहा, क्रिसन जु पोखण-भरण करइ।
कहण तणउ तिण तणउ कीरतन, स्रम कीधाँ विन केम सरइ?

'जिन भगवान् श्रीकृष्णने जगत्‌में जन्म दिया है, जिन्होंने मुखमें जिह्वा दी है और जो कृष्ण लोकहितैषी एवं सबका पालन-पोषण करनेवाले हैं, उनकी कीर्तिका बिना परिश्रमके वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है?'

धायौ धावंतांह गरुडै ही माठौ गिणे। ग्रह उग्राहण ग्राह वारण वसदे-राव-उत॥

'हे राजा वसुदेवके पुत्र! हाथीको ग्राहकी पकड़से मुक्त करानेके लिये दौड़ते समय आप गरुड़को भी मन्दगामी समझकर पैदल ही दौड़ पड़े थे। फिर मेरी मुक्तिके लिये देर क्यों लगा रहे हैं?'

'वेलि' के अध्ययनसे स्पष्ट होता है कि पृथ्वीराज राठौड़ उच्चकोटिके भक्त और काव्यमर्मज्ञ होनेके साथ-साथ ज्योतिष, शकुन, वैद्यक, संगीत, नृत्य, नाट्य, योगशास्त्र, पुराण, दर्शन, राजनीति, कर्मकाण्ड, भाषा-शास्त्रप्रभृति विषयोंके भी जानकार थे। 'ठाकुरजी रा दूहा' २४० दोहेकी भक्ति-रचना है, जिसमें श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीरामका गुणगान किया गया है।

श्रीपृथ्वीराजजी बहुत बड़े भगवद्भक्त और महान् कवि थे। भगवान्‌की सेवामें आपको बड़ा भारी

प्रेम था और विषयोंसे ऐसा वैराग्य था कि मन्दिरमें आपने अपनी रानीको भी नहीं पहचाना। एकबार आप विदेश गये, वहाँ आपने मानसी-सेवाके निमित्त मनसे मन्दिरमें प्रवेश किया, परन्तु हृदयमें भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए। अब कैसे सेवा हो और बिना सेवा भोजन-पान आदि कैसे हो? इस प्रकार तीन दिन बीत गये और भगवान्‌के दर्शन मन्दिरमें नहीं हुए। चौथे दिन मन्दिरमें भगवान्‌के दर्शन हुए, तब आपने उनकी मानसी-सेवा की और महान् सुखका अनुभव किया। पृथ्वीराजजीने पत्रमें यह सन्देश लिखकर अपने देशको भेजा कि तीन दिनतक मन्दिरमें भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए। वहाँसे जो उत्तर लिखकर आया, उसे पढ़कर आप अत्यन्त प्रसन्न हुए। पत्रमें लिखा था कि मन्दिरमें सफाई-पोताई एवं मरम्मतके लिये कारीगर लगे थे, इसलिये भगवान् तीन दिनतक दूसरी जगह विराजे थे। एक चरित्र और सुनिये—भगवत्प्रेममें तन्मय होकर राजा पृथ्वीराजने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी कि मैं अपने शरीरको मथुरापुरीमें छोड़ूँगा। (बादशाहके पूछनेपर आपने बताया कि आजसे छः महीने बाद मथुरामें यमुना तटपर सफेद कौवेको देखते हुए मेरी मृत्यु होगी।) यह जानकर परीक्षाके लिये बादशाहने उन्हें काबुलकी कठिन लड़ाईपर भेज दिया। आपमें महान् आत्मबल था, अतः आप कालके अधीन नहीं थे।

श्रीपृथ्वीराजजीको अपनी आयुका पता था, जब आपने देखा कि अब हमारी आयु थोड़े दिनोंकी है, तब आपको एक-एक क्षण कल्पके समान बीतने लगा। भगवान् इनकी प्रतिज्ञाको सत्य करना चाहते थे, अतः प्रभुने इन्हें बालकके रूपमें आकर भविष्यका ज्ञान करा दिया। राजाके अंग-प्रत्यंगमें भक्तिका भाव व्याप्त था। वे तत्काल सांडिनी (ऊँट)-पर सवार होकर चल दिये और मथुरापुरीमें आ गये। यहाँ आपने श्रीयमुनाजीमें स्नान किया और ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणा प्रदान की। इसके बाद आसन लगाकर बैठ गये। भगवान्‌का ध्यान करके उन्होंने शरीरको त्याग दिया। चारों ओर जय-जयकी ध्वनि फैल गयी। बादशाहने जब यह समाचार सुना तो बहुत प्रभावित हुआ और सदाके लिये आपके सुयशरूपी चन्द्रमाका चकोरकी तरह अनुरागी बन गया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीपृथ्वीराजजीके इन भक्तिमय चरित्रोंका इस प्रकार वर्णन किया है—

मारवार देस बीकानेर कौ नरेश बड़ौ, 'पृथीराज' नाम भक्तराज कविराज है।
सेवा अनुराग और विषय वैराग्य ऐसौ, रानी पहिचानी नांहिं मानों देखी आज है॥
गयौ हो बिदेश, तहाँ मानसी प्रवेस कियौ, हियौ नहिं छुवै कैसे सरै मन काज है।
बीते दिन तीन प्रभु मन्दिर न दीठि परै पाछै हरि देखि, भयो सुख कौ समाज है॥ ५३८॥
'लिखिकै पठायौ देस, सुन्दर सन्देश यह 'मन्दिर न देखे हरि बीते दिन तीन हैं'।
लिख्यौ आयो सांच बांचि अति ही प्रसन्न भये लगे राज बैठे प्रभु बाहर प्रबीन हैं॥
सुनौ एक और यौं प्रतिज्ञा करी हिये धरि 'मथुरा सरीर त्याग करौं' रस लीन हैं।
पृथीपति आनि कै मुहीम दई काबुल की, बल अधिकाई, नहीं काल के अधीन हैं॥ ५३९॥
जीवन अवधि रहै निपट अलप दिन, कलप समान बीतै पल न विहात है।
आगम जनाय दियौ, चाहै इन्हें सांचौ कियौ, लियौ भक्ति भाव जाके छायौ गात गात है॥
चल्यौ चढ़ि सांड़िनी पै लई मधुपुरी आनि, करिकै अस्नान प्रान तजे, सुनी बात है।
जै जै धुनि भई व्यापि गई चहूँ ओर अहो, भूपति चकोर जस चन्द दिन रात है॥ ५४०॥

इनका देहावसान विक्रम संवत् १६५७ में हुआ था।

श्रीसींवाजी

असुर अजीज अनीति अगिनि मैं हरिपुर कीधौ।
साँगन सुत नै सादराय रनछौरै दीधौ॥
धरा धाम धन काज मरन बीजा हूँ माँड़ै।
कमधुज कुट कै हुवौ चौक चत्रभुजनी चाँड़ै॥
बाढ़ेल, बाढ कीवी कटक चाँद नाम चांड़ै सबल।
द्वारका देखि पालंटती अचढ़ सीवै कीधी अटल॥ १४१॥

एक बार अन्यायी म्लेच्छ अजीजखाँने द्वारकापुरीमें आग लगा दी। तब रणछोड़ श्रीद्वारकाधीशने सांगनके पुत्र सींवाको पुकारा। धरती, धन और धाम आदिके लिये सभी साधारण लोग लड़कर मर जाते हैं, परंतु इस वीर बाढ़ैलवंशी क्षत्रिय भक्तने चतुर्भुज श्रीद्वारकानाथके चौड़े-चौकमें यवनोंकी सेनाको विध्वंसकर अपने तन-मन और प्राणोंको न्यौछावर कर दिया। इस प्रकार राठौरवंशीय इस भक्तने अपने बाहुबलसे अपने पूर्वज चाँदके नामको उजागर किया और नष्ट होती हुई द्वारकापुरीकी तथा वहाँके निवासियोंकी रक्षा की एवं उसे सदाके लिये सुरक्षित कर दिया॥ १४१॥

श्रीसींवाजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीसींवाजी भीलोंके राजा थे, परंतु स्वयं भील नहीं थे। ये राठौर क्षत्रिय थे। मारवाड़ राठौर राज्यकी स्थापना करनेवाले राव सीहाजीका तीसरा पुत्र अज था। उसने ओखा मण्डल (शंखोद्धार) द्वारकाके निकट एक प्रदेशपर अधिकारकर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। अजके वंशज बाढ़ैल राठौर हैं, जो अब भी वहाँ हैं। श्रीसींवाजी उन्हींके वंशमें उत्पन्न हुए। द्वारकासे चार कोस दूरपर श्रीसींवाजीका निवास-स्थान था। ये वहाँसे नित्य दर्शन करने आते थे। दर्शन करना, प्रसाद लेना और परिक्रमा लगाना—यह आपका नित्य-नियम था। भगवान् इन्हें प्रिय थे तथा ये भगवान्‌को प्यारे थे, तभी तो संकटके समय भगवान्‌ने इनका स्मरण किया। स्वाभाविक है कि संकटमें प्रियकी याद आती है। जैसे अजामिलको संकटके समय अपने प्रिय पुत्र नारायणकी याद आयी, उसीको पुकारा।

बादशाहके सेनापति अजीजखाँका उद्देश्य था कि नगरको जलाकर मन्दिरको तोड़ दें। हिन्दू-धर्मके केन्द्रको नष्ट करके इस्लाम-धर्मका केन्द्र स्थापित कर दें। लोग भाग न सकें, इस विचारसे उसने रातको चारों ओरसे घेरकर आग लगायी। तब द्वारकाधीशने छतके ऊपर चढ़कर पुकारा। 'रक्षा कीजिये'—'यवनोंने पुरीमें आग लगा दिया है, सींवाजी! आकर मेरी रक्षा करो।' सींवाजीके कानमें ये शब्द पड़े तो इनकी मति भावमें डूब गयी। सर्वसमर्थ भगवान् सर्वदा भक्तोंकी रक्षा करनेवाले मुझे पुकारते हैं, यह मुझपर असीम वात्सल्य एवं दया है। अनेक पार्षद सेवामें उपस्थित हैं, उन्हें छोड़कर प्रभु मुझे आज्ञा दे रहे हैं। अपनी रक्षा करा रहे हैं। प्रेमाकुल सींवाजीने भी अपनी छतपर चढ़कर नगाड़ा बजाया। जिसे सुनते ही इनके सैनिक घुड़सवार आ गये। उन्हें लेकर द्वारका पहुँच गये। प्रभु-कृपा एवं आज्ञाकी शक्तिसे लगभग ५०० घुड़सवार वीरोंने कई हजार सशस्त्र यवन सैनिकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

चाहते तो आप जीवित रह सकते थे, पर शुभ अवसर देखकर प्राणोंको न्यौछावर कर दिया। इसमें हेतु यह है कि श्रीसींवाजीने विचारा कि यदि मैं जीवित रहा, तो लोग कहेंगे कि 'इन्होंने पुरीकी रक्षा की, इन्हें श्रीद्वारकाधीशने पुकारा।' ऐसी बड़ाई मुझे बड़ा-भारी दुःख देनेवाली हो जायगी। एक प्रकारसे वह

मेरी भक्तिका उपहास होगा, अतः श्रीद्वारकाधाममें भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌के लिये आज यदि मैं शरीर न त्यागूँ तो फिर ऐसा अवसर कभी हाथ आनेका नहीं है। जैसे *'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काज छन भंगु सरीरा॥' 'बड़े भाग अस पाइय मीचू॥'* ऐसा विचारकर आपने प्राण न्यौछावर कर दिये। यह भी प्रसिद्ध है कि कटे हुए आपके धड़ने बचे-खुचे यवन सैनिकोंका संहार किया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीसींवाजीकी भक्ति, वीरता और बलिदानकी इस गाथाका इस प्रकार वर्णन किया है—

कावा पति, सींवा, सुत सांगन कौ, प्यारौ हरि, द्वारावति ईश, यों पुकारै रक्षा कीजिये।
सदा भगवान आप भक्त प्रतिपाल करैं करौ प्रतिपाल मेरौ सुनि मति भीजिये॥
तुरक अजीज नाम धाम कों लगाई आगि लई बाग घोरन की आये टूक कीजिये।
दुष्ट सब मारे प्रभु कष्ट ते उबारे निज प्रान वारि डारे यह नयौ रस पीजिये॥ ५४१॥

इस कथानकमें श्रीप्रियादासजी नये भक्तिरसका बोध कराकर उसके आस्वादनकी सम्मति देते हैं। पुराना भक्तिरस यह है कि भक्तकी आर्त पुकार सुनकर भगवान् शीघ्र प्रकट होते हैं अथवा स्वधामसे आते हैं और भक्तकी रक्षा करते हैं। गजेन्द्र, द्रौपदी आदि इसके असंख्य उदाहरण हैं। आज भगवान्‌ने पुकारा, भक्तने कष्टसे बचाया—यह नया रस है। भक्तोंको बड़ाई देनेके लिये तथा भक्त मेरे समान हैं, यह प्रमाणित करनेके लिये ही भगवान्‌ने ऐसी लीला दिखायी।

श्रीमती रत्नावतीजी

कथा कीरतन प्रीति भीर भक्तनि की भावै।
महामहोछौ मुदित नित्य नँदलाल लड़ावै॥
मुकुँद चरन चिंतवन भक्ति महिमा ध्वजधारी।
पति पर लोभ न कियो टेक अपनी नहिं टारी॥
भलपन सबै विसेवहीं आँबेर सदन सुनखा जिती।
पृथीराज नृप कुलबधू भक्त भूप रतनावती॥ १४२॥

जयपुरके निकट आमेरनगरमें निवास करनेवाली सुनखाजीतकी पुत्री रत्नावतीजीमें सब प्रकारकी भलाइयाँ विशेष रूपसे विद्यमान थीं। आप महान् भक्त राजा पृथ्वीराजके कुलकी वधू थीं तथा भक्तोंमें श्रेष्ठ थीं। भगवान्‌की कथा सुननेमें, कीर्तन करनेमें आपको बड़ा प्रेम था। भक्तोंकी भीड़ आपको अच्छी लगती थी। बड़े-बड़े महामहोत्सवोंको करके प्रसन्न होती थीं। नित्य नन्दलालजीको लाड़ लड़ाती थीं। भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके चिन्तन (ध्यान)-में मग्न रहकर आपने भगवद्भक्तिकी पताका फहरायी। भक्तिके आचरणमें बाधा करनेवाले पतिपर लोभ न करके उनसे अपने मनको हटा लिया और सन्त-भगवन्तकी भक्तिरूप अपना प्रण नहीं छोड़ा॥ १४२॥

रानी रत्नावतीजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

(क) रानी रत्नावती और भगवद्भक्ता दासीका संवाद

आमेरके राजा मानसिंहजीके छोटे भाई थे माधोसिंहजी, उनकी रानी श्रीरत्नावतीजी थीं। इनके समीप सेवाके लिये एक दासी रहती थी। वह भगवद्भक्ता दासी कभी 'नवलकिशोर', कभी 'नन्दकिशोर' और कभी 'हा श्रीवृन्दावनचन्द्र' कहकर आँखोंमें पानी भर लेती थी।

एक दिन रानीने उस दासीसे पूछा—'तुम बार-बार क्या कहती रहती हो, किसका नाम लिया करती हो? उसे सुनकर मेरा हृदय भी उधर खिँचता है और मेरे मनमें आता है कि मैं भी इसी प्रकार नामका उच्चारण करूँ।' इस प्रश्नको सुनकर दासी विशेष विकल हो गयी, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। दासीकी ऐसी दशा देखकर रानीकी भी वही दशा हो गयी। कुछ देर बाद स्वस्थचित्त होकर दासीने उत्तर दिया—'महारानी जू! आप इस बातको मत पूछिये। दिन-रात राजसुख भोगिये।' मेरी इस दशाका कारण यह है कि 'मुझपर एक प्रेमी सन्तकी कृपा हो गयी है, अतः प्रेम-वियोगके सुख-दुःखको मेरा शरीर सहन कर रहा है।' फिर रानीके विशेष आग्रहपर और उनकी उत्कण्ठाको देखकर दासीने प्रेम-मार्गके रहस्यका वर्णन किया। उसके समर्थनमें व्रजधामके रसिकशिरोमणि सन्तोंके चरित्र और उनके उपदेश सुनाये। उसका रानीके हृदयपर ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि उसने दासीको उसकी सेवा-टहलसे छुड़ा दिया और आदरपूर्वक उसे अपनेसे ऊँचे आसनपर बैठाया। उस दासीको अपना गुरु मान लिया।

श्रीप्रियादासजी रानी रत्नावतीके इस भगवत्प्रेमका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

मानसिंह राजा ताकौ छोटौ भाई माधौसिंह, ताकी जानौ तिया, जाकी बात लै बखानियै।
ढिग जो खवासिनि सों स्वासनि भरत नाम रटति जटित प्रेम रानी उर आनियै॥
नवल किशोर कभूं नन्द के किसोर कभूं वृन्दावन चन्द कहि आँखै भरि पानियै।
सुनत विकल भई सुनिबे की चाह भई रीति यह नई कछु प्रीति पहिचानियै॥ ५४२॥
बार बार कहै, कहा कहै उर गहै मेरौ, बहै दृग नीर हो, शरीर सुधि गई है।
पूछौ मत बात, सुख करौ दिन रात, यह सहै निज गात, रागी साधु कृपा भई है॥
अति उतकण्ठा देखि, कह्यौ सो बिसेस सब, रसिक नरेसनि की बानी कहि दई है।
टहल छुटाई, औ सिरहाने लै बैठाई वाहि, गुरु बुद्धि आई, यह जानौ रीति नई है॥ ५४३॥

(ख) दासीद्वारा रानीको भगवत्प्रेमकी रीति सिखाना

रानी श्रीरत्नावतीजी दासीके मुखसे भगवान्‌के सुन्दर रूप और गुणोंको सुनती रहतीं, इससे भगवान्‌के दर्शनोंकी अभिलाषा तीव्र हो उठी। फिर एक दिन रानीने दासीसे कहा—'आप कुछ उपाय कीजिये, मनमोहनके दर्शन करा दीजिये।' दासीने कहा—भगवान्‌के दर्शन पाना बहुत दूर अर्थात् कठिन है। उनके दर्शनके लिये राजा लोग राज्य सुखको छोड़कर, विरक्त होकर धूलिमें लोटते हैं, फिर भी छविसमुद्र भगवान्‌के दर्शन नहीं पाते हैं। वे तो केवल एकमात्र विशुद्ध प्रेमके वशमें हैं और उसीसे दर्शन देते हैं, अतः सच्चे प्रेमभावसे भगवान्‌की सेवा करो। विविध प्रकारके रसीले मेवा-मिष्टान्नोंका भोग लगाओ। तब वे अवश्य ही कृपा करेंगे।

रानी रत्नावतीजीने दासीके उपदेशानुसार इन्द्रनीलमणिकी एक श्रीमूर्ति बनवायी। भावके अनुसार भगवान् स्वयं अर्चा-विग्रहके रूपमें प्रकट हो गये। अतः उसमें अपार रूप-माधुरी आ गयी थी। रानी इस अर्चा-विग्रहकी सेवामें लग गयीं। विविध प्रकारके भोग-राग समर्पणकर भगवान्‌को बड़ा प्यार करती। अष्टयाम भगवान्‌की सेवामें उपस्थित रहती। भगवान्‌को शयन कराकर रातमें जब रानी शयन करती तो स्वप्नमें भगवान् सेवाको स्वीकार करते हुए दर्शन देकर उसे सुख देते। रानीपर गहरा प्रेमरंग चढ़ गया। नित्य ठाकुरजीका वस्त्र-आभूषणोंसे सुन्दर शृंगार करती। जिस शोभा-सागरका ओर-छोर नहीं है, उसे टकटकी लगाकर निहारती रहती।

रानी श्रीरत्नावतीजीके मनमें भगवान्‌के दर्शनोंकी तीव्र उत्कण्ठा थी। फिर भी दासीसे नित्य पूछती ही

रहती कि 'भगवान्‌के दर्शन पानेका क्या उपाय है?' यह सुनकर दासीने कहा—'आप महलके निकट ही एक सन्त-निवास बनवाइये और नगरसे बाहर सभी मार्गोंपर पहरेदारोंको बैठा दीजिये। उन्हें अच्छी प्रकार समझा दीजिये कि जो भी कोई भगवान्‌के प्यारे भक्त आते-जाते मिल जायँ, उन्हें अपने साथ आदरपूर्वक यहाँ लिवा लायें। फिर उनके श्रीचरणोंको धोकर उन्हें ठहरायें और अनेक प्रकारके मिष्ठान्न-पक्वान्न उनके सामने परोसकर उन्हें भोजन करायें। उस समय आप खिड़कीपर पड़े बाँसकी तीलियोंसे बने चिकके परदेके भीतरसे उन भक्तोंका दर्शन करें। तब वहाँ आपको श्यामसुन्दर प्रत्यक्ष दिखायी देंगे।'

श्रीप्रियादासजीने रानी रत्नावतीकी भगवद्दर्शनकी इस तीव्र उत्कण्ठाका इस प्रकार वर्णन किया है—

निशि दिन सुन्यौ करै, देखिबे को अरबरै देखे कैसें जात जल जात दृग भरे हैं।
कछुक उपाय कीजै, मोहन दिखाय दीजै, तब ही तौ जीजै वे तो आनि उर अरे हैं॥
दरशन दूर, राज छोड़ै लौटैं धूर पै न पावैं छबि पूर, एक प्रेम बस करे हैं।
करौ हरि सेवा, भरि भाव धरि मेवा पकवान रसखान, दै बखान मन धरे हैं॥ ५४४॥
इन्द्रनीलमणि रूप प्रगट सरूप कियौ, लियौ वह भाव यों सुभाव मिलि चली है।
नाना विधि राग भोग लाड़कौ प्रयोग जामैं, जामिनी सुपन जोग भई रङ्ग रली है॥
करत सिंगार छबि सागर न पारावार रहत निहारि वाही माधुरी सों पली है।
कोटिक उपाय करै, जोग जज्ञ पार परै, ऐ पै नहीं पावै यह दूर प्रेम गली है॥ ५४५॥
देख्योई चहति तऊ कहति 'उपाय कहा? अहो, चाह बात कहौ कौन को सुनाइयै'।
कही जू बनावौ ढिग महलकै ठौर एक चौकी लै बैठावौ चहूँ ओर समुझाइयै॥
आवै हरि प्यारे तिन्हैं ल्यावैं वे लिवाय इहाँ, रहैं ते धुवाय पाँय रुचि उपजाइयै।
नाना बिधि पाक सामा आगै आनि धरें, आप डारि चिक देखौ, स्याम दृगन लखाइयै॥ ५४६॥

(ग) रानीका महल छोड़कर सन्तसेवापरायण होना

रानी श्रीरत्नावतीके महलके निकट सन्त-निवास बन गया और वहाँ भगवान्‌के प्यारे भक्तजन आने लगे। रानी उनकी सेवा करती और उनका दर्शन करती। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत हुआ। एक दिन वे सन्तगण पधारे, जिन्हें व्रजभूमि प्रिय थी, जो व्रजरसके रंगमें रँगे थे। रानीने दासीसे कहा—मैं इन सन्तोंके निकट जाकर इनका दर्शन एवं इनके श्रीचरणोंका स्पर्श करना चाहती हूँ। दासीने कहा—आप रानी हैं, अतः महलसे बाहर नहीं जा सकती हैं। रानीने कहा—रानीपनेको मैंने त्याग दिया है, अब मैं सन्तोंकी दासी हूँ। इतना कहते-कहते रानी उठकर चली ही थी कि दासीने हाथ पकड़कर रोक लिया। रानी बोली—अब मुझसे नहीं रहा जाता है। आप विचारकर यह बताइये कि कुलकी लज्जासे सत्संग न करके दुःख सहना या उसे त्यागकर सत्संग-सुख प्राप्त करना, क्या उचित है। मैं तो लोक-लज्जा और कुलकी मर्यादाको बिलकुल त्यागकर उसीका आहार (आस्वादन) करूँगी।

ऐसा कहकर दासीके रोकते-रोकते रानी राजमहलसे उतरकर वहाँ आ गयी, जहाँ सुखप्रद सन्त विराजमान थे। उसने उनके चरणोंमें लिपटकर प्रार्थना की—'भगवन्! अपने हाथोंसे परोसकर साधु-सन्तोंको प्रसाद पवानेकी बड़ी भारी अभिलाषा है।' सन्तोंने अच्छी प्रकारसे देख-सुनकर यह जान लिया कि रानी भक्त-भगवन्तके प्रेममें डूबी हुई है, अतः उन्होंने कहा—'जैसी तुम्हारे मनकी अभिलाषा है, वैसा करो। इससे कुछ भी हानि न होगी।'

तदनुसार साधु-सन्तोंकी अनुमति प्राप्तकर रानी रत्नावती सोनेके थालमें विविध प्रकारके व्यंजनोंको सजाकर बड़ी उमंगके साथ आयी। रानीने बड़े प्रेमके साथ परोसकर सन्तोंको भोजन कराया। भोजन कराकर

रानीने सबको चन्दन लगाया और ताम्बूल खिलाया। पुनः भगवच्चर्चा चलायी, सन्तोंके श्रीमुखसे भगवद्वार्ताको सुना। भक्त-भगवान्की रूप-माधुरीका दर्शनकर रानीके नेत्र सजल एवं सरस हो गये। उधर सम्पूर्ण आमेरनगरमें शोर मच गया कि रानी परदेसे बाहर निकलकर वैरागियोंके बीचमें आ गयी हैं। लोग देखनेके लिये उमड़ पड़े। राजाके मन्त्रीने यह समाचार लिखकर एक दूतद्वारा राजाके पास दिल्ली भेज दिया।

श्रीप्रियादासजीने रानीके इस सन्तप्रेमका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आवै हरिप्यारे साधु सेवा करि टारे दिन किहूँ पाँव धारे जिन्हैं व्रजभूमि प्यारियै।
जुगुल किशोर गावै नैननि बहावै नीर ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारियै॥
पूछी वा खवासिन सों जू रानी कौन अङ्ग? जाके इतनी अटक सङ्ग भङ्ग सुख भारियै।
चली उठि हाथ गह्यौ, रह्यौ नहीं जात, अहो सह्यो दुख लाज बड़ी तनक विचारियै॥ ५४७॥
'देख्यौं मैं विचारि 'हरिरूप रससार' ताकौ कीजिये अहार, लाज कानि नीकें टारियै'।
रोकत उतरि आई जहाँ साधु सुखदाई, आनि लपटाई पाँय, विनती लै धारियै॥
सन्तनि जिमायबे की निजकर अभिलाष, लाख लाख भाँतिन सों कैसे कै उचारियै।
आज्ञा जोई दीजै सोई कीजै, सुख वाही मैं, जु, 'प्रीति अवगाही कही' करौ लागी प्यारियै॥ ५४८॥
प्रेम में न नेम, हेम थार लै उमगि चली, चली दृगधार सो परोसि कै जिवाँये हैं।
भीजि गए साधु नेह सागर अगाध देखि, नैननि निमेख तजी, भये मन भाये हैं॥
चन्दन लगाय आनि बीरीऊ खवाय, स्याम चरचा चलाय चख रूप सरसाये हैं।
धूम परी गाँव, झूमि आये, सब देखिबे कों, देखि नृप पास लिखि मानस पठाये हैं॥ ५४९॥

(घ) राजाद्वारा रानी तथा पुत्रके सन्तप्रेमके प्रति रोष प्रकट करना

मन्त्रीके द्वारा लिखे गये पत्रको पढ़ते और दूतके मुखसे सारा हाल सुनते ही राजाके शरीरमें आग-सी लग गयी। संयोगवश इसी बीच रानी श्रीरत्नावतीके सुपुत्र रसिक श्रीप्रेमसिंहजी वहाँ आये। उनके मस्तकमें तिलक और गलेमें तुलसी कण्ठी-माला थी। उन्होंने राजाको प्रणाम किया। समीपके लोगोंने राजाको बताया कि राजकुमार श्रीप्रेमसिंहजी प्रणाम कर रहे हैं। यह सुनकर राजाने प्रेमसिंहजीसे कहा—'आ रे वैरागिनके बेटा।' यह सुनकर इनके मनमें बड़ी पीड़ा हुई।

श्रीप्रेमसिंहको अपमानितकर क्रोधमें भरा हुआ राजा भीतर चला गया। इधर श्रीप्रेमसिंहके मनमें दुःख हो रहा था। समझमें नहीं आ रहा था कि राजाने ऐसा क्यों कहा। पीछे उन्होंने लोगोंसे पूछा तो उन्होंने आमेरसे आये पत्रका सब समाचार कह सुनाया। तब श्रीप्रेमसिंहजीने मनमें विचारा कि अहो! धन्य हैं, वैरागी ही हमारी जाति है। अपनी माताजीका स्मरणकर, प्रेम-भक्तिके भावोंको हृदयमें लाकर ये तन-मनसे सुखी हो गये। अपने निवास-स्थानपर आकर इन्होंने अपनी माताजीको पत्र लिखा कि 'यदि आपने अपने हृदयमें भगवद्-भक्ति धारण की है तो उसे छोड़ना मत। चाहे सिरकी बाजी लगाना पड़े तब भी। आप अपने प्राणोंका मोह छोड़कर भक्ति-भावकी रक्षा करना।' राजाने भरी सभामें मुझे 'मोड़ी—वैरागिनका बेटा' कहकर मेरा अपमान किया है। मैं चाहता हूँ कि अब मोड़ी—वैरागिनका बेटा ही रहूँ।'

श्रीप्रेमसिंहजीने पत्र लिखकर तीव्रगामी दूतोंके द्वारा माताजीके समीप भेज दिया। वे पत्र लेकर आमेर आये। रानीने उसे पढ़ा और उसमें (भक्तियुक्त) लिखे प्रसंगको पढ़ते ही इन्होंने इत्र-फुलेलसे भीगे अपने सिरके बालोंको मुड़वा दिया और मुण्डी—वैरागिन बन गयीं। इसके पहले ये सन्तोंको प्रसाद पवाकर उनके साथ सत्संगवार्ता करके रातको राजमहलोंमें जाकर रहती थीं। परंतु अब अपने श्रीठाकुरजीको सन्त-निवासमें

ही ले आयीं और वहीं उनकी सेवा-पूजा, नृत्य-गान करने लगीं। राजाका अन्न-धन लेना भी इन्होंने छोड़ दिया। इसके बाद अपने पुत्र प्रेमसिंहको पत्र लिख दिया कि 'मैं मूड़ मुड़वाकर सच्ची वैरागिन बन गयी हूँ और दिन-रात उन्हींके बीचमें रह रही हूँ।'

रानी श्रीरत्नावतीका पत्र लेकर दूत लोग गये और उन्होंने पत्र श्रीप्रेमसिंहजीको दिया। इन्होंने उसे सिरसे लगाया और पढ़कर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये। आजसे भगवद्दासोंमें हमारी गिनती हो गयी। यह (दूसरा जन्म) मानकर मनमें उल्लास हुआ। बहुत-सी सम्पत्ति साधु-ब्राह्मण और दीनोंको बाँटी। द्वारपर नौबत बजवायी तथा बधाइयाँ बँटवायीं। किसीने राजासे कहा—'आज कुँवर प्रेमसिंहजीके यहाँ कोई उत्सव है।' राजाने कहा—'कौन-सा यह नया उत्सव हो रहा है, पता लगाओ।' तब राजाके लोगोंने इनसे आकर पूछा, तो इन्होंने उत्तर दिया कि अब हम सचमुच वैरागिनके बेटा बन गये। अबतक तो केवल स्वाँग किया था, पर हमारी बात बन गयी। माताजीने वैरागिनका वेष धारण कर लिया है।' यह बात जब राजाने सुनी तो उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। क्रोधवश उन्होंने वैर-भावसे श्रीप्रेमसिंहपर चढ़ाई करके उनसे युद्धकी तैयारी कर ली। जब कुँवर श्रीप्रेमसिंहको यह बात मालूम पड़ी तो वे भी लड़ने—मरनेके लिये तैयार हो गये।

श्रीप्रियादासजीने रानी रत्नावती और कुँवर प्रेमसिंहके इस सन्तप्रेमका इस प्रकार वर्णन किया है—

ह्वै करि निसङ्क, रानी बङ्क गति लई नई, दई तजि लाज, बैठी मोड़नि की भीर मैं।
लिख्यौ लै दिवान नर आये, सो बखान कियो, बाँचि सुनि, आँच लागी नृपके शरीर मैं॥
'प्रेमसिंह' सुत, ताही काल सो रसाल आयौ, भाल पै तिलक, माल कण्ठी कण्ठ तीर मैं।
भूप को सलाम कियौ नरनि जताय दियौ, बोल्यौ आव मोड़ी के रे पर्‍यौ मन पीर में॥ ५५०॥
कोप भरि राजा गयौ भीतर सो, सोच नयौ, पाछे पूछि लयौ, कह्यौ नरनि बखानि कै।
तब तो बिचारी, 'अहो मोड़ा ही हमारी जाति' भयौ दुख गात, भक्ति भाव उर आनिकै॥
लिख्यौ पत्र मा जी कों, जु प्रीति हिये साजी जोपै सीस पर बाजी आय राखौ तजि प्रानि कै।
सभा मधि भूप कही 'मोड़ीको बिरूप भयौ' रहैं अब मोड़ीके ही भूलौ मति जानि कै॥ ५५१॥
लिख्यौ दै पठाये बेगि मानस, लै आये जहाँ रानी भक्ति सानी हाथ दई, पाती बाँचियै।
आयो चढ़ि रङ्ग, बाँचि सुत कौ प्रसंग, बार भीजै जे फुलेल, दूर किये, प्रेम साँचियै॥
आगे सेवा पाक निसि महल बसत जाय, ल्याय याही ठौर प्रभु नीके गाय नाँचियै।
नृप अन्न त्यागि दियौ, दियौ लिखि पत्र पुत्र, भई मोड़ी आज, तुम हित करि जाँचियै॥ ५५२॥
गए नर पत्र दियौ सीस सों लगाय लियौ, बाँचि कै मगन हियौ, रीझि बहु दई है।
नौबत बजाई द्वार बाँटत बधाई, काहू नृपति सुनाई कही 'कहा रीति नई है'॥
पूछै भूप लोग कह्यौ मिटे सब सोग भये मोड़ी के जू जोग स्वाँग कियो बनि गई है।
भूपति सुनत बात, अति दुख गात भयौ, लयौ बैर भाव चढ्यो त्यारी इत भई है॥ ५५३॥

(ङ) लोगोंके समझानेपर राजा तथा राजकुमारके युद्धका बन्द होना

पिता-पुत्रमें युद्धकी तैयारी देखकर हितैषी लोगोंने राजाको अच्छी तरहसे समझाया कि 'लड़केके साथ युद्ध करनेसे सारे विश्वमें आपकी निन्दा होगी।' बुद्धिमान् शुभचिन्तकोंने उधर श्रीप्रेमसिंहजीको भी यही कहकर समझाया। इन्होंने कहा—'लौकिक विषयोंके लिये मैंने अबतक करोड़ों जन्म गँवाये हैं, यह एक भगवान्‌की भक्तिके काम आये। मैं ऐसा ही चाहता हूँ, मुझे यही अच्छा लग रहा है।' श्रीप्रेमसिंहजीका ऐसा दृढ़ विचार सुनकर लोग इनके पैरोंमें पड़ गये और कहा—अभी कुछ समयके लिये

इन बाजोंका बजना बन्द करवा दीजिये। राजासाहब आज ही रातको आमेर चले जायेंगे। फिर आप खूब नौबत बजवायें। प्रेमसिंहने मान लिया। 'नौबत बन्द हो गयी' यह कहकर लोगोंने राजाको शान्त किया। राजा माधवसिंहजी दिल्लीसे चल दिये और आमेर आ गये। इनके नगरके निकट पहुँचते ही लोग आकर इनसे मिले और उन्होंने रानीका सब वृत्तान्त कह सुनाया। अब राजाके मनमें बड़ी चिन्ता हो गयी।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

नृप समझाय राख्यौ 'देश में चबाव ह्वै है, बुधिवन्त जन आय सुत सों जताई है।
बोल्यो 'विषै लागि कोटि कोटि तन खोये, एक भक्ति पर आवै काम यह मन आई है॥
पाँयपरि माँगि लई दई जो प्रसन्न तुम, राजा निसि चल्यो जाय करौ जिय भाई है।
आयौ निज पुर ढिग ढुरि नर मिले आनि कह्यौ सो बखानि सब, चिन्ता उपजाई है॥ ५५४॥

(च) राजाद्वारा रानीको मरवानेका षड्यन्त्र करना, पर उसके भक्तिभावसे स्वयं भी भगवद्भक्त बन जाना

राजाने राजमहलोंमें पहुँचकर अपने मन्त्रियोंको बुलवाया और कहा—'मेरी नाक तो कट ही गयी, वह अब जुड़ नहीं सकती है, परंतु उसमेंसे जो लगातार खून बह रहा है, उसको किसी प्रकार रोकिये।' किसी प्रकार रानीको मरवा डालना आवश्यक है। अतः आपलोग कोई ऐसा उपाय सोचिये कि रानी मर जाय और हत्याका कलंक भी न लगे। जब राजाने यह कहा तो किसी बुद्धिमान् (चापलूस) मन्त्रीने बहुत सोच-विचारकर एक उपाय बताते हुए कहा—अपने यहाँ पिंजड़ेमें जो सिंह बन्द है, उसे रानीके सामने छोड़ दिया जाय। वह रानीको मार डालेगा, तब फिर उसे पकड़वा लिया जायगा। इस मन्त्रणाको गुप्त रखा जाय और बादमें यह प्रचार कर दिया जायगा कि सिंह छूट गया और उसने रानीको मार डाला। यह उपाय सबको अच्छा लगा। लोगोंने यही किया, सिंहको छोड़ दिया। जब वह रानीकी ओर आया तो उसे देखकर दासीने कहा—देखो, श्रीनृसिंहजू आपकी ओर आ रहे हैं, दर्शन कीजिये।

जिस समय सिंह आया, उस समय अनुराग रंगमें भरी रानी भगवान्‌की सेवा कर रही थीं। श्रीनृसिंहजूका शुभागमन सुनकर रानीने दृष्टि घुमाकर उधर देखा। रानीने प्रेमभावसे पहचाना और उठकर उनका आदर करते हुए कहा—'अहो! धन्य है, आज मेरे बड़े भाग्य हैं, जो मेरे घरपर मुझे दर्शन देनेके लिये श्रीनृसिंहभगवान् पधारे हैं।' रानीकी सच्ची भावना थी, अतः भगवान्‌ने अपनी उसी नृसिंहरूपकी शोभाका दर्शन कराया। रानीने फूलोंकी माला पहनायी और सँवारकर तिलक लगाया, आरती की। उसके बाद सप्रेम दर्शन किया तो चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीनृसिंहजीकी शोभा अत्यन्त प्रिय लगी। रानीकी पूजा स्वीकार करके श्रीनृसिंहभगवान् रानीके घरसे निकले, मानो खम्भ फाड़कर बाहर निकले हों। तत्काल उन्होंने विमुखोंके समूहको मार डाला।

राजाको रानीका समाचार मिला, लोगोंने बताया कि रानीने सिंहका पूजन किया, शान्त-भावसे पूजन स्वीकारकर वह वहाँसे निकला और सैकड़ों लोगोंको मारकर जाने कहाँ चला गया! राजाने सब बातें ध्यानपूर्वक सुनीं, फिर वह अत्यन्त नम्र होकर रानीके पास आया। रानीकी भक्तिके प्रभावसे राजाकी बुद्धि बदल गयी, अतः भूमिपर पड़कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। इन्हें प्रणाम करते देखकर दासीके मनमें दया भर गयी और उसने रानीको सुनाकर कहा—'देखो, महाराज प्रणाम कर रहे हैं।' रानीने कहा—ठीक है, राजा लालजीको प्रणाम कर रहे हैं।' फिर दासीने आग्रह करते हुए कहा—'आप थोड़ा राजाकी ओर

घूमकर देखें।' रानीने कहा—'ये आँखें एक ओर लगी हैं, अब दूसरी ओर नहीं जा सकतीं।' राजाने कहा—'यह सम्पूर्ण राज्य और धन आपका ही है, आप इसे स्वीकारकर सेवामें लें।' अब रानीको पतिमें या उनकी सम्पत्तिमें लोभ नहीं रह गया था। अत: उसने कहा—'राज्यसुखको आप भोगें, हमारी सम्पत्ति और सुख हमारे लालजी हैं, अब ये ही हमको प्रिय लगते हैं।'

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भवन प्रवेश कियो, मन्त्री जो बुलाय लियौ, दियौ कहि 'कटी नाक लोहू निरवारियै।
मारिबौ कलंक हू न आवै' यों सुनावै भूप काहू बुधिवन्त नै बिचारि लै उचारियै॥
'नाहर जू पींजरा मैं दीजै छाड़ि लीजै मारि पाछै ते पकरि वह बात दाबि डारियै।
सबनि सुहाई, जाय करी मन, भाई आयौ, देख्यौ वा खवासी कही 'सिंहजू निहारियै'॥ ५५५॥
करै हरि सेवा भरि रंग अनुराग दृग, सुनी यह बात नेकु नैन उन टारे हैं।
भाव ही सों जाने उठि अति सनमाने, अहो! आज मेरे भाग, श्रीनृसिंह जू पधारे हैं॥
भावना सचाई वही शोभा लै दिखाई फूल माल पहिराई, रचि टीकौ लागै प्यारे हैं।
भौन ते निकसि धाए, मानौ खम्भ फारि आये, बिमुख समूह ततकाल मारि डारे हैं॥ ५५६॥
भूप कौं खबरि भई, रानी जू की सुधि लई, सुनी नीकी भाँति, आप नम्र ह्वैके आये हैं।
भूमि पर साष्टाङ्ग करी, हरी मति भई दया आप आय वाके वचन सुनाये हैं॥
'करत प्रनाम राजा' बोली 'अजू लालजू कौं' नैकु फिरि देखौ एक ओर ए लगाये हैं।
बोल्यो नृप 'राज धन सबहीं तिहारो धारौ' पति पै न लोभ कही 'करौ सुख भाये हैं'॥ ५५७॥

(छ) रानीकी भक्तिके प्रभावसे राजा मानसिंह तथा भाई माधवसिंहका संकटसे उद्धार

एक बार राजा मानसिंहजी और माधवसिंहजी दोनों भाई काबुलकी लड़ाईमें विजय प्राप्त करके लौटते समय अटक नदीमें नावपर चढ़कर यात्रा कर रहे थे। दैववश नाव डूबने लगी। बड़े भाई मानसिंहजीने अपने छोटे भाई माधवसिंहजीसे कहा—'अब बचनेका कौन-सा उपाय किया जाय?' माधवसिंहजीने कहा—'अपने घरमें रानी भगवान्‌की बड़ी भक्ता हैं, ऐसे समयमें उन्हींका स्मरण किया जाय।' फिर दोनों भाइयोंने रानी श्रीरत्नावतीका ध्यान किया। उसका ऐसा अद्भुत प्रभाव हुआ कि नाव संकटसे बचकर किनारेपर लग गयी। इससे दोनों भाइयोंके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। मानसिंहके मनमें नई अभिलाषा उत्पन्न हुई कि 'भक्ता रानीका दर्शन प्रथम करना चाहिये।' तदनुसार भाई समेत मानसिंहजीने आकर रानीका एवं उनके श्रीठाकुरजीका दर्शन किया और विनती की।

श्रीप्रियादासजी इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

राजा 'मानसिंह' 'माधौसिंह' उभै भाई चढ़े, नाव पर कहूँ, तहाँ बूड़िबे कों भई है।
बोल्यौ बड़ौ भ्राता 'अब कीजिये जतन कौन? भौन तिया भक्त' कहि छोटे सुधि दई है॥
नेकु ध्यान कियौ, तब आनिकै किनारौ लियौ, हियौ हुलसायौ, जेठ चाह नई लई है।
कर्‌यौ आय दरसन बिनै करि गयौ भूप अति ही अनूप कथा हिये व्यापि गई है॥ ५५८॥

श्रीजगन्नाथ पारीखजी

(श्री) रामानुज की रीति प्रीति पन हिरदैं धार्‌यो।
संसकार सम तत्त्व हंस ज्यों बुद्धि बिचार्‌यो॥

सदाचार मुनिबृति इन्दिरा पधति उजागर।
रामदास सुत संत अननि दसधा को आगर॥
पुरुषोत्तम परसाद तें उभै अंग पहिर्‌यो बरम।
पारीष प्रसिध कुल काँथड़्या जगन्नाथ सीवाँ धरम॥ १४३॥

परम प्रसिद्ध कांथड़्यागोत्रमें श्रीरामदासजीके पुत्र श्रीजगन्नाथ पारीखजी वैष्णवधर्मकी सीमा थे। श्रीरामानुजाचार्यजीके द्वारा संस्थापित भक्तिकी रीतिके अनुसार आपने भगवान्‌से प्रेम करनेके शरणागतिव्रतको दृढ़तापूर्वक अपने हृदयमें धारण किया। आप वैष्णवीय संस्कारोंसे युक्त थे। नीर-क्षीर-विवेकी हंसकी तरह समान रूपसे व्याप्त भगवत्तत्त्वको आपने अपनी बुद्धिमें धारण किया। आपका सात्त्विक स्वभाव एवं आचार-विचार मुनियोंका-सा था, आप लक्ष्मी-सम्प्रदायमें चमकते हुए प्रसिद्ध सन्त थे और प्रेमाभक्तिके अनन्य उपासक थे। गुरुदेव श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजीकी कृपासे आपने स्थूल शरीरपर (राजपुरोहित होनेके कारण राजाके साथ युद्धमें) लोहेका कवच और (पुरोहिती छोड़कर) भावशरीरपर भगवान्‌की भक्तिका कवच धारण किया। इस प्रकार आपके दोनों शरीर सदा सुरक्षित रहे, अतः वैष्णवधर्मकी सभी मर्यादाओंका पालन करनेमें आप समर्थ हुए॥ १४३॥

श्रीजगन्नाथ पारीखजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीजगन्नाथ पारीखजी कांथड़्यागोत्रीय ब्राह्मण थे। आपके पिताका नाम श्रीरामदास था। परम भक्तिमती श्रीकरमैतीजीका जन्म इन्हींके गोत्रमें हुआ था। भक्तदामगुणचित्रणीके तीन कवित्तोंमें श्रीपारीखजीके दो चरित्रोंका उल्लेख है—

किसी स्थानपर पाँच-सात ब्राह्मण भगवान् श्रीरामजीके उपासक थे, वे अपनी उपासनामें तल्लीन थे। इसी बीच एक घोर शाक्त वहाँ आ पहुँचा और उसने वैष्णवीय उपासनाका खण्डन कर दिया। वे ब्राह्मण उससे शास्त्रार्थ नहीं कर पाये। इसी समय दैवयोगसे श्रीजगन्नाथजी पारीख वहाँ पहुँच गये। उन्होंने उससे शास्त्रार्थ करके उसे हरा दिया और श्रीरामोपासनाका समर्थन किया। इससे वे ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए, परंतु उस शाक्तको बहुत बुरा लगा। तब उसने मारण-शक्तिका प्रयोग किया, परंतु इनके ऊपर कुछ भी प्रभाव उसका नहीं हुआ। उलटे उस मारण-प्रयोगसे वह स्वयं मरने लगा, तब श्रीपारीखजीको दया आ गयी। उन्होंने उस शाक्तकी रक्षा की। इससे प्रभावित होकर उस शाक्तने इनकी शरण ग्रहण की और राम-भक्त बन गया।

एक बार आप कहीं जा रहे थे, मार्गमें आपको कई ठग मिले और उन्होंने आपको लूटने-मारनेका प्रयास किया। परंतु आपका शरीर तो दिव्य कवचसे सुरक्षित था अतः कुछ भी असर न हुआ। आपको यह भी पता न था कि हमारी गर्दनपर किसीने तलवार मारी है। जब तलवारोंके घावसे गर्दन नहीं कटी। कष्ट भी नहीं हुआ। तब वे समझ गये कि ये कोई दिव्य मनुष्य हैं, अतः श्रीपारीखजीके चरणोंमें पड़कर क्षमा-प्रार्थना करने लगे। इन्होंने कहा कि हमारा कुछ भी आपने नहीं बिगाड़ा है। हम क्यों नाराज होंगे। इनकी इस मुनिवृत्तिको देखकर सभी दस्यु इनके शिष्य बन गये। चोरी आदिका उन्होंने त्याग कर दिया। इस प्रकार श्रीपारीखजी कुपात्रोंको भी सुपात्र बनानेवाले हुए।

श्रीमथुरादासजी

सदाचार संतोष सुहृद सुठि सील सुभासै।
हस्तक दीपक उदय मेटि तम बस्तु प्रकासै॥

हरि को हियँ बिस्वास नंदनंदन बल भारी।
कृष्न कलस सों नेम जगत जानै सिर धारी॥
(श्री) बर्द्धमान गुरु बचन रति सो संग्रह नहिं छंडयो।
कीरतन करत कर सपने हूँ मथुरादास न मंडयो॥ १४४॥

श्रीमथुरादासजी सर्वदा भगवन्नामका कीर्तन करते रहते थे। इसलिये इनके ऊपर तान्त्रिकोंके मारण-मोहन आदि प्रयोग नहीं चले। आपमें शुद्ध आचार, यथालाभ-संतोष, मैत्रीभाव, सुन्दर शील आदि सभी सद्‌गुण विशेषरूपसे प्रकाशित थे। जिस प्रकार हाथके दीपकसे अन्धकार मिट जाता है और वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं, उसी प्रकार भगवत्तत्त्व-ज्ञानके द्वारा आपका हृदय प्रकाशित था। आपके हृदयमें प्रभुका विश्वास था और उन्हींका बल था। सभी लोग जानते हैं कि श्रीकृष्णकी सेवाके निमित्त जलका घड़ा आप अपने सिरपर रखकर बड़े नेम और प्रेमसे लाते थे। आपको अपने गुरुदेव श्रीवर्धमानजीके वचनोंमें बड़ा प्रेम था। आप उनके उपदेशोंका संग्रह एवं पालन करते थे। आपने गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन कभी नहीं किया॥ १४४॥

श्रीमथुरादासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीमथुरादासजीने तिजारे ग्राममें निवास करते हुए भगवद्-भक्तिपूर्वक खूब आराधना की और प्रजामें भक्तिका प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। एक बार तिजारे ग्राममें साधु-वेषधारी एक जादूगर आया। वह सबको दिखाकर भगवान् शालग्रामकी सेवा करता था। विशेष बात यह थी कि उसके शालग्रामजी सिंहासनपर (कठपुतलीकी तरह) हिलते-डोलते रहते थे। इस चमत्कारको देखनेके लिये जनताकी भीड़ एकत्र हो जाती थी। वहाँ जो श्रीमथुरादासजीके शिष्य-सेवक थे, उनके मनमें भाव आया कि ये बड़े भारी सिद्ध सन्त हैं, तभी तो भगवान् इनके अधीन हैं। उन लोगोंने इस प्रभावका वर्णन श्रीमथुरादासजीके सामने किया और कहा कि उस सन्तकी सेवा सभीको अच्छी लगती है। कुछ समयके लिये आप भी चलिये और उसकी उपासनाकी रीति-भाँति देखिये। श्रीमथुरादासजी सर्वज्ञ थे। जादूगर ढोंगी है, भक्त नहीं है, इस रहस्यको समझकर बोले—मेरे चलनेसे उसकी माया नहीं चलेगी, तब उसके मनमें दुःख हो जायगा, अतः हम वहाँ नहीं जायँगे।

सभी शिष्य-सेवकोंने चरणोंमें पड़कर प्रार्थना की। तब आप वहाँ गये, जहाँ उसने अपना ढोंग फैला रखा था। ये जाकर उसके पास खड़े हो गये। फिर जब उसने शालग्रामजीको हिलाना-डुलाना चाहा तो वे नहीं हिले-डोले। अब उसके मनमें बड़ा भारी शोक हुआ। वह समझ गया कि अभी-अभी जो यह साधु आया है। इसीका यह प्रताप है। हमारी सिद्धाईमें यह बाधक है, अतः तन्त्र-मन्त्र-जप आदि करके इसे मार डालूँ। इस विचारको उसने अपने मनमें दृढ़ किया। फिर उसने इन्हें मारनेके लिये मूठ चलायी। वह श्रीमथुरादासजीकी भक्तिके सामने आकर व्यर्थ हो गयी। उलटकर उस चलानेवालेको ही लगी, जिससे मूर्च्छित होकर वह पृथ्वीपर गिर गया। लोगोंको ऐसा लगा कि यह मर गया। पश्चात् दयालु सन्त श्रीमथुरादासजीने दया करके उसे जीवित किया। फिर समझाया और उसे सेवारूपी भक्ति-मार्गका उपदेश दिया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

बासकै 'तिजारे' माँझ भक्ति रस रास करी, करी एक बात, ताकौ प्रगट सुनाइयै।
आयौ भेषधारी कोऊ करै सालग्राम सेवा, डोलत सिंहासन पै आनि भीर छाइयै॥

स्वामीके जु शिष्य भयौ, तिनहूँ कै भाव देखि, वाहि कौ प्रभाव आय कह्यौ हिय भाइयै।
नेकु आप चलौ, उह रीति कों बिलोकियै जु, बड़े सरवज्ञ, कही 'दूखै नहीं जाइयै'॥ ५५९॥
पाँय परि, गये लैकै, जाय ढिग ठाढ़े भये, चाहत फिरायौ, पै न फिरै सोच पर्‌यौ है।
जानि गयौ आप, कछु याही कौ प्रताप, ऐ पे मारौं करि जाप यों विचार मन धर्‌यौ है॥
मूठ लै चलाई, भक्ति तेज आगे आई नाहिं, वाही लपटाई, भयौ ऐसौ मानौ मर्‌यौ है।
ह्वै करि दयाल, जा जिवायौ, समझायो प्रीति पन्थ दरसायौ, हिय भायौ, शिष्य कर्‌यौ है॥ ५६०॥

श्रीनारायणदासजी नर्तक

पद लीनो परसिद्ध प्रीति जामें दृढ़ नातो।
अच्छर तनमय भयो मदनमोहन रँग रातो॥
नाचत सब कोउ आहि काहि पै यह बनि आवै।
चित्र लिखित सो रह्यो त्रिभँग देसी जु दिखावै॥
हँड़िया सराय देखत दुनी हरिपुर पदवी को कढ़्यो।
नृतक नरायनदास को, प्रेमपुंज आगे बढ़्यो॥ १४५॥

श्रीनारायणदासजी नर्तकका प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़नेवाला था। एक बार आपने वह प्रसिद्ध पद गाकर नृत्य किया, जिसमें 'प्रीतिका नाता ही दृढ़ माना गया है।' गाते-गाते उस पदके शब्दों-अक्षरों और भावोंमें आप तल्लीन हो गये। *'मदनमोहन रँग रातो'* इसे गाते हुए स्वयं भी मदनमोहनके प्रेमरंगमें रँग गये। इस संसारमें नाचते-गाते तो सभी लोग हैं, परंतु ऐसा नाचना-गाना और ऐसी भाव-तन्मयता किसमें बन सकती है? उस तन्मयतामें आप चित्रलिखितकी भाँति स्तब्ध रह गये। श्रीकृष्णने दर्शन दिया। प्रयागसे पूर्व लगभग छः कोसकी दूरीपर हँड़ियासराय नामक गाँवमें लोगोंके देखते-देखते आप वैकुण्ठपदपर पहुँच गये॥ १४५॥

श्रीनारायणदासजी नर्तकके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनारायणदासजीका यह दृढ़ नियम था कि वे भगवान्‌के सामने ही नृत्य-गान करते थे, दूसरे किसी मनुष्यके सामने नहीं। इस व्रतको हृदयमें धारणकर भक्तिके प्रचार एवं सन्तोंके दर्शनके लिये देश-देशान्तरोंमें जहाँ-जहाँ भक्तसमूह होता, वहाँ-वहाँ आप जाते। एक बार विचरते हुए आप हँड़ियासराय गये और वहींपर आपने निवास किया। श्रीठाकुरजीके सामने नित्य ही नृत्य-कीर्तन करते। कुछ समयके बाद आपके नृत्य-कीर्तनकी प्रशंसा सभी लोग करने लगे। उसे सुनकर वहाँके यवनशासक मीरने आपको यह कहकर बुलवाया कि हमारे यहाँ बड़े-बड़े महापुरुष, भगवद्भक्तजन आये हैं, आप भी आइये। गुणी लोगोंसे मिलनेकी मेरे मनमें बड़ी इच्छा रहती है। उनके न मिलनेसे मनमें दुःख होता है। जब यह सन्देश लोगोंके द्वारा आपको मिला तो उसे सुनकर आपको बड़ी कठिनाई हुई। लोगोंने समझाते हुए कहा कि 'जैसी आपकी इच्छा हो, वही कीजिये, परंतु मीर साहब आपके नृत्य-कीर्तनको देखने-सुननेके लिये बड़े व्याकुल हो रहे हैं।'

श्रीनारायणदासजी अपने मनमें विचार करने लगे कि मेरा नियम भगवान्‌के आगे नृत्य करनेका है, बिना भगवान्‌को पधराये नृत्य कैसे करूँगा? यवनोंके सामने अपने पूज्य श्रीअर्चा-विग्रहकी सेवाका विस्तार कैसे करूँगा? इस प्रकार सोचते-विचारते आपने एक मार्ग निकाल लिया और मीर साहबके दरबारमें गये।

वहाँ एक ऊँचे सिंहासनपर आपने एक श्रीतुलसीजीकी मालाको विराजमान कर दिया। श्रीतुलसीजी भगवान्‌का अभिन्न रूप है, ऐसा मानकर आपने उन्हींके सामने बड़ा उत्तम नृत्य किया। एक ओर मीर साहब बैठे थे, उनकी ओर आपने एक दृष्टिसे भी नहीं देखा। सिंहासनपर विराजमान तुलसी-श्यामकी ओर ही देखते हुए उनकी किशोररूप-माधुरीमें मग्न हो गये। अपने शरीरकी सुधि-बुधि खो बैठे। आपने रीझकर विचार किया कि कुछ न्यौछावर करूँ। कोई वस्तु नहीं दिखायी पड़ी, अचानक अपने प्राण ही हाथ पड़े। आपने उन्हें ही न्यौछावर कर दिया। आदरपूर्वक भगवान्‌ने इस भेंटको स्वीकार किया।

श्रीप्रियादासजी श्रीनारायणदासजीकी इस नियम-निष्ठाका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

हरि ही कें आगे नृत्य करै, हिये धरै यही, ढरै देश देसनि मैं जहाँ भक्त भीर है।
'हँड़िया सराय' मध्य जाइकै निवास लियौ, लियौ सुनि नाम सो मलेछ ज्ञाति मीर है॥
बोलिकै पठाये, महाजन हरिजन सबै आयौ है सदन गुनी ल्यावौ चाह पीर है।
आनिकै सुनाई, भई बड़ी कठिनाई, अब कीजै जोई भाई वह निपट अधीर है॥ ५६१॥
बिना प्रभु आगें नृत्य करियै न नेम यहै, सेवा वाके आगें कहौ कैसे बिसतारियै।
कियो यों बिचार ऊँचे सिंहासन माला धारि तुलसी निहारि हरिगान कर्‌यौ भारियै॥
एक ओर बैठ्यौ मीर, निरखैं न कोर दृग, मगन किशोर रूप, सुनि लै विसारियै।
चाहै कछु वारौ परे औचक ही प्रान हाथ, रीझि सनमान कीनौ मीच लागी प्यारियै॥ ५६२॥

श्रीभूरिदा भक्तगण

बोहित राम गुपाल कुँवरबर गोबिंद माँडिल।
छीतस्वामि जसवंत गदाधर अनँतानँद भल॥
हरिनाभा मिश्र दीनदास बछपाल कन्हर जस गायन।
गोसू रामदास नारद स्याम पुनि हरिनारायन॥
कृष्नजिवन भगवान जन स्यामदास बिहारी अमृतदा।
गुन गन बिसद गुपाल के एते जन भए भूरिदा॥ १४६॥

अपने उपदेशोंके द्वारा भगवान्‌के विशद गुणगणोंका महान् दान देनेवाले ये भक्त हुए। श्रीबोहितजी, रामगोपालजी, कुँवरवरजी, गोविन्दजी, माँडिलजी, छीतस्वामीजी, यशवन्तजी, गदाधरजी, अनन्तानन्दजी, हरिनाभमिश्रजी, दीनदासजी, बच्छपालजी, कन्हरजी, गोसूजी, रामदासजी, नारदजी, श्यामजी, हरिनारायणजी, कृष्णजीवनजी, जन भगवानजी, श्यामदासजी और बिहारीदासजी। ये भगवत्-सुयशके गायक परम मधुर प्रेमरूपी अमृतके दाता हुए॥ १४६॥

भगवत्-यशका गान करनेवाले इन भक्तोंमेंसे कुछका परिचय इस प्रकार है—

श्रीबोहितजी

श्रीबोहितजी सांसारिक प्राणियोंको भगवद्भक्तिका दान देनेवाले थे। आप अपने आश्रममें निवास करते हुए सदा भगवान्‌के गुणोंका गान किया करते थे। प्रेमीभक्त सुनकर कृतार्थ होते। इस प्रकार ये भवसागरसे पार करनेवाले बोहित—जहाज ही थे। आश्रमके निकट एक भूतका निवास था। वह भी दूरसे कथा-श्रवण करता। एक बार चाँदनी रातमें आश्रमके समीप बहुतसे ग्रामीण बालक खेल रहे थे। भूत भी आकर उनके

साथ खेलने लगा। आपने सभी बालकोंको आज्ञा दी कि अब खेल बन्द करके यहाँ मेरे पास आकर नाम-संकीर्तन करो। आज्ञा पाकर सभी बालक आपके समीप आ गये। परंतु एक दूर ही खड़ा रहा। श्रीबोहितजीके बुलानेपर भी नहीं आया। तब आपने बालकोंको आज्ञा दी कि इसे पकड़कर लाओ। बालक पकड़ने गये, पर वह पकड़में आता ही नहीं। कई बालकोंके मिलकर पकड़नेपर भी वह छूट जाता। अलग खड़ा दिखायी पड़ता। अन्तमें आपने आज्ञा दी कि इसकी चोटी पकड़ लो, फिर नहीं छूट सकेगा—ऐसा ही हुआ। समीप आनेपर आपने उससे पूछा कि बता, तू कौन है? उसने कहा—मैं पूर्वजन्ममें राजपूत था, कुसंगके कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी, अतः जुआ, चोरी आदि कुकर्मोंकी मुझे आदत पड़ गयी। मैंने अपनी निरपराधिनी, सुशीला पत्नीका वध कर डाला था, उसी पापके फलस्वरूप मुझे प्रेतयोनि मिली। किंचित् अनिच्छासे कथा-श्रवणका यह उत्तम फल मुझे मिला कि आपके आश्रमके निकट रह रहा हूँ और आपके द्वारा कही गयी कथाको सुन रहा हूँ। अब आप कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये। मैं कभी किसीको सताता नहीं हूँ, आपकी शरण हूँ। उसकी दीनताभरी वाणी सुनकर आपने उसके कानमें भगवन्नाम सुनाया और चरणामृत दिया। वह मुक्त हो गया, आकाशमें उज्ज्वल प्रकाश छा गया, सभीको श्रीबोहितजीकी दानशीलता एवं शक्तिका परिचय मिल गया। आपका प्रधान स्थान मकरापुरा, करनाल (पंजाब)-में है। वहीं परमधामवास हुआ। वहाँपर आपकी समाधि बनी है।

श्रीहरिनाभ मिश्र

ये परम सुशील, सदाचारी, साधुसेवी एवं सच्चे उपदेशक थे। जिस समय आप भगवान्‌की कथा कहते, उस समय श्रोताओंको देह-गेहका स्मरण नहीं रहता। आपके उपदेशामृतसे अनन्त जीवोंका कल्याण होता। एक ब्राह्मण आपका शिष्य था। उसने आकर प्रार्थना की—भगवन्! मेरा एक पुत्र कुसंगमें पड़ गया है, इसलिये वह कुकर्मी हो गया है। सभी कर्म-धर्म एवं देवोंकी निन्दा करता है, इनमें उसकी थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है। मेरे समझानेसे भी नहीं मानता है। आप कृपा करके कोई उपाय बताइये, जिससे उसका उद्धार हो। श्रीमिश्रजीने कहा—उसे मेरे पास भेजा करो, यहाँ आयगा तो उसे सत्संग मिलेगा। मैं समझा-बुझाकर उसे ठीक कर दूँगा। ब्राह्मणने आकर पुत्रसे कहा—तू गुरुजीके पास नित्य जाया कर, उससे तेरी बुद्धि शुद्ध हो जायगी। उसने पिताकी बात न मानकर उनका तिरस्कार किया। उसे सत्संगमें जानेमें चिढ़ थी। ब्राह्मणने आकर सब समाचार गुरुजीको सुनाया। तब इन्होंने कहा—तुम चिन्ता मत करो, अब मैं ही कोई-न-कोई उपाय करूँगा।

संयोगवश एक दिन जब उस ब्राह्मणका पुत्र इनके आश्रमके समीप होकर निकला तो इन्होंने थोड़ा-सा जल उसके ऊपर डाल दिया। कृपापूर्ण जलका स्पर्श पाते ही उसके पाप नष्ट हो गये, उसके विचार बदल गये, बुद्धि निर्मल हो गयी, अतः नित्य सत्संगमें आने लगा। धीरे-धीरे श्रीमिश्रजीकी रसमयी कथाको सुननेकी आदत पड़ गयी। अब तो वह कुसंग और दुराचारसे बहुत दूर रहने लगा। अब कथा-सत्संगके बिना उससे रहा नहीं जाता। वह विष्णुभगवान्‌का अनन्य उपासक बन गया।

श्रीबच्छपालजी

आप परम भगवद् भक्त थे। आपने अपने भजनके प्रतापसे असंख्य जीवोंका कल्याण किया। आपकी माताजीको कालज्वर आया। यमके दूत उसे डराने और ले जानेकी तैयारी करने लगे। माताको बड़े कष्टका अनुभव हो रहा था। उनको शरीरकी सुध नहीं रही, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। श्रीबच्छपालजी घरपर नहीं थे। शहरसे आकर उन्होंने माताका कष्ट देखा तो वहीं भगवान्‌की कथा और नामोंका गायन आरम्भ कर

दिया। उसे सुनते ही यमदूत भाग गये और विष्णु पार्षदोंने आकर दर्शन दिया। तदनन्तर कुछ चेत होनेपर माताजीने यमदूतोंके द्वारा प्राप्त कष्टका वर्णन करते हुए कहा कि तुम्हारे कीर्तनसे मुझे बड़ा सुख मिला, मेरा सारा कष्ट दूर हो गया। तू धन्य है, तूने नरकसे मेरा उद्धार कर दिया। यमदूत मुझे मार रहे थे। अब ये विष्णुदूत विमानपर बैठाकर मुझे ले जा रहे हैं।

श्रीछीतस्वामीजी

श्रीगोपाललालके विशद गुणगणोंके उदार गाता अष्टछापके कवि श्रीछीतस्वामीका जन्म लगभग सं० १५७२ वि० में हुआ। आप श्रीमथुराके चतुर्वेदी ब्राह्मण और सुबल सखाके अवतार थे। वीर प्रकृतिके कारण ये किसीसे दबते न थे। इनके चार साथी और थे। ये पाँचों नामी-गरामी प्रसिद्ध थे, उनमें छीतू चौबे सरदार थे। आये-गये तीर्थयात्रियोंसे और मथुरावासियोंसे भी ये अपनी भेंट-पूजा राजी-राजी और कभी-कभी गैर-राजी भी ले लिया करते थे। इससे प्रायः लोग इनसे भयभीत रहते। जिस समय इनकी अवस्था लगभग बीस वर्षकी थी, उस समय श्रीविट्ठलनाथजीकी दिव्य भक्ति-निष्ठाकी चर्चा चारों ओर तेजीसे फैल रही थी। एक दिन छीतू चौबेकी मित्र-मण्डलीमें श्रीविट्ठलनाथजीकी चर्चा चारों ओर छिड़ गयी। ये लोग कहने लगे कि गोकुलके गोसाईंजी जादू-टोना बहुत अच्छा जानते हैं। जो भी कोई उनके पास पहुँच जाता है, उसके ऊपर जादू चलाकर उसे मोहित कर लेते हैं, फिर तो वह अपने तन-मन-धनको समर्पणकर उनका चेला बन जाता है। दूसरेने कहा—अजी! उनके यहाँ ठाकुरके भोगमें बढ़िया-से-बढ़िया चक्कमाल मिलते हैं। इसीसे लोग उनके गुन गाते हैं और चेला बन जाते हैं। अन्तमें इन पाँचोंने निश्चय किया कि गोकुल चलकर गोसाईंजीकी परीक्षा ली जाय और देखा जाय कि हम ब्राह्मणलोगोंपर कैसे अपनी मोहिनी विद्या चलाते हैं। हम लोग तो काली कामर हैं, हमारे ऊपर किसीका रंग चढ़नेसे रहा। भेंटके लिये एक सूखा-थोथा नारियल और एक खोटा रुपया लेकर इन लोगोंने नावमें बैठकर गोकुलकी यात्रा की।

वहाँ पहुँचकर छीतू चौबेने कहा—तुम लोग बाहर द्वारपर खड़े रहो। मैं जाकर वहाँका रंग-ढंग देखता हूँ, पीछेसे तुम लोग भी भीतर आ जाना। उस समय श्रीगोसाईंजी विश्राम करके उठे थे और अपनी गद्दीपर बैठकर स्वाध्याय कर रहे थे, उनके हाथमें पुस्तक थी। उनके पुत्र श्रीगिरिधरजी भी समीपमें ही विराजमान थे। छीतू चौबेने उनके समीप जाकर जब उनका दर्शन किया तो मनमें पश्चात्ताप हुआ कि मैं दिव्य देवस्वरूप, शान्त महापुरुषकी मसखरी और परीक्षा लेने आया, मुझे धिक्कार है। इन्होंने नारियल और रुपयेको छिपा लिया और श्रीगोसाईंजीको दण्डवत् की। तब वे मुसकराकर बोले—'आओ, छीतस्वामी! कहो, अच्छी तरहसे हो न? तुम बहुत दिनोंमें दिखायी पड़े।' इन्होंने पुनः साष्टांग दण्डवत् की और हाथ-जोड़कर प्रार्थना की—'महाराज! मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मुझे अपनाइये।' गोसाईंजीने कहा—'तुम तो मथुराके चतुर्वेदी हो, मेरे भी पूज्य हो, सिद्ध पुरुष हो, मुझे दण्डवत् प्रणाम क्यों करते हो?' छीतस्वामीने पुनः कहा—प्रभो! अब आप मुझपर कृपा करो, मैं स्वामित्वको छोड़कर आपका दास बनना चाहता हूँ। मेरे मनमें तो बहुत कुटिलता थी, परंतु आपके दर्शनोंसे वह दूर हो गयी। मैं तो अब आपके हाथ बिक गया। आप जो चाहें सो करें। परमदयालु श्रीगोसाईंजीने छीतस्वामीके शुद्ध भावको जाना और इन्हें नाम देकर इनको अपना बना लिया। उसी समय इनकी कवित्व शक्ति जग गयी, इन्होंने बड़ी उमंगके साथ गाया—

भई अब गिरिधर सों पहचान।
कपट रूप धरि छलिबे आयौ पुरुषोत्तम नहिं जान॥

छोटो बड़ो कछू नहिं जान्यौ छाय रह्यौ अज्ञान।
छीत स्वामि देखत अपनायौ श्रीविट्ठल कृपा निधान॥

इनके चारों साथी जो बाहर बैठे ताक-झाँककर देख रहे थे। उन्होंने कहा—छीतूको तो टोना लग गया, हम लोग यदि यहाँ रुकेंगे तो हमारे ऊपर भी टोना चल जायगा, इसलिये यहाँसे जल्दी भाग चलो। चारों मथुराको वापस आ गये। श्रीगोसाईंजीने छीतस्वामीसे कहा—'हमारी भेंट लाये हो, उसे लाओ।' ये मनमें विचार करने लगे कि नारियल और रुपया तो भेंटके योग्य हैं नहीं, ये सर्वज्ञ हैं, इनसे कुछ छिपा नहीं है। जैसे इन्होंने मुझ थोथे-खोटेको अपनाया है, उसी तरहसे मेरी भेंट भी स्वीकार करेंगे। ऐसा विचारकर डरते-डरते इन्होंने भेंट रखा। श्रीगोसाईंजीने नारियलको फोड़वाकर श्रीनवनीत-प्रियको भोग धरवाया और रुपयेके पैसे मँगवाये। नारियलमेंसे अति उत्तम गिरी निकली, सबको प्रसाद मिला, रुपया भी चल गया। इससे और अधिक श्रद्धा हुई। इन्होंने सोचा—वस्तुत: कोई भी वस्तु या जीव गुरु-गोविन्दके योग्य नहीं है, सब कुछ खोटा ही है, भगवदर्पित होकर ही वस्तु खरी होती है और जीव विशुद्ध होता है। मैं भवसागरके प्रवाहमें बह रहा था। इन्होंने कृपा करके मेरा उद्धार किया। श्रीगुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम करके भावमें भरकर दूसरा पद गाया—

हौं चरणातपत्र को छहियां।
कृपासिन्धु श्रीवल्लभनन्दन, वह्यौ जात राख्यौ गहि बहियां॥
नव नखचन्द्र सरद राका ससि, त्रिविधि ताप मेटत छिन महियां।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, सुजस बखान सकति श्रुति नहियां॥

इस पदको सुनकर श्रीगोसाईंजी बहुत प्रसन्न हुए। छीतस्वामीने कहा—'महाराज! वेद भी आपकी महिमाका पार नहीं पाते हैं तो उसे तुच्छ कवि क्या गायेगा।' सन्ध्या-आरतीका समय हो गया था, इसलिये श्रीगोसाईंजीने आज्ञा दी कि 'मन्दिरमें जाकर श्रीनवनीतप्रियके दर्शन करो।' आपने आकर दर्शन किया तो श्रीठाकुरजीके निकट ही श्रीगुरुदेवके दर्शन हुए। मनमें आया कि भीतरसे मन्दिरमें आनेका रास्ता होगा। उसीसे आ गये। पुन: इधर आकर देखा तो गद्दीपर विराजमान हैं। अब छीतस्वामीने श्रीगोसाईंजीके वास्तविक रूपको समझा और साष्टांग दण्डवत्प्रणाम किया। कुछ देर बाद शयन आरती हुई और गोसाईंजीने भगवान्का प्रसाद छीतस्वामीको पवाया और आज्ञा दी कि प्रात:काल ही श्रीगोवर्धन चले जाना और श्रीश्रीनाथजीके दर्शन करके आना। आज्ञानुसार गोकुलमें मंगला आरतीके दर्शन करके छीतस्वामी श्रीगोवर्धन आये और राजभोगके समय श्रीनाथजीके दर्शन किये। यहाँ भी मन्दिरमें गुरुदेवके दर्शन हुए तो आपने लोगोंसे पूछा, तब लोगोंने बताया कि गोसाईंजी तो श्रीगोकुलमें हैं। अब ये समझ गये कि जो गुरु हैं, वही गोविन्द हैं। गोवर्धनसे चलकर छीतस्वामीने पुन: गोकुल आकर श्रीगोसाईंजीको साष्टांग दण्डवत् किया। उन्होंने पूछा—'कहो, श्रीश्रीनाथजीके दर्शन हुए।' इन्होंने कहा—'हाँ महाराज! श्रीश्रीनाथजीके निकट आपके भी दर्शन हुए।' ऐसा कहकर आपने अपने अनुभवका पद गाया—

जे बसुदेव किये पूरन तप, ते फल फलित श्रीवल्लभ देह।
जे गोपाल हते गोकुल में, तेई अब आइ बसे करि गेह॥
जे वे गोप बधू हीं ब्रजमें, तेई अब वेद रिचा भई एह।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, एई वेई वेई एई कछु न संदेह॥

तीसरे दिन यमुनामें स्नान कराकर गोसाईंजीने इन्हें ब्रह्म-सम्बन्ध कराया, अपना सीथ-प्रसाद और पान-

बीड़ा देकर इन्हें घरपर रहकर भजन-साधन करते हुए जीवन-यापन करनेकी आज्ञा दी। घर आनेपर पुराने चारों साथी आकर इनसे मिले और बोले—हमने तो उसी समय जान लिया कि इनपर टोना चल गया। इन्होंने कहा—'हाँ, ठीक है, अब हमारा-तुम्हारा साथ छूट गया। अब यदि तुम मेरा साथ चाहो तो गोसाईंजीके शिष्य बनो।' कालान्तरमें इन सबपर भी श्रीगोसाईंजीकी कृपा हुई।

छीतस्वामीकी दिल्लीमें पुरानी यजमानी थी। बीरबल भी इनका यजमान था। ये प्रतिवर्ष वहाँ जाकर अपनी वार्षिक भेंट लाते। उसी नियमसे ये दिल्ली गये और बीरबलके यहाँ ठहरे। प्रातःकाल ही आपने अपने नित्य-नियमानुसार पद गाया—

जय श्रीबल्लभ राजकुमार।
पर पाखण्ड कपट खण्डन करि, सकल वेद धुरि धार॥
परम पुनीत तपोनिधि पावन, तन शोभा जित मार।
श्रीमुख वाक्य कथित लीलामृत, सकल जीव निस्तार॥
निज मति सुदृढ़ सुकृत हरि पावन, नवधा भक्ति प्रचार।
दुरितहु दुरत अचेत प्रेतगित, हतित पतित उद्धार॥
नहीं मिति नाथ कहाँ लौं बरनौं, अगनित गुनगन सार।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, प्रगट कृष्ण अवतार॥

इस पदको बीरबलने सुना तो—***'प्रगट कृष्ण अवतार'*** यह बात उसे नहीं जँची। फिर राजभोग रखकर अपने श्रीठाकुरजीके सामने छीतस्वामीने गाया तो—***'एई वेई वेई एई'*** यह भी उसे अच्छा नहीं लगा, तो उसने इनसे कहा—'इन पदोंमें तुम श्रीगोसाईंजीको साक्षात् श्रीकृष्ण बता रहे हो, बादशाह म्लेच्छ है, अगर कहीं सुन पायेगा और तर्क करके पूछेगा, तो क्या उत्तर दोगे?' श्रीछीतस्वामीने कहा—'जब बादशाह कुछ पूछेगा, तब हम उसे जो समझमें आयगा, सो उत्तर देंगे, परंतु मेरे विचारसे तो तू ही म्लेच्छ है; क्योंकि तुझे अविश्वास है, अतः मैं तेरा परित्याग करता हूँ। तेरा अन्न-जल और भेंट कभी स्वीकार न करूँगा।' बीरबलने समझा-बुझाकर रोकना चाहा, परंतु आप रुके नहीं। मथुरा आ गये, फिर कभी दिल्ली नहीं गये।

अकबर बादशाहको सब समाचार मिला तो उसने बीरबलसे कहा—तुमको भूल गया, एक बार हम और तुम नावमें बैठकर आगरा जा रहे थे। नाव जब गोकुलमें पहुँची तो उस समय श्रीगोसाईंजी ठकुरानी घाटपर बैठे थे! मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने हमें आशीर्वाद दिया था। उस समय मेरे पास बहुमूल्य एक मणि थी। मैंने श्रीगोसाईंजीको भेंट दी। उन्होंने तीन बार पूछा कि—यह अब मेरी है, मैंने कहा—हाँ, तब उन्होंने मणिको यमुनाजीमें डाल दिया। मुझे दुःख होता देखकर उन्होंने यमुनासे अंजलि भरकर मणियाँ निकालकर दिखायीं और कहा कि तुम अपनी मणि इनमेंसे छाँटकर ले सकते हो। मैं प्रभाव देखकर चकित हो गया। फिर उन्होंने मणियाँ यमुनामें डाल दीं। यदि उनके शिष्यने उन्हें प्रकट कृष्णका अवतार कहा तो क्या अनुचित किया?

बिना भेंट-विदाई लिये दिल्लीसे रूठकर चले आनेका समाचार सुनकर श्रीविट्ठलनाथजीने दर्शनार्थ आये लाहौरके वैष्णवोंसे कहा—यदि छीतस्वामी लाहौर पहुँचे तो उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करना। इसके बाद आपने इन्हें बुलाकर कहा कि तुम लाहौर चले जाओ, वहाँ तुम्हारी सेवा हो जायगी। इन्होंने उत्तर दिया कि भीख माँगनेके लिये मैं वैष्णव नहीं बना हूँ, आपकी कृपासे विश्रान्त घाटपर ही बिना माँगे श्रीयमुनामैया देती दिलाती हैं, तो फिर आपके चरणोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं क्यों जाऊँ? लाहौरके भक्त प्रतिवर्ष इनके लिये सौ रुपयेकी

हुण्डी भेजने लगे। उसे आप गुरु-गोविन्दकी सेवामें समर्पित कर देते।

एक बार जन्माष्टमीके सुअवसरपर श्रीगोसाईंजी श्रीठाकुरजीको झूला झुला रहे थे। श्रीछीतस्वामीको उस समय अद्भुत दर्शन हुए। आपने देखा कि कभी श्रीठाकुरजीको श्रीगोसाईंजी झुलाते हैं तो कभी श्रीगोसाईंजीको श्रीठाकुरजी झुलाते हैं, उस समय श्रीछीतस्वामीने यह पद गाया—

प्रिय नवनीत पालने झूलैं, विट्ठलनाथ झुलावैं हो।
कबहुँक आप सङ्ग मिलि झूलैं, कबहुँक उतरि झुलावैं हो॥
कबहुँक सुरँग खिलौना लै लै, नाना भाँति खिलावैं हो।
चकइ फिरकिनी कबहूँ नचावैं, झुन-झुन हाथ बजावैं हो॥
भोजन करत थाल इक झारी, दोउ मिल खांय खवावैं हो।
गुप्त महारस प्रगट जनावैं, प्रीति नई उपजावैं हो॥
धनि धनि भाग दास निज जनके, जिन यह दर्शन पाये हो।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, निगम एक करि गाये हो॥

इनके सेवा-भाव प्रेम-भाव और कवित्वपर रीझकर श्रीविट्ठलनाथजीने इन्हें अष्टछापमें स्थान दिया और श्रीनाथजीकी कीर्तन-सेवा सौंपी। ये गोवर्धन पूंछरीके निकट रहते और श्रीनाथजीकी कीर्तन-सेवा करते थे। इनके प्रायः दो सौ पद प्राप्त होते हैं, कुछ अप्रकाशित भी हैं, इनकी भाषा सरल और स्पष्ट है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मेरी अँखियन गिरिधर भावै।
कहा कहौं तोसों सुनि सजनीं, उतही कौं उठि धावैं॥
मोर मुकट कानन कुण्डल लखि, तन गति सब बिसरावैं।
बाजूबन्द कण्ठ मनि भूषन, निरखि निरखि सचु पावै॥
छीतस्वामि कटि क्षुद्र घण्टिका, नूपुर पदहिं सुनावै।
यह छबि सदा श्रीविट्ठल के उर, मो मन मोद बढ़ावै॥

श्रीब्रजभूमिके प्रति इनका बड़ा अनुराग था। यथा—

ए हो विधना तो पै अचरा पसारि मांगौं, जनम जनम दीजौ याही ब्रज बसिबो।
अहीर की जाति समीप नन्द घर, घरी घरी स्याम हेर हेर हँसिबो॥
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिनमें, झकझोरिन अङ्ग अङ्ग को परसिबो।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीविट्ठल, सरद रैन रस रास को विलसिबो॥

गुरुदेव श्रीविट्ठलनाथजीके लीला-प्रवेशके पश्चात् ये उनके वियोगमें व्यथित हो गये। उस समय इन्हें श्रीनाथजीने दर्शन दिया। ***'विहरत सातो रूप धरे।'*** इस पदको गाते-गाते अपने निवास-स्थान पूंछरीपर ही आपने वि० सं० १६४२ में शरीर छोड़ा और नित्य-लीला धाममें प्रवेश किया।

श्रीबिहारीदासजी

भक्त-जगत्में आप श्रीबिहारिनदेव इस नामसे जाने जाते हैं। आपके पिताका नाम मित्रसेन था। वे दिल्ली बादशाहके उच्चपदाधिकारी थे। श्रीमित्रसेनजी सब प्रकारके सुखोंसे सम्पन्न थे, परंतु सन्तानके बिना सभी सुख फीके लगते थे। पण्डित चतुर्भुजजी नामके आपके एक घनिष्ठ मित्र थे। जिन्हें स्वामी श्रीहरिदासजीकी कृपासे पुत्रकी प्राप्ति हुई थी, अतः उन्होंने अपने मित्र मित्रसेनके लिये भी श्रीस्वामीजीसे प्रार्थना की।

चतुर्भुजजीके कहनेसे मित्रसेनजी भी श्रीस्वामीजीके दर्शनार्थ श्रीवृन्दावन आये और उन्हें भी श्रीस्वामीजीकी कृपासे श्रावण शुक्ला ३ को एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। उनका नाम बिहारीदास हुआ।

पण्डित चतुर्भुजजीके पुत्र श्रीकृष्णदासजी थे। वे भी श्रीस्वामीजीके कृपापात्र और अनन्य रसिकोंमेंसे एक थे। ये रात-दिन नित्य-विहार उपासनामें इतने लीन रहते थे कि अन्य बातोंकी सुध-बुध ही नहीं रहती थी। इसलिये आपके द्वारा रचित कोई साहित्य या अन्य विवरण नहीं मिलता है।

पिताके देहान्तके बाद श्रीबिहारीदासजी राज-सेवामें नियुक्त हुए। एकबार आसामपर आक्रमण करनेके लिये आपको खानखानाके साथ जाना पड़ा। वहाँ युद्ध एवं उसकी रीति-नीतिसे आपके मनमें दुःख और उसके बाद वैराग्य उत्पन्न हो गया। आपने मनमें दृढ़ निश्चय किया कि अब यवनोंकी नौकरी नहीं करनी है। छुटकारा पानेका कोई रास्ता नहीं दिखायी पड़ा तो आपने अपने ही हाथसे अपना एक हाथ काट डाला। इस महान् प्रायश्चित्तसे प्रारब्ध क्षीण हो गये और यवनराजकी सेवासे सहजमें मुक्ति मिल गयी।

श्रीधाम वृन्दावनमें आकर निधिवनमें श्रीस्वामीजीके श्रीचरणोंका स्पर्श करते ही आपका कटा हुआ हाथ ज्यों-का-त्यों हो गया। श्रीस्वामीजीकी आज्ञासे श्रीविट्ठलविपुलदेवजीने इन्हें शिक्षा-दीक्षा प्रदान की और निकुंज-महलकी उपासनाका रहस्य बताया। तभीसे 'श्रीबिहारिनदेवजी' इस नामसे आप प्रसिद्ध हुए। आपकी गुरु-गोविन्दमें निष्ठा और कहनी-रहनी ऐसी थी कि आपके समकालीन श्रीहरिरामजी व्यासको कहना पड़ा—

साँची प्रीति बिहारिन दासै।
कै करवा कै कुञ्ज कामरी, कै गुरु स्वामी हरिदासै॥
प्रतिबाधिक सहि सकत न तिनकौ, जानत नहीं कहा कहि त्रासै।
महा माधुरी मत्त मुदित है, गावत रस जस जगत उदासै॥
छिन ही छिन परतीति बढ़त रस, रीति निरखि बिवि वदन विलासै।
अंग संग नित्य विहार विलोकत, इहै आस निधुवन बसि व्यासै॥

श्रीस्वामी हरिदासजीके निकुंज-प्रवेशके सातवें दिन ही जब स्वामी श्रीविट्ठलविपुलदेवजी भी श्रीस्वामिनी-स्वरूपमें लीन हो गये, तो उनके स्थानपर श्रीबिहारिनदेवजी ही विराजमान हुए। श्रीबिहारीजीकी सेवा आप उसी लाड़-चावसे करते थे, किंतु कभी-कभी नित्य-केलिकी भावनामें ऐसे लीन हो जाते कि देह-कृत्यादिकी सुध-बुध भी भूल बैठते। एक दिन आप स्नान करनेके लिये श्रीयमुनातटपर गये। वहाँ दातुन करते हुए—***'विहरत लाल बिहारिन दोऊ, श्रीयमुनाके तीरे तीरे।'*** इस तुकको गाने लगे। उस समय युगलकी छबि-छटामें आप ऐसे छक गये कि दातुन करते और गाते-गाते सन्ध्या हो गयी। त्रिकाल यमुना-स्नान करनेवाले श्रीमदनमोहनजीके पुजारीने इनकी यह दशा देखी, तो उन्होंने गोस्वामी श्रीसनातनपादजीसे जाकर निवेदन किया—'महाराज! आज श्रीयमुनाजीके किनारे एक बाबाजी सबेरेसे दातुन कर रहे हैं और पद गा रहे हैं। अबतक न तो उनकी दातुन पूरी हुई और न पद ही पूरा हुआ। यह सुनकर गोस्वामीपाद समझ गये कि ऐसे रसोन्मत्त सन्त तो श्रीबिहारिनदेवजी ही हो सकते हैं। उन्होंने पुजारीके हाथों श्रीमदनमोहनजीका प्रसाद भेजवाया। पुजारीके द्वारा कई बार कहनेपर भी आपने ध्यान नहीं दिया। तो पुजारी गोस्वामीके पास लौट आया। गोस्वामीजीने कहा कि—उनसे जाकर यह कहो कि—'श्रीस्वामीजीका प्रसाद लाया हूँ।' पुजारीने जाकर जब इस प्रकार कहा, तो स्वामी श्रीबिहारिनदेवजीने तुरंत उठकर हाथ फैलाकर प्रसाद ग्रहण कर लिया। तब आपको अपनी दशाका भान हुआ। उसी समय स्नान आदि करके आये और श्रीबिहारीजीकी सेवा की। इस घटनाका संकेत आपकी वाणीमें मिलता है—

सरसरूप सुखमें सन्यौ मन अटक्यो गुनगान। बिहारिदास जानैं नहीं कित भोजन असनान॥

उठि बैठ्यो हौं भोर ही एक तान गुणगान। आवत जात अथै गयौ तीन काल असनान॥

मूलचन्द नामक माट गाँवके एक ब्राह्मण आपकी सेवामें सामग्री लाया करते थे। आप कभी यमुनाजीके किनारे बैठे मिलते तो कभी किसी लता-कुंजमें। आपकी इस तन्मयताको देखकर उसने स्वयं श्रीबिहारीजीकी सेवा प्राप्त करनेकी प्रार्थना की। आपने उसकी भाव-भक्ति देखकर उसे श्रीबिहारीजीकी सेवा सौंप दी। कुछ समय पश्चात् उसका देहान्त हो गया तो उसके भाईने श्रीबिहारीजीकी सेवा की। उसकी भी मृत्यु हो गयी तो कुछ कालतक आपने फिर स्वयं सेवा की। फिर गोस्वामी श्रीजगन्नाथजीपर प्रसन्न होकर आपने उन्हें सेवा सौंपी। तबसे अबतक श्रीबिहारीजीकी सेवा उन्हींके वंशज करते चले आ रहे हैं।

सुहावनी शरद् ऋतुका समय था। निधिवनका सौन्दर्य सीमाको पार कर रहा था। श्रीबिहारिनदेवजी नेत्र मूँदकर प्रिया-प्रियतमकी कुंज-क्रीड़ाके अवलोकनमें निमग्न हो रहे थे। उसी समय त्रिभुवनमोहन श्यामसुन्दर अपने सखाओंके साथ खेलते हुए वहाँ आ पहुँचे। सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठे—'अरे कन्हैया! देख आँखोंको बन्द करके यह कौन बैठा है?' श्यामसुन्दरने कहा—'रहने दो, तुम्हें क्या पड़ी, सन्तको अपना भजन करने दो।' सखाओंने आग्रह किया—नहीं, भैया! सन्तसे कुछ वार्तालाप-सत्संग करना चाहिये। नन्दनन्दनने श्रीबिहारिनदेवके समीप आकर उन्हें पुकारा—बाबा! जरा आँखें तो खोलो। दो-तीन आवाजोंका कुछ प्रभाव नहीं हुआ तो सभीने मिलकर पुकारा, तब आपका ध्यान इधर आया। आँखें बन्द किये हुए ही बोले—'तुम लोग कौन हो, क्या बात है?' श्रीकृष्णने कहा—मैं वही हूँ, तुम जिसका ध्यान कर रहे हो। साथमें मेरे सखा हैं। इन्होंने पूछा—'आपके साथ श्रीस्वामीजी भी हैं क्या?' उत्तर दिया—'वे तो नहीं हैं।' आपने कहा—'तो आपने जिसके चित्तवित्तका अपहरण कर रखा है, उसीके पास जाओ, हम तो श्रीस्वामी हरिदासजीके अंगमें विराजनेवाले युगलकिशोरके अनन्य उपासक हैं। उनके बिना और किसीको नहीं चाहते हैं, यह हमारा हठ है।' यथा—

चित्त हरौ सब वित्त हरौ, नवनीत हरौ ब्रजजानि जहाँ कौ।
हरे हरि ह्वै रहिहौं हो लला हौं, तो हेरि रह्यौ हठ ही हठ झांको॥
श्रीबिहारिनदास अनन्य मिले, रस पाय पिया पिय अंक महां कौ।
हौं तो और सरूप पिछानौ नहीं, हरिदास बिना हरिको है कहां को॥

आपके इस प्रेमपूर्ण हठपर रीझकर श्रीस्वामीजीकी गोदमें विराजकर श्रीयुगलकिशोरने आपको दर्शन देकर कृतार्थ किया। लगभग ९८ वर्षकी आयुमें आपने शरीरको त्यागकर नित्य-निकुंज-लीलामें प्रवेश किया। आप श्रीस्वामीजीके द्वारा प्रवर्तित वृन्दावनकी निकुंजोपासनाके सुदृढ़ स्तम्भ, रससिद्धान्तके महान् तत्त्वज्ञ एवं उसके भाष्यकार थे। आपकी वाणी ओजस्विनी एवं रसीली है। उसमें स्वामीजीके सिद्धान्तोंका विवेचन है। रस और सिद्धान्त दोनों प्रकारकी आपकी रचनाएँ हैं। श्रीव्यासजी, श्रीध्रुवदासजी आदिने आपकी कहनी-रहनी, निर्भयता आदिकी प्रशंसा की है। ब्रजनाथजी कहते हैं—

ऐंड्यौ ऐंड्यौ फिरै विपुलबल रसकौ पीये। बानी जाकी सुनत छुटै सब साधन हीये॥
कुंजबिहारी वरविहारकुंजनि बसि गायौ। इहि बल गरजत रह्यौ लरजि रसिकन सिरनायौ॥
रस भूमि उपासक रहसि को ऐसो को ह्वै है सुभट।
सपूत पूत हरिदासको बिहारीदास अननि मुकुट॥

(भक्तमाल सर्वेश्वरसे)

गायौ नित्य विहार रीति सब जग ते न्यारी। स्यामास्याम उपासि महा बांकी व्रत धारी॥
श्रीयुत बीठल विपुल सुगुरुवर शिष्य उजागर। रचिपद साखी छन्द लड़ावै नागरि नागर॥
एक टेक नित निरबही राउ रंग तजि आस। श्रीहरिदास प्रसाद गुण भयौ बिहारीदास॥

श्रीबिहारिनदेवजीकी वाणी—

दरसैं परसैं अंग अंग लसैं विलसैं सुख सिन्धु न प्रेम अघैहौं।
निरखैं नित नैन सुमाधुरे बैन सु श्रौन सुचैंन सुने गुन गैहौं॥
दम्पत्ति साँच हिये धरि या सुख ते न कहूँ कबहूँ चलि जैहौं।
नित्य विहार आधार हमार श्रीबिहारि बिहारिनि की बलि जैहौं॥
श्रीहरिदासके गर्व भरे अमनैक विहार निहारिन के।
सुमहामधुरे रस पान करै अवसान खता सिलहारिन के॥
दीयौ न लेहिं ते माँगैं कहा बरनै गुन कौन तिहारिन के।
किये रहें ऐंड़ बिहारिहु ते हम वे परवाह बिहारिन के॥

संसारसे निवृत्त भक्त

उधव रामरेनु परस (राम) गँगा धूषेत निवासी।
अच्युतकुल ब्रह्मदास बिश्राम सेषसाइ के बासी॥
किंकर कुंडा कृष्नदास खेम सोठा गोपानँद।
जैदेव राघौ बिदुर दयाल दामोदर मोहन परमानंद॥
उद्धव रघुनाथी चतुरोनगन कुंज ओक जे बसत अब।
निरबर्त्त भए संसार तें ते मेरे जजिमान सब॥ १४७॥

भक्तोंकी भक्तिके भावमें डूबकर श्रीनाभाजी लिखते हैं कि जो भक्त मायिक संसारसे सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, वे सभी मेरे यजमान हैं (मैं इनसे पोषित पुरोहित हूँ।) उनके नाम ये हैं—श्रीउद्धवजी, श्रीरामरेणुजी, श्रीपरशुरामजी, ध्रुवक्षेत्रमें निवास करनेवाले श्रीगंगाभक्तजी, शेषशायीके निवासी अच्युतगोत्रीय वैष्णवोंको विश्राम देनेवाले श्रीब्रह्मदासजी, कुण्डाके किंकर (सेवक) श्रीकृष्णदासजी, श्रीखेमजी, श्रीसोठाजी, श्रीगोपानन्दजी, श्रीजयदेवजी, श्रीराघवजी, जयतारन ग्राममें निवास करनेवाले श्रीविदुरजी, श्रीदयालजी, श्रीदामोदरजी, श्रीमोहनजी, श्रीपरमानन्दजी, श्रीउद्धवजी, श्रीरघुनाथजी और श्रीचतुरोनगनजी, जो अब श्रीवृन्दावनके कुंज भवनमें बसते हैं॥ १४७॥

इन भक्तोंमेंसे कुछका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीउद्धवजी

श्रीउद्धवजी भगवान्‌के परम अनुरागी सन्त थे। नित्यप्रति सन्त-भगवन्तकी बड़े सद्भावसे सेवा करते। श्रीठाकुरजीको सेवाके लिये उनके पास एक बड़ी सुन्दर लुटिया थी। उसीसे वे नित्य-प्रति भगवान्‌को जल पिलाते थे। किसी दिन एक आगन्तुक सन्तने उस लुटियाको माँगा। आपने प्रसन्नतासे उसे लुटिया दे दी। उसकी जगहपर दूसरी लुटिया सेवामें लाकर रख दी। इससे रुष्ट होकर श्रीठाकुरजीने उसे फेंक दिया। आपने लाकर फिर रखा, तो फिर फेंककर बोले—तुम्हारा मुझमें स्नेह नहीं है, तभी तो मेरी अच्छी लुटिया दूसरेको

दे दी और यह जो मुझे पसन्द नहीं है, लाकर मेरे पास रख दी। मैं इससे पानी नहीं पीऊँगा। अब तुम मुझे न खिला-पिलाकर उन्हें ही खिलाओ-पिलाओ, जिनसे तुम्हें प्रेम है। यह सुनकर श्रीउद्धवजीने कहा—देखो, महाराज! नाराज होनेकी जरूरत नहीं है, एक सन्तने लुटिया लाकर दी थी, दूसरा सन्त आकर उसे ले गया, तो क्या अनुचित हुआ? वह लुटिया आपकी नहीं थी। अब आपको जैसी चाहिये, वैसी किसी औरसे चाहे मुझसे मँगवा लीजिये। हम तो जैसे भी हो, सन्तोंको प्रसन्न करेंगे। आपकी अप्रसन्नताका मुझे भय नहीं है। यह सुनकर प्रभु बहुत प्रसन्न हुए और उसी क्षण उसी तरहकी लुटिया मँगवा ली।

एक बार श्रीउद्धवजीके आश्रमपर बहुतसे सन्तोंका आगमन हुआ। तब आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्घ्य-पाद्य-आचमनके लिये जल और आसन लगानेके लिये थलका प्रबन्ध करके आपने उन्हें पधराया। देखा तो घरमें सीधा-सामान बहुत थोड़ा-सा था। आपने रसोई बनाना प्रारम्भ कर दिया, परंतु मनमें चिन्ता थी कि इतने सामानसे कैसे पूरा पड़ेगा? भक्त-चिन्तासे प्रभावित होकर उसी क्षण श्रीरामजीकी आज्ञासे एक रूपवती माता सामान लेकर आयीं और बोलीं कि सामान कहाँ रखूँ? आपने कहा—'मन्दिरमें।' वह सामान रखकर वहीं लुप्त हो गयीं। आज जगदम्बाने बड़ी कृपा की है, यह विचारकर इनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। आपने उस अक्षय सामानसे कई दिनतक खूब सन्त-सेवा की।

श्रीविदुरजी

झीथड़ा ग्रामके निकट एक जयतारन नामका ग्राम है, उसमें श्रीविदुरजी भगवान्‌के परम भक्त हुए। वे बड़े प्रेमसे साधु-सन्तोंकी सेवा करते थे। एक बार वर्षा नहीं हुई, अतः सब खेती सूख गयी। श्रीविदुरजीके मनमें बड़ी चिन्ता हुई कि अब साधु-सेवा कैसे होगी? अपने भक्तके मनमें चिन्ता देखकर प्रभुने स्वप्नमें आज्ञा दी कि सूखे खेतोंको ही कटवाओ, बैलोंसे दाँय करवाओ और फिर हवामें उड़ाओ। ऐसा करनेसे तुम्हें दो हजार मन अन्नकी प्राप्ति होगी। प्रभुकी आज्ञाके अनुसार आपने खेतोंको कटवाया। दूसरे लोग देखकर इनकी हँसी उड़ा रहे थे, परंतु श्रीविदुरजीको भगवदाज्ञापर दृढ़ विश्वास था, अतः भक्तहितकारी भगवान्‌के नाम-गुण-गानके साथ ये किसानीके काममें लग गये। हवामें उड़ानेसे अन्नका बड़ा भारी ढेर लग गया। सब लोगोंने समझ लिया कि श्रीविदुरजी प्रेमी भक्त हैं।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

झीथड़े ढिग ही मैं जैतारन विदुर भयौ, भयौ हरि भक्त, साधु सेवा मति पागी है।
बरषा न भई सब खेती सूखि गई, चिन्ता नई, प्रभु आज्ञा दई, बड़ौ बड़भागी है॥
'खेत को कटावौ, औ गहावो, लै उड़ावौ, पावौ दो हजार मन अन्न', सुनी प्रीति जागी है।
करी वही रीति, लोग देखैं न प्रतीति होत, गाए हरि मीत राशि लागी अनुरागी है॥ ५६३॥

श्रीचतुरोनगनजी

सदा जुक्त अनुरक्त भक्त मंडल कों पोषत।
पुर मथुरा ब्रज भूमि रमत सबही को तोषत॥
परम धरम दृढ़ करन देव श्री गुरु आराध्यो।
मधुर बैन सुठि ठौर ठौर हरिजन सुख साध्यो॥
संत महंत अनंत जन जस बिस्तारत जासु नित।
श्रीस्वामी चतुरोनगन मगन रैन दिन भजन हित॥ १४८॥

श्रीगोस्वामी चतुरदासजी नागा दिन-रात भजन-भावमें डूबे रहते थे। आप बड़े भारी सिद्ध-योगी थे। ध्यान-समाधि लगाकर श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें अनुराग करते थे। गृहस्थ-विरक्त भक्तसमूहका आप पोषण करते थे। आप श्रीवृन्दावनमें निवास करते थे, पर मथुरापुरी और सम्पूर्ण व्रज-मण्डलमें विचरते थे। वैष्णवधर्मको सुस्थापित करनेके लिये आपने अपने श्रीगुरुदेवकी आराधना की। आपके वचन अत्यन्त मधुर थे। सर्वदा भगवद्‌गुणोंका गानकर जहाँ-तहाँ सम्पूर्ण व्रज-मण्डलमें भक्तोंको सुख देते थे। असंख्य सन्त-महन्तजन सर्वदा श्रीनागाजीके सुयशका विस्तार करते हैं॥ १४८॥

गोस्वामी श्रीचतुरोनगनजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके महान् सन्त श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी महाराजके प्रशिष्य परमानन्ददेवाचार्यजी एक बार कुरुक्षेत्र, हरियाणा आदि प्रदेशोंका भ्रमण करके ब्रजमण्डल पधारे और श्रीनागाजीकी जन्मभूमि पैगाँवके सन्निकट एक वनमें विराजे। कदमके वृक्षोंकी अधिकताके कारण उसे कदमखण्डी कहते हैं। उनके दर्शनार्थ पैगाँवके सभी स्त्री-पुरुष आते और कथा-कीर्तन-सत्संगका अलभ्य लाभ उठाते। उस समय इनकी किशोरावस्था थी, तथापि भगवद् भागवतोंमें इनका बड़ा अनुराग था। ये श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजीकी बड़े प्रेमसे सेवा करते थे। एक दिन चरण-सेवा करते-करते इन्होंने विरक्त दीक्षा लेनेकी अपनी अभिलाषा प्रकट की। किंतु श्रीपरमानन्ददेवाचार्यने यह कहकर टाल दिया कि 'अभी तुम बालक हो, पढ़ो-लिखो, माता-पिताकी सेवा करो और घरमें रहते हुए ही प्रभुका भजन करो।' श्रीनागाजी उस समय तो मौन हो गये, परंतु दूसरे-तीसरे दिन फिर वही प्रार्थना की। इनकी जन्मकुण्डलीमें अल्पायु योग था, जिससे इनके माता-पिता चिन्तित रहा करते थे और नागाजीको भी यह ज्ञात हो गया था।

एक बार स्वप्नमें इन्हें प्रभुसे ऐसी प्रेरणा मिली कि—'मेरी भक्ति और मेरे भक्त असम्भवको भी सम्भव कर देते हैं। संसारमें फँसे रहना ही मृत्यु है और इस दुःख-पंकसे निकल जाना ही मुक्ति और अमरत्व है। तुम सांसारिक मोह छोड़कर गुरुकी शरण लो, सन्तोंके समागमका सौभाग्य बड़े भाग्यसे मिलता है।' यह स्वप्नका आदेश इनके चित्तमें जम गया, अतः प्रातः इन्होंने यह समस्त वृत्तान्त अपने माता-पिताको भी सुना दिया। माता-पिता भी सहमत हो गये। सभीके मिलकर अनुरोध करनेपर श्रीपरमानन्ददेवाचार्यजीने चतुरोनगनजीको विरक्त-दीक्षा प्रदान की। तबसे नागाजी उन्हींकी सेवामें रहने लगे।

कुछ दिनोंके बाद गुरुदेवके साथ श्रीनागाजी हरियाणाको गये। वहाँ अपने गुरु-स्थान ओलीमें पहुँचकर वहीं भक्त-भगवन्त एवं गुरुदेवकी आराधना करते रहे। वहाँ बहुत-सी गायें थीं, आप उनके लिये घास लाते, उन्हें चराते। निरन्तर भगवच्चिन्तनमें इस प्रकार निमग्न रहते कि इन्हें अपने सिरपर रखे घासके भारका ध्यान ही नहीं रहता। एक दिनकी बात कि आप भगवन्नाम-जप और ध्यान करते हुए चले आ रहे थे। मस्तकपर रखा हुआ घासका बोझ अपने-आप ऊपर-ऊपर चल रहा था। देखनेवालोंने विस्मित होकर इसकी चर्चा गुरुदेवके सामने की, तब उन्होंने इनसे कहा—'अब तुम जाओ और निरन्तर ब्रजभूमिमें रहकर वहीं भजन करो।' गुरुदेवकी आज्ञानुसार आप ब्रजमें आ गये और प्रतिदिन परिक्रमा करने लगे। भगवत्साक्षात्कार हुआ, प्रभुने स्वयं दूध पिलाया, इनका अल्पायु योग टल गया। अब आप ब्रजवासियोंके यहाँसे दूध-दही लेकर सन्तोंका पोषण करने लगे।

एक बार इनके गुरुदेव पधारे। आप उनकी स्नेहपूर्वक सेवा करने लगे। आपका सच्चा भाव था। गुरुमें गोविन्दबुद्धि थी, अतः सेवा-भावमें बुद्धि ऐसी तल्लीन हो गयी कि आपने अपनी स्त्रीको गुरु-सेवा सौंपते हुए आदेश दिया कि ये गुरु भगवान् जैसी भोजन-पानकी इच्छा करें, जैसा आदेश-उपदेश दें, उसी प्रकार इनकी

सेवा करना। आपकी आज्ञाके अनुसार उसने सेवा करना आरम्भ कर दिया और अपनी सेवासे उन्हें सन्तुष्ट कर दिया। जब आपने देखा कि गुरु-गोविन्दकी सेवामें इसकी निष्ठा है। तब आपने प्रसन्न होकर कहा—भगवन्! यह घर, धन और सेवाके लिये इस वधूको लीजिये और कृपा करके यहाँ ही विराजिये। ऐसा कहकर आपने अपने घरमें उन्हें पधराया। जैसे कोई देव-प्रतिमाको सेवा-पूजाके निमित्त पधराये, उसी भावसे उन्हें पधराया। इस सेवाका प्रबन्ध करके आपको बड़ा सुख मिला। आपने गुरु-गोविन्दको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। उनकी आज्ञा और उनका आशीर्वाद पाकर उनके उपदेशानुसार आपने व्रजभूमिकी उपासना हृदयमें धारण की। श्रीबाँके बिहारी आपके हृदयमें बस गये, अतः आपने श्रीवृन्दावनमें निवास किया और निरन्तर वृन्दावन-रसकी उपासना करके उसी रसका आस्वादन किया।

श्रीप्रियादासजीने इस गुरुभक्ति और वृन्दावन-रसकी उपासनाका इस प्रकार वर्णन किया है—

आयो गुरु गेह यों सनेह सों लै सेवा करैं, धरैं साँचौ भाव हियै अति मति भीजियै।
टहल लगाय दई नई रूपवती तिया, दियौ वासौं कहि 'स्वामी कहैं सोई कीजियै'॥
सेवा कै रिझाये याते प्रेम उर नित नयो दयौ घर धन वधू 'कृपा करि लीजियै'।
धाम पधराय, सुख पायकै, प्रनाम करी, धरी, व्रजभूमि उर बसे, रस पीजियै॥ ५६४॥

नागा श्रीचतुरदासजी प्रातःकाल श्रीवृन्दावनधाममें विराजमान श्रीगोविन्ददेवजीकी मंगला-आरतीके दर्शन करते, फिर श्रीमथुराजीमें आकर श्रीकेशवदेवजीकी शृंगार-आरतीमें सम्मिलित होते, उसके बाद वहाँसे चलकर बरसाना—नन्दगाँवमें राजभोगकी आरती करके गोवर्धन—राधाकुण्ड होते हुए (लगभग छत्तीस कोस चलकर) सायंकालको श्रीवृन्दावन लौट आते। ऐसे ही (प्रातः से सायंतक) चार प्रहरमें प्रसन्न मनसे श्रीनागाजी नित्य यात्रा करते। एक बार (नन्दगाँवमें) पावन सरोवरपर आपको बिना खाये-पीये तीन दिन बीत गये। तब परम-प्रवीण भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं दूध लेकर आपके पास आये। श्यामसुन्दरके प्रेमरंगमें रँगे हुए श्रीनागाजीने दूध पीकर जल माँगा। व्रजवासी बालकरूपधारी भगवान् जल लेने गये तो फिर लौटकर आये ही नहीं। तब आपको बड़ा कष्ट हुआ। फिर प्रभुने रातको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'मनमें दुःख मत मानो, मैंने ही आकर तुम्हें दूध पिलाया था।'

भगवान्ने स्वप्नमें पुनः श्रीनागाजीसे कहा—दूध पिलानेके बाद माँगनेपर भी हमने तुमको पानी इसलिये नहीं दिया कि 'तुम्हें अब पानीसे क्या प्रयोजन? तुम व्रजभूमिमें बिराजते हुए घर-घर जाकर दूध ही पिया करो।' श्रीनागाजीने कहा—प्रभो! ये व्रजवासी लोग दूधके बड़े प्रेमी (लोभी) होते हैं, फिर मुझे कैसे देंगे? भगवान्ने कहा—'नहीं, मेरी आज्ञा है, अतः सब लोग तुम्हें दूध अवश्य देंगे।' यह नयी आज्ञा श्रीनागाजीने सुनी और स्वीकार की तथा सभी लोगोंको सुनायी। अब श्रीनागाजी भगवान्की आज्ञाके अनुसार व्रजमें गाँव-गाँव, घर-घर घूमने लगे और लूट-लूटकर तथा माँग-माँगकर दूध पीने लगे। जिस किसीने दूध नहीं दिया, उसे आपने परिचय एवं चमत्कार दिखाये। सब लोगोंको विश्वास हो गया। विनोद करनेके लिये कोई-कोई व्रजगोपियाँ दूधसे भरे पात्रोंको घरमें कहीं छिपा देतीं। तब उसे आप घरमें घुसकर झट ढूँढ़ लाते। इससे व्रजगोपियाँ बहुत प्रसन्न होतीं। इस प्रकार श्रीव्रजधाममें निवास करते हुए आपने मधुर रसमयी लीलाएँ कीं।

श्रीप्रियादासजीने श्रीचतुरोनगनजीकी इस रसमयी लीलाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

श्री गोविन्द चन्द जू कौ भोर ही दरस करि केसव सिंगार, राजभोग नन्दग्राम में।
गोबर्धन, राधाकुण्ड ह्वैकै, आवै वृन्दावन, मन में हुलास नित करैं चारि जाम में॥

रहे पुनि पावन पै भूखे दिन तीन बीते, आये दूध लै प्रवीन, एऊ रँगे स्याम में।
मांग्यौ नैकु पानी ल्यावौ, फेरि वही प्रानी कहाँ?, दुख मति सानी निसि, कही कियौ काम में॥ ५६५॥
'पानी सौं न काज, व्रज भूमि मैं बिराज दूध, पीवौ घर घर', यह आज्ञा प्रभु दई है।
'एतौ ब्रजवासी सब क्षीर के उपासी, कैसें मोको लेन दैहैं' कही 'दै हैं सुनी नई है॥
डोलै धाम धाम श्याम कह्यौ जोई मानि लियौ, दियौ परचे हूँ, परतीति तब भई है।
जहाँ जा छिपावैं पात्र, बेगि आप ढूँढ़ि ल्यावैं अति सुख पावैं, कीनी लीला रसमई है॥ ५६६॥

अनेकों स्थलोंपर श्रीनागाजीके मठ, मन्दिर, आश्रम और स्मारक बने हैं। आपके सहस्त्रों शिष्य-प्रशिष्य हुए। जिन्होंने भारतमें भ्रमणकर सर्वत्र धर्मका प्रचार किया। गोवर्धनमें गोविन्दकुण्डपर एक मन्दिर और आपकी समाधि है। वैरागपुरा मथुरा, कामवन, बरसाना, कदमखण्डी, वहींपर नागाजीकी गुफा आदि दर्शनीय हैं। वृन्दावन विहार घाट और भरतपुरके किलेमें आपके मन्दिर हैं। किलेके राज-मन्दिरमें आपकी मूर्ति भी प्रतिष्ठित है। वहींपर आपकी गुदड़ी सुरक्षित है। आपने अपने जिन पदोंकी रचना की, उनमें चतुरसखीकी छाप है।

भक्तसेवी मधुकरिया भक्त

गोमा परमानंद (प्रधान) द्वारिका मथुरा खोरा।
कालुष साँगानेर भलौ भगवान को जोरा॥
बीठल टोड़े खेम पँडा गूनो रै गाजैं।
स्यामसेन के बंस चीधर पीपोर विराजैं॥
जैतारन गोपाल को केवल कूबै मोल लियो।
मधुकरी माँगि सेवैं भगत तिनपर हौं बलिहार कियो॥ १४९॥

गोस्वामी श्रीनाभाजी कहते हैं कि मधुकरी (चुटकी) माँगकर भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेवाले सन्तोंपर मैं अपना तन-मन और धन न्यौछावर करता हूँ। श्रीद्वारकानिवासी गोमानन्दजी, मथुरा एवं खोराके रहनेवाले प्रधान भक्त श्रीपरमानन्दजी कालुख और सांगानेरमें विराजनेवाले दोनों भगवान नामक भक्त, टोंड़ेके श्रीबीठलजी, श्रीखेमजी, गुनौरा ग्रामके पण्डाजी, जयतारनवासी श्रीगोपालजी, पीपोर ग्रामके श्रीचीधरजी, सेनवंशमें उत्पन्न श्रीश्यामजी और श्रीकेवलदासजी, जो कूबा नामसे प्रसिद्ध हैं। इन भक्तोंने हमें खरीद लिया है। हम इनके क्रीतदास हैं॥ १४९॥

इनमेंसे कुछ भक्तोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीगोमानन्दजी

श्रीगोमानन्दजी श्रीभगवद्धाम श्रीद्वारकाजीमें निवास करते थे। ये सन्त-सेवाके निमित्त चुटकी माँगकर लाते थे और बड़े प्रेमसे साधु-सेवा करते थे। इनके प्रेमसे सन्तोंको बड़ा सुख मिलता था। एक बार बीस साधुओंकी जमात आ गयी। आपने अपना बड़ा भाग्य माना, सप्रेम विनती करके सन्तोंको पधराया। श्रीगोमानन्दजीने हाथ जोड़कर कहा—'मेरे यहाँ भिक्षाका आटा है, जिसमें सभी अनाज मिले हुए हैं, आप जो आज्ञा दें, वही रसोई तैयार करूँ?' यह सुनकर एक सन्तने कहा—मेरी तबियत कुछ खराब-सी है, अत: मैं तो गेहूँकी रोटी खाऊँगा। पचकनीका चून हमारे स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं है। इतनेमें सभी सन्त बोल उठे—हम लोग भी गेहूँकी ही रोटी खायेंगे। उस समय इनके पास गेहूँका आटा तो मात्र एक सेर ही था। एक सन्तने कहा—'जितना हो, जैसा हो

वही दे दो।' पर यह बात सब सन्तोंने स्वीकार न की। आपका स्वभाव था—सन्तोंको सन्तुष्ट करना, अत: आपने सबको आग्रह करके रोका। वे चले जाना चाहते थे। आपने कहा—रुचि-अनुरूप प्रसाद पवाये बिना मैं जाने न दूँगा। आप लोग विराजें, थोड़ी देर प्रतीक्षा करें। ऐसा कहकर आप जल्दी-जल्दी बाजार गये और उधार गेहूँका आटा तथा कुछ और भी सामान माँगने लगे। किसीने भी उधार देना स्वीकार नहीं किया, तब आप बड़े सोच-विचारमें पड़ गये, कि 'अब क्या करूँ, कहाँसे सामान लाऊँ। भक्त चिन्तासे चिन्तित होकर श्रीरामजीने गोमानन्दका रूप धारण किया और एक गेहूँकी पोट लेकर इनके घरपर आ गये। इनकी धर्मपत्नीसे बोले कि—'इनको झट साफ करवाकर पिसवा लो और प्रेमसे रोटी बनाकर सन्तोंको प्रसाद पवावो। मैं सन्तोंके पास हूँ।' इनकी पत्नीने शीघ्रतासे आटा तैयार करके रोटियाँ बनाना आरम्भ कर दिया। बाजारमें इधर-उधर टक्कर खाकर निराश श्रीगोमानन्दजी घर आये। रोटियाँ बनती देखकर प्रसन्न हुए और पत्नीसे बोले—'आटा कहाँसे आ गया?' पत्नीने उत्तर दिया—आप ही तो गेहूँ लाकर दे गये थे और पीसकर रोटी बनानेको कह गये थे, इतनी जल्दी कैसे भूल गये? पत्नीकी बात सुनकर आप समझ गये कि आज स्वयं भगवान्‌ने कृपा की है और मेरी रुचिके अनुसार सन्त-सेवामें सहयोग दिया है। भक्त-दम्पतीका सन्त-सेवामें और अधिक अनुराग बढ़ गया।

श्रीपरमानन्दजी

श्रीपरमानन्दजी महाराज श्रीठाकुरजीके निष्किंचन भक्त थे। आप श्रीभगवद्धाम श्रीमथुराजीमें रहते थे। आप मधुकरी वृत्तिसे अन्न माँगकर लाते और बड़े प्रेमसे सन्त-सेवा करते। सन्तोंमें आपका विलक्षण भाव था, जिसका वर्णन नहीं हो सकता है। बार-बार आप कथा-कीर्तन आदिसे सम्बन्धित उत्सव करते ही रहते थे। किंतु पर्याप्त धन न रहनेके कारण आपके मनोरथ पूरे नहीं होते। एक बार आप इस अर्थाभावके लिये श्रीठाकुरजीको ही उलाहना देने लगे—भक्तवांछा-कल्पतरु भगवन्! आप अकिंचनोंके स्वामी हैं, अकिंचन ही आपको प्यारे लगते हैं। यथा—*'तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥'* भिखारियोंके पास धन नहीं है तो उनके स्वामीके पास धन कहाँसे आयगा और भिखारियोंके राजाके पास धन नहीं है तो फिर भिखारियोंके पास धन कहाँसे आयगा?

अपने भक्तकी ऐसी बातें सुनकर भगवान् दो सौ सोनेकी मुहरोंको लेकर श्रीपरमानन्दजीके घरपर आये और उन्हें मुहरें देने लगे। तब श्रीपरमानन्दजीने कहा—प्रभो! आप यहाँ इन मुहरोंको क्यों लाये? भगवान्‌ने कहा—तुम बड़े चतुर मालूम पड़ते हो, जब मैं कुछ नहीं देता हूँ, तो तुम उलाहना देते हो और जब देता हूँ तो लेते नहीं हो। आपने कहा—प्रभो! मैंने जो कुछ कहा, वह विनोदमें कहा। ऐसा कहते-कहते परमानन्दके आँखोंमें आँसू भर आये। वे प्रभु-चरणोंमें लिपट गये। भगवान् भी भक्त-भावमें विभोर हो गये और बोले—तुम्हारे मनमें उत्सव करनेकी तथा सन्त-सेवाकी जैसी अभिलाषा है, उसको इस धनसे पूर्ण कर लो तथा जो चाहो सो और भी माँग लो, परंतु अब उलाहना मत देना। मैं तो तुम्हें धन इसलिये नहीं देता था कि बिना धनके भी तुम अपना सर्वस्व सन्त-सेवामें अर्पण करके मुझे सन्तुष्ट करते हो और स्वयं भी प्रसन्नताका अनुभव करते हो। निष्किंचनकी और धनीमानीकी सेवामें अन्तर है। इसे तुम अच्छी तरहसे जानते हो। भगवान्‌के साथ हुए इस संवादसे श्रीपरमानन्दजीको जैसा परमानन्द हुआ। उसका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता है। भगवत्कृपासे परिपूर्ण धनको लेकर श्रीपरमानन्दजीने महा-महोत्सव किया। इस प्रकार सन्त-भगवन्तकी सेवा करके आपने सभीको सन्त-सेवा करनेका उपदेश दिया।

श्रीभगवानजी

आपका निवास कालख ग्राममें था। आपको मधुकरी माँगकर सन्त-सेवा करनेका बड़ा भारी अभ्यास

तथा भगवद्भक्तोंमें भी बड़ा-भारी अनुराग था। दिनभर भिक्षाटनसे जो कुछ प्राप्त होता, उस सर्वस्वसे आप अतिथियों और अभ्यागत सन्तोंकी सेवा करते। एक बार ऐसा अकाल पड़ा कि भिक्षा मिलनी बन्द हो गयी और सन्तोंकी भीड़ बढ़ गयी। अब यथोचित स्वागत-सत्कार न कर पानेसे आपका मन खिन्न हो गया। आपने अपने मनमें निश्चय किया कि अब इस स्थानको छोड़कर अन्यत्र कहीं चला जाऊँगा। उसी दिन आपको आकाशवाणी सुनायी पड़ी कि—तुम इस स्थानको छोड़कर कहीं मत जाओ। मैं तुम्हारे लिये धन देता हूँ, तुम उसके द्वारा सन्त-सेवा करो। आपने कहा—मुझे इस प्रकारके धनसे सन्त-सेवा नहीं करनी है। मैं चाहता हूँ कि लोकमें सभी सुखी-समृद्ध रहें और मधुकरी वृत्तिसे हमारी झोली भरे, उससे मैं अपने इष्ट सन्तोंकी सेवा करूँ। इस भावपर रीझकर भगवान्‌ने कहा—'एवमस्तु' ऐसा ही हो। फिर तो नित्य आप ही झोली भरने लगी और सुकाल हो गया।

श्रीश्यामजी

प्रसिद्ध भक्त सेनके वंशमें श्रीश्यामजी महान् भगवद्भक्त हुए। पहले आप गृहस्थाश्रम-धर्मका पालन करते हुए भगवद्भजन और सन्त-सेवा करते थे। एक बार आपके यहाँ एक सिद्ध सन्त आ गये। उन्होंने सन्त-सेवाकी महिमा बताकर कहा कि यदि मानव-जीवनको सफल करना हो तो आज ही से सन्त-सेवाका दृढ़ व्रत हृदयमें धारण कर लो। दूसरे साधनोंका भरोसा छोड़कर अनन्य-भावसे सन्त-सेवा किया करो। श्रीश्यामजीने पूछा—भगवन्! सन्त कैसे होते हैं, उनकी क्या पहचान है? उन्होंने कहा—हमारे-जैसी वेश-भूषा (कण्ठी-माला-तिलक) धारण करनेवाले सभी सन्त भगवदाश्रित हैं और सेव्य हैं। यदि इसी शरीरसे भगवदानुभव चाहते हो तो अब समय आ गया है, गृहस्थाश्रमका त्याग कर दो, मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा माँगो, आये-गये साधु-सन्तों और अतिथियोंकी सेवा करो। फिर देखो कि तुमपर कितनी जल्दी प्रभु रीझते हैं और तुम सिद्ध होते हो। उस सिद्ध-सन्तके उपदेशका इनपर ऐसा विलक्षण रंग चढ़ा कि इन्होंने घर-बारका मन और तन दोनोंसे सर्वदा त्याग कर दिया। विरक्त हो गये और भिक्षाटन एवं सन्त-सेवा करने लगे।

एक बार भिक्षा माँगते हुए आप एक सद्-गृहस्थके द्वारपर गये, तो वहाँ इन्होंने देखा कि उस घरके मालिकका इकलौता बेटा मर गया है और सभी लोग करुण-क्रन्दन करते हुए विलाप कर रहे हैं। लोगोंका आर्त्तनाद सुनकर आपका हृदय द्रवित हो गया। दयाभावमें भरकर श्रीराम-नामका संकीर्तन करते हुए आपने जाकर बालकके शरीरका स्पर्श किया तो उसी क्षण वह जीवित हो गया। आपने कहा—तुम लोग व्यर्थ रुदन करते हो, नाम-कीर्तन करो, पुत्र जीवित हो गया। श्रीश्यामजीके इस चमत्कारको देखकर सभी लोग उनके श्रीचरणोंमें लिपट गये। तभीसे उनका एवं अन्य सन्तोंका सभी लोग विशेष सम्मान करने लगे एवं भगवद्भक्त हो गये। आपने कहा—इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं है। यह तो सन्त-सेवाका प्रभाव है। कोई भी श्रद्धासे सन्त-सेवा करके इस प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर सकता है। श्रीश्यामजीके इन उपदेशोंसे बहुतसे लोग सन्त-भगवन्तकी आराधनामें तल्लीन हो गये।

श्रीकूबाजी (केवलदास)

श्रीकूबाजीको संसारमें लोग कुम्हार जातिका कहते हैं, उनका सुन्दर नाम श्रीकेवलराम था। आपने अपनी भक्तिके प्रभावसे अपने कुलका ही नहीं, संसारका उद्धार किया। आप साधुओंकी बड़ी अच्छी सेवा करते थे। एक बार आपके घरमें बहुत-से सन्त पधारे। उनका सप्रेम स्वागत-सत्कार किया। परंतु उस दिन घरमें अन्न-धन कुछ भी न था। बड़ी भारी आवश्यकता थी, अतः आप कर्ज लेनेके लिये चले। परंतु किसी महाजनने कर्ज नहीं दिया। एक महाजनने कहा—'यदि मेरा कुआँ खोदनेका काम कर दो तो मैं तुम्हारे

लिये आवश्यक सीधा-सामान उधार दे सकता हूँ।' इस बातको स्वीकारकर आपने प्रतिज्ञा की और आवश्यक अन्न-धन लाये। एकमात्र श्यामसुन्दर जिन्हें प्रिय हैं, ऐसे सन्तोंको आपने बड़े प्रेमसे भोजन कराया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकूबाजीके सन्तोंके प्रति इस भक्तिभावका एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कहत कुम्हार, जग कुल निसतार कियौ, 'केवल' सुनाम साधु सेवा अभिराम है।
आये बहु सन्त, प्रीति करी लै अनन्त, जाकौ अन्त कौन पावै, ऐपै सीधौ नहीं धाम है॥
बड़ी ए गरज, चले करज निकासिबे कों, बनिया न देत 'कुवाँ खोदौ कीजै काम है'।
कही बोल कियौ तोल लियौ नीके रोल करि, हितसों जिमाये जिन्हैं प्यारो एक श्याम है॥ ५६७॥

(क) श्रीकूबाजीपर भगवत्कृपा

साधु-सन्तोंकी सेवासे अवकाश पाकर श्रीकेवलरामजी महाजनका कुआँ खोदने लगे। खोदते समय आप तोतेकी तरह भगवान्‌के नामोंका उच्चारण कर रहे थे। कुआँ खुद गया—यह जानकर महाजनको और कूबाजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। खोदते-खोदते रेतीली जमीन आ गयी और चारों ओरसे कई हजार मन मिट्टी खिसककर गिर पड़ी। उसमें श्रीकेवलरामजी दब गये। लोगोंने सोचा कि अब इतनी मिट्टीको कैसे हटाया जाय? केवलरामजी तो मर ही गये होंगे, अब मिट्टीको हटानेसे भी क्या लाभ! इस प्रकार शोक करते हुए लोग अपने-अपने घरोंको चले गये। एक महीनेके बाद उस फूटे कुएँके पाससे आने-जानेवाले लोगोंने श्रीराम-नामकी ध्वनि सुनी तो गाँवमें जाकर यह शुभ प्रिय समाचार सुनाया। सुनते ही बहुत-से लोग वहाँ आये और नाम-संकीर्तनकी मधुर-ध्वनि सुनकर प्रेमके आवेशमें आ गये। लोगोंको अपने शरीरकी सुधि-बुधि नहीं रही।

इकट्ठे होकर लोगोंने श्रीकेवलरामजीके ऊपर पड़ी हुई मिट्टीको निकालकर अलग किया। जब लोग आपके पास पहुँचे तो *'हरे राम, हरे राम'* उच्चारण करते सुना। इनकी वाणी सबको बहुत ही प्रिय लगी। जब आपका दर्शन हुआ तो लोग आपके पैरोंमें लिपट गये। जहाँ आप बैठे थे, वहाँ भगवत्कृपासे एक गोल मिहराब-सी (जगह) बन गयी थी, जिसके कारण आपका शरीर सुरक्षित था। लोगोंने देखा कि अधिक दिनोंतक झुककर बैठे रहनेसे आपकी पीठमें कूबड़ निकल आया है। आपके समीप एक जलसे भरा हुआ स्वर्णपात्र रखा था। उसे देखकर लोगोंने श्रीकेवलरामजीको भगवान्‌का महान् कृपापात्र समझा। फिर कुएँसे निकालकर लोग इन्हें इनके घरपर ले आये। अब तो आपकी बड़ी भारी पूजा-प्रतिष्ठा होने लगी। आपकी भक्ति और महिमाको जानकर लोगोंने बहुत-सी सम्पत्ति आपको भेंट की तथा दीन-दु:खियोंको बाँटी।

श्रीप्रियादासजीने भगवत्कृपाकी इस अद्भुत घटनाका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

गए कुवाँ खोदिबे कों, सुवा ज्यौं उचारै नाम, हुआ काम जान्यौ वानै भयौ सुख भारी है।
आई रेत भूमि, झूमि माटी गिरि दबे वामैं, केतिक हजार मन होत कैसे न्यारी है॥
सोक करि आये धाम, 'राम' नाम धुनि काहूँ कान परी, बीत्यो मास, कही बात प्यारी है।
चले वाही ठौर स्वर सुनि प्रीति भौंर परे, रीति कछु और यह सुधि बुधि टारी है॥ ५६८॥
माटी दूर करी, सब पहुँचे निकट जब, बोलिकै सुनायौ हरे बानी लागी प्यारियै।
दरसन भयौ, जाय पाँय लपटाय गए, रही मिहराबसी ह्वै कूबहू निहारियै॥
धर्‌यौ जलपात्र एक, देखि बड़े पात्र जाने, आने निज गेह पूजा लागी अति भारियै।
भई द्वार भीर, नर उमड़ि अपार आये, महिमा बिचारि बहु सम्पति लै वारियै॥ ५६९॥

(ख) श्रीकूबाजीके घरपर श्रीरामजीका स्वयं प्रतिष्ठित होना

एक बार एक महात्माजी अपने मन्दिरमें पधरानेके लिये जयपुरसे बनवाकर श्यामवर्णका बड़ा ही सुन्दर श्रीरामजीका स्वरूप ले जा रहे थे। मार्गमें विश्राम करनेके लिये श्रीकूबाजीके यहाँ रुके। श्रीरामजीके सुन्दर स्वरूपको देखकर श्रीकूबाजीके मनमें विचार उठा कि 'यदि ये प्रभु हमारे ऊपर कृपा करें और यहीं रहकर मेरी सेवा स्वीकार करें तो बहुत अच्छा हो।' इनकी सन्त-सेवा-निष्ठा एवं प्रार्थना स्वीकार करके अन्तर्यामी भगवान् श्रीराम वहीं अचल होकर विराज गये। दूसरे दिन सन्तजी इन्हें ले जानेके लिये उठाने लगे तो अनेक उपाय करनेपर भी भगवान् वहाँसे नहीं उठे। तब श्रीकूबाजीने हँसकर कहा—'ये मुझ दासपर रीझ गये हैं। अतः यहीं रहेंगे। आपके उठानेसे नहीं उठेंगे।' भगवान्‌ने इनके मनकी बात जान ली थी। अतः इनकी प्रतिष्ठा करके श्रीकूबाजीने इनका नाम 'जानराय रामचन्द्र' रखा। प्रभुको अपने घरमें विराजमानकर तथा उनकी सेवाका सुख प्राप्तकर श्रीकूबाजी अपने अंगमें फूले नहीं समाते थे। झींथड़ामें जानराय रामचन्द्र अबतक विराजमान हैं।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

सुन्दर स्वरूप श्याम ल्याये पधरायबे कों, साधु निज धाम आय कूबाजू के बसे हैं।
रूप कों निहारि मन में विचार कियौ आप 'करै कृपा मोकों प्रभु' अचल ह्वै लसे हैं॥
करत उपाय सन्त टरत न नेक किहूँ कही जू अनन्त हरि रीझे स्वामी हँसे हैं।
धर्‌यौ 'जानराय' नाम जानि लई हीकी बात, अङ्ग मैं न मात सदा सेवा सुख रसे हैं॥ ५७०॥

(ग) भगवान्‌द्वारा सन्तसेवाकी आज्ञा प्राप्त होना

एक बार श्रीकूबाजीके मनमें विचार आया कि 'द्वारकाको जाऊँ और शंख-चक्रकी छाप लेकर आऊँ।' आप घरसे चल दिये, परंतु मार्गमें ही भगवान्‌ने आज्ञा दी कि 'तुम अपने घरपर रहकर सन्त-सेवा करो, तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण हो जायँगे, अतः अन्यत्र कहीं मत जाओ।' ऐसी प्रभुकी आज्ञा पाकर श्रीकूबाजी घर लौट आये। कुछ दिन बाद घरमें रहते हुए ही इनके शरीरमें शंख-चक्र आदिकी छाप प्रकट हो गयी। इस प्रकारके नये-नये चमत्कार प्रकट हुए, तब लोग श्रीकूबाजीकी कीर्तिका गान करने लगे। द्वारकामें गोमती और सागरका संगम अब नहीं होता है, पहले होता था। सन्तोंके द्वारा यह सुनकर आपने अपनी माला सुमिरनी सन्तोंके हाथ भेज दी। दोनोंके मध्यमें सुमिरनी रखते ही फिर संगम होने लगा। इस प्रकार आपने गोमती-सागरका संगम कराया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

चले द्वारावति, छाप ल्यावैं 'यह मति भई, आज्ञा प्रभु दई फिरि घरही को आये हैं।
'करौ साधु सेवा धरौ भाव दृढ़ हिये मांझ, टरौ जिनि कहूँ, कीजै जे जे मन भाये हैं'॥
गेह ही में शङ्ख चक्र आदि निज देह भए, नये नये कौतुक प्रगट जग गाये हैं।
गोमती को सागर सों सङ्गम हो रह्यो सुन्यौं, सुमिरनी पठायकैं यों दोऊ लै मिलाये हैं॥ ५७१॥

(घ) सन्तसेवाकी अनोखी रीति

श्रीकूबाजीके बहुत-से शिष्य हुए और उन शिष्य-प्रशिष्योंकी अनेक शाखाएँ बढ़ीं। आपके उपदेशानुसार सभी शिष्य-प्रशिष्योंमें साधु-सेवाकी ही विशेष रुचि रहती थी। सन्त-सेवाकी महिमा अपार है, इस रहस्यको प्रकट करके आपने दिखा दिया। एक दिन आपके यहाँ कई साधु-सन्त पधारे। श्रीकूबाजीने पत्नी पूरीसे कहा—'इनके लिये रसोई बना लो।' उसने कहा—'मेरी तबियत खराब है, मैं रसोई नहीं बनाऊँगी। ये तो रोज ही आते रहते हैं, मैं कहाँतक इन्हें बनाकर खिलाऊँगी?' श्रीकूबाजीने कहा—'मैं चूल्हा चेताये देता हूँ, तू जब रोटी बनाने लगेगी तो सन्त-कृपासे तेरी तबियत बिलकुल ठीक हो जायगी।' इस प्रकार बहुत कहने-सुननेपर बाजरेके टिक्कर (मोटी रोटी) साधुओंके लिये उसने बनाये। इसी बीच उसका भाई आ गया तो बड़े उत्साहसे दूसरेके घरसे दूध ले आयी और उसने अपने भाईके लिये खूब सुन्दर खीर बनायी।

श्रीकूबाजीने देखा तो समझ गये कि इसका स्नेह अपने भाईमें अधिक है। तब आपने एक सुन्दर उपाय सोचा। जल पृथ्वीपर गिराकर स्त्रीसे कहा—'तू जल्दी जल भरकर ले आ।' वह जल भरने चली गयी, परंतु उसे भय था कि कहीं खीर साधुओंको न परोस दें। जबतक वह गहरे कुएँसे जल भरकर आये, तबतक आपने खीर परोसकर साधुओंको खिला दी।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

भये शिष्य शाखा अभिलाषा साधु सेवा ही की महिमा अगाध, जग प्रगट दिखाई है।
आये घर सन्त, तिया करति रसोई, कोई आयौ वाको भाई, ताकों खीर लै बनाई है॥
कूबाजी निहारि जानी याकौ हित सोदर सों कीजियै विचार एक सुमति उपाई है।
कही 'भरि ल्यावो जल' गई डरि कलपै न लई तसमई सब भक्तनि जिमाई है॥ ५७२॥

(ङ) स्त्रीको सन्तसेवाका उपदेश

श्रीकूबाजीकी स्त्री जल्दीसे जल लेकर आयी और जब उसने साधुओंके आगे खीर देखी तो उसके शरीरमें आग-सी लग गयी। अपने भाईके मुखकी ओर देखने लगी। भाई भी उदास हो गया। अपने भाईका तिरस्कार मानकर दुःखके समुद्रमें डूब गयी। श्रीकूबाजीने अपनी स्त्रीको भक्त और भगवान्‌की सेवासे विमुख जानकर उसे घरसे निकाल दिया। वह अपने भाईके साथ पीहर चली गयी और उसने दूसरा पति कर लिया। दूसरे पतिके यहाँ उसके कई लड़के और लड़कियाँ हुईं। कुछ दिन बाद अकाल पड़ गया। अब वह अपने बेटा-बेटियोंका पालन करनेमें असमर्थ हो गयी। तब किसी दूसरी जगह जानेका विचार करने लगी, जहाँ पेट भर सके। पर ऐसा स्थान नहीं मिला, तब बड़ी व्याकुलता हुई। अन्तमें लाचार होकर भूखसे व्याकुल बालक-बालिकाओं तथा उपपतिके साथमें झींथड़ा आयी और श्रीकूबाजीके द्वारपर पड़ गयी तथा उसने अपना असह्य दुःख रो-रोकर सुनाया।

दुःख और दीनतासे भरे स्त्रीके वचन सुनकर श्रीकूबाजीके मनमें बड़ी दया आयी; क्योंकि ये वैष्णव-धर्मका पालन करनेमें बड़े ही निपुण एवं उदार थे। आपने उससे कहा—तू मेरे पति परमात्माको देख, जो मेरा तथा सभी जीवोंका पालन कर रहा है और अपने पतिको देख, जो अपनी स्त्री और अपने बच्चोंका पेट नहीं भर पा रहा है। महान् संकटमें पड़ गया है। अतः अब तुम सब यहीं बाहर द्वारपर पड़े रहो और द्वारके सामने झाड़ू लगा दिया करो। तुम सबको भगवान्‌का प्रसाद पानेको मिल जाया करेगा। श्रीकूबाजीकी महिमा और दयाको देखकर वह रोने लग गयी।

जब तक अकालका समय रहा, तबतक श्रीकूबाजीने उन सबको भोजन-वस्त्र दिया। जब सुकाल आ गया, तब आपने उसे विदा कर दिया। वह भी अपने पति और बालकोंको साथ लेकर चली गयी। वह अपने मनमें बहुत पश्चात्ताप कर रही थी, परंतु वह स्थान और वह सुख उसे कैसे मिल सकता था, जहाँ नित्य सन्तोंकी सभा और सत्संग है, जहाँ रसमयी प्रेमा-भक्तिका रंग छाया रहता है। श्रीकूबाजी महाराज जिस किसीको शिष्य बनाते, उसे साधु-सन्तों तथा दीनोंकी सेवाका ही आदेश-उपदेश देते हुए यही कहते कि 'जिनके रूप और गुण अनन्त हैं, ऐसे प्रभुको प्राप्त करनेकी इच्छा यदि तुम्हारे मनमें है तो कपटको त्यागकर प्रेमसे सन्त-सेवा करो।'

श्रीप्रियादासजीने श्रीकूबाजीकी इस दयालुता और वैष्णवताका इस प्रकार वर्णन किया है—

बेगि जल ल्याई, देखि आगि सी बराई हिये, झाँकें मुँह भाई, दुख सागर बुड़ाई है।
बिमुख बिचारि, तिया कूबाजू निकारि दई, गई पति कियो और, ऐसी मन आई है॥
पर्‌यौई अकाल बेटा बेटी सो न पालि सकैं, तकै कोऊ ठौर मति अति अकुलाई है।
लिये सङ्ग कर्‌यौ, जोई पुत्र सुता भूख भोई, आय परी झींथड़ा में स्वामी को सुनाई है॥ ५७३॥

नाना बिधि पाक होत, सन्त आवैं जैसे सोत, सुख अधिकाई, रीति कैसे जात गाई है।
सुनत बचन वाके दीन दुख लीन महा, निपट प्रवीन मन माँझ दया आई है॥
देखि पति मेरौ और तेरौ पति देखि याहि कैसे कै निबाहि सकैं परी कठिनाई है।
रहौ द्वार झार्‌यौ करौ पहुँचै अहार तुम्हैं महिमा निहारि दृग धार लै बहाई है॥ ५७४॥
कियौ प्रतिपाल तिया पूरी कौ अकाल मास भयौ जब समै बिदा कीनी उठ गई है।
अति पछितात वह बात अब पावैं कहाँ? जहाँ साधु सङ्ग रंग सभा रसमई है॥
करैं जाकों शिष्य, सन्त सेवा ही बतावैं, 'करौ जो अनन्त रूप गुन चाह मन भई है।
नाभाजू बखान कियौ, मोकों इन मोल लियौ, दियौ दरसाय सब लीला नित नई है॥ ५७५॥

श्रीकूबाजीके यहाँ स्त्रीके चले जानेपर सन्तोंके आवागमन और उनकी सेवामें वृद्धि हो गयी, पर सन्तोंकी सेवाके लिये सेवकोंकी कमी थी, अतः कूबाजीको अथक श्रम करना पड़ता था। तब अपने भक्तोंकी सेवा करनेके लिये त्रिभुवनके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी श्रीजानकीजीके सहित वैरागीका वेष बनाकर आये और श्रीकूबाजीसे बोले—***'समै दुकाल अबार गुसाईं। दिन बस रहिहउँ तुम्हरी छाईं॥ देव सेव हम करैं तुम्हारी। करि भोजन टारहिं यहु बारी॥'*** यह सुनकर श्रीकूबाजीने कहा—***'अहो भाग बड़ मम गृह रहिये।' तब सो रमा राम गृह रहिया। निज भक्तन की टहल निबहिया॥*** दम्पती श्रीरमारामजी वैरागी वेशभूषा धारण किये, सेवा करने लगे। सेवाका विस्तार, सन्तोंकी प्रसन्नता और श्रीकूबाजीकी कीर्तिको बढ़ाते हुए इन्हें एक वर्ष हो गया। एक दिन तीस सन्तोंकी जमात आयी। कूबाजीने श्रीजीसे पूछा कि आज सन्तोंके लिये क्या बनाया है? इन्होंने कहा—खिचड़ी। यह सुनकर आपने कहा कि हम तो आज सन्तोंको भात और हलुवा आदि उत्तम पदार्थ पवाना चाहते थे। श्रीजीने कहा—ठीक है, पंगतकी सीताराम बोल दो। सन्त बैठ गये, रसोईघरमें भात-हलुआ आदि पदार्थोंको देखकर आश्चर्यचकित श्रीकूबाजीने कहा—माताजी! यह क्या? खिचड़ीके स्थानपर हलुआ-भात आदि कैसे हो गया! श्रीजीने कहा—यह सब जानराय रामचन्द्रकी लीला समझो। मिट्टीके सकोरे बीस ही थे, सन्त तीस थे। कूबाजीने कहा—अब क्या करूँ? श्रीजीने सोनेके सराव लाकर दे दिये। यह देखकर श्रीकूबाजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। जब सन्त प्रसाद पाकर चले गये, तब इन्होंने श्रीचरणोंमें मस्तक रखकर प्रार्थना की और कहा—कृपाकर अपना परिचय दें। तब श्रीसीतारामने प्रकट होकर निज रूपसे दर्शन दिया और कहा कि तुम मेरे प्यारे भक्तोंकी प्रेमसे सेवा करते हो, भक्तोंसे विमुख स्त्रीका तुमने परित्याग किया। इसपर रीझकर हम एक वर्षतक यहाँ रहे और हमने स्वयं सन्त-सेवा की; क्योंकि हमें सन्त-सेवा प्रिय है। ऐसा कहकर प्रभु श्रीरामजी श्रीसीताजीसहित अन्तर्धान हो गये। इससे सन्त-सेवामें इनकी निष्ठा और अधिक बलवती हो गयी। ऐसे सन्त-भक्त थे श्रीकूबाजी।

पण्डा श्रीदेवादासजी

पण्डा श्रीदेवादासजी गूनौर या गौनेर गाँवके निवासी थे। ये श्रीकील्हदेवजीके शिष्य हैं, श्रीदेवादासजीका जन्म तत्कालीन जयपुर राज्यके सींवाड़ ग्राममें हुआ था। इनकी माताका नाम पालीबाई था। ये चार भाई थे और जातिसे बाँगड़ ब्राह्मण थे, किसानी-खेती करते थे। देवादासजीकी पत्नीका नाम रूपादेवी था। इनके नारायणदास, गोपीनाथ, कन्हैयादास और कल्याणदास नामक चार पुत्र थे। घरमें वैष्णवता थी, भक्त और भगवान्‌की सर्वदा सेवा होती थी। सभी भजनोन्मुख थे। एक बार श्रीदेवादासजी खेतपर हल चला रहे थे। मध्याह्नमें इनकी माता छाछ लेकर खेतपर जा रही थीं। दयालु प्रभु श्रीराम एक सन्तका रूप धारणकर माताजीको रास्तेमें मिले। सन्तसेवी स्वभाव था, अतः माताने प्रणाम करके कहा—बाबा! भोजन कर लो। भगवान्‌ने कहा—यह दूसरेके लिये ले जा रही हो, मैं नहीं खाऊँगा। माताने कहा—सब कुछ पहले आप सन्तोंके लिये है, उसके बाद दूसरेके लिये है। मैं खेतपर फिर छाछ पहुँचा दूँगी, आप कृपा करके भोजन

कर लीजिये। सप्रेम आग्रहको प्रभु टाल न सके। उन्होंने बाजरेकी रोटी और राबड़ी (महेरी) खायी। सन्तुष्ट होकर उन्होंने कहा—माताजी! इस गाँवका अनिष्ट होनेवाला है, अतः आप देवादाससे कह दें और शीघ्र इस गाँवको छोड़ दें। बैलगाड़ी-छकड़ोंमें अपना सामान लादकर इस गाँवसे प्रस्थान कर दें और जहाँ गाड़ीका जुवाँ टूट जाय वहीं निवास करें। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये।

माताने खेत पर आकर विलम्बका कारण और सन्त-प्रभुका आदेश देवादासको सुनाया। देवादासजी हल छोड़कर सन्त-दर्शनके लिये व्याकुल होकर दौड़े। भोजन-स्थलपर भोजन-चिह्न मिले, सन्तको न पाकर रोने लगे। इन्हें अति अधीर देखकर भगवान् वहीं प्रकट हो गये। देवादासजीने चरणोंमें लिपटकर विनती की। भक्त भगवान्‌की शरण छोड़ना नहीं चाहता था, तब भगवान्‌ने कहा—तुम सपरिवार इस गाँवसे प्रस्थान करो, जहाँ जुवाँ टूटेगा, वहीं मेरी एक श्रीमूर्ति तुमको मिलेगी। उसीकी तुम सर्वदा पूजा करना, मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये। ये गाँव छोड़कर सपरिवार जाने लगे तो लोगोंने बहुत मना किया, पर आप नहीं माने चले गये। उसी रातको डाकुओंने आकर गाँवको घेरकर लूटा, घरोंको जलाया और लोगोंको मारा। गौनेर आते-आते जुवाँ टूट गया। सभीने उस स्थानपर श्रद्धासहित दण्डवत् प्रणाम किया और भूमिको खोदा तो श्रीजगदीशरूप श्रीप्रभुका विग्रह मिला। बड़ी प्रसन्नतासे अभिषेक और पूजन हुआ। जमींदार ठाकुरोंने श्रीमूर्तिको अपनी भूमिमें मिलनेके कारण अपनी कहा और छीन ले गये। रातको स्वप्नमें भगवान्‌ने आदेश दिया कि मुझे मेरे भक्तके पास पहुँचाओ और उनकी तुम लोग सेवा करो, वे मेरी सेवा करेंगे। ऐसा न करोगे तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा। प्रातःकाल होते ही ठाकुरोंने मूर्ति दे दी। एक चबूतरेपर पधराकर देवादासजी सेवा करने लगे। तभीसे पण्डा यह उनके नामका विशेषण बन गया।

भगवान्‌ने बाजरेकी रोटी खायी थी, उसे स्मरणकर एक दिन उन्होंने श्रीदेवादासजीको एक मुठ्ठी बाजरा दिया और कहा कि इसे खेतमें बो दो। इन्होंने उसे बोया तो बारह मन बाजरा हुआ। भगवान्‌ने कहा—इसे कोठीमें डाल दो और नीचेके छेदसे निकालकर खर्च करो। यह अक्षय होगा, इसीसे मेरी सेवा और मन्दिरका निर्माण करो। मन्दिर बनने लगा, मजदूर काम करते, सायंकालको मजदूरीमें बाजरा दिया जाता। परंतु नित्य एक मजदूर मजदूरी लेते समय कम हो जाता। अन्तमें श्रीपण्डाजीको अनुभव हुआ कि स्वयं भगवान् भी मजदूर बनकर काम करते हैं। विशाल मन्दिर बन गया, प्रभुकी स्थापना हो गयी।

एक बार दिल्लीका बादशाह ख्वाजा पीरका दर्शन करने अजमेर जा रहा था। गौनेर होकर उसकी सवारी निकली। बादशाहने मन्दिरकी प्रशंसा सुनी तो पण्डाजीसे बोला कि कुछ करामात दिखाओ। आपने साफ इनकार किया और कहा—सेवाको छोड़कर और कुछ करामात मुझमें नहीं है। बादशाहने मन्दिरकी बुर्जको तोड़नेका आदेश दे दिया। तोड़नेवालोंसे सामर्‌याके ठाकुरोंने और इनके पुत्र कल्याणदासने युद्ध किया। मन्दिर नहीं तोड़ने दिया। इस युद्धमें कल्याणदास वीरगतिको प्राप्त हुए। बादशाह स्वयं मन्दिरमें आया तो उसको वहीं ख्वाजापीर और मक्का-मदीना के दर्शन हुए। बड़ी देरतक बादशाह बेसुध रहा, अन्तमें सावधान होकर उसने क्षमा-प्रार्थना की और ८७० बीघा जमीनका पट्टा श्रीठाकुरजीको दिया।

कहींका एक राजा मनमें यह संकल्प करके दर्शन करने चला कि यदि मन्दिरमें पहुँचनेपर घेवरका भोग लगा मिलेगा तो मैं देवादासजी पण्डाको सिद्ध सन्त मानूँगा। इधर ठाकुरजीने कहा—घेवर बनवाकर भोग लगाओ। पण्डाजीने कहा—यहाँ किसीको बनाना नहीं आता है और आज घेवरके भोगका कोई पर्व भी तो नहीं है। तब प्रभुने स्वयं घेवर बनाया, घेवर भोग लगे, उस राजाने दर्शनकर प्रसाद पाया तो उसे बड़ी श्रद्धा-भक्ति हुई। वह सदाके लिये सेवक बन गया।

देवादासजीकी माताका भगवान्‌में बड़ा-भारी अनुराग था। एक दिन उसने प्रभुसे कहा—भगवन्! मेरे एक बेटेके कोई संतान नहीं है। आप कृपा करें। भगवान्‌ने कहा—उसके पेटपर तुलसी-चन्दनसे लिख दो

कि—'पुत्र हो।' माताने ऐसा ही किया, उसके भी संतान हो गयी। देवादासजीका एक भानजा था। उसका नाम था गोपाल। उसकी और भगवान् जगदीशकी बड़ी मैत्री थी। एक बार गोपाल भगवान्‌की रसोईके निमित्त लकड़ी लेने गया और बड़े लक्कड़को उठाने लगा, पर वह उठ नहीं रहा था, तो स्वयं भगवान्‌ने उठवाया और कन्धा लगाकर मन्दिरतक लकड़ी लाये। बादमें रहस्य खुला तो सभीने श्रीचरणोंमें पुनः मस्तक नवाया। गौनेरमें एक बड़ा-भारी तालाब और मन्दिर है। आज भी वहाँ देवादासजीकी छतरीके दर्शन होते हैं। उसपर सं० १५१५ अंकित है, वे श्रीकील्हदेवजीके शिष्य थे—यह भी लिखा है। देवा पण्डाके वंशज गलता गद्दीको गुरुद्वारा मानते हैं। वहींकी शिष्यता स्वीकार करते हैं। रानीके पुत्र नहीं था, उसने मनौती किया तो उसके पुत्र हुआ। तब जयपुरके राजा पृथ्वीसिंह-प्रतापसिंहजीने एक गाँव भेंटमें दिया। अनेक चमत्कारोंके लिये यह स्थान प्रसिद्ध है। प्रत्येक द्वादशीको मेला लगता है और भादौं सुदी १२ को विशेष बड़ा मेला लगता है। मन्दिरोंमें जो सेवार्थ नियुक्त होता है, वह घरमें न रहकर मन्दिरमें ही निवास एवं ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करता है। श्रीपयहारीजीके शिष्योंमें जो श्रीदेवाजी हैं, वे डीडवाणेके हैं, आज भी वहाँ उनकी गद्दी है। ***'देवाहित सित केश'*** वे दूसरे हैं।

श्रीअग्रदेवजीके शिष्य

जंगी प्रसिध प्रयाग बिनोदि पूरन बनवारी।
नरसिंह मल भगवान दिवाकर दृढ़ ब्रतधारी॥
कोमलहृदय किसोर जगत जगनाथ सलूधौ।
औरौ अनुग उदार खेम खीची धरमधीर लघु ऊधौ॥
त्रिबिध ताप मोचन सबै सौरभ प्रभु जिन सिर भुजा।
(श्री) अग्र अनुग्रह तें भए सिष्य सबै धर्म कि धुजा॥ १५०॥

श्रीस्वामी अग्रदेवाचार्यजीके अनुग्रहसे ये सब शिष्य परमधर्मकी ध्वजा हुए। उनके नाम हैं—श्रीजंगीजी, प्रसिद्ध सन्त श्रीप्रयागदासजी, श्रीविनोदीजी, श्रीपूरनदासजी, श्रीबनवारीदासजी, श्रीनरसिंहदासजी, भक्तवर श्रीभगवानदासजी, भगवद्भजनके नियमोंका दृढ़तासे पालन करनेवाले श्रीदिवाकरजी, कोमल एवं सरस हृदयवाले श्रीकिशोरदासजी, जगत्‌में जागनेवाले (विषयोंसे सावधान रहनेवाले) श्रीजगन्नाथजी, श्रीसलूधौजी, दूसरे उदार अनुचर (गुरुके अनुगामी) खीची वंशके खेमजी तथा धर्मका धैर्यपूर्वक पालन करनेवाले लघु उद्धवजी आदि। सौरभ प्रभु श्रीअग्रदेवजीने आशीर्वादात्मक अपना करकमल इनके सिरपर रखा, इससे ये शरणागत जीवोंको दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंसे मुक्त करनेवाले हुए॥ १५०॥

श्रीअग्रदेवजीके कुछ शिष्योंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीजंगीजी

ये बड़े ही सिद्ध-प्रसिद्ध एवं भजनानन्दी सन्त थे। एक बार तीर्थाटन एवं भक्ति-प्रचारार्थ भ्रमण करते-करते एक विरक्त साधुके स्थानमें जाकर ठहरे। वे स्थानधारी सन्त चिन्तित थे। उसका कारण यह था कि उनका स्थान एक यवनके किलेके पास था। उसके अधिकारी किलेका विस्तार करना चाहते थे, अतः उन्होंने स्थानधारी सन्तसे कहा कि तुम इस स्थानको छोड़ दो, कहीं दूसरी जगह जाकर रहो। सन्त अभी निश्चय नहीं कर पाये थे कि स्थान छोड़कर अन्यत्र कहाँ जायँ? इस अपनी चिन्ताको वे श्रीजंगीजीको सुना ही रहे थे कि इतनेमें ही बहुतसे यवन आ गये और उन्होंने कहा कि तुम फौरन यहाँसे हट जाओ। श्रीजंगीजीने जंग ठान दिया और उनसे कहा—तुम लोग जाकर अपने बादशाहसे कह दो कि वह हम लोगोंके रहने-

योग्य ऐसा ही दूसरा स्थान बनवाकर दे, तब हम इस स्थानको खाली करेंगे, उसके पहले नहीं। मदान्ध यवनोंने श्रीजंगीजीकी बातपर ध्यान नहीं दिया और स्थानको तोड़ने-फोड़ने, गिराने-उजाड़ने लगे। तब श्रीजंगीजी अपना प्रभाव दिखानेको विवश हो गये। आप आसनसे उठे और किलेके पास जाकर आपने उसमें एक ऐसा चरण-प्रहार किया कि वह दीवाल धराशायी हो गयी। यह देखकर उन यवनोंके होश उड़ गये। उन्होंने जाकर बादशाहसे कहा। उसने आकर चरणोंमें गिरकर विनती एवं क्षमा-प्रार्थना की। भेंटमें श्रीजंगीजीको बहुत-सा धन दिया। आपने वह धन सन्त-सेवामें लगा दिया। इस प्रकार आपने स्थान एवं सन्तोंकी रक्षा की।

श्रीविनोदीजी

श्रीविनोदीदासजी महान् भगवद्भक्त थे। एक बार आप मानसी पूजा कर रहे थे। बहुत देरतक नेत्र बन्द किये बैठे रहे। मानसी-अर्चन पूर्ण करके आपने आँखें खोलीं। उस समय वहीं समीप बैठे एक भोले-भाले आपके शिष्यने पूछा—प्रभो! नेत्र बन्द करके इतनी देरतक आप क्या कर रहे थे, उसे बताइये। तब आपने कहा—मैं नेत्र मूँदकर भगवान् श्रीसीतारामजीकी मानसी-पूजा कर रहा था। यह सुनकर उस शिष्यने पुनः कहा—महाराजजी! पूजनके बाद तो चरणामृत-प्रसाद मिलता है, उसे तो आपने दिया ही नहीं। गुरुदेवने कहा—हाँ, तुमने ठीक कहा, लो, भगवान्का चरणामृत। ऐसा कहकर आपने समीप रखे जलपात्रसे एक चुल्लू जल दे दिया। उसके पीते ही उसके हृदयमें भगवान् श्रीसीतारामजीका दिव्य प्रकाश छा गया। सर्वत्र श्रीसीतारामजीके दर्शन होने लगे। सम्पूर्ण विश्वके वास्तविक रूपका उसे बोध हो गया, वह कृतार्थ हो गया। श्रीविनोदीदासजीका ऐसा प्रभाव था। श्रीबालकरामजी कहते हैं कि—श्रीअग्रदेवाचार्यजीके सभी शिष्य ऐसे ही महान् प्रभाववाले थे। विद्वान् कवि अपनी बुद्धिके अनुसार उनका यशोगान करते हैं।

श्रीटीलाजीका वंश

अंगज परमानंद दास जोगी जग जागै।
खरतर खेम उदार ध्यान (केसो) हरिजन अनुरागै॥
सस्फुट त्योला शब्द लोहकर बंस उजागर।
हरीदास कपि प्रेम सबै नवधा के आगर॥
अच्युत कुल सेवैं सदा दासन तन दसधा अघट।
भरतखंड भूधर सुमेर टीला लाहा (की) पद्धति प्रगट॥ १५१॥

संसारमें भरतखण्डरूपी सुमेरुपर्वतके शिखरके समान श्रीटीलाजी एवं उनके विरक्त शिष्य श्रीलाहाजीकी परम्परा बहुत प्रसिद्ध हुई। श्रीटीलाके पुत्र शिष्य श्रीपरमानन्ददासजी हुए; ये जगत्में जागते (सावधान रहते) हुए भजनपरायण रहे। श्रीजोगीदासजी, अति तीव्र वैराग्य और विवेकवाले श्रीखेमजी, उदार मनवाले श्रीध्यानदासजी, श्रीकेशवदासजी—सभी हरिभक्तोंके अनुरागी थे। स्पष्ट वाणीवाले श्रीत्यौलाजी लोहार वंशमें परम प्रसिद्ध थे। श्रीहरिदासजीका श्रीहनुमान्जीमें परम प्रेम था। श्रीटीलाजीकी परम्पराके सभी गृहस्थ-विरक्त सन्त नवधा-भक्तिकी उपासनामें प्रवीण, वैष्णवोंकी सेवा और वैष्णवोंमें प्रेमाभक्ति करनेवाले हुए॥ १५१॥

इनमेंसे कुछ भक्तोंका चरित संक्षेपमें इस प्रकार है—

श्रीटीलाजी

श्रीटीलाजी महान् गोभक्त थे, एक बार वे गोचारण करते हुए वनमें ही भजन करने लगे। इसी बीच एक महान् सिद्ध-सन्त पधारे और बोले कि 'मुझे दूध पिलाओ।' आपने सन्तको भगवन्तके तुल्य मानकर

साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और कहा—हे श्रीरामजी महाराज! आप कृपा करके थोड़ी देर इस स्थानपर ही विराजें, मैं अभी दूध लाता हूँ। सन्तने कहा—कहीं लेने मत जाओ, उस गायको दुहकर ले आओ। श्रीटीलाजीने कहा—भगवन्! यह गाय तो बाँझ है। इसके थनोंमें दूध कहाँसे आयेगा? पुनः सन्तने कहा—तुम जाकर देखो तो सही, बिना देखे ही क्यों इनकार करते हो? तब श्रीटीलाजीने जाकर देखा तो उसके स्तन दुग्धयुक्त दिखायी पड़े। हाथ लगाते ही दुग्धधारा प्रवाहित हो चली। आपने आश्चर्यचकित होकर दूध दुहकर सन्तको दिया। सन्तने दुग्धपान किया और शेष थोड़ा-सा प्रसाद टीलाजीको भी उन्होंने दिया। उसे पीते ही टीलाजीको सब सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। हृदयमें भगवत्प्रेम प्रकाशित हो गया। श्रीटीलाजी तो विभोर हो गये और सन्त-भगवान् अन्तर्धान हो गये। वस्तुतः इस रूपसे श्रीपयहारीजीने ही आपपर कृपा की थी। कालान्तरमें पुनः सन्तोंकी प्रेरणासे आकर इन्हें दीक्षा भी दी।

श्रीटीलाजीकी गृहस्थ एवं विरक्त दोनों परम्पराएँ प्राप्त होती हैं, दोनोंमें महान् सिद्ध सन्त हुए हैं। इस छप्पयमें उन्हीं सबका स्मरण किया गया है। श्रीटीलाजीका जन्म खाटू खण्डेलाके पास कालूड़ा गाँवमें हुआ। ये परम प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध जोशी गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पुत्र श्रीपरमानन्ददासजीका जन्म भी वहीं हुआ। उनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम लाड़ाबाई था। उसके पतिदेव श्रीखेमजी भी महान् भक्त थे, इनका नाम भी इस छप्पयमें लिया गया है। दोनों ही सिद्ध भक्त थे, दम्पतीने चक्रतीर्थ गाँवमें रहकर भजन एवं भक्ति-प्रचार किया। श्रीटीलाजीकी भक्तिके अतुल प्रभावसे उनके पुत्र श्रीपरमानन्ददासजी एवं उनके चार पुत्र १. जोगीदास, २. हरिदास, ३. ध्यानदास, ४. केशवदासजी भी बड़े भक्त हुए। ये सब बड़े सन्तसेवी एवं भगवत्प्रेमी हुए। मनोहरपुराके राव लूणकरणजीने श्रीटीलाजीकी भक्ति एवं सन्त-सेवासे प्रभावित होकर वि० सं० १६०२ में इनको ४०० बीघा भूमि भेंट की, जिसके पट्टे एवं सनदें खोरीमें अब भी सुरक्षित हैं। श्रीटीलाजीके पौत्र श्रीकेशवदासजीका जन्म यहीं खोरीमें हुआ था। इनके पिता यहीं आ गये थे। खोरी गाँव जयपुर राज्यमें शाहपुराके पास है। यहींपर श्रीपरमानन्ददासजीकी छतरी है। भावुक भक्त वहाँ पहुँचकर दर्शन-प्रणाम करके अपनेको कृत-कृत्य मानते हैं। श्रीजोगीदासजीने खेलणा ग्राममें अपना एक मन्दिर बनाया। इनके चमत्कारोंसे प्रभावित होकर बादशाहने इन्हें जागीर दी। मन्दिरमें अबतक श्रीजोगीदासजीके वंशज पुजारी हैं।

श्रीलाहाजी

श्रीलाहाजी श्रीटीलाजीके विरक्त शिष्य थे। ये खाती (बढ़ई) जातिको पवित्र करनेके लिये उसमें अवतीर्ण हुए थे। अरणिया ग्राममें स्थित श्रीटीलाजीकी गद्दीपर लाहाजी विराजे और इन्होंने बड़े सद्भावपूर्वक सन्त-सेवा की। इन्हींकी परम्पराके विरक्त सन्त अबतक मन्दिरमें सेवा-पूजा करते हैं। अरणियासे तीन कोस दूर खोरा ग्राममें भी रहकर श्रीलाहाजीने भजन किया था, यहाँ भी इनकी गुफा, भजन-स्थली एवं मन्दिर दर्शनीय हैं। इन्हींकी एक शाखाका मन्दिर रामपुरमें है। श्रीटीलाजी गुरु-आज्ञासे नित्य मानसी-सेवा किया करते थे। आपने लाहाजीको दीक्षा देकर इन्हें भी मानसी-सेवाकी विधि बतायी। गुरु-कृपासे श्रीलाहाजीकी मानसी-सेवा भी सिद्ध हो गयी। एक बार श्रीटीलाजी मन्दिरमें बैठकर मानसी-पूजा कर रहे थे। बाहर बैठे श्रीलाहाजी भी ध्यानमें अपने गुरुदेवकी मानसी-सेवाको देख रहे थे। इसी बीच एक कोई सेवक आया और उसने लाहाजीसे बार-बार पूछा कि बताओ, श्रीगुरुमहाराज कहाँ हैं? लाहाजीने डाँटकर कहा—यहाँ बताऊँ कि वहाँ बताऊँ?।' कुछ देर बाद उसको दूसरे शिष्योंने बताया कि जाकर मन्दिरमें दर्शन करो। तब उसने जाकर मन्दिरमें दर्शन किया और श्रीलाहाजीकी शिकायत की। श्रीटीलाजीने श्रीलाहाजीको बुलवाया और पूछा कि तुमने इनके पूछनेपर ठीक उत्तर न देकर अशिष्ट व्यवहार क्यों किया? श्रीलाहाजीने कहा—आपकी आज्ञा है, अतः बताता हूँ—'आप उस समय शरीरसे तो मन्दिरमें आसनपर विराजमान थे और मनसे गौशालामें थे।' तब मैं आपको

कहाँ बताता? इस रहस्यकी बातको सुनकर श्रीटीलाजी बहुत प्रसन्न हुए। श्रीलाहाजीको छातीसे लगाकर इन्हें शुभाशीष प्रदान करके कहा कि तुम्हारी बात सत्य है। सेवकने सुना तो उसे भी श्रीलाहाजीमें अपार श्रद्धा हुई।

श्रीपरमानन्ददासजी

श्रीपरमानन्ददासजी श्रीटीलाजी महाराजके पुत्र थे। आपने सन्तोंकी सेवा बहुत अच्छी प्रकारसे की। आप योगकी युक्तियोंसे सम्पन्न थे। सर्वथा चित्तसे श्रीसीतारामजीका चिन्तन करते रहते थे। एक बार अकाल पड़ा, लोग भूखों मरने लगे। विवश होकर गाँव छोड़कर भाग चले। तब आपने सबको रोका और कहा कि आपके गाँवमें ही अनाजका एक बहुत बड़ा भण्डार अमुक स्थानपर है, उसमेंसे निकाल-निकालकर सभी लोग सानन्द खायें। ग्रामवासियोंने कहा—महाराज! हम लोगोंने वहाँ देख लिया। वह भण्डार समाप्त हो गया, अब वहाँ एक दाना भी नहीं है। आपने कहा—तुम लोग बिना देखे पहले ही क्यों मना कर रहे हो, जाकर देखो तो। सभी लोगोंने निर्दिष्ट स्थानपर जाकर भण्डारको खोला, तो उसमें सुन्दर धान भरे हुए थे। आश्चर्यचकित होकर सभीने श्रीपरमानन्दजीके चरणोंमें सप्रेम बारम्बार नमन किया। आपका पवित्र सुयश सर्वत्र व्याप्त हो गया। लोगोंने उसमेंसे धान निकाल-निकालकर खाया। इस प्रकार आपने दया करके सभीके प्राणोंकी रक्षा की। इससे सभीमें भक्ति स्थिर हुई।

श्रीत्यौलाजी

आप लोहार जातिमें उत्पन्न परम श्रीराम-भक्त थे। सन्त-सेवामें लगे ही रहते थे, दिन है या रात इसे नहीं देखते। अपने धन, धाम, तन, मन, स्त्री, पुत्रोंको सेवामें लगाये ही रहते थे। घोड़ोंकी टापोंमें नाल जड़नेमें आप अत्यन्त प्रवीण थे। एक बार उस नगरके मालिक सरदारने आपको नाल जड़नेके लिये बुलाया। आप सन्त-सेवामें दत्तचित्त थे, अतः सरदारके बुलानेपर भी नहीं गये। जब चार बार दूतोंकी बात आपने नहीं सुनी। तब बादशाहसे लोगोंने इनकी शिकायत की। इसपर रुष्ट होकर राजाने आदेश दिया कि 'त्यौलाको पकड़कर लाओ और उसे ऐसी मार लगाओ कि वह हा-हा, खाने लगे।' इसी समय श्रीरघुनाथजीने त्यौलाका रूप धारण किया और बादशाहके पास पहुँचे और बोले कि मैं भक्त-भगवत्सेवामें व्यस्त था। अवकाश न मिलनेके कारण विलम्ब हुआ। ऐसे मधुर शब्दोंसे प्रभुने राजाके रोषको शान्त किया और घोड़ोंके पैरोंमें नालें जड़ीं। पश्चात् अपने श्रीधामको चले गये। श्रीत्यौलाजीको राजाकी आज्ञाका ध्यान आया तो आप राजद्वार पहुँचे। राजाने कहा—अभी-अभी आप नाल जड़कर गये हैं, पुनः कैसे आये? आपने कहा—मैं तो अभी आ ही रहा हूँ। यह सुनकर राजाने समझ लिया कि इनके बदले प्रभुने आकर दर्शन दिया। 'धन्य है श्रीत्यौलाजी आपकी भक्ति'—ऐसा कहकर राजा त्यौलाजीके चरणोंमें गिर पड़ा। दोनों परस्पर एक-दूसरेको धन्यवाद दे रहे थे। अब श्रीत्यौलाजीकी भक्ति प्रकट हो गयी। लोगोंने इनके आदेश, उपदेशोंको सादर सुना और धारण किया तथा सभी भगवद्भक्त होकर सन्त-भगवन्तकी सेवामें तल्लीन हो गये।

श्रीकान्हरजी

चारि बरन आश्रम्म रंक राजा अन पावै।
भक्तनि को बहुमान बिमुख कोऊ नहिं जावै॥
बीरी चंदन बसन कृष्ण कीरत्तन बरषै।
प्रभु के भूषन देय महामन अतिसय हरषै॥
बीठल सुत बिमल्यो फिरै दास चरन रज सिर धरै।
मधुपुरी महोछौ मंगलरूप कान्हर कैसो को करै॥ १५२॥

मथुरापुरीमें जैसा मंगलमय महोत्सव श्रीकान्हरजी करते थे। वैसा महोत्सव उन्हें छोड़कर और कौन कर सकता है अर्थात् कोई नहीं कर सकता। इनके महान् महोत्सवोंमें चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके लोग अन्न-प्रसाद पाते थे। भक्तोंका बहुत अधिक सम्मान होता था। इनके महोत्सवोंमें आकर कोई भी निराश एवं दुखी होकर नहीं लौटता था। अखण्ड नाम-संकीर्तनकी झड़ी लगी रहती थी। उसमें बीरी, चन्दन, वस्त्र और आभूषण आदिकी वर्षा करते थे। परम उदार श्रीकान्हरजी नाम-गुणका कीर्तन करनेवाले समाजियोंको भगवान्‌के आभूषणतक न्यौछावर कर देते थे और देकर बहुत प्रसन्न होते थे। उमंगसे भरकर श्रीविट्ठलजीके सुपुत्र इन उत्सवोंमें इतस्ततः सभी भक्तोंके समीप जा-जाकर उनके श्रीचरणोंकी रजको अपने मस्तकपर धारण करते थे॥ १५२॥

श्रीकान्हरदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

कान्हरदास पुष्टिमार्गीय भक्त थे। इनके परिवारके सम्बन्धमें कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। गोस्वामी विट्ठलनाथजी जब द्वारका पधारे थे, उस यात्रामें वे अहमदाबाद भी कुछ दिन ठहरे थे। तब उन्होंने कन्हैयालाल शालको कान्हरदासके साथ ही पुष्टि-मार्गमें दीक्षित किया था। कान्हरदास जातिके क्षत्रिय थे। वे वैष्णवोंका नित्य सत्संग किया करते थे। सत्संगके प्रभावका कान्हरदासने प्रत्यक्ष अनुभव किया था। राजनगरमें इनका निवास-स्थान था। छोटे-से घरमें ही ठाकुरजीकी सेवा-पूजा एवं नित्य-कीर्तनका आयोजन करना कान्हरदासका स्वभाव बन गया था। ये सद्‌गृहस्थ थे और इन्होंने वैष्णवोंका सत्कार करनेमें तन-मन-धन अर्पण कर दिया था। सम्प्रदायमें इनके कई कीर्तन प्रचलित हैं।

गोस्वामी विट्ठलनाथजीसे दीक्षा ग्रहण करनेके बाद उनके सान्निध्यसे इन्हें श्रीकृष्णकी लीलाका साक्षात्कार हुआ था। गोस्वामी गिरधरदासजीके व्यक्तित्वसे भी यह प्रभावित हुए थे। लीला-कीर्तनमें रात-दिन तन्मय रहकर श्रीकृष्णकी यशोगाथाका गान करना इनका परम ध्येय था। अपने समस्त कलि-कल्मष और आधि-व्याधियोंको कीर्तन एवं भजनसे काटते रहना इन्हें सिद्ध था।

श्रीनीवाजी

आवहिं दास अनेक उठि सुआदर करि लीजै।
चरन धोय दंडौत सदन में डेरा दीजै॥
ठौर ठौर हरिकथा हृदय अति हरिजन भावैं।
मधुर बचन मुँह लाय बिबिध भांतिन्ह जु लड़ावैं॥
सावधान सेवा करै निर्दूषन रति चेतसी।
भक्तनि सों कलिजुग भले निबही 'निंबा' खेतसी॥ १५३॥

श्रीनीवाजी और श्रीखेतसी (श्रीखेतसिंह)—इन दोनोंने इस कलियुगमें भी भक्तोंके साथ भली प्रकार वैसा ही प्रेम-परिपूर्ण व्यवहार किया, जैसा कि किसान अपने खेतोंसे करता है। प्रायः नित्य ही इनके घरपर भगवद्भक्त आया ही करते थे। भक्तोंके आते ही उठकर आप उनका स्वागत-सत्कार करते थे। उनके चरणोंको धोकर चरणामृत लेते, साष्टांग दण्डवत्प्रणाम करते, फिर घरके भीतर ले जाकर उनका आसन लगवाते। आप भगवद्भक्तोंको हृदयसे प्यार करते थे और जहाँ-तहाँ कथा-कीर्तनका आयोजन करते थे। मुखसे श्रद्धा-भक्तियुक्त मधुरवचनोंको कहकर अनेक प्रकारसे भक्तोंको लाड़-प्यार करते थे। हृदयमें दोषरहित निष्काम-निष्कपट प्रेम था। अतः सर्वदा सावधान होकर भक्त और भगवन्तकी सेवा करते थे॥ १५३॥

श्रीनीवाजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनीवाजी क्षत्रियकुलोत्पन्न थे, आपके पिताजीका नाम श्रीखेतसिंहजी था। इन्हें सन्त-सेवामें परमानुराग था। एक बार घरके व्यापार-व्यवहारमें इन्हें आर्थिक संकट आ गया। उसका कारण सन्त-सेवामें व्यय तो अधिक होता। खेती आदिसे उतना लाभ नहीं होता, परंतु साधुओंकी सेवा उसी प्रकार चलती रही; अतः एक ब्राह्मणदेवताका बड़ा-भारी कर्जा हो गया। कुछ दिनोंके बाद माँगनेपर भी ये कर्जा अदा नहीं कर सके तब खीझकर महाजन ब्राह्मणदेव इनके द्वारपर धरना देकर बैठ गये। भूखे-प्यासे ब्राह्मणके भयसे घरमें किसीने भी कुछ नहीं खाया-पीया। अन्तमें इन दोनों भक्तोंने निश्चय किया कि 'कल घर-बार बेचकर इस ब्राह्मणका कर्ज चुका दिया जाय। भक्तकी इस चिन्तासे चिन्तित प्रभु श्रीरामजीने नीवाजीका रूप धारण किया और रातको घरपर आकर ब्राह्मणसे उन्होंने कहा—विप्रदेव! आप यह सोना लीजिये और भोजन कीजिये। सोनेकी तौल और मोल फिर प्रातः बाजारमें हो जायगी। ब्राह्मणने ऐसा ही किया और प्रातः आकर नीवाजीसे कहा—चलिये, सोनेको तोलवाकर बेच दीजिये। नीवाजीने आश्चर्यचकित होकर कहा—कैसा सोना? ब्राह्मणने कहा—आपने ही तो रातमें दिया था, ऐसा कहकर उस ब्राह्मणने सोना दिखाया। श्रीनीवाजी श्रीराम-कृपाका अनुभव करके बेसुध हो गये। पश्चात् अर्थ-संकट दूर हो गया। इस प्रकार श्रीरामजीने श्रीनीवाजीको सन्त-सेवामें सहयोग दिया।

श्रीतूँवर भगवानजी

यह अचरज भयौ एक खाँड़ घृत मैदा बरषै।
रजत रुक्म की रेल सृष्टि सबही मन हरषै॥
भोजन रास बिलास कृष्न कीरत्तन कीनो।
भक्तनि को बहुमान दान सबही को दीनो॥
कीरति कीनी भीमसुत (सुनि) भूप मनोरथ आन के।
बसन बढ़े कुंतीबधू त्यों तूँबर भगवान के॥ १५४॥

भक्तवर श्रीभगवानदासजी तूँवरके महोत्सवमें सभी वस्तुएँ इस प्रकार बढ़ीं, जैसे दुःशासनके द्वारा खींचे जानेपर श्रीद्रौपदीजीके वस्त्र बढ़े थे। आपके एक महोत्सवमें महान् आश्चर्य यह हुआ कि खाँड़, घृत, मैदा आदिकी खूब वर्षा हुई। सोने और चाँदीके सिक्कोंकी भरमार हो गयी। आशासे अधिक दान-मान प्राप्तकर सृष्टिके सभी प्राणी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उस उत्सवमें साधु-ब्राह्मण और दीन-गरीबोंको खूब भोजन कराया गया। रासलीलाएँ हुईं और कई दिनतक अखण्ड श्रीहरिनाम-संकीर्तन हुआ। भक्तोंका विशेष सम्मान हुआ और सभी लोगोंको दान-मानसे सन्तुष्ट किया गया। श्रीभीमजीके पुत्र भगवानदासजीने ऐसी कीर्ति की कि उस उत्सवका समाचार सुनकर दूसरे राजा लोग भी इच्छा करने लगे कि हम भी ऐसा उत्सव करें। पर वे मनोरथ करके ही रह गये। तूँवर श्रीभगवानदासजीका-सा महोत्सव कोई कर नहीं सका॥ १५४॥

श्रीतूँवर भगवानजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीभगवानदास तूँवर पाण्डुवंशी क्षत्रिय थे। इनके पिता पाटणसे आकर गाँवड़ीमें बस गये थे। छन्द ९९ में सोम, भीम आदिका जो उल्लेख है, वे सब इसी राजवंशके हैं। यह वंश जयपुर राज्यके उस प्रदेशके गाँवमें फैला हुआ है। गाँवड़ीमें पश्चिमकी ओर तीन कोसकी दूरीपर भूदौली गाँवमें अपने एक कुटुम्बी घरानेमें भीमजीने अपने पुत्र भगवानदासको दत्तकके रूपमें दिया था। कुछ दिनोंके बाद उस घरानेमें एक पुत्रका जन्म होनेपर भगवानदासजीने अपने-आप ही वहाँसे पृथक् होकर भूदौलीसे दस मील दूर दक्षिणमें अपना स्वतन्त्र शासन जमा लिया। उस गाँवको चीपलाटा कहते हैं। आप बड़ी उदार प्रकृतिके थे। जिस घरानेमें आप

दत्तकरूपमें रहे थे, वहाँकी एक राजकुमारी मारवाड़में ब्याही थी। एक बार परिस्थितिवश उसने अपने पीहर भूदौलीवालोंसे सहयोग चाहा। जब वे सहायता न दे सके। तब उसने आकर भगवानदासजीसे कहा। आपने उसे तेरह हजार बीघे भूमि दे दी। कालान्तरमें स्थिति सुधरनेपर उसने उस भूमिको लौटाना चाहा, तब इन्होंने कहा कि मैं दान देकर फिर वापस कैसे लूँ? भूदौलीवालोंने उस जमीनको ले लिया। आप ऐसे दानी थे।

एक बार पिताने विनोदमें ही आपसे कह दिया कि 'तू क्या पाटौदीको जीत सकता है?' आपने उसे सत्य करके दिखा दिया। नारनौलके पास पाटौदीके युद्धमें आपकी विजय हुई। आपकी अन्तिम घटना बड़ी महत्त्वपूर्ण है—एक बार बहनकी सहायताके लिये बनेटी गाँवमें गये हुए थे। वहाँ भयंकर संग्राम हुआ। विपक्षियोंके प्रहारसे आपका सिर कट गया, पर वहाँ गिरा नहीं, वह कोसों दूर चीपलाटामें पहुँच गया और घोड़ेपर स्थित धड़ने युद्ध करके विपक्षियोंको पराजित कर दिया। दर्शक आश्चर्यचकित हो गये। किसी अपवित्र स्त्रीकी छाया पड़नेसे धड़ घोड़ेसे नीचे गिर पड़ा। बनेटीकी संग्राम-भूमिमें आपका स्मारक (जूझार) बना है। चीपलाटामें भी पहाड़ीपर घोड़ेपर सवार आपकी प्रतिमा है, जो उपर्युक्त घटनाको सत्य प्रमाणित कर रही है। उस पहाड़ीपर बने मन्दिरमें आपके चरण-चिह्न हैं, वहाँ जलके दो टाँके भी हैं। गाँवमें एक चबूतरा है, जो भगवानदासकी पर्शके नामसे प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष भाद्र शुक्ल पंचमीको उनकी स्मृतिके रूपमें एक मेला भी लगता है। वैशाख शुक्ल ५ को भी जनता उनकी मनौती मानती है। दोनों उनके जन्म और निधनकी तिथियाँ हैं। यहाँ लोगोंके मनोरथ सिद्ध होते हैं, किसी-किसीको उनके दर्शन भी हो जाते हैं। आस-पासकी जनतामें अपार श्रद्धा है। इनका एक पुत्र सूरदास था, जो बादशाहकी नौकरी करते हुए भी नियमित पूजा-पाठ अवश्य करता था। यह राजवंश श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायका अनुयायी था। नन्दगाँवमें रहनेवाले श्रीनाफादासजीसे यह घराना दीक्षा लेता था।

श्रीभगवानदास तूँवरका यह दृढ़ नियम था कि वर्षके बीतनेपर मथुरापुरी आते थे। वहाँ एक बहुत-बड़ा महोत्सव करते, उसमें बहुत-सा सोना लुटाते थे। इस महोत्सवमें वे पहले साधु-सन्तोंको भोजन कराते, उन्हें वस्त्र पहनाते। उसके पश्चात् ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका भी स्वागत-सत्कार करते। ब्राह्मणोंको यह अच्छा नहीं लगता, वे प्रायः मनमें नाराज रहते। भाग्यवश कोई ऐसा समय आ गया कि श्रीभगवानदासजीकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। धनकी कमी आ गयी। ऐसी हालतमें भी आप अपने प्रणको पूरा करना चाहते थे, इसलिये मथुराजी आये। इनके मनमें विचार था कि इस बार छोटा उत्सव कराऊँगा। मथुराके जो (असाधु) ब्राह्मण लोग इनके उत्सवसे दुःखित होकर इनसे द्वेष करते थे, उन्हें सुख हुआ और लोभ बढ़ा। उन लोगोंने निश्चय किया कि अब ऐसा समय है कि हमलोग आपसमें ही सम्पूर्ण धन बाँट लें और भगवानदासकी निन्दा करवा दें।

श्रीभगवानदासजी तूँवरने ब्राह्मणोंको बुलाया और जो कुछ अपने साथ धन लाये थे, उसे बड़े आदर-सम्मानके साथ ब्राह्मणोंको सौंप दिया। उन लोगोंने धनकी गाँठ बाँधकर अपने पास रख लिया। तब श्रीभगवानदासजीने हाथ जोड़कर विनती सुनायी। 'मेरे पास बस इतना ही धन है, इससे आप चाहे साधु-सन्तोंका भण्डारा कर दें, चाहे रासलीला करवा दें और चाहे स्वयं आपलोग भोजन कर लें। जिस प्रकार आपको सुख हो, आपलोग वही काम कीजिये।' ब्राह्मणोंने सीधा-सामान एक कोठेमें रख दिया और जो नगद धन था, उसे थैलियोंमें भर लिया। ब्राह्मणोंको बुलाकर देने लगे। एक-एकको बीस-बीस गुना सामान देने लगे। उनके मनमें था कि किसी प्रकार सीधा-सामान कम पड़ जाय और भगवानदासकी निन्दा हो जाय, परंतु भगवान्की कृपासे यह लीला द्रौपदी चीर-हरणकी तरह हो रही थी कि वे जितना देते थे, उससे सौ गुना सीधा-सामान और थैलीमें धन बढ़ता जाता था। देते-देते और लेते-लेते लोग थक गये। भक्त और भगवान्की अपार महिमाका सबको प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

बीतत बरस मास आवैं 'मधुपुरी', नेम प्रेम सों महोछौ रास हेम ही लुटाइयै।
सन्तनि जिवांय, नाना पट पहिराय, पाछे द्विजन बुलाय, कछु पूजैं, पै न भाइयै॥
आयौ कोऊ काल, धन माल जा बिहाल भए, चाहैं पन पार्‌यौ आए 'अलप कराइयै'।
रहे बिप्र दूषि सुनि भयौ सुख भूख बढ़ी, आयौ यों समाज करौ ख्वारी मन आइयै॥ ५७६॥
अति सनमान कियौ, ल्याए जोई सौंपि दियौ, लियौ गाँठ बाँधि तब बिनती सुनाइयै।
सन्तनि जिंवावो, भावै रास लै करावौ, भावै जेंवौ सुख पावौं, कीजै मन भाइयै॥
सीधौ लाय कोठे धर्‌यो, रोक हो, सो थैली भर्‌यो द्विजन बुलाय देत किहूँ निघटाइयै।
जितनौ निकासैं ताते सौगुनी बढ़त और, एक एक ठौर बीस गुनो दै पठाइयै॥ ५७७॥

श्रीजसवन्तसिंहजी

भक्तनि सों अति भाव निरंतर अंतर नाहीं।
कर जोरे इक पाय मुदित मन आग्या माहीं॥
श्रीबृंदाबन बास कुंज क्रीडा रुचि भावै।
राधाबल्लभ लाल नित्य प्रति ताहि लड़ावै॥
परम धरम नवधा प्रधान सदन साँच निधि प्रेम जड़।
जसवंत भक्ति जैमाल की रूड़ा राखी राठवड़॥ १५५॥

राठौरवंशी श्रीजसवन्तसिंहजीने अपने बड़े भाई श्रीजयमालसिंहजीकी भक्ति करनेकी जो पद्धति थी, उसे यथावत् सुदृढ़ रखा। आपका भगवद्भक्तोंमें निरन्तर निष्कपट परम प्रेम था। भक्तोंकी आज्ञाका पालन करनेके लिये आप उनके सामने प्रसन्न मनसे हाथ जोड़े एक पैरसे खड़े रहते थे। श्रीधामवृन्दावनविहारिणी-विहारीजीकी निकुंज-लीलामें आपका बड़ा भारी प्रेम था। इष्टदेव श्रीराधावल्लभलालको आप नित्य प्रति सप्रेम सभी सेवाएँ समर्पित करते थे। आप वैष्णवधर्म और नवधा भक्तिके प्रधान सदन थे। परम धर्म और नवधा भक्तिरूपी सच्ची सम्पत्तिका आपने अपने हृदयमें संचय कर रखा था। भगवत्कथा-कीर्तन एवं इष्टका स्मरणकर आप प्रेममें विभोर होकर जड़वत् (अचल) हो जाते थे॥ १५५॥

श्रीजसवन्तसिंहजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीजसवन्तसिंहजी राठौरवंशी क्षत्रिय थे, आप सन्त-भगवन्तके बड़े भक्त थे। आपके लिये भगवद्विग्रह धातु-पाषाणमयी प्रतिमा न होकर साक्षात् प्रभुका स्वरूप ही था। प्रभुको ग्रीष्म-ऋतुमें तापका अनुभव न हो, इसके लिये आप उनके लिये बँगला बनवाते थे। सन्तोंमें भी आपकी भगवान्‌के ही सदृश निष्ठा थी। एक बार एक सन्तका दर्शनकर इन्होंने विनती की और सेवाकी आज्ञा माँगी। सन्तने कहा—'पहले यह बताओ कि तुम्हारी भक्ति सच्ची है अथवा झूठी?' आपने सविनय उत्तर दिया—'प्रभो! मैं आपका सच्चा सेवक हूँ और मेरी भक्ति भी सच्ची है, जो भी आज्ञा होगी, उसका पालन करूँगा।' सन्तने कहा—तो अपने हाथोंके रत्नजटित दोनों कंकण मुझे दे दो, मुझे साधुओंका भण्डारा करना है। सन्तका कहना था कि आपने कंकण उतारकर प्रसन्नतापूर्वक दे दिये और चरण पकड़कर बोले—मेरा सब कुछ तो आपका ही है, फिर मैं देनेवाला कौन? आपने अपनी वस्तु ही ली। सन्तने प्रसन्न होकर इन्हें आशीर्वाद दिया और कंकण बेचकर भण्डारा किया। उस समय अनन्त सन्त-समूहने जसवन्तसिंहजीकी जय-जयकार की।

श्रीहरिदासजी

अमित महागुन गोप्य सार बित सोई जानै।
देखत को तुलाधार दूर आसै उनमानै॥
देय दमामौ पैज बिदित बृन्दाबन पायो।
राधाबल्लभ भजन प्रगट परताप दिखायो॥
परम धरम साधन सुदृढ़ कलिजुग कामधेनु में गन्यो।
हरिदास भक्तनि हित धनि जननी एकै जन्यो॥ १५६॥

उस माताको धन्यवाद है, जिसने भक्तोंसे प्रेम एवं उनकी सेवा करनेके लिये अतिश्रेष्ठ पुत्र हरिदासजीको जन्म दिया। श्रीहरिदासजीमें परम श्रेष्ठ अनेक ऐसे शुभ गुण थे, जो गोपनीय थे, जिन्हें उन्होंने छिपा रखा था। उनके गुणोंको कोई प्रेमी ही समझ और जान सकता था। कहनेको तो आप वैश्य जातिके थे; परंतु जहाँ सबकी पहुँच नहीं है, ऐसे गूढ़तम रहस्योंका आप अनुमान (साक्षात्कार) कर लेते थे। आपने डंकेकी चोटपर अपसनी यह प्रतिज्ञा घोषित कर दी थी कि मैं यद्यपि शरीरसे काशीमें रह रहा हूँ, परंतु व्रजधाममें शरीर छोड़कर श्रीधामकी रजको (तथा नित्यवृन्दावनधामको) प्राप्त करूँगा। इस अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार आपने श्रीवृन्दावन-धामको प्राप्त किया। आपने श्रीराधावल्लभजीके अनन्य भजनके अद्भुत प्रभावको प्रकट करके सबको दिखा दिया। परम वैष्णवधर्मके साधनमें आप सदा सुदृढ़ रहे, उससे कभी विचलित नहीं हुए। इस कराल कलिकालमें मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले कामधेनुके समान जो महान् भक्त हुए, उनमें आपकी गणना हुई॥ १५६॥

श्रीहरिदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

वैश्यकुलमें उत्पन्न श्रीहरिदासजीका निवास-स्थान काशीपुरीके निकट था। इनकी यह प्रतिज्ञा थी कि मैं व्रज-वृन्दावनमें ही शरीरको छोड़ूँगा। अन्तमें ऐसा हुआ कि इन्हें बड़े वेगसे ज्वर चढ़ आया, नाड़ी छूट गयी। क्रमशः तीन वैद्य आये और सबने यही कहा कि इनकी असाध्य अवस्था है। इनकी अब कोई चिकित्सा नहीं है। इस अवस्थामें भाव-प्रवीण श्रीहरिदासजीने कहा कि 'मेरा मन व्रज-वृन्दावनधामके प्रेमरंगमें मग्न हो रहा है।' इनकी चार पुत्रियाँ थीं, उन्हें चार सन्तोंको देकर बोले कि 'आप इन्हें स्वीकार कीजिये और हमको डोलीमें रखकर श्रीवृन्दावन पहुँचा दीजिये। मेरे नेत्रोंके सामने वहाँका ध्यान बार-बार आ रहा है।' चारों सन्त इन्हें लेकर चले। ये श्रीराधावल्लभजीके नामका संकीर्तन कर रहे थे। गाँवके सभी लोग इन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे और कह रहे थे कि ये किसी भी प्रकारसे वृन्दावनतक नहीं पहुँच सकते हैं।

श्रीवृन्दावनधामके आते-आते मार्गमें ही श्रीहरिदासजीका शरीर छूट गया, परंतु भगवान् श्यामसुन्दरने आपके प्रणको सत्य कर दिया। दिव्य श्रीवृन्दावनधामका प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया और दिव्य शरीर देकर इन्हें श्रीवृन्दावन पहुँचा दिया। श्रीहरिदासजीने श्रीवृन्दावन पहुँचकर अपने इष्टदेव श्रीराधावल्लभलालजीके तथा अपने श्रीगुरुदेव भगवान् श्रीवनचन्दजीके सप्रेम दर्शन किये। चीरघाटपर जाकर श्रीयमुनाजीमें स्नान किया और अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। जो लोग इन्हें लेकर आ रहे थे, वे लोग शोक करते हुए, रोते हुए, पीछेसे आये और उन लोगोंने श्रीहरिदासजीके गुरुदेवसे तथा सन्तोंसे कहा कि 'हरिदासजीको हमलोग श्रीवृन्दावनको ला रहे थे, परंतु दुःखकी बात है मार्गमें ही उनका शरीर छूट गया।' श्रीवृन्दावनके सभी सन्तोंने कहा कि 'वे तो उसी दिन यहाँ आ गये थे।' इस भक्त-चरित्रमें भक्तिका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट है। भगवान्की कृपाके बिना इस प्रकार दिव्य-देहकी तथा श्रीवृन्दावनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

हरिदास बनिक, सो कासी ढिग बास जाकौ, ताकौ यह पन तन त्यागौं ब्रज भूमहीं।
भयौ ज्वर नाड़ी छीन, छोड़ि गए बैद तीन, बोल्यौ यों प्रबीन वृन्दावन रस झूमहीं॥
बेटी चारि सन्तनि कौ दई अङ्गीकार करौ, धरौ डोली मांझ मोको ध्यान दृग घूमहीं।
चले सावधान राधावल्लभ कौं गान करै, करै अचरज लोग परी गाँव धूमहीं॥ ५७८॥
आवत ही मग माँझ छूटि गयौ तन, पन साँचौ कियौ स्याम, वन प्रगट दिखायौ है।
आय दरसन कियौ, इष्ट गुरु प्रेम भरि नेम पर्‌यौ पूरौ, जाय चीरघाट न्हायौ है॥
पाछें आए लोग, सोक करत भरत नैन बैन सब कही, कही 'ताही दिन आयौ है'।
भक्ति कौ प्रभाव यामें भाव और आनौ जिनि, बिन हरिकृपा यह कैसे जात पायौ है॥ ५७९॥

श्रीहरिदासजीके यहाँ सदा सन्त-सेवा होती थी। एकबार एक ब्रजवासी ठग वैष्णव वेश धारणकर आपके यहाँ आया और बहुत दिनतक रहा। एकदिन जब हरिदासजी घरमें नहीं थे, तो उनकी स्त्रीको अकेली देखकर उस ठगने उसे एक खम्भेसे बाँध दिया और मुखमें कपड़ा भर दिया। तत्पश्चात् घरमें ढूँढ़कर सामानकी पोटली बाँधी और स्त्रीके शरीरसे भी आभूषण उतार लिये। इसी समय हरिदासजी आ गये और उस ठगसे बोले—आप क्या कर रहे हैं? कम्पित-लज्जित होकर वह चरणोंमें गिरने और क्षमा माँगने लगा। तब पत्नीके मनसे अश्रद्धा दूर करनेके लिये आपने उससे कहा—भगवन्! मैं समझ गया, आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं। इसीसे आपने यह लीला दिखायी। मेरा सर्वस्व आपका है, आप उसे बिना पूछे ही ले रहे हैं। आपके इस सद्भावका ऐसा अद्भुत प्रभाव हुआ कि उस ठगने सदाके लिये ठगीका परित्याग कर दिया और सच्चा सन्त बन गया।

एक बार श्रीहरिदासने सुना कि वनमें साधुओंकी जमात पड़ी है, शीघ्र ही आप दर्शनार्थ चल दिये। उस समय आपकी आयु ९५ वर्षकी थी। घने जंगलमें उन्होंने देखा कि एक सिंहने गायको पकड़ रखा है और उसे मार डालना चाहता है। दयावश उन्होंने सिंहमें नृसिंहभगवान्‌की भावना की और प्रणाम करके प्रार्थना की—भगवन्! गायको छोड़कर मुझे खा लीजिये। सिंहने गायको नहीं छोड़ा, तब आपने उसके आशयका अनुमान किया कि मुझ वृद्धके शरीरसे इनका पेट नहीं भरेगा। इसीसे गायको नहीं छोड़ रहा है। तब आपने कहा—मैं इस गायके बदले अपने पुत्रको लाकर दे दूँगा। आप गायको छोड़ दीजिये। इस प्रकारकी प्रार्थना सुनकर सिंहने गायको छोड़ दिया। श्रीहरिदासजीने घर आकर सब समाचार पुत्रको सुनाया। तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। इस नाशवान् शरीरका इससे अच्छा सदुपयोग और क्या हो सकता है! पुत्रको लेकर आप वनमें पहुँचे, तो उस समय सिंह सो रहा था। इनके नाम-संकीर्तनको सुनकर वह जागा और उसने भयंकर गर्जन किया, फिर इनकी ओर झपटा, पर ये दोनों भयभीत न होकर सहर्ष अपना शरीर समर्पणके लिये तैयार थे। जो सर्वत्र अपने प्रभुको देखता है, उसे किसीसे भय नहीं रहता है। इनकी ऐसी निष्ठा देखकर नृसिंहभगवान् प्रकट हो गये। आपने नमस्कार तो किया, पर सन्तुष्ट नहीं हुए; क्योंकि इनके मन और नेत्रोंमें तो श्रीराधाबल्लभलालजीकी शोभा बसी थी। तब भक्तवांछा-कल्पतरु श्रीराधाबल्लभने प्रकट होकर दर्शन दिया। दोनों भक्त कृतार्थ हो गये।

एक बार श्रीहरिदासजी दर्शनार्थ जगन्नाथपुरीको गये। साथमें अपने अर्चा-विग्रह राधाबल्लभलालको भी ले गये। नित्य-नियमसे अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा-पूजा करते और रसोई बनाकर भोग लगाते, फिर प्रसाद पाते। अन्यत्रका प्रसाद नहीं लेते, मन्दिरके पुजारी जगदीशका प्रसाद लाते तो उसे सिरसे लगाकर स्वीकार कर लेते, पाते नहीं। प्रसादके अपमानको समझकर पण्डा-पुजारी बिगड़ गये, पर आप कुछ नहीं बोले। रातको स्वप्नमें श्रीजगन्नाथजीने पण्डोंसे कहा—'हरिदासजीने प्रसादका अपमान नहीं किया है, यह उनकी अनन्य निष्ठा है।' प्रात:काल पण्डोंने श्रीहरिदासजीके समीप आकर क्षमा-प्रार्थना की। इनकी प्रसादमें ऐसी अनन्य निष्ठा थी।

श्रीगोपालजी तथा श्रीविष्णुदासजी

बाँबोली गोपाल गुननि गंभीर गुना रट।
दच्छिन दिसि बिष्नुदास गाँव कासीर भजन भट॥
भक्तनि सों यह भाय भजैं गुरु गोबिंद जैसे।
तिलक दाम आधीन सुबर संतनि प्रति तैसे॥
अच्युत कुल पन एकरस निबह्यो ज्यौं श्रीमुख गदित।
भक्ति भार जूड़ैं जुगल धर्म धुरंधर जग बिदित॥ १५७॥

अनन्त सद्गुणोंसे युक्त, स्वभावसे परम गम्भीर और हरिगुणगायक भक्तवर श्रीगोपालजी 'बाँबोली' ग्रामके निवासी थे। भजन-भावमें शूरवीर श्रीविष्णुदासजी दक्षिण दिशामें 'काशीर' गाँवके रहनेवाले थे। ये दोनों सन्तों-भक्तोंको गुरु-गोविन्दके समान मानकर उनकी सेवा करते थे। तिलक-कण्ठीधारीमात्रकी आधीनता और सेवा श्रेष्ठ सन्तोंके समान करते थे। भगवान्ने अपने श्रीमुखसे अपनेसे भी अधिक अपने भक्तोंको जैसे पूज्य कहा है, उसीके अनुसार इन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक सर्वदा अच्युतगोत्रीय सन्तोंकी सेवा की। इस प्रकार ये दोनों सन्त भक्तिभावके भारको वहन करनेमें श्रेष्ठ, वैष्णव-धर्मधुरन्धर सकल संसारमें प्रसिद्ध हुए॥ १५७॥

श्रीगोपालजी और श्रीविष्णुदासजीके सम्बन्धमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीगोपालदासजी और श्रीविष्णुदासजी दोनों गुरुभाई थे। साधु-सेवामें दोनों गुरुभाइयोंका हार्दिक परम अनुराग था। ये दोनों साधु-सन्तोंको ऐसे सुख देनेवाले थे कि इन्होंने एक नयी रीति चलायी। निमन्त्रण पाकर जिस किसी महोत्सवमें आप जाते, वहाँ बड़े उल्लासके साथ गाड़ीमें भरकर घी, चीनी और आटा आदि सामान ले जाते तथा कोठारीसे मिलकर गुप-चुप सामानमें अपना सामान मिलवा देते। किसीको इसका पता न चलता। ऐसा करनेमें आपका तात्पर्य यह होता था कि महोत्सवमें किसी प्रकारकी कमी न पड़े और सन्तकी निन्दा न हो। इस भेदको कोई भी जान नहीं पाता था। महोत्सवके बाद सभीको बड़ा सुख होता था कि कोठार-भण्डारमें किसी वस्तुकी कोई कमी नहीं हुई। इन दोनों भक्तोंके गुरुदेव बड़े सिद्ध तथा प्रसिद्ध महात्मा थे। एक दिन इन दोनोंने हाथ जोड़कर विनती करते हुए अपने गुरुदेवसे कहा—भगवन्! बहुत दिनोंसे हमारे मनमें ऐसी उमंग उठ रही है कि (सिद्धसन्तोंके दर्शनार्थ) एक महा-महोत्सव हो। उसमें आपकी कृपा और आज्ञाकी आवश्यकता है। श्रीगुरुजी बोले—'यदि ऐसा विचार है तो शीघ्रातिशीघ्र तैयारी करो।' वे ऐसे सिद्ध थे कि उन्होंने वहींसे बैठे-बैठे चारों ओर जल फेंका और सभी साधु-सन्तोंको न्यौता दे दिया। फिर उन्होंने दोनों शिष्योंसे कहा कि इस उत्सवमें महात्माओंकी भारी भीड़ इकट्ठी होगी, अतः उनके ठहरनेके लिये कुटियाँ (सुन्दर निवास-स्थान) बनवाओ। उत्सव प्रारम्भ होते ही चारों ओरसे सन्तजन पधारे। दोनों गुरु-भाइयोंने उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम और विनती की, फिर उन्हें आदरपूर्वक भोजन-प्रसाद पवाया और वस्त्र भेंटकर सब प्रकारसे प्रसन्न किया। इस प्रकार पाँच दिनोंतक सन्त-समूहके द्वारा अखण्ड कथा-कीर्तन होता रहा।

उत्सवकी समाप्ति होनेपर श्रीगुरुदेवने दोनों शिष्योंको आज्ञा दी कि 'कल प्रातःकाल सम्पूर्ण सन्त-मण्डलीकी परिक्रमा करने जाना। वहाँ परमानन्दस्वरूप श्रीनामदेवजीके दर्शन होंगे। वे उज्ज्वल वस्त्र धारण किये हुए प्रसन्न मनसे अकेले ही जा रहे होंगे। उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम करना। वे तुम्हें परम सिद्ध सन्त श्रीकबीरजीका दर्शन करा देंगे।' श्रीगुरुदेवकी आज्ञा पाकर प्रातःकाल होते ही दोनों गुरुभाई सन्तशालाकी प्रदक्षिणा करने चले। पहले दिव्य शरीरधारी श्रीनामदेवजीके दर्शन हुए। उमंगके साथ दोनों उनके श्रीचरणोंमें लिपट गये। छुड़ानेसे भी चरणोंको नहीं छोड़ रहे थे, तब श्रीनामदेवजीने उन दोनोंसे कहा—जहाँ साधु-

सन्तोंका अपमान होता है, वहाँ हमलोग कभी नहीं आते-जाते हैं और जहाँ उनका सम्मान होता है, वहाँ हमलोग आते-जाते हैं। हमने तुम्हारी सन्तोंमें प्रीति और सेवा करनेकी रीति देखी है, उससे हम बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा कहकर श्रीनामदेवजीने दोनों भक्तोंको गलेसे लगा लिया। फिर कहा—'जाओ, आगे चलनेपर तुम्हें श्रीकबीरजी मिलेंगे।' जैसे ही ये दोनों आगे चले, तैसे ही इन्हें भक्तराज श्रीकबीरजीके दर्शन मिले। दोनोंने चरणोंमें पड़कर प्रणाम किया। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। हँसकर श्रीकबीरजी बोले—'कहो, अभी पीछे किसी सुखदायी सन्तके तुम्हें दर्शन हुए?' इन्होंने उत्तर दिया—'हाँ, महाराज! दर्शन हुए।' इसके पश्चात् श्रीकबीरजीने दोनोंका सम्मान किया। इस प्रकार इन दोनों गुरु-भाइयोंपर सन्तोंकी और गुरुदेवकी पूर्ण कृपा हुई।

श्रीप्रियादासजीने सन्त-सेवाकी इस महिमाका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

रहैं गुरु भाई दोऊ, भाई साधु सेवा हिये, ऐसे सुखदाई, नई रीति लै चलाइयै।
जायँ जा महोछौ में बुलाए हुलसाए अंग संग गाड़ी सामा सो भण्डारी दे मिलाइयै॥
याकौ तातपर्य सन्त घटती न सही जात, बात वे न जाने, सुख मानै मन भाइयै।
बड़े गुरु सिद्ध जग महिमा प्रसिद्ध, बोले बिनै कर जोरि सोई कहिकै सुनाइयै॥ ५८०॥
चाहत महोछौ कियौ हुलसत हियौ नित, लियौ सुनि बोले करौ बेगि दै तयारियै।
चहुँदिशि डार्‌यौ नीर, कर्‌यौ न्यौतो ऐसे धीर, आवै बहु भीर सन्त, ठौरनि सँवारियै॥
आए हरि प्यारे, चारो खूँट तें निहारे नैन, जाय पगु धारे सीस बिनै लै उचारियै।
भोजन कराय दिन पाँच लगि छाय रहे पट पहिराय सुख दियो अति भारियै॥ ५८१॥
आज्ञा गुरु दई 'भोर आवौ फिरि आस पास, महा सुख रासि नामदेवजू निहारियै।
उज्ज्वल बसन तन एकले प्रसन्न मन, चले जाति बेगि सीस पाँयनि पै धारियै॥
बेई दें बताय 'श्रीकबीर' अति धीर साधु, चले दोऊ भाई परदक्षिना विचारियै।
प्रथम निरखि नाम हरखि लपटि पग लगि रहे छोड़त न बोले सुनौ धारियै॥ ५८२॥
साधु अपराध जहाँ होत तहाँ आवत न, होय सनमान सब सन्त तहीं आइयै।
देखि प्रीति रीति हम निपट प्रसन्न भए, लये उर लाय जावौ श्रीकबीर पाइयै॥
आगें जो निहारें भक्तराज दृग धारैं, चलीं बोले हँसि आप कोऊ मिल्यौ सुखदाइयै।
कह्यौ 'हाँ जू' मान दई भई कृपा पूरन यों, सेवा कौ प्रताप कहौ कहाँ लगि गाइयै॥ ५८३॥

श्रीकील्हदेवजीके शिष्यगण

आसकरन रिषिराज रूप भगवान भक्त गुर।
चतुरदास जग अभै छाप छीतर जु चतुर बर॥
लाखै अद्भुत रायमल्ल खेम मनसा क्रम बाचा।
रसिक रायमल गोंदु देवा दामोदर हरि रँग राचा॥
सबै सुमंगल दास दृढ़ धर्म धुरंधर भजन भट।
कील्ह कृपा कीरति बिसद परम पारषद सिष प्रगट॥ १५८॥

श्रीकील्हदेवाचार्यजीकी कृपासे निर्मल कीर्तिवाले इनके सभी शिष्य भगवत्पार्षदोंके समान थे। राजर्षि श्रीआशकरणजी, श्रीरूपदासजी, गुरुभक्त श्रीभगवानदासजी, निर्भयकी छापवाले श्रीचतुरदासजी, चतुरशिरोमणि श्रीछीतरजी, अद्भुत प्रभाववाले श्रीलाखैजी, मन-वाणी और कर्मसे परोपकारी श्रीरायमलजी, श्रीखेमदासजी, रसिक श्रीरायमलजी, श्रीगोंदुदासजी, श्रीदेवादासजी और हरिरंगमें रँगे श्रीदामोदरजी—ये सभी मंगलमय भगवान् श्रीरामके सच्चे सेवक, धर्मधुरन्धर और भजनमें वीर हुए॥ १५८॥

श्रीकील्हदेवजीके इन शिष्योंमेंसे कुछका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीचतुरदासजी

श्रीचतुरदासजी सन्त एवं तीर्थदर्शनार्थ भ्रमण करते रहते थे। एक बार आप एक गाँवके समीप एक वृक्षके नीचे जाकर ठहरे। ग्रामवासियोंने आकर आपसे कहा—महाराज! यहाँ न ठहरकर आप किसी दूसरे स्थानपर ठहरें। यहाँ एक अत्यन्त प्रबल प्रेतका निवास है। आपने पूछा कि वह क्या करता है, तो लोगोंने बताया कि यहाँ रहनेवालेको बड़ा कष्ट देता है। भैंसा, सिंह, हाथी आदि रूपोंको धारणकर डराता है और ऊपर ले जाकर फिर पटक देता है। इस तरह वह किसीको जिन्दा नहीं छोड़ता है, मार ही डालता है। श्रीचतुरदासजी श्रीरामजीके अनन्य भक्त थे, सर्वत्र सबमें अपने प्रभुको ही देखते थे, अतः निडर थे। इन्होंने वहीं आसन लगाया और अपना नियम करके शयन किया। रातमें प्रेतने इन्हें देखा तो इनके तेजसे भयभीत होकर इनसे दूर ही रहा। गाँवके चारों ओर चक्कर काटता और चिल्लाता रहा कि यह जगह तो हमारी है, साधुबाबाने अपना आसन लगा लिया, अब हम कहाँ जायँ? लोगोंने उसका प्रलाप सुना। प्रातः आकर देखा तो श्रीचतुरदासजी अपने भजन-पूजनमें व्यस्त हैं। सभीने इन्हें सिद्ध सन्त मानकर इनका स्वागत-सत्कार किया और इनके उपदेश सुने। आपने कह दिया कि अब यहाँ कभी किसीको प्रेत-बाधा न होगी। कुछ दिन बाद एक दूसरे सन्त आये। उनसे लोगोंने इस प्रसंगको कहा, तो वे समझ गये और बोले कि श्रीकील्हजीके सभी शिष्य ऐसे ही महाप्रतापी हैं। श्रीचतुरदासजी एक बार अग्निमें पड़कर भी नहीं जले। वे सबसे निर्भय हैं, इस चर्चाको सुनकर प्रेत श्रीचतुरदासजीकी शरणमें गया और उनसे भगवन्नामको सुनकर प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया।

श्रीरायमलजी

श्रीरायमलजीका तेज-प्रताप, करनी-करतूति सब कुछ अद्भुत था, अतः इनकी 'अद्भुत' छाप थी। इनके द्वारा अनेक चमत्कार हुए, जिनका साधुजन वर्णन करते हैं। सन्तोंकी सेवा आप बड़े सम्मानके साथ करते थे। एक बार आप ध्यान लगाकर श्रीसीतारामजीकी मानसी-सेवा कर रहे थे। होलीके दिन थे, उद्दण्ड प्रकृतिके कुछ लोग आकर इनपर भी धूल डालने लगे। कुछ देरतक तो आपने मौन रहकर सहन किया। पश्चात् इन्होंने मना किया कि बस, अब हो गया, मेरे भजनमें विघ्न न करो। इतनेपर भी जब लोगोंने नहीं माना, तब आपने उन्हें शिक्षा देनेके लिये किंचित् क्रोध किया और कहा कि किसी सन्तपर फूल बरसाओगे तो तुम्हारे ऊपर भी फूल बरसेंगे और यदि धूल बरसाओगे तो धूल बरसेगी। इतना कहते ही उन लोगोंपर आकाशसे कंकड़ और धूल बरसने लगी। जहाँ गये वहाँ भी बरसती रही, तब वयोवृद्ध ग्रामवासियोंने सबको साथ ले जाकर श्रीरायमलजीसे क्षमा-याचना की, तब धूल बरसनी बन्द हुई। इस प्रकार आपने लोगोंको प्रभावितकर सबको भक्ति-पथका पथिक बनाया।

श्रीखेमदासजी

आप अपने गुरुदेव श्रीकील्हजीकी सेवा बड़ी निष्ठा और श्रद्धाके साथ करते थे। आपमें आलस्य और प्रमादका लेश न था। सर्वदा गुरु-सेवामें रुचि रखते, उसीमें सन्तुष्ट रहते और नित्य सीथ-प्रसाद लेते थे। जब श्रीकील्हदेवजीने स्वेच्छासे शरीरको त्यागकर साकेत-गमन किया। तब आपने उनका सीथ-प्रसाद रख लिया और नित्य उसका सेवन करते रहे। किसी समय वह गुम हो गया तो आपके मनमें बड़ा ही दुःख हुआ। आपने भोजन-पान बन्द कर दिया और अधीर होकर रोते-कलपते रहे। आपके सच्चे प्रेमको देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीकील्हदेवका शरीर धारण करके आये। दर्शन, प्रबोध और सीथ-प्रसाद देकर श्रीरामजीने इनके दुःखको दूर किया। इस प्रकार सच्ची गुरु-भक्तिसे आपको भगवान्‌के दर्शन मिले।

श्रीरूपजी

ये आमेरनरेश श्रीपृथ्वीराजजीके सुपुत्र थे। इनके विवेक और वैराग्यसे प्रभावित होकर लोग इन्हें

'वैरागीजी' कहने लगे। 'रूप वैरागी' इस नामसे आप प्रसिद्ध हुए। इन्होंने किशनगढ़के उत्तरमें अपने नामपर एक नगर बसाया, जिसका नाम रूपनगर है। आप दौसाके जागीरदार थे। वि० सं० १६१९ में दौसामें आकर अकबर बादशाहने इनसे मुलाकात की। इनके पुत्र जगमलजी हुए, वे बादशाहके मनसबदार थे। श्रीभगवानदासजी (छ० १८८) और आशकरणजी आपके भतीजे थे।

श्रीनाथभट्टजी

आगम निगम पुरान सार सास्त्रनि जु बिचार्‌यो।
ज्यों पारो दै पुटहि सबनि को सार उधार्‌यो॥
श्री रूप सनातन जीव भट्ट नारायन भाष्यो।
सो सर्बसु उर साँच जतन करि नीकें राख्यौ॥
फनी बंस गोपाल सुव रागा अनुगा को अयन।
रस रास उपासक भक्तराज नाथ भट्ट निर्मल बयन॥ १५९॥

फणीवंशमें श्रीगोपालदासजीके सुपुत्र श्रीनारायणभट्टजीके शिष्य श्रीश्रीनाथभट्टजी रागानुगा भक्तिके भवन, शृंगाररसके उपासक थे, आपकी वाणी अत्यन्त निर्मल थी और आप भक्तोंमें श्रेष्ठ थे। आपने सभी वेद, पुराण, शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन-मनन करके उसका सार-तत्त्व उसी प्रकार निकाल लिया था, जैसे जड़ी एवं पारेका पुट देकर रसायनी ताँबेसे रसायन—सोना बना लेता है। गोस्वामी श्रीरूपजी, श्रीसनातनजी, श्रीजीवजी और श्रीनारायणभट्टजीने भक्तिके सिद्धान्तका जिस प्रकार निरूपण किया है, उस सम्पूर्ण रहस्यको शुद्ध और सत्य मानकर उसे यत्नपूर्वक आपने अपने हृदयमें धारण किया। पुनः योग्य पात्रोंमें उसे वितरित किया॥ १५९॥

श्रीश्रीनाथजी भट्टके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीनाथभट्टजी बरसाना ऊँचेगाँवके निवासी थे। आपकी वाणी प्रेमकी खानि थी, आप बहुत बड़े विद्वान् थे। एक बार इनके पास एक विवादी कुतर्की व्यक्ति आया। वह बहुतोंको परास्त कर चुका था अतः उसे बड़ा-भारी अहंकार था। उसने इनसे अनेक प्रश्न किये, कई प्रश्नोंके आपने उत्तर दिये, कई प्रश्नोंको ही असिद्ध कर दिया। आप केवल विद्वान् ही नहीं महान् भगवद् भक्त थे, अतः बड़े-बड़े विद्वान् भी भक्तिकी शक्तिको देखकर आपके सामने नत-मस्तक हो जाते थे। आपके सप्रमाण अकाट्य उत्तरोंसे उसकी बोलती बन्द हो गयी। उसे तामसी भैरवकी सिद्धि थी। पराजित और लज्जित होकर उसने भैरवजीका ध्यान किया। झट उसे भैरवका आवेश हो गया। अब वह पुनः तर्क-वितर्क करने लगा। आपने पुनः उसे हरा दिया। हारकर भी हार न माननेपर आपने झट उसकी चोटी पकड़ ली। अब तो वह विवश हो गया और क्षमा-याचना करते हुए कहने लगा कि अब हमें छोड़ दीजिये, अब मैं कभी हरिभक्तोंसे विवाद नहीं करूँगा। ऐसा कहकर भैरवजी और उस व्यक्तिने आपके श्रीचरणोंकी शरण ली। वैष्णवी शिक्षा-दीक्षा लेकर कृतार्थ हुआ। सद्भावनासे सभी सन्तोंकी सेवा करने लगा। आप बरसाना ऊँचेगाँवमें रहकर भगवद्भजन किया करते थे।

श्रीकरमैतीजी

नस्वर पति रति त्यागि कृष्न पद सों रति जोरी।
सबै जगत की फाँसि तरकि तिनुका ज्यों तोरी॥
निरमल कुल काँथड़्या धन्य परसा जिहिं जाई।
बिदित बृँदाबन बास संत मुख करत बड़ाई॥

संसार स्वाद सुख बांत करि फेर नहीं तिन तन चही।
कठिन काल कलिजुग्ग में करमैती निकलँक रही॥ १६०॥

श्रीकरमैतीजी इस घोर कलिकालमें उत्पन्न होकर भी सर्वथा निष्कलंक रही। इन्होंने अपने शरीरके पतिके प्रति नश्वर प्रेमको छोड़कर आत्माके पति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीचरणोंमें सच्चा प्रेम किया। अपने तर्कोंके द्वारा सोच-विचारकर संसारके सभी बन्धनोंको तोड़ डाला। निर्मल कुल काँथड़्या और उनके पिता श्रीपरशुरामजी धन्य हैं, जिन्होंने श्रीकरमैती-सरीखी भक्ता पुत्रीको जन्म दिया। सर्वविदित है कि श्रीकरमैतीजीने घरको छोड़कर श्रीवृन्दावनधाममें निवास किया। सन्तजन इनके त्याग, वैराग्य और भक्तिकी बड़ाई करते थे। इन्होंने सांसारिक विषयोंके भोगोंसे प्राप्त होनेवाले सभी सुखोंको वमनकी तरह त्याग दिया॥ १६०॥

श्रीकरमैतीजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकरमैतीबाई शेखावत राजाके पुरोहित श्रीपरशुरामजीकी पुत्री थीं। इनका निवास-स्थान खँड़ेला (सीकर—राजस्थान) था। करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक मनोहर श्रीश्यामसुन्दर श्रीकरमैतीबाईके हृदयमें बस गये थे। इसलिये इन्हें घर और घरके काम-काज सब भूल गये थे। नित्य भगवान्‌की मानसी-सेवा करती थीं। जब ये ध्यान लगाकर बैठ जातीं तो कई प्रहर बैठे बीत जाते। इनके मन और बुद्धिकी वृत्ति सर्वदा श्रीकृष्णकी शोभामें पगी रहती थी। विवाह हो चुका था। उसके कुछ दिन बाद आपके पतिदेव गौना करानेके लिये आये। इससे इनके पिता-माताके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बड़े चावके साथ वस्त्र और आभूषणोंका संग्रह करने लगे, परंतु गौनेकी चर्चा सुनकर श्रीकरमैतीजी बड़े सोच-विचारमें पड़ गयीं कि अब हमको क्या करना चाहिये? हड्डी और चमड़ेसे बना यह मानव-शरीर प्रेम करनेके योग्य नहीं है, अतः इसको त्याग देना चाहिये। पुनः श्रीकरमैतीजी अपने मनको समझाती हुई कहने लगीं—'अरे मन! अब तू मत सो, जाग जा। जागनेसे ही तेरे भीतरके मैल धुलेंगे। श्रीश्यामसुन्दरकी प्रीति ही सच्ची और सुख देनेवाली है। संसारमें प्रीति मिथ्या और दुःख देनेवाली है। यदि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी चाह है तो लोक-लज्जाकी क्या आवश्यकता?' इस प्रकार श्रीकरमैतीजीने मनसे पतिदेवके साथ न जानेका निश्चय किया, क्योंकि ये पूर्णरूपसे कृष्णानुरागके रंगमें रँगी हुई थीं। इनके साथ वही एक श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही थे और कोई न था। श्रीकरमैतीजीकी बुद्धि भक्तिरससे सरस हो गयी थी, अतः वे सबके सो जानेपर आधी-रातको घरसे निकलीं। सबेरा होते ही गाँव-घरमें सर्वत्र शोर मच गया कि 'करमैतीका पता नहीं है।' पिता-माताको बड़ा भारी दुःख हुआ, उन्होंने जहाँ-तहाँ ढूँढ़ा तथा पता लगानेके अनेक उपाय किये। बहुत-से लोग चारों ओर दौड़े। जब श्रीकरमैतीजीने देखा कि मुझे ढूँढ़नेवाले घुड़सवारलोग अब बिलकुल समीप आ गये हैं, तब उन्होंने वहींपर मरे पड़े हुए एक ऊँटके कंकालमें अपने शरीरको छिपा दिया। भगवान्‌में मन लगा हुआ था, अतः उन्हें विषयी संसारकी दुर्गन्ध ऐसी खराब लगी कि उसकी तुलनामें ऊँटके कंकालकी वह सड़ी दुर्गन्ध सुगन्धके समान अच्छी लगी।

श्रीकरमैतीजीको ऊँटके कंकालमें ही रहते हुए तीन दिन व्यतीत हो गये। तीन दिनके बाद चौथे दिन ऊँटके कंकालसे निकलकर चलीं तो आपको तीर्थयात्रियोंका साथ मिल गया। उनके साथ आप श्रीगंगाजीके किनारे आयीं। वहाँ स्नानकर आपने अपने सब आभूषण ब्राह्मणोंको दान कर दिये। उसके पश्चात् आप श्रीधाम वृन्दावन आ गयीं। आपके पिता श्रीपरशुरामजी आपको ढूँढ़ते हुए मथुरा आये। वहाँ लोगोंने श्रीकरमैतीजीका पता बताया। तदनुसार मथुराके पण्डोंके साथ आप श्रीवृन्दावन गये। उन दिनों ब्रह्मकुण्डपर अत्यन्त घना जंगल था। वहाँ एक वटवृक्षके ऊपर चढ़कर देखनेसे श्रीकरमैतीजी दिखलायी पड़ीं। वे प्रिय-विरहमें बैठी रुदन कर रही थीं। उनके आँसुओंसे वहाँकी पृथ्वी भीग गयी थी।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकरमैतीजीके इस श्रीकृष्ण-प्रेमका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

शेषावति नृप के पुरोहित की बेटी जानौ, बास हो खँडेला करमैती सो बखानियै।
बस्यो उर श्याम अभिराम कोटि काम हूँ ते, भूले धाम काम सेवा मानसी पिछानियै॥
बीत जात जाम तन बाम अनुकूल भयौ, फूलि फूलि अंग गति मति छबि सानियै।
आयौ पति गौनो लैन, भायौ पितु मातु हिये, लिये चित चाव पट आभरन आनियै॥ ५८४॥
पर्‌यौ सोच भारी कहा कीजिये बिचारी, हाड़ चाम सों सँवारी देह रति के न काम की।
तातें देवौ त्यागि मन सोवै जनि, जाग अरे, मिटै उर दाग एक सांची प्रीति स्याम की॥
लाज कौन काज जौपै चाहै ब्रजराज सुत, बड़ोई अकाज, जोपै करै सुधि धाम की।
जानी भोर गौनो होत, सानी अनुराग रंग, संग एक वही, चली भीजी मति बाम की॥ ५८५॥
आधी निसि निकसी यों बसी हिये मूरति सो, पूरति सनेह तन सुधि बिसराई है।
भोर भये सोर पर्‌यौ पर्‌यौ पितु मातु सोच, कर्‌यौ लै जतन ठौर ठौर ढूँढ़ि आई है॥
चारों ओर दौरे नर, आये ढिग ढुरि जानि, ऊँट के करंक मध्य देह जा दुराई है।
जग दुरगन्ध कोऊ ऐसी बुरी लागी, जामें वह दुरगन्ध सो सुगन्ध सी सुहाई है॥ ५८६॥
बीते दिन तीन वा करंक ही में संक नहीं, बंक प्रीति रीति यह कैसें करि गाइयै।
आयौ कोऊ संग ताही संग गंग तीर आई, तहाँ सो अन्हाई दै भूषन बन आइयै॥
ढूँढ़त परसराम पिता मधुपुरी आये, पते लै बताये जाय माथुर मिलाइयै।
सघन बिपिन ब्रह्मकुण्ड पर, बर एक, चढ़ि करि, देखी, भूमि अँसुवा भिजाइयै॥ ५८७॥

श्रीकरमैतीजीके पिता वटवृक्षसे नीचे उतरकर आये। उन्होंने अपनी पुत्रीकी वेश-भूषा और श्रीकृष्ण-प्रेमको देखा और उसके चरणोंमें लिपट गये। पुनः धैर्य धारणकर बोले—'बेटी! इस प्रकार गौनेके अवसरपर घरसे छिपकर तुम्हारे भाग आनेसे संसारमें मेरी नाक कट गयी। मैं मुख दिखानेके योग्य नहीं रह गया। अब तुम चलकर घरमें ही रहो, जिससे संसारमें हमारी हँसी और निन्दा जो हुई है, वह मिट जाय। तुम ससुराल मत जाना, घरमें रहकर भगवान्‌की सेवामें मन लगाना। यहाँ इस घोर वनमें कोई बाघ-सिंह तुम्हारे शरीरको नष्ट कर देगा। मुझे इस बातका बड़ा डर लग रहा है। अतः अपने घर चलो और मृतप्राय मुझे तथा अपनी माताको जीवनदान दो।' यह सुनकर श्रीकरमैतीबाईने कहा—'पिताजी! आपने सत्य कहा। बिना भगवद्भक्तिके शरीर मृतक ही समझिये। यदि आप जीवन चाहते हैं तो भगवान्‌में भक्ति और उनकी कीर्तिका गान कीजिये।'

श्रीकरमैतीजी पुनः पिताजीसे बोलीं कि आपने जो यह कहा कि 'मेरी नाक कट गयी।' नाक कटे तो तब जब हो, जब है ही नहीं तो कटेगी क्या? नाक अर्थात् प्रतिष्ठा तो केवल भगवद्-भक्ति है, आप अपने मनमें विचारिये—पचास वर्षोंसे आप विषयोंमें आसक्त हैं, फिर भी आपको उनसे वैराग्य नहीं हुआ। भोगे हुए विषयोंको ही बार-बार भोग रहे हैं। मैंने सब भोगोंको देखते हुए भी उनको नहीं देखा। मैंने तो केवल एक श्यामसुन्दरको देखा है, अतः अब संसारकी ओर मेरी दृष्टि नहीं जा सकती है। आप भी सब कामोंको छोड़कर भगवान्‌की सेवामें ही तन-मन और धनको लगाइये। श्रीकरमैतीजीके इस उपदेशको सुनकर पिता श्रीपरशुरामजीका अज्ञान उसी समय नष्ट हो गया। जब वे घरको चलने लगे, तब श्रीकरमैतीजीने श्रीयमुनाजीसे प्राप्त उन्हें एक कृष्णभगवान्‌की मूर्ति दी, उसे लेकर वे घरको चले आये। श्रीकरमैतीजीने जो कुछ कहा, वह उनके हृदयमें आ गया।

श्रीपरशुरामजी रातको घरमें आये। बड़े चावके साथ उन्होंने घरमें भगवत्सेवाको पधराया और मन लगाकर सेवा करने लगे। अब उन्हें भगवत्कैंकर्य ही अच्छा लगता था। कहीं आना-जाना या लोगोंसे मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता था। कुछ दिनोंके बाद राजाको अपने पुरोहित श्रीपरशुरामजीकी याद आयी, तब उसने लोगोंसे पूछा—'पण्डितजी कहाँ हैं?' यह सुनकर किसीने राजाको बताया कि अब वे अपने घरमें

ही भगवत्सेवा और सत्संगमें मग्न रहते हैं। ऐसा सुनकर राजाको श्रीपरशुरामजीके प्रति अत्यन्त अनुराग हुआ। तब उसने एक सेवकको भेजकर उनका समाचार मँगवाया। श्रीपरशुरामजीने राजसेवकसे कहा—तुम जाकर राजासे कह दो कि—हे राजन्! मैं (आपका पुरोहित) यहाँ अपने घरपर रहता हुआ ही आपको आशीर्वाद देता हूँ, भगवत्-चरणोंमें तुम्हारा प्रेम बढ़े। सानन्द सकुशल रहो। परंतु अब दरबारमें नहीं आ सकता। यह सुनकर राजाके मनमें श्रीपरशुरामजीके प्रति बड़ा प्रेम हुआ और उनके दर्शनोंकी इच्छा हुई, तब राजा आया।

राजाने श्रीपरशुरामजीका अद्भुत प्रेम देखा और उनकी सेवाकी रीति देखी। राजाने श्रीकरमैतीबाईजीका समाचार पूछा। तब श्रीपरशुरामजीने रोते-रोते सब बात कही कि 'वे तो भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके प्रेमरंगमें रँग गयी हैं।' राजाके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे, उसने कहा—'मुझे श्रीवृन्दावन जाकर दर्शन करनेकी आज्ञा दीजिये।' श्रीपरशुरामजीने मना किया, तब राजाने पुनः कहा—मुझे जाने दीजिये, मैं जाकर समझा-बुझाकर यहाँ ले आऊँगा तो मेरा बड़ा सौभाग्य होगा, अन्यथा दर्शन कर आऊँगा। मेरे मनमें दर्शनकी बड़ी भारी इच्छा हो रही है। ऐसा कहकर राजा श्रीवृन्दावनको आया और उसने यहाँ आकर देखा कि श्रीकरमैतीजी यमुनाजीके तटपर खड़ी हैं, उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है। उनका रूप कुछ और ही प्रकारका हो गया है। प्रेमके उमंगमें डूब रही हैं। अब राजा कहें तो क्या कहें? राजाने प्रार्थना की कि 'कुछ सेवा करनेकी आज्ञा दो।' श्रीकरमैतीजीने कहा—'तुम्हारी किसी भी प्रकारकी सेवाकी आवश्यकता नहीं है।' इनके बार-बार बहुत मना करनेपर भी राजाने अपनी इच्छासे ब्रह्मकुण्डके निकट ही एक कुटी बनवा दी और उसके बाद अपने देशको लौट आये। श्रीकरमैतीजीके दिव्य भगवत्प्रेम एवं उपदेशको स्मरण करके राजा भी प्रेमरंगमें रँग गया और भगवद्भजन करने लगा।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकरमैतीजीके इस दिव्य कृष्ण-प्रेमका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

उतरि कै आय रोय पाँय लपटाय गयौ, 'कटी मेरी नाक जग मुख न दिखाइयै।
चलौ गृह बास करो लोक उपहास मिटै, सासु घर जावौ मत सेवा चित लाइयै॥
कोऊ सिंह व्याघ्र अजू बपु कों बिनास करै, त्रास मेरे होत, फिरि मृतक जिवाइयै'।
बोली कही सांच बिन भक्ति तन ऐसो जानौ जोपै जियौ चाहौ, करो प्रीति जस गाइयै॥ ५८८॥
कही तुम कटी नाक, कटै जो पै होय कहूँ, नाक एक भक्ति नाक लोक में न पाइयै।
बरस पचास लगि बिषै ही में बास कियौ, तऊ न उदास भये चबेकों चबाइयै॥
देखे सब भोग मैं न देखे, एक देखे श्याम, ताते तजि काम तन सेवा में लगाइयै।
रात तें ज्यौं प्रात होत, ऐसे तम जात भयो, दयौ लै सरूप प्रभु, गयौ, हिये आइयै॥ ५८९॥
आये निसि घर, हरिसेवा पधराय, चाय मन को लगाय, वही टहल सुहाई है।
कहूँ जात आवत न भावत मिलाप कहूँ, आप नृप पूछे द्विज कहाँ? सुधि आई है॥
बोल्यौ कोऊ जन धाम स्याम संग पागे सुनि, अति अनुरागे, बेगि खबर मँगाई है।
कहौ तुम जाय 'ईश इहांई असीस करौ', कही भूप आयौ हिये चाह उपजाई है॥ ५९०॥
देखी नृप प्रीति रीति, पूछी, सब बात कही, नैन अश्रुपात, 'वह रँगी श्याम रंग मैं।
बरजत आयौ भूप 'जायके लिवाय ल्याऊँ पाऊँ जोपै भाग मेरे' बढ़ी चाह अंग मैं॥
कालिन्दी के तीर ठाढ़ी नीर दृग, भूप लखी, रूप कछु औरै कहा कहैं वे उमंग मैं।
कियौ मने लाख बेर ऐपै अभिलाष राजा कीनी कुटी, आए देस, भीजे सो प्रसंग मैं॥ ५९१॥

श्रीकरमैतीजीपर प्रभुकृपा

श्रीकरमैतीजीकी भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्य निष्ठा थी। एक बार वे भजन-ध्यानमें इस प्रकार मग्न रहीं कि उन्होंने अठारह दिनतक कुछ भी नहीं खाया-पीया। इनके शरीरको अत्यन्त शिथिल देखकर स्वयं

श्यामसुन्दर एक सन्तका रूप धारण करके आये और बोले—बाई! लो, यह प्रसाद पा लो। इन्होंने हाथ-जोड़कर कहा—महाराज! कृपा करके ऐसा दिव्य-प्रसाद दीजिये, जिससे फिर कभी भूख-प्यास भगवत्स्मरणमें बाधा न करे। सन्तरूपधारी भगवान्ने कहा—ऐसा ही होगा। प्रसाद पाकर देखो। एक ग्रासको लेते ही श्रीकरमैतीजीके मनमें बड़ा आह्लाद हुआ, वे प्रभुके चरणोंमें पड़ गयीं। प्रभुने दर्शन देकर कृतार्थ किया। तबसे इन्हें भूख-प्यास कभी बाधा न करती और प्रभुकी झाँकी होती ही रहती। इस प्रकार तपस्विनी करमैती देवीने प्रभु-कृपासे महान् तप करके प्रेममय वृन्दावनधामको प्राप्त किया।

श्रीखड्गसेनजी कायस्थ

गोपी ग्वाल पितु मातु नाम निरनै कियो भारी।
दान केलि दीपक्क प्रचुर अति बुद्धि उचारी॥
सखा सखी गोपाल काल लीला में बितयो।
कायथ कुल उद्धार भक्ति दृढ़ अनत न चितयो॥
गौतमी तंत्र उर ध्यान धरि तन त्याग्यो मंडल सरद।
गोबिंदचंद गुन ग्रथन को खडगसेन बानी बिसद॥ १६१॥

श्रीराधागोविन्दचन्द्रके गुणगणोंको वर्णन करनेमें श्रीखड्गसेनजीकी वाणी अति उज्ज्वल थी। आपने व्रजकी गोपियों और ग्वालोंके पिता-माताओंके नामोंका ठीक-ठीक निर्णय किया। इसके अतिरिक्त 'दानकेलिदीपक' आदि काव्योंका निर्माण किया, जिनसे यह मालूम होता है कि आपको साहित्यका प्रचुर ज्ञान था और आपकी बुद्धि प्रखर थी। श्रीराधागोपालजी, उनकी सखियाँ और उनके सखाओंकी लीलाओंको लिखने और गानेमें ही आपने अपना समय व्यतीत किया। कायस्थ वंशमें जन्म लेकर आपने उसका उद्धार किया। आपके हृदयमें भक्ति दृढ़ थी, अतः अन्यत्र (सांसारिक विषयोंकी ओर) नहीं देखा। गौतमीतन्त्रमें वर्णित विधिसे शरत्पूर्णिमाके महारासका हृदयमें ध्यान धारणकर आपने शरीरका परित्याग किया॥ १६१॥

श्रीखड्गसेनजी कायस्थके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

ग्वालियर-निवासी खड्गसेनका उल्लेख 'भक्तमाल' और 'रसिक-अनन्यमाल' में मिलता है, जिनके आधारपर कुछ विद्वान् दोनों खड्गसेनको भिन्न मानते हैं, जबकि दोनोंमें कायस्थकुलोत्पन्न और भक्त होनेकी समानता है। वस्तुतः उक्त दोनों ग्रन्थोंमें वर्णित खड्गसेन एक ही हैं।

मिश्रबन्धुओंने इनका जन्म सं० १६६० (१६०३ ई०) एवं रचनाकाल सं० १६८५ (१६२८ ई०) माना है, पर किसी प्रामाणिक साक्ष्यके बिना यह अनुमानमात्र है। इनकी 'दानलीला' का रचनाकाल १६२८ ई० है। अतः यही इनका उपस्थिति-काल माना जा सकता है। कहते हैं, खड्गसेनजीने नीचे लिखे पदको गाते-गाते अपना शरीर प्रभुपर निछावर किया था—

द्वै गोपिन बिच-बिच नँदलाला।
करत नृत्य संगीत भेद गति गुंजनि गरब मराला॥
फहरत अंचल चंचल कुंडल, थहरत है उरमाला।
मध्य रली मुरली मोहन धुनि, गान बितान छयौ तिहि काला॥
चलिय झमकि झंकार बलय मिलि, नूपुर किंकिनि जाला।
देव बिमाननि कौतुक मोहे, लखि भौ मदन, बिहाला।
खड्गसेन प्रभु रैन सरद की, बाढ़ी रंग रसाला॥

इससे खड्गसेनके भक्तिमय जीवनके साथ ही उनके देहावसान-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। छप्पयकी पंक्ति '**तनु त्यागो मंडल सरद**' से रासमण्डलके आनन्दमें मग्न होकर इनके गोलोकवासी होनेका पता चलता है। नागरीदासजीकी 'पदप्रसंगमाला' से इस तथ्यका समर्थन होता है—
'एक समै सरदकी पूरनमासी कौं रासमंडल चौंतरापर रासमें एक पद बनावत हुते, सो जब भोग दै चुके, तब अपनेई पद पै रीझ प्रेम विवस ह्वै देह छोड़ दई।'

भक्तवर खड्गसेनजी ग्वालियरमें निवास करते थे। आप रासके समाज अर्थात् रासलीलाके आयोजन यथासमय करते ही रहते थे। एक बार शरत्पूर्णिमाकी रात्रिमें महारास हो रहा था। उस दिन उनके ऊपर प्रेमका बड़ा भारी गाढ़ा रंग चढ़ गया। वह भावावेश बढ़ता ही गया, आँखोंमें रासविहारिणी-बिहारीजीकी सुन्दर छवि निरन्तर समाती ही चली गयी। '**तत्-थेई**' कहकर नृत्य और गान करती हुई प्रिया-प्रियतमकी सुन्दर जोड़ीको आपने अपलक नेत्रोंसे भलीभाँति निहारा तो उसी समय मानसिक भावनासे नश्वर शरीरको त्यागकर युगलकिशोरकी नित्यलीलामें पहुँच गये। इस प्रकार श्रीखड्गसेनजीने अपार दिव्य-सुखका अनुभवकर तथा लीलाबिहारीकी छविपर रीझकर अपने शरीरको न्यौछावर कर दिया। प्रेम ही सत्य है, यह और उसके निभानेकी रीतिको आपने प्रत्यक्ष दिखला दिया। रास-रसके प्रेमी-भावुकोंने जब आपका प्रकट-प्रेम देखा तो उनके मन भी रास-रसमें सराबोर हो गये। इस प्रकार प्रेम करना और शरीर त्यागना बहुत प्रिय लगा।

श्रीप्रियादासजीने श्रीखड्गसेनजीके इस प्रभुप्रेमका अपने कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

ग्वालियर बास, सदा रास कौ समाज करें, सरद उजारी अति रंग चढ़्यौ भारी है।
भाव की बढ़नि दृग रूप की चढ़नि ततथेई की रढ़नि जोरी सुन्दर निहारी है॥
खेलन में जाय मिले त्यागि तन भावना सों झेलत अपार सुख, रीझि देह वारी है।
प्रेम की सचाई ताकी रीति लै दिखाई भई भावुकनि सरसाई, बात लागी प्यारी है॥ ५९२॥

साम्प्रदायिक स्रोतोंके अनुसार ये भानुगढ़के राजा माधोसिंहके दीवान थे। एक दिन इनके यहाँ वृन्दावनके एक रसिक सन्त पधारे। उन्होंने इनको श्रीहित धर्मका उपदेश दिया। रसिक सन्तसे इष्ट और धामका रहस्य सुनकर इन्होंने श्रीराधावल्लभलालके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर दिया और वृन्दावन आकर श्रीहिताचार्यसे दीक्षा ले ली। श्रीश्रीजीकी शरण ग्रहण करते ही गृहस्थी एवं जगत्के प्रति इनका दृष्टिकोण एकदम बदल गया। श्रीश्यामा-श्यामका अनुपम रूप-माधुर्य इनके नेत्रोंमें झलक उठा एवं दसों दिशाएँ आनन्दसे पूरित हो गईं। ये अधिक-से-अधिक समय नामवाणीके गानमें लगाने लगे। इनका यश चारों ओर फैल गया और दूर-दूरसे साधु-सन्त आकर इनका सत्संग प्राप्त करने लगे। उनकी सेवा-शुश्रूषामें ये मुक्त हस्तसे व्यय करने लगे।

इनको अन्धाधुन्ध खर्च करता देखकर बहिर्मुख लोगोंमें कानाफूसी होने लगी और कुछ दिन बाद उन लोगोंने राजाके कान भरना प्रारम्भ कर दिया। उनका कहना था कि दीवानजीको वेतन तो सीमित ही मिलता है, किंतु व्यय असीमित करते हैं। ऐसी स्थितिमें राजकोषके अतिरिक्त ये अन्यत्र कहाँसे धन पा सकते हैं? राजा माधोसिंहकी समझमें यह बात आ गयी कि दीवानजी मेरा ही धन खर्च कर रहे हैं। उन्होंने तत्काल इनको बुलवाया और अत्यन्त कुपित होकर इनसे कहा, 'तूने मेरी चोरी की है। या तो तू एक लाख रुपया दण्डमें दे अथवा मैं तुझे फाँसीपर लटकवा दूँगा।' खड्गसेनजीने राजाको समझानेकी बहुत चेष्टा की। इन्होंने कहा—'आप राजकोषकी जाँच करा लीजिये और यदि कोई गड़बड़ी निकले तो मुझे दण्ड दीजिये। अपराधके बिना दण्ड देना उचित नहीं है।'

किंतु राजाने इनकी एक नहीं सुनी और कारागृहमें डाल दिया। इनका भोजन-पानी बन्द कर दिया गया। कहते हैं कि रातको राजा जैसे ही सोया, उसको यमके दूतोंने आकर घेर लिया और अनेक प्रकारसे डराना आरम्भ कर दिया। उसके हाथ-पैरोंमें हथकड़ी-बेड़ी डाल दी। राजा कष्टसे घबड़ाकर रोने लगा।

यमदूतोंने उससे कहा—'तूने एक निरपराध हरिभक्तको बन्धनशालामें डाल दिया है, तू उनको शीघ्र मुक्त कर दे, अन्यथा तेरी खैर नहीं है।'

राजा मृतकतुल्य मूर्च्छित पड़ा था। यह देखकर उसके उन नौकर-चाकरोंको भी बहुत दुःख हुआ, जिन्होंने खड्गसेनकी शिकायत की थी। उन लोगोंने एक होकर विचार किया कि खड्गसेनके प्रति किये गये अपराधसे ही राजाको यह महान् कष्ट मिल रहा है। अतः उनको ही राजाके पास ले चलना चाहिये। वे तीसरे दिन खड्गसेनको लेकर राजाके पास पहुँचे। उनको देखते ही यमदूत राजाके पाससे हट गये और राजा स्वस्थ हो गया। खड्गसेनके इस प्रभावको देखकर राजा लज्जित हो गया और उसने उठकर उनके चरण पकड़ लिये। इस घटनाके बादसे राजा उनका बहुत आदर करने लगा। कोई राज्य-कार्य आनेपर वह स्वयं इनके घर चला जाता था, इनको अपने यहाँ नहीं बुलाता था। वह इनका भगवान्‌के समान आदर करने लगा। कुछ दिनों बाद उसने इनसे दीक्षा लेनेकी इच्छा प्रकट की। खड्गसेनने उसको श्रीवृन्दावन ले जाकर दीक्षा दिलवा दी। खड्गसेनजीके सत्संगसे राजाके जीवनमें आमूल परिवर्तन हो गया। चरित्रकार श्रीभगवत मुदितने सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्यको एकमात्र सत्संग ही सुधार सकता है। सत्संगसे आनन्दकी प्राप्ति होती है। सत्संग सम्पूर्ण मंगलोंका मूल है और सत्संगमें ही भगवान्‌का सत्यस्वरूप प्रकाशित होता है। सत्संगसे विश्वासकी दृढ़ता होती है और आध्यात्मिक सुखोंका प्रकाश होता है। सत्संगमें ही रास-विलास है और सत्संगमें ही श्रीवृन्दावन-वास है।

खड्गसेनने अपना शेष जीवन सत्संगमें ही व्यतीत किया। चौथी अवस्था आनेपर इनकी बुद्धि एवं शारीरिक बल सवाये हो गये और ये श्रीराधावल्लभलालकी रसात्मिका सेवामें कालयापन करने लगे। इनका महाप्रयाण आराध्यकी भावसेवा करते ही हुआ।

श्रीगंगग्वालजी

स्यामा जू की सखी नाम आगम बिधि पायो।
ग्वाल गाय ब्रजगाँव पृथक नीकें करि गायो॥
कृष्नकेलि सुख सिंधु अघट उर अंतर धरई।
ता रस में नित मगन असद आलाप न करई॥
ब्रजबास आस ब्रजनाथ गुरु भक्त चरन रज अननि गति।
सखा स्याम मन भावतो गंग ग्वाल गंभीरमति॥ १६२॥

श्रीगंगग्वालजी भगवान् श्यामसुन्दरके प्रिय सखा थे, आपकी बुद्धि अति गम्भीर थी। आपने पुराण एवं धर्मग्रन्थोंसे ढूँढ़कर श्रीराधिकाजीकी सखियोंके नाम, ग्वालबालोंके नाम, गायोंके नाम एवं व्रजके गाँवोंके नाम भलीभाँति अलग-अलग वर्णन किये। श्रीराधाकृष्णके विहारका जो अपार सुख-समुद्र आपने अपने हृदयमें धारण किया, सदा उसी रसमें डूबे रहते थे। व्यर्थ एवं असत्य वार्तालाप कभी नहीं करते थे। आप व्रजभूमिमें निवास करते थे एवं मनमें व्रजनाथ गुरु और व्रजनाथ श्रीकृष्णकी कृपाकी आशा रखते थे। गुरुदेव और हरिभक्तोंकी चरणरजमें इनका अनन्य भाव था, उसीसे अपनी सद्‌गति चाहते थे॥ १६२॥

श्रीगंगग्वालजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीगंगग्वालजी गूजर गौड़ा ब्राह्मण थे। सन्त-सेवामें आपका बड़ा-भारी अनुराग था। उनकी सेवा और सत्संगमें ही अधिक मन लगाते थे। इनका यह स्वभाव बड़े भाईको अच्छा नहीं लगता था। सन्त-सेवामें अन्न-धनका व्यय उन्हें असह्य था। एक बार कई सन्त पधारे, बड़े भाईकी आँख बचाकर आप घरसे सीधा-सामान चुरा ले गये और सन्तोंको भोजन कराया। यह जानकर बड़े भाईने बड़ा क्रोध किया। तुम्हें जानसे

मार डालूँगा। ऐसा कहकर वह मारनेके लिये दौड़ा—ये बड़ी जोरसे भागे और एक कुएँमें कूद पड़े। सन्त-सेवासे सन्तुष्ट प्रभुने अधरमें ही इन्हें रोक लिया। इनके शरीरमें बिलकुल चोट नहीं आयी। भगवान्ने इन्हें वहीं दर्शन दिया और कहा कि मैं तुम्हारी सन्त-सेवा-भावनामें सन्तुष्ट हूँ, जो चाहो सो वर माँग लो। आपने कहा—प्रभो! आपकी ब्रजलीला और ब्रजधामका हमें सदा साक्षात्कार रहे। भगवान्ने एवमस्तु कहकर कहा कि तुम तो मेरे पुराने सखा हो, मेरी लीलाके परिकर हो। इस प्रकार श्रीगंगग्वालजी कुएँमें भगवद्दर्शन और संभाषणका सुख ले रहे थे। इनके कुएँमें कूद पड़नेपर बड़े भाईका क्रोध शान्त हो गया। लोगोंको बुलाकर इन्हें कुएँमें ढूँढ़ने लगा। तीन प्रहरतक सभी लोग परेशान रहे, पर आप किसीको नहीं मिले; क्योंकि आप तो भगवान्के निकट थे। भगवान्ने इन्हें सब प्रकारसे सन्तुष्ट करके कुएँसे उछाल दिया तो आप झट बाहर आ गये। आपके शरीरमें अपार तेज, मनमें परम सन्तोष था। बड़े भाईके प्रति इन्होंने स्नेह और कृतज्ञता व्यक्त की। इनके इस चमत्कारसे घरके भाई आदि सभी भक्त हो गये और सन्त-सेवा करने लगे। आप निर्द्वन्द्व होकर ब्रज-महिमा और लीलाओंका गान करने लगे तथा पूर्वदृष्ट रूपके ध्यानमें सदा मग्न रहने लगे। सर्वेश्वर भक्तमालमें आपका यह कवित्त लिखा है—

कर्क पाप पुंजन की पल में पलायमान, षर्क खिन्नता की षंडे जाके नेक छूजिये।
नर्क के निकेत नोकदार ते निकासि नाषै, पुर्षन की पंगति कितेकौ कहूँ हूजिये॥
सर्क जाय संकट समूह ग्वाल कवि भाषै, गर्क करै मोद मैन और विधि दूजिये।
तर्क के वितर्क के औ फर्क के मिटैया ऐसे, स्वामी श्रीनिम्बार्क जू के पद्म पद पूजिये॥

एक बार दिल्लीका बादशाह श्रीवृन्दावन आया। उसने इच्छा की कि कोई हमें साराँग राग सुनाये। लोगोंने कहा—वर्तमान समयमें साराँग रागके सर्वश्रेष्ठ गायक श्रीगंगग्वालजी हैं। बादशाहकी आज्ञासे सिपाही लोग बुलाने गये, परंतु आपने अस्वीकार कर दिया, तब वे जबरदस्ती आपको पकड़कर लाये। उस समय आपके साथ बल्लभ नामके एक गायक और थे। दोनोंने स्वर मिलाकर साराँग रागका आलाप किया तो उस समय रागका रंग सर्वत्र व्याप्त हो गया। बादशाहके समेत सभी लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। लोगोंके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। रीझा हुआ बादशाह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और उसने प्रार्थना की कि आप हमारे साथ दिल्ली चलिये, परंतु श्रीगंगग्वालने स्वीकार नहीं किया और कहा कि 'ब्रजभूमि ही हमारा जीवन है। अतः मैं अन्यत्र नहीं जा सकता।' अन्तमें बादशाह आपको नजरकैद करके अपने साथ दिल्ली लाया। वहाँ आनेपर भक्तवर श्रीहरीदासजी तूँवरने आपको छुड़वा दिया। तब आप पुनः ब्रजभूमिमें आ गये। मरे हुएको जैसे प्राणोंका लाभ हुआ हो, ऐसी प्रसन्नता आपको हुई।

श्रीप्रियादासजीने आपकी इस ब्रजनिष्ठाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

पृथ्वीपति आयौ वृन्दावन, मन चाह भई साराँग सुनावै कोऊ जोराबरी ल्याये हैं।
बल्लभहूँ संग सुर भरत ही छायौ रंग, अति ही रिझायौ, दृग अँसुवा बहाये हैं॥
ठाढ़ौ कर जोरि बिनै करी, पै न धरी हियै, जियै, ब्रजभूमि ही, सो बचन सुनाये हैं।
कैद करि साथ लिये दिल्ली ते छुटाय दिये 'हरीदास तूँवर' नै आये प्रान पाये हैं॥ ५९३॥

श्रीदिवाकर सोतीजी

परम भक्ति परताप धर्मध्वज नेजा धारी।
सीतापति को सुजस बदन सोभित अति भारी॥
जानकि जीवन चरन सरन थाती थिर पाई।
नरहरि गुरु परसाद पूत पोतें चलि आई॥

राम उपासक छाप दृढ़ और न कछु उर आनियो।
'सोति' स्लाघ्य संतनि सभा, दुतिय दिवाकर जानियो॥ १६३॥

श्रीदिवाकर सोतीजी सन्तोंकी सभामें प्रशंसनीय, ज्ञान तथा भक्तिके प्रकाशक दूसरे सूर्यके समान थे। श्रीभगवद्भक्तिके श्रेष्ठ प्रतापसे धर्मरूपी ध्वजाके दण्डको आपने दृढ़तासे धारण किया। सीतापति श्रीरामचन्द्रजीके पवित्र सुयशका आप सदा गान करते रहते थे। श्रीजानकीजीवन राघवेन्द्रके चरणोंकी शरणागति आपकी स्थिर पूँजी थी, आपने उसका व्यय नहीं किया। आपके गुरुदेव श्रीनरहरिदासजी थे, उनकी कृपासे आपके पुत्र-पौत्रोंतकमें भक्ति सुदृढ़ बनी रही। 'राम-उपासक' यह आपकी पुष्ट छाप थी। आपने श्रीरामोपासनाके अतिरिक्त और कुछ भी अपने हृदयमें नहीं आने दिया॥ १६३॥

श्रीसोतीजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रोत्रिय जातिके ब्राह्मण श्रीदिवाकर सोतीजी रामजीके अनुरागी तथा राम-मन्त्रके उपासक थे। सन्तोंकी सेवामें प्रेम था। सन्तजन आपका बड़ा आदर करते थे। उनका किशोर-अवस्थावाला एक पुत्र था। उसके शीतला निकल आयी। लड़केकी माताको बड़ा दुःख हुआ। पुत्रको मरणासन्न देखकर उसने इनसे कहा कि शीतलादेवीकी पूजा करो और जात देनेकी मनौती मान लो, जिससे लड़केके प्राण बच जायँ। तब आपने स्त्रीको समझाते हुए कहा—

अरी सुनि नारी तू गँवारी न विचारी भक्ति, ताते व्यभिचारी बात उचारी अताइयै।
एक प्राणनाथ रघुनाथ बिना आन देव, पूज्यौ न सकाम जातें स्वधरम घटाइयै॥
राम की उपास में न आन की उपास मिलै, जैसे दूध काँजी दोऊ मिले स्वाद हानियै।
जैसे आन घास पास खेती धान नास जाय, जैसे वहु पति नीकी कौन नारि ठानियै॥
ऐसे ही समझि लेहु राम कौ उपासो जैसे, हाथी पै चढ्यौ सो कैसे खर मन मानियै।
ज्यावौ तौहू राम भलै मारै तौहू राम भलै, पै न चलैं आन पास एही दृढ़ जानियै॥
ऐसे समझाई नारी आन की उपास टारी, धारी प्यारी राम सेवा देवा सब जामहीं।
राम के भरोसे सुत जियौ सुख लियौ कियौ, उच्छव बड़ोई सन्तवृन्द जेमे तामहीं॥

नाना प्रकारके खान-पान और वस्त्रदानके द्वारा सन्तोंकी सेवा करते देखकर श्रीसीतारामजी इनके ऊपर रीझ गये। एक बार इनके पास खर्चेके लिये धनकी कमी आ गयी। यह देखकर जगदम्बा श्रीजानकीजी इनके घरपर आयीं। उन्होंने घूँघटमें अपने श्रीमुखको छिपा रखा था। भक्त दिवाकरजीके हाथमें चाँदीके बीस रुपये देकर कहा—'मेरे पतिदेवने ये रुपये भेजे हैं, इनसे आप सन्त-सेवा कीजिये। ये पूजन कर रहे थे, इन्होंने रुपये लेकर सिंहासनपर रख दिये और पूछा कि आप कहाँ रहती हैं, अपना परिचय दीजिये। जगन्माताने हँसकर कहा—आपने मुझे नहीं पहचाना, मैं आपके समीप ही रहती हूँ। आप मनमें ध्यान करके जान लीजियेगा। ऐसा कहकर श्रीजानकीजी अन्तर्धान हो गयीं। आपने मन्दिरसे बाहर निकलकर देखा तो उनका कहीं भी पता न चला। फिर लौटकर आपने मन्दिरमें देखा तो उन रुपयोंकी विशाल राशि दिखलायी पड़ी। तब आप समझ गये कि जानकीजीने कृपा की है। उस दिनसे आपके घरमें फिर कभी सम्पत्तिकी कमी नहीं आयी। आपने बड़े समारोहसे महोत्सव किया। नित्य सन्तोंको भोजन कराना आरम्भ कर दिया।

एक बार आपके पुत्रकी वधू बीमार पड़ गयी। अच्छी होती न देखकर श्रीदिवाकरजीकी स्त्री बीमारीका कारण पूछनेके लिये गुप-चुप एक तान्त्रिकके पास गयी। वह भैरवका उपासक था। यह बात जब श्रीदिवाकरजीको मालूम हुई तो आप स्त्रीके ऊपर बहुत रुष्ट और बोले—तुझ-सरीखी अभक्ता स्त्रीको मैं घरमें नहीं रखूँगा, तुझे अभी मारकर भगा दूँगा। तुझे भगवान् और उनके भक्तोंमें विश्वास नहीं है। किसीको

किसी प्रकारका कष्ट है तो उसकी श्रेष्ठ औषधि भक्त और भगवान्‌का चरणामृत है। फटकार सुनकर वह बेचारी काँप गयी और बोली कि मैं तो भोली-भाली हूँ, अतः मैं वहाँ चली गयी, आप मेरा अपराध क्षमा करें। इसके बाद स्त्रीने भी अनन्य भक्ति-भावको स्वीकार किया। सन्त-चरणामृतसे ही वधू स्वस्थ हो गयी। भगवान् श्रीरामके ऐसे अनन्य उपासक थे श्रीदिवाकर सोतीजी!

श्रीलालदासजी

हृदै हरी गुन खानि सदा सतसँग अनुरागी।
पद्मपत्र ज्यों रह्यो लोभ की लहर न लागी॥
बिष्नुरात सम रीति बघेरै त्यों तन त्याज्यो।
भक्त बराती बृंद मध्य दूलह ज्यों राज्यो॥
खरी भक्ति हरिषांपुरे गुरु प्रताप गाढ़ी गही।
जीवत जस पुनि परम पद लालदास दोनों लही॥ १६४॥

श्रीलालदासजीको यहाँ जीवनमें सुयश और शरीर त्यागनेके बाद परमपद वैकुण्ठधाम मिला। आपका हृदय भगवदीय गुणोंकी खान था। आप सत्संगके बड़े प्रेमी थे। जैसे कमलपत्र जलमें रहकर उससे अछूता रहता है, उसी तरह संसारमें रहते हुए भी सांसारिक सुखोंका लोभ आपके मनमें नहीं आया। बघेरे ग्राममें श्रीमद्भागवतकी कथाको सुनकर श्रीपरीक्षित्‌की तरह आपने भी अपने शरीरको छोड़ा। बारातमें जैसे दूल्हेकी शोभा होती है, उसी प्रकार सन्तोंकी मण्डलीमें आप सुशोभित होते थे। अपने गुरुदेवके प्रतापसे गुरु आश्रम हरिषांपुरमें रहकर सच्ची भगवद्भक्ति आपने ग्रहण की। इस प्रकार आपका जीवन और शरीरान्त दोनों धन्य रहे॥ १६४॥

श्रीलालदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीलालदासजी बड़े ही उच्च कोटिके वैष्णव सन्त थे। एक वणिक् आपका सेवक था। उसके हृदयमें भी भक्ति थी। एक बार आपके पास बाईस साधुओंकी एक जमात आयी। वे बड़े भूखे थे। आपने वणिक् शिष्यसे कहा कि शीघ्र ही बनी-बनायी रसोई लाकर सब सन्तोंको भोजन कराओ। उसने कहा—महाराज! सामान तो घरमें बहुत-सा भरा है, पर पिताजीने बहनके विवाहके निमित्त बनवाया है। मैं उसे नहीं ला सकता हूँ। मुझसे धन ले लीजिये और आप सन्तोंको जिमाइये। आपने कहा—नहीं, तुम घर जाओ, तुम्हारे पिता इस समय घरपर नहीं हैं। वे किसी कामसे दूसरे गाँवको गये हैं। सन्तोंको जिमानेमें सामान घटेगा नहीं। जितना लाओगे उतना ही बढ़ जायगा। आज्ञा मानकर सेवक झट घर गया। सामान बाँधने लगा तो उसकी माँने पूछा—कहाँ ले जा रहे हो? इसने उत्तर दिया कि कुछ सामान उठाकर सुरक्षित स्थानपर पहुँचा रहा हूँ। यहाँसे तो सब खर्च हो जायगा। ऐसा कहकर उसने सामान लाकर सन्तोंको खूब भोजन कराया। सन्तोंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। श्रीलालदासजीके कथनानुसार सामान ज्यों-का-त्यों रहा। उसके पिताने यह रहस्य नहीं जाना। पीछेसे इस चमत्कारका पता पड़ा तो सभीको सन्त-सेवामें विश्वास हुआ। श्रीलालदासजीकी कीर्ति चारों ओर फैल गयी।

एक बार एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण अपने पुत्र और स्त्रीके सहित श्रीलालदासजीके पास आया और रोकर बोला कि मेरी दरिद्रता दूर करो, मैं भूखों मर रहा हूँ। आपने कहा—मेरी बात मानो तो मैं तुम्हें एक उपाय बताऊँ। ब्राह्मणने कहा—'बताओ, महाराज!' आपने बतलाया कि आजसे ही तुम सन्तों और अतिथियोंकी सेवा आरम्भ कर दो। ब्राह्मणने कहा—भगवन्! यह काम धनके बिना कैसे होगा? आपने कहा—इसमें धन नहीं चाहिये, तुम्हें जब जो कुछ मिले, तब तुम उसीमेंसे चौथे अंशसे सन्त-सेवा कर दिया

करो। धीरे-धीरे तुम्हारे पास छः मासमें बहुत-सा अन्न-धन हो जायगा। सन्तके वचनमें विश्वास करके वह भिक्षाके द्वारा सन्त-सेवा करने लगा कि कालान्तरमें सन्त-सेवाके प्रतापसे वह धनी-मानी हो गया। एक बार उसने घरकी गिरी दीवाल खोदी, उसमें उसे बहुत-सा धन मिला। उसने श्रीलालदासजीके चरणोंमें बहुत-सा धन भेंट किया, उससे विशाल भण्डारा हुआ। इस प्रकार सन्त-सेवाका महत्त्व आपने बढ़ाया।

एक बार एक सरदार असाध्य रोगसे ग्रसित अपनी पत्नीको लेकर श्रीलालदासजीके पास आया। आपने उसे सन्त-चरणामृतके सेवनका उपदेश दिया, जिससे वह निरोग होकर सन्त-सेवामें प्रेम रखने लगी।

भक्तदामगुणचित्रणीमें उनके परमधामगमनकी घटनाका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

जब निज तनकी मृत्यु लखानी। लालदास तब अस विधि ठानी॥
मण्डल के सब सन्त बुलावा। कीन्ह महोच्छव समय बनावा॥
कथा भागवत भयौ समाजा। सन्तन की अरचा भल साजा॥
सन्त सभा में कह्यौ सुनाई। राम धाम को अब हम जाई॥
सन्तन बन्दि तज्यौ तहँ देहा। लालदास पहुँच्यौ हरि गेहा॥
सब जन जै जै सबद उचारा। विदित बंधेरा ग्राम मँझारा॥

श्रीमाधवग्वालजी

निसि दिन यहै बिचार दास जिहिं बिधि सुख पावैं।
तिलक दाम सों प्रीति हृदै अति हरिजन भावैं॥
परमारथ सों काज हिएँ स्वारथ नहिं जानै।
दसधा मत्त मराल सदा लीला गुन गानै॥
आरत हरिगुन सील सम प्रीति रीति प्रति पाल की।
भक्तनि हित भगवत रची देही माधौ ग्वाल की॥ १६५॥

भगवान्‌ने भक्तोंके हितके लिये श्रीमाधवग्वालजीको इस संसारमें प्रकट किया। ये दिन-रात इसी सोच-विचारमें डूबे रहते थे कि भक्तोंको कैसे सुख पहुँचे? तिलक-कण्ठीसे एवं उनके धारण करनेवाले भक्तोंसे आप बड़ा प्रेम करते थे। भगवद्भक्त इन्हें हृदयसे अच्छे लगते थे। आप केवल परमार्थसे प्रयोजन रखते थे। हृदयमें स्वार्थकी भावना कदापि नहीं रखते थे। ये प्रेमाभक्तिके मराल थे। सदा भगवान्‌की लीलाओंका गान किया करते थे और भगवद् गुणानुवादको सुननेके लिये सदा आतुर रहते थे। सुन्दर, सरल-स्वभाव, सर्वत्र समत्व बुद्धि रखकर आपने प्रीतिकी रीतियोंका प्रतिपालन किया, आदिसे अन्ततक प्रीतिका निर्वाह किया॥ १६५॥

श्रीमाधवग्वालजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीमाधवग्वालजी गूजर गौड़ जातिके ब्राह्मण थे। 'ग्वाल' यह इनकी उपाधि थी। ये महान् परोपकारी और भक्तसेवी-सन्त थे। एक बार आपके पास एक सन्तने आकर कहा कि मुझे गुरु-महोत्सव करना है, उसके लिये आप कुछ धन दीजिये। आपने कहा कि मैं यथासम्भव धनका प्रबन्ध अवश्य करूँगा। फिर आपने ग्रामवासियोंके पास जाकर कहा कि आप लोग चन्दा करके कुछ धन इकट्ठा कर दीजिये, जिससे इस सन्तके गुरुका भण्डारा हो जाय, धन तो नाशवान् है, जो धन सन्त-भगवान्‌की सेवामें नहीं लगता है, उसे चोर ले जाते हैं अथवा किसी दूसरे प्रकारसे नष्ट हो जाता है। जैसे कूपसे जलके निकलते रहनेपर जल शुद्ध रहता है, उसी प्रकार गृहस्थके घरसे यदि सेवार्थ धन जाता है तो वह शुद्ध रहता है अन्यथा गन्दा हो जाता है, अतः कुछ-न-कुछ दान अवश्य करना चाहिये। इससे आप लोगोंका परम कल्याण होगा।

इस प्रकार आपने बहुत कहा-सुना, पर लोगोंने चन्दा देना स्वीकार न किया। तब आप उस सन्तको लेकर अपने घर आये। आपने जो कुछ धन और सामान सन्त-सेवा एवं कन्याके ब्याहके लिये संग्रह कर रखा था, वह सब उस सन्तको दे दिया। इससे वे सन्त बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़े उत्साहसे भण्डारा किया। यह सुनकर माधवग्वालजीकी पत्नीको बड़ा दु:ख एवं रोष हुआ। वह इनसे पूछने लगी कि आपने कन्याके विवाहका सामान क्यों दे दिया? माधवदासजीने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, सुनी-अनसुनी कर दिया। इसके बाद वह एकदिन भण्डार-घरमें गयी तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ सब सामान ज्यों-का-त्यों रखा हुआ था, तब दौड़कर पतिके पास आयी और बोली—यह क्या हुआ, सब सामान तो आपने सन्तको दे दिया था, फिर कहाँसे आ गया! आपने सामान दिया था या नहीं? तब आपने प्रभुकी कृपाका अनुभव करके उसे समझाते हुए कहा कि यह सन्त-सेवाका चमत्कार है। सन्तको दिया धन अक्षय होता है।

श्रीप्रयागदासजी

मानस बाचक काय राम चरननि चित दीनो।
भक्तनि सों अति प्रेम भावना करि सिर लीनो॥
रास मध्य निर्जान देह दुति दसा दिखाई।
आड़ो बलियो अंक महोछौ पूरी पाई॥
क्यारे कलस औली ध्वजा बिदुष सलाघा भाग की।
श्रीअगर सुगुरु परताप तें पूरी परी प्रयाग की॥ १६६॥

सद्गुरु श्रीअग्रदेवाचार्यके प्रतापसे श्रीप्रयागदासजीके भक्त-भगवत्सेवा-सम्बन्धी सभी कार्य पूर्ण हुए, उनमें कभी किसी प्रकारसे विघ्न नहीं आया। इन्होंने मन, वाणी और शरीरसे सन्त-भगवन्तकी सेवा की। सब ओरसे मनको हटाकर श्रीरामजीके चरणोंमें लगाया। भक्तोंमें आपका अत्यन्त प्रेम था। आपने उन्हें अपनी भावनासे प्रभुतुल्य सर्वश्रेष्ठ माना और उनकी खूब सेवा की। एक बार जब रासलीला हो रही थी। उस समय आपने लीलामें तन्मय होकर शरीर त्याग दिया। आड़ो-बलियोके महोत्सवमें आपने पूरी-प्रसाद ग्रहण किया। क्यारे नामक ग्रामके मन्दिरपर कलश चढ़ाया और औली गाँवमें ध्वजारोपण कराया। इस दिव्य चमत्कारको देखकर विद्वानों और सन्तोंने आपके भाग्यकी प्रशंसा की॥ १६६॥

श्रीप्रेमनिधिजी

सुंदर सील सुभाव मधुर बानी मंगल करु।
भक्तनि कों सुख दैन फर्‌यो बहुधा दसधा तरु॥
सदन बसत निर्बेद सारभुक, जगत असंगी।
सदाचार ऊदार नेम हरिदास प्रसंगी॥
दया दृष्टि बसि आगरैं कथा लोग पावन कर्‌यो।
प्रगट अमित गुन प्रेमनिधि धन्य बिप्र जेहिं नाम धर्‌यो॥ १६७॥

श्रीप्रेमनिधिजीमें प्रेमाभक्तिसम्बन्धी अनन्त गुण प्रकट थे। उस ज्योतिषी विप्रको धन्यवाद है, जिसने गुणोंके अनुरूप ऐसा (सार्थक) नाम रखा। आप सुन्दर, शीलवान् और स्वभावसे नम्र थे। आपकी वाणी

मधुर, रसमयी और श्रोताओंका सर्वविध कल्याण करनेवाली थी। हरिभक्तोंको सुख देनेके लिये आप कल्पवृक्षके समान थे, जिसमें प्रेमा-पराभक्तिके बहुतसे फल लगे रहते थे। घरमें रहते हुए आप गृहस्थाश्रमके प्रपंचोंसे परम विरक्त थे। विषयोंको त्यागकर सारतत्त्व प्रेमका आस्वादन करनेवाले, सदाचारी और परम उदार थे। नियमपूर्वक भगवद्भक्तोंके साथ सत्संग किया करते थे। (आगरानिवासी) भक्तोंपर दया करके आपने श्रीवृन्दावनसे बाहर आगरेमें निवास किया और भगवान्‌की कथाओंके द्वारा सबको पवित्र किया॥ १६७॥

श्रीप्रेमनिधिजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीप्रेमनिधिजी मिश्र श्रीविट्ठलनाथजीके शिष्य थे। आप महान् प्रेमी सन्त थे और आगरेमें रहते थे। आप बड़े सुन्दर भावसे श्रीश्यामबिहारीजीकी सेवा-पूजा किया करते थे। नित्य कुछ रात रहे ही श्रीठाकुरसेवाके लिये आप श्रीयमुनाजीसे जल लाया करते थे। एक बार वर्षाका मौसम था, अधिक वर्षाके कारण जहाँ-तहाँ सर्वत्र रास्तेमें कीचड़ हो गया। तब आपको बड़ी चिन्ता हुई कि यमुनाजल कैसे लायें? आपने अपने मनमें विचारा कि यदि अँधेरेमें जल लेने जाऊँ तो कीचड़में फँसनेका भय है और यदि प्रकाश होनेपर जाऊँ तो आने-जानेवाले लोगोंसे छू जाऊँगा। यह भी ठीक न होगा। अन्तमें सोच-विचारकर निश्चय किया कि अँधेरेमें ही जल लाना ठीक है; क्योंकि उस समय किसीसे छूनेका डर नहीं रहेगा। जैसे ही आप दरवाजेके बाहर निकले तो आपने देखा कि एक सुकुमार किशोर बालक मशाल लिये जा रहा है। आप भी उसीके पीछे-पीछे चल दिये।

श्रीप्रेमनिधिजीने अपने मनमें समझा कि यह बालक किसीको पहुँचाकर वापस लौट रहा है, कुछ देरके बाद अपने घरकी ओर मुड़कर गायब हो जायगा। पर अच्छा है, कुछ देर तो प्रकाश मिलेगा। जितनी देर मिलेगा, उतनी दूरतक सुखसे पहुँच जाऊँगा। इस प्रकार आप सोचते ही रहे, परंतु वह बालक किसी दूसरी ओर न मुड़कर यमुनाजीके किनारेतक आया। इससे इनके मनमें बड़ा आश्चर्य हुआ और उस मशालची लड़केमें ही मनको लगाये हुए आपने श्रीयमुनाजीमें स्नान किया, परंतु इनकी बुद्धिको उसके रूपने अपनी ओर खींच लिया था। स्नानके बाद जलसे भरा घड़ा जैसे ही आपने अपने सिरपर रखा, उसी क्षण पहलेकी तरह वह बालक फिर आ गया और फिर आप उसके पीछे-पीछे चले। जैसे ही आप अपने घरके द्वारपर पहुँचे, वैसे ही वह मशालची लड़का गायब हो गया। अहो! प्रभुने यह क्या किया? वह बालक कहाँ गया? कौन था? उसे पुनः देखनेके लिये आप आतुर हो गये और आपके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रेमनिधि नाम, करैं सेवा अभिराम स्याम, आगरौ सहर निसि सेस जल ल्याइयै।
बरखा सु रितु जित तित अति कीच भई भई चित चिन्ता 'कैसे अपरस आइयै'॥
जौ पै अन्धकार ही में चलौं तौ बिगार होत, चले यों बिचारि 'नीच छुवै न सुहाइयै'।
निकसत द्वार जब देख्यौ सुकुमार एक हाथ में मसाल 'याके पाछे चले जाइयै'॥ ५९४॥
जानी यहै बात पहुँचाये कहूँ जात यह अबहीं बिलात भले चैन कोऊ घरी है।
जमुना लौं आयौ अचरज सो लगायौ मन, तन अन्हवायौ, मति वाही रूप हरी है॥
घट भरि धर्‍यौ सीस, पट वह आय गयौ, आय गयौ घर, नहीं देखी, कहा करी है।
लागी चटपटी अटपटी न समझि परै, भटभटी भई नई, नैन नीर झरी है॥ ५९५॥

श्रीप्रेमनिधिजी बहुत अच्छी कथा कहते थे। प्रभुके स्वरूपको दरसा देते थे, उससे श्रोताओंके मनको अपनी ओर खींचकर उसमें भगवद्-भक्तिके भावोंको भर देते थे। यह देखकर दुष्टोंके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ। ईर्ष्यावश उन्होंने बादशाहको सिखाया, शिकायत करते हुए उन्होंने कहा कि 'प्रेमनिधिके घरमें अच्छे-अच्छे घरानेकी बहुत-सी औरतें हर समय आती-जाती रहती हैं।' यह सुनकर बादशाह क्रोधसे जल उठा।

उसने अपने सिपाहियोंको आज्ञा दी कि 'प्रेमनिधिको फौरन पकड़ लाओ।' श्रीप्रेमनिधिजी जिस समय जलभरी झारी बड़े प्रेमसे भगवान्‌के सामने रखकर उन्हें जल पिलाना चाहते थे, उसी समय चोबदारोंने आकर इन्हें बादशाहकी कठोर आज्ञा सुनायी और कहा—'अभी इसी समय हमारे साथ चलो।' ऐसा कहकर वे लोग शोर मचाने लगे। तब भगवान्‌को जल पिलाये बिना ही श्रीप्रेमनिधिजी बादशाहके समीप गये। उसने इनसे पूछा—कहो, क्या मौज-बहार है, तुम स्त्रियोंके साथ प्रसंग करते हो, हमारे राज्यमें ऐसा अन्याय? यह सुनकर आपने कहा—'मैं संसारी विषयोंकी बात न कहकर भगवान् श्रीकृष्णकी ही कथाओंका वर्णन करता हूँ। जिन स्त्रियों या पुरुषोंको कथा अच्छी लगती है, वे आकर कथामें बैठते हैं। जो किसी कथारूपी तीर्थमें श्रोताको डाँटे, फटकारे या निकाले अथवा उनको बुरी निगाहसे देखे तो उसे बड़ा भारी पाप लगता है।' यह सुनकर बादशाहने कहा—'यह बात तो तुमने बहुत ठीक कही, परंतु तुम्हारी गली-मुहल्लेके लोगोंने ही आकर तुम्हारे सम्बन्धमें मुझसे जो कुछ कहा है, उसके अनुसार तुम्हारा चाल-चलन, रहन-सहन कुछ और ही है।' यह कहकर बादशाहने चोबदारोंसे कहा—'तबतक इन्हें हवालातमें बन्द कर दो, अच्छी तरह जाँच-पड़तालके बाद मैं फैसला करूँगा।' ऐसी आज्ञा पाकर सिपाहियोंने इन्हें ले जाकर कैदखानेमें बन्द कर दिया।

भक्तवर श्रीप्रेमनिधिजीको कैदखानेमें बन्द करवाकर बादशाह उस रातमें जब सोया तो श्रीबिहारीजीने उसके इष्ट मुहम्मद साहबका भेष बनाकर स्वप्नमें उससे कहा—'मुझे बहुत जोरकी प्यास लगी है।' बादशाहने कहा—'आबखानेमें जाकर पानी पी लीजिये।' यह सुनकर प्रभु बहुत रुष्ट हुए और बोले—वहाँ कोई प्रेमी भक्त है, जो मुझे प्रेमसे पानी पिलाये? जब बादशाहने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब भगवान् जोरसे उसे डाँटते हुए बोले—'अरे मूर्ख! तूने मेरी बात नहीं सुनी।' बादशाहने कहा—'जिसे आप आज्ञा दें, वही भाग्यशाली पानी पिलायेगा।' पुनः प्रभुने कहा—'उसे तो तूने कैदखानेमें बन्द कर रखा है।' यह सुनकर बादशाह घबड़ाया और डर गया। उसके हृदयमें प्रेमनिधिजीके प्रति सद्भाव भर गया और वह सोयेसे जग गया।

उसी समय रातको ही बादशाहने दास-दासियोंको आज्ञा दी कि 'शीघ्र ही श्रीप्रेमनिधिजीको कैदखानेसे छुड़ाकर लाओ।' यह सुनकर दासी-दास सभी दौड़े और श्रीप्रेमनिधिको ले आये। इन्हें देखते ही बादशाह इनके चरणोंमें गिर पड़ा और रोते हुए बोला—'साहब प्यासे हैं, आप अभी ही जाकर उन्हें जल पिलाइये। वे किसी दूसरेके हाथसे नहीं पीते हैं, आपपर बहुत ही प्रसन्न हैं, ठाकुरजीकी सेवाके लिये आप मुझसे देश-गाँव तथा इच्छानुसार धन ले लीजिये। सर्वदा अपने प्यारे प्रभुकी सेवामें लगे रहिये। अब आपको कभी कोई कष्ट मैं न दूँगा।' श्रीप्रेमनिधिजीने कहा—मैं सदा अपने प्रभुमें मन लगाये रहता हूँ, धन पाकर बहुतसे लोग नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं, अतः मैं कुछ भी न लूँगा। बादशाहने मशालचियोंके साथ उसी समय श्रीप्रेमनिधिजीको घर भेज दिया। श्रीप्रेमनिधिजीने घर आकर स्नान किया और श्रीबिहारीजीको जल पिलाकर उन्हें प्रसन्न किया तथा स्वयं भी कृपाका अनुभव करके प्रसन्न हुए।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया—

कथा ऐसी कहैं जामैं गहैं मन भाव भरै करैं कृपादृष्टि दुष्टजन दुख पायौ है।
जायकै सिखायौ बादशाह उर दाह भयौ, कही तिया भली को समूह घर छायौ है॥
आए चौबदार कहैं चलो एही बार वारि झारी प्रभु आगे धर्‌यौ चाहै सोर लायौ है।
चले तब संग गए पूछै नृप रंग कहा? तियनि प्रसंग करौ? कहिकै सुनायौ है॥ ५९६॥
कान्ह भगवान् ही की बात सो बखानि कहौं, आनि बैठे नारी नर लागी कथा प्यारी है।
काहू कों बिडारै, झिरकारैं नैकु टारैं, बिषै दृष्टि कै निहारैं, ताकों लागै दोष भारी है॥
कही 'तुम भली तेरी गली ही के लोग मोसों आयकै जताई वह रीति कछु न्यारी है'।
बोल्यौ 'याहि राखौ सब करौं' निरधार नीके, चले चोबदार लैकै, रोके प्रभु धारी है॥ ५९७॥

सोयौ बादशाह निसि, आयकै सुपन दियौ, कियो वाकौ इष्टभेष कही प्यास लागी है।
पीवौ जल 'कही' आबखाने लै बखाने तब अति ही रिसाने को पियावे, कोऊ रागी है॥
फेर मारी लात अरे सुनी नहीं बात मेरी, आप फुरमावौ जोई प्यावै बड़भागी है।
सो तौ तैं लै कैद कर्‌यौ सुनि अरबर्‌यौ डर्‌यौ, भर्‌यौ हिये भाव मति सोवत तें जागी है॥ ५९८ ॥
दौरे नर ताही समै वेगि दै लिवाय ल्याये, देखि लपटाये पांय नृप दृग भीजे हैं।
साहिब तिसाये जाय अबही पियावौ नीर, और पै न पीवैं, एक तुमही पै रीझे हैं॥
लेवौ देस गाँव सदा पीव हीं सो लग्यौं रहौं, गहों नहीं नेक धन पाय बहु छीजे हैं।
संग दै मसाल, ताही कालमें पठाये, यों कपाट जाल खुले, लाल प्यायौ जल, धीजे हैं॥ ५९९ ॥

श्रीराघवदास दूबलोजी

सदाचार गुरु सिष्य त्याग बिधि प्रगट दिखाई।
बाहेर भीतर बिसद लगी नहिं कलिजुग काई॥
राघौ रुचिर सुभाव असद आलाप न भावै।
कथा कीरतन नेम मिलें संतनि गुन गावै॥
ताप तोल पूरौ निकष (ज्यौं) घन अहरनि हीरो सहँत।
दूबरो जाहि दुनियाँ कहै सो भक्त भजन मोटो महँत॥ १६८ ॥

जिन श्रीराघवदासजीको दुनियाँके लोग 'दुर्बलदास' या 'दुबला' के नामसे पुकारते थे, वे शरीरसे यद्यपि दुर्बल थे, परंतु सन्तोंकी सेवा करनेमें मोटे अर्थात् बड़े महन्त थे। आपने सदाचार, गुरुता तथा शिष्योंसे कुछ भी धन न लेकर त्यागकी रीति सबको प्रत्यक्ष दिखलायी। आप बाहर और भीतरसे निर्मल थे। कलियुगके दोष-पाप आपका स्पर्श नहीं कर सके। आपका स्वभाव बड़ा सुन्दर था, मिथ्या-भाषण आपको अच्छा नहीं लगता था। नित्य नियमसे सन्तोंके साथ भक्त-भगवत्-कथा-वार्ताको कहते-सुनते और नाम-कीर्तन करते थे। जैसे तपाने-छेदने और कसौटीपर कसनेसे सोनेकी, निहाईपर घनोंकी चोटसे हीरेकी पहचान होती है, उसी प्रकार श्रीराघवदासजीने भी आपत्तियोंको सहनकर अपनी सच्ची साधुताको लोकमें प्रमाणित किया॥ १६८॥

श्रीराघवदास दूबलोजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीराघवदासजी सच्चे साधु-सेवी और गुरुभक्त सन्त थे। एकबार आप सन्त-दर्शन और भक्ति-प्रचारार्थ विचरते हुए एक धनी-मानी वैश्य भक्तके यहाँ पहुँचे। वह साधुओंकी सेवा तो अच्छी तरह करता था, पर उनकी परीक्षा भी लिया करता था। उसने श्रीराघवदासजीको बड़े आदरके साथ घरमें ठहराया और भलीभाँति भोजन कराया। शयनके समय उस वैश्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि जाकर सन्तकी सेवा करो, परीक्षा लो। वह शृंगार करके सेवार्थ उपस्थित हुई। राघवदासजीने सेवा करवाना स्वीकार नहीं किया। तब भक्त-दम्पतीने बड़ी विनती करके कहा कि हम लोग आप सन्तोंके क्रीतदास हैं। यदि आप मेरी सेवा स्वीकार न करेंगे तो हमारा जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। उसका आग्रह देखकर आप समझ गये कि ये लोग सेवाके साथ-साथ परीक्षा लेना चाहते हैं, अतः आपने आज्ञा दे दी। वह चरण दबाने लगी। आप भगवद् ध्यानमें मग्न हो गये। बड़ी देर बाद इनको सोता जानकर चली गयी। इस प्रकार उसे सेवा करते-करते बीस दिन बीत गये। सन्तके मनमें नाममात्रका भी विकार नहीं दिखायी पड़ा, तब इक्कीसवें दिन उसने कहा कि आप मेरी गोदमें विराजकर मुझे कृतार्थ करो। राघवदासजी 'जो आज्ञा माताजी!' कहकर बालक बन गये और गोदमें

बैठकर स्तनपान करने लगे। यह देखकर वैश्य भक्त आपके चरणोंमें गिर पड़ा और क्षमा-याचना करने लगा। श्रद्धालु भक्त दम्पतीको आपने समझाया कि 'सन्तोंकी परीक्षा लेनेसे भक्तिके घटनेकी आशंका रहती है, अतः भविष्यमें किसी सन्तकी परीक्षा न लेकर यथाशक्ति सेवा करना और उनके सत्संगसे लाभ उठाना। इस उपदेशको पाकर वे कृतकृत्य हो गये और सप्रेम सेवा करने लगे।'

एक बार श्रीराघवदासजी एक भक्त राजाके यहाँ पहुँच गये। उसने इन्हें पहचान लिया कि ये महान् सन्त हैं, अतः सादर ठहराया और इनकी खूब सेवा करने लगा। नित्य कथा-सत्संग होने लगा। एक असहनशील ब्राह्मणने सोचा कि—'अब हमारा सम्मान नहीं होगा, अतः इनको बदनाम करनेके लिये उसने एक वेश्याको कुछ रुपये और एक अँगोछा दिया और कहा कि जिस समय कथा हो रही हो, उसी समय जाकर यह अँगोछा बाबाजीको देकर केवल यह कह देना कि 'महाराज! रातको आप यह अँगोछा मेरे यहाँ भूल आये थे सो लीजिये।' रुपये तुम्हारे इनामके हैं। ब्राह्मणके सिखाये अनुसार वेश्याने अँगोछा दिया तो आपने निःसंकोच ले लिया और उसकी बातका खण्डन नहीं किया। इससे दूसरे श्रोता और राजा सभी असमंजसमें पड़ गये। पश्चात् बुद्धिमान् राजाने उस वेश्याको बुलाकर डराया-धमकाया। तब उसने सच्ची बात बता दी। राजाने ब्राह्मणको मार डालनेकी आज्ञा दी, जिससे कि भविष्यमें कोई किसी सन्तको झूठा कलंक न लगाये। श्रीराघवदासजीने जब यह सुना तो राजा तथा ब्राह्मणको समझाया और क्षमा किया। अपकीर्तिकी चोटको आपने उसी प्रकार सहन किया, जैसे निहाईपर रखा हीरा घन की चोट को सहता है।' इस प्रकार आपने राजा-प्रजा सभीमें भक्तिकी स्थापना की।

सन्तसेवी भक्त

हरिनारायन नृपति पदम बेरछैं बिराजै।
गाँव हुसंगाबाद अटल ऊधौ भल छाजै॥
भेलै तुलसीदास ख्यात भट देवकल्यानो।
बोहिथ बीरारामदास सुहेलै परम सुजानो॥
औली परमानंद कै ध्वजा सबल धर्म कि गड़ी।
दासनि के दासन्न को चौकस चौकी ए मड़ी॥ १६९॥

भगवद्भक्तोंकी सावधानीसे सेवा करनेके लिये ये सुन्दर स्थान बने। बेरछामें श्रीहरिनारायणजी और राजा श्रीपद्मजी, होशंगाबादमें श्रीऊधौजी अटल होकर विराजते थे। भेलामें प्रसिद्ध श्रीतुलसीदासजी और श्रीदेवकल्याणजी, सुहेलामें परम सुजान श्रीबोहिथजी तथा श्रीबीरारामजी विराजते थे। औलीमें श्रीपरमानन्दजीका ऊँचा और पुष्ट वैष्णवधर्मका झण्डा गड़ा हुआ था। ये महान् सन्तसेवी थे॥ १६९॥

श्रीहरिनारायणजी

श्रीहरिनारायणजी बड़े ही सन्त-सेवी भगवद्भक्त थे। आप अच्छी प्रकारके मेवा-पक्वान्न प्रसाद सन्तोंको पवाते तथा वस्त्र, पात्र आदि देकर मीठी वाणीसे उन्हें सन्तुष्ट करते। इनका एक पुत्र था, वह उद्दण्ड प्रकृतिका था, उसका सन्तोंमें भाव न था। इसलिये आपके मनमें बड़ी-भारी चिन्ता रहती कि इसका कल्याण कैसे होगा? मेरे मरनेके बाद सन्त-सेवा बिलकुल बन्द हो जायगी। आप मन-ही-मन प्रभुसे प्रार्थना करते कि इस बालकको सद्बुद्धि दो, भक्तोंमें इसका प्रेम हो। युवावस्थाको प्राप्तकर वह लड़का सेनामें भर्ती हो गया। कुछ दिन बाद युद्ध करनेके लिये उसे एक मोर्चेपर जाना पड़ा। भयंकर संग्राम हुआ। यह भक्तका बालक भी शत्रुओंसे घिर गया। तब घबराया और पिताकी भक्तिका ध्यान आया। इसने मन-ही-मन प्रार्थना की

और प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे प्राण बच गये तो मैं भी पिताजीकी तरह भक्त-भगवान्‌की सेवा करूँगा। हार्दिक प्रार्थनाका ऐसा प्रभाव हुआ कि यह अकेला बच गया, शरीरमें चोट भी नहीं आयी और सेनाके सभी लोग मारे गये। इससे इसका भी सन्तोंमें अटल विश्वास और प्रेम हो गया। अब तो यह भी अपने पिताकी तरह सन्त-सेवाको महत्त्व देने लगा। इस प्रकार प्रभुने श्रीहरिनारायण भक्तकी इच्छा पूरी की।

श्रीऊधौजी

श्रीऊधौजीकी सन्तोंमें बड़ी निष्ठा थी। आप बड़ी श्रद्धाके साथ सन्त-सेवा करते थे। नित्य ही सन्तोंका आना-जाना होता रहता था। कण्ठी, माला, तिलकधारी सन्तोंके अतिरिक्त दुष्ट, विमुखजन आपके आश्रमकी ओर नहीं आते थे। श्रीउद्धवजीको जब कभी यह पता पड़ जाता कि अमुक स्थानपर सन्तजन पधारे हैं तो वहाँ आप अवश्य जाते, सन्तोंके दर्शन करते, उन्हें अपने घर लिवा लाते और बड़े प्रेमसे उनकी सेवा करते। एक बार आपको समाचार मिला कि किसी सन्तके महोत्सवमें बहुत-से साधु-महात्मा पधारे हैं। आपने वहाँ पहुँचकर दर्शन-सत्संग किया। पश्चात् सभी सन्तोंसे विनय की कि आप लोग पधारकर दासके घरको पवित्र करें। इनके प्रेमको देखकर सभी सन्त चलनेके लिये तैयार हो गये। तब आपके नौकरने आपको सावधान किया कि घरपर इतने सन्तोंके भोजनके लिये सामान नहीं है, आपने सबको न्यौता कैसे दे दिया? आपने कहा सन्तोंको पधारने दो, बादमें देखा जायगा। सन्तोंकी भीड़ आपके द्वारपर पहुँच गयी, तब आपको भी चिन्ता हुई कि अब क्या करूँ? आपकी सन्तोंमें भक्ति देखकर आकाशवाणी हुई कि चिन्ता मत करो, इतने सामानसे ही पूर्ति हो जायगी। आपने बड़े उल्लासपूर्वक भोजन बनवाया, भोग लगनेके बाद सन्तोंने पूर्ण तृप्त होकर प्रसाद पाया और आशीर्वाद दिया। बचा हुआ प्रसाद आपने ग्रामवासियोंको दे दिया। इस चमत्कारसे सभीके मनमें सन्त-सेवाका भाव और दृढ़ हो गया।

भेलाग्राम-निवासी श्रीतुलसीदासजी

भेलाग्राम-निवासी श्रीतुलसीदासजी सन्तोंकी रुचिके अनुसार उनकी सेवामें ही सुख मानते थे। एक बार ये किसी दूसरे गाँवको गये और वहाँसे सन्त-सेवाके लिये एक गाड़ी गेहूँ लेकर चले। रास्तेमें कई डाकुओंने घेरकर कहा कि गाड़ी छोड़कर भाग जाओ, अन्यथा तुम्हें जानसे मारकर हम लोग गेहूँकी गाड़ी हाँक ले जायँगे। बिना किसी हर्ष-विषादके आप गाड़ी छोड़कर चल दिये। अभी आप बीस ही पग दूर गये थे कि प्रभुने कला दिखायी। दोनों बैल गाड़ीसे अलग होकर सिंहके समान गरजे और चोरोंको मारने दौड़े। सभी भागकर श्रीतुलसीदासजीके पास पहुँचे और चरणोंमें पड़कर बोले—महाराज! अपराध क्षमा करो, अपनी गाड़ी ले जाओ। आपने पूछा कि गाड़ी लेकर अब क्यों छोड़ रहे हो, उसे ले जाओ। तब उन्होंने सब हाल कहा और सदाके लिये श्रीतुलसीदासजीके भक्त बन गये। उन्होंने चोरी छोड़ दी। इस प्रकार आपने सन्त-सेवाके प्रतापसे दुष्टोंको भी सज्जन बनाया।

भगवद्भक्त नारियाँ

देमा प्रगट सब दुनी रामाबाई (बीरां) हीरामनि।
लाली नीरा लच्छि जुगल पार्बती जगत धनि॥
खीचनि केसी धना गोमती भक्त उपासिनि।
बादररानी बिदित गंग जमुना रैदासिनि॥
जेवा हरसा जोइसिनि कुवँरिराय कीरति अमल।
अबला सरीर साधन सबल ए बाई हरिभक्ति बल॥ १७० ॥

सम्पूर्ण जगत्‌में प्रसिद्ध श्रीदमाबाई, रामाबाई, वीराबाई, हीरामनि, लाली, नीराँ, लक्ष्मीबाई, इस संसारमें धन्य दोनों पार्वती बाइयाँ, खीचनि, केशी, धनाबाई, भक्तोंकी उपासना करनेवाली गोमती, जगत् प्रसिद्ध बाँदररानी, गंगा-जमुना दोनों बाइयाँ (रैदासिनि), जेवाबाई, हरिषाबाई, जोइसिनि और पवित्र कीर्तिवाली कुँवरिरायजी—ये बाइयाँ शरीरसे अबला थीं, परंतु इनके भजन-साधन अत्यन्त सबल अर्थात् श्रेष्ठ थे। इनमें भक्तिका अपार बल था॥ १७०॥

इनमेंसे कुछ भगवद्भक्त नारियोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीदमाबाईजी

श्रीदमाबाईजी अत्यन्त उच्चकोटिकी सन्त थीं। भगवद्भजनपरायण दमाबाईकी सन्त-सेवामें बड़ी रुचि थी। सन्तोंके श्रीमुखसे भगवद् गुणानुवाद सुनते-सुनते आपके मनमें अभिलाषा हुई कि प्रभु कृपा करके दर्शन दें, अपनी मनमोहिनी झाँकी दिखाकर मुझे कृतार्थ करें। इनकी निरन्तर उत्कट अभिलाषाको देखकर कई बार प्रभुने सन्त-वेशमें आकर इन्हें दर्शन दिया, पर ये भगवान्‌को पहचान न सकीं। जब इनकी व्याकुलता अधिक बढ़ गयी तो फिर श्रीठाकुरजी एक सन्तका रूप धारण करके आये। आपने बड़े प्रेमसे उन्हें भोजन कराकर पूछा—महाराज! कृपा करके यह बतलाइये कि इस युगमें भगवान्‌के दर्शन कभी किसीको होते हैं अथवा नहीं। सन्तरूपधारी प्रभुने कहा—'होते हैं, अवश्य होते हैं। आपको भी कई बार हो चुके हैं। एक बार बहुत-से पक्वान्नोंको तुम परोसती गयीं, वे खाते चले गये, न उनको तृप्ति होती थी और न तुम्हारा भण्डार घटता था। तब तुम्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरी बार तुम्हारी नाड़ी देखी और तुम्हें औषधि दी।' इन रहस्यमयी बातोंको सुनकर दमाबाई समझ गयीं कि ये भगवान् ही हैं, फिर इन्होंने पूछा कि इन गुप्त बातोंका आपको कैसे पता है? यह कह आपने आगे बढ़कर सन्त-वेशधारी भगवान्‌का हाथ पकड़ना चाहा, तभी वे अन्तर्धान हो गये। अब इन्हें विरह व्याप गया। व्याकुल होने, तड़पने और विलाप करने लगीं तो भगवान्‌ने स्वप्नमें दर्शन देकर सन्तुष्ट किया और समझाया कि मैं तुमसे दूर नहीं हूँ। तुम्हारी सन्त-सेवासे सन्तुष्ट हूँ। अमृतमयी प्रभुकी वाणीसे इन्हें परमानन्द हुआ।

श्रीलालीजी

श्रीलालीजीका स्वभाव अत्यन्त सरल था और साधु-सेवामें उन्हें बड़ी प्रीति थी। एक बार इनके पुत्रकी मृत्यु हो गयी। उस समय इनकी सन्त-भक्तिकी परीक्षा लेनेके लिये भगवान् एक सन्तका वेष धारण करके आ गये। सन्तको आया देखकर ऐसी प्रसन्नता हुई कि उससे पुत्र-मृत्युका दुःख विस्मृत हो गया। झट उन्होंने पुत्रके शवको छिपा दिया और सन्तकी सेवामें उपस्थित हो गयीं। आसनपर बैठाकर लालीजीने पूछा—'महाराज! आप रसोई अपने हाथसे स्वयं बनायेंगे अथवा मेरे श्रीठाकुरजीका प्रसाद ग्रहण करेंगे। भगवान्‌ने कहा—'हम तो तुम्हारे ही हाथसे बना प्रसाद पायेंगे।' श्रीलालीजी भोजन बनाने लगीं। इतनेमें भगवान् लालीके पतिका रूप धारण करके आये और उसे फटकारने लगे कि—'यह क्या? घरमें लड़का मरा पड़ा है और तू इस मुड़ियाके लिये पकवान बना रही है। तुझे न मेरा भय है और न लोक-मर्यादाका।' श्रीलालीजीने बड़ी नम्रतासे कहा—पुत्रका संस्कार तो बादमें भी हो जायगा। परंतु यदि सन्त लौट गये तो इनका आना सम्भव नहीं। सन्त-भगवन्त तो लोक-मर्यादासे अतीत होते हैं। यह सुनकर सन्तरूपधारी प्रभुने कहा—क्या तुम्हारे पुत्रकी मृत्यु हो गयी है? बताओ, वह कहाँ है? मेरे पास एक जड़ी है, उससे मृतक भी जीवित हो जाता है। आज्ञा मानकर लालीजीने पुत्रका शव लाकर दिखाया। प्रभुने झट उसे जीवित कर दिया और बोले—अब तो मैं स्नान करने जा रहा हूँ। बादमें प्रसाद लूँगा। ऐसा कहकर वे चले गये फिर लौटकर वापस आये ही नहीं। जब लालीजीके पतिदेव आये तो रहस्य खुला। इस प्रकार भगवान्‌ने आकर दर्शन दिया और पुत्रको जीवित किया। इस अहैतुकी भगवत्कृपाका अनुभव करके सभीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

श्रीनीराजी

श्रीनीराबाई भक्त अंगदकी धर्मपत्नी थीं। श्रीअंगदजीका चरित्र छन्द ११३ में वर्णित है। जब श्रीअंगदजी श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करके राजाके बुलानेपर घर आये। तब आनन्दमग्न होकर उन्होंने हीरा धारण किये श्रीजगन्नाथजीकी शोभाका खूब वर्णन किया। उसे सुनकर भक्तिमती श्रीनीराबाईके मनमें भी प्रभु-दर्शनकी तीव्र लालसा जग उठी। विरह व्याप गया, आँखोंसे निरन्तर अश्रुधारा बह रही थी। उत्कट प्रेममयी उत्कण्ठा देखकर भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट हो गये। पतिमुखसे वर्णित सुन्दर रूपमाधुरीका दर्शनकर श्रीनीराजी कृतार्थ हो गयीं और विनती करने लगीं। इसी बीच वहीं श्रीअंगदजी भी आ गये। उन्होंने भी दर्शन किया। भगवान्ने कहा—'तुम्हारी भक्ता पत्नीको दर्शन देनेके लिये मैं पुरुषोत्तमपुरीसे आया हूँ। इनके विशाल प्रेमजालने मुझे खींच लिया।' तब श्रीअंगदजीने हाथ जोड़कर कहा कि इस भक्ताको धन्य है, जिसके प्रेमवश आपने पधारकर मुझे भी दर्शन दिया। इस प्रकार प्रभु भक्त-दम्पतीको कृतार्थकर अन्तर्धान हो गये।

श्रीखीचनीजी

खीची जातिमें उत्पन्न होनेके कारण आपका 'खीचनी' यह नाम पड़ गया था। एक राजाके साथ आपका विवाह हुआ था। आपका सन्तोंके चरणोंमें बड़ा-भारी प्रेम था। एक बार खीचनीजीने सुना कि अमुक गाँवमें सन्तजन पधारे हैं। उनका नाम सुनकर इन्होंने अनेक पक्वान्न बनाये और एक दासीके हाथ भेज दिये। साथमें एक लड़केको भी भेजा। दासी सन्तोंको पक्वान्न और भेंट देकर वापस लौटी। मार्गमें लुटेरोंने लड़केको मारकर भगा दिया और दासीको पकड़कर ले गये। लड़केने आकर समाचार सुनाया तो राजाको रानीपर क्रोध आ गया। वह रानी खीचनीको डाँटने लगा—मुण्डे-वैरागियोंकी सेवामें मेरी दासी क्यों भेजी? वह बड़ी सुन्दर, चतुर और मुझे प्यारी थी। अब वैसी दासी कहाँ मिलेगी? हो सकता है कोई वैरागी ही उसे उड़ा ले गया हो? ऐसे वाग्वाणोंसे रानीका हृदय घायल हो गया। सन्त-निन्दा उससे सही नहीं जा रही थी, अब तो वह श्रीठाकुरजीसे प्रार्थना करने लगी कि 'प्रभो! किसी तरह सन्तोंकी प्रतिष्ठा हो, राजाके मनमें भी सन्तोंके प्रति प्रेम हो।' करुण-पुकार सुनकर सन्त-सेवासे सन्तुष्ट भगवान्ने दासीको लाकर राजमहलमें खड़ा कर दिया। दासीने राजासे कहा कि मैं घने वनसे यहाँ कैसे आ गयी, मुझे भी पता नहीं! रानी खीचनीके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। राजाके मनमें भी सन्त और भगवन्तके प्रति श्रद्धा हो गयी। वह भी सेवा करने लगा।

श्रीकेशीबाईजी

श्रीकेशीबाईजी भक्त श्रीखोजीजीकी धर्मपत्नी थीं। खोजीजीके भावानुकूल श्रीकेशीबाईका भी सन्त-सेवामें बड़ा प्रेम था। आप बड़ी श्रद्धा एवं सावधानीसे सन्त-सेवा करती थीं। एकबार सर्दीके समयमें आपके यहाँ कई सन्तोंका शुभागमन हुआ। कपड़ोंकी कमीसे उन्हें ठिठुरता हुआ देखकर आपने अपने पतिदेवसे कहा कि इन सन्तोंके लिये वस्त्रोंका प्रबन्ध कीजिये। श्रीखोजीजीने कहा कि इस समय मेरे पास धनका अभाव है, अतः यदि तुम अपने आभूषण दे दो तो उन्हें बेचकर सन्तोंको वस्त्र दिये जा सकते हैं। स्त्रियोंको आभूषणोंसे मोह रहता है, पर इन्हें तो सन्त-सेवामें प्रेम था, अतः बड़ी प्रसन्नतासे इन्होंने अपने आभूषण देकर सन्तोंके लिये वस्त्र बनवाये। ऐसी निष्ठाके कारण इनपर सदा प्रभुकी कृपा रहा करती थी।

श्रीबाँदररानीजी (मोहनदासी)

श्रीबाँदररानीजीका नाम मोहनदासी था और ये स्वामी हरिदासजीकी शिष्या थीं। ये बन्दरोंको चने चुगाकर उनका पालन करती थीं, अतः इनका बाँदररानी यह उपनाम प्रसिद्ध था। भक्तदामगुणचित्रणीमें इन्हें लाखा भक्तकी धर्मपत्नी कहा गया है। यथा—

सुनहु नारि जो बाँदर रानी। सो बाँदर की तिया बखानी॥
लाखा नाम भक्त की नारी। जाको सन्त सेव अति प्यारी॥

श्रीबाँदररानीका जो मूलमें नाम आया है, वे (छ० १०७) वानरवंशी श्रीलाखाजीकी धर्मपत्नी थीं। इन्हें सन्त-सेवा बहुत प्यारी थी। इनके पतिदेवने जब दण्डवत् करते हुए श्रीजगन्नाथजीकी यात्रा की। तब घरमें रहकर आपने सन्त-सेवा शुरू रखी। श्रीलाखाजी कुछ दिनोंतकके लिये सामानका संग्रह कर गये थे। जब वह समाप्त हो गया तो बाँदररानीने आभूषण बेचकर सन्त-सेवा की। उसके बाद घरके बर्तन बेच दिये परंतु सन्त-सेवामें कमी नहीं आने दी। उनके बाद अन्नकी कमीका अनुभव होने लगा। अब साधु-सेवा कैसे होगी, इस बातकी बड़ी-भारी चिन्ता हुई। जो अपने धर्ममें दृढ़ है, उसके धर्मकी रक्षा भगवान् करते हैं। भगवान्ने एक राजाको स्वप्न दिया कि लाखा भक्तकी स्त्रीके पास खर्चेकी कमी हो गयी है, अतः साधु-सेवाके लिये तुम उन्हें अन्न-धन दो। राजाने प्रातःकाल होते ही स्वप्नका स्मरण किया और अपना सौभाग्य मानकर बहुत-सा सामान लाखाजीके घरको भेज दिया। इस प्रकार बाँदररानीकी सेवा-निष्ठासे निरन्तर सेवा चलती रही। भक्तमाल छन्द १०४ में लाखाजीकी पत्नीका नाम 'जेवा' लिखा गया है। चरित्रमें कोई अन्तर नहीं है।

गंगा-जमुनाबाई

सुनौ संत हरि कृपा प्रगट संसार दिखाई।
जमन त्रास ते छुटीं गंग जमुना द्वै बाई॥
सदन घेरि बैठारि जमन दुष्टता बिचारी।
धर्‌यौ सिंह कौ रूप कृष्ण जन के हितकारी॥
जमन मृत्यु लखि पग पर्‌यौं अबलन प्रभु रक्षा करैं।
निकट सदाई स्याम घन अपने जन के साँकरे॥

—चाचा श्रीहितवृन्दावनदास

सोलहवीं शताब्दीमें इस देशमें मुसलमानोंका अत्याचार काफी जोरपर था। उस समय एक मुगल सरदारने कामवनपर चढ़ाई की और गाँवों को खूब लूटा। इस लूट-खसोट और भीषण हत्याकाण्डमें गंगा-यमुना दो असहाय लड़कियोंको भी अपने घर और कुटुम्बसे हाथ धोना पड़ा। इस समय इनकी अवस्था ९-९ वर्षकी थी। ये जंगलमें भाग छिपी थीं। इसीसे इनके प्राण बच गये।

प्रभुकी लीला विचित्र है। जिस समय गंगा-यमुना जंगलमें अकेली भूखसे रो रही थीं, उसी समय मनोहरदास नामक कोई ब्राह्मण वहाँसे निकला। उसे उन बालिकाओंपर दया आयी और वह इन्हें मथुरा ले आया।

मनोहरदासने उन दोनों बालिकाओंको नृत्य-गानकी अच्छी शिक्षा दी और पाँच वर्षोंमें उन्हें इस कलामें निपुण कर दिया। अब वह इन्हें जगह-जगह नचाकर इनसे पैसे कमाने लगा। गंगा-यमुना दोनों अत्यन्त सुन्दरी थीं। अतः मनोहरदासको खूब धन मिलता, किंतु ***'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'*** वह इनसे अधिक-से-अधिक रुपया कमाना चाहता था। इसलिये उसने इन्हें बेचनेका विचार किया। एक दिन वह आगरेके किसी राजा मानसिंहके यहाँ इनका सौदा भी कर आया। सौदा दो हजार रुपयोंका हुआ। पापका फल शीघ्र मिल जाता है। मनोहरदास सौदा करके आया और कन्या-विक्रयके ही पापसे दूसरे दिन मर गया। मरते समय वह अपना गुप्त धन इन कन्याओंको बता गया।

अस्तु, अबतक गंगा-यमुना अपने गुणके लिये प्रसिद्ध हो गयी थीं। उनकी नृत्य-कला और गायनका आनन्द लेनेके लिये श्रीवृन्दावनके एक वृद्ध संत श्रीपरमानन्ददासजी कभी-कभी मनोहरदासके यहाँ आया करते। उनसे गंगा-यमुनाका परिचय और प्रेम था। मनोहरदासके मरनेपर दोनों बहनें बाबा श्रीपरमानन्ददासजीके आश्रयमें चली आयीं। अब उन्हें इस नृत्य-गायनसे घृणा हो चुकी थी और संत-संगके प्रभावसे स्वाभाविक ही भजनमें उनकी रुचि हो गयी थी। धीरे-धीरे उनका मन इस संसारके विषयोंसे उपरत हो गया।

अब दोनों बहनोंने वैष्णवी-दीक्षा ग्रहण करनेकी प्रार्थना की। बालिकाओंकी सच्ची जिज्ञासा देखकर श्रीपरमानन्ददासजीने उन्हें अपने गुरुदेव गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रके शरणापन्न करा दिया। वैष्णवी दीक्षा लेकर गंगा-यमुना दोनों श्रीठाकुरजीकी सेवा, नाम-जप और पाठ-भजन आदि बड़ी प्रीतिसे करने लगीं। इनके पास जो मनोहरदासकी सम्पत्ति थी, उसे साधु-संतोंकी सेवामें लगाने लगीं। इससे उन्हें अत्यधिक आनन्द मिलता।

इस प्रकार कितने ही दिन बीतनेके पश्चात् उनके जीवनमें एक उपद्रव आया। गंगा-यमुनाके रूप-लावण्यकी चर्चा तो सर्वत्र थी ही, मथुराके हाकिम अजीज़बेगने भी सुनी। उसने जाकर इन्हें देखा भी। तब तो मानो उसकी छातीपर साँप-सा लोटने लगा। अजीज़बेगने चुपकेसे दूसरे दिन गंगा-यमुनाकी कुटियाके आस-पास घेरा डाल दिया और जब रात्रिके समय उनकी कुटियापर आया, तब उसने वहाँ एक सिंहको रखवाली करते पाया। सिंहने गर्जना करके उसे खूब डराया भी। वह भागा अपने घर आया। डरके मारे उसे ज्वर आ गया। कई बार मूर्छा भी हुई। सारी रात बड़े कष्टसे बीती।

यह सब तो हुआ, पर गंगा-यमुनाको इस बातका कि कोई आया भी था, पतातक न चला। वे तो संतोंके संगमें बैठी हरिगुणगान करती रहीं। सबेरा होनेपर अजीज़बेग गंगा-यमुनाके पास आया और उन्हें माता शब्दसे सम्बोधित करके उसने अपना अपराध क्षमा कराया। उसीने उन्हें सिंहकी कथा भी सुनायी तथा बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। किंतु—

इन वाकौ धन हाथ न छुयौ। हरि भक्तनि हित सिच्छित कियौ॥

इन्होंने उसके धनको छुआ नहीं और और संतोंकी सेवामें लगा देनेका उपदेश दिया। इससे अजीज़बेगकी श्रद्धा और बढ़ गयी। उसने बार-बार इनकी चरण-रज ली, तब इन्होंने उसे आदरके साथ विदा कर दिया।

इन दोनों भक्तिमती बहनोंके विषयमें भक्तमालकार श्रीगोविन्द अलिजीने लिखा है—

हीन कुली वपु धार सार हितजू ते पायौ।
जैसे पारस परस लोह ते हेम कहायौ॥
दास मनोहर वास गृह परमानँद के संग।
कुंजमहल में प्रगट ह्वै गावति तान तरंग॥
इहि बिधि जुगल रिझाय कै बसीं बिपिन में आइ।
गंगा जमुना की कथा सुनहु रसिक चित लाइ॥

श्रीकान्हरदासजी

श्रीगुरु सरनै आय भक्ति मारग सत जान्यो।
संसारी धर्म छाँड़ि झूँठ अरु साँच पिछान्यो॥
ज्यों साखा द्रुम चंद जगत सों इहिं बिधि न्यारो।
सर्बभूत समदृष्टि गुननि गंभीर अति भारो॥
भक्त भलाई बदन नित, कुबचन कबहूँ नहिं कह्यो।
कन्हरदास संतनि कृपा हरि हिरदै लावो लह्यो॥ १७१॥

श्रीकान्हरदासजीने सन्तोंकी कृपासे यह महान् लाभ प्राप्त किया कि अपने हृदयमें भगवान‍्को स्थापित किया। इन्होंने गुरुदेवकी शरणमें आकर भक्तिमार्गको सच्चा, सात्त्विक, सरल और श्रेष्ठ जाना। आपने संसारी धर्मको त्यागकर क्या सत्य है और क्या झूठ है, इस बातको पहचाना और सत‍्का ग्रहण तथा असत‍्का

त्याग किया। भगवद्धर्मको स्वीकार किया। आप संसारसे उसी प्रकार अलग रहे, जैसे पेड़की शाखासे चन्द्रमा अलग और दूर रहता है, लेकिन दिखानेके लिये पेड़के पासमें बताया जाता है। आप संसारके सभी प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखते थे। अनेक सद्‌गुणोंसे युक्त थे। अतः आप महान् थे। आपने अपने मुखसे सदा सज्जनों-भक्तोंकी प्रशंसा की। मिथ्या, कटु और परनिन्दारूप कुवचन आपने कभी नहीं कहे॥ १७१॥

श्रीकान्हरदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकान्हरदासजी समदर्शी सन्त थे। किसी सन्तसे कोई भूल भी हो जाय तो श्रीकान्हरदासजी कटु शब्दोंका प्रयोग नहीं करते थे। आप सन्तसेवी तो थे ही, अतः सन्तोंका आवागमन बना ही रहता था। एक बार दो सन्त आये, वे कई दिनोंसे भूखे थे। जितना प्रसाद था, उन्हें दिया गया। उसे पाकर तृप्त न हुए अतः उन्होंने कान्हरदासजीके घरसे एक धातुपात्र ले जाकर हलवाईके हाथ बेच दिया और दोनोंने भरपेट लड्डू-पेड़ा खाया। यह जानकर आपका शिष्य सन्तोंको फटकारने लगा। उस अज्ञानी शिष्यको आपने समझाया, कि सन्त बर्तन बेचकर खा गये तो अपना ही खाये।

सब सामग्री राम की सन्त राम के राम। जो चाहैं सोई करैं तू बोलत बेकाम॥

इस प्रकार आपकी सन्तनिष्ठा अद्भुत थी।

एक बार श्रीकान्हरदासजीको बड़े जोरसे बुखार चढ़ आया। तब ये आसनपर पड़े-पड़े ही प्रभुकी मानसी-सेवा करने लगे। भोग लगनेके बाद प्रभुने इनसे कहा कि तुम भी यह प्रसाद लो। तब आपने शिष्यको जोरसे पुकारकर कहा—अरे! प्रसाद लेनेके लिये शीघ्र ही पात्र लाओ। शिष्यने सोचा कि ज्वरकी अधिकताके कारण कुछ बक रहे हैं। अतः पात्र न लाकर खड़ा ही रहा। तब फिर आपने डाँटकर कहा कि शीघ्र कटोरा लाओ। तब वह कटोरा ले आया। इनके हाथोंमें आते ही कटोरा भर गया। तब सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसमेंसे जिसने-जिसने प्रसाद लिया। सभीको अद्भुत स्वाद और परमानन्द मिला। ऐसे भगवत्प्राप्त सन्त थे श्रीकान्हरदासजी!

श्रीकेशवजी लटेरा और श्रीपरशुरामजी

कहनी रहनी एक एक प्रभु पद अनुरागी।
जस बितान जग तन्यो संत संमत बड़भागी॥
तैसोइ पूत सपूत नूत फल जैसोइ परसा।
हरि हरिदासनि टहल कबित रचना पुनि सरसा॥
(श्री) सुरसुरानंद संप्रदा दृढ़ केसव अधिक उदार मन।
लट्यो लटेरा आन बिधि परम धरम अति पीन तन॥ १७२॥

श्रीकेशवदासजी लटेरा आचार-विचारका जैसा उपदेश देते थे, उसीके अनुसार स्वयं आचरण भी करते थे। प्रभुके श्रीचरणोंमें आपका अनन्य प्रेम था। सारे संसारमें आपकी कीर्ति फैली हुई थी। सन्तोंकी सम्मति आपके साथ थी, अतः आप बड़भागी थे। जैसे निष्ठावान् सन्तसेवी भक्त श्रीकेशवजी थे, वैसे ही उनके सुपुत्र श्रीपरशुरामजी भी थे। श्रीकेशवरूप कल्पवृक्षके अनोखे, सन्तोंसे प्रशंसनीय फल श्रीपरशुरामजी थे। ये भगवान् और उनके भक्तोंकी प्रेमसे सेवा करते थे तथा सरस पदोंकी रचना भी करते थे। ये आचार्य श्रीरामानन्द स्वामीके शिष्य श्रीसुरसुरानन्दजीके शिष्य थे। अपने सम्प्रदायकी पद्धतिके कट्टर अनुयायी और परम उदार हृदयके थे। ये महोत्सव आदि वैष्णवधर्मके पालन करनेमें परम पुष्ट और विवाह आदि संसारी कार्योंके लिये अत्यन्त दुर्बल थे अर्थात् बहुत कम खर्च करते थे॥ १७२॥

श्रीकेशवदासजी लटेराके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकेशवदासजी शरीरसे तो दुर्बल थे, पर इनकी भक्ति अति सबल थी। एक बार एक सन्तने महोत्सव किया और अपनी ठकुरानीका विवाह श्रीलटेराजीके लालजीके साथ किया। सन्तजनोंको साथ लेकर आप बारातमें गये। वहाँ खूब स्वागत-सत्कार हुआ, फिर विदाई हुई। दहेजके रूपमें बहुत-सा अन्न-धन-सामान मिला। उसे गाड़ियोंमें भरकर तथा पालकीमें लाड़िलीलालको पधराकर ले चले। रास्तेमें यवन सैनिकोंने इन्हें घेर लिया और पूछा कि गाड़ी और पालकीमें क्या है? श्रीलटेराजीने कहा हमारे लालजीको दहेजमें मिला सामान गाड़ीमें है और पालकीमें लाड़िलीलाल हैं। यवनोंने कहा—तुम लोग अपने प्राणोंको लेकर दूर भाग जाओ। यह सब सामान हमारे काम आयेगा। इतना कहकर वे लोग गाड़ी और पालकीमें देखने लगे कि क्या है। आवरण हटाते ही उन्हें सिंहकी गुर्राहट सुनायी पड़ी। ऐसा लगा कि इसमें सिंह और बाघ भरे हैं। भयभीत होकर भागे तब श्रीलटेराजीने कहा—भयभीत मत होओ। चाहो तो सामान ले जाओ। यवनोंने सन्तोंकी करामात देखी तो भेंट-पूजा देकर माफी माँगकर चले गये। सानन्द बारात आश्रममें पहुँची तो वहाँ एक सन्त आपके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे बोले कि हमारे यहाँ भण्डारा है, उसमें आप कुछ सहायता कीजिये। यह सुनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सारा दहेजका सामान श्रीलटेराजीने उस सन्तके यहाँ भेज दिया। सन्तोंको सन्तुष्ट करना इनका प्रधान लक्ष्य था।

श्रीकेवलरामजी

भक्ति भागवत बिमुख जगत गुरु नाम न जानैं।
ऐसे लोक अनेक ऐंचि सनमारग आनैं॥
निर्मल रति निहकाम अजा तें सदा उदासी।
तत्त्वदरसि तम हरन सील करुना की रासी॥
तिलक दाम नवधा रतन कृष्न कृपा करि दृढ़ दिया।
'केवलराम' कलिजुगा के पतित जीव पावन किया॥ १७३॥

श्रीकेवलरामजीने साधनपथभ्रष्ट अनेक (सिन्ध-देशके) पतित जीवोंका उद्धार किया। जो लोग भक्त, भगवान्, वैष्णवधर्म और गुरुओंसे विमुख थे, इन सबकी निन्दा करते थे, इनकी महिमासे सर्वथा अपरिचित थे, ऐसे अनेक नारकी लोगोंको खींचकर भक्तिमार्गमें लाये। भगवान्‌में आपका निष्काम प्रेम था। माया एवं मायिक जगत्‌से आप सर्वथा उदासीन थे। शास्त्रोंका अध्ययन करके आपने भगवत्-तत्त्वको जान लिया था, अतः अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेमें आप समर्थ हुए। आप सत्य, सदाचार और करुणाके निधान थे। आपने तिलक, कण्ठी, नवधा भक्तिरत्न और श्रीकृष्णकी कृपाको श्रीकृष्णकी कृपासे लोगोंके मनमें दृढ़तासे स्थापित करके पतित जीवोंको पवित्र किया॥ १७३॥

श्रीकेवलरामजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकेवलरामजी सबके घरोंमें, द्वारोंपर जाकर यही कहते कि आपलोग कृपा करके हमको यह दान दें कि 'सदा मन लगाकर भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा कीजिये और उनके नामका जप कीजिये।' एक बार आपने दस-बीस ऐसे अनाचारी देखे, जिनका वेश तो वैष्णवोंका-सा था, परंतु आचरण दुष्टोंका-सा था। उनपर दया करके आपने उन्हें भगवान् शालग्रामकी मूर्तियाँ, मन्त्र, गोपीचन्दन, तुलसी-मालाएँ दीं और सेवा-पूजाकी विधि सिखा दी। वे सब सच्चे सदाचारी वैष्णव बन गये। करुणानिधान तो आप ऐसे थे कि संसारमें आप-सरीखा दूसरा कहीं नहीं देखा-सुना गया। एक बार किसी बनजारेने आपके सामने बैलको जोरसे डण्डा

मारा। दयावश आपको उसकी पीड़ाका ऐसा अनुभव हुआ कि आप उसी क्षण धरतीपर गिर गये। डण्डेका निशान आपकी पीठपर उभर आया। इसे तन और मनकी सच्चाई कहते हैं। श्रीकेवलरामजी तदाकार हो गये थे, उन्होंने बैलके और अपने शरीरमें भेद नहीं माना, उसके कष्टको अपना माना। (ऐसा तादात्म्य देखकर बनजारा भी वैष्णव बन गया।) ऐसी दयालुताका वर्णन वाणीसे समझकर कैसे किया जाय। महापुरुष ही अनुभव करके जान सकते हैं।

श्रीप्रियादासजीने श्रीकेवलरामजीकी दयालुताका एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

घर घर जाय कहैं यहै दान दीजै मोकों कृष्ण सेवा कीजै नाम लीजै चित लायकै।
देखे भेषधारी दस बीस कहूँ अनाचारी दये प्रभु सेवनि कों रीति दी सिखायकै॥
करुणानिधान कोऊ सुने नहीं कान कहूँ, बैल के लगायौ साँटौ लोटे दया आयकै।
उपट्यो प्रगट तन मन की सचाई अहो, भए तदाकार कहौं कैसे समुझायकै॥ ६००॥

श्रीआसकरनजी

धर्मसील गुनसींव महाभागवत राजरिष।
पृथीराज कुलदीप भीमसुत बिदित कील्ह सिष॥
सदाचार अति चतुर बिमल बानी रचना पद।
सूर धीर ऊदार बिनय भलपन भक्तनि हद॥
सीतापति राधा सुबर भजन नेम कूरम धर्‌यो।
(श्री) मोहन मिश्रित पद कमल आसकरन जस बिस्तर्‌यो॥ १७४॥

राजर्षि भक्त श्रीआसकरनजी धर्म, शील और सद्‌गुणोंकी सीमा थे। आप आमेरनरेश श्रीपृथ्वीराजके पौत्र, श्रीभीमसिंहजीके पुत्र और स्वामी श्रीकील्हदेवजीके शिष्य थे। ये सदाचारका पालन करनेमें परम चतुर थे। आपकी वाणी निर्मल थी, आपने अनेक पदोंकी रचना की। आप शूरवीर, धीर, गम्भीर, उदार, विनयी, बड़प्पन आदिसे युक्त तथा भक्तोंमें श्रेष्ठ थे। कूर्मवंशीय श्रीआसकरनजी सीतापति श्रीरामचन्द्र और राधापति श्रीकृष्णचन्द्र—दोनोंकी नियमपूर्वक सेवा (भजन) करते थे। जिन दोनों ठाकुरोंके नाममें मोहन शब्द जुड़ा है, ऐसे श्रीजानकीमोहन और श्रीराधामोहन—इन दोनों इष्ट स्वरूपोंके श्रीचरणकमलोंकी आशा करनेवाले श्रीआसकरनजीका सुयश सर्वत्र फैल गया॥ १७४॥

राजर्षि आसकरनजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीआसकरनजी नरवरगढ़के राजा थे। आप मनमोहन भगवान्‌को मनमें धारण करके चार घण्टेतक लगातार मन्दिरमें रहकर प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करते थे। उस समय द्वारपर चौकीदारको बैठा देते। कोई भीतर जाने नहीं पाता। इस प्रकार आपकी बुद्धि सेवामें भलीभाँति रम गयी थी। एक बार किसी आवश्यक कार्यसे नरवरगढ़में दिल्लीका बादशाह आया और उसने अपने सेवकोंसे कहा कि 'आसकरनजीको शीघ्र ही लिवा लाओ।' वे लोग आये तो उस समय ये मन्दिरमें थे, अतः बादशाहके दूतोंकी बात यहाँ किसीने नहीं सुनी। पहरेदारोंने आसकरनजीको सूचना देनेसे इनकार कर दिया। तब बादशाहने अपनी आज्ञाका उल्लंघन मानकर बड़ी भारी सेना भेज दी। सेनापतिने आकर कहा 'मेरे आनेकी सूचना राजा आसकरनके पास भेजो।' इस बातको सुनकर भी लोगोंने टाल दिया। सेवामें विघ्न-भयसे सूचना न दी। अब क्या होगा, यह विचारकर लोगोंके मनमें बड़ी घबड़ाहट पैदा हो गयी।

बादशाहके सेनापतिने बादशाहके पास सूचना भेजी कि 'हमारे कहनेसे भी कोई राजाको खबर नहीं पहुँचा रहा है, आपकी आज्ञा हो तो मैं युद्ध छेड़ दूँ।' यह सुनकर बादशाहके मनमें रुचि उत्पन्न हुई कि राजा कैसा सेवानिष्ठ है, चलकर देखना चाहिये। अब बादशाह स्वयं ही वहाँ आया। तब सभी राजकर्मचारी बड़े सोच-विचारमें पड़ गये कि अब क्या करना चाहिये। उन लोगोंने बादशाहसे कहा—हम राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करके वहाँ नहीं जा सकते हैं और न कुछ सूचना ही दे सकते हैं। आप चाहें तो अकेले जा सकते हैं। बादशाह भीतर गया तो उसे वहाँका दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उस समय श्रीआसकरनजी भगवत्सेवा पूरी करके भूमिपर लेटकर साष्टांग दण्डवत्प्रणाम कर रहे थे। बादशाह खड़ा देखता रहा, बड़ी देर हो गयी फिर भी ये न उठे। तब बादशाहने राजा आसकरनके पैरमें तलवार मारी, इससे राजाकी एड़ी तो कट गयी, परंतु उनकी भौंह भी टेढ़ी नहीं हुई अर्थात् कष्टका किंचित् अनुभव नहीं हुआ। नित्य-नियमके अनुसार राजाने बड़ी शान्ति एवं धैर्यके साथ सब कार्य सम्पन्न किया। इस प्रकार राजाने अपना अद्भुत धैर्य दिखलाया।

श्रीआसकरनजी भगवान्को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके उठे और उन्होंने चिक (परदा) डाल दिया। पश्चात् मुड़कर पीछे देखा तो बादशाह दिखायी पड़ा। तब इन्होंने शिष्टाचारके अनुसार उसे जोहार (सलाम) किया। राजाकी भगवत्सेवामें नियम-निष्ठाको देखकर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। प्रेमकी सच्चाई यही है कि उसमें थोड़ी भी शिथिलता या बनावटीपना न हो। इसके बाद बादशाहने श्रीआसकरनजीसे प्रेम-नेमके सम्बन्धमें कुछ बातचीत की और इनके विचार सुनकर वह बहुत ही खुश हुआ। उसका हृदय भक्ति-रससे सराबोर हो गया। कुछ दिनोंके बाद श्रीआसकरनजी शरीरको त्यागकर भगवद्धाम चले गये। यह सुनकर बादशाहको बहुत कष्ट हुआ। फिर कुछ दिनोंके बाद उसने सुना कि सेवा-पूजा और भोग-रागके अभावमें श्रीठाकुरजी कष्ट पा रहे हैं। तब उसने सेवा-पूजा करनेवाले ब्राह्मणोंको अलग-अलग गाँव लिख दिये और उन पुजारियोंको आदेश दिया कि आसकरनजीके प्राण-प्यारे ठाकुरजीकी सेवा-पूजा आपलोग बड़े प्रेम-नेमसे किया कीजिये। इस प्रकार भगवत्सेवाका यथोचित प्रबन्ध करके बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

नरवर पुर ताकौ राजा नरवर जानौ मोहन जू धरि हियै सेवा नीके करी है।
घरी दस मन्दिर में रहैं रहै चौकी द्वार, पावत न जान कोऊ ऐसी मति हरी है॥
पर्‌यो कोऊ काम आय अबहीं लिवाय ल्यावौ कहै पृथीपति लोग कान में न धरी है।
आई फौज भारी सुधि दीजिये हमारी, सुनि वहू बात टारी, परी अति खरबरी है॥ ६०१॥
कहिकै पठाई 'कहौ कीजियै लराई' सुनि रुचि उपजाई चलि पृथीपति आयौ है।
पर्‌यौ सोच भारी, तब बात यों बिचारि कही 'आप एक जावौ', गयौ अचरज पायौ है॥
सेवा करि सिद्धि, साष्टाङ्ग ह्वै कै भूमि परे, देखि बड़ी बेर, पाँव खडग लगायौ है।
कटि गई एड़ी, एपै टेढ़ीहू न भौंह करी करी नित नेम रीति धीरज दिखायौ है॥ ६०२॥
उठि चिक डारि, तब पाछें सो निहारि, कियौ मुजरा विचारि, बादशाह अति रीझे हैं।
हित की सचाई यहै नेकु न कचाई होत, चरचा चलाई भाव सुनि सुनि भीजे हैं॥
बीते दिन कोऊ नृप भक्त सो समायौ, पृथीपति दुख पायौ, सुनी भोग हरि छीजे हैं।
करैं विप्र सेवा तिन्हैं गाँव लिखि न्यारे दिये वाके प्रान प्यारे लाड़ करौ कहि धीजे हैं॥ ६०३॥

गोसाईं विट्ठलनाथके दीक्षित शिष्य परम भगवदीय राजा आसकरण एक ऐसे ही सौभाग्यशाली जीव थे, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपनी अनेक लीलाओंका साक्षात्कार कराया था।

भक्त आसकरनजीके सम्बन्धमें कुछ अन्य विवरण इस प्रकार प्राप्त होता है—

राजा आसकरन नरवरगढ़के राजा थे। सम्राट् अकबरके समकालीन थे। बाल्यावस्थासे ही भगवद्भक्तिकी माधुरी और संगीतकी सरसताके आस्वादनमें उनकी विशेष अभिरुचि थी। उनकी राजसभामें सुदूर प्रान्तोंसे कवि, कलाकार और गायक आया करते थे। एक बार संगीतसम्राट् तानसेन उनकी राजसभामें पहुँच गये। उनकी संगीत-माधुरीमें राजा आसकरन भाव-निमग्न हो गये और मन्त्रमुग्धकी तरह उनका विष्णुपद सुनने लगे। तानसेन गोविन्दस्वामीका पद गा रहे थे, भाव यह था कि शरद्-रात्रिकी दिव्य ज्योत्स्नामें श्रीकृष्ण राधाजीके साथ बैठकर रसभरी बातें कर रहे हैं, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर बह रहा था, कोयल मीठी बोली बोल रहे हैं तथा भौंरे नव निकुंजकी कलिकाओंका रसास्वादन कर रहे हैं। राजा आसकरन पद सुनते-सुनते ध्यानस्थ हो गये। वे तानसेनके साथ गोविन्दस्वामीका दर्शन करनेके लिये व्रज आये।

अपार समृद्धि, विशाल राजप्रासाद, असीम अधिकारपर लात मारकर राजा आसकरनने भगवान् श्रीकृष्णकी सभाके गायकसे मिलनेमें गौरवानुभूति की। गोकुल पहुँचकर तानसेनकी प्रेरणासे उन्होंने श्रीविट्ठलनाथसे दीक्षा ली। उनके साथ ही वे नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गये। उस समय गोविन्दस्वामी नवनीतप्रियके सामने कीर्तन कर रहे थे। सावनका महीना था। मल्हारकी सरसता मन्दिरमें पूर्णरूपसे प्रवाहित हो रही थी। राजाने समझ लिया कि गोविन्दस्वामी ही गा रहे हैं। वे पदका भाव-चिन्तन करने लगे। नयन बन्द थे। राजाने ध्यानमें मग्न होकर देखा कि परम पवित्र कालिन्दीके तटपर श्रीराधाकृष्ण कुसुम-चयन कर रहे हैं। आकाशमें काली-काली घटाएँ उमड़ रही हैं। कुछ बूँदें भी पड़ने लगीं हैं। नन्दनन्दन राधारानीके साथ वंशीवटकी ओर जा रहे हैं, उनका पीत पट लहरा रहा है, रासेश्वरीकी नीली चूनरी चारों ओर झिलमिल-झिलमिल करती हुई अत्यन्त मोहिनी छटा बिखेर रही है। कितना मादक दृश्य था! राधारानीकी कृपामृत-लहरीसे आसकरनकी समाधि लग गयी। कुछ देरके बाद चेत होनेपर वे गोविन्दस्वामीसे मिले। वे जबतक व्रजक्षेत्रमें रहे, नित्य गोविन्दस्वामीके साथ रमणरेतीमें विचरण किया करते थे। कुछ दिनोंके बाद गोसाईंजीकी आज्ञासे नरवर लौट आये। गुरुने उनको मदनमोहनजीकी सेवा सौंपी थी। नरवर आनेपर उन्होंने राजकार्यका भार दीवानकी देख-रेखमें सौंप दिया, भगवान्‌की सेवामें उनके दिन बीतने लगे। उनकी मानसी सेवा सिद्ध थी। उनका मन राजपदसे ऊब गया था।

राजा आसकरनको राज्यसुख अधिक दिनोंतक मोहमें न रख सका। वे तो भगवान्‌के सच्चे भक्त थे। राजकार्य भतीजेको सौंपकर भगवान् श्रीकृष्णकी राजधानी वृन्दावनकी ओर चल पड़े। कुछ दिनोंतक गोकुलमें भी रहे। उन्हें समय-समयपर भगवान्‌की लीलाके प्रत्यक्ष दर्शन होने लगे। वे लीला-दर्शनके अनुरूप पद-रचना करके अपनी वाणीको भगवत्-रससे सींचने लगे।

एक बार राजा आसकरन स्नान करने जा रहे थे। भगवान्‌ने रमणरेतीमें वंशी बजायी। सलोने श्यामसुन्दर उस समय रंगोत्सवमें मस्त थे। होली खेल रहे थे। राजाने उनकी रंगभरी छवि-माधुरीके स्तवनमें गाया, धमारकी स्वरभरी मीठी ध्वनिसे लीलास्थलका एक-एक कण रसमय हो उठा। उनकी भारतीका कण्ठ खुल गया।

या गोकुल के चौहटे रँग राची ग्वाल।
मोहन खेले फाग........॥

लीला तो समाप्त हो गयी, पर संगीतका क्रम चलता ही रहा। वे तीन दिनतक अचेत पड़े रहे। उन्हें भगवल्लीलाका साक्षात्कार हो गया था। गोसाईंजीने उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक व्रज-भ्रमणकी आज्ञा दे दी। वे उन्मत्त होकर भगवान्‌के यश-कीर्तन और लीला-गानमें दिन बिताने लगे। नयनोंमें भगवान्‌की छवि-वारुणीका ऐसा प्रभाव था कि कोटिप्रयत्न करनेपर भी वह न उतरता। खाने-पीनेकी कुछ भी चिन्ता नहीं रहती थी।

वे उच्चकोटिके रसिक भक्त थे। लीलारसामृतका पान ही उन्हें निश्चिन्त कर देता था। एक बार यशोदाजी अपने बाल-गोपालको दूध पिला रही थीं। सोनेके कटोरेमें औटा दूध लेकर ग्वाल-बालोंकी मण्डलीमें खेलते हुए घनश्यामको नन्दरानी दूध पीनेके लिये बार-बार बुला रही थीं। आसकरनजीके नयन इस पवित्र लीलाका दर्शन करके धन्य हो गये।

एक समय उन्हें भगवान्‌की शयन-लीलाका विचित्र दर्शन हुआ। उन्होंने देखा कि भगवान् निकुंजमें कोमल शय्यापर अपने नयनोंमें मीठी नींद भरकर ऊँघ-से रहे हैं, भगवान् सो नहीं रहे हैं। भक्तका हृदय विकल हो उठा, उन्होंने मीठी वाणीसे उनकी मनुहार करनी आरम्भ की—

तुम पौढ़ौ, हौं सेज बनाऊँ।
चाँप चरन, रहँ पायन तर, मधुर स्वर केदारौ गाऊँ॥
आसकरन प्रभु मोहन नागर यह सुख स्याम सदा हौं पाऊँ॥

भगवान् भक्तकी प्रसन्नताके लिये सो गये। आसकरन उनके मुखकी माधुरीमें लीन हो गये। इसी तरह उन्हें सदा भगवान्‌की लीलाके दर्शन होते रहते थे। राजा आसकरन वास्तवमें राजर्षि थे। वे भगवान्‌के लीलागायक, रसिक कवि और अनन्य भक्त थे।

श्रीहरिवंशजी

कथा कीरतन प्रीति संत सेवा अनुरागी।
खरिया खुरपा रीति ताहि ज्यों सर्बसु त्यागी॥
संतोषी सुठि सील असद आलाप न भावै।
काल बृथा नहिं जाय निरंतर गोबिंद गावै॥
सिष सपूत श्रीरंग को उदित पारषद अंस के।
निहकिंचन भक्तनि भजै हरि प्रतीत 'हरिबंस' के॥ १७५॥

श्रीहरिवंशजी परम निष्किंचन भक्त थे। सभी भक्तोंकी विशेषकर निष्किंचन भक्तोंकी बड़े प्रेमसे सेवा करते थे। जिस प्रकार द्वापरके एक घसियारेने मात्र खरिया-खुरपाका दान करके श्रेष्ठ लोक तथा प्रसिद्धि पायी। उसी प्रकार आपने भी अपना सर्वस्व भक्तोंकी सेवामें अर्पितकर 'सर्वस्व दानी' पद प्राप्त किया। आप परम सन्तोषी और अत्यन्त नम्र थे। झूठ बोलना और बुरी बात कहना आपको अच्छा नहीं लगता था। समयको व्यर्थ न बिताकर निरन्तर भगवान्‌के गुणोंको गाते रहते थे। आप श्रीरंगजीके सुपात्र शिष्य एवं पुत्र थे और भगवत्पार्षदोंके अंशरूपमें प्रकट हुए थे। भगवान्‌में आपका अटल विश्वास था॥ १७५॥

श्रीकल्याणजी

नवकिसोर दृढ़ब्रत अनन्य मारग इक धारा।
मधुर बचन मन हरन सुखद जानत संसारा॥
पर उपकार बिचार सदा करुना की रासी।
मन बच सर्बस रूप भक्त पद रेन उपासी॥
धर्मदास सुत सील सुठि (मन) मान्यो कृष्न सुजान के।
हरिभक्ति भलाई गुन गँभीर बाँटे परी कल्यान के॥ १७६॥

अगाध गुणोंसे युक्त भगवान्‌की भक्ति और भलाई श्रीकल्याणदासजीके हिस्से आयी। चंचल नदीकी धाराकी तरह आपकी चित्तवृत्ति निरन्तर नवकिशोर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर प्रवाहित रहा करती थी। आपकी अनन्य भावसे भजन करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा थी। आपके मधुर वचन मनोहर और सुखप्रद थे, इस बातको सभी लोग जानते थे। सदा दूसरोंके साथ उपकार करनेका विचार इनके मनमें रहता था। आप कृपा-करुणाके निधान थे। मन-वाणी और अपने समस्त धनसे भक्तोंके चरणोंकी रजकी उपासना करते थे। सुन्दर शीलवान् श्रीकल्याणदासजी श्रीधर्मदासजीके पुत्र थे और भक्तोंके मनकी बातोंको जाननेवाले श्रीकृष्णचन्द्रको परम प्रिय थे॥ १७६ ॥

श्रीकल्याणजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकल्याणजी बड़े ही परोपकारी भगवद्भक्त थे। एक बार किसी ब्राह्मणने खेतीके लिये एक यवनसे कर्ज लिया। संयोगवश खेतीमें अन्न पैदा नहीं हुआ, इसलिये वह ब्राह्मण यवनके रुपये न चुका सका। यवनने जोर देकर तगादा किया और ब्राह्मणको परेशान करने लगा। श्रीकल्याणदासजीको मालूम पड़ा तो इन्होंने उस यवनका ऋण चुकाया और ब्राह्मणको संकटसे छुड़ाया। एक भक्तके पुत्रका विवाह था। उसने आकर श्रीकल्याणदासजीसे विनती की—मुझे दो सौ रुपये उधार दे दीजिये, व्याहके बाद शीघ्र ही मैं आपको दे दूँगा, यदि न दूँ तो आप पुत्र और पुत्रवधू दोनोंको ले लीजियेगा। वे आपके ठाकुरकी सेवा करेंगे। आपने दो सौ रुपये दे दिये। उसके पुत्रका विवाह हो गया। यथासमय जब आपने उससे रुपये माँगे। तब उसने कहा—मेरे पास तो एक पैसा भी नहीं है। यदि आप चाहो तो मुझे बेंचकर अपने रुपये वसूल कर लो। यह सुनकर श्रीकल्याणदासजीने उसकी परिक्रमा की और प्रणाम करके कहा कि बहुत अच्छा प्रभो! रुपये आपके ऊपर न्यौछावर हैं। ऐसे गम्भीर और उपकारी भाव देखकर प्रभु श्रीकृष्ण इनपर सन्तुष्ट हुए।

एक बार किसी सन्तने शरद्पूर्णिमाका महोत्सव किया। अपने मण्डलके सभी सन्तोंको निमन्त्रण दिया परंतु श्रीकल्याणदासजीको निमन्त्रण देना भूल गया। रातको स्वप्नमें श्रीठाकुरजीने उससे कहा—तुमने कल्याणदासको निमन्त्रण क्यों नहीं दिया? वह मेरा प्यारा भक्त है, उनके बिना आये उत्सव पूर्ण न होगा। स्वप्नमें आदेश पाकर उसने बड़े आदरसे इन्हें निमन्त्रण दिया और विशेष सत्कार किया। सर्वेश्वर भक्तमालके अनुसार श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजीके प्रमुख शिष्य श्रीकान्हरदेवजी हुए, उनके शिष्योंमें श्रीधर्मदासजी प्रसिद्ध सन्त हुए। श्रीकल्याणदासजी इन्हींके कृपापात्र शिष्य थे।

श्रीबीठलदासजी

आदि अंत निर्बाह भक्त पद रज ब्रतधारी।
रह्यो जगत सों ऐंड़ तुच्छ जानै संसारी॥
प्रभुता पति की पधति प्रगट कुल दीप प्रकासी।
महत सभा मैं मान जगत जानै रैदासी॥
पद पढ़त भई परलोक गति गुरु गोबिंद जुग फल दिया।
बिठलदास हरि भक्ति के दुहूँ हाथ लाडू लिया॥ १७७॥

श्रीबीठलदासजीने भगवद्भक्तिके दोनों फलों (लोकमें सन्तसेवा और परलोकमें प्रभुसेवा)-को प्राप्त किया। आपने आदिसे अन्ततक अर्थात् जीवनभर भक्तोंकी चरणरजको प्रतिज्ञापूर्वक सिरपर धारण किया अर्थात् सब प्रकारसे सन्तोंकी सप्रेम सेवा की। अहंकारी धनिकों और विमुखोंको आपने तुच्छ जाना, कभी उनकी खुशामद नहीं की। सर्वदा भगवद् बलपर उनसे ऐंठकर ही चलते थे। आप प्रभुताके पतिकी पद्धतिमें (अर्थात् श्रीसम्प्रदायमें श्रीरैदासजीकी प्रणालीसे सन्तसेवा करके) अपने कुलके दीपक हुए। सभी जानते

थे कि आप रैदासवंशी हैं, परंतु बड़ी-बड़ी सभाओंमें बड़े-बड़े महापुरुष आपका सम्मान करते थे। भगवल्लीलापदोंको पढ़ते-पढ़ते आपने शरीर छोड़ा और भगवद्धामको प्राप्त किया। आपपर प्रसन्न होकर श्रीगुरु और गोविन्द दोनोंने दो फल दिये, अतः आपके दोनों हाथोंमें हरिभक्तिके लड्डू रहे॥ १७७॥

श्रीबीठलदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीबीठलदासजी भगवान् श्रीरामके अकिंचन भक्त थे। आप बड़े सन्त-सेवी थे। वर्षमें एक महोत्सव करते थे। एक धनी-मानी सेठ इनके उत्सवमें धन देता था, पर ये उसे आदर विशेष न देकर उसकी ओरसे उदास ही रहते थे। प्रसंगवश किसी समय धनके मदमें चूर उस सेठको आपने फटकार दिया। अप्रसन्न होकर उसने इनके पास आना-जाना बन्द कर दिया फिर भी इन्होंने उसकी परवाह नहीं की। उत्सवका समय आ गया, उस सेठने सोचा कि इस बार मेरी सहायताके बिना देखें कैसे उत्सव होता है। भगवान् श्रीरामने यह देखकर एक वणिक्का रूप धारण किया और बीठलदासजीके पास आकर कहा—'महाराज! मैं एक बनिया हूँ, प्रभुकी प्रेरणासे आपके पास आया हूँ। ये तीन सौ अशर्फियाँ लीजिये और ठाठके साथ उत्सव कीजिये। मुझे प्यास लगी है अतः थोड़ा जल पिला दीजिये।' श्रीबीठलदासजी जल लेने गये उसी समय प्रभु अन्तर्धान हो गये। लौटकर आनेपर उन्हें न देखकर लोगोंसे पूछा कि वह बनिया भगत कहाँ गया, पर किसीने नहीं बताया; क्योंकि बाहर जाते किसीने देखा ही नहीं था। तब आप समझ गये कि अशर्फियाँ देनेवाले श्रीरामजी ही थे। प्रभु-कृपाका अनुभवकर आप विह्वल हो गये। सामान मँगवाकर दो दिनका उत्सव किया। सभी सन्तोंको अन्न, वस्त्र, प्रसादसे सन्तुष्ट किया। इस चमत्कारको देखकर उस सेवकका अहंकार दूर हो गया। क्षमा-प्रार्थना करता हुआ चरणोंमें गिर गया। तब आपने उसे सप्रेम समझाया कि तुच्छ संसारीका भरोसा न करके श्रीरामजीका ही भरोसा करो।

भगवद्भक्तोंके भक्त

क्वाहब श्रीरँग सुमति सदानन्द सर्बसु त्यागी।
स्यामदास लघुलंब अननि लाखै अनुरागी॥
मारू मुदित कल्यान परसबंसी नारायन।
चेता ग्वाल गुपाल सँकर लीला पारायन॥
सन्त सेय कारज किया तोषत स्याम सुजान कों।
भगवंत रचे भारी भगत भक्तनि के सनमान कों॥ १७८॥

भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेके लिये भगवान्ने इन सन्तोंको प्रकट किया। इन सन्तोंने भक्तोंकी सेवाके द्वारा भगवान्को प्रसन्न किया। श्रीक्वाहबजी, सुन्दर मतिवाले श्रीरंगजी, सन्तसेवाके लिये सर्वस्वका त्याग करनेवाले श्रीसदानन्दजी, लघुलम्ब (बौने) श्रीश्यामदासजी, अनन्य भक्त श्रीलाखाजी, मारु रागके प्रवीण गायक श्रीकल्याणजी, परसवंशमें उत्पन्न श्रीनारायणजी, श्रीचेताजी, श्रीग्वालजी, श्रीगोपालजी और भगवान्की लीलाओंके प्रेमी श्रीशंकरजी—इन भक्तोंने सन्तसेवा रूप महान् कार्य किया। उससे सुजान श्यामसुन्दर सन्तुष्ट हुए॥ १७८॥

भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेवाले इन भक्तोंमेंसे कुछका चरित इस प्रकार है—

श्रीसदानन्दजी

आप बड़े प्रेमसे सन्त-सेवा करते थे। आप सर्वस्व त्यागकर भी सन्तोंको सन्तुष्ट करना अपना कर्तव्य समझते थे। सन्तोंके आनेपर घरकी सब सामग्री उनके सामने रख देते और प्रार्थना करते कि आप इच्छानुसार इसका उपयोग कीजिये। भण्डारेमें सन्त भोजन करके सामानकी पोटली बाँधकर चल देते फिर भी आप

किसी सन्तको टोकते नहीं। आपकी उदारताके प्रभावसे चारों ओरसे ऋद्धि-सिद्धि आया ही करती। एक बार एक सन्त इनके पास आकर बोले—मैं बड़ा अभागी हूँ। मेरे पास रहनेके लिये घर नहीं है। जो था वह छिन गया। खाने-पहननेके लिये अन्न-वस्त्र नहीं है, अतः मेरे रहने और खाने-पीनेका प्रबन्ध कर दीजिये। श्रीसदानन्दजीने कहा—आप अपने कुटुम्बके साथ आज ही मेरे स्थानमें आ जाइये। रहिये, खाइये। मैं अपने लिये वनमें एक झोपड़ी बना लूँगा। ऐसा कहकर अपना सर्वस्व उसे सौंपकर स्वयं वनमें जाकर रहने लगे। भगवान्‌ने एक अपने धनी भक्तको स्वप्नादेश दिया कि मेरा प्रिय भक्त सदानन्द वनमें रह रहा है। एक आश्रम बनवाकर उसमें उसे रखो। सम्पत्ति रहनेवाली नहीं है, सन्त-सेवा करके उसे स्थिर करो। ऐसा ही हुआ। उसने आश्रम बनवाकर इन्हें रखा और खर्चेके लिये सीमित सीधा-सामान भी देने लगा, पर इनके यहाँ सन्तोंकी भीड़ अधिक होती। कभी-कभी सामानकी कमी पड़ने लगी। एक दिन आप उस स्थानको छोड़कर कहीं चले गये। इनके जाते ही साधुओंकी बड़ी जमात आ गयी। तब भगवान् सदानन्दजीका रूप धारण करके आये और उन्होंने सभी सन्तोंकी खूब सेवा की तथा आश्रमको अन्न-धनसे भर दिया। फिर वैश्य भक्तका रूप बनाकर श्रीसदानन्दजीके पास आये और बोले—अरे! आप यहाँ कैसे आ गये? अभी तो आप सन्तोंकी पंगत करा रहे थे। मैंने देखा है, आपके आश्रममें ऋद्धि-सिद्धिके भण्डार भरे हैं। पंगत करके सन्तोंने वरदान दिया है कि सदानन्द! तुम्हारे यहाँ सदा ही आनन्द रहेगा। कभी किसी वस्तुकी कमी न होगी। यह सुनकर आप आये और मन-ही-मन अपने आराध्य प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाकी अनुभूति की।

श्रीनारायणदासजी

आपकी सन्त-सेवामें बड़ी प्रीति थी। एक बार एक राजा आश्रमके समीप हरे वृक्षोंको कटवा रहा था। श्रीनारायणदासजीने मना किया, पर वह नहीं माना। राजकर्मचारी पेड़ काटने लगे। तब आप पेड़के समीप खड़े हो गये और बोले कि मैं पेड़को काटने नहीं देता हूँ। पेड़ काटना जीवहत्याके समान है। राजकर्मचारियोंको क्रोध आ गया। एकने श्रीनारायणदासजीपर जैसे ही प्रहार किया, वैसे ही स्वयं चिल्लाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और छटपटाने लगा। इस समाचारको सुनकर राजा भी वहीं आ गया। प्रहार करनेवालेको चोट लगी। सन्त जीवकी रक्षा कर रहे थे अतः उन्हें चोट नहीं लगी। इस चमत्कारसे प्रभावित होकर राजाने श्रीनारायणदासजीका विशेष सत्कार किया और इनके उपदेशोंको स्वीकार किया। केवल प्राणियोंके प्रति ही नहीं, वृक्षोंके प्रति भी इनके मनमें करुणा थी।

श्रीशंकरजी

सन्तसेवी श्रीशंकरजी एकबार अपने गाँवसे बाहर दूसरे गाँवमें गये हुए थे। वहाँपर आपने किसी सेठके द्वारपर कई साधुओंको देखा। निकट जाकर दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद पूछनेपर मालूम हुआ कि सन्तजन गेहूँका आटा और कुछ घी भगवान्‌के भोगके लिये माँग रहे हैं और वह सेठ बेझरके आटेकी पर्ची दे रहा है। श्रीशंकरजीने उससे कहा कि—तेरी गाँठसे क्या जा रहा है? पर्ची तुम्हें बनानी है। सामान पंचायती मिलना है। गेहूँका ही आटा और थोड़ा घी दे दो। सन्त-सेवा हो जायगी, इसमें तुम्हारी क्या हानि होगी? यह सुनकर सेठने क्रुद्ध होकर कहा—'यदि आप ऐसे बड़े सन्तसेवी हैं तो इन्हें ले जाइये और मनमाना भोजन कराइये।' इसपर आपने सन्तोंसे विनती करके कहा—भगवन्! आप लोग मेरे यहाँ चलिये। अश्रद्धालुका अन्न लेना उचित नहीं है। आपके पास आवश्यक सीधा-सामान न था। इसलिये घरका कुछ सामान बेचकर आपने गेहूँका आटा और घी आदि लाकर सन्तोंको दिया। सन्तोंने भोग लगाया पाया। आपकी इस सेवा-निष्ठापर प्रसन्न होकर भगवान् एक वैश्यका रूप धारण करके आये और एक पात्रमें भरकर मुहरें देते हुए बोले कि हमें प्रभुकी आज्ञा हुई है, अतः हम यह धन सन्त-सेवाके निमित्त देते हैं, आप स्वीकार

करें। ऐसा कहकर वे तुरंत अन्तर्धान हो गये। तब आपने जाना कि ये तो स्वयं प्रभु ही थे। कृपा करके आये और सन्त-सेवाका उपदेश दे गये।

श्रीलाखाजी

यह नाम कई स्थानोंपर आया है, अतः यह प्रतीत होता है कि लाखा नामके कई भक्त हुए। छ० १८५ में श्रीकील्हदेवजीके शिष्योंमें श्रीलाखाजी हैं। छ० १०७ में रामोपासक वानरवंशी श्रीलाखाजी हैं। प्रस्तुत छ० १७८ में आये हुए श्रीलाखाजीके सम्बन्धमें सर्वेश्वर भक्तमालमें लिखा है कि ये गुनीर गाँव हँसुवा फतेहपुरके निवासी अध्वर्यु ब्राह्मण थे। इनके पिताका नाम श्रीपरमानन्द था। लक्षपाकी, लाखापाकी, लक्षदास और लाखा आदि इनके कई नामोंका उल्लेख मिलता है। इनके द्वारा रचित 'भागवत पुराण सारांश' है। उससे तथा चन्द्रदासकृत 'भक्तविहार' से इनका परिचय मिलता है।

गुनीर गाँव गंगाजीके तटपर बसा हुआ है, वहीं झोंपड़ी बनाकर लक्षदासजी रहते थे। इनका गंगा-स्नान करनेका नित्य-नियम था। दैवयोगसे एक बार गंगाजी कुटीसे दूर हट गयीं। उस समय ये पूर्ण वृद्ध हो चुके थे फिर भी नित्य स्नान करने जाते थे। ग्रीष्मसे तप्त रेती और उसपर नंगे पैर धीरे-धीरे चलना, उनकी कठिन तपश्चर्या थी। आने-जानेमें असमर्थ होकर एक दिन इन्होंने प्रार्थना की—'मातः गङ्गे! अब आप अपने पूर्वस्थानपर पधारें, यदि नहीं चलेंगी तो मैं भी कुटियापर नहीं जाऊँगा।' गंगाकी धारासे आवाज आयी कि—'तुम चलो, मैं आ रही हूँ।' यह सुनकर प्रसन्नचित्त आप कुटीपर आये। पीछेसे गंगाजीकी धारा भी कुटीके निकट आ गयी। इस घटनाको देखकर दर्शक चकित हो गये। इनका सुयश चारों ओर फैल गया।

श्रीलक्षदासजीने अपने ग्रन्थमें गुरु-परम्पराका उल्लेख किया है और अपनेको श्रीवर्द्धमान एवं गंगलभट्टाचार्यकी परम्पराका अनुवर्ती लिखा है। कई स्थानोंपर हरिनारायण आदि शब्दोंके साथ गुरु शब्दोंको जोड़कर हरि-गुरुनिष्ठाका परिचय दिया है। इन्हें श्रीरूपनारायणजीसे सम्प्रदायकी शिक्षा और श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीसे दीक्षा प्राप्त हुई थी।

कहा जाता है कि इनका बचपनसे ही प्रभुमें अनुराग था। तपश्चर्याके कारण सिद्धोंमें गिने जाने लगे थे। फिर भी इन्हें गुरुदेवकी खोज थी। एक बार श्रीहरिव्यासदेवाचार्य पर्यटन करते हुए सन्त-मण्डली सहित उधर पधारे। इन्होंने उनकी महिमा सुन रखी थी अतः दर्शन पाकर अति प्रसन्न हुए और उनके श्रीचरणोंमें पड़कर दीक्षाके लिये प्रार्थना की। तब आचार्यने एक लाख साधु-ब्राह्मणोंको भोजन करानेका आदेश दिया। आपने ऐसा ही किया। तभीसे आपके लक्षपाकी आदि नाम प्रसिद्ध हुए। आचार्यने दीक्षा देकर कहा कि—गंगातटपर ही रहकर भजन करो। अन्तिम अवस्थामें आप श्रीधाम वृन्दावनमें आकर रहे और यहीं शरीर छूटा। सूरदासवाली कुंज, पत्थरपुरा, वृन्दावनमें इनकी समाधि बनी हुई थी।

श्रीहरीदासजी

सरनागत कों सिबिर दान दाधीच टेक बलि।
परम धरम प्रहलाद सीस जगदेव देन कलि॥
बीकावत बानैत भक्त पन धर्म धुरंधर।
तूँवर कुल दीपक्क संत सेवा नित अनुसर॥
पार्थ पीठ आचरज कौन सकल जगत में जस लियो।
तिलक दाम परकास कों हरीदास हरि निर्मयो॥ १७९॥

तिलक-कण्ठीधारी वैष्णवोंकी सेवाके वास्ते ही भगवान्‌ने इस पृथ्वीपर श्रीहरीदासजीको प्रकट किया। शरणागतकी रक्षा करनेमें आप राजा शिविके समान थे। दान देनेमें श्रीदधीचि ऋषिके समान, प्रतिज्ञाको निभानेमें राजा बलिके समान, वैष्णव धर्मका पालन करनेमें श्रीप्रह्लादजीके समान और रीझकर सिर देनेमें श्रीजगदेवजीके समान थे। श्रीबीकाजीके वंशमें प्रसिद्ध शूरवीर थे। भक्तोचित प्रण और धर्मका पालन करनेमें अतिश्रेष्ठ थे। तूँवर क्षत्रिय कुलके दीपक और नित्य सन्तसेवामें तत्पर रहनेवाले थे। अर्जुन और परीक्षित्‌के वंशमें उत्पन्न श्रीहरीदासजीमें ऐसे गुणोंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अपनी दृढ़ भक्तिके कारण आपने सारे संसारमें सुयश प्राप्त किया॥ १७९ ॥

श्रीहरीदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीप्रह्लादजी, श्रीशिविजी, श्रीदधीचिजी और श्रीबलिजी —इन भगवद्भक्तोंके गुण श्रीमद्भागवतमें वर्णन किये गये हैं। श्रीहरीदासजीमें ये सभी गुण एक स्थानपर ही दिखलायी पड़ते हैं। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मूल छप्पयमें श्रीनाभाजीने रीझनेमें श्रीहरीदासजीको श्रीजगदेवजीके समान कहा है, परंतु कलियुगके भक्त श्रीजगदेवजीके रीझनेके प्रसंगको प्रायः सब लोग नहीं जानते हैं। मैंने उसे किसी सन्तसे जैसा सुना है, वैसा यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ। उत्तम रूप और गुणोंसे युक्त एक नटी थी। वह साक्षात् शक्ति कालीदेवीका स्वरूप ही थी। जब वह गाती थी, तो सुननेवालोंको सुननेकी बड़ी भारी चटपटी लग जाती थी और उसकी मधुर-मुसकान देखकर वे मोहित हो जाते थे। रिझवार राजा श्रीजगदेवजीने एक बार उस नटीका अद्‌भुत नृत्य देखा और मधुर गानको सुना तो वह उसपर रीझ गया। जब उसने पुरस्कार देनेका विचार किया तो कोई भी वस्तु उसके योग्य न दिखायी पड़ी। अन्तमें उसने नटीसे कहा—मैंने अपना सिर तुम्हें दिया, जब चाहो, तब इसे ले सकती हो। अब यह मेरा नहीं है, तुम्हारा है।

श्रीजगदेवजीके द्वारा दिये गये मस्तकदानको स्वीकारकर उस नटीने कहा—'मैंने भी अपना दाहिना हाथ आपको दिया। अब इस हाथको फैलाकर न तो किसीसे कुछ माँगूँगी और न लूँगी।' कुछ दिनोंके बाद किसी एक राजाने सुना कि उस नटीने राजा जगदेवसे ऐसा कुछ इनाम पाया है कि उसके बदले अपना दाहिना हाथ उन्हें दे दिया। अब मैं उस नटीको अधिक इनाम देकर जगदेवके इनामको तुच्छ कर दूँ। इस विचारसे उस राजाने नटीको नृत्य करनेके लिये अपने दरबारमें बुलाया। नटीने अपना नृत्य-गान प्रस्तुत किया, तब उस राजाने प्रसन्न होकर नटीको कुछ इनाम देना चाहा। नटीने लेनेके लिये अपना बायाँ हाथ फैलाया। इसपर राजाने रुष्ट होकर कहा—'हमारा इतना अपमान।' नटीने कहा—'मैं अपना दाहिना हाथ राजा जगदेवजीको दे चुकी हूँ, अतः दाहिने हाथमें किसीसे कुछ नहीं ले सकती हूँ।' उस राजाने पूछा—'राजा जगदेवजीसे ऐसी कौन-सी अलभ्य वस्तु मिली है? तुम उस वस्तुको मुझे दिखा दो और उससे दसगुनी वस्तु मुझसे ले लो।' नटीने कहा—दूसरा कोई वैसी वस्तु नहीं दे सकता है।

उस राजाको नटीने बहुत समझाया, परंतु वह नहीं माना। उसे जिद सवार हो गयी। उसने बार-बार उस वस्तुको लाकर दिखानेका हठ किया। तब नटी बारह वर्ष बाद परम बड़भागी राजा जगदेवके पास गयी और बोली—'राजन्! मेरी वस्तु मुझे दीजिये।' राजाने सिर काटकर नटीको दे दिया। नटीने धड़को न जलानेका आदेश देकर सुरक्षित रखवा दिया और उस पुरस्कारको थालमें ढककर उस राजाके पास ले आयी और दिखाकर बोली—'इसे देख लीजिये और इससे दसगुनी या बराबर ही दीजिये।' सिरको देखते ही वह राजा मूर्च्छित हो गया और पृथ्वीपर गिर पड़ा। अनेक उपचारोंसे उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब उसने कहा—'मैंने तो यह समझा था कि धन मिला होगा, अतः उससे दसगुना देनेको कहा, किन्तु यहाँ धनकी बात नहीं रही। अब मैं क्या करूँ और क्या दूँ, मेरे वशकी बात नहीं है।' नटीने कहा—'ऐसे अमूल्य पुरस्कारके बदले ही मैंने अपना दाहिना हाथ राजा जगदेवको दिया है।' राजा लज्जित हो गया, इसके पश्चात्

नटीने आकर राजा जगदेवके धड़से उनका सिर जोड़ दिया और जिस पदपर रीझकर उन्होंने अपना सिर दिया था, उसी पदको गाया। तानके साथ आलापको सुनकर राजा जगदेव जीवित हो गये।

राजा जगदेवजीकी रिझवार-निष्ठाका वृत्तान्त एक बड़े (यवन) राजाकी लड़कीने सुना तो वह उनमें आसक्त हो गयी और उसने अपने पितासे कहा कि 'मेरा विवाह आप राजा जगदेवजीके साथ कर दीजिये।' उसने जगदेवजीको बुलाकर अनेक प्रकारसे समझा-बुझाकर स्पष्ट कहा कि 'आप मेरी पुत्रीके साथ विवाह कर लीजिये।' श्रीजगदेवजीने स्वीकार नहीं किया। राजाने पुनः-पुनः आग्रह किया, परंतु इन्होंने हर बार मना ही किया। तब उस राजाने जगदेवजीको मार डालनेकी आज्ञा दी। बधिक लोग मारनेके लिये ले जा रहे थे, राजकन्याने देखा तो वह बोली कि 'इनको मत मारो, मेरा इनमें अनुराग है। इन्हें मेरे सामने लाओ।' सामने लाये जानेपर राजकन्याने इनको अपनी ओर देखनेके लिये बाध्य किया। परंतु श्रीजगदेवजीने राजकन्याकी ओर नहीं देखा, तो रुष्ट होकर उसने भी इन्हें मार डालनेकी अनुमति देकर कहा कि 'इनके सिरको काटकर मेरे पास ले आओ।' बधिकोंने ऐसा ही किया। राजकन्या अपने सामने कटे सिरको रखकर जब उसकी ओर देखने लगी तो वह सिर राजपुत्रीके सामनेसे घूम गया। इस धर्मनिष्ठापर सभी लोग रीझ गये।

श्रीप्रियादासजीने राजा जगदेवसे सम्बन्धित इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रहलाद आदि भक्त गाए गुण भागवत सब इक ठौर आये देखे 'हरिदास' मैं।
रीझि 'जगदेव' सो यों कहिकै बखान कियौ, जानत न कोऊ सुनौ कर्‍यौ लै प्रकास मैं॥
रहै एक नटी सक्तिरूप गुण जटी गावै लागै चटपटी मोह पावै मृदु हाँस मैं।
राजा रिझवार करै देवे को विचार, पै न पावै सार काटै सीस राख्यौ तेरे पास मैं॥ ६०४॥
दियौ कर दाहिनौ मैं, यासों नहीं जाचौं कहूँ, सुनि एक राजा भेद भाव सों बुलाई है।
नृत्य करि गाई रीझि 'लेवौ कही' आई 'देहु' ओड़्यो बायों हाथ, रिस भरिकै सुनाई है॥
'इतौ अपमान', 'पानि दक्षिन लै दियौ अहो 'नृप जगदेवजू कों' 'ऐसी कहा पाई है'।
'तासों दसगुनी लीजै, मोको सो दिखाय दीजै', 'दई नहीं जाय काहू, मोहिये सुहाई है॥ ६०५॥
कितौ समझावै 'ल्यावौ' कहै, यहै जक लागी, गई बड़भागी पास वस्तु मेरी दीजियै।
काटि दियो सीस, तन रहै ईश शक्ति लखो, ल्याई बकसीस थार ढाँपि देखि लीजियै॥
खोलिकै दिखायो, नृप मूरछा गिरायो तन, धन की न बात अब याकौ कहा कीजियै।
मैं जु दीनौ हाथ जानि आनि ग्रीव जोरि दई लई वही रीझि पद तान सुनि जीजियै॥ ६०६॥
सुनी जगदेव रीति, प्रीति नृपराज सुता पिता सों बखानि कही वाही कौ लै दीजियै।
तब तौ बुलाये समुझाये बहु भाँति खोलि बचन सुनाये अजू बेटी मेरी लीजियै'॥
नट्यौ सतबार जब कही 'डारों मारि', चले मारिबे को, बोली वह 'मारौ मत भीजियै।
'दृष्टि सों न देखै' कही 'ल्यावौ काटि मूंड़', लाए चाहै सीस आँखिन को, गयौ फिरि रीझियै॥ ६०७॥

टीकाकार श्रीप्रियादासजी बताते हैं कि श्रीजगदेवजीकी रिझवार-निष्ठाका विस्तारसे वर्णन किया गया। अब श्रीहरीदासजीने जैसी साधु-सेवा की, उसको सुनिये। राजा होकर इनकी साधु-सेवामें ऐसी निष्ठा थी कि वे सन्तोंसे परदा या किसी प्रकारका कपट नहीं करते थे। बिना रोक-टोकके साधुओंका महलोंमें आना-जाना होता था। ऐसी विलक्षण एवं दृढ़ निष्ठा देखकर भगवान्ने इनकी परीक्षा ली। परीक्षार्थ एक अल्पवयस्क सन्तका रूप धारण करके आये और इनके यहाँ निवास करने लगे। उनके प्रति श्रीहरीदासजीका भगवन्मय वात्सल्य भाव था। वे बालक-बालिकाओंके साथ खेलते रहते। एक दिन ग्रीष्म-ऋतुमें बालक-बालिका छतपर सोये हुए थे, वे कुछ ओढ़े नहीं थे। श्रीहरीदासजी दातौन करनेके लिये छतपर चढ़कर गये। गहरी

नींदमें सन्त-भगवन्तको बेसुध सोये देखकर इन्होंने अपनी चादर ओढ़ा दी। शयनके दर्शनकर आप नीचे उतरे तो हृदयमें प्रभुका ध्यानकर उसमें मग्न हो गये।

प्रात:काल होनेपर बालक भगवान् और राजाकी कन्या दोनों जगे। विलम्बसे जगनेके कारण घबड़ाये। विचार करने लगे कि हम चादर ओढ़कर नहीं सोये फिर यह किसकी चादर है, कौन ओढ़ा गया? बालिकाने पहचानकर कहा कि यह तो पिताजीकी है। भगवान् हरीदासजीकी परीक्षा ले रहे थे, अतः जैसे कुछ भूल हो गयी हो—ऐसी मुखमुद्रा बनाये, दृष्टिको नीचे किये हुए छतसे उतरकर (स्नानार्थ) चले। प्रभुकी ऐसी चेष्टा देखकर रास्तेमें मिलकर श्रीहरीदासजीने चरण पकड़ लिये और एकान्तमें विनती करते हुए कहा कि 'प्रभो! आप जो भी लीला करें, सो उचित है। परीक्षार्थ ऐसी लीला न करें, जिससे नास्तिक दुष्टजन सन्तोंकी निन्दा करें। मुझे अपनी निन्दासे भय नहीं है, वह तो मुझे सुख देनेवाली है, परंतु सन्त-निन्दासे हमें भय है।'

श्रीहरीदासजीने सन्त भगवान्‌से पुनः कहा कि महाराज! इस प्रकार आपको चेतावनी देनेसे मेरी भक्तिमें कलंक लगता है। आप चाहे जैसे अपने भक्तकी परीक्षा लें, मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिये, परंतु मैंने इस शंकाके कारण आपसे कुछ कहा कि कहीं कोई साधु-सन्तका अपमान न करे। किसी साधुमें किसी प्रकारकी कमी है, यह सुनना मुझे अच्छा नहीं लगता। सन्त भगवान्‌ने फिर परीक्षार्थ ऐसा भाव दिखाया कि जैसे लज्जित हो रहे हों। सन्त भगवान्‌ने कहा—मैं अब कहीं अन्यत्र जाकर भजन करना चाहता हूँ। हरीदासने चरण पकड़ लिये और अपने सच्चे सद्भावसे सन्तरूपधारी भगवान्‌को प्रसन्न कर लिया। तब भगवान् अपने रूपसे प्रकट हो गये और प्रसन्न होकर उन्हें अपना स्वरूप प्रदान किया। फिर बोले—मैं तुम्हारी सन्त-सेवा-निष्ठासे प्रसन्न हूँ, जो चाहो सो वरदान माँग लो। श्रीहरीदासजीने कहा—'हे प्रभो! आप उसी बालक सन्तरूपसे मेरे घरमें रहिये। साथ-साथ सेवा-भजन करनेका सुख दीजिये।' 'एवमस्तु' कहकर भगवान् पुनः उसी बालक सन्तरूपमें आ गये। सन्तोंमें इनकी ऐसी श्रद्धा थी कि भगवान् सन्तरूप धारणकर इनके यहाँ रहे। आपके छोटे भाई श्रीगोविन्ददासजी थे, जिन्हें सन्त-भगवन्तके ही आगे बंसी बजानेकी प्रतिज्ञा थी। बादशाहके कहनेपर भी बंसी नहीं बजायी।

श्रीप्रियादासजीने आपके इस पावन चरित्रका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

निष्ठा रिझवार रीति कीनी विस्तार यह सुनौ साधु सेवा हरीदास जू ने करी है।
परदा न सन्त सों है देत हैं अनन्त सुख रह्यौ सुख जानि भक्त सुता चित धरी है॥
दोऊ मिलि सोवैं रितु ग्रीषम की छात पर, गात पर गात सोये सुधि नहीं परी है।
दातुन के करिबे को चढ़े निसि सेस आप चादर उढ़ाय नीचे आए ध्यान हरी है॥ ६०८॥
जागि परे दोऊ, अरबरे देखि चादर कों पेखि पहिचानी सुता पिता ही की जानी है।
सन्त दृग नये चले बैठे मग पग लये गये लै एकान्त में यों विनती बखानी है॥
नेकु सावधान ह्वैके कीजिये निसङ्क काज, दुष्टराज छिद्र पाय कहैं कटु बानी है।
तुमको जु नाव धरैं जरै सुनि हियौ मेरौ, डरैं निन्दा आपनी न होत सुखदानी है॥ ६०९॥
इतनी जतावनी में भक्ति कों कलङ्क लगै, ऐपै सङ्क वही, साधु घटती न भाइयै।
भई लाज भारी, विषैबास धोय डारी नीके, जीके दुख रासि चाहै कहूँ उठि जाइयै॥
निपट मगन किये नाना विधि सुख दिये, दिये पै न जान, मिलि लालन लड़ाइयै।
गोविन्द अनुज जाके बाँसुरी कौ साँचोपन मन मैं न ल्यायौ नृप इहि विधि गाइयै॥ ६१०॥

श्रीहरिदासजी बड़े ही शरणागतवत्सल थे। एक बार एक ब्राह्मणने एक तुर्ककी हत्या कर दी। तुर्कोंने ब्राह्मणका पीछा किया। वह भागकर श्रीहरिदासजीकी शरणमें पहुँच गया। दलबल सहित वे हरिदासजीके पास जाकर झगड़ा करने लगे। पर इन्होंने उसे नहीं लौटाया। तब उस तुर्कने बादशाहके यहाँ पुकार की। बादशाहने इन्हें बुलाकर हत्यारेको वापस करनेका आग्रह किया। इसपर आपने स्पष्ट कहा कि मैं किसी अपराधीका पक्षपाती नहीं हूँ परंतु यह ब्राह्मण मेरी शरणमें है, अतः अब मैं इसका त्याग नहीं कर सकता। इसके बदले

मेरा सिर ले लीजिये। इसे छोड़ दीजिये। बादशाहने कहा—ठीक है। तुम अपना सिर दे दो। शाही हुक्म हो गया, सिर कटनेवाला ही था कि बादशाहने कहा—तुम अपने धर्मके पक्के हो, इसलिये मारे जानेयोग्य नहीं हो। प्रसन्न होकर बादशाहने इन्हें पुरस्कार मैं एक तुर्रा (कलगी) दिया। ये उसे बाँधकर दरबारमें जाते। कुछ दिन बाद उसने अपना दिया इनाम इनके पास न देखकर पूछा तो इन्होंने बताया कि किसीने मुझसे माँगा तो हमने उसे दे दिया। बादशाहने कहा—ऐसी मूल्यवान् वस्तु आपने कैसे दे दी? आपने उत्तर दिया कि माँगनेपर तो मैं अपना सिर ही दे सकता हूँ, तब किसी वस्तुकी क्या बात? बादशाह चुप हो गया।

कुछ दिनोंके बाद बादशाहने दो गुप्तचरोंसे कहा कि तुम फकीरोंका वेश बनाकर हरिदासकी परीक्षा लो। इन दोनोंने जाकर कहा कि हमारे पीर साहबके शरीरमें फोड़ा हो गया है। वह अच्छा नहीं हो रहा है। हकीमोंने कहा है कि किसी वीर पुरुषका मांस लाओ तो यह ठीक हो सकता है। प्रसन्नतासे आप दे सकें तो दें। इन्होंने झट छुरी ली और मांस काटने लगे। उन दोनोंने पकड़ लिया और कहा कि अभी नहीं, हम फिर आयेंगे। बादशाहने यह सुनकर इनका बड़ा सम्मान किया।

एक बार श्रीहरिदासजी ध्यानमग्न थे। इसी बीच बादशाहको इनसे मन्त्रणाकी जरूरत पड़ी। दूत बुलाने आये पर ध्यान करते देखकर वापस गये। बादशाहने दो मन्त्री और एक पठानको भेजा कि आवश्यक मन्त्रणा करके आओ। इनके आनेपर भी आपका ध्यान नहीं छूटा था। इन्होंने कहा कि हम उनके ध्यानमें बाधा न करेंगे, तब इन्हें भीतर जाने दिया गया। ये लोग बड़ी देरतक बैठे रहे। पठानके मनमें दुर्भाव आया, मिथ्या समाधि जानकर उसने इनके शरीरमें परीक्षार्थ छुरी चुभाई पर वह चुभी नहीं। तब उसने अपने शरीरकी पूरी शक्ति लगायी। फिर भी छुरी नहीं चुभी, तब वह भयभीत और आश्चर्यचकित हो गया। कुछ देर बाद आपकी मानसी-सेवा पूरी हुई। तब आपने नेत्र खोले। इन लोगोंने आवश्यक मन्त्रणा की और धृष्टता बतायी, क्षमा-याचना की। बादशाहने सुना तो उसकी श्रद्धा बढ़ी। इस प्रकार प्रभुने आपकी कीर्तिका विस्तार किया।

एक प्रभावशाली दुष्ट सदा इनसे अकारण द्वेष किया करता था। एक बार उसने अपने साथियोंसे कहा कि यदि हरिदासको किसी प्रकार कोई मार डाले तो मैं उसे अपना आत्मीय मानूँगा। एक साथी तैयार हो गया। उसने इनकी उदारताकी कथा सुन रखी थी। उसका अनुचित लाभ उठानेकी इच्छासे वह इनके पास आया और सेवक बनकर सेवा करने लगा। बहुत दिन बीतनेपर एक बार आप उसपर प्रसन्न हो गये और बोले—तुम जो चाहो सो माँग लो। उस राजपूतने कहा—'आप अपना सिर हमें दे दीजिये।' आपने कहा—बहुत अच्छा, यह तलवार है, चाहे आप काट लो, कहो तो मैं काट दूँ। अभी एकान्त है, किसीको पता भी न पड़ेगा। आप सिर लेकर चम्पत हो जाओ। इनकी निष्कपट बातें सुनकर उसे बड़ा अनुराग हुआ। यह इनके सम्पर्कमें रहनेका फल था। उसने सच्ची बात बता दी कि मेरा साथी आपका द्वेषी है, उसको प्रसन्न करनेके लिये मैंने आपका सिर माँगा है। अब मैं उससे पूछकर तब लूँगा। अपने साथीके पास आकर उसने सब हाल बताकर कहा कि वे महान् धर्मशील हैं, सिर देनेके लिये तैयार हैं। अब तुम उनसे द्वेष न करके प्रेम करो तो मैं उन्हें तुम्हारे पास ले आऊँ। इसने स्वीकार किया, तब उस राजपूतने कहा—आप मेरे साथीके पास चलिये। ऐसा कहकर वह रातको गुप-चुप इन्हें लेकर चला। आपने अपने गलेमें रस्सी बाँधी और राजपूतके हाथमें थमा दी। फिर उसके पीछे-पीछे चले। इस प्रकार इन्हें आया देखकर वह पानी-पानी हो गया। इनके पैरोंपर गिरकर उसने इनका सम्मान किया और निवास-स्थानतक पहुँचाने आया।

श्रीकृष्णदासजी

तान मान सुर ताल सुलय सुंदर सुठि सोहै।
सुधा अंग भ्रूभंग गान उपमा कों को है॥

रतनाकर संगीत राग माला रँग रासी।
रिझये राधालाल भक्त पद रेनु उपासी॥
स्वर्नकार खरगू सुवन भक्त भजन पद दृढ़ लियो।
नंदकुँवर कृष्नदास कों निज पग तें नूपुर दियो॥ १८०॥

श्रीकृष्णदासजी महान् भक्त थे। एक बार नृत्य करते समय इनके पैरमेंसे नूपुर खुलकर गिर गया तो स्वयं नन्दनन्दनने अपने चरणोंमेंसे खोलकर एक नूपुर इनके पैरमें बाँध दिया। जिस समय ये स्वर-तालको सँभालकर सुन्दर लयके साथ गाते थे, उस समय श्रोताओंको बड़ा ही आनन्द आता था। नाचनेका सुन्दर ढंग, भौहोंके साथ अंगोंका संचालन और गायनमें इनके समान कोई भी नहीं दिखायी देता था। आप शास्त्रीय संगीतके विशेषज्ञ थे। आपने अपने भक्तियुक्त सद्गुणोंसे श्रीराधाकृष्णको रिझा लिया। भक्तोंकी चरणधूलिके उपासक, खरगू स्वर्णकारके सुपुत्र श्रीकृष्णदासजीने भक्तोंकी सेवाका दृढ़ नियम ले रखा था॥ १८०॥

श्रीकृष्णदासजीसे सम्बन्धित विशेष विवरण इस प्रकार है—

भक्तवर श्रीकृष्णदासजी सुनार जातिके थे। इन्होंने परमानन्दके रूप युगल श्रीराधाकृष्णकी सेवाको अपनाया। आप नित्य-नियमसे प्रिया-प्रियतमकी सेवा करनेके पश्चात् उनके सामने आनन्दमग्न होकर नृत्य और गान करते थे। एक दिन आप नाचने-गानेमें ऐसे मग्न हो गये कि आपको अपने शरीरकी सुध नहीं रही। इसी बीच आपके एक पैरका नूपुर खुलकर गिर गया। आप नृत्य-भावमें विभोर थे, अतः आप नूपुरको बाँध नहीं सके। नूपुर टूटकर गिर गया है, इसका आपको पता नहीं था। घुँघरूके बिना बजे तालकी गति बिगड़ गयी। नृत्य-गान और तानके रंगमें रँगे श्रीलालजीसे यह सहन नहीं हुआ, अतः उन्होंने अपने श्रीचरणमेंसे अपना दिव्य नूपुर खोलकर कृष्णदासजीके पैरमें बाँध दिया। अब तालपर घुँघरूका बजना सुनकर श्रीठाकुरजी बहुत ही प्रसन्न हुए। नृत्य-गानको समाप्तकर श्रीकृष्णदासजी जब स्वस्थ हुए तो उन्होंने देखा कि मेरे पैरका नूपुर अलग धरतीपर पड़ा है और उसकी जगह मेरे पैरमें दूसरा दिव्य नूपुर बँधा हुआ है। भगवान्‌की इस कृपालुताका अनुभव करके आपके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। दूसरे जिन-जिन लोगोंने जाना-सुना, उन्हें भी भगवद्भक्ति प्रिय लगी, वे भी भजन-कीर्तन करने लगे। श्रीकृष्णदासजीकी पवित्र कीर्ति संसारमें फैल गयी।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

कृष्णदास ये सुनार राधाकृष्ण सुखसार, लियौ सेवा पाछे नृत्य गान बिसतारियै।
ह्वै करि मगन काहू दिन तन सुधि भूली, एक पग नूपुर सो गिर्‌यौ न सँभारियै॥
लाल अति रंग भरे जानी जति भंग भई पाँय निज खोलि आप बाँध्यौ सुख भारियै।
फेरि सुधि आई देखि धारा लै बहाई नैन कीरति यों छाई जग भक्ति लागी प्यारियै॥ ६११॥

परमधर्मपोषक संन्यासी भक्त

चितसुख टीकाकार भक्ति सर्बोपर राखी।
श्रीदामोदर तीर्थ राम अर्चन बिधि भाषी॥
चंद्रोदय हरिभक्ति नरसिंहारन्य जु कीनी।
माधौ मधुसूदन (सरस्वती) परमहँस कीरति लीनी॥
परबोधानँद रामभद्र जगदानँद कलिजुग्ग धनि।
परमधर्म प्रतिपोष कौं संन्यासी ये मुकुटमनि॥ १८१॥

श्रीचित्सुखानन्दजी सरस्वतीने श्रीभगवद्गीतापर चित्सुखी नामकी टीका लिखी, उसमें इन्होंने कर्म, ज्ञान आदिकी अपेक्षा हरिभक्तिको सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया। श्रीदामोदरतीर्थने रामार्चनविधिका वर्णन किया, उसमें भक्तिको महत्त्व दिया। श्रीनृसिंहारण्यजीने हरिभक्तिचन्द्रोदय नामक ग्रन्थ लिखा। श्रीमधुसूदनजी सरस्वतीने भक्तिरसायन आदि ग्रन्थ लिखे। श्रीमाधवानन्दजी भी भगवद्भक्त हुए। श्रीमाधवानन्दजी और श्रीमधुसूदनजीसरस्वती ये दोनों सत्-असत्-विवेकी परमहंस प्रसिद्ध थे। श्रीप्रबोधानन्दजी, श्रीरामभद्रजी और श्रीजगदानन्दजी भी कलियुगमें भगवद्भक्तिकी आराधना करके धन्यवादके योग्य हुए। इन सभी संन्यासी महानुभावोंने परमधर्म श्रीहरिभक्तिका प्रतिपादन और समर्थन किया। अतः ये संन्यासियोंके मुकुटमणि कहे गये॥ १८१ ॥

इनमेंसे कुछ भक्तोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

श्रीदामोदरतीर्थजी

ये भगवान् श्रीरामके परमभक्त थे। निरन्तर ध्यानमें मग्न रहा करते थे। एक बार आप ध्यानमग्न होकर श्रीसीताराम नामका जप कर रहे थे, उसी समय श्रीसीतारामजीने प्रकट होकर दर्शन दिया। आपके हृदयमें भक्तिका भाव और दृढ़ हो गया। परमानन्दमय प्रभुरूपमें आप मग्न हो गये। फिर आपके मनमें भाव आया कि यह दर्शन दूसरे भक्तोंको कैसे सुलभ हो। तब श्रीराघवेन्द्रजीने प्रेरणा की कि अर्चन-पद्धतिका वर्णन करो। उससे हमारा दर्शन सुलभ हो जायगा। आपके द्वारा लिखित रामार्चन-विधिसे अर्चन करके लोगोंने श्रीसीतारामजीका दर्शन पाया। इस प्रकार ग्रन्थोंका निर्माणकर आपने भक्तिपथ प्रदर्शित किया।

श्रीनृसिंहारण्यजी

आपको भक्ति अत्यन्त प्रिय थी। आपने 'हरिभक्तिचन्द्रोदय' नामक उत्तम ग्रन्थकी रचना की। उसमें जीवलोककी मुक्तिभूमिपर विवेकको राजा बताया। उसके शत्रु मोहसे विवेकका बड़ा-भारी युद्ध हुआ। शील, धर्म, सन्तोष और वैराग्य आदिको विवेकके सेनानी बताया। काम, क्रोध, लोभ और ममता आदिको मोहके सेनानी कहा। चिरकालतक भयंकर युद्धके पश्चात् मोह जीत गया और विवेककी सेना भाग खड़ी हुई। विवेककी एक श्रद्धा नामकी स्त्री थी। उसके गर्भमें प्रीति नामकी एक कन्या थी। उसी समय उसका जन्म हुआ और वह तत्क्षण बहुत बड़ी हो गयी। उसने ज्ञानरूपी खड्गको हाथमें लिया और सेनासहित मोहको मार भगाया। फिर विवेककी शक्ति जगी। उसके मरे सैनिक जी उठे। इस प्रकार भक्तिकी विजयका वर्णन करके आपने परमधर्मका पोषण किया।

श्रीरामभद्रजी

ये भगवान् श्रीरामके परमभक्त थे। चातुर्मास्य व्रतके लिये आप एक स्थानपर ठहरे। वहाँ आपके सदुपदेशोंको सुननेके लिये बहुत भीड़ एकत्र होती। वर्षा-ऋतुके बीत जानेपर आप वहाँसे चलनेके लिये तैयार हो गये; क्योंकि भीड़-भाड़ और प्रतिष्ठा आपको अच्छी नहीं लगती थी। भगवान्‌ने स्वप्न दिया कि वर्षाके बाद शरद्-ऋतुमें भी यहीं निवास करो और अपने उपदेशोंसे लोगोंमें भक्तिका प्रचार करो। आपने स्वप्नादेशका उल्लंघन कर दिया। उसे केवल अपने मनका विकार माना, भगवदादेश नहीं माना और आश्विन शुक्ल दशमी भी नहीं आने दी, प्रतिपदाको ही चल दिये। मार्गमें एक नदी मिली। आपने देखा कि पानी थोड़ा है, अतः पैदल ही उसे पार करनेके लिये उसमें घुसे। बीच धारमें पहुँचते ही जलकी बाढ़ आ गयी। तेज गहरी धारमें श्रीरामभद्रजी बहने और डूबने लगे। तब आपको भगवान् श्रीरामकी याद आयी, अपनी भूलपर पछताने लगे। शरीरका अन्तिम समय समझकर राम-नामका स्मरण करने लगे। तब श्रीरामने झट हाथ पकड़ लिया और बड़ी मधुर वाणीसे बोले—'तुमने मेरी आज्ञाको छोड़ा, अब मैं तुमको नदीके जलमें छोड़ रहा हूँ।' श्रीरामभद्रजीने कहा—'प्रभो! मैं अज्ञानी जीव, आपका शिशु अनुचित कर सकता हूँ, पर आप अपने स्वभावको नहीं छोड़ सकते हैं।' ऐसे दीनवचन सुनकर प्रभुने इन्हें नदीसे निकालकर तटपर खड़ा

कर दिया और स्वयं आप फिर नदीमें कूद पड़े। भगवत्स्पर्श और दर्शनसे कृतार्थ हुए श्रीरामभद्रजीसे नहीं रहा गया, ये भी नदीमें कूद पड़े। हँसकर प्रभुने इन्हें फिर निकाला और अपने दर्शनोंसे इनके मनोरथको पूर्ण किया। प्रेममग्न होकर आप पुनः उसी स्थानपर आ गये। सुनकर लोगोंकी भीड़ उमड़ पड़ी। आपने स्वप्नादेश और भगवत्कृपाका वर्णन करके सभीके मनमें भक्तिभाव भर दिया।

श्रीजगदानन्दजी

श्रीजगदानन्दजी भगवान् श्रीरामके अनन्य भक्त थे। आपकी जैसी भक्ति भगवान् श्रीरामके चरणोंमें थी, वैसी किसी विरले ही पुरुषमें होगी। आपमें वर्ण-आश्रम या विद्या आदिका अहंकार बिलकुल न था। वैष्णव सन्तको देखते ही उसके चरणोंमें सिर झुकाते, उसकी परिक्रमा करते और मधुर वाणीसे सत्कार करते हुए कहते कि 'आज मेरे धन्य भाग्य हैं, जो मुझे श्रीरामजीके प्यारे मिल गये।' भोजन-विश्रामादिके बाद उनसे प्रार्थना करते कि 'श्रीरामजीकी कोई कथा सुनाइये।' इस प्रकार सत्संगमें सर्वदा भगवत्कथाओंको कह-सुनकर परमधर्मका प्रचार-प्रसार करते। एकबार दो सन्त तीर्थयात्रा करते हुए काशीजीमें आये। वहाँ एक सन्त बीमार हो गये और उनका शरीर छूट गया। उसके वियोगमें दूसरा सन्त करुणक्रन्दन करने लगा—'हाय! मैं अचानक ही आपके सत्संगसे वंचित हो गया।' उसका विलाप सुनकर श्रीजगदानन्दजीसे नहीं रहा गया। निकट जाकर आपने उसे कृपाभरी दृष्टिसे देखा और उसके दुःखको दूर करनेके लिये उससे कहा—सन्तजी! आप विलाप न करें, ये मरे नहीं है। आपके साथ-साथ तीर्थयात्राको पूर्ण करके, अपने स्थानमें पहुँचकर आजसे एक माहके बाद शरीर त्यागकर वैकुण्ठको पधारेंगे। आपका स्पर्श पाकर सन्त उठ बैठे। दोनोंने आपको सिद्ध महापुरुष मानकर दण्डवत्प्रणाम किया। इस प्रकार आपने अनेकोंके संकट काटकर उन्हें परमधर्मका उपदेश दिया।

श्रीमधुसूदन सरस्वती

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

(मधुसूदनी गीताटी० तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें)

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥*

(म०गी० पंद्रहवें अध्यायके अन्तमें)

ईसाकी लगभग सोलहवीं शताब्दीमें बंगालके फरीदपुर जिलेके कोटालपाड़ा ग्राममें प्रमोदन पुरन्दर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनके तृतीय पुत्र हुए कमलनयनजी। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायशास्त्रका अध्ययन किया। काशी आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजीसे

* ध्यानके अभ्याससे जिनका चित्त वशमें हो गया है, वे योगी उस निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिको देखते हैं तो देखा करें। हमारे नेत्रोंको तो यमुनापुलिनविहारी नील तेजवाला साँवरा ही चिरकालतक सुख पहुँचाता रहे। जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद-सुन्दर है,पीताम्बर पहने है, जिसके ओठ बिम्बाफलके समान लाल-लाल हैं, जिसका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, उस श्रीकृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता। प्रमाणोंसे निर्णय देते हुए श्रीकृष्णके अद्भुत माहात्म्यको जो मूढ़ नहीं सह सकते, वे नरकगामी होंगे।

इन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया और यहीं संन्यास ग्रहण किया। संन्यासका इनका नाम 'मधुसूदन सरस्वती' पड़ा।

स्वामी मधुसूदन सरस्वतीको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। काशीके बड़े-बड़े विद्वानोंको ये अपनी प्रतिभाके बलसे हरा देते थे। परंतु जिसे श्रीकृष्ण अपनाना चाहते हों, उसे मायाका यह थोथा प्रलोभन-जाल कबतक उलझाये रख सकता है। एक दिन एक वृद्ध दिगम्बर परमहंसने उनसे कहा—स्वामीजी! सिद्धान्तकी बात करते समय तो आप अपनेको असंग, निर्लिप्त ब्रह्म कहते हैं, पर सच बताइये, क्या विद्वानोंको जीतकर, आपके मनमें गर्व नहीं होता? यदि आप पराजित हो जायँ, तब भी क्या ऐसे ही प्रसन्न रह सकेंगे? यदि आपको घमण्ड होता है तो ब्राह्मणोंको दुखी करने अपमानित करनेका पाप भी होगा।' कोई दूसरा होता तो मधुसूदन सरस्वती उसे फटकार देते, परंतु उस संतके वचनोंसे वे लज्जित हो गये। उनका मुख मलिन हो गया। परमहंसने कहा—भैया! पुस्तकोंके इस थोथे पाण्डित्यमें कुछ रखा नहीं है। ग्रन्थोंकी विद्या और बुद्धिके बलसे किसीने इस मायाके दुस्तर जालको पार नहीं किया है। प्रतिष्ठा तो देहकी होती है और देह नश्वर है। यश तथा मान-बड़ाईकी इच्छा भी एक प्रकारका शरीरका मोह ही है। तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। उपासना करके हृदयसे इस गर्वके मैलको दूर कर दो। सच्चा आनन्द तो तुम्हें आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रके चरणोंमें ही मिलेगा।'

स्वामीजीने उन महात्माके चरण पकड़ लिये। दयालु संतने श्रीकृष्णमन्त्र देकर उपासना तथा ध्यानकी विधि बतायी और चले गये। मधुसूदन सरस्वतीने तीन महीनेतक उपासना की। जब उनको इस अवधिमें कुछ लाभ न जान पड़ा, तब काशी छोड़कर ये घूमने निकल पड़े। कपिलधाराके पास वही संत इन्हें फिर मिले। उन्होंने कहा—'स्वामीजी! लोग तो भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंतक साधन, भजन, तप करते हैं और फिर भी बड़ी कठिनतासे उन्हें भगवान्‌के दर्शन हो पाते हैं, पर आप तो तीन ही महीनेमें घबरा गये।' अब अपनी भूलका स्वामीजीको पता लगा। ये गुरुदेवके चरणोंपर गिर पड़े। काशी लौटकर ये फिर भजनमें लग गये। प्रसन्न होकर श्रीश्यामसुन्दरने इन्हें दर्शन दिये।

अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैत-रत्न-रक्षण, प्रस्थानभेदके लेखक इन प्रकाण्ड नैयायिक तथा वेदान्तके विद्वान्‌ने श्रीकृष्णकी शरणागति लेकर और उनके प्रेममें परिपूर्ण होकर भक्तिरसायन, गीताकी गूढार्थदीपिका नामक व्याख्या और श्रीमद्भागवतकी व्याख्या लिखी। ये कहते हैं—यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञानके मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वाराज्यके सिंहासनपर आरूढ़ हो चुका हूँ, किंतु क्या करूँ, एक कोई गोप-कुमारियोंका प्रेमी शठ है, उसी हरिने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है।

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

श्रीप्रबोधानन्दजी

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपादका जन्म एक श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलमें हुआ। इनके पूर्वज आन्ध्रप्रदेशके निवासी श्रीसम्प्रदायी वैष्णव थे। श्रीरंगक्षेत्रसे प्रभावित होकर उसके निकट कावेरी तटपर बसे बेलंगुरीगाँवमें आकर सपरिवार निवास करने लगे। इनके ज्येष्ठ भ्राताका नाम श्रीवेंकटभट्ट और मध्यम भ्राताका नाम श्रीत्रिमल्लभट्ट था। श्रीगोपालभट्ट श्रीवेंकटभट्टजीके सुपुत्र थे। श्रीगौरांग महाप्रभु तीर्थयात्राके व्याजसे प्रेमाभक्तिका वितरण करते हुए दक्षिणदेशमें पधारे। तब श्रीवेंकटभट्टने उन्हें अपने घरपर चातुर्मास्य बितानेके लिये आग्रहपूर्वक रखा। फिर भट्टपरिवार महाप्रभुजीके प्रेमसे प्रभावित होकर उनके पदाश्रित हो गया। सरस्वतीपाद बाल्यकालमें अति प्रतिभाशाली थे, अतः अल्पवयस्‌में ही अनेक शास्त्रोंका अध्ययनकर सुप्रसिद्ध विद्वान् हो गये और

संसारकी कटुताका अनुभवकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश किये बिना ही काशी आकर उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया और प्रकाशानन्द सरस्वतीके नामसे विख्यात हुए। इनकी विद्वतासे प्रभावित होकर अनेक विद्वान् छात्र इनसे विद्या लाभ करने लगे। वेदान्त-पुराण आदिकी व्याख्या सुनकर काशीवासी विद्वान् और संन्यासी इनपर मुग्ध हो गये। विन्दुमाधवके निकट इनका मठ था। आप अद्वैतवादके प्रधान आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होकर उसका प्रचार-प्रसार करने लगे। आपके शिष्योंकी संख्या दस हजारके लगभग थी।

श्रीमन्महाप्रभु अद्वैतवादी एवं कुतर्कियोंको प्रेम प्रदान करते हुए श्रीनीलाचल पधार चुके थे। वहाँ राजा प्रतापरुद्रकी प्रेरणासे श्रीवासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य निवास करते थे। ये भी प्रकाशानन्दके समान अद्वितीय विद्वान् तथा इनसे पूर्ण परिचित थे। इनके पास अनेक वेदान्ती संन्यासी वेदान्तभाष्यका अध्ययन किया करते थे। ये भी गौरांगदेवसे प्रभावित हुए और मायामूलक वेदान्तभाष्यका खण्डन श्रीमहाप्रभुके मुखसे सुनकर इनका विद्याभिमान चूर-चूर हो गया। षड्भुज महाप्रभुका दर्शन करके तो इन्होंने पूर्ण रूपसे प्रभुचरणोंमें आत्मसमर्पण ही कर दिया और उनके अनुयायी बन गये। यह बात जब प्रकाशानन्दजीने सुनी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने महाप्रभुको कोई इन्द्रजाली समझा। धीरे-धीरे इन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि मेरे पूर्वाश्रमके भ्राता और भतीजा आदि भी श्रीकृष्णचैतन्य संन्यासीके रंगमें रँग गये। उसमें कौन-सा ऐसा गुण है, जो सबपर मोहिनी डाल देता है। नाचता-गाता और हँसता है, यह कैसा संन्यासी है! इनका मन रीझ उठा और अब ये अद्वैत मतके समर्थनके साथ-साथ भक्तिके अनुष्ठानोंकी निन्दा करने लगे कि भक्ति तो भावुकों या स्त्रियोंका धर्म है। दुर्बलचित्त अज्ञानियोंने उसकी कल्पना कर ली है। ज्ञानी या पुरुष होकर नाचना-गाना लज्जाजनक है, इससे तो मर जाना अच्छा है।

यद्यपि प्रकाशानन्दजी विद्वान् थे, त्याग-वैराग्यकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए थे। बहुत-से संन्यासियोंके गुरुपदपर प्रतिष्ठित थे। किंतु मान-अपमान, ईर्ष्या-द्वेष आदि त्यागी विद्वान्के भी समाप्त नहीं होते हैं। केवल **'अहं ब्रह्मास्मि'** या **'सोऽहं'**की रट लगाकर कोई मायासे छुटकारा नहीं पा सकता है, जबतक प्रभु-शरणागत न हो। प्रकाशानन्दजी सोचते थे कि यदि मेरे सामने एक बार आ जाय, मेरी वेदान्त व्याख्या सुन ले, तो निश्चय ही उसका नाचना-गाना छूट जायगा। ये अपनी भावनाओंका संवरण न कर सके और गौरांगदेवपर अपना प्रभाव जमानेके लिये उन्होंने एक पत्रमें निम्नलिखित श्लोक लिखकर एक यात्रीके हाथ नीलाचल प्रभुके पास भेज दिया—

यत्रास्ते मणिकर्णिकामलसरः स्वर्दीर्घिका दीर्घिका
रत्नं तारकमक्षरं तनुभृते शम्भुः स्वयं यच्छति।
तस्मिन्नद्भुतधामनि स्मररिपोर्निर्वाणमार्गे स्थिते
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवद् प्रत्याशया धावति॥

अर्थात् जहाँ मणिकर्णिका नामक निर्मल सरोवर है और श्रीगंगा-सरीखी पवित्र नदी है तथा जिस स्थानपर स्वयं श्रीशंकरजी सभी प्राणियोंको [मोक्षप्रद] तारकमन्त्ररत्न प्रदान करते हैं। कामदेवके रिपु श्रीशिवजीके ऐसे अद्भुत धामको, जो मोक्षमार्गमें स्थित है, उसे छोड़कर अन्यत्र अज्ञानी पशुवत् मूर्ख मनुष्य ही सुखकी आशासे मृगमरीचिकामें दौड़ता है। तात्पर्य यह कि काशीमें आकर रहनेसे मोक्ष मिलेगा और अन्यत्र रहनेसे भवसागरमें डूबना पड़ेगा। श्रीमहाप्रभुजीने बड़े आदरके साथ पत्रको लिया, पर श्लोक पढ़कर प्रसन्नता नहीं हुई। पत्र-प्रेषकके सम्मानार्थ श्रीगौरांगदेवने उसी यात्रीके हाथ उत्तरस्वरूप निम्नलिखित श्लोक लिखकर भेज दिया—

घर्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बु भागीरथी
काशीनां पतिरर्धमस्य भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम्।

एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं
तस्मात् कृष्णपदाम्बुजं भज सखे श्रीपाद निर्वाणदम्॥

हे सखे! मणिकर्णिकाका जल भगवान्‌के श्रीअंगका स्वेद है और श्रीगंगाजी उन्हींके श्रीचरणोंका जल—चरणामृत है। इसीसे काशीपति विश्वनाथ उसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं और वे स्वयं भगवान्‌का अर्द्धांग हैं और उनका भजन करते हैं। इन्हीं भगवान्‌के नाम-मन्त्रको प्रदानकर शंकरजी काशीमें सभी प्राणियोंको मोक्ष प्रदान करते हैं, इसलिये हे श्रीपाद! मोक्षदायक श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका भजन कीजिये। श्रीप्रकाशानन्दजी इसका कुछ भी खण्डनात्मक उत्तर तो दे नहीं सके। तब महाप्रभुके प्रसाद-ग्रहणपर आपत्ति उठाकर उन्होंने पुनः एक यह श्लोक लिखकर भेजा—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

विश्वामित्र, पराशर आदि मुनिगण जो केवल वायु, जल एवं पत्ते खानेवाले थे, वे भी स्त्रीके मनोहर मुख-कमलको देखकर मोहित हो गये। तब जो लोग घी, दूध और दहीसे युक्त शालि चावलका नित्यप्रति भोजन करते हैं, वे यदि अपनी इन्द्रियोंपर निग्रह कर लें तो समझो कि विन्ध्याचल पहाड़ समुद्रपर तैर गया। अर्थात् उक्त प्रकारका भोजन करनेवाले आप जितेन्द्रिय नहीं हो सकते हैं, अतः निश्चित है कि विषयी हैं, संन्यासी नहीं। इस श्लोकको पढ़कर श्रीमहाप्रभुने निष्प्रयोजन समझकर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। परंतु प्रभुके किसी भक्तने यह उत्तर लिख भेजा—

सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम्।
पारावतः खलु शिलाकणमात्रभोजी कामी भवेन्नुदिनं वद कोऽत्र हेतुः॥

बलवान् सिंह हाथी और शूकर आदिके मांसका भक्षण करता है, किंतु सिंहनीके साथ वर्षमें एक बार ही रति करता है। परंतु कपोत मात्र-शिलाकणोंको खाकर भी प्रतिदिन कामी बना रहता है। बताइये, इसका क्या कारण है? इस उत्तरको पाकर वे निरुत्तर हो गये। श्रीवासुदेव सार्वभौमजीको जब इसका पता लगा तो वे क्षुब्ध हो गये और उन्होंने प्रभुसे अनुमति लेकर काशी आकर इन्हें समझाना-फटकारना चाहा, पर प्रभुने निषेध कर दिया।

सम्वत् १५७० में श्रीगौरांगदेव श्रीवृन्दावनकी यात्रा करते समय काशीमें पधारे। अपने भक्त तपनमिश्र और चन्द्रशेखरकी इच्छासे कुछ दिन ठहरे। काशीके एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रकाशानन्दके भक्त थे। महाप्रभुके दर्शनकर और उनका कीर्तन सुनकर इनके अनन्य भक्त बन गये। एक दिन उन्होंने प्रकाशानन्दके सामने महाप्रभुके अष्ट सात्त्विक विकारोंका वर्णन किया और उनकी प्रशंसा की। उसे सुनकर उपहास करते हुए वे बोले—हाँ! हाँ! मैंने भी सुना है, चैतन्य नामका भावुक संन्यासी है। वह हीन सम्प्रदायका है, इन्द्रजाली है, मूर्ख है, उसे तो अपने धर्मका भी ज्ञान नहीं है। इसने सार्वभौमको पागल बना दिया, पर यहाँ काशीमें उसकी भाव-कालिमा किसीपर नहीं चढ़ेगी। यह सुनकर उस ब्राह्मणको बड़ा कष्ट हुआ। सारा वृत्तान्त उसने महाप्रभुजीको आकर सुनाया और कहा कि उन्होंने केवल चैतन्य-चैतन्य ही कहा, आपका पूरा नाम भी सादर नहीं लिया। श्रीमहाप्रभुने कहा वे मायावादी हैं, अतः उनके मुखमें श्रीकृष्ण-नाम कैसे आ सकता है? कुछ दिन काशीमें निवासकर आप श्रीवृन्दावनकी ओर चल दिये। श्रीप्रकाशानन्दने जब यह सुना तो वे प्रसन्न होकर बोले—मैंने जो कहा था, वही हुआ, मेरे डरके मारे वह मेरे पासतक नहीं आ सका। मेरा विश्वास है कि अब वह काशीमें आयेगा ही नहीं और यदि आयेगा भी तो क्या कर लेगा, पर तुम लोग सावधान

रहना, उसके पास भूलकर भी न जाना। ज्ञानी संन्यासीके मुखसे ऐसी बातें सुनकर सज्जनोंके प्राण रो उठते।

श्रीवृन्दावनकी यात्रा करके पुनः श्रीमन्महाप्रभु काशीजीमें पधारे और तपन मिश्रके घरपर ठहरे। गौरभक्त चाहते थे कि प्रभुकृपा सभीको प्राप्त हो। महाराष्ट्रीय ब्राह्मणने सोचा कि प्रकाशानन्दजीने अभी प्रभुके दर्शन नहीं किये हैं, इसीसे निन्दा करते हैं। यदि एक बार उनसे मिलन हो जाय तो उनकी कुमति नष्ट हो जायगी। इस प्रकार दोनों महापुरुषोंको मिलानेके लिये उस ब्राह्मणने काशीके सभी संन्यासियोंको भिक्षाके लिये निमन्त्रण दिया। श्रीमहाप्रभु ऐसे किसी भोज-भण्डारेमें जानेके इच्छुक न थे, पर वे कई भक्तोंके प्रेमाग्रहको टाल न सके। चलनेके लिये तैयार हो गये। इस समाचारको सुनकर लोग तरह-तरहकी बातें करने लगे। निर्धारित समयपर सभी संन्यासी इस उत्सुकतासे आये कि देखें उस संन्यासीको, जिससे प्रभावित होकर लोग उसे ही भगवान् मानने लगते हैं। कुछ लोग शास्त्रार्थ सुनने, मिलनके दृश्य एवं उसके परिणामका साक्षात्कार करने आये। श्रीप्रकाशानन्दजी ऊँचे सिंहासनपर आकर विराजे। चारों ओर बैठा दण्डी संन्यासियोंका समुदाय उनकी शोभा और महिमाको बढ़ा रहा था। उसी समय श्रीमन्महाप्रभु अपने भक्तोंसहित पधारे। उनके महाज्योतिर्मय, दिव्य भव्य-स्वरूपको देखकर सभी लोग प्रभावित हो गये और कितने तो उठकर खड़े हो गये। प्रभुने सभीकी वन्दना की। पाद-प्रक्षालनके बाद वहीं गीली धरतीपर ही बैठ गये। इनकी इस निरभिमानिता, दीनताको देखकर प्रकाशानन्द सिंहासनपर बैठे नहीं रह सके। उनका अहंकार चूर हो गया। शीघ्र ही वे उठकर आये और श्रीप्रभुका हाथ पकड़कर बोले—'आप यहाँ क्यों बैठ गये? चलिये, सभामें ही विराजिये।' ऐसा कहकर वे इन्हें सम्मानपूर्वक लाये और अपने समीप आसनपर उन्हें बैठाया। दर्शन और स्पर्शसे प्रकाशानन्दके मनसे द्वेष दूर हो चुका था।

श्रीप्रभुने कहा—मैं तो हीन (भारती) सम्प्रदायका संन्यासी हूँ। अपनेको उत्तम सम्प्रदायी संन्यासियोंके बीचमें बैठनेयोग्य नहीं समझता हूँ। प्रकाशानन्दजीने कहा—आप केशव भारतीके शिष्य हैं, सम्प्रदायी संन्यासी हैं और धन्य हैं। मुझसे दूर रहनेका कोई कारण नहीं, आप काशीमें रहें। आप संन्यासी होकर नृत्य-गान करते रहते हैं—ऐसा क्यों? संन्यासीका धर्म तो वेदान्तपाठ और ब्रह्मचिन्तन है, प्रभाव तो आपका दिव्य है, फिर ऐसा ही आचरण क्यों? प्रभुने कहा—सुनिये, श्रीपाद! मुझे मूर्ख जानकर मेरे गुरुदेवने मुझे वेदान्तपाठका उपदेश नहीं दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण-मन्त्र और नामको बताकर इसे ही जपने और कीर्तन करनेकी आज्ञा दी। कलिकालमें भगवन्नामको छोड़कर दूसरा कर्म-धर्म नहीं है। नाम ही सबकी गति है। ऐसा उपदेश पाकर मैं नाम-जप और कीर्तन करने लगा। इससे पागल हो गया, रोने-गाने और नाचने लगा। इसे देखकर गुरुदेवने कहा कि भगवन्नामका परम फल प्रेम है और नाचना-गाना आदि उसीके विकार हैं। मैं अपनी स्वेच्छासे नहीं नाचता-गाता हूँ। महाप्रभुकी मधुर वाणी सुनकर चित्त कुछ-कुछ आकृष्ट हुआ, वे सोचने लगे कि यह युवक महान् व्यक्ति, मृदुभाषी और सुबोध भी है। यदि मेरे पास कुछ दिन रह जाय तो वेदान्तमें इसकी रुचि हो जायगी, फिर यह महापुरुष हो जायगा। ऐसा विचारकर प्रकाशानन्दने फिर कहा—नाम-कीर्तन और प्रेम तो ठीक है, पर आप वेदान्त क्यों नहीं पढ़ते-सुनते?

श्रीप्रभुने कहा—'यदि मैं इसका उत्तर दूँ, तो आपको दुःख हो जायगा।' नहीं, नहीं आपके मधुर वचन मुझे अमृतवत् प्रिय लग रहे हैं। आप कहिये—ऐसी प्रकाशानन्दकी बात सुनकर श्रीप्रभुने कहा—वेदान्तसूत्र ईश्वरके वचन हैं, उनमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं करणापाटव आदि दोष नहीं हैं। उपनिषद् प्रमाणोंसे समर्थित तत्त्वको सूत्र कहता है। मुख्यवृत्तिमें उसका अर्थ करनेसे उसकी प्रमाणताकी रक्षा होती है। शांकरभाष्यमें गौणीवृत्तिसे ही सूत्रोंका अर्थ किया गया है, अतः उसकी प्रमाणता नष्ट हो गयी। उसके श्रवणसे ब्रह्म-जीवके सेव्य-सेवक भावकी हानि होती है, अतः वह भक्तिविरोधी है। इसमें लेखकका दोष भी नहीं है, प्रभुने जैसा लिखाया उन्होंने लिख दिया। मैं उसका अधिकारी नहीं हूँ। ऐसा कहकर प्रभुने कई सूत्रोंके

अनुकूल-प्रतिकूल अर्थ प्रस्तुत किये। जिसका प्रतिवाद प्रकाशानन्दजी नहीं कर सके। उनकी मनोवृत्ति बदल गयी। उन्होंने प्रार्थना की—आपने अपनी मधुर वाणीसे जो कुछ कहा, वह सत्य है। आपके भावोंको जाने बिना हमने जो कुछ कहा या समझा, वह ठीक नहीं था। आप क्षमा करें। इसके बाद सभी भोजनकर अपने स्थानोंको चले गये। यत्र-तत्र-सर्वत्र इस संवादकी चर्चा होने लगी। प्रकाशानन्दका हृदय द्रवीभूत हो गया था, अतः प्रभुके वाक्य और उनकी रूपमाधुरीमें ही मन मग्न रहने लगा। एक दिन श्रीप्रभु माधवजीका दर्शन करने गये। वहाँ प्रेमाविष्ट होकर नृत्य और कीर्तन करने लगे। उसे सुनकर प्रकाशानन्दजी भी आ गये। श्रीप्रभुकी तत्कालीन अवस्थाको देखकर उन्होंने प्रभुके चरण पकड़ लिये। प्रभुने कहा—'आप जगद्गुरु हैं, ऐसा न करें। अधीर सरस्वतीपादने कहा—मैं आपकी शरणमें हूँ, यह सुनकर श्रीप्रभुने उनका आलिंगन कर उनपर कृपा की। अब ये गौर-कृष्णके प्रेममें निमग्न हो गये। इन्हें प्रभुने प्रबोधानन्द यह नाम दिया, नाम-कीर्तन और श्रीवृन्दावन-वासकी आज्ञा दी।

श्रीमहाप्रभु नीलाचलकी ओर एवं श्रीप्रबोधानन्दपाद सरस्वती श्रीवृन्दावनकी ओर चले और सं० १५७१ में श्रीवृन्दावन आ पहुँचे। यहाँ श्रीलोकनाथ, श्रीभूगर्भ गोस्वामी, श्रीरूप-सनातन आदिसे मिलकर हर्षित हुए। श्रीगोपालभट्टको देखकर तो बहुत ही सन्तुष्ट हुए। श्रीवृन्दावनके रसिकोंका निरन्तर सत्संग एवं श्रीवृन्दावन धाम तथा लीलाकी माधुरीका आस्वादन करते हुए संस्कृत काव्योंमें उसका वर्णन करने लगे। इनके ग्रन्थोंको पढ़नेवाले आनन्द-रसोन्मत्त होकर झूम उठते हैं। श्रीगौरगणोद्देशमें कहा गया है कि—'**तुंगविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्रविशारदा। सा प्रबोधानंदयति गौरोद्गानसरस्वती**॥' ब्रजलीलामें सर्वशास्त्रविशारदा जो तुंगविद्या है, नवद्वीपलीलामें वही गौरगुणगायक श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती हुए हैं। जैसे जय-विजय आसुरी भावमें आये और उनके सहारे भगवान्‌ने असंख्य असुरोंका कल्याण किया। इसी प्रकार इन्हें प्रथम मायावादमें आविष्टकर श्रीमहाप्रभुने असंख्य मायावादियोंका उद्धार किया। श्रीलालदासकृत बंगला भक्तमालमें लिखा है कि—'**प्रकाशानन्द सरस्वती नाम तार छिल। प्रभु ई प्रबोधानंद बलिया राखिला**॥'

श्रीरसिक-अनन्यमालमें लिखा है कि श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती बड़े-भारी विद्वान् एवं काशीके निवासी थे। शास्त्रार्थमें इन्होंने उद्दण्ड विद्वानोंको जीता। काशीसे आकर श्रीवृन्दावनके सभी ठाकुरद्वारे देखे और अनेकों आचार्योंके दर्शन किये। परंतु उनके मत आपको अच्छे नहीं लगे। श्रीपरमानन्दजी रसिकसे मिले और सत्संग करके सन्तुष्ट हुए, पर नित्यविहारकी बात आपके मनमें नहीं आयी। फिर शास्त्रों-पुराणोंमें वर्णित मानसरोवरकी महिमा सुनकर कुछ श्रद्धा हुई। तब ये वैशाखी पूर्णिमाकी रातमें जाकर वहाँ रहे। गोधन देखकर प्रसन्नता हुई, उसके बाद वहाँ उदासी दिखायी पड़ी। दो घड़ी रात गये वहाँ भयानक दृश्य दिखायी दिये। फिर सिंह-सिंहिनीका गर्जन सुनकर शंकित हुए। उसके बाद नाग-नागिनने दर्शन दिये। पश्चात् पवनने बुहारी लगायी और बादलोंने छिड़काव किया। शीतल-मन्द-सुगन्ध समीरके स्पर्शसे श्रीप्रबोधानन्दजीको निद्रा आ गयी। श्रीकुंजबिहारीने इन्हें अनधिकारी समझकर मथुराकी कुटीमें पहुँचा दिया। जागनेपर आपको विश्वास हुआ, आपने परमानन्दजीसे मिलकर सारा वृत्तान्त कहा और प्रार्थना की कि आप हमें नित्य विहार-रस प्रदान कीजिये। तब इन्होंने इस रसके दानी श्रीहितहरिवंश महाप्रभुके चरणोंकी सेवाकी सम्मति दी। श्रीप्रबोधानन्दजीने श्रीहितजीके दर्शन किये। इन्होंने कृपा करके रसोपासनाकी पद्धति बतायी और नित्यविहारके दर्शन करा दिये। तब श्रीप्रबोधानन्दजीने हित-स्तुति-अष्टक एवं श्रीवृन्दावनशतकादि ग्रन्थोंकी रचना की। उसमें नित्यविहार-रसकेलिका वर्णन किया और अनन्य निष्ठापूर्वक श्रीवृन्दावनधाममें वास किया।

श्रीप्रबोधानन्दजी बड़े रसिक एवं प्रेमानन्दमें विभोर रहनेवाले महान् सन्त और आनन्दकन्द श्रीगौरांग महाप्रभुके प्रिय सेवक थे। आपने श्रीवृन्दावनविहारिणी बिहारीजीकी नित्य नयी-नयी निकुंज-लीलाओंका अनुभव करके उनका अपने ग्रन्थोंमें वर्णन किया तथा प्रिया-प्रियतमकी अनुपम रूप-माधुरीके

मधुर रसका पानकर उन्हें अपने नेत्रोंकी पुतली बना लिया। श्रीवृन्दावन-महिमामृत आदि ग्रन्थोंमें आपने श्रीवृन्दावनधामके वाससे मिलनेवाले दिव्य सुखको प्रकाशित किया। इस प्रकार व्रजरसके परमानन्दसागरको भावुकोंके लिये सुलभ किया तथा भगवद्भक्तिविहीन कर्म-धर्मोंके आचरणको आपने त्याज्य बताया। आपके द्वारा वर्णित रससिद्धान्तको पढ़-पढ़कर एवं सुन-सुनकर करोड़ों भक्तोंने प्रेमरंग प्राप्त किया। श्रीवृन्दावनधामका वास आपको ऐसा प्रिय लगा कि आपने उसपर अपना तन-मन और धन—सर्वस्व न्यौछावर कर दिया।

श्रीप्रियादासजीने श्रीप्रबोधानन्दजीके इस वृन्दावन-प्रेमका इस प्रकार वर्णन किया—

श्रीप्रबोधानन्द, बड़े रसिक आनन्दकन्द, श्री 'चैतन्यचन्द' जू के पारषद प्यारे हैं।
राधाकृष्ण कुञ्ज केलि, निपट नवेलि कही, झेलि रसरूप, दोऊ किये दृग तारे हैं॥
वृन्दावन वास कौ हुलास लै प्रकास कियौ, दियौ सुख सिन्धु, कर्म धर्म सब टारे हैं।
ताहि सुनि सुनि कोटि कोटि जन रङ्ग पायौ, विपिन सुहायौ, बसे तन मन वारे हैं॥ ६१२॥

श्रीद्वारकादासजी

सरिता कूकस गाँव सलिल में ध्यान धर्‌यो मन।
राम चरन अनुराग सुदृढ़ जाकें साँचो पन॥
सुत कलत्र धन धाम ताहि सों सदा उदासी।
कठिन मोह को फंद तरकि तोरी कुल फाँसी॥
कील्ह कृपा बल भजन के ग्यान खड्ग माया हनी।
अष्टांग जोग तन त्यागियो द्वारकादास जानै दुनी॥ १८२॥

सन्त श्रीद्वारकादासजी 'कूकस' नामक गाँवके निकट बहनेवाली नदीके जलमें प्रवेश करके भजन-ध्यान करते थे। श्रीरामचन्द्रजीके श्रीचरणोंमें आपका सुदृढ़ अनुराग था। आपने प्रतिज्ञापूर्वक भगवान्‌की उपासना की। आप स्त्री, पुत्र, घर और धनसे सदा विरक्त रहे। यद्यपि मोहका बन्धन कठिन होता है, परंतु आपने अपने विवेकसे उसे तोड़-फोड़ डाला। अपने गुरुदेव श्रीकील्हदेवाचार्यजीकी कृपा एवं भगवद्भजनके बलसे आपने ज्ञानरूपी तलवारसे अविद्या-मायाका नाशकर अष्टांगयोगकी विधिसे नदीमें शरीरको छोड़ा और साकेतधामको प्राप्त किया। इस बातको दुनिया जानती है॥ १८२॥

श्रीपूर्णजी

उदै अस्त परबत्त गहिर मधि सरिता भारी।
जोग जुगति बिस्वास तहाँ दृढ़ आसन धारी॥
ब्याघ्र सिंह गुँजै खरा मनहिं कछु संक न मानैं।
अर्ध न जातैं पौंन उलटि ऊरध कों आनैं॥
साखि सब्द निर्मल कहा कथिया पद निर्बान।
पूर्न प्रगट महिमा अनँत करिहै कौन बखान॥ १८३॥

श्रीपूर्णजीकी महिमा अपार है, कोई भी उसका वर्णन नहीं कर सकता है। आप उदयाचल और अस्ताचल—

इन दो ऊँचे पर्वतके बीच बहनेवाली सबसे बड़ी (श्रेष्ठ) नदीके समीप पहाड़की गुफामें रहते थे। योगकी युक्तियोंका आश्रय लेकर और प्रभुमें दृढ़ विश्वास करके समाधि लगाते थे। व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक पशु वहीं समीपमें खड़े गरजते रहते थे, परंतु आप उनसे जरा भी नहीं डरते थे। समाधिके समय आप अपान वायुको प्राणवायुके साथ ब्रह्माण्डको ले जाते थे, फिर उसे नीचेकी ओर नहीं आने देते थे। आपने उपदेशार्थ साक्षियोंकी, मोक्षपद प्रदान करनेवाले पदोंकी रचना की। इस प्रकार मोक्षपदको प्राप्त श्रीपूर्णजीकी महिमा प्रकट थी॥ १८३॥

श्रीपूर्णजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीपूर्णजी भगवत्कृपाप्राप्त श्रीरामभक्त सन्त थे। एक बार आपका शरीर अस्वस्थ हो गया। आपको औषधिके लिये औंगरा (एक जड़ी)-की आवश्यकता थी। इनके मनकी बात जानकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने एक ब्राह्मणका रूप धारण किया और औंगरा लाकर दिया, जिससे ये स्वस्थ हो गये। भगवत्कृपाका अनुभव करके आप प्रेम-विभोर हो गये। आश्रमसे कुछ दूरपर नगर था, वहाँ यवन बादशाह रहता था। उसकी कन्याने श्रीपूर्णजीका दर्शन किया तो वह अत्यन्त ही प्रभावित हो गयी। उसने अपने पितासे कहा कि मैं दूसरे किसीके साथ व्याह न करूँगी। संसारी सुखोंकी मुझे बिल्कुल इच्छा नहीं है। आप मुझे श्रीपूर्णजीकी सेवामें रख दीजिये। बादशाहने श्रीपूर्णजीके पास आना-जाना प्रारम्भ किया और अपनी दीनतासे उन्हें प्रसन्न कर लिया। किसी दिन आपने उससे कहा कि चाहो सो माँग लो। तब उसने यही वरदान माँगा कि मेरी कन्याको आप अपनी सेवामें रख लीजिये। यह अन्यत्र नहीं जाना चाहती है। आपने कहा कि हम विरक्त साधु हैं, अपना धर्म छोड़कर उसे संसारी सुख नहीं दे सकते हैं। वह मेरे निकट रहकर भजन-साधन कर सकती है। यवन-कन्याकी भी यही इच्छा थी, अतः वह आपके पास रही। आप पूर्ण अकाम थे, अतः इस परीक्षामें उत्तीर्ण हुए। कुछ काल बाद यवन-कन्या सत्संग-लाभ लेकर सद्गतिको प्राप्त हो गयी।

श्रीपूरनजीका नाम श्रीअग्रदेवजीके शिष्योंमें आया है। एक बार आप स्वर्णरेखा नदीके तटपर स्थित पीपलकी छायामें विराजे थे। भगवत्स्मरण करते हुए शान्त-एकान्तमें आपको निद्रा आ गयी। वृक्षकी खड़खड़ाहटसे आपकी नींद खुली तो आपने एक वानरको पीपलपर इधर-उधर कूदते देखा। उसी समय वानरके मुखसे '**दासोऽहं राघवेन्द्रस्य**' यह स्पष्ट सुनायी पड़ा। साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी हैं, यह जानकर आपने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और हनुमदाज्ञासे उसे पवित्र स्थल जानकर आपने वहीं अपना निवासस्थान बनाया और वहाँ श्रीहनुमान्‌जीकी प्रतिमा स्थापित की। भगवन्नाम-जपके प्रभावसे आपमें सर्वसिद्धियाँ आ गयीं। सुख-शान्तिके निमित्त आनेवाले जनसमुदायके मनोरथ पूर्ण होने लगे। आपकी प्रसिद्धि हो गयी।

वह अकबरका शासन-काल था। दुष्ट यवन हिन्दू धर्ममें अनेक प्रकारसे बाधा करते थे। साधुका सुयश न सह सकनेवाले यवन अधिकारियोंने आदेश दिया कि शंख-घण्टानाद मत करो। आपने सुनी-अनसुनी कर दी। सायंकालको आपने जैसे ही शंखध्वनि की, कई सिपाहियोंके साथ मुस्लिम थानेदार इनायत खाँ पकड़ने आ गया, पर पकड़ न सका, क्योंकि मन्दिरके चारों ओर बड़े-बड़े बन्दरोंकी भीड़ थी। सब निराश लौट गये। दूसरे दिन शंख बजते ही वे लोग पुनः पकड़ने आये तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। बाबाजीका छिन्न-भिन्न मृत शरीर देखकर वे खुश हुए और लौट चले। अभी वे चौकीपर पहुँचे भी न थे कि पुनः शंख बजा। वापस आकर देखा तो फिर वही दृश्य। इनायत खाँने इनकी सिद्धियोंका चमत्कार अकबरको लिख भेजा। उसे पुत्रकी कामना थी, अतः एक दिन वह हाथीपर चढ़कर आया।

श्रीपरमानन्दाचार्यजीने सब कुछ जान लिया। उसे सदल-बल सन्तके पास आते देखकर अहंकारी अनधिकारी समझा। आप जिस चौकीपर बैठे थे, उसके सहित उड़कर आकाशमें हाथीके हौदेसे ऊपर स्थित हो गये और बोले—'गर्व छोड़ो, सम्पत्ति और राज्य नश्वर हैं। हिन्दू-मुस्लिम सभी तुम्हारे लिये समान हैं। मुझ सन्तके आशीर्वादसे तो पुत्र भी सन्त हो जायगा। अतः तुम सलीम शाह चिस्ती (फतेहपुर सीकरी)-

के पास जाकर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करो। श्रीपरमानन्दाचार्यके रूपको देखकर अकबरको विराट्-स्वरूपका ध्यान हो आया और तब उसने हाथ जोड़कर कहा—आप पूर्णवैराठी हैं।' तभीसे आपका यह नाम प्रसिद्ध हो गया। पूर्वाश्रममें आपका नाम परमेश्वर प्रसाद था। श्रीअनन्तानन्दाचार्यके प्रशिष्य खेमदासजीसे आपने सं० १५७५ में विरक्त दीक्षा ली। ग्वालियरमें आपकी गद्दी है। आपने सं० १६६१ में कालूरामाचार्यको दीक्षा दी। आपके द्वारा संस्थापित श्रीहनुमान् मन्दिर आपके शिष्यों-प्रशिष्योंके द्वारा अधिक समृद्ध हुआ। इसे ग्वालियर राज्यसे जागीर भी मिली थी। इसी परम्परामें श्रीगंगादासजीके नामपर संस्थापित गंगादासजीकी बड़ी शाला ग्वालियरमें प्रसिद्ध है।

श्रीलक्ष्मणभट्टजी

सदाचार मुनिबृत्ति भजन भागवत उजागर।
भक्तनि सों अति प्रीति भक्ति दसधा को आगर॥
संतोषी सुठि सील हृदय स्वारथ नहिं लेसी।
परम धर्म प्रतिपाल संत मारग उपदेसी॥
श्रीभागवत बखानि कै नीर छीर बिबरन कर्‍यौ।
श्रीरामानुज पद्धति प्रताप भट्ट लच्छिमन अनुसर्‍यौ॥ १८४॥

श्रीलक्ष्मणभट्टजीने श्रीरामानुज-सम्प्रदायकी पद्धतिके अनुसार भगवान्‌की सेवा-पूजाका अनुसरण किया। आप महान् सदाचारी, मुनियोंकी-सी वृत्ति स्वीकार करके जीवनमें धारण करके जीवन-यापन करनेवाले, भजन-परायण और यशस्वी भगवद्भक्त थे। भगवद्भक्तोंमें आपका बड़ा भारी स्नेह था। आपके हृदयमें दशधा भक्तिका निवास था। आप परम सन्तोषी, बड़े शीलवान् थे। नाममात्रका भी स्वार्थ आपमें नहीं था। जिससे भगवद्भक्ति दृढ़ हो, उस परम धर्मका पालन करनेवाले तथा सन्तोंका जो मार्ग है, उसके आप उपदेशक थे। श्रीमद्भागवतकी कथाएँ कहकर आपने सत् और असत्‌का उसी प्रकार विवेचन किया, जैसे हंस नीर और क्षीरका करता है। इस प्रकार श्रीभट्टजीने असत्‌को छोड़कर सत् अर्थात् भगवत्-शरणागतिको ग्रहण किया॥ १८४॥

श्रीलक्ष्मणभट्टजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीलक्ष्मणभट्टजी सन्त थे। आप श्रीमद्वल्लभाचार्यके पिता एवं श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें दीक्षित थे। एक बार आपने एक भक्त शिष्यके यहाँ श्रीमद्भागवतकी कथा कही, उसमें प्रचुर भेंट आयी। ज्यौं-की-त्यौं सम्पूर्ण भेंट सन्त-सेवाके निमित्त एक साधुको समर्पित कर दी। लोभसे कथाका सार चला जाता है। यथा—'**कारिता कणलोभेन कथा सारस्ततो गतः।**' (भा० मा०) आप केवल उपकार और सन्तसंगकी भावनासे कथा कहते थे अतः उसमें नीर-क्षीर (सत-असत्)-का विवेक हो जाता था, अतः मूलमें कहा कि—'***श्रीभागवत बखानि कै नीर छीर बिबरन कर्‍यौ।***' एक बार राजाने आपको श्रीभागवत-कथाके लिये आमन्त्रित किया, उन्हीं तिथियोंमें किसी सन्तने कथाके लिये कहा। आप सन्तके यहाँ गये, राजाके यहाँ नहीं गये। ऐसे सन्त-प्रेमी और निर्लोभी थे आप।

एकबार यात्रा करते हुए कहीं मार्गमें ठहरे। समय होनेपर श्रीठाकुरजीके लिये भोग बनाया। इसी बीच कई यवन वहाँ आ गये, आपने मना किया कि इधर मत आइये। आपके स्पर्शसे तथा छाया पड़नेसे सामग्री ठाकुरजीके भोगयोग्य नहीं रहेगी। वे लोग अड़ गये कि हम तो बैठेंगे। तुम हमारा क्या कर लोगे? आप चुप रहे, उन्होंने रसोई छू ली। आप वहाँसे चले गये, दूसरी जगह जाकर पुनः रसोई बनायी। भट्टजीकी

रसोई अपवित्र करके वे लोग बहुत प्रसन्न हो रहे थे। कुछ देरके बाद उनके पेटमें पीड़ा होने लगी और मल-मूत्रसे उनके वस्त्र दूषित हो गये। अब इन्हें सन्तके प्रभावका पता पड़ा। विवश होकर ये सब श्रीभट्टजीके पास आये और दूरसे ही प्रार्थना करने और माफी माँगने लगे। आपको रोष था ही नहीं। सभीने कहा— महाराज! मुझे मेरे अपराधका जो चाहिये वह दण्ड दीजिये। तब आपने कहा कि इस ग्रामके सभी साधु-ब्राह्मणोंको भोजन करानेके लिये धन दो और उनसे माफी माँगो तब उन्होंने ऐसा ही किया। फिर सभी पीड़ारहित और शान्त हो गये तथा भक्त-भगवत्सेवाके लिये धन अर्पणकर चले गये। साधु-ब्राह्मणोंने भोजन किया, आपकी कीर्तिका विस्तार हुआ।

स्वामी श्रीकृष्णदासजी पयहारी

कृष्नदास कलि जीति न्यौति नाहर पल दीयो।
अतिथि धर्म प्रतिपाल प्रगट जस जग में लीयो॥
उदासीनता अवधि कनक कामिनि नहिं रातो।
राम चरन मकरंद रहत निसि दिन मदमातो॥
गलतें गलित अमित गुन सदाचार सुठि नीति।
दधीचि पाछें दूसरी (करी) कृष्णदास कलि जीति॥ १८५॥

महान् सिद्धसन्त पयहारी श्रीकृष्णदासजी जयपुरमें श्रीगलताजीकी गद्दीपर विराजते थे। आप अनन्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, बड़े सदाचारी और अच्छे नीतिज्ञ थे। श्रीदधीचिजीके बाद इस कलियुगमें उत्पन्न होकर कलिकालके विकारोंपर आपने विजय प्राप्त की। अतिथिके रूपमें प्राप्त सिंहको आपने न्यौता दिया और अपने शरीरमेंसे मांस काटकर उसे भोजनके लिये अर्पण किया। इस प्रकार विलक्षण रूपसे अतिथिधर्मका पालन करके आपने सुयश प्राप्त किया। आप वैराग्यकी तो सीमा ही थे और कभी भी धन और स्त्रियोंमें आसक्त नहीं हुए। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंके परागमें आपका मन उसी प्रकार आनन्दित रहता था, जैसे पुष्परसको पाकर भ्रमर मतवाला हो जाता है॥ १८५॥

स्वामी श्रीकृष्णदासजी पयहारीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

एक बार पयहारी श्रीकृष्णदासजी महाराज अपनी गुफामें विराजमान थे, उसी समय द्वारपर एक सिंह आकर खड़ा हो गया। आपने विचार किया कि 'आज तो अतिथि-प्रभु पधारे हैं।' उनके भोजनके लिये आपने अपनी जाँघ काटकर मांस सामने रख दिया और प्रार्थना की—'प्रभो! भोजन कीजिये।' धर्मकी बहुत बड़ी महिमा है और उसका पालन करना बहुत ही कठिन है। इनकी सच्ची धर्मनिष्ठाको देखकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे नहीं रहा गया, उन्होंने प्रकट होकर दर्शन दिया; क्योंकि आपका भाव बिलकुल सत्य था। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करके जाँघका दुःख न जाने कहाँ चला गया। संसारमें लोग अतिथिको अन्न-जल देनेमें ही कष्टका अनुभव करते हैं, तब इस प्रकार अपने शरीरका दान कौन कर सकता है! आपके इस चरित्रको सुनकर लोगोंके मनमें महान् आश्चर्य होता है।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

बैठे हैं गुफा में, देखि सिंह द्वार आय गयौ, लयौ यों बिचारि हो अतिथि आज आयौ है।
दई जाँघ काटि डारि, कीजियै अहार अजू, महिमा अपार धर्म कठिन बतायौ है॥

दियौ दरसन आय, साँच में रह्यो न जाय, निपट सचाई, दुख जान्यौ न बिलायौ है।
अन्न जल देबै ही कों झींखत जगत नर, करि कौन सकै जन मन भरमायौ है॥ ६१३॥

श्रीगदाधरदासजी

लाल बिहारी जपत रहत निसि बासर फूल्यौ।
सेवा सहज सनेह सदा आनँद रस झूल्यौ॥
भक्तनि सों अति प्रीति रीति सबही मन भाई।
आसय अधिक उदार रसन हरि कीरति गाई॥
हरि बिस्वास हिय आनि कै सपनेहुँ आन न आस की।
भली भाँति निबही भगति सदा गदाधरदास की॥ १८६॥

श्रीगदाधरदासजीकी भक्तिका सर्वदा निर्वाह हुआ, उसमें कभी भी कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई। आप श्रीबिहारीलालजीके नामोंका जप करते हुए दिन-रात प्रफुल्लित ही रहते थे। भक्त-भगवन्तकी सेवामें आपका सहज स्नेह था। उसीके आनन्दमें सर्वदा झूमते रहते थे। भक्तमें आपका बड़ा भारी अनुराग था। आपकी सन्त-सेवाकी रीति सभीको अच्छी लगती थी। आप मन-बुद्धिसे परम उदार थे और जिह्वासे सदा भगवान्‌की कीर्तिका गान किया करते थे। हृदयमें केवल भगवान्‌का विश्वास और भरोसा रखकर आपने स्वप्नमें भी किसी दूसरेकी आशा नहीं रखी॥ १८६॥

श्रीगदाधरदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीगदाधरदासजी श्यामसुन्दरके प्रेममें ऐसे डूबे कि उनका घर, धन और परिवार सब कुछ छूट गया। परमविरक्त हो गये। कुछ दिन इधर-उधर घूम-फिरकर आप महाराष्ट्रमें ताप्ती नदीके तटपर बुरहानपुरको आये और उसीके निकट एक बागमें आसन लगाकर बैठ गये। लोगोंने आपसे बहुत अनुनय-विनय करके कहा—'प्रभो! गाँवमें चलकर किसी मन्दिरमें रहिये।' परंतु उनके कहनेसे आप गाँवमें नहीं गये। उसका कारण यह कि आपको एकान्तमें ही सुख था। भगवद्भजनको छोड़कर दूसरी किसी कामनासे आपका कोई प्रयोजन न था। एक बार कई दिनोंतक लगातार वर्षा होती रही, उससे आपका शरीर और वस्त्र भीग गये। इनके कष्टको देखकर प्यारे श्यामसुन्दरने अत्यन्त मीठे स्वरमें एक भक्त सेठसे कहा—तुम्हारे घरमें बहुत-सा धन भरा हुआ है, तुम श्रीगदाधरदासजीके लिये और उनके ठाकुरजीके लिये एक सुन्दर मन्दिर बनवाओ और उन्हें लाकर उस मन्दिरमें रखो।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर उस सेठ भक्तने सुन्दर विशाल मन्दिर बनवाया और भगवान्‌की आज्ञाको सुनाकर (संत-सेवार्थ) बहुत आग्रह किया, तब बड़ी मुश्किलसे आप उस मन्दिरमें आये। आपने उस मन्दिरमें भगवान्‌के श्रीविग्रहकी स्थापना की और उनका नाम 'श्रीलालबिहारीजी' रखा। श्रीठाकुरजीके सुन्दर मधुर स्वरूपको देख-देखकर आप सर्वदा उसी आनन्दमें विभोर रहते। बड़े प्रेमके साथ आप सन्तोंकी सेवा करते, इनकी सेवासे सन्तजन बहुत प्रसन्न होते और सन्तोंको सुखी देखकर आप भी प्रसन्न रहते। सन्त-भगवन्तकी सेवाके लिये जो भी कुछ सामान आता था, आप उसे उसी दिन सेवामें लगा देते, बासी अन्न-धन दूसरे दिनके लिये नहीं रखते। एक बार रसोइयाने छिपाकर कुछ सामान रख रखा था। संयोगवश आश्रममें कई सन्त आ गये। तब श्रीगदाधरदासजीने अपने रसोइयासे कहा—कुछ सामान हो तो उसीसे रसोई बनाकर प्रेमपूर्वक इन साधु-सन्तोंको भोजन करा दो।

शिष्य रामदास और वेंकटदास रसोइयाने श्रीगदाधरदासजीसे कहा—'श्रीठाकुरजी भूखे न रहें, इसलिये मैंने भोगके लिये कुछ थोड़ी-सी सामग्री बचाकर रखी है।' आपने कहा कि 'उसे निकालो और सन्तोंको खिला दो, प्रातःकाल कहीं-न-कहींसे कुछ और आयेगा।' रसोइयाने आपकी आज्ञाके अनुसार रसोई बनाकर सन्तोंको प्रसाद पवाया। श्रीगदाधरदासजीने भी सन्तोंका प्रसाद लिया और बहुत बड़े सुखका अनुभव किया। सन्त-सेवामें इनके प्रेमको देखकर उन सन्तोंने प्रसन्न होकर कहा कि 'आपके पवित्र सुयशको सारा संसार गायेगा।' सबेरा हुआ, पर कहींसे कुछ भोगके लिये सामान नहीं आया। तीन पहर बीत गये, श्रीठाकुरजी भूखे ही रहे, उन्हें भोग नहीं लगा। इससे रसोइयाको क्रोध हुआ, वह कहने लगा—'न जाने कब परमात्मा हमको ऐसे गुरुसे और इस दुःखसे छुड़ायेगा।' उसी समय किसी भक्त सेवकने आकर दो सौ रुपये श्रीगदाधरदासजीको भेंट किये। तब आप बोले—इन रुपयोंको इसके माथेपर पटक दो। देखें, यह कितना खाता है।

श्रीगदाधरदासजीकी इस बातको सुनकर वह सेठ डर गया, उसने सोचा कि शायद महाराजजी मेरे ऊपर रुष्ट हो गये हैं। पश्चात् श्रीगदाधरदासजीने समझाकर उसका समाधान किया। तब तो वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और भक्त-भगवन्तके भोगमें जितना सामान लगता, नित्य उसे देता। इस प्रकार वह सेवा करके सुख प्राप्त करने लगा। साधु-सेवामें उसकी श्रद्धा अब और बढ़ गयी। कुछ दिन बुरहानपुरमें रहनेके बाद आयुको थोड़ी जानकर श्रीगदाधरदासजी वहाँसे चलकर मथुराजी आ गये और वहीं रहकर परमानन्ददायिनी व्रजलीलाओंके मधुर रसका आस्वादन करने लगे। इस प्रकार आपने श्रीबिहारिणी-बिहारीजीकी तथा साधुओंकी प्रेमसे सेवा की। उनके श्रीचरणकमलोंमें अपने मनको भलीभाँति लगाया।

श्रीप्रियादासजी श्रीगदाधरदासजीके इस सन्तप्रेमका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बुरहानपुर ढिग बाग तामें बैठे आय करि अनुराग गृह त्याग पागे स्याम सों।
गाँव मैं न जात, लोग किते हाहा खात, सुख मानि लियौ गात, नहीं काम और काम सों॥
पर्‌यौ अति मेह, देह बसन भिजाय डारे, तब हरि प्यारे बोले स्वर अभिराम सों।
रहै एक साह भक्त कही जाय ल्यावौ उन्हैं मन्दिर करावौ तेरौ भर्‌यौ घर दाम सों॥ ६१४॥
नीठि नीठि ल्याये हरि बचन सुनाये जब, तब करवायौ ऊँचौ मन्दिर सँवारिकै।
प्रभु पधराये, नाम 'लाल' औ 'विहारी' स्याम अति अभिराम रूप रहत निहारिकै॥
करैं साधु सेवा जामें निपट प्रसन्न होत, बासी न रहत अन्न सोवैं पात्र झारिकै।
करत रसोई जोई राखी ही छिपाय सामा आये घर सन्त, आप कही ज्याँवौ प्यारिकै॥ ६१५॥
बोल्यौ प्रभु भूखे रहैं ताके लिये राख्यौ कछू भाष्यो तब आप काढ़ौ भोर और आवैगौ।
करिकै प्रसाद दियौ लियौ सुख पायौ सब सेवा रीति देखि कही जग जस गावैगौ॥
प्रात भये भूखे हरि गए तीन जाम ढरि रहे क्रोध भरि कहैं कबधौं छुटावैगौ।
आयौ कोऊ ताही समै दो सत रुपैया धरे बोले गुरु 'सीस लै कै मारौ' कितौ पावैगौ॥ ६१६॥
डर्‌यौ वह साह, मति मोपै कछू कोप कियौ कियौ समाधान सब बात समुझाई है।
तब तौ प्रसन्न भयौ अन्न लगै जितौ देत, सेवा सुख लेत, साधु रुचि उपजाई है॥
रहे कोऊ दिन, पुनि मधुपुरी बास लियो, पियौ ब्रजरस लीला अति सुखदाई है।
लाल लै लड़ाए सन्त नीके भुगताए गुन जाने जिते, गाये, मति सुन्दर लगाई है॥ ६१७॥

श्रीनारायणदासजी

भक्ति जोग जुत सुदृढ़ देह निज बल करि राखी।
हिएँ सरूपानंद लाल जस रसना भाषी॥

परिचय प्रचुर प्रताप जान मनि रहस सहायक।
श्रीनारायन प्रगट मनो लोगनि सुखदायक॥
नित सेवत सन्तनि सहित दाता उत्तर देस गति।
हरि भजन सींव स्वामी सरस श्रीनारायनदास अति॥ १८७॥

स्वामी श्रीनारायणदासजी भगवद्भजनकी सीमा थे और आपका हृदय अति सरस था। आपने भक्तियोगसे युक्त सुदृढ़ शरीरको अपनी भक्तिके प्रतापसे स्वस्थ एवं भक्तिमय आचरण करनेयोग्य रखा। हृदयमें श्रीगोपाललालके सुन्दर रूपके ध्यानका आनन्द लेते हुए आप जिह्वासे उनके सुयशका वर्णन करते रहते थे। भक्तिके प्रतापसे आपके द्वारा अनेक चमत्कार प्रकट हुए। सुजानशिरोमणि श्यामसुन्दर रहस्यमय ढंगसे आपकी सहायता करते थे। इसी तरह आप सबके सहायक थे। श्रेष्ठज्ञानी होनेके कारण आप रहस्यका बोध कराकर साधककी सहायता करते थे। विश्वका कल्याण करनेके लिये मानो स्वयं नारायणभगवान्‌ने ही अवतार लिया था। आप बड़े प्रेमके साथ सन्तोंकी सेवा करते थे। उत्तराखण्ड और उत्तर प्रदेशमें निवास करनेवालोंको आपने उपदेश देकर उन्हें सद्‌गति प्रदान की॥ १८७॥

श्रीनारायणदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

महात्मा श्रीनारायणदासजी पहले बदरिकाश्रममें निवास करते थे, फिर वहाँसे श्रीमथुरापुरीको चले आये। यहाँ पुरीका दर्शन करके आपको बड़ा भारी सुख मिला। आप श्रीकेशवदेवजीके द्वारपर रहने लगे। आपने मनमें विचार किया कि मन्दिरमें दर्शन करनेके लिये जो लोग आते हैं, उन्हें भगवान्‌के दर्शनोंका आनन्द अच्छी प्रकारसे नहीं मिलता है, क्योंकि उनके मनमें जूतोंके चोरी चले जानेका भय बना रहता है, इसलिये मैं दर्शनार्थियोंके जूतोंकी रखवाली किया करूँ तो इन भक्तोंको भगवद्‌दर्शनका पूरा-पूरा आनन्द मिलेगा। ऐसा निश्चयकर आप जूतोंकी रखवाली करने लगे। इससे दर्शनार्थी और स्वयं आप भी आनन्दित हुए। दूसरे लोग आपके प्रभावको तथा आपकी सेवा-निष्ठाको नहीं जानते थे कि आपके हृदयमें सेवाका कैसा अपार भाव भरा है। एक बार एक दुष्ट आया और उसने एक बड़ी-सी पोटली आपके सिरपर रख दी और कहा कि इसे ले चलो। आप बिना किसी ननु-नचके पोटली लादकर उसके साथ चल दिये।

जब श्रीनारायणदासजी उस दुष्टकी पोटलीको सिरपर लिये जा रहे थे तो उसी समय रास्तेमें एक कोई बड़े प्रतिष्ठित सज्जन मिल गये और उन्होंने श्रीनारायणदासजीको पहचान लिया। फिर बड़े अनुरागमें भरकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और उस दुष्टको बड़े जोरसे डाँटा-फटकारा। तब उस महादुष्टने भी आपकी महिमाको जाना और उसने भी इनके चरण पकड़ लिये। उसके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसका देहाभिमान छूट गया और वह पछताकर कहने लगा कि मुझसे बड़ी भारी भूल हुई। श्रीनारायणदासजीने उसे समझाते हुए कहा—'तुम्हारा काम हो रहा है, तुम अपने मनमें किसी बातकी चिन्ता मत करो।' यह सुनकर वह रोने लगा, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उसने प्रार्थना करते हुए श्रीनारायणदासजीसे कहा कि 'अब मैं घरका मुख नहीं देखूँगा। मुझे अपनी शरणमें रखिये।' उसके दैन्य-भावसे प्रसन्न होकर आपने उसे भगवद्भक्तिका उपदेश दिया। उसे भी मालूम हो गया कि भक्ति-जगत् कैसा होता है। साधु-सन्तोंमें क्या विशेषता है, उनकी कैसी क्षमा-शक्ति होती है। इस चरित्रका तात्पर्य यह है कि साधुजन मेघके समान समदर्शी और उदार होते हैं।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

आये बद्रीनाथ जू तें, मथुरा निहारि नैन, चैन भयौ, रहैं जहाँ केसौजू कौ द्वार है।
आवें दरसनी लोग जूतनि कौ सोग हिये रूप कौ न भोग होत कियौ यों बिचार है॥

करै रखवारी, सुख पावत है भारी, कोऊ जानै न प्रभाव, उर भाव सो अपार है।
आयो एक दुष्ट पोट पुष्ठ सो तौ सीस दई लई, चले मग ऐसौ धीरज कौ सार है॥ ६१८॥
कोऊ बड़ौ नर, देखि मग पहिचानि लिये किये, परनाम भूमि परि, भरि नेह कौ।
जानिकै प्रभाव, पाँव लीने महादुष्ट हूँ नै, कष्ट अति पायो छूट्यौ अभिमान देह कौ॥
बोले आप 'चिन्ता जिनि करौ, तेरौ काम होत', नैन नीर सोत 'मुख देखौं नहीं गेह कौ'।
भयौ उपदेश, भक्ति देस उन जान्यौं साधु सक्ति कौ विसेस, इहाँ जानौ भाव मेह कौ॥ ६१९॥

एक बार भक्तवर श्रीनारायणदासजीने उत्तराखण्डमें रहकर एकान्त गुफामें समाधि लगायी। संयोगवश श्वास ऊपर खींचते समय वायु कहीं उलझ गयी, अतः आपके शरीरमें रोग हो गया। इनके कष्टको देखकर नर-नारायण भगवान् पधारे और उन्होंने योगकी युक्तियोंको बताकर इनके कष्टको दूर किया। तबसे आपको योगसिद्धि हो गयी। उत्तराखण्डके एक गाँवमें एक धनी-मानी वैश्य रहता था। उसके वृद्धावस्थामें एक पुत्र हुआ। उसमें उसकी बड़ी-भारी आसक्ति हुई। किशोर-अवस्थाको प्राप्तकर उसकी मृत्यु हो गयी। इससे उस वैश्यको महान् कष्ट हुआ। वह मोहवश शवको संस्कारके लिये नहीं ले जाने दे रहा था। इसी बीच स्वामी श्रीनारायणदासजी सन्तोंके बीचसे उठकर भिक्षाके बहाने उस गाँवमें पहुँच गये। भीड़ देखकर आप भी उसके घरमें चले गये। पिता-माताके करुण-क्रन्दनको सुनकर आपका हृदय द्रवित हो गया। भगवत्-स्मरणपूर्वक जैसे ही आपने पुत्रके शरीरका स्पर्श किया, उसी समय उसमें प्राण आ गये। सभीने स्वामीजीके चरण पकड़ लिये। चमत्कारको देखकर सभी भगवद्भक्त बन गये।

श्रीभगवानदासजी

भजन भाव आरूढ़ गूढ़ गुन बलित ललित जस।
श्रोता श्रीभागवत रहसि ग्याता अच्छर रस॥
मथुरापुरी निवास आस पद सन्तनि इकचित।
श्रीजुत खोजो स्याम धाम सुखकर अनुचर हित॥
अति गंभीर सुधीर मति हुलसत मन जाके दरस।
भगवानदास श्रीसहित नित सुहृद सील सज्जन सरस॥ १८८॥

भक्त श्रीभगवानदासजी श्री (भक्ति)-से सम्पन्न थे। सभीके सुहृद, सुशील, सज्जन और परम रसिक थे। आप सर्वदा भजन-भावमें तत्पर रहते थे। गोप्य गुणोंसे युक्त भगवान्‌के मनोहर सुयशसे आपका हृदय परिपूर्ण था। श्रीमद्भागवतके रसिक श्रोता थे, चरित्रोंके गम्भीर रहस्य तथा अक्षर (अविनाशी)-के रसके ज्ञाता अनुभवी थे। आप श्रीमथुरापुरीमें निवास करते थे और एकाग्र मनसे एकमात्र सन्तोंके श्रीचरणोंकी आशा रखते थे। श्रीमान् खोजीजी एवं श्यामदासके परिवारको सुख देनेवाले तथा उनके हितकारी सेवक थे। आप अत्यन्त धीर-गम्भीर बुद्धिवाले एवं ऐसे प्रेमी भक्त थे कि आपके दर्शनमात्रसे मन प्रसन्न हो जाता था॥ १८८॥

श्रीभगवानदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीभगवानदासजी आमेरनरेश श्रीभारमलजीके पुत्र थे। इनकी माताका नाम राठौड़ रानी श्रीवदनादेवी था। आप दौसा (जयपुर)-के निकट लवाणके जागीरदार और अकबरके मनसबदार थे। महान् वीर एवं परमभक्त थे, अतः आपकी 'बाँके राजा' की उपाधि थी। इनके वंशधर आज भी बाँकावत कहलाते हैं। इनके दो पुत्र थे—श्रीमोहनदासजी और अखयराजजी। श्रीभगवानदासजी मथुराके हाकिम थे। जो भी कोई

तिलक-कण्ठी धारण करके आता, उसको चुंगी माफ कर देते और भी सुविधाएँ दे देते। चुंगी बचानेके लोभसे यवन, जैनी आदि भी तिलक-कण्ठी धारण करके आते और बिना चुंगी दिये निकल जाते। धीरे-धीरे आमदनी कम हो गयी। तब लोगोंने बादशाहसे शिकायत की। स्वयं जहाँगीर आया और उसने घोषणा करा दी कि *'माला तिलक न धारिये।'* यदि कोई माला-तिलक धारण किये मिल जायगा तो उसे फाँसीकी सजा दी जायगी। लौकिक लाभके लिये बहुत वेशधारी थे, पर अब प्राण देनेवाला कोई नहीं दिखायी पड़ता था। धोखेमें कुछ पकड़े गये, उन्हें कारागारमें बन्द कर दिया गया। श्रीभगवानदासजीने विशाल और चमकीले द्वादश तिलक लगायें और तुलसीकी मोटी-मोटी कई मालाएँ धारण कीं, फिर बादशाहके दरबारमें पहुँचे। इन्हें देखकर (जहाँगीर) बादशाह कुपित होकर बोला—आप मेरी आज्ञाकी अवहेलना करनेके लिये, मुझे चिढ़ानेके लिये आज यह विशेष वेश बनाकर आये हैं। अब आपको अवश्य ही प्राणदण्ड दिया जायगा।

श्रीभगवानदासजीने कहा—मेरे भक्ति-शास्त्रोंमें लिखा है और सन्तजन भी कहते हैं कि तिलक-कण्ठी धारण किये हुए जो शरीर छोड़ता है, उसे वैकुण्ठकी प्राप्ति होती है। अन्तिम-संस्कारके समय भी तिलक लगाते हैं। इसलिये मैं आज प्राणदण्डको स्वीकारकर वैकुण्ठ-यात्राकी तैयारी करके आपके सामने आया हूँ। आज्ञाका उल्लंघनकर आपको चिढ़ानेका मेरा उद्देश्य नहीं है। यद्यपि प्रभुकी प्रतिज्ञा है कि यदि वातादि दोषोंके कारण मेरा भक्त मुझे भूल जाता है तो मैं उसका स्मरण करता हूँ, जिससे वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है, पर प्रभुका निहोरा क्यों करें? कण्ठी-मालाके भरोसे शरीर क्यों न छोड़ें? यह सुनकर बादशाह प्रसन्न हो गया और बोला कि मैं परीक्षा ले रहा था। उसमें केवल एक आप सच्चे-खरे निकले। 'माँगो, आप क्या चाहते हो?' श्रीभगवानदासजीने कहा—मैं श्रीमथुराका निरन्तर निवास चाहता हूँ। दूसरी कोई सेवा अब हमें न दी जाय। मथुरासे बाहर जानेका आदेश न दिया जाय। प्रजापर चुंगीका भार अधिक है, उसे माफ किया जाय। तिलक-कण्ठीधारी जो गिरफ्तार किये गये हैं, उन्हें छोड़ दिया जाय। बादशाहने ऐसा ही किया। धामवास इसलिये माँगा कि इससे भक्तिके सभी अंगोंकी पुष्टि सहजमें सम्भव हो जाती है। इसके बाद आप मथुरा छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं गये। आपने श्रीगोवर्धनजीमें श्रीहरिदेवजीका लाल पत्थरका मन्दिर बनवाया, जो बड़ा ही दर्शनीय है।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

जानिबे कों पन, पृथीपति मन आई, यों दुहाई लै दिवाई माला तिलक न धारियै।
मानि आनि प्रान, लोभ, केतिकनि त्याग दिये, छिपे नहीं जात, जानी बेग मारि डारियै॥
भगवानदास उर भक्ति सुखरास भर्‍यौ कर्‍यौ लै सुदेस देस, रीति लागी प्यारियै।
रीझ्यौ नृप देखि, रीझ मथुरा निवास पायौ, मन्दिर करायौ 'हरिदेव' सों निहारियै॥ ६२०॥

श्रीभगवानदासजीका सत्संग पाकर रसखान और मीरमाधव आदि अनेकों भक्तोंकी वेषमें दृढ़-निष्ठा हो गयी। रसखानजी अपने गलेमें दो सौ मालाएँ धारण करते थे। एक बार जहाँगीरने उनसे पूछा कि हिन्दू-साधु भी इतनी मालाएँ नहीं पहनता है, फिर तुम इतनी क्यों पहनते हो? तब रसखानने यह दोहा पढ़ा—*'तन पावन जल अगम को तनक काठ करै पार। बड़े काठ ऊपर तरै जब तन पाहन भार॥'* जो पवित्र हैं वे हल्के हैं, उन्हें थोड़ा काष्ठ भी पार कर देगा, पर मैं तो पापी पत्थरके समान भारी हूँ अत: मेरे लिए बड़ा काठ चाहिये। मीरमाधवजी प्रेमसे श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन करते तो उसे सुननेके लिये बहुत-से लोग उनके पीछे-पीछे फिरते। किसी समय उनसे भी बादशाहने प्रश्न किया कि कीर्तन तो बहुत-से लोग करते हैं, पर तुम्हारे ही पीछे-पीछे लोग क्यों घूमते हैं? मीरमाधवने उत्तर दिया—*'मधुर वचन सुनि सुवा का काहु न अचरज होय। बोलनि कागा की मधुर सुनि धावै सब कोय॥'*

श्रीगोवर्धनमें श्रीकेशवाचार्यजीने ठाकुर श्रीहरिदेवजीको प्रकट किया और मानसी-गंगाके निकट एक पर्णकुटीमें पधराकर उनकी सेवा करने लगे। एक दिन श्रीहरिदेवजीने खीर भोग आरोगनेकी इच्छा प्रकट की। आचार्यने कहा—मैं तो आपकी सेवामें केवल भावद्रव्य ही समर्पित कर सकता हूँ, पर धनकी याचना किसीसे नहीं कर सकता हूँ। श्रीहरिदेवजीने कहा—तुम किसीसे माँगो मत, परंतु आये हुए धनको अस्वीकार मत करो। आजसे सातवें दिन राजा भगवानदास तुम्हारे पास आयेंगे। उनकी सेवा तुम्हारे द्वारा मैं स्वीकार करूँगा। श्रीहरिदेवजीने राजा भगवानदासको स्वप्न दिया कि मैं गोवर्धनमें हूँ और केशवाचार्यजीके प्रेमसे मेरा प्राकट्य हुआ। तुम मन्दिर बनवाओ और भोग-रागका समुचित प्रबन्ध करो। इस प्रकार श्रीहरिदेवजीकी आज्ञा पाकर श्रीभगवानदास श्रीकेशवाचार्यके समीप आये और लाल पत्थरका विशाल मन्दिर बनवाया। भोग-रागका प्रबन्ध किया।

श्रीकल्याणदासजी

जगन्नाथ को दास निपुन अति प्रभु मन भायो।
परम पारषद समुझि जानि प्रिय निकट बुलायो॥
प्रान पयानो करत नेह रघुपति सों जोर्‌यो।
सुत दारा धन धाम मोह तिनुका ज्यों तोर्‌यो॥
कौंधनी ध्यान उर में लस्यौ, राम नाम मुख जानकी।
भक्त पच्छ ऊदारता, यह निबही कल्यान की॥ १८९॥

भक्तोंका पक्ष लेना तथा उदारतापूर्वक सबसे व्यवहार करना—इन दोनों बातोंको श्रीकल्याणदासजीने जीवनभर निभाया। ये श्रीजगन्नाथजीके सेवक थे और सेवा करनेमें बड़े चतुर थे, अतः भगवान्‌को बहुत ही अच्छे लगते थे। भगवान्‌ने इन्हें अपना नित्य प्रिय पार्षद मानकर अपने पास बुला लिया। इन्होंने प्राण त्यागते समय स्त्री-पुत्र, धन-धामके महामोहको तृणके समान तोड़कर केवल भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे स्नेह जोड़ा और हृदयमें श्रीरामजीकी कौंधनी (करधनी)-का ध्यान तथा मुखसे श्रीसीतारामजीके नामका उच्चारण करते हुए सद्‌गति प्राप्त की॥ १८९॥

श्रीकल्याणदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकल्याणजी सन्त-सेवी सद्‌गृहस्थ थे। आप ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे और श्रीराघवेन्द्रसरकार आपके इष्टदेव थे। आपके पवित्र हृदयमें श्रीसीतारामजीका निवास था। सन्तोंको आप भगवान्‌का साक्षात् प्रतिनिधि मानते थे। एक बार आपके यहाँ कन्याका विवाह था। जाति-बिरादरीके साथ-साथ सन्तोंको भी आपने आमन्त्रित कर रखा था। जब भोजनका समय हुआ तो आपने सन्तोंकी पंगत पहले करा दी। इससे अन्य ब्राह्मण लोग बड़े असन्तुष्ट हुए और आपको बुरा-भला कहने लगे। उन लोगोंका कहना था कि इन साधुओंकी जाति-पाँतिका कोई पता नहीं है, आपने इन्हें कैसे पहले खिला दिया? इसपर आपने सबको समझाते हुए कहा कि सन्तोंका 'अच्युत' गोत्र होता है और ये विश्वका कल्याण करनेवाले होते हैं। सन्त धरा-धामपर साक्षात् भगवान् श्रीहरिके प्रतिनिधि होते हैं, अतः उनके पहले प्रसाद ग्रहण कर लेनेसे आप सबको असन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। इस प्रकारकी इनकी सन्त-निष्ठा देखकर अन्य ब्राह्मण भी प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हो गये। आपके यहाँ सन्त-सेवा चल रही है, सुनकर और भी बहुत-से अनामन्त्रित सन्त भी आपके यहाँ आ पहुँचे। यह देखकर बिरादरीके लोग कहने लगे—अभी आपके घराती और बराती बाकी ही हैं,

अगर आप इन अनामन्त्रित सन्तोंको भोजन करा देंगे तो उनके लिये क्या बचेगा? इसपर आपने कहा— चिन्ता करनेकी बात नहीं है, सन्तोंको खिलानेसे कम नहीं पड़ता, सारी पूर्ति रामजी करेंगे। यह कहकर आपने सब सन्तोंको भोजन करा दिया, फिर जब घरातियों-बारातियोंको खिलानेकी बात आयी तो आपने पंगतमें सबको बैठवा दिया और परोसनेवालोंसे परोसनेको कहा। प्रभुकृपासे सभीने पूर्ण तृप्तिका अनुभव किया और भोजनमें किसी भी प्रकारकी न्यूनता नहीं आयी। सन्त-कृपाका ऐसा चमत्कार देखकर सब लोग धन्य-धन्य कह उठे।

एक बारकी बात है, श्रीकल्याणजी अपने भाईके साथ उत्सव-दर्शनार्थ श्रीधाम वृन्दावनको जा रहे थे। मार्गमें आपने देखा कि एक दुष्ट धनी सरावगी एक दीन वैष्णवको कुछ पैसोंके लिये डाँट-फटकार रहा है, दुःख दे रहा है। यह देखकर आपको बहुत दुःख हुआ। आपने न केवल उन वैष्णव महाभागका सारा कर्जा उतारकर उस दुष्ट सरावगीसे मुक्ति दिला दी, बल्कि उन्हें पर्याप्त धन-धान्य देकर सुखी भी कर दिया। ऐसे उदारमना थे श्रीकल्याणजी!

श्रीसन्तदासजी तथा श्रीमाधवदासजी

संतदास सदबृत्ति जगत छोई करि डार्‌यो।
महिमा महा प्रबीन भक्तिवित धर्म विचार्‌यो॥
बहुर्‌यो माधौदास भजन बल परचौ दीनो।
करि जोगिनि सों बाद बसन पावक प्रतिलीनो॥
परम धर्म बिस्तार हित प्रगट भए नाहिन तथा।
सोदर सोभूराम के सुनौ संत तिन की कथा॥ १९०॥

हे भगवद्भक्तजनो! श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजीके दोनों सहोदर भाइयोंकी कथाका श्रवण कीजिये। सदाचार एवं सात्त्विक वृत्तिसे निर्वाह करनेवाले श्रीसन्तदास (संतरामजी)-ने इस जगत्‌को नीरस एवं निःसार वस्तु जान-मानकर उसे त्याग दिया। आप महामहिमावाले तथा प्रवीन (अर्थात् सत्य-असत्यका निर्णय करनेमें चतुर) थे, भक्तितत्त्वके ज्ञाता थे, अतः सोच-विचार करके उसे अपनाया। दूसरे भाई श्रीमाधवदासजीने भजनके प्रतापसे चमत्कार दिखाया और अभक्त योगियोंसे वाद-विवाद करके अपने वस्त्र जलती अग्निमें डालकर ज्यों-के-त्यों वापस कर लिये। परमधर्ममयी श्रीहरिभक्तिके प्रचार-प्रसारके लिये ही ये दोनों भाई प्रकट हुए। इन्होंने जैसा कार्य किया, वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता है॥ १९०॥

श्रीमाधवदासजी और श्रीसन्तदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीमाधवदासजी और श्रीसन्तदासजी दोनों सगे भाई थे। श्रीस्वभूराम देवाचार्यजीके आशीर्वादसे इन दोनोंका जन्म हुआ था। एक बार श्रीमाधवदासजीने नाथपंथी एक योगीके शिष्य एक राजाको दीक्षा देकर वैष्णव बना लिया। इससे वह कनफटा योगी बहुत नाराज हुआ और बोला कि तुमने ऐसा क्यों किया? आपने कहा—ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादिसे पूजित होनेके कारण विष्णुभगवान् श्रेष्ठ हैं। उनके चरणोंसे गंगाकी उत्पत्ति हुई, जो त्रिलोकतारिणी अघहारिणी हैं; अतः किसी भी देवी-देवके उपासकको विष्णु-भक्तिका उपदेश देना उचित है, इससे वे देवगण अप्रसन्न नहीं होते हैं। इस सम्बन्धमें जोगीने श्रीमाधवदासजीसे बहुत वाद-विवाद किया, पर इनसे नहीं जीता, तब बोला कि हम अपने कानोंकी मुद्राएँ और सिंगीको अग्निमें डालते हैं, तुम अपनी कण्ठी-मालाको डालो। जिसकी वस्तुएँ जल जायँ, वह हारा और जिसकी न जलें, वह जीता माना जायगा। श्रीमाधवदासजीने कहा—तुलसी-मालाको हम अग्निमें नहीं डाल सकते हैं। हम अपना वस्त्र

डालेंगे। अग्निमें डालनेपर जोगीकी मुद्राएँ और सिंगी जल गयीं। परंतु इनका अँचला नहीं जला। हारकर उसने चरण पकड़े, क्षमा-प्रार्थना करके अनुयायी बना। उस योगीमें अग्नि-स्तम्भन सिद्धि थी। कई स्थानोंमें उसका प्रदर्शन कर चुका था, अतः उसे अहंकार था। भक्तिके सामने मायिक सिद्धियाँ व्यर्थ हो जाती हैं, इसलिये वह हार गया। उन दिनों हरियाणामें नाथोंका प्रभाव था, वे वैष्णव सन्तोंको टिकने नहीं देते थे। एक बार कई लोगोंने आपकी भजन-कुटीमें चारों ओरसे आग लगा दी, पर कुटी नहीं जली। भक्तिके ऐसे प्रभावको देखकर बहुत-से लोग आपके शिष्य बन गये।

एक बार श्रीसन्तदासजीके मनमें उत्कट वैराग्य उत्पन्न हुआ और ये जंगलमें जा विराजे। संसारियोंसे आप कुछ भी प्राप्त करनेकी आशा नहीं करते थे। बहुत-से ग्रामीण लोगोंने आपसे आकर कहा कि आप चलकर गाँवमें रहिये, वहाँ आपके भोजनादिका यथोचित प्रबन्ध हो जायगा। यहाँ जंगलमें कुछ भी प्रबन्ध नहीं हो सकता है। श्रीसन्तदासजीने कहा—मुझे तो श्रीगोविन्दजीकी आशा है। आप लोग मेरी चिन्ता न करें। यह सुनकर गाँवके लोग निराश होकर चले आये। आप वहीं भजनमें मग्न रहे। भगवान्‌ने नगरके हाकिमको आदेश दिया कि मेरा भक्त वनमें बैठा है, उसकी सेवा करो। उस हाकिमने बहुतसे मिष्टान्न-पक्वान्न लाकर आपको भोजन कराया। समीपमें चौकीदारोंको नियुक्त किया। इसके बाद आपकी महिमा बढ़ी। अनेक लोग दर्शन करने और उपदेश लेने आने लगे।

इस प्रकार आप दोनों भाइयोंने परमधर्मका विस्तार किया।

श्रीकन्हरदासजी

कृष्न भक्ति को थंभ ब्रह्मकुल परम उजागर।
छमासील गंभीर, सर्ब लच्छन को आगर॥
सर्बसु हरिजन जानि हृदय अनुराग प्रकासै।
असन बसन सनमान करत अति उज्ज्वल आसै॥
सोभूराम प्रसाद तें कृपादृष्टि सब पर बसी।
बूड़िए बिदित कन्हर कृपाल आतमाराम आगम दरसी॥ १९१ ॥

श्रीकन्हरदासजी बूड़िया ग्रामके निवासी, आत्मामें रमण करनेवाले, परम दयालु, शास्त्रोंके तथा भविष्यके द्रष्टा थे। आप श्रीकृष्णभक्तिके आधारभूत खम्भेके तुल्य थे तथा ब्राह्मणवंशमें प्रकट, अति प्रसिद्ध, क्षमाशील, गम्भीर एवं सभी शुभगुणोंसे सम्पन्न थे। भक्तोंको अपना सब कुछ जानकर उनके प्रति बड़ा अनुराग करते थे। भोजन-वस्त्र आदिसे सेवा तथा उनका बहुत सम्मान करते थे। आपका उद्देश्य बड़ा पवित्र था। गुरुदेव श्रीस्वभूरामजीकी कृपाका बल पाकर आपने सभी जीवोंके ऊपर कृपाकी वर्षा की॥ १९१ ॥

श्रीकन्हरदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीकन्हरदासजी पंजाब प्रान्तके बूड़िया ग्रामके निवासी थे। आप भविष्यद्रष्टा सन्त थे। भविष्यमें घटित होनेवाली घटनाओंकी जानकारी आपको पहले ही हो जाती थी और आप उन्हें अपने शिष्योंको बता देते थे। एक बार आपके यहाँ रसोई बन रही थी, अचानक आपने भण्डारीको आज्ञा दी कि बीस सन्तोंके लिये सामग्री और बढ़ा दो। भण्डारी और रसोइयेने आज्ञाका पालन किया और सचमुच पंगतके समय बीस मूर्तियाँ आ गयीं। इसी प्रकार आप प्रायः अपने यहाँ और अपने सेवकोंके यहाँ आनेवाले सन्तोंकी संख्या बता देते और उनकी बतायी संख्या सदैव सत्य होती।

श्रीगोविन्ददासजी भक्तमाली

रुचिरसील घननील लील रुचि सुमति सरित पति।
बिबिधि भक्त अनुरक्त ब्यक्त बहु चरित चतुर अति॥
लघु दीरघ सुर सुद्ध बचन अबिरुद्ध उचारन।
बिस्वबास बिस्वास दास परिचय बिस्तारन॥
जानि जगत हित सब गुननि सुसम नरायनदास दिय।
भक्त रतन माला सुधन गोबिंद कंठ बिकास किय॥ १९२॥

भक्तरत्नमाला (भक्तमाल)-रूपी उत्तम धन श्रीगोविन्ददासजीके कण्ठमें सुशोभित होकर वृद्धिको प्राप्त हुआ। इन्हें अनेक भक्तोंके दिव्य चरित कण्ठस्थ थे। अत्यन्त सुन्दर शील-स्वभाववाले तथा मेघके समान नील वर्णवाले भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रोंमें आपकी सहज ही रुचि थी। शुद्ध बुद्धिके तो आप समुद्र ही थे। सभी प्रकारके भक्तोंमें आपका परम अनुराग था और उन सबके चरित्रोंका वर्णन करनेमें आप अत्यन्त चतुर थे तथा श्रीभक्तमालको पढ़ते या गाते समय ह्रस्व-दीर्घ स्वरोंका यथावत् उच्चारण करते थे। चरित्रोंका वर्णन करनेमें वाक्य एवं शब्दोंकी इस प्रकार योजना करते थे कि उसमें विरोध न हो, अर्थकी संगतिमें बाधा न हो। आप सम्पूर्ण विश्वमें निवास करनेवाले भगवान् एवं उनके भक्तोंमें दृढ़ विश्वास रखते थे और भक्तोंके चमत्कारोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करते थे। सभी जीवोंके हितमें तथा भक्त-भक्ति-भगवन्त और गुरुदेवकी सेवा-निष्ठा आदिमें श्रीनाभाजीने अपने समान जानकर 'भक्तरत्नमाल' रूप सम्पत्तिको इन्हें प्रदान किया, अतः ये श्रीभक्तमालके श्रेष्ठ प्रवक्ता प्रथम भक्तमाली हुए॥ १९२॥

श्रीजगतसिंहजी

श्रीजुत नृपमनि जगतसिंह दृढ़ भक्ति परायन।
परम प्रीति किए सुबस सील लक्ष्मीनारायन॥
जासु सुजसु सहजहीं कुटिल कलि कल्प जु घायक।
आग्या अटल सुप्रगट सुभट कटकनि सुखदायक॥
अतिही प्रचंड मार्तंड सम तम खंडन दोर्दंड बर।
भक्तेस भक्त भव तोषकर संत नृपति बासो कुँवर॥ १९३॥

भक्तोंके स्वामी जो भगवान् हैं, उनके महान् भक्त श्रीशिवको सन्तुष्ट करनेवाले भक्तराज श्रीजगतसिंहजी वासोदेईके सुपुत्र थे। आप राजाओंमें श्रेष्ठ, भक्तिमें दृढ़ निष्ठावाले भक्त थे। आपने अपनी सच्ची प्रीति तथा विनम्र स्वभावसे श्रीलक्ष्मीनारायणभगवान्‌को अपने वशमें कर लिया था। आपका सुयश कलियुगके दोष-पापोंको नष्ट करनेवाला है। आपकी आज्ञा अटल थी, उसका उल्लंघन करनेका साहस किसी भी योद्धा या दुष्टमें नहीं होता था। समरभूमिमें आपके पराक्रमको देखकर वीरोंकी सेनाएँ प्रसन्न हो जाती थीं और दूने उत्साहसे युद्ध करने लगती थीं। आपके भुजदण्ड प्रचण्ड सूर्यके तुल्य थे, उससे भयरूप अन्धकारका सर्वथा नाश हो जाता था॥ १९३॥

श्रीजगतसिंहजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

जोधपुरमें तहसील जैतारणमें बलूँदा नामक एक ग्राम है। प्रसिद्ध राठौड़ राव दूदाजीके पौत्र राव

जयमलजी थे। महाराणा प्रतापने चित्तौड़का किला इन्हींके सुपुर्द कर दिया था। इन राव जयमलजीके भाई राव चाँदाजीने बलूँदा ग्राम बसाया था और इसीको अपनी स्वतन्त्र रियासत बनायी थी। इनके पुत्र राव रामदासजी हुए और इन्हीं रामदासजीके पुत्र थे—भक्त राव श्रीजगतसिंहजी। राव जगतसिंहजी जोधपुरके प्रथम राजा महाराजा जसवन्तसिंहजीको अपना पूर्वज मानते थे। जगतसिंहजी परम वैष्णव भक्त थे। ये राजसी ठाट छोड़कर सदा साधुवृत्तिसे रहा करते थे। सदैव भगवान् श्रीश्यामजी (बलूँदामें गढ़के अन्दर श्रीमन्दिरके ठाकुरजी)-की सेवामें रहते। स्वयं अपने सिरपर उठाकर तालाब या बावलीसे सेवाके लिये जलका कलशा लाते। मेवाड़में श्रीरूपचतुर्भुज भगवान्का मन्दिर इन्होंने ही बनवाया था और उसकी सेवा-पूजाके लिये टीबड़ी नामक एक गाँव अपने पट्टेमेंसे अर्पण किया था, जो अबतक है। इन्हीं चतुर्भुजजीके पुजारी प्रसिद्ध श्रीदेवाजी थे, जिनके लिये भगवद्विग्रहके बाल सफेद हो गये थे।

भक्तवर राजा श्रीजगतसिंहजी श्रीलक्ष्मीनारायण-भगवान्की सेवामें पूर्णरूपसे तत्पर रहते थे, उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि भगवान्का डोला सदा अपने साथ रखूँगा। तदनुसार डोला आपके साथ ही रहता। जब आप युद्ध करनेके लिये लड़ाईके मैदानमें जाते तो आप आगे रहते और डोला पीछे रहता। इसके अतिरिक्त जब कभी आप किसी यात्रामें जाते तो आगे-आगे भगवान्का डोला रहता और सेवककी तरह आप पीछे-पीछे चलते। आपके हृदयमें श्रीठाकुरजीकी सेवाका ऐसा उत्साह था कि सेवाके लिये नित्य जल भरकर घड़ेको अपने सिरपर रखकर लाते। आपकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर जयसिंह और जसवन्तसिंहको बड़ी प्रसन्नता हुई। एक बार दिल्लीमें सभी राजा लोग इकट्ठे हुए। वहाँ श्रीयमुनाजलका घड़ा गाजे-बाजेसहित सिरपर रखकर लाते हुए श्रीजगतसिंहको जयसिंह और जसवन्तसिंहने देखा तो धरतीपर लेटकर प्रणाम किया। फिर विनती करते हुए कहा—'वस्तुतः आपका शरीर धारण करना ही सफल है; क्योंकि आपने शरीरसे सेवा करके भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लिया।' इस प्रकार इनकी प्रशंसा करते-करते दोनों ही भगवत्प्रेमके प्रसंगमें डूब गये।

राजा जगतसिंहजीने जयसिंहजीसे कहा—'मुझमें भगवत्प्रेम कहाँ है? सच्चा प्रेम तो आपकी बहन दीपकुँवरिजीमें है, उसके प्रेमकी गन्धको भी मैं नहीं पा सकता हूँ, वे तो वात्सल्य प्रेमरसकी खान हैं। मैं तो थोड़ी-बहुत भगवान्की सेवा कर पाता हूँ।' यह सुनकर जयसिंहजीको बड़ा सुख हुआ। कुछ समयसे किसी कारणवश ये अपनी बहन श्रीदीपकुँवरिसे नाराज रहते थे। अब श्रीजगतसिंहजीसे उनके प्रेमका परिचय पाकर जयसिंहजीने उस नाराजगीको अपने हृदयसे निकाल दिया। बहनके जो गाँव छीन लिये थे, वे फिरसे दे दिये और स्वयं हरिका ध्यान करने लगे। मन्त्रीको लिखित आदेश दिया कि 'बहनजी जैसे-जैसे सन्त-भगवन्तकी सेवा करना चाहें, वैसे-वैसे उन्हें करने देना। इनकी कृपासे अब मैं भी दिन-रात भक्त-भगवद्गुणोंका गान करता हूँ।'

श्रीप्रियादासजीने राजा जगतसिंहके इस भगवत्प्रेमका वर्णन अपने कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

जगता कौ पन मन सेवा श्री नारायण जू, भयौ ऐसौ पारायण, रहै डोला सङ्ग ही।
लरिबे कों चलै आगै, आगै सदा पीछे रहै, ल्यावै जल सीस, ईश भर्‍यौ हियो रङ्ग ही॥
सुनि जशवन्त जयसिंह कै हुलास भयौ, देख्यौ, दिल्ली माँझ, नीर ल्यावत अभङ्ग ही।
भूमि परि, बिनै करी, 'धरी देह तुमहीं नै', यातै पायौ नेह भीजि गये यों प्रसङ्ग ही॥ ६२१॥
नृपति जैसिंहजू सों बोल्यौ 'कहा नेह मेरे? तेरी जो बहिन ताकी गन्ध को न पाऊँ मैं'।
नाम 'दीपकुंवरि' सो बड़ी भक्तिमान जानि, वह रसखानि ऐपै कछुक लड़ाऊँ मैं॥
सुनि सुख भयौ भारी, हुती रिस वासों, टारी, लिये गाँव काढ़ि फेरि दिये, हरि ध्याऊँ मैं।
लिखिकै पठाई 'बाई करैं सो करन दीजै, लीजै साधु सेवा करि निस दिन गाऊँ मैं'॥ ६२२॥

राव जगतसिंहजीका नित्य भगवच्चरणामृत लेनेका नियम था। एक दिनकी बात है—जनानी ड्योढ़ीसे एक मेहतरानी हाँडीमें राबड़ी लिये आ रही थी। इन्होंने मेहतरानीको पहचाना नहीं, पूछा—बाई! तुम्हारी हाँडीमें क्या है? उस दिन कुछ पाहुने (अतिथि सन्त) आये हुए थे, उनमेंसे एकने दिल्लगीमें कह दिया—इसकी हाँडीमें चरणामृत है। इसपर रावजी चरणामृत देनेके लिये बड़े आदरके साथ मेहतरानीसे आग्रह करने लगे। उसने हाथ जोड़कर कहा—मैं भंगिन हूँ, हाँडीमें राबड़ी है, चरणामृत नहीं है। पर ये कहते ही रहे—बाई, इसमें चरणामृत है—तू मुझे पिलाती क्यों नहीं? आखिर रावजीने हाँडीका मुँह खुलवाया। देखा तो भगवान्का चरणोदक भरा है। उसपर पवित्र तुलसीदल तैर रहा है। तब तो उन पाहुनोंको बड़ी लज्जा हुई। उन्होंने अपना अपराध माना और वे क्षमा-प्रार्थना करने लगे।

राव जगतसिंहजी प्रसिद्ध मेड़तणी भक्तिमती मीराँबाईके भतीजे लगते थे और उन्हींके उपदेशसे इनमें भक्तिके दृढ़ संस्कार पड़े थे।

एक बार जब राव जगतसिंहजी जोधपुर अपनी हवेलीमें विराजते थे, लगातार सात दिनोंतक वर्षा होती रही। सूर्य भगवान्के दर्शन दुर्लभ हो गये। जोधपुरमें ऐसे बहुत-से नर-नारी थे, जो सूर्यके दर्शन करनेपर भोजन करते थे। घनघोर घटाओंमें जब सूर्यभगवान्के शीघ्र उदय होनेकी आशा नहीं रही, तब शहरके लोगोंने महाराजा जोधपुरसे प्रार्थना की कि आप भी हमारे सूर्य हैं। आप हाथीपर सवार होकर सबको दर्शन दे दें, ताकि सब लोग भोजन कर सकें। जोधपुरनरेश स्वयं व्रतके पक्के थे। उन्होंने कहा कि और लोग तो मेरे दर्शन करके भोजन कर लेंगे, परंतु मैं किसके दर्शन करके भोजन करूँगा? अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि मैं भक्तराज राव जगतसिंहजीके दर्शन करूँगा। जोधपुरनरेश हाथीपर सवार होकर नगरमें निकले। उधर जब राव साहबको पता लगा, तब उन्हें संकोच हुआ। वे उस समय भगवान् श्रीश्यामजीकी सेवामें थे। उन्होंने कातर प्रार्थना की और महाराज जोधपुरकी सवारी बाजारतक आते-आते बादलोंको चीरकर भगवान् भास्कर प्रकट हो गये। सबने सूर्य-दर्शन करके अपनेको कृतार्थ माना। जोधपुरनरेश भी दर्शन करके वापस लौट गये। राव जगतसिंहकी प्रार्थनाका यह फल देखकर सब लोग चकित रह गये। इन्होंने अपने यहाँ पशुवध सर्वथा बन्द करा दिया था, जो बन्दी अब तक चालू है। भगवान् श्रीश्यामजीके सामने कीर्तन करते हुए इन्होंने शरीर छोड़कर परमधाममें प्रयाण किया था।

श्रीगिरिधरग्वालजी

प्रेमी भक्त प्रसिद्ध गान अति गदगद बानी।
अंतर प्रभु सों प्रीति प्रगट रहै नाहिन छानी॥
नृत्य करत आमोद बिपिन तन बसन बिसारै।
हाटक पट हित दान रीझि तत्काल उतारै॥
मालपुरै मंगल करन रास रच्यो रस रंग को।
गिरिधरन ग्वाल गोपाल को सखा साँचिलो संग को॥ १९४॥

श्रीगिरिधरग्वालजी गोपालकृष्णके सच्चे सखा और साथी थे। ये प्रसिद्ध प्रेमी भक्त थे। प्रेमके आवेशमें आकर गद्गद कण्ठसे जब ये भगवद्गुणगान करते तो उस समय आपके हृदयकी प्रीति छिपाये नहीं छिपती थी, प्रकट हो जाती थी। प्रेम-विवश आनन्दमें मग्न होकर जब ये श्रीवृन्दावनमें नृत्य करते तो उस समय इन्हें अपने शरीरकी तथा वस्त्राभूषणोंकी सुध नहीं रहती। उस समय यदि कोई आपके सामने पड़ जाता तो आप रीझकर उसे सोनेके गहने अथवा जरीदार वस्त्र उतारकर दे देते। एक बार प्रेमी भक्तोंके मंगल

कल्याणके लिये आपने मालपुरा (जयपुरके निकट) नामक ग्राममें रास करवाया। उसमें रसरूपी रंगकी वर्षा हुई, जिसमें सभी रँग गये॥ १९४॥

श्रीगिरिधरग्वालजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीगिरिधरजी जातिसे ब्राह्मण थे। गोपालके भक्त थे, गोधन ही इनका मुख्य धन था। गोधनकी समृद्धिसे इनके घरमें ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति अटूट थी। गोचारणमें स्वाभाविक स्नेह था, अतः 'ग्वाल' इनकी उपाधि थी। गोचारणके लिये वनमें जाते, वहाँ कीर्तनमें श्रीगोपालकृष्णका सान्निध्य प्राप्त करके नृत्य करते। प्रेमीभक्त होनेके साथ-साथ आप नामी मल्ल भी थे। आप पूर्वजन्ममें द्वापरयुगमें कृष्ण-बलरामके सखा थे और उनके साथ गोचारण किया करते थे। साथ ही कृष्ण-बलरामसे कुश्ती भी लड़ते थे, अतः इस जन्ममें भी आपमें वह संस्कार और कौशल बना हुआ था। एक बार दिल्लीके बादशाहने आपको बुलाकर कहा— मैंने सुना है कि आप मल्ल-विद्यामें बड़े प्रवीण हो, अतः मेरे दिग्विजयी मल्लोंके साथ कुश्ती लड़कर अपनी कला दिखलाओ। आपने अस्वीकार किया। जैसे-जैसे आपने लड़नेसे इनकार किया, वैसे-वैसे बादशाह एवं अन्य लोगोंका आग्रह बढ़ा। अन्तमें आपने कहा कि आपका दरबारी पहलवान जो सबसे बड़ा हो, वह पहले मेरी गर्दनपर रगड़ा मारे। उसके बाद मैं उसकी गर्दनपर रगड़ा मारूँ। इसीमें बल और कलाका पता पड़ जायगा। दरबारी पहलवानने स्वीकार करके गर्दनपर रगड़ा मारा, तो आपकी नासिकासे रक्तकी कुछ बूँदें निकल आयीं। इसके बाद गिरिधरजीने उसकी गर्दनपर रगड़ा मारा, तो एक ही रगड़ेमें उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। लोगोंको शल-तोशलके वधकी याद आ गयी। सन्तुष्ट होकर सभीने आपकी जय-जयकार की। बादशाहने आपका बड़ा सम्मान किया और अपने दरबारमें रहनेकी प्रार्थना की, जिसे किसी भी मूल्यपर आपने स्वीकार नहीं किया।

श्रीगिरिधरग्वालजीको सर्वदा साधु-सेवाका ही स्मरण रहता था। सन्तोंका दर्शन करके आप कृतार्थ हो जाते थे, अपनेको धन्य मानते थे। सन्त-तत्त्वको आपने भलीभाँति समझ लिया था, अतः शरीर छूट जानेके बाद भी उस सन्तका चरणामृत लेते थे। इससे अधिक सन्तोंमें प्रेम करनेकी रीति और क्या हो सकती है! जो ब्राह्मण लोग इनकी दृढ़-निष्ठासे अपरिचित थे, उन्होंने मृतकका चरणामृत लेना अनुचित मानकर पंचोंको एकत्र किया और उसमें श्रीग्वालभक्तजीको भी बुलाया। सभी लोगोंने इनसे कहा कि 'मृतकका चरणोदक लेना ठीक नहीं है, आप इसे छोड़ दीजिये।' आपने उत्तर दिया कि 'जिसे सन्तोंमें अश्रद्धा हो, उनके महत्त्वको न जानता हो, वह उन्हें मृतक मानकर उनका चरणामृत न ले। मैं सन्तोंमें श्रद्धा करता हूँ, उनके अद्भुत प्रभावको भलीभाँति जानता हूँ। शरीर त्यागकर भगवद्धाम जानेवाले सन्तोंको मृतक नहीं मानता हूँ। अतः उनका चरणामृत लेता हूँ, जिसे मृतक-बुद्धि हो, आपलोग उसे मना कीजिये।' यह सुनकर सबोंने इनका जाति-पाँतिसे बहिष्कार कर दिया, फिर चमत्कारको देखकर सभी नतमस्तक हुए। सबको इनकी दृढ़निष्ठा अच्छी लगी। सभी लोग इनकी प्रशंसा करने लगे।

श्रीप्रियादासजीने श्रीगिरिधरग्वालजीकी इस सन्तनिष्ठाका वर्णन इस प्रकार किया है—

गिरिधर ग्वाल, साधु सेवा ही कौ ख्याल जाके, देखि यौं निहाल होत प्रीति साँची पाई है।
सन्त तन छूटे हूँते लेत चरणामृत जो, और अब रीति कहौ कापै जात गाई है॥
भये द्विज पञ्च इक ठौरे सो प्रपञ्च मान्यौ आन्यौ सभा माँझ कहैं 'छोड़ौ न सुहाई है।
जाके हो अभाव मत लेवौ, मैं प्रभाव जानौं मृतक यों बुद्धि ताकौ बारो' सुनि भाई है॥ ६२३॥

श्रीगोपालीजी (श्रीगोपालीबाईजी)

प्रगट अंग में प्रेम नेम सों मोहन सेवा।
कलिजुग कलुष न लग्यो, दास तें कबहुँ न छेवा॥

बानी सीतल सुखद सहज गोबिंद धुनि लागी।
लच्छन कला गँभीर धीर संतनि अनुरागी॥
अंतर सुद्ध सदा रहै रसिक भक्ति निज उर धरी।
गोपाली जन पोष कों जगत जसोदा अवतरी॥ १९५॥

भक्तोंका वात्सल्यभावसे पालन-पोषण करनेके लिये श्रीगोपालीबाईके रूपमें मानो श्रीयशोदाजीने ही अवतार लिया था। इनके अंग-प्रत्यंगमें प्रेम प्रकट था। ये नित्य-नियमसे अपने मोहनलालकी सेवा करती थीं। कलियुगके दोष-पाप आपके तन-मनको छूतक नहीं पाये थे और भक्तोंसे किसी प्रकारका छल-कपट आपने नहीं रखा। आपकी वाणी सहज ही शीतल एवं सुख देनेवाली थी। आप श्रीगोविन्दभगवान्‌के नामको सदा रटती रहती थी। भक्ता एवं पतिव्रता स्त्रियोंके सभी शुभ लक्षण एवं कलाएँ आपमें विद्यमान थीं। स्वभावसे धीर-गम्भीर एवं सन्तोंमें श्रद्धा-भक्ति रखनेवाली श्रीगोपालीबाईका अन्तःकरण सदा परम पवित्र रहता था। इन्होंने वात्सल्यरसमयी भक्ति अपने हृदयमें धारण की॥ १९५॥

श्रीगोपालीजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीगोपालीजी भगवान् श्रीकृष्णकी वात्सल्यभावसे भावित भक्त थीं। श्रीयशोदाजी ही भक्तिमती गोपालीके रूपमें गोलोकसे पृथ्वीपर आ गयी थीं। वही आवेश आपके अंगमें था। प्रेमसे मोहनलालकी सेवा करती थीं। एक बार इनकी भक्तिपर रीझकर प्रभु एक सन्तका वेश धारणकर इनके घरपर पधारे। उस समय गोपालीबाई श्रीठाकुरजीको भोग लगा रही थीं। सन्त भगवान्‌का सत्कार करके प्रसादसे भरी थाली लाकर बाईने सन्तके सामने रखकर प्रार्थना की—'प्रसाद पाइये।' सन्तने कहा—पहले भगवान्‌को पवाओ। बाईने कहा—भगवान् तो गन्धमात्र ग्रहण करते हैं, मैं उन्हें कैसे पवाऊँ? सन्तने कहा—यदि आप अपने हाथसे उनके श्रीमुखमें ग्रास दे दें तो वे अवश्य ही खायेंगे। बाईने मन्दिरमें थाल ले जाकर अपने हाथसे भगवान्‌के मुखमें ग्रास दिया। बड़े प्रेमसे भगवान्‌ने खा लिया। इससे बाईको बड़ा-भारी सुख हुआ, वे प्रेममें विभोर हो गयीं। जिस सन्तकी कृपासे यह अभूतपूर्व आनन्द मिला, उस सन्तको भोजन करानेकी उत्कण्ठासे मन्दिरके बाहर आयीं, पर सन्तके दर्शन न हुए। अब इन्हें बड़ी बेचैनी हुई। आप समझ गयीं, कि वे सन्त भगवान् ही थे। फिर आप मन्दिरमें श्रीठाकुरजीको पवाने लगीं। इस बार प्रभुने कुछ भी नहीं खाया। तब ये अधीर होकर रुदन करने लगीं। उसी समय आकाशवाणी हुई कि एक बार मैंने तुम्हारे प्रेमसे खा लिया। अब तुम आग्रह न करो। मैं रसका आस्वादन अपने भक्तोंकी रसनासे करता हूँ। तुम भक्तोंकी उनकी रुचिके अनुसार भोजन कराओ, उनकी सेवा करो।

इस आज्ञाके बाद बाईको भक्तोंकी इच्छाका अनुभव होने लगा। तदनुसार ये सेवा करने लगीं। एक दिन दस सन्त आये, उनके मनमें था आज सीरा मिले। बाईने जानकर सीरा बनाकर भोग लगाया और सन्तोंके सामने रख दिया। सन्तोंके मनमें आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन सन्तोंने आपसमें बातचीत करके खीर भोग आरोगनेकी इच्छा की। तो बाईने खीर ही खवाई। तीसरे दिन सिखरन-भातकी इच्छा हुई, तो बाईने सिखरन-भात ही पवाया। आश्चर्यचकित होकर सन्तोंने पूछा—तो आपने बताया कि मुझे सन्त-भगवन्तका आशीर्वाद मिल गया है अतः उसका ज्ञान हो गया है। फिर कभी दो सन्त पधारे, उन्होंने इच्छा की कि हमारे वस्त्र फट गये हैं। तो गोपालीबाईके यहाँ पहुँचकर उनसे नये वस्त्र ले लेंगे। इस इच्छासे आये सन्तोंको भोजन कराकर बाईने वस्त्र अर्पण करके कहा कि जो इच्छा हो सो बनवा लो। सन्तोंने त्याग दिखाया और वस्त्र लेनेसे इनकार कर दिया, तब बाईने कहा—'जब आप वस्त्रकी इच्छा करके आये हैं, तब फिर अब क्यों अस्वीकार करते हैं? सन्तोंने गोपालीके चरणोंकी वन्दना की और आशीर्वादके साथ वस्त्र प्राप्त किये। इस

प्रकार इनका सुयश सन्तोंमें फैल गया।'

श्रीरामदासजी

सीतल परम सुसील बचन कोमल मुख निकसै।
भक्त उदित रबि देखि हृदय बारिज जिमि बिकसै॥
अति आनँद मन उमँगि सन्त परिचर्जा करई।
चरन धोय दंडौत बिबिधि भोजन बिस्तरई॥
बछबन निवास बिस्वास हरि जुगल चरन उर जगमगत।
श्री (रामदास) रस रीति सों भली भाँति सेवत भगत॥ १९६॥

श्रीरामदासजी बड़े मधुर भावसे भक्तोंकी सेवा करते थे। इनके मुखसे शीतल, कोमल और नम्रतापूर्ण वचन ही निकलते थे। सूर्योदय होते ही जैसे कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार भक्तको देखकर आपका हृदय खिल उठता था। मनमें अपार उत्साह रखकर बड़ी रुचिके साथ सन्तोंकी विविध प्रकारसे सेवा-शुश्रूषा करते थे। आते ही सन्तोंके श्रीचरणोंको धोकर चरणोदक लेते, उन्हें साष्टांग दण्डवत् करते; तत्पश्चात् अनेक प्रकारके उत्तम-से-उत्तम भोजन-प्रसाद पवाते। बछवनमें आपका निवास-स्थान था, भगवान्‌में आपका अटल विश्वास था और उन्हींके युगल श्रीचरणकमल आपके हृदय-भवनमें जगमगाते रहते थे॥ १९६॥

श्रीरामदासजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

किसी सन्तने श्रीरामदासजीके भक्ति-भावकी प्रशंसा सुनी तो वे इनकी भक्तिनिष्ठाको देखनेके लिये इनके आश्रमपर आये। संयोगवश ये वहीं बैठे थे। वे सन्त इन्हींसे पूछने लगे कि 'श्रीरामदासजी कौन हैं?' सन्तको आया देखकर श्रीरामदासजी जल्दीसे उठे और उन्होंने सन्तके चरण धोकर चरणामृत लिया। इसके बाद साष्टांग दण्डवत् करके बोले—'आप विराजो, रामदास अभी आता है।' आगन्तुक सन्तने कहा—'पहले हमें यह बतलाइये कि रामदासजी कहाँ हैं, उनसे मिलनेकी मुझे तीव्र लालसा है और यहाँ आनेका हमारा यही मुख्य प्रयोजन है। उनसे मिलकर हमें शीघ्र ही चले जाना है।' श्रीरामदासजीने उत्तर दिया—'पहले आप चलकर प्रसाद लीजिये, फिर रामदास आ जायगा।' सन्तने कहा—'नहीं, पहले रामदासजीको बुलाकर उनका दर्शन करा दीजिये। उसके बाद ही मैं प्रसाद पाऊँगा।' इस प्रकार उनका आग्रह देखकर श्रीरामदासजीने कहा—'आप सन्तोंका सेवक रामदास यही है, यह आपका ही आश्रम है, कृपा करके आप अपने आश्रममें पधारिये और प्रसाद पाइये।' यह सुनते ही वे सन्त श्रीरामदासजीके चरणोंमें गिर पड़े। उनका हृदय आनन्दसे भर गया, वे फूले नहीं समा रहे थे। वे कहने लगे—'आपके सुयशकी चाँदनी सर्वत्र फैली है, उससे सभी लोगोंको सुख-शान्ति मिल रही है। आपका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। मेरे हृदयमें भी प्रकाश हो गया।'

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

सुनि एक साधु आयौ, भक्ति भाव देखिबे कों, बैठे रामदास, पूछै रामदास कौन है?'।
उठे आप धोए पाँव, आवै रामदास अब, 'रामदास कहाँ? मेरे चाह और गौन है'॥
'चलो जू प्रसाद लीजै दीजै रामदास आनि', 'यही रामदास, पग धारौ निज भौन है'।
लपटानौ पाँयन सो चायन समात नाहिं, भायनि सों भर्‌यौ हिये, छाई जस जौन्ह है॥ ६२४॥

श्रीरामदासजीकी कन्याका विवाह था। उस अवसरपर सबको बड़ा भारी उत्साह हुआ। अनेक प्रकारके पक्वान्न बाराती और घरातियोंके लिये बनाकर कोठेमें रख दिये गये। इनके पुत्र और नाती पक्वान्नोंकी रखवाली

करने लगे। उन्होंने कोठेमें ताला बन्द कर दिया; क्योंकि उनके मनमें डर था कि कहीं बाबाजी सब सामान साधु-सन्तोंको बाँट न दें। अवसर पाकर श्रीरामदासजीने दूसरी ताली लगाकर कोठेका ताला खोल लिया। आप किसीसे डरते न थे। सन्तजन पधारे, आपने पोटली बँधवा दी और कहा कि स्थानमें ले जाकर आपलोग भोग लगाइये और पाइये। सन्त-भगवन्तको पक्वान्नोंकी पोटलियाँ बँधवाकर आपने महान् सुख प्राप्त किया।

श्रीप्रियादासजीने इस घटनाका अपने एक कवित्तमें इस प्रकार वर्णन किया है—

बेटी को विवाह, घर बड़ौ उतसाह भयो, किये पकवान नाना, कोठे माँझ धरे हैं।
करैं रखवारी सुत नाती दिये तारौ रहैं, और ही लगाई तारी खोल्यौ नहीं डरे हैं॥
आये गृह सन्त तिन्हैं पोट बँधवाय दई, पायौ यों अनन्त सुख ऐसे भाव भरे हैं।
सेवा श्रीबिहारीलाल, गाई पाक सुद्धताई, मेरे मन भाई, सब साधु उर हरे हैं॥ ६२५॥

श्रीरामरायजी

भक्ति ग्यान बैराग जोग अंतर गति पाग्यो।
काम क्रोध मद लोभ मोह मतसर सब त्याग्यो॥
कथा कीरतन मगन सदा आनँद रस भूल्यो।
संत निरखि मन मुदित उदित रबि पंकज फूल्यो॥
बैर भाव जिन द्रोह किय तासु पाग खसि भ्वै परी।
बिप्र सारसुत घर जनम रामराय हरि रति करी॥ १९७॥

सारस्वत ब्राह्मणवंशमें जन्म लेकर श्रीरामरायजीने भगवान्‌में प्रेम किया। आपकी चित्तवृत्ति ज्ञान, वैराग्य और भक्तियोगमें सर्वदा पगी रहती थी। काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह और ईर्ष्या आदि मायिक विकारोंको आपने सर्वथा छोड़ दिया था। आप सर्वदा भगवत्कथा-कीर्तनमें मग्न होकर इसके आनन्दमय अनुभवसे झूमते रहते थे। सन्तोंको देखकर आपका मन उसी प्रकार खिल जाता था, जैसे सूर्यको देखकर कमलका पुष्प। जिन दुष्टोंने आपसे द्वेष किया, आपको नीचा दिखाना चाहा, उन्हें स्वयं ही नीचा देखना पड़ा॥ १९७॥

श्रीरामरायजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीरामरायप्रभुका जन्म रावी नदीके तटपर बसे लाहौर (पंजाब)-में वि० सं० १५४० वैसाख शुक्ल ११ को मध्याह्नमें हुआ। आपके पिता श्रीगुरुगोपालजी और माता श्रीयशोमतिजी थीं। परम्परागत रूपसे घरमें विराजमान श्रीगीतगोविन्दके कर्ता श्रीजयदेवजीके ठाकुर श्रीराधामाधवजीने श्रीगुरुगोपालजीको स्वप्नादेश दिया कि मेरा चरणामृत अपनी धर्मपत्नीको पिलाओ, उससे एक महान् चमत्कारी भक्तपुत्र उत्पन्न होगा। पादोदक-पान करते ही यशोमतिजीको ऐसा अनुभव हुआ कि किसी शक्तिविशेषने मेरे उदरमें प्रवेशकर मुझे कृतार्थ किया। किसीके मतसे श्रीरामेश्वरम्‌की यात्रामें वहीं जन्म हुआ, इसलिये इनके रामेश्वर, रामराय, रामदास और रामगोपाल आदि नाम पड़ गये। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। पिताने इन्हें गायत्रीके साथ श्रीराधागोपाल मन्त्र दिया। जो यमुनापुलिन धीरसमीर वृन्दावनमें श्रीजीके द्वारा श्रीजयदेवजीको प्राप्त हुआ था। श्रीरामरायके प्राकट्यके १० वर्ष बाद श्रीचन्द्रगोपालजीका जन्म हुआ। सब लोग इन्हें चित्रासखीका अवतार मानते थे। श्रीरामरायजीने वि० सं० १५५२ बसन्त पंचमीके दिन श्रीजयदेवजीकी जन्म-जयन्तीके उपलक्ष्यमें बिना सामग्री मँगवाये एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया, इससे आपकी महिमा सर्वत्र विख्यात हो गयी। ठाकुर श्रीराधामाधवजीने आज्ञा दी कि तुम वृन्दावन जाओ, उसके बाद मैं चन्द्रगोपालके साथ आऊँगा। आदेश पाकर योगबलसे आप हरिद्वार पहुँच गये। वहाँ नानाके बड़े भ्राता श्रीआसुधीरजी मिले।

उन्हें भी वृन्दावन ले आये। मार्गमें उपब्रज (अलीगढ़)-में प्रसादी नामके ब्राह्मण सन्तसेवा करते थे। उनके यहाँ विश्राम किया। उनकी दीनता देखकर आपने अपनी मुद्रिका उतारकर दे दिया और आशीर्वाद दिया कि खूब लक्ष्मीसे सम्पन्न हो जाओ और श्रीराधामाधवका भजन करो। कालान्तरमें श्रीसे सम्पन्न होनेपर श्रीराधामाधवकी सेवापूजा करने लगे। श्रीआसुधीरजीको सम्पूर्ण ब्रजयात्रा करवायी। ब्रजवासियोंकी एवं ब्राह्मणोंकी खूब सेवा करते, इससे इन्हें सब लोग 'प्रभु' कहने लगे।

एक दिन श्रीरामरायजीने वृन्दावनमें वास करनेकी इच्छा प्रगट की। लोगोंने समझाया कि यहाँ हिंसक जानवर रहते हैं। लेकिन एक दिन सभीको सोते हुए छोड़कर आप वृन्दावन पहुँच गये। यमुनापुलिन धीर समीरमें आपको श्रीराधामाधवजीके दिव्य दर्शन हुए। श्रीठाकुरजीने आदेश दिया कि पहले तीर्थाटन करो, तब यहाँ वास करना। तीर्थाटन करते हुए आप काशी पहुँचे। विद्वानोंने प्रभावित होकर आपकी शोभायात्रा निकाली। उसमें श्रीमाधवेन्द्रपुरी, राजेश्वरतीर्थ, प्रकाशानन्द सरस्वती, श्रीबल्लभाचार्य, श्रीगोकुलानन्द, विद्यासागर, गोविन्द, कवि रंगनाथ एवं विश्वनाथ आदि महापुरुष उपस्थित थे। ईर्ष्यावश जिन्होंने शास्त्रार्थ किया, उन्हें पराजित करके भक्तिकी स्थापना की। हजारों लोगोंको प्रसाद पवाकर सन्तुष्ट किया। श्रीनित्यानन्द महाप्रभुने प्रसन्न होकर इन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। श्रीमाधवेन्द्रपुरीजीने श्रीरामरायजीको बताया कि ये संकर्षणभगवान् हैं, इनसे दीक्षा ले लो। गुरुत्वको स्वीकार करो। आचार्य होकर भी इन्होंने उनके गुरुत्वको स्वीकार किया। आपके उत्कृष्ट दैन्यको देखकर श्रीबल्लभाचार्यजी भी बहुत सन्तुष्ट हुए। इसके पश्चात् श्रीरामरायजी श्रीनित्यानन्दजीके साथ नवद्वीप पधारे और श्रीचैतन्य महाप्रभुजीका दर्शन किया। उन्हें अष्टपदी सुनाया। प्रसन्न होकर श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने कहा—'आप साक्षात् रामभद्र हैं।' मैं श्रीवृन्दावनमें आकर आपसे मिलूँगा। अपने साथ भूगर्भ और लोकनाथको ले जाओ। आप श्रीजगन्नाथभगवान्का दर्शन करते हुए वृन्दावन आये। श्रीमाधवेन्द्रपुरीजीने गोवर्धनमें आकर वि० सं० १५६० में श्रीनाथजीको प्रकट किया। श्रीनाथजीकी आज्ञा पाकर श्रीमाधवेन्द्रपुरीजी चन्दन-कपूर लेनेके लिये उड़ीसा चले तो श्रीरामरायजीको श्रीनाथजीकी सेवा सौंप गये। आप अनेक उत्सव करने लगे। कुछ दिनों बाद श्रीरामरायजी दो बंगाली वैष्णवोंके द्वारा श्रीनाथजीकी सेवा कराने लगे। इसके बाद आप जगन्नाथपुरी चले गये। बंगाली वैष्णव स्वतन्त्र रूपसे सेवा करने लगे। जगन्नाथपुरीमें लाहौरके भक्तोंसे भेंट हुई तो उन्हें वृन्दावन आदिका दर्शन कराकर लाहौर विदा कर दिया। इधर पुत्रके वियोगमें श्रीगुरुगोपाल और यशोमतिजीने शरीर त्यागकर परमधामगमन किया। यह जानकर आपने चन्द्रगोपालको स्वप्नादेश दिया। वे श्रीराधामाधवको लेकर पत्नीसहित वृन्दावन आ गये और वंशीवट स्थानमें ठहरे। आप श्रीराधामाधवजीके दर्शन करके विभोर हो गये। इन्हें छातीसे लगाकर श्रीठाकुरजीने आज्ञा दी कि श्रीवृन्दावनरसकी वर्षा करो, तुम्हारी वाणी 'आदिवाणी' कहलायेगी।

श्रीगौरांग महाप्रभु वृन्दावन पधारे और अक्रूरघाटपर ठहरे। श्रीरामरायजी नित्य गीतगोविन्द सुनाकर उन्हें प्रसन्न करते। महाप्रभुजीने गोपालजीके दर्शनोंकी इच्छा की, लेकिन श्रीगिरिराजजीके ऊपर पैर नहीं रखना चाहते थे। उसी समय अकस्मात् यवन आतंकवश वैष्णव लोग श्रीनाथजीको गाठौली ले आये। तब श्रीमहाप्रभुजीने दर्शन किया। इस प्रकार व्रजमें महाप्रभुजीका संगसुख आपको प्राप्त हुआ। श्रीगोपालजीके प्राकट्यका समाचार पाकर श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभु यहाँ पधारे। आपसे पूर्व परिचय था, अतः आपके पास ठहरे। आपने सभी व्रजवासियोंकी सम्मतिसे श्रीनाथजीकी सेवा श्रीबल्लभाचार्यजीको सौंप दी। इन्होंने मन्दिर बनवाया और सेवा तथा भोगरागकी विशेष व्यवस्था की। आपने बंगाली वैष्णवोंको सेवासे नहीं हटाया। उस विवादमें आपने बल्लभकुलका ही पक्ष लिया, अतः बंगाली वैष्णव आपसे असन्तुष्ट हुए। बारह वैष्णव वार्तामें लिखा है कि इसी कारणसे श्रीरामरायजीकी चर्चा गौड़ीय साहित्यमें बहुत कम हुई। श्रीजीवगोस्वामीजीने प्रपंचसे दूर होनेके कारण श्रीरामरायजीकी 'सन्दर्भ' के मंगलाचरणमें आपकी वन्दना

की है। यथा—'**वन्दे श्रीपरमानन्दं भट्टाचार्यं सुखालयम्। रामरायं तथा वाणीविलासं चोपदेशकम्॥**'

एक बार श्रीरामरायजी गोकुल दर्शन करने गये तो श्रीगोकुलनाथजीका दर्शन करके फिर श्रीविट्ठलनाथजीसे मिले। उन्होंने आपकी बहुत प्रशंसा की। प्रशंसा सुनकर आप बोले—अरबी घोड़ा यदि तुर्की चाल चलता है तो उसकी लोग विशेष बड़ाई नहीं करते हैं, परंतु यदि खच्चर तुर्की चाल चले तो सभी देखने जाते हैं और बड़ाई करते हैं। ऐसे ही हंसकी हंसता यदि कौवेमें हो तो उसे बड़प्पन मिलता है। यह सुनकर गोसाईंजी बहुत प्रसन्न हुए। अन्तिम समयमें कहीं आना-जाना बन्द करके आप बन-विहार और वंशीवटमें रहकर भजन-ध्यान करते रहे। उसी समय आपने ब्रह्मसूत्रपर गौरविनोदिनीवृत्ति लिखी। इनके छोटे भ्राता श्रीचन्द्रगोपालजीने वृत्तिके ऊपर भाष्य किया। श्रीरामरायजीके संस्कृतमें द्वादश ग्रन्थ हैं। आदिवाणी और श्रीगीतगोविन्दपर पदावली ये भाषाग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार वि० सं० १५४० तक आपकी दिव्य जीवनलीला रही। आपके १२ प्रधान शिष्य थे। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्रीभगवानदासजी, (२) श्रीगरीबदासजी, (३) श्रीविष्णुदासजी, (४) श्रीयुगलदासजी, (५) गोस्वामी श्रीराधिकानाथजी, (६) श्रीकिशोरदासजी, (७) श्रीकेशवदासजी, (८) श्रीमनोहरदासजी, (९) श्रीलाखादासजी, (१०) श्रीमधुसूदनदासजी, (११) श्रीहरिदासजी पटेल, (१२) श्रीतीर्थरामजी जोशी।

श्रीभगवन्तमुदितजी

कुंजबिहारी केलि सदा अभ्यंतर भासै।
दंपति सहज सनेह प्रीति परमिति परकासै॥
अननि भजन रस रीति पुष्ट मारग करि देखी।
बिधि निषेध बल त्यागि पागि रति हृदय बिसेषी॥
माधव सुत संमत रसिक तिलक दाम धरि सेव लिय।
भगवंत मुदित उदार जस रस रसना आस्वाद किय॥ १९८॥

श्रीमाधवदासजीके सुपुत्र श्रीभगवन्तमुदितजीने रसिक भक्तोंसे समर्थित तुलसीकण्ठी और तिलक धारणकर अपने इष्टदेव श्रीराधाकृष्णकी नित्य-नियमसे सेवा की तथा उदार भगवान्‌के परमोदार सुयशका अपनी वाणीसे वर्णन करके उसके रसका आस्वादन किया। श्रीकुंजविहारिणी-कुंजविहारीकी नित्य-निकुंजलीला इनके हृदयमें सर्वदा प्रकाशित रहती थी। दम्पति श्रीराधाकृष्णका जो पारस्परिक सहज स्नेह और प्रीतिकी जो अन्तिम सीमा है, उससे आपका हृदय प्रकाशित था। अनन्य भावसे सेवा करनेकी जो रसमयी रीति है, उसीको आपने उत्तम-से-उत्तम मार्ग मानकर अपनाया, उसीपर चले। भक्तिसे भिन्न लौकिक-वैदिक विधि-निषेधोंका सहारा छोड़कर आपका हृदय विशेषकर श्रीराधाकृष्णके परमानुरागमें सराबोर रहता था॥ १९८॥

श्रीभगवन्तमुदितजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीभगवन्तमुदितजी परमरसिक सन्त थे। आप आगराके सूबेदार नवाब शुजाउल्मुल्कके दीवान थे। कोई भी ब्राह्मण, गोसाईं, साधु या गृहस्थ ब्रजवासी जब आपके यहाँ पहुँच जाता तो आप अन्न, धन और वस्त्र आदि देकर उसे प्रसन्न करते थे; क्योंकि व्रजवासियोंके प्रेममें इनकी बुद्धि रम गयी थी। आपके गुरुदेवका नाम श्रीहरिदासजी था। ये श्रीवृन्दावनके ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजी मन्दिरके अधिकारी थे। इन्होंने व्रजवासियोंके मुखसे श्रीभगवन्तमुदितजीकी बड़ी प्रशंसा सुनी तो इनके मनमें आया कि हम भी आगरा जाकर (शिष्य) भक्तकी भक्ति देखें।

श्रीभगवन्तमुदितजीने सुना कि श्रीगुरुदेव आ रहे हैं तो इन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि ये अपने अंगोंमें फूले नहीं समाये। ये अपनी स्त्रीसे बोले कि 'कहो, श्रीगुरु-चरणोंमें क्या भेंट देनी चाहिये?' स्त्रीने कहा—'हम दोनों एक-एक धोती पहन लें और शेष सब घर-द्वार, कोठार-भण्डार, चल-अचल सम्पत्ति श्रीगुरुदेवको समर्पण कर दें और हम दोनों वृन्दावनमें चलकर भजन करें। स्त्रीकी ऐसी बात सुनकर श्रीभगवन्तमुदितजी उसपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'सच्ची गुरु-भक्ति करना तो तुम ही जानती हो, यह तुम्हारी सम्मति हमको अत्यन्त प्रिय लगी है।' ऐसे कहते हुए उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। गुरुदेव रात्रिमें बाहर द्वारपर बैठे सुन रहे थे। सर्वस्व-समर्पणकी बात गोस्वामी श्रीहरिदासजीने सुन ली और उन्होंने जान लिया कि ये सर्वस्व-त्याग करके विरक्त बनना चाहते हैं, जिसका अभी योग नहीं है, अतः आप उसी समय बिना श्रीभगवन्तमुदितजीसे मिले ही परिचित व्यक्तिको बताकर लौटकर श्रीवृन्दावनको चले आये और इनके प्रेम-भरे त्यागके प्रणपर बहुत ही सन्तुष्ट हुए।

भक्तमालके टीकाकार श्रीप्रियादासजीने अपने कवित्तोंमें इस घटनाका वर्णन इस प्रकार किया है—

सूजा के दीवान भगवन्त रसवन्त भए, वृन्दावन बासिन की सेवा ऐसी करी है।
बिप्र कै गुसाईं साधु कोऊ ब्रजवासी जाहु, देत बहु धन एक प्रीति मति हरी है॥
सुनी गुरुदेव, अधिकारी श्रीगोविन्द देव, नाम हरिदास 'जाय देखैं' चित धरी है।
जोग्यताई सीवां प्रभु दूध भात माँगि लियो कियौ उत्साह तऊ पेखैं अरबरी है॥ ६२६॥
सुनी गुरु आवत, अमावत न किहूँ अंग रंग भरि तिया सों, यों कही 'कहा कीजियै?'।
बोली घर बार पट सम्पति भण्डार सब भेंट करि दीजै, एक धोती धारि लीजियै॥
रीझे सुनि बानी, साँची भक्ति तैं ही जानी, मेरे अति मन मानी, कहि आँखें जल भीजियै।
यही बात परी कान, श्रीगुसाईं लई जान, आये फिरि वृन्दावन, पन मति धीजियै॥ ६२७॥

श्रीभगवन्तमुदितजीको जब यह मालूम हुआ कि श्रीगुरुदेव आये और वापस चले गये तो आपका उत्साह नष्ट हो गया। हृदयमें अपार पश्चात्ताप हुआ। फिर आपने गुरुदेवके दर्शन करनेका विचार किया और नवाबसे आज्ञा माँगकर श्रीवृन्दावन आये। गुरुदेवके दर्शनकर सुखी हुए। बहुतसे लीला-पदोंकी रचना की। आपका 'रसिकअनन्य-भक्तमाल' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस प्रकार आपने अनन्य-प्रेमका एकरस निर्वाह किया। गुरुदेवसे आज्ञा लेकर आगराको लौट गये। वहाँ किसी कारणवश कई व्रजवासी चोरोंने आपके घरमें ही चोरी कर ली, पर इससे आपने जरा भी मनमें दुःख न माना; क्योंकि आपका मन भगवान्‌की भक्तिमें सराबोर था और दृष्टिमें श्रीवृन्दावन-बिहारिणी-बिहारीजी समाये हुए थे। वास्तवमें आप बड़े ही भाग्यशाली और प्रेमी सन्त थे। संसारमें आपका भगवत्प्रेम प्रसिद्ध था। श्रीभगवन्तमुदितजीके पिता श्रीमाधवदासजी रसिक थे। आगे उनकी कथा सुनिये—

'श्रीमाधवदासजी बेसुध हैं, नाड़ी छूटनेवाली है, अब इनका अन्तिम समय आ गया है'— ऐसा जानकर लोग उन्हें पालकीमें बैठाकर आगरासे श्रीवृन्दावनधामको ले चले। जब आधी दूर आ गये, तब श्रीमाधवदासजीको होश हो आया। दुःखित होकर आपने लोगोंसे पूछा कि क्रूरो! तुम लोग मुझे कहाँ लिये जा रहे हो?' लोगोंने कहा—'आप जिस श्रीवृन्दावनधामका नित्य ध्यान किया करते हैं, वहीं ले चल रहे हैं।' यह सुनकर आपने कहा—'अभी लौटाओ, यह शरीर श्रीवृन्दावन जानेके योग्य कदापि नहीं है, इसे जब वहाँ जलाया जायगा, तब इसमेंसे बड़ी-भारी दुर्गन्ध निकलेगी, वह प्रिया-प्रियतमको अच्छी नहीं लगेगी।' प्रिया-प्रियतमके पास जानेयोग्य जो होगा, वह अपने-आप उनके पास चला जायगा। आप ऐसे भावकी राशि थे। वापस जाकर आगरामें ही आपने शरीर छोड़ा।

श्रीप्रियादासजीने श्रीमाधवदासजीकी इस भावनाका अपने कवित्तोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

रह्यौ उत्साह उर दाह कौ न पारावार कियौ लै विचार, आज्ञा माँगि, बन आये हैं।
रहे सुख लहे, नाना पद रचि कहे, एक रस निर्बहे ब्रजवासी जा छुटाये हैं॥
कीनी घर चोरी, तऊ नेकु नासा मोरी नाहिं, बोरी मति रंग, लाल प्यारी दृग छाये हैं।
बड़े बड़भागी, अनुरागी, रति जागी, जग माधव रसिक बात सुनौ पिता पाये हैं॥ ६२८॥
आयौ अन्तकाल जानि बेसुध पिछानि, सब आगरे तें लैकै चले वृन्दावन जाइयै।
आये आधी दूर, सुधि आई बोले चूर ह्वै कै 'कहाँ लिये जात कूर?' कही जोई ध्याइयै॥
कह्यौ 'फेरो तन बन जाइबे कौ पात्र नाहीं, जैरै बास आवै प्रिया पिय को न भाइयै'।
जानहारौ होई, सोई जायगो जुगल पास, ऐसे भावरासि ताही ठौर चलि आइयै॥ ६२९॥

श्रीलालमतीजी

गौर स्याम सों प्रीति प्रीति जमुना कुंजनि सों।
बंसीबट सों प्रीति प्रीति ब्रज रज पुंजनि सों॥
गोकुल गुरुजन प्रीति प्रीति घन बारह वन सों।
पुर मथुरा सों प्रीति प्रीति गिरि गोबर्द्धन सों॥
बास अटल बृन्दाबिपिन दृढ़ करि सो नागरि कियो।
दुर्लभ मानुष देह को लालमती लाहो लियो॥ १९९॥

परमभक्ता श्रीलालमतीजीने गौर-श्याम श्रीराधाकृष्ण, श्रीयमुनाजी तथा उसके तटपर विराजमान कुंज-भवनोंसे प्रेम किया। इनके हृदयमें वंशीवट, व्रजरज, गोकुल, व्रजवासी रसिक सन्त, श्रीमथुरापुरी एवं श्रीगिरिराज गोवर्धनके प्रति अपार प्रीति थी। इस चतुर व्रजभक्ता देवीने श्रीवृन्दावनधाममें अखण्डवास किया। इस प्रकार इन्होंने दुर्लभ मानवदेहका अलभ्य लाभ (हरिभक्ति) प्राप्त किया॥ १९९॥

श्रीलालमतीजीके विषयमें विशेष विवरण इस प्रकार है—

श्रीलालमतीजीकी व्रज-वृन्दावनमें बड़ी निष्ठा थी। उन्होंने यमुनाकुंज आदि अष्ट स्थानोंमें प्रेम किया, वे इनकी यात्रा करती रहती थीं। शरीरके क्षीण होनेपर भी दर्शन-यात्रा, सेवा आदिमें शिथिलता नहीं आयी। दर्शनोंकी तीव्र उत्कण्ठा देखकर प्रभुने इन्हें स्वप्नमें दर्शन दिया और कहा कि प्रातःकाल श्रीयमुनाकुंजमें आओ, वहाँ तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। तुम्हारा शरीर शिथिल हो गया है, अतः यात्रा बन्द करके श्रीवृन्दावनमें ही वास करो। स्वप्नका स्मरणकर आपके मनमें बड़ा मोद हुआ। प्रातः आपने अपनी दासीके साथ यमुना-स्नान किया और कुंजमें आकर बैठ गयीं। वहींपर श्रीराधाकृष्णने इन्हें दर्शन दिया। प्रेममें विह्वल प्रभुकी शोभाका गान करके ये दासीको सुनाने लगीं। दासी भी सुनने लगी, पर दासीको भगवान्‌की छायाके भी दर्शन नहीं हो रहे थे। श्रीलालमतीजीने प्रार्थना की—प्रभो! दासीपर भी किंचित् कृपा हो। भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार करके मुरली बजायी? जिसकी ध्वनि दासीको सुनायी पड़ी और वह भी कृतार्थ हुई। इसके बाद लीलाधारी प्रभु यमुनामें कूद पड़े। कुछ दूरतक बाईको दर्शन होते रहे। इसके बाद प्रभु अन्तर्धान हो गये। श्रीलालमतीजी दासीसहित कुंजमें बेसुध पड़ी रहीं। पश्चात् श्यामसुन्दरकी उसी शोभाका ध्यान करती रहीं। इस प्रकार श्रीधाममें वास प्राप्तकर लालमतीजीने जीवन-जन्म सफल किया।* बालकरामजी लिखते हैं—

* भक्तमालमें वर्णित भगवद्भक्तोंका पावन चरित यहाँ पूर्ण हो जाता है। आगेके छन्दोंमें भक्तोंकी महिमा आदिका वर्णन हुआ है।

'केती दूरि देखे बाई आपनी कमाई पाई प्रेम की सगाई जामें और न खटाइये॥'

भक्त ही सर्वश्रेष्ठ

कबिजन करत बिचार बड़ो कोउ ताहि भनिज्जै।
कोउ कह अवनी बड़ी जगत आधार फनिज्जै॥
सो धारी सिर सेस सेस सिव भूषन कीनो।
सिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनो॥
रावन जीत्यो बालि (पुनि) बालि राम इक सर दँड़े।
अगर कहै त्रैलोक में हरि उर धारैं ते बड़े॥ २००॥

परम विवेकी ऋषिगण एकत्र होकर विचार करने लगे कि सबसे बड़ा कौन है, जिसका भजन-कीर्तन किया जाय? किन्हीं लोगोंने कहा कि पृथ्वी सबसे बड़ी है; क्योंकि यह सारे विश्वको धारण की हुई है। (दूसरेने कहा कि) उस पृथ्वीको शेषभगवान्‌ने अपने फणोंपर रजकणके समान धारण कर रखा है, अतः शेष उससे बड़े हैं। (तीसरेने कहा कि) शेषको श्रीशंकरजीने अपने उरपर आभूषणकी तरह धारण कर रखा है, अतः शंकरजी बड़े हैं। (चौथेने कहा कि) शिवका निवास-स्थान कैलासपर्वत है, उसके समेत रावणने शिवको अपनी भुजाओंपर उठा लिया। उस रावणको बालिने जीत लिया। ऐसे पराक्रमी बालिका वध करनेवाले भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सबसे बड़े हैं। (यह सुनकर पाँचवें श्रीपंचने कहा कि) ऐसे महतो महीयान् भगवान्‌को जो भक्त अपने हृदयमें धारण करते हैं, वे तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। श्रीअग्रदेवजीका मत है कि सबसे बड़े जो भक्तजन हैं, उन्हींकी सेवा करो॥ २००॥

भक्तोंके सुयशकी महिमा

नेह परसपर अघट निबहि चारौं जुग आयो।
अनुचर को उतकर्ष स्याम अपने मुख गायो॥
ओत प्रोत अनुराग प्रीति सबही जग जानैं।
पुर प्रबेस रघुबीर भृत्य कीरति जु बखानैं॥
अगर अनुग गुन बरनते सीतापति नित होयँ बस।
हरि सुजस प्रीति हरि दास के त्यों भावैं हरि दास जस॥ २०१॥

जिस प्रकार भगवद्भक्तोंको भगवान्‌के सुयशमें प्रीति होती है, उसी प्रकार भगवान्‌को भी अपने प्रेमी भक्तोंकी कथा बहुत ही अच्छी लगती है। भक्तोंके और भगवान्‌के पारस्परिक प्रेमका चारों युगोंमें निर्वाह हुआ है—यह सर्वदा पूर्ण और एक-सा रहता है। अपने भक्तोंकी महिमाको भगवान्‌ने बार-बार अपने श्रीमुखसे गाया है। भगवान् भक्तोंके अनुरागमें सदा ही सराबोर रहते हैं। इसको सारा संसार जानता है। वनवासकी अवधि पूरी होनेपर श्रीअयोध्यापुरीमें प्रवेश करते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने अनुचरोंकी कीर्तिका वर्णन किया है। श्रीअग्रदेवाचार्यजी कहते हैं कि उक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि भक्तोंके गुणोंका वर्णन करनेसे श्रीसीतापति श्रीरामचन्द्रजी सदाके लिये वशमें हो जाते हैं॥ २०१॥

सन्तोंका उत्कर्ष

दुर्बासा प्रति स्याम दासबसता हरि भाषी।
ध्रुव गज पुनि प्रह्लाद राम सबरी फल साषी॥
राजसूय जदुनाथ चरन धोय जूँठ उठाई।
पांडव बिपति निवारि दिए बिष बिषया पाई॥
कलि बिसेष परचो प्रगट आस्तिक ह्वै कै चित धरौ।
उतकर्ष सुनत संतनि को अचरज कोऊ जिनि करौ॥ २०२॥

इस भक्तमालमें या अन्यत्र इतिहास-पुराणोंमें सन्तोंकी बहुत बड़ी बड़ाईका वर्णन सुनकर कोई आश्चर्य (अविश्वास) न करे; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने (श्रीभागवतमें) दुर्वासा ऋषिसे कहा है कि 'मैं भक्तोंके वशमें हूँ।' श्रीध्रुवजी, गजेन्द्र, श्रीप्रह्लादजी आदिके चरित्र एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा शबरीके फलोंका सादर खाया जाना आदि प्रसंग सन्तोंकी बड़ाईके साक्षी हैं। श्रीयुधिष्ठिरजीके राजसूय-यज्ञमें श्रीकृष्णने साधु-ब्राह्मणोंके चरण धोये और उनकी जूठी पत्तलें उठायीं। पाण्डवोंपर आयी अनेक बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे उनकी रक्षा की। भक्त चन्द्रहासजीको दुष्टने विष दिया, पर उसके बदले उन्हें विषया नामक स्त्री और राज्यकी प्राप्ति हुई। ये तो पिछले तीन युगोंकी बातें हुईं। इस कलियुगमें तो विशेष सन्तोंके चमत्कार प्रकट हुए। अतः कुतर्क त्यागकर विश्वासपूर्वक आस्तिक-बुद्धिसे भक्तचरित्रोंको हृदयमें धारण करो, तभी रहस्य समझमें आयेगा॥ २०२॥

श्रीनाभादासजीकी भक्तोंसे विनय-प्रार्थना

पादप पेड़हिं सींचते पावै अँग अँग पोष।
पूरबजा ज्यों बरनते सब मानियो सँतोष॥ २०३॥
भक्त जिते भूलोक में कथे कौन पै जायँ।
समुँद पान श्रद्धा करै कहँ चिरि पेट समायँ॥ २०४॥
श्रीमूरति सब बैष्नव लघु बड़ गुननि अगाध।
आगे पीछे बरनते जिनि मानौ अपराध॥ २०५॥
फल की सोभा लाभ तरु तरु सोभा फल होय।
गुरू सिष्य की कीर्ति में अचरज नाहीं कोय॥ २०६॥
चारि जुगन में भगत जे तिन के पद की धूरि।
सर्बसु सिर धरि राखिहौं मेरी जीवन मूरि॥ २०७॥

जैसे पेड़की जड़को सींचनेसे उस पेड़के अंग-प्रत्यंग, शाखा, पत्र-पुष्प आदि सभी पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वाचार्यों (सम्प्रदायाचार्यों)-के वर्णनसे सभी भक्तोंका वर्णन हो गया, ऐसा मानकर जिनका चरित्र इस भक्तमालमें नहीं आया है, उनका भी स्मरणकर सन्तोष करना चाहिये॥ २०३॥ इस जगत्में जितने भगवान्‌के भक्त हैं, उन सबके चरित्रोंका वर्णन कौन कर सकता है? जैसे कोई छोटी चिड़िया समुद्रके सम्पूर्ण

जलको पी लेनेकी श्रद्धापूर्वक इच्छा करे तो वह उसके पेटमें कैसे समा सकता है ?॥ २०४॥ भगवद्विग्रह या तुलसीदल चाहे छोटा हो अथवा बड़ा, सबकी एक-जैसी महान् महिमा है, उसी प्रकार वैष्णवजन चाहे छोटे हों या बड़े, सभी अनन्त गुणोंके कारण महा महिमावाले हैं। इस भक्तमालमें किसीका वर्णन आगे-पीछे, बड़े-छोटेकी दृष्टिसे नहीं किया गया है। इसलिये यदि कहीं आगे वर्णनीयका पीछे वर्णन दिखायी पड़े तो पाठकजन इसमें दासका अपराध न मानें॥ २०५॥ जिस प्रकार वृक्षमें लगे रहनेसे फलोंकी शोभा होती है और फलमें स्थित बीजसे वृक्ष-उत्पत्ति-रूप लाभ होता है तथा फलोंसे वृक्षकी शोभा और वृक्षसे फलोंका लाभ मिलता है, उसी प्रकार गुरुजनोंकी महिमा और कीर्तिसे शिष्योंकी महिमा और कीर्ति बढ़ती है तथा शिष्योंकी कीर्तिसे गुरुजनोंकी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है॥ २०६॥ चारों युगोंमें जितने भक्त हुए हैं तथा जो आगे होंगे, उनके श्रीचरणकमलोंकी धूलि सर्वदा हमारे मस्तकपर रहे, वही हमारी जीवनमूरि है और वही सर्वस्व है॥ २०७॥

भक्तोंकी महिमा

जग कीरति मंगल उदै तीनौं ताप नसायँ।
हरिजन को गुन बरनते हरि ह्रदि अटल बसायँ॥ २०८॥
हरिजन को गुन बरनते (जो) करै असूया आय।
इहाँ उदर बाढ़ै बिथा औ परलोक नसाय॥ २०९॥
(जो) हरि प्रापति की आस है तौ हरिजन गुन गाव।
नतरु सुकृत भुंजे बीज ज्यौं जनम जनम पछिताव॥ २१०॥
भक्तदास संग्रह करै कथन श्रवन अनुमोद।
सो प्रभु प्यारौ पुत्र ज्यों बैठे हरि की गोद॥ २११॥
अच्युत कुल जस बेर इक जाकी मति अनुरागि।
उन की भक्ती सुकृत को निहँचै होय बिभागि॥ २१२॥
भक्त दास जिन जिन कथी तिन की जूँठनि पाय।
मो मति सार अच्छर द्वै कीनौं सिलौ बनाय॥ २१३॥
काहू के बल जोग जग्य, कुल करनी की आस।
भक्त नाम माला अगर (उर) बसौ नारायनदास॥ २१४॥

भगवद्भक्तोंके गुण और चरित्रोंका वर्णन करनेसे इस संसारमें कीर्ति और सभी प्रकारके कल्याणोंकी प्राप्ति होती है, त्रितापका नाश होता है तथा हृदयमें अटलरूपसे भगवान्‌का वास हो जाता है॥ २०८॥ हरिभक्तोंके गुण-वर्णनको सुनकर जो लोग उनके गुणोंमें दोषारोपण करते हैं, उन्हें इस जन्ममें अनेक उदर रोगोंसे कष्ट भोगना पड़ता है और मरनेके बाद उनका परलोक भी नष्ट हो जाता है॥ २०९॥ यदि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आशा है तो भक्तोंके गुणोंको गाइये, निस्सन्देह भगवत्प्राप्ति हो जायगी। नहीं तो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये अनेक पुण्य भुने हुए बीजकी तरह बेकार हो जायँगे। उनसे कल्याण न होगा फिर जन्म-जन्ममें पछताना पड़ेगा॥ २१०॥ जो कोई भक्त-चरित्रोंका संग्रह करे अथवा कथन-श्रवण एवं समर्थन

करे, वह भगवान्‌को पुत्रके समान प्रिय है, उसे भगवान् अपनी गोदमें बैठा लेते हैं॥ २११॥ अच्युतगोत्रीय भगवद्भक्तोंकी कीर्तिको कहने-सुननेमें जिसके मनमें एक बार अनुराग हो गया, वह मनुष्य निश्चय ही उन सन्तोंके भजन और पुण्यमें हिस्सेदार हो जाता है। (जैसे पिताकी सम्पत्तिमें पुत्रका सहज अधिकार होता है)॥ २१२॥ जिन-जिन सन्त, विद्वान् महान् महानुभावोंने भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन किया है, उन्हींकी जूठन लेकर मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार इस 'भक्तमाल' की रचना उसी प्रकार की है, जैसे कोई सिला (खेतके अन्न-कण) बीनकर संग्रह करे॥ २१३॥ किसीको बल, योग और यज्ञ आदिका भरोसा है, इनसे कल्याण होगा यह विश्वास है। किसीको अपने उत्तम कुल और पवित्र कर्मोंकी आशा है कि इन्हींसे भवसागर पार हो जायँगे। पर इन योग, यज्ञादिका अनुष्ठान मेरे वशका नहीं है, इसलिये हमें इनकी आशा नहीं है। मुझ नारायणदासकी तो यही इच्छा है कि गुरुदेव, भगवद्भक्तोंके नाम और उनके चरित्र मेरे हृदयमें निवास करें॥ २१४॥

॥ श्रीनाभादासविरचित भक्तमाल सम्पूर्ण हुआ॥

श्रीप्रियादासजीद्वारा गुरु-वन्दना

रसिकाई कबिताई जाहि दीनी तिनि पाई भई सरसाई हिये नव नव चाय हैं।
उर रङ्गभवन में राधिका रवन बसैं लसैं ज्यौं मुकुर मध्य प्रतिबिम्ब भाय हैं॥
रसिक समाज में विराज रसराज कहैं चहैं मुख सब फूलैं सुख समुदाय हैं।
जन मन हरि लाल मनोहर नाँव पायो उनहूँ को मन हरि लीनौ याते राय हैं॥ ६३०॥

भक्तिरसबोधिनी टीकाकार श्रीप्रियादासजी भक्तमालके उपसंहारमें अपने गुरुदेवजी श्रीमनोहरदासजीका परिचय देते हुए कहते हैं कि मेरे गुरुदेवने जिन-जिन लोगोंको रसिकता और कवित्व प्रदान किया, उन्हें-उन्हें उसकी प्राप्ति हुई और उनके हृदयमें सरसता तथा नवीन प्रेमका चाव उत्पन्न हुआ। मेरे गुरुदेवके हृदयरूपी रंगमहलमें श्रीराधारमणजी उसी प्रकार निवास करते हैं, जैसे कि दर्पणमें प्रतिबिम्ब स्वाभाविक रूपसे रहता है। मेरे गुरुदेवजी रसिकोंकी सभामें विराजमान होकर जिस समय उज्ज्वल शृंगाररसकी कथा कहते हैं, उस समय सभी भावुक श्रोता उनके श्रीमुखकी ओर टकटकी लगाकर देखते ही रह जाते हैं और आनन्दमें मग्न होकर फूले नहीं समाते हैं। अपने भक्तोंके मनको हरण करके भगवान् श्रीकृष्णने 'मनोहर' यह नाम पाया, परंतु मेरे श्रीगुरुदेवने मनोहरके मनको भी हर लिया है, इसीलिये वे 'मनोहरराय' हैं॥ ६३०॥

इनहीं के दास दास दास प्रियादास जानौ तिन लै बखानौ मानौ टीका सुखदाई है।
गोवर्धननाथ जू कें हाथ मन पर्‌यौ जाको कर्‌यौ बास वृन्दावन लीला मिलि गाई है॥
मति उनमान कह्यौ लह्यौ मुख सन्तनि के अन्त कौन पावै जोई गावै हिय आई है।
घट बढ़ जानि अपराध मेरौ क्षमा कीजै साधु गुणग्राही यह मानि मैं सुनाई है॥ ६३१॥

इन्हीं श्रीमनोहरदासजीके दासोंका दास यह प्रियादास है, ऐसा जानिये। उसने श्रीभक्तमालकी इस सुखदायिनी भक्तिरसबोधिनी टीकाका वर्णन किया है। श्रीगोवर्धननाथजीके हाथोंमें जिनका मन पड़ गया है, उसने श्रीवृन्दावनमें निवास करके और सन्तोंसे मिलकर इस लीलाका गान किया है। सन्तोंके श्रीमुखसे जैसा कुछ सुना, उसे ही अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया। इन लीलाओंका अन्त कौन पा सकता है। सम्पूर्ण लीलाओंका वर्णन करना असम्भव है। जिसकी बुद्धिमें जितनी लीलाएँ आयीं, उसने उतनी गायी हैं, इन लीलाओंको गानेमें मुझसे जो कुछ घटी-बढ़ी हो गयी हो, इस अपराधको आपलोग क्षमा कीजिये। साधुजन गुणग्राही होते हैं, त्रुटियोंकी ओर ध्यान नहीं देते हैं, ऐसा मानकर ही मैंने अपनी तुच्छ-बुद्धिके अनुसार इन लीलाओंको गाकर सुनाया है॥ ६३१॥

श्रीप्रियादासजीद्वारा श्रीनाभादासजीकी वन्दना

कीनी भक्तमाल सुरमाल नाभा स्वामी जू ने तरे जीव जाल जग जन मन पोहनी।
भक्ति रस बोधिनी सो टीका मति सोधिनी है बाँचत कहत अर्थ लगै अति सोहनी॥
जो पै प्रेम लक्षना की चाह अवगाहि याहि मिटै उर दाह नेकु नैननि हूँ जोहनी।
टीका अरु मूल नाम भूल जात सुनै जब रसिक अनन्य मुख होत विश्वमोहनी॥ ६३२॥

गोस्वामी श्रीनाभाजीने सुन्दर मधुर-रससे व्याप्त श्रीभक्तमालकी रचना की। यह सभी भक्तोंके मनको गूँथनेवाली है। इसका पठन-श्रवण करके अनेक जीव भवसागरसे तर गये। उसी भक्तमालकी यह भक्तिरसबोधिनी नामकी टीका है। इसके पठन-श्रवणसे मायासे मोहित बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। पढ़नेमें, कहनेमें और अर्थ करनेमें यह बहुत ही अच्छी लगती है। यदि किसीको प्रेम-लक्षणा भक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो वह इस टीकाका निरन्तर पठन, श्रवण और मनन करे। जो इसे मनके नेत्रोंसे भलीभाँति देखेगा, उसके हृदयका दाह दूर हो जायगा। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसे प्रेमसे सुनते समय यह भूल जाता है कि हम मूलका श्रवण कर रहे हैं या कि टीकाका। अनन्यरसिक भगवद्भक्तके श्रीमुखसे जब इसका कथन होता है, तब यह सारे जगत्को मोहित करनेवाली हो जाती है॥ ६३२॥

नाभा जू कौ अभिलाष पूरन लै कियौ मैं तौ ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइकै।
भक्ति विशवास जाके ताही कों प्रकाश कीजै भीजै रंग हियो लीजै सन्तनि लड़ाइकै॥
सम्वत् प्रसिद्ध दस सात सत उन्हत्तर, फालगुन मास बदी सप्तमी बिताइकै।
नारायणदास सुख रास भक्तमाल लै कै, प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइकै॥ ६३३॥

मैंने श्रीनाभाजीकी अभिलाषाको ही पूर्ण किया है। उसकी साक्षी मैंने पहले ही भलीभाँति गाकर सुना दी है। जिसके हृदयमें भक्त-भगवच्चरणारविन्दोंमें भक्ति और विश्वास हो, उसीके सामने इस भक्तमालकी कथाको कहना चाहिये, जिसे सुनकर उसका हृदय भक्तमालके रंगमें डूब जाय और वह श्रद्धासमेत सन्तोंकी सेवा करने लग जाय। प्रसिद्ध विक्रम सम्वत् १७६९ फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको यह 'भक्तिरसबोधिनी' टीका पूर्ण हुई। मेरी प्रार्थना है कि सुखप्रद श्रीनारायणदासजी (श्रीनाभास्वामी) सुखस्वरूप श्रीभक्तमाल-ग्रन्थके समेत दासानुदास मुझ प्रियादासके हृदयमें सर्वदा निवास करें॥ ६३३॥

श्रीप्रियादासजीद्वारा भगवान्से निवेदन

अगिनि जरावौ लैके जल में बुड़ावौ भावै सूली पै चढ़ावौ घोरि गरल पिवायबी।
बीछू कटवावौ कोटि साँप लपटावौ हाथी आगे डरवावौ ईति भीति उपजायबी॥
सिंह पै खवावौ चाहौ भूमि गड़वावौ तीखी अनी बिधवावौ मोहिं दुख नहीं पायबी।
ब्रजजन प्रान कान्ह बात यह कान करौ भक्त सों बिमुख ताको मुख न दिखायबी॥ ६३४॥

व्रजजनोंके प्राणस्वरूप हे श्रीकृष्णभगवान्! आप चाहे मुझे अग्निमें डालकर जलाइये, चाहे जलमें डुबाइये, आपकी इच्छा हो तो शूलीपर चढ़ा दीजिये, घोलकर विष पिला दीजिये, बिच्छुओंसे कटवाइये, मेरे शरीरमें करोड़ों साँप लिपटवाइये, मतवाले हाथीके आगे डलवा दीजिये, ईति (पीड़ा), भीति आदि मेरे कष्टके लिये प्रकट कर दीजिये, सिंहके द्वारा मरवाइये, चाहे धरतीमें गड़वाइये, तीक्ष्ण भाला आदिसे छिदवाइये—इन सबसे मुझे नाममात्रका भी दुःख नहीं होगा, परंतु हे कान्ह! ध्यानपूर्वक मेरी यह बात सुन लीजिये कि जो भक्तविमुख हैं, उनका मुख कभी न दिखाइये, उससे मुझे बहुत भयंकर कष्ट होगा॥ ६३४॥

॥ श्रीप्रियादासकृत भक्तिरसबोधिनी टीका पूर्ण हुई॥

श्रीनाभादासकृत श्रीभक्तमालकी नामानुक्रमणिका*

[अ] अंग (१०), अंगद (२०, ११३), अंगिरा (१६), अंगिरास्मृति (१८), अंशुकम्बल (२७), अक्रूर (९, १४, १५), अक्षयराज (११७), अगस्त्य (१६), अग्निपुराण (१७), अग्रदास (३९, ४१), अच्युत (१०१), अजामिल (७), अत्रि (१६), अत्रिस्मृति (१८), अधार (९६), अनन्त (२७), अनन्तानन्द (३६, १४६), अनुभवी (१०५), अन्तरिक्ष (१०, १३), अन्तर्निष्ठ राजा (५७), अपया (१०१), अभयराम (११७), अभिनन्द (२१), अमूर्त (१२), अम्बरीष (९, १५), अर्जुन (१४, १५, २२), अर्जुन गम्भीरे (१०५), अर्यमा (२५), अलर्क (११), अलिभगवान् (९४), अल्ह (३७, ५४, १३९), अशोक (१९), अष्टसखी (२२), आकूति (१०), आर्य राघव (९९), आविर्होत्र (१०, १३), आशकरण (१५८), आशकरन (१०२), आसकरन (१७४), आसाधर (९६)

[इ] इक्ष्वाकु (१२), इलापत्र (२७), इलावर्तखण्ड (२५), ईश्वर (१०५, ११७), ईश्वरदास (१३९)

[उ] उत्तंक (१२), उत्तानपाद (१२), उद्धव (९, १५, ९८, ९९, १४७), उद्धवघमण्डदेव (९४), उपनन्द (२१, २२), उबीठा (१०४), उमाभटियानी (१०४), उल्कामुख (२०)

[ऊ] ऊदाराम (९६), ऊदारावत (१०५), ऊधौ (१६९)

[ऋ] ऋचीक (१६), ऋभु (१२)

[क] कंचनधरटापू (२४), कटहरिया (९६), कन्हर (११७, १४६), कन्हरदास (१९१), कपिलदेव (७, १५), कपूर (९९), कबीरदास (३६, ६०), कमला (१०४), कमलाकरभट्ट (८६), कमलादेवी (२५), करभाजन (१०, १३), करमसील (११७), करमानन्द (१३९), करमैती (१६०), कर्कोटक (२७), कर्दम (१६), कर्मचन्द्र (३७), कर्मानन्द (२१), कर्माबाई (५०), कला (१०४), कल्याण (१७६), कल्याणदास (३९, १८९), कल्याणन (१७८), कवि (१०, १३), कश्यप (१६), कात्यायनस्मृति (१८), कात्यायनी (१२७), कान्हर (१००, १५२), कान्हरदास (३९, १७१), कामदेव (२५), कामध्वज (५२), काशीश्वर (९६), किम्पुरुषखण्ड (२५), किशोरसिंह (१२१), किशोरीदास (१५०), कीकी (१०४), कीता (९७), कीर्ति (२२), कील्हदास (३९, ४०), कुँवरि (१०४), कुँवरिराय (१७०), कुन्ती (९), कुमुद (८, २०), कुमुदाक्ष (८), कुम्भनदास (९८), कुरुखण्ड (२५), कुलशेखर (४९), कुशद्वीप (२४), कूरेशाचार्य (३१), कूर्म (२५), कूर्मपुराण (१७), कृतगढौ (१०४), कृष्णकिंकर (९६), कृष्णचैतन्य (७२), कृष्णजीवन (१४६), कृष्णदास (८१, १४७, १८०), कृष्णदास चालक (१२४), कृष्णदास पयहारी (३८, १८५), कृष्णदासपण्डित (९४), कृष्णदासब्रह्मचारी (९४), केतुमालखण्ड (२५), केवलदास (३९, १४९), केवलराम (१७३), केशव (१००, १०१), केशव दण्डौती (१०३), केशवदास (१५१), केशवभट्ट (७५), केशवलटेरा (१७२), केशवाचार्य (१०२), केशी (१७०), कैलास (२००), कोली (१०४), कोल्ह (१३९), क्रतुस्मृति (१८), क्रौञ्चद्वीप (२४), क्वाहब (१७८), क्षेम गुसाईं (८३)

[ख] खड्गसेन कायस्थ (१६१), खाटीक (१०२), खीचनि (१७०), खेता (१०१), खेम (१००, १४७, १५०, १५१), खेम वैरागी (९८), खेमदास (१५८), खेमालरत्न राठौर (११८), खोजी (९७)

[ग] गंगग्वाल (१६२), गंगल (८२), गंगा (१७०), गंगा (१०४), गंगाबाई (३९), गंगाभक्त (१४७), गंगाराम (१०२), गजेन्द्र (२०२), गजेन्द्र-ग्राह (९), गणेश (९९), गणेशदेई रानी (१०४), गदा (१०५), गदाधर (१४६), गदाधरदास (३९, १८६), गदाधरभट्ट (१३८), गन्धमादन (२०), गयेश (३७), गरुड (९), गरुडपुराण (१७), गर्ग (१६), गवय (२०), गवाक्ष (२०), गाधि (१२), गिरिधर (१३१), गिरिधरग्वाल (१९४), गुंजामाली (१०३), गुणनिधि (१०१), गुरुनिष्ठ शिष्य (५८), गुह-निषाद (१२), गोंदुदास (१५८), गोकुलनाथ (१३२), गोपानन्द (१४७), गोपाल (१००, १०६, १४९, १५७, १७८), गोपालदास (३९), गोपालभट्ट (९४), गोपाली (१०४, १९५), गोपीनाथ (१०३), गोपीनाथपण्डा (१०१), गोमती (१७०), गोमानन्द (१४९), गोविन्द (१०३, १०५, १४६), गोविन्ददास (१९२), गोविन्दब्रह्मचारी (१०१), गोविन्दस्वामी (१०२), गोसू (१४६), गौतम (१६), गौतमस्मृति (१८), गौरी (१०४), ग्वाल (१७८), ग्वालभक्त (५२)

* कोष्ठकमें दी गयी संख्या छप्पयकी संख्या है। यथा—अंग (१०)-का तात्पर्य है, अंगका वर्णन भक्तमाल ग्रन्थके छप्पयसंख्या १० के अन्तर्गत देखना चाहिये।

[घ] घमण्डी (९४), घाटम (९९), घूरी (९९)

[च] चक्रपाणि (९८), चण्ड (८, १३९), चतुर (९७), चतुरदास (१५८), चतुरोनगन (१४७, १४८), चतुर्भुज (१०३, ११४), चतुर्भुज कीर्तननिष्ठ (१२३), चन्द्रहास (९, २३, २०२), चमस (१०, १३), चरणदास (३९), चरित्र (१०३), चाँदन (३९), चाँदा (९७), चाचागुरु (९७), चित उत्तम (१०३), चित्रकेतु (९), चित्सुखानन्द (१८१), चीधर (१४९), चेता (१७८), चौमुख (१३९), चौरा (१३९), च्यवन (१६)

[छ] छीतम (१००), छीतर (९९), छीतर (१५८), छीतस्वामी (१४६)

[ज] जंगी (१५०), जगतसिंह (१९३), जगदानन्द (१८१), जगदीशदास (१०६), जगन (९९), जगन्नाथ (१५०), जगन्नाथ थानेश्वरी (९४), जगन्नाथ पारीख (१४३), जटायु (९), जड़भरत (११), जतीराम (९७), जनक (७), जनगोपाल (१११), जनदयाल (१०२), जनभगवान (१४६), जनार्दन (१०५), जमदग्नि (१६), जम्बुद्वीप (२४), जय (८), जयदेव (४४, १४७), जयन्त (१९, १०५), जयमल (५२, १०५, ११७), जसगोपाल (१०१), जसवन्त (१५५), जसूस्वामी (५४), जाड़ा (९७), जापू (१०५), जाबालि (१६), जाम्बवान् (९, २०), जीता (१०५), जीवगोस्वामी (९३, ९४), जीवा (६९), जीवानन्द (१३९), जीवानन्द (१३९), जेवा (१०४), जेवाबाई (१७०), जोइसिनि (१७०), जोगीदास (१५१), ज्ञानदेव (४८)

[झ] झाँझू (९९), झाली (१०४)

[ट] टीला (३९), टेकराम (३९)

[ड] डूँगर (९६)

[त] तक्षक (२७), तत्त्वा (६९), तमोली (१००), ताम्रध्वज (११), तिलोक सुनार (९८), तुलसीदास (१०५, १२१, १६९), तूँवर भगवान (१५४), त्यौला (१५१), त्रिपुरदास (३९), त्रिलोचन (४८, ९६), त्रिविक्रम (९९)

[द] दक्ष (१२), दक्षस्मृति (१८), दधिमुख (२०), दधीचि (११), दमाबाई (१७०), दयाल (१४७), दरीमुख (२०), दल्हा (९७), दाऊ (१०६), दामोदर (१००, १०५, १४७, १५८), दामोदरतीर्थ (१८१), दालभ्य (१६), दास (१०६), दासूस्वामी (१०३), दिलीप (१२), दिवाकर (७८, १५०), दीनदास (१४६), दुर्वासा (१६, २०२), दूदा (१३९), देवकल्याण (१६९), देवकी (१०४), देवल (१२), देवहूति (१०), देवा (१०४), देवापण्डा (३९, ५२), देवाचार्य (३५), देवादास (१५८), देवानन्द (१००), द्यौगू (९७), द्यौराजनीर (९६), द्रुमिल (१०, १३), द्रौपदी (९), द्वारकादास (१००, १८२), द्विविद (२०)

[ध] धनाबाई (१७०), धन्ना (३६, ६२), धरानन्द (२१, २२), धर्मपालक (१९), धर्मानन्द (२१), धारा (१०५), धृष्टि (१९), ध्यानदास (१५१), ध्रुव (९, १५, २०२), ध्रुवनन्द (२१, २२)

[न] नन्द (८, २१, २२, १००), नन्ददास (५४, ११०), नफर (९८), नर-नारायण (२५), नरवाहन (१०५), नरसिंहदास (१५०), नरसी (१०८), नरहरि (३७, १००), नरहर्यानन्द (३६, ६७, १००), नल (२०), नहुष (१२), नागू (१००), नागूपुत्र (१००), नाथभट्ट (१५९), नाथमुनि (३०), नापा (९७), नामदेव (४३, ४८), नारद (७, १५, २५, १४६), नारदपुराण (१७), नारायण (२६, १७८), नारायणदास (१६९, १८७), नारायणदास नर्तक (१४५), नारायणभट्ट (८७), नारायणमिश्र (१३४), नित्यानन्द (७२), निम्बार्काचार्य (२८), नींवा (११७), नीराँ (१७०), नील (२०), नीवा (१५३), नृसिंह (२५), नृसिंहारण्य (१८१)

[प] पण्डा (१४९), पत्रक (२३), पत्री (२३), पदारथ (९६), पद्म (२७, ९६, ९७, १६९), पद्मनाथ (३९, ३८), पद्मपुराण (१७), पद्मावती (३६), पनस (२०), पयद (२३), पयहारी (३७), परमानन्द (१४७, १६९), परमानन्द कालुख (१४९), परमानन्ददास (७४, १५१), परशुराम (१०२, १४७, १७२), परशुरामदेवाचार्य (१३७), परांकुशाचार्य (३०), पराशर (१६), पराशरस्मृति (१८), परीक्षित् (१०, १४), पर्वत (१६), पाण्डव (९), पादपद्म (३४), पार्वतीबाई (१७०), पिप्पलाद (१२), पिप्पलायन (१०, १३), पीपा (३६, ६१), पुखरदी (९८), पुण्डरीकाक्ष (३०), पुरुरवा (१२), पुरुषोत्तम (९७), पुरुषोत्तमदास (३९), पुलस्त्य (१६), पुलह (१६), पुष्करद्वीप (२४), पूरनदास (१५०), पूरु (१२), पूर्ण (१०२, १८३), पृथु (१०, १४), पृथुदास (३९), पृथ्वी (२५), पृथ्वी (२००), पृथ्वीराज (११६, १४०), प्रचण्ड (८), प्रचेता (१०), प्रबल (८), प्रबुद्ध (१०, १३) प्रबोधानन्द (१८१), प्रभुता (१०४), प्रयागदास (१००, १५०, १६६), प्रसूति (१०), प्रह्लाद (७, १४, १५,

२५, २०२), प्राचीनबर्हि (११), प्रियदयाल (१०२), प्रियव्रत (१०), प्रेमकन्द (२३), प्रेमनिधि (१६७), प्लक्षद्वीप (२४)

[ब] बकुल (२३), बच्छपाल (१४६), बड़भरत (१०१), बनवारीदास (१३३, १५०), बल (८), बलि (७, १४, १५), बल्लभ (२१), बहोरन (१०२), बाँदररानी (१७०), बाजू (१००), बाजूपुत्र (१००), बाल (१००), बालकृष्ण (१०१), बालमीक (९९), बालि (२००), बावन (१३६), बाहुबल (९९), बिको (९९), बिको (९९), बिज्जुली (९८), बिल्वमंगल (४६), बीठल (१०३, १४९), बीठलदास (१७७), बीठलाचार्य (९९), बीदा (१००), बीदावत (१०५), बीराराम (१६९), बुद्धिप्रकाश (२३), बृहस्पतिस्मृति (१८), बेणी (१०३), बोपदेव (३०), बोहित (१४६), बोहिथ (१६९), ब्रह्मदास (१०२, १४७), ब्रह्मपुराण (१७), ब्रह्मवैवर्तपुराण (१७), ब्रह्मा (७), ब्रह्माण्डपुराण (१७), ब्राह्मणदम्पत्ति (५५)

[भ] भक्तभाई (१०२), भगवन्तमुदित (१९८), भगवान (१००, १०६, ११७, १४९), भगवानदास (१५०, १५८, १८८), भगीरथ (११), भद्र (८), भद्रश्रवा (२५), भद्राश्वखण्ड (२५), भरत (११), भरत विरही (९८), भरतखण्ड (२५), भरद्वाज (१२), भविष्यपुराण (१७), भाऊ (१०६), भागवतपुराण (१७), भावन (९८), भावानन्द (३६), भीम (९९, १०१), भीष्म (७, १५, १०२), भुवनसिंह चौहान (५२), भूगर्भगोस्वामी (९४), भूरिश्रवा (१२), भृगु (१६), भोज (२२)

[म] मकरन्द (२३), मत्स्य (२५), मत्स्यपुराण (१७), मथुरादास (१४४), मदालसा (१०), मधुकण्ठ (२३), मधुकर (११७), मधुगोस्वामी (९४), मधुमंगल (२२), मधुवर्त (२३), मधुसूदनसरस्वती (१८१), मध्वाचार्य (२८, २९), मनु (७, १२, २५), मनुस्मृति (१८), मनोरथ (९७), मयन्द (२०), मयानन्द (१०५), मरहठ (१०३), महदा (९९), महीपति (१००), माँडिल (१४६), मांडन (१००), माण्डन (१३९), माण्डव्य (१६), माधव (१००, १३९), माधवग्वाल (१६५), माधवदास (७०, ११२, १९०), माधवानन्द (१८१), मानदास (१३०), मानमती (१०४), मान्धाता (१२), मामा-भानजे (५१), मायादर्श-मार्कण्डेय (१६), मार्कण्डेयपुराण (१७), मिथिलेश (११), मीराबाई (११५), मुकुन्द (९९), मुकुन्द (१००, १०१, १०३), मुचुकुन्द (१०), मुरलीश्रोत्रिय (१०३), मुरारिदास (१२८), मृगा (१०४), मैत्रेय (९), मोरध्वज (११), मोहन (१४७), मोहनबारी (१०६)

[य] यज्ञपत्नी (१०), यदु (१२), यदुनन्दन (१०३), यमराज (७), यमस्मृति (१८), यमुना (१०४, १७०), ययाति (१२), यशवन्त (१४६), यशोदा (२२), यशोधर (१०९), याज्ञवल्क्य (१२), याज्ञवल्क्यस्मृति (१८), यामुनाचार्य (३०), युधिष्ठिर (२०२), योगानन्द (३७)

[र] रंग (१००), रंगाराम (३९), रक्तक (२३), रघु (१२, ९९), रघुनाथ (१०३, १४७), रघुनाथदास (७१), रतिवन्तीबाई (४९), रत्नावती (१४२), रन्तिदेव (१२), रमणकखण्ड (२५), रय (१२), रसदान (२३), रसाल (२३), रसिकमुरारि (९५), रहूगण (११), राँका-बाँका (९७), राघव (१४७), राघवदास (१३५), राघवदास दूबलो (१६८), राघवानन्द (३५), राधा (२२), रामगोपाल (१४६), रामचन्द्र (२५, ११७), रामदास (५३, ९६, १०६, १४६, १९६), रामभद्र (१०३, १८१), रामरयन (११९), रामरयन-पत्नी (१२०), रामराय (१९७), रामरेणु (१४७), रामलाल (१०२), रामा (१०४), रामानन्द (१०३), रामानन्दाचार्य (२८, २९, ३५, ३६), रामानुजाचार्य (२८, २९, ३०, ३१), रामाबाई (१७०), रायमल (१५८), रावण (२००), रावल्य (९७), राष्ट्रवर्धन (१९), रुक्मांगद (११), रुक्मांगद-पुत्री (११), रुद्रप्रताप गजपति (१०१), रूपगोस्वामी (८९), रूपदास (१५८), रूपा (१००, १०५), रैदास (३६, ५९)

[ल] लक्ष्मण (९८, १०६), लक्ष्मणभट्ट (१८४), लक्ष्मी (९, १४, ३०), लक्ष्मीबाई (१७०), लखा (१०४), लघु उद्धव (१५०), लड्डू (९८), लफरा (९८), लमध्यान (९९), लाखा (९९, १०७, १७८), लाखै (१५८), लालदास (१६४), लालमती (१९९), लाला (९९), लालाचार्य (३३), लाली (१७०), लिंगपुराण (१७), लीलानुकरण (४९), लोकनाथ (९४), लोकालोक पर्वत (२४), लोमश (१६), लोहंग (१००)

[व] वर (१४६), वर्धमान (८२), वल्लभाचार्य (४८), वसिष्ठ (१६), वसिष्ठस्मृति (१८), वामनपुराण (१७), वारमुखी (५४), वाराह (२५), वाराहपुराण (१७), वाल्मीकि (११), वाल्मीकि-श्वपच (११), वासुकि (२७), वाहनवरीस (१०५), विजय (८, १९), विट्ठलदास (८४), विट्ठलनाथ (७९), विट्ठलविपुल (९४), विट्ठलेशसुत (८०), विदुर (९, १४७), विद्यापति (१०२), विनोदी (१५०), विन्ध्यावली (११), विभीषण (९, १५), विमलानन्द (९६), विमानी (९८), विशाखा (९९), विशाल (२३), विश्वामित्र (१६), विष्णु (१००), विष्णुदास (३९, १०३, १५७), विष्णुपुराण (१७), विष्णुपुरी (४७), विष्णुस्मृति (१८), विष्णुस्वामी (२८, २९), विष्वक्सेन (८, १५, ३०), विहारीकवि (१०२), विहारीदास

(१४६), वीरम (११७), वीराबाई (७०), वृद्धव्यास (९९), वृषभानु (२२), वेषनिष्ठ राजा (५६), व्यासशिष्यगण (१६), व्रजगोपियाँ (१०), व्रजवल्लभभट्ट (८८)

[श] शंकर (७, १५, २५, १७८, २००), शंकराचार्य (४२), शंकु (२७), शठकोप (३०), शतधन्वा (१२), शतरूपा (१०), शनैश्चरस्मृति (१८), शबरी (९, २०२), शमीक (१२), शरभ (२०), शरभंग (१२), शाकद्वीप (२४), शाण्डिल्यस्मृति (१८), शातातपस्मृति (१८), शारद (२३), शाल्मलिद्वीप (२४), शिवपुराण (१७), शिवि (११), शील (८), शुकदेव (७, १४, १५), शृंगी (१६), शेष (१०, २००), शोभा (१०४), शौनक (१०), शौनक (१०), शौनकादि ऋषि (१६), श्याम (१४६, १४९), श्यामदास (१४६, १७८), श्रीदामा (२२), श्रीधरस्वामी (४५, ५२), श्रीभट्ट (७६), श्रीरंग (३७, ९४, १७८), श्रीसंत (९८), श्रुतदेव (१०), श्रुतिउदधि (३२), श्रुतिदेव (३२), श्रुतिधाम (३२), श्रुतिप्रज्ञ (३२), श्वेतद्वीप (२६)

[स] संकर्षण (२५), संजय (१२), संवर्तस्मृति (१८), सगर (११), सती (१०), सत्यभामा साध्वी (१०४), सत्यव्रत (११), सदन (९६), सदानन्द (२३, १७८), सदाव्रती महाजन (५१), सनकादि (७, १५), सनातन (८९), सन्तदास (१२५, १९०), सन्तराम (१००), सबीरी (३९), सलूधौ (१५०), सवाई (९७), साक्षीगोपालभक्त (५३), सारी रामदास (३७), सिलपिल्ले भक्ता (५०), सींवा (९६, १३९, १४१), सीता सहचरी (१०४), सीहा (९७), सुखानन्द (३६, ६४), सुग्रीव (९, २०), सुदामा (९), सुधन्वा (११), सुनन्द (८, ९, २१), सुनीति (१०), सुबल (२२), सुबाहु (२२), सुभट्ट (२०), सुभद्र (८), सुमति (१०४), सुमन्त्र (१९), सुरतान (११७), सुरसुरानन्द (३६, ६५), सुरसुरी (३६, ६६), सुराष्ट्र (१९), सुशील (८), सुषेण (८, २०), सूत (१०), सूरज (९८), सूरजदास (३९, ७३), सूरदास मदनमोहन (१२६), सेन (३६, ६३), सोझा (९६), सोठा (१४७), सोती (१६३), सोम (९९), सोमनाथ (९९), सौभरि (१६), स्कन्दपुराण (१७), स्वभूरामदेवाचार्य (९६)

[ह] हंस (५१), हठीनारायण (३९), हनुमान् (९, १४, १५, २०, २५), हयग्रीव (२५), हरि (१०, १३), हरिकेश लटेरा (९८), हरिचेरी (१०४), हरिदास (९१, ९८, ९९, १५१, १५६), हरिदासमिश्र (१०३), हरिनाथ (१०१), हरिनाभ (९६), हरिनाभमिश्र (१४६), हरिनारायण (१४६, १६९), हरिपाल (५३), हरिभू (९९), हरिराम हठीले (८५), हरिरामव्यास (९२), हरिवंश (१७५), हरिवर्षखण्ड (२५), हरिव्यासदेव (७७), हरिश्चन्द्र (११), हरिषाबाई (१७०), हरीदास (१२२, १७९), हर्यानन्द (३५), हारीतस्मृति (१८), हितहरिवंश (९०), हिरण्यखण्ड (२५), हीरा (१०४), हीरामनि (१७०), हृषीकेश (९४), हेमदास (३९), हेमबिदीता (१०५)

[प्रस्तुति—श्रीअंकुरजी नागपाल]

श्रीभक्तमालजीकी आरती

इस धन्य नाभा भारती की, आरती आरति हरै॥
यह भक्त भगवत् की कथा, सब विश्व का मंगल करै॥
नर जाति जब माया विवश, अज्ञान तम में पग गई॥
जन भारती आभा तभी, जग जग गई जगमग भई॥
अज्ञान माया मोह तम की, कालिमा कलई धुली॥
सत्प्रेम समता सत्य सुख शुचि, कंज कलिकायें खिलीं॥
उल्लूक खल कलिमल सकल, उडगन प्रभाहत हो गये॥
तब सब पथिक सुन्दर सुखद, हरिभक्ति पथ को पा गये॥
इस भक्त माला के सकल, हरि भक्तजन दाया करो॥
सच्ची अहिंसा भक्तिमय, विज्ञान दै माया हरो॥